माता शारिका देवी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

लोभो लुण्ठति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम् ।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०१५, फरवरी १९५९ { संख्या २ पूर्ण संख्या ३८७

माता शारिका देवी

खड्ग, परशु, खट्वांग, गदा, अंकुश, त्रिशूल वर ।
डमरु, पाश, पुस्तक, तोमर, मूसल, शुभ मुद्गर ॥
चक्र, बाण, शुचि धनुष, अभय-वर मुद्रा धारण ।
नरकपाल अष्टादशभुज शशि-शिर शुभ कारण ॥
शोभित आभूषण-वसन अंग अंग अति द्युति विमल ।
सकल सुमंगल मूल मृदु मातु शारिका-पद-कमल ॥

याद रक्खो—मानव-जीवनका परम और चरम उद्देश्य भगवान्‌की या भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति करना ही है। यहाँ तुम्हें जो कुछ भी प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति प्राप्त हुई है; उसका एकमात्र उपयोग भगवत्प्राप्ति अथवा भगवत्प्रेम-प्राप्तिके लिये ही करना चाहिये।

याद रक्खो—जो प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति तुम्हें भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके साधनमें बाधा देनेवाले हैं, उनका असंग्रह, उनका परित्याग, उनमें आसक्ति-ममताका त्याग और उनमें उपेक्षा ही उनका सदुपयोग है। वे मिले हैं, इसीलिये तुम सावधान होकर उनका निराकरण करो—विघ्नोंको पहचानकर उन्हें दूर करो।

याद रक्खो—भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेम-प्राप्ति ही तुम्हारे जीवनका परम पुरुषार्थ और एकमात्र सिद्ध करनेयोग्य स्वार्थ है। जो प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति इस पुरुषार्थ या स्वार्थके साधनमें विघ्नरूप हैं, उनका सेवन करना विघ्नोंको बुलाना और बढ़ाना है। इन विघ्नोंके द्वारा तो तुम्हारे जीवनमें विघ्नोंकी वृद्धि ही होगी—फिर चाहे ये विघ्नरूप प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति देखनेमें कितने ही सुन्दर, शोभन, मनोहर और लाभप्रद दीखते हों एवं परम स्नेहयुक्त आत्मीयताका सम्बन्ध रखते हों।

याद रक्खो—जो प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेम-प्राप्तिरूप परम पुरुषार्थ या एकमात्र स्वार्थके साधनमें सहायक हैं, उनका संग्रह, संरक्षण और संवर्धन करना, उन्हें जीवनका अत्यन्त आवश्यक और उपादेय वस्तु मानकर उनमें ममता, आसक्ति करना एवं उनका प्रतिक्षण सेवन करना ही उनका सदुपयोग है—ऐसे प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति देखनेमें चाहे भयानक, अवाञ्छनीय, अपमान या दुःखके हेतु अथवा हानिकारक ही क्यों न दिखायी दें।

याद रक्खो—वह सम्पत्ति, वह सौभाग्य, वह पद, वह अधिकार, वह शरीर, वह कर्म, वह स्वजन, वह देवता और वह धर्म कभी संग्रहणीय तथा आदरणीय नहीं है, जिससे भगवत्प्राप्तिके मार्गमें जरा भी बाधा पहुँचती है; क्योंकि यह बाधा ही सच्चे स्वार्थका हनन करनेवाली है।

याद रक्खो—वह विपत्ति, वह दुर्भाग्य, वह पद-हानि, वह अनधिकार, वह शरीरकी क्षति, वह अकर्म, वह दुर्जन, वह कुदेवता और वह अधर्म भी सदा संग्रहणीय तथा परम आदरणीय है, जिससे भगवत्प्राप्तिके मार्गमें सहायता और सहयोग प्राप्त होता है; क्योंकि इसमें सच्चे स्वार्थका साधन है।

याद रक्खो—यदि तुम अपने इस सच्चे स्वार्थको भुलाकर आपातरमणीय, ऊपरसे सुन्दर दीखनेवाले भोग-पदार्थोंमें—प्राणी, पदार्थ, परिस्थितियोंमें आसक्त हो जाओगे तो अपने परम पुरुषार्थकी प्राप्तिसे वञ्चित रहकर मानव-जीवनको नष्ट कर दोगे।

याद रक्खो—भगवान्‌को भुलाकर आरम्भमें सुन्दर दीखनेवाले भोगोंमें मोह करके उनके सेवनमें जीवनको लगा देना तो वैसा ही है, जैसा भीषण विषसे युक्त मिठाईको मीठा समझकर खाना या घरमें आग लगाकर उससे प्रकाश प्राप्त करनेका प्रयास करना।

याद रक्खो—मानव-जीवन कब समाप्त हो जाय, इसका कुछ भी पता नहीं है। अतएव बड़ी सावधानीसे जीवनको परम पुरुषार्थके साधनमें लगाकर शीघ्र-से-शीघ्र उसे प्राप्त कर लो। इसीमें तुम्हारी बुद्धिमानी है, यही तुम्हारा सौभाग्य है, यही परम पुण्य है और यही परम कर्तव्य है।

'शिव'

मानव-जीवनका लक्ष्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

यः प्राप्य मानुषं देहं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥
(श्रीमद्भा० ११। ७। ७४)

'मोक्षके खुले द्वाररूप मनुष्यशरीरको पाकर भी जो पक्षीकी तरह घरमें आसक्त रहता है, उसे 'आरूढच्युत' समझना चाहिये।'

यहाँ 'आरूढच्युत' शब्द समझनेयोग्य है। 'आरूढ'का अर्थ है ऊपर चढ़ा हुआ, एकदम चोटी या शिखरपर पहुँचा हुआ और 'च्युत' अर्थात् बिलकुल नीचे पड़ा हुआ। इस शब्दके बदले बहुधा 'आरूढपतित' शब्द भी व्यवहृत होता है। तात्पर्य यह है कि चौरासी लाख योनियोंमें मानवशरीर सर्वोत्तम है। देवतालोग भी मानवशरीरकी अभिलाषा करते हैं। स्वर्गमें तो केवल भोग-विलास ही है और उसकी अवधि पूरी होनेपर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'—इस गीतावाक्यके अनुसार पुनः मृत्युलोकमें आना पड़ता है।

अतः मनुष्यशरीर प्राप्त होनेपर कहा जाता है कि प्राणी प्रगतिके शिखरपर पहुँच गया है। और शिखरपर पहुँचनेके बाद भी जो मनुष्य अपने कर्तव्यको नहीं करता—नहीं बजा लाता, अर्थात् जिस कामको करनेके लिये उसको मानवशरीर मिला है, उस कामको नहीं करता—मोक्षकी प्राप्ति नहीं करता और विषय-भोगमें ही जीवन खपा देता है, तो उसको पुनः चौरासी लाख योनियोंके चक्रमें घूमना पड़ता है। यही भाव है 'आरूढच्युत' शब्दका।

श्लोकका भावार्थ तो इतना ही है कि मानवशरीर मिला कि मोक्ष-मन्दिरका द्वार खुल गया। रास्तेमें—संसार-जीवनके भोगोंमें आसक्त न होकर सीधे वहाँ जा पहुँचनेका ही काम है। द्वार खुलवानेके लिये भी श्रम करनेकी बात नहीं है। इतनी बड़ी सुविधा होनेपर भी जो मनुष्य विषय-भोगमें ही जीवन बिताता है, उसको 'आरूढपतित' न कहें तो और किसको कहेंगे ?

किसीको भी अपना स्थान छोड़ना पसंद नहीं है; फिर प्रभुकी माया ही ऐसी है कि कीटसे लेकर ब्रह्मातक सभी अपने मनके अनुसार अपने सुखको श्रेष्ठ मानते हैं। विष्ठाके कृमिको विष्ठामें जो सुख मिलता है, उसको वह कमलवनके भ्रमरके सुखकी अपेक्षा उच्चकोटिका मानता है। वस्तुतः उसे यह समझ-बूझ या विवेक ही नहीं होता कि सुख क्या वस्तु है तथा वह कैसे प्राप्त होता है, इसकी उसे खबर नहीं होती। मानवमें भी पामर और विषयी जीव इसी प्रकारके होते हैं।

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।

पशुमें तथा मनुष्यमें तात्त्विक दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है। जिस विषय-सुखको गधा भोगता है तथा जिस सुखको इन्द्र भोगता है, वे दोनों समान ही हैं। इन्द्रकी दृष्टिमें मनुष्यका भोग तुच्छ दीखता है और मनुष्यको श्वानका तथा गधेका भोग तुच्छ लगता है। परंतु अपनी दृष्टिसे तो प्रत्येक प्राणीको एक समान भोग-सुखका अनुभव होता है; इसलिये विषय-सुखकी प्राप्तिको मनुष्य-शरीरका ध्येय नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह तो प्रत्येक योनिमें समान रूपसे प्राप्त है।

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥
(श्रीमद्भा० ११। ९। २९)

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव-जीसे अपने उपदेशका उपसंहार करते हुए कहते हैं। कैसा आनन्द-दायक श्लोक है! इसमें ऐसी रचना है कि प्रत्येक चरणका पहला शब्द लीजिये और सारे श्लोकका, यहाँतक कि सारे एकादश स्कन्धका रहस्य समझ लीजिये। जैसे, 'लब्ध्वा मानुषं तूर्णं यतेत निःश्रेयसाय'—अर्थात् यह मनुष्य-शरीर पाकर अविलम्ब आत्मकल्याणकी साधना कर लेनी चाहिये। यदि कोई पूछे कि 'अविलम्ब क्यों? बुढ़ापेमें गोविन्द-गुण गाये, तो क्या काम नहीं चलेगा?' तो इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यह शरीर क्षणभङ्गुर है; इसका कब नाश हो जायगा, कुछ पता नहीं। मृत्यु दस-पाँच दिन पहले सूचना भी नहीं देती कि मैं आ रही हूँ; तथा अमुक मनुष्यके सारे मनोरथ पूर्ण हुए या नहीं, यह पूछनेके लिये भी नहीं रुकती। वह तो समय होते ही टपाकसे मनुष्यको क्षणमात्रके लिये भी पूर्वसे सूचना दिये बिना उठा लेती है। इसलिये कहते हैं कि कुछ भी प्रमाद किये बिना यत्न करनेमें लग

जाओ। यत्न कौन करेगा? कहते हैं कि 'धीरः'—जो धीर पुरुष अर्थात् चतुर पुरुष हैं, अपना हिताहित समझते हैं। मनुष्य-जन्म प्राप्त होनेपर भी जो पुरुष अपना हित नहीं समझता, उसको शास्त्र आत्महत्यारा कहता है। 'स भवेदात्मघातकः' (श्रुति) । तुलसीदासजी कहते हैं—

जो न तरइ भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

अब पुरुषका हित किसमें है, यह विचारना है। यही प्रसङ्ग उद्धवजीको समझाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति माम्तृतम्॥
(श्रीमद्भा० ११ । २९ । २२)

'चतुर मनुष्यकी चतुराई और बुद्धिमान्की बुद्धि इसीमें है कि इस संसारमें आकर इस क्षणभङ्गुर और विनाशशील शरीरके द्वारा मुझ अविनाशीको प्राप्त कर ले।'

अब मनुष्य-शरीरकी महत्ता बतलाते हुए कहते हैं— 'इदं बहुसम्भवान्ते (लब्ध्वं) अतः सुदुर्लभम्'—यह मनुष्य-शरीर चौरासी लाख योनियोंमें घूमनेके बाद प्रभुकृपासे प्राप्त होता है। इसीलिये इसको सुदुर्लभ अर्थात् अतिशय दुर्लभ या देवदुर्लभ कहा है; क्योंकि देवता भी मनुष्य-शरीरकी प्राप्तिके लिये लालायित रहते हैं। यदि कोई पूछे—क्यों? तो कहते हैं—'अनित्यमपि इह अर्थदम्'—अर्थात् मनुष्य-शरीर अनित्य होनेपर भी इस मर्त्यलोकमें अर्थको देनेवाला है।' यहाँ अर्थसे क्या मतलब है? अर्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों अर्थोंको मनुष्य-जन्ममें पुरुष प्राप्त करता है। इसीलिये इनको पुरुषार्थ-चतुष्टय कहते हैं। इन चार पुरुषार्थोंमें बीचके दो अर्थात् अर्थ और काम तो प्रारब्धानुसार प्राप्त होते ही रहते हैं और कुछ अंशमें प्रत्येक योनिमें बिना प्रयत्नके ही प्राप्त होते हैं। इसलिये अब विशेष यत्न करना है धर्म और मोक्षकी प्राप्तिके लिये। इनमें भी धर्माचरणके द्वारा ही मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। अर्थात् धर्म मोक्षकी प्राप्तिका साधन है। इसलिये मनुष्य-शरीरमें, जन्ममें परम पुरुषार्थ तो मोक्षकी प्राप्ति ही है। इस लिये प्रस्तुत श्लोकमें भी निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेके लिये ही यत्न करना लक्ष्य बतलाया है।

अब दूसरे शरीरोंसे मानव-शरीरकी विलक्षणता बतलाते हुए कहते हैं—'विषयः खलु सर्वतः स्यात्।' अर्थात् विषय-भोग अथवा विषय-संयोगसे उत्पन्न सुख तो सभी योनियोंमें समान रूपसे प्राप्त हैं।

यदि मोक्षकी प्राप्ति न हुई तो यह जीवन व्यर्थ ही गया समझो। इस सम्बन्धमें एक कविकी उक्ति है—

अब तो बाजी चौपड़की, पौ में अटकी जाय।
जो अबके पौ ना पड़े, फिर चौरासी जाय॥

कवि कहते हैं कि मनुष्य-शरीर मिला तो चौपड़की बाजीका खेल करीब-करीब जीता गया समझना चाहिये। तीन गोटियाँ पक गयीं और चौथी गोटी पौतक पहुँच गयी है। अब बाजी जीतनेके लिये केवल एक पग बाकी है; और यदि वह पग पड़ जाय तो बाजी जीत ली गयी। और दावपर पग न पड़ा तो सामनेवाला उस गोटीको जरूर मार डालेगा और उस गोटीको मूढ़ बनकर फिर चौरासी घर घुमना पड़ेगा। ऐसा अमूल्य समय पाकर जिसने इसे जाने दिया, वह तो मूढ़ ही कहलायगा। संसारका चौपड़ है सांसारिक जीवन, और उसमें एक बाकी पग है मनुष्य-जन्मकी प्राप्ति, तथा इस मनुष्य-शरीरमें सांसारिक आसक्ति दूर करके मोक्षके लिये साधना करना ही पग पड़ना है; और मोक्षकी साधना न करके विषय-सुखमें ही रच-पच जाना पग न पड़ना है तथा फिरसे चौरासीके चक्करमें पड़ना है—यों समझना चाहिये। ऐसा ही एक वचन ब्रह्मानन्दके भजनमें है—

मानुस जन्म मिला जग माहीं। दाव जीतकर फिर किमि हारो॥

अर्थात् मनुष्य-जन्म मिला तो दाव जीत चुके; तब फिर विषयोंमें पड़कर क्यों हारते हो?

जीव आसक्तिमें किस प्रकार फँसता है, यह नीचेके सिद्धान्तसे ठीक समझमें आ जायगा।

एक राजा था, उसने अपने शहरमें यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि 'निश्चित दिनको ठीक समयपर जो कोई मेरे पास आयेगा, उसको मैं अपना राज्य दे दूँगा।' इसके लिये उस राजाने यह प्रबन्ध किया कि एक मील लंबे रास्तेके उस किनारे अपना आसन एक बैठकखानेमें लगाया और उसका द्वार खुला रखा। रास्तेके दूसरे छोरपर एक दरवाजा बनवाया और वहाँ एक कचहरी रखी। उस कचहरीमें एक आदमीको टिकटें देकर बैठा दिया। उन टिकटोंमें प्रत्येक टिकटपर कम-से-कम एक घंटा और अधिक-से-अधिक तीन घंटेका अलग-अलग समय अङ्कित किया। यानी किसीमें एक घंटा, किसीमें सवा घंटा, किसीमें डेढ़, किसीमें दो,

सवा दो, ढाई, पौने तीन—आदि विविध प्रकारके अङ्क लिखे थे । जो मनुष्य दरवाजेमें घुसेगा, उसे एक टिकट लेनी पड़ेगी और उसमें जितना समय लिखा है, उतने ही समय-तक वह अंदर रह सकेगा । समय पूरा हो जानेपर वह बाहर निकाल दिया जायगा और दरवाजेके बाहर एक किलेमें बंद कर दिया जायगा । जो मनुष्य अंदर प्रवेश करेगा, उसके साथ एक मनुष्य लगा दिया जायगा, जिसके हाथमें घड़ी रहेगी, जिससे वह टिकटका समय पूरा होते ही उस मनुष्यको बलात् बाहर निकाल देगा और उसको किलेमें बंद कर देगा ।

उस एक मील लंबे रास्तेके दोनों ओर एक प्रकारका मेला लगा दिया । दूकानें सजायी गयी थीं । कहीं खाने-पीने-की दूकान थी, तो कहीं खेल-तमाशे हो रहे थे । कहीं कुश्ती लड़ी जा रही थी, तो कहीं वेश्याओंका नाच-गान होता था । कहीं आश्चर्यमें डालनेवाली दुनियाकी नयी-नयी अद्भुत वस्तुओंका संग्रह था, तो कहीं संसारमें उत्पन्न सब प्रकारके भोजनके सामान थे । कहीं जुआ खेला जा रहा था और लाखोंकी हार-जीत हो रही थी । इस प्रकार सारे ही रास्तेपर दोनों ओर चित्तको स्तब्ध करनेवाले सैकड़ों-हजारों दृश्य जुटा दिये गये थे ।

अंदर आनेवाले प्रत्येक मनुष्यको जहाँ जानेकी इच्छा हो, वहीं जानेकी पूर्ण स्वतन्त्रता थी और जो कुछ खाना-पीना या पहनना-ओढ़ना चाहे, वह भी उसको मुफ्त ही दिये जानेका प्रबन्ध था । शर्त केवल यही थी कि कोई वस्तु लेकर दरवाजेसे बाहर नहीं जाया जा सकता था । जबतक अंदर घूमता रहे, तबतक वह कोई भी वस्तु ले सकता है और उसका उपभोग भी कर सकता है ।

इस प्रकार पूरी तैयारी की गयी । और फिर राजाने गाँव भरमें ढिंढोरा पिटवा दिया कि 'अगले दिन प्रातः सूर्योदयसे लेकर सायंकाल सूर्यास्ततक अपने नियत समयके भीतर जो कोई मेरे पास आयेगा, उसको मैं अपना राज्य दे दूँगा ।'

सवेरा होते ही लोग आने लगे । प्रत्येक आदमी कच-हरीमें जाकर टिकट ले लेता और फिर अंदर प्रवेश करता, तथा उसके साथ एक आदमी लग जाता । इस प्रकार बहुत-से आदमी एकके बाद एक आने लगे और रास्तेके मोहक दृश्योंको देख-देखकर मुग्ध होने लगे । कोई खाने-पीनेमें लग गया तो कोई नाच-गानमें मस्त हो गया; कोई जूएकी बाजी जीतनेमें ही रत हो गया, तो कोई घुड़दौड़की शर्तमें ही फँस गया । इस प्रकार जो आया, वह व्यर्थके भोग-विलासमें पड़ गया; और उसका समय बीत जानेपर साथके मनुष्यने उसकी गर्दन पकड़कर उसे बाहर निकाल दिया और किलेमें बंद कर दिया ।

इस प्रकार दिनभर चलता रहा और शाम होनेतक कोई भी मनुष्य राजाके पास नहीं पहुँचा । जो भीतर गये, वे सभी किसी-न-किसी दृश्य-जालमें फँस गये और जो काम करने आये थे, उसे भूलकर भोग-विलासमें ही अटक गये ।

सूर्यास्त होनेको अब थोड़ी ही देर थी । इतनेमें एक वीतराग पुरुष दरवाजेके पाससे गुजरे । इतनी बड़ी भीड़ देखकर उन्होंने पूछा कि 'यह सब क्या है ?' जवाब सुनते ही उन्होंने इधर-उधर देखे बिना केवल राजाके बैठक-खानेकी ओर दृष्टि डाली और उतावले होकर चल पड़े । उनकी टिकटमें समय तो पूरे दो घंटेका था, परंतु वे केवल बीस ही मिनटके भीतर राजाके पास जाकर खड़े हो गये । राजा सिंहासनसे उतरे, संतके पैरों गिरे और राज्य सँभालनेके लिये उन संतसे विनती करने लगे ।

यह तो एक रूपक कथा है, परंतु इसका रहस्य समझने योग्य है । राजाने ढिंढोरा पिटवाया था कि 'जो कोई मेरे पास आयेगा, उसको मैं अपना राज्य दे दूँगा' । इसका अर्थ यह है कि मनुष्य-जन्मकी सार्थकता सांसारिक विषयोंके भोगनेमें नहीं है, बल्कि उनका त्याग करके ईश्वर-प्राप्ति कर लेनेमें है; क्योंकि विषय-भोग तो सभी योनियोंमें समान रीतिसे प्राप्त हैं । परंतु जगत्के विषयोंमें मनुष्य मुग्ध हो जाता है । विषय-भोगमें ही उसकी सारी आयु बीत जाती है और ईश्वरके पास कोई नहीं पहुँचता ।

इसी बातको गीता इस प्रकार समझाती है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
(७ । १३)

'मेरी मायाके तीनों गुणोंसे उत्पन्न इस जगत्के प्राणी-पदार्थोंमें जीवको मोह हो जाता है । अतएव वह मुझ त्रिगुणातीत अविनाशीको नहीं जान सकता । तात्पर्य यह कि जबतक मनुष्य विषयोंमें ही आसक्त रहता है, तबतक ईश्वरका भजन करके उनको प्राप्त करनेकी बात उसको याद ही नहीं

आती। इस प्रकार अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर अत्यन्त पुण्यके प्रतापसे मिले हुए अमूल्य अवसरको वह व्यर्थ खो देता है।

दरवाजेके भीतर आनेका मतलब है—मनुष्य-शरीरका प्राप्त होना। समय बतानेवाले टिकटको लेनेका अर्थ यह है कि शरीर उत्पन्न होनेके साथ ही उसकी आयुका निर्माण हो जाता है और उस समयके भीतर ही उसको अपना लक्ष्य सिद्ध कर लेना है। जो लक्ष्यके ऊपर ही दृष्टि रखता है और दूसरा कुछ करनेमें नहीं फँसता; वही लक्ष्यतक पहुँच सकता है।

हाथमें घड़ी लेकर एक आदमी जो उसके साथ हो जाता है, वह है उसकी मृत्यु। शरीरके जन्मके साथ ही मृत्यु भी जन्मती है और उसके साथ चलती-चलती समय होते ही उसे उठा ले जाती है।

मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥
(श्रीमद्भा० १०।१।३८)

अपनी मृत्युकी आकाशवाणी सुनकर जब कंसने देवकीको मारनेके लिये तलवार उठायी; तब वसुदेवजीने उससे यह श्लोक कहा था। 'तुम तो वीर हो, वीर पुरुष मृत्युसे नहीं डरता। बल्कि देहधारीकी मृत्यु तो शरीरके साथ ही पैदा होती है, और अवधि पूरी होनेपर उसका नाश कर देती है। आज हो चाहे सौ वर्ष बाद—प्रत्येक देहधारीकी मृत्यु निश्चित है।'

दरवाजेके अंदर प्रवेश करनेपर जहाँ जाना होता है, वहाँ जानेकी छूट तथा जो कुछ खाना-पीना या पहनना-ओढ़ना होता है, वह बिना मूल्य मिलता है—इसका अर्थ यह है कि जीव जब शरीर धारण करता है, तब उसके साथ ही उसके जीवनमें प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखके भोग भी निश्चित हो जाते हैं।

इस विषयकी विवेचना पातञ्जलयोगदर्शनका यह सूत्र करता है—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'—जबतक संचित कर्मरूपी मूल है, तबतक उसके फलोन्मुख कर्मका फल भोगनेके लिये जीवको शरीर धारण करना ही पड़ता है और उन कर्मोंके अनुसार जीवका शरीर कैसा होना चाहिये, यह पहलेसे ही निश्चित हो जाता है; फिर सुख-दुःखके भोग निश्चित होते हैं और उनको भोगनेके लिये जितना समय चाहिये, उतनी आयुका निर्माण होता है। तात्पर्य यह कि अर्थ और कामके लिये मनुष्यको विशेष परिश्रम नहीं करना है। वे तो शरीरके जन्मके साथ ही निर्मित हुए रहते हैं। पुरुषार्थ तो करना है धर्माचरण करके चरम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति कर लेनेके लिये।

यही बात प्रह्लादजीने अपने सहाध्यायियोंको इस प्रकार कही थी—

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः॥
(श्रीमद्भा० ७।६।३)

'हे दैत्यपुत्रो! शरीरको प्राप्त होनेवाले सुख-भोग तो देहके उत्पन्न होनेके साथ ही निर्धारित हुए रहते हैं। अतएव वे तो दुःखके समान ही बिना परिश्रम किये तथा बिना इच्छा किये ही आकर प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार सुखके भोग भी यथासमय अपने-आप आते हैं।' भक्त कवि नरसी मेहताने भी गाया है—

ऋतु लता पत्र फल फूल आपे यथा,
मानवी मूर्ख मन व्यर्थ सोचे।
जेहना भाग्य मां जे समे जे लख्युँ
तेहने तेसमे तेज पहोंचे॥

अर्थात् मूर्ख मनुष्य व्यर्थ ही मनमें चिन्ता करता है; जिस प्रकार ऋतुएँ लताओंमें पत्र, फल, फूल समयानुसार प्रदान करती हैं, उसी प्रकार जिसके भाग्यमें जिस समय जो लिखा है, उस समय उसको वह प्राप्त होता ही है।

परंतु मनुष्य तो उलटा चलता है; जो काम प्रारब्धके अधीन है, उसके लिये जीवन भर परिश्रम किया करता है। पर प्रारब्धसे अधिक तो किसीको कभी कुछ नहीं मिलता। और जहाँ धर्म और मोक्षके लिये परम पुरुषार्थकी आवश्यकता है, वहाँ उसकी ओर उसका लक्ष्य ही नहीं जाता।

टिकटमें लिखा हुआ समय पूरा हो जानेपर प्रत्येक मनुष्यके साथ चलनेवाला पुरुष उसकी गर्दन पकड़कर दरवाजेके बाहर निकाल देता है और एक किलेमें बंद कर देता है।—इसका भाव यह है कि निर्धारित आयुकी मर्यादा जब पूरी हो जाती है, तब उसको वह शरीर छोड़ देना पड़ता है।

जीवको शरीर छोड़ना पसंद नहीं है, परंतु जबरदस्ती छुड़ाना पड़ता है। मृत्युकालमें जो व्याकुलता दीख पड़ती है,

वह इसी कारण है। जिस देहमें रहकर जीवने अनेकों भोग भोगे हैं, उस देहको छोड़नेका उसका मन नहीं होता। इसीलिये देह छोड़ते समय बड़ी भारी व्याकुलता होती है, यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है।

किलेमें बंद होना—अर्थात् पुनः माताके उदरमें आना। मनुष्यका जन्म मिला था—ईश्वरकी प्राप्ति कर लेनेके लिये ही। परंतु जीव मायाके मोहमें पड़कर अपने लक्ष्यको भूल जाता है और ईश्वरको दिया हुआ वचन भी भूल जाता है। फलतः विषय-सेवनमें ही सारा जीवन गँवा देता है। इसीलिये उसे फिरसे जन्म-मरणके चक्रमें पड़ना पड़ता है। मुक्ति-लाभके लिये मनुष्य-शरीरके सिवा दूसरे किसी भी शरीरमें योग्यता नहीं, इसलिये एक मनुष्य-शरीर छूटनेपर जीवको फिर चौरासी लाख योनियोंके फेरमें पड़ना पड़ता है।

वीतराग पुरुष भोग-पदार्थोंकी ओर देखता ही नहीं और केवल बीस ही मिनटमें राजाके पास पहुँच जाता है।—इसका तात्पर्य यह है कि मानवशरीर अति दुर्लभ है, पर क्षणभङ्गुर है, अर्थात् यह कब शक्तिहीन हो जायगा या नाशको प्राप्त होगा, इसकी किसीको खबर नहीं होती। इसलिये समझदार आदमी जहाँतक बनता है, शीघ्र-से-शीघ्र मुक्ति प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है; 'बुढ़ापेमें गुण गायेंगे'—यह विचारकर बैठ रहनेसे भी पीछे पछताना ही पड़ता है। भर्तृहरिजीने ठीक ही कहा है—

> यावत् स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
> यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायुषः।
> आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
> प्रोद्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

यह कायारूपी घर जबतक सही-सलामत है और वृद्धावस्था दूर है, इन्द्रियाँ तथा मन-बुद्धि अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ हैं तथा आयु शेष है, तभीतक बुद्धिमान् मनुष्यको आत्मकल्याणका साधन कर लेना चाहिये। बुढ़ापा आनेपर कुछ भी नहीं बन पड़ेगा। अतएव आग लगनेपर कुआँ खोदनेके समान मूर्खता करना ठीक नहीं।

अब श्रुति भगवतीने मानव-जीवनका जो लक्ष्य बतलाया है, उसे देखकर यह प्रसङ्ग समाप्त किया जायगा—

> लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं
> तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
> यस्त्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
> स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

महान् पुण्यके प्रतापसे परम दुर्लभ मानव-शरीर मिला हो और उसमें फिर श्रुतियोंका रहस्य समझनेके अधिकारवाला पुरुष-शरीर प्राप्त हुआ हो, इतनेपर भी जो मूर्ख अपनी मुक्तिके लिये यत्न नहीं करता; उसे देवतालोग आत्महत्यारा कहते हैं। जिस शरीरसे परमपदकी प्राप्ति करनी थी, उसका उपयोग विषयभोगमें करके मनुष्य अपनी मूर्खतासे मानो घुघची लेकर बदलेमें पारसमणि दे रहा है—अपने लिये ही अपनी कब्र खोद रहा है।

> ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई।
> गुंजा गहइ परसमनि खोई॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

मेरे भगवान्!

> दुःख दूर मत करो नाथ! दो शक्ति घोर दुख सहनेकी।
> दुखमें किंतु कृपा-सुख अनुभव कर, कृतज्ञ हो रहनेकी॥
> सुख मत दो, पर हरण करो हरि! भोगसुखोंकी सारी भ्रांति।
> देख सदा सर्वथा कृपा तव, अनुभव करे चित्त नित शांति॥
> दुखमें कभी न रोऊँ मैं, सुखमें भी कभी नहीं फूलूँ।
> दुख-सुख उभय वेषमें लूँ पहचान तुम्हें, न कभी भूलूँ॥
> सुखमें कभी न जागे मेरे मनमें किंचित् भी अभिमान।
> दुखमें तुमपर कभी न हो संदेह तनिक, मेरे भगवान॥

श्रीमद्भगवद्गीताके एक श्लोकका भाव

(लेखक—महामहोपाध्याय श्रद्धेय पण्डितप्रवर श्रीगिरधरजी शर्मा चतुर्वेदी)

संयोगज होनेके कारण शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि अनित्य हैं; उनकी वास्तविक सत्ता भी नहीं । अतः उनका अनुशोचन व्यर्थ है । यह पूर्व पद्योंके प्रवचनमें कहा गया । यहाँ यह प्रश्न होता है कि संयोगज होनेके कारण अनित्यता मान लेना तो ठीक हो सकता है; किंतु वास्तविक सत्ता इनकी क्यों नहीं, यह समझमें नहीं आता । संसारमें बहुत-से पदार्थ संयोगजन्य हैं और वे अपनी वास्तविक सत्ता रखते हैं । बहुत-से कार्य उनसे चलते हैं और उनका अनुशोचन भी बुद्धिमान् और मन्दमति सभी करते हैं । पहले शरीरको ही लीजिये । यह रज और वीर्यके संयोगसे उत्पन्न होता है, इस बातको सभी जानते हैं और उसकी वास्तविक सत्ताका अनुभव भी सभी करते हैं । अनुशोचन भी जगत्में उसीके सम्बन्धको लेकर होता है । कोयला और शोरा मिलाकर बारूद तैयार होती है, वह संयोगज है और बड़े-बड़े पहाड़ भी उससे उड़ा दिये जाते हैं । तब उसकी वास्तविक सत्ता न मानना तो एक उपहासास्पद बात होगी । दूधकी मलाई वायु और दुग्धके संयोगसे उत्पन्न है । ऐसे सैकड़ों दृष्टान्त हैं, जिनकी वास्तविक सत्ताका न होना कोई भी बुद्धिमान् पुरुष स्वीकार न करेगा । और वास्तविक सत्ता उनकी यदि है तो सर्वथा अशोच्यता कैसे सिद्ध होगी ? इसी संदेहके निराकरणके लिये भगवान् दर्शनोंके सारको एक पद्यमें कहते हैं—

> नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
> उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
>
> (अ० २ श्लो० १६)

यह पद्य दर्शनोंका सर्वस्व है । अपनी-अपनी प्रक्रियाके भेदसे सांख्य और वेदान्त दोनों ही इसे अपना आधार बनाते हैं । इसका अर्थ है कि 'जो असत् वस्तु है, उसकी सत्ता कभी नहीं हो सकती और जो सत् वस्तु है, उसका अभाव नहीं हो सकता । तत्त्वद्रष्टा लोग इन दोनों बातोंका अन्त-तक विचार करके सिद्धान्तपर पहुँच चुके हैं ।' तात्पर्य यह हुआ कि जिसकी सत्ता है, उसकी भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंमें ही सत्ता रहेगी और किसी एक कालमें भी जिसकी सत्ता न रही, उसकी सत्ता किसी कालमें भी न समझो—इससे त्रैकालिक सत्य ही वास्तविक सत्य पदार्थ सिद्ध हुआ । कभी-कभी भासित होनेवाले पदार्थ वास्तविक सत्ता नहीं रखते ।

सांख्यदर्शनमें इसीके आधारपर सत्कार्यवाद माना जाता है । उनका कहना है कि नया कार्य कोई भी उत्पन्न नहीं होता; जो पहलेसे है, उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती रहती है । तिलोंमें तेल पहलेसे है, उसे ही यन्त्रमें पेरकर अभिव्यक्त कर दिया जाता है । दहीमें मक्खन व्याप्त है, उसे ही बिलोकर प्रकट कर दिया जाता है । जब आप किसी शिल्पीसे एक राम या कृष्णकी या शेर, हिरन आदिकी प्रतिमा बनानेको कहते हैं तो वह एक बड़ा पत्थर लेता है और अपने औजारोंसे पत्थरके अंशोंको टाँचकर आपकी मनो-वाञ्छित प्रतिमाको उसी पत्थरमेंसे प्रकट कर देता है, बाहरसे कुछ नहीं लाता । इससे यही सिद्ध होता है कि तैल, घृत, प्रतिमा आदि पहलेसे ही उन पदार्थोंमें विद्यमान थे । उनपर अन्य अवयवोंका एक आवरण पड़ा हुआ था । उस आवरणको हटाकर उन्हें प्रकट कर दिया गया । नयी वस्तु कोई नहीं बनायी गयी । इन्हीं दृष्टान्तोंसे सर्वत्र सत्कार्यवाद समझ लेना चाहिये । मृत्तिकासे घड़ा या सुराही बनानेमें भी नयी वस्तु उत्पन्न नहीं होती, अपितु मृत्तिकाकी ही चूर्ण, पिण्ड, घट, शराव आदि अनेक अवस्थाएँ हैं । एक अवस्था जबतक रहे, वह दूसरी अवस्थाओंको दबाये रहती है अर्थात् उनको ढके रहती है । बनानेवाले एक अवस्थाको हटाकर दूसरी अवस्थाको प्रकट कर देते हैं । इसी प्रकार तन्तुसे पट बनाना, स्वर्णपिण्डसे कटक-कुण्डल-हार आदिका निर्माण करना भी एक अवस्थाको दबाकर दूसरी अवस्था प्रकट कर देना मात्र ही है । असत् वस्तुका उत्पादन कहीं नहीं है । संयोगज पदार्थोंके जो दृष्टान्त दिये गये हैं, उनमें भी अंशतः जो तत्त्व या शक्ति कई जगह बिखरी हुई थी, उसको एक जगह एकत्रित कर प्रकट कर दिया जाता है । नयी वस्तु नहीं बनायी जाती । रज और शुक्रमें अंशतः रहनेवाले शरीरके अवयवोंको एकत्रित कर दिया जाता है, बारूदमें भी कोयले और शोरेमें अंशतः रहनेवाली ध्वंसक शक्तिको एकत्रित कर अभिव्यक्त कर दिया जाता है । मलाईमें भी प्रखरता वायुका अंश है और द्रवता दुग्धका अंश अब भी बना हुआ है । दोनोंका सम्मिश्रण मात्र हुआ है, नयी वस्तु कोई उत्पन्न नहीं हुई । इसी प्रकार जिसे विनाश कहते हैं, वहाँ भी वस्तुका अभाव नहीं होता । अवस्था-परिवर्तन मात्र हो जाता

है। उदाहरणके लिये शीतकालमें सरोवरमें जो जल भरा हुआ था, वह ग्रीष्ममें सूख गया—इससे उसका अभाव नहीं समझा जा सकता; किंतु वह द्रवावस्थासे वाष्पकी अवस्थामें चला गया, फिर वर्षामें घनीभूत होकर द्रवावस्थामें आ जायगा। यही अवस्थाओंका चक्र चलता रहता है। सत्‌का अभाव और असत्‌की उत्पत्ति नहीं होती।

न्यायदर्शनमें जो घट-पटादि नये अवयवी अवयवोंसे उत्पन्न माने जाते हैं, वह प्रारम्भिक दशामें सिखानेकी प्रक्रिया-मात्र है। उनकी युक्ति है कि "नाम, रूप और क्रिया—तीनों नये बन जाते हैं, इसलिये नये पदार्थकी उत्पत्ति मान लेना चाहिये। घटका जैसा रूप अर्थात् आकार घटावस्थामें बना, वैसा पहले नहीं था, आगे घड़ा फूट जानेपर भी न रहेगा। 'घट' यह नाम भी न पहले था, न उसके नष्ट होनेपर ही रहेगा। 'जल भरकर लाना' यह कार्य भी घटसे ही होता है, पूर्वसिद्ध मृत्तिकासे नहीं। शरीरको ढककर शीत निवारण करना वस्त्रका ही काम है, सूतका नहीं। इसलिये घट-पट आदि नयी वस्तु बनी, यही मानना उचित है। **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** वाला सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। इसका अर्थ यदि किया जाय तो इतना ही हो सकता है कि भाव और अभाव दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। वे एक दूसरेके रूपमें परिणत नहीं हो सकतीं। अर्थात् भाव कभी अभावके रूपमें नहीं जा सकता और अभाव भावके रूपमें नहीं आ सकता। किंतु नये-नये भाव तो उत्पन्न होते ही रहते हैं और उनका अभाव अर्थात् विनाश भी होता ही रहता है।" इसका उत्तर सांख्य-सिद्धान्तमें यह दिया जाता है कि एक-एक मनुष्यके लिये 'सेना' शब्दका व्यवहार नहीं होता, किंतु उनका समुदाय होनेपर वह 'सेना' शब्दसे पुकारा जाता है। एक मनुष्य उतना स्थान नहीं घेर सकता, किंतु सेना बहुत बड़ा स्थान घेर लेती है। इससे रूप अर्थात् संनिवेशका भेद भी सिद्ध है। और एक मनुष्य किसी बड़े पत्थर या छप्परको नहीं उठा सकता, परंतु समुदाय मिलकर यह कार्य कर लेता है। इस प्रकार नाम, रूप, कर्म—तीनों नये होनेपर भी सेना या समुदाय मनुष्योंसे भिन्न कोई अलग वस्तु है—यह कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति शायद स्वीकार नहीं करेगा। इसी प्रकार वृक्ष और वनको भी समझा जा सकता है। नैयायिक भी सेना और वनको मनुष्यों या वृक्षोंसे पृथक् नहीं मानते। बस, यही बात घट, पट आदि पदार्थोंके सम्बन्धमें भी है। वहाँ भी संनिवेशरूप अवस्थासे नये नाम-रूपोंका व्यवहार हो जाता है। एक मृत्तिकाका कण भी जलका कुछ अंश धारण कर ही लेता था, समुदाय हो जानेपर अधिक जलका आहरण उसके द्वारा हो जाता है। एक तन्तु भी शरीरके कुछ हिस्सेको ढँक सकता था, समुदाय हो जानेपर सम्पूर्ण शरीरका ढकना उनके द्वारा सम्भव हो जाता है। इससे मृत्तिका या तन्तुकी अपेक्षा घट और वस्त्रका उसी प्रकार भेद सिद्ध नहीं होता, जिस प्रकार मनुष्य और सेनाका या वृक्ष और वनका।

इसपर नैयायिक फिर एक प्रबल युक्ति देते हैं कि "छोटेसे बड़ा बनना प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी प्रकार कार्य-कारण-धाराका अन्वेषण करनेपर अन्तमें एक ऐसा पदार्थ मानना पड़ता है कि जिससे छोटा कोई हो ही न सके। अर्थात् जिसके अवयव न हों, उसकी 'परमाणु' संज्ञा है। वह अतिसूक्ष्म होनेके कारण चक्षु आदि इन्द्रियोंसे गृहीत नहीं होता, इसलिये उसे 'अतीन्द्रिय' कहा जाता है। आगे उनके मिलनेसे क्रमशः जो बड़े-बड़े पदार्थ बनते हैं, वे 'अवयवी' कहलाते हैं। अब यदि नवीन पदार्थकी उत्पत्ति न मानी जायगी तो घट-पट, वृक्ष-पर्वत आदि सभीको परमाणुओंका एक-एक पुञ्ज कहना होगा और परमाणुके अतीन्द्रिय होनेके कारण उनके समूह भी अतीन्द्रिय होंगे। तब किसी वस्तुका प्रत्यक्ष न हो सकेगा। किंतु प्रत्यक्ष तो सभी पदार्थोंका होता है, इसलिये परमाणुओंसे दृश्य पदार्थ अतिरिक्त बने, यह मानना ही पड़ेगा।" दूसरी प्रबल युक्ति वे यह देते हैं कि 'यह एक घट है, एक पट है—इत्यादि रूपसे जो एकत्वकी प्रतीति होती है, उसका फिर आधार क्या होगा? क्योंकि अवयव तो एक हैं नहीं, वे तो बहुत हैं। तब यही मानना होगा कि बहुतोंसे मिलकर कोई एक वस्तु बनी है, जिसमें एकत्वकी हमें प्रतीति हो रही है।' किंतु इन सारी युक्तियोंको भी सांख्य और वेदान्तके विद्वान् नहीं मानते। वे कहते हैं कि आरम्भवाद अर्थात् छोटेसे बड़ा बनना—यह सार्वत्रिक नियम नहीं है। परिणामके द्वारा भी एक वस्तुसे दूसरी वस्तुकी उत्पत्ति देखी जाती है—जैसे दूधसे दहीका निर्माण। यहाँ भी यह कल्पना करना कि दूधके परमाणु अलग-अलग होकर दूधका विनाश हो गया और फिर उनमें उष्णताके संयोगसे नये रूप-रसादि उत्पन्न होकर दहीके परमाणु बने, तब दही उत्पन्न हुआ—इस प्रकारकी कल्पनाएँ बिल्कुल निस्सार और प्रत्यक्ष-विरुद्ध हैं। एक व्यक्ति निरन्तर अपनी दृष्टि जमाकर उस दूधको देखता रहे तो ऐसा कोई अवसर उसकी दृष्टिमें नहीं आयेगा, जब दूध-परमाणुरूप होकर अतीन्द्रिय हो गया हो; वह देखेगा कि

दूध ही धीरे-धीरे दधिरूपमें परिणत हो रहा है। इसलिये यह मूलभित्तिरूप परमाणुवाद ही युक्ति-सिद्ध नहीं ठहरता और परमाणुओंको अतीन्द्रिय मान लेना भी एक अपनी परिभाषा-मात्र है। सूक्ष्मताके कारण एक परमाणुका प्रत्यक्ष न भी हो सके तो भी समूह होनेपर उनका प्रत्यक्ष हो सकेगा। जैसे हमें दूरसे एक केश या एक चींटी दिखायी नहीं देती, किंतु समूह होनेपर वे दिखायी दे जाती हैं, उसी प्रकार परमाणु-पुञ्जरूप घट-पट, वृक्ष, पर्वत आदिका प्रत्यक्ष होनेमें कोई बाधा नहीं है। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्षमें महत्त्व (बड़ापन) कारण है, तो उस महत्त्वका आधार क्या मानेंगे ? क्योंकि परमाणुओंके अतिरिक्त कोई द्रव्य आप स्वीकार नहीं करते और परमाणुओंमें महत्त्व है नहीं। तब यह शङ्का भी निराधार है; क्योंकि अणुत्व या महत्त्व कोई खास गुण नहीं, वे तो प्रदेशावगाहके एक नामविशेष हैं। जो अधिक प्रदेशमें फैला रहे, उसे 'महान्' कह दिया जाता है और जो अल्प प्रदेशमें रहे उसे 'अणु' कह दिया करते हैं। समूह जब अधिक प्रदेशमें फैलेगा, तब वही महान् कहा जायगा और प्रत्यक्ष-की योग्यता भी उसमें हो जायगी। उसी प्रकार समूहके एक होनेके कारण एकत्व-बुद्धि भी बन जाती है। एक सेना है, एक वन है, यह भी तो प्रतीति होती ही है, वहाँ तो कोई एक नयी वस्तु नहीं बनी। समूहको एक बुद्धिमें लेनेसे ही एकत्वकी प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार एक बुद्धिमें गृहीत घट-पट आदि समूहोंमें भी एकत्व-बुद्धि बन जायगी। इसपर नैयायिक कहते हैं कि 'तब तुम्हारे मतमें यह एकत्व-प्रतीति काल्पनिक हुई और कल्पना उसी वस्तुकी हो सकती है, जो कहीं अपने असली रूपमें विद्यमान भी हो। उदाहरणतः सिंह एक प्राणी संसारमें है, उसके आधारपर हम एक वीर पुरुषको भी सिंह कह देते हैं। किंतु वास्तविक सिंह यदि संसारमें होता ही नहीं तो किसी मनुष्यको सिंह कहनेका भी अवसर हमें नहीं मिलता। आपके मतानुसार एकत्वकी प्रतीति कहीं भी वास्तविक नहीं है; क्योंकि परमाणुका तो प्रत्यक्ष नहीं, इसलिये उसमें एकत्व-प्रतीति नहीं हो सकती। उसके अति-रिक्त नवीन वस्तुकी उत्पत्ति आप मानते नहीं, तब मुख्य एकत्वका ज्ञान कहीं भी नहीं होगा और मुख्यके बिना काल्प-निक ज्ञान भी युक्तियुक्त न हो सकेगा।' इस शङ्काका भी सांख्य और वेदान्त-दर्शन यह समाधान कर देते हैं कि मुख्य प्रतीति होनेपर ही काल्पनिक प्रतीति हो, ऐसा कोई नियम नहीं। कल्पनाओंकी परम्परासे भी काम चल जाता है। उत्त-रोत्तर कल्पनाओंमें पूर्वकी काल्पनिक प्रतीति कारण बनती जाती है। उदाहरणतः बीजगणित आदिमें कोई अङ्क वास्तवमें 'अ'-'ब' रूप नहीं होता, किंतु उनमें 'अ'-'ब' आदिकी कल्पनासे ही बहुत बड़ा शास्त्र बना लिया गया। इसलिये न्याय-दर्शनकी युक्तियाँ केवल प्रारम्भिक शिक्षाके लिये उपयुक्त हैं, आगे गम्भीर विचारमें वे सब युक्तियाँ नहीं ठहरतीं; और 'असत्' की उत्पत्ति एवं सत्का विनाश नहीं होता—यह सिद्धान्त सुस्थिर बन जाता है[1] और उत्पत्ति तथा विनाशके अभावमें उनके आधारपर होनेवाला अनुशोचन व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। (शेष आगे)

तुम्हारी चाह पूरी हो

पूरी हो सर्वत्र सर्वथा स्वामी ! सदा तुम्हारी चाह।
मेरे मनमें उठे न कोई, इसके सिवा दूसरी चाह॥
उठे कदाचित् तो मालिक ! तुम मत पूरी करना वह चाह।
अपने मनकी ही करना, मत मेरी करना कुछ परवाह॥
तुम हो सुहृद अकारण प्रेमी, तुम सर्वज्ञ सदा अभ्रान्त।
तुम सब लोक-महेश्वर हो भगवान् तुम्हारा आदि न अन्त॥
करते और करोगे जो कुछ तुम प्रभु ! मेरे लिये विधान।
पूर्णरूपसे निश्चय ही उसमें होगा मेरा कल्यान॥

---

1. संयोगज पदार्थ भी अतिरिक्त नहीं ठहरते।

भक्तों और ज्ञानियोंके लिये भी शास्त्रविहित कर्मोंकी परम आवश्यकता

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

जिन मनुष्योंको शास्त्रोंका ज्ञान नहीं है और जिनकी शास्त्रोंपर श्रद्धा नहीं है, वे अज्ञ मनुष्य भक्ति अथवा ज्ञानका बहाना बनाकर शास्त्रविहित कर्मोका त्याग कर देते हैं; किंतु श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणोंमें शास्त्रोक्त कर्मोंका त्याग किसीके लिये भी नहीं बताया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(१८।५)

'यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेयोग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्यकर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म ज्ञानी पुरुषोंको भी पवित्र करनेवाले हैं।'

इतना ही नहीं, भगवान्ने इसके लिये यहाँतक कह दिया है—

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
(गीता १८।६)

'इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये। यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।'

शास्त्रविहित निष्काम कर्मके विना तो ज्ञानयोगकी सिद्धि भी सरलतासे नहीं होती—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
(गीता ५।६ का पूर्वार्ध)

'हे अर्जुन! कर्मयोगके विना तो संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग होना भी कठिन है।'

तथा भक्तियोगमें भी भगवदर्पण किया हुआ कर्म परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला बताया गया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(गीता ९।२७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे। इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं—ऐसे समर्पणयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

अतः ज्ञानयोगी और भक्तियोगी दोनोंके लिये ही शास्त्रविहित कर्मोकी अत्यन्त आवश्यकता है। फिर इसमें तो कहना ही क्या है कि कर्मयोगीके लिये कर्म अत्यावश्यक है; क्योंकि उसका तो कर्मयोग कर्म किये बिना सिद्ध ही नहीं हो सकता—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
(गीता ३।४ का पूर्वार्ध)

'कर्मोंका आरम्भ किये बिना मनुष्य निष्कर्मताको यानी योगनिष्ठाको नहीं प्राप्त होता।'

इसीलिये योगको प्राप्त करनेकी इच्छावाले मनुष्य निष्काम कर्मका आचरण करते हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
(गीता ६।३ का पूर्वार्ध)

'योगमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्काम भावसे कर्म करना ही हेतु कहा जाता है।'

ज्ञानयोगकी सिद्धि भी कर्मोंके त्यागसे नहीं हो सकती। भगवान् कहते हैं—

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।
(गीता ३। ४ का उत्तरार्ध)

'केवल कर्मोंके त्यागमात्रसे मनुष्य सिद्धि यानी ज्ञाननिष्ठाको नहीं प्राप्त होता।'

इसलिये किसी भी दृष्टिसे कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं। कितने ही लोग आसन लगाकर बैठ जाते हैं और परमात्माके ध्यानके बहाने भोली-भाली जनताको ठगते हैं। उनके केवल ऊपरी आसन लगानेके ढंगको देखकर ही भ्रममें पड़कर उनके चंगुलमें नहीं फँसना चाहिये। जो बाहरी इन्द्रियोंको समेटकर भीतरसे विषयोंका चिन्तन करते हैं, उनको तो भगवान्ने दम्भाचारी बतलाया है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
(गीता ३। ६)

'जो मूढ़बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।'

कितने ही लोग भक्तिका बहाना लेकर कहते हैं कि 'भक्तको कोई भी कर्म करनेकी कोई आवश्यकता नहीं, भक्तिके प्रभावसे उसके सब कार्य स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं' तथा संध्या-गायत्री, यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर देते हैं। वे यह नहीं समझते कि भक्तिके बहाने शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करनेसे मनुष्य पतित हो जाता है। श्रीनारदपुराणमें बतलाया गया है—

नोपास्ते यो द्विजः संध्यां धूर्तबुद्धिरनापदि।
पाखण्डः स हि विज्ञेयः सर्वधर्मबहिष्कृतः॥
यस्तु संध्यादिकर्माणि कूटयुक्तिविशारदः।
परित्यजति तं विद्यान्महापातकिनां वरम्॥
(ना० पू० २७। ६७-६८)

'जो धूर्त बुद्धिवाला द्विज आपत्तिकाल न होनेपर भी संध्योपासन नहीं करता, उसे सब धर्मोंसे भ्रष्ट एवं पाखण्डी समझना चाहिये। जो कपटपूर्ण झूठी युक्ति देनेमें चतुर होनेके कारण संध्या आदि कर्मोंको अनावश्यक बताते हुए उनका त्याग कर देता है, उसे महापातकियोंका सिरमौर समझना चाहिये।'

यः स्वधर्मं परित्यज्य भक्तिमात्रेण जीवति।
न तस्य तुष्यते विष्णुराचारेणैव तुष्यति॥
सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥
तस्मात् कार्या हरेर्भक्तिः स्वधर्मस्याविरोधिनी।
सदाचारविहीनानां धर्मा अप्यसुखप्रदाः॥
स्वधर्महीना भक्तिश्चाप्यकृतैव प्रकीर्तिता।
(ना० पू० १५। १५३—१५६)

'जो स्वधर्मका परित्याग करके भक्तिमात्रसे जीवन धारण करता है, उसपर भगवान् विष्णु संतुष्ट नहीं होते। वे तो धर्माचरणसे ही संतुष्ट होते हैं। सम्पूर्ण आगमोंमें आचारको प्रथम स्थान दिया गया है। आचारसे धर्म प्रकट होता है और धर्मके स्वामी साक्षात् भगवान् विष्णु हैं। इसलिये स्वधर्मका विरोध न करते हुए श्रीहरिकी भक्ति करनी चाहिये। सदाचारशून्य मनुष्योंको धर्म भी सुख देनेवाले नहीं होते। स्वधर्मपालनके बिना की हुई भक्ति भी नहीं की हुईके समान ही कही गयी है।'

हरिभक्तिपरो वापि हरिध्यानपरोऽपि वा।
भ्रष्टो यः स्वाश्रमाचारात् पतितः सोऽभिधीयते॥
(ना० पू० ४। २४)

'भगवान् श्रीहरिकी भक्तिमें तत्पर तथा श्रीहरिके ध्यानमें लीन होकर भी जो अपने वर्णाश्रमोचित आचारसे भ्रष्ट हो, उसे पतित कहा जाता है।'

वेदो वा हरिभक्तिर्वा भक्तिर्वापि महेश्वरे।
आचारात् पतितं मूढं न पुनाति द्विजोत्तम॥
(ना० पू० ४। २५)

'द्विजश्रेष्ठ ! वेद, भगवान् विष्णुकी भक्ति अथवा शिव-भक्ति भी आचारभ्रष्ट मूढ़ पुरुषको पवित्र नहीं करती ।'

इसलिये भक्तिमार्गपर चलनेवाले मनुष्यको कभी भूलकर भी शास्त्रविहित उत्तम आचरणोंका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो ईश्वर-भक्ति शास्त्रविहित सदाचार-पालनपूर्वक की जाती है, वही प्रशंसनीय और कल्याण-कारिणी है । श्रीनारदपुराणमें बतलाया गया है—

ज्ञानलभ्यं परं मोक्षमाहुस्तत्त्वार्थचिन्तकाः ।
यज्ज्ञानं भक्तिमूलं च भक्तिः कर्मवतां तथा ॥
(ना० पू० ३३ । २७)

'तत्त्वार्थका विचार करनेवाले पुरुष कहते हैं कि परम मोक्ष ज्ञानसे ही प्राप्त हो सकता है । उस ज्ञानका मूल है भक्ति और भक्ति प्राप्त होती है अपने कर्तव्यकर्मोंका आचरण करनेवालोंको ।'

तथा—

सदाचारपरो विप्रो वर्द्धते ब्रह्मतेजसा ।
तस्य विष्णुश्च तुष्टः स्याद् भक्तियुक्तस्य नारद ॥
(ना० पू० ३ । ७८)

'नारदजी ! सदाचारपरायण ब्राह्मण अपने ब्रह्मतेजके साथ वृद्धिको प्राप्त होता है । उस सदाचारी भक्तिसम्पन्न पुरुषपर भगवान् विष्णु बहुत प्रसन्न होते हैं ।'

ब्रह्माजीने यज्ञादि कर्मोंकी और प्रजाकी रचना करके मनुष्योंको कर्म करनेके लिये विशेषरूपसे आज्ञा दी है एवं उन शास्त्रविहित कर्मोंको न करनेवालेको चोर बतलाया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥
(गीता ३ । १०–१२)

'प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो । तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें । इस प्रकार निःस्वार्थ भावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याण (मुक्ति) को प्राप्त हो जाओगे । यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे । इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको दिये बिना स्वयं भोगता है, वह चोर ही है ।'

इतना ही नहीं, भगवान्‌ने उसे पापायु, इन्द्रियाराम और व्यर्थजीवन बतलाया है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥
(गीता ३ । १६)

'हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ।'

यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करके जो अपने इच्छानुसार चलता है, उसकी भगवान्‌ने निन्दा की है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
(गीता १६ । २३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिका त्याग कर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही ।'

अतएव जो मनुष्य अपनेको ज्ञानी-महात्मा बताकर शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर देते हैं, वे बेसमझीके कारण गलती करते हैं; क्योंकि—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
(गीता ३ । २० का पूर्वार्ध)

'जनकादि ज्ञानियोंने आसक्तिरहित कर्मके द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की है।'

भगवान् श्रीकृष्णने यहाँ अर्जुनको यह आदेश दिया है कि तू मेरा भक्त है, इसलिये लोकसंग्रहकी ओर दृष्टिपात करके अर्थात् संसारके हितके लिये भी तुझे कर्म करना ही चाहिये—

लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ।
(गीता ३ । २० का उत्तरार्ध)

यही नहीं, भगवान् अपना उदाहरण देकर वर्णाश्रमानुसार शास्त्रविहित कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
(गीता ३ । २२-२४)

'हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्म ही करता हूँ। क्योंकि पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान हुआ कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं । इसलिये यदि मै शास्त्रविहित कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ ।'

अतः ज्ञानी पुरुषोंको भी संसारके हितकी दृष्टिसे कर्म अवश्य ही करने चाहिये । अज्ञानी और ज्ञानीके कर्मोंमें अन्तर केवल इतना ही है कि अज्ञानी सकाम मनुष्य कर्मोंमें आसक्त होकर कर्म करते हैं और ज्ञानियोंको अनासक्त भावसे कर्म करने चाहिये । भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
(गीता ३ । २५)

'हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए (सकाम) अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे ।'

इससे यह सिद्ध हो गया कि जो मनुष्य ज्ञानी बनकर यह कहता है कि मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है और यों कहकर जो कर्मोंकी अवहेलना करता है, वह वास्तवमें ज्ञानी ही नहीं है । श्रीनारदपुराणमें बताया गया है—

यः स्वाचारपरिभ्रष्टः साङ्गवेदान्तगोऽपि वा ।
स एव पतितो ज्ञेयो यतः कर्मबहिष्कृतः ॥
(ना० पू० ४ । २३)

'जो छहों अङ्गोंसहित वेदों और उपनिषदोंका ज्ञाता होकर भी अपने वर्णाश्रमोचित आचारसे गिरा हुआ है, उसीको पतित समझना चाहिये; क्योंकि वह धर्म-कर्मसे भ्रष्ट हो चुका है ।'

अतः जो भगवान्के भक्त हैं, उनको तो शास्त्रविहित कर्मोंको अवश्य ही करना चाहिये । यदि भक्त ही शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग कर देगा तो फिर शास्त्रविहित कर्मोंको करेगा ही कौन । भक्तके लिये तो निष्काम भावसे शास्त्रविहित कर्मोंको करना श्रेयस्कर है। मुनिवर श्रीसनकजीने नारदजीसे कहा है—

स्वाचारमनतिक्रम्य हरिभक्तिपरो हि यः ।
स याति विष्णुभवनं यद् वै पश्यन्ति सूरयः॥
(ना० पू० ४ । २०)

'जो अपने वर्णाश्रमोचित आचारका उल्लङ्घन न करता हुआ ही भगवान्की भक्तिमें तत्पर है, वह उस

वैकुण्ठधाममें जाता है, जिसका दर्शन ज्ञानी भक्तोंको ही सुलभ होता है।'

स्वाश्रमाचारयुक्तस्य हरिभक्तिर्यदा भवेत्।
न तस्य त्रिषु लोकेषु सदृशोऽस्त्यजनन्दन॥
(ना० पू० ४। ३१)

'नारदजी! अपने वर्ण और आश्रमके आचारका पालन करनेमें लगे हुए पुरुषको यदि भगवान् विष्णुकी भक्ति प्राप्त हो जाय तो तीनों लोकोंमें उसके समान दूसरा कोई नहीं है।'

अतः—

वेदोदितानि कर्माणि कुर्यादीश्वरतुष्टये।
यथाश्रमं त्यक्तुकामः प्राप्नोति पदमव्ययम्॥
(ना० पू० ३। ७६)

'कर्मफल-त्यागके इच्छुक पुरुषको तो भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये वेद-शास्त्रोंद्वारा बताये हुए आश्रमानुकूल कर्मोंका अनुष्ठान करना ही चाहिये, इससे वह अविनाशी पदको प्राप्त होता है।'

श्रीमद्भागवतमें श्रीनारदजीने महाराज युधिष्ठिरके प्रति वर्णाश्रमधर्मका वर्णन करनेके पश्चात् यही कहा है—

एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद् राजंस्तद्भक्तिभाङ् नरः॥
(७। १५। ६७)

'महाराज! भगवद्भक्त मनुष्य वेदमें कहे हुए इन कर्मोंके तथा अन्यान्य शास्त्रविहित स्वकर्मोंके अनुष्ठानसे घरमें रहते हुए भी श्रीकृष्णकी गतिको प्राप्त करता है।'

तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने भी भक्त उद्धवके प्रति कहा है—

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः॥
(११। १८। ४७)

'मैंने तुम्हें जो यह सदाचाररूप वर्णाश्रमियोंका धर्म वतलाया है, यदि इस धर्मानुष्ठानमें मेरी भक्तिका समावेश हो जाय तो इससे (शीघ्र ही) परम कल्याणस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।'

श्रीविष्णुपुराणमें महाराज सगरके प्रति महात्मा और्वके वचन हैं—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥
(३। ८। ९)

'जो वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेवाला है, वही मनुष्य परम पुरुष श्रीविष्णुकी आराधना कर सकता है, उनको संतुष्ट करनेका और कोई मार्ग नहीं है।'

क्योंकि शास्त्रविहित कर्म करनेवाले मनुष्योंपर भगवान् प्रसन्न होते हैं। जो शास्त्रोक्त कर्मोंका त्याग कर देते हैं और भगवान्‌की प्राप्ति चाहते हैं, उनको भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती; बल्कि उनसे तो भगवान् बहुत दूर रहते है। किंतु जो शास्त्रविहित उत्तम आचरण करते हुए भगवान्‌की भक्ति करते हैं, वे ही उनको प्राप्त करते हैं। श्रीनारदपुराणमें बताया गया है—

वेदप्रणिहितो धर्मो वेदो नारायणः परः।
तत्राश्रद्धापरा ये तु तेषां दूरतरो हरिः॥
(ना० पू० ४। १७)

'धर्मका प्रतिपादन वेदमें किया गया है और वेद साक्षात् परम पुरुष नारायणका स्वरूप है; अतः वेदोंमें जो अश्रद्धा रखनेवाले हैं, उन मनुष्योंसे भगवान् बहुत ही दूर हैं।'

वर्णाश्रमाचाररताः सर्वपापविवर्जिताः।
नारायणपरा यान्ति यद् विष्णोः परमं पदम्॥
(ना० पू० २७। १०६)

'वर्ण और आश्रमसम्बन्धी धर्मके पालनमें तत्पर एवं सारे पापोंसे रहित नारायणपरायण भक्त ही भगवान् विष्णुके परम धामको प्राप्त होते हैं।'

वर्णाश्रमाचाररता भगवद्भक्तिलालसाः ।
कामादिदोषनिर्मुक्तास्ते सन्तो लोकशिक्षकाः॥
(ना० पू० ४ । ३४)

'जो वर्णाश्रमोचित कर्तव्यके पालनमें तत्पर, भगवद्-भक्तिके सच्चे अभिलाषी तथा काम, क्रोध आदि दोषोंसे मुक्त हैं, वे ही सम्पूर्ण लोकोंको शिक्षा देनेवाले संत हैं ।'

कितने ही लोग गीतामें कहे हुए **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** इस भगवद्वाक्यका आश्रय लेकर यज्ञ, दान, तप, सदाचार आदि शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देते हैं, किंतु उपर्युक्त भगवद्वाक्यका अर्थ 'शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके भगवान्की शरण लेना' नहीं है । यदि इसका यही अर्थ होता तो अर्जुन भी अपने क्षत्रियधर्म युद्ध आदिको त्यागकर और वनमें जाकर अकर्मण्य हो भगवान्की भक्ति करता; किंतु अर्जुनने ऐसा नहीं किया । प्रत्युत सम्पूर्ण गीताका उपदेश करनेके पश्चात् भगवान्ने जब अर्जुनसे पूछा—'पार्थ ! क्या इस गीताशास्त्रको तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ? और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ? (गीता १८ । ७२)' तब इसके उत्तरमें अर्जुनने यही कहा—'अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा'—**'करिष्ये वचनं तव** (गीता १८ । ७३) ।' इसपर भगवान्ने अर्जुनसे युद्ध कराया और अर्जुनने युद्ध ही किया । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वर्णाश्रमानुसार शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं करना चाहिये, बल्कि सारे कर्म करते हुए ही उनको भगवान्के अर्पण कर देना चाहिये। यही बात भगवान्ने गीता १८ । ५७ में कही है—

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।

यहाँ वर्णित 'सब कर्मोंको मनसे मुझमें त्यागकर मेरे परायण होना' और १८ । ६६ में वर्णित 'सम्पूर्ण धर्मोंको (मुझमें) त्यागकर केवल एक मेरी ही शरणमें आ जाना' दोनों एक ही बात है ।

इसलिये **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** का यह अर्थ करना कि 'सब धर्मोंको स्वरूपसे छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा'—यह सर्वथा अनुचित है ।*

मनुष्य सर्वथा कर्मका त्याग कर भी नहीं सकता; क्योंकि कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (गीता ३ । ५), अपने स्वभावके अनुसार मनुष्यको बाध्य होकर कर्म करना ही पड़ता है (गीता १८ । ६०) । इसलिये कर्मोंको स्वरूपसे न छोड़कर कर्मोंके फलका एवं आसक्ति, ममता और अभिमानका त्याग करना चाहिये; इसीसे मनुष्यको परम शान्ति मिलती है (गीता २ । ७१) ।

तुम कहाँ नहीं हो ?

(रचयिता—डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, डी० लिट्०)

सरस वसंतमें तिहारी मुसुकानि पाई, दंत-द्युति दामिनीमें दमकत देखी मैं ।
कोकिलकी कूकमें बिलोक्यो बाँसुरीको सुर, जलद सघनमें वदन-छवि पेखी मैं ॥
छिटके सुमन-पुंज माँहि पाई बनमाल, सरित सहासमें विलास गति लेखी मैं ।
कहूँ न विराजे सुख साजे ब्रजराज तुम, देखी जहँ रावरी लुनाई अवरेखी मैं ॥

* इस विषयमें विस्तारसे जाननेके लिये 'सर्वधर्मपरित्यागका रहस्य' शीर्षक मेरा एक लेख 'कल्याण' के ३२वें वर्षके १० वें अङ्कमें प्रकाशित हो चुका है, उसे देखना चाहिये ।

रुद्र-सृष्टि

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०, डी० लिट्०)

पुराणोंमें ब्रह्मासे अष्ट रुद्रोंकी उत्पत्ति कही गयी है। रुद्रसर्गकी कल्पना प्राचीन वैदिक थी। ब्रह्माने अपने समान पुत्र उत्पन्न करना चाहा तो उनकी गोदमें एक नीललोहित कुमार प्रकट हुआ। उत्पन्न होते ही वह गति करने लगा और रोया। ब्रह्माने पूछा—'तुम क्यों रोते हो?' उसने कहा—'मेरा नाम रक्खो।' ब्रह्माने उत्तर दिया—'तुम्हारा नाम रुद्र होगा।' तब उसने सात बार रुदन किया और उसके सात नाम हुए—भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र, महादेव। उसके इन सात रूपोंके लिये ये सात स्थान या शरीर हुए—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य-चन्द्रमा (सम्मिलितरूप) एवं दीक्षित ब्राह्मण या यजमान (मार्कण्डेयपुराण ५२। १—९)।

वस्तुतः यह विषय वैदिक था। उसकी यहाँ तीन कोटियाँ हैं—एक रुद्रतत्त्व या रुद्रका स्वरूप, दूसरे उसके सात नाम और तीसरे उसके सात किंवा आठ स्थान या शरीर। इन तीनोंको इस प्रकार स्पष्टतासे समझना चाहिये। प्राणतत्त्वका नाम रुद्रतत्त्व है। शतपथ-ब्राह्मणमें कहा है—'सृष्टिके आरम्भमें असत् ही था। वह असत् क्या था? उस असत् तत्त्वकी संज्ञा ऋषि थी। वे ऋषि कौन थे? प्राणोंकी संज्ञा ऋषि थी। उन्हें ऋषि क्यों कहा गया? उन्होंने गति की या गति ही उनका स्वरूप था, इसलिये वे ऋषि कहलाये।'[1] ऋषि गतौ धातु तुदादिगणमें पठित है, 'ऋषति, ऋषतः, ऋषन्ति' उसके रूप चलते हैं। इकारान्त 'ऋषि' शब्दकी व्युत्पत्ति उसीसे हुई है। अतएव प्राणोंको ऋषि कहते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सृष्टिके आरम्भमें एक स्वयंभू मूल तत्त्व था। उसे ही ऋषितत्त्व, गतितत्त्व या प्राणतत्त्व कहा गया। प्रत्येक प्राणीके भीतर जो कोई मुख्य प्राण अग्निके समान दहक रहा है और बाहरके भूतोंको खींचकर अपनी शक्ति या तेजसे अपने स्वरूपमें परिवर्तित कर रहा है, वह मुख्य प्राण ही इन्द्र या रुद्र कहलाता है। वह सबके भीतर बैठा हुआ धक्-धक् कर रहा है। जबतक वह जलता है तभीतक जीवन है। इन्धनात्मक होनेके कारण ही उसे 'इन्ध' कहते हैं। इन्धकी ही संज्ञा इन्द्र है। यह कहनेकी प्रतीकात्मक शैली थी। शरीरमें जो दस इन्द्रियाँ हैं, वे उस मुख्य प्राण या इन्द्रकी शक्तिसे ही सम्बन्धित या संचालित होनेके कारण इन्द्रियाँ कही जाती हैं।

मूलभूत प्राण या अग्नि रुद्र भी कहलाता है[2]। वही नीललोहित-कुमार है। ज्ञानका वर्ण नील और कर्मका लोहित है। उस अग्निकी अभिव्यक्ति रश्मियोंके नील और लोहित ये ही दो छोर हैं। सूर्यरश्मियोंकी वर्णपट्टिका (स्पेक्ट्रम) में भी नील रश्मियाँ और लोहित रश्मियाँ दोनों सिरोंपर हैं। अथर्ववेदमें रुद्रके नीललोहित धनुषका उल्लेख आता है। यह रुद्र क्या है और क्यों यह संज्ञा है? इस प्रश्नका उत्तर यों समझना चाहिये। मूलभूत अग्नि या शक्ति जब जागरणकी अवस्थामें आती है, तब उसकी संज्ञा रुद्र होती है। शक्ति या अग्निके जागरणका तात्पर्य है उसका सोमके लिये आकुल होना। अग्नि गतितत्त्व है, प्रत्येक गतिका सापेक्षरूप आगति है। वही गतिरूप अग्नि आगतिरूपमें सोम है। अग्नि जब अपने केन्द्रमें जागता है,

---

१. असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तद् असद् आसीदिति ऋषयो वाव ते अग्रे असदासीत् तद् आहुः के त ऽऋषय इति प्राणा वाऽऋषयस्ते यत् पुरासात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसारिषंस्तस्माद् ऋषयः॥ (शतपथ ६। १।१।१)

२. यो वै रुद्रः सोऽग्निः॥ (शतपथ ५। २।४।१३)

तब उसमें अशनायाधर्म या बुभुक्षा उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् वह चाहता है कि बाहरसे कोई पोषण-तत्त्व उसे प्राप्त हो। अग्निके इस पोष या अन्नको सोम कहते हैं। भूखे होना या केन्द्रका जागरण यही रुदन है। बालक जब भूखा होता है, रुदन करता है। अग्नि जब रुद्ररूपमें प्रकट हुआ, तब देवोंने कहा—'इसमें अन्नका सम्भरण करना चाहिये, तब वह शान्त होगा।' तब उन्होंने बुभुक्षित अग्निमें अन्नरूप सोमका सम्भरण किया और सोम पाकर अग्नि शिव बन गया। सोमके बिना अग्नि रुद्र है, सोमके साथ वही शिव है। शरीरकी ही अग्निको लें, यदि उसे सोम या अन्न न मिले तो वह अग्नि शरीरको ही जलाकर नष्ट कर देगा। सोमके बिना अग्नि या प्राण-शक्तिका बल ध्वंसात्मक है। अग्नि और सोमकी यही प्रक्रिया वृक्ष-वनस्पतियोंमें भी दिखायी पड़ती है। बीजमें जो मूल स्पन्दन या गति-तत्त्व है, वह पृथ्वीके गर्भमें आर्द्रता या जलके संयोगसे सक्रिय हो जाता है। वह अपने लिये निरन्तर अन्न या सोमका पोषण चाहता है। उसीसे बीजका अंकुर निरन्तर बढ़ता हुआ पहले पौधा और फिर बड़ा विटप बन जाता है। उसके शरीरका बाह्य वितान केवलमात्र अग्नि और सोमके स्पन्दनपर ही निर्भर है। अशनाया या सोमपानकी इच्छा यही मध्यप्राण संज्ञक इन्द्रका सतत धर्म है, यही इन्द्रका रुद्र रूप है।

दूसरे प्रश्नमें कहा गया है कि उस अग्निने सात बार रुदन किया, जिससे उसके सात नाम हुए। यह भी सृष्टिविज्ञानका एक संकेत है। मूलभूत प्राण एक ही था। वह सृष्टिप्रक्रियाके लिये सात रूपोंमें अभिव्यक्त हुआ। इन्हें ही सप्तर्षि या सात प्राण कहते हैं। नाम और रूपमें प्रकट होना यही सृष्टि है। भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र, महादेव। अग्निके ये सात रूप हैं[1] (५२ । ७)। वस्तुतः ये सात नाम मूलभूत अग्नितत्त्वके उन सात रूपोंसे सम्बन्धित हैं, जिनके बिना कोई भी अव्यक्त तत्त्व प्रत्यक्षरूपमें आ ही नहीं सकता। एक क्रमसे इनको सात और दूसरे क्रमसे इन्हें ही आठ कहा जाता है। ये ही शिवकी आठ प्रत्यक्ष मूर्तियाँ हैं। इन्हें ही कालिदासने अभिज्ञान-शाकुन्तलके पहले श्लोकमें शिवके आठ प्रत्यक्ष शरीर कहा है[2]। हममेंसे प्रत्येकका शरीर इन्हीं आठोंके संघात या समष्टिका परिणाम है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें और वेदोंमें इन्हींको सप्तपुरुष कहते हैं। पहले एक पुरुष या एक अग्निके सात रूप बनते हैं और फिर सातों मिलकर एक होते हैं, तभी प्राणीकी रचना होती है। यह तथ्य इस प्रकार है। एक मूलभूत अग्नि या शक्ति मन, प्राण, वाक्—इन तीन रूपोंमें प्रकट होती है। मनको अव्ययपुरुष, प्राणको अक्षरपुरुष और पञ्चभूतोंको क्षरपुरुष कहते हैं। वैदिक साहित्यमें पञ्चभूतोंकी संज्ञा वाक् है। आकाश सूक्ष्मतम होनेसे सब भूतोंका प्रतीक है और आकाशका गुण शब्द है, अतएव पाँचों भूतोंको वाक् कह दिया जाता है। तालिकाके रूपमें इसे यों समझना चाहिये—

१—अव्ययपुरुष मन =१ यजमान (=होत्री= दीक्षित तत्त्व)

---

१. तान्येतान्यष्टौ (रुद्रः, शर्वः, पशुपतिः, उग्रः, अशनिः, भवः, महान् देवः, ईशानः) अग्निरूपाणि । कुमारो नवमः॥ ६ । १ । ३ । १८ ॥

२. या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं
या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा
या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया
प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु व-
स्ताभिरष्टाभिरीशः ॥

२—अक्षरपुरुष प्राण (प्राण+अपान) =सूर्य और चन्द्र

३—क्षरपुरुष पञ्चभूत =४पृथ्वी ५जल ६तेज ७वायु ८ आकाश

कालिदासने जिसे होत्री या हवन करनेवाला कहा है, वही इस शरीररूपी यज्ञका यजमान अर्थात् मन है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें स्पष्ट कहा है कि शरीरमें मन ही यजमान है—**मनो यजमानस्य रूपम्** (शतपथ ११।८।२।४)। प्रत्येकके व्यक्तित्वका जो आरम्भक तत्त्व है, उसे हृदय कहते हैं। हृदय बिन्दु है, जो वृत्तके केन्द्रकी तरह सर्वथा अव्यक्त रहता है। उसी हृदयका जो व्यक्त रूप है, वह मन है। इसीलिये मनको हृदयपर प्रतिष्ठित (हृत्प्रतिष्ठ) कहा जाता है। अग्नीषोमात्मक स्पन्दनका नाम यज्ञ है। मानसके सक्रिय होनेसे ही उस यज्ञका सूत्रपात या आरम्भ होता है। मनको ही संज्ञा या चेतना कहते है। असंज्ञ, अन्तःसंज्ञ और ससंज्ञ तीन प्रकारकी सृष्टि होती है। जो संज्ञ है, वह भी विराट् मनसे रहित नहीं है, जैसे मिट्टी आदि पञ्च महाभूत। असंज्ञ जड सृष्टिमें किसी एक बिन्दुपर प्राणके स्पन्दन या चेतनाकी अभिव्यक्ति नहीं देखी जाती। किंतु विराट् शक्ति-तत्त्वसे ये भी विरहित नहीं हैं। मन पहली प्रत्यक्ष मूर्ति है, उसके बिना कुछ भी प्रत्यक्ष भावमें नहीं आता। दूसरी प्रत्यक्ष मूर्ति प्राण या उसीके दो रूप प्राण-अपान हैं, जिन्हें कालिदास और मार्कण्डेयपुराणके लेखकने सूर्य और चन्द्र कहा है। सूर्य और चन्द्र प्राण-अपान या उष्ण-शीतके प्रतीक हैं। प्राण और अपान एक ही प्राणके दो रूप है। अतएव रुद्राग्निके कहीं सात नाम और कहीं आठ कहे गये है। पुराणमें रुद्रके सात नाम गिनाकर फिर उसके आठ रूप या शरीरोंके कथनकी यही संगति है[1]।

वेदके समयसे ही रुद्रके विषयमें एक एवं अनेक रूपोंकी कल्पना पायी जाती है। **'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थौ'**, यह भी मूल सिद्धान्त है। दूसरी ओर कहा गया है कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकमें सहस्रों रुद्र हैं। दोनों युक्तियाँ ठीक हैं। एक और अनेक यही शक्तिका रूप है। **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** के अनुसार एक और बहुधा दोनों सत्य हैं। बहुधा या नानाभावका नाम ही सृष्टि है।

मनमोहन

मनमोहन सौं मोह कर, तू घनस्याम निहार।
कुंजविहारी सौं विहर, गिरिधारी उर धार॥
कीन्हेहू कोटिक जतन, अब गहि काढ़े कौन।
मो मन मोहन रूप मिलि, पानी मैं को लौन॥

---

१. रुद्रसर्गं प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु।
प्रादुरासीदथाङ्केऽस्य कुमारो नीललोहितः। रुरोद सुस्वरं सोऽथ द्रवंश्च द्विजसत्तम॥
किं रोदिषीति तं ब्रह्मा रुदन्तं प्रत्युवाच ह। नाम देहीति तं सोऽथ प्रत्युवाच जगत्पतिम्॥
रुद्रस्त्वं देव नाम्नासि मा रोदीर्धैर्यमावह। एवमुक्तस्ततः सोऽथ सप्तकृत्वो रुरोद ह॥
ततोऽन्यानि ददौ तस्मै सप्त नामानि वै प्रभुः। स्थानानि चैषामष्टानां पत्नीः पुत्रांश्च वै द्विज॥
भवं शर्वं तथेशानं तथा पशुपतिं प्रभुः। भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामहः॥
चक्रे नामान्यथैतानि स्थानान्येषां चकार ह। सूर्यो जलं मही वह्निर्वायुराकाशमेव च॥
दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः क्रमात्। (मार्कण्डेयपुराण ४९। १, ३—९)

सृष्टिका सर्वश्रेष्ठ प्राणी—मानव

(लेखक—प्रिंसिपल डा० रामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि
नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।
(म० भा० शा० प० १८० । १२)

'यह रहस्य-ज्ञान मैं तुमको बताता हूँ, मनुष्यसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।'

मनुष्य सृष्टिका सबसे समुन्नत, ईश्वरीय शक्तियोंसे भरा हुआ, असीम सिद्धियोंको धारण किये हुए सबसे शक्तिशाली प्राणी है। बुद्धि और ज्ञान इसके मुख्य गुण हैं, जिनके बलपर यह संसारके सब प्राणियोंका सम्राट् है। मनुष्य सर्वशक्तियोंका साकार समूह है। भगवान्ने अपने रूपमें मनुष्यकी सृष्टि की है। सर्वश्रेष्ठ ज्ञान उसके मन, शरीर और आत्मामें भर दिया है। इसी शरीरमें देवत्वका दर्शन होता है। उसीसे दैवी चेतना विकसित होकर ईश्वरत्वकी ज्योति जगमगाती है।

मनुष्यका निर्माण ईश्वरीय नियम, संदेश, सद्भावनाओं और विवेक आदिके व्यापक प्रसार तथा सृष्टिमें सत्य, न्याय और प्रेमके स्थापनके लिये किया गया है। ईश्वरको मनुष्य ही ऐसा प्राणी मिला, जिसके द्वारा अन्य प्राणियोंद्वारा किया हुआ शक्तिका दुरुपयोग रोका जा सकता था। छल, झूठ, कपट, पाखण्ड, निष्ठुरता, स्वार्थ कपट, शोषण, अपहरण और बेईमानीका अन्त हो सकता था। उन्होंने मनुष्यको ऐसी दिव्य शक्तियाँ दीं, जिनके द्वारा सात्त्विक वृत्तियोंकी प्रतिष्ठापना हुई, असत्यका अन्त हुआ और धर्मकी ध्वजा फहरी। सत्य, समानता और सदाचारका व्यापक प्रसार कर मनुष्यने सृष्टिको रहने योग्य बनाया है। मानवीय अन्तरात्माकी सात्त्विक वृत्तियोंके प्रयोगसे ही यह संसार रहने योग्य बना हुआ है।

बाइबिलमें महाप्रभु ईसाने कहा है—'हम परमेश्वरके प्रिय पुत्र हैं। परमेश्वरने अपने पुत्रको जगत्में इसलिये भेजा है कि जगत् उसके द्वारा उद्धार पाये।' (यूहन्ना ३ । १७)

मनुष्यके अंदर ईश्वरत्वका जो केन्द्र है, उसे हम 'आत्मा' कहते हैं। यह मनुष्यका शक्ति-केन्द्र है, जिसके द्वारा हमें ईश्वरके गुप्त संदेश निरन्तर मिला करते हैं। आत्माके आदेशसे मनुष्य योग्यतम और श्रेष्ठतम कर्तव्यकी ओर चलता है, पुण्य-संचय करता है, अन्य प्राणियोंसे उच्च स्तरपर चढ़ता है। सद्गुणोंको बढ़ाता है, आत्मबलको विकसित करता है, बुद्धिको तीव्र करता है तथा विवेकको जाग्रत् करता है। वास्तवमें मनुष्यमें अन्य जीवोंसे अधिक विकसित होनेकी जो क्रिया चल रही है, उसका प्रधान कारण आत्माके गुप्त दैवी आदेश ही हैं।

प्रकृति-विज्ञानके महापण्डित डाक्टर ई० बी० जेम्सने बताया कि 'योग्यतमका चुनाव' ही प्रकृतिका नियम है। दूसरे शब्दोंमें प्रकृति स्वयं अच्छे-बुरे, बलवान् और निर्बल, अयोग्य और योग्यतमका चुनाव प्रतिपल प्रतिक्षण करती रहती है। जो निर्बल और अयोग्य हैं, वे स्वतः नष्ट हो जाते हैं। प्रकृति उन्हें नहीं रखना चाहती। उसके दरबारमें अयोग्यकी सजा मौत है। वह बलवान् और योग्यतम जीवोंको ही जीवित रहने देती है। एक बलवान्के लिये वह असंख्य शक्तिहीनोंको नष्ट कर देती है। आँधी, ओले, तूफानोंमें कमजोर वृक्ष टूटकर गिर पड़ते हैं, किन्तु मजबूत ज्यों-के-त्यों दृढ़तापूर्वक खड़े रहते हैं। कमजोर प्राणी बीमारी, युद्ध, गरीबीमें पिसकर समाप्त हो जाते हैं। बड़ी मछलियोंकी रक्षाके लिये अनेक छोटी मछलियोंको उनका ग्रास बनना पड़ता है। वृक्षोंको पूरी खूराक

देनेके लिये छोटे-छोटे पौधोंको नष्ट हो जाना पड़ता है। एक पशुको पालनेके लिये अनेक छोटे-छोटे कीट-पतंग घासके तृणोंका अन्त हो जाता है। यह 'वीर भोग्या वसुन्धरा' निर्बलके लिये नहीं, सबल और सामर्थ्य-वान्के लिये ही है और मनुष्य ही वह पूर्ण विकसित प्राणी है, जो संसारके असंख्य पशु-पक्षियोंपर राज्य कर रहा है। उसके शरीरसे कई गुने बड़े शरीरवाले प्राणी हैं, जो बात-की-बातमें उसे मसल सकते हैं। परंतु नहीं, ऐसा नहीं होता। मनुष्य अपने बुद्धिवैभव और बौद्धिक, मानसिक शक्तिसे सबको परास्त कर देता है। ईश्वरका वरद हस्त सदा उसके साथ है। हमारा वह शक्तिशाली पिता गुप्तरूपसे शक्तिका तीव्र प्रवाह हमें देता ही रहता है। जब शक्तिका स्रोत हमारे पीछे है, तब हम भला कैसे अशक्त, असहाय और अयोग्य बने रह सकते हैं? हम सब जीवोंके सिरमौर हैं। सब निम्नतर जीवोंके स्वामी हैं। हम स्रष्टा हैं। हम शुचि हैं। हम निर्विकार हैं। हमारे कण-कणमें ईश्वरीय शक्तिका निवास है। हमें आत्मशक्तिसे सर्वत्र राज्य करना है।

मनुष्यो! तुम सर्वश्रेष्ठ प्राणी हो। तुम्हारी शक्तियों-का पारावार नहीं। जिन अचूक ब्रह्मास्त्रोंको लेकर इस पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए हो, उनके मुकाबलेमें अन्य कोई कदापि नहीं ठहर सकता।

तुम परमात्माके अमर पुत्र हो। सम्राटोंके सम्राट् परमात्माके युवराज हो। तुम्हें ऐसे-ऐसे दिव्य गुणोंसे विभूषित किया गया है कि दूसरा कोई जीव तुम्हारे मुकाबलेमें न आ सके। तुम्हें अपनी भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक सम्पदाओंसे युक्त होना चाहिये। अनन्त, अखण्ड, सुख-शान्तिका भागी बनना चाहिये।

वेद भगवान्का संदेश स्मरण रक्खो—

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्राः वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ॥

(ऋग्० १० । १०३ । १३)

'उठो, बढ़ो और विजय प्राप्त करो। तुम्हारी भुजाएँ उग्र हों, जिससे तुम कभी हार न सको।'

उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः
समग्निमिन्ध्वं बहवः सनीळाः
दधिक्रामग्निमुषसं च देवी-
मिन्द्रावतोऽवसे नि ह्वये वः॥

(ऋग्० १० । १०१ । १)

'मित्रो, जागो और अपने मनको बलसे भर लो। अपने अंदर उत्साहकी ज्योति जला लो। तुम्हारी रक्षाके लिये वह अग्नि जलायी जाती है कि जिससे जीवन क्रियाशील बन जाता है। उसीको बुलाया जा रहा है, जो तुम्हारे जीवनको ज्योतिर्मय कर देगी। अपने जीवनको ज्योतिर्मय प्रकाशवान् बनाओ।'

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं,
न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः

(ऋग्० ८ । २ । १८)

याद रक्खो, जो जागकर (मनुष्योचित) शुभ कर्म करता है, देवता उसीको चाहते है। अर्थात् उसीके भीतर देवशक्तियाँ जाग्रत् होती है। जो सोये पड़े रहते हैं, देवशक्तियाँ उनमें नहीं जागतीं या उनसे प्रेम नहीं करतीं। समझ जाओ, जो प्रमादी हैं, उन्हें कोई सहायता नहीं देता।

मनुष्यो! अपनी मानवता प्राप्त करो। मोह और आलस्य-निद्रासे जागो। ऋचाएँ जागे हुएकी ही इच्छा करती हैं। सोमका वही लाभ ले सकता है। सोम उसीको मिलता है। इसलिये आपको जागृतिसे मैत्री करनी चाहिये। आपको मानव-जीवन व्यर्थके कामोंमें बितानेके लिये नहीं दिया गया है। वह तो श्रेष्ठ सामर्थ्यवान् बननेके लिये ही दिया गया है।

मानवता

(लेखक—सर्वदर्शननिष्णात तर्कवेदान्तशिरोमणि स्वामीजी श्रीअनिरुद्धाचार्यजी महाराज)

तत्त्वचिन्तकोंका यह सिद्धान्त है कि मानवका महान्-से-महान् एवं पवित्र-से-पवित्र कर्तव्य है अपनी मानवताका संरक्षण। मानवताके संरक्षणमें विश्वका संरक्षण अन्तर्गत है, जिसमें वह स्वयं रहता है। मानवता-हीन मानव न केवल मानवोंके लिये ही अपितु पदार्थमात्र (जड़-चेतन) के लिये अभिशाप है। भागवतधर्मकी सहजिया वैष्णव शाखाके अनुयायी वैष्णव चण्डीदासके मतमें मानवताभूषित मानव इस विश्वकी महत्तम विभूति ही नहीं, अपितु जीवन है, प्राण है, धन है, माता है, पिता है तथा बन्धु है। वही शरणागत है, प्रपन्न है, मुमुक्षु है, भक्त है एवं जीवन्मुक्त है। वह किसी एक मतका अनुयायी होता हुआ भी सब मतोंका अनुयायी है। वस्तुतः वही ईश्वरका सच्चा उपासक है। वह अपनी अखण्ड दिव्य प्रेमकी धारासे सबको तृप्त करता रहता है। मानवताहीन मानव किसी भी मतका अनुयायी नहीं हो सकता है और न आस्तिक। भले ही वह किसी भी मतके माननेका अथवा आस्तिकताका अभिमान रखता हो, कारण कि उपासना (किसी एक मतका मानना) मानवका विशेष धर्म है। जहाँ सामान्य धर्म नहीं रहता; वहाँ विशेष धर्म कथमपि नहीं रह सकता है, अतः विश्वके मानवोंका प्रथम कर्तव्य यह होना चाहिये कि वे अपने धर्म—मानवताको जानें तथा उसको आचरणमें लानेका प्रयत्न करें।

प्राचीन ग्रन्थ निरुक्त तथा ऐतरेय ब्राह्मणमें मानवताकी व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न मर्त्य, मनुष्य तथा मानुष इन शब्दोंकी निरुक्तिके आधारसे की गयी हैं। निरुक्तने मर्यादा (सामान्य शिष्टाचार तथा बीस प्रकारकी मर्यादा), विचार अर्थात् विचारके फल धृति, क्षमा आदि माहात्म्य, गुणवत्ता एवं मानुषता (दोषराहित्य) को मानवता माना है। मानवताकी उपर्युक्त चारों ही व्याख्याएँ परस्पर पूरक होनेसे ग्राह्य हैं।

इनमें भी 'निर्दोषं गुणवत्काव्यम्' इस न्यायसे दोषाभावके लिये जितना प्रयत्न आवश्यक है, उतना गुणवत्ताके लिये न हो तो कोई क्षति नहीं है। इसका अभिप्राय यह नहीं होना चाहिये कि गुणवत्ता (माहात्म्य) की आवश्यकता है ही नहीं, अपितु दोषोंका रहना अक्षम्य है। सत्याषाढके मतमें दोष भूतदाही हैं, अतएव अधर्मकी शक्तियाँ होनेसे दुःखद हैं; अतः इनका निरसन करना अत्यावश्यक है।

दोषाभावात्मक मानवता

अब उन दोषोंका दिग्दर्शन कराया जाता है, जो भूतदाही होनेके कारण निरसनीय हैं। उनमें प्रथम स्थान अज्ञानका है।

१ अज्ञान—वेदान्तदर्शन तथा पुराणोंके मतमें जड तथा चेतनगत सूक्ष्मविशेषोंकी प्रतीति न होना अज्ञान है। यह विशुद्ध तमोगुण है। इसमें रज तथा सत्त्वका सर्वथा अभाव है। इसका कार्य किसी भी प्रकारकी प्रतीति न होना (सुषुप्ति) है।

२ अविद्या—अज्ञानमें ही जब रजःशक्तिका किंचित् प्रवेश होता है, तब वह अविद्यारूप धारण करता है। यह किंचित् प्रकाशरूप है। इसका कार्य सांख्ययोग तथा पुराण-मतमें असुखमें सुख, अनात्मामें आत्मा, अनित्योंमें नित्यता तथा अशुचि पदार्थोंमें शुचिताकी प्रतीति कराना है। विपर्यय भी इसीका नाम है। बहुतोंके मतमें यह अविद्यारूप दोष-भावात्मक होनेसे कर्मरूप है। आच्छादक होनेसे परमात्माका पीताम्बर यही अविद्या है। (विष्णुधर्मोत्तरपुराण) विद्या इसकी प्रतिद्वन्द्विनी है। अनन्त अध्यात्मशास्त्रोंका सर्जन इसके अभिभवके लिये ही हुआ है।

३ मोह—मोहकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ शास्त्रोंमें उपलब्ध होती हैं। इसका मूल 'मुह वैचित्त्ये' धातु है। वैचित्त्यका अर्थ है किसी एक विषयमें प्रकाशका अभाव। वेदान्तदर्शनमें वेदान्तदेशिक मोहको प्रज्ञाकी आवरण-कर्त्री (ढकनेवाली) शक्ति मानते हैं। प्रमाद, निद्रा तथा आलस्यादि इसीके रूप हैं। यह घोर है। (संकल्पसूर्योदय) भगवान् व्यासके मतमें धर्ममें मूढ़ता मोह है। (महाभारत) सत्याषाढके मतमें कार्य एवं अकार्यका अविवेक मोह है (श्रौतसूत्र)। न्यायाचार्य उद्योतकरके मतमें मिथ्या प्रतिपत्ति (विपरीतज्ञान) मोह है। (न्यायदर्शन) यतिश्रीकृष्ण मिश्रके मतमें अनित्य एवं अशुचि पदार्थोंमें नित्यत्व आदिका अभिमान मोह है (प्रबोधचन्द्रोदय)। सांख्य तथा योग अस्मिता (अस्फुटता) को मोह कहते हैं। इसमें अविद्याकी अपेक्षा रजःशक्ति एक अंश अधिक है। इसका प्रतिपक्षी विवेक है। समान न्यायसे यह भी विवेकका प्रतिपक्षी है।

अतः इसका फल (कार्य) कर्तव्याकर्तव्य-प्रकाशके नष्ट हो जानेपर किंकर्तव्यविमूढ़ता है।

४ महामोह—वेदान्तदर्शन महामोहको मोहका ही पर्याय मानता है, किंतु सांख्ययोग तथा पुराण रागको महामोह मानते हैं। इसके बुद्धिमें उदय होनेपर बुद्धि बुद्धि न रहकर कुमति हो जाती है।

५ कुमति—वेदान्तदेशिकने कुमतिको मोहकी पत्नी माना है। कुमति अयथार्थदर्शिनी है। यह अपवर्ग, मोक्ष एवं स्वर्ग आदिमें दोषोंको देखती है। इसका फल सत्य व्यवहार एवं दान आदि सद्गुणोंमें दोषोंको दिखाना है।

६ काम—कामके स्वरूपका निर्धारण भिन्न-भिन्न प्रकारसे हुआ है। हरिभद्रसूरिके मतमें पर-स्त्री तथा कन्याओंमें दुरभिसन्धि 'काम' है। भीतरी अरिषड्वर्गमें प्रथम है (धर्मबिन्दु)। न्यायाचार्य उद्योतकराचार्यके मतमें स्त्री-गत अभिलाप काम है, किंतु नैयायिक विश्वनाथने विजातीय संयोगेच्छाको ही काम माना है (न्यायवार्त्तिक)। भगवान् कृष्णद्वैपायनके मतमें संसारका हेतु काम है।

७ रति—वेदान्तदर्शनमें रतिको कामकी पत्नी माना है (संकल्पसूर्योदय)। इसका पर्याय रिरंसा भी है। काम तथा रति दोनों सहचारी हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणका कहना है कि इसके बिना जगत् क्रीड़ा-कौतुकसे रहित एवं निःसुख हो जाता है। अतः रतिका कार्य क्रीडा-कौतुक आदि है। रति एवं कामकी प्रतिद्वन्द्विनी जुगुप्सा है। यति श्रीकृष्णके मतमें विचार भी कामका प्रतिद्वन्द्वी है।

८ क्रोध—हरिके मतमें बिना विचारे अपना तथा दूसरेके अपायका हेतु 'क्रोध' है। यह भीतरी शत्रुओंमें दूसरा है (धर्मबिन्दु)। सत्यापाढ़के मतमें जिस मानसिक भावसे शरीरेन्द्रिय आदि विकृत हो जाते हैं, वह क्रोध है। क्रोधका कार्य हिंसा-ताडन आदि हैं। यास्कके मतमें ज्वलन (शरीर, इन्द्रिय एवं मन आदिका जलना) क्रोध है। क्रोधका फल विश्वपर होता है।

९ जिघांसा—वेदान्तके मतमें यह क्रोधकी पत्नी है। इसके द्वारा ही मनुष्य किसीके हनन एवं ताडन आदिमें प्रवृत्त होता है। यह क्रोधकी अन्तिम परिणति है। इसकी प्रतिद्वन्द्विनी तितिक्षा है।

१० लोभ—लोभकी भी गणना महादोषोंमें है। इसके स्वरूपका विवेचन भी अनेक प्रकारसे हुआ है। हरिके मतमें दानयोग्योंमें धनका अप्रदान तथा अकारण परधनका ग्रहण लोभ है (धर्मबिन्दु)। उद्योतकराचार्यके मतमें प्रमाण-विरुद्ध परद्रव्य-अपहरणकी इच्छा लोभ है। विश्वनाथके मतमें धर्मविरुद्ध परद्रव्य-अपहरण एवं उचित व्यय न करना भी लोभ है।

११ तृष्णा—न्यायके मतमें किसी एक विषयमें 'पुनरपि भवतु' यह प्रार्थना तृष्णा है। वेदान्तमें सार्वत्रिकी निरंकुश इच्छाको तृष्णा मानते हैं। विश्वनाथ नैयायिकके मतमें 'यह मेरा व्यय न हो जाय' इस इच्छाको 'तृष्णा' कहा है। वेदान्तदेशिकने तृष्णाको लोभकी पत्नी माना है। जिसका अखण्ड सौभाग्य कभी खण्डित नहीं होता और जिसकी तृप्ति अखण्ड ब्रह्माण्डोंसे भी नहीं होती है। इसका फल दुःख है। इसकी प्रतिद्वन्द्विनी संतुष्टि है।

१२ दम्भ—दम्भ भी प्रसिद्ध दोष है—व्यासके मतमें धर्मध्वजका उच्छ्राय (ऊँचे उठना) अर्थात् धर्मको धंधाका रूप दे देना'दम्भ'है (महाभारत)। उद्योतकराचार्यके मतमें कपटसे धार्मिकता आदिका अपनेमें उत्कर्ष स्थापनकी इच्छा दम्भ है (न्यायवार्त्तिक)। यतिश्रीकृष्णके मतमें अविद्यमानको विद्यमानवत् प्रकट करना दम्भ है (प्रबोधचन्द्रोदय)। यह लोभका पुत्र है। अनृतका सहचारी है। बिना अनृत (असत्य) के दम्भका रहना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। वस्तुतः दम्भ अनृत अनुकूलपूरक द्वन्द्व हैं अर्थात् एकका एक सहायक है।

१३ माया—माया नाम कुहनाका है। कुहनाका अर्थ है छिपाना। वेदान्तदेशिकने इसे दम्भकी पत्नी माना है। दम्भ माया भी अनुकूलपूरक द्वन्द्व है। एक (दम्भ) का कार्य अविद्यमानको प्रकट करना है, तो दूसरे (माया) का काम विद्यमानको छिपाना है। वेदान्तदर्शनमें वेदान्तदेशिकने परधन-हरण—प्राविण्यको 'कुहना' कहा है। उद्योतकराचार्य परवञ्चनकी इच्छाको कुहना कहते हैं। सत्यापाढ़के मतमें दिखावा कुहना है। वस्तुतः दिखावा दम्भ है—छिपाना कुहना है। कुहनाका पर्याय ही माया है। निरुक्तकार ज्ञानको भी माया मानते हैं। ज्ञान भी सबको छिपाता (विषयकर्ता) ही है। पूर्वमीमांसा अपरिच्छिन्नको परिच्छिन्न कर देनेवाली शक्तिको माया मानती है। मायाका अर्थ मिथ्या नहीं है। तामसिक शक्तियोंमें माया अन्यतम है, अतः मिथ्या नहीं है।

१४ दर्प—वेदान्तदेशिकके मतमें गुणोत्तरों (गुण

आदिसे श्रेष्ठों) का अपवाद (तिरस्कार) करना दर्प है। (संकल्प-सूर्योदय) यतिश्रीकृष्णके मतमें सज्जनोंकी अवधीरणा करना (उनको तुच्छ समझना) 'दर्प' है। ब्रह्माण्डपुराणने दर्पको लक्ष्मी-शक्तिका पुत्र माना है। ऐतरेय ब्राह्मण इसको उच्चपदका पुत्र भी मानता है। अतः लक्ष्मीमानोंको तथा पदाधिकारियोंको इसपर ध्यान रखना आवश्यक है। इसका कार्य दूसरोंका तिरस्कार है। अहंकार तथा गर्व इसीके पर्याय हैं।

१५ ईर्ष्या—उद्योतकराचार्यके मतमें सर्वसाधारण वस्तुमें सबका सत्त्व होनेपर भी उस वस्तुका उपयोग करनेवाले अन्य लोकोंके विषयमें जो अपने चित्तमें विकार होता है, वह ईर्ष्या है। (न्यायवार्तिक) कैयटके मतमें परगुणोंका सहन न होना ईर्ष्या है। (महाभाष्य) राजस्थानी भाषामें जिसको ईषका कहते हैं। स्पर्धा भी इसीका पर्याय है।

१६ असूया—उद्योतकराचार्यके मतमें परगुण आदिमें द्वेष (अप्रीति) असूया है। (न्यायवार्तिक) कैयट परगुणोंके विध्वंसनको असूया कहते हैं। (महाभाष्य) वेदान्तदेशिक गुणोंमें दोष देखना अथवा गुणोंको दोषरूपमें परिणत करके दिखा देना असूया मानते हैं। (संकल्प-सूर्योदय) ईर्ष्या तथा असूया यह दोनों दर्पकी पत्नी हैं। दर्पके साथ ही रहती हैं। अहंकारके कारण दूसरोंके गुणोंको न सहना ईर्ष्या है। तथा दूसरोंके गुणोंका खण्डन करना भी असूया है। इन दोनोंका द्वन्द्व परस्पर अनुकूलपूरक द्वन्द्व है। अहंकार ईर्ष्या, अहंकार असूया तथा ईर्ष्या असूया अहंकारका परिणाम ईर्ष्या एवं असूया है। इनकी प्रतिद्वन्द्विनी शक्ति मुदिता है। अर्थात् दूसरेके गुणोंको देखकर प्रसन्न होना। अहंकारका प्रतिद्वन्द्वी आकिंचन्य है।

१७ स्तम्भ—यतिश्रीकृष्णके मतमें गुरु, माता एवं पिता आदिकी गणना न करके दण्डवत् खड़े रहना स्तम्भ है (प्रबोधचन्द्रोदय)। इसीका पर्याय अविनय है। इसी दोषको स्तब्धता माना है। श्रीवेदान्तदेशिकके मतमें यह सदागम (सज्जनोंका आगमन तथा सत्-शास्त्र) का परिपन्थी है। मोहका द्वारपाल भी है। यतिश्रीकृष्ण मिश्रने असत् संगको भी मोहका द्वारपाल माना है। विदुषी रत्नप्रभाके मतमें दोनों ही मोहके द्वारपाल हैं।

१८ अभिनिवेश—वेदान्तदर्शन किसी भी कार्यमें पुनः-पुनः विघ्नोंके होनेपर भी उसीमें स्थित-स्थापक संस्कारवत् लगे रहनेको अभिनिवेश कहता है। (संकल्प-सूर्योदय) यतिश्रीकृष्णके मतमें मिथ्या वस्तुओंमें अत्यन्त आदर अभिनिवेश है। रत्नप्रभाके मतमें किसी भी वस्तुमें अत्यन्त आदरका होना अभिनिवेश है। सांख्य तथा योग मरणभयको अभिनिवेश मानते हैं, यह अभिनिवेश दो प्रकारका है—विषयाभिनिवेश तथा समाध्यभिनिवेश।

१९ दुर्वासना—श्रीवेदान्त देशिकके मतमें व्यसनोंके संस्कारोंका नाम वासना है। पूर्वमीमांसा क्रियाजन्य संस्कारोंको वासना कहती है। न्यायदर्शन अनुभवजन्य संस्कारोंको वासना मानता है। वेदान्त इसको अभिनिवेशकी पत्नी मानता है। यह भी दो प्रकारकी है—दुर्वासना तथा सुवासना। दुर्वासनाकी गणना तमःशक्तियोंमें है, एवं सुवासनाकी गणना सात्त्व-शक्तियोंमें।

२० अहंकार—अपनेमें विद्यमान अथवा अविद्यमान गुणोंके आरोपसे 'अहोअस्मि' यह बुद्धि-अहंकार है। (न्यायवार्तिक) व्यासके मतमें महा-अज्ञान अहंकार है। गर्व तथा दर्प इसके पर्याय हैं। 'विद्यमान गुणोंसे अहोअस्मि' यह अहंकार है 'अविद्यमान गुणोंके आरोपसे अहोअस्मि,' यह दर्प है। दर्प और अहंकारमें यह भेद हो सकता है—इसकी उत्पत्ति विद्या, धन, कुल, आचाररूप बल एवं जनबल आदिसे होती है। इसका कार्य दूसरोंका तिरस्कार है। अहंकारका प्रतिपक्षी गुण अकिंचनता है।

२१ तिरस्कार—प्राणिमात्रको तुच्छ मानना अथवा अकिंचित्कर पदार्थ समझना तिरस्कार है। अपनेसे विद्या आदि गुणोंसे हीनोंके प्रति इसकी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है।

२२ मत्सर—मत्सरकी गणना भूतदाही महादोषोंमें है। व्यासके मतमें हृदयताप मत्सर है। उद्योतकराचार्य अक्षीयमान वस्तुको भी न देनेकी इच्छाको मत्सर मानता है। यथा कूपादि जलका दान। अमरसिंहके मतमें अन्यके शुभमें अप्रीति होना मत्सर है, नैयायिक विश्वनाथके मतमें अपने प्रयोजनके विना ही पराभिमतके निवारणकी इच्छा मत्सर है (न्यायदर्शन)। मानवसुलभ दुर्बलताका यह भी अच्छा लाभ लेता है, इससे बचना परमावश्यक है। उदारता गुण इसका प्रतिभट है।

२३ मान—चित्तमें अपने पौरुष अथवा अपने गुणोंके आश्रयसे उत्पन्न उद्रेकका नाम मान है—अभिमान भी

इसीको कहते हैं। हरिके मतमें हितोपदेशका ग्रहण न करना मान है—यह आभ्यन्तर शत्रुओंमें पाँचवाँ है।

२४ स्पृहा—उद्योतकराचार्यके मतमें दूसरोंकी वस्तुको लेनेकी इच्छा स्पृहा है। गौतम न्यायागत धनमें असंतोष एवं अन्यायसे अन्यके धनको लेनेकी इच्छाको स्पृहा मानता है। रत्नप्रभा विषयाभिलाषको स्पृहा कहती है।

२५ कार्पण्य—विश्वनाथ उचित व्ययको न करनेको कार्पण्य मानता है। अथवा द्रव्यत्यागमें अक्षमता कार्पण्य है। यह तृष्णाका ही एक भेद है अथवा उसका पुत्र है। सर्वथा कार्पण्य महादोष है।

२६ द्रोह—उद्योतकराचार्यके मतमें अपकारकी इच्छा द्रोह है। विश्वनाथ नाशाश्रय द्वेषको द्रोह मानता है।

२७ हिंसा—विश्वनाथके मतमें परपीडन हिंसा है। यतिश्रीकृष्णके मतमें प्राणहति हिंसा है। बहुत-से इसको द्रोहकी पुत्री मानते हैं। कई दार्शनिक इसको द्रोहका ही रूपान्तर मानते हैं। वस्तुतः द्रोहबुद्धिसे पीड़न अथवा हनन ही हिंसा है। द्रोहबुद्धिरहित प्राणिपीडन हिंसा नहीं है। जिस हिंसाका उद्देश्य प्राणीका उपकार हो, वह हिंसा हिंसा नहीं है।

२८ अमर्ष—विश्वनाथके मतमें अपराध करनेपर असमर्थका द्वेष 'अमर्ष' है। उद्योतकराचार्यके मतमें अपराध-असहिष्णु अमर्ष है। श्रीमधुसूदन सरस्वती परोत्कर्ष-असहन-रूप चित्तवृत्ति-विशेषको अमर्ष मानते हैं।

२९ अतिमान—याज्ञवल्क्यके मतमें अन्योंको कुछ भी न देकर अपनेमें ही सब वस्तुका उपयोग कर लेना अतिमान है। यतिश्रीकृष्ण मिश्रके मतमें अपनेको सर्वश्रेष्ठ मानना तथा पूज्यजनोंको भी हीन समझना अतिमान है। यह दोष महापापोंका जनक है।

३० विपर्यय—कणादके मतमें अन्य वस्तुको अन्य प्रकारसे समझना विपर्यय है—अर्थात् विपरीत ज्ञान है, जैसे सीपको चाँदी समझना।

३१ संशय—न्यायके मतमें विचिकित्सा (संदेह) संशय है। यह 'स्थाणु है अथवा पुरुष' इस ज्ञानको संशय कहते हैं। यह मानस दोष न होकर बौद्धिक दोष है। (न्यायदर्शन)

३२ तर्क—वैशेषिक मतमें तर्ककी भी गणना अबुद्धिमें की है। व्याप्यके आरोपसे व्यापकका आरोप करना तर्क है। वस्तुतः तर्क निश्चय है। अतः दोष न होकर गुण ही है।

४—

३३ स्मय—विश्वनाथके मतमें गुणवान्में निर्गुणत्व बुद्धि स्मय है। पुराणोंके मतमें स्मय पुष्टिका पुत्र है। यह भी महादोष है। विस्मय भी एक मानसिक भाव है। यति-श्रीकृष्णके मतमें पूर्वकल्पनाके विरुद्ध वस्तुके मिलनेपर 'अहो' यह भाव विस्मय है।

३४ प्रमाद—उद्योतकराचार्यके मतमें शक्त मनुष्यका अवश्यकर्तव्य कार्यको न करना प्रमाद है। विश्वनाथ पूर्व-निश्चित कर्तव्यमें अकर्तव्यबुद्धि तथा अकर्तव्यतया निश्चितमें कर्तव्यबुद्धिको प्रमाद मानता है। रत्नप्रभाके मतमें अन्तः-करण तथा इन्द्रियोंकी व्यर्थ चेष्टाका नाम प्रमाद है। इसके साथ-ही-साथ कर्तव्यपालनमें अवहेलना भी सम्मिलित है। केशव काश्मीरीके मतमें कर्तव्यकर्ममें अनवधानता (असावधानता) प्रमाद है।

३५ भय—विश्वनाथ अनिष्ट-हेतुके उपनिपात (उपस्थिति) में उसके त्यागनेके उचित ज्ञानका न होना भय मानता है। केशव काश्मीरीके मतमें आगन्तुक दुःखोंके हेतुओंको देखनेसे जो चित्त-विकार है, वह भय है।

३६ शोक—विश्वनाथके मतमें इष्टवियोग तथा अनिष्ट-के संयोगसे उत्पन्न मनःपीडा शोक है। रत्नप्रभा इष्टवियोग तथा उसके लाभका उचित ज्ञानका न होना शोक मानती है। केशव काश्मीरीके मतमें इष्टवियोगके हेतु दर्शनसे उत्पन्न चित्तविकार शोक है। भगवान् व्यास अज्ञानको शोक मानते हैं। (महाभारत) यह भी महान् भूतदाही है।

३७ राग—किसी एक विषयमें तन्मय हो जाना राग है। रत्नप्रभा अनुकूल विषयमें रस-बुद्धिको राग मानती है। आसक्ति रागका ही पर्याय है। रागका ही परिवार काम आदि दोष हैं।

३८ द्वेष—दुःख एवं दुःखहेतुओंकी असहिष्णुता द्वेष है। रत्नप्रभा प्रतिकूल विषयोंमें दोष-बुद्धिको ही द्वेष मानती है। इसीका परिवार ईर्ष्या, असूया आदि दुर्गुण हैं। राग तथा द्वेष दोनों ही महान् भूतदाही हैं। अतः इनका निरसन (निकालना) सुखेच्छुओंका अवश्य कर्तव्य है।

३९ शठता—सत्यापाढ़के मतमें वक्रचित्तता शठता है। तत्त्वविवेचनीके मतमें दूसरेको ठगनेकी वृत्तिका नाम शठता है। केशव काश्मीरी गूढ़रूपसे दूसरोंको हानि पहुँचाने-को शठता मानता है। रत्नप्रभा अपनी शक्तिको छिपाना भी शठता मानती है।

दोषोंसे रहित होना ऐतरेयके मतमें मानवता है, उनने मानुषता (मानुषता) को मानवता माना है, किंतु निरुक्तकार यास्क इतना ही पर्याप्त नहीं मानते; वे मानवताकी पूर्तिके लिये माहात्म्य (गुणवत्ता) को भी आवश्यक मानते हैं। उनके मतमें गुणवत्ता भी मानवता है, गुणवत्ताका पर्याय माहात्म्य है। अब उन गुणोंका वर्णन किया जाता है, जो माहात्म्यप्रद हैं, उनमें प्रथम स्थान ज्ञानका है।

१ ज्ञान—सांख्यके मतमें ज्ञान सत्त्वगुण है। यह प्रकाशरूप है। वेदान्त ज्ञानको आत्माका स्वरूप तथा धर्म भी मानता है। न्यायदर्शन ज्ञानको केवल आत्माका गुण ही मानता है। वस्तुकी प्रतीति कराना ज्ञानका कार्य है। यह विशुद्ध तत्त्व है और अज्ञानका प्रतिपक्षी भी।

२ विद्या—विद्या यह रजःसम्पृक्त सत्त्वगुण (ज्ञान) का प्रथमोल्लास है। इसका कार्य है—जो पदार्थ जैसा हो, उसको यथार्थ वैसा ही प्रतीत करवाना। न्यायदर्शन इसीको ही प्रमा (यथार्थ ज्ञान) कहता है। वेदान्तदर्शन गुरुपरम्परापूर्वक—गुरुसे शिष्यद्वारा गृहीत भगवत्-प्राप्तिके साधनको भी विद्या मानता है। उसके मतमें भगवत्प्राप्तिकी साधनभूत विद्याएँ बत्तीस हैं। वेदान्तदेशिक प्रपत्तिको भी उन्हींके अन्तर्गत मानते हैं, अतः ब्रह्मविद्याओंकी संख्या बत्तीस न रहकर तैंतीस हो जाती है। यह भावात्मक कर्मरूप अविद्याकी प्रतिद्वन्द्विनी है।

३ विवेक—वेदान्तदर्शनके मतमें सत्-असत्‌का विचार विवेक है। वेदान्तदेशिकने प्रज्ञाके उल्लासको विवेक माना है। जाग्रदवस्था आदि विवेकका ही रूपान्तर है। यह मोहका महाप्रतिभट है। इसका कार्य वैमुख्य (सम्मुखाकारता) का नाश है। इसके उदयसे पदार्थोंमें अविवेक तथा बुद्धिमें किंकर्तव्यविमूढ़ता नष्ट हो जाती है।

४ सुमति—वेदान्तदेशिकने विषयोंमें दोषोंको दिखानेवाली बुद्धिको सुमति माना है। यतिश्रीकृष्णके मतमें सूक्ष्म अर्थ-विवेचनक्षम बुद्धि सुमति है। (प्रबोधचन्द्रोदय) रत्नप्रभा यथार्थदर्शिनी बुद्धिको सुमति मानती है, यह विवेककी पत्नी है तथा कुमतिकी विरोधिनी भी है।

५ विचारणा—वेदान्त-दर्शन ऊह (परिच्छेद) को विचारणा कहता है।

६ श्रद्धा—वेदान्तदर्शनमें यतिश्रीकृष्ण मिश्र श्रद्धाको सत्त्वगुणकी शक्ति मानते हैं, जो वस्तुके सत्स्वरूपका ग्रहण करती है। वल्लभाचार्यके मतमें आस्तिक्य बुद्धि श्रद्धा है। भगवान् शंकराचार्य शास्त्रवचनोंमें इदमित्थं-बुद्धिको श्रद्धा मानते हैं। दैवत मीमांसाने चान्द्री शक्तिको श्रद्धा माना है, जो विश्वमें व्याप्त है। जिसका मनमें अधिकतासे प्राकट्य होता है; इसका कार्य सूक्ष्म अर्थोंके साथ आत्माका सम्बन्ध कराना और उनको पकड़ना है। जिज्ञासुओंको इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसका प्रतिभट अश्रद्धा है, जिसका काम मानसिक शक्तियोंको संकुचित कर देना है।

७ संस्कार—वैयाकरण एकीकरण-शक्तिको संस्कार मानते हैं। न्यायदर्शन अनुभवजन्य प्रतिफलनको संस्कार कहता है। श्रीमधुसूदन सरस्वतीके मतमें प्राग् अनुभूतका उद्बोधन संस्कार है। पूर्वमीमांसा दोषापनय; गुणाधान एवं अतिशयोत्पाद (विलक्षणता उत्पन्न करना) को संस्कार कहती है। दैवत मीमांसाके मतमें समकार (बराबर करना अर्थात् वैषम्य मिटाना) संस्कार है। इसका प्रतिभट म्लेच्छता है।

८ व्यवसाय—वेदान्तके मतमें उत्साह व्यवसाय है, पुरुषकार इसीका नाम है। कथाश्रवण, ध्यान एवं ईश्वरोपासना आदिमें उत्साह व्यवसाय है। आलस्य इसका प्रतिभट है।

९ भक्ति—श्रीरामानुजाचार्य अष्टाङ्गयोगसे ईश्वरकी उपासनाको भक्ति मानते हैं। श्रीमध्वाचार्यके मतमें दस प्रकारकी मर्यादाएँ भक्ति हैं। श्रीवल्लभाचार्यके मतमें प्रेमपूर्वक भगवत्सेवा भक्ति है (भज सेवायाम्)। तान्त्रिक परानन्दके मतमें ईश्वरमें अनुरक्ति ही भक्ति है। यही मत नारद तथा शाण्डिल्यने भी अपनी-अपनी भक्तिमीमांसामें उल्लिखित किया है। व्यासने भगवत्-पूजामें अनुरागको भक्ति कहा है। भगवत्-कथामें अनुराग गर्गके मतमें भक्ति है। पुराणके मतमें प्राणिमात्रमें भगवद्दर्शन भक्ति है। पूर्वमीमांसा ईश्वरका अंग (अवयव) हो जाना भक्ति मानती है। वेदमें भक्ति शब्दका अर्थ अवयव होता है।

श्रीरामानुजाचार्यने भक्ति, परभक्ति तथा परमभक्तिरूप भक्तिके तीन पर्व माने हैं। श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण आदि भक्ति। इनसे उत्पन्न भगवत्प्रेम परभक्ति है, परभक्तिके द्वारा प्राप्त भगवद्दर्शन तथा अनुभवके होनेसे अनुभवसे उत्पन्न अतिशय प्रेम परमभक्ति है। यम, तप, स्वाध्याय, ध्यान तथा अनुराग इनके मिलनेसे भक्तियोग होता है।

(परानन्दसूत्र)

४० मिथ्यादृष्टि—यतिश्रीकृष्ण मिश्र नास्तिकताको मिथ्यादृष्टि मानते हैं। 'नास्ति कर्म नास्ति कर्मफलं नास्ति परलोकः, तथा नास्ति ईश्वरः' आदि-आदि धारणाएँ नास्तिकता है। यह लोक-व्यवहारमें अनुपयुक्त होनेसे दोष है। अतः त्याज्य है। यह मोह, राग तथा द्वेष आदिकी जननी भी है। शंकरानन्दके मतमें शास्त्रविपरीत बाधितार्थदृष्टि मिथ्यादृष्टि है। रत्नप्रभा अर्थशून्य दृष्टिको मिथ्यादृष्टि मानती है।

४१ उत्कण्ठा—जिस रागका विषय प्राप्त न हो उसके निमित्तसे शरीरके अत्यन्त संशोषणसे उत्पन्न वेदना उत्कण्ठा है। रत्नप्रभा प्रिय वस्तुकी प्राप्तिमें तीव्र इच्छाको उत्कण्ठा मानती है। भूतदाही होनेसे यह भी त्याज्य है। भगवत्प्राप्तिमें उत्कण्ठा सहायक है।

४२ आशा—यतिश्रीकृष्णके मतमें विरोधके स्फुट होनेपर भी उपेक्षामें असामर्थ्य आशा है। केशव काश्मीरी फल-कामनाको आशा मानता है। परमार्थप्रपा 'अमुकं मे भूयात्' (यह हमको प्राप्त हो) को आशा मानती है।

४३ आलस्य—व्यास धर्मनिष्क्रियताको आलस्य मानते हैं। केशव काश्मीरीके मतमें कार्यके उपस्थित होनेपर भी उद्यमराहित्य आलस्य है। शंकरानन्दने श्रद्धाकी विधुरतासे उत्साहके अभावको आलस्य माना है। यह भी महान् तामस दोष है। अतः त्याज्य है।

४४ मद—यतिश्रीकृष्ण मिश्र 'यत्किंचित् कार्यता' (जो चाहे सो करना) को मद मानते हैं। अविद्याजनित मनका उद्रेक भी मद है। अथवा हर्षका उत्कर्ष हो जाना रत्नप्रभाके मतमें मद है। हरिके मतमें कुल, बल, ऐश्वर्य, विद्या, रूप आदिसे आत्मामें अहंभाव करना मद है। इसका फल दूसरेको अनुचित रूपसे दबाना तथा तिरस्कार करना है। इसकी गणना भीतरी अरिषड्वर्गमें चौथी है।

४५ हर्ष—हरिके मतमें बिना कारण दूसरोंको दुःख देने अथवा अपनी द्यूत आदि प्रवृत्तिसे जो मनमें प्रीति उत्पन्न हो, वह हर्ष है। इसका भीतरी अरिषड्वर्गमें छठवाँ स्थान है।

४६ पैशून्य—व्यास दूसरेके दोषोंको सूचन करना पैशून्य मानते हैं। मनुने इसकी गणना उपपातकोंमें की है। वाणीके चार पापोंमें इसे अन्यतम पाप माना है।

४७ मन्यु—सत्याषाढ़ गूढ़ रोषको मन्यु मानता है।

४८ परीवाद—सत्याषाढ़ निन्दाको परीवाद कहता है।

४९ रोष—सत्याषाढ़के मतमें रोष क्रोधका भेदमात्र है। प्रतिकूलोंमें कार्यरूपमें परिणत न होनेवाला केवल मनका विलोममात्र हो जाना रोष है।

५० अयोग—सत्याषाढ़ चित्त-विक्षेपको अयोग मानता है। भगवान् पतञ्जलि चित्त-वृत्तियोंकी उच्छृङ्खलताको अयोग मानते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके मतमें कार्य-मूढ़ता अयोग है।

५१ अनात्म्य—सत्याषाढ़के मतमें अजितेन्द्रियता अनात्म्य है।

५२ मृषोद्य—जीवोंके सुख-विघातक वाग्व्यापारको मृषोद्य कहते हैं। इसीका पर्याय असत्यभाषण है।

५३ अत्याश—दिन तथा रात्रिमें दो बार भोजन प्रकृति-(सनातन धर्म) विहित है। अहोरात्रमें अनेक बार भोजन (निरन्तर चरते रहना) करना ही अत्याश है। श्रुतिने इसको पाप माना है। दो बार भी मित भोजन ही प्रशस्त है।

५४ निकृति—वेदान्तदेशिकके मतमें क्रूरता निकृति है। रत्नप्रभाने शठताको निकृतिका पर्याय माना है। इसका प्रतिभट आर्जव (सरलता) गुण है।

५५ निर्ऋति—पूर्वमीमांसाके मतमें मिलनवृत्तिका अभाव निर्ऋति है। किसी कामको रोक देना भी निर्ऋति है। इस स्वभावके कारण ही राक्षसोंको नैर्ऋत कहते हैं।

५६ कलि—पुराणके मतमें कलि नाम कलह दोषका है। भगवान् मनु ज्ञानके अभावको कलि मानते हैं। जिस समयमें कलह एवं अज्ञान बढ़ जाता है, उस कालका नाम कलि है। ऐसा मानव भी साक्षात् कलि है।

५७ अधर्म—अनिष्ट-(दुःख) फलक क्रिया अधर्म है।

५८ ममता—जगत्के पदार्थोंमें 'यह मेरा है' यह बुद्धि ममता है।

५९ असत्संग—असत्संगको यतिश्रीकृष्ण मिश्र मोहका द्वारपाल मानते हैं। श्रीवेदान्तदेशिकने स्तम्भको भी मोहका द्वारपाल माना है। स्तब्धताके कारण ही हृदयमें सद्ग्रन्थों तथा संतोंका प्रवेश नहीं होने पाता। विषय तथा विषयीजनोंका चिन्तन तथा सहवास असत्संग है। भगवान् श्रीकृष्णने शिश्नोदर-परायणोंको असत् कहा है।

गुणात्मक मानवता

उपर्युक्त सब दोष तामस होनेसे अधर्मात्मक हैं, जिनका फल दुःख है। दुःख ही नरक है। अतः ये त्याज्य हैं। इन

१० संकल्प—मानसक्रियाको संकल्प कहते हैं। रत्नप्रभाके मतमें भूतहितकारी गुण संकल्प है।

११ मैत्री—(योगदर्शन) परहित-चिन्तन करना मैत्री है। मनुने इसीको ब्राह्मण्य (ब्राह्मणका धर्म) माना है (मैत्रो ब्राह्मण उच्यते)। पुराणके मतमें मैत्रीका पुत्र प्रसाद है। जगत्की रक्षिका शक्ति होनेसे पुराण मैत्रीको धर्मकी पत्नी भी मानता है।

१२ करुणा—करुणा दयाका पर्याय है। इसके स्वरूपका विवेचन भिन्न-भिन्न रूपमें मिलता है। भगवान् व्यासके मतमें प्राणिमात्रके लिये सुखकी इच्छा दया है। रत्नप्रभा परदुःखके देखनेपर मनकी द्रवताको दया मानती है। हरिभद्रसूरिके मतमें परदुःख-विनाशिनी चित्तवृत्ति दया है। श्रीलोकाचार्यजी परदुःखसे दुखी हो जानेको दया मानते हैं। वेदान्तदर्शनमें वेदान्त-देशिकने परदुःखजिहीर्षाको दया कहा है। ब्रह्माण्डपुराणके मतमें हित तथा अहितकी दृष्टिसे आत्मवत् समदृष्टि दया है। दया भी जगत्की महान् संरक्षिका शक्ति है। अतः यह धर्मकी पत्नी है। क्रूरता इसकी प्रतिद्वन्द्विनी है।

१३ मुदिता—योगदर्शनके मतमें अन्योंके अभ्युदय-में प्रसन्नता मुदिता है। इसका विषय पुण्यात्मा हैं। यह ईर्ष्या-की प्रतिस्पर्धिनी है। इसका फल चित्तकी स्वच्छता है।

१४ उपेक्षा—अपराध करनेवालोंके प्रति अथवा पापियोंके प्रति दण्ड देने एवं घृणा करनेकी भावना न रखना उपेक्षा है। यह तिरस्कारकी प्रतिस्पर्धिनी है। (योगदर्शन व्यासभाष्य)

१५ जुगुप्सा—वेदान्तदर्शनके मतमें हेय पदार्थोंके प्रति घृणा करना या रखना जुगुप्सा है। श्रीवेदान्तदेशिकने इसको कामकी प्रतिपक्षिनी माना है। यतिश्रीकृष्ण मिश्र विचारको भी कामका प्रतिपक्षी मानता है।

१६ तितिक्षा—श्रीव्यासके मतमें द्वन्द्वसहिष्णुता (द्वन्द्वोंको सहना) तितिक्षा है (महाभारत)। वेदान्तदर्शनमें परापराध-सहिष्णुता तितिक्षा है। किंतु यह तो क्षमाका स्वरूप है। परोत्कर्ष-सहिष्णुता भी तितिक्षा है एवं परमत-सहिष्णुता भी।

१७ तुष्टि—सत्यापाढ़के मतमें अनिर्वेद (वस्तुके अभावमें खिन्न न होना) तुष्टि है। ब्रह्माण्डपुराणने संतोषको तुष्टिका पुत्र माना है। यह अनन्तकी पत्नी है। असंतोषकी विरोधिनी है। इसके विना विश्व असंतुष्ट होकर नष्ट हो सकता है। इसलिये यह धर्मकी पत्नी मानी गयी है। श्रीमद्भागवतमें मुद (आनन्द) को तुष्टिका पुत्र माना है।

१८ शम—व्यासके मतमें चित्तकी प्रशान्ति शम है। बौधायन अकर्तव्योंसे उपरामको शम मानता है।(शमु उपरमे) इन्द्रियोंका दमन शम है। सत्यापाढ़के मतमें काम तथा मन्युका त्याग शम है। ब्रह्माण्डपुराणके मतमें अपने तथा दूसरोंके लिये इन्द्रियोंका मिथ्या प्रवृत्त न होना शम है।

१९ दम—व्यास मनके दमनको दम मानते हैं। कई विद्वान् बाह्य-इन्द्रियजयको दम कहते हैं। बौधायनके मतमें कर्तव्यमें लगाना दम है। ब्रह्माण्डपुराण जितेन्द्रियताको दम कहता है। उसके मतमें शम तथा दम क्रिया (सत्-क्रिया) के पुत्र हैं।

२० ह्री—ह्री नाम लज्जाका है। व्यासके मतमें अकार्यसे निवृत्ति ही लज्जा है। पुराण ह्रीको धर्मकी पत्नी मानते हैं, इसका पुत्र प्रश्रय (विनय) है। श्रीरामानुजस्वामीने विनय (नीचानुसंधान) को प्रथम स्थान दिया है। भगवान् मनुने धर्मके दस लक्षणोंमें लज्जाको अन्यतम लक्षण माना है। ह्रीका प्रतिभट निर्लज्जता, अविनय, उच्छृङ्खलता है।

२१ तपः—व्यास स्वधर्मवर्तित्वको तप मानते हैं। पारानन्दके मतमें अनशन तप है। रत्नप्रभा स्वल्पाशन (अल्पाहार) को तप कहती है। विहित अनुष्ठान भी तप है। ब्रह्माण्डपुराणके मतमें ब्रह्मचर्य, जप, मौन एवं निराहारत्व सब मिलकर तप है। बौधायनके मतमें अक्रोध आदि व्रतोंका पालन तप है।

२२ आर्जव—व्यास चित्तकी समताको आर्जव मानते हैं (महाभारत)। पुराणके मतमें अकुटिल व्यवहार आर्जव है।

२३ वैराग्य—वेदान्तदर्शन विषयमें वितृष्णा, अलंबुद्धि अथवा हेयबुद्धिको वैराग्य मानता है। ब्रह्मविद्याका यह अन्तरङ्ग अङ्ग है। सांख्यदर्शनने बुद्धिके आठ धर्मोंमें इसको अन्यतम धर्म माना है। योगदर्शन वैराग्यद्वारा विषयस्रोत (प्रवाह) बंद होते हैं, यह मानता है। वैराग्य—अपरवैराग्य तथा परवैराग्य भेदसे दो प्रकारका है। ऐहलौकिक पदार्थोंमें वितृष्णता अपर-वैराग्य है। अणिमादि ऐश्वर्यमें भी वितृष्णता (तृष्णारहित होना) परवैराग्य है। इसका प्रतिभट अविराग है, जो बुद्धिके तामस धर्मोंमें अन्यतम है।

२४ स्थैर्य—व्यासके मतमें स्वधर्ममें स्थित रहना स्थैर्य है।

२५ धैर्य—व्यास इन्द्रिय-निग्रहको धैर्य कहते हैं। कालिदासके मतमें विकारजनक हेतुओंके उपनिपात (संनिधि) में भी विकारका अभाव धैर्य है। यतिश्रीकृष्ण मिश्रने अविषादको धैर्य माना है। गिरिधरके मतमें अव्याकुलता धैर्य है।

२६ मार्दव—यतिश्रीकृष्ण मिश्र सुगमताको मार्दव मानते हैं। हरिभद्रसूरिके मतमें मानका प्रतिपक्षी मार्दव है।

२७ सत्य—पृथ्वीके मतमें यथार्थ भाषण सत्य है। नारद भूतहित (प्राणिहित) को सत्य मानते हैं।

२८ शौच—बृहस्पतिके मतमें अभक्ष्य-परिहार, अनिन्दित-संसर्ग तथा स्वधर्ममें व्यवस्था शौच है। व्यास किसी भी प्रकारके साङ्कर्यवर्जनको शौच मानते हैं। मनुके मतमें अर्थ (धन) की पवित्रता शौच है। इसका फल सत्त्वगुणकी दीप्ति है। इसका प्रतिभट अपवित्रता है।

२९ क्षमा—व्यास क्रोधकी उत्पत्ति होनेपर भी चित्तके संयमको क्षमा मानते हैं। रत्नप्रभाके मतमें सामर्थ्यके होनेपर भी अपकारका सहना क्षमा है। क्षमा क्रोधकी प्रतिस्पर्धिनी है।

३० त्याग—श्रीवल्लभाचार्यके मतमें सञ्चय करनेकी वृत्तिका अभाव त्याग है। ब्रह्माण्डपुराण इष्ट तथा न्यायागत वस्तुको गुणवान्को देना त्याग मानता है। अर्थियों (याचकों) पर मुक्तहस्तता भी रत्नप्रभाके मतमें त्याग है।

३१ संतोष—येनकेनापि तृप्ति संतोष है। रत्नप्रभा अलंबुद्धिको संतोष मानती है। किंतु यह तो वैराग्य है। अतः यथालाभ तृप्ति मानना ही संतोष है।

३२ उपरति—विषयोंके लाभमें भी उदासीनता उपरति है।

३३ श्रुत—व्यास शास्त्रार्थके विचारको श्रुत मानते हैं। (भागवत) इसकी ज्ञानवृद्धिके लिये परमावश्यकता है।

३४ विरक्ति—योगके मतमें विषय-निःस्पृहता विरक्ति है। ब्रह्माण्डपुराण इष्टका अभिनन्दन, अनिष्टमें द्वेष, प्रीति, ताप तथा विषादसे विनिवृत्ति (रहित होना) विरक्ति मानता है।

३५ ऐश्वर्य—व्यासके मतमें प्रकृति (स्वभाव) के परतन्त्र न होना ऐश्वर्य है। न्यायदर्शनमें उदयनाचार्य अप्रतिहतेच्छत्व (इच्छाके अविघात) को ऐश्वर्य मानते हैं। सांख्य ज्ञान तथा क्रिया-शक्तिके सामर्थ्यको ऐश्वर्य मानता है। तन्त्र तथा वेदान्तने सर्वज्ञता तथा सर्वकर्तृत्वको ऐश्वर्य माना है।

३६ शौर्य—कर्तव्यमें उत्साह शौर्य है। कई विद्वान् संग्राममें उत्साहको शौर्य कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके मतमें स्वभावका विजय शौर्य है।

३७ तेज—पूर्वमीमांसाके मतमें दुर्गुणोंको जलाना तेज है। दूसरोंका अभिभव (दबाना) करनेके सामर्थ्यको भी तेज कहते हैं (पाञ्चरात्र)।

३८ बल—व्यास शारीरिक सामर्थ्यको बल मानते हैं। रत्नप्रभाके मतमें कर्मेन्द्रिय-सामर्थ्य भी बल है। (पाञ्चरात्र) सतत कार्यके करनेपर भी श्रमाभावको बल माना गया है।

३९ स्मृति—व्यास कर्तव्यके अनुसंधानको स्मृति कहते हैं। न्यायदर्शन अनुभवजन्य संस्कारको स्मृति मानते हैं। रत्नप्रभा पवित्र स्मरणको स्मृति मानती है। पूर्वमीमांसामें प्रत्यक्ष तथा अनुमानमें श्रुति तथा स्मृति परिभाषित है।

४० स्वातन्त्र्य—व्यास व्यसनादि दुर्गुणोंके वशमें न होना स्वातन्त्र्य मानते हैं। रत्नप्रभाके मतमें प्राकृत विकारोंके वशमें न होना स्वातन्त्र्य है।

४१ कौशल—क्रियानैपुण्यको कौशल कहते हैं। बहुत-से जन दोनों लोकों (इस लोक एवं परलोक) को सुधारना कौशल मानते हैं।

४२ कान्ति—व्यासके मतमें सौन्दर्य कान्ति है—सौन्दर्य भी एक प्रकारका प्रकाश है। कान्ति प्रभा तथा शोभा भेदसे दो प्रकारकी है। पुरुषगत कान्ति प्रभा है। स्त्रीगत कान्ति शोभा है।

४३ प्रागल्भ्य—व्यासके मतमें सभामें अकम्पका नाम प्रागल्भ्य है। चातुर्यको भी प्रागल्भ्य कहते हैं।

४४ शील—बुद्ध सदाचरणको शील मानते हैं। वल्लभाचार्यने सुस्वभावको शील माना है। हरिभद्रसूरि सम-शत्रु-मित्रताको शील कहते हैं। भगवान् व्यासके मतमें मनसा वाचा कर्मणा प्राणिमात्रके प्रति अद्रोह-दान तथा अनुग्रह शील है। श्रीवेदान्तदेशिक उन्नतके अनुन्नतों (हीनों) के साथ सर्वथा हिलमिल जानेको शील मानते हैं।

४५ सह—व्यास मनोबलको सह मानते हैं। वेदमें शक्तिको सह मानते हैं।

४६ ओज—व्यासके मतमें ज्ञानेन्द्रियोंका सामर्थ्य ओज है ।

४७ भग—वल्लभाचार्य सौभाग्यके आश्रयको भग मानते हैं। पाञ्चरात्र धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य, तेज एवं श्री—इन छः गुणोंको भग मानता है। सांख्य तथा योगने धर्म, ज्ञान, विराग तथा ऐश्वर्य–इन चार बौद्ध गुणोंको भग माना है। नडपादके मतमें प्रज्ञा भग है । त्रिपुरोपनिषद्के मतमें शक्ति भग है। रत्नप्रभाके मतमें आनन्द भग है। कई विद्वान् आनन्दके कारणको भग मानते हैं।

४८ गाम्भीर्य—व्यासके मतमें दुःखग्राह्य अभिप्रायता (कठिनतासे अभिप्रायता) गाम्भीर्य है । रत्नप्रभाके मतमें चिड़चिड़ेपनका अभाव भी गाम्भीर्य है।

४९ आस्तिक्य—गिरिधरके मतमें शास्त्रप्रतिपादित अर्थोंमें 'इदमित्थं बुद्धि' आस्तिक्य है। वल्लभाचार्य श्रद्धाको आस्तिक्य मानते हैं। दर्शनोंके मतमें विधि आस्तिक्य है। वेदान्तदर्शन ईश्वरपरताको आस्तिक्य कहता है—उसके मतमें ईश्वर विधि एवं अस्ति है।

५० कीर्ति—व्यासके मतमें यश कीर्ति है। पाञ्चरात्र परमात्माकी प्रधान चार शक्तियोंमें कीर्तिको अन्यतम शक्ति मानता है। जिसका कार्य विस्तार (फैलाव) है । ब्रह्माण्डपुराणमें यशको कीर्तिका पुत्र माना गया है। ब्रह्मवैवर्तपुराण सुकर्मको भी कीर्तिका पुत्र मानता है। वेद महिमाको भी कीर्तिका पुत्र मानता है ।

५१ अनहंकार—कार्य करनेपर भी गर्वका अभाव अनहंकार है।

५२ हर्ष—सत्याषाढके मतमें इष्टलाभसे चित्तका उद्वेग बढ़ जाना हर्ष है।

५३ अनत्याश—सत्यापाढ़ शास्त्रनियत भोजनको अनत्याश मानता है ।

५४ संविभाग—आत्माको कष्ट देकर भी प्राणियोंके लिये कुछ भी देना संविभाग है ।

५५ योग—सत्याषाढ़ मनकी एकाग्रताको 'योग' मानता है । भगवान् पतञ्जलि चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको 'योग' मानते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके मतमे कर्मकुशलता 'योग' है ।

५६ आनृशंस्य—सत्याषाढ़ निष्ठुरतावर्जनको आनृशंस्य मानता है ।

५७ समय—मर्यादाका पालन समय है । समयका ठीक पालन भी समय है । सर्वभूत-अविरोध—प्राणिमात्रसे वैर न करना सर्वभूत-अविरोध है ।

५८ अमोह—सत्यापाढ़के मतमें सावधानता 'अमोह' है ।

५९ चातुर्य—वेदान्तदेशिकने विरुद्धोंको अनुकूल कर लेना चातुर्य माना है । केशव काश्मीरीने ज्ञान तथा क्रियाके सामर्थ्यको चातुर्य कहा है । किसी कविने दोनों लोकोंको साधनेवाली बुद्धिको चातुर्य कहा है ।

६० कृतज्ञता—श्रीयामुनाचार्यने कृत-उपकारको स्मरण करना कृतज्ञता माना है (स्तोत्ररत्न)।

६१ पराक्रम—किसीसे परास्त न होना पराक्रम है ।

६२ साम्य—वेदान्तदर्शनके मतमें सुख एवं दुःखादिमें आत्मवत् प्रतीति साम्य है ।

६३ वात्सल्य—वेदान्तदेशिकने दोषोंको न देखना वात्सल्य माना है, यह क्षमा गुणकी अतिकाष्ठा है । कई विद्वान् दोषोंको गुणरूपसे देखना वात्सल्य मानते हैं । किंतु यह अतिवाद मात्र है ।

६४ सौशील्य—वेदान्तदेशिकने सुस्वभावताको सौशील्य कहा है । ऊँच-नीचके विवेक बिना सबके साथ हिलना-मिलना भी सौशील्य है ।

६५ अस्पृहा—गौतमने न्यायागत धनसे संतोष तथा परधनकी अनिच्छको अस्पृहा कहा है ।

६६ अकार्पण्य—गौतमके मतमें प्रसन्न मनसे अल्प भी प्रतिदिन देना अकार्पण्य है ।

६७ मंगल—गौतमने प्रशस्तके आचरण तथा अप्रशस्त (निन्दय) के वर्जनको मंगल माना है ।

६८ अनायास—गौतम शुभकार्योंको यथाशक्ति करना अनायास मानते हैं । रत्नप्रभाके मतमें किसीको भी दुःख न पहुँचाना अनायास है ।

६९ विश्वास—पारानन्दके मतमें वस्तुओंमें यथार्थभाव विश्वास है । उसका कहना है कि ईश्वरको नेत्रमार्गमें लाने तथा पापदहनमें विश्वासके सदृश अन्य वस्तु नहीं है । यह बौद्ध गुण हैं । श्रद्धा मानस गुण है । यह श्रद्धा और विश्वासमें भेद है । वस्तुके यथार्थ भावको दिखलाना विश्वासका कार्य है । इसको ग्रहण कर लेना श्रद्धाका कार्य है ।

७० ध्यान—व्यासके मतमें मनकी निर्विषयता ध्यान है। वेदान्तदर्शन अविच्छिन्न-स्मृतिको ध्यान मानता है। पारानन्दके मतमें तुम्हारे बिना हमारा रक्षक नहीं है, इस प्रकारका ईश्वरचिन्तन भी ध्यान है। मैं उसको कब देखूँगा, इस प्रकारका चिन्तन भी ध्यान है। वह स्वामी है मैं सेवक हूँ—वह आराध्य है मैं आराधक हूँ, उसके बिना मेरा कोई मनोरथदाता नहीं है—इस प्रकारका चिन्तन भी ध्यान है। मोक्षशास्त्र सांख्य और योगने आभ्यन्तर अथवा बाह्य देशमें ध्येयविषयक ज्ञानका सदृश प्रवाह—जो दूसरे ज्ञानोंसे न मिला हो उसको ध्यान माना है (तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्)।

७१ श्री—पुराणोंके मतमें सर्वमङ्गलोंकी माता श्री है। अतः जो मानव सब मङ्गल कार्य करता है, वही श्रीमान् है। पूर्वमीमांसामें शारीरिक शोभाको श्री माना गया है। श्रीमद्भागवतमें शुभको श्रीका पुत्र कहा गया है। श्री कुरूपताकी प्रतिस्पर्धिनी है, अमङ्गलताकी भी।

७२ मूर्तिः—पुराणके मतमें मूर्ति सब गुणोंकी जननी है। जिसमें मूर्ति नामक शक्ति रहती है, वही सब गुणोंका आश्रय बन सकता है। सब गुण जिसमें मूर्च्छित (आश्रित) हों, यह मूर्ति शब्दका अर्थ है। श्रीमद्भागवतने सब गुणोंको मूर्तिका पुत्र माना है।

७३ उन्नति—व्यासके मतमें अभ्युदय उन्नति है। पुराण दर्पको उन्नतिका पुत्र मानता है, इससे सावधान होना आवश्यक है।

७४ क्रिया—ब्रह्माण्डपुराणके मतमें क्रिया सत्क्रिया है। ब्रह्मवैवर्तपुराणके मतमें क्रिया उद्योगकी जननी है। व्यासके मतमें क्रिया योगकी जननी है। शम तथा दम भी क्रियाके पुत्र माने गये हैं। निष्क्रिय मनुष्य शम तथा दमरहित होता है।

७५ शान्ति—पुराणके मतमें शान्ति धर्मकी पत्नी है। इसका पुत्र सुख है। पाणिनीयके मतमें उपरति शान्ति है। 'शमु उपरमे'। व्यासने ब्रह्माण्डपुराणमें शान्तिका पुत्र क्षेम माना है। यदि यह अधिभूत, अध्यात्म तथा अधिदैवतमें न रहे तो वस्तु, मनुष्य तथा ब्रह्माण्ड अशान्त एवं उन्मत्त होकर नष्ट हो जाय।

७६ पुष्टि—व्यासके मतमें पोषण करनेवाली शक्ति पुष्टि है। ब्रह्मवैवर्तके मतमें इसके अभावमें पदार्थ मात्र क्षीण हो जाते हैं। पदार्थमात्रकी रक्षिका होनेसे यह धर्मकी पत्नी है। इसका पुत्र स्मय है। ब्रह्माण्डपुराणमें लाभको भी पुष्टिका पुत्र माना है। जो मानव सबका पोषण करता है, वही पुष्ट है; दूसरा नहीं।

७७ अलोभ—सत्याषाढ़के मतमें उचित व्यय करना अलोभ है। ब्रह्माण्डपुराणने दूसरेके धनको न लेना अलोभ माना है।

७८ अद्रोह—सत्याषाढ़ पुनः-पुनः प्रसक्त क्रोधादि दुर्गुणोंको 'अब मैं नहीं करूँगा' इस संकल्पको अद्रोह मानते हैं।

७९ अदम्भ—धर्मका कर्तव्यबुद्धिसे आचरण करना अदम्भ है। रत्नप्रभाके मतमें धर्मको धनोपार्जनका धंधा न बनाना अदम्भ है।

८० अभिगमन—पाञ्चरात्रके मतमें परमात्माके सम्मुख जाना अभिगमन है।

८१ उपादान—पाञ्चरात्र परमात्माकी पूजाके लिये गंध, पुष्प तथा नैवेद्य आदिके संग्रहको उपादान मानता है।

८२ इज्या—गंध, पुष्प आदि उपचारोंसे भगवत्-पूजा करना पाञ्चरात्रमें इज्या है।

८३ स्वाध्याय—ग्रन्थोंका अध्ययन, प्रवचन तथा मन्त्रका जप आदि स्वाध्याय है।

८४ अनन्यता—भगवान् श्रीकृष्णके मतमें परमात्माके लिये ही परमात्माकी भक्ति (उपासना) करना अनन्यता है। अपने ही उपास्य (इष्टदेव) के सब रूप हैं—यह भावना भी अनन्यता है।

८५ धर्म—ब्रह्माण्डपुराणके मतमें इष्ट (सुख) प्रापक क्रिया धर्म है।

८६ यज्ञ—ज्ञान तथा क्रियाका संयोग 'यज्ञ' है।

८७ मेधा—व्यासके मतमें मेधा स्मृतिकी जननी है। ब्रह्माण्डपुराण मेधाको श्रुतिकी जननी मानता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण मेधाको ज्ञानकी जननी मानता है।

८८ सम्पत्ति—ब्रह्मवैवर्तके मतमें सम्पत्तिशक्तिसे जगत् सम्पन्न है। अर्थशास्त्रने सम्पत्तिको अर्थशक्ति माना है। इसके बिना जगत्—असम्पन्न (दरिद्र) हो जाता है।

८९ धृति—ब्रह्माण्डपुराणके मतमें धृतिका पुत्र नियम है। व्यास इन्द्रियनिग्रह, गिरिधर अव्याकुलता, श्रीकृष्ण अविषाद, कालिदास विकाराभावको धृति मानते हैं।

९० सिद्धि—कार्यमें सफलता सिद्धि है। ब्रह्माण्ड-पुराणके मतमें सिद्धिका पुत्र सुख है।

९१ अनसूया—सत्याषाढ़के मतमें दूसरोंके गुणोंका अनुमोदन करना अनसूया है। यह असूयाकी प्रतिभट है।

९२ दान—व्यासके मतमें भूतरक्षाफलक क्रिया दान है।

९३ अस्तेय—योगके मतमें अदत्त वस्तु न लेना अस्तेय है।

९४ अपरिग्रह—योगदर्शन संग्रह-त्यागको अपरिग्रह मानता है।

९५ ब्रह्मचर्य—मनुके मतमें मिथुन न होना ब्रह्मचर्य है। सनत्सुजातके मतमें ब्रह्मतेज ब्रह्मचर्य है।

९६ मौन—भगवान् श्रीकृष्ण मितभाषणको मौन कहते हैं। पुराणके मतमें मननशील होना मौन है। यह द्वन्द्वताका प्रतिस्पर्धी है एवं बहुवादिताका भी।

निषादराज गुह और केवट एक नहीं, दो व्यक्ति हैं*

(लेखक—श्रीविश्वम्भरसहायजी प्रेमी)

'कल्याण' के अक्टूबर १९५८ के अङ्कमें सम्मान्य पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस' द्वारा लिखित 'निषादराज गुह और केवट एक व्यक्ति हैं अथवा दो' शीर्षक लेख पढ़नेका अवसर प्राप्त हुआ। पण्डितजीके तर्कको पढ़नेपर साधारणतया मुझे भी ऐसा ही प्रतीत होने लगा था कि निषादराज गुह और केवट शायद एक ही व्यक्ति हैं। परंतु तुलसीदासजीके मानसके इस प्रसंगका महाकवि वाल्मीकिद्वारा रचित रामायणसे मिलान करनेपर मेरे विचारोंमें परिवर्तन आ गया।

पण्डितजीने प्रारम्भमें निषादराज गुहद्वारा राम, सीता और लक्ष्मणके सत्कारका प्रसंग प्रस्तुत किया है। रामके साथ सुमन्त भी था। रात्रिके समय गुहने इन सबके लिये निवास तथा भोजन आदिकी व्यवस्था की, जैसा कि निम्न चौपाइयोंमें उल्लेख मिलता है—

यह सुधि गुहँ निषाद जब पाई। मुदित लिए प्रिय बंधु बोलाई॥
लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हियँ हरषु अपारा॥

निषादने अपने आपको नीच भी बताया। परंतु उसने एक राजाके रूपमें अपने राजमें आये अतिथियोंका राजोचित सम्मान किया। यह ठीक है कि गुहने भगवान् श्रीराम, सीता और लक्ष्मणके लिये सुन्दर निवासशाला बनायी और उसीने पत्तोंके दोनोंमें फल-फूल आदि रखकर राम, लक्ष्मण और सीताजीको भेंट किये। गुह भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके ऐश्वर्यसे परिचित था। निश्चय ही गुहकी दृष्टिमें श्रीरामचन्द्रजी एक महान् व्यक्ति, बड़े राजाके राजकुमार तथा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। यहाँतक हम पण्डितजीके विचारसे पूर्णतया सहमत हैं।

अब दूसरे दिनकी घटनापर ध्यान देनेकी आवश्यकता है। राम, लक्ष्मण, सीता तथा गुह चारों प्रातःकाल गङ्गाके तटपर पहुँचे। रामने गङ्गापार जानेसे पूर्व सुमन्तको वापस अयोध्या भेज दिया। श्रीरामने केवटसे नाव माँगी; परंतु केवटने नाव लानेसे मना कर दिया। यथा—

मागी नाव न केवटु आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥
चरन कमल रज कहुँ सबु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥
एहिं प्रतिपालउँ सबु परिवारू। नहिं जानउ कछु अउर कबारू॥
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

केवटने श्रीरामचन्द्रजीको नाव न लानेका कारण बताते हुए कहा कि 'मैं तुम्हारे मर्मको जानता हूँ। तुम्हारे चरण-कमलोंकी धूलिके लिये सब कहते हैं कि वह मनुष्य बना देनेवाली जड़ी है, जिसके छूनेसे पत्थरकी शिला सुन्दर स्त्री हो गयी। मेरी नाव तो काठकी है, काठ पत्थरसे कठोर तो होता नहीं। मेरी नाव भी मुनिकी स्त्री हो जायगी। मैं तो इसीके सहारे अपने परिवारका पालन-पोषण करता हूँ। मैं कोई दूसरा धंधा भी नहीं जानता।'

* इस विषयपर इसी प्रकारके बहुत-से लेख आये हैं। पर खण्डन-मण्डनके लेख प्रकाशित करके इस परम्पराको चलाना 'कल्याण'को इष्ट नहीं है। इसलिये यह एक लेख प्रकाशित कर दिया जाता है। इस विषयके खण्डन-मण्डनपरक और लेख नहीं छापे जायँगे। सब महानुभाव कृपापूर्वक क्षमा करें। —सम्पादक

केवटने आगे कहा—'प्रभो ! यदि तुम पार ही जाना चाहते हो तो मुझे पहले अपने चरण-कमल धोनेके लिये आज्ञा दे दो ।'

केवटने यहाँतक भी कह दिया कि 'यदि लक्ष्मणजी मुझे तीर भी मार दें तो भी मैं बिना पाँव धोये नावपर न चढ़ाऊँगा ।'

राम केवटके वचन सुनकर हँसे और उन्होंने केवटको आज्ञा दी कि जो तुम्हारे मनको प्रिय लगे वैसा ही करो—

कृपासिंधु बोले मुसुकाई । सोइ करु जेहिं तव नाव न जाई ॥
बेगि आनु जल पाय पखारू । होत बिलंबु उतारहि पारू ॥

इसके पश्चात् केवटने भगवान् श्रीरामके चरण धोये और फिर उनको नावपर चढ़ाकर गङ्गा पार उतारा । देवताओंने सुमन बरसाये ।

नावसे उतरकर राम, सीता, लक्ष्मण और गुह गङ्गाके रेतपर खड़े हो गये ।

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता । सीय रामु गुह लखन समेता ॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा । प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा ॥

गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित मानसमें इनका अर्थ इस प्रकार किया गया है—

'निषादराज और लक्ष्मणजीसहित श्रीसीताजी और श्रीरामचन्द्रजी (नावसे) उतरकर गङ्गाजीकी रेती (बालू) में खड़े हो गये, तब केवटने उतरकर दण्डवत् की । (उसको दण्डवत् करते देखकर) प्रभुको संकोच हुआ कि इसको कुछ दिया नहीं ।'

श्रीशुक्लजी यहाँ गुह और केवटको एक मान रहे हैं । मैं इनको दो मानता हूँ । यहाँ दो व्यक्ति अलग-अलग हैं । इस प्रसंगकी विवेचना करते हुए श्रीशिवरत्नजी शुक्लने लिखा है—'जो गुह उसके पूर्व स्वयं सेवामें तल्लीन रहा हो, वह विशेष पाँव पखारनेके लिये अन्यको लगा दे, ऐसी बात कदापि नहीं हो सकती !'

हम इस सम्बन्धमें वाल्मीकिद्वारा रचित रामायणके कुछ अंश उद्धृत कर देना आवश्यक समझते हैं । इनसे यह बात प्रकट होती है कि नाव निषादराज गुहने मँगायी और उस नावको खेनेवाला केवट दूसरा व्यक्ति था । गुहने अपने मन्त्रीको आज्ञा दी कि कोई उत्तम नाव पार जानेके लिये मँगाओ—

भस्य वाहनसंयुक्तां कर्णग्राहवतीं शुभाम् ।
सुप्रतारां दृढां तीर्थे शीघ्रं नावमुपाहर ॥
(अ० ५२ । ६

यहाँ गुह स्पष्ट कह रहा है—'मन्त्री ! रामके चढ़ने योग्य अच्छे केवटके साथ अति सुन्दर दृढ नाव घाटपर शीघ्र पहुँचाओ ।'

मन्त्री तुरंत नाव लेने गया । घाटपर नाव लाकर उसने अपने राजा गुहसे कहा—'नाव तैयार है ।' इसके पश्चात् निषादराज गुहने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'महाराज ! नाव तैयार है । गङ्गा पार जानेके लिये उसपर चढ़िये ।' इसके उत्तरमें राम कहते हैं—

अथोवाच महातेजा रामो गुहमिदं वचः ।
कृतकामोऽस्मि भवता शीघ्रमारोप्यतामिति ॥
(अ० ५२ । १०)

'हे निषादराज ! आपने बहुत अच्छा किया । अब नाव खेनेवालेसे कहो कि वह तैयार हो जाय ।'

इसके उपरान्त श्रीरामचन्द्रजी, लक्ष्मणजी तथा सीताजी गङ्गा पार गये । वाल्मीकिके इस प्रसंगसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नावको खेनेवाला दूसरा व्यक्ति था ।

मेरे विचारमें दूसरे व्यक्तिके होनेमें कोई हानि नहीं । दो व्यक्ति माननेमें किसी प्रकारका भी दोष नहीं आता । यदि महाकवि तुलसीदासके इस भावकी गहराईमें जायँ कि भगवान् श्रीरामने नाव माँगी और केवट नाव नहीं लाया तो हमें मानना पड़ेगा कि केवटने अपनी भक्तिका प्रदर्शन किया । केवटके एक-एक शब्दमें प्रेम और भक्तिकी पुट है, न कि ढीठता ।

यहाँ दो व्यक्तियोंके एक मान लेनेका तर्क सही नहीं उतर रहा है । निषादराज गुहको केवटसे किसी प्रकारकी बात कहनेका तर्क भी युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि निषादराज गुहकी बिना आज्ञा पाये, केवट अपने मनकी बात रख सकता था, स्वतन्त्र इस विचारसे कि भगवान्के सम्मुख प्रत्येक छोटा और बड़ा व्यक्ति अपनी श्रद्धा और भक्तिको स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट कर सकता था । श्रीरामचन्द्रजीके पैर धोनेमें जहाँ केवटको नाव उड़ जानेका भय था, वहाँ उसके मनमें रामकी प्रेम-भावना भी थी ! यहाँ महाकवि तुलसीदासजीने श्रीरामचन्द्रजीके प्रति केवटकी भक्तिका प्रदर्शन किया है । इसको केवटकी धृष्टता समझना उचित नहीं ।

यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि निषादराज गुहने

तो रामके आते ही चरण धोनेके लिये जल प्रस्तुत किया था। उस समय उसका परिवार भी श्रीरामचन्द्रजीके स्वागतमें सम्मिलित था, इसका विस्तृत वर्णन वाल्मीकि रामायणमें मिलता है।

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता। सीय रामु गुह लखन समेता ॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥

इन चौपाइयोंकी विवेचना करते हुए श्रीशुक्लजीने लिखा है 'उतरि' शब्द दो बार आया है। एकसे श्रीरामजीके उतरनेका संकेत है और दूसरेसे गुहके प्रणाम करनेकी क्रिया प्रकट होती है, अर्थात् श्रीरामके साथ उतरकर उसने केवट-रूपमें प्रणाम किया था, क्योंकि नावका खेनेवाला वही था।

इसके उत्तरमें हम इतना निवेदन करना आवश्यक समझते हैं कि यहाँ 'उतरि' शब्द जो दो बार आया है उससे निश्चय ही दो बार उतरनेकी क्रिया प्रकट होती है। एक बार उतरि शब्दसे राम, लक्ष्मण, सीता और गुहका नावसे उतरना प्रकट किया गया है और दूसरी बार 'उतरि' शब्दसे केवटका उतरना दिखाया गया है। प्रणाम करनेकी क्रियाके लिये तो 'कीन्हा' शब्द आया है।

यहाँ एक बात यह भी ध्यान देनेकी है कि यदि केवट दूसरा व्यक्ति नहीं था तो नावसे उतरकर गुहने रामको दंडवत् क्यों की? हम यह क्यों न मानें कि प्रभातमें जिस समय गुह भगवान् रामके पास गया था, उसने उस समय दंडवत् की होगी, जैसा कि हमारी संस्कृतिमें यह बात प्रविष्ट थी।

श्रीशुक्लजीने अपने तर्ककी पुष्टिमें गुह और भरतके मिलन-प्रसंगकी निम्न चौपाइयाँ देते हुए केवट और गुह शब्दको एक सिद्ध किया है—

तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई॥
तेहि अवसर केवट धीरज धरि। जोरि पानि बिनवत प्रनामु करि॥

यहाँ 'केवट' शब्द गुहके लिये प्रयोग किया गया है, यदि गुहके लिये यहाँ केवट शब्द आ गया तो गङ्गा-पार उतरनेके प्रसंगमें भी एक व्यक्ति मानना युक्तिसंगत नहीं, वहाँ दो व्यक्ति माने जायँ और यहाँ गुहको तुलसीदास केवट शब्दसे प्रकट कर दें तो हानि क्या है?

ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीशुक्लजी केवट शब्दको व्यक्तिवाचक समझते हैं। मैं ऐसा नहीं मानता। नाव खेनेवाला प्रत्येक व्यक्ति केवट कहलाता था। निषादराज गुहको यदि भरतके चित्रकूट जानेवाले प्रसंगमें केवट शब्दसे सम्बोधन किया गया तो इसमें आपत्ति क्या?

जहाँतक भगवान् श्रीरामके वनसे लौटनेके समय गुहका उनसे मिलनेका प्रसंग है, वहाँ निषादराज गुहने उनसे भेंट की। वह एक राजाके नाते उनके साथ अयोध्या भी गया और वहाँसे श्रीरामचन्द्रजीने राजतिलक होनेके उपरान्त उसे सादर विदा किया था। उस प्रसंगमें दो व्यक्तियोंका प्रश्न ही नहीं उठता। श्रीशुक्लजीने इस प्रसंगकी दो चौपाइयाँ भी उद्धृत की हैं, जो इस प्रकार हैं—

पुनि कृपालु लियो बोलि निषादा। दीन्हें भूषन बसन प्रसादा॥
तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥

इस प्रसंगमें केवटकी आवश्यकता ही नहीं थी, यहाँ तो जो निषादराज गुह भगवान् रामके वनसे लौटते समय अयोध्या आया था, वही अब विदा होकर वापस जाता दिखाया गया है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि नाव चलाते समय जिस केवटकी आवश्यकता पड़ी थी, वही फिर रामके राजतिलकमें भी उपस्थित होता। यदि हम ऐसा मानें कि जिस केवटने रामको गङ्गा-पार उतारा था, वही रामके साथ अयोध्या आया था तो युक्तिसंगत नहीं ठहरता। नावके पार उतारनेवाले केवटने तो अपनी भक्तिका उसी समय परिचय दे दिया था। उसके उपरान्त तो उसके राजाका काम था कि वह भगवान् रामके साथ अपना सम्पर्क स्थापित करता।

भरत-मिलनके प्रसंगमें श्रीशुक्लजीने केवटसे अयोध्या-वासियोंके मिलनेका भी उद्धरण दिया है, जैसा कि निम्न चौपाईसे प्रकट होता है—

मिलि केवटहि उमँगि अनुरागा। पुरजन सकल सराहहिं भागा॥

इस प्रसंगमें तो केवट और निषाद दोनों एक ही व्यक्ति दिखाये गये हैं। आगे चलकर भरत और समस्त अयोध्या-वासियोंके प्रस्थान करनेपर भगवान् रामने निषादको विदा किया।

बिदा कीन्ह सनमानि निषादू। चलेउ हृदयँ बड़ बिरह बिषादू॥

जैसा मैंने पहले कहा है कि यहाँ तो एक व्यक्ति ही प्रारम्भसे अन्ततक रहा है, जिसके लिये केवट और निषाद दोनों शब्दोंका प्रयोग किया गया है; परंतु नावसे पार उतारते समय भी ऐसा ही मान लेना ठीक नहीं। मेरे

विचारसे उस प्रसंगमें केवट और गुह अलग-अलग दो व्यक्ति आये हैं।

जहाँतक श्रीरामचन्द्रजीके लंका-विजयके पश्चात् अयोध्या लौटते समय गुह-मिलनका प्रसंग है, वहाँ निषाद और गुह दो शब्दोंका प्रयोग मिलता है। भगवान् रामने गङ्गा-पार करके विमानको गङ्गाकी रेतीमें उतरवाया। इस बातकी सूचना गुहको मिली, वह तत्काल दौड़कर श्रीरामचन्द्रजीके समीप आया—

सुनत गुहा धायउ प्रेमाकुल। आयउ निकट परम सुख संकुल॥

श्रीरामचन्द्रजीके आनेका समाचार सुनकर निषादने सब लोगोंको नाव-नाव कहकर एकत्रित कर लिया था जैसा कि निम्न चौपाईसे प्रकट होता है—

इहाँ निषाद सुना प्रभु आए। नाव नाव कहँ लोग बोलाए॥

निषादराज गुहने यहाँ सब लोगोंको इकट्ठा कर लिया था। इकट्ठा होनेवालोंमें नाव खेनेवाले केवट भी थे। अतः यदि इस प्रसंगमें केवटका उल्लेख नहीं है और केवल निषाद या गुह शब्द आया है तो इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि रामको गङ्गा-पार उतारते समय भी केवल निषादराज गुह ही था। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि जिस प्रकार अब अनेक नाव चलानेवाले आ गये, तब भी रामको पार उतारनेके लिये कोई दूसरा केवट आया।

दैवी गुणोंका पालन ही अपने तथा दूसरोंके सुखका मूल है

जितने भी सात्त्विक भाव हैं, उन सबके मूल भगवान् हैं। क्षमा, दया, प्रेम, मुदिता, सत्-आशा, संतोष, सहानुभूति—सब भगवान्की ओरसे हमें नित्य प्राप्त हो रहे हैं; परंतु हम भगवान्की इस देनको अनुभव नहीं करते। इसीलिये दुखी रहते हैं। किंतु आज भगवान्की विशेष कृपासे मेरा विवेक जाग्रत् हो रहा है और मैं क्षमाको अपने जीवनमें स्थान दे रहा हूँ। आजतक जो भी क्रूरता, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, निराशा, कटुता, असंतोष, प्रतिशोधकी भावना और परनिन्दाके विचार मेरे हृदयमें रहे हैं, उन सबको धो-बहाकर हृदयको प्रेम और सहानुभूतिसे भर रहा हूँ। मेरे हृदयमें नित्य विराजित प्रभु नित्य-निरन्तर सब जीवोंको—स्वयं मुझे भी—अपार क्षमा-प्रदान कर रहे हैं, फिर उनका होनेके नाते तथा उनका स्नेह प्राप्त करनेके लिये मुझे भी अपने हृदयको क्षमा आदि सद्गुणोंसे ही भरना चाहिये।

आज मैं क्षमाको सब ओरसे अपनानेका प्रयत्न कर रहा हूँ। मेरी वाणी क्षमासे भरी है, मेरे विचार क्षमासे ओत-प्रोत हैं और मेरी क्रिया क्षमासे पूर्ण है। मैं घृणा तथा द्वेषका प्रतीकार सच्चे प्रेमसे करता हूँ, रूक्षता तथा कठोरताको सहानुभूतिसे सिंचित करता हूँ। मैंने असंतोषको संतोषसे, ईर्ष्या-डाहको मुदितासे पराजित कर दिया है तथा निराशाके स्थानपर मैंने आशाके दीप सँजो दिये हैं। अब मेरा पथ आलोकमय, सुखमय, सरल तथा सरस होता जा रहा है। अब मुझे घृणा, द्वेष, रूक्षता, क्रूरता, असंतोष एवं निराशाके दर्शन कभी नहीं होते। सब ओरसे मुझे प्रेम, सहानुभूति और आशा ही प्राप्त होती जा रही है तथा मेरा जीवन सुखमय, सफल होता जा रहा है।

सत्य है, दैवी गुणोंका अर्जन, पालन, संरक्षण तथा संवर्धन ही अपने तथा दूसरोंके सुखका मूल है।

निकुञ्जलीलाकी एक मधुर झाँकी

श्रीराधा-माधव दोनों परस्पर प्रेम-बन्धनमें बँध चुके हैं, दोनोंने ही नित्य-निरन्तर एक दूसरेके सुखसाधनको ही जीवनका स्वभाव या स्वरूप बना लिया है। दोनों ही परस्पर मिलनके लिये परमोत्सुक तथा नित्य उत्कण्ठित रहते हैं। परंतु जितना ही मिलनमें विलम्ब होता है, उतनी ही पवित्र प्रेम-रसकी वृद्धि तथा परम तन्मयताकी स्थितिका उदय होता है। यह संयोग-वियोगकी—मिलन-विरहकी प्रेमलीला सदा चलती ही रहती है। इधर कुछ काल ऐसे ही वियोगकी स्थितिमें बीत गया। परस्पर मिलन नहीं हुआ। श्रीमाधव भी मिलनोत्सुक हैं और प्रयत्न-तत्पर हैं तथा श्रीमती राधा भी वियोगकी परम पीड़ाका अनुभव करती हुई अत्यन्त उत्कण्ठित हैं।

एक समय विरहसे अत्यन्त आर्त, अत्यन्त कातर हुई श्रीराधा समस्त जगत्‌के सारे प्राणी-पदार्थों तथा सम्बन्धोंको भूलकर अकेली श्रीयमुनातटपर चली जाती हैं। वहाँ एक कदम्ब-वृक्षकी डाली पकड़कर खड़ी रह जाती हैं, उन्माद छा जाता है, आँखोंसे अमित सलिल-धारा बहने लगती है। चित्त जरा भी धैर्य धारण नहीं कर रहा है, मृदुल शरीर पल-पलमें प्रकम्पित हो रहा है, हृदयमें जरा भी चैन नहीं है, हृदय जल रहा है, अत्यन्त दारुण दाह है, वे आहें भर रही हैं और करुण विलाप कर रही हैं।

> विरहातुर, अति कातर, सब जग
> भूलि, गई कालिंदी तीर।
> पकरि कदंब डारि ठाढ़ी, ह्वै
> बावरि, बहत अमित दृग नीर॥
> चित नहिं धरत धीर नैकहु, पल-
> पल प्रति काँपि रह्यो मृदु गात।
> कल न परत, हिय जरत, दाह अति
> दारुन, भरत आह, बिललात॥

इतनेमें ही श्रीराधाकी एक प्रिय सखी अत्यन्त आतुर हुई वहाँ आ पहुँचती है, श्रीमतीकी दशा देखकर उसका धैर्य छूट जाता है, पर वह अपनेको सँभालकर अत्यन्त मृदु वचन बोलती है—वह समझ गयी है कि राधाका हृदय मोहनके तीक्ष्ण प्रेमबाणसे बिंध गया है। वह कहती है—सखी! धैर्य धारण करो, ग्लानि त्याग दो। मैं तुरंत श्यामसुन्दरके पास जाकर सारा हाल उन्हें सुनाती हूँ और तुम्हारे उन प्रियतम मनमोहनको अभी-अभी अपने साथ ही लिवा लाती हूँ—

> अति आतुर 'प्रिय सखी'* आइ पहुँची,
> तहँ, देखि दसा, तजि धीर।
> बोली—अति मृदु बैन मैन-मोहनको,
> लखि हिय बिंध्यो सु-तीर॥
> 'सखि! धीरज धरु, तजु गलानि,
> मैं जाइ तुरत सब हाल सुनाय।
> प्रियतम मन-मोहन कौं अब हीं,
> हौं अपने सँग लाउँ लेवाय'॥

प्रिय सखीके मृदु वचन सुनते ही श्रीराधा अपने तनका भान—अपना राधारूप—भूल जाती हैं और मन-ही-मन अपनेको प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर मानकर उसी क्षण अपने गुण-गान करती हुई श्यामसुन्दर भावसे आतुर मिलनेच्छा प्रकट करने लगती हैं। वे कहती हैं—'हा राधे! हा प्राणेश्वरी! अरी मनहारिणी! हे मधुर सुन्दरताकी खानि! तुम सद्गुणोंकी समुद्र हो, नित्य नया-नया सुख देनेवाली हो, तुम्हारा स्मरण आते ही सारे दुःख नष्ट हो जाते हैं। मेरी स्वामिनि! मैं सदा तुम्हारे हाथों बिका हुआ हूँ, मुझे बिना मोलका चाकर मानो। प्रिये! मेरे ये पिपासित प्राण तुम्हारे मधुर दर्शन-रसके लिये तड़प रहे हैं। तुम्हारे दारुण वियोगका अपार विषम विष सारे शरीरपर छा रहा है।

---

* नायिका-भाववती समस्नेहा श्रीललिता-विशाखा आदि कुञ्जसेवाकी प्रिय सखी नहीं हैं। नायिकाभाव-शून्या केवल श्रीराधा-माधवकी निभृत निकुञ्ज-सेवामें ही जीवनकी सार्थकता समझनेवाली श्रीरूपमञ्जरी आदि ही नित्य प्रिय सखी हैं।

तुरंत अपने श्रीमुखचन्द्र-सुधासे सींचकर इस विषका हरण करके इस अपने प्रियकी प्राण-रक्षा करो—

प्रिय सखिके मृदु बचन सुनत,
भूली प्यारी निज तनको भान।
प्रियतम रूप भई मन, तेहि छिन,
करन लगी निज गुन-गन-गान॥
'हा राधे! प्रानेस्वरि! हा मनहरनि!
मधुर सुंदरता-खानि।
सद्गुण-निधि, नित-नव-सुखदायिनि,
सुमिरत होत सकल दुखहानि॥
हौं नित बिक्यो हाय तुव स्वामिनि!
बिना मोलको चेरो मान।
प्यारी! मधुर दरस-रस कौं तुव
तड़फि रहे ये प्यासे प्रान॥
छायौ अति दारुन वियोग-विष
तुव, सब तन अति बिषम अपार।
मुख-ससि-सुधा सींचि सत्वर, विष
हरु, अब पियकौं लेउ उवार'॥

प्यारी सखी आयी थी, उसी समय प्रियतम प्राणनाथ भी ढूँढते हुए वहाँ आ पहुँचे थे। वे छिपे हुए प्रियतमा श्रीराधाकी इस मधुर प्रेम-वैचित्य दशाको निरख रहे हैं—

प्रिय सखी आई हुती, तबहिं प्यारे हू ये पहुँचे तहँ आइ।
दसा प्रेमवैचित्य मधुर प्यारीकी निरखत रहे लुकाइ॥

श्रीराधाजी उसी भावमें फिर बोलीं—'हा प्रियतमे! राधिके! प्राणाधिके! मेरे प्राणोंकी पुतली! हाय!'—यों कहती-कहती वे मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं। अब श्यामसुन्दर छिपे नहीं रह सके, प्रकट होकर दौड़े और अपनी भुजाओंमें भरकर उन्हें उठा लिया। तदनन्तर अपने परम शोभनीय पीतपटको पृथ्वीपर बिछाकर उन्हें धीरेसे उसपर सुला दिया और बड़े मोदसे उनके मस्तकको अपनी गोदमें रखकर उनकी मनोहर मुखशोभाको देखने लगे—

'हा प्रियतमे! राधिके! प्राना-
धिके! प्रानपुत्तलिके! हाय!'
कहि यों, मूर्छित परीं अवनि, है
प्रकट स्यामने लईं उठाय—
भुज भरि, निज पट पीत डासि महि
दी तापर सुवाइ अभिराम।
मस्तक राखि समोद गोद निज
मुख छवि निरखन लगे ललाम॥

तदनन्तर श्रीनन्दनन्दनने प्रियतमाके कपोल और भालपर छायी हुई पसीनेकी बूँदोंको तथा अश्रुजलको अपने वस्त्रसे पोंछा—यों करते-करते उनका मन द्रवित हो गया, शरीर रोमाञ्चित हो उठा और उनके नेत्रोंमें प्रेमके आँसू छा गये। वे अपनी कोमल मधुर कराङ्गुलियोंसे श्रीजीकी केशराशि सँवारने लगे। इस प्रकार प्रियतमको प्यारी श्रीराधिकाजीकी सेवामें संलग्न देखकर सखीको विशेष प्रसन्नता हुई।

गाल-भालके घर्मबिंदु दृग-
सलिल पौंछि निज पट नँदलाल।
भये द्रवित मन, तन पुलकित, दृग
प्रेम सलिल छाये तत्काल॥
मृदु मधु निज कर-अँगुरिन तें प्रिय
लगे सँवारन कुंचित केस।
प्रियतम लखि प्यारी-सेवा-रत
प्रिय सखि भई मुदित सविसेस॥

फिर एक बार श्रीप्रियाजीने क्षणभरके लिये नेत्र खोले, श्याम-घनको देखा, तदनन्तर उसी भावसे 'हा हृदयेश्वरि' कहकर पुनः नेत्र बंद कर लिये। श्यामसुन्दरके नेत्रभ्रमर श्रीजीके मुखपद्मका मधु पानकर निहाल हो गये। तदनन्तर श्रीराधाजीको आधी चेतना आ गयी और वे बार-बार नेत्र खोलने-मूँदने लगीं। तब अत्यन्त अपरिमित मधुर अमृत-रसमें घोलकर प्रियतम अत्यन्त विनम्रभावसे पवित्र वाणी बोले। उन्होंने कहा—हे मेरी सञ्जीवनी-बूटी! तनिक नेत्र खोलकर तुम मेरी ओर देखो। मैं तुम्हारे चरणोंका नित्यका चाकर हूँ। मुझे तनिक भी, पलभरके लिये भी दूर न करो—

कथा आती है। इसलिये जिसे संसारमें कहींसे किसी ओरसे भी आशाकी किरण न दीख रही हो, उस निराश पुरुषको इन अशरण-शरण, अकारण-करुण 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' प्रभुकी ओर दृष्टि लगानी चाहिये। भावुकोंके, सौभाग्यशाली भगवद्भक्तोंके सच्चे सान्त्वनापूर्ण उद्गार हैं कि प्रभु देर या सवेर अपनी ओर आशा लगानेवाले असमर्थ प्राणीकी आशा कभी-न-कभी अवश्य पूर्ण करेंगे, उनके यहाँसे निराश होनेका कोई प्रश्न ही नहीं।

इसपर कुछ लोग शङ्का करते हैं कि यदि भगवान् इतने समर्थ हैं और सर्वाधिक दयालु तथा उदार हैं तो विश्वके समस्त प्राणियोंको उन्हें दुःखमुक्त कर सुखी बना देना चाहिये था। यदि ऐसा नहीं होता तो या तो वे निष्ठुर हैं या सर्वथा पक्षपाती हैं, जो केवल अपनी प्रशंसा करनेवालोंका ही कल्याण करते हैं। कृपालु तथा सर्वशक्तिमान् भगवान्का संसार 'दुःखालयमशाश्वतम्' क्यों ? इसका उत्तर गीताके इस श्लोकमें है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(९। २९)

श्रीशङ्कराचार्य, श्रीधरस्वामी तथा नीलकण्ठ आदिने इस श्लोककी टीकामें लिखा है कि भगवान् अग्नि तथा कल्पवृक्षके समान हैं। अग्नि अपने पास पहुँचनेवालोंके ही शीत, तम आदिका अपहरण करता है। कल्पवृक्ष अपने पास पहुँचनेवालोंके ही मनोरथ पूर्ण करता है, सबके नहीं। वैसे ही प्रभु अपने शरणमें पहुँचनेवालोंको ही अपनाते तथा कृपापूर्वक कृतार्थ करते हैं—

यथाग्नेः स्वसेवकेष्वेव तमः शीतादिदुःखमपाकुर्वतोऽपि न वैषम्यं यथा वा कल्पवृक्षस्य, तथैव भक्तपक्षपातिनोऽपि मम वैषम्यं नास्त्येव किन्तु मद्भक्तेरेवेयं महिमा। (गीता ९। २९ की सुबोधिनी व्याख्या)

आनन्दगिरि तथा मधुसूदन सरस्वतीने बतलाया है कि सूर्यका प्रकाश यद्यपि सर्वत्र एक समान है, तथापि स्वच्छ जल, दर्पण आदिमें ही उसकी अभिव्यक्ति होती है, पर उसका जल, दर्पणमें अनुराग या घटादिमें द्वेष नहीं सिद्ध होता, इसी तरह परमात्माका भी ध्यान करनेवाले स्वच्छ हृदयमें ही अभिव्यक्त होना राग-द्वेष नहीं सिद्ध करता।

यथा हि सर्वत्र विद्यमानोऽपि सावित्रः प्रकाशः स्वच्छे दर्पणादौ एवाभिव्यज्यते न त्वस्वच्छे घटादौ। तावता न दर्पणे रज्यति न वा तौ द्वेष्टि घटं एवं सर्वत्र समोऽपि स्वच्छे भक्तचित्ते अभिव्यज्यमानः अस्वच्छे चाभक्तचित्ते नाभिव्यज्यमानोऽहं न रज्यामि कुत्रचित् न वा द्वेष्टि कंचित्। (गूढार्थदीपिका व्याख्या ९। २९)

भागवतमें भी यह बात कई बार कही गयी है। राजसूययज्ञका प्रस्ताव रखते हुए युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्
सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र॥
(१०। ७२। ६)

भक्तश्रेष्ठ प्रह्लाद भी बार-बार यही कहते हैं—

'संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम्।'
(७। ९। २७)

'सर्वात्मनः समदृशो विषमः स्वभावो
भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः॥'
(८। २३। ८)

अक्रूरजी भी कहते हैं—

न तस्य कश्चिद् दयितः सुहृत्तमो
न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः॥
(१०। ३८। २२)

गोस्वामी तुलसीदासजी भी बार-बार कहते हैं—

देव देवतरु सरिस सुभाऊ।
सनमुख बिमुख न काहुहिं काऊ ॥
जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच।
माँगत अभिमत पाव फल राव रंक भल पोच ॥

एक जगह तो वे 'कल्पवृक्ष'को न्यून समझकर प्रभुको 'भक्तकल्पपादप आरामः'—कल्पवृक्षोंका बाग बतलाते हैं। एक दूसरी जगह वे एक अद्भुत कल्पतरुकी कल्पना कर भगवान्‌के करकमलको उससे भी श्रेष्ठ बतलाते हैं। वे कहते हैं कि सोनेका पर्वत सुमेरु जिसका थाल्हा हो, श्रेष्ठ चिन्तामणि जिसका बीज हो, कामधेनुके अमृतमय शुद्ध दुग्धसे जिसे सींचा गया हो, कुबेरजी जिसके माली हों, मरकतमणिकी जिसकी शाखाएँ और पत्ते हों, साक्षात् लक्ष्मीजी ही जिसकी मंजरी तथा साक्षात् मुक्ति-चतुष्टय ही जिसके फल हों और सभी प्रकारके मङ्गल एवं सुखोंकी वर्षा करना ही जिसका स्वभाव हो, यदि कदाचित् ऐसा कल्पतरु भी कभी उत्पन्न हो तो क्या वह प्रभुके परम उदार हस्तकमलकी बराबरी कर सकता है?—कभी नहीं (क्योंकि ब्रह्माण्ड-निकाय उनकी रोमावलीमें ही हैं)।

कनक कुधर केदार, बीज सुंदर सुरमनिबर।
सींचि कामधुक् धेनु सुधामय पय बिसुद्धतर ॥
तीरथपति अंकुर सरूप जच्छेस रच्छ तेहि।
मरकतमय साखा, सुपत्र मंजरि सुलच्छ जेहि ॥
कैवल्य सकल फल कल्पतरु, सुभ सुभाव सब सुख बरिस।
कह तुलसिदास रघुबंसमनि तौ कि होहिं तुव कर सरिस ॥

तथापि कल्याण-कामनासे परमात्माकी शरणागति उनके चरणोंकी परिचर्यातकका परिश्रम तो करना ही होगा। किंतु भाग्यहीन पामर प्राणी इतना भी नहीं कर पाता—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥
(गीता ७। १४-१५)

पर जो इतना भी पुरुषार्थ करनेको तैयार नहीं; उसका उद्धार कैसे हो सकता है? योगवासिष्ठ (उपशम ४३। १५-१६) में इसे बड़े ही रम्य शब्दोंमें कहा गया है—

विना पुरुषयत्नेन दृश्यते चेज्जनार्दनः।
मृगपक्षिगणं कस्मात्तदासौ नोद्धरत्यजः ॥
गुरुश्चेदुद्धरत्यज्ञमात्मीयात् पौरुषादृते।
उष्ट्रं दान्तं बलीवर्दं तत्कस्मान्नोद्धरत्यसौ ॥

यदि चित्त भगवान्‌की ओर अधिक आकृष्ट हो जाय, उनके स्मरणका स्वभाव पड़ जाय, उनके याद किये बिना रहा न जाय, उनके बिना संसार निस्सार-सा प्रतिभास होने लग जाय, तब तो प्रभुकी कृपा अत्यन्त शीघ्र हो जाती है, प्राणीके सारे दोष अपने-आप नष्ट हो जाते हैं—

तीव्रसंवेगानामासन्नः।
मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः।
(योगदर्शन १। २१-२२)

'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।'
(गीता ९। ३१)

पुण्यश्रवणकीर्तनः..................।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्।
(श्रीमद्भा० १। २। १७)

फिर उसका कोई भी श्रेय अवशेष नहीं रह जाता। यदि इतनेपर भी संसारकी दृष्टिमें या उसकी अपनी ही दृष्टिमें कुछ अभाव रहता है, या श्रेयसम्पादन होता नहीं दीखता, तो भी कोई हानि नहीं, भगवान्‌की चुप्पीमें, अस्वीकृतिमें भी इतना मिठास है, जो विश्वके किसी भी पदार्थकी प्राप्तिमें नहीं है, अतः याचकको तो भगवान्‌से ही याचना करनी चाहिये। अन्योंसे याच्ञाकी पूर्तिका भी वह महत्त्व नहीं, वह आनन्द नहीं, जो प्रभुके सामने उनके मौन रह जाने या उनके अस्वीकार कर देनेमें है। कवि कालिदासने (मेघसंदेश १। ६में) कुछ ऐसा ही सोचकर कहा है—

'याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा।'

गोस्वामी तुलसीदासजी तो इससे अधिकके लिये भी तत्पर हैं। वे कहते हैं कि याञ्चा पूरी करनेकी बात तो अलग रहे, मौन रहने या अस्वीकार करनेकी भी बात छोड़िये, यदि वह प्रियतम याञ्चा करनेपर पत्थरकी वर्षा करे तो भी बड़ा आनन्द है—

गरजि तरजि पाषान बरसि पबि प्रीति परखि जियँ जानै।
अधिक अधिक अनुराग उमगि उर पर परमिति पहचानै॥
जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ।
जाचत जलु पबि पाहन डारउ॥

चातकु रटनि घटें घटि जाई।
बढ़ें प्रेमु सब भाँति भलाई॥
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें।
तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें॥

दोहावलीमें तो उन्होंने इसपर 'चातक-छत्तीसी' ही लिख डाली। वस्तुतः जीवनकी सच्ची सफलता, परमार्थ-तत्त्वकी प्राप्ति, परमानन्दके साम्राज्यमें प्रवेश तथा सच्ची दिव्य सुखानुभूति और परिपूर्ण वास्तविक अभ्युदय इसी मार्गपर आरूढ़ होनेमें है।

भगवान्‌का स्नेह मेरे मन एवं जीवनको भर रहा है

भगवान्‌का स्नेह नित्य-निरन्तर मेरे मन एवं जीवनको भर रहा है और मैं अपने नित्यके कार्य-कलापोंको इस शान्त तथा दृढ़ विश्वासके साथ कि भगवान् मेरे साथ हैं, मेरी देख-रेख तथा सहायता करते रहते हैं, अत्यन्त सुचारुरूपसे सम्पन्न कर रहा हूँ।

जब हृदय कुछ भारी होता दीखता है, मनमें कुछ क्षोभ उत्पन्न होनेकी सम्भावना प्रतीत होती है, तब मैं स्थिर होकर विचार करता हूँ—'यह भारीपन क्यों? यह क्षोभ क्यों? क्या इन सब परिस्थितियोंके रूपमें भगवान्‌का स्नेह सक्रिय नहीं है?' बस, मेरा मन तुरंत शान्त हो जाता है, हृदय उत्साह, उल्लास एवं शक्तिसे भर जाता है तथा भगवान्‌के विलक्षण स्नेहपर मेरा विश्वास और भी दृढ़ हो उठता है।

जब शरीर तथा मनमें कुछ शिथिलताका अनुभव होता है तथा नवीन शक्ति, नवीन चेतनाकी आवश्यकता प्रतीत होती है, तब मैं भय और चिन्ताको स्थान न देकर विचार करता हूँ—'भगवान्‌का स्नेह भयंकर-से-भयंकर आधि-व्याधिको भी शमन करनेवाला है। मेरा यह हृदय भगवान्‌का नित्य निवास-स्थान है, अतः उनके स्वस्थ पवित्र प्रेमकी धारा मेरे माध्यमसे जगत्‌में प्रसारित हो रही है। मेरे शरीरका एक-एक अङ्ग, शरीरकी एक-एक चेष्टा ईश्वरीय विधानके अनुरूप है।' बस, मैं अपनेको पूर्ण स्वस्थ पाता हूँ।

जब किसी अभावकी स्थिति मेरे सामने आती है, तब भयभीत एवं विचलित होनेके स्थानपर मैं इस विश्वासको पुष्ट करता हूँ—'भगवान् मेरे नित्य संरक्षक एवं सहायक हैं, वे निरन्तर मेरे कोषको भर रहे हैं।' बस, तत्काल भय एवं निराशाके बादल हट जाते हैं और हृदयमें सत्-आशाका सूर्य चमक उठता है। आशाके प्रखर प्रकाशमें मुझे अनुभव होता है कि मेरी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक परिस्थितिके पीछे भगवान्‌का स्नेह काम कर रहा है और मैं सर्वथा सफल-ही-सफल होता जा रहा हूँ।

भगवान्‌का स्नेह मेरे हृदय और जीवनको सब ओरसे भर रहा है।

ऋग्वेदीय मन्त्र-द्रष्टा

(लेखक—ऋग्वेद-भाष्यकर्ता पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

[गताङ्क पृष्ठ ३२४ से आगे]

यद्यपि जगत्प्रसिद्ध सातों ऋषि मण्डलों या सूक्त-समूहोंके द्रष्टा नहीं हैं, तो भी इनका ऋग्वेदमें यथेष्ट उल्लेख है। ऋग्वेदीय भाष्यकार सायणने सप्तर्षियोंमें इनकी गणना की है—भरद्वाज, कश्यप, गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, जमदग्नि और वसिष्ठ। ऐसी मान्यता है कि भरद्वाज, अत्रि, विश्वामित्र और वसिष्ठके निर्मल और वीतराग अन्तःकरणमें, समाधिदशामें चार मण्डलोंके अधिकांश मन्त्र अवतीर्ण हुए। अवशिष्ट तीन ऋषि विशिष्ट मण्डलोंके द्रष्टा या स्मर्ता नहीं हैं, तो भी इन सातों ऋषियोंका अनेक स्थलोंमें एक साथ ही उल्लेख है। १।२४।१० में कहा गया है—'ये जो सप्तर्षि नामक नक्षत्र हैं, वे आकाशमें स्थापित हैं और रात्रिमें दिखायी देते हैं।' ४।४२।८ में लिखा है—'राजा दुर्गहके पुत्र पुरुकुत्सके बंदी होनेपर 'पृथिवीके पालयिता सप्तर्षि हुए थे। उन्होंने इन्द्र और वरुणके अनुग्रहसे पुरुकुत्सकी स्त्रीके लिये यज्ञ करके त्रसदस्यु (पुत्र) को प्राप्त किया था।' ९।९२।२ में कहा गया है—'सात मेधावी ऋषि (सप्तर्षि) यज्ञमें सोमके पास जाते हैं।' १०।२७।१५ का कथन है—'इन्द्ररूप प्रजापतिके शरीरसे विश्वामित्र आदि सात ऋषि उत्पन्न हुए। उनके उत्तरी शरीरसे वालखिल्य आदि आठ उत्पन्न हुए। पीछेसे भृगु आदि नौ उत्पन्न हुए। अङ्गिरा आदि दस आगेसे उत्पन्न हुए। ये यज्ञांश भक्षण करनेवाले द्युलोकके उन्नत प्रदेशकी संवर्द्धना करने लगे।' १०।६४।५ से ज्ञात होता है कि 'सूर्यका जन्म नाना प्रतीकोंमें होता है, जिनके आह्वानकर्ता सप्तर्षि हैं।' १०।८२।२ में विश्वकर्माको सप्तर्षियोंके परवर्त्ती स्थानोंका दर्शक बताया गया है। १०।१०९।४ में सप्तर्षियोंको तपस्यामें प्रवृत्त बताया गया है। १०।१३०।७ का कथन है—'सात दिव्य ऋषियोंने स्तोत्रों और छन्दोंका संग्रह करके पुनः-पुनः अनुष्ठान किया और यज्ञका परिमाण स्थिर किया। विद्वान् ऋषियोंने पूर्व पुरुषोंकी प्रथाके प्रति दृष्टि रखकर यज्ञानुष्ठान किया।' नवम मण्डलके १०७ और दशम मण्डलके १३७ सूक्तोंके सप्तर्षि समवेतरूपसे द्रष्टा हैं। संस्कृतके कई ग्रन्थोंमें मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु और वसिष्ठ सप्तर्षि माने गये हैं; परंतु ऋग्वेदमें तो पुलह, पुलस्त्य आदिके नाम भी नहीं मिलते।

ऋग्वेदोक्त सप्तर्षियोंमें कश्यप, गौतम और जमदग्नि किसी मण्डलके द्रष्टा नहीं हैं; तो भी ये कुछ सूक्तोंके द्रष्टा हैं और अनेक मन्त्रोंमें इनका उल्लेख है। इनके सम्बन्धमें कुछ विवरण भी पाया जाता है।

पुराणोंके अनुसार कश्यप देव, दैत्य आदिके जनक हैं। ब्रह्माके पुत्र मरीचि इनके पिता थे और कला माता थी। दक्ष प्रजापतिकी १२ वीं या १३ वीं कन्यासे इनका विवाह हुआ था। इन्होंने वरुणकी गायका हरण किया था; इसलिये ब्रह्माने इन्हें शाप दे दिया था, जिसके फलसे ये मर्त्यमें वसुदेव हुए; परंतु ऋग्वेदमें ये विषय नहीं हैं।

अष्टम मण्डलके २९ वें सूक्तके द्रष्टा मरीचि-पुत्र कश्यप हैं। ९।६७ के कुछ मन्त्रोंके स्मरणकर्ता भी ये ही हैं। नवम मण्डलके ६४ तथा ९१-९२ और ११३-११४ सूक्तोंके स्मारक भी ये ही माने गये हैं। ९१ में नहुषवंशियों, ९२ के द्वितीय मन्त्रोंमें सप्तर्षियों, चतुर्थमें ३३ देवों और पञ्चममें राजर्षि मनुका उल्लेख है। ११३ वेंके ८ वें मन्त्रमें राजा वैवस्वत और मन्दाकिनी नदी तथा ११४ वेंके द्वितीय मन्त्रमें स्वयं कश्यपका संज्ञा-कथन है। ३।४८।२ में ऋषि विश्वामित्र कहते हैं—'इन्द्र! तुम्हारे महान् पिता कश्यपके सूतिका-गृहमें तुम्हारी माता अदितिने स्तन्य-पानके पहले तुम्हारे मुँहमें सोमरसका ही सेचन किया था।' इससे ज्ञात होता है कि कश्यपके पुत्र इन्द्र थे। ९।९९-१०० के द्रष्टा काश्यप रेभ और सूनु ऋषि हैं। कश्यपके पुत्र भूतांश ऋषि १०।१०६ के स्मर्ता हैं। इसीका छठा मन्त्र प्रसिद्ध 'जर्भरि, तुर्फरि' मन्त्र है, जिसके अर्थ-ज्ञानमें आजतक संदेह है। ११ वें मन्त्रमें भूतांशने स्वयं कहा है—'यह स्तोत्र करके मैंने अश्विनीकुमारोंका मनोरथ पूर्ण किया।' दशम मण्डलके प्रसिद्ध 'यक्ष्म-नाशन' सूक्तके दर्शक कश्यपगोत्रज विवृहा ऋषि हैं। नवम मण्डलके ६३ वें सूक्तके द्रष्टा कश्यपगोत्रीय निध्रुव हैं। इसमें सोमकी विवृति है। अवत्सार ऋषि कश्यपके अपत्य थे। ५।४४।१० में इन्हें 'ज्ञानी' माना गया है

और इसी सूक्तके १३ वें मन्त्रसे विदित होता है कि ये परम गोभक्त थे और दुग्ध-वितरण अमूल्य करते थे। इस ४४ वें सूक्तके ये ही ऋषि हैं। नवम मण्डलके ५३ से ६० सूक्तोंके ऋषि भी ये ही हैं।

गोतम ऋषिके पुत्र गौतम थे। ब्रह्माने अहल्याको इनके पास रक्षार्थ छोड़ रखा था। बहुत दिनोंके अनन्तर गौतमने ब्रह्माकी थाती लौटा दी। इसपर इनके जितेन्द्रियत्व और तपस्यापर ब्रह्माने प्रसन्न होकर अहल्यासे इनका विवाह करा दिया। शतानन्द ऋषि इनके पुत्र थे। श्रीरामचन्द्रने इन्हीं अहल्याका उद्धार किया था। ऋग्वेदमें इतना विस्तार नहीं है। ऋग्वेदके १। ६०। ५,१। ६१।१६ और १। ६३। ९ के गोतमवंशीय या गौतम-पुत्र नोधा ऋषि द्रष्टा हैं। १। १८३। ५ में गौतम अश्विद्वयके आह्वान-कर्ता कहे गये हैं। ४। ४। ११ में वामदेव ऋषिने गोतमको 'पिता' बताया है। नहीं कहा जा सकता कि न्यायदर्शनके प्रणेता ये ही गौतम या गोतम थे।

१। ७४ से ९३ सूक्तोंके ऋषि रहूगणके पुत्र गोतम हैं। ७८ वें सूक्तके पूर्व मन्त्रमें ये रहूगणवंशीय कहे गये हैं। मरुतोंने पिपासित गोतमको जल प्रदान किया था। इससे मिलती-जुलती बात १। ८८। ४ में भी है। नवम मण्डलके ३१। ३७ और ३८ सूक्तोंके ऋषि भी ये ही हैं। ये सप्तर्षियोंमें नहीं हैं।

जमदग्नि भृगुवंशीय ऋचीक मुनिके पुत्र थे। इनकी माता गाधिपुत्री सत्यवती थी। इन्हींके भाई प्रसिद्ध शुनःशेप भी कहे जाते हैं। वैदिक वाङ्मय और अस्त्रविद्यामें जमदग्नि पारंगत थे। इनकी स्त्री रेणुका थी और कनिष्ठ पुत्र परशुराम थे। इनकी नन्दा नामकी कामधेनुके पीछे इनसे और कार्त्तवीर्य अर्जुनसे जो विकट संग्राम हुआ था, वह भी प्रसिद्ध है। ऋग्वेदमें यह सब तो नहीं है; परंतु कई मन्त्रोंमें ये 'भार्गव' बताये गये हैं। ३। ५३। १६ में जमदग्निको विश्वामित्रने दीर्घजीवी कहा है। ३। ६२ के अन्तिम तीन मन्त्रोंके ये ही ऋषि कहे गये हैं। ७। ९६। ३ से विदित होता है कि ये सरस्वतीके उपासक थे। ९। ९७। ५१ में इनका सादर उल्लेख है। ८। ९० के ऋषि ये हैं। इसमें इन्हें भृगुगोत्रीय कहा गया है। ८ वेंमें ये अश्विद्वयके स्तोता कहे गये हैं। ९। ६२ के ऋषि ये ही भार्गव जमदग्नि २४ वें मन्त्रमें सोमदेवसे अपनेको गो-सम्पन्न बनानेको कह रहे हैं। ९। ६५ के स्रर्ता भी ये ही हैं। १०। ११० के तो ऋषि ये हैं ही और ८ वें मन्त्रमें अपने यज्ञमें इला, भारती (सूर्यरश्मि) और सरस्वतीको बुला रहे हैं। १०।१६७ के द्रष्टा जमदग्निको इन्द्रदेव स्तुति करनेको कह रहे हैं।

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेदके अतीव सूक्ष्म उल्लेखोंके आधारपर संस्कृत-साहित्यके अन्यान्य ग्रन्थोंमें विस्तार किया गया है या पूरा विवरण लिखा गया है। ऋषि याज्ञिक थे, वे यज्ञ करते थे अर्थात् चराचरमें अपना अर्पण कर चिदानन्द-लहरीमें गोते लगाते रहते थे। उनके पास मानवीय कथाओंका विस्तार करनेका अवकाश ही कहाँ था।

ऋग्वेदके १० मण्डलों (विभागों) मेंसे द्वितीय मण्डलके द्रष्टा ऋषि गृत्समद थे। ये अङ्गिरोवंशीय शुनहोत्र ऋषिके पुत्र थे। एक बार इन्हें असुर पकड़ ले गये। इन्द्रने इनका उद्धार करके इनका नाम शौनक रख दिया। शौनककी 'अनुक्रमणी' से भी ऐसा ही विदित होता है। महाभारत (अनुशासनपर्व) से ज्ञात होता है कि गृत्समद हैहय क्षत्रियोंके राजा और वीतहव्यके पुत्र थे। एक बार काशिराज प्रतर्दनके भयसे वीतहव्य भृगुके आश्रममें जा छिपे। इन्हें खोजते हुए प्रतर्दन भी वहीं जा पहुँचे। पूछनेपर भृगुने कहा कि 'मेरे आश्रममें क्षत्रिय नहीं रहता।' तपोधन ऋषियोंके वचन झूठे नहीं होते; इसलिये इसी समयसे वीतहव्य ब्राह्मण हो गये और इनके पुत्र गृत्समद ब्रह्मर्षि। तबसे इनको भृगुवंशीयता प्राप्त हो गयी। किसीके मतसे नैमिषारण्यमें जो द्वादशवर्षव्यापी यज्ञ हुआ था, उसमें ये ही प्रधान थे। ऋग्वेदमें ऐसी बातें नहीं हैं।

द्वितीय मण्डलके १ से ३ और ८ से ४३ सूक्तोंके द्रष्टा गृत्समद हैं। २। ४। ९ में इनके वंशीय अग्निदेवका स्तवन करते दिखायी देते हैं। २। १९। ८ में इन्द्रसे कहा गया है—'इन्द्र! गृत्समदगण तुम्हारे लिये मनोरम स्तुतिकी रचना (अभिव्यञ्जन) करते हैं।' २। ३९। ८ का कथन है—'अश्विद्वय! गृत्समद ऋषिने तुम्हारे संवर्द्धनके लिये ये सब स्तोत्र और मन्त्र प्रकट किये हैं।' २। १९। ९ में तो ये पुत्र-पौत्रके साथ इन्द्रकी स्तुतिके अभिलाषी दिखायी दे रहे हैं। ९। ८६ के ४६ से ४८ मन्त्रोंके द्रष्टा भी गृत्समद हैं।

चतुर्थ मण्डलके द्रष्टा वामदेव हैं। प्रसिद्धि है कि ये महाराज दशरथके प्रधान ऋत्विक् और कुलपुरोहित थे। परंतु ऋग्वेदमें तो दशरथका नाम भी नहीं है। ऋग्वेदीय वामदेव चतुर्थ मण्डलके १ से १७ और १८ के कुछ मन्त्रोंके

तथा १९ से ४१ मन्त्रोंके द्रष्टा हैं। इस मण्डलके ४५ से ५८ सूक्त भी इन्हींके देखे हुए हैं। इनके रक्षक अश्विद्वय थे।(१।११९।७) ४।२।१५ में स्वयं वामदेवने कहा है कि 'हम ७ (अर्थात् ६ अङ्गिरा और वामदेव) मेधावी हैं। हमने ही अग्निकी रश्मियोंको उत्पन्न किया है।' इनके यज्ञ-रक्षक इन्द्र थे।(४।१६।१८)।४।२७।१ में वामदेव कहते हैं—'गर्भमें रहकर ही मैंने जाना था कि परमात्माके समीपसे सब देव उत्पन्न हुए हैं।' इससे ज्ञात होता है कि वामदेव जातिस्मर और ब्रह्मज्ञानी थे। इसमें शङ्का नहीं कि इन्हीं ब्रह्मर्षियोंके ज्ञानके प्रतापसे प्रायः सारे विश्वके आस्तिक आर्यजातिको अग्रगण्य आत्मज्ञानी मानते हैं।

१०।५४ से ५६ के ऋषि वामदेव-पुत्र बृहदुक्थ हैं। ५६ वें सूक्तमें बताया गया है कि मृत्युके अनन्तर जीव कहाँ जाता है और उसकी क्या गति होती है। कुल सात मन्त्र हैं और सभी मननीय और चिन्तनीय हैं। ७ वें मन्त्रमें ऋषि कहते हैं—'जैसे लोग नौकासे जल पार करते हैं, जैसे लोग पृथिवीकी भिन्न दिशाका अतिक्रम करते हैं और जैसे कल्याणके द्वारा सारी विपदाओंसे उद्धार पाते हैं, वैसे ही मैंने अपनी शक्तिसे अपने मृत पुत्र (वाजी) को अग्नि आदि पार्थिव पदार्थों और सूर्य आदि आकाशीय पदार्थोंमें मिला दिया।'

षष्ठ मण्डलके द्रष्टा भरद्वाज हैं। पुराणानुसार ये बृहस्पतिके पुत्र थे, इनके पालक भरत थे। इन्होंने प्रयागमें आश्रम बनाया, तपस्या की और यज्ञ किया। जब ये हिमालयपर तप करने गये, तब 'घृताची' नामकी अप्सरासे इनका सम्बन्ध हो गया, जिससे द्रोणाचार्यका जन्म हुआ। वन जाते और आते समय श्रीरामचन्द्र इनके आश्रमपर गये थे। ऋग्वेदका कथन इससे भिन्न है।

१।११७।११ से विदित होता है कि अश्विद्वयने भरद्वाजको अन्न दिया था। भरद्वाज-गोत्रज निर्दोष स्तोत्र करनेमें प्रसिद्ध थे (६।१०।६)।६।१५।३ में अङ्गिराके पुत्र वीतहव्य भरद्वाजके गृहके लिये अग्निदेवसे विनय कर रहे हैं।६।१६।५ में भरद्वाज 'रमणीय धनके लिये प्रार्थना कर रहे हैं।' यहीं छठे मन्त्रमें भरद्वाज मेधावी बताये गये हैं। ३३ वेंमें भरद्वाज अग्निदेवसे 'विपुल सुख' माँग रहे हैं।६।२६।२ में भरद्वाजकी माताका नाम वाजिनी कहा गया है।६।२७।८ में भरद्वाजने कहा है—'राजा पृथुके वंशधर और चयमानके पुत्र राजा अभ्यवर्तीने मुझे रथ और बीस गायें दी थीं।' ६।३५।४में भरद्वाजके पुत्रोंका उल्लेख है।६।३७।१ में ये 'गुण-सम्पन्न' बताये गये हैं।६।५०।१५ में पुनः इनके गोत्रका उल्लेख है। ऋषि अपना नाम ले-लेकर स्तुति करते थे (६।६५।६)।१०।१५०।५ में कहा गया है कि 'युद्धभूमिमें अग्निने भरद्वाजकी रक्षा की थी।' षष्ठ मण्डलके १ से ३० सूक्तों, ३७ से ४३ सूक्तों और ५३ से ७४ सूक्तोंके द्रष्टा भरद्वाज हैं। इनमें ये बृहस्पतिपुत्र कहे गये हैं। नवम मण्डलके ६७ सूक्तके कुछ मन्त्रोंके वक्ता भी बार्हस्पत्य भरद्वाज हैं। छठे मण्डलके ७५ वें सूक्तके ऋषि भरद्वाज-पुत्र पायु हैं। १०।८७ के स्रष्टा भी ये ही हैं। ६।४७ के ऋषि भरद्वाजके पुत्र गर्ग हैं। इसी छठे मण्डलके ४९ से ५२ सूक्तोंके ऋषि भरद्वाज-पुत्र ऋजिश्वा हैं। १०।१८१ के द्वितीय मन्त्रके ऋषि भारद्वाज सप्रथ ऋषि हैं। १०।१५५ के द्रष्टा भरद्वाज-पुत्र शिरिम्बिठ हैं।१०।१५२के ऋषि भारद्वाज शास हैं। नवम मण्डलके ८० से ८२ सूक्तोंके स्मारक भारद्वाज वसुनामा हैं।

कण्व ऋषि आदि अनेक ऋषि आठवें मण्डलके द्रष्टा हैं। शुक्ल-यजुर्वेदीय 'काण्व-संहिता' के वक्ता भी कण्व ही हैं। संस्कृत-साहित्यमें ये शकुन्तलाके 'पालक-पिता' कहे गये हैं। कहीं-कहीं ये पुरुवंशीय अप्रतिरथके पुत्र और कण्डु मुनिके जनक कहे गये हैं। परंतु ऋग्वेदमें इन सारी बातोंका अभाव है। दसवें मण्डलके १०३वें सूक्तके ऋषि अप्रतिरथ हैं; परंतु ये इन्द्रपुत्र बताये गये हैं। कण्व ऋषिसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता।

प्रथम मण्डलके ३६ वें सूक्तसे ४३ वें सूक्तकके द्रष्टा घोर-पुत्र कण्व हैं। ३६ वें सूक्तके ८ वें मन्त्रमें 'कण्व ऋषिके लिये यथेच्छ द्रव्य-वर्षाकी बात आयी है।' १०और ११में कण्वको 'अतिथि-प्रिय' कहा गया है।१।३७।७ में कण्व-गोत्रोत्पन्न ऋषियोंको मरुतोंके उद्देश्यसे गानेको कहा गया है।१।४८।४ की उक्ति है—'अतिशय मेधावी कण्वऋषि दानशील मनुष्योंके प्रख्यात नाम उषा-कालमें ही लेते हैं।' १।११२।५ से विदित होता है कि असुरोंने कण्वको घनान्धकारमें फेंक दिया था, जहाँसे अश्विद्वयने उन्हें बचाया था। यही बात १।११८।७ में भी है।१।१३९।९ में दिवोदास-के पुत्र परुच्छेद कहते हैं कि 'कण्व पूर्वकालके ऋषि हैं और दीर्घायु हैं।' यहाँ इन्हें 'प्रियमेध कण्व' कहा गया है। ८।५।२३ की उक्ति है, कण्व असुरोंके द्वारा एक प्रासादके नीचे बाँधे गये थे। वहीं अश्विद्वयने इन्हें बचाया था। कण्व नित्य स्तोता थे (८।६।११)।८।३४।१ में कण्वगोत्रीय

'सुन्दर स्तोता' कहे गये हैं । १० । ३१ । ११में कण्वको नृसदका पुत्र और श्यामवर्ण कहा गया है । यहीं यह भी है कि 'अग्निके लिये कण्वके समान किसीने यज्ञ नहीं किया था ।' यह तो ठीक है; परंतु इसका पता नहीं चलता कि नृसद और अप्रतिरथ एक थे या दो । ९ । ९४ के ऋषि आङ्गिरस कण्व हैं । कहीं-कहीं 'प्रियमेध कण्व' भी लिखा है । ये प्रियमेध अङ्गिराके पुत्र भी कहे गये हैं, तो क्या कण्व नामके कई ऋषि थे ?

आश्वलायनने अष्टम मण्डलका ऋषि प्रगाथ-परिवारको माना है; परंतु षड्गुरुशिष्यने प्रगाथको कण्व ही माना है । अष्टम मण्डलका विहगावलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि अनेकानेक ऋषियोंके साथ आङ्गिरस कण्व ही इस मण्डलके ऋषि हैं ।

कण्वपुत्र और कण्ववंशधर प्रसिद्ध याज्ञिक थे (८ । १ । ८) । वे इन्द्रके भक्त थे (८ । ३ । १६) । इन्द्रके वे स्तोता थे (८ । ६ । ३४) । कण्वपुत्र यज्ञोंमें अश्विद्वयके लिये सोमाभिषव करते थे (८ । ८ । ३ । ४)। अश्विद्वयका स्तोत्र बार-बार करनेमें कण्वपुत्रोंको बड़ा आनन्द मिलता था (८ । ९ । ९) । प्रथम मण्डलके १२ से २३ सूक्तोंके द्रष्टा कण्वपुत्र मेधातिथि हैं । सुदास राजाका यज्ञ करानेवालोंमें मेधातिथि थे (३ । ५३ । ७)। नवम मण्डलके द्वितीय सूक्तके ऋषि भी ये ही हैं । ८ वें मण्डलके १-२ और ३२ सूक्तोंके द्रष्टा भी मेधातिथि हैं । मेधातिथिके साथ ही ८ वें मण्डलके प्रथम तृतीय सूक्तोंके ऋषि कण्वपुत्र मेध्यातिथि हैं । १८ । १ । ३० में राजर्षि असङ्ग कह रहे हैं—'मेध्यातिथि ! मेरी प्रशंसा करो । मैं सबसे धनी हूँ ।' नवम मण्डलके ४१ से ४३ सूक्तोंके स्मर्ता मेध्यातिथि हैं । ४३ वें के छठे मन्त्रमें ये 'सुन्दर और वीर्यशाली' पुत्र सोमदेवसे माँग रहे हैं ।

कण्वगोत्रज देवातिथि ८ वें मण्डलके चतुर्थ सूक्तके ऋषि हैं । इन्होंने 'सौभाग्यशाली' कुरुङ्ग राजासे दानमें ६० हजार गायें प्राप्त की थीं । जो राजा ६०-६० हजार गायें एक साथ दान करता था, उसके पास कितने लाख गायें होंगी । वह आधिभौतिक अभ्युदयमें कितना बढ़ा होगा ? नीपातिथि भी इन्द्रोपासक थे (वालखिल्यसूक्त ३ । १) । ये भी कण्वगोत्रीय और ८ । ३४ के ऋषि हैं । कण्वगोत्रज ब्रह्मातिथि ८ । ५ के ऋषि हैं । कण्वगोत्रीय नाभाक ऋषि इन्द्र और अग्निके पूजक थे । उनका विश्वास था—'इन्द्र और अग्निमें यह सारा संसार विद्यमान है । इन्द्र और अग्निकी गोदमें महती मही और द्युलोक स्थित हैं (८ । ४० । ४) । ८ । ३९ से ४२ सूक्तोंके ऋषि नाभाक थे । ४२ वेंके कुछ मन्त्रोंके आविष्कर्ता अर्चनाना ऋषि थे । ये अत्रि ऋषिके अपत्य हैं और ५ । ६३ से ६४ के भी द्रष्टा हैं ।

आठवें मण्डलके ६५ से ६७ सूक्तोंके कुरुसुति, ६८ के कुल्नु, ७० से ७२ के ऋषि कुसीदी हैं । तीनों ही कण्वगोत्रीय हैं । ८ । ६३ के ऋषि हैं गोपवन । इनका गोत्र नहीं बताया गया है । ११ वें मन्त्रमें इनकी स्तुतिसे अग्निका अन्नदाता होना लिखा है । ८ । १२ के ऋषि कण्वगोत्रीय पर्वत ऋषि हैं । ९ । १०४ से १०५ तकके ऋषि भी पर्वत हैं; परंतु वहाँ ये कश्यप-पुत्र कहे गये हैं । कदाचित् दोनों दो पुरुष थे । ये ही नहीं, एक ही नामके कई अन्यान्य ऋषि भी ऋग्वेदीय मन्त्र-द्रष्टा हैं । ऋषियोंके सम्बन्धमें वैदिक और पौराणिक विवरणोंमें जो भिन्नता पायी जाती है, उसका कारण कई पुरुषोंका एक ही नाम रखा जाना भी हो सकता है । परंतु अधिकांश वैदिक ऋषियोंके वर्णनोंका पुराणोंमें विशदीकरण हुआ है । अनेक व्यक्तियोंसे होकर इन वर्णनोंके आनेके कारण पुराणादिमें विस्तारके साथ कहीं-कहीं कुछ रूपान्तर-सा हो गया है । कितने ही ऋषियोंकी कथाएँ नयी आ घुसी हैं । और कितने ही ऋषियोंके नामपर नये ग्रन्थोंकी भी रचनाएँ हुई हैं । ये सब बातें साम्प्रदायिक या कुछ अन्य कारणोंसे हुई जान पड़ती हैं ।

८ । ८ के ऋषि कण्वगोत्रज सध्वंसाख्य और १० तथा ४८ सूक्तोंके कण्व-पुत्र प्रगाथ हैं । ५१ से ५४ सूक्तोंके ये ही ऋषि हैं । इसी आठवें मण्डलके ४९-५० सूक्तोंके भर्ग, ६१ के हर्यत और ५५ के ऋषि त्रिशोक हैं । ये तीनों ही प्रगाथ-पुत्र हैं । ८ । ६१ । १८ में कहा गया है कि 'हर्यत ऋषिका जो स्थान हव्य-स्थापनके लिये उपयुक्त है, वहींसे अग्नि अपनी शिखाके द्वारा द्युलोकको व्याप्त करते हैं ।' कलिके सम्बन्धमें १ । ११२ । १५ में कहा गया है कि 'अश्विद्वयने कलि ऋषिकी रक्षा की थी ।' १० । ३९ । ८ में कथन है—'अश्विद्वयने अत्यन्त वृद्ध कलिको तारुण्य प्रदान किया था ।' ऋग्वेदके बहुत मन्त्रोंमें अश्विनीकुमारोंकी औषध-विषयक चमत्कारिता बतायी गयी है । ये प्रसिद्ध भिषक् थे ।

विश्व-विदित भक्त देवर्षि नारदकी लीलाएँ, अलौकिकताएँ और अपूर्वताएँ कौन नहीं जानता ? ये ब्रह्माके मानस-

पुत्र थे। इन्हें ब्रह्माने सृष्टि करनेकी आज्ञा दी; परंतु इसे अपने भजनमें विघ्न समझकर इन्होंने अस्वीकार कर दिया। चिन्मय तत्त्वका प्रेमी और भक्ति-रसका पिपासु इस झमेलेमें क्यों पड़े ? फलतः ब्रह्माके शापसे इन्हें गन्धर्व और मनुष्य-की योनियाँ भी मिली थीं। ये 'कामचर' थे, अर्थात् इनकी गति सर्वत्र अबाध थी। इन्होंने बड़े-बड़े काम किये— बहुत बार ऋषियों, देवों और मानवोंको संकटसे उबारा। ये संगीतके प्रेमी थे। उलूकेश्वरसे संगीत-विद्या सीखकर इन्होंने उसमें पारदर्शिता प्राप्त की थी। कृष्णावतारके समय गान-शिक्षा लेकर इन्होंने परमानन्द-पद प्राप्त किया था। इनकी चिर-सहचरी वीणा थी। इनके नामपर संगीत, स्मृति, भक्ति और पुराण आदिपर बहुत ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

परंतु ऋग्वेदमें नारद कण्वगोत्रीय कहे गये हैं। ये ८। १३ और ९।१०४-१०५ के ऋषि माने गये हैं। परंतु इन सूक्तोंमें इनका कुछ विवरण नहीं प्राप्त होता।

८।१४ से १५ सूक्तोंके कण्व-गोत्रज गोसूक्ति और अश्व-सूक्ति ऋषि हैं। त्रिशोक ऋषि ८।४५ के द्रष्टा हैं। १। ११२। १२ से विदित होता है कि इन्होंने अपनी अपहृत गौओंका उद्धार अश्विद्वयकी सहायतासे किया था। ८।४६के वक्ता हैं अश्व-पुत्र वश। ऋषि अश्वके महान् स्तोता पुत्र वशको संकटसे अश्विद्वयने बचाया था (१।११२। १०और ८।८। २०)। ८।५६ के वरुण-पुत्र मान्य और ८।५९के पुरुहम्मा ऋषि हैं।

१।४४ से ५० सूक्तोंके ऋषि कण्व-पुत्र प्रस्कण्व हैं। १।४४। ६में ये 'देव-भक्त' और यही ८वें मन्त्रमें 'हव्यवाही' कहे गये हैं। ये अग्निभक्त थे (१।४५।५)। इन्द्रने इन्हें संकटसे बचाया था (८।३।९)। 'पार्षद्वाण ऋषिने वृद्ध और सोये हुए प्रस्कण्वको बैठाया था' (वालखिल्यसूक्त ३। २)। ये प्रथम वालखिल्य सूक्तके भी ऋषि हैं। ९।९५ के ऋषि भी प्रस्कण्व हैं; परंतु वहाँ वे कवि-पुत्र बताये गये हैं। कदाचित् लिपिकारोंके प्रमादसे कण्वके स्थानपर कवि हो गया हो।

वसिष्ठ या वशिष्ठ सूर्यवंशी राजाओंके कुलपुरोहित थे। ये ब्रह्माके मानस-पुत्र थे। महाराज निमिने एक यज्ञमें इन्हें वरण किया था; परंतु ये इसके पहले इन्द्रके यज्ञमें वृत हो चुके थे, इसलिये निमिको रुकनेके लिये कहकर देवलोक चले गये। वहाँ यज्ञ सम्पन्न कराकर लौटे तो सुना कि अगस्त्य आदिसे निमिने यज्ञ करा डाला। इसपर क्रुद्ध होकर इन्होंने निमिको चेतनाशून्य हो जानेका शाप दे दिया। निरपराध निमिने भी इन्हें ऐसा ही शाप दे डाला। अन्तमें ब्रह्माके उपदेशसे मित्रावरुणके पुत्ररूपसे वसिष्ठ उत्पन्न हुए। महाराज इक्ष्वाकुने अपने वंशके हितार्थ इन्हें पुनः कुल-पुरोहित बनाया।

वसिष्ठके पास एक कामधेनु थी। उससे जब जो चाहते थे, ये प्राप्त कर लेते थे। एक बार इनके आश्रमपर ससैन्य विश्वामित्र उपस्थित हुए। कामधेनुके प्रतापसे इन्होंने सारी सेनाको यथेष्ट भोजन कराया। कामधेनुकी ऐसी अद्भुत शक्ति देखकर वसिष्ठसे विश्वामित्र कामधेनु माँग बैठे। वसिष्ठके अस्वीकार करनेपर बात बढ़ गयी और युद्ध छिड़ गया। ब्रह्मदण्डके द्वारा वसिष्ठने ससैन्य विश्वामित्रको परास्त कर दिया। फलतः विश्वामित्र इनके परम शत्रु हो रहे।

वसिष्ठने कर्दम-पुत्री अरुन्धतीसे विवाह किया, जिससे शक्ति आदि अनेक पुत्र हुए। एक बार कारण-विशेषसे सूर्य-वंशी राजा कल्माषपादको शक्तिने राक्षस बना दिया। विश्वा-मित्रके कौशलसे यह राक्षस शक्ति आदि सारे भाइयोंको खा गया। परंतु शक्तिकी पत्नी अदृश्यन्तीको गर्भ था, जिससे पराशरकी उत्पत्ति हुई।

ऋग्वेदमें ऐसा क्रम-बद्ध विवरण तो नहीं है; परंतु ऋग्वेदभरमें वसिष्ठके सम्बन्धमें जितना स्पष्ट विवरण पाया जाता है, उतना किसी भी ऋषिके सम्बन्धमें नहीं पाया जाता। वसिष्ठ अश्विद्वयके कृपा-पात्र थे (१। ११२। ९)। ये सप्तम मण्डलके मन्त्र-द्रष्टा थे। इनके आश्रममें अग्नि अखण्डरूपसे प्रज्वलित रहता था (७। १। २)। ये अग्निदेवके विशिष्ट स्तोता थे (७। ७। ७)। ये हजार गायोंके अधिपति और विद्या तथा कर्ममें महान् थे (७। ८। ६)। वसिष्ठ-वंश-धरोंके स्तोत्रोंसे अग्नि संवर्द्धित होते थे (७। १२। ३)। वसिष्ठ और पराशरकी जानके ग्राहक अनेक राक्षस थे; किंतु इन्द्रकी उपासनाके कारण इनकी कोई हानि नहीं हो सकी (७। १८। २१)। अपनी रक्षाके लिये ही नहीं, प्रत्युत प्रजाके अभीष्टके लिये भी सोमाभिषवमें वसिष्ठ इन्द्रकी अर्चनीय स्तुति करते थे (७। २६। ५)। 'श्वेतवर्ण और कर्म-निष्ठ वसिष्ठके पुत्र अपने सिरके दक्षिण भागमें चूड़ा धारण करते थे' (७। ३३। १)। दूसरेका यज्ञ छोड़कर इन्द्र इनके यज्ञमें आते थे (वहीं द्वितीय मन्त्र)। इन्द्र-कृपासे वसिष्ठ-पुत्रोंने अनायास ही सिन्धु नदीको पार किया था।

इसी प्रकार भेद (नास्तिक) नामके शत्रुका भी इन्होंने वध किया था। इन्हींके मन्त्र-बलसे 'दाशराज्ञयुद्ध' में इन्द्रने सुदास राजाकी रक्षा की थी।' (तीसरा मन्त्र)। ये 'शक्वरी ऋचाओंके द्वारा शक्तिशाली हुए थे' (४)। 'वसिष्ठ-पुत्रोंने दस राजाओंके साथ संग्राममें सूर्यके समान इन्द्रको ऊपर उठाया था' (५)। दाशराज्ञयुद्धमें तृत्सु-भरतगण सुदासकी ओर थे। वसिष्ठ ही इनके भी पुरोहित थे। वसिष्ठकी कृपासे ये अल्पसंख्यकसे बहुसंख्यक हो गये थे (६)। 'वसिष्ठ-पुत्रोंकी महिमा सूर्यकी ज्योतिके समान प्रकाशमान, समुद्रके समान गम्भीर और वायुके समान वेगशाली थी' (८)।

वसिष्ठके पुत्रोंने योगबलसे समाधि-दशामें वसिष्ठके जन्म-रहस्यका ज्ञान प्राप्त किया था। उसीका विवरण इस ७। ३३ वें सूक्तके अगले मन्त्रोंमें है। इस सूक्तके ऋषि वसिष्ठ-पुत्रगण ही हैं। वे १० वें मन्त्रमें कहते हैं—'वसिष्ठ! देह धारण करनेके लिये विद्युत्के समान अपनी ज्योतिका त्याग करते हुए तुम्हें मित्र और वरुणने देखा था। उस समय तुम्हारा एक जन्म हुआ' (१०)। 'वसिष्ठ! तुम मित्र और वरुणके पुत्र हो। ब्रह्मन्! तुम उर्वशीके मनसे उत्पन्न हुए हो' (११)। 'सर्वनियन्ता (यमराज) द्वारा विस्तीर्ण वस्त्र (संसार-प्रवाह) को बुननेकी इच्छासे तुम उर्वशीके पुत्र हुए थे' (१२)। 'यज्ञमें दीक्षित मित्र और वरुणने स्तुति-द्वारा प्रार्थित होकर कुम्भ (वसतीवर कलश) में एक साथ ही शक्ति-प्रदान किया था। उसी कुम्भसे वसिष्ठ और अगस्त्य उत्पन्न हुए थे' (१३)। 'तृत्सुओ! तुम्हारे पास वसिष्ठ आ रहे हैं। प्रसन्नचित्त होकर तुम इनकी पूजा करो। अग्रवर्त्ती होकर वसिष्ठ उक्थ (ऋक्) और सोमके धारणकर्ता तो हैं ही, प्रस्तरसे अभिषव करनेवाले अध्वर्युको भी धारण करते और कर्तव्यका भी उपदेश देते हैं' (१४)।

संस्कृतके इतिहास-पुराणोंकी कथाओंसे उक्त वर्णनका पूरा साम्य न होते हुए भी बहुत कुछ समता तो है ही। जैसा कि पहले कहा गया है, ऋग्वेदमें ऋषियों, उनके वंशों और गोत्रोंका अतीव संक्षिप्त विवरण है, जिसका विस्तार संस्कृत-साहित्यमें किया गया है। हाँ, जहाँ-तहाँ विपर्यास भी देखा जाता है।

वसिष्ठके सम्बन्धकी कुछ और विवृति भी देखिये। 'मित्र और वरुण, ये याज्ञिक, प्रसिद्ध ब्राह्मण और चिर-श्रोता वसिष्ठ तुम दोनोंके लिये मननीय स्तुति करते हैं। तुम लोग बहुत दिनोंसे वसिष्ठके कर्मकी पूर्ति करते रहे हो।' (७। ६१। २)। 'अश्विद्वय, वसिष्ठ उषाके पहले जागकर सूक्तोंद्वारा तुम्हारी स्तुति करते हैं (७। ६८। ९)।' 'उषा! ब्राह्ममुहूर्तमें ही उठकर वसिष्ठगण तुम्हारी स्तुति करते हैं (७। ७६। ६)।' इन मन्त्रोंसे यह भी ज्ञात होता है कि ब्राह्ममुहूर्त ही यज्ञ, ध्यान और उपासनाके लिये उपयुक्त है। [क्रमशः]

कल्याणकारी शिक्षा

केती होय संपति सुमेरु-सी कुबेरकी-सी,
धरम निवेरि लोभ तापै ना उपजिए।
एकै व्रत, एकै नेम प्रेम छेम एकै जानि,
रामै राम रामै राम नामै जीहँ जपिए॥
'पन्नगेश' मधुप स्वतंत्र मंत्र मानि मन,
मातु मैथिलीं के पद कंजनि पै रजिए।
कोटिन सुरेंद्र औ नरेंद्र वारि डारौं जापै,
ऐसे राघवेंद्रै मीत भूलि हू न तजिए॥

—श्रीलालरुद्रनाथसिंह' 'पन्नगेश'

मानवोंके जनन-मरण-सम्बन्धी आशौच

(लेखक—पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

[गताङ्क पृष्ठ ६९६ से आगे]

१०१—जो मनुष्य संग्राम (युद्धस्थल) में शस्त्रद्वारा मर जाय तो उसके सपिण्डोंकी शुद्धि स्नानमात्रसे होती है।

१०२—पराशरका मत है कि युद्धमें मृत पुरुषका एकरात्रि आशौच होता है; किंतु यह आशौच उस पुरुषके लिये कहा गया है, जो युद्धमें चोट (घाव) खाकर कालान्तरमें मरा हो। आचार्य माधवकी सम्मति है कि युद्धमें मरनेवाला व्यक्ति यदि निकटमें न हो तो उस हालतमें स्नानमात्रसे शुद्धि होती है।

१०३—जो मनुष्य युद्धमें शस्त्रके बिना पराङ्मुख होकर मरा हो, उसका तीन दिन आशौच होता है।

१०४—जो मनुष्य विद्युत्पातसे मरे, उसकी स्नानमात्रसे शुद्धि होती है। कोई आचार्य तीन दिनका आशौच कहते हैं।

१०५—जो मनुष्य गौ, ब्राह्मण, स्त्री और राजाके रक्षार्थ मरता है, उसका स्नानमात्र आशौच कहा है। कोई आचार्य एक दिनका और कोई आचार्य तीन दिनका आशौच कहते हैं।

१०६—जिस घरमें दास और दासी (नौकर और नौकरानी) नौकरी करते हों, उस घरके मालिकके यहाँ यदि किसीकी मृत्यु हो जाय तो उसके दास-दासीकी शुद्धि स्नानमात्रसे होती है और उन्हें स्पर्श करनेमें कोई दोष नहीं है।

१०७—सूतिका अर्थात् जिस स्त्रीको संतति उत्पन्न हो, उस स्त्रीकी सूतिका-सम्बन्धी कार्य करनेवाली दासीका भी ३० दिनतक स्पर्श करनेका निषेध है।

१०८—जो दास अथवा दासी अपने मालिक (स्वामी) के घरमें अन्न-जल खाते-पीते हों, यदि उनके मालिकके घरमें आशौच हो जाय तो उन दास-दासियोंको भी तीन दिनके बाद स्पर्श करनेका अधिकार है।

१०९—जिस व्यक्तिको दानरूपमें प्राप्त हुए अथवा द्रव्यादिसे खरीदे हुए अथवा असहायावस्थामें स्वतः आये हुए 'दास-दासियों' की प्राप्ति हुई है, उस व्यक्तिके यहाँ जब कभी आशौचकी प्राप्ति हो, तब उक्त सभी प्रकारके दास-दासियोंको भी (उसी प्रकार) आशौच होता है और जब मालिकको स्पर्श करनेका अधिकार होता है, तभी उसके दास-दासियोंको भी स्पर्श करनेका अधिकार होता है।

११०—गौ-ब्राह्मणका वध करनेवालेकी मृत्यु हो तो उसके सपिण्डोंको आशौच नहीं होता।

१११—अपने पति, पुत्र, कन्या अथवा गर्भस्थ बालककी हत्या करनेवाली स्त्रीकी मृत्यु हो तो उसके सपिण्डोंको आशौच नहीं होता।

११२—जिस स्त्रीका अपने गुरुजनोंसे अथवा अन्य पुरुषोंसे व्यभिचार-सम्बन्ध है, उसकी मृत्यु होनेपर उसके सपिण्डोंको आशौच नहीं होता। यही नियम व्यभिचारी पुरुषके लिये भी कहा गया।

११३—श्रुति-स्मृतिविरोधी पाखण्डी मनुष्योंके मरनेपर उनके सपिण्डोंको आशौच नहीं होता।

११४—जो मनुष्य क्रोध-शोकादिके कारण विष खाकर अथवा अग्निमें कूदकर अथवा कूपमें कूदकर, अथवा नदीमें कूदकर अथवा फाँसी लगाकर अथवा अन्यान्य प्रकारसे मर जाय, तो उसके सपिण्डोंको आशौच नहीं होता।

११५—जिस मनुष्यकी राजा, ब्राह्मण, डोम-चमार (अन्त्यज) आदिसे अथवा सर्प, सिंह, भेड़िया, भैंस, गौ आदिसे मृत्यु हो जाय, उसके सपिण्डोंको आशौच नहीं होता।

११६—ब्राह्मणके सुवर्ण और रजतको चुरानेवाले, आश्रमधर्मका पालन न करनेवाले और मदिरापान करनेवाले ब्राह्मणोंके मरनेमें भी सपिण्डोंको आशौच नहीं होता।

११७—जिसके घरमें निरन्तर दैनिक अन्न आदिका धर्मार्थ 'सदावर्त' चलता है, यदि उसके यहाँ आशौच हो जाय तो 'सदावर्त्त' को बंद करना उचित नहीं।

११८—अग्निष्टोमादि बृहद् यज्ञके प्रारम्भ होनेके बाद दीक्षित यजमान और वरण लेनेवाले ऋत्विजोंके यहाँ यदि आशौच हो जाय तो यज्ञके यजमान और ऋत्विजोंको यज्ञकी पूर्णतातक यज्ञका त्याग करना उचित नहीं।

११९—जो मनुष्य चान्द्रायणादि व्रतका प्रारम्भ कर चुके हों और बीचमें यदि आशौच हो जाय तो वे प्रारम्भ

किये हुए व्रत-कार्यको बीचमें अधूरा न छोड़ें और उसे पूर्ण करके ही छोड़ें, ऐसा शास्त्रीय विधान है।

१२०–तुलादान आदि दानोंका प्रारम्भ होनेके बाद यदि बीचमें आशौच पड़ जाय तो उस दान-कार्यकी समाप्ति आशौचमें भी की जा सकती है, इसमें कोई दोष नहीं।

१२१–यज्ञोपवीत-संस्कारमें यदि नान्दीश्राद्धके बाद आशौच हो जाय तो उस कर्मको समाप्त करनेमें कोई दोष नहीं है।

१२२–विवाह-संस्कारमें नान्दीश्राद्ध होनेके बाद यदि आशौच उपस्थित हो जाय तो उसे पूर्ण करनेमें कोई दोष नहीं है।

१२३–मुण्डन-संस्कार होते समय यदि आशौच हो जाय तो उस कर्मको पूर्ण करनेमें कोई दोष नहीं है।

१२४–वापी-कूप-तड़ागादिके उत्सर्गका प्रारम्भ होनेके बाद यदि आशौच उपस्थित हो जाय तो उक्त कार्योंको पूर्ण करनेमें कोई दोष नहीं है।

१२५–वृषोत्सर्गादि धार्मिक यज्ञोंका प्रारम्भ होनेके बाद यदि आशौच हो जाय तो उसे पूर्ण करनेमें कोई दोष नहीं है।

१२६–श्राद्धका यदि पाक अथवा संकल्प हो चुका हो, पश्चात् यदि बीचमें आशौच हो जाय तो उसे पूर्ण करनेमें कोई दोष नहीं है।

१२७–गायत्री-पुरश्चरण आदि बहुदिन-साध्य कर्मको प्रारम्भ करके यदि बीचमें आशौच उपस्थित हो जाय तो प्रारम्भ किये हुए कार्यको पूर्ण करनेमें कोई क्षति नहीं है।

१२८–तीर्थयात्रार्थ अथवा द्रव्योपार्जनार्थ जो मनुष्य अपने घरसे बहुत दूर पहुँच चुका हो, ऐसी स्थितिमें यदि उसके आशौच हो जाय तो वह अपने कार्यको पूर्ण किये बिना वापस घर न लौटे तो कोई दोष नहीं है।

१२९–देव-स्थापना (मन्दिरकी प्रतिष्ठा) में जलाधिवासादि हो जानेके अनन्तर यदि आशौच हो जाय तो प्रारम्भ किये हुए कार्यको पूर्ण करनेमें कोई दोष नहीं है।

१३०–अत्यन्त रोगग्रस्त अर्थात् मरणासन्न मनुष्यको आशौचावस्थामें भी 'दशदान' आदि करनेमें कोई दोष नहीं है।

१३१–आशौचावस्थामें भी वेदमन्त्रोंका उच्चस्वरसे उच्चारण न करके यदि द्विज संध्योपासन करे, तो कोई दोष नहीं है।

१३२–आशौचावस्थामें भी यदि द्विज संध्योपासन करना चाहे तो वह वेदमन्त्रोंका उच्चारण उच्चस्वरसे न करके मनमें करे और सूर्यभगवान्‌को अर्घ्यदान गायत्रीमन्त्र पढ़कर दे सकता है, यह भी किसी आचार्यका मत है।

१३३–आशौचावस्थामें यदि अग्निहोत्री नित्यहोम करना चाहे तो वह नित्य होमके समय स्नानसे निवृत्त होकर द्रव्य त्यागका संकल्प कर दे, किंतु किसी वस्तुका स्वयं स्पर्श न करे। होमादि कार्य भी वह दूसरे मनुष्यसे करा सकता है।

१३४–जो नित्य और नियमपूर्वक वेद-वेदाङ्गादिके स्वाध्यायके अभ्यासी हों और उन्हें यदि कुछ दिनतक वेदादिके अनभ्याससे विद्याके विस्मृत होनेका भय हो तो वे आशौचावस्थामें भी वेदादि शास्त्रोंका अवलोकन और अभ्यास कर सकते हैं, इसमें कोई दोष नहीं है।

१३५–राजा, महाराजा, दीवान (मन्त्री), नेता और उच्चाधिकारी, न्यायाधीश, अफसर एवं वकील आदिको आशौचमें भी न्यायालय (कचहरी) आदिमें जाकर सार्वजनिक कार्य करनेमें कोई दोष नहीं है।

१३६–डाक्टर और वैद्य आशौचकालमें भी रोगग्रस्त मनुष्यके रक्षार्थ उसका यदि स्पर्श करें तो कोई दोष नहीं है।

१३७–हैजा, प्लेग एवं शीतला आदि महामारीको दूर करनेके लिये यदि तान्त्रिक और मान्त्रिक व्यक्ति भी आशौचावस्थामें कोई उपाय करें तो कोई दोष नहीं है।

१३८–ब्राह्मणके घरमें अथवा मन्दिरमें यदि कुत्ता मर जाय तो १० रात्रि, शूद्र मर जाय तो १ मास, पतित मर जाय तो २ मास और चाण्डाल मर जाय तो ४ मासमें उसकी शुद्धि होती है।

१३९–किसी आचार्यका मत है कि जिस द्विजके घरमें अन्त्यज मर जाय, उस घरका सदैवके लिये त्याग कर देना उचित है। दूसरे आचार्यका मत है कि अन्त्यज एवं यवनादि नीच जातिवालोंके मरनेपर उस घरकी वैदिक विधिद्वारा शुद्धि करनेमें कोई दोष नहीं है।

१४०–जिस घरमें ब्राह्मण मर जाय, उस घरकी शुद्धि तीन दिनमें होती है।

१४१—अपने घरमें सपिण्डके मरनेपर घरकी शुद्धि एक दिनमें होती है और असपिण्डके मरनेसे तीन रात्रिमें होती है।

१४२—जो मनुष्य बाल्यावस्थामें परदेश गया हो, उसकी १० वर्षतक, जो युवावस्थामें परदेश गया हो, उसकी १५ वर्षतक और जो वृद्धावस्थामें परदेश गया हो, उसकी १२ वर्षतक लौटनेकी प्रतीक्षा करना उचित है। यदि उक्त समयमें परदेश गया हुआ मनुष्य वापस घर न आये अथवा उक्त समयमें उसके जीवन-मरणका निश्चित समाचार ज्ञात न हो तो उसके उत्तराधिकारी तीन चान्द्रायण अथवा तीन कृच्छ्र करके पर्णशर दाह (पुत्तल-दाह) और श्राद्धादि कर्म करें तो कोई दोष नहीं है। श्राद्धादि अन्त्यकर्म करनेके बाद मृत समझा हुआ परदेशी मनुष्य यदि घर वापस आ जाय तो उसको घृतके पात्रमें रखकर उसका पुनः जातकर्मादि संस्कार करना उचित है।

१४३—जननाशौच और मरणाशौचमें 'मरणाशौच' ही प्रबल होता है, यह निर्णयसिन्धुकार कमलाकरका मत है और शुद्धि-विवेककारका मत है कि मरणाशौचसे 'जननाशौच' प्रबल होता है। किंतु इनमें निर्णयसिन्धुकार कमलाकरका मत ही मान्य और प्रचलित है।

१४४—रात्रिमें जनन या मरण हो, तो रात्रिका तीन भाग करना चाहिये। पश्चात् उसके प्रथम दो भागमें यदि मनुष्यका जनन या मरण हो तो पूर्वदिनसे और तृतीय भागमें यदि जन्म अथवा मृत्यु हो तो उत्तरदिनसे आशौच-की प्रवृत्ति होती है। दूसरे आचार्यका मत है कि अर्धरात्रिसे पूर्व जन्म या मृत्युमें पूर्वदिन और अर्धरात्रिके अनन्तर जन्म या मरणमें पर-दिन समझना उचित है। तीसरे आचार्यका मत है कि प्राचीप्रकाश (सूर्योदय) के पूर्व जन्म या मरण हो तो पूर्वदिन और सूर्योदयके अनन्तर जन्म अथवा मरण हो तो पर-दिन होता है। इनमें प्रथम पक्ष दाक्षिणात्यवर्गमें प्रचलित है और तृतीय पक्ष पञ्चगौडवर्गमें प्रचलित है। द्वितीय पक्ष (दूसरे आचार्यका मत) का प्रचार बहुत स्वल्प है। (यही व्यवस्था स्त्रियोंके रजोदर्शनमें भी प्रचलित है।)

१४५—दाहादि* क्रिया करनेवालेको दशाह (दश दिनका) आशौच होता है, चाहे वह सगोत्र हो अथवा भिन्न गोत्रका हो। यह कमलाकर आदि आचार्योंका मत है। पञ्चगौड सम्प्रदायमें त्रिरात्र आशौच होता है।

अतिक्रान्त आशौच†

१—जननमें और अनुपनीतके मरणमें अतिक्रान्त आशौच नहीं होता।

२—काल व्यतीत होनेपर त्रिरात्रादि असम्पूर्ण आशौच नहीं होता।

३—दशाहके अनन्तर भी पुत्रजन्मके श्रवण होनेपर पिताको स्नान करना आवश्यक है।

४—मरणमें भी अनुपनीत-मरणादिके निमित्त त्रिरात्रादि आशौचमें और भगिनी तथा मातुलादिके मरण-निमित्त त्रिरात्रादि आशौचमें भी अतिक्रान्त आशौच नहीं होता।

५—अतिक्रान्त आशौच दशाहादि पूर्ण आशौचमें ही होता है।

६—विवाहिता कन्याको माता-पिताके मरणमें त्रिरात्र व्यतीत होनेपर भी दस दिन तक त्र्यह और तदनन्तर एक वर्ष-पर्यन्त पक्षिणी आशौच होता है।

७—दशाहके मध्यमें जनन अथवा मरणके ज्ञात होनेपर पुत्रादिकी शुद्धि शेष दिनोंसे होती है और अन्त्येष्टि-क्रिया भी शेष दिनोंमें ही होती है। अस्थिपर्णशर भी शेष दिनोंमें ही होता है।

८—त्रिरात्रके मध्यमें समानोदक‡के मरणका ज्ञान होनेपर समानोदकोंकी शुद्धि शेष दिनोंसे ही होती है। त्रिरात्रके व्यतीत हो जानेपर दशाहके मध्यमें समानोदकका आशौच नहीं होता, किंतु स्नानमात्र होता है।

९—मातुलादिका त्रिरात्र आशौच व्यतीत हो जाय तो आशौच नहीं होता, स्नानमात्र होता है।

१०—माता-पिताकी मृत्यु वत्सरके अनन्तर भी ज्ञात हो, तो भी दशाहादि पूर्ण आशौच ही पुत्रको होता है।

* ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णोंके दाह-संस्कारार्थ ·······। घृत और अग्नि आदि वस्तुओंका यथासम्भव शूद्रसे स्पर्श नहीं कराना चाहिये; क्योंकि शूद्रका स्पर्श करानेसे मृतक व्यक्तिकी दुर्गति होती है। दाह-संस्कारार्थ चिताकी अग्नि (स्वयं अथवा चाण्डालद्वारा) लेना सर्वथा अनुचित है।

† जो आशौच बीत चुका हो, उसे 'अतिक्रान्त आशौच' कहते हैं।

‡ अष्टम पुरुषसे चौदह पुरुष तक 'समानोदक' कहे जाते हैं।

११—दशाह व्यतीत होनेपर भी पतिकी मृत्युके श्रवणमें स्त्रीको और स्त्रीकी मृत्यु होनेपर पतिको दशाहाशौच होता है।

१२—तीन रात्रिके आशौचमें तीन रात्रिका आशौच उपस्थित हो जाय, तो प्रथमाशौचसे शुद्धि होती है।

१३—तीन दिनके आशौचमें यदि दशरात्र आशौच उपस्थित हो जाय तो दूसरे आशौचसे शुद्धि होती है।

१४—पत्नीके मरनेपर पुरुषको और पुरुषके मरनेपर स्त्रीको एक वर्षके अनन्तर भी पूर्णाशौच ही होता है।

१५—सपत्नीके मरणमें सपत्नीको देश-कालादिकी अपेक्षा न करके दशाहानन्तर भी पूर्णाशौच ही होता है।

१६—सपत्न-माताके मरणमें संवत्सरके अनन्तर भी देशान्तरमें* ज्ञान होनेपर त्रिरात्र आशौच होता है।

१७—सपत्न-माता और औरस पुत्रके मरनेपर संवत्सरके अनन्तर देशान्तरमें भी पुत्रको तथा माता-पिताको त्रिरात्र आशौच होता है।

१८—दशाहके अनन्तर ज्ञातिके मरणका ज्ञान होनेपर तीन मासतक त्रिरात्र, छः मासतक पक्षिणी, नौ मासतक एक दिन और तदनन्तर स्नानमात्र विहित है। पक्ष-त्रयपर्यन्त त्रिरात्र, वर्षपर्यन्त एकरात्र, तदनन्तर स्नानमात्र होता है—यह माधवका मत है।

१९—एकगोत्रविषयक जो जनन अथवा मरणके अतिक्रान्त आशौच हैं, वे स्त्री और पुरुष दोनोंके लिये मान्य हैं। और जो भगिनी, मातुल आदिके भिन्न गोत्र-विषयक आशौच हैं, वे जाया और पतिमेंसे जिसका सम्बन्ध हो, उसीको मान्य हैं।

आशौच-सम्पात †

१—दशाहादि सम्पूर्ण मरणाशौचमें दशाह अथवा अल्प जननाशौच प्राप्त हो तो मरणाशौचसे ही शुद्धि होती है।

२—जननाशौचके मध्यमें दशाह अथवा उससे न्यून मरणाशौचकी प्राप्तिमें मरणाशौचसे ही शुद्धि होती है, पूर्व-शेषसे नहीं होती।

३—यदि प्रथम दिनसे लेकर दशम दिनके सायंकालतक दशाहव्यापी एक जननाशौच या मरणाशौचके रहते हुए द्वितीय दशाहव्यापी जननाशौच अथवा मरणाशौच उपस्थित हो तो प्रथमाशौचकी निवृत्तिसे द्वितीयाशौचकी निवृत्ति होती है, यह कमलाकरादिका मत है। और शुद्धि-विवेककार, वाचस्पति आदिका मत है कि पाँच दिनके भीतर द्वितीय सम्पूर्ण आशौच उपस्थित हो जाय तो प्रथमाशौचसे और तदनन्तर षष्ठ-दिनसे द्वितीयाशौच उपस्थित हो तो द्वितीयाशौचसे शुद्धि होती है। यद्यपि प्रथम पक्ष दाक्षिणात्योंमें और द्वितीय पक्ष पञ्चगौडोंमें प्रचलित है, तथापि प्रथम पक्ष ही उत्तम प्रतीत होता है; क्योंकि दशम दिनकी रात्रिमें यदि द्वितीय सम्पूर्णाशौच उपस्थित हो तो दो दिन और विशेष बढ़ाकर शुद्धि होती है। और दशम दिनकी रात्रिके चतुर्थ प्रहरमें आशौच उपस्थित हो, तो तीन दिन आशौचकी भी विशेष वृद्धि होती है; यह सर्व-सिद्धान्त है। ऐसी अवस्थामें पाँच दिनके बाद दस दिनके आशौच बढ़ानेमें बहुत वैषम्य हो जाता है। अतः कमलाकरादि पञ्चद्राविड़-मतको स्वीकार करनेमें कोई दोष नहीं है।

४—दशम दिनके सायंकालसे तीन प्रहर रात्रितक यदि सम्पूर्ण आशौच उपस्थित हो जाय तो दो दिन और चतुर्थ प्रहरमें द्वितीय सम्पूर्ण आशौच उपस्थित हो जाय तो तीन रात्रि आशौच विशेष बढ़ा देना आवश्यक है।

५—यदि दशम दिनकी रात्रिमें त्रिरात्रादि अल्पाशौचकी प्राप्ति हो तो पूर्वशेषसे ही शुद्धि होती है, इसमें दो अथवा तीन दिन नहीं बढ़ाये जाते।

६—दो दिन अथवा तीन दिन बढ़ाये हुए द्वितीयाशौचमें यदि अधिकदिनव्यापी तृतीयाशौच उपस्थित हो जाय तो द्वितीयाशौचसे शुद्धि नहीं होती है, किंतु अधिक-दिनव्यापी तृतीयाशौचकी निवृत्तिसे ही शुद्धि होती है। यदि सम या न्यून तृतीयाशौच उपस्थित हो तो द्वितीयाशौचसे शुद्धि होती है।

---

* महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः।
वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुच्यते॥
(बृहस्पतिः)

जहाँ महानदीका अन्तर हो अथवा पर्वत मध्यमें हो और बोलीका भेद हो, उसे 'देशान्तर' कहते हैं।

अन्यच्च—
देशान्तरं वदन्त्येके षष्टियोजनमायतम्।
चत्वारिंशद् वदन्त्यन्ये त्रिंशदन्ये तथैव च॥

कोई साठ योजन लंबा प्रदेश, कोई चालीस योजन लंबा प्रदेश और कोई तीस योजन लंबे प्रदेशको 'देशान्तर' कहते हैं।

† मरणाशौचमें मरणाशौच और जननाशौचमें जननाशौच, मरणाशौचमें जननाशौच और जननाशौचमें मरणाशौच जहाँ उपस्थित हो, उसे 'आशौच-सम्पात' कहते हैं।

७—माताके आशौचमें पिताका आशौच उपस्थित हो, तो माताके आशौचसे पिताका आशौच निवृत्त हो जाता है, यह बहु-निबन्ध-सम्मत है। कोई आचार्य पिताके आशौचसे भी शुद्धि मानते हैं, परंतु यह पक्ष प्रचलित नहीं है।

८—पिताकी मृत्यु होनेपर यदि तीसरे दिनसे लेकर दशम दिनके सायंकालतक माताकी मृत्यु हो तो पिताके आशौच-को समाप्तकर माताके निमित्त एक पक्षिणी आशौच और बढ़ा देना चाहिये।

९—दशम रात्रिके तीन प्रहरमें माताका मरण हो तो दो दिन और चतुर्थ प्रहरमें मृत्यु हो तो तीन दिन आशौच बढ़ा देना चाहिये। यहाँ पक्षिणी आशौचकी वृद्धि नहीं होती।

१०—पिताकी मृत्यु होनेपर सपत्न-माताकी मृत्युमें पिताके आशौचसे ही शुद्धि होती है, यहाँ पक्षिणीकी वृद्धि नहीं होती; क्योंकि सपत्न-माता 'महागुरु' * नहीं है। कुछ आचार्य सपत्न-माताके मरणमें भी 'पक्षिणी' अधिक मानते हैं।

११—यदि भर्ताके साथ माताने अन्वारोहण किया हो तो उसके लिये पक्षिणी आशौच नहीं कहा गया है।

१२—सपिण्डाशौचके मध्यमें यदि माता-पिताकी मृत्यु हो तो माता-पिताका स्वतन्त्र सम्पूर्णाशौच पुत्रमात्रको होता है; उनकी सपिण्डाशौचसे निवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार सपिण्डाशौचमें पतिकी मृत्यु हो अथवा स्त्रीकी मृत्यु हो, तो स्त्री और पतिको सम्पूर्णाशौच ही मानना चाहिये; उनकी सपिण्डाशौचसे शुद्धि नहीं होती।

१३—सूतिकाकी शुद्धि पूर्वाशौचसे नहीं होती, उसको जनननिमित्त पूर्णाशौच होता ही है।

१४—जननाशौचमें मरणाशौच उपस्थित होनेपर पिण्ड दानादि होते हैं और मरणाशौचमें जननाशौच उपस्थित होनेपर जातकर्मादि होते हैं। किसी आचार्यका मत है कि उभयविध आशौचके निवृत्त होनेपर ही पिण्डदानादि एवं जातकर्मादि करने चाहिये।

मैं भगवदीय गुणोंके प्रसारका माध्यम हूँ

लौकिक व्यवहारमें हम देखते हैं कि पिताका अपनी संतानके प्रति कितना स्नेह होता है। पिताका स्नेह अपनी सब संतानोंके प्रति समान होता है; परंतु जो बच्चा कुछ कमजोर होता है, उसकी देख-रेख पिता विशेषरूपसे करते हैं। लौकिक पिताके हृदयमें जो विवेक है, जो स्नेह है, वह भगवान्‌के अनन्त विवेक एवं स्नेह-सागरकी एक बूँदकी भी छायामात्र है। इससे कुछ अनुमान हो सकता है कि भगवान्‌का अपनी संतानके प्रति कितना स्नेह है और वे अपने स्नेहके वितरणमें कितने सावधान हैं। पर हम अपने स्वरूपको भूले हैं और भगवान्‌की देनके प्रति बेखबर बने हुए हैं। इतना ही नहीं, भगवान्‌की जो सहज देन हमें प्राप्त है, उसके लिये हम भगवान्‌के कृतज्ञ नहीं होते, प्रत्युत उस देनको अपने कौशलद्वारा प्राप्त मानकर अपने 'अहं'को पुष्ट करके पतित हो जाते हैं। आज मैं अपनी इस भूलको भगवान्‌के चरणोंपर समर्पितकर निश्चय करता हूँ कि अब भगवान्‌की देनको ग्रहण करनेके लिये मैं अपने हृदयको सदा मुक्त रखूँगा; जो वस्तु प्राप्त होगी, उसे अपनी मानकर संग्रह करके नहीं रखूँगा, प्रत्युत बिना किसी अभिमानके प्रसन्नतापूर्वक उसका सबके प्रति वितरण करूँगा। मैं सद्गुण एवं सामर्थ्यका स्वामी नहीं हूँ, उनके प्रसारका माध्यममात्र हूँ। भगवान् मेरे द्वारा अपने गुणोंका, अपनी वस्तुका जगत्‌में प्रसार कर रहे हैं। मैं अपना अहोभाग्य मानता हूँ कि भगवान्‌ने अपनी ही वस्तुओंके द्वारा, अपनी ही शुभ प्रेरणासे, अपने-से ही मुझे अपनी इस सेवाके लिये माध्यम बनाया है।

मैं भगवत्कृपासे भगवदीय गुणोंके प्रसारका माध्यम हूँ।

---

* माता, पिता और पति—ये तीन ही 'महागुरु' माने जाते हैं।

मानवके विविध रूप

(रचयिता—पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(देवता)

नग्न रह आप तन दूसरोंका ढाँपता जो, विष ले अमृत सब जगको पिलाता है।
दीनबन्धु सम बन्धु दीनोंका समोद बने, गोद ले पतितको भी पावन बनाता है॥
हारा-थका जन जहाँ पाता है सहारा-सुख, कारणरहित उपकार जिसे भाता है।
तन-मन-धन कर निहित पराये हित हित सबका जो, वह देव कहलाता है॥

(संत)

जान घट-घटमें विराजमान भगवान, करता प्रणाम जो गलित-अभिमान है।
मान सबको दे मान विभुका अनूप रूप, कामना जिसे न कहीं कोई ममता न है॥
साधनका सद्-उपयोग जो सिखाता सदा, जीवनके लक्ष्यका कराता शुभ ज्ञान है।
पर दुख देखके द्रवित नवनीत-सा हो, संत मतिमान वह मानव महान है॥

(दानव)

श्रम ले अधिक पारिश्रमिक न देता धिक, काम ले बहुत किंतु दाम देता कम है।
दीन मजदूरका न दूर करे दुःख कभी, देता व्यर्थ दूरसे दिलासा और दम है॥
चाटा करे लाभ, दिखलाया घोर घाटा करे, गोलमाल कर माल करता हजम है।
यमसे डरे न इन्द्र-अनुज-विरोधी अरे, मनुज नहीं है, वह दनुज अधम है॥

(पिशाच)

करते अराम नींद औरोंकी हराम कर, सीनेपर दीनके मशीनें जो चलाते हैं।
कम दे मजूरी मजबूरीका उठाते लाभ, रक्त चूसनेमें दूसरोंके ना लजाते हैं॥
'हाय' असहायकी न हाय ! सुनते हैं, गला घोंट दुर्बलोंके भला अपना मनाते हैं।
स्वार्थके सँघाती, सदा परहित-घाती जो हैं, साँच कहूँ नर वे पिशाच कहलाते हैं॥

(नमकहलाल)

श्रम करता जो तन-मनकी लगाके शक्ति, करके दिखाता सदा काममें कमाल है।
हानि सह के भी पहुँचाता लाभ मालिकको, जान और मालकी भी करता सँभाल है॥
पाई-पाई वेतन कमाईसे चुकाता सदा, स्वामीको सचाईसे ही करता निहाल है।
कार्यरत रह कभी व्यर्थ न विताता काल, नेकचाल नर वह नमकहलाल है॥

(नमकहराम)

खाता जिसमें हो उसी पत्तलमें छेद करे, भेद करे पैदा, जिसे कामसे न काम है।
चाल चलता है, खड़ा करता बवाल सदा, व्यर्थ मालिकोंको करवाता बदनाम है॥
माँगता सुभीता, पर भागता परिश्रमसे, नेता बन नामका बनाता निज काम है।
दाम ले अधिक, किंतु कामसे चुराता चित्त, राम-राम ! वह बड़ा नमकहराम है॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

दो आँसुओंने मनका मैल धो दिया!

मेरे पिता चार भाई थे और उनके एक मामा भी उन्हींके साथ रहते थे, जिनका नाम था बिहारीलाल। मैं उन दिनों बहुत छोटा अवश्य था; किंतु इतना समझता था कि प्यार क्या होता है और कटुता क्या होती है। पहले तो मेरे पिता, तीनों चाचाओं और मामामें बहुत प्रेम बना रहा; सब एक ही मकानमें रहते थे और सब कारबार भी एक ही साथमें होता था। फिर न जाने क्या बात हुई कि मेरे पिताकी मृत्युके पश्चात् मामा और भानजोंमें किसी प्रकार न बनी और मामा अर्थात् मेरे बाबा मकान और गाँवको छोड़कर एक मील दूर दूसरे गाँव सरैयामें जाकर बस गये और वहाँ जाकर उन्होंने एक विधवासे विवाह भी कर लिया। पहले तो मेरे चाचाओंकी उनसे दुश्मनी ही थी, किंतु अब विधवासे विवाह कर लेनेके कारण घृणा भी हो गयी। एक दूसरेके यहाँ तीज-त्योहार और होली-दीवालीतकमें कोई नहीं जाता था। कुछ लोगोंने आपसमें मेल करानेका भी प्रयत्न किया, किंतु वह सब व्यर्थ गया।

गाँवमें ताउनकी बीमारी आयी और मेरी एक बुआ-को उठा ले गयी। बाबाको किसीने उनके मरनेतककी खबर न दी। उसके पश्चात् मेरे सबसे छोटे चाचा द्वारिका सख्त बीमार पड़े। तीसरे ही दिन उन्होंने चलाचलीकी तैयारी कर दी। प्रातःकालसे ही वे आँखें फाड़-फाड़कर सबको देखने लगे। मेरी चाची पछाड़ खा-खाकर उनके ऊपर गिरने लगी। धीरे-धीरे उनका बोल भी बंद हो गया। लोगोंने यह जानकर कि द्वारिका अब केवल घड़ी-दो-घड़ीके मेहमान हैं, उन्हें चारपाईसे नीचे जमीनपर लिटा दिया। किंतु जमीनपर लेटे हुए उन्हें एक घंटा बीत गया और उनके प्राण न निकल सके। वे बराबर आँखें फाड़-फाड़ सबकी ओर ऐसे देखते रहे जैसे मानो उनकी आँखें किसीको खोज रही हों। लोगोंने घरके स्त्री-बच्चोंको एक-एक करके उनके सामने किया, किंतु फिर भी उन्हें शान्ति न मिली। अन्तमें किसीने बिहारीबाबाका नाम लिया और द्वारिकासे पूछा 'क्या तुम अपने मामाको देखना चाहते हो?' मुँहसे बोल तो नहीं निकला; किंतु मुखकी मौन आकृति और आँखोंने जैसे उनके मनकी बात कह दी हो। इस समय सारी दुश्मनीको भुलाकर बाबाको लेने सरैया आदमी दौड़ाया गया। आध ही घंटेमें बाबा आकर मौजूद हो गये। सब पुकार उठे—'बिहारी आ गये, बिहारी आ गये।' बाबा आकर चाचाके पास बैठ गये और सजल नेत्रों तथा रुँधे कण्ठसे कहने लगे—'द्वारिका! मैं आ गया हूँ। अपने मामासे एक बात तो कर लो।' मैं पास ही खड़ा यह सब कुछ देख रहा था। चाचाकी पुतलियाँ फिरीं, मुखपर प्रसन्नताकी आभा-सी आयी, फिर उनकी आँखोंने दो आँसू ढलका दिये। चाचाकी आँखें तो पहलेसे ही खुली थीं, किंतु अब होंठ भी खुल गये थे, जैसे वे होंठ कुछ कहना चाहते हों। किंतु वे खुले-के-खुले ही रह गये। अपने मामाके दर्शन करके चाचा चिर-निद्रामें विलीन हो गये। इन दो आँसुओंने चाचा और बाबा दोनोंके ही मनका सारा मैल धो डाला।

—एम० आर० गुप्ता

(२)

शङ्ख एवं घंटा-ध्वनिसे रोगोंमें लाभ

(१) शङ्ख-ध्वनि—सन् १९२८ ई० में बर्लिन युनिवर्सिटीने शङ्ख-ध्वनिका अनुसंधान करके यह सिद्ध किया है कि शङ्ख-ध्वनिकी शब्द-लहरें बैक्टीरिया नामक

(संक्रामक रोगके) कीटाणुओंके नष्ट करनेमें उत्तम और सस्ती ओषधि है। यह प्रति सेकंड २७ घन फुट वायु-शक्तिके जोरसे बजाया हुआ शङ्ख १२०० फीट दूरीके बैक्टीरिया जन्तुओंको नष्ट कर डालता है और २६०० फुटके जन्तु इस ध्वनिसे मूर्च्छित हो जाते हैं। बैक्टीरियाके अतिरिक्त इससे हैजा, गर्दनतोड़ बुखार, कम्पज्वरीके कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं और ध्वनि-विस्तारक स्थानके पासका स्थान निस्संदेह निर्जन्तु हो जाता है। मृगी, मूर्च्छा, कण्ठमाला और कोढ़के रोगियोंके अंदर शङ्ख-ध्वनिकी प्रतिक्रिया होती है और वह रोगनाशक होती है। शिकागोके डा० डी० ब्राइनने तेरह बहरोंको शङ्ख-ध्वनिसे ठीक किया था और आजतक न जाने कितने और ठीक हुए होंगे। मेरे एक मित्र केशरीकिशोरजीने अभी गतमास एक नवयुवकको, जिसका कान बहता था तथा बहरापन था, शङ्ख बजानेका परामर्श दिया, जिससे दस दिनोंमें उचित लाभ हुआ। प्रयोग अभी चल रहा है।

(२) घंटा-ध्वनि—अफरीकाके निवासी घंटेको ही बजाकर जहरीले साँपके काटे हुए मनुष्योंको ठीक करनेकी प्रतिक्रियाको पता नहीं, कबसे आजतक करते चले आ रहे हैं। ऐसा पता लगा है कि मास्को सैनीटोरियममें घंटेकी ध्वनिसे ही तपेदिक रोग ठीक करनेका सफल प्रयोग चल रहा है। सन् १९१६में बकिंघममें एक मुकद्दमा चला था—एक तपेदिक रोगीने गिरजाघरमें बजनेवाले घंटेके सम्बन्धमें यह दावा अदालतमें किया था कि इसकी ध्वनिके कारण मैं बराबर स्वास्थ्यहीन होता जा रहा हूँ और मुझे काफी शारीरिक क्षति पहुँचती है। इसपर अदालतने तीन प्रमुख वैज्ञानिकोंको घंटा-ध्वनिकी जाँचके लिये नियुक्त किया। यह परीक्षण सात महीने किया गया और अन्तमें वैज्ञानिक-बोर्डने यह घोषित किया कि घंटेकी ध्वनिसे तपेदिक रोग दूर होता है। और कहा जाता है कि इससे अन्य कई शारीरिक कष्ट कटते हैं तथा मानसिक उत्कर्ष होता है।

अभी बजा हुआ घंटा आप पानीमें धो डालिये और उस पानीको उस स्त्रीको पिला दीजिये, जिस स्त्रीको अत्यन्त प्रसव-वेदना हो रही हो और प्रसव न होता हो; फिर देखिये—एक घंटेके अंदर ही सारी आपत्तियोंको हटाकर सरलतापूर्वक प्रसव हो जाता है।

—श्रीमनमोहनलाल एच्. एम्. डी.

(३)

सबका भला हो!

मैं जब छोटा था, पड़ोसीके नाते मेरे एक बाबा होते थे। न जाने क्यों, वे शहरभरमें 'बाबा' नामसे ही प्रसिद्ध थे। मेरे पिताजी भी उन्हें बाबा कहते थे। यहाँतक कि उनके सगे भाई भी उन्हें बाबा कहते थे। एक उनकी स्त्री ही थी, जो उन्हें बाबा नहीं कहती थी। बहुत बूढ़े भी नहीं थे। शायद किसी विशेष गुणके कारण वे बाबा बन बैठे होंगे। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि प्रातः उठते ही वे यह कहा करते थे कि 'सबका भला हो!' दिनमें कई बार उनके मुँहसे यही सुननेको मिलता—'सबका भला हो!' कम-से-कम उनके मुँहसे दुःख-सुखमें और शब्द निकलते हुए मैंने नहीं सुने। मुझे अपनी माँ और पिताजीसे यही सुननेको मिला कि 'सबका भला हो' ही उनका ॐ है, राम है, राधा और श्याम है। न जाने क्यों, उनके मुँहपर वह इतना चढ़ गया था कि तकलीफमें भी उनके मुँहसे यही निकलता था—'सबका भला हो!' इसका इतना असर अवश्य हुआ था कि शहरमें दो-चार आदमी, बस दो-चार, 'सबका भला हो' कहने लगे थे। पर दस-बीस ऐसे भी थे, जो 'सबका भला हो' व्यगके रूपमें इस्तेमाल करते थे। कोई-कोई जो बाबाकी बराबरीके थे, वे जब उनसे बोलते या मिलते तो इस तरह कहकर बोलते 'कहिये, सबका भला हो! कहाँ चले?' उनके बारेमें जहाँतक मुझे याद है, सबसे यही सुना

कि वे सचमुच भले थे और सबकी भलाई सोचते थे। सबकी भलाईकी बात करते थे और सबकी भलाईके लिये जो बन पड़ता था, वह करते थे। यह और भी अनोखी बात है कि उनके मकानसे पूरबकी ओर एक बनियेका मकान था। पूरब-उत्तरकी ओर एक ब्राह्मणका मकान था। उत्तरमें मुसल्मानका मकान था। पश्चिममें थोड़ी-सी गली छोड़कर एक नाईका मकान था। पर किसीको उनसे किसी तरहकी शिकायत न थी और उनको किसीसे शिकायत न थी। मैं नहीं कह सकता कि नगरभरमें उनका कोई दुश्मन था। इस उक्तिके नाते कि चन्द्रमामें कलङ्क होना चाहिये, शायद कोई दुश्मन रहा हो; मगर मुझे पता नहीं।

उसी गाँवमें दो ब्राह्मण-परिवार थे, जो बाबाके ही मुहल्लेमें रहते थे। उन दोनों घरोंके मुखिया पंडिताईका काम छोड़कर पंसारीकी दूकान करते थे। एकका नाम था देवीदास, दूसरेका नाम था ईश्वरदास। वे कबसे पंसारीका काम करते थे, मुझे पता नहीं। ईश्वरदास बहुत बूढ़े थे और खूब मोटे शीशेकी ऐनक लगाते थे। शहरभरमें ईमानदारीके लिये प्रसिद्ध थे। उनकी दूकानपर हरदम आपको ग्राहक मिल सकते थे, भीड़ लगी रहती थी। किंतु क्या आप बता सकते हैं या सोच सकते हैं कि वे ग्राहक किस उम्रसे किस उम्रतकके रहे होंगे? शायद आप कल्पना भी न कर सकेंगे। अलग-अलग अटकलें लगायेंगे, तब भी आप ठीक-ठीक न बता सकेंगे। सुनिये, उनकी दूकानपर भीड़ रहती थी चार बरसकी उम्रसे लेकर बारह-तेरह बरसतकके बालकोंकी। शायद ही कभी कोई बड़ी उम्रका जवान या बूढ़ा उनकी दूकानपर देखनेको मिल जाय। अगर मिल जाय, तो फिर यही समझिये कि जिस घरसे वह सौदा लेने आया है, उस घरमें या तो कोई बच्चा है नहीं या अगर है तो स्कूल गया होगा, नानीके यहाँ गया होगा, बरातमें गया होगा।

क्या आप बता सकते हैं कि ऐसा क्यों होता था? आप सोच ही नहीं सकते। सुनिये, उनकी दूकान थोड़ी ऊँची थी। छोटे बच्चे चढ़ ही नहीं सकते थे। बूढ़े बाबाको हाथ पकड़कर ही चढ़ाना पड़ता था। इससे आप अंदाजा लगा सकते हैं कि वे बूढ़े होते हुए भी कितने ताकतवर रहे होंगे। पर यह तो ऐसी बात हुई, जिसका मतलब यह हुआ कि न बच्चोंको उनकी दूकानपर जाना चाहिये न माँ-बापको अपने बच्चोंको वहाँ भेजना चाहिये। बूढ़े आदमीको तकलीफ भी क्यों दी?

नहीं, यह बात नहीं; सुनिये, उनका यह नियम था कि वे बच्चोंको चीज कुछ ज्यादा तौलकर देते थे। कुछ इस ख्यालसे कि यह रास्तेमें थोड़ा-बहुत गिरा देगा तो घरतक पूरी नहीं पहुँच पायेगी और फिर उसकी माँ शिकायत करेगी और दूकानकी बदनामी होगी। कुछ इस वजहसे भी कि बड़ोंकी तरह बच्चा तो यह कहेगा नहीं कि 'थोड़ी और भी, बाबा!' बड़ोंको वे पूरी चीज तौलकर देते थे और बच्चोंकी कुछ 'और भी' के लिये गुंजाइश रखते थे। अगर किसीने 'और भी' कहा, तो उसके कहनेसे थोड़ी और डाल दी और अगर वह चुप रहा, तो अपने-आप ही थोड़ी और डाल दी। यही कारण था कि बड़े लोग उनकी दूकानपर सौदा खरीदने नहीं आते थे। बच्चोंको ही भेजनेमें वे नफेमें रहते थे।

एक बात और भी थी। इतने छोटे बच्चे उनकी दूकानपर पहुँचते, जो यह भी बोलना नहीं जानते थे कि उन्हें क्या लेना है, कितने पैसे उनके पास हैं, कितनेकी क्या चीज लेनी है। वह तो एक कपड़ा लाते थे, उसीके कोनेमें एक चिट और दाम बँधे रहते थे। उस गाँठको खोलना, पढ़ना, उसके अनुसार सामान बाँधना, बाकी बचे पैसे बाँधना और फिर बालकको उसी तरह दूकानसे नीचे उतारना, जिस तरह ऊपर चढ़ाया था।

एक बात और। डेढ़-दो सेरकी एक हँड़िया भर रोज उनकी दूकानका चूरनका खर्च था; क्योंकि इसकी एक पुड़िया मुँहमें लिये बगैर कोई बच्चा दूकान छोड़कर जाता ही न था। अव्वल तो सब माँग ही लेते थे और अगर कोई न माँगे तो उसे अपनी यादसे दे देते थे।

जब इनकी मौत हुई, तब उनकी अर्थीके पीछे इतनी भीड़ थी कि अगर उस अतरौली गाँवका कोई राजा होता तो उसे भी यह भीड़ नसीब न होती। यहाँ यह भी याद रहे कि अतरौलीके मुर्दे अतरौलीसे आठ मील दूर रामघाट, गङ्गाके किनारे फुँका करते थे। एक चौथाई या इससे कम भीड़ रामघाटतक गयी और उनकी दाह-क्रिया उसने अपनी आँखों देखी।

'सबकी भलाई' या 'सर्वोदय' इसीमें है कि हम इन ईश्वरदासकी तरह जो भी काम करें, वह समाजकी सेवाके लिये करें। यह कम्बख्त पेट तो चोरीसे भी उतना ही भरता है, जितना ईमानदारीसे!

—महात्मा भगवानदीन ('भूदानयज्ञ'से)

(४)

ताँगेवालेकी आदर्श ईमानदारी और सेवाभाव

घटना पुरानी नहीं, मुश्किलसे ४ वर्ष हुए होंगे। मध्यप्रदेशके एक प्रतिष्ठित व्यापारी पचास हजार रुपये लेकर दक्षिणमें (मैसूर, मदुरा और मद्रास) माल खरीदनेके लिये जा रहे थे। इस प्रान्तमें शतरंजी और साड़ियाँ एवं मैसूरमें चन्दनकी लकड़ीकी कलामय वस्तुएँ अच्छी और सुन्दर बनती हैं। व्यापारीने एक-एक हजारके ५० नोट बनयानके दोनों जेबोंमें रख लिये और जेबोंको सूत्र सी लिया था। सबसे पहले यह व्यापारी मैसूर उतरकर वहाँसे १४ मील दूर कृष्णराजसागरका बाँध और इलेक्ट्रिक प्रदर्शन देखने गया।

यह प्रदर्शनीय स्थल शामको ४ बजेसे रातके १० बजेतक मैसूर-सरकारकी ओरसे आम जनताके लिये खुला रहता है। व्यापारीने कृष्णराज-सागरका बाँध एवं अद्भुत विद्युत्-प्रकाश, जो कि फुव्वारों और क्यारियोंमें अपनी अनोखी छटा दिखाकर दर्शकोंको मोहित कर लेता है, देखा। देखकर वह पुलकी सीढ़ियोंपर चढ़ रहा था कि उसे अचानक चक्कर आया और पुलकी सीढ़ियोंपर लुढ़कता हुआ नीचे आया।

व्यापारीका शारीरिक सुदृढ़ गठन और शारीरिक शक्ति अच्छी थी। अतः वह हाथ-पैरों एवं मस्तिष्कका रक्त पोंछकर फिर पुलकी सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। अन्तिम सीढ़ीपर ज्यों ही पैर रखा कि उसे फिर जबर्दस्त चक्कर आया और दूसरी बार पुनः सीढ़ियोंपर लुढ़कने लगा। पुलके पास ही ताँगा स्टैंड है। कई ताँगेवाले खड़े थे, जिनमेंसे एक ताँगेवालेने इस व्यापारीको पुलकी सीढ़ियोंसे लुढ़कते देख लिया। उसने चाबुक ताँगेमें रखा और पुलपर आया। तबतक आहत व्यापारी लुढ़कता हुआ सबसे नीचेकी सीढ़ीपर आकर लहूलुहान हालतमें पड़ा था। बेहोशी भी आ गयी थी।

ताँगेवालेने उस रक्तरञ्जित व्यापारीको, जिसके वस्त्र रक्तमें सने थे, गोदीमें उठाया और जैसे-तैसे सीढ़ियाँ चढ़कर ताँगेमें सुला दिया। एक हाथसे व्यापारीको, जो कि अर्धमृतक-सी अवस्थामें था, पकड़े और एक हाथसे घोड़ेकी रास थामे घोड़ेको हाँक रहा था। चार-पाँच मील चलनेके बाद व्यापारीको कुछ होश-सा आया और उसने लड़खड़ाती जबानसे पूछा, 'कौन?' 'मैं हूँ ताँगेवाला। मैंने आपको कृष्णराजसागरके पुलके जीनेसे गिरते हुए देखा था। आपके साथ कोई था नहीं और आप बेहोशीकी हालतमें थे। मेरे मनमें आया कि मैं एक घायल व्यक्तिकी सेवा करूँ और आपको अपने घर भेज दूँ। हूँ तो ताँगेवाला, पर ईमानदार हूँ और ईमानदारीके लिये ही जीता हूँ।'

व्यापारीने कोटकी जेबमेंसे एक १००) का नोट निकालकर ताँगेवालेको देते हुए कहा 'लो तुम्हारे लिये इनाम ।'

ताँगेवालेने व्यापारीसे कहा—'सेवाका मूल्य सोने-चाँदीके टुकड़ों या कागजके रंगीन टुकड़ोंसे नहीं आँका जा सकता। मैं आपको इसलिये नहीं लाया कि आप मुझे इनाम दें और न मुझे इस प्रकारका लोभ-लालच ही है, मेरा पेशा ऐसा है कि सभ्य-समाज इस पेशेको हल्का पेशा कहता है और हमारे समाजको बेईमान, धोखेबाज, चालबाज बतलाता है। पर ऐसी बात नहीं है। मैं तो भगवान्‌को चारों ओर देखकर जीता हूँ। मुझे डर लगता है कि यदि मैं बेईमान हो गया तो भगवान्‌के न्यायालयमें क्या उत्तर दूँगा। मैं ऐसा मानता हूँ कि इस प्रकार मेरा डरना मेरे लिये ईमानदार बननेके सम्बन्धमें रामबाण सिद्ध हुआ है।'

ताँगेवालेका लंबा भाषण सुनकर व्यापारीने कोटकी दूसरी जेबमेंसे सौ-सौके पाँच नोट निकाल ताँगेवाले-के हाथपर रख दिये। ताँगेवाला अबकी बार झल्ला उठा और उसने कहा, 'माफ कीजिये, मुझे एक भी पाई आप-से लेना हराम है!' और उसने सौ-सौके पाँच नोट व्यापारीको लौटा दिये, किंतु नोट व्यापारीके हाथमें न जाकर ताँगेमें ही गिर गये। ताँगेवालेने मुड़कर देखा तो व्यापारी बेहोश हो गया था और उसके मुँहसे सफेद झाग निकल रहे थे।

इस दृश्यको देखकर ताँगेवालेके मुँहपर हवाइयाँ उड़ने लगीं। हे प्रभो! क्या यह व्यक्ति अपने घर पहुँचनेके पहले ही विदा ले लेगा और मेरी सेवा अधूरी रहेगी? यह व्यक्ति तो श्रीमान् मालूम पड़ता है, अन्यथा दो-चार रुपयेकी मजदूरीके लिये ५००) रुपये न देता। लगता है यह व्यक्ति मैसूर या मैसूर-प्रान्तका नहीं है; यह हिंदी बोलता है, उत्तरप्रदेश या मध्य-प्रदेशका होना चाहिये। तब क्या यह व्यापारी है? तब तो इसके पास हजारों रुपये होंगे। मैसूर यहाँसे ८ मील दूर है और वहाँतक पहुँचनेके लिये कम-से-कम एक घंटा लगेगा।

पाँच नोट जो कि ताँगेमें ही गिर गये थे, उन्हें उठाकर व्यापारीके कोटके जेबमें रख दिया। पर कोट-के नीचे कुछ उठा हुआ-सा भाग दीख रहा था; ताँगे-वालेने टटोलकर देखा तो बनयानके दोनों जेब लबालब भरे थे। उसे संतोष हुआ कि दोनों जेब सिले हुए थे। ठीक १० बजे ताँगेवाला मैसूर पहुँचा और पुलिस-स्टेशनपर जाकर ताँगा रोका और रिपोर्ट की।

समयकी बात कि उस समय डी० एस० पी० वहीं थे। वे अन्य चार पुलिस जवानोंके साथ ताँगेके पास आये। देखा तो एक सुन्दर सुडौल गौरवर्ण नवयुवक मुँहसे झाग डाल रहा है। कभी-कभी एक सेकंडके लिये आँखें खुल जाती हैं। डी० एस० पी० ने सबसे पहले सिविल सर्जनको फोन करके बुलाया। इसके बाद पुलिसके जवानोंके साथ नवयुवककी तलाशी ली। कोटके जेबमें सौ-सौके ७ नोट, माल खरीदनेकी सूची डायरी और कर्नाटक रेस्टोराँकी एक स्लिप मिली। कमीचका जेब खाली मिला। बनियानके जेब खोलकर देखे गये तो पचास हजारके नोट मिले।

अब डी० एस० पी० को यह समझते देर न लगी कि यह मध्यप्रदेशका एक प्रतिष्ठित व्यापारी है, दक्षिण-प्रान्तमें माल खरीदने आया है। ताँगेवालेके बयान लिये। उसने ईमानदारीके साथ सभी घटनाएँ स्पष्ट रख दीं। ताँगेवालेकी ईमानदारीसे डी० एस० पी० को विशेष हर्ष हुआ कि एक ताँगेवाला, जिसे लोग बेईमान समझते हैं, कितना ईमानदार हो सकता है। फिर डी० एस० पी० ने कर्नाटक रेस्टोराँके मैनेजरको फोन किया कि रोजनामचा (जिसमें बाहर-से आनेवाले मुसाफिरोंका नाम, धाम एवं पता होता है) लेकर शीघ्र आओ। इतनेमें सिविल सर्जन मय

स्टाफ (नर्सरी एवं सर्जरी)के आ गये, उन्होंने बीमारी-की श्रमपूर्वक अच्छी तरह जाँच की ।

जाँचकर सिविल सर्जनने बताया कि यह मरीज अधिक-से-अधिक एक घंटेका मेहमान है । सतत रक्त-प्रवाहके कारण अब इसका बचना असम्भव है । डाक्टरने अथक प्रयत्न करके आहत नवयुवक व्यापारी-को सचेत किया । वह होशमें आ गया । उसने पास-में ही ताँगेवालेको बैठा देखा और धीमे स्वरमें कहा—'मैं कृष्णराजसागर-पुलकी सीढ़ियाँ चढ़ रहा था कि एकाएक चक्कर आया और मैं जमीनदोस्त हो गया । जैसे-तैसे साहस करके दुबारा सीढ़ियाँ चढ़ने लगा कि मुझे फिर चक्कर आ गया । इसके बाद क्या हुआ, यह मुझे पता नहीं । होश आनेपर मैंने अपने आपको पाया कि मैं एक ताँगेमें जा रहा हूँ । विचार आया कि ताँगेवालेने हमदर्दीके नाते मुझपर दया की और मैसूर ले जा रहा है ।

'मैं ताँगेवालेकी हमदर्दीसे बहुत प्रभावित हुआ और उसे १००) इनाममें दिये । पर उसने नहीं लिये । फिर ५००) इनाममें दिये । इनाम देनेके बाद ही मुझे बेहोशी आ गयी । होश आनेपर मैं आपलोगोंको अपने सामने देखता हूँ । मुझे यह पता नहीं कि ताँगेवालेने ५००) लिये या नहीं; यह मुझे ईमानदार, नेक एवं सेवाभावी व्यक्ति मालूम होता है ।' इतनेमें कर्नाटक रेस्टोराँके मैनेजर आ गये। उन्होंने वह रोजनामचा बतलाया, जिसमें निम्न प्रकार लिखा हुआ था—ता० २२-१२-५४ श्रीमहेशचन्द्र कौल, फर्मका नाम महेशचन्द्र गिरिजाशंकर, निवासी मालपुरा, जिला बस्तर, मध्यप्रदेश । तीन दिनों रेस्टोराँमें ठहरनेकी स्वीकृति और मैनेजरके हस्ताक्षर थे ।

इसके बाद महेश कौलने पुनः मन्द स्वरमें कहा—'मुझे ऐसा लगता है कि अब मैं कुछ ही मिनटोंका मेहमान हूँ । ताँगेवालेने मेरी खूब सेवा की है; इसे पाँच हजार रुपये मेरी ओरसे इनाम दे देना । मैं पचास हजार नौ सौ रुपये लेकर घरसे चला था । पचास हजार मैंने बनयानके जेबमें रख लिये थे और नौ सौ ऊपरी खर्चके लिये, जिसमें ७००) अभी भी मौजूद हैं । शेष खर्च (मार्गव्यय आदि) हो गये । आप मेरी फर्मके नामपर फोन कर दें, मेरा छोटा भाई गिरिजाशंकर आ जायगा ।'

डी० एस० पी० ने कहा—'आप घबराइये नहीं, हम सरकारी नौकर ही नहीं, आपलोगों (जनता) के भी नौकर एवं सेवक हैं । आपके ५०७००) सुरक्षित हैं । आपने ताँगेवालेको पाँच सौ दिये थे, वे उसने लिये नहीं; और आपकी बेहोशी हालतमें उसने आपके कोटके जेबमें रख दिये थे । सचमुच ताँगेवाला बहुत ही ईमानदार व्यक्ति है, इसकी ईमानदारी जनताको ईमानदार बननेका पाठ पढ़ाती है । मैंने बहुतसे ताँगेवाले देखे हैं, पर ऐसा ईमानदार ताँगे-वाला नहीं देखा । आपकी बेहोशी हालतमें वह ५०७००) अपने कब्जेमें करके, आपका गला घोंट-कर, चाहे जहाँ भाग सकता था । पर जहाँ ईमानदारी-का प्रश्न है, वहाँ न तो परका हनन होता और न स्वयंका, किंतु वहाँ तो स्व-परका संरक्षण एवं कल्याण होता है ।'

महेश कौल डी० एस० पी० के कथनको ध्यानसे सुन रहा था कि दो मिनट बाद ही उसे खूनकी उलटी हुई और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये । तमाम पुलिस स्टाफ, सिविल सर्जनका स्टाफ और कर्नाटक रेस्टोराँके स्टाफने सलाह करके निर्णय किया कि महेश कौलके शवका अग्नि-संस्कार ताँगेवाला ही करेगा; इसकी महती सेवा है और सेवाके नाते इसे यह अधिकार प्राप्त है । ताँगेवालेने काँपते हाथों 'कौल'

के शवका अग्नि-संस्कार किया और चितामेंसे निकली धूम्रराशि अनन्त आकाशमें विलीन होने लगी।

शव-यात्राके यात्री विधिके विधानपर सोच रहे थे कि 'कौल' कहाँ जन्मा, कहाँ स्वर्गवासी हुआ और किस प्रकार पचास हजारकी रकम सुरक्षित बची रही। दूसरी ओर उपस्थित जनता ताँगेवालेकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा कर रही थी और ताँगेवालेकी ईमानदारीके प्रति सभीके मस्तक झुके हुए थे।

तीसरे दिन महेशचन्द्र 'कौल' के छोटे भाई श्रीगिरिजाशंकर आ गये। उन्होंने महेशके मृत्यु-सम्बन्धी सभी समाचार ज्ञात किये। उन्हें भाईकी मृत्युसे असह्य दुःख हुआ; पर ताँगेवालेकी ईमानदारी, उदारता एवं निस्स्वार्थ वृत्तिसे अपार आनन्द भी हुआ। गिरिजाशंकरने विचार किया कि भाई साहब पचास हजार रुपयेका माल खरीदने आये थे। अब वे असमयमें ही चले गये, फिर ये रुपये मैं वापस क्यों ले जाऊँ? बड़े भाईकी स्मृतिस्वरूप ताँगेवालेकी सेवाके उपलक्ष्यमें उसे दान क्यों न कर दूँ? फलतः गिरिजाशंकरने पचास हजारकी बृहद् धनराशि ताँगेवालेको देते हुए कहा कि 'तुम्हें और तुम्हारे बच्चोंके ये काम आयेंगे।' पर ताँगेवालेने दोनों हाथ जोड़ते हुए कहा—'भाई! आप मुझे जो धनराशि दे रहे हैं, उसका मूल्य है; पर ईमानका मूल्य नहीं होता। अतः आप मुझे आशीर्वाद दें कि मेरे लिये सतत अमूल्य निधि ईमानकी प्राप्ति हो; फिर मैं संसारमें सबसे बड़ा धनिक हूँ, ऐसा मैं मानता हूँ। आप मुझे क्षमा कर दें। मैं आपका आज्ञापालन करनेमें सर्वथा असमर्थ हूँ। रही बात बच्चोंकी, सो वे अपने भाग्यके निर्माता स्वयं हैं। गरीबीमें ईमान बना रहे, यही मुझे और मेरे परिवारके लिये सब कुछ है।' गिरिजाशंकरके मुँहसे अनायास निकल गया 'तुम इन्सान नहीं, इन्सानके रूपमें फरिश्ते हो। मैं अपने भाईको खोकर और तुमसे ईमानदारीका बोध-पाठ लेकर हर्ष-विषादके वातावरणमें अपने देश वापस जा रहा हूँ, तुम्हारी ईमानदारीकी चर्चा सर्वत्र करूँगा।' धन्य! (स्वतन्त्र)

हम जीवमात्र एक ही भगवान्‌के हैं

'जीवमात्र भगवान्‌की संतान है और इस नाते सब परस्पर भाई-भाई हैं—' भगवान्‌की कृपासे आज मैं इस सत्यको स्पष्ट समझ रहा हूँ और जीवमात्रके प्रति अपने प्रेमका विस्तार कर रहा हूँ। अबतक मैं अपनी सत्ताको अलग माने हुए था, इससे मेरा 'स्वार्थ' भी पृथक् था। किंतु अब मैं यह अनुभव करता हूँ कि मानव तथा मानवेतर जीवमात्र सभी एक ही भगवान्‌की संतान, एक ही परिवारके सदस्य, एक ही भगवान्‌के स्वरूप हैं। हम सबका स्वार्थ सर्वथा एक है। परिवारके विभिन्न कार्योंको सम्यक्‌रूपसे सुसम्पन्न करनेके लिये हम सबके कर्तव्यमें तो तारतम्य है; परंतु हम सबकी प्रत्येक चेष्टाका मूल एक ही है, उद्देश्य भी एक ही है—'भगवान्‌की पवित्र सेवा करना।' एक लक्ष्यकी ओर बढ़नेवाले यदि परस्पर प्रेम, सहानुभूति और सहयोगसे रहते हैं तो एक दूसरेको एक दूसरेसे शक्ति, सहायता, सहानुभूति और संतोष प्राप्त होता है और यात्रा भी सुखद एवं सरस होती है। आज मैं इस सत्यको यथार्थरूपमें अनुभव कर रहा हूँ और सबके प्रति प्रेम, सहयोग और सहानुभूतिका विस्तार करता हूँ।

हम जीवमात्र एक ही भगवान्‌के हैं।

श्रीराधा-माधवके कर-चरण-चिह्न

[स्कान्द-मात्स्य-गारुडानुसार]

(रचयिता— पं० श्रीओङ्कारदत्तजी शास्त्री)

श्रीकृष्ण-कर-चिह्न—श्रीदक्षिणकर-सरोज

दो०—दक्षिण कर श्रीकृष्णके शुभ रेखा राजन्त।
लेइ तर्जनीमध्यमामूल, करभ पर्यन्त।
बनी रेख परमायुकी, रुचिर करभतक देख।
बीच अँगूठा तर्जनी, है सौभाग्य सुरेख॥

छं०—पुनि लेकर मणिबन्ध वक्रगति ऊपर चाली।
मिली रेख सौभाग्य, भोगरेखा वह आली॥
पञ्च अंगुरिन शिखर पञ्च ही शंख विराजे।
यव अंगूठा तले ताहि तल चक्र सुसाजे॥
गदा चक्र नीचे लखीं, तले तर्जनीके ध्वजा।
खड्ग मध्यमाके तले, परिघ अनामा तल सजा॥

दो०—अंकुश कन्नीके तले, तले रेख सौभाग।
लसत चारु श्री[1]वृक्ष पुनि, ता नीचे शरलाग॥

श्रीवामकर-सरोज

दो०—लखहु वाम कर श्यामके, आयु आदि त्रय रेख।
पञ्चाङ्गुलिके पोरुअन, शंख पञ्च ही देख॥

छं०—कमल अँगूठा तले, भक्तजन चित्त चुरावै।
छत्र अनामा तले दास-त्रयताप नसावै॥
कन्नी-तलसों लेइ बहुरि पहुँचा पर्यन्ता।
क्रमशः हल अरु यूप तथा स्वस्तिक विलसन्ता॥
नीचे प्रत्यञ्चारहित चाप विराजत श्यामकर।
अर्धचन्द्र ताके तले तेहि नीचे पुनि मत्स्यवर॥

श्रीराधा-श्रीवामकर-कमल

दो०—आयु भाग्य सौभाग्यकी रेखा जानो तीन।
श्रीराधाकर वाममें, हरिकरतुल्य प्रवीन॥
अंगुष्ठाङ्गुलि पोरुअन, शंख विराजत पाँच।
अंकुश कन्नीके तले, नीचे पंखा जाँच॥

छं०—ता नीचे श्रीवृक्ष यूप ता नीचे राजे।
यूप तले है बाण, बाणतल तोमर साजे॥
माला तोमर पास अनामा नीचे कुञ्जर।
आयुरेख तल अश्व, ताहि नीचे वृष सुन्दर॥
आयु आदि रेखात्रितय, दक्षिण कर भी जानिये।
तथा पञ्च अङ्गुलि-शिखर, पञ्च शंख पहिचानिये॥

श्रीदक्षिणकर-कमल

दो०—दक्षिण करके अन्य भी लखहु चिह्न अनुकूल।
चमरी अंगूठा तले, चमर तर्जनी मूल॥

छं०—अंकुश कन्नी तले, ताहि नीचे सुरमन्दिर।
ता नीचे दुन्दुभी, वज्र नीचे है सुन्दर॥
है ऊपर मणिबन्ध शकटयुग[1] चिह्न सुहाया।
तिहि ऊपर इक चाप, चापपर खड्ग सजाया॥
श्रीराधाकर-युगलके, कहे चिह्न शुभधाम हैं।
देत नाम अनुरूप फल सब विधि पूरण काम हैं॥

श्रीराधा-चरण-चिह्न—श्रीवामपद-पद्म

दो०—श्रीराधा पद वामके, सुनहु चिह्न अभिराम।
यव अंगूठा मूलमें, यवतल चक्र ललाम॥

छं०—छत्र चक्रतल, वलय छत्र नीचे रेखाका।
कमल मध्यमा तले, कमल-तल ध्वज सपताका॥
अंकुश कन्नी तले, पार्ष्णिमें शशि है आधा।
शशिपर वल्ली पुष्प, चरन सोहै श्रीराधा॥
अंगुष्ठाङ्गुलिसंधि ते चली वक्रगति अधचरन।
ऊर्ध्वरेख सोहत विमल, देत उच्चगति दासजन॥

श्रीदक्षिणपद-पद्म

दो०—श्रीराधा दक्षिण चरन शंख अँगूठा मूल।
कन्नी नीचे वेदिका, नीचे कुण्डल शूल॥
तले मध्यमा-तर्जनी, पर्वत रेखा नीक।
मत्स्य पार्ष्णिमें मत्स्यपर राजत रथकी लीक॥
रथके बायें दाहिने शक्ति गदा पहिचान।
एकादश वे आठ ये, मिलकर उन्निस जान॥

श्रीहरि-चरण-चिह्न—श्रीदक्षिणपद-पद्म

दो०—श्रीहरि दक्षिण पद लसत, मूल अँगूठा चाक।
कमल मध्यमा मूलमें नीचे ध्वज सपताक॥

छं०—वज्र कनिष्ठा मूल, पार्ष्णिमें अंकुश सोहे।
अंगूठाके पर्वमध्य यव मनको मोहे॥

---

१. बिल्व वृक्ष।

१. जुआ गाड़ीका।

ऊर्ध्वरेख अंगुष्ठ-तर्जनी मध्य नियारी।
चक्रतले हैं छत्र चतुर्दिक स्वस्तिक चारी॥
तहँ स्वस्तिककी सन्धिमें जम्बूफल भी चार हैं।
स्वस्तिक मधि अठकोण ये ग्यारह चिह्न उदार हैं॥

श्रीवामपद-पद्म

दो०—वामचरणतल चिह्न ये श्रीहरिके पहिचान।
लसत अँगूठा मूलमें, शंख मूलमुखं[1] जान॥

छं०—अम्बर अन्तर ब्राह्म युगल मण्डल युत राजे।
मूल मध्यमा अम्बरतल धनु विज्यं[2] विराजे॥
गोखुर धनुके तले, ताहिके तले त्रिकोना।
तीन चार वा कलश कोनके चहुँदिशि होना॥
निजयुगकोण[3] त्रिकोणके छुवत कोणयुग अर्धशशि।
राजत तले त्रिकोणके, शशि नीचे रह मत्स्य लखि॥

सात्त्विकी श्रद्धा

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'मैं एक प्रार्थना करने आया हूँ!' जिन्हें लोग 'सरकार' 'अन्नदाता' कहते थकते नहीं थे, वे नरेश स्वयं आये थे एक कंगाल ब्राह्मणकी झोंपड़ीपर। उन्हें भी—जिनकी आज्ञा ही उनके राज्यमें कानून थी और जिनकी इच्छा किसीको भी उजाड़-बसा सकती थी, उन्हें उस मुट्ठीभर हड्डीके दुर्बल ब्राह्मणसे अपनी बात कहनेमें भय लगता था।

'क्या कहना है तुम्हें!' न सरकार, न अन्नदाता—वह ब्राह्मण इस प्रकार बोल रहा था जैसे नरेश वह है और जो नरेश उसके सामने खड़े हैं, वे उसके भिक्षुक अथवा सेवक हैं। उसे कोई आश्चर्य नहीं हुआ था, जब नरेश उसकी झोंपड़ीपर पधारे थे। उसने उनके स्वागत-सत्कारकी कोई व्यस्तता नहीं दिखलायी थी।

त्यागी, स्वधर्मनिष्ठ ब्राह्मण देवताओंद्वारा भी वन्दनीय है। कोई उसके यहाँ आता है, उसे प्रणाम करता है तो उसपर कोई कृपा नहीं करता। वह कृपा करता भी है तो अपने आपपर करता है; क्योंकि उस तपस्वीके दर्शन एवं अभिवादनसे वह स्वयं पवित्र होता है। उसके अशुभ—अमङ्गल नष्ट होते हैं।

नरेश आये, उन्होंने चरणोंमें मस्तक रक्खा। यह तो उन्हें करना ही चाहिये था। ब्राह्मणने आशीर्वाद दिया—'कल्याणमस्तु!'

सचमुच नरेशके लिये ही यह सौभाग्यकी बात थी कि उन्हें दर्शन हुआ था इन विप्रदेवका। प्रातः सूर्योदयके समय संध्या-हवनादि करके जो ग्रामसे मीलभर बाहर चला जाय और लौटे भी दोपहरमें तो फिर स्नान-संध्यामें लगे। भोजन किया और ग्रामसे बाहर। लौटेंगे तो सायंकाल और उस समय भी नित्यकृत्यसे पहर रात गये उन्हें अवकाश मिलेगा। ऐसे किसी दिन नरेश आ गये होते तो दर्शन भी नहीं होना था। यह तो आज पुराण-पाठके अनध्यायका दिन है, इसमें वे घरपर मिल गये।

'मेरी बहुत दिनोंकी लालसा है कि आपके श्रीमुखसे श्रीमद्भागवत सुनता!' नरेशने दोनों हाथ जोड़कर बड़ी नम्रतासे प्रार्थना की। 'राजभवन श्रीचरणोंसे पवित्र हो जायगा। आप जब सुविधा देखें और जिन विधियोंकी आज्ञा करें……।'

'अच्छा बहुत हो चुका!' ब्राह्मणके तेजसे उद्दीप्त मुखपर रोषकी किंचित् झलक आयी। 'तुम मेरे यहाँ आये हो, इसलिये मैं तुम्हें शाप नहीं देता। तुम्हारा इतना साहस हो गया है कि तुम त्रिभुवनके स्वामी भगवान् शंकरके कथावाचकसे कथा सुनानेको कहो! सुनो, चन्द्रमौलिको छोड़कर न मैंने किसीको कथा सुनायी है, न सुना सकता हूँ।'

'मुझे क्षमा करें!' नरेशके पैर काँप रहे थे। जिसकी भौंहोंपर बल पड़नेपर लोगोंका रक्त सूख जाता था, उसका मुख सूख चुका था। उससे ठीक रीतिसे बोला नहीं जा रहा था—'मुझसे भूल हुई।'

१. ऊपर मुखवाला। २. विना डोरीका। ३. अपने दो कोनोंसे त्रिकोणके दो कोने छूता हुआ।

'अच्छा जा !' ब्राह्मण तो क्षमाका साकार रूप है। उसका रोष कितने क्षणका।

'मैं कृतार्थ हो जाता !' नरेशने हाथ जोड़कर प्रार्थना की। 'यदि कोई सेवा प्राप्त हो जाती !'

'अन्नपूर्णाके आराध्यका सेवक हूँ मैं !' ब्राह्मण हँसे। 'तूने कंगाल समझा है मुझे ? चल—झटपट चला जा यहाँसे !'

नरेशने बहुतोंको अपने दरबारसे निकलवाया था—राज्यसे भी निकलवाया होगा, किंतु एक दरिद्र ब्राह्मणने उन्हें आज अपने द्वारपरसे झिड़ककर भगा दिया था और चले जानेके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं था उनके पास।

× × ×

शहरमें पं० श्रीरामप्रकाशजीको पूछना नहीं पड़ता था। वे न सबसे बड़े धनी थे, न कोई अफसर या लोकनेता; किंतु शहरका बच्चा-बच्चा उन्हें जानता था। वे सबके परम श्रद्धा-भाजन थे।

वैसे पण्डित रामप्रकाशजीको अपने घरका ही पता नहीं रहता था, बस्तीका तो क्या रहेगा। वे बहुत कम लोगोंको पहचानते थे। सच बात यह कि उन्होंने जिन्हें पहचान लिया था, उन्हें पहचान लेनेपर और किसीसे जान-पहचान करना आवश्यक नहीं रह जाता।

आजसे तीस वर्ष पूर्वकी बात है। पण्डितजीके पिताका देहावसान हो चुका था, उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया समाप्त हुई और पण्डितजीको उदरपूर्तिकी दैनिक क्रियाकी चिन्ता करनी पड़ी। ब्राह्मण पूजा-पाठ करायेगा, कथा सुनायेगा, दूसरा भी कुछ कार्य वह कर सकता है, यह बात पण्डितजीकी समझमें आनेसे रही। कलियुगमें वे उत्पन्न भले हुए हों, सत्ययुगके सीधे सरल ब्राह्मण थे।

पूजा-पाठ तो किसीको कराना हो और वह बुलावे तब किया जाय। पण्डितजीने श्रीमद्भागवतकी पोथी उठायी और यजमान ढूँढ़ने निकले।

'आजकल तो अवकाश नहीं है। ये व्यापारके दो महीने मुख्य हैं। आप फिर कभी पधारें।'

'इस समय तो हाथ खुले नहीं हैं। लड़कीका विवाह करना है। अगले वर्ष आप पधारें तो सोचा जायगा !'

पण्डितजी जहाँ कहीं गये—वे उन सब सम्पन्न लोगोंके पास गये, जिनकी उदारता उन्होंने सुनी थी और जिनसे उन्होंने कुछ आशा कर रक्खी थी; किंतु कोई व्यापारमें उलझा था, कोई मुकदमेमें। किसीको बेटीका व्याह करना था, किसीको मकान बनवाना था। किसीको भी श्रीमद्भागवत सुननेकी सुविधा नहीं मिली उस दिन।

पूरे बारह कोस भटककर शामको लौट रहे थे पण्डित रामप्रकाशजी। दिनभरके भूखे-प्यासे, चार-पाँच सेरकी पोथीका बस्ता बगलमें दबाये, हताश ! यजमानोंको तो दो-तीन महीने या वर्षभर अवकाश नहीं था; किंतु उनका और उनकी पत्नीका उदर क्या इतना अवकाश देगा ? पेटके गड्ढेमें तो नित्य अन्नकी आहुति देनी ही पड़ेगी।

'मृत्यु किसी क्षण आ सकती है। परलोककी तैयारी हजार काम छोड़कर करनी चाहिये।' यजमानोंको अवकाश नहीं था यह समझनेका और भूखे ब्राह्मणके पास इस लोकमें दो रोटीका उपाय नहीं दीखता था। भिक्षा वह माँग नहीं सकता। इससे तो भूखों मर जाना उसे पसंद आयेगा।

'बाबा ! आपको तो अवकाश है !' शहरसे लगभग एक मील बाहर निर्जनमें एक शिव-मन्दिर था। पण्डित रामप्रकाशजी लगभग संध्याको सर्वत्रसे निराश लौट रहे थे। मन्दिरमें वे दर्शन करने गये और प्रणाम करके पृथ्वीसे मस्तक उठाते ही उनको कुछ सूझ गया—'आप सुनिये मेरी कथा। आप मेरे यजमान और मैं आपका कथावाचक।'

उन्होंने स्वयं मन्दिर स्वच्छ किया। एक ओर आसन लगाया और पोथी सम्मुख रखकर कथा बाँचने बैठ गये। जैसे कोई कथावाचक सैकड़ोंकी भीड़को कथा सुना रहा हो—पूरे उच्च स्वरसे, भली प्रकार दृष्टान्तादि देकर, समझाकर अपनी योग्यतानुसार पूरी व्याख्या करते हुए पण्डितजी कथा सुनाने लगे।

'अल्पारम्भा क्षेमकरा' उस दिन संध्या हो रही थी, अतः एक श्लोकका मङ्गलाचरण करके ही कथा समाप्त हो गयी; किंतु दूसरे दिन सबेरे ही पण्डितजी वहाँ आ पहुँचे पोथी लेकर। तभीसे अबतक वे उसी क्रमसे कथा सुनाते आ रहे हैं उन उमाकान्त आशुतोषको।

× × ×

'आज घरमें केवल इस समयके लिये भोजन-सामग्री है !' बेचारी ब्राह्मणी क्या करे, उसे कभी-कभी पण्डितजीको,

जब वे अपनी पोथी लेकर मन्दिर जानेको उद्यत होते हैं, यह सूचना देनी ही पड़ती है।

'अच्छा, आज बाबासे कहूँगा।' पण्डितजीका एक बँधा उत्तर है।

उस दिन कथा समाप्त होनेपर पण्डितजी जब पोथी समेट लेंगे तो भगवान् शङ्करको प्रणाम करके कहेंगे—'बाबा! ब्राह्मणको कथा सुनाते इधर कुछ दिन हो गये। अब घरमें कुछ भोजन नहीं रहा।'

पण्डितजी इतनी प्रार्थना करके निश्चिन्त हो जाते हैं सदा। उन्होंने घर आकर पत्नीसे कभी नहीं पूछा कि सायं-कालकी क्या व्यवस्था है अथवा कलका प्रबन्ध कैसे होगा? ब्राह्मणी कैसे घरकी व्यवस्था करती है, क्या पदार्थ कहाँसे आता है, इसका उन्हें कुछ पता नहीं। इन बातोंको जानने-की इच्छा उन्हें कभी नहीं हुई और उनकी साध्वी स्त्रीने पतिको यह सब सुनाकर प्रपञ्चमें ले आना कभी उचित भी नहीं माना।

पण्डितजी अपने त्याग एवं भजन-निष्ठाके कारण पूरी बस्ती ही नहीं, दूर-दूर तकके लोगोंके श्रद्धाभाजन थे। अत-एव लोग उनके यहाँ अपने उपहार पहुँचाते ही रहते थे। लोग समझते थे कि पण्डितजीके सामने कुछ ले जानेपर सम्भव है, वे स्वीकार न करें, अतः उनकी अनुपस्थितिमें उनकी पत्नीको ही वे अपनी भेंटें चुपचाप दे जाया करते थे।

घरका काम इस प्रकार चल रहा था। एक दिन ब्राह्मणीने रात्रिको पण्डितजीसे नवीन ही प्रार्थना की—'कन्या बड़ी हो रही है! उसके विवाहकी चिन्ता तो आप-को ही करनी पड़ेगी। कहीं लड़का देख आइये और विवाहमें व्यय भी तो होगा!'

'कल बाबासे कहूँगा।' पण्डितजीने अपना निश्चित उत्तर दिया। ऐसे एक नहीं, अनेक श्रद्धालु थे जो पण्डितजी-की कन्याका विवाह अपने व्ययसे करा देनेमें अपना सौभाग्य मानते; किंतु पण्डितजी जब यह होने दें। यह दान तो ऐसा नहीं था कि उनकी ब्राह्मणीके चुपचाप ले लेनेसे काम चल जाय।

'बाबा! कन्या बड़ी हो रही है। उसका विवाह करना है। मैं वर ढूँढ़ूँ या कथा सुनाऊँ?' दूसरे दिन पण्डितजीने अपने उस औढरदानी यजमानके सामने प्रार्थना की।

'पण्डितजी! मैं आपसे याचना करने आया हूँ।' मध्याह्न-में पण्डितजी घर लौटे तो उनके यहाँ एक सम्मानित वृद्ध ब्राह्मण अतिथिके रूपमें मिले। वे आस-पासमें सबसे सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित ब्राह्मण कह रहे थे—'यह मेरा पुत्र है। इसे साथ लाया हूँ। आप यदि इसमें कोई दोष न देखते हों तो मुझे आपकी पुत्री चाहिये पुत्र-वधू बनानेके लिये।'

विवाह हुआ और खूब धूम-धामसे हुआ। नगरके लोगों-ने तनसे सेवा की और धनसे सेवा करनेमें भी कोई कृपणता नहीं की; किंतु किसीकी समझमें नहीं आया कि वह व्यय कैसे पूरा होता गया जो स्वयं पण्डित रामप्रकाशजी करते गये। वे तो इस प्रकार लुटा रहे थे जैसे कुबेरका कोष उनकी झोंपड़ीमें ही रहता हो।

भक्तिका वरदान

प्रभु, दो भक्तिका वरदान।
करूँ मैं हर क्षण तुम्हारे भक्तिरसका पान॥
भक्तजनके संगमें रह करूँ तव गुणगान।
हृदय-मन्दिरमें तुम्हारा रहे मंजुल ध्यान॥
जपूँ निशि-दिन नाम तव, मैं भजूँ आठों याम।
करूँ तुमको ही समर्पित बन पड़े जो काम॥
करूँ तुमसे प्रार्थना यह, कामना हो एक।
हो अहेतुक भक्ति अविचल, यही रक्खो टेक॥
रूप, धन, जय, यश नहीं दो, मिलो मत भगवान्।
सदय माधवपर रहो, दो भक्तिका वरदान॥

—मधुसूदन वाजपेयी
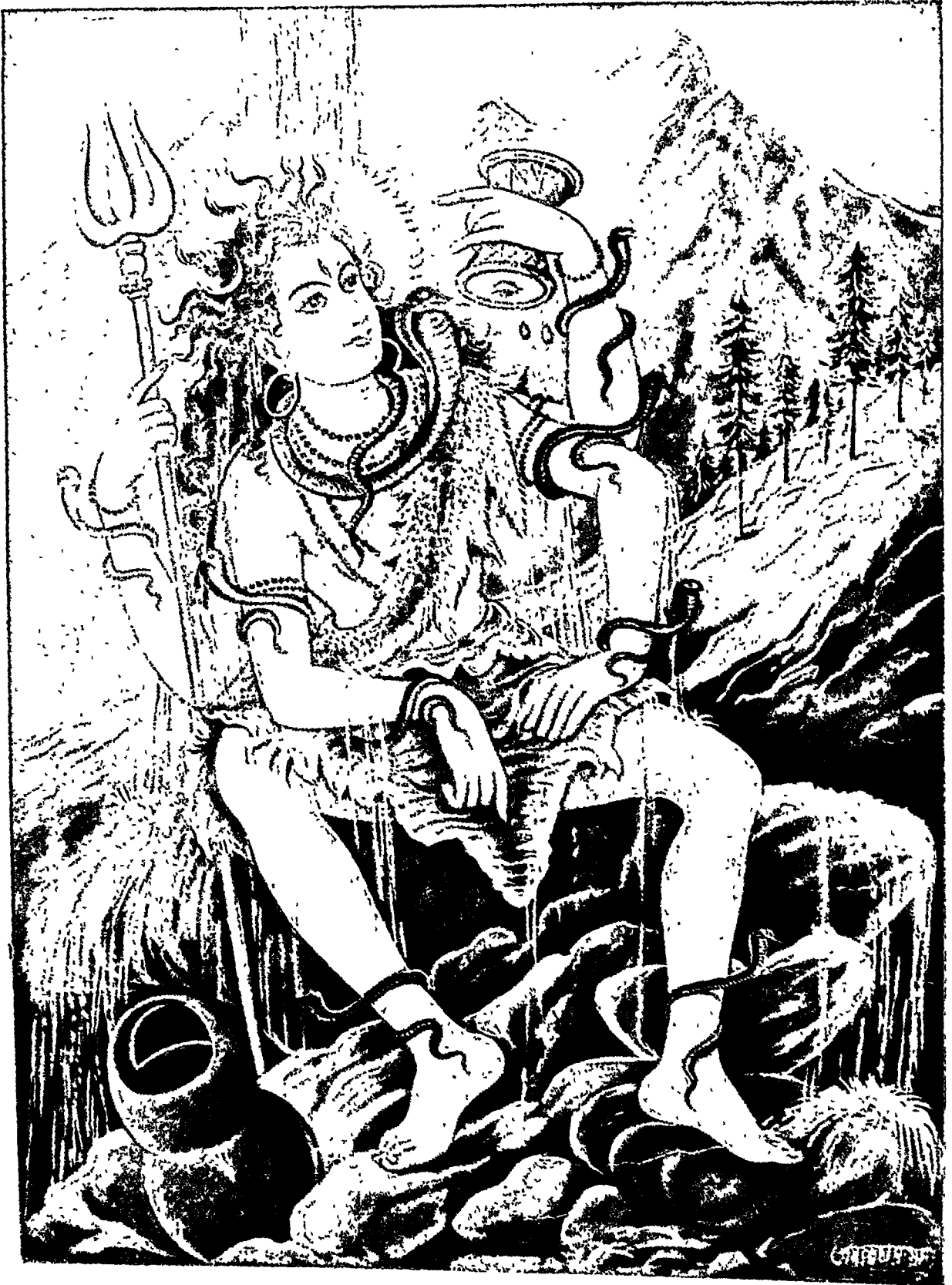
भगवान् शिव

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम् ।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर चैत्र २०१५, मार्च १९५९ { संख्या ३ पूर्ण संख्या ३८८

जय महेश

संख-गौर पट रीछ-छाल, संकर सुखकारी ।
तीन नयन, भुज चार, सूल डमरू वर धारी ॥
पिंगल जटा पवित्र सुर-धुनी धारा राजत ।
अर्धचंद्र सुचि स्रवन सुमन धतूर बिराजत ॥
जय त्रिपुंड्रधर भय-हरन जय भुजंग-भूषन परम ।
जय महेस जय भूतपति आसुतोस मंगल-मरम ॥

याद रक्खो—संसारके प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति—सभी अनित्य, अपूर्ण, अतएव दुःखरूप हैं। उनमें सुखकी कल्पना तथा इच्छा भ्रममात्र है और इसीलिये उनसे सदा-सर्वदा निराशा ही मिलती है।

याद रक्खो—पहले तो मनके अनुकूल प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति मिलेंगे नहीं, प्रारब्धानुसार ही उनका संयोग मिलेगा। मिलेंगे तो सदा ठहरेंगे नहीं, उनका वियोग या विनाश निश्चित है। जो मिलेंगे, वे भी अपूर्ण मिलेंगे। इस अवस्थामें उनमें सदा-सर्वदा अभावका अनुभव, प्रतिकूलताकी आशङ्का और विनाशका भय लगा ही रहेगा। तुमको उनसे सदा दुःख ही मिलेगा।

याद रक्खो—ये प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति तुम्हें जीवन-यापनके लिये कर्मवश प्राप्त हुए हैं; न तो तुम्हारे यथार्थ जीवनसे इनका सम्बन्ध है, न तुम्हारे जीवनके ये साध्य हैं और न तुम्हें यथार्थमें इनकी आवश्यकता ही है। इनमें मोह-ममता न रखकर जितना, जब जो काम लेना हो, सो ले लो। इनमें न तो मनको फँसाओ, न इन्हें अपना मानो एवं न इनसे सुखकी ही आशा-अभिलाषा रक्खो।

याद रक्खो— तुम्हारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य भगवान्‌की या भगवत्प्रेमकी प्राप्ति है। उसीके लिये तुम्हें यह मानव-जन्म मिला है और इस मानव-शरीर एवं मानव-जीवनकी समस्त सामग्री तथा साधनोंका इसीके लिये उपयोग करना है। यही इनका सदुपयोग है तथा इसीमें इनकी सार्थकता है।

याद रक्खो—तुम यदि अपने जीवनके इस एकमात्र उद्देश्यको भूलकर प्राणी, पदार्थ, परिस्थितिको जीवनका साध्य बना लोगे तो तुम्हारा जीवन केवल व्यर्थ ही नहीं जायगा, जीवनभर दुःख भोगने पड़ेंगे तथा भविष्य जीवनोंकी दुर्दशाके लिये पापोंका प्रचुर संग्रह हो जायगा।

याद रक्खो—यह भी तुम्हारा एक बड़ा भ्रम ही होगा, यदि तुम ऐसा मानोगे कि ऐसे प्राणी (घर-परिवारके लोग), ऐसे पदार्थ (भोग-सुखकी या सुखपूर्वक जीवन-निर्वाहकी सामग्री—धन, मकान, जमीन, विद्या, आजीविका, स्वास्थ्य आदि) और ऐसी परिस्थिति (सुविधापूर्ण अनुकूल अवस्था) प्राप्त होनेपर हम स्वच्छन्दताके साथ भगवान्‌की या उनके प्रेमकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करेंगे। कौन जानता है कि वैसे मनःकल्पित प्राणी, पदार्थ या परिस्थितिकी प्राप्ति होनेसे पहले ही तुम मर नहीं जाओगे। या वैसी प्राप्ति हो जानेपर भी उससे आगे, उससे और भी अधिक मनमाने रूपमें प्राप्त करनेकी इच्छा न जाग उठेगी।

याद रक्खो—तुम्हें जो प्राणी, जो पदार्थ, जैसी परिस्थिति प्राप्त है, उनकी प्रगति या उनके परिवर्तनकी इच्छा न करके उन्हींमेंसे होकर भगवान्‌के भजन या परमार्थ-साधनमें लगकर मानव-जन्मकी सफलताके कार्यमें संलग्न हो जाओ। जो मनुष्य अपनी वर्तमान अवस्थामें ही भगवान्‌में सावधानी तथा प्रीतिसे लग जाता है, वह मानव-जीवनको सफल प्राप्त कर धन्य हो जाता है; परंतु जो भविष्यकी अनुकूलताकी प्रतीक्षा करता है, वह तो मानव-जन्मको व्यर्थ खो देता है और इसीलिये उसके भाग्यमें आगे चलकर रोने तथा पश्चात्ताप करनेके सिवा कुछ भी नहीं रह जाता।

याद रक्खो—ऐसा ही पुरुष दुर्लभ मानव-जीवनको खोनेवाला 'आरूढ़-पतित' अत्यन्त ऊँची (मानव-योनिकी) स्थितिपर चढ़कर गहरे गड़हेमें गिरा हुआ समझा जाता है।

'शिव'

अन्तकालमें जैसी मति, वैसी गति

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा ।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ॥

मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ या मैं आत्मा हूँ । अतः देहमें होते हुए भी विदेह हूँ । इस प्रकारके अनुभवपूर्वक ज्ञानके सिवा मुक्तिका कोई दूसरा स्वरूप नहीं है । (दृष्टान्त देकर विशेष-रूपसे समझाते हुए कहते हैं) जिस प्रकार निद्रासे जागनेके सिवा स्वप्ननाशका दूसरा कोई उपाय या दूसरा कोई स्वरूप नहीं होता ।

मुक्तिका स्वरूप क्या है ?—यह समझे बिना ही मनुष्य मुक्तिकी साधनाके लिये दौड़धूप करने लगता है, परंतु उसके स्वरूपको समझनेके लिये प्रयास नहीं करता । उसको समझनेके लिये साधकको साधन-सम्पन्न होनेकी आवश्यकता है; क्योंकि इसके बिना मुक्तिका रहस्य कदाचित् बुद्धिमें तो आ भी जाय; परंतु जबतक हृदय विशुद्ध नहीं होता, तबतक वह ज्ञान उसमें स्थिर हो ही नहीं सकता । अतः मुक्तिकी प्राप्तिके लिये यह परम आवश्यक है कि विवेकद्वारा परम वैराग्यका अभ्यास करे । इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं है ।

'मरणे या मतिः सा गतिः'—यानी मृत्युके समय चित्तमें जैसा संकल्प होता है, उसीके अनुसार मरनेवालोंकी ऊँची-नीची गति होती है । यह सिद्धान्त हमारी आर्य-संस्कृतिमें प्राचीनकालसे चला आता है और जिस मनुष्यमें तनिक भी धर्म-भावना होती है, उसकी इस सिद्धान्तके ऊपर आस्था होती ही है । वह जानता है कि यदि अधोगतिसे बचना है तो स्वधर्मका आचरण करना आवश्यक है और इसी कारण वह यथाशक्ति धर्मपालन भी करता है ।

इसलिये आज हम इस सिद्धान्तके विषयमें चर्चा करेंगे, इसके रहस्यको समझनेका प्रयत्न करेंगे और यह भी देखेंगे कि इसके साधक कितनी कोटिके होते हैं । क्योंकि भक्ति या ज्ञानकी साधना करनेवालोंको यह सिद्धान्त बहुत ही भ्रममें डालता है और उन्हें यह भय लगा ही रहता दीखता है कि ''हाय ! मृत्युके समय क्या होगा ? मृत्युके समय कैसी स्थिति होगी ? तथा उस समय चित्तमें कैसी वृत्ति उठेगी, यह कैसे कहा जाय ?' ऐसी भीति सभीमें रहती है और सच्ची समझ न होनेके कारण विह्वलता पैदा करती है, जिससे मनुष्य कोई निश्चय नहीं कर पाता । भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(८ । ६-७)

तात्पर्य यह कि जैसी-जैसी भावना करता हुआ, अर्थात् जिस-जिसका स्मरण करता हुआ मनुष्य शरीर छोड़ता है—मृत्युको प्राप्त होता है, उसी-उसी योनिविशेषको प्राप्त होता है अर्थात् तदनुरूप शरीर धारण करता है । अब मृत्युकालमें साधारणतया कैसी भावना रहती है, यह समझाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि जिस भावनाका जीवनकालमें अधिक अनुशीलन होता है, वही भावना मृत्युकालमें स्फुरित होती है । अर्थात् जीवनभर मनुष्य जैसा काम करता रहता है, वैसे ही कामका स्मरण मृत्युकालमें होता है । यदि भजन किया हुआ होता है तो भगवत्स्मरण और यदि विषय-सेवन किया हुआ होता है तो विषय याद आते हैं । 'सदा तद्भाव-भावितः' का यही भाव है । इसीलिये भगवान् मनुष्यको चेताते हुए कहते हैं कि जब वस्तुस्थिति ऐसी है, तब जीवनके सारे समयमें मेरा स्मरण करते हुए, हे अर्जुन ! तुम अपने सारे व्यवहार करो । यों करनेसे तुम्हारे मन और बुद्धि मुझमें ही लगे रहेंगे, और इससे मृत्युकालमें मेरा ही स्मरण होगा; और वैसी दशामें तुम निस्संदेह मुझको ही प्राप्त करोगे । यह बात हुई भक्ति और ज्ञानमार्गका अनुसरण करनेवाले साधककी । योगीके लिये श्रीभगवान् कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

(गीता ८ । १३)

योगी तो जब मृत्युकाल समीप आता है, तब प्रणवका उच्चारण और मेरा स्मरण करते हुए शरीर-त्याग करता है, इसलिये वह परम गतिको प्राप्त होता है । योगी योगबलसे ऐसा कर सकता है, क्योंकि वह समाधिमें अभ्यस्त होता है ।

बल्कि प्रारब्धकी अपेक्षा योगके अधिक बलवान् होनेके कारण योगी अपनी इच्छाके अनुसार शरीर-त्याग कर सकता है। प्रारब्धके क्षयकी राह उसे नहीं ताकनी पड़ती। परंतु भक्त या ज्ञानीको यह सुविधा नहीं होती, उनको प्रारब्ध-क्षय-पर्यन्त शरीर-धारण करना ही पड़ता है।*

अब यह देखना है कि 'अन्तकालमें जैसी मति वैसी गति'—यह सिद्धान्त ज्ञान या भक्तिकी किस कक्षातक लागू होता है। विचार करनेपर यह ज्ञात होता है कि जिस साधकका जबतक देहाध्यास दूर नहीं हुआ, यानी जबतक देहमेंसे अहं-बुद्धि निर्मूल नहीं हुई है, तबतक ही उस साधकपर यह सिद्धान्त लागू होता है। इस विषयको अष्टावक्रजी इस प्रकार समझाते हैं—

यदि देहं पृथक् कृत्वा चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि॥

अष्टावक्रजी राजा जनकसे कहते हैं—"हे राजन्! यदि तुम यह निश्चय करो कि 'तीनों देहोंसे मैं भिन्न हूँ, इसलिये इन देहोंके धर्म मुझे स्पर्श नहीं कर सकते तथा मैं चेतन-स्वरूप आत्मा हूँ और इस प्रकार तीनों देहोंका द्रष्टा हूँ।'—यदि इस प्रकारके भावोंकी प्राप्ति हो जाय तो उसी क्षण तुम जन्म-मरणके बन्धनसे सदाके लिये मुक्त होकर सुखी और शान्त हो जाओगे।" तात्पर्य यह कि जबतक देहाध्यास है, तबतक ही जन्म-मरणका बन्धन है और देहाध्यास छूटते ही साधक उस बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार जो साधक ज्ञान या भक्तिके द्वारा अपने आत्मस्वरूपको सिद्ध कर चुका है, और इस कारण अपने तीनों देहोंसे मुक्त हो गया है, उसके ऊपर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता; क्योंकि इस प्रकारके साधक तो जीवनकालमें ही यह निश्चय कर लेते हैं कि स्थूलदेह ही जन्म लेता है और स्थूलदेह ही मरता है। सूक्ष्मशरीर जब स्थूलशरीर धारण करके माताके पेटसे बाहर निकलता है, तब कहते हैं कि उसका जन्म हो गया और वही सूक्ष्मशरीर जब स्थूल-देहको छोड़कर अन्यत्र जाता है, तब कहा जाता है कि मृत्यु हो गयी। एक शरीरको छोड़कर सूक्ष्मशरीर दूसरा शरीर धारण करता है तथा आत्मा कहीं आता-जाता नहीं—यह बात ज्ञानीको प्रत्यक्ष होती है अतएव वह यह नहीं मानता कि उसकी कभी मृत्यु होगी। परंतु अज्ञानी, जिसको देहाध्यास है ऐसा मनुष्य, स्थूलदेहकी मृत्यु होनेपर अपनी मृत्यु मान बैठता है, और इसके परिणामस्वरूप सूक्ष्मशरीर-के अनेक छोटी-बड़ी योनियोंमें होनेवाले आवागमनको अपना ही आवागमन मान लेता है; इसके विपरीत ज्ञानी अपनेको आत्मा माननेके कारण उसका यह अटल निश्चय होता है कि किसी भी कालमें उसकी मृत्यु नहीं होती; क्योंकि आत्मा स्वरूपसे ही अजर, अमर और अविनाशी है। इस प्रकार ज्ञानीके लिये जब मृत्यु है ही नहीं, तब उसके लिये मृत्युकाल कहाँसे आयेगा और वह स्मरण ही किसका करेगा तथा किसकी वह चिन्ता करेगा?

फिर ज्ञानी जानता है कि प्राणी या पदार्थका स्मरण करनेवाला तो मन ही है, अतः शरीरकी मृत्युके समय मन विषयोंका स्मरण करे, या मन भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करे—मनके इन दोनों व्यवहारोंको साक्षीरूपसे देखनेवाले आत्माके लिये एक ही समान है। मनके अच्छे-बुरे चिन्तनसे मनकी सद्गति-दुर्गति होती हो तो भले ही हो, पर मनके इस तमाशेको देखनेवाले आत्माको इससे क्या हानि-लाभ होता है? कुछ भी नहीं। मृत्युको प्राप्त होनेवाला शरीर है, प्राणी-पदार्थका स्मरण करनेवाला मन है, और आत्मा इन दोनोंको देखनेवाला केवल साक्षी पुरुष है। इसलिये शरीरकी मृत्यु या मनका स्मरण आत्माको क्या हानि-लाभ पहुँचा सकते हैं!

इस प्रसङ्गको अवधूत श्रीदत्तात्रयने इस प्रकार समझाया है—

तीर्थे चान्त्यजगेहे वा नष्टस्मृतिस्तनुं त्यजन्।
ज्ञानकाले हि निर्मुक्तः कैवल्यं याति निःस्पृहः॥

तात्पर्य यह कि ज्ञानी पुरुष, अर्थात् जिसको अपरोक्ष ज्ञान हो गया है ऐसा पुरुष, जब अनुभव करता है कि 'मैं तो आत्मा हूँ और इस कारण देहके जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि आदि धर्मोंसे परे हूँ; तथा अन्तःकरणके राग-द्वेष, संकल्प-विकल्प, शुभाशुभ स्मरण-चिन्तन तथा सदसद्-अहंकारसे मैं असङ्ग हूँ'—तभी और उसी क्षण वह पुरुष मुक्त हो जाता है।

* 'जीवन्मुक्तिविवेक'में उसके 'जीवन्मुक्तिप्रमाण' प्रकरणमें लिखा है कि प्रारब्ध कर्म जैसे तत्त्वज्ञानसे प्रबल हैं, वैसे ही योगाभ्यास प्रारब्ध कर्मसे भी अधिक बलवान् है। उद्दालक, वीतहव्य आदि योगियोंने प्रारब्धक्षय होनेके पूर्व ही स्वेच्छासे देह-त्याग किया था, इससे इस बातका समर्थन हो जाता है। द्वापरके अन्तमें भीष्मपितामह योगबलसे उत्तरायण होनेतक अपने शरीरको थामे रखते हैं, यह बात अति प्रसिद्ध है।

मुक्ति ज्ञानके समकालीन ही होती है, अर्थात् जिस क्षण पुरुष अपने स्वरूपका निश्चय कर लेता है, उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है। ज्ञान होनेके पश्चात् मुक्तिके लिये किसी दूसरे प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं रहती। सारांश यह कि ज्ञान और मुक्ति दो शब्द हैं, पर दोनों एक ही स्थितिके वाचक हैं। इस प्रकारके ज्ञानी पुरुष (शरीर) की मृत्युके समय कदाचित् स्मृतिका लोप हो जाय, अर्थात् वह अपने स्वरूपका चिन्तन न कर सकता हो, फिर भी उसका शरीर तीर्थमें पड़े या चाण्डालके घरमें पड़े—इससे उसकी कुछ भी हानि नहीं होती; क्योंकि ऐसा पुरुष ज्ञान होनेके समय ही शोक-मोहके कारणोंको जीत लेता है। इसलिये ज्ञानी पुरुष शरीरपात होनेपर कैवल्यको ही प्राप्त करता है।

इसी प्रसङ्गमें श्रीयोगवासिष्ठमें ऐसा कहा गया है—

तनुं त्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथवा।
ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः॥

'ज्ञानी अपना शरीर काशीमें छोड़े या चाण्डालके घर ये दोनों ही समान हैं; क्योंकि मुक्ति ज्ञानके समकालीन होती है, अतः वह ज्ञानोदयके समय ही मुक्त हो जाता है और उस ज्ञानीको यह चिन्ता नहीं रहती कि शरीर-पात कब और कैसे होगा।'

'मैं आत्मा हूँ और इस कारण निर्विकल्प, निर्विकार और असङ्ग हूँ'—इस प्रकारका यथार्थ ज्ञान जब प्रकट हो जाता है, तब इस सम्बन्धका चिन्तन शरीरान्त होनेतक करना ही चाहिये—ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि करे भी तो उसको एक विनोद समझकर ही करे; और न करे तब भी उससे उसको कोई हानि नहीं होती। इस विषयको समझानेवाला अष्टावक्र मुनिका यह एक श्लोक है—

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ।
निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम्॥

'मैं आत्मा हूँ, अतएव ब्रह्मस्वरूप ही हूँ, यह जिस ज्ञानीको अपरोक्ष अनुभव हो गया है, वह देहके जन्म-मरणको कल्पनामात्र मानता है। जल-तरङ्गके समान शरीर तो स्वभावतः ही उत्पन्न और नष्ट हुआ करता है, यह उसका पक्का निश्चय होता है। इस प्रकार मुक्तिकी भी जिसको कामना नहीं होती, ऐसे ज्ञानीको फिर जाननेके लिये क्या शेष रह जायगा? तथा फिर वह क्या बोलेगा? और उसको करनेके लिये क्या कर्तव्य रहेगा? उसका तो कोई प्रयोजन ही नहीं रहा, इसलिये कोई कर्तव्य भी नहीं रहा।

शास्त्रमें अन्यत्र भी कहा गया है—

स्वस्मिन् सम्यक् परिज्ञाते किं ज्ञेयमवशिष्यते।
किं हेयं किमुपादेयं किं कार्यं चात्मदर्शिनः॥

'अपने स्वरूपका सम्यक् ज्ञान होनेके बाद ज्ञानीको जाननेके लिये क्या बाकी रहेगा? ऐसे ज्ञानीमें हेय या उपादेय बुद्धि कहाँसे होगी? तथा आत्मज्ञानीके लिये कर्तव्य भी क्या शेष रहेगा? तात्पर्य यह कि आत्मज्ञान होनेके बाद कोई कर्तव्य रहता ही नहीं।'*

* यह पूर्णतः सत्य है कि 'आत्मज्ञान होनेके बाद ज्ञानीको कोई कर्तव्य नहीं रह जाता; क्योंकि इस लेखमें लिखे अनुसार कर्तव्य-बुद्धिका त्याग किये बिना मुक्ति होती ही नहीं; क्योंकि जीवनके अन्तिम क्षणतक कर्तव्य पालन हो नहीं सकता।

फिर भी इसका यह अर्थ कभी नहीं लगाना चाहिये कि ज्ञान-निश्चय होनेके बाद ज्ञानी मनमाना आचरण करे, जो मनमें आये सो खाय और किसी प्रकारका भी सङ्ग करे। यों करनेपर तो 'आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः'—योगारूढ़ होकर भी नीचे गिरना पड़ता है। इसी कारण कहा है—'निस्सङ्गता मुक्तिपदं यतीनाम्।'

ज्ञानीका जीवन स्वभावतः ही त्यागप्रधान होता है; क्योंकि उसको भोगके प्रति सहज ही अरुचि होती है। ऐसा हुए बिना ज्ञानका उदय ही नहीं होता। श्रीअष्टावक्रजी कहते हैं—'न जातु विषयाः केचित् स्वारामं हर्षयन्त्यमी।' एक संतने भी कहा है—

तिन खान-पान नहिं भावे है। नहिं कोमल वसन सुहावे है॥
तिन विषय भोग सब खारा है। हरि-आशिकका मग न्यारा है॥

इसलिये ज्ञानीको ऐसी सुन्दर दिनचर्या बनानी चाहिये कि जिससे अन्तःकरणमें सत्त्वगुणकी सुरक्षा होती रहे और ज्ञाननिष्ठा भी शिथिल न हो। उसमें गीता (अ० १७। १४–१५) के अनुसार कायिक, वाचिक तथा मानसिक तप सहज ही हुआ करे और अ० १८। २३ तथा ४२ के अनुसार ऐसा कर्म भी होता रहे, जिससे सत्त्वगुणकी रक्षा हो।

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'—इसके लिये गीता अ० १७। ८ के अनुसार सात्त्विक आहारकी व्यवस्था रखनी चाहिये तथा अ० १७। ९, १० के अनुसार राजसिक और तामसिक आहारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

उत्तरगीतामें भी कहा है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
न चास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥

भाव यह कि जो मुमुक्षु ज्ञानामृतसे तृप्त हो गया है और सारे कर्तव्योंको सिद्ध कर चुका है, वह यदि यह माने कि अब भी कुछ करनेके लिये बाकी है तो जानना चाहिये कि उसको ज्ञानका साक्षात्कार हुआ ही नहीं ।

पुनः, श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें ज्ञानकाण्डका उपसंहार करते हुए २९ वें अध्यायके अन्तमें भगवान् उद्धवजीसे कहते हैं—

नैतद् विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।
पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते ॥

'हे उद्धव ! जैसे अमृतका पान करनेके बाद दूसरा कुछ पीनेके लिये अवशिष्ट नहीं रह जाता, उसी प्रकार मुमुक्षुको इतना ज्ञान होनेके बाद कुछ जानना बाकी नहीं रहता, अर्थात् उसका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता।'

शरीरकी रचना ही ऐसी है कि मृत्युकालमें मनुष्य कुछ भी चिन्तन करनेमें समर्थ नहीं होता । मृत्युका इतना भारी धक्का लगता है और व्यथा भी इतनी असह्य होती है कि उस समय प्राण व्याकुल हो जाते हैं । प्राणोंके व्याकुल होनेपर मन-बुद्धि स्थिर नहीं रह सकते, अतएव चिन्तन करनेकी सामर्थ्य नहीं रहती । ऐसी स्थिति लगभग सभी मनुष्योंकी होती है । उसमें ज्ञानी-अज्ञानीका भेद नहीं होता; क्योंकि यह तो देहका धर्म है ।

यहाँ यदि मृत्युकी अन्तिम घड़ीतक चिन्तन आवश्यक मानें तो किसीकी भी मुक्ति न हो । इसलिये आवश्यक है कि मनुष्य जीते-जी मुक्त हो जाय; क्योंकि मृत्युकालमें कुछ भी बन नहीं सकता । एक संतने तो जीवन्मुक्तकी व्याख्या ही यह की है कि जो जीते-जी ही मर जाता है, वह जीवन्मुक्त है । अर्थात् जबतक शरीर जीवित है और कार्य करनेकी सामर्थ्य है, तभीतक शरीरसे मुक्त होकर अपने स्वरूपका निश्चय कर लेना चाहिये । शरीरको छोड़ना मनुष्यके हाथमें नहीं है; क्योंकि यह वस्तु प्रारब्धके अधीन है । चक्केके ऊपरसे उसको घुमानेवाली लकड़ी उठा लेनेके बाद भी जैसे पूर्वके वेगको लेकर चक्का घूमता रहता है, उसी प्रकार ज्ञानीके शरीरसे अहंकार निकल जानेके बाद भी प्रारब्ध-भोगके वेगको लेकर उसका शरीर जीवित रहता है; परंतु इससे ज्ञानीको कोई अड़चन नहीं आती ।

जिस ज्ञानीका देहाभिमान गल गया है, अर्थात् जिस ज्ञानीका देहाध्यास निवृत्त हो गया है और इस कारण वह अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर हो गया है, उसकी दृष्टिमें दृश्य-प्रपञ्चकी कोई सत्ता नहीं रहती, और इस कारण वह जगत्‌को ब्रह्मरूप या आत्मरूप ही देखता है । अब ऐसे ज्ञानीको शरीरके उत्पत्ति-विनाशसे या मन-बुद्धिके चिन्तन और निश्चयसे क्या लाभ-हानि हो सकती है ? कुछ भी नहीं ।

इस समस्त निबन्धका सार अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी एक ही श्लोकमें इस प्रकार देते हैं—

उक्तेयं कर्मयुक्तानां मतिर्यान्तेऽपि सा गतिः ।
न चोक्ता योगयुक्तानां मतिर्यान्तेऽपि सा गतिः ॥

भाव यह कि 'मरणे या मतिः सा गतिः'—यह जो कहावत चली आ रही है, वह केवल सकाम-कर्मपरायण मनुष्योंके ऊपर ही लागू होती है; परंतु जिन्होंने भक्तियोग या ज्ञानयोगके द्वारा अपने स्वरूपका निश्चय कर लिया है, उनके ऊपर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता ।

इससे यह सिद्ध होता है कि जहाँतक देहाध्यास है, अर्थात् आत्मामें जीवभाव है, वहाँतक जीव अपनेको जन्मता और मरता मानता है । इससे मृत्युके समय जिस भावका उसको स्मरण होता है, उसीके अनुसार उसकी ऊँची-नीची गति अवश्य होती है । अतएव अधःपतनसे बचना हो तो जीवनमें भगवद्भजन करते रहना चाहिये ।

'मामनुस्मर युध्य च'—इसका यही भाव है कि यदि जीवन विषय-भोगमें ही समाप्त होता है तो मरनेके समय विषयोंका ही चिन्तन होगा और उससे जीवकी अधोगति हुए बिना न रहेगी ।

फिर हमने यह भी देख लिया कि ज्ञानी पुरुषकी तो मृत्यु ही नहीं होती, अतएव उसका मृत्युकाल भी नहीं आता और इसलिये उसके स्मरण-चिन्तन करनेके लिये भी कुछ नहीं रहता ।

मनुष्यको अपनी-अपनी स्थितिके अनुकूल जीवन-व्यवहार निश्चित करना चाहिये । और 'येनेष्टं तेन गम्यताम्'—जो इष्ट हो उस मार्गसे गमन करे ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

श्रीमद्भगवद्गीताके एक श्लोकका भाव

(लेखक—महामहोपाध्याय श्रद्धेय पण्डितप्रवर श्रीगिरधरजी शर्मा चतुर्वेदी)

[गताङ्कसे आगे]

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार उक्त पद्यके आशयका वर्णन गत वार हो चुका । वेदान्त-दर्शनके आचार्य इतनेपर भी संतुष्ट नहीं होते । वे आगे विचार करते हैं कि उक्त सिद्धान्तमें अवस्थाओंका परिवर्तन माना गया । तब यह विचार भी उपस्थित होगा कि वे अवस्थावान् द्रव्यसे पृथक् हैं या तद्रूप । यदि पृथक् हैं तो नयी-नयी अवस्थाओंकी उत्पत्ति माननेसे असत्का प्रादुर्भाव और पूर्वावस्थाकी निवृत्ति माननेसे सत्का विनाश सिद्ध हो गया । ऐसी स्थितिमें उक्त सिद्धान्तकी दृढ़ता कहाँ रही । और अवस्थावान् द्रव्यके साथ उनकी एकता मान ली जाय, तब फिर नये-नये घट-पटादि द्रव्योंकी उत्पादनाके लिये कारण-व्यापार व्यर्थ हो जाता है । तैलावस्था भी यदि तिलसे अभिन्न है तो तिलोंके निपीडनका प्रयोजन क्या ? सांख्यवाले इसका समाधान भेदाभेद मानकर करते हैं कि अवस्थाएँ भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। किंतु वेदान्त-सिद्धान्त यही कहता है कि भेद और अभेद एक साथ रह नहीं सकते; इसलिये वे मानते हैं कि अवस्थाओंको अनिर्वचनीय कहना चाहिये । भेद या अभेद निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता । जैसे भिन्न या अभिन्न रूपसे वे अनिर्वचनीय हैं, उसी तरह सत् या असत् रूपसे भी अनिर्वचनीय ही हैं। अवस्थाओंको न सत् ही कहा जा सकता है न सर्वथा असत् ही । सत् इसलिये नहीं कहा जा सकता कि अवस्थावान् द्रव्यको छोड़कर स्वतन्त्र उपलब्धि उनकी कभी होती नहीं । और द्रव्यके एक होनेपर भी अवस्थाओंके द्वारा भेदावभास होता है, इसलिये असत् भी नहीं कहा जा सकता । ऐसी परतन्त्र अनिर्वचनीय वस्तुकी वास्तविक सत्ता नहीं मानी जा सकती । इसलिये वास्तविक सत् तो एक ही मूलतत्त्व है, वह कभी असत् नहीं हो सकता; और अनिर्वचनीयरूप, वास्तविक सत्ता न रखनेवाली अवस्थाएँ जो सत्से पृथक् होनेके कारण असत् ही कही जा सकती हैं, वे वास्तविक सत् नहीं हो सकतीं । यही गीताके उक्त पद्यका मुख्य तात्पर्य है । व्यवहारमें भी अवस्थाओंकी वास्तविक सत्ता नहीं मानी जाती । इसका एक बहुत अच्छा दृष्टान्त लोकमान्य तिलकके गीतारहस्यमें दिया है कि किसी धनिकने स्वर्णका एक बहुत सुन्दर आभूषण बनवाया । सौन्दर्यके लिये उसकी गढ़ाई और जड़ाईमें स्वर्णके मूल्यसे भी अधिक धन लगा दिया । दैवात् वह धनिक निर्धन हुआ और उस आभूषणको विक्रयके लिये सर्राफके पास ले गया । उसे आभूषणका व्यय बताया तो सर्राफने कहा—'महाशय ! गढ़ाई-जड़ाईके व्ययकी बात तो जाने दीजिये, सोनेका असली मूल्य ले लीजिये ।' इससे स्पष्ट होता है कि व्यवहारमें भी असली वस्तु स्वर्ण आदि द्रव्योंको ही माना जाता है । कटक-कुण्डल आदि उसकी बनावटी अवस्थाएँ वास्तविक सत्य नहीं मानी जातीं, वे काल्पनिक मात्र हैं । यहाँ स्वर्णकी वास्तविक सत्ता मानी गयी; किंतु जैसे कटक-कुण्डल आदि स्वर्णकी कल्पनाएँ हैं, वैसे ही स्वर्णपर भी यदि विचार किया जाय तो वह तेज और पृथ्वीके अंशोंसे मिलकर बना है । वह भी वास्तविक नहीं, तेज और पृथ्वीके अंश ही वास्तविक सिद्ध होंगे । इस प्रकार क्रमसे देखते चलिये; जब कार्य अपने कारणसे पृथक् सत्ता नहीं रखता, तब पृथ्वी जलमें, जल तेजमें, तेज वायुमें, और वायु आकाशमें पृथक् सिद्ध न होंगे । मूल-तत्त्वान्वेषणमें आगे बढ़ते-बढ़ते आकाश अहंकार-तत्त्वसे, अहंकार महत्तत्त्वसे, वह प्रकृतिसे और प्रकृति भी अपने मूल तत्त्वसे पृथक् सिद्ध नहीं होगी । अतः अन्तमें एक ही मूल-तत्त्व सत् सिद्ध हो जाता है ।

वर्तमान विज्ञान भी पहले पृथक्त्वकी परीक्षा करता हुआ तत्त्वोंका विस्तार करता गया । भारतीय पञ्चभूतवादको उसने अवास्तविक ठहराया; क्योंकि ये पाँच तत्त्व, जिनमें अग्नि, जल, पृथ्वी आदिकी गणना है, परीक्षण करनेपर मौलिक तत्त्व सिद्ध नहीं होते । जल ऑक्सीजन और हाइड्रोजनके मिश्रणसे बना है। पृथ्वी तो बहुत-से तत्त्वोंके सम्मिश्रणसे बनती है । अग्नि, वायु भी संयोगज हैं; इसलिये उसने मूल तत्त्व ऑक्सीजन-हाइड्रोजन आदिको माना । इनकी संख्या बढ़ती-बढ़ती पचास, नब्बे तथा धीरे-धीरे सौसे भी ऊपर पहुँच गयी । किंतु विचार करते-करते आज सिद्ध हो गया कि ये सब भी मूल तत्त्व नहीं, संयोगज या अवस्था-विशेष ही हैं । इनमें भी परस्पर परिवर्तन होता है । मूल तत्त्व तो केवल दो हैं—इलेक्ट्रॉन और प्रोट्रोन । ये भी दोनों एक ही मूल तत्त्वसे निकले हैं, यह भी अब मान लिया

गया । भारतीय श्रुतिशास्त्र तो 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (प्रपञ्च-विस्तारसे पूर्व एक ही सत् था, जो सजातीय, विजातीय और स्वगत—इन तीनों प्रकारके भेदोंसे रहित था)—ऐसी घोषणा अनादि कालसे कर रहे हैं । आज घूमता-घूमता पाश्चात्त्य विज्ञान भी वहीं पहुँचा—यह भारतीय सिद्धान्तका ही गाम्भीर्य है । किंतु आर्षविज्ञान जिसे एक मूल-तत्त्व कहता है, वह अभी पाश्चात्त्य सायन्सकी दृष्टिसे बहुत दूर है । इलैक्ट्रोन और प्रोट्रोनके जो लक्षण बताये जाते हैं, उनके अनुसार तो ये शतपथ-ब्राह्मणमें कहे हुए 'यत्' और 'जूः' नामक तत्त्व सिद्ध होते हैं—जिन्हें उक्त ब्राह्मण-श्रुतिने यजुः नामका वेद (एक प्रकारका प्राण) बताया है और इन्हें वायु और आकाशकी पूर्वावस्थारूप कहा है । वैदिक विज्ञानमें ये सब क्षर पुरुषके रूप हैं । ये अक्षरसे बनते हैं, अक्षर अव्ययसे बनता है और अव्यय उस एक मूल तत्त्वका मायाविशिष्ट रूप है । इसलिये भारतीय विज्ञानकी बहुत श्रेणियाँ अभी बाकी हैं, जिनका आभास अर्वाचीन आधुनिक विज्ञानको नहीं मिला और आध्यात्मिक तथा आधिदैविक विज्ञानोंको साथ लिये बिना केवल भौतिक विज्ञानसे मिल भी नहीं सकता । अस्तु, प्रकृतमें वक्तव्य यही है कि वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार वही एक मूल तत्त्व, जो वाक् और मनसे परे है, वास्तविक सत्ता रखता है; जगत् या प्रपञ्चकी सत्ता उसीके आधारपर काल्पनिक है । हमारी वाणी उस तत्त्वको नहीं कह सकती और मन भी उसे नहीं पहचान सकता; क्योंकि ये किसी गुण-धर्मवाले पदार्थको ही पहचानते और कहते हैं, उस मूल तत्त्वमें कोई गुण-धर्म नहीं हैं । गुण-धर्म तो सब अवस्था-विशेषरूप हैं, जो आगे पैदा होते हैं । इसमें शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायके आचार्य श्रीवल्लभाचार्यजीने कार्पास-सूत्रका दृष्टान्त दिया है । जैसे कपासमें सूत्र नहीं, किंतु सूत उसीसे निकलते हैं, इसी प्रकार मूल-तत्त्वमें कोई गुण-धर्म नहीं; किंतु वे गुण-धर्म कहीं बाहरसे आते भी नहीं, उसीमेंसे प्रकट होते हैं । इसीलिये उनकी वास्तविक सत्ता नहीं कही जा सकती ।

अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि संसारमें हमें जिन-जिन पदार्थोंकी प्रतीति होती है, उनका तो विनाश होनेपर अभाव भी प्रतीत हो जाता है । इसलिये उक्त न्यायसे उन्हें तो 'असत्' कह दिया जायगा और जो एक मूल-तत्त्व 'सत्' कहकर माना गया, उसकी प्रतीति होती नहीं; तब किसीकी भी सत्ता सिद्ध न होनेसे 'शून्यवाद' का प्रसङ्ग आ जायगा । किंतु सूक्ष्म विचार करनेपर इस प्रश्नका समाधान हो जाता है और शून्यवादका प्रसङ्ग नहीं आता । यद्यपि सत् पदार्थकी प्रतीति हमें पृथक्रूपसे नहीं होती; क्योंकि गुण-धर्म न होनेके कारण इन्द्रिय-मन आदिकी गति वहाँ नहीं है, किंतु जो पदार्थ प्रतीत होते हैं, उन सबमें अनुगत रूपसे सत्की प्रतीति अवश्य हो रही है । 'अस्ति घटः' 'अस्ति पटः' (घटकी सत्ता है, पटकी सत्ता है)—इस प्रकार 'अस्ति' अर्थात् सत्ता सबमें अनुगत प्रतीत होती है । इनमें घट-पट आदि बुद्धियोंका परिवर्तन होता है, किंतु सत्ता-बुद्धिका कभी परिवर्तन नहीं होता । यदि घड़ा फूट गया तो उसके खण्ड-खण्ड हैं, इस प्रकार अस्ति-बुद्धि खण्डोंके साथ लग जाती है । और उन्हें भी चूर-चूर कर दिया जाय तो 'मृत्तिका है'—इस प्रकार मृत्तिकाके साथ अस्तिबुद्धि लग जाती है । मृत्तिकाको भी पानीमें गला दिया जाय तो कीच है, यह अस्ति-बुद्धि कीचके साथ लग जाती है । अन्ततः कुछ भी प्रतीत न हो तो भी 'नहीं है'—यहाँ अभावके साथ भी अस्ति-बुद्धि लग जाती है । इसलिये अस्ति-बुद्धि अर्थात् सत्ताका कभी अभाव नहीं होता और वह सत्ता ज्ञानसे सिद्ध होती है; जब हम जानते हैं, तब 'है' यह कह सकते हैं । इसलिये ज्ञानका भी अभाव सिद्ध नहीं होता एवं सत्ता और ज्ञान दोनों हमें प्रिय हैं; क्योंकि प्रत्येक प्राणी पदार्थोंके संग्रहकी भी सदा इच्छा रखता है और प्रत्येक वस्तुको जाननेकी भी उत्कण्ठा रखता है । इसलिये 'सत्ता,' 'ज्ञान' और 'आनन्द'—ये तीनों मूल-तत्त्व अर्थात् ब्रह्मके रूप सर्वत्र व्याप्त हैं और सदा अपरिवर्तनीय हैं । उन्हें ही 'सत्' कहा जा सकता है । उनके साथ जो घट-पटादिकी दूसरी बुद्धियाँ लगती हैं, वे परिवर्तनशील होनेके कारण मुख्य सत्ता नहीं रखतीं । उनकी सत्ता काल्पनिक है । सर्वाधार सत्पर ही वे सब कल्पित हैं । ये तीनों एकके ही रूप हैं, पृथक्-पृथक् नहीं; क्योंकि इनमें परस्पर भिन्नता प्रतीत नहीं होती । 'जो है, वही जाना जाता है; और जो जाना जाता है, वही 'है' कहलाता है । जो जाना जाता है या है, वही प्रिय भी है, इसलिये तीनोंकी एकता ही सिद्ध होती है । इस प्रकार एक मूल-तत्त्व सिद्ध हो जानेपर शून्यवादका कोई प्रसङ्ग नहीं आता ।

सबका विचार करनेपर तात्पर्य यह निकला कि जो किसी देशमें है, किसीमें नहीं, या किसी कालमें है, किसी कालमें नहीं, उस पदार्थकी मुख्य सत्ता नहीं माननी चाहिये । उसकी मुख्य सत्ता माननेपर सत्का अभाव

मान लेना पड़ेगा और जो किसी कालमें नहीं था, उसकी उत्पत्ति मान लेनेपर असत् भी सत् होता है—ऐसा मानना पड़ेगा । ये दोनों बातें सिद्धान्त-विरुद्ध हैं, इसलिये मुख्य सत्ता उसीकी है, जिसका किसी देश या किसी कालमें अभाव न हो, अर्थात् जो व्यापक और नित्य हो। जो देशकाल-परिच्छेद रखते हैं; अर्थात् कहीं हैं, कहीं नहीं या कभी हैं, कभी नहीं, उनकी काल्पनिक सत्ता है, मुख्य सत्ता नहीं । फिर प्रश्न होगा कि जिसे आप आत्मा, ब्रह्म या सत् कहते हैं, उसकी भी तो सुषुप्ति दशामें प्रतीति नहीं होती । तब त्रिकाल सत्ता तो उसकी भी सिद्ध नहीं हुई और अन्ततः शून्यवाद ही आ गया । इसका उत्तर शास्त्रोंमें दिया जाता है कि सुषुप्ति-कालमें भी प्रतीतिका सर्वथा अभाव नहीं है; क्योंकि जाग जानेपर ऐसा स्मरण होता है कि 'मैं खूब आनन्दसे सोया, उस समय मुझे कुछ भी नहीं प्रतीत हुआ ।' यह आनन्द और अज्ञानका स्मरण है । यदि प्रतीति न होती तो स्मरण कैसे होता । इसलिये यही मानना पड़ेगा कि इन्द्रिय-मन आदिके प्रलीन हो जानेके कारण सुषुप्तिमें वृत्त्यात्मक ज्ञान अर्थात् प्रतिभास नहीं रहता, किंतु आत्मस्वरूप मुख्य ज्ञान तो सदा ही रहता है । इसलिये असत्की उत्पत्ति या सत्का अभाव सिद्ध नहीं होता । इस प्रकार दार्शनिक सिद्धान्तोंमें इस पद्यकी व्याख्या बहुत विस्तृत हो जाती है । किंतु अधिक सूक्ष्म विषय सब पाठकोंको रुचिकर न होगा, इसलिये अधिक विस्तार करनेसे विराम लेते हैं ।

यह तो सिद्ध हो ही गया कि उक्त पद्यसे मुख्यतया अद्वैतवाद ही सिद्ध होता है । अर्थात् एक ही तत्त्व है, सारा जगत् उसीपर कल्पित है । अब जो ऐसा अद्वैत नहीं मानते, वे इस श्लोकमें 'सत्' और 'असत्' शब्दोंका अर्थ केवल नित्य और अनित्य कर देते हैं । अर्थात् जो नित्य है, वह अनित्य नहीं हो सकता; और जो अनित्य है, वह नित्य नहीं हो सकता। किंतु इतने मात्रसे शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदिकी सहिष्णुताका पूरा कारण प्राप्त नहीं होता और आरम्भमें जो अशोच्यता बताकर उसका उपपादन करने लगे थे, वह भी पूरा नहीं उतरता; इसलिये अधिकतर व्याख्यानकारोंकी सम्मतिमें अद्वैतवाद ही इस पद्यका मुख्य प्रतिपाद्य माना जाता है ।

मेरे जीवनके माध्यमसे भगवान् अपनी इच्छा पूर्ण कर रहे हैं

मेरे हृदयके अन्तस्तलमें अन्तर्यामी भगवान्का मङ्गल आसन है । भगवान् वहाँ सदा विराजित रहते हैं । अनन्त ऐश्वर्यवान् भगवान्की अवस्थिति मेरे अंदर साहस, स्वस्थता, शान्ति, प्रकाश, प्राण, तथा शक्तिका संचार करती है । जब मैं सहायता एवं रक्षाके लिये उनकी ओर ताकता हूँ—प्रार्थना करता हूँ, तब उसी क्षण उनसे मुझे विलक्षण सहायता और संरक्षण प्राप्त होता है । भगवान्की सहायताका मङ्गलमय स्रोत अत्यन्त वेगसे तथा सरलतासे मेरी नस-नसमें प्रवाहित हो रहा है और सहज ही मुझे नित्यनयी स्फूर्ति, शक्ति, स्वस्थता और चेतना प्राप्त हो रही है ।

जब मुझे अपने शरीर और मनमें अशान्ति और विकारका अनुभव होता है, अथवा मैं कुछ और शक्तिकी आवश्यकताका अनुभव करता हूँ, तब मैं भयभीत नहीं होता न निराश होता हूँ । प्रत्युत स्थिर चित्तसे परम विश्वासके साथ अपने हृद्देशमें विराजित भगवान्की अमोघ तथा सदा प्रस्तुत शक्तिकी ओर देखता हूँ एवं तुरंत अपनेको नवीन शान्ति, नीरोगता और पूर्णशक्तिसे सम्पन्न पाता हूँ ।

'मेरे जीवनके माध्यमसे मेरे अन्तर्हृदयमें स्थित भगवान् अपनी मङ्गलमयी इच्छा पूर्ण कर रहे हैं ।' इस विश्वासके उदयमात्रसे मेरे सम्पूर्ण अभाव, मेरी सारी दुर्बलताएँ और अपूर्णताएँ सर्वथा विलीन हो गयी हैं और मैं जीवनमें नवीन चेतना एवं प्रकाशका अनुभव करता हूँ ।

मेरे जीवनके माध्यमसे भगवान् अपनी इच्छा पूर्ण कर रहे हैं ।

भगवत्प्रेमकी प्राप्ति और वृद्धिके विविध साधन

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीरामचरितमानसमें बतलाया गया है—

सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा॥
(उत्तर० १२१। ७)

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्॥
(७। ७। ५५)

'इस संसारमें मनुष्यका सबसे बड़ा असली स्वार्थ इतना ही माना गया है कि वह भगवान् गोविन्दमें अनन्य भक्ति अनन्य प्रेम—प्राप्त करे। उस प्रेमका स्वरूप है—सर्वदा सर्वत्र सब वस्तुओंमें भगवान्का दर्शन।'

उस अनन्य विशुद्ध प्रेमकी उत्पत्ति और वृद्धिके अनेक उपाय हैं, उनमेंसे कुछ उपाय यहाँ बतलाये जाते हैं—

१—भगवान्में प्रेम कैसे हो, भगवान्में प्रेम कैसे हो, भगवान्में प्रेम कैसे हो—इस प्रकारकी निरन्तर लगन, उत्कट इच्छाकी जागृति ही भगवान्में प्रेम होनेका मुख्य उपाय है। उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्से मिलनेकी उत्कट इच्छा होनेपर भगवान्में प्रेम बढ़कर अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जाता है, जिससे मनुष्यको भगवान् शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं। भगवान्ने गीतामें कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(४। ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।' तथा—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(गीता ९। २९ का उत्तरार्ध)

'जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।' इतना ही नहीं, अनन्यप्रेमी ज्ञानी निष्काम भक्तको तो भगवान्ने अपना अत्यन्त प्रिय बतलाया है। वे कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(गीता ७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

अतः हमलोगोंको भगवान्का अनन्य प्रेम प्राप्त करनेके लिये भगवान्से मिलनेकी उत्कट इच्छा करनी चाहिये। उत्कट इच्छासे अनन्य विशुद्ध प्रेम हो जाता है, जिससे भगवान् प्रकट हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धके ३२वें अध्यायमें बतलाया गया है कि भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें जब गोपियाँ अत्यन्त आतुर हो गयीं, तब भगवान् वहाँ प्रकट हो गये। श्रीरामचरितमानसमें देखिये—जब भगवान् श्रीरामके दर्शनके बिना भरतजी व्याकुल हो गये, तब भगवान् भी भरतसे मिलनेके लिये आतुर हो गये। भक्त विभीषणने घर चलनेके लिये विनय की, किंतु भगवान् लङ्कामें नहीं गये और अश्रुपूरित नेत्रोंसे युक्त हुए कहने लगे—

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥
बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥
(लङ्का० ११६ क, ग)

तदनन्तर भगवान्ने तुरंत अपने आगमनकी सूचना हनुमान्के द्वारा भरतके पास पहुँचायी। उस समयकी भरतजीकी विरहावस्थाका वर्णन करते हुए श्रीगोस्वामीजीने कहा है—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥
(उत्तर० १ क, ख)

फिर भगवान् श्रीराम स्वयं उनके पास आ गये।

जब मनुष्य भगवान्के विरहमें व्याकुल हो जाता है, भगवान्से मिलनेकी तीव्र उत्कट इच्छा उसके हृदयमें जाग्रत् हो जाती है, तब भगवान् उस भक्तके पास आये बिना नहीं रह सकते। अतः भगवान्के मिलनेमें तीव्र इच्छा ही प्रधान हेतु है। संसारके पदार्थ तो उनके मिलनेकी तीव्र इच्छा होने-

पर भी, यदि प्रारब्ध न हो तो नहीं मिल सकते—जैसे कोई निर्धन है और धनी होनेकी इच्छा करता है तो इच्छा-मात्रसे धनी नहीं बन सकता । कोई रोगी शीघ्र नीरोग होना चाहता है, पर इच्छामात्रसे उसके रोगका नाश नहीं होता । मरणासन्न मनुष्य अधिक कालतक जीना चाहता है, पर वह इच्छामात्रसे जी नहीं सकता । इसी प्रकार मनुष्य संसारके किसी भी पदार्थकी इच्छा करे तो इच्छा करनेमात्र-से वह पदार्थ नहीं मिल सकता; क्योंकि संसारके सभी पदार्थ क्षणभङ्गुर, नाशवान् और जड हैं एवं प्रारब्धके अधीन हैं । इस कारण वे इच्छा करनेमात्रसे नहीं मिल सकते । मनुष्य स्वयं अर्थ और अर्थ-आश्रित जड पदार्थोंको चाहता है, पर पदार्थ जड होनेके कारण मनुष्यको नहीं चाहते ।

जब महाराज युधिष्ठिर पितामह भीष्मके साथ युद्ध करनेकी आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये उनके पास गये, तब भीष्मजीने उनसे यही कहा—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

(महा० भीष्म० ४३ । ४१)

'महाराज युधिष्ठिर ! पुरुष अर्थका दास है, पर अर्थ किसीका दास नहीं; यह सच्ची बात है । मैं कौरवोंके द्वारा अर्थसे बँधा हुआ हूँ ।'

किंतु भगवान् तो चेतन, हेतुरहित दयालु और परम प्रेमी हैं; वे अपने प्रेमीके पुकारनेपर उससे मिले बिना कैसे रह सकते हैं ।

२—दिव्य-गुणसम्पन्न सगुण भगवान्का मनसे आह्वान करके उनके साथ वार्तालाप करने एवं उनके दर्शन, स्पर्श, भाषण, चिन्तन आदिको रसमय, प्रेममय, आनन्दमय समझकर उनमें रमण करनेसे भगवान्में प्रेम हो जाता है । भगवान्का स्पर्श हाथोंके लिये, भगवान्की वाणी कानोंके लिये, उनकी दिव्य गन्ध नासिकाके लिये और उनका दर्शन नेत्रोंके लिये अमृतके समान परम मधुर और आनन्ददायक है—ऐसा समझकर भगवान्के अङ्गोंका अपने हाथोंसे स्पर्श करना हाथोंके द्वारा रमण है, उनकी अमृतमयी वाणी सुन-सुनकर मुग्ध हो जाना कानोंके द्वारा रमण है, उनकी दिव्य गन्धसे तृप्त होना नासिकाके द्वारा रमण है और नेत्रोंसे उनका दर्शन करके रूप-माधुरीका पान करना नेत्रोंके द्वारा रमण है । इसी प्रकार मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्के साथ सम्बन्ध करके तन्मय होनेसे भगवान्में प्रेम बढ़ता है । भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें बतलाया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

(१० । ९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपस-में मेरे तत्त्व, रहस्य और प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं ।'

भक्तिमती गोपियाँ इसी प्रकार भगवान्में ही रमण करती हुई उनके प्रेममें मुग्ध हो जाया करती थीं—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३० । ४४)

गोपियोंका मन श्रीकृष्णमय हो गया था । उनकी वाणीसे श्रीकृष्णचर्चाके अतिरिक्त और कोई बात नहीं निकलती थी । उनके शरीरसे केवल श्रीकृष्णके लिये और केवल श्रीकृष्णविषयक चेष्टाएँ हो रही थीं । कहाँतक कहें, उनका आत्मा श्रीकृष्णमय हो रहा था । वे केवल श्रीकृष्णके गुणों और लीलाओंका ही गान कर रही थीं और उनमें इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हें अपने शरीर और घरकी भी सुध-बुध नहीं रही ।

३—केवल श्रद्धा-भाव-भक्तिपूर्वक भगवान्के ध्यानमें मस्त होनेसे भी भगवान्में प्रेम बढ़कर अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जाता है । भक्त सुतीक्ष्णजी भगवान्के मिलनका मनोरथ करते हुए भगवान्के ध्यानमें मस्त हो गये थे, जिससे उनको अविरल प्रेमाभक्ति प्राप्त हो गयी । उनकी इस स्थितिका वर्णन गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने यों किया है—

प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा । करत मनोरथ आतुर धावा ॥
हे बिधि दीनबंधु रघुराया । मो से सठ पर करिहहिं दाया ॥
सहित अनुज मोहि राम गोसाईं । मिलिहहिं निज सेवक की नाईं ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ नाहीं । भगति बिरति न ग्यान मन माहीं ॥
नहिं सतसंग जोग जप जागा । नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा ॥
एक बानि करुनानिधान की । सो प्रिय जाकें गति न आन की ॥
होइहैं सुफल आजु मम लोचन । देखि बदन पंकज भव मोचन ॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी । कहि न जाइ सो दसा भवानी ॥

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा । को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा ॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई । कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई ॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई । प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई ॥
अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा । प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा ॥
मुनि मग माझ अचल होइ बैसा । पुलक सरीर पनस फल जैसा ॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए । देखि दसा निज जन मन भाए ॥
मुनिहि राम बहु भाँति जगावा । जाग न ध्यानजनित सुख पावा ॥
(अरण्य० ९ । २ से ८½)

४—यदि भगवान्‌का ध्यान न हो सके तो केवल श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवन्नामका जप करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम हो जाता है । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें । आवत हृदयँ सनेह बिसेषें ॥
(बाल० २० । ३)

नामकी महिमा बतलाते हुए वे और भी कहते हैं—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू । अपनें बस करि राखे रामू ॥
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई । रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥
(बाल० २५ । ३-४)

५—इसी प्रकार केवल कीर्तनसे भी भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जाता है, जिससे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे देते हैं । सुना जाता है जब श्रीचैतन्य महाप्रभु कीर्तन किया करते थे, तब वे प्रेममें इतने मग्न हो जाते थे कि पशु भी उनके कीर्तनको देख-सुनकर नाचने लग जाते तथा जब भक्त नरसी मेहता झाँझ-करताल आदि लेकर केदार रागमें भगवान्‌के गुण गाते थे, तब भगवान्‌के प्रेममें इतने मुग्ध हो जाते थे कि भगवान् उनके सम्मुख प्रकट हो जाते थे । एवं मीराँबाई जब अपने महलमें घूँघुरू बाँधकर भगवद्गुणगान करती हुई नाचने लगतीं, तब उनके प्रेमसे भगवान् उनके सम्मुख प्रकट हो जाते और वे उनसे वार्तालाप किया करती थीं ।

अतः कीर्तनसे भी भगवान्‌में प्रेमकी उत्पत्ति और वृद्धि हो जाती है । श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
(११ । २ । ४०)

'जो श्रद्धालु मनुष्य इस प्रकार नियमपूर्वक आचरण करता है, उसके हृदयमें अपने प्रियतम प्रभुके नाम-कीर्तनसे भगवद्-अनुराग उत्पन्न हो जाता है, उसका चित्त द्रवित हो उठता है । वह साधारण लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है और स्वभावसे ही मतवाला-सा होकर कभी खिलखिलाकर हँसता है तो कभी फूट-फूटकर रोने लगता है । कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारता है तो कभी मधुरस्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है और कभी-कभी भगवान्‌को अपने सम्मुख अनुभव करके उन्हें रिझानेके लिये नृत्य भी करने लगता है ।'

६—भगवान्‌की लीलाओं और भक्तोंके चरित्रोंका एवं गीता, भागवत, रामायण आदि भक्तिभावपूर्ण शास्त्रोंका अर्थ और भाव समझते हुए अध्ययन करनेसे भी भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो सकता है; क्योंकि भगवान्‌के और उनके भक्तोंके दिव्य गुण और अलौकिक प्रभावका अध्ययन करनेपर उनका तत्त्व-रहस्य समझमें आता है, जिससे श्रद्धा-विश्वासकी वृद्धि होकर भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है ।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥
(गीता १८ । ७०)

'जो मनुष्य इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीता-शास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है ।'

इस प्रकार भगवान्‌ने गीताशास्त्रका अध्ययन करनेवालेको भी अपना प्रेमी भक्त बतलाया है ।

७—सत्पुरुषोंके सङ्गसे भी भगवान्‌में प्रेम होता है, सत्पुरुषोंसे भगवान्‌के गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्यकी वार्तोंको सुननेपर मनुष्यका भगवान्‌में अतिशय अनुराग हो जाता है ।

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजीने कहा है—

यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥
(१२ । ३ । १५)

'सर्वोत्तम यशस्वी भगवान् श्रीकृष्णका गुणानुवाद समस्त अमङ्गलोंका नाश करनेवाला है, श्रद्धालु प्रेमी भक्तजन उसीका गान करते रहते हैं । जो भगवान् श्रीकृष्णमें अनन्य प्रेममयी विशुद्ध भक्तिकी लालसा रखता हो, उसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के दिव्य गुणानुवादका ही श्रवण करते रहना चाहिये ।

श्रीतुलसीदासजीने तो यहाँतक कह दिया है कि सत्सङ्गके बिना भगवत्प्रेमकी प्राप्ति ही नहीं होती—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥
(उत्तर० ६१)

इसीलिये कहा है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥
(सुन्दर० ४)

८—भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धामके गुण-प्रभावको पढ़ने और सुनने-समझनेसे स्वाभाविक ही भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य प्रेम हो जाता है। जब किसी साधारण मनुष्य, देवता, तीर्थ आदिके गुण-प्रभावकी बात सुननेसे भी मनुष्यका उसमें स्वाभाविक ही श्रद्धा-प्रेम हो जाता है, तब सकल-गुण-निधान अपरिमित प्रभावशाली भगवान्‌के अनन्त दिव्य अलौकिक गुण-प्रभावको पढ़, सुन और समझकर उनमें प्रेम हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है।

भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धामके गुण-प्रभावको इस प्रकार समझना चाहिये—

जैसे बीजमें वृक्ष सूक्ष्मरूपसे रहता है, इसी प्रकार नाममें भगवान्‌के सब गुण भरे रहते हैं; क्योंकि जब मनुष्य श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे भगवान्‌के नामका जप करता है, तब उसमें दैवी सम्पदाके लक्षण स्वतः ही आ जाते हैं—चाहे वह कैसा भी पापी क्यों न हो (गीता ९। ३०-३१)।

नामजपके प्रभावसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश होकर हृदयमें ज्ञान और प्रेमका प्रादुर्भाव हो जाता है, जिससे उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजीने बतलाया है—

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
(रामचरित० बाल० २५।४)

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥
(बाल० २१)

किन्हीं अन्य कविने कहा है—

जबहिं नाम हिरदै धर्‌यौ, भयौ पाप कौ नास।
मानो चिनगी आग की परी पुराने घास॥

यदि कहें कि 'बहुत-से मनुष्य नाम-जप तो करते हैं, किंतु उनमें उपर्युक्त महिमा देखनेमें नहीं आती' सो ठीक है। इसका कारण यह है कि उन्होंने नामके तत्त्व-रहस्यको नहीं समझा, इसीसे उन्होंने श्रद्धा-विश्वासपूर्वक निष्कामभावसे नाम-जप नहीं किया। अतः वे नामके तत्त्व-रहस्यको न समझनेके कारण ही उपर्युक्त महिमासे वञ्चित रहे।

भगवान्‌का स्वरूप अत्यन्त दिव्य, परम सुन्दर और महान् आकर्षक है। भगवान्‌के दिव्य गुणोंकी तो बात ही क्या है, सारे संसारके गुणोंको एकत्र किया जाय तो वे सब मिलकर भी उन गुणसागर भगवान्‌के गुणोंकी एक बूँदके समान भी शायद ही हों।

भगवान्‌का प्रभाव भी अपरिमित है। जिस प्रकार बिजली-के पंखेके द्वारा हवा प्राप्त होना, बल्बके द्वारा रोशनी होना, रेडियोके द्वारा खबरें सुनायी देना, ट्रामगाड़ीका चलना आदि सब क्रियाएँ एक बिजलीके ही प्रभावका अंश हैं, उसी प्रकार संसारमें जो भी प्रभावयुक्त वस्तु देखनेमें आती है, वह सब भगवान्‌के ही प्रभावका अंश है।

गीतामें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
(१०।४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशका ही प्राकट्य जान।'

इस तत्त्वको स्पष्ट सुगमतापूर्वक समझनेके लिये केनोपनिषद्‌के यक्षोपाख्यानपर ध्यान देना चाहिये। एक समय भगवान्‌की शक्तिके प्रभावसे देवताओंने असुरोंपर विजय प्राप्त की; उसमें उन्होंने अपनी महिमा समझी, जिससे उन्हें अभिमान हो गया। भगवान् उनके अभिमानका नाश करनेके लिये उनके सामने यक्षरूपमें प्रकट हुए। यक्षका परिचय जाननेके लिये क्रमशः अग्नि और वायु गये। भगवान्‌ने उनके सामने एक तिनका रखा, किंतु वे दोनों ही उसे जला या उड़ा न सके। तब इन्द्र उनके पास गये। यक्ष अन्तर्धान हो गये। उस समय भगवती उमादेवीने प्रकट होकर बताया कि 'यक्षरूपमें भगवान् प्रकट हुए थे। उनके प्रभावसे ही तुमलोगोंने असुरोंपर विजय प्राप्त की थी। किंतु उनकी विजयमें तुम अपनी महिमा मानने लगे। अतः तुमपर कृपा करके इस मिथ्याभिमानका नाश करनेके लिये

ही वे प्रकट हुए थे ।' (केनोपनिषद् खण्ड ३-४) अतएव समझना चाहिये कि संसारके समस्त प्राणि-पदार्थोंमें जो प्रभाव देखनेमें आता है, वह भगवान्का ही प्रभाव है ।

भगवान्की प्रत्येक लीलामें गुण-प्रभाव भरे रहते हैं। श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्धके १३ वें अध्यायमें वर्णन आता है कि एक वार जिस समय यमुनातटपर वनमें ग्वाल-बालोंके साथ भगवान् श्रीकृष्ण भोजन कर रहे थे, उस समय ब्रह्माजी बछड़ों और ग्वाल-बालोंको लेकर चले गये और उनको गुफामें रख दिया । तब भगवान् स्वयं अनेकरूप होकर वैसे-के-वैसे बछड़े और ग्वाल-बालके रूपमें बन गये । इस प्रकार भगवान्ने बछड़ों और ग्वाल-बालोंके रूपमें गौओं और माताओंको वात्सल्य-सुख दिया और फिर ब्रह्माजीके अनुरोध करनेपर अपनी मायाका उपसंहार कर लिया । इस लीलामें भगवान्ने गोपबालकोंको सख्य-प्रेमका एवं गौओं और माताओंको वात्सल्य-भावका सुख दिया तथा ब्रह्माजीके अपराधको क्षमा किया—ये सब भगवान्की लीलाके गुण हैं। वहाँ एक ही भगवान् अनेकरूप हो गये और इस रहस्यका किसीको पता नहीं लगा—यह उनका अपरिमित प्रभाव है ।

इसी प्रकार भगवान्की प्रत्येक लीलामें गुण-प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझना चाहिये ।

भगवान्का परमधाम नित्य, चेतन और दिव्य, अनन्त, असीम गुणोंसे सम्पन्न है । जो साधक उस परमधाममें जाता है, वह उन गुणोंसे सम्पन्न हो जाता है । संसारमें जितने भी दैवीसम्पदाके गुण हैं, वे उस भगवद्धामके गुणोंका आभासमात्र हैं ।

भगवान्के धामका प्रभाव तो अपरिमित है । जो वहाँ जाता है, वह परमानन्दमें निमग्न रहता है और पुनः कभी लौटकर संसारमें नहीं आता । यदि कभी भगवान्की आज्ञासे भगवान्के अधिकारको पाकर जीवोंके कल्याणके लिये आता है तो उसका आना आनेकी गणनामें नहीं है ।

जो मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्के नाम, रूप, लीला, धामके गुण-प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको समझ जाता है, उसका भगवान्में अतिशय विशुद्ध प्रेम हो जाता है ।

९—शरीर, संसार और सांसारिक पदार्थोंको मूल्यवान् न समझकर केवल एकमात्र दिव्यगुणसम्पन्न अपरिमित प्रभावशाली भगवान्को ही सर्वोत्तम अमूल्य पदार्थ समझनेसे भगवान्में प्रेम हो जाता है; क्योंकि संसारके सभी पदार्थ नाशवान् और क्षणभङ्गुर हैं एवं इन्द्रियजन्य सभी सांसारिक भोग-सुख परिणाममें दुःखदायी होनेके कारण दुःखरूप ही हैं । भगवान् कहते हैं—

> ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
> आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
> (गीता ५ । २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःखके ही हेतु हैं, और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं । इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

मनुष्य भ्रमसे ही संसारके भोगोंको सुखदायी मान लेता है, जिससे वह उनको मूल्यवान् समझकर उनमें फँस जाता है और उनका आदर करने लगता है । फलतः वह भगवान्के प्रेमसे वञ्चित रह जाता है । इसलिये उनको मूल्यवान् समझकर आदर देना ही मूर्खता है । यों समझ लेनेपर मनुष्यका संसारसे अत्यन्त वैराग्य होकर भगवान्में तीव्र अनुराग—अलौकिक प्रेम हो जाता है ।

१०—मनुष्य संसारको ही सदा अपने सम्मुख देखता रहता है, अतः वह सांसारिक भोग-पदार्थोंकी चमक-दमकको देखकर उनमें फँस जाता है । इसलिये साधकको उचित है कि वह संसारकी ओर न देखकर—संसारसे विमुख होकर भगवान्के चरित्र (लीला) को देख-देखकर मुग्ध होता रहे । उसे श्रीरामचरितमानसमें वर्णित भगवान् श्रीरामके आदर्श जीवन-चरित्रको मनसे देखना और उसके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये । भगवान् श्रीरामने माता, पिता, भाई, बन्धु, मित्र, सेवक, पत्नी आदिके साथ जैसा उत्तम व्यवहार किया, उसका अनुकरण करनेसे भगवान्में प्रेम हो जाता है । एवं जैसे भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें गोपियोंने भगवान्की लीलाओंका अनुकरण किया था (भागवत, स्कन्ध १०, अध्याय ३०, श्लोक २-३), उसी प्रकार भगवान्की लीलाओंका अनुकरण करनेसे भी भगवान्में प्रेम बढ़ जाता है ।

११—भगवान्के संकेत और उनकी आज्ञाके अनुसार चलनेसे भी भगवान्में प्रेम हो जाता है । यह तो प्रसिद्ध नीति ही है कि जो कोई भी मनुष्य किसीके संकेत और आदेशके

अनुसार चलता है तो वह उसे प्रिय लगता है। पतिपरायणा पत्नी पतिके संकेत और आज्ञाके अनुसार चलनेसे पतिकी परम प्रिय बन जाती है।

भगवान् श्रीराम प्रजाको उपदेश करते समय स्वयं कहते हैं—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥
(उत्तर० ४२ । ३)

१२—भगवान्‌का जो सिद्धान्त है, उसका स्वयं पालन करनेसे तथा लोगोंमें उसका प्रचार करनेसे एवं उनके मनके अनुकूल चलनेसे साधक भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने मतके अनुसार चलनेवालेकी प्रशंसा की है—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
(गीता ३ । ३१)

'जो कोई मनुष्य मुझमें दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं।'

तथा भगवद्गीताके भावोंका प्रचार करनेवालेकी महिमामें तो भगवान्‌ने यहाँतक कह दिया—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥
(गीता १८ । ६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

१३—श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भगवान्‌की पूजा करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इस विषयमें पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें एक बड़ा सुन्दर आख्यान मिलता है। एक समयकी बात है, काञ्चीपुरीके महाराज चोलने अनन्तशयन नामक तीर्थमें जाकर भगवान् श्रीविष्णुके दिव्य विग्रहकी मणि, मुक्ता और स्वर्णके बने हुए फूलोंसे विधिपूर्वक पूजा की। उसी समय काञ्चीनगरीके ब्राह्मण विष्णुदास भी वहाँ आये और उन्होंने तुलसीमञ्जरी और पत्तोंसे भगवान्‌की विधिवत् पूजा की। इससे राजाकी की हुई पूजा तुलसीपूजासे ढक गयी, यह देख राजा कुपित हो गये। दोनोंमें परस्पर वाद-विवाद हुआ। अन्तमें यह होड़ बदकर कि 'देखें, किसकी भक्ति अधिक है; कौन भगवान्‌के दर्शन पहले पाता है' दोनों भगवान्‌की आराधनामें लग गये। वहाँ राजाने बड़े भारी वैष्णव-यज्ञका अनुष्ठान किया, जिसमें बहुत-सा अन्न खर्च किया गया और प्रचुर दक्षिणाएँ बाँटी गयीं। श्रीविष्णुदास भी वहीं व्रत, उपवास, जप और गुण-गानपूर्वक विधिवत् भगवान् विष्णुकी पूजा करने लगे। किंतु वे जब भोजन बनाकर भगवान्‌के नैवेद्यका समर्पण करते, तब कोई सारा भोजन पीछेसे अपहरण कर ले जाता। सायंकालकी पूजा न छूट जाय, इस विचारसे श्रीविष्णुदास दुबारा भोजन नहीं बनाते। सात दिनोंतक ऐसा होता रहा। अन्तमें श्रीविष्णुदास भोजन बनानेके बाद छिपकर देखने लगे तो वहाँ एक कृशकाय चाण्डालको भोजन ले जाते देखा। उसे देखते ही वे दयार्द्र हो गये और बोले—'भैया! जरा ठहरो, क्यों रूखा-सूखा खाते हो। यह घी ले लो।' यह सुनकर चाण्डाल बड़े वेगसे भागा, जिससे वह भयसे मूर्छित हो गिर पड़ा। उस समय सर्वत्र श्रीविष्णुका दर्शन करनेवाले श्रीविष्णुदास करुणावश अपने वस्त्रसे उसको हवा करने लगे। तदनन्तर जब वह चाण्डाल उठकर खड़ा हुआ, तब श्रीविष्णुदासने देखा कि साक्षात् शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् नारायण ही सामने खड़े हैं। वे भगवान्‌के प्रेममें मुग्ध हो गये। भगवान्‌ने उनको छातीसे लगा लिया और उन्हें अपने-जैसा रूप देकर परमधाम वैकुण्ठ ले चले। उस समय यज्ञमें दीक्षित राजा चोलने उनको विमानमें बैठकर जाते देखा तो उन्होंने अपने आचार्य महर्षि मुद्गलसे कहा, 'ये विष्णुदास तो मुझसे पहले ही परमधाम वैकुण्ठ जा रहे हैं। अतः जान पड़ता है, भगवान् विष्णु केवल दान और यज्ञोंसे प्रसन्न नहीं होते। उनका दर्शन करानेमें भक्ति ही प्रधान कारण है।' फिर वे भगवान् विष्णुको सम्बोधित करते हुए उच्चस्वरसे बोले—'भगवन्! आप मुझे मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा स्थिर भक्ति दीजिये।' यों कहकर वे अग्निकुण्डमें कूद पड़े। तब भगवान् विष्णु वहाँ प्रकट हो गये और उन्हें छातीसे लगाया। फिर उनको अपने समान रूप देकर एक श्रेष्ठ विमानपर बिठाया और परमधाम वैकुण्ठमें ले गये।

इस प्रकार उन दोनों भक्तोंकी की हुई पूजासे भगवान् उनपर संतुष्ट हो गये।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(९ । २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ।'

भगवान् श्रीरामके आगमनकी बात सुनकर शबरी भीलनीने भगवान्‌के सत्कारके लिये कन्द-मूल-फल एकत्र किये और उनके पधारनेपर उनको प्रेमपूर्वक खिलाया था । श्रीरामचरितमानसमें वर्णन आता है—

सादर जल लै चरन पखारे । पुनि सुंदर आसन बैठारे ॥
कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि ।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि ॥
(अरण्य० ३४)

इसीसे उसे अतिशय भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, इसे भगवान्‌ने स्वयं स्वीकार किया है—

सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें । (अरण्य० ३५ । ४)

एवं ग्राहसे ग्रस्त गजेन्द्रने जब भगवान्‌को पुष्प भेंट किया, तब भगवान् उसके प्रेमसे वहाँ आ गये और उसका संकटसे उद्धार किया ।

श्रीमद्भागवतमें आया है—

उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥
तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार ।
(८ । ३ । ३२-३३)

''गजेन्द्रने अपनी सूँड़में कमलका एक सुन्दर पुष्प लेकर ऊपर उठाया और बड़े कष्टसे कहा—'नारायण ! जगद्गुरो ! भगवन् ! आपको नमस्कार है ।' जब भगवान्‌ने गजेन्द्रको ग्राहसे अत्यन्त पीड़ित देखा, तब वे सहसा गरुड़को छोड़कर कूद पड़े और कृपा करके गजेन्द्रके साथ ही ग्राहको भी तुरंत सरोवरसे बाहर निकाल लाये एवं गजेन्द्रको ग्राहसे छुड़ा लिया ।''

१४–भगवान्‌के पादसेवनरूप चरणामृतपान और चरण-रज-सेवनके प्रभावसे भी भगवान्‌में प्रेम बढ़कर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । वन जाते हुए भगवान् श्रीरामने जब केवटसे गङ्गापार उतारनेके लिये कहा, तब केवटने उत्तर दिया–'जबतक मैं आपके पैरोंको नहीं धो लूँगा, तबतक पार नहीं उतारूँगा ।' केवटके प्रेमभरे वचनको सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उसको पैर धोनेकी आज्ञा दे दी । तब केवट—

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार ।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार ॥
(अयोध्या० १०१)

श्रीभरतजी महाराज भगवान्‌के चरणोंके सेवक थे । वे जब चित्रकूटमें भगवान्‌से मिलने गये, उस समय वहाँ जमीनमें भगवान्‌के चरणचिह्नोंको देखकर उस चरणरजको धारण करके प्रेममें इतने मग्न हो गये कि उनकी इस दशाको देखकर पशु, पक्षी और जड वृक्षादि जीव भी प्रेममें मग्न हो गये—

हरषहिं निरखि राम पद अंका । मानहुँ पारसु पायउ रंका ॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं । रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं ॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा । प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा ॥
(अयोध्या० २३७ । २-३)

श्रीअक्रूरजी भी भगवान् श्रीकृष्णके चरण-चिह्नोंको देखकर प्रेममें विभोर हो गये थे । जब वे भगवान् श्रीकृष्णको लानेके लिये गोकुल गये, तब वहाँ—

पदानि तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः ।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः ॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः ।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३८ । २५-२६)

'जिनके चरणोंकी परम पावन रजको सम्पूर्ण लोकपाल अपने मुकुटोंके द्वारा सेवन करते हैं, श्रीअक्रूरजीने गोष्ठमें उनके कमल, यव, अङ्कुश आदि अलौकिक रेखाओंसे युक्त चरण-चिह्नोंके दर्शन किये । उनसे पृथ्वीकी शोभा बढ़ रही थी । उन चरण-चिह्नोंके दर्शन करते ही अक्रूरजीके हृदयमें इतना आह्लाद हुआ कि वे अपनेको सँभाल न सके, विह्वल हो गये, प्रेमके आवेगसे उनका रोम-रोम खिल उठा, नेत्रोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गयी । वे रथसे उतरकर उस धूलिमें लोटने लगे और कहने लगे–'अहो, यह हमारे प्रभुके चरणोंकी रज है ।'

१५–भगवान्‌के शरण होनेसे भगवान्‌में प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करता है, सर्वत्र भगवान्‌को देखता है, भगवान्‌की भक्ति करता है, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करता है तथा भगवान्‌पर निर्भर हो जाता है, वह भगवान्‌का शरणागत भक्त भगवान्‌में परम प्रेम करके भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥
(९ । ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर । इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे शरण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा ।'

जब भक्त विभीषणने भगवान् श्रीरामकी शरणमें जाकर कहा—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर ।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर ॥
(सुन्दर० ४५)

—तब भगवान्‌को विभीषणके ये दीन वचन बहुत ही अच्छे लगे और उन्होंने अपनी विशाल भुजाओंसे पकड़कर उनको हृदयसे लगा लिया—

दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा । भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा ॥
(सुन्दर० ४५ । १)

इस प्रकार विभीषण शरणके प्रभावसे भगवान्‌के अनन्य प्रेमी बन गये !

भक्तवर अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके शरण होकर उनसे प्रार्थना की—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥
(गीता २ । ७)

'कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये ।'

भगवान्‌के शरण हो जानेसे अर्जुन भगवान्‌के अतिशय प्रिय हो गये, इसीसे भगवान्‌ने उनको अपने हृदयकी सर्वगुह्यतम बात भी बता दी ।

राजा बलिने अपने सर्वस्वको और अपने आपको भगवान्‌के अर्पण करके भगवान्‌में परम प्रेम प्राप्त कर लिया (श्रीमद्भा० १० । २२)।

१६–दासभावसे भी भगवान्‌में प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। जैसे श्रीहनुमान्‌जीका भगवान्‌के प्रति दासभाव था । वे भगवान् श्रीरामके चरणोंमें रहकर ही अपना जीवन बिताया करते थे। वे जब आरम्भमें भगवान्‌से मिले, तब उन्होंने भगवान्‌से अपने दैन्ययुक्त सेवाभावको स्पष्ट निवेदन कर दिया—

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें । सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें ॥
नाथ जीव तव मायाँ मोहा । सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा ॥
ता पर मैं रघुबीर दोहाई । जानउँ नहिं कछु भजन उपाई ॥
सेवक सुत पति मातु भरोसें । रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें ॥
(किष्किन्धा० २ । १-२)

यों कहकर वे भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़े—

अस कहि परेउ चरन अकुलाई । निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई ॥
तब रघुपति उठाइ उर लावा । निज लोचन जल सींचि जुड़ावा ॥
(किष्किन्धा० २ । ३)

फिर भगवान्‌ने कहा—

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना । तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥
समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ॥
(किष्किन्धा० २।४)

श्रीकाकभुशुण्डिजीने तो गरुड़जीसे यहाँतक कह दिया—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि ॥
(उत्तर० ११९ क)

१७–सखाभावसे भी भगवान्‌के परम प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार अर्जुन, उद्धव, गोपबालक और गोपियाँ आदिका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति सखाभाव था एवं सुग्रीव आदिका भगवान् श्रीरामके प्रति सखाभाव था, वैसे सखाभावसे भी मनुष्यका भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाता है।

१८–हमें जो प्रिय लगता हो, उसे हम भगवान्‌पर सजायें और भगवान्‌को जो प्रिय लगता हो, उसे हम स्वयं धारण

करें तो यों करनेसे भी हमारा भगवान्‌में विशेष प्रेम हो सकता है ।

संसारके जो-जो पदार्थ हमें प्रिय लगते हैं, जिनके कारण हमारा मन संसारकी ओर जाता है, उन सब पदार्थोंको हमें अलौकिक और दिव्य रूपमें भगवान्‌से सम्बन्धित कर देना चाहिये । भाव यह कि संसारमें जितने भी सुन्दर-सुन्दर बढ़िया वस्त्र हैं, उनसे भी बढ़कर अलौकिक सुन्दर वस्त्र पीताम्बर आदिके रूपमें भगवान्‌पर देखने चाहिये । जितने भी बहुमूल्य रत्न आदि पदार्थ हैं, उनसे बढ़कर दिव्य और अलौकिक रत्नोंको भगवान्‌के आभूषणोंमें देखना चाहिये । पत्र, पुष्प, पुष्पमाला आदि जितने सुगन्धित पदार्थ हैं, उनको भगवान्‌की पूजाकी सामग्रीमें देखना चाहिये; दिव्य और अलौकिक फल, मेवा, मिष्टान्न आदि पदार्थोंको भगवान्‌के नैवेद्यकी सामग्रीमें देखना चाहिये । इसी प्रकार अपने रुचिकर अन्यान्य सभी पदार्थोंको भगवान्‌से सम्बन्धित करके देखना चाहिये, जिससे मन भगवान्‌को छोड़कर अन्यत्र कहीं न जाय; यों श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌को प्रेमास्पद और अपनेको प्रेमी मानकर अपने-आपको उनके चरणोंमें समर्पित कर देना चाहिये । इस प्रकार करनेसे भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध प्रेम उत्पन्न होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है ।

भगवान्‌को कौनसे गुण और आचरण प्रिय हैं, इसे भगवान्‌ने स्वयं गीताके बारहवें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकोंमें बतला दिया है । वे कहते हैं कि जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी, हेतुरहित दयालु, ममतारहित, अहंकाररहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है; जो निरन्तर संतुष्ट, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए, दृढ़निश्चयी और मन-बुद्धिको मुझमें अर्पण किये रहता है; जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता, जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; जो हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेग आदि विकारोंसे रहित है; जो आकांक्षारहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, चतुर, पक्षपातशून्य, व्यथारहित और सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमानसे रहित है; जो प्रिय वस्तुको पाकर न कभी हर्षित होता है और न अप्रियको पाकर द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है; जो शुभाशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है; जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सरदी-गरमी, सुख-दुःख और निन्दा-स्तुतिमें सम है; जो स्त्री, पुत्र, धन आदि सांसारिक पदार्थोंमें आसक्तिसे रहित है तथा देह और घरमें ममता और अभिमानसे रहित है, ऐसा स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ।

जो भगवान्‌के मनके अनुकूल इन गुणों और आचरणोंको अपने अनुष्ठानमें लाता है, वह भगवान्‌का अतिशय परम प्रिय हो जाता है ।

भगवान्‌ने कहा है—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥
(गीता १२ । २०)

'जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त तो मुझको अतिशय प्रिय हैं ।'

इसी प्रकार उत्तम गुण और आचरणोंको धारण करनेसे भी भगवान्‌में प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—इसको समझनेके लिये यहाँ एक दृष्टान्त बतलाया जाता है । मान लीजिये एक जवान कुमारी कन्याके माता-पिताने उसकी सगाई (सम्बन्ध) के लिये किन्हीं ब्राह्मणसे अनुरोध किया कि आप इसका सम्बन्ध किसी अच्छे कुलीन घरके वरके साथ करा दें । ब्राह्मणने सम्बन्ध करा दिया । तब वरकी ओरसे उस ब्राह्मणके हाथों साड़ी, ओढ़ना, पहननेका कब्जा और हाथ, पैर, गले, वक्षःस्थल और कानपर धारण करनेके आभूषण, चूड़ामणि तथा हाथोंकी चूड़ियाँ आदि कन्याके लिये भिजवायी गयीं । वह कन्या उन सबको धारण करके बहुत प्रसन्न हुई । जब उसकी सहेलियाँ वस्त्र-आभूषणोंकी प्रशंसा करके यह कहतीं कि क्या ये वस्तुएँ तुम्हारे पतिने भेजी हैं, तब यह सुनकर वह लज्जित हो जाती । वह उन वस्त्राभूषणोंका आदर करती और उन्हें सुरक्षित रखती । यह सूचना जब उसके वरको प्राप्त होती, तब वह प्रसन्न होता । अन्तमें वह कन्याके इस बर्तावपर मुग्ध होकर बड़े उत्साहसे विवाहका समय निश्चित करके आया । कन्या वरका दर्शन पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुई । फिर वह वर उस कन्याके साथ विवाह करके उसे अपने घर ले गया । ससुराल जानेपर कन्याके माता-पिताने फिर उसे अपने यहाँ आनेका आग्रह किया; उनके विशेष आग्रह करनेपर उसके पतिने थोड़े समयके लिये भेज दिया, फिर वापस बुला लिया ।

इस दृष्टान्तको हमें अध्यात्म-विषयमें यों घटाना चाहिये—यहाँ शिक्षा देनेवाले गुरुजन ही माता-पिता हैं । साधक मनुष्य

कन्या है। भगवत्प्राप्त पुरुष ही सम्बन्ध करानेवाले ब्राह्मण हैं। माधुर्य, दास्य, सख्य आदि सम्बन्ध स्थापन करना ही सगाई है। लोकमर्यादाकी रक्षा अधोवस्त्र (साड़ी) है, शास्त्र-मर्यादाकी रक्षा ही उत्तरीयवस्त्र (ओढ़ना) है; शीत-उष्ण, सुख-दुःखको सहना (तितिक्षा) ही पहननेका कब्जा है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' ही दाहिने हाथकी चूड़ियाँ हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच 'नियम' ही बायें हाथकी चूड़ियाँ हैं। पैरोंसे सत्सङ्ग, तीर्थ, देवदर्शन आदिके लिये यात्रा करना ही पैरोंके आभूषण हैं। यज्ञ, दान, सेवा-शुश्रूषा, पूजा, परोपकार करना ही हाथोंके आभूषण हैं । गीता, रामायण, भागवत आदि भक्तिभावपूर्ण ग्रन्थोंको अर्थ और भावसहित कण्ठस्थ करना ही कण्ठका आभूषण है; क्षमा, दया, समता, शान्ति, सरलता, निष्कामता, ज्ञान, वैराग्य, प्रेम आदि हृदयके उत्तम भाव ही वक्षःस्थलपर धारण किये जानेवाले चन्द्रहार, रत्नोंकी माला आदि आभूषण हैं। भगवान्के दिव्य नाम-गुण-सौन्दर्य-माधुर्य-लीला-चरितादिकी और अपनी अपकीर्ति, निन्दा, दुर्वचन और अवगुणोंकी बात सुनकर प्रसन्न होना ही कानोंके आभूषण हैं। विनयपूर्वक भगवद्भावसे सबके चरणोंमें नमस्कार करना ही सिरका आभूषण-चूड़ामणि है। लोगोंसे अपने गुणों और आचरणोंकी प्रशंसा सुनकर लज्जित होना ही सहेलियोंके द्वारा वस्त्राभूषणोंकी प्रशंसा सुनकर लज्जित होना है। सद्-गुण, सद्-आचरण और भक्तिको प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक सदा धारण किये रहना ही वस्त्राभूषणोंका आदर करना और उन्हें सुरक्षित रखना है। उत्तम गुण-आचरणोंको देखकर भगवान्की प्रसन्नता और प्रेमकी प्राप्ति होना ही पतिकी प्रसन्नता और प्रेमकी प्राप्ति है। साधकको भगवान्का प्रत्यक्ष आकर दर्शन देना ही पतिका आकर विवाह करना है । भगवान्का परम-धाम ही ससुराल है। भगवान्की आज्ञासे भगवान्का अधिकार पाकर भक्तका संसारके उद्धारके लिये संसारमें आकर भक्तिका प्रचार करना ही नैहर (पीहर) में आना है। पुनः भगवान्के परमधाममें जाना ही ससुरालमें जाकर निवास करना है।

इस दृष्टान्तसे यह शिक्षा मिलती है कि हमें भगवान्का प्रिय बननेके लिये उपर्युक्त सद्गुण, सदाचार और ईश्वरकी भक्तिको आदर-सत्कारपूर्वक धारण करना चाहिये । इनको धारण करनेसे भगवान्में परम प्रेम होकर हमें भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

ऊपर विशुद्ध अनन्य प्रेमकी उत्पत्ति और वृद्धिके लिये बहुत-से उपाय बताये गये हैं । इनमेंसे किसी एकको भी मनुष्य धारण कर ले तो उससे प्रेमकी उत्पत्ति और वृद्धि हो जाती है। फिर उसकी दशा विचित्र हो जाती है।

श्रीसुन्दरदासजीने कहा है—

प्रेम लग्यौ परमेस्वर सों तब भूलि गयौ सिगरौ घरबारा।
ज्यौं उन्मत्त फिरै जित ही तित, नैंक रही न सरीर सँभारा॥
स्वास उसास उठै सब रोम, चलै दृग नीर अखंडित धारा।
सुंदर कौन करै नवधा विधि, छाकि परयौ रस पी मतवारा॥

ऐसे प्रेमीको भगवान्का प्रत्यक्ष दर्शन शीघ्र हो जाता है। जिसे भगवान्का साक्षात् दर्शन हो जाता है, वह प्रेम और आनन्दमें ऐसा मुग्ध हो जाता है कि फिर उसे एक भगवान्के सिवा अन्य किसीकी तो बात ही क्या, अपना ज्ञान भी नहीं रहता।

ऐसा प्रेमी भक्त दास्य-वात्सल्यादि समस्त भावोंसे ऊपर उठ जाता है। वहाँ केवल एक विशुद्ध प्रेम ही रहता है । उस भक्तकी सारी चेष्टाएँ भगवान्को आह्लादित करनेके लिये ही होती हैं। सारे संसारको आह्लादित करते हैं भगवान् और भगवान्को आह्लादित करता है वह प्रेमी भक्त। जैसे प्रेममयी श्रीराधिकाजी, जो भगवान्की आह्लादिनी शक्ति हैं, भगवान् श्रीकृष्णको आह्लादित करती रहती हैं, वैसे ही वह भक्त भगवान्को आह्लादित करता रहता है। उस समय भगवान्की भी सारी चेष्टाएँ भक्तको आह्लादित करनेके लिये हुआ करती हैं। यह दिव्य अलौकिक विशुद्ध अनन्य प्रेमका स्वरूप है। इसमें प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी एकरूप ही हो जाते हैं । यह है दिव्य-गुणसम्पन्न सगुण भगवान्के स्वरूपकी प्राप्ति ।

वन पूरे गुण-माल

(रचयिता—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

दुर्लभ नर तन जो मिला, सफल करो तत्काल।
'हरि' निर्गुणके गल पड़ो, वन पूरे गुण-माल॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें मानवका त्रिविध स्वरूप और साधन

आर्यशास्त्रवेत्ता—सनातनधर्मी मात्र यह मानते हैं कि 'मानव-जन्म' भोगवासनाकी चरितार्थता या इन्द्रियोंके द्वारा विषय-सेवनके लिये नहीं मिला है। मानव-जीवनका परम और चरम लक्ष्य है—'भगवत्प्राप्ति।' इसीको मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, आत्मसाक्षात्कार, स्वरूप-प्राप्ति, ब्रह्मज्ञान आदि विभिन्न नामोंसे साधना तथा रुचिभेदके अनुसार कहा गया है। जो मनुष्य इस परम लक्ष्यको सामने रखकर साधनामय जीवन यापन करता है, वही वस्तुतः 'मानव' कहलाने योग्य है। भगवान्ने इस साधनाके श्रीमद्भगवद्गीतामें अधिकारी-भेदसे विभिन्न स्वरूप बतलाये हैं; उनमें तीन प्रधान हैं—ज्ञान-प्रधान साधन, भक्तिप्रधान साधन और कर्मप्रधान साधन। तीनोंमें ही लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही है। इन तीनोंमेंसे किसी एकके अनुसार आचरण करनेवालेको ही गीतामें 'मानव' कहा गया है। 'मानव' शब्द गीतामें तीन स्थानोंमें आता है।

(१)

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(गीता ३। १७)

भगवान् कहते हैं—'जिसकी आत्मामें ही रति है, जो आत्मामें ही तृप्त है और आत्मामें ही संतुष्ट है, उस मानवके लिये कुछ भी कर्तव्य (शेष) नहीं है। यह 'ज्ञानी मानव' का स्वरूप है। ऐसा मानव संसारके किसी भी प्राणि-पदार्थमें रति नहीं करता, उसका मन किसी भी भौतिक वस्तुमें रमण नहीं करता, वह निरन्तर आत्मरमण करता है—आत्मरत ही रहता है। उसके मनमें किसी भी लौकिक-पारलौकिक पदार्थकी किंचित् भी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती; वह पूर्णकाम होता है, इसलिये आत्मामें ही—चिन्मय स्व-स्वरूपमें ही सदा तृप्त रहता है और संसारका न तो कोई बड़े-से-बड़ा प्रलोभन उसे अपनी ओर खींच सकता है, न किसी भी स्थितिसे उसे किसी प्रकारका तनिक भी असंतोष होता है। वह हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वथा रहित होकर निरन्तर आत्मस्वरूपमें ही संतुष्ट रहता है। ऐसे कृतकृत्य—पूर्णत्वको प्राप्त ज्ञानी मानवके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं रह जाता। उसकी अपनी आत्मस्थितिमें उसे कुछ पाना या पानेके लिये करना शेष नहीं रह जाता। ऐसा ज्ञानी पुरुष मानव-शरीरके चरम तथा परम लक्ष्यको प्राप्त करके कर्तव्यके भारसे मुक्त हो जाता है। फिर प्रारब्धवश जबतक उसका शरीर रहता है, तबतक उसके द्वारा स्वाभाविक ही अहंता, ममता, आसक्ति, कामना तथा राग-द्वेष आदि दोषोंसे सर्वथा रहित परम पवित्र तथा परम आदर्शरूप लोकहितकर कर्म ही होते हैं।

(२)

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

(गीता ३। ३१)

'जो भगवान्में किसी प्रकारकी दोष-दृष्टि नहीं करते तथा जो श्रद्धावान् हैं और सदा भगवान्के मतका अनुसरण करते हैं, वे मानव भी सम्पूर्ण कर्मों (के बन्धन) से छूट जाते हैं।'

यह 'भक्त-मानव' का स्वरूप है। गीताके अन्तिम उपदेश (अ० १८ श्लोक ६६) के अनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको सावधान करते हुए कहा है कि 'जो तपरहित न हो, मेरा भक्त न हो, सुनना न चाहता हो और मुझमें दोष देखता हो, उससे यह रहस्य कभी मत कहना।' इससे यह सिद्ध है कि जो भगवान्में—उनके लीला-गुण आदिमें दोष देखता है तथा श्रद्धा-सम्पन्न नहीं है, वह भगवान्के मतानुसार अपना जीवन नहीं बना सकता। परंतु जिनका भगवान्में श्रद्धा-विश्वास है, वे ही भगवान्की प्रीतिके लिये भगवान्के मतका अनुसरण करते हुए नित्य-निरन्तर जीवनके अन्तरतम प्रदेशमें विराजित भगवान्का भजन करते हैं और वे इसके फलस्वरूप कर्म-बन्धनसे (जन्म-मृत्युके चक्रसे) मुक्त होकर भगवान्के परमधामको, उनके दुर्लभ पार्षदत्वको अथवा अति दुर्लभ प्रेमको प्राप्त कर धन्य हो जाते हैं। ऐसे मानव ही यथार्थ मानव हैं। भगवान्ने इनकी महिमा गाते हुए इन्हें 'सर्वश्रेष्ठ योगी' बतलाया है। छठे अध्यायके अन्तमें भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें जो श्रद्धावान् पुरुष मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, उसे मैं परम श्रेष्ठ मानता हूँ।'

ऐसा भक्त कैवल्य-मुक्ति न चाहकर निरन्तर भजनमें—सेवापरायणतामें संलग्न रहना चाहता है। मानव-जीवनकी सफलता इसीमें है।

(३)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और यह सारा प्राणिजगत् जिससे व्याप्त है; उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मके द्वारा पूजा करके मानव परम सिद्धिको प्राप्त करता है।'

यह कर्मनिष्ठ (स्वकर्मके द्वारा चराचररूप भगवान्‌को पूजकर परम सिद्धि—मानव-जीवनकी परम और चरम सिद्धि; सफलताको प्राप्त करनेवाले) मानवका स्वरूप है।

ऐसा मानव यह समझ लेता है कि समस्त प्राणी भगवान्‌से ही निकले हैं और भगवान् ही सब प्राणियोंमें व्याप्त हैं; अर्थात् प्राणिमात्रके रूपमें भगवान् ही अभिव्यक्त हो रहे हैं; अतः मनुष्य अपने सहज कर्मके द्वारा प्राणिमात्रकी यथोचित सेवा करके भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। जिससे सब निकले हैं और जो सबमें व्याप्त है, वह सर्वत्र तथा सदा है। उसकी पूजाके लिये बाहरी सामग्रीकी आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक कर्मके द्वारा प्रत्येक समय प्रत्येक स्थितिमें मानव उन भगवान्‌की पूजा करके जीवनको सफल बना सकता है। कर्मके द्वारा भगवत्पूजा (Work is Worship) का यह सिद्धान्त मानवके कर्मको पवित्रतम और आदर्श बना देता है और उसीके द्वारा प्राणिमात्रकी सफल सेवा होती है। ऐसे मानवमें राग-द्वेषका—सीमित ममता-आसक्तिका अभाव हो जाता है और वह परम श्रद्धा तथा विश्वासके साथ भगवान्‌के आज्ञानुसार उनकी प्रसन्नताके लिये समस्त विश्वके प्राणियोंकी अपने कर्मोंके द्वारा सेवा करके—समस्त प्राणियोंका हित तथा सुखसाधन करके जगत्‌में महान् आदर्श उपस्थित करता है और अपने दुर्लभ मानव-जीवनको सहज ही सफल बना लेता है।

गीतामें इन तीन प्रकारके मानवोंका कथन करके भगवान्‌ने थोड़े-से शब्दोंमें मानव-जीवनका उद्देश्य; मानव-जीवनकी सार्थकता तथा जीवन-सिद्धिके त्रिविध साधनोंका उल्लेख करके मानवको उसके स्वरूप तथा कर्तव्यका ज्ञान कराया है और यथायोग्य आचरण करके मानव-जीवनकी सफलताके लिये दिव्य उपदेश किया है।

मेरी प्रत्येक चेष्टा भगवान्‌की सेवा है

भगवान् सृष्टिके स्वामी हैं; इसलिये सृष्टिकी प्रत्येक वस्तु उनकी है। पर आजतक मैं अपने 'अहं' को अलग मानकर अपने उपयोगमें आनेवाली वस्तुओंको 'अपनी' माने हुए था। इससे उन्हें मनमानी मात्रामें प्राप्त करनेमें, उनका यथेच्छ उपभोग करनेमें भाँति-भाँतिके अवाञ्छनीय दुष्कर्म करनेमें भी नहीं हिचकता था। जो वस्तुएँ मेरे उपभोगसे अधिक थीं, उनका संग्रह करके मैं अपने अहंकारको और भी पुष्ट कर रहा था। अभावके रूपमें भगवान्‌की माँग उन संगृहीत वस्तुओंके लिये बराबर आती थी; किंतु मैं उसे क्यों सुनने लगा। पर भगवान् मुझे कब छोड़नेवाले हैं। आज उन्होंने स्वतः मेरे हृदयमें यह विवेक जाग्रत् कर दिया है कि 'मैं भगवान्‌का हूँ और जगत्‌की सब वस्तुएँ भगवान्‌की हैं। भगवान्‌ने सदुपयोग तथा सेवाके लिये एक ट्रस्टीकी तरह मुझे सब वस्तुएँ सौंपी हैं। ईमानदार ट्रस्टी या सेवकके नाते जगत्‌की उन वस्तुओंपर मेरा अधिकार है—पर मेरे अपने उपभोगके लिये नहीं; उन वस्तुओंके द्वारा भगवान्‌की सेवा करनेके लिये। मैं भगवान्‌का हूँ तो अब मेरी अपनी कोई आवश्यकता नहीं है। मेरे माध्यमसे होनेवाला प्रत्येक कार्य उन सर्वभूतस्थित भगवान्‌की सेवा है। भगवान्‌की सेवाके लिये अब मेरे शरीरकी उपस्थिति जबतक आवश्यक है, तबतक उसे उचित पोषण देना भी मेरे लिये भगवान्‌की सेवाका ही एक अङ्ग है। इसी भावसे अब मैं शरीरका पालन-पोषण करूँगा। अब मेरे पास उचित उपयोगके अतिरिक्त वस्तुएँ संगृहीत नहीं रहतीं। अब उनका भगवान्‌की सेवामें उपयोग हो रहा है। इतना ही नहीं, अब मेरे जीवनकी प्रत्येक चेष्टा ही भगवान्‌की सेवा है।

मानसमें श्रीहनुमच्चरित्र

(लेखक—श्रीकुन्दनलालजी नन्हौरया)

पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजीकृत रामचरितमानसमें भक्तशिरोमणि श्रीहनुमान्‌जीके चरित्रका वर्णन किष्किन्धाकाण्डसे आरम्भ होता है। महाबली वानरराज वालीने अपने निरपराध छोटे भाई सुग्रीवके सर्वस्व एवं स्त्रीतकको छीन लिया और उसे मारकर भगा दिया, यथा—

मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं। दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं॥
बाली ताहि मारि गृह आवा। देखि मोहि जियँ भेद बढ़ावा॥
रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी॥

ऐसे दीन-दुखी और निराश्रित सुग्रीवका साथ देना श्रीहनुमान्‌जीने अपना कर्तव्य माना और वे ऋष्यमूक पर्वतपर रहने लगे—

तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा।

श्रीसीताहरणके पश्चात् जब लक्ष्मणजीके साथ श्रीरामजीको आते हुए सुग्रीव देखते हैं, तब वे—

अति सभीत कह सुनु हनुमाना। पुरुष जुगल बल रूप निधाना॥
धरि बटु रूप देखु तैं जाई। कहेसु जानि जियँ सयन बुझाई॥

अतएव—

बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइ पूछत अस भयऊ॥
को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥
कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी॥
मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह बन आतप बाता॥

विप्ररूप होकर भी क्षत्रियरूपी श्याम-गौर जोड़ीसे इस कारण 'माथ नाइ' पूछते हैं कि मनको हरण करनेवाले इन सुन्दर और कोमल अङ्गवालोंको वन-वनकी कठिन भूमिपर फिरने-विचरनेमें उनके कोमल चरणोंको ही अधिक कष्ट हो रहा है, इसलिये उन चरणोंकी ओर दृष्टिपात करते ही माथा अपने-आप नत हो जाता है। दूसरे, इन सहज, सरल स्वभाववाली मधुर मूर्तियोंके सामने विप्ररूप छद्मवेष बनाकर आनेमें लज्जाका अनुभव भी हो रहा है। तीसरे, अपनी संस्कृतिके अनुसार अपूर्वरूप तेजस्वी श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ शीलसहित नीचा मुख करके बात करना चाहिये। चौथे, बंदरकी आँखें बड़ी चञ्चल होती हैं, इसलिये स्वभावतः ये चञ्चल आँखें छद्मवेषका भंडाफोड़ न कर दें, अतएव—

माथ नाइ पूछत अस भयऊ।

साथ ही—

सहत दुसह बन आतप बाता॥

—कहनेसे समवेदना और—

निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

—के अनुसार विप्रवेषधारी हनुमान्‌जीका संत-स्वभाव भी प्रकट हो रहा है।

'को तुम्ह' और 'कवन हेतु' के बाद तीसरा प्रश्न पूछते हैं—

की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ॥
जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥

इस प्रश्नके अन्तर्गत परब्रह्म परमात्माके अवतारोंकी बात आती है; परंतु भगवान् अपने अवतारको स्वभावतः गुप्त ही रखते हैं। यथा—

हृदयँ बिचारत जात हर केहि बिधि दरसनु होइ।
गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सबु कोइ॥

अतएव श्रीरामजी तुरंत ही 'को तुम्ह' और 'कवन हेतु' का उत्तर इस प्रकार देने लग जाते हैं—

कोसलेस दसरथ के जाए। हम पितु बचन मानि बन आए॥
नाम राम लछिमन दोउ भाई। संग नारि सुकुमारि सुहाई॥
इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥

परंतु अवतारसम्बन्धी तीसरे प्रश्नके उत्तरको केवल उड़ा ही नहीं देते, वरं यह प्रश्न फिरसे न उठाया जाय, इसलिये श्रीरामजी स्वयं ही प्रश्न कर बैठते हैं—

आपन चरित कहा हम गाई। कहहु बिप्र निज कथा बुझाई॥

बस, इतना सुनते ही श्रीहनुमंतलालजी अपने प्रभुको पहचान लेते हैं; क्योंकि इसके ठीक नीचेकी अर्धाली है—

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥

हनुमान्‌जीकी कुशाग्र बुद्धि तत्क्षण इस निर्णयपर पहुँच जाती है कि जो (१) 'पितु बचन मानि' अर्थात् राज्यको छोड़कर, (२) 'बन आए' अर्थात् वनवासी हुए, (३) इस

कारण पिताकी मृत्यु हुई और (४) 'हरी निसिचर बैदेही' —स्त्रीका वियोग हुआ, इन सब बातोंको 'गाई'—गाकर अर्थात् एक-एक बातका बखान (विलाप न करते हुए) समभावसे करें, वे मनुष्य नहीं—भगवान् ही हैं, अन्यथा—

राज्यनाशो वने वासो हृता सीता मृतः पिता ।
एकैकमपि यद्दुःखं समुद्रमपि शोषयेत् ॥
(महानाटक)

एकदैव हि सम्प्राप्तं रामेणापि चतुष्टयम् ।

इन चारों दुःखोंमें इतनी ज्वाला है कि प्रत्येक दुःख समुद्रको सुखा सकता है ।

अब हनुमान्‌जीका शरीर पुलकित हो जाता है, मुखसे वचन नहीं निकलते और प्रभुके सुन्दर वेषकी रचना देखते रह जाते हैं । फिर स्तुति आदि करके अपनी दीनताका निचोड़ इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं और इसी अर्धालीमें उनकी भक्तिका सार संगृहीत है—

सेवक सुत पति मातु भरोसें । रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें ॥

अर्थात् स्वामीके भरोसेपर सेवक और माताके भरोसेपर पुत्र निश्चिन्त रहता है, इसलिये हे प्रभु ! उसका पालन-पोषण करते ही बनता है (करना ही पड़ता है) । यहाँ हनुमान्‌जी स्पष्टतः दो बातें कह रहे हैं, अर्थात् सेवककी और पुत्रकी । स्वयंके कथनानुसार पुत्रकी स्वीकारोक्ति मातापर निर्भर है, जो इस समय अन्यत्र हैं; परंतु प्रभु तो समक्ष ही हैं, अतएव सेवककी स्वीकारोक्ति तुरंत ही करनी पड़ती है । परंतु कब ? जब—'निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई'—छद्मवेषको छोड़कर वे अपने स्वाभाविक वानरस्वरूपमें हो जाते हैं । यथा—

तब रघुपति उठाइ उर लावा । निज लोचन जल सींचि जुड़ावा ॥

इतना कर चुकनेपर भगवान् पहले कहते हैं—

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना ।

अर्थात्—

तव माया बस फिरउँ भुलाना ।

—से लगाकर—

जानउँ नहिं कछु भजन उपाई ॥

—तक जो निराशा, ग्लानि आदि अथवा छद्मवेष बनानेके कारण तुमने मनको छोटा बना लिया है, अतः स्वस्थचित्त हो जाओ । फिर कहते हैं—

तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना ॥

अर्थात्—

आपन चरित कहा हम गाई ।

तथा—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः

—आदिके अनुसार जो मुझमें समभावका आरोप कर रहे हो सो बात नहीं—दुगुने-चौगुने, कम-अधिक, सम-विषमका व्यवहार मुझे भी करना पड़ता है । भरद्वाज-आश्रमसे जब भरतजी चले हैं, तब इन्द्रकी शङ्का मिटानेके लिये सुरगुरु बृहस्पतिजीने भी यही कहा है—

मानत सुखु सेवक सेवकाई । सेवक बैर बैरु अधिकाई ॥
जद्यपि सम नहिं राग न रोषू । गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू ॥
× × × ×
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा । भगत अभगत हृदय अनुसारा ॥

श्रीरामजीमें सम-विषमकी परस्परविरोधी भावनाओंका समावेश सुनकर हनुमान्‌जीकी मुखाकृति आश्चर्ययुक्त हो जाती है, जिसे लक्ष्य करके श्रीरामजी तुरंत कहते हैं कि केवल तुम ही नहीं वरं—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ ।

सब कोई मुझे समदर्शी कहते हैं, परंतु—

सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ॥

मुझे सेवक प्रिय है; क्योंकि वह अनन्यगति होता है—मुझे छोड़कर उसका कोई दूसरा सहारा नहीं होता ।

श्रीरामजीने ठीक इसी प्रकार काकभुशुण्डिजीसे कहा है—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए । सब तें अधिक मनुज मोहि भाए ॥
× × × ×
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा । जेहि गति मोर न दूसरि आसा ॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं । मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥
× × × ×
सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग ।
श्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग ॥
× × × ×
अखिल बिस्व यह मोर उपाया । सब पर मोहि बराबरि दाया ॥
× × × ×
पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ॥

सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय ।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब ॥
(उत्तरकाण्ड)

और फिर श्रीरामजी 'अनन्य' शब्दका स्पष्टीकरण भी इसी प्रकार कर देते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

देवाधिदेव श्रीशंकरजीने काकभुशुण्डिजीको इसी प्रकारका अनन्य भक्त ठहराया है। यथा—

तुरत भयउँ मैं काग तब पुनि मुनि पद सिरु नाइ ।
सुमिरि राम रघुबंस मनि हरषित चलेउँ उड़ाइ ॥
उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। श्रीरामजीने अपनी कथा पहले श्रीवाल्मीकि मुनिको—

अस कहि प्रभु सब कथा बखानी ।
जेहि जेहि भाँति दीन्ह बनु रानी ॥

—यहाँतक कही थी और अब हनुमान्‌जीसे—

इहाँ हरी निसिचर बैदेही । बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही ॥

—तक 'आपन चरित कहा हम गाई।' इसके बादका चरित्र श्रीहनुमंतलालजी स्वयं देखते ही रहे हैं। इन दोके अतिरिक्त अन्य किसीसे भी श्रीरामजीने अपने श्रीमुखसे अपना चरित्र नहीं कहा है। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी प्रथम वन्दनामें इन्हें साथ-साथ रखा है। यथा—

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥

'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना' पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। लक्ष्मणजीकी सेवा निस्संदेह बड़ी उच्च कोटिकी होते हुए भी कर्तव्यके अन्तर्गत आती है, यथा—

जेठ स्वामि सेवक लघु भाई । यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥

परंतु हनुमान्‌जी ठीक लक्ष्मणजीकी तरह सेवक और सुत बनकर वानरदेहसे सेवा करनेको उद्यत हैं। साक्षात् होनेके समयसे ही श्रीरामजी देखते आ रहे हैं कि इनमें शील (माथ नाइ), संत-स्वभाव (सहत दुसह बन आतप बाता), परम अथवा कुशाग्र बुद्धि (प्रभु पहिचान), विवेक (सेवक सुत पति मातु भरोसे), दीनता (बहु अवगुन मोरे और जानउँ नहिं कछु भजन उपाई), आदि गुण तो हैं ही अपितु राक्षसराज रावणके बंदीखानेमेंसे श्रीसीताजीको खोज निकालनेके लिये परम आवश्यक दो विभूतियोंसे भी वे सम्पन्न हैं, यथा—

(१) वेष बदलना—

बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ ।

और

निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई ।

और इसका उपयोग हुआ है—

(अ) पुर रखवारे देखि बहु कपि मन कीन्ह बिचार ।
अति लघु रूप धरौं निसि नगर करौं पइसार ॥
(ब) मसक समान रूप कपि धरी । लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी ॥
(स) जुगुति बिभीषन सकल सुनाई । चलेउ पवनसुत बिदा कराई ॥
करि सोइ रूप गयउ पुनि तहवाँ । बन असोक सीता रह जहवाँ ॥

(२) वज्रदेह—

तब रघुपति उठाइ उर लावा ।

—से जानना। इसका उपयोग हुआ है—

ब्रह्म अस्त्र तेहिं साँधा कपि मन कीन्ह बिचार ।
जौं न ब्रह्मसर मानउँ महिमा मिटइ अपार ॥

इसलिये श्रीरामजीको निश्चय हो जाता है कि सीताजीकी खोज कर सकते हैं तो एक ये ही अद्वितीय निष्काम भक्त वानर और फिर तो—

एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं । कालहु जीति निमिष महुँ आनौं ॥

अतएव—

तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।

हाँ, तो अब स्वामीको अपने अनुकूल देखकर अर्थात् यह देखकर कि स्वामीने सेवकको स्वीकार कर लिया है, हनुमान्‌जीके हृदयमें हर्ष छा जाता है और मनकी सब खटक मिट जाती है; क्योंकि उन्हें पूर्ण विश्वास है कि माता मिथिलेशकुमारी तो स्वभावतः कोमलहृदया हैं, अतएव साक्षात् होते ही उनसे अपनेको पुत्र मनवा लेनेमें कोई दुविधा ही नहीं है। सो हनुमान्‌जी अपनी सेवाका श्रीगणेश तुरंत यहींसे करने लग जाते हैं और इसलिये 'कठिन भूमि कोमल पदगामी' एवं 'मृदुल मनोहर सुन्दर गाता' के प्रति केवल मौखिक सहानुभूति न बताकर 'लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई' और—

राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥

—के अनुसार श्रीरामजी अपने सेवकके प्रीत्यर्थ हनुमान्‌जी-के इस कार्यमें ना-हाँ न करके चुपचाप अपने प्रिय भक्तकी पीठपर बैठ जाते हैं।

यह कैसा अनोखा दृश्य है? हनुमान्‌जीकी मांसल और कोमल रोमावलीसे आच्छादित पीठपर उभय बन्धु सुखासीन हैं और हनुमान्‌जी प्रेममें सराबोर होकर ऋष्यमूक पर्वतपर धड़ाधड़ चढ़ते चले जा रहे हैं; क्योंकि आज उन्हें भगवान्‌के साथ-साथ भगवान्‌के सेवक रामानुजकी भी सेवाका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रभु श्रीरामजी भी अपने इस वानर भक्तकी ऐसी निस्स्वार्थ, प्रेममयी, अनूठी सेवाके वशीभूत होकर आनन्द-विभोर हो रहे हैं और लक्ष्मणजी अपने प्रभु श्रीरामजी-के कोमल चरण-कमलोंको यात्रा एवं कुश, काँटे, कंकड़ आदिकी पीड़ासे मुक्त देखकर खुशी हो रहे हैं। साथ ही वे यह भी सोच रहे हैं कि गङ्गा पार करनेके दिनसे आजतक प्रभुके चरणोंको जो सुख देना उनसे नहीं बन सका, वही सुख आज एक वानर सेवक दे रहा है। अतएव उनके मनमें श्रीरामजीके इस कथनकी सत्यता दृढ़ होती जा रही है—

तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।

धन्य हैं प्रभु! आप और आपके 'वानराणामधीश' सेवक, जिनके वशीभूत होकर आप ऐसी अटपटी लीला करते हैं कि बंदरके ऊपर उज्ज्वल सवारीकी निराली झाँकीके दर्शन अपने भक्तोंको देते हैं।

सुग्रीवसे मित्रता, वालीका देह-त्याग और फिर श्रीरामजी-की आज्ञासे सुग्रीवको राज्य मिलनेके अनन्तर सीताजीकी खोजमें जहाँ-तहाँ वानर भेजे जाते हैं, यथा—

बचन सुनत सब बानर जहँ तहँ चले तुरंत।
तब सुग्रीवँ बोलाए अंगद नल हनुमंत॥

जब सुग्रीव बुलाते हैं, तब हनुमान्‌जी सबके पीछे रहते हैं; इसीलिये इनका नाम अन्तमें लिखा गया है। और ये सब—

आयसु मागि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥
पाछें पवन तनय सिरु नावा। जानि काज प्रभु निकट बोलावा॥

महावीर, ज्ञान और गुणके निधान, प्रबल प्रतापी, परम पराक्रमी, अतुलित बली, शुचि सेवक होते हुए भी हनुमान्‌जी अपने शीलके कारण कभी भी आगे नहीं आये, वरं मनके पीछे ही रहे हैं; जब कि आज दिन उद्दण्डता ही अधिक देखनेमें आती है। प्रवचनों, सभाओं, बैठकों आदिमें लोग स्वेच्छासे आगे-आगे आकर अपने बेढंगे क्रिया-कलापोंद्वारा ऐसी चेष्टा करते हैं कि दूसरे उन्हें कुछ समझें और उनके व्यक्तित्वको महत्त्व दें। उनकी समझमें नहीं आता कि ऐसी अनुपयुक्त क्रियाओंसे वे अपनी मूर्खता एवं खोखलेपन-का ही अधिक प्रदर्शन करते हैं। अस्तु,

'प्रभु निकट बोलावा।' जब हनुमान्‌जी पास आ जाते हैं, तब श्रीरामजी—

परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी॥
बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥

बस, प्रभुका इतना ही कहना हनुमान्‌जीके लिये यथेष्ट होता है।

इस टोलीको समुद्रके इसी पार रह जाना पड़ता है। केवल हनुमान्‌जी समुद्र लाँघकर अनेक विघ्न-बाधाओंपर विजय प्राप्त करते हुए लङ्का पहुँचते हैं तथा विभीषणकी बतायी युक्तिके अनुसार अशोक-वाटिकामें प्रवेश करते हैं। यहाँ दीन-दुखी माता सीताके दर्शन करके उन्हें मन-ही-मन प्रणाम करते हैं और तत्पश्चात्—

कपि करि हृदय बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ॥

राम-नाम-अङ्कित, अत्यन्त सुन्दर और मनको लुभाने-वाली मुद्रिकाको सीताजी पहचान तो लेती हैं; परंतु उनके मनमें अनेक प्रकारके तर्क-वितर्क भी उठने लगते हैं। अतः हनुमान्‌जी—

रामचंद्र गुन बरनैं लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥
लागीं सुनैं श्रवन मन लाई। आदिहु तें सब कथा सुनाई॥

—जिसे सुनकर सीताजी कहती हैं—

श्रवनामृत जेहिं कथा सुहाई। कही सो प्रगट होति किन भाई॥

इस आज्ञाके मिलते ही—

तब हनुमंत निकट चलि गयऊ। फिरि बैठीं मन बिसमय भयऊ॥

मातासे दुराव तो किया नहीं जाता और कोई कितना ही बड़ा हो जाय, तो वह माताके सामने; छोटा ही है; इसलिये हनुमान्‌जी लघु वानरके रूपमें माता सीताजीके पास आ जाते हैं। उन्हें देखते ही माताके मनमें स्वाभाविक ही आश्चर्य

होता है, इसलिये वे मुख फेरकर बैठ जाती हैं। यहाँसे आरम्भ होता है वार्तालाप, जिसके द्वारा हनुमान्‌जी अपने प्रभुके आज्ञानुसार—

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु । कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ॥

—बहुत प्रकारसे प्रभुका विरह तथा बल बताकर समझाते हैं एवं धैर्य बँधाते हुए वे सीताजीको बार-बार माता और जननी कहकर इस उद्देश्यसे सम्बोधन कर रहे हैं कि माता सीताजी उनको सुतके रूपमें स्वीकार कर लें तो श्रीरामजीके प्रथम साक्षात्कारके समयकी लालसा पूर्ण हो जाय और उनका वानर-जीवन कृतार्थ हो जाय, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यथा—

सेवक सुत पति मातु भरोसें । रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें ॥

मानसके इन चौपाई-दोहोंको नीचे उद्धृत किया जाता है—

रामदूत मैं मातु जानकी । सत्य सपथ करुना निधान की ॥
यह मुद्रिका मातु मैं आनी । दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी ॥

× × × ×

मातु कुसल प्रभु अनुज समेता । तव दुख दुखी सुकृपा निकेता ॥
जनि जननी मानहु जियँ ऊना । तुम्ह तें प्रेमु राम कें दूना ॥
रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर ।
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर ॥

× × × ×

कह कपि हृदयँ धीर धरु माता । सुमिरु राम सेवक सुखदाता ॥

× × × ×

निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु ।
जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु ॥

× × × ×

अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई । प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई ॥
कछुक दिवस जननी धरु धीरा । कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा ॥

इस प्रकार जब नौ बार अपनेको 'माता' अथवा 'जननी' से सम्बोधित शब्द होते हुए श्रीसीताजी सुनती हैं, अर्थात् जब अङ्कोंकी सीमा समाप्त हो जाती है और इसके आगे फिर वही १ से लेकर ९ तकके अङ्कोंको केवल दुहरानामात्र ही होता है, तब इस नन्हे-से वानरकी ऐसी युक्तियुक्त बातोंको सुन-सुनकर माता सीताका कोमल हृदय द्रवीभूत हो जाता है और तब हनुमान्‌जीको वे अपना सुत स्वीकार करते हुए कहती हैं—

हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना ?

इसी परम श्रेष्ठ सुतकी पदवी पानेके लिये ही तो हनुमान्‌जीने वानरका लघुरूप धारण कर रखा है। परंतु जब माता सीता कहती हैं—

मोरें हृदय परम संदेहा ।

तब—

सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा ॥

और उनकी निज अर्थात् अपनी स्वाभाविक देह है—

कनक भूधराकार सरीरा । समर भयंकर अति बल बीरा ॥

—जिसको देखते ही—

सीता मन भरोस तब भयऊ । पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ ॥

(शेष आगे)

काजल

[रचयिता०—श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी 'निधिनेह']

काकौ करौं ध्यान चित, गान करौं काकौ मुख,
काकौं उर धारि प्यारे, गर गजरा करौं ।
को है निरबंध सुख कंद ब्रजचंद बिनु,
परि जगफंद जासौं खुलि झगरा करौं ॥
आउ रे गुपाल ! उर लाउ भाउही मैं मोहि,
तोसौं घन नेही पाइ काहे पजरा करौं ।
कंज पद ध्याय, पद गाय, हुलसाय प्यारे,
तेरे पद पंकज की रज कजरा करौं ॥

ऋग्वेदीय मन्त्रद्रष्टा

(लेखक—ऋग्वेद-भाष्यकर्ता पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

[गताङ्कसे आगे]

एक बार वरुण और वसिष्ठ नौकापर समुद्र-पर्यटनके लिये गये थे। वहाँ जल-तरङ्गोंके थपेड़ोंसे नौका हिलती-डोलती थी। तब उन्हें झूलेकी क्रीड़ाका सुख मिला था। वह दिन भी बड़ा सुहावना था (७ । ८८ । ३-४)। वरुणके औरस पुत्र होते हुए भी वसिष्ठने कदाचित् कभी वरुणकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया था; किंतु पीछे वरुण प्रसन्न हो गये थे (वहींका छठा मन्त्र)। सरस्वतीसे कहा गया है—'सुधना सरस्वती! तुम्हारे लिये वसिष्ठ यज्ञका द्वार खोलते हैं (७ । ९५ । ६)। तो क्या सरस्वतीके प्रथम उपासक वसिष्ठ ही थे?

वसिष्ठ और विश्वामित्रके मनोमालिन्यके स्पष्ट उदाहरण भी मन्त्रोंमें मिलते हैं।

वसिष्ठके समान ही उनके वंशज भी महान् याज्ञिक थे। कहा गया है—'वसिष्ठके समान ही उनके वंशजोंने स्तुति की। उन्होंने मङ्गलके लिये वसिष्ठके समान देवपूजा की (१० । ६६ । १४)।

सप्तम मण्डलके १ से ३२ सूक्तों, ३३ के १ से ९ मन्त्रों और ३४ से १०४ सूक्तोंके मन्त्रद्रष्टा वसिष्ठ हैं। ३३ वें सूक्तके १० से १४ मन्त्रोंके ऋषि वसिष्ठ-पुत्रगण हैं और किसी-किसीके मतसे १०१ सूक्तके ऋषि अग्निपुत्र कुमार हैं। ९ वें मण्डलके ९० सूक्तके ऋषि भी वसिष्ठ हैं। इसी मण्डलके ९७ सूक्तके ऋषि वसिष्ठ, उनके पौत्र पराशर और उनके गोत्रज नाना ऋषि हैं।

वसिष्ठ, पराशर आदिके शत्रु अनेक असुर थे (७ । १८ । २१)। शक्ति-पुत्र पराशर प्रथम मण्डलके ६५ से ७३ सूक्तोंके ऋषि हैं। ९ । १०८ के शक्ति आदि कई ऋषि हैं। ९ । ९७ के १६ से १८ मन्त्रोंके वसिष्ठ-गोत्रज व्याघ्रपाद, १३ से १५ के उपमन्यु, ७ से ९ के वृषगण, २२ से २४ के कर्णश्रुत, २५—२७ के मृळीक, २८ से ३० के वसुक्र और १० से १२ के मन्यु ऋषि हैं। वृषगण बाधके साथ यज्ञ-मण्डपमें मन्त्र गाते थे (७ । ९७ । ८)। दशम मण्डलके ८३ से ८४ सूक्तोंके ऋषि भी ये ही तपःपुत्र मन्यु हैं। वसिष्ठ-गोत्रीय प्रथ १० । १८१के प्रथम मन्त्रके ऋषि हैं और ८ । ७६ के कुछ मन्त्रोंके ऋषि वसिष्ठ-पुत्र द्युम्नीक हैं। १० । १२२ के ऋषि वसिष्ठ-पुत्र चित्रमहा हैं।

यह बात ध्यान देनेकी है कि वंशधरोंके अतिरिक्त शिष्य-प्रशिष्य भी अपने गुरु या आचार्यके गोत्रसे ही अभिहित होते थे। सभी गोत्रज वंशधर नहीं थे।

विश्वामित्र चन्द्रवंशी राजा गाधिके पुत्र थे। इनके पास अतुल ऐश्वर्य और अपार सैन्य-बल था। कामधेनुके लिये वसिष्ठके साथ जो इनका संग्राम हुआ था, उसमें ये ससैन्य पराजित हो गये थे—यह लिखा जा चुका है। इसके अनन्तर इन्होंने महादेवको प्रसन्नकर धनुर्वेद या युद्ध-विद्याको हस्तगत किया। पुनः आक्रमण करके इन्होंने वसिष्ठका तपोवन ध्वस्त-विध्वस्त कर डाला। वसिष्ठने इन्हें ब्रह्मदण्डसे पुनः परास्त कर दिया। इन्होंने ही त्रिशङ्कु राजाको नक्षत्रपुञ्जमें स्थापित करनेमें साहाय्य किया।

जिन दिनों विश्वामित्र पुष्कर क्षेत्रमें तपोनिरत थे, उन दिनों मेनका नामकी अप्सराने विघ्न डाला। फलस्वरूप शकुन्तलाका जन्म हुआ। कई बार विकट तप करनेपर ब्रह्माने इन्हें ब्राह्मणत्व प्रदान किया। अनन्तर इन्होंने वेदाध्ययन किया। इन्होंने परीक्षाके लिये राजा हरिश्चन्द्रका सारा राजैश्वर्य ले लिया। राजाकी महिषी शैव्या और पुत्र रोहिताश्व काशीमें एक ब्राह्मणकी नौकरी करने लगे और स्वयं विश्वामित्रको दक्षिणा देनेके लिये राजाने चाण्डालकी नौकरी कर ली। सर्पदष्ट होनेपर जब रोहिताश्व मर गया, तब शैव्या उसे लेकर वहीं पहुँची, जहाँ हरिश्चन्द्र नियुक्त थे। राजा करुण विलाप करने लगे, तब विश्वामित्र पहुँचे, सारा राजैश्वर्य लौटा दिया और रोहिताश्वको भी जीवित कर दिया। राक्षसोंका उपद्रव जब इनके यज्ञमें होने लगा, तब ये राम और लक्ष्मणको अपने साथ ले गये और इन्हें मार्गमें ही बला और अतिबला नामके मन्त्र बताये। श्रीरामचन्द्रने ताड़काका वध करके विश्वामित्रका यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न कराया। यहाँसे विश्वामित्र इन्हें लेकर गौतम ऋषिके आश्रमपर गये और अहल्याका उद्धार किया। अनन्तर इन्होंने ही मिथिलामें रामचन्द्र आदि चारों भाइयोंका

विवाह कराया। अन्तमें वसिष्ठसे इनकी मैत्री भी हो गयी थी।

ऋग्वेदमें ऐसी कथा तो नहीं है, परंतु वसिष्ठसे शत्रुता-वाली बातोंकी झलक मिलती है। ये तृतीय मण्डलके मन्त्र-द्रष्टा हैं। इनके यहाँ अखण्ड अग्नि-कुण्ड प्रज्वलित रहता था (३। १। २१)। ३। १८। ४ में विश्वामित्रके वंशधरों-के लिये अग्निदेवसे अभय और आरोग्यकी माँग की गयी है। ३। २६। २-३ से ज्ञात होता है कि ये 'कुशिकगोत्रोत्पन्न—कौशिक' थे। ये कौशिक लोग महान् ज्ञानी थे—सारे संसारका रहस्य जानते थे (३। २९। १५)। ये स्वर्ग-सुखाभिलाषी भी बताये गये हैं (३। ३०। २०)। ३। ३३। ५ और ९ में विश्वामित्र अपनेको कुशिकनन्दन बता-कर विपाशा (व्यास) और शुतुद्री (सतलज) नदियोंसे मार्ग माँग रहे हैं। ३। ५३। ७ में ये रुद्रके बलशाली पुत्र मरुतोंसे अश्वमेध-यज्ञमें अन्न-धनकी याचना कर रहे हैं। इसी ५३ वें सूक्तके ९ वें मन्त्रमें कहा गया है—'अतिशय सामर्थ्यशाली, अतीन्द्रियार्थद्रष्टा, देदीप्यमान तेजोंके जनयिता और अध्वर्यु आदिके उपदेष्टा विश्वामित्रने सिन्धुको शान्त किया।' इसी सूक्तके १०से १३ मन्त्रोंमें विश्वामित्रने अपने पुत्रोंके यज्ञ-मण्डपमें 'हंसके समान मन्त्र-पाठ करने' और अपने कर्मोंका वर्णन किया है। १० वें मन्त्रमें इन्होंने कुशिकगोत्रजोंको भी अतीन्द्रियद्रष्टा बताया है। ३। ५३। २३-२४ मन्त्रोंमें विश्वामित्र कहते हैं—'वसिष्ठके भृत्यो! अवसान करनेवाले विश्वामित्रकी मन्त्र-शक्तिको तुम नहीं जानते। तपस्याका नाश न हो जाय, इसी लोभसे चुप-चाप बैठे हुएको पशु जानकर ले जा रहे हो। वसिष्ठ मेरे साथ स्पर्द्धा करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि प्राज्ञ व्यक्ति मूर्ख व्यक्तिको उपहसनीय नहीं बनाते; अश्वके सम्मुख गर्दभ नहीं लाया जाता।' 'भरतवंशीय वसिष्ठके साथ पार्थक्य जानते हैं, एकता नहीं। शिष्टोंके साथ उनकी संगति नहीं है।' वसिष्ठ और भरतगणके साथ विश्वामित्रका वैमनस्य था, इसका आभास इन दोनों मन्त्रोंमें है।

मन्त्र-शक्तिकी बात भी ऊपर आयी है। जैमिनीय मीमांसाके मतसे 'जिस मन्त्रमें जिस देवताका वर्णन है, उस देवताकी समस्त शक्ति उस मन्त्रमें निहित रहती है। मन्त्रोंमें अनुस्यूत शक्तिको दिखानेके लिये ही दिव्य शक्तियोंका वर्णन किया गया है। वस्तुतः मन्त्रगत दिव्य और अति-दिव्य शक्तियोंका ही यह वर्णन है, तत्तद्देवोंकी शक्तिका नहीं। प्रत्येक मन्त्रमें अद्भुत शक्ति है। यह शक्ति अबतक देश-विदेश सर्वत्र देखी जाती है। बड़े-बड़े पाश्चात्त्य मनीषियोंने कुछ ही वर्ष पहले तिब्बतमें मन्त्रोंकी अलौकिक शक्ति देखकर बड़ी-बड़ी पोथियाँतक लिख डाली हैं। इस सम्बन्धमें उन लोगोंका स्पष्ट अनुभव है, जो वैदिक और तान्त्रिक मन्त्रोंके अनन्य अनुरागी और अदम्य अभ्यासी हैं।

९। ६७ के ऊपर 'गाथिन विश्वामित्र' का नाम आया है। १। १०। ११ में 'कुशिक-पुत्र' का उल्लेख है। १०। १२७ में कुशिकके पिता सौभर ऋषि कहे गये हैं। ३। ३१ में कुशिकके पिता इषीरथ कहे गये हैं। तब क्या कई कुशिक थे? ३। १ से १२ और २४ से ३२ सूक्तों, ३३ के ९ मन्त्रों, ३४ से ३५ सूक्तों, ३७ से ५३ सूक्तों तथा ५७ से ६१ सूक्तोंके द्रष्टा विश्वामित्र हैं। २६ वें और ३३ वें सूक्तोंके तथा ४। ६। ८ और १० मन्त्रोंके वक्ता दूसरे हैं। ३६ वें के घोर आङ्गिरस ऋषि हैं। ६२ वें सूक्तके ऋषि भी विश्वा-मित्र हैं—मतान्तरमें अन्तिम ३ ऋचाओंके जमदग्नि हैं। मतान्तरके ही कारण ऐसे अनेक सूक्त हैं, जिनके द्रष्टा कई विभिन्न ऋषि बताये गये हैं। १०। १६७ के ऋषि विश्वामित्र और मतान्तरमें जमदग्नि हैं। किसी-किसी पौराणिक मतसे तो जमदग्निके पिता भी कुशिक थे। कुशिक ऋषि ब्राह्मण थे।

विश्वामित्रके पुत्र मधुच्छन्दा ऋग्वेदके १। १ से १० सूक्तोंके ऋषि हैं। ११ वें सूक्तके ऋषि मधुच्छन्दाके पुत्र जेता हैं। ९। १ के वक्ता भी ये मधुच्छन्दा ही हैं। १०। १९० के इनके पुत्र अघमर्षण द्रष्टा हैं। ३। १३-१४ के ऋषि विश्वामित्र-पुत्र 'अपत्य' हैं। ३। ५४ से ५६ के द्रष्टा विश्वामित्र-पुत्र प्रजापति हैं। ३। १५-१६ के कन-गोत्रीय उत्कील, ३। १७-१८ के ऋषि विश्वामित्रके अपत्य कत और ३। १९। २२ के कुशिकके अपत्य गाथी हैं। ९। ७० के ऋषि विश्वामित्र गोत्रीय रेणु और १०। ८९ के विश्वामित्र-पुत्र रेणु कहे गये हैं। कदाचित् रेणु नामक दो ऋषि थे। रेणुने १७ वें मन्त्रमें अपनेको विश्वामित्रकी संतति बताया है। ९। ७१ के ऋषि विश्वामित्र-गोत्रीय ऋषभ और ९। १०४ के विश्वामित्र-पुत्र अष्टक हैं। १०। १६० के द्रष्टा विश्वामित्र-पुत्र पूरण हैं।

सत्त्व, रज और तम नामके तीनों गुणोंसे जो परे अर्थात् गुणातीत है, उसका नाम अत्रि है। ये जीवन्मुक्त योगी थे। ये ब्रह्माके मानस पुत्र थे। दक्ष-पुत्री अनसूया इनकी

सहधर्मिणी थीं। दत्त, सोम और दुर्वासा नामके इनके तीन पुत्र थे। वनवास-कालमें रामभद्रने इनका आतिथ्य स्वीकार किया था। अत्रिके नेत्रसे चन्द्रमाकी उत्पत्ति कही गयी है; चन्द्रमाका एक नाम ही है 'अत्रिनेत्रज'।

परंतु ऋग्वेद १० । १४३ में अत्रि संख्य-पुत्र कहे गये हैं। इस सूक्तके द्रष्टा ये ही हैं। पञ्चम मण्डलके द्रष्टा अत्रि हैं। एक बार असुरोंने अत्रिके ऊपर 'शतद्वार' नामका संहारक अस्त्र फेंका था (१ । ५१ । ३)। असुरोंके घरका नाम भी 'शतद्वार' था, जिसमें अंगारे धधकते रहते थे। इस घरमें उन्होंने अत्रिको झोंक दिया था। अश्विद्वयने इनकी रक्षा की थी (१ । ११२ । ७)। इनके प्रधान रक्षक ये अश्विद्वय ही थे (१ । १८० । ४)। ५ । ७ । १० में इस ऋषिका कथन है—'जो अग्निको हव्यदान नहीं करता, उस दस्युको अत्रि ऋषि पुनः-पुनः अभिभूत करें और विरोधियोंको भी पुनः-पुनः अभिभूत करें।' स्पष्ट है कि ऋषिलोग हवनके कट्टर पक्षपाती थे। दैवी शक्तिको जाग्रत् करने और अपना अर्पण करनेका श्रेष्ठ साधन हवन है। इस शब्दमें महती अभिव्यञ्जना-शक्ति भी है। यही कारण है कि नास्तिक भी बात-बातपर अपने 'प्राणोंकी आहुति' देते रहते हैं और छोटे-मोटे कार्योंकी समाप्तिपर 'यज्ञ सम्पन्न' करते रहते हैं। उच्चतम भावोंको व्यक्त करनेके लिये 'होम' और 'यज्ञ' शब्दोंसे बढ़कर संस्कृतमें वस्तुतः कोई शब्द नहीं है। ये दोनों धर्मके क्रियात्मक रूप हैं और किसी भी धर्मका प्राण उसका क्रियात्मक रूप ही है।

५ । ३८ । ५ की उक्ति है कि 'अत्रि-पुत्र इन्द्रके पास ही स्तोत्रोंको उच्च स्वरसे पढ़ते और इन्द्रको उद्दीप्त करते हैं।' प्रसिद्ध राजा और राजर्षि कक्षीवान्के होता भी अत्रि थे (५ । ४१ । ५)। ये 'सर्वदा पाठ करते रहते थे' (५ । ७४ । १)। ६ । ५० । १० में भी अश्विद्वयके द्वारा अत्रि ऋषिको अन्धकारसे छुड़ानेकी बात है। यही बात ७ । ७१ । ५ में भी है। अत्रिके ऊपर इन्द्र प्रसन्न रहते हैं, यह बात अन्य ऋषियोंको भी विदित थी (८ । ३६ । ७ और ३७ । ७)। अग्निमें फेंके हुए अत्रिके लिये अश्विद्वयने अग्नि-दहनका निवारण हिम-जलसे किया था (८ । ६२ । ३)। असुरोंने 'सात बन्धनोंमें बाँधकर जलते अग्निकुण्डमें अत्रिको फेंका था (१० । ३९ । ९)। एक स्थानपर यह भी कहा गया है कि 'प्रबल पराक्रमी शत्रुओंने अत्रिको घोड़ेके समान बाँध रखा था' (१० । १४३ । २)। 'यज्ञ करके अत्रि ऋषि वृद्ध हो गये थे। उन्हें अश्विद्वयने नवयौवन प्रदान किया था' (१० । १४३ । १)।

पञ्चम मण्डलके ३७ से ४०, ४३, ८५ और ८६ सूक्तोंके द्रष्टा अत्रि हैं। ५ । १ के ऋषि अत्रिवंशीय बुध और गविष्ठिर हैं। १० । १०१ सूक्तके वक्ता भी बुध हैं। वहाँ वे सोम-पुत्र कहे गये हैं। युद्धके समय अग्निने गविष्ठिरकी रक्षा की थी। (१० । १५० । ५)। ५ । २ के ऋषि अत्रिपुत्र कुमार या जरपुत्र वृश हैं। अत्रि-गोत्रोत्पन्न वृश निन्दकोंके शत्रु थे (५ । २ । ६)। ५ । २४ में चार मन्त्र हैं और चारोंके ऋषि *क्रमशः बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु और विप्रबन्धु* हैं। १० । ५७ से ६० सूक्तोंके ऋषि भी ये ही हैं। १० । ५९ । ८ में सुबन्धुके माता-पिता द्यावा-पृथिवी कहे गये हैं। ५ । ११–१४के ऋषि सुतम्भर हैं। ये अवत्सार ऋषिके यज्ञमें फलोंके पालक थे (५ । ४४ । १३)। ५ । ४१ । ११ में अत्रिके अपत्य भौम ऋषि पर्वतका भी सम्मान कर रहे हैं। ये ५ । ४१-४२, ७६-७७ और ८३-८४ सूक्तोंके द्रष्टा हैं। ५ । ३३ । १ से ज्ञात होता है कि संवरण ऋषि दुर्बल थे और बलशाली बननेके लिये इन्द्रकी स्तुति करते थे। इसी ३३ वें सूक्तके दसवें मन्त्रमें कहा गया है कि लक्ष्मणके पुत्र ध्वन्यने संवरणको प्रचुर धन प्रदान किया था।' ५ । ३३-३४के ऋषि ये ही हैं। अत्रिके अपत्य अवस्यु उद्भट विद्वान् थे और दानमें उन्हें वायुवेगशाली अश्व मिले थे (५ । ३१ । १०)। ये अश्विद्वयके उपासक थे और रथालंकरण-कलाके ज्ञाता थे (५ । ७५ । १)। ५ । ३१ और ७५ सूक्तोंके द्रष्टा ये ही हैं। अत्रिके अपत्य वसूयु ऋषि ५ । २५-२६ सूक्तोंके वक्ता हैं। ये अग्निके उपासक थे। इनके भी बहुत शत्रु थे (५ । २५ । १ और ९)। सप्तवध्रि ऋषि मायाकी पेटिका (बाक्स) में बंद थे। अश्विद्वयने उसे विभक्त करके उन्हें निकाला था (५ । ७८ । ५-६)। ये ही आत्रेय सप्तवध्रि ५ । ७८ और ८ । ६२ के ऋषि हैं। इसी ७८ के १८ वें मन्त्रमें कहा गया है कि 'ये काली पेटिकामें बंद थे, जिसे पीछे इन्होंने जला डाला।' आत्रेय एवयामरुत् विष्णु और मरुतोंके विशिष्ट स्तोता थे। ५ । ८७ के ऋषि ये ही हैं। ५ । ३० के द्रष्टा बभ्रु हैं। ये इन्द्रके स्तोता थे। 'रुशम देशके राजा ऋणंचयके किंकर देश-वासियोंने अलंकार और आच्छादनसे सुसज्ज गृह, चार हजार गायें और हिरण्मय कलश इन्हें दिया था' (५ । ३० ।

१२-१५)। आत्रेय द्युम्न ५ । २३ के ऋषि हैं । ये अग्निदेवसे इसी सूक्तके १-२ मन्त्रमें 'शत्रु-विजेता' और शत्रु-सेना-पराभवकारी पुत्र माँग रहे हैं । अत्रिके अपत्य विश्वसामा ऋषि अग्निको वर्द्धित और स्तोत्रद्वारा अलंकृत करते थे । (५ । २२ । ४) । ये ५ । २२ के द्रष्टा हैं । अत्रि-पुत्र द्वित ऋषि विशुद्ध हव्य-वाहक थे (५ । १८ । २) । इस १८ वें सूक्तके ये ही वक्ता हैं । आत्रेय वव्रि ५ । १९ के ऋषि हैं । अत्रिके गोत्रज गय ऋषि अग्नि-जागरण करनेमें दक्ष थे (५ । १० । ४) । इनके पिता प्लुति थे । गयका कहना है—'देवोंकी प्रसन्नतासे मनुष्य प्रभुत्व पाया करते हैं । (१० । ६३ । १७) । १० । ६४ । १७ में भी यही बात है । ये ५ । ९-१० और १० । ६३-६४ के द्रष्टा हैं । अत्रिके अपत्य श्यावाश्व ऋषि मरुतोंके स्तोता थे तथा अश्विद्वयके भी उपासक थे । राजा तरत्की स्त्री शशीयसीने इन्हें 'शत-मेषात्मक पशु-यूथ प्रदान किया था ।' ये अपना अनुभव बताते हैं—'जो पुरुष देवोंकी आराधना और धन-दान नहीं करता, उसकी अपेक्षा शशीयसी सर्वांशतः श्रेष्ठ है (५ । ६१ । ५-६) । ये ५ । ५२–६१ तथा ८१–८२ सूक्तोंके द्रष्टा हैं । ९ । ३२ के ऋषि भी ये ही हैं । इनके पुत्र अन्धीगु ९ । १०१ के तीन मन्त्रोंके ऋषि हैं । एक कण्व-गोत्रीय श्यावाश्व भी थे, जो ८ । ३५–३८ के द्रष्टा हैं । पञ्चम मण्डलके ३–६ सूक्तोंके वसुश्रुत, ७-८ के इष, ३२ के गातु, ६९-७० के उरुचक्रि, ६६-६८ के यजत, ७३-७४ के पौर, १७-१८ के पूरु, २१ के सस, ४६ के 'सर्वज्ञ' प्रतिक्षत्र, ४७ के प्रतिरथ, ६५के रातहव्य, ७१-७२ के बाहुवृक्त, ६२के श्रुतविद्, ४५ के सदापृण, ७९-८०के सत्यश्रवा, २० के प्रयस्वत्, ६३-६४ के अर्चनाना, ४८ के प्रतिभानु, ४९के प्रतिप्रभ, ५०-५१के स्वस्ति और १५ के धरुण ऋषि हैं ।

सम्पूर्ण ऋग्वेदमें अङ्गिरा और उनके वंशधरों और शिष्य-प्रशिष्योंका जितना उल्लेख है, उतना किसी भी ऋषि-के सम्बन्धमें नहीं है । प्रसिद्धि है कि अङ्गिरा ब्रह्माके मानस पुत्र थे । इनकी स्त्रीका नाम श्रद्धा या किसी मतसे स्मृति था । इनके दो पुत्र थे—बृहस्पति और उतथ्य ।

अङ्गिराके वंशीय और गोत्रीय किसी-किसी मतसे नवम मण्डलके मन्त्र-द्रष्टा हैं । अङ्गिरोवंशीयोंके स्तोत्र द्वार-स्थित स्तम्भके समान अचल बताये गये हैं (१ । ५१ । १४) । अङ्गिरा लोगोंने पणियों (अनार्यों) के द्वारा अपहृत गौओं-का उद्धार किया था । इन गायोंको खोजनेमें सरमा नामकी कुतिया इनके साथ थी । ये दस-दस महीने लगातार यज्ञ करते थे (१ । ६२ । २-४) । इन्होंने मन्त्रद्वारा गो-हर्ता पणियोंका विनाश किया था (१ । ७१ । १) । इन्होंने 'अग्नि प्रज्वलित करके सुन्दर योगके द्वारा इन्द्रकी पूजा की थी (१ । ८३ । ४) । अङ्गिराके पुत्र कुत्स १ । १०१ से ११५ सूक्तोंके द्रष्टा हैं और पणियोंके द्वारा अपहृत गौओंकी कथा इन्होंने भी कही है (१ । १०१ । ५ आदि) । राक्षसोंने इन्हें भी कूपमें डाल दिया था । इन्द्रने इनका उद्धार किया था (१ । १०६ । ६) । दिवोदासके पुत्र परुच्छेदका मत है कि दधीचि, अङ्गिरा, प्रियमेध (अङ्गिराके पुत्र), कण्व, अत्रि और मनु प्राचीन ऋषि हैं (१ । १३९ । ९) । अर्बुद राक्षसके वधके समय इन्द्रने अङ्गिरा लोगोंकी सहायता ली थी (२ । ११ । २०) । आङ्गिरस लोग 'नयी स्तुति' करनेमें निपुण थे (२ । १७ । १) । यज्ञ-स्थानसे चुरायी हुई अङ्गिरा लोगोंकी गायोंका पता इन्द्रसे ज्ञात हुआ (२ । २१ । ५) । वे पर्वतोंमें छिपायी गयी थीं (२ । २३ । १८) । वहीं पणियोंका दुर्ग था । 'सत्यवादी' और 'सर्वज्ञाता' अङ्गिरा लोगोंने परिगयोंकी माया जानकर वहीं अग्निको फेंका था (२।२४।७) । सात मेधावी अङ्गिरा लोग पर्वतपर इन्द्रके साथ गये थे । पहले सरमा पर्वतके टूटे हुए द्वारपर पहुँची थी और शब्द पहचानकर गायोंके पास पहुँच गयी थी । इन्द्रकी सहायतासे गौओंका उद्धार होनेके कारण इन्होंने इन्द्रकी पूजा की (३ । ३१ । ५—७) । आङ्गिरसोंके साथ इन्द्रने 'परकीय सेनाको परास्त किया था' (३ । ३४ । ४) । सूर्यवंशी राजा सुदासके याजक अङ्गिरा थे (३ । ५३ । ७) । अङ्गिरा लोग कर्मोंके नेता और अग्निकी कामनावाले थे और उन्होंने ही पहले-पहल वाग्माताके स्तुति-साधक वचनोंको जाना और पश्चात् वचन-सम्बन्धी २७ छन्दोंको प्राप्त किया (४ । १ । १५–१६) । ये 'प्रथम मेधावी, अग्नि-ज्वालाओंके जनक और आदित्य-पुत्र' भी बताये गये हैं (४ । २ । १५) । ये पुनः 'नौ और दस महीनोंमें यज्ञ समाप्त करनेवाले' कहे गये हैं (५ । २९ । १२) । पर्वतके बीच गुप्तरूपसे रखी गयी गायोंका उद्धार जो इन्द्रके साथ अङ्गिरा लोगोंने किया और पणियोंको पराभूत किया, इसका उल्लेख बहुत मन्त्रोंमें है (६ । ३९ । २; ८ । १४ । ८; ६ । ६५ । ५; ७ । ९० । ४ आदि) । अङ्गिरालोग 'सत्यसंध, कवि और प्राचीन समय-के पालक तथा गूढ़ तेजस्वितासे सम्पन्न थे' (७ । ७७ । ४)

अङ्गिरा, अथर्वा और भृगु प्राचीन पितृ-गण कहे गये हैं (१० । १४ । ६)। 'दस अङ्गिराओंकी उत्पत्ति प्रजापतिसे हुई थी' (१० । २७ । १५)। इनमें एक कपिल थे (वहींका १६)। अङ्गिरा लोगोंने यज्ञके प्रतापसे इहलोक और परलोक—दोनोंमें संवर्द्धन प्राप्त किया था (१० । ६१ । १०)। वे अमरत्व भी पा चुके थे । उन्होंने यज्ञ करके वलासुरका विनाश किया था । इन्होंने 'सत्यरूप यज्ञ' करके पृथिवीको प्रविद्ध किया । ये ब्रह्म-तेज भी प्राप्त कर चुके थे। ये गम्भीर कर्मठ थे । नौ और दस मास यज्ञ करनेमें तो ये प्रख्यात थे ही। इनके काम लंबे-लंबे थे (१० । ६२ । १-७) । अङ्गिरा लोगोंने सात छन्दोंवाले विशाल स्तोत्रका आविष्कार किया था, जिसका मूल सत्य था। ये 'सत्यवादी थे, इनके मनका भाव सरल था, ये स्वर्गके पुत्र थे, महाबली थे और बुद्धिमानोंके समान आचरण करते थे (१० । ६७ । १-२) । ये साम-गाता भी थे (१० । ७८ । ५) ।

पणियोंके यहाँसे गायोंके उद्धारके लिये जो सरमा कुक्कुरी पर्वतपर गयी थी, वह नदी लाँघकर गयी थी । यह इन्द्रकी दूती थी। इसने इन्द्र, अङ्गिरा और देव-गुरु बृहस्पतिकी तेजस्विता, अजेयता और प्रतापशालिताकी बातें करके और पणियोंको भयभीत करके गौओंके उद्धारमें सहायता दी थी। यह पूरी कथा १० । १०८ में है। बात यह है कि गोदुग्धके विना ऋषियोंका न तो सोमरस तैयार हो सकता था और न गो-घृतके विना यज्ञ हो सकता था । इसीलिये ऋषिलोग गायोंके अनन्य अनुरागी, सेवक और भक्त थे तथा उनकी रक्षाके लिये प्राणतक देनेको तैयार रहते थे। यह वैदिक संस्कार अबतक हममें विद्यमान है। यही क्यों, अधिकांश वैदिक संस्कार हमारे अंदर अभीतक वर्तमान हैं। वस्तुतस्तु वैदिक शब्दोंके आधारपर ही सारे संसारके प्राणियोंके नाम, कर्म और व्यवस्थापन निर्मित और निश्चित किये गये । मनुजीका भी ऐसा ही अभिमत है (मनुस्मृति १ । २१)।

अङ्गिराके पुत्र हिरण्यस्तूप १ । ३१ से ३५ । ९ । ४ और ९ । ६९ सूक्तोंके द्रष्टा हैं । इनके पुत्र अर्चत् १० । १४९ के ऋषि हैं । आङ्गिरस सप्तगु 'सत्यकर्मा, शोभन-प्रज्ञ और मन्त्र-स्वामी' तथा १० । ४७ के द्रष्टा थे । नृमेध और पुरुमेध अङ्गिराके वंशज थे । ये ८ । ७८-७९ के ऋषि हैं । नृमेध ८ । ८७-८८ के भी द्रष्टा हैं । ९ । २७ और २९ सूक्तोंके द्रष्टा भी ये ही हैं । इनके पुत्र शकपूत १० । १३२ के ऋषि स्मर्ता हैं । प्रियमेध प्रौढ़ 'प्रौढ़कर्मा' थे (१ । ४५ । ४)। प्रियमेध जातिस्मर भी थे (१ । १३९ । ९) । प्रियमेध और इनके वंशज इन्द्रके उपासक थे (८ । ३ । १६) । ये अत्यन्त प्रतिष्ठित ऋषि थे (८ । ४ । २०) । इनके सहायक अश्विद्वय थे (८ । ८ । १८) । आङ्गिरस प्रियमेध ८ । २ के कुछ मन्त्रों, ८ । ५७ से ५८ सूक्तों, ८ । ७६ के कई मन्त्रों तथा ९ । २८ सूक्तके ऋषि हैं। कण्वगोत्रोत्पन्न प्रियमेध ८ । ३३ के द्रष्टा हैं । प्रियमेधके पुत्र सिन्धुक्षित् १० । ७५ के ऋषि हैं । अङ्गिराके पुत्र सव्य १ । ५१-५७ के, आङ्गिरस प्रभुवसु ५ । ३५-३६ और ९ । ३५-३६ के, अङ्गिराके पुत्र वीतहव्य ५ । १५ के, अङ्गिराके पुत्र विरूप ८ । ४३-४४ और ६४ के, आङ्गिरस तिरश्ची ८ । ८४ के, आङ्गिरस विन्दु ९ । ३० के, आङ्गिरस बृहन्मति ९ । ३९-४४ के, आङ्गिरस अमहीयु ९ । ६१ के, आङ्गिरस हरिमन्त या पवित्र ९ । ७२ और ९ । ८३ के, आङ्गिरस कण्व ९ । ९४ के, आङ्गिरस शिशु ९ । ११२ के, आङ्गिरस अभीवर्त १० । १७४ के, आङ्गिरस, ध्रुव १० । ११३ के, आङ्गिरस संवर्त्त १० । १७२ के, आङ्गिरस प्रचेता १० । १६४ के, आङ्गिरस विहव्य १० । १२८ के, आङ्गिरस भिक्षु १० । ११७ के, आङ्गिरस दिव्य १० । १०७ के, आङ्गिरस वरु १० । ९६ के, आङ्गिरस सप्तगु १० । ४७ के और अङ्गिराके पुत्र हविर्धान १० । ११-१२ सूक्तोंके द्रष्टा हैं। मरुत्पुत्र तिरश्ची वा द्युतान ८ । ८५ के ऋषि हैं।

३ । ३६ की १० वीं ऋचाके द्रष्टा घोर आङ्गिरस हैं । आङ्गिरस कृष्ण ८ । ७४ (एक मतसे ८ । ७६) के और १० । ४१ तथा ४४ के ऋषि हैं। यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है। छान्दोग्योपनिषद्के तृतीय प्रपाठकमें कहा गया है कि 'घोर आङ्गिरससे धर्मोपदेश सुनकर देवकीनन्दन श्रीकृष्ण भूख-प्यास भूल गये थे'। तो क्या वे ही घोर और वे ही वंशीधर कृष्ण इन सूक्तों और मन्त्रोंके द्रष्टा हैं ? जब श्रीकृष्णचन्द्रके समकालीन अनेक ऋषियों और राजाओंको मन्त्रद्रष्टा कहा गया है, तब क्यों नहीं वनमाली कृष्णको भी मन्त्रद्रष्टा माना जाय ? यह मननीय विषय है। ८ । ७४ (३-४) में कृष्ण ऋषिको 'स्तोत्र-परायण' और 'मेधावी स्तोता'

कहा गया है। क्षत्रिय राजर्षि भी अनेक सूक्तोंके द्रष्टा हैं ही।

कृष्णके पुत्र विश्वकाय ऋषि सरल स्वभावके थे (१। ११६। २३)। इनके पुत्र विष्णाप्व नष्टप्राय थे, जिनकी रक्षा अश्विद्वयने की थी (१। ११७। ७) कृष्णके पुत्र विश्वक ८। ७५ के ऋषि हैं। अश्विद्वयकी उपासनासे इन्हें विष्णाप्व पुत्र रूपमें प्राप्त हुए थे, जो इन्हींकी सहायतासे धनाढ्य हो गये थे (८। ७५। ३)। विश्वकाय और विश्वक एक ही पुरुषके दो नाम हैं।

यह वैज्ञानिक इन्द्रजाल

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

विष-विक्रय

प्रकृतिसे उत्पन्न साग, फल, अन्न अधिक कालतक स्वाभाविक दशामें टिक नहीं पाते, उन्हें कीड़े-मकोड़े और अन्य छोटे-छोटे जानवर खाने लगते हैं अथवा मौसमके प्रभावसे वे सड़ने लगते हैं। अपना पेट पालनेके लिये और कीटाणुओं तथा मौसमके प्रभावसे बचाने और बरबाद न होने देनेके लिये वैज्ञानिक मानवने उसपर विष छिड़कना आरम्भ कर दिया है, इससे कीटाणु हमारे भोज्य पदार्थोंको नहीं लगने पाते।

अमेरिकाके राष्ट्रपति आइसनहावरने कानून बना दिया है—वहाँके फलोंपर रंग चुपड़कर सुन्दर बनानेके लिये। अबतक घरकी दीवालों, छतों, दरवाजों और तस्वीरोंपर रंग पोते जाते थे; सौन्दर्यप्रमत्त रमणियाँ तो अपने अधर-कपोल बहुत पहलेसे रँगने लगी हैं और अब तो साग-भाजी, फल और अन्नपर विष, सुगन्धित और रंगीन विष छिड़के जाने लगे हैं। इन्हें कीड़े चाटेंगे तो मर जायँगे; परंतु मनुष्य! अभी इसका विचार वैज्ञानिक नहीं करते, किंतु कतिपय ईमाननदार वैज्ञानिकोंने प्रयोग करके इन्हें जहरीला पाया है। कनाडाके स्वास्थ्य-मन्त्रीने तो उन रंगोंको जहरीला जानकर अपनी पार्लमेंटमें कानून बनाकर उसका बहिष्कार कर दिया है, क्यों कि इससे कैंसर होना भी सम्भव है।

हमारे देशमें प्रचलित रंगीन सुगन्धित खाद्य, पेय, सोडा-लेमन, जिंजर, कुलफी, मिठाइयों, दवाइयों, मीठी गोलियोंपर कभी क्या आपने बच्चोंको खिलाने या खुद खाने-पीने-चाटनेके पहले कुछ विचार किया है? कभी सोचा है कि इस रंग-सुगन्ध-स्वादसे हमारी नाक, आँख, जिह्वाको धोखा हो रहा है? यह सब है हमारी इन्द्रिय-लोलुपतापर व्यापारी वैज्ञानिक इन्द्रजाल!

विदेशसे आनेवाले अन्नमें दस लाख टनमें कम-से-कम सात * टन, दस लाख † डबल रोटियोंमें सौ रोटीके बराबर, अंडोंपर ‡ दस लाखमें पचास अंडोंके बराबर चीज़ §-पनीरमें १५० भाग, और मक्खनमें × दो हजार भाग प्रति दस लाखमें डी-डी-टी मिलाया जाता है; अनुपातसे लगभग डेढ़ मनमें आधा पाव डी-डी-टी, दस लाख मनमें दो हजार मन। डी-डी-टी क्या मनुष्यके खानेकी चीज है + ? जिस डी-डी-टी से कीड़े मरते हैं, उसे खाकर इन्सान कबतक जीयेगा?

अहिंसक योजना

हमारे देशमें अब लौह-वृषभ (ट्रैक्टरों) के आ जाने और (चल जानेसे) गोबरकी खादकी जगह रासायनिक शक्करिया खाद बनने लगनेसे और तिल्ली तथा मूँगफली—इन दो बहिनोंके रासायनिक मेलसे घृतका भाई डालडा-वनस्पति पैदा हो जानेसे अब बकरी, भेंड़, गाय, भैंसों, बैलोंको पालनेकी आवश्यकता नहीं रह गयी। इनके पालनमें हिंसा होती है; क्योंकि मानव इनको पालते जिन्दा रखते हुए इनका रस-फल चूस-चूसकर अपना रक्त बढ़ाता है और मार-मारकर हल-बैलगाड़ी चलानेमें इनसे काम लेता है। पञ्चशील अहिंसाकी पञ्चसाला योजनाओंमें अब आगे अहिंसक प्रणालीसे ट्रैक्टरोंद्वारा गहरी जुताईसे, रासायनिक खाद और सिंचाई-योजनासे आशातीत अधिक खाद्यान्न उत्पन्न करके हमारा जनतन्त्र स्वतन्त्र देश प्राचीन स्वर्णयुगके पर्याय धन-धान्यसम्पन्न हो जायगा। वनस्पति डालडा खाकर शक्ति-स्वास्थ्यसम्पन्न रहेंगे।

* Seven parts per million; † Hundred parts per million; ‡ Fifty parts per million; § 150 parts per million.

× 2000 parts per million.

\+ One man's food, anothers poison. Man's own food his poison.

कुछ वर्षों पहले इंग्लैंडकी पार्लमेंटके हाउस ऑफ कामन्समें श्रीमन्तोंके बीच भूमि, कृषि, भोजन-तत्त्व और सबल स्वास्थ्य आदि विषयोंपर बड़ी बहस हुई थी—जिसमें दवा, अस्पताल, डॉक्टरीपर बढ़ते हुए राष्ट्रिय खर्चपर सिरदर्द होने लगा था; दवाओं और डॉक्टरोंके सूक्ष्म-विचार-हीन, अनुभवहीन होने और अस्पताल-पागलखानोंकी अव्यवस्था-दुरवस्थासे होनेवाली हानि और बढ़ते हुए रोगपर बड़ी चिन्ता प्रकट की गयी थी। बताया गया था कि भोजन एक घोड़ेकी तरह है, जो शरीर-रूपी गाड़ीको खींचता है। भोजन कमजोर और विषाक्त होगा तो शरीरपर उसका बुरा प्रभाव होगा। भूमिमें रासायनिक खाद पड़नेसे भूतत्त्वोंमें उत्तेजना होनेसे भले ही फसल अधिक हो; परंतु भूमिपर रासायनिक खादका वही असर होता है, जो व्यसन और शराब या उत्तेजक दवाका मनुष्यपर होता है। जैसे मनुष्य दवाओं, व्यसनों और कमजोर निस्सार भोजनसे रोगी और जीर्ण हो जाता है, उसी प्रकार भूमि भी तत्त्वहीन, निस्सार, जीर्ण हो जाती है। अमेरिकामें इस तरहकी गहरी जुताई और रासायनिक खादके लगातार प्रयोगसे २८ करोड़ एकड़ भूमि वन्ध्या हो गयी है, इसके अतिरिक्त ७७ करोड़ एकड़ भूमि मुर्दार हो गयी है। इसे चेतन कैसे किया जाय ? जैसे अधिक कालतक दवा सेवन करनेके बाद जीर्ण रोगीपर किसी दवाका असर नहीं होता, वही हाल भूमिका है।

वैज्ञानिक तथ्यकी बात तो यह है कि हमारे भोजनकी वस्तुओं, दूध, शक्कर, अन्न, साग, फलमें अधिकतर कार्बन होता है, भूमिका कार्बन-तत्त्व घास-वनस्पतिके रूपमें उगकर अनेक रूपोंमें भोजन बनकर हमारा पोषण करता है। सुपर-फास्फेट, सोडा नाइट्रेट, अमोनिया सल्फेट, पोटाश नाइट्रेट आदि रासायनिक खादोंमें कार्बन नहीं होता और इनके प्रभावसे, उत्तेजनासे भूमिका सारा कार्बन फसलोंमें शीघ्र ही शोषित हो जाता है और भूमि कार्बनहीन हो जाती है। इस तथ्यपर वैज्ञानिक कहते हैं कि पृथ्वीपर मनुष्यने अपनी वैज्ञानिक मूर्खता और अधिक लालचसे ही यत्र-तत्र मरुस्थल बनाये हैं।

इस आधुनिक जुताई और खादसे उत्पन्न फसल भले ही बड़े दानेकी और अधिक मात्रामें हो; इसमें वैसा स्वाभाविक पोषण नहीं होता, जो बैलोंसे हल्की जुताई और गोबर-पत्तोंकी खादसे उत्पन्न फसलसे होता है। भूमिको, भोजनको, अन्न-साग-फल और पानीको विषाक्त करके हम खाते-पीते हैं, व्यसन और औषध सेवन करते हैं। इसीलिये आज मुर्दार रोगी संतान उत्पन्न हो रही है और उनके अंधेपन, अपंगता, विकृताङ्गताको सुधारनेका कोई साधन नहीं मिल रहा है।

अमेरिकामें एक नौ वर्षके बालकने रेडियोपर अपने भाषणमें संसारके माता-पिताओंको इस सम्बन्धमें चेतावनी दी है कि खेतमें अच्छा बीज, खाद-पानी डालकर अच्छी फसल और पशुओंके मेलसे अच्छी नस्ल पैदा करना मनुष्य जानता है, परंतु अपनी सामाजिक खेतीमें वैज्ञानिक बनकर भी अज्ञानी है; क्योंकि उसे भोजन-संयमका ज्ञान एवं अभ्यास नहीं है। भावी प्रजननपर आजके माता-पिताओंको ऐसे अपराधसे बचनेके लिये अपने-आपको सुधारना चाहिये, जिससे उनकी संतान अंधी, अपंग, पागल, रोगी और मुर्दार न हो।

विज्ञानके ठेकेदार !

उत्तम स्वास्थ्य और दीर्घ जीवनके लिये सर्वसिद्ध विश्व-मान्य सनातन प्राकृतिक नियम है—साफ ताजी हवामें रहना, सूर्य-प्रकाशका सेवन, परिश्रम, नियमित भोजन और आराम (नींद); परंतु इंग्लैंडसे प्रकाशित १४–११–५६ के 'डेली एक्सप्रेस' में रिपोर्टर चैपमैन पिंचरकी कलमसे वहाँके ऊँचे अनुभवी चिकित्सक डॉ० जॉन टॉड (फार्न हम हॉस्पिटल, सरे) का कथन छपा है—'ताजी हवा, उचित नियमित भोजन, धूप और नींदका महत्त्व स्वास्थ्यके लिये नहींके बराबर है। इस विषयमें तो लोगोंमें पुराने जमानेसे कोरा विश्वास मात्र प्रचलित है। डॉक्टरी प्रमाणोंसे ये सर्वसाधारण विश्वास-की बातें रद्दी मानी जाती हैं।'

इसका अर्थ है कि गंदी दूषित हवामें, रातको बिजलीके प्रकाशमें, काम करते हुए, भोजन मिले या न मिले, दवाइयों, इन्जेक्शनोंके बलपर जब चाहे जितना जागो, जितना सोओ (बेहोश रहो) और उत्तेजक शक्ति प्राप्त करो।

सच बात तो यह है कि दुनियामें डाक्टरी विज्ञान (Medical Science) का ढोल पीटनेवाले जितने भी स्वयंको डाक्टर कहते हैं, उनमेंसे कोई भी सच्चा डाक्टर नहीं है। डाक्टरका अर्थ है आचार्य, शिक्षक। परंतु ये शिक्षा बिल्कुल नहीं देते, विष-विक्रय और छुरी चलानेका धंधा करते हैं और ये भोजन-शास्त्र, पाचन-शास्त्र तथा रोग-विज्ञानके विषयमें कुछ भी नहीं जानते। यदि जानते तो दुनियाको बताते, गलतियोंको

सुधारते और स्वयं गलती न करते; परंतु ये स्वयं सब कुछ अनाप-शनाप खाते-चबाते रोगी बने रहते और दवा खाकर अधिक रोगी होकर मरते हैं। फिर भला, ये दुनियाका क्या दुःख दूर करेंगे। इनका किस आधारपर विश्वास किया जाय। रोगका ये कीटाणुओंसे होना बताते हैं और कीटाणुओंको मारनेकी व्यवस्था करते हैं। इनके सिद्धान्तसे न कभी कीटाणु मरेंगे न रोग नष्ट होगा। सारी दुनियासे कीटाणुओंको नष्ट करना महान् असम्भव कल्पना है। किंतु कीटाणु अपने पेटमें उत्पन्न होते हैं, इसकी कल्पना नहीं होती। खूब सब कुछ खाते-चबाते हैं। असंयमसे पाचन-प्रणालीमें रुकावट और सड़न होनेसे; विकृत प्रणाली ही रोगका कारण है।

Physiology reversed becomes Pathology.

अमेरिकाके विख्यात स्व० डॉ० जे० एच्० टिल्डन २५ वर्षतक डाक्टरी और सर्जरीकी कुशलताके पश्चात् उसे छोड़कर प्राकृतिक उपचार ९० वर्षकी उम्रतक करते रहे। उन्होंने लिखा है—'आजकल जो मेडिकल सायंसके नामसे विख्यात धंधा चल रहा है, वह शुरूसे आखिरतक भ्रान्त है। ईसाई किसी रोगीके लिये भगवान्से प्रार्थना करता है, और डाक्टर भी रोगीको दवा देता है; परंतु दोनोंमें कोई भी उस रोगीको रोगोत्पादक, रोग-वर्धक व्यसन-चर्या आदिसे नहीं रोकता। ये दोनों प्रकारके चिकित्सक अज्ञानी और नास्तिक हैं। जबतक रोगका बीज मौजूद है, तबतक रोग दूर नहीं हो सकता—यह मोटी बात कोई भी साधारण व्यक्ति समझ सकता है।'

न्यूजीलेंडके सर्वप्रथम रेडियो डाक्टर उलरिक विलियम्सने लिखा है—'मेडिकल सायंस तो नयी बीमारीको पुरानी और असाध्य बनानेका धंधा है, फिर भी रोगी एक भोले शिकारकी तरह एक-एक करके हमारे वैज्ञानिक बूचड़खानेमें हलाल होने आते हैं।'

हमारे देशको विदेशी शासक राजनीतिक स्वतन्त्रता देकर, हमपर वैज्ञानिक गुलामी छोड़कर, अब भी हमें बेवकूफ बनाकर अपनी व्यापारनीतिजन्य कलासे हमारे देशको रोगी-अपंग-नपुंसक-अंधा बनानेका यह चकाचौंध करनेवाला जाल बिछाये हुए हैं—यह देखते हुए भी हमारी जनता और जनतन्त्र सरकारकी बुद्धिमें, समझमें नहीं आ रही है।

चश्मा पहले बूढ़े लोग लगाया करते थे और शारीरिक शैथिल्यके लिये हुक्केद्वारा तमाखूके जलते धूएँको पानीसे छानकर पीते थे; क्षय, पक्षाघात, कैंसर, हृदय-रोग बूढ़ोंको होते थे। अब बच्चोंको चश्मा लगाना आवश्यक हो गया। बच्चा-बच्चा बीड़ी-सिगरेट पीता है। बच्चोंको क्षय, पक्षाघात, हृदय-रोग, कैंसर, मधुमेह होने लगे हैं। जन्म लेते ही उन्हें 'आक्सीजन' देकर और इन्जेक्शन देकर जिंदा रखनेके वैज्ञानिक साधन किये जा रहे हैं और इस इलाजसे वे जीवनभरके लिये अपंग, पराश्रित होने लगे हैं। मैं एक बारह वर्षकी लड़कीको तीन सालसे मधुमेह होना जानता हूँ, जिसे नित्य दो बार सुबह-शाम 'इन्स्युलिन' लेने पड़ते हैं। सभी डाक्टरोंने कहा है कि इन्स्युलिनके अतिरिक्त इसका कोई इलाज नहीं है और जीवनभर ये इन्स्युलिन लगते रहेंगे। एक दूसरे छः मासके बच्चेको जुकाम हुआ, इलाज आरम्भ हुआ और सालभरतक इलाजके दौरानमें उसे खाँसी-बुखार होकर पूर्णतया लकवा हो गया; उसकी कलाइयाँ मुड़ गयीं, जिससे वह अपने हाथ-पंजे हिला-डुला, मोड़ नहीं सकता, कुछ पकड़—उठा नहीं सकता, उठ-बैठ या करवट नहीं ले सकता।

सरकारी पानी !

कीटाणुवादके भयंकर सिद्धान्तने हवाके साथ हमारे खाने-पीने और उपयोगकी सभी वस्तुओंको विषाक्त कहकर हमें भयभीत कर दिया है और खासकर पानीको शुद्ध करनेके लिये सोडियम फ्लोरीन घोलकर जनताको नलोंद्वारा पिलाया जाता है। हमारे देश-भाइयों तथा लोकप्रिय सरकारको इस वैज्ञानिक खोखलेपनका पता नहीं है अथवा किसी विदेशी स्वार्थी तत्त्वोंके जादूसे उसकी आँखें खुले रहनेपर भी बुद्धि नजरबंद है। दक्षिण अफ्रीकाके एक औषध-शास्त्रीने बताया है कि पानीमें फ्लोरीन मिलानेसे उसका निश्चित प्रभाव ३०-४० सालतक कुछ नहीं मालूम हो सकता। इस विषका संचय शरीरमें इतना मन्द होता है और पानीमें इतनी सूक्ष्म मात्रामें होता है कि ३०-४० वर्ष बाद ही इसके प्रभावका पता शरीरमें लग सकता है। तबतक यह शरीरमें व्याप्त संचित होकर स्थायी-सा हो जाता है। पानीमें घोला जानेवाला सोडियम फ्लोराइड बनावटी रासायनिक पदार्थ है, जो कैल्शियम फ्लोराइड नामक स्वाभाविक पानीमें पाये जानेवाले तत्त्वकी अपेक्षा पचासीगुना विषाक्त होता है। रासायनिक उद्योगपति स्वार्थवश इसे जलशोधक, दन्तरक्षक बताकर

वैज्ञानिकोंकी आड़ लेकर सरकारसे व्यापार करके स्वस्थ जनताको अनायास विष पिलाते हैं। हम कहते हैं लहसुन भी तो कीटाणु-नाशक है, इसे क्यों नहीं पानीमें घोलकर पिलाते? इससे बहुतसे रोग दूर होंगे।

संक्षिप्त रसायन-कोश * (Condensed Chemical Dictionary) में सोडियम फ्लोराइडका परिचय इस प्रकार दिया गया है—गुणः विषाक्त, इसकी धूलसे भी श्वास बचाओ; खबरदारः खा लिया तो घातक होगा; उपयोग—म्युनिसिपल्टीद्वारा जलप्रदायमें घोला जाना, कीटाणु-नाशक, चूहोंके लिये घातक, वनस्पतिका घातक है।

हमारे भारतीय भाइयोंको अज्ञानवश अनायास जबरदस्ती यह विषयुक्त जल पीना पड़ता है, जब कि कई विदेशोंमें जनताके सजग होनेपर, विरोध करनेपर वहाँकी सरकारोंद्वारा बहुतसे शहरोंमें पानीमें यह फ्लोराइड मिलाना रद्द और बहिष्कृत हो चुका है। अमेरिकामें ओहायो, सिनसिनाटी, सिएटल, वाशिंगटन-जैसे बड़े शहरोंमें और अन्य दो हजार शहरोंमें यह बंद हो चुका है। स्वीडन राज्यने जाँच करके इसे बंद कर दिया है। स्विजरलैंडने भी जाँच करके इसे रद्द कर दिया है। अमेरिकाके टेक्सास राज्यमें स्टेट मेडिकल असोसियेशनने इसे अस्वीकार कर दिया है। दुनियाके सबसे बड़े शहर न्यूयॉर्कने जहाँ सबसे बड़ा जलप्रदाय है, पानीमें फ्लोराइड घोलना रद्द कर दिया है। अमेरिकाके एक सौसे अधिक दन्तविशेषज्ञोंने संयुक्त घोषणापत्रमें नौ कारणोंसहित फ्लोराइडको हानिकारक और अनावश्यक बताकर उसका बहिष्कार किया है।

'गृहिणियो, सावधान!' † शीर्षक प्रकाशित पुस्तकमें लेसिस्त्र टोरिस ग्रांटने एक अध्यायका शीर्षक लिखा है—Water and the Chemical Dragon—पानी और आग उगलनेवाला अजगर। इस पुस्तकका मूल्य दस रुपये है। ऐसे पानीको वैज्ञानिक प्रमाणसे बड़ा घातक बताया गया है। एक लाख गैलनमें एक गैलन फ्लोराइड मिलनेका प्रमाण है।

स्वाभाविक जलमें शरीरोपयोगी खनिज कैलशियम फ्लोराइड होता है। किंतु दुनिया भरमें सब नदियोंका या किन्हीं भी प्रकारके सब पेय-जलाशयोंका जल एक-सा नहीं होता, भूतत्त्व खनिज सर्वत्र एक समान नहीं है; अतएव जहाँके जलमें कैलशियम फ्लोराइड नहीं है, उसमें हमारी सरकार सोडियम फ्लोराइड मिलाकर हमें पिलाती है। यह खनिज रासायनिक विधिसे बनाया हुआ होता है, स्वाभाविक नहीं है; तथा यह कैलशियम फ्लोराइडसे पचासीगुना विषाक्त होता है; अतएव अस्वाभाविक होनेके कारण शरीरकी प्रणालीके उपयुक्त नहीं वरं हानिकर है। फ्लोराइड-युक्त तथा स्वाभाविक जलके प्रयोग अमेरिकाके दो नगरोंके बालकोंपर हो चुके हैं और फ्लोराइड-युक्त जलसे दाँतोंका खराब होना सिद्ध हो चुका है, इस विषयमें १९-३-५८के 'न्यूज क्रानिकल'में समाचार छपा था। ब्रिटेनके दाँत खराब होते जा रहे हैं, फिर भी विज्ञानान्ध विश्व-स्वास्थ्य-संघके अज्ञानी अधिकारी इस फ्लोराइडके लाभका नगाड़ा पीटते हैं। इसके मूलमें व्यापारिक तत्त्वोंकी प्रेरणाके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। पानीमें पाये जानेवाले कैलशियम, मैग्नीशियम, स्वाभाविक क्षार साग-भाजी फलोंके क्षारके समान सहज ही शरीरद्वारा शोषित होते हैं; परंतु रासायनिक सम्मिश्रण-क्रियासे बनी वस्तुएँ शरीरको अनुकूल नहीं पड़तीं; ये क्षार शरीरके विभिन्न अङ्गों, मांसपेशियों, स्नायु और हड्डियोंपर संचित होकर कालान्तरसे उन अङ्गोंमें लचीलापन, संकोच और प्रसारकी गतिमें अवरोध पैदाकर उन्हें कठोर बना देते हैं। यही कारण है कि स्वाभाविक उत्पन्न जन्मसे नरम बालकका शरीर बाजारू नमकोंके प्रभावसे धीरे-धीरे कठोर होता हुआ बुढ़ापेमें अधिक कठोर हो जाता है। वातका दर्द, संधि-वात, लकवा इत्यादि स्नायु, मांसपेशियों, रक्तवाहिनी नाड़ियों, हड्डियोंमें कठोरता हो जानेसे होते हैं और यह कठोरता होती है जल, भोजन, दवाओंके रूपमें अप्राकृतिक क्षार खाने-पीनेसे, रक्तमें ये सब रासायनिक क्षार घुलकर शरीरमें व्यापक हो जानेसे। किसी क्षारीय क्षेत्रके स्वाभाविक पानीमें भी ये क्षार अधिक हुए तो वे नुकसान करते हैं; फिर रासायनिक क्षारोंका तो कहना ही क्या!

आत्महत्यारी प्रथा!

कोई किसीको लठ मार दे, हाथ-पाँव तोड़ दे, सिर फोड़ दे तो उसपर मुकद्दमा चलकर जेलकी सजा या जुर्माना होता है। हत्या कर दे तो प्रमाणसिद्ध होनेपर आजीवन कारावास या फाँसी होती है। दूसरेको पीड़ा या दण्ड देनेका अधिकार

---

* Condensed Chemical Dictionary: Sodium Fluoride.

Properties—Poisonous, Avoiding breathing dust.

Warning—May be fatal, if swallowed.

Uses—Fluoridation of Municipal water Supplies, Insecticide, fungicide, rodenticide.

† Fluoridation—Compulsory mass medication.

जनसाधारणको नहीं; सरकारको न्यायद्वारा दण्ड देने, फाँसी देनेका पूरा अधिकार है। खून किया है तो बदलेमें अपना खून दो। दूसरेकी जान ली तो अपनी जान दो। इस प्रकार दुहरी हत्याकी प्रथा कानूनी है। पशुओंकी हत्यापर यह कानून नहीं है, वरं कानूनसे उसे प्रथा मान लिया गया है; क्योंकि वह अपने पेट-पालन, जीवन-रक्षाके लिये किया जाता है। मछली एवं वन्य पशुओं-पक्षियोंका शिकार-व्यापार हिंसा नहीं मानी जाती; पेट-पालन और जीवन-रक्षा, आत्म-रक्षाके लिये सब हिंसा अहिंसारूप है।

कोई अपना ही हाथ-पाँव तोड़ ले तो? कोई स्वयं इच्छासे मरनेके लिये जहर खाये, फाँसी लगाये, आग लगाकर मरे तो मरनेके बाद कानून या सरकार उसका कुछ नहीं कर सकती; परंतु जिंदा रह गया और आत्महत्याका प्रमाण मिल गया तो मुकद्दमा चलता है, जुर्माना-दण्ड होता है। मनुष्यको अपनी इच्छासे मरनेका अधिकार नहीं है। अपनी इच्छासे पैदा नहीं हुआ तो मरे क्यों? तोलाभर कुचला, अफीम, संखिया आदि विष खाकर कोई भी तुरंत मर सकता है; परंतु इन्हीं विषोंको थोड़ा-थोड़ा रोज खाये तो वह जिंदा रहते हुए कालान्तरसे उसके संचित प्रभावसे रोगी होकर मरता है। इस प्रकार तमाखू, शराब, दवाइयों, फ्लोराइडके सरकारी पानी आदिके विष जनतामें स्वयं खाने-पीनेकी हत्यारी और आत्महत्यारी प्रथा सरकार, कानून, अस्पताल, डाक्टरों, रासायनिक उद्योगोंद्वारा अफीम-तमाखूकी खेती, दूकानों, साहित्यकारों, चित्रकारों, अखबारों और रेडियोके विज्ञापन-द्वारा; वैज्ञानिक तथ्यपर विश्वभरमें प्रचलित है; और यह सब हो रहा है सभ्यता और संस्कृतिके विकासके लिये; स्वास्थ्य-निर्माणके लिये, रोग-नाशके लिये, विज्ञानके नामपर! हम सब आपसमें परस्परको विष खिलाते, स्वयं खाते हैं, धीरे-धीरे मरते हैं; इसलिये किसीको सजा-फाँसी नहीं होती।

(शेष अगले अङ्कमें)

मैं सर्वत्र बाहर-भीतर भगवान्‌से ओतप्रोत हूँ

सचमुच भोग और भगवान् अन्धकार और प्रकाशकी भाँति एक दूसरेके सर्वथा विपरीत हैं। मेरा जीवन आजतक भोगोंका गुलाम रहा; पर आज मैं अपने जीवनको भगवान्‌की ओर उन्मुख कर रहा हूँ और इसके लिये अपने जीवनमें आमूल परिवर्तन करनेको उद्यत हूँ।

आजतक मेरे मनमें जगत् बसा था; अब मैं भगवान्‌को अपने मनमें बसाता हूँ और जगत्‌के परिणाम-दुःखद चिन्तनके स्थानपर अब भगवान्‌का मङ्गलमय चिन्तन करता हूँ—मनको बार-बार भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण, धामके स्मरण-चिन्तनमें लगाता हूँ।

आजतक मेरी आँखें जगत्‌को, भोगोंको देखती थीं, आज मैं नेत्रोंसे दृश्यमान सभी रूपोंमें भगवान्‌को देखता हूँ। जो कुछ भी है, उसके रूपमें मेरे प्रभु ही तो अभिव्यक्त हो रहे हैं। आज मैं प्रत्येक दृश्यमान वस्तुके रूपमें अपने प्रभुके दर्शन करके आनन्द-निमग्न हो रहा हूँ।

आजतक मेरे हाथ जगत्‌के कार्योंमें रत थे; आज मैं अपने हाथोंको भगवान्‌की सेवामें नियोजित कर रहा हूँ। जब भगवान्‌के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं, तब मेरे हाथोंसे होनेवाला प्रत्येक कार्य भगवान्‌की सेवाके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।

आजतक मेरी वाणी जगत्‌की चर्चामें लगी थी, आज वह भगवान्‌के नाम-गुण-कथनमें संलग्न है। जब भगवान्‌की सेवाके लिये कुछ बोलना आवश्यक होता है, तभी आवश्यकता भरके वाक्य बोलकर वह पुनः नाम-गुण-कथनमें लग जाती है।

आजतक मेरे पैर मुझे जगत्‌में भटकाते रहे; न जाने मैं कहाँ-कहाँ पातक-स्थलोंमें गया; पर आज वे वहाँ जानेमें पङ्गु हो गये हैं। आज वे भगवान्‌की सेवाको छोड़ अन्य किसी कामके लिये उठना ही नहीं चाहते।

आज मेरी एक-एक इन्द्रियकी गति भगवान्‌की ओर है और मेरा मन भगवान्‌का नित्य निवास-स्थान है। मैं सर्वत्र, बाहर-भीतर भगवान्‌से ही ओतप्रोत हूँ।

मानवका दुर्भाग्य

[कहानी]

वैदिक कालकी बात है कि एक जन-राज्यमें महाराजा कमलराज शासन करते थे। वे बड़े वीर थे। शत्रुओंका कभी साहस नहीं हुआ कि उनके राज्यपर आक्रमण करे।

प्रजा उनसे बड़ा प्रेम करती थी। महाराजा अपने जनराज्यका प्रबन्ध जन-समितिके द्वारा चलाते थे। उनका न्याय युक्तिसंगत होता था। वे धर्मात्मा थे। परंतु उनमें एक यह कमी थी कि वे बड़े हठी थे। हठ करनेपर वे किसी भी बातको नहीं मानते थे।

एक बार महाराजा कमलराज शिकार खेलने गये। उनके कुछ सिपाही भी उनके साथ गये। प्रातःकाल ही जंगलमें एक ओर घेरा डालनेका आदेश हुआ। जब घेरा पड़ गया, तब राजाने घोड़ेपर सवार होकर जंगलमें प्रवेश किया; घोड़ा तेजीसे छोड़ दिया गया। थोड़ी दूर चलनेपर एक भारी भरकम देहका हिरन नज़र आया। राजाने घोड़ा उसीकी ओर घुमा दिया। निरपराध हिरन अपने प्राण बचानेके लिये जंगलके घने हिस्सेकी ओर जोरोंसे भागने लगा। महाराजा कमलराजका घोड़ा भी हवासे बातें करने लगा। हिरन दौड़ता हुआ बहुत दूर निकल गया। घोड़ेको बड़े वेगसे दौड़ानेपर भी राजा हिरनसे बहुत दूर रह गये। बहुत थक जानेपर एक मोड़पर पहुँचकर हिरनने धोखा देकर बच जानेकी अन्तिम चेष्टा की। वह सफल हो गया।

* * *

घेरा डालनेवाले सैनिक दोपहरी होनेतक महाराजकी बाट देखते रहे। सोचते रहे कि हिरनको मारकर महाराज अब आ ही रहे होंगे। पर जब नहीं आये, तब अन्तमें उन्होंने महाराजाको खोजना आरम्भ किया। जंगलका कोना-कोना छान डाला गया, किंतु कुछ भी पता न चला। दूसरे जंगलमें ढूँढ़नेका प्रयत्न किया। पर उस बियावान जंगलका कोई ओर-छोर नहीं था; न कहीं महाराजका घोड़ा ही मिला, न महाराज ही। सब सैनिक हताश तथा उदास होकर राजधानीकी राह पड़ गये। राज्यभरमें कोलाहल मच गया कि आखिर महाराज गये तो कहाँ गये। तीन दिनोंके लंबे समयतक प्रतीक्षा करने और अथक प्रयत्न करनेपर भी कुछ परिणाम न निकला। सेनापति महोदयने जो दूसरे सैनिक भेजे थे, वे भी तीन दिनके बाद निराश होकर लौट आये। मन्त्री तथा सेनापतिने महारानी तथा रनिवासकी अन्य महिलाओंको आश्वासन दिया कि महाराजा स्वयं आ जायँगे, वे शायद हमारी परीक्षा ले रहे हों। आखिर शान्तिके सिवा और चारा ही क्या था।

* * *

हिरन तो बड़ी कठिनतासे किसी तरह प्राण बचाकर घने पेड़ोंकी छायामें विलीन हो गया, पर महाराज घोड़ेको लिये उदास—निराश हुए निरुद्देश्य वनमें भटकने लगे।

धूप बड़ी तेज थी, थकावटके मारे शरीर चूर-चूर हो रहा था और बड़े जोरसे प्यास लग रही थी।

वनमें कहीं पानीका नामोनिशान भी मालूम नहीं था। चलते-चलते कुछ दूरपर एक सिंह दिखायी दिया, अब तो श्रीकमलराजके प्राण सूख गये। वे घोड़ेसे उतर पड़े। धनुष-बाण पास होनेपर भी उनमें भूख-प्यासकी व्याकुलतासे यह साहस नहीं था कि वे वनराजका सामना करते।

घोड़ेको छोड़ महाराज भागने लगे, सनसनाती

हवामेंसे एक गम्भीर आवाज आयी—'अरे मूढ़ हिंसक प्राणी ! हत्यारे !………… अपनी शौक पूरी करने और मारकर खा जानेके स्वार्थसे तू एक निरीह भोले-भाले निरपराध मृगको मौतके घाट उतारना चाहता था। इससे पहले न जाने कितने ऐसे निरपराध जीवोंके प्राण तू इसी तरह निर्दयतासे ले चुका है………। अब सावधान हो जा ! तुझे अपनी घोर हिंसाका फल अब मिलनेवाला ही है । इतना अत्याचार करके भी तू न्यायी और धर्मात्मा कहलाता है ? धिक्कार है………। अरे बहरे !………कान खोलकर सुन ले कि घोड़ेको सिंहके सामने छोड़कर भागनेसे अब तेरे प्राण नहीं बच सकते ।'

महाराजके होश-हवाश हवा हो गये………… । सिंह गुर्राता हुआ उनके पीछे हो लिया । घोड़ेने प्रयत्न किया सिंहको रोककर उससे युद्ध करके मालिककी जान बचानेका; परंतु सिंह उसके मार्गसे पहले ही मुड़ गया ।

* * *

महाराजका घोड़ा भटकता, भूलता, हिनहिनाता, भूखा-प्यासा अपने मालिककी खोज करता रहा; पर जब मालिक न मिले, तब वह कमजोर, उद्विग्न, निराश मनसे एक संध्या-समय आकर राजमहलमें पहुँच गया । घोड़ेको खाली आते देख लोगोंकी बची-खुची आशा भी मिट्टीमें मिल गयी । घोड़ेने अपने हाव-भावसे उन्हें आश्वासन दिया ।

महाराजा अब एक ऐसे विशाल पेड़पर थे, जो दुनियाभरमें शायद सबसे मोटा था । राजाने ऊपर-नीचे चारों ओर देखा तो उनकी घबराहट और भी बढ़ गयी। राजाको दीखा—उस वृक्षके चारों ओर एक बड़ा भारी सूखा कुआँ है और एक विकराल काल-सा भूखा अजगर उस कुएँमें मुँह फैलाये पड़ा है । राजाने सोचा, मैं वृक्षपर कैसे चढ़ गया। गिर गया होता तो यह भयानक अजगर सदाके लिये मुझे अपने इन जबड़ोंमें समा लेता। राजाका ध्यान उस टहनीके मूलकी तरफ आकर्षित हो गया; देखा तो दो चूहे कुतर-कुतरकर उस टहनीकी जड़को बड़ी जल्दीसे काट रहे थे । एक चूहा काला था और दूसरा सफेद। अब राजाने सोचा कि यह टहनी टूट जायगी तो दूसरे ही क्षण मैं अजगरके मुँहमें होऊँगा ।…………उधर सिंह मैदानमें मेरे उतरनेकी प्रतीक्षा कर रहा है उधर अजगर, और एक तीसरी मुसीबत ये चूहे…………अब प्राण कैसे बचेंगे ?'

अचानक ऊपरसे उन्हें शहदकी बूँद टपकती दिखायी दी । वे उस टहनीपर कुछ आगे बढ़े और शहदकी बूँदको मुँहमें लेकर दूसरी बूँदकी बाट देखने लगे ।

इस प्रकार शहदकी बूँदोंके लोभमें अब वे ऊपरकी आस लगाये बैठे रहे । वे भूल गये कि तीन रूपोंमें उनकी मौत प्रतीक्षा कर रही है…………।

उनके अन्तःकरणका ज्ञान क्षणभरके लिये जागा, उन्होंने सहायताके लिये मन-ही-मन किसीका चिन्तन किया………। सामने उस विस्तृत मैदानकी ओर देखा तो उन्हें पीताम्बरधारी शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त, दिव्य-रत्न मुकुटवाले एक दिव्य पुरुष दिखलायी दिये ।

उन दिव्य पुरुषने कहा—'महाराजा कमलराज ! देखिये, तीन रूपोंमें मृत्यु आपकी प्रतीक्षामें है और आप मधुके आस्वादनमें मस्त हैं;…………बचना चाहते हैं तो मैं आपके प्राण बचा सकता हूँ, आप छलाँग लगाकर मेरे पास आ जाइये । यह वनराज, ये चूहे और वह नीचे पड़ा अजगर आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे । मैं आपको बचा लूँगा ।' आप कूद जाइये मेरी ओर । अपनी अनन्त……रहस्यपूर्ण मधुर वाणीमें दिव्य पुरुषने राजासे फिर कहा—'यदि भलाई चाहते हो तो तुरंत कूद आओ,…………।' 'भगवन् !……मैं आनेके लिये

तैयार हूँ, पर इस आखिरी बूँदको चख लूँ। जरा ठहर जाइये।' पर दुःख है कि एकके बाद दूसरी, दूसरीके बाद तीसरी, तीसरीके बाद चौथी—बूँदोंके लोभमें ही वे पड़े रह गये और दिव्य पुरुष अन्तर्धान हो गये·······।

* * *

सफेद और काले चूहोंने अपना कर्तव्य पूर्ण किया। टहनी टूटी, महाराज कालके गालमें विलीन हो गये।

* * *

प्रायः मानव दूसरोंकी हत्या-हिंसाकी परवा न करता हुआ इन्द्रियतृप्ति—अपने स्वार्थसाधनमें लगा रहता है। अपनी ही स्वार्थ-तुष्टि चाहता है। दिन-रातरूपी चूहे उसके जीवनके क्षणोंको अनवरत कुतरते रहते हैं। सामने भवाटवीका मैदान है। सूखा कुआँ कालका स्थान है, अजगर काल है, सिंह मृत्युका भय है। शहद-की बूँद विषय-रस है।

कभी-कभी मनुष्य घबराकर भगवान्‌का स्मरण करता है तो उसे भगवान् कहते हैं—मेरी शरणमें आ जाओ, मृत्युसे सदाके लिये बच जाओगे। अनन्त आत्मस्वरूप-को—भगवान्‌को प्राप्त हो जाओगे। पर विषयलोलुप मनुष्य मृत्युके मुँहमें पड़ा हुआ भी भगवान्‌के शरणापन्न नहीं होना चाहता। यही मानवका महान् दुर्भाग्य है।

भूले सब नाम-धाम

रुचिर तपन-तनया-तट, निभृत-नव-निकुंज-निकट,
निरतत नट-नागर-नट, लसत पीत-पट-ललाम।
सोभा निरुपाधि सजत, कोटि-कोटि काम लजत,
मुरलि अधर मधुर बजत, भजत संत नित निकाम॥
मृगमद रुचि तिलक भाल, चंचल लोचन बिसाल,
कुंचित कच कृष्नजाल, भ्रकुटि कुटिल कलाधाम।
करि-बर-मद-हरनि चाल, कटि किंकिनि-रव रसाल,
सुरभित बन-कुसुम-माल, रत्नहार कंठधाम॥
कुंडल-मनि-रत्न-चमक सुचि कपोल गोल दमक,
अंग-अंग सुरभि गमक, रमा रमत वक्षधाम।
मृदु मधु मुसुकान विमल, मुनि-जन-मन हरत सबल,
मिटत दुःख-दैन्य सकल, परम रम्य सुधा-धाम॥
निपट सुखद खटपट रति, लपट झपट नटखट गति,
आकरषत तन-मन-मति-इंद्रिय झट बिना दाम।
रसमय रसराज सतत रस-बरषा बरषत नित,
नेह-सिंधु उमगि अमित बहे अन्य रस तमाम॥
बाढ़्यौ अति प्रेमभाव, सब के मन भर्‌यौ चाव
भाव भयौ महाभाव, भूले सब नाम-धाम॥

प्रतिशोधकी भावनाका त्याग करके प्रेम कीजिये

(हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक भाषणसे)

प्रह्लादको मारनेके लिये हिरण्यकशिपुके हितैषी षण्डामर्क नामक पापी पुरोहितोंने अग्निशिखाके समान प्रज्वलित शरीरवाली कृत्याको उत्पन्न किया । उसने प्रह्लादको मारना चाहा, पर भगवान्‌की कृपासे वह प्रह्लादका बाल भी बाँका नहीं कर सकी और लौटकर उसने उन दोनों पुरोहितोंको समाप्त कर दिया एवं स्वयं भी नष्ट हो गयी। गुरुपुत्रोंको जलते देखकर प्रह्लादसे नहीं रहा गया । वे 'श्रीकृष्ण ! हे अनन्त ! बचाओ, बचाओ' कहते हुए दौड़े । गुरुपुत्र तो दोनों मर चुके थे । प्रह्लादको इससे बड़ा दुःख हुआ । उनके मन कोई शत्रु था ही नहीं, वे सबमें भगवान्‌को व्याप्त देखते थे । वे भगवान्‌से उनको पुनर्जीवित करनेके लिये प्रार्थना करते हुए बोले—'यदि मैं मुझसे शत्रुता रखनेवालोंमें भी सर्वव्यापी भगवान्‌को देखता हूँ, जिन लोगोंने मुझे विष देकर, आगमें जलाकर, हाथियोंसे कुचलवाकर और साँपोंसे डँसवाकर मारनेका प्रयत्न किया, उनके प्रति भी मेरी समानरूपसे मैत्री-भावना रही हो और उनमें मेरी पाप-बुद्धि न हुई हो तो उस सत्यके प्रभावसे ये दोनों दैत्य-पुरोहित जीवित हो जायँ ।'*

यों कहकर प्रह्लादने उनका स्पर्श किया और वे दोनों ब्राह्मण स्वस्थ होकर उठ बैठे तथा प्रह्लादके प्रतिशोधभावसे रहित पवित्र आत्मभावकी मुक्तकण्ठसे कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे प्रशंसा करने लगे ।

प्रह्लादने महान् दुःख देनेवाले पिता हिरण्यकशिपुकी सद्गतिके लिये सर्वदा निष्काम होनेपर भी भगवान्‌से वरदान माँगा ।

इसी प्रकार एक बार महर्षि दुर्वासाने क्रोधोन्मत्त होकर तपोबलसे कृत्याके द्वारा भक्तवर अम्बरीषको मारना चाहा । भगवान्‌के सुदर्शनचक्रसे सुरक्षित अम्बरीषको कृत्या नहीं मार सकी, सुदर्शनने कृत्याको ही जलाकर राखका ढेर कर दिया । तदनन्तर भीषण चक्र दुर्वासाकी ओर चला । दुर्वासा डरकर भागे । तपोबलसे वे समस्त ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें जानेकी शक्ति रखते थे । वे दिशा, आकाश, पृथ्वी, पाताल, स्वर्ग, ब्रह्मलोक तथा कैलास—सभी जगह दौड़े गये; पर भगवद्भक्तके विरोधी होनेके कारण कहीं भी उनको आश्रय नहीं मिला । अन्तमें चक्रकी आगसे जलते हुए मुनि दुर्वासा वैकुण्ठमें पहुँचे और काँपते हुए वे भगवान्‌के चरणोंपर गिर पड़े । भगवान्‌से रक्षा करनेकी प्रार्थना की, परंतु वहाँ भी रक्षा नहीं हुई । भगवान्‌ने कह दिया—'निरपराध साधु पुरुषोंका बुरा चाहनेवाले तथा करनेवालेका अमङ्गल ही हुआ करता है । मेरे भक्त सबको त्यागकर मुक्तिको भी स्वीकार न करके मेरी शरणमें रहते हैं, वे केवल मुझको ही जानते हैं । ऋषिवर ! मैं उनके अधीन हूँ । उन्होंने मुझको वैसे ही अपने वशमें कर रक्खा है, जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है । आपको बचना हो तो आप उन्हीं अम्बरीषकी शरणमें जाइये ।'

दुर्वासा वैकुण्ठसे लौटकर अम्बरीषके चरणोंपर आ गिरे । अम्बरीष बड़े दुखी थे । दुर्वासाजी भागे थे, तबसे अम्बरीषने भोजन नहीं किया था । आज दुर्वासाको अपने चरण पकड़े देखकर वे बहुत ही सकुचा गये

---

* यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानोऽनपायिनम् ।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः ॥
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः ।
यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्च यैरपि ॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित् ।
यथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः ॥
(विष्णुपुराण १ । १८ । ४१–४३)

और बड़ी अनुनय-विनय करके चक्रसे बोले—'यदि मैंने कभी कोई दान, यज्ञ या धर्मका पालन किया हो और हमारे वंशके लोग ब्राह्मणोंको अपना आराध्य मानते रहे हों एवं यदि समस्त गुणोंके एकमात्र परमाश्रय भगवान्‌को मैंने समस्त प्राणियोंमें आत्माके रूपमें देखा हो तथा वे मुझपर प्रसन्न हों तो दुर्वासाजीकी रक्षा हो, उनका सारा संताप तुरंत मिट जाय।'*

अम्बरीषकी प्रार्थनासे चक्रदेव शान्त हो गये। दुर्वासाकी सारी जलन मिट गयी। तब वे प्रतिशोधकी भावनासे सर्वथा रहित तथा मारनेका पूर्ण प्रयत्न करनेवालेका मङ्गल चाहनेवाले अम्बरीषके सम्बन्धमें कहने लगे—'आज मैंने भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका महत्त्व देखा। आप इतना भयानक अपराध करनेवालेका भी मङ्गल कर रहे हैं। महाराज! आप सच्चे भगवद्भक्त हैं। आपका हृदय करुणासे परिपूर्ण है। आपने मुझपर बड़ा ही अनुग्रह किया। मेरे सारे अपराधोंको भुलाकर मेरे प्राण बचाये। धन्य हैं।'

अम्बरीषने बड़े आदरसे उनका स्वागत-सत्कार करके उन्हें भोजन करवाकर तृप्त किया।

इसी प्रकार महात्मा ईसाने क्रूसविद्ध करनेवालोंके लिये और भक्तराज हरिदासने मारनेवालोंके लिये भगवान्‌से क्षमा-प्रार्थना की।

परदोष-दर्शन, घृणा, द्वेष, प्रतिशोध (बदला लेने)-की भावना, वैर और हिंसावृत्ति—ये जितना हमें नरकोंमें ढकेलते हैं, हमारा सीमारहित बुरा करते हैं, उतना कोई भी दूसरा व्यक्ति हमारा बुरा नहीं कर सकता। इतिहासमें एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिल सकता, जहाँ परदोष-दर्शन, घृणा, द्वेष तथा प्रतिशोधके द्वारा किसी भी सत्कार्यकी सिद्धि हुई हो। ये विचार या भाव मानव-जीवनके शान्ति तथा आनन्दको नष्ट कर देते हैं, इनसे बुद्धि मारी जाती है, विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है, विचारका संतुलन मिट जाता है और मनुष्य अपना हित सोचनेमें सर्वथा असमर्थ होकर अपने ही हाथों अपने लिये कब्र खोदनेमें लग जाता है। इन दोषपूर्ण विचारोंसे जिसके प्रति ये विचार आते हैं, उसकी तो हानि होती है; उससे भी अधिक विनाशात्मक हानि उसकी होती है, जिसके हृदयमें इस प्रकारके दुर्विचार तथा दुर्भाव स्थान पाते हैं। यह वस्तुतः शारीरिक आत्महत्यासे भी बढ़कर हानिकर पाप है; क्योंकि इससे आध्यात्मिक आत्महत्या होती है।

असली बात तो यह है कि मनुष्यका कोई शत्रु है ही नहीं। जिसने मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली है, वह स्वयं ही अपना मित्र है तथा जिसके द्वारा मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त नहीं की जा सकी है एवं जो उनका गुलाम है, वह आप ही अपना शत्रु है।

संसारमें जो कुछ भी हमें फलरूपमें प्राप्त होता है, वह निश्चय ही हमारे द्वारा किये हुए अपने ही कर्मोंका फल है। बिना अपने प्रारब्ध-दोषके हमारा बुरा कोई कर ही नहीं सकता। हम कहीं किसीको हमारा अनिष्ट करते देखते हैं या मानते हैं तो यह हमारी भूल है। वह हमारे अनिष्ट करनेमें निमित्त बनकर या हमारे अनिष्टकी इच्छा करके अपने लिये अनिष्ट फलका बीज अवश्य बो देता है, पर हमारा अनिष्ट तो हमारे कर्मफलस्वरूप ही होता है। कर्मफलमें हमारा बुरा नहीं होना है तो कोई भी, किसी भी प्रयत्नसे हमारा बुरा नहीं कर सकता। इसलिये यदि कोई हमारा बुरा करना चाहता है तो वह वस्तुतः अपना ही बुरा करता है

---

* यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनुष्ठितः।
कुलं नो विप्रदैवं चेद् द्विजो भवतु विज्वरः॥
यदि नो भगवान् प्रीतः एकः सर्वगुणाश्रयः।
सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः॥
(श्रीमद्भा० ९। ५। १०-११)

और अपने-आप अपना अनिष्ट करनेवाला मूर्ख या पागल मनुष्य दयाका पात्र होता है—घृणा, द्वेषका नहीं । इसीलिये—

उमा संत कै इहै बड़ाई । मंद करत सो करइ भलाई ॥

—कहा गया है । संत-हृदय अपने दुःखसे द्रवित नहीं होता, पर-दुःखसे दुखी होता है । इसीसे संत-हृदयको नवनीतसे भी अधिक विलक्षण कोमल बताया गया है—

निज परिताप द्रवइ नवनीता । पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ॥

व्यक्तिगत ही नहीं, सामूहिक विरोधियोंके प्रति भी घृणा-द्वेषके विचार न रखकर दया और प्रेमके भाव रखने चाहिये । महान् विजेता लिंकनने ली (Lee) की सेनाके आत्मसमर्पण करनेपर अपने सेनापतिको आदेश दिया था कि वे वहाँके निवासियोंके साथ दया और प्रेमका ही व्यवहार करें ।

हमारा किसीके द्वारा अनिष्ट हुआ है या हो रहा है—यह भ्रान्त धारणा हमारे मनमें उसके प्रति विरोध, घृणा, द्वेष उत्पन्न करके हमें प्रतिशोधमें प्रवृत्त करती है । यह प्रतिशोध-भावना अच्छे-अच्छे लोगोंमें बहुत दूरतक जाती है तथा जन्मान्तरोंमें भी साथ रहती है एवं नये-नये पाप-तापोंकी परम्परा चलाती रहती है । अतः इसको आने ही नहीं देना चाहिये; कहीं आ जाय तो तुरंत ही प्रेमकी प्रबल भावनासे इसको समूल नष्ट कर डालना चाहिये ।

एक मनुष्यने हमें एक गाली दी, हमने उसको दो गालियाँ देकर अपनी प्रतिशोध-भावनाको चरितार्थ किया और उसमें नये द्वेष तथा प्रतिशोधभावको उत्पन्न करके पुष्ट कर दिया । यह अधिक बदला लेनेका अमङ्गल कार्य हुआ । एकके बदलेमें एक गाली देकर भी बदला ले लिया । हमने अपनेको सभ्य मानकर गाली नहीं दी, पर पुलिसमें रिपोर्ट करके या कोर्टमें नालिश करके उसका बदला लेनेका प्रयत्न किया । अपनेको बहुत ही भला सत्पुरुष मानकर हमने कोई कानूनी कार्रवाई भी नहीं की, परंतु यह कह दिया कि 'हम क्यों तो गालीके बदले गाली देकर अपनी जबान गंदी करें तथा क्यों कानूनी कार्रवाई करके अपने समय, शक्ति तथा धनका अपव्यय करके वैर मोल लें । न्यायकारी ईश्वर सब देखते ही हैं, वे स्वयं ही इसको उचित दण्ड देंगे ।' यों कहकर हमने न्यायकारी सर्वसमर्थ ईश्वरके दरबारमें नालिश कर दी । प्रतिशोध (बदला) लेनेकी भावनाने यहाँ भी पूरा काम किया ।

इससे भी और आगे प्रतिशोधकी गुप्त भावनाका प्रकाश तब होता है, जब वर्षों बाद उस गाली देनेवाले-पर कोई घोर विपत्ति आती है, उस समय हमारे मनमें प्रतिशोधका छिपा भाव प्रकट हो जाता है और मन-ही-मन हम कहते हैं—'देखो, भगवान् कितने न्यायकारी हैं । उसने हमें अमुक समय गाली दी थी; हमने तो कुछ भी बदलेमें नहीं किया, पर भगवान्ने आज उसे यह शिक्षा दे दी । अर्थात् उसपर यह विपत्ति हमें गाली देनेके फलस्वरूप ही आयी है ।' इस प्रकार—चाहे उसपर वह विपत्ति किसी दूसरे कर्मके फलरूपमें आयी हो, पर—हम उसे अपने प्रतिशोध-खातेमें खतियाकर पापके भागी बन जाते हैं ।

इस उपर्युक्त विवेचनसे यह पता लगता है कि मनुष्यके हृदयमें प्रतिशोधके भाव छिपे रहकर उसे समयपर कैसे गिरा देते हैं ।

अतएव परदोष-दर्शन, घृणा तथा द्वेष करके कभी भी मनमें प्रतिशोधके भावको न रहने दीजिये । घृणाके बदले प्रेम कीजिये, अनिष्टके बदले हित कीजिये, अपराधके बदले क्षमा कीजिये । कभी यह भय मत कीजिये कि आपकी इससे कभी कुछ भी हानि होगी ।

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥

भगवान्‌ने कहा—'प्रिय अर्जुन ! मङ्गलकर्म करनेवाला कोई भी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ।' साथ ही यह भी मत सोचिये कि आपका सत्-प्रयत्न व्यर्थ होगा । वरं आपके सद्विचार तथा सद्भाव समस्त वातावरणमें फैलकर आपके हृदयमें तथा आपसे विरोध रखनेवालेके हृदयमें भी पवित्रता, मैत्री तथा शान्तिका विस्तार करेंगे।

आप किसी शत्रुको मित्र बनाना चाहते हैं तो उसके गुण देखकर उसकी सच्ची प्रशंसा कीजिये, उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित कीजिये तथा उसके हितका, उसकी भलाईका शुभ आरम्भ कर दीजिये । उस प्रसङ्गको ही भूल जाइये, जिसके कारण आपके मनमें उसके प्रति विरोधी भाव उत्पन्न हुए थे । आप अपनी शुभ भावनासे उसके हृदयको निर्मल रूपमें देखिये, उसके हृदयमें सदा विराजित भगवान्‌के मङ्गलमय दर्शन कीजिये और मन-ही-मन सदा उसको नमन कीजिये ।

सीयराममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध ॥

सनातन, अनन्त, नित्य प्रभु-प्रेम

[व्रजगोपीके हृदयकी एक मधुर झाँकी]

भगवत्प्रेमी कभी संसारके भोगोंकी आसक्तिमें नहीं फँसता, किसी भी प्राणी-पदार्थमें ममता नहीं करता, किसी भी सुखकी कामना नहीं करता और अपने अशुद्ध अहंकारको भगवत्प्रेममें विलीन करके भगवत्सेवा तथा भगवत्प्रेमस्वरूप बन जाता है । इसलिये वह जगत्‌के बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है तथा अपनी सारी आसक्ति एवं सम्पूर्ण ममताको भगवान्‌में लगाकर उन्हें विशुद्ध प्रेमस्वरूप ममताके रज्जुसे बाँध लेता है । उसका वह प्रेम शरीरकी मृत्युके साथ मरता नहीं, न वह मुक्तिके साथ मुक्त हो जाता है । वह नित्य-जीवन बना रहकर अनन्त कालतक उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है, उसका कहीं अन्त होता ही नहीं । ऐसे ही प्रेमीजनोंके प्रेमरसका मधुर आस्वादन करनेके लिये परम प्रेमास्पद भगवान् अपना प्रेममय स्वरूप सदा सुरक्षित रखते है तथा प्रेमियोंके प्रेमास्पद बने और उनको अपना प्रेमास्पद बनाये नित्य-नव मधुर लीलाओंके रूपमें प्रकट होकर लीला-विलास करते रहते हैं । व्रजकी एक महाभावरूपा श्यामसुन्दरकी प्रेम-मूर्ति महाभागा गोपाङ्गनाके उद्गार हैं—

होय पद-कंज-प्रीति स्वच्छन्द ।
करत रहै रस-पान नित्य मम मन-मधुकर मकरंद ॥
हानि-लाभ, निंदा-स्तुति, अति अपमान महा सनमान ।
प्रेम-पगे जीवन में इन कौ रहै न कछु मन भान ॥
रसना रटै नाम प्रिय पिय कौ, हिय हो लीलाधाम ।
परसै प्रभु के अंग अंग, दृग निरखैं रूप ललाम ॥
मिटै मोह-तम, जनम-मरन की रहै न कछु परवाह ।
पल-पल बाढ़ै प्रीति अहैतुक, पल-पल रस की चाह ॥
डर न रहै परलोक-लोक कौ, बाढ़ै प्रेम अबाध ।
जनम-जनम मैं बनौ रहै तव पावन प्रेम अगाध ॥
मिटिबे, घटिबे, थमिबे कौ नहिं होय कबहुँ संकल्प ।
उमगत रहै प्रेम-रस-सरिता प्रतिपल बिना बिकल्प ॥
काहु लोक मैं, कहूँ जाय जौ जीव करम आधीन ।
बसौ रहै पिय-प्रेम-सरित मैं, जिमि जल-सरिता मीन ॥
चहौं न दुरलभ इंद्र-ब्रह्म-पद, चहौं न गति निरबान ।
प्रीतम-पद-पंकज मैं अनुदिन बाढ़ै प्रेम महान ॥
नरक-प्राप्ति, नीची गति तैं मैं डरौं न रंचक मान ।
रहौं प्रेम-मद मैं मतवारी, तज मति कौ अभिमान ॥

वह कहती है—'मेरी श्रीश्यामसुन्दरके चरण-कमलोंमें स्वच्छन्द प्रीति हो जाय । मेरा मनरूपी भ्रमर चरण-कमलके मकरन्द-रसका निरन्तर पान करता रहे । मेरे प्रेम-परिपूर्ण जीवनमें सांसारिक हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति,

घोर अपमान और महान् सम्मानका कुछ भान ही न रहे। मेरी जिह्वा प्रियतमके नामको रटती रहे; मेरा हृदय उनकी लीलाका धाम ही बन जाय—सदा-सर्वदा उसमें श्रीश्यामसुन्दरकी लीला ही चलती रहे; मेरे समस्त अङ्ग प्रभुके अङ्गोंका सुख-स्पर्श-सौभाग्य प्राप्त करते रहें और मेरी आँखें उनके ललित रूप-सौन्दर्यको देखती रहें। मेरे मोहका सारा अन्धकार मिट जाय; अतएव जन्म-मृत्युकी कुछ भी परवा न रहे। पल-पलमें अहैतुक प्रेम बढ़ता रहे और पल-पलमें रसकी चाह बढ़ती रहे। लोक-परलोकका—इस लोकके बिगड़नेका या परलोककी दुर्गतिका कोई भय न रहे। हर अवस्था-में प्रेम बाधारहित होकर बढ़ता रहे; कितने ही जन्म हों, प्रत्येक जन्ममें तुम्हारा अगाध विशुद्ध प्रेम बना रहे। उस पवित्र प्रेमके कभी मिटने, कम होने या रुकनेकी कल्पना ही न हो। प्रेमकी वह नदी प्रतिपल बिना विकल्पके उमड़ती ही रहे। यह जीव किसी भी लोकमें, कहीं भी—किसी भी योनिमें जाय, सदा प्रियतमकी प्रेम-नदीमें ही—नदी-जलमें मछलीकी भाँति बसा रहे। जैसे मछली जलके बिना क्षणभर भी नहीं रह सकती, वैसे ही प्रियतमके प्रेम बिना क्षणभर न रहे। मैं न दुर्लभ इन्द्रपद चाहती हूँ, न ब्रह्माका पद और न निर्वाण—कैवल्य-मुक्ति ही; मैं चाहती हूँ प्रियतमके चरण-कमलोंमें मेरा महान् प्रेम दिनोंदिन बढ़ता ही चला जाय। नरकोंकी प्राप्ति या नीची गतिका मुझे तनिकभर ही भय नहीं है। बुद्धिका सारा अभिमान छोड़कर मैं सदा प्रेममदमें मतवाली ही बनी रहूँ।'

कैसी श्रेष्ठ प्रेमकामना है! ऐसे प्रेमीका प्रेम एक जन्मतक ही सीमित नहीं रहता, वह तो सनातन अनन्त प्रभुके नित्य स्वरूपकी भाँति ही सनातन, अनन्त, नित्य रहता है।

भगवान् मेरे परम सुहृद् हैं

स्वभावसुहृद् मित्रकी स्वाभाविक चेष्टा अपने मित्रके हित-साधनकी रहती है। भगवान् घोषणा करते हैं—'मैं जीवमात्रका सुहृद् हूँ।' भगवान्‌के समान हमारा परमहितैषी और कौन होगा। मैं आजतक कभी अपने अहंकारको, कभी अपने विवेकको, कभी अपने अध्ययनको, कभी किसी लौकिक स्वजन या पदार्थको अपना परम हितैषी मानता रहा; पर मुझे बराबर निराशा-ही-निराशा हाथ लगती रही। मैं जिन-जिन परिस्थितियोंको, जिन-जिन कार्योंको अपने लिये तथा दूसरोंके लिये परम मङ्गलमय मानता रहा, वे सभी मेरे लिये तथा दूसरोंके लिये महान् अमङ्गलमय सिद्ध होते रहे। इस बराबरकी असफलताने जीवनमें निराशा उत्पन्न कर दी। पर आज अकस्मात् भगवान् अपनी अहैतुकी कृपासे मेरे मनमें प्रकट हो गये हैं और अब मन उनके रूपमें अपने परम सुहृद्‌को पाकर शान्त और प्रसन्न हो गया है। सूर्यके उदय होनेपर जैसे अन्धकारके दर्शन नहीं होते, वैसे ही भगवान्‌के हृदयमें आनेपर अब निराशा, आलस्य, भय, चिन्ता, विषाद, दुःख, प्रतिकूलता, असंतोष, अशान्ति—किसीके भी दर्शन नहीं होते। अब मनमें सहज स्फूर्ति, सात्त्विकता, उल्लास एवं शान्तिका निर्मल पवित्र अगाध सरोवर लहरा रहा है। मेरा अन्तस्तल प्रशान्त और शीतल हो रहा है तथा मेरे सम्पर्कमें आनेवालोंको भी अब शान्ति और शीतलता ही प्राप्त हो रही है।

भगवान् मेरे परम सुहृद् हैं।

महासती सावित्री

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

(१)

सत्ययुगमें हमारे देशमें मद्रदेश नामका एक राज्य था। इसमें अश्वपति राजा राज्य करते थे। ये राजा बड़े ही धर्मात्मा थे। उस जमानेमें इस देशकी अवस्था अत्यन्त मनोरम थी। रामायण, महाभारत और पुराणादि धर्म-ग्रन्थोंको पढ़कर आज हम जान लेते हैं कि उस समय देशके चारों ओर जो कुछ था, वह बड़ा ही सुन्दर था। केवल प्राकृतिक सौन्दर्य ही नहीं, उस समयके लोगोंके आचार-व्यवहार, रूप, गुण और चरित्र आदि सब बड़े ही सुन्दर थे। पशु, पक्षी, कीट, पतंग, आकाश, वायु, वृक्ष, लता आदि सब बड़े ही मनोरम दिखायी देते थे। मनुष्य सदा सत्य बोलते थे और मिथ्याभाषण तथा व्यवहार कल्पनासे अतीत थे। सर्वत्र उपयुक्त वर्षा होती थी। कोई भूखा नहीं रहता था। पशु-पक्षी निर्भयतासे खेलते फिरते थे। मनुष्य उनकी हिंसा नहीं करते और न वे ही मनुष्योंकी हिंसा करते या उनसे डरते थे। परम्परासे ही उनमें वैर-भावका अभाव था। मनुष्य सिंहके साथ मिलकर सुन्दर खेल खेलते थे। खेतोंमें अन्न खूब फलता था और आकाशमें सर्वत्र ऋषि-मुनियोंके यज्ञका धुआँ छाया रहता था। अभिप्राय यह कि उस समय जो कुछ भी था, वह बहुत ही उत्तम था।

उस समयका मद्रदेश भी ऐसी ही शोभा-सम्पदासे विभूषित था। एक तो वह सत्ययुगका काल, दूसरे परम धार्मिक राजाका देश। बस, इसीसे उस देशमें किसीको कुछ भी दुःख नहीं था। सब लोग परम सुखसे रहते थे और सबको सब प्रकारका आनन्द था। किसान प्रसन्नतापूर्वक हल चलाते थे; गृहस्थ स्त्री-पुत्रादिसमेत आनन्दसे रहते थे; ब्राह्मण निश्चिन्त होकर नित्य वेद-पाठ और शास्त्रकी आलोचना करते थे और ऋषि-मुनि निर्भयताके साथ सदा-सर्वदा यज्ञादि-सम्पादनमें संलग्न रहते थे। इस भाँति मद्रदेश-वासियोंके दिन परम सुखसे बीत रहे थे। परंतु ज्ञात होता है, निर्दोष सुख-शान्ति मानो प्रकृतिके राज्यमें नहीं है। मद्रदेशमें सारी सुख-सम्पदा होनेपर भी एक बड़ा अभाव था और वह यह था कि वहाँके राजाके कोई संतान न थी! इसी दुःखसे राजा-प्रजा बड़े दुःखित रहा करते थे; क्योंकि दीन-दुखियोंके यदि संतान न हो तो विशेष कष्टकी बात नहीं, पर सम्पन्न पुरुषोंके संतान न होना बड़े ही दुःखकी बात है। यदि इनके संतान न हो तो इनकी सम्पत्तिको भोगे कौन। अश्वपतिको यही बड़ा कष्ट था। वे सदा सोचा करते कि 'मेरे पीछे मेरी राज्य-सम्पत्तिको कौन भोगेगा? ऐसा सुन्दर राज्य, ऐसी सुन्दर प्रजा और ऐसा उच्च वंश-गौरव। पर, संतापका विषय है कि इनका उत्तराधिकारी कोई नहीं!' अश्वपति इसी चिन्तासे सदा उदास रहते थे और भविष्यकी बातें सोच-सोचकर उनका मन दिनोंदिन अधिक क्लेशका अनुभव करता था।

विशेष वृद्ध हो जानेपर एक दिन राजाने एक बड़ी भारी सभा की। उस सभामें, राज्यके जितने बड़े-बड़े विद्वान्, ब्राह्मण और प्रधान-प्रधान ऋषि-मुनि थे, वे सब निमन्त्रित होकर आये। सबके उपस्थित हो जानेपर राजाने कहा—'आपलोगोंको एक महत्त्वपूर्ण परामर्शके लिये बुलाया गया है, वह यह है कि मैं अब वृद्ध हो गया। जीवनका कुछ भरोसा है नहीं। इसीलिये इस समय राज्यका उपयुक्त प्रबन्ध करना चाहिये। संतान अभीतक हुई नहीं है और न होनेकी आशा है। ऐसी दशामें इस राज्यका भार मेरे बाद किसके ऊपर रहेगा, यह कहिये। मुझे बड़ी चिन्ता है कि मेरा स्वर्ण-जैसा राज्य एक स्वामीके बिना एक बार ही धूल हो जायगा। इस चिन्ताको अब मैं सहन नहीं कर सकता।'

राजाकी बात सुनकर पण्डितों और ऋषि-मुनियोंको बड़ा कष्ट हुआ। परंतु ऋषि-मुनि अनेक तत्त्वोंके ज्ञाता थे, इसलिये वे इसका उपाय सोचने लगे। निदान, उन्होंने एक अच्छी सम्मति ठहरायी और राजासे कहा—'महाराज! इसके लिये चिन्ता न कीजिये। आपके इस राज्यका अधिकारी और कोई नहीं हो सकता—केवल आपका पुत्र ही हो सकता है। आप यज्ञ कीजिये, तपस्या कीजिये। निश्चय ही आपके पुत्र होगा।'

ऋषि-मुनियोंकी बात सुनकर अश्वपति बड़े चकित हुए, क्योंकि उनको स्वप्नमें भी आशा न थी कि मेरे कभी संतान होगी। अब उनके हर्षका पार नहीं रहा। उनको यह भी

विश्वास था कि ऋषि-मुनियोंकी बात कभी असत्य नहीं होती। इसीसे उनके मनमें आशाका प्रदीप धीरे-धीरे जल उठा। वे परम प्रसन्न होकर बोले—'आज्ञा दीजिये, मैं क्या कठिन तप करूँ? राज्य-रक्षा, वंश-रक्षा और प्रजा-रक्षाके लिये मैं प्राण देनेको भी तैयार हूँ।'

तब उन तत्त्वज्ञ पण्डितोंने विचार करके अश्वपतिको सावित्रीदेवीकी आराधना करनेकी सलाह दी; क्योंकि सावित्री देवी विधाताकी अत्यन्त प्रिय पात्री हैं। उनके संतुष्ट होनेपर विधाता भी संतुष्ट हो सकते हैं और स्वयं अपने विधानका खण्डन कर सकते हैं। इस प्रकार वे राजाको समझाकर अपने-अपने घर लौट गये। राजा भी उसी दिनसे तपस्यामें जानेकी तैयारी करने लगे।

(२)

महाराज तपस्या करनेको वनमें जायँगे, यह बात सुनकर मद्रदेशके सब निवासी बहुत दुखित हो गये। राजाका सिंहासन कितने दिनोंतक खाली पड़ा रहेगा, पिताके समान हमें पालनेवाले राजा कितने दिनोंके लिये हम सबको अकेले छोड़ जायँगे आदि बातोंका विचार कर-करके उनका मन बड़ा व्यथित हुआ। किंतु राजाके एक पुत्र हो, यह सभीकी इच्छा थी। इसीसे अधिक कष्ट होनेपर भी किसीने उनको इस काममें रोका नहीं और उदास मनसे अपने नेत्रोंके आँसू पोंछते हुए राजाको विदा देने लगे। राजाने भी सबको समझा-बुझाकर शान्त किया और अञ्चलसे रानीके नयनाश्रु पोंछते हुए वनको चले गये।

वनमें जाकर अश्वपति बड़ी कठिन तपस्या करने लगे। दुग्ध-फेनके समान कोमल शय्यापर सोनेवाले राजा लंबे समयतक तृणशय्यापर बैठे रहकर उस घोर वनमें अतिकठोर तपस्या करने लगे। तपस्याके साथ ही वे यज्ञाग्नि प्रज्वलित-कर शास्त्रोक्त विधिसे उसमें आहुति देने लगे। इससे वहाँकी समस्त अरण्यभूमि उज्ज्वल प्रकाशसे परिपूर्ण हो गयी। एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, एक वर्ष नहीं, दो वर्ष नहीं—लगातार अठारह वर्षोंतक अश्वपति इसी प्रकार साधना करते रहे। उनकी तपस्याके प्रभावसे चराचर कम्पित हो उठा। देवता, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, सभी उनकी कठोर साधना देखकर विस्मित—चकित हो गये।

किसीकी भी कठोर तपस्या देखकर देवता बहुत डरने लगते हैं। अश्वपतिको ऐसी भीषण तपस्या करते देखकर आज भी उनका मन काँप उठा है। वे सोचने लगे—'पता नहीं, क्या सर्वनाश होगा। इस बार अश्वपति न जाने किसके अधिकारको छीन लेंगे।' वे अपने-अपने अधिकारकी चिन्ता करने लगे। देवराज इन्द्र अपने मान-भङ्गकी चिन्तामें व्याकुल हो गये। धर्मराज यम और धन-भंडारके स्वामी कुबेर भी अपने अधिकारोंकी चिन्ता करने लगे। सुधाके समुद्र चन्द्रमाको यह चिन्ता हुई कि कहीं मेरी सुधा तो नहीं छिन जायगी। इस तरह पवन, वरुण, अग्नि आदि सभी देवता अपने-अपने अधिकार छिन जानेके भयसे दिन-रात बेचैन रहने लगे। मन-ही-मन वे विचारने लगे कि 'अश्वपति जब ऐसी घोर तपस्या करते हैं, तब विधाताको प्रसन्न किये बिना वे नहीं रहेंगे और विधाता यदि एक बार प्रसन्न हो गये तो वे अश्वपतिको अभीष्ट-सिद्धिका वर दिये बिना शान्त नहीं होंगे और ऐसा हो गया तो हमारा सर्वनाश है!' अस्तु, इसी विचारसे देवताओंने विधाताके शरणागत होनेकी बात सोची और अन्तमें वे सब मिलकर उसी दिन विधाताके दरबारमें उपस्थित हो गये।

ब्रह्मा ब्रह्मलोकमें बैठे वेद-गान सुन रहे थे। चारों ओर गन्धर्व, किन्नर आदि विराजमान थे। किसीके हाथमें वीणा, किसीके हाथमें तंबूरा और किसीके हाथमें सारंगी थी। कोई मृदङ्ग बजा रहा था। चारों ओरसे खूब मजलिस जम रही थी। एक ही सुरकी तरङ्गोंमें मानो जगत् शुद्ध हुआ जा रहा था। ठीक ऐसे समयमें देवता वहाँ पहुँचे। ब्रह्माने उनका मलिन मुख देखकर कुशल-प्रश्न किया। देवताओंने क्रमशः सब बातें कह सुनायीं।

देवताओंकी बात सुनकर ब्रह्माजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने प्रकटमें कहा—'आप सब इतनी चिन्ता क्यों करते हैं? अश्वपतिके तप करनेका दूसरा कारण है। वह आपके अधिकारोंको लेनेके लिये तपस्या नहीं करता। उसके पास कमी क्या है? इन्द्रके ऐश्वर्यके समान उसका ऐश्वर्य है, कुबेरके भंडारके समान उसके रत्न-भंडार हैं; और जिसको ऐसी तपस्याका बल है, उसको यमके यमलोक लेनेकी आवश्यकता ही क्या है।'

विधाताकी बात सुनकर देवता मौन हो गये। परंतु यमको वह बात मीठी नहीं लगी। अश्वपतिका ऐश्वर्य यदि इन्द्रके ऐश्वर्यके समान है तो ठीक है; उसको इन्द्रासनकी जरूरत नहीं और उसका रत्नभंडार भी यदि कुबेरके

रत्नभंडार-जैसा है तो उसे उससे भी कुछ प्रयोजन नहीं। परंतु यमलोकके समान तो उसके पास कुछ भी नहीं है, तब उसको इसकी इच्छा क्यों न होगी! यम क्या इतने हीन हैं! इसी बातसे यमको बड़ा अभिमान हुआ। बोले—'प्रभो! मैं चराचरका शासक और स्वयं धर्मराज हूँ। मेरा अधिकार भी क्या मनुष्योंके लोभ करने योग्य नहीं है?'

विधाताने धर्मराजके मनमें छिपे भावको जान लिया। कुछ हँसकर वे मन-ही-मन कहने लगे कि 'यह भूल है, इसे मिटाना होगा।' प्रकटमें बोले—'आपका अधिकार ऐसा क्या बड़ा है? क्या आपने अपनी इच्छा या सामर्थ्यसे कभी किसीको सुख-दुःख पहुँचाया है?'

यमने उत्तर दिया—'मेरी इच्छासे न सही, आपकी इच्छासे तो करता हूँ। मेरी यह सामर्थ्य क्या कम है? यही क्या किसी मनुष्यमें हो सकती है?'

ब्रह्मा हँसकर बोले—'भूल है धर्मराज, भूल है। यह तुम्हारी इच्छासे भी नहीं है, मेरी इच्छासे भी नहीं है। मनुष्योंके सुख-दुःख स्वयं मनुष्य ही बनाते हैं और वे ही मिटाते हैं। आप और मैं उनके सुख-दुःखकी व्यवस्था अवश्य करते । पर वह भी हमारी इच्छासे नहीं, मनुष्योंके कर्म-फलके हिसाबसे होती है। जिसका जैसा कर्मफल होता है, वैसा ही मैं उसके ललाटमें लिख आता हूँ। तुम भी उसीकी रक्षा करते हो। देवताओ! अब यह बात अच्छी तरह सीख लो।'

देवता बड़े आश्चर्यचकित हुए। बोले—'तब तो कर्मफलसे आपका लिखा हुआ भी बदल सकता है?'

विधाताने कहा—'निस्संदेह बदल सकता है। काम बनने योग्य उच्च साधना होनी चाहिये, फिर तो काम अवश्य होगा ही।'

देवताओंने आश्चर्यमें पड़कर जब यह कहा कि 'स्वामिन्! हमने तो यह बात पहले कभी नहीं सुनी थी', तब ब्रह्मा बोले—'अच्छी बात है, अब मैं शीघ्र ही इसे सुनानेका प्रबन्ध करूँगा। आप सब जाइये। यह भी स्मरण रखिये कि अश्वपति एक संतान पानेके लिये तपस्या कर रहा है। इसकी तपस्या पूरी होनेवाली है। इसमें आपकी चिन्ताका कोई कारण नहीं।'

देवताओंको विदा करके विधाताने सावित्रीदेवीको याद किया। देवी उसी क्षण उपस्थित हो गयीं। ब्रह्मा बोले—'देवि! राजा अश्वपति आज अठारह वर्षसे लगातार तपस्या कर रहा है। क्या तुमने उसको अभीतक नहीं देखा?'

देवीने कहा—'प्रभो! देखूँ क्या? वह मार्ग तो आपने ही बंद कर रखा है। अश्वपति संतान-प्राप्तिके लिये तप करता है, परंतु जन्मके छठे दिन आप उसे 'निस्संतान' लिख आये हैं। तब मैं वहाँ जाकर क्या करूँ।'

ब्रह्माने देखा कि देवताओंकी भाँति सावित्री भी भूलमें है। वे बोले—'देवि! अब जाओ। अब मैं उसे संतानवान् करता हूँ। शीघ्र ही उसके एक कन्या होगी। तुम अभी जाकर यह शुभ-संवाद उसे सुना आओ। यह भी कह आना कि अब उसकी तपस्याकी जरूरत नहीं है।'

'अश्वपति पुत्रके लिये तपस्या करता है—पुत्रके बिना उसका राज्य नष्ट हुआ जाता है। किंतु विधाताने कृपा करके उसे तपस्याके बदलेमें एक कन्या दी है! यह कैसी व्यवस्था हुई!' सावित्रीदेवीको यह बात अच्छी नहीं लगी। इसीसे उन्होंने पूछा—'कन्या? कन्या क्यों, प्रभो? वह तो पुत्र चाहता है। पुत्रके बिना उसका राज्य सूना होनेवाला है। यह कन्या लेकर वह क्या करेगा?'

ब्रह्माजीने उत्तर दिया—'इसमें बिगाड़ ही क्या है! इस कन्यासे ही सौ पुत्रोंका काम होगा, मैं ऐसी चेष्टा करूँगा।'

सावित्रीदेवी मनुष्यलोकमें जानेको तैयार हुई, किंतु एक बात पूछे बिना वे जा न सकीं; उन्होंने सुना था कि 'विधाताका आदेश पलट नहीं सकता और अश्वपति विधाताके आदेशसे ही संतानहीन हैं। तब आज विधाताकी उस व्यवस्थाका परिवर्तन क्यों होता है!' जानेके पहले यही बात उन्होंने विधातासे पूछी।

विधाता बोले—'सावित्री! देखो, तुम देवता होकर भी इस बातको नहीं समझती—यह लज्जाकी बात है। सुनो! कर्मफल ही भाग्यको बनाता, बिगाड़ता है। मैं तो केवल निरीक्षणकर्ता हूँ। देवता भी इस मोटी बातको आजतक न जान सके। इसीसे चारों ओर इतना अनर्थ हो रहा है। थोड़ा दुःख होनेपर मनुष्य विचारते हैं कि यह सब विधाताकी करतूत है। देवता भी सदा यही अहंकार करते हैं। जानते नहीं कि अपने कर्मफलसे अपना भाग्य बनता है। इसीका फल यह हुआ कि लोग दिनोंदिन आलसी, कुकर्मी

और क्षतिग्रस्त होते जाते हैं। देखो, अश्वपति पूर्वजन्मके फलसे संतानहीन होनेपर भी अब वर्तमानकी तपस्याके प्रभावसे संतान प्राप्त करने योग्य हो गया है। इसलिये अब मैं उसे संतानवान् कर सकता हूँ। पर इससे यह समझ लेना उचित नहीं कि मैं उसपर कृपा करके उसको भाग्य-बन्धनसे मुक्त कर रहा हूँ। यदि ऐसा करूँ तो ईश्वरके न्याय-विधानका खण्डन होता है। आशा है, अब तुम अच्छी तरह समझ गयी होओगी।

ब्रह्माजीके वचन सुनकर सावित्रीदेवी भी देवताओंकी भाँति आश्चर्यचकित हो गयीं और चुपचाप बहुत देरतक न जाने क्या सोचती रहीं। इसके पश्चात् बोलीं—'तब तो यह भारी भ्रम है। अब सबको यह बात अच्छी तरह समझा देना चाहिये।'

ब्रह्मा दृढ़तापूर्वक बोले—'अवश्य! नहीं तो सारा संसार मिट्टी हो जायगा। मैं भी यही सोच रहा हूँ और इसीलिये मैंने आज अश्वपतिको संतानवान् करके भी पुत्र नहीं दिया है—केवल एक कन्या दी है। मुझे भरोसा है कि इस कन्यासे ही दोनों लोकोंमें शीघ्र इस बातका प्रचार हो जायगा।'

तब सावित्रीदेवीने जान लिया कि कन्याके देनेमें विधाताका कोई गुप्त रहस्य छिपा हुआ है। फिर वे विधाताको प्रणाम करके मर्त्यलोकमें आ गयीं।

अश्वपति उसी घने वनमें, उसी तृणशय्यापर बैठे तप-के-बाद-तप कर रहे थे, आहुतिके-बाद-आहुति दे रहे थे। यज्ञका धुआँ आकाशपथमें छा रहा था। ऐसे ही समयमें सावित्रीदेवी वहाँ पहुँचीं। एकाएक धूम्र-राशिसे निकलकर देवीने कहा—'पुत्र! शान्त होओ, मैं आ गयी हूँ। कहो, तुम्हारी क्या अभिलाषा है? मैं उसे पूर्ण करूँगी।'

एकाएक यज्ञ-स्थलमें वर-प्रदा सावित्रीको देखकर अश्वपतिको बड़ा आनन्द हुआ। सोचा; इतने दिनोंकी तपस्या, आशा, जान पड़ता है, आज सफल होनेवाली है।

अश्वपतिने हाथ जोड़कर कहा—'माँ, मेरी अभिलाषा आपसे छिपी नहीं है। मैं संतान चाहता हूँ, इसीसे तपस्या कर रहा हूँ। मेरी यह इच्छा पूरी करें।'

देवीने कहा—'तथास्तु। तुम्हारी यह इच्छा पूर्ण हुई। तुम घर जाओ। शीघ्र ही तुम्हारे यहाँ एक कन्या जन्मेगी। उसी कन्यासे तुम्हारे सौ पुत्रोंका काम होगा। इस कारण अब पुत्रकी इच्छा मत करो। तुम्हारे मङ्गलके लिये ही विधाताने यह विधान किया है।'

इतना कहकर देवी अन्तर्द्धान हो गयीं। अश्वपति फिर उन्हें एक बार भी नहीं देख सके। बात करनेका सुयोग भी नहीं मिला। अन्तमें वे उसी आशीर्वादको मस्तकपर धारण करके आनन्दपूर्वक देशको लौट आये।

'महाराज आ रहे हैं और महाराजके संतान होगी' यह बात जानकर प्रजाजन बहुत प्रसन्न हुए और महाराजकी जय-जयकार कर उठे। मद्रदेशमें पुनः आनन्द छा गया।

(क्रमशः)

प्रार्थना

प्रभो! कृपाकर मुझे बना लो अपने नित्य दासका दास। सेवामें संलग्न रहूँ उल्लसित नित्य, मन हो न उदास॥
चिन्तन हो न कभी भोगोंका, नहीं विषयमें हो आसक्ति। बढ़ती रहे सदा मेरे मन पावन प्रभुचरणोंकी भक्ति॥
कभी न निन्दा करूँ किसीकी, कभी नहीं देखूँ पर-दोष। बोलूँ सदा सुधामयि वाणी, कभी न आये मनमें रोष॥
कभी नहीं जागे प्रभुता-मद, कभी न हो तिलभर अभिमान। समझूँ निजको नीच तृणादपि, रहूँ विनम्र नित्य निर्मान॥
कभी न दूँ मैं दुःख किसीको, कभी न भूल करूँ अपमान। कभी न पर-हित हानि करूँ मैं, करूँ सदा सुख-हितका दान॥
कभी न रोऊँ निज दुखमें मैं, सुखकी करूँ नहीं कुछ चाह। सदा रहूँ संतुष्ट, सदा पद-रति-रत विचरूँ बेपरवाह॥
प्राणि-पदार्थ-परिस्थितिमें हो कभी न मेरा राग-द्वेष। रहे न किंचित् कभी हृदयमें जग-आशा-ममताका लेश॥
मस्त रहूँ मैं हर हालतमें, करूँ सदा लीलाकी बात। देखूँ सदा सभीमें तुमको, सदा रहे जीवन अवदात॥

मानवके मुख्य धर्म—परमात्मचिन्तन और दान

(लेखक—पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

मानव इस जगत्का एक साधनसम्पन्न प्राणी है। परमात्माने मानव शरीरको ऐसे साधन प्रदान किये हैं, जिनका सदुपयोग करके वह 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' दोनों प्राप्त कर सकता है। मानव-जीवन वह चौराहा है, जहाँसे देवलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठधाम, गोलोकधाम अथवा मोक्षधामको भी जानेका मार्ग मिल सकता है। वहींसे भीषण नरक और कीट-पतंग आदि योनियोंकी ओर जानेका मार्ग भी सरलतासे सुलभ होता है। उसके एक ओर सुखके साधनोंसे सम्पन्न समुन्नत शैल-शिखर है, जिसपर प्रयत्नपूर्वक उसे चढ़ना है और दूसरी ओर अत्यन्त गहरी खाई है, जिसमें तनिक-सी भूलसे ही गिरकर सर्वनाशके मुखमें पड़नेकी प्रतिक्षण आशङ्का है। ऐसी स्थितिमें मानवको बड़ी सावधानीके साथ अपने लक्ष्यको चुनने और उसकी ओर पैर बढ़ानेकी आवश्यकता है। सबसे पहले उसे अपने-आपको पतनसे बचाकर सुरक्षित रखना है। गिरने या ऊँचे चढ़नेसे पूर्व अपनी वर्तमान स्थितिको सुदृढ़ करना है। अपने आपको धारण करनेसे ही हम पतनसे बच सकते हैं और उत्थानकी दिशामें अग्रसर हो सकते हैं। जगत्को धारण करनेकी शक्ति केवल धर्ममें है। धारण करनेसे ही उसका नाम 'धर्म' हुआ है।

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।

धर्मके बलसे ही संसार टिका हुआ है। धर्मका आश्रय न हो तो एक क्षण भी उसकी सत्ता नहीं रह सकती। इसीलिये विश्वम्भर भगवान् विष्णु जब विश्वकी रक्षाके लिये अवतार ग्रहण करते हैं, तब सबसे प्रथम धर्म-संस्थापनाकी ओर ही ध्यान देते हैं।

धर्मका मुख्य अधिकारी मानव है। उसका शरीर ही 'धर्मक्षेत्र' और 'कुरुक्षेत्र' है। पशुओं और मनुष्योंमें कोई अन्तर है तो वह धर्मको लेकर ही है—

धर्मो हि तेषामधिको विशेषः।

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये जो दस धर्म बताये गये हैं, ये प्राणिमात्रको धारण करनेवाले हैं। इनके पालनसे मनुष्यमें मानवताका विकास होता है और उसके द्वारा अपना तथा जगत्का संरक्षण होता है। अतः ये मनुष्यमात्रके लिये अपरिहार्य आर्यधर्म हैं। इन सबको हम गुणरूप धर्म कह सकते हैं। हमें यहाँ क्रियात्मक धर्मोंमेंसे मुख्य धर्मको चुनना है। मनुने सम्पूर्ण वेद, स्मृति, वेदज्ञ पुरुषोंके शील, सत्पुरुषोंके आचार और मनकी प्रसन्नता—इन सबको धर्मका मूल बताया है। ये ही धर्मको लक्षित करानेवाले हैं; परंतु इन सबमें वेदकी ही प्रधानता है—

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

अतः हमें सबसे पहले वेदोंमें ही यह ढूँढ़ना है कि मनुष्यके लिये मुख्य धर्म क्या है। धर्मका लक्षण बतानेवाले आचार्योंने उसे अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन बताया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

दूसरे शब्दोंमें लोक और परलोकका सुधार ही धर्मका लक्ष्य है। इधर मनुष्य-शरीरको परम दुर्लभ बताया गया है—'नरत्वं दुर्लभं लोके।' बड़े भाग्यसे इसकी प्राप्ति होती है—

बड़े भाग मानुष तन पावा।

अतः इसको ऐसे धर्ममें लगाना चाहिये, जो इसकी प्रतिष्ठाके अनुरूप और इसे सार्थक बनानेवाला हो।

यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि मानव-जन्मकी सार्थकता तभी होगी, जब वह मोक्ष या भगवत्प्राप्तिकी साधनामें लगे। सबसे पहले हम वेदभगवान्से पूछते हैं कि हमारा मुख्य धर्म क्या है। वे उत्तर देते हैं—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

(यजुर्वेदसंहिता, अध्याय ४०, मन्त्र १)

'अखिल विश्वब्रह्माण्डमें जो कुछ भी यह चराचरात्मक जगत् तुम्हारे देखने-सुननेमें आ रहा है, सब-का-सब सर्वात्मा परमेश्वरसे व्याप्त है। उन परमात्माको अपने साथ रखते हुए तुम प्राप्त धनसम्पत्तिका त्यागपूर्वक उपभोग करो। जितना तुम्हारे निर्वाहमात्रके लिये आवश्यक है, उतनेसे अधिकको तो अपना मानो ही मत; वह भगवान्की वस्तु है, उसे चराचर विश्वमें व्याप्त भगवान्की सेवामें लगा

दो। निर्वाहमात्रके लिये जितना आवश्यक समझते हो, उसे भी पञ्च यज्ञादिके द्वारा त्यागपूर्वक प्रसादरूपसे अपने उपयोगमें लाओ। निर्वाहसे अधिक धनकी आकाङ्क्षा या लोभ न करो। भला, धन किसका है? किसीका नहीं। धनके स्वामी तो एकमात्र लक्ष्मीपति भगवान् ही हैं।' श्रीमद्भागवतमें तो यहाँतक कहा गया है कि जितनेसे पेट भरे, उतने ही अन्न-धनपर देहधारीका अधिकार है। उससे अधिकको जो अपना मानता है, वह चोर है। उसे दण्ड मिलना चाहिये—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्भा०)

उपर्युक्त वेद-मन्त्रसे परमात्मचिन्तन और त्याग—इन दो बातोंकी आज्ञा मिली। उसी अध्यायके दूसरे मन्त्रमें यह बताया गया है कि उन परमेश्वरकी पूजाके निमित्त शास्त्र-नियत कर्तव्य कर्मोंका आचरण करते हुए ही सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करो। इस प्रकार त्यागभावसे परमेश्वरके लिये किये जानेवाले कर्म तुम-जैसे मनुष्यमें लिप्त नहीं होंगे—तुम्हें बन्धनमें नहीं डाल सकेंगे। कर्म करते हुए कर्मोंसे लिप्त न होनेका यही एक मार्ग है, दूसरा नहीं—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(ईश० २)

गीता, अध्याय २ के ५०, ५१ श्लोकोंमें तथा ५वें अध्यायके १० वें श्लोकमें भी ऐसी ही बात कही गयी है। जो त्यागपूर्वक परमात्मचिन्तन अथवा कर्तव्य कर्मोंके पालन-द्वारा भगवान्की आराधना करके इस संसार-सागरसे मुक्त होने या भगवान्को पानेका प्रयत्न नहीं करते, उन्हें विवेकी पुरुषोंने आत्महत्यारा कहा है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

वेदभगवान् कहते हैं कि ऐसे आत्महत्यारोंको मृत्युके पश्चात् घोर अन्धकारमय नरकोंकी प्राप्ति होती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(यजुर्वेद ४० । ३)

इन मन्त्रोंकी आलोचनासे यह निष्कर्ष निकला कि मनुष्य मनसे परमात्माका चिन्तन तथा शरीरसे उन्हीं सर्वव्यापी परमेश्वरकी आराधनाके लिये शास्त्रविहित कर्म करे। 'मामनुस्मर युध्य च' गीताके इस भगवद्वाक्यका भी यही अभिप्राय है। वेदके पूर्वोक्त मन्त्रने जिस त्यागकी ओर संकेत किया है, उसका बहुत बड़ा महत्त्व है। उसे परमात्माकी प्राप्तिका साक्षात् साधन बताया गया है—'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः'। त्यागसे इच्छा, आसक्ति, मोह-ममता और अहंकारके त्यागका प्रतिपादन तो होता ही है, उसके द्वारा दान-धर्मकी महिमापर भी प्रकाश पड़ता है। अनेक स्थलोंमें 'त्याग' और 'दान' पर्यायवाची माने गये हैं। मनुष्य स्वभावसे ही धनके उपार्जन और संग्रहका प्रेमी होता है। कुछ लोग तो चमड़ी देकर भी दमड़ी देना नहीं चाहते। ऐसे लोगोंकी दानके द्वारा ही त्यागमें प्रवृत्ति होती है। इसीलिये वेद-शास्त्रोंमें दान-धर्मकी बड़ी महिमा बतायी गयी है। दान-वीरोंकी यशोगाथाओंसे हमारे इतिहास-पुराण भरे पड़े हैं। देवता, मनुष्य और असुर जब प्रजापतिके पास कर्तव्यका उपदेश लेनेके लिये गये, तब उन्होंने तीनोंके लिये एक ही उपदेश दिया 'द'। इस 'द' का अर्थ देवताओंने अपने लिये इन्द्रियदमन समझा, असुरोंने दया माना और मनुष्योंने उस दकारको अपने लिये दानकी प्रेरणा समझी (देखिये बृहदारण्यक० ५। २। १-३)। इस तरह प्रजापतिकी ओरसे मनुष्योंको सर्वप्रथम दान-धर्मका उपदेश प्राप्त हुआ है। दान कैसे देना चाहिये, इसकी शिक्षा तैत्तिरीय-उपनिषद्के द्वारा प्राप्त होती है—

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

(तैत्तिरीय० १। अनु० ११। ३)

जो कुछ भी दिया जाय, वह श्रद्धापूर्वक देना चाहिये! अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये; क्योंकि बिना श्रद्धाके दिये हुए दान आदि कर्म असत् माने गये हैं (गीता १७। २७)। लज्जापूर्वक देना चाहिये अर्थात् सारा धन भगवान्का है, इसे मैंने अपना मानकर उनका अपराध किया है। इसे सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित भगवान्की सेवामें ही लगाना उचित था, मैंने ऐसा नहीं किया। मैं जो कुछ दे रहा हूँ, वह भी बहुत कम है। यों सोचकर संकोचका अनुभव करते हुए देना चाहिये। मनमें दानीपनके अभिमानको नहीं आने देना चाहिये। सर्वत्र और सबमें भगवान् हैं, अतः दान लेनेवाले भी भगवान् ही हैं। उनकी बड़ी कृपा है कि मेरा दान

स्वीकार कर रहे हैं। यों विचारकर भगवान्‌से भय मानते हुए दान देना चाहिये। 'हम किसीका उपकार कर रहे हैं' ऐसी भावना मनमें लाकर अभिमान या अविनय नहीं प्रकट करना चाहिये। परंतु जो कुछ दिया जाय, वह विवेकपूर्वक, उसके परिणामको समझकर निष्काम भावसे कर्तव्य समझकर देना चाहिये (गीता १७। २०)। इस प्रकार दिया हुआ दान ही भगवान्‌की प्रीतिका, कल्याणका साधन हो सकता है। वही अक्षय फलका देनेवाला है।

यही दान गीतामें 'यज्ञ' शब्दसे प्रतिपादित हुआ है। 'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातुसे बना है। 'यज्' धातुके अनेक अर्थोंमें दो मुख्य हैं—देवपूजा और दान। यज्ञोंमें सर्वत्र इन्हींकी प्रधानता देखी जाती है। भगवान् और देवताओंके आराधनके लिये ही यज्ञके सारे कर्म सम्पन्न किये जाते हैं। यज्ञमें जो आहुति दी जाती है, वह भी देवताओंके लिये हविष्यका दान ही है। वहाँ अभ्यागतों और अतिथियोंके लिये अन्न, धन और वस्त्र आदिका दान तो प्रत्यक्ष देखा जाता है। ये सभी दान या कर्म सर्वव्यापी परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिये सम्पादित होकर यज्ञ कहलाते हैं। यज्ञ भगवान् विष्णुका एक नाम है—'यज्ञो वै विष्णुः।' अतः भगवान्‌की आराधना या प्रसन्नताके लिये जो भी किया जाय, वह सब यज्ञार्थ कर्म कहलाता है। संक्षेपमें यह समझना चाहिये कि स्वार्थ छोड़कर परोपकारकी भावनासे या लोकहितकी दृष्टिसे भगवत्प्रीत्यर्थ किये जानेवाले सेवा, दान, तप, होम आदि सभी कर्म यज्ञ हैं। प्रजापतिने यज्ञसहित मानवप्रजाकी सृष्टि करके उससे कहा—'तुम सब लोग इसीके सहारे फलो-फूलो। यह तुम्हारे अभीष्ट मनोरथको पूर्ण करनेवाला हो।' यों कहकर यज्ञकी व्याख्या करते हुए वे बोले—'तुम्हारे यज्ञसे समृद्धिको प्राप्त हुए देवतालोग तुम्हें इष्ट-भोग प्रदान करेंगे। इस यज्ञके द्वारा ही तुम और देवतालोग एक दूसरेकी उन्नति करते हुए परम कल्याणके भागी बनोगे। जो अन्नका भाग देवताओंको न देकर स्वयं खाता है, वह चोर है और जो देकर खाता है, वह यज्ञशिष्टभोजी कहलाता है। ऐसे यज्ञशिष्टभोजी साधु पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं (देखिये गीता ३। १०-१३)।' इतना ही नहीं, वे सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं (गीता ४। ३१)। प्रजापतिके इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि देवताओंके उद्देश्यसे किया जानेवाला दान यज्ञ है। भगवान् या देवताओंके उद्देश्यसे जो परोपकार, सेवा और दान आदि किये जाते हैं, वे यज्ञ या यज्ञार्थ कर्म हैं। वे बन्धन नहीं, मोक्ष देनेवाले हैं। जो कर्म यज्ञार्थ नहीं हैं, जो स्वार्थके लिये फलेच्छा और आसक्तिपूर्वक किये जाते हैं, वे ही बन्धनकारक होते हैं।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
(गीता ३। ९)

दान शब्दसे यहाँ श्रमदान, सेवादान, धनदान, गोदान, अन्नदान, जलदान, वस्त्रदान, अभयदान, प्राणदान, पुण्यदान आदि सब प्रकारके दानोंको ग्रहण करना चाहिये। तुलसीदासजीने दो ही काम मुख्य बताये हैं—देनेके लिये टुकड़ा और लेनेके लिये भगवान्‌का नाम।

तुलसी या जग आइ कै कर लीजै दो काम।
देबे को टुकड़ा भलो, लेबे को हरिनाम॥

मनुस्मृतिमें ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके लिये पृथक्-पृथक् कर्म बताये गये हैं; परंतु दान सभी त्रैवर्णिकोंके लिये अनिवार्य कहा गया है।

ऋग्वेद, दशम मण्डल, ११७ वें सूक्तमें याचकोंके लिये धनदान और अन्नदान करनेके निमित्त धनियोंसे बड़ा करुणापूर्ण अनुरोध किया गया है—

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं
ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्य-
त्युता पृणन् मर्डितारं न विन्दते॥

भूख नहीं दी, वध जीवोंका देवोंने कर डाला।
दाता वही, अन्न देकर जो बुझा सके यह ज्वाला॥
क्षुधाक्षीणकी अवहेलना कर जो खुद माल उड़ाता।
एक दिवस उसके प्राणोंको भी अन्तक ले जाता॥
दाताका धन कभी न घटता, देता उसे विधाता।
किंतु कृपणको कहीं न कोई सुखदाता मिल पाता॥

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्न-
वान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो
चित् स मर्डितारं न विन्दते॥

दुर्बल और भूखसे पीड़ित स्वयं द्वारपर आये।
लिये अन्नकी चाह विकल हो सम्मुख कर फैलाये॥
ऐसे याचकके प्रति भी जो हृदय कठोर बनाता।
अन्नवान है, किंतु नहीं देनेको हाथ बढ़ाता॥

यही नहीं तरसाकर उसको स्वयं सामने खाता।
सुखदाता उस महाक्रूरको कहीं नहीं मिल पाता॥

य इद् भोजो यो गृहवे
ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता
उतापरीषु कृणुते सखायम्॥

कृश शरीर है, माँग रहा घर जाकर दाना-पानी।
ऐसे प्रतिग्रही याचकको जो देता, वह दानी॥
यज्ञोंमें पूरा-पूरा फल उसको ही मिल पाता।
शत्रुमण्डलीमें भी वह है सबको मित्र बनाता॥

न स सखा यो न ददाति सख्ये
सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति
पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥

सङ्गी, अपना अङ्ग, सखा, जो रखता स्नेह सही है।
उसको भी जो अन्न न देता, वह तो मित्र नहीं है॥
उसे छोड़ हट जाय दूर नर, उसका गेह नहीं वह।
अन्य किसी दाताका आश्रय कर ले ग्रहण कहीं वह॥

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्
द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव
चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥

धनका दान करे याचकको निश्चय ही धनवान।
दिखलायी देता दाताको शुभका मार्ग महान॥
आवर्तित रथके चक्रों-सा होता विभव-विलास।
कभी एकके पास सम्पदा, कभी अन्यके पास॥

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी॥

व्यर्थ अन्न पैदा करता वह, जिसका मन न उदार।
सच कहता हूँ, वह संग्रह है उसका ही संहार॥
देवतृप्तिके काम न आता जो, न मित्रके काम।
जो केवल निज पेट पालता, वह केवल अघधाम॥

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति
यन्नध्वानमपवृङ्क्ते चरित्रैः।
वदन् ब्रह्मा वदतो वनीयान्
पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्॥

खेत जोतकर फाल कृषकको अन्न दे रहा उपकारी।
उपकृत करता आचरणोंसे पथको पन्थ सदाचारी॥
वक्ता ब्राह्मण सदा अवक्तासे बढ़कर आदर पाता।
दाता पुरुष कृपणसे उत्तम बन्धु सदृश माना जाता॥

एकपाद् भूयो द्विपदो वि चक्रमे
द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे
सम्पश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः॥

एक अंशका धनी द्विगुणके पीछे चलता है चिरकाल।
वह भी तीन अंशवालेका अनुगम करता है सब काल॥
चार अंशवाला चलता है पीछे औरोंको अवलोक।
अतः विभव-अभिमान छोड़ धन-दान करे संतत सब लोक॥

ऋग्वेद मं० ५। २७। २ में त्र्यरुणके द्वारा किये गये महादानकी चर्चा करते हुए उनके लिये वैश्वानरसे सुख प्रदान करनेकी प्रार्थना की गयी है। मं० ५। २७। ३ में दानी त्रसदस्युके विषयमें कहा गया है कि वे लोगोंसे लेनेका आग्रह करके दान देते थे। चौथे मन्त्रमें महादानी अश्वमेधके लिये सुबुद्धिकी प्रार्थना की गयी है। पाँचवेंमें उनके लिये धन-वृद्धिकी कामना की गयी है। मण्डल ५। ३६। ६ में तरुण राजा श्रुतरथके द्वारा किये गये तीन सौ धेनुओंके दानकी प्रशंसा की गयी है। मण्डल ६। १६। ४ में दुष्यन्त-तनय भरतके यज्ञ-दानकी तथा मन्त्र ५ में दिवोदास और भरद्वाज-के धन-दानकी यशोगाथा वर्णित है। मण्डल ६। ४। २। २२ में प्रस्तोकके, २३ में दिवोदासके तथा २४ में अश्वत्थके द्वारा किये गये दान-धर्मकी प्रशंसा की गयी है। इतिहास-पुराणोंमें शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र, नृग, बलि, रन्तिदेव आदि बहुत-से दानवीरोंके चरित्र मिलते हैं। महाभारत, अनुशासनपर्वमें तो दान-धर्मके वर्णनका एक विशेष प्रकरण ही है, जिसमें विविध वस्तुओंके दानकी महिमा बतायी गयी है। धर्म-शास्त्रोंमें दानकी महत्ताका विस्तार पूर्वक वर्णन तो है ही, दानको अनेकानेक पापोंके प्रायश्चित्तरूपमें भी स्वीकार किया गया है। धर्मसिन्धुमें दुर्मरणजनित दोषकी निवृत्तिके लिये भी नाना प्रकारके दानोंका वर्णन किया गया है।

रघुवंश महाकाव्यमें महाकवि कालिदासने दिलीपके दानकी चर्चा करते हुए लिखा है, उन्होंने नन्दिनीकी रक्षाके लिये अपना शरीर ही दे डाला था। राजा रघु विश्वजित् यज्ञमें अपना सर्वस्व दान करके बैठे थे। उन्हीं दिनों उनके यहाँ गुरुदक्षिणाके लिये धन माँगनेके निमित्त ब्रह्मचारी कौत्स पधारे। राजाने मिट्टीके बर्तनोंमें उनके लिये पाद्य, अर्घ्य अर्पण किया। फिर जब ब्रह्मचारीसे उनके आगमनका कारण पूछा,

तब उन्होंने सब कुछ बनाकर कहा—आपके इन पात्रोंसे ही मालूम हो गया कि आपके पास कितना धन है। अतः अब मैं अन्यत्र जा रहा हूँ। चातक भी शरद् ऋतुके बादलसे नीरकी याचना नहीं करता—'शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि।'

रघुने कहा—'ब्रह्मन्! दो-एक दिन ठहर जाइये। आप-जैसा याचक मेरे घर आकर खाली हाथ लौट जाय, यह कलङ्क मैं नहीं ले सकता। मेरे धन नहीं है तो क्षात्रधर्म है न? धनुष-बाण उठाता हूँ।' यह कहकर उन्होंने धनाध्यक्ष कुबेरपर चढ़ाई करनेका विचार किया। कुबेरको पता चल गया। वे जानते थे कि रघु देवराज इन्द्रको भी परास्त कर चुके हैं; अतः उनके घरमें उन्होंने स्वर्ण-मुद्राओंकी वर्षा कर दी। रघुकी दानकी टेक रह गयी। महाकवि श्रीहर्षने नैषधीयचरितमें नलकी उदारताका इस प्रकार वर्णन किया है—देवतालोग उनके पास याचक बनकर आये। उन्हें उस रूपमें आते देखकर नल सोचने लगे—

मीयतां कथमभीप्सितमेषां दीयतां कथमयाचितमेव।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः॥

'अहो! ये क्या चाहते हैं, यह मुझे कैसे मालूम हो और उसे इनके माँगनेसे पहले ही कैसे इनकी सेवामें समर्पित कर दूँ? (यदि किसी तरह मालूम हो जाता तो मैं इन्हें माँगनेका अवसर नहीं देता।) उस दाताको धिक्कार है, जो याचककी इच्छाको जानकर भी उसके माँगनेकी प्रतीक्षा करता है (बिना माँगे ही नहीं दे देता)।'

प्रतिदिन प्रातःकाल भगवान् सूर्य अपनी स्वर्णमयी किरणोंसे भूतलपर अनन्त सुवर्णराशिकी वर्षा करते हैं; जगत्के जीवोंको नूतन जागरण, नयी चेतना, नवीन प्रेरणा देकर सबके लिये नित्यप्रति दान-धर्मका उपदेश करते रहते हैं। शीतरश्मि सुधाकर अपने कमनीय करोंसे वसुधापर सुधा उड़ेलते और महीतलके ही-तलको शीतलता प्रदान करते हैं। पृथ्वी हमें रहनेके लिये स्थान, जल तृप्ति, अग्नि उष्णता, वायु प्राण-शक्ति और आकाश अवकाश देकर सब-के-सब समस्त संसारको भगवत्प्रीत्यर्थ दान-यज्ञका शाश्वत संदेश दे रहे हैं। भगवच्चरणचिन्तन और दान ही मानवोंके लिये मुख्य धर्म हैं।

वास्तविक अभ्युदय

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

'कल्याण'के गताङ्कमें अभ्युदयका मार्ग भगवान्की उपासना बतलाया गया है, किंतु वास्तविक अभ्युदय भी भगवान्की उपासना ही है। तभी भरतजीके विषयमें श्रीजनकजीका यह कथन संगत सिद्ध हो सकता है—

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

गीतामें भी इस साधनाको शाश्वत, प्रत्यवायरहित तथा महान् भयसे त्राण करनेवाला बतलानेका यही रहस्य है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(२।४०)

यह इस मार्गकी बड़ी भारी विशेषता है कि उसपर आरूढ़ हो जाना भी बड़ा कल्याणकर है—परम श्रेयस्स्वरूप है। यथार्थ बात तो यह है कि कोई बड़ा भारी भाग्यशाली पुण्यकर्मा ही भगवत्कृपासे इस पथका पथिक बन पाता है—

अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाँव देइ एहिं मारग सोई॥

—इस मार्गपर चलनेकी इच्छा, आरूढ़ होनेकी उत्कट अभिलाषा भी पापसमूहको भस्म कर देती है—

यदीहमानो विजहात्यघौघम्।

गत लेखमें मशकको ब्रह्मा बना देनेकी बात कही गयी थी। किंतु श्रीब्रह्माजी महाराज स्वयमेव अपनी स्थितिका वर्णन इन शब्दोंमें करते हैं—

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥
(श्रीमद्भा० २।६।३३)

'नारदजी! मेरी वाणी कभी असत्य नहीं दीखती, मेरा संकल्प कभी व्यर्थ नहीं जाता, मेरी इन्द्रियाँ कभी कुमार्गमें नहीं जातीं; क्योंकि मैंने बड़ी उत्कण्ठासे भगवान्को अपने हृदयमें धारण कर रखा है।' भगवच्चरणोंको हृदयमें धारण करनेका ही यह परिणाम है कि उनकी वाणी, उनकी इच्छा व्यर्थ नहीं जाती। यही उनका ब्रह्मत्व है। किंतु वे सदा ही उत्कण्ठासे परम पवित्र होकर भगवान्का स्मरण करते रहते हैं। यह अभ्युदयकी एक प्रकारसे पराकाष्ठा-सी ही है।

किसी कविने बहुत ही सुन्दर कहा है—

भृंग संग जब भृंग होत है कीट महाजड़।
कृष्न रटन ते कृष्न होय तौ कहा अचरज बड़॥

भगवान्‌को नित्य-निरन्तर सदा-सर्वदा एकाग्रचित्तसे उत्कण्ठापूर्वक स्मरण करनेवाला धीरे-धीरे भगवान् हो ही जाता है। ब्रह्मसूत्रमें इसे बड़े अच्छे ढंगसे समझाया गया है—'पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्।' (३ । २४) आदि सूत्रोंमें बतलाया गया है कि जीव ईश्वरका ही अंश है। जैसे अग्निके अंश विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) में अग्निके समान ही दाहिका तथा प्रकाशिका शक्ति है, ठीक उसी प्रकार जीवमें भी ईश्वरके समान ही ज्ञान, ऐश्वर्य तथा क्रियाशक्ति है; किंतु अग्निसे विलग हुए विस्फुलिङ्गमें वह शक्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही ईश्वरसे दूर हुए जीवमें भी वे सारी शक्तियाँ नष्ट हो गयी हैं। पर यदि वह सदा उनका ध्यान करने लगे तो वे सारी शक्तियाँ धीरे-धीरे लौट आती हैं और अन्तमें वह सायुज्य मोक्षद्वारा पुनः भगवत्स्वरूप हो जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में भी कहा गया है—

तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः।
(१ । ११)

यों विचार-भेदसे अभ्युदयकी कई कोटियाँ हैं। कोई अर्थको ही पुरुषार्थ मानता है, कोई 'कामोपभोगपरमाः'—भोग तथा स्वर्गको ही परम सुख मानते हैं। किंतु ये सातिशय एवं क्षयिष्णु होनेसे तथा धर्ममूलक होनेसे दूसरोंकी दृष्टिमें नगण्य हैं और धर्म ही श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। राजराज्य, वैराज्य, स्वाराज्य, साम्राज्य, अधिराज्य तथा सार्वभौम, ऐन्द्र, प्राजापत्य आदि पद भी धर्ममूलक ही हैं। इसलिये धर्म ही परम पुरुषार्थ है। अतः सदा शौच, तप, शीतल-मनस्क, जितेन्द्रिय होकर धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये। पर परमरहस्यवेत्ता, सूक्ष्मातिसूक्ष्मतत्त्वदर्शी, अन्तस्तलस्पर्शिभावाभिव्यञ्जक भागवतके वक्ताका डिण्डिमघोष है कि इतना होनेपर भी मन यदि प्रभुके चरणोंमें नहीं लगा तो सारा श्रम व्यर्थ ही समझना चाहिये—

षड्वर्गसंयमोपान्ताः सर्वा नियमचोदनाः।
तदन्ता यदि नो योगाः सर्वे एव श्रमावहाः॥
(७ । १४)

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥
(१ । २)

गीताके अन्तमें भी बार-बार यही कहा गया है, यथा—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे॥
× × ×
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
× × ×
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
× × ×
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इस रहस्यको 'गुह्यतम' शब्दसे सम्पुटित तथा अभिव्यञ्जित किया गया है। अन्य पुराण-उपपुराणोंमें भी उसी बुद्धिको शुद्ध—मोहादिसे मुक्त, व्यवसायात्मिका—निश्चयात्मिका बतलाया गया है, जो भगवत्स्मरणसे रिक्त न हो—

सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी।

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुबीर चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥

और यही सर्वाधिक चतुरता भी है कि जीव सभी मल, आवरण तथा प्रमाद—मोहसे बचकर निरन्तर श्रीहरिका नव-नवानुरागसे स्मरण करता रहे—

नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेइँ जाना॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥

इसके विपरीत भगवान्‌की अधिकाधिक विस्मृति ही सर्वाधिक मूर्खता—गँवारपना है—

सोई है गँवार, जिन कीन्हौ नहिं प्यार,
नहिं सेयो दरबार यार नंद के कुमार कौ।

अतः भगवत्स्मरण ही अभ्युदय-सम्पत्ति है तथा भगवद्-विस्मरण ही विपत्ति है—

विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः।

किंतु यह सब भगवत्कृपा तथा पूर्वके स्मरणजनित अभ्यास, सत्सङ्ग, नवधा भक्तिके बिना होता नहीं; अतः बार-बार सचेष्ट होकर तदर्थ चेष्टा करनी चाहिये। वास्तवमें ये सब उपाय भी एक प्रकारसे उपेय ही हैं तथा परम अभ्युदय-कोटिमें ही गणित हैं। तभी तो 'सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्।'

तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

—आदि कहा गया है। यह रहस्य बड़ा ही सुन्दर तथा कल्याणकर है। यह सब सोचते ही बनता है, लिखते-समझाते नहीं।

छान्दोग्य-उपनिषद्के कुछ भागकी व्याख्या

[लेखक—प्रो० श्रीसीतारामजी गुप्त, एम्० ए०, पी० ई० एस (अवसरप्राप्त)]

आधुनिक समयमें विद्याका अत्यधिक प्रचार है, थोड़ी-थोड़ी दूरपर विद्यालय और महाविद्यालय खुले हैं और अभी खुलते हो जा रहे हैं। इतनेपर भी हर दिशामें बेचैनी दिखायी देती है। सब शान्ति-शान्ति पुकारते हैं; परंतु शान्ति न तो परिवारोंमें है, न संस्थाओंमें है और न विभिन्न देशोंमें ही है। इसका मुख्य कारण यह है कि आधुनिक विद्यालयोंमें जो विद्या दी जाती है, वह वस्तुतः विद्या ही नहीं है। विद्या वह है, जो मुक्ति प्राप्त करा दे—

सा विद्या या विमुक्तये।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

अध्यात्मविद्या विद्यानाम्

आत्मविद्या ही असली विद्या है, जो मनुष्यको मनुष्य बनाती है और इस विद्याके भंडार हैं हमारे ऋषियोंके दिये हुए उपनिषद्; परंतु बड़े खेदकी बात है कि हम भारतवासी आज अपने इन ग्रन्थोंको भुला बैठे हैं। दूसरे देशोंके लोग करोड़ों रुपये व्यय करके बाइबलका प्रचार करते हैं। परंतु हमारे देशमें अपने घरके ग्रन्थरत्न वेद-उपनिषद् शास्त्रोंके प्रचारकी ओर भी कोई ध्यान ही नहीं है। धार्मिक संस्थाओंकी भी सारी शक्ति अधिकारोंकी रक्षामें ही समाप्त हो जाती है और असली कार्य बहुत थोड़ा होता है। आवश्यकता है इस बातकी कि उपनिषदोंके सरल भागोंको छोटे-छोटे ट्रैक्टोंके रूपमें छपाकर उन्हें स्कूलों और कालेजोंमें पढ़ाया जाय, ताकि हमारे नवयुवक अपनी संस्कृति-सभ्यतापर कुछ मान कर सकें।

उपनिषदोंमें जहाँ बहुत सरल भाग हैं, वहाँ कुछ कठिन भाग भी है। इसका एक कारण यह भी है कि बहुत सूक्ष्म और गम्भीर विचार बहुत थोड़े शब्दोंमें सूत्रोंकी तरह रखे गये हैं। आवश्यकता इस बातकी है कि विद्वान् लोग उनकी व्याख्या सरल रीतिसे करें। इस दिशामें 'कल्याण'-कार्यालयका कार्य सराहनीय है, परंतु उपनिषदोंके प्रचार और उनकी व्याख्यामें जितना भी कार्य हो उतना ही थोड़ा है; क्योंकि यह ज्ञान अनन्त है और इसकी व्याख्या भी समाप्त होनेवाली नहीं। उपनिषदोंको मनुष्य जितना ही अधिक पढ़ेगा और जितना उनपर विचार करेगा, उतना उसके नित्य नये विचार सूझेंगे और नित्य नया ही ज्ञान मिलेगा।

अब मैं उदाहरणार्थ छान्दोग्य-उपनिषद्के पहले प्रपाठकके आठवें और नवें खण्डोंकी कुछ थोड़ी-सी व्याख्या पाठकोंकी सेवामें उपस्थित करता हूँ और विद्वानोंसे प्रार्थना करता हूँ कि इसी प्रकार और भागोंकी भी व्याख्या करके जनताको लाभ पहुँचायें।

इन खण्डोंमें शिलक, दाल्भ्य और प्रवाहण नामके विद्वानोंका संवाद है। प्रश्नोत्तरके रूपमें सामगानके विषयपर विचार हो रहा है और जो उत्तर दिये गये हैं, वे अधिक प्रभावकारी, रोचक तथा वैज्ञानिक हैं।।

पहला प्रश्न—'**का साम्नो गतिः ?**' अर्थात् साम-गानका आश्रय क्या है ?

उत्तर—'**स्वर**'।

संसारमें सारे व्यवहार वाणीपर ही निर्भर हैं और वाणीका आधार स्वर है। स्वरके मधुर, तीव्र, ऊँचे-नीचे होनेसे मनुष्यके मनके भाव प्रकट होते हैं। सिंहका दहाड़ना, गधेका रेंकना, घोड़ेकी हिनहिनाहट तथा कौवेकी काँव-काँव स्वरसे ही पहचानी जाती है। इसी तरह साधारण वार्तालाप करने और गानेमें जो अन्तर है, वह भी स्वरके ऊँचे-नीचे होनेका ही है। सारी गान-विद्या स्वरपर ही निर्भर है। स्वर कितने प्रकारके होते हैं, यह एक गूढ़ विषय है।

दूसरा प्रश्न—'**स्वरस्य का गतिः ?**' अर्थात् स्वरका आश्रय क्या है ?

उत्तर—'**प्राण**'।

कोई मनुष्य दौड़ रहा हो, अथवा पहाड़पर चढ़ रहा हो और उसका श्वाँस तेजीसे चल रहा हो तो उसके लिये बोलना कठिन होता है और यदि वह गाना चाहे तो गा नहीं सकता। गानेके लिये यह आवश्यक है कि प्राणकी गति सम और शान्त हो। इसके अतिरिक्त प्राण ही सारी इन्द्रियोंका और जीवनका आधार है। उपनिषदोंमें कई जगह यह कथा आती है कि एक समय सब इन्द्रियोंमें विवाद हुआ कि हममें कौन बड़ा है। तब प्रत्येक इन्द्रिय आँख, कान आदिके अलग-अलग कार्य बंद करनेपर भी मनुष्य जीता रहा और उसपर इन्द्रियोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ा; परंतु जब प्राण

निकलनेको उद्यत हुआ, तब सारी इन्द्रियोंका दम घुटने लगा और सबने हाथ जोड़कर प्राणसे प्रार्थना की कि 'कृपा करके तुम बाहर न जाओ। तुम्हारे रहनेसे ही हम सब रह सकते हैं। हम हारे, तुम ही सबसे श्रेष्ठ हो।'

तीसरा प्रश्न—'प्राणस्य का गतिः?' अर्थात् प्राणका आश्रय क्या है?

उत्तर—'अन्न'।

यदि मनुष्यको कुछ दिन अन्न न मिले तो वह अधमरा-सा हो जाता है। वह न चल सकता है न कोई कार्य कर सकता है। यहाँतक कि बोलना भी कठिन हो जाता है। अन्नके न मिलनेसे स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो जाता है।

चौथा प्रश्न—'अन्नस्य का गतिः?' अर्थात् अन्नका आश्रय क्या है?

उत्तर—'आपः' अर्थात् जल।

यह स्पष्ट ही है कि जलसे अन्न पैदा होता है। यदि खेतीको वर्षाका अथवा कुएँ या नहरका पानी न मिले तो खेती सूख जाती है और अन्न पैदा नहीं होता।

पाँचवाँ प्रश्न—'अपां का गतिः?' अर्थात् जलका क्या आश्रय है?

उत्तर—'असौ लोकः।'

अर्थात् यह सारा वायुमण्डल। समुद्रका जल गरमीसे सूखकर वायुमें मिलता है, बादल बनता है, वर्षा होती है, नदी-नालोंमें पानी चढ़ता है और फिर समुद्रमें पहुँच जाता है। यह चक्र ऐसे ही नित्य चलता रहता है। यदि इस चक्रमें विघ्न पड़ जाय और यह बंद हो जाय तो प्राणियोंका जीवन असम्भव हो जाय और सारी सृष्टि नष्ट-भ्रष्ट हो जाय।

छठा प्रश्न—'अमुष्य लोकस्य का गतिः?' अर्थात् वायुमण्डलका आश्रय क्या है?

उत्तर—'पृथ्वी' अर्थात् वायुमण्डलका आश्रय पृथ्वी है। वायुमण्डल पृथ्वीकी आकर्षण-शक्तिसे ही ठहरा हुआ है। यदि यह शक्ति पर्याप्त मात्रामें न हो तो कुछ काल बीतनेपर वायुमण्डल धीरे-धीरे गायब हो जाता है, जैसा कि चन्द्रमाके साथ हुआ। चन्द्रमा पृथ्वीसे बहुत छोटा है और इस कारण उसकी आकर्षण-शक्ति भी बहुत कम है। सृष्टिके आदिमें जैसा वायुमण्डल पृथ्वीके साथ था, वैसा ही चन्द्रमाके साथ भी था; परंतु उसका वायुमण्डल उसके आकर्षणके कम होनेसे धीरे-धीरे उसके प्रभावसे बाहर हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि चन्द्रमापर न वायु है न पानी, न भाप न बादल, न वर्षा। वह एक निर्जीव जगत् है और उसपर बहुत बड़े क्रेटर और बहुत चौड़ी दरारें हैं।

सातवाँ प्रश्न—'अस्य लोकस्य का गतिः?' अर्थात् इस पृथ्वीलोकका आधार क्या है?

उत्तर—'आकाशः'। अर्थात् इस पृथ्वीलोकका आधार आकाश है।

आकाश पाँचों महाभूतोंमें सबसे सूक्ष्म है, इसीसे आकाश-वाणी सम्भव होती है। यह आकाशका ही महत्त्व है कि हम घर बैठे सहस्रों मील दूरके मनुष्योंकी वार्ता अथवा गान सुन सकते हैं। वायुमण्डलका फैलाव तो पृथ्वीके आकर्षणकी पहुँचतक ही सीमित है, परंतु आकाश सारे विश्वमें व्यापक है। सूर्यसे कोई सवा करोड़ मीलकी दूरीपर पृथ्वी सूर्यकी परिक्रमा करती है और अन्य ग्रह बृहस्पति, शनि आदि उससे भी बहुत-बहुत दूर सूर्यकी परिक्रमा करते हैं। ये सब ग्रह आकाशमें ही घूमते हैं। अतः केवल पृथ्वीका ही नहीं, बल्कि सब ग्रहों और नक्षत्रोंका आधार भी आकाश ही है।

व्यापकत्व आदि गुणोंके कारण आकाश ईश्वरको भी कहते हैं या यह कह सकते हैं कि आकाशसे भी सूक्ष्म तथा आकाशका भी आधार ईश्वर है।

'सर्वमिदं खलु अग्र आसीत्।'

वही सबका आदि स्रोत है और आदि संचालक है।

ऋषियोंके इस सारे संवादका निचोड़ यही है कि अखिल विश्वका आश्रय ईश्वर है।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। (क० उ०)
देवस्यैष महिमा तु लोके। (श्वेता० उ०)

स्वप्नसे वैराग्य

[श्रीराजेन्द्रकुमारजी निगमद्वारा ऑस्कर वाइल्डकी कहानी 'दि यंग किंग' का संक्षिप्त अनुवाद]

राज्याभिषेकके एक दिन पहलेकी बात है । तरुण राजा अपने सुन्दर शयनगृहमें एक पलंगपर लेटा था । रात्रि अधिक हो चुकी थी और सभी सभासद् जा चुके थे । अभी उसकी अवस्था केवल सोलह वर्षकी थी । उसके जन्म और जीवनके सम्बन्धमें सही ज्ञान किसीको भी नहीं । सम्भवतः उसकी माता अपने यौवनकालमें किसी साधारण व्यक्तिसे प्रेम करने लगी थी । इसपर उसके नानाने अत्यन्त क्रोधित होकर उसके माता-पिताकी हत्या करा दी, जब कि उसका जन्म हुए केवल एक ही सप्ताह हुआ था । इसी बीच एक गड़रिया वहाँसे निकला और अनाथ बालकको अपने साथ ले गया । कुछ कहते थे कि बूढ़े राजाने स्वयं वधिकोंको आज्ञा दी थी कि वे बालकको गड़रियेके पास छोड़ दें । जो कुछ भी हो, एक दिन वह अपने धर्मपिताकी भेड़ें चरा रहा था कि कुछ शिकारियोंने उसे खोज निकाला । जब राजा बूढ़ा हुआ, तब उसे चिन्ता हुई कि कहीं किसी दूसरे वंशमें उसका राज्य न चला जाय । इसलिये उसने तरुण राजाको ढुँढ़वाया तथा अपने मन्त्रिमण्डल एवं समस्त प्रजाके सम्मुख उसको अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था ।

बालक राजाने अपने सौन्दर्य-प्रेमके लक्षण दिखाने प्रारम्भ कर दिये । उसने तरह-तरहके कीमती एवं अभूतपूर्व सौन्दर्यशाली सामान प्राप्त करनेके लिये भारत, मिस्र, ईरान आदि देशोंको सौदागर भेजे; परंतु उसका सर्वाधिक ध्यान उस लबादेपर था, जो अभिषेकवाले दिन उसे पहनना था । साथ ही हीरे-जवाहरातोंसे जड़े हुए मुकुट तथा मोतियोंकी धारियोंवाले राजदण्डके विषयमें भी वह चिन्तित था । यह लबादा सोनेके तारोंसे बुना जानेवाला था । उसने आज्ञा दी थी कि संसारभरसे कीमती जवाहरात मँगवाये जायँ तथा कलाकार दिन-रात्रि श्रम करके कार्य पूरा करें । वह मन-ही-मन अपनेको वह वस्त्र पहने गिरजेकी वेदीके सम्मुख खड़ा देखता तथा प्रसन्नतासे उसका मुख खिल उठता एवं उसकी आँखोंमें एक अजीब-सी चमक आ जाती ।

एक दिन रातको जब घड़ियालने मध्यरात्रि घोषित की, तब उसने घंटा बजाया और सेवकोंने आकर उसके वस्त्र उतार दिये तथा बिस्तरपर गुलाब-जल छिड़क दिया । उनके जानेके कुछ समय बाद ही उसे नींद आ गयी और उसने यह स्वप्न देखा—

वह एक लंबी नीची दालानमें खड़ा है और चारो ओरसे करघोंके चलनेकी आवाज आ रही है । मूक गम्भीर जुलाहे उनपर झुके हुए हैं तथा दुबले-पतले निर्बल बालक वहीं उनकी सहायता कर रहे हैं । उनके गाल भरपेट खाना न मिलनेके कारण पिचके हुए थे । पतले-पतले हाथ काँप रहे थे । कुछ ढली उम्रकी स्त्रियाँ मेजोंके पास बैठी-सी रही थीं । उनके मुख भी चिन्ता एवं श्रमसे म्लान हो रहे थे । बड़ी दुर्गन्धपूर्ण एवं उमसभरी हवा थी । तरुण राजा एक जुलाहेके पास गया और उसका कार्य निरखने लगा ।

जुलाहेने सक्रोध उसकी ओर देखा और कहा—'इस प्रकार तू क्यों ताकता है ? क्या स्वामीने तुझे अपना जासूस बनाकर भेजा है ?'

'परंतु तुम्हारा स्वामी कौन है ?' तरुण राजाने पूछा ।

'वह भी हमारी ही तरह मनुष्य है; अन्तर केवल इतना है कि जहाँ हम चियड़ोंमें घूमते हैं, वह सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित घूमता है और जहाँ हम भूखसे अशक्त हो रहे हैं, उसे अधिक खानेसे कोई कष्ट नहीं हुआ ।' जुलाहेने बड़ी कटुतासे उत्तर दिया ।

जुलाहेने फिर कहा—'युद्धमें शक्तिशाली लोग अशक्तोंको दास बना लेते हैं, परंतु शान्तिमें निर्धन धनवानोंके दास हो जाते हैं । हमें जीवित रहनेके लिये कार्य करना पड़ता है; पर जो जीविका उस कार्यके करनेपर हमें मिलती है, उससे तो केवल मृत्यु ही सम्भव है । हमारी मेहनतकी कमाईसे वे अपने कोठे भरते हैं और हमारे देखते-ही-देखते हमारे बालक मुरझा जाते हैं । जिन अंगूरोंको हम रक्त-शोणित एक करके पैदा

करते हैं, उनकी मदिराका आनन्द दूसरे लोग उठाते हैं। इस तरह यद्यपि हमारी जंजीरें आँखें चाहे देख न सकें, परंतु वे हमें बाँधे हैं। चाहे लोग हमें स्वतन्त्र कहें, पर हैं हम दास ही।'

'क्या यह सभीके साथ है ?'

'हाँ, सभीके साथ। हमारी अँधेरी गलियोंमें दरिद्रता क्रीड़ा करती है एवं दुराचार निवास करता है। दुःख हमें सुबह जगाता है एवं लज्जा हमारे साथ रात्रिको शयन करती है। परंतु तुझे इससे क्या ?'

यह कहकर अत्यन्त घृणासे जुलाहेने अपना कार्य फिर आरम्भ कर दिया। तभी छोटे राजाने देखा कि करघेपर जो धागा लगा था, वह सोनेका था।

इसे देखकर एक विचित्र भयसे वह भर गया तथा पूछा—'यह किसका वस्त्र बुन रहे हो तुम ?'

''यह तरुण राजाका 'रोब' है, पर तुझे इससे क्या ?'' उत्तर मिला।

और इसी समय राजाने एक चीख भरी तथा उसकी आँख खुल गयी।

तनिक देर बाद वह फिर सो गया। इस बार फिर उसने स्वप्न देखा। दूसरा स्वप्न इस प्रकार था—

उसने देखा कि वह एक विशाल नावके डेकपर लेटा हुआ है। गहरे लाल रंगका साफा बाँधे एक काला व्यक्ति पास ही एक कालीनपर बैठा है। उस नावको सौ दास खे रहे थे, जिनके शरीरपर वस्त्र नामकी वस्तु केवल एक लँगोटीके रूपमें थी। प्रत्येक दास एक-दूसरेसे जंजीरद्वारा बँधा था। हबशी लोग चारों ओर घूम रहे थे तथा चाबुकोंसे दासोंको हाँक रहे थे। ज्यों ही वे एक खाड़ीके निकट पहुँचे, उन्होंने नाव रोक दी और एक सीढ़ी पानीमें लटका दी। एक दासको, जो अवस्थामें सबसे छोटा था, पकड़कर उसके नाक एवं कानमें मोम भर दिया तथा उसकी कमरसे एक भारी पत्थर बाँध दिया। धीरे-धीरे वह सीढ़ीद्वारा पानीमें उतर गया। कुछ समय पश्चात् वह एक मोती लेकर ऊपर आया। हबशियोंने उससे मोती छीन लिया और उसे फिर जलमें ढकेल दिया। इसी प्रकार वह कई मोती लाया।

अन्तमें जब गोताखोर ऊपर आया, तब इस बार वह जो मोती लाया था, वह सर्वाधिक सुन्दर था। उसका आकार पूर्णचन्द्रके समान था, परंतु उस दासके नाक-मुँह आदिसे रक्तस्राव हो रहा था। कुछ समय बाद ही उसकी मृत्यु हो गयी। हबशियोंने उसे उठाया और नावके बाहर फेंक दिया। फिर नावके मालिकने प्रसन्नतापूर्वक उस मोतीको चूमा और कहा—'यह मोती तरुण राजाके राजदण्डमें लगेगा।'

और ज्यों ही राजाने यह सुना, एक चीखके साथ उसकी आँख खुल गयी।

कुछ समय पश्चात् जब इसकी आँख लगी, तब उसने तीसरा स्वप्न देखा। वह इस प्रकार था—

........'एक सूखी हुई नदीकी सतहपर बहुत-से स्त्री-पुरुष श्रम कर रहे थे। वे पृथ्वीमें गहरे गड्ढे करते तथा उनमें घुस जाते। उनमेंसे कुछ बड़ी-बड़ी छेनियोंसे चट्टानें तोड़नेकी चेष्टा करते, 'दूसरे' रेतमें ही टटोलते। वे कैक्टस नामक पौधेको जड़से उखाड़ लेते तथा उसकी गुलाबी कलियोंको पैरोंसे मसल देते। उनमेंसे प्रत्येक व्यक्ति व्यस्त था।

पासकी एक कन्दरामेंसे 'धनलिप्सा' एवं 'मृत्यु' उन्हें देख रही थीं।

मृत्युने कहा—'मैं बहुत थक गयी हूँ। तू इनमेंसे एक तिहाई मुझे ले लेने दे।'

पर धनलिप्साने अपना सिर हिलाया। बोली—'ये सब तो मेरे सेवक हैं।'

इसपर मृत्युने फिर पूछा—'तेरे हाथमें क्या है ?'

'मेरे हाथमें अन्नके तीन दाने हैं। पर तुझे इससे क्या ?'

'उनमेंसे तू एक मुझे दे दे'—मृत्युने याचना की। 'केवल एक, मैं अपनी वाटिकामें लगाऊँगी और यहाँसे चली जाऊँगी।'

'उहह, मैं तुझे एक भी न दूँगी ।' यह कहकर धन-लिप्साने अपना हाथ अपने वस्त्रमें छिपा लिया ।

मृत्यु हँसी । एक प्याला उसने पानीसे भरा । उसमेंसे 'जूड़ी-ताप' निकली और वह सब मनुष्योंके बीचसे गुजरी । उनमेंसे एक तिहाई मरकर गिर पड़े ।

इसी प्रकार दूसरी बार इनकार करनेपर मृत्युने दूसरे बुखारको जन्म दिया । 'बुखार' उनसे होकर गुजरा तथा जिस-जिसको उसने छुआ, वही मरकर गिर पड़ा ।

तीसरी बार मृत्युने 'प्लेग' को जन्म दिया और उसके कारण कोई भी मनुष्य जीवित नहीं बचा ।

तरुण राजाने रोकर पूछा—'ये लोग कौन थे और क्या ढूँढ़ रहे थे ?'

'ये छोटे राजाके मुकुटपर मढ़नेके लिये माणिक एवं पन्ना ढूँढ़ रहे थे ।' किसीने पीछेसे उत्तर दिया ।

यह सुनकर फिर एक चीखके साथ राजाकी आँख खुल गयी । देखा तो चारों ओर दिन निकल आया था तथा चिड़ियाँ बाहर बागमें चहचहा रही थीं ।

कुछ समय पश्चात् मन्त्री एवं राज्यके उच्चाधिकारी आये तथा उन्होंने झुककर प्रणाम किया । सेवकोंने सोनेके तारोंसे बुना हुआ लबादा, उसका मुकुट एवं राजदण्ड सामने लाकर रख दिया । वे अत्यन्त सुन्दर थे । पर तरुण राजाको रातके स्वप्न याद थे । उसने कहा —'इन वस्तुओंको यहाँसे ले जाओ; क्योंकि मैं इन्हें नहीं पहनूँगा ।'

यह सुनकर सभीको अत्यन्त आश्चर्य हुआ । कुछने सोचा; 'शायद राजा परिहास कर रहा है ।' परंतु फिर उसने कहा—'इन वस्तुओंको यहाँसे ले जाकर कहीं छिपा दो । यद्यपि आज मेरे अभिषेकका दिन है, फिर भी मैं इन्हें नहीं पहनूँगा । मेरा यह लबादा 'दुःख' के करघेमें 'पीड़ा'के हाथोंद्वारा बुना गया है । माणिकके हृदयमें 'हत्या' और मुक्ताके हृदयमें 'मृत्यु' निवास करती है ।'

यह कहकर तीनों स्वप्न उसने बताये । फिर भी उसके दरबारियोंने उसे समझानेकी चेष्टा की । उन्होंने कहा कि उन वस्तुओंको यदि वह नहीं पहनेगा तो प्रजा उसे अपना राजा माननेसे इनकार कर देगी ।

'सम्भव है, आप सच कहते हों । परंतु यदि ऐसा है तो उचित होगा कि मैं जैसा इस महलमें आया था, वैसा ही उससे चला जाऊँ ।' यह कहकर उसने सबसे विदा ली, पुराने भेड़की खालके वस्त्र धारण किये, हाथमें गडरियों-वाली लाठी ली तथा जंगली गुलाबकी एक शाखा लेकर मोड़ी और सिरपर पहन ली ।

और इसी 'लबादे', 'राजदण्ड' एवं 'मुकुट' को धारण करके वह नगरकी सड़कोंसे होकर गुजरा । लोगोंने उसे देख-कर कहा—'यह मूर्ख है ।'

'नहीं, मैं राजा हूँ ।' उसने उत्तर दिया । साथ ही अपने तीनों स्वप्न सुनाये । पर इसका उत्तर उन्होंने (नागरिकोंने) यह दिया कि 'धनिकोंके ऐश्वर्यसे ही दरिद्रोंकी जीविका चलती है । स्वामीके लिये मेहनत करना कड़ुआ चाहे भले ही हो, परंतु किसी स्वामीका न होना, जिसके लिये परिश्रम किया जा सके, और भी अधिक कष्टप्रद है ।'

जब वह गिरजेमें पहुँचा, तब पादरीने एक बार फिर समझानेकी चेष्टा की । पर तभी बहुत तीव्र शोर हुआ । राज्यके कुछ क्रुद्ध दरबारी तलवार लेकर उसे मारनेके लिये भीतर आये । राजाने अपनी प्रार्थना समाप्त की तथा बड़े दुःखके साथ उनकी ओर देखा ।

·······'और तभी सबने बड़े आश्चर्यके साथ देखा कि खिड़कीसे आनेवाली सूर्यकी किरणोंने उसके चारों ओर एक अत्यन्त अभूतपूर्व लबादा बुन दिया है जो कि उसके राजकीय लबादेसे कहीं सुन्दर है । हाथवाली मृत लाठीसे अनेक शुभ्र वर्णके पुष्प विकसित हो पड़े, जो किसी भी मोतीसे अधिक सुन्दर थे । मुकुटसे भी गुलाबकी कलियाँ निकल आयी थीं, जो मणियोंसे भी अधिक सुन्दर थीं । इन्हीं अभूतपूर्व अलंकारोंको पहने वह खड़ा था तथा सभी सभासद् एवं प्रजाजन घुटने टेककर नतमस्तक हो रहे थे उसके चरणोंपर !

पढ़ो, समझो और करो

(१)

मनुष्यमें देवता

रायचन्दभाईका बम्बईमें जवाहरातका बड़ा व्यापार था। उन्होंने एक दूसरे व्यापारीसे सौदा किया। सौदेमें यह निश्चय हुआ कि अमुक तिथिके अंदर, अमुक भावमें वह व्यापारी रायचन्दभाईको इतने जवाहरात दे दे। सौदेके अनुसार लिखा-पढ़ी हो गयी। कंट्राक्टके दस्तावेजपर हस्ताक्षर हो गये।

परिस्थितिने पलटा खाया। जवाहरातकी कीमत इतनी अधिक बढ़ गयी कि वह व्यापारी यदि रायचन्द-भाईको कंट्राक्टके भावसे जवाहरात दे तो उसको इतनी अधिक हानि हो कि उसे अपना घर-द्वार-तक बेचना पड़े।

रायचन्दभाईको जब उस जवाहरातके वर्तमान भावका समाचार मिला, तब वे तुरंत ही उक्त व्यापारीकी दूकानपर पहुँचे। रायचन्दभाईको देखते ही वह व्यापारी घबरा गया और बड़ी ही नम्रतासे कहने लगा—'रायचन्दभाई! मैं अपने उस सौदेके लिये बहुत ही चिन्तातुर हूँ। जैसे भी हो, वर्तमान बाजार-भावके अनुसार मैं जवाहरातके नुकसानके रुपये आपको चुका दूँगा, आप चिन्ता न करें।'

रायचन्दभाईने कहा—'क्यों भाई! मैं चिन्ता कैसे न करूँ। जब आपको चिन्ता होने लगी है, तब मुझको भी होनी ही चाहिये। हम दोनोंकी चिन्ताका कारण तो यह कंट्राक्टका दस्तावेज ही है न? यदि इस दस्तावेज-को नष्ट कर दिया जाय तो दोनोंकी चिन्ताकी पूर्णाहुति हो जाय।'

व्यापारीने कहा—'ऐसा नहीं; मुझे आप दो दिन-की मुहलत दीजिये। मैं कैसे भी व्यवस्था करके आप-के पैसे चुका दूँगा।'

रायचन्दभाईने दस्तावेजको फाड़कर टुकड़े-टुकड़े करते हुए कहा—'इस दस्तावेजसे ही आपके हाथ-पैर बँध रहे थे। बाजार-भाव बढ़ जानेसे मेरे साठ-सत्तर हजार रुपये आपकी ओर निकलते हैं। परंतु मैं आपकी वर्तमान परिस्थिति जानता हूँ। मैं ये रुपये आपसे लूँ तो आपकी क्या दशा हो? रायचन्द दूध पी सकता है, खून नहीं।'

वह व्यापारी रायचन्दभाईके चरणोंमें पड़ गया और उसके मुखसे निकल पड़ा—'आप मनुष्य नहीं, देवता हैं।'

छल-कपट, ठगी, झूठ और धोखेबाजीसे किसी भी प्रकार दूसरे मनुष्यकी बुरी परिस्थितिका लाभ उठानेके लिये आतुर आजका समाज इस महापुरुषके जीवन-प्रसङ्गसे प्रेरणा प्राप्त करे।

—मधुकान्त भट्ट

(२)

आस्तिकताका फल

१९४८ की बात है। मैं हाईस्कूलकी परीक्षामें प्रविष्ट हुआ था। इसके पूर्व मैंने कर्वीके एक संस्कृत-विद्यालयमें अध्ययन करके व्याकरण मध्यमा उत्तीर्ण की थी। कुछ मित्रोंकी सलाहसे संस्कृतका अध्ययन स्थगित-कर हाईस्कूलकी तैयारी करने लगा था। अबतक संस्कृतका छात्र होनेके कारण मैं गणितमें कमजोर था; क्योंकि संस्कृतके विद्यालयोंमें उन दिनों गणितके अध्यापनकी व्यवस्था नहीं थी। गणितेतर विषयोंमें मुझे काफी संतोष था। सभी प्रश्नपत्रोंका मैंने संतोषजनक उत्तर लिखा; पर गणितके प्रश्नपत्रमें वही हुआ, जिसकी मुझे आशङ्का थी। अन्यमनस्कताके साथ मैं परीक्षाभवनसे बाहर निकला। अन्य सहपाठियोंसे प्रश्नपत्र मिलाया। ५० अङ्कोंमें केवल ११ अङ्कोंके प्रश्नोंका ही शुद्ध उत्तर लिख पाया था। हृदय धक् हो गया। सारा

उत्साह, सारी प्रसन्नता काफूर हो गयी। अनुत्तीर्ण हो जानेकी चिन्ताने मेरे मस्तिष्कमें अपना स्थायी स्थान बना लिया। दुःख और निराशा लेकर मैं घर लौट आया।

हमारे गाँवमें एक वृद्ध साधु रहते थे। वे परम भगवद्भक्त तथा वीतराग महात्मा थे। महात्माजी हमारे गाँवमें नदीके तटपर एक वटवृक्षके नीचे वर्षोंसे रहते थे। मैं जब भी छुट्टियोंमें कर्वीसे गाँव जाता था, महात्माजीके दर्शन करने अवश्य जाता था। महात्माजी भगवत्कथाके साथ-साथ देशकी आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दशाओंको सुननेमें भी बड़ी अभिरुचि रखते थे। वे विशेष पढ़े-लिखे न थे; पर महात्मा गांधी और पं० जवाहरलाल नेहरूके बारेमें उन्हें काफी ज्ञान था और इनकी चर्चा वे बड़े प्रेमसे सुनते थे। मैं जब भी जाता था, महात्माजीको अखबारी दुनियाका हाल बताकर उन्हें रामायण या अन्य धार्मिक ग्रन्थोंकी कथाएँ सुनाया करता था। इससे महात्माजी मेरे प्रति बड़ी कृपा रखते थे।

उस दिन मैं बड़ी ही आशा तथा विश्वासके साथ महात्माजीके पास पहुँचा और प्रणाम करके चरणोंके नीचे बैठ गया। उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया और मेरी परीक्षाके बारेमें पूछा। मैंने गणितका प्रश्नपत्र बिगड़ जानेकी बात उनको बतायी और फिर कहा—'महाराज! यदि मैं अनुत्तीर्ण हुआ तो मेरा भविष्य अन्धकारमय हो जायगा।' महात्माजी कुछ क्षणोंतक मौन रहे, फिर बोले—'जाओ, भगवान् शंकरजीपर १०४ कलसी जल चढ़ाओ, उत्तीर्ण हो जाओगे।' मैंने दीनतासे कहा—'महाराज! मेरा उत्तीर्ण होना बड़ा कठिन है। मैं ५० अङ्कोंमें केवल ११ अङ्कोंके उत्तर ही शुद्ध लिख पाया हूँ और उत्तीर्ण होनेके लिये १७ अङ्कका आना परमावश्यक है।' इसपर महात्माजीने कुछ उत्तेजित होकर जोरसे मानसकी अर्धालीका यह अंश सुनाया—'भाविहु मेटि सकहिं त्रिपुरारी' और कहा—'जाओ, शंकरजीके ऊपर जल चढ़ाओ।'

आदेशानुसार स्नान करके मैंने शङ्करजीकी प्रतिमापर १०४ कलशी जल नदीसे लेकर चढ़ाया। इसके बाद मुझे ऐसा दृढ़ विश्वास हो गया कि मैं अब अवश्य सफल हो जाऊँगा।

नियमानुसार परीक्षाफल प्रकाशित होनेका समय आया। परीक्षाफल-प्रकाशनकी तिथि सुनकर मेरा हृदय धक्-धक् करने लगा। परीक्षाफल ज्ञात करनेके लिये गाँवसे कर्वी जानेका मेरा साहस न हुआ। संयोगवश कर्वीका एक व्यक्ति शीघ्र ही अपने एक सम्बन्धीसे मिलने हमारे गाँव आ पहुँचा। उसने बताया 'स्कूलके छात्र कह रहे थे कि तुम उत्तीर्ण हो गये हो।' सुनकर मेरी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। मैं तुरंत दौड़ा महात्माजीके पास और चरणोंमें जा गिरा। सारा हाल बताया और फिर उसी दिन कर्वीको भागा आया। समाचारपत्र देखा। मैं द्वितीय श्रेणीमें उत्तीर्ण था।

तबसे महात्माजीके बताये इस सहज अस्त्रका उपयोग आवश्यकता पड़नेपर एम्० ए० तककी परीक्षाओंमें मैंने किया और सदैव सफल रहा। आज भी जब मैं किसी उलझन या संकटमें पड़ता हूँ, तब आशुतोष शंकर भगवान्‌को मुफ्तके थोड़ेसे जलसे फुसला लेता हूँ।

—बाबूलाल गर्ग, एम्० ए०, शास्त्री

(३)

नीयतमें भेद

बिहारीलाल और रामजीदास दो सगे भाई थे। बिहारीलाल बड़े थे, रामजीदास छोटे। दोनोंके पत्नियाँ थीं और दोनोंके ही दो-दो लड़के थे। परस्पर बहुत प्रेम था। श्रीबिहारीलाल ही बड़े होनेके नाते घरके मालिक थे। चारों बच्चोंको वे ही सँभालते; उनके लिये कपड़े बनवाने, फल-मिठाई लाने, पढ़ाईकी व्यवस्था

करने आदि सब कार्य बड़ी दिलचस्पीसे बिहारीलाल करते। घरकी तथा बच्चोंकी ओरसे रामजीदास निश्चिन्त थे। बिहारीलालके दोनों बालकोंका जैसा पिताजीपर अधिकार था, ठीक वैसा ही रामजीदासके दोनों बालकोंका ताऊजीपर। बिहारीलाल भी किसी प्रकारका भी भेदका बर्ताव कभी नहीं करते। चारों बच्चोंके लिये सब चीजें समान आतीं। घरमें रामजीदासकी पत्नीके लिये भी, जो कुछ आवश्यक होता, जेठजी ही सब करते और उनके किसी बर्तावसे रामजीदासकी पत्नीको कभी कोई शिकायत नहीं हुई। रामजीदास दूकानका काम देखते, घरकी देखभाल सारी बिहारीलाल करते।

एक दिन छुट्टी थी, दूकानें बंद थीं। अतएव रामजीदास घरपर ही थे। मकानके बाहरके आँगनमें एक कुर्सीपर बैठे कुछ पढ़ रहे थे। चारों बालक खेल रहे थे। बिहारीलाल बच्चोंके लिये फलादि लाने बाजार गये थे। बच्चे बिहारीलालजीकी बाट देख रहे थे, क्या फल लाते हैं। थोड़ी ही देरमें बिहारीलालजी लौट आये। वे एक झोलेमें आठ केले और आठ आम लाये थे। उनके आते ही रामजीदास बड़े भाईके सम्मानार्थ कुर्सीसे उठकर एक ओर खड़े हो गये। बिहारीलाल कुर्सीपर बैठ गये। चारों बालक खेलना छोड़कर फलोंके लिये बिहारीलालजीके समीप आकर फल माँगने लगे। रामजीदास बच्चोंकी उत्सुकता देखने लगे। बिहारीलालका उस ओर कोई ध्यान नहीं था। वे झोलेमेंसे फल निकाल रहे थे बच्चोंको देनेके लिये। केले तो एक-से थे। बिहारीलालने झोलेसे निकालकर दो-दो केले चारों बालकोंको दे दिये। बचे आठ आम। आमोंमें चार कुछ घटिया तथा छोटे थे। चार उनसे कुछ बढ़िया जातिके तथा बड़े थे। बिहारीलालने झोलेसे आम निकाले। चारों बच्चे हाथ फैलाये खड़े थे। बिहारीलालके बालकोंके नाम थे—मदन, विजय (मटकू) और रामजीदासके लड़कोंके नाम थे—मोहन तथा केसू। बिहारीलालके चार आम एक हाथमें थे, चार दूसरेमें। बच्चे निर्दोष भावसे लपके। मदन तथा मटकू जिस हाथकी ओर लपके, उसमें घटिया छोटे आम थे। मदन तथा मटकूको झटककर बिहारीलाल अलग हटाने लगे। वे नहीं हटे, तब दूसरे बढ़िया बड़े आमवाले हाथको बिहारीलाल मोहन तथा केसूकी ओरसे हटाकर यों घुमाया कि जिससे मोहन-केसू उन आमोंको न ले सकें और घटिया आमवाले हाथको उधर घुमाकर मोहन-केसूको वे आम दे दिये और मदन-मटकूको बढ़ियावाले दे दिये।

रामजीदास बड़े कौतूहलसे सर्वथा निर्दोषभावसे बच्चोंका खेल देख रहे थे, परंतु बड़े भाई बिहारीलालकी इस चीजको देखकर रामजीदासके मनमें बड़ा क्षोभ हो गया। घटियावाले आम स्वाभाविक ही उसके बच्चे—मोहन-केसूको दिये गये होते और बढ़ियावाले भी सहज ही मदन-मटकूको मिल जाते तो जरा भी बुरी बात नहीं थी। दोनों हाथोंमें सहजरूपमें लिये हुए आम थे; जिस ओर जो बच्चे आये, उन्हींको वे मिल गये। पर बिहारीलालकी आज यह स्पष्ट चेष्टा हुई कि बढ़ियावाले आमके हाथको उन्होंने जान-बूझकर मोहन-केसूके सामनेसे हटाकर अपने बच्चे मदन-मटकूको वे आम दे दिये और मोहन-केसूको घटिया आमवाला हाथ उनकी ओर घुमाकर वे आम दिये। रामजीदासके बात ठीक समझमें आ गयी कि आज भाई बिहारीलालके मनमें भेद-बुद्धि आ गयी। आम मामूली चीज हैं, थोड़े-से पैसोंके हैं—इससे मतलब नहीं; असल बात है—भेद-बुद्धिकी।

लड़के तो आम लेकर चले गये। उन्हें तो घटिया-बढ़ियाका कोई ज्ञान था नहीं। अवश्य ही आज कुछ नयी-सी बात तो बच्चोंको लगी। मदन-मटकू समझ नहीं सके कि बाबूजीने—हम जो आम ले रहे थे, वे न देकर दूसरे क्यों दिये। इसी प्रकार मोहन-केसूको भी

कुछ अचरज-सा लगा । पर उन निर्दोष बच्चोंके मनमें किसी पाप-भावनाका ध्यान नहीं आया । किंतु रामजीदासके मनमें दूसरा भाव आ गया और बच्चोंके अलग चले जानेके बाद रामजीदासने आकर भाई बिहारीलालसे कहा—'भाईजी ! हमें आजसे बटवारा करके अलग-अलग हो जाना है और इसमें कोई भी कठिनाई नहीं होगी; क्योंकि आप अपनी इच्छासे मुझे जो कुछ देंगे, वही मुझे हृदयसे स्वीकार होगा ।' रामजीदासकी बात सुनकर बिहारीलाल चौंके । उन्हें अपनी नीयतकी बात तो याद आ गयी; पर वे समझ रहे थे कि रामजीदासने क्यों मेरी ओर देखा होगा और क्यों इसे कोई संदेह ही हुआ होगा ।' बिहारीलाल बोले—'भैया ! क्या बात हो गयी, तुम ऐसा क्यों कह रहे हो ?' रामजीदासने नम्रतासे स्पष्ट कहा—'भाईजी ! आज एक ऐसी अनहोनी बात मैंने देखी, जिसकी मेरे मनमें कल्पना ही नहीं थी। बच्चोंको आम देनेके समय मेरी नजर इधर चली गयी। बात मामूली थी; पर मैंने समझ लिया कि आज भाईजीके मनमें अपने बच्चों तथा मेरे बच्चोंमें भेद आ गया । और जब भेद आ गया, तब फिर साथ रहनेमें कुशल नहीं है। इसीसे मैंने अलग होनेकी बात कही है ।'

बिहारीलालकी आँखोंमें आँसू आ गये, उन्होंने कहा—'सच्ची बात है, भैया ! मेरी बुद्धि मारी गयी थी; मैंने जो पाप कभी नहीं किया, वह आज कर बैठा ! मेरी बुद्धिमें भेद आ गया । मेरे मनने कहा—बढ़िया आम मदन-मटकूको दे दो । मैंने मनकी यह कुशिक्षा मान ली । भैया ! इसका दण्ड मुझे भगवान् देंगे । तुमसे क्षमा माँगने लायक तो मैं रहा नहीं । तुम तो मुझपर विश्वास करके अपने स्त्री-बच्चोंकी सारी देख-रेखका भार मुझे देकर निश्चिन्त हो गये थे । मैंने बुरी नीयतसे तुम्हारे साथ घोर विश्वासघात किया । यह छोटा पाप नहीं है। अवश्य ही अलग होनेपर मेरे प्राण भी देहसे अलग हो जायँगे । पर इस पापका तो यही प्रायश्चित्त है ।' यों कहकर बिहारीलाल जोर-जोरसे रोने लगे । बिहारीलालके सच्चे पश्चात्तापयुक्त आँसुओंकी धाराका रामजीदासके हृदयपर विलक्षण प्रभाव पड़ा । उसके मनका सारा क्षोभ बह गया । उसने बड़े भाईके पैर पकड़ लिये तथा रोकर क्षमा माँगी । इतनेमें बच्चे भी वहीं आ गये । वे आश्चर्यसे देख रहे थे—आज ताऊजी और चाचाजी रो क्यों रहे हैं ? बिहारीलालकी स्त्री वहाँ आ गयी । रामजीदासकी स्त्री भी दूर खड़ी होकर सब देखने-सुनने लगी । दोनों ही बड़ी भली स्त्रियाँ थीं । सब बातें जानकर दोनोंको बड़ा दुःख हुआ । वे भी रो पड़ीं । पवित्र आँसुओंने सदाके लिये मलिन भावोंका मूलोच्छेद ही कर दिया । सारा परिवार परम सुखी हो गया । यह बात सिद्ध हो गयी कि सुख त्यागमें है, स्वार्थमें नहीं ।

—गोविन्दराम शर्मा

(४)

मानवमें प्रकाशित देवत्व

आफिसमें आये हुए नये सज्जनकी ओर सबका ध्यान खिंच गया । लक्ष्मीशंकरने नये नियुक्त होकर आनेवाले सज्जनकी तरफ अपनी चश्मेमेंसे सूक्ष्म दृष्टि डालकर देखा और सामने बैठे हुए क्लर्ककी ओर आँख मटकाकर कहा—'कोई कॉलेजसे निकला हुआ मालूम होता है ।'

लक्ष्मीशंकरने फिर मुसकराकर मेरी ओर देखा···· ।

'हाँ, लगता तो ऐसा ही है ।'

फिर आफिसका कार्य यन्त्रकी तरह चलने लगा । मैं नवीन आगन्तुककी चेष्टा देखता रहता । वे बड़ी ही सन्निष्ठा तथा एकाग्रताके साथ अपना काम करते थे ।

कामकी भीड़में क्लर्कलोग तीखे वचन बोला करते थे । लक्ष्मीशङ्करने तमाखू सूँघते हुए कहा—'आपको कौन-सा विभाग मिला है ? लक्ष्मीशङ्कर हमारी आफिसमें बड़े चालाक-चुस्त आदमी समझे जाते थे ।

'आने-जानेका और तकावीका ।' नये सज्जनने संक्षिप्त उत्तर दिया । 'यह तो फजूल-सा है'—और हम सभी लोग ठहाका मारकर हँस पड़े ।

नये सज्जन कुछ क्षण भाई लक्ष्मीशङ्करकी ओर देखते रहे । उनके मुखपरकी सौम्य रेखाओंको देखकर मुझे लगा कि यह आदमी किसी जुदी ही मिट्टीसे बना हुआ है ।

आफिसका काम चालू होनेपर एक दलाल आया । इसने नवीन सज्जनसे दस्तावेजका कागज देनेको कहा और दो रुपये मेजपर रख दिये । फिर दस्तावेज लेकर वह जाने लगा ।

'बाबू ! ये आपके रुपये यहाँ पड़े रह गये ?' नये सज्जनने कहा ! 'यह तो आप समझ लीजिये न ! चाय-पानीके·······।' दलालने सहज हँसकर उत्तर दिया ।

'परंतु मैं चाय-पानी नहीं पीता और पैसे नहीं लेता ।' उन्होंने कहा ।

लक्ष्मीशङ्कर और हम सभी लोग उनके मुँहकी ओर देखते रह गये । 'यह निरा बुद्धू मालूम होता है ।' क्लर्कोंमेंसे एकने धीरेसे कहा ।

'भाई ! मालदार होगा, यह तो सबकी रोटी मारेगा ।' दूसरेने कटाक्ष किया । दूसरे दिन गाँवोंके किसान तकावीके रुपये लेने आये । एक किसानके चार सौ रुपये मंजूर हुए थे । उसे रुपये गिना दिये गये । उस किसानने एक दस रुपयेका नोट रख दिया ।

'भाई ! यह नोट किसलिये रखा ?' नये अफसरने कहा ।

'यह तो साहेब ! सभी लेते हैं । यह तो रिवाज ही हो गया है ।' किसानने कहा ।

'सब लोग जो चाहें सो करें, तुम थोड़ी देर मेरे पास बैठो ।' यों कहकर नवीन सज्जनने कागजपर कुछ लिखा और उसे लेकर वे साहेबके पास उनके कमरेमें चले गये ।

'साहेब ! मुझसे यह नौकरी नहीं होगी । यह लीजिये त्यागपत्र ।'

साहेबको तथा हम सभीको एक जोरका धक्का-सा लगा । इस बेकारीके जमानेमें रेवन्यू विभागकी बढ़िया नौकरीपर ठोकर मार देनेवाले इस आदर्शके पीछे पागल नौजवानकी विशेष बातें सुननेके लिये मानो हमारे श्वास रुक-से गये । साहेब तो त्यागपत्रका कागज दोनों हाथोंमें पकड़े कठपुतलीकी तरह स्तब्ध रह गये ।

उन नवीन सज्जनने कहा—'साहेब ! बिना मेहनतकी एक पाई भी मैं नहीं ले सकता और इस बर्तावसे मुझे आफिसमें सबका अप्रिय हो जाना पड़ेगा । इससे अच्छा यही है कि मैं किसी दूसरी जगह कहीं अध्यापकका या वैसा ही कोई काम ढूँढ़ लूँ और राष्ट्रका ऋण चुकानेकी चेष्टा करूँ ।' इतना कहकर वे साहेबके कमरेसे बाहर निकल आये । आफिसमें पंक्तिबद्ध टेबलें रखकर कुर्सियोंपर बैठे हुए क्लर्कोंकी ओर देखकर वे मधुर-मधुर मुसकरा दिये । सीपके स्फटिक मुक्ता-सदृश उनकी उज्ज्वल दन्तावली और सौम्य व्यक्तित्वने हम सबपर मानो एक प्रकारका जादू फैला दिया । सबको नमस्कार करके वे चलते बने ।

—रामशङ्कर ना० भट्ट

सेवा कराओ मत, करो

कभी न चाहो, किसी व्यक्तिसे कुछ भी सेवा ।
दो सबको निज वस्तु, बनो तुम कभी न लेवा ॥
तन-मन-धनसे करो सदा तुम सबकी सेवा ।
तुम्हें मिलेगा सुन्दर प्रभु-प्रसादका मेवा ॥
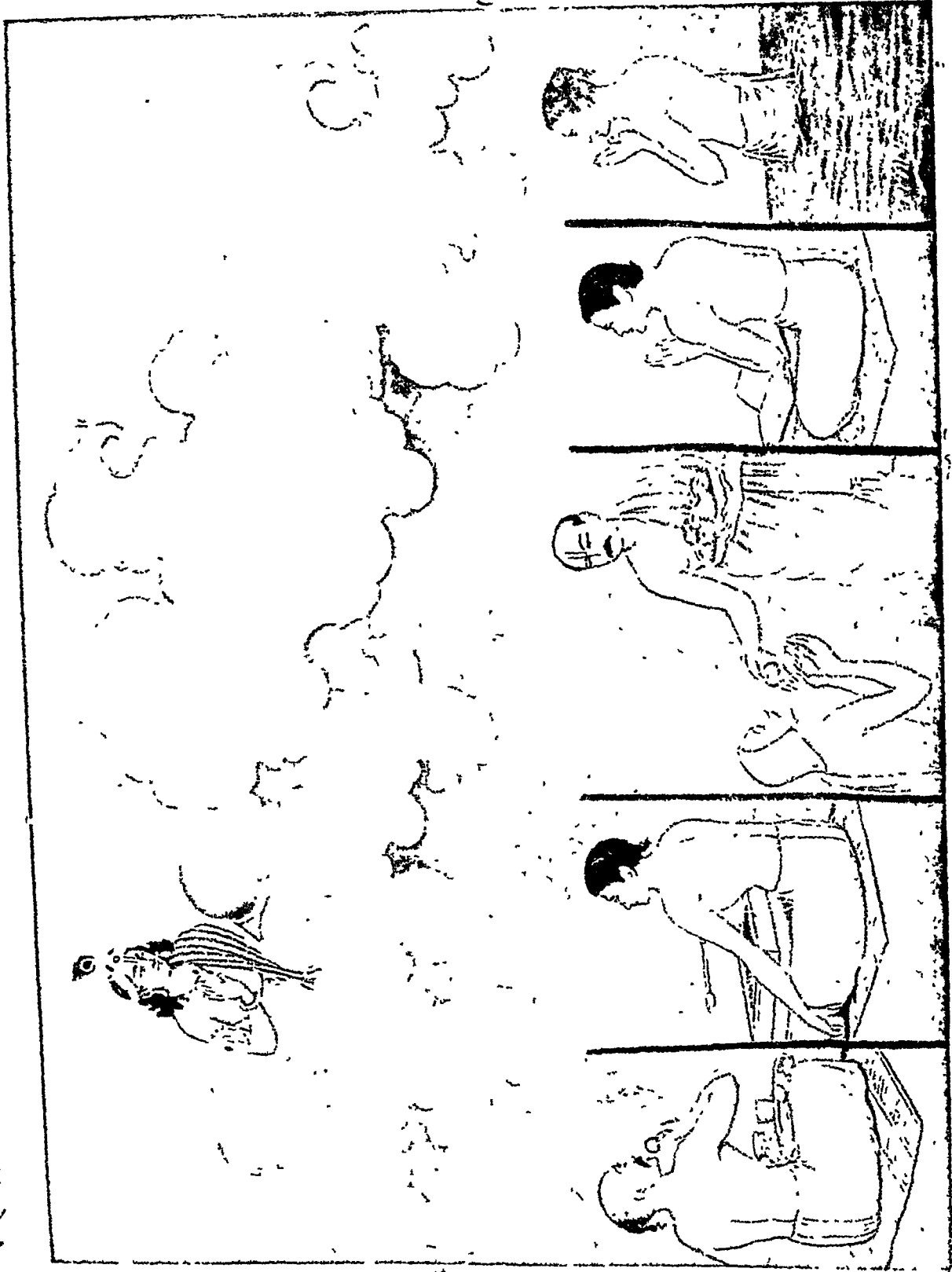
सब भगवत्-समर्पण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम् ।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर वैशाख २०१६, अप्रैल १९५९ { संख्या ४ पूर्ण संख्या ३८९

सब मेरे (भगवान्‌के) अर्पण करो

जो कुछ खाओ, यज्ञ-हवन जो करो, करो जो कुछ तुम दान ।
जो तप करो, करो या कुछ भी, अर्पण करो मुझे सह-मान ॥
मैं स्वीकार करूँगा सभी तुम्हारा समुद स्वयं भगवान ।
मुक्त शुभाशुभ कर्मबन्धसे हो, तुम पाओगे कल्यान ॥

याद रक्खो—यदि तुम्हारा जीवन भोगपरायण रहेगा, तो जीवनमें निराशा बनी रहेगी, जीवन दुखी रहेगा, जीवनमें नये-नये दुष्कर्म होते रहेंगे और मानव-जीवन व्यर्थ ही नहीं जायगा, अनर्थोत्पादक हो जायगा। मरनेके पश्चात् बार-बार आसुरी योनियोंकी और भीषण यन्त्रणामय नरकोंकी प्राप्ति होगी।

याद रक्खो—भोग-परायणता भोगासक्ति तथा भोग-कामना बढ़ाती रहती है। कामना ऐसी आग है जो सदा जलाती ही रहती है। भोगोंकी प्राप्ति हो गयी तो—अग्निमें ईंधन-घी पड़नेपर जैसे अग्नि और भी प्रचण्ड हो जाती है, वैसे ही कामना और भी बढ़ जायगी। कभी तृप्ति होगी ही नहीं। और यदि भोगकी प्राप्ति नहीं हुई, तो चोट खायी हुई कामना ही क्रोधाग्निके रूपमें परिणत होकर सर्वनाश कर देगी। इस प्रकार सदा निराशा और ताप रहेगा।

याद रक्खो—कामना विवेकको हर लेती है, बुद्धि भ्रष्ट कर देती है, आसुरी सम्पदाका आश्रय कराती है, फलतः कर्मफल, परलोक, ईश्वर सबको भूलकर भोग-परायण मनुष्य कामना-पूर्तिके लिये नित्य नये-नये पाप करता है। इस प्रकार सदा अतृप्ति, दुःख तथा पाप उसके नित्य सहचर बन जाते हैं।

याद रक्खो—पापबुद्धि तथा पापकर्म करनेवाला मनुष्य भविष्यमें भी दुःखको ही प्राप्त होता है। यहाँ जलता हुआ जीवनयापन करता है और मरनेके बाद अत्यन्त नीच गतिको प्राप्त होता है। यह मानव-जीवन-की व्यर्थता ही नहीं, अनर्थमयता है। इससे मानव-जीवन केवल असफल ही नहीं होगा, नये-नये पापोंके कारण भीषण अधोगतिका कारण बन जायगा।

याद रक्खो—मानव-जीवनका फल या उद्देश्य भोग है ही नहीं। भोग तो 'दुःखयोनि' हैं। मानव-जीवन सारे दुःखोंसे सदाके लिये सर्वथा छुटकारा पाकर भगवत्प्राप्तिके लिये है। अतएव भोगपरायण मनुष्य तो वास्तवमें मनुष्य कहलाने योग्य ही नहीं है। यह सोचकर तुम भोगपरायणताका त्याग करके भगवत्परायण बनो।

याद रक्खो—भगवत्परायणता आते ही—जीवनमें तुम्हें कर्म बदलने नहीं पड़ेंगे, परंतु तुम्हारा प्रत्येक कर्म अपने आप ही विशुद्ध होकर भगवत्पूजा बन जायगा। भोग-कामना नहीं रहेगी। इससे अतृप्ति, निराशा, दुःख तथा पापसे सहज ही छुटकारा मिल जायगा और तुम्हारे जीवनका असली उद्देश्य सफल हो जायगा। तुम भगवान्‌को या भगवान्‌के विशुद्ध अनन्य प्रेमको प्राप्त करके भागवत-जीवन बन जाओगे।

याद रक्खो—भोगपरायणता ही परम दुर्भाग्य, महान् मूर्खता, भयानक पाप, असीम विपत्ति और भीषण भय है तथा भगवत्परायणता ही परम सौभाग्य, महान् बुद्धिमत्ता, आदर्श महापुण्य, अनन्त सम्पत्ति और नित्य निर्भयपद है। अतः विचार करो और भोगपरायणता छोड़कर भगवत्परायण बनो।

'शिव'

शरीरकी रचना

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारकम्।
अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञैस्तत्त्वमात्मनः॥

शब्दशास्त्र अपार है और इस कारण वह महान् अरण्यके समान है। अरण्यमें प्रवेश करनेपर भूल हो ही जाती है और इससे चित्त अवश्य ही भ्रममें पड़ जाता है। अतएव समझदार मनुष्य प्रयत्न करके आत्मतत्त्वको जान ले—अर्थात् मैं कौन हूँ और यह शरीर क्या है, यह समझ ले।

यह शरीर क्या है, यह विचार आनेके साथ ही कवि कालिदासकी यह परिचित पंक्ति याद आती है—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

हम मनुष्य हैं; इसलिये यह तो कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है कि हमारी चर्चा भी मानव-शरीरके सम्बन्धमें ही होगी। तात्पर्य यह है कि धर्मकी साधनाके साधनोंमें शरीर सर्वप्रथम साधन है। अर्थात् शरीरके बिना धर्मकी साधना हो ही नहीं सकती। अब प्रश्न यह है कि धर्मकी साधनासे अभिप्राय क्या है। हमारे शास्त्रोंने मनुष्यके लिये चार पुरुषार्थ बतलाये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमेंसे बीचके दो—अर्थ और काम तो अधिकांशमें प्रारब्धके अधीन हैं; क्योंकि शरीर सुख-दुःखका भोग भोगानेके लिये उत्पन्न होता है और इस कारण वह भोग जन्मके साथ ही निर्मित हुआ होता है। इस बातको समझाते हुए प्रह्लादजी अपने सहाध्यायियोंसे कहते हैं—

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखमयत्नतः॥

भाव यह कि हे दैत्यो! तुमको ईश्वरकी शरण लेकर सुख-दुःखमें समान रहना सीखना चाहिये; क्योंकि सुख और दुःख दोनों अपने ही किये हुए कर्मोंके फलरूपमें जन्मके साथ ही निर्मित हुए होते हैं। जैसे दुःख अनायास आ जाता है, वैसा ही सुखके लिये भी समझना चाहिये; क्योंकि दोनोंका निर्माण दैवके द्वारा ही हुआ होता है।

अब रहे धर्म और मोक्ष; इनकी प्राप्तिके लिये शरीर ही सर्वप्रथम साधन है। अब धर्म-साधनाका अर्थ इतना ही हुआ कि धर्मपरायण जीवन बिताते हुए यथाप्राप्त सुख-दुःखको समानभावसे भोग ले और अन्तिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्तिका ही रखे। शरीरकी सारी प्रवृत्तियाँ इस प्रकारकी होनी चाहिये कि जिनसे अन्तिम ध्येयको हानि न पहुँचे।

अब दूसरे प्रकारसे देखिये—

महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।
पारं दुःखोदधेर्यातुं तर यावन्न भिद्यते॥

आशय यह है कि हे भाई! बहुत बड़े पुण्यके प्रभावसे तुझको यह शरीररूपी नौका दुःखके समुद्रको पार करनेके लिये मिली है; इसलिये यह जबतक किसी चट्टान आदिसे टकराकर टूट नहीं जाती, तबतक नदीको पार कर ले। दुःखका समुद्र यह जन्म-मरणरूपी संसार है। जिस प्रकार समुद्रमें लहरें उठा करती हैं और नाशको प्राप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार संसारमें भी शरीर उत्पन्न हुआ करते हैं और नाशको प्राप्त हो जाते हैं। जन्म-मरणके समान दूसरा कोई भी दुःख नहीं है और दूसरे दुःख भी शरीरके कारण ही प्राप्त होते हैं। इसी कारण संसारको दुःखका समुद्र कहा गया है। इस प्रसङ्गमें भी शरीरको दुःखके समुद्रसदृश जन्म-मरणरूप संसारको तर जानेका साधन ही बताया गया है। धर्मके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति करनेका नाम ही संसार-सागरसे तर जाना है।

अब यह देखना है कि शरीरकी रचना कैसी है। श्रीशंकराचार्य इस सम्बन्धमें कहते हैं—

पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसंचितम्।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते॥

तात्पर्य यह कि यह शरीर आकाशादि पञ्चमहाभूतोंका बना हुआ है। जीवको अनेक जन्मोंके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके फल, सुख-दुःखको भोगनेके लिये एक निश्चित समयके लिये यह प्राप्त हुआ है। सुख-दुःखका भोग भोगना ही पड़ता है। इच्छा हो या न हो, जीवको यह शरीर छोड़ना ही पड़ता है। इसी कारण इसको क्षणभङ्गुर कहते हैं; क्योंकि किस क्षण भोग समाप्त होगा और शरीर छूट जायगा, इसका पहलेसे ज्ञान नहीं होता। इस स्थितिका वर्णन करते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

नलिनीदलगतसलिलं तरलम्।
तद्वज्जीवितमतिशयचपलम्॥

कमलकी पँखुड़ीपर पड़ी हुई जलकी एक बूँद जैसे तनिक भी पवनके लगते ही गिर पड़ती है, उसी प्रकार जीवनका अन्त भी क्षणमात्रमें हो जाता है। काल किसीके ऊपर दया नहीं करता।

न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम्।

अर्थात् अमुक मनुष्यने अपना हाथमें लिया हुआ काम पूरा कर लिया या नहीं, मृत्यु इसकी राह नहीं देखती। वह तो समय आते ही धड़से शरीरको ले लेती है।

पातञ्जलदर्शनका एक सूत्र कहता है—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥

अर्थात् जबतक कर्मरूपी मूल है, तबतक शरीररूपी फल उत्पन्न होते ही रहते हैं और शरीरके उत्पन्न होनेके पहले ही उसकी जाति, आयु और भोग निश्चित हो जाते हैं। अर्थात् जबतक कर्म है, तबतक जीवको अनेक योनियोंमें शरीर धारण करने पड़ते हैं और निर्मित सुख-दुःखके भोग शरीरकी अवधिपर्यन्त भोगने पड़ते हैं। जैसे बीजमेंसे वृक्ष होता है और वृक्ष फिर नये बीज पैदा करता है, उसी प्रकार कर्ममेंसे शरीर उत्पन्न होता है और शरीरसे फिर नये कर्म होते रहते हैं; अतएव इस चक्रका कभी अन्त नहीं होता। यह बात उत्तरगीताके एक श्लोकमें बहुत ही सरल रीतिसे समझायी गयी है। वह देखनेयोग्य है—

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता
प्रियाप्रिये ते भवतः सुरागिणः।
धर्मेतरा तत्र पुनः शरीरकं
पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः ॥

'किये गये कर्मोंका फल भोगनेके लिये जीवको शरीर धारण करना पड़ता है और फिर उस शरीरमें आसक्ति होनेसे उसके द्वारा जीव प्रिय और अप्रिय अर्थात् राग-द्वेष-पूर्वक कर्मोंको करता है, जिससे फिर उसे शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगनेके लिये दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है और फिर उस शरीरसे कर्म होते हैं। इस प्रकार कर्मसे शरीर और शरीरसे कर्म—यों जन्म-मरणका चक्र चलता ही रहता है। इसका अन्त होता ही नहीं।

अब जिस सुख-दुःखका भोग भोगनेके लिये जीव शरीर धारण करता है, उन भोगोंको भोगे बिना काम नहीं चलता। अतएव दुःखका प्रसङ्ग आनेपर व्याकुल होकर क्लेश न उठाये, बल्कि धैर्यपूर्वक शान्तिसे उस भोगको भोग ले।

इस बातको समझानेयोग्य बहुत धैर्य प्रदान करनेवाले इस श्लोकको देखिये—

अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः ॥

भाव यह कि किये हुए कर्मोंका फल भोगनेसे छुटकारा पानेका कोई भी रास्ता होता तो राजा नल, श्रीरामचन्द्रजी तथा धर्मराज युधिष्ठिरको दुःख नहीं भोगना पड़ता। वे तो बड़े सामर्थ्यवान् पुरुष थे, तथापि प्रारब्ध भोगे बिना चल न सका। फिर भला, अपने-जैसे सामान्य मनुष्यकी तो बात ही क्या। फिर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तो पूर्ण पुरुषोत्तम थे, इसलिये उनको कोई प्रारब्धका भोग हो ही नहीं सकता; तथापि उन्होंने भी सामान्य मनुष्यके समान लीला करके मनुष्यको उपदेश दिया कि 'भाई! प्रारब्धका भोग भोगे बिना किसीके लिये भी छुटकारा नहीं है।'

यहाँतक हमने देखा कि यह शरीर पञ्चमहाभूतोंका पुतला है और सुख-दुःखका भोग भोगनेके लिये जीवको एक निश्चित कालके लिये मिला है। यह अति क्षणभङ्गुर है, तथापि मोक्षकी प्राप्तिके लिये सर्वप्रथम साधन है तथा इसकी प्राप्ति महापुण्यके प्रतापसे ही होती है। हमने यह भी देख लिया कि मनुष्य-शरीरकी सार्थकता धर्माचरण-द्वारा मोक्षकी प्राप्ति कर लेनेमें है, विषय-भोग भोगनेमें नहीं; क्योंकि वे तो शरीरके जन्मके साथ ही निश्चित हुए होते हैं। और उनको भोगनेपर ही छुट्टी मिलती है, यह भी हमने देखा।

ऊपर कहा गया है कि यह शरीर पञ्चमहाभूतोंका पुतला है। पञ्चमहाभूत तो जड हैं, यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं। तब फिर उनका कार्य यह शरीर भी जड होना चाहिये। अनुभवमें तो ऐसा देखा जाता है कि वह चेतन है; क्योंकि उसको प्रतिदिन हम काम करते हुए देखते हैं। इसलिये अब यह विचार करना चाहिये कि यह शरीर जड है या चेतन!

अबतक हमने जिस शरीरकी बात की है, उसे स्थूल-शरीर कहते हैं, और वह पञ्च महाभूतोंका कार्य होनेके कारण जड है। यह स्थूलशरीर काम करता दीखता है—इसका कारण यह है कि इसके भीतर एक सूक्ष्मशरीर है, वह इसको चेतनावाला बनाता है। वह सूक्ष्मशरीर भी पञ्च-महाभूतोंके सूक्ष्म अंशोंसे बना है। अतएव स्वभावसे वह भी जड है; परंतु आत्माका प्रकाश लेकर चेतन आत्माके सकाश-से स्वयं चेतनावान् बनकर स्थूलशरीरको चेतनावान् बनाता है।

इस बातको समझनेके लिये सूक्ष्मशरीरकी रचना जाननी चाहिये । श्रीशंकराचार्यने उसको इस प्रकार समझाया है—

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥

अर्थात् पञ्च प्राण, मन तथा बुद्धि, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय—इस प्रकार कुल सतरह पदार्थोंका सूक्ष्म-शरीर बनता है और वह पञ्चमहाभूतोंके सूक्ष्म अंशोंसे बना होनेके कारण स्वयं सूक्ष्म है; इसलिये सूक्ष्मशरीर कहलाता है । मन और बुद्धिका अन्तःकरणमें समावेश करके कुछ लोग इसको सोलह कलायुक्त अर्थात् सोलह पदार्थोंका बना हुआ कहते हैं और कुछ लोग अन्तःकरणकी चारों वृत्तियों—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारको पृथक्-पृथक् गिनकर इसे उन्नीस तत्त्वोंका मानते हैं । सूक्ष्मशरीरको सोलह पदार्थोंका बना हुआ मानना अधिक अच्छा है; क्योंकि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार एक ही अन्तःकरणकी चार अलग-अलग वृत्तियाँ हैं ।

सूक्ष्मशरीर भी स्वभावसे जड है; क्योंकि वह जड पञ्चमहाभूतोंका कार्य है । परंतु मन और बुद्धि पूर्णतया जड भी नहीं हैं, स्वतः चैतन्य भी नहीं हैं, किंतु सत्त्व भाववाले हैं । अर्थात् आत्माकी चेतनताको धारण करनेमें समर्थ हैं । आत्माकी चेतनताको धारण करके मन और बुद्धि प्राण तथा इन्द्रियोंको चेतनावान् बनाते हैं और उनके द्वारा सारा ही स्थूलशरीर चेतनावान् बन जाता है । हम पहले स्थूल शरीरको भोगायतन अर्थात् भोग भोगनेका स्थान कह चुके हैं उसी प्रकार इस सूक्ष्मशरीरको भोगका साधन कह आये हैं । इसका अर्थ यह है कि यह भोग भोगवानेका साधन है । हम भोजन करते समय पीढ़ेके ऊपर बैठते हैं, थाली स्थूल शरीरके सामने रखी जाती है । हाथ कौर उठाता है और मुँहमें डालता है । दाँत चबाता है, रसना (जीभ) स्वादका अनुभव करती है । प्राण तृप्तिका अनुभव करते हैं और मन-बुद्धि उसका आनन्द भोगते हैं ।

यहाँ एक और बात समझने योग्य है । आत्मा तो सत्तामात्र है, अतएव वह भोगकी ओर निरपेक्षभावसे देखता है । मन और बुद्धि आत्माके सांनिध्यमात्रसे चेतनावान् बनकर सारे शरीरके द्वारा भोजनकी क्रिया कराते हैं और खानेका आनन्द भी मन और बुद्धि ही भोगते हैं । अब आत्मा अनादिकालसे अपने सांनिध्यमें रहनेवाले लगभग अपने ही-जैसे सूक्ष्म मन और बुद्धिको भोग भोगते देखते-देखते उनमें आसक्त हो जाता है । इस आसक्तिके कारण दीर्घकालतक आत्मा अपना स्वरूप भूला रहता है तथा स्वयं ही मानो मन-बुद्धिरूप ही हो जाता है और मन-बुद्धि सारे शरीरमें व्याप्त होकर समस्त शरीररूप बनकर रहते हैं । आत्मा भी सारे शरीरमें व्याप्त रहता है, इसलिये शरीरके धर्मको अपनेमें कल्पित कर लेता है, परिणामस्वरूप जीवभावको प्राप्त होता है ।

आत्मा स्वयं जन्म-मरणसे रहित है । तथापि स्थूल-शरीरके जन्म-मरणसे अपनेको जन्म-मरणवाला मानता है । स्थूलशरीरके जन्म लेनेसे स्वयं जन्मका कष्ट उठाता है और स्थूलशरीरकी मृत्यु होनेपर स्वयं मरणकी व्यथा भोगता है । प्राणको भूख लगनेसे व्याकुलता होती है, इससे आत्मा स्वयं व्याकुल बन जाता है । स्वयं परम पवित्र होनेपर भी अपवित्र शरीरके सङ्गसे अपनेको अपवित्र मानता है और इस अपवित्रताके निवारणका प्रयत्न भी करता है । स्वयं सुख-स्वरूप है; तथापि शरीरके दुःखसे दुःख पाता है और उसकी निवृत्तिका उपाय करता है । स्वयं असङ्ग होते हुए मनके राग-द्वेषको अपनाकर दुखी होता है । समय बीतते-बीतते आत्मा अपने स्वरूपको सर्वथा भूल जाता है और परधर्मको अपनेमें मान लेता है । इस प्रकार जो आत्माको अपने स्वरूपकी विस्मृति हुई, इसीको अज्ञान या अविद्या कहते हैं । यह अज्ञान कारण-शरीर कहा जाता है; क्योंकि यह जीवके जन्म-मरणका कारणरूप है । आत्मामें तो जन्म-मरण है नहीं; परंतु जबतक अज्ञानके कारण वह अपनेको 'जीव' मानता है, तबतक जन्म-मरणका चक्र चालू रहता है । हमने एक शरीरके विषयमें बात शुरू की थी और तीन शरीर हैं—इस परिमाणपर पहुँचे । कारण-शरीर कोई शरीर नहीं है; परंतु जीवके जन्म-मरणका कारणरूप होनेसे कारण-शरीरके नामसे कथित होता है । यदि यह कारण-शरीर अर्थात् स्वरूपका अज्ञान न हो तो आत्मामें जीवभाव कहाँसे आयेगा । और जीवभाव न हो तो उसका जन्म-मरण कैसे होगा । अतएव इस संसार-चक्रको चालू रखनेमें कारण-शरीरका सबसे बड़ा हाथ है । सूक्ष्मशरीरमें भी मुख्य काम तो मन-बुद्धिका ही है । वे स्वयं अति सूक्ष्म होनेके कारण आत्माके चैतन्यको स्वीकार कर सकते हैं और इससे स्वयं चैतन्य बनकर दोनों शरीरोंको चेतनावान् बनाते हैं । स्थूलशरीर तो सर्वांश

में जड है; उसको प्रकाश देनेवाला सूक्ष्मशरीर प्रारब्धके भोग समाप्त होनेपर जब उसको छोड़ देता है, तब वह मुर्दा कहलाता है और तब उसको जलाना या गाड़ देना पड़ता है।

हमने निबन्धके प्रारम्भमें शरीरको धर्माचरणके द्वारा मोक्षप्राप्तिका मुख्य साधन कहा है। इसलिये अब यह प्रश्न होता है—'तब क्यों नहीं उस साधनका उपयोग लोग धर्मके द्वारा मोक्षकी प्राप्तिके लिये करते हैं?'

यह प्रश्न सहज है, अतएव इसका उत्तर श्रुतिने पहलेसे ही दे रखा है। जैसे—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

'पद्मयोनि ब्रह्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख रचा है। इसलिये वे जगत्के विषय-भोगको ही देख सकती हैं—अन्तरात्माको, जो शरीरके भीतर है, नहीं देख सकतीं।' इस प्रकार अनादि कालसे इन्द्रियाँ विषयोंका ही सेवन किया करती हैं। इससे उनकी विषयोंमें आसक्ति हो गयी है। आसक्ति बढ़ जानेके कारण ये उन विषयोंसे ही चिपकी रहती हैं और जीवको खींचकर बलपूर्वक विषय-भोगोंका भोगनेवाला बना देती हैं। इस प्रकार जीव विषयोंमें इतना अधिक आसक्त हो गया है कि उसको विषय-सेवनके सिवा और कुछ सूझता ही नहीं।

इसी बातको समझाते हुए गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

भाव यह है कि हजारों या लाखोंमें कोई एक मनुष्य पूर्व पुण्योंके उदयसे ईश्वर-प्राप्तिके लिये यत्न करता है और इस प्रकारके यत्न करनेवालोंमेंसे कोई एक भाग्यशाली हिम्मत रखकर दृढ़ निश्चयसे साधन करके मेरी प्राप्ति कर सकता है।

जीवको चाहिये कि वह मोक्षकी प्राप्तिके लिये अन्तःकरणको शुद्ध करके अपने सत्य-स्वरूपको समझे। आत्माको जीवभावका अभ्यास सुदीर्घ कालसे है, इसलिये उस अभ्यासकी निवृत्तिके लिये भी सुदीर्घ कालतक आत्मभावका अभ्यास करना चाहिये। अतएव कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि वह प्रतिदिन प्रातः-सायं एकान्तमें बैठकर भाव और प्रेमपूर्वक नीचे लिखे अनुसार अपने स्वरूपको समझे—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
मदालसा वाचमुवाच पुत्रम्॥

हे जीव! तुम अपने मूल स्वरूपको याद कर। मन-बुद्धिका सङ्ग होनेके पहले तू स्वभावसे शुद्ध और निर्विकार था और इस शरीररूपी सांसारिक मायासे असङ्ग—दूर था। यह शरीर तथा इसके सम्पर्कमें आनेवाला यह संसार मायामात्र है, अर्थात् स्वप्न-समान है। नींदसे जागनेपर जैसे स्वप्न अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानरूपी निद्रासे ज्ञानरूपी जाग्रति होनेपर तू देखेगा कि इस संसारके साथ तेरा किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है। तू तो संसार तथा शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिका द्रष्टा पुरुष है और ये सब तेरे दृश्य होनेके कारण तुझसे भिन्न हैं तथा मृगमरीचिकाके समान केवल दीखनेभरके लिये हैं।

इस प्रकार भाव और प्रेमसे निरन्तर एकान्तमें समझानेसे जीव अपने मूल स्वरूपको समझ जायगा। जीवभाव छूट जानेपर अपने-आप निर्विकल्प और निर्विकार तथा असङ्ग स्वरूपमें स्थिर हो जायगा। भ्रमसे ही आत्मा अपनेको जीवरूप मानता था और वही उसका बन्धन था तथा उस भ्रमकी निवृत्ति हो जाना ही आत्माकी मुक्ति है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

मैं नित्य शान्तिका अनुभव करता हूँ

भगवान् सर्वलोकमहेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् हैं और वे भगवान् मेरे सुहृद् हैं। उनका मुझपर नित्य अहैतुक स्नेह है। मैं सदा उनके स्नेहसे सिक्त रहता हूँ। इसलिये मेरे समीप न कोई दुःख आ सकता है, न अशान्ति। न पाप आ सकता है, न ताप। भगवान्की सुहृदताकी सुधाधारा सदा-सर्वदा मेरे जीवनको आप्लावित रखती है। और मैं उसमें सराबोर हुआ नित्य परम शान्तिका अनुभव करता हूँ।

सुखोंके भेद और यथार्थ सुखकी महत्ता

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारमें प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है; पर असली सुख किसमें है, इसकी ओर ध्यान न देकर वह मिथ्या सुखमें ही लगा रहता है, जिससे उसे असली सुखकी प्राप्ति नहीं होती, बल्कि बार-बार दुःख ही प्राप्त होता रहता है। अतः मनुष्यको मिथ्या सुखका त्याग करके सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें अठारहवें अध्यायके ३६ वेंसे ३९ वें श्लोकोंमें सुखके तीन भेद बतलाये हैं—तामस, राजस और सात्त्विक। इनमेंसे तामस और राजस सुख त्याग करनेके उद्देश्यसे और सात्त्विक सुख सेवन करनेके उद्देश्यसे बतलाया गया है। सात्त्विक सुख, सात्त्विक त्याग, सात्त्विक पदार्थ, सात्त्विक कर्म और सात्त्विक भावोंके सेवनका फल असली सुख है, जो तीनों गुणोंसे अतीत है, परमात्माका स्वरूप है और सब साधनोंका फल है। इसीकी प्राप्तिको परमपद, परमगति और मुक्तिकी प्राप्ति कहते हैं।

अब तामस, राजस और सात्त्विक सुखका क्रमशः प्रतिपादन किया जाता है—

१—तामस सुख

तामस सुख मनुष्यको मोहित करनेवाला और महान् हानिकर है, इसलिये उसका त्याग अवश्य ही कर देना चाहिये। तामस सुखका लक्षण भगवान्‌ने गीतामें इस प्रकार बतलाया है—

> यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
> निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसमुदाहृतम् ॥
> (गीता १८ । ३९)

'जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस कहा गया है।'

निद्रासे उत्पन्न सुख तामस इसलिये है कि निद्रामें वृत्ति मोहित हो जाती है, इसमें मनुष्यको बाह्यज्ञान नहीं रहता। उस समय स्वप्नमें भी जो चिन्तन होता है, उसमें भी मनुष्य पराधीन रहता है। एवं अधिक सोनेसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि किसी भी योगके साधनकी सिद्धि नहीं होती (गीता ६ । १६) वरं इससे तमोगुण बढ़ता है; इसलिये निद्रासे उत्पन्न सुखको तामस बतलाया गया है।

आलस्यके कारण मनुष्य कर्तव्यकर्मोंको करनेमें विलम्ब कर देता है और अकर्मण्यतामें समयको व्यर्थ बिता देता है। एवं कर्तव्य-कर्म करते समय भी मनुष्य तन्द्रामें मग्न रहता है। इससे कर्तव्य-कर्मकी हानि होती है, स्मरण-शक्ति भी कमजोर हो जाती है, मोह, अज्ञान और तमोगुण बढ़ते हैं। इसलिये आलस्यसे उत्पन्न सुखको तामस बतलाया गया है।

प्रमाद दो प्रकारका होता है—१. करनेयोग्य कर्मको न करना और २. न करनेयोग्यको करना। प्रमादी मनुष्य कहीं तो कर्तव्य-कर्मका त्याग कर देता है, कहीं तिरस्कार कर देता है और कहीं अवहेलना कर देता है। इस तरह कर्तव्य-च्युत होनेसे उसे परिणाममें नरककी प्राप्ति होती है। तथा वह न करने योग्य (पाप) कर्म—शास्त्रनिषिद्ध कर्म तथा व्यर्थ-कर्मका सेवन करता है; इसलिये नरकमें जाता है।

झूठ-कपट, चोरी-बेईमानी, मांस-भक्षण आदिका सेवन, आत्महत्या या पर-हत्या करना, परस्त्रीगमन आदि दुराचार शास्त्रनिषिद्ध कर्म अर्थात् पापकर्म हैं। बीड़ी, सिगरेट, भाँग, तम्बाकू, गाँजा, सुल्फा आदि मादक वस्तुओंका सेवन तथा सिनेमा और थियेटर, नाटक आदि खेल-तमाशोंका देखना, चौपड़-ताश और शतरंज आदि खेलना, सभी दुर्व्यसनरूप व्यर्थ-कर्म, शरीरका प्रमाद है।

दूसरोंकी निन्दा, चुगली, व्यर्थ वार्तालाप, मिथ्या भाषण और कठोर वचन—यह वाणीका प्रमाद है। क्रोध, मोह, मद, दम्भ, दर्प, दुराग्रह, नास्तिकता, क्रूरता, वैर आदि दुर्गुणोंको धारण करना तथा मनसे पापमय वासना और व्यर्थ चिन्तन करना—यह मनका प्रमाद है। अतः तामस सुखके हेतुभूत निद्रा, आलस्य, प्रमाद तथा तामस भोजन (गीता १७ । १०), तामस यज्ञ (गीता १७ । १३), तामस तप (गीता १७ । १९), तामस दान (गीता १७ । २२), तामस कर्म (गीता १८ । २५), तामस त्याग (गीता १८ । ७), तामस ज्ञान (गीता १८ । २२), तामसी बुद्धि (गीता १८ । ३२) और तामसी धृति (गीता १८ । ३५)—ये सभी तामस पदार्थ, तामसी क्रिया और तामस भाव आदि और अन्तमें मोह, अज्ञान और तमोगुणका उत्पादक, नरकदायक एवं महान् हानिकर होनेके कारण इनसे उत्पन्न सुख तामस है। अतः ये सर्वथा त्याज्य हैं।

विचार करके देखनेपर पता लगता है कि ये सभी वर्तमानमें और परिणाममें दुःख ही देनेवाले हैं; किंतु अज्ञानसे इन दुःखप्रद पदार्थोंमें सुखबुद्धि होनेके कारण सुख प्रतीत होता है। अतः इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। केवल शरीर और इन्द्रियोंकी थकावट दूर करनेके लिये, उनके विश्रामके लिये अधिक-से-अधिक छः घंटे सोना उपयोगी है। भगवान्ने बतलाया है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
(गीता ६। १७)

'यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही दुःखनाशक योग सिद्ध होता है।'

पर इस उचित शयनकालमें भी इतना सुधार कर लेना परम आवश्यक है कि मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ जो बहिर्मुख हो रही हैं, उनको अन्तर्मुख करके सोना चाहिये। अभिप्राय यह मनमें स्वाभाविक ही जो संसारके पदार्थोंके चिन्तनका प्रवाह चल रहा है, उसको भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव आदिके चिन्तनमें परिवर्तित करके शयन करना चाहिये। इससे वह शयनकाल भी साधनकालमें परिणत होकर ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि साधनोंमें सहायक हो जाता है एवं छः घंटेका शयनकाल भी सार्थक बन जाता है।

२—राजस सुख

राजस सुख भी परिणाममें हानिकर है, इस कारण उसका भी अवश्य त्याग करना चाहिये। राजस सुखका लक्षण भगवान्ने इस प्रकार बतलाया है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत् तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
(गीता १८। ३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

यह इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे होनेवाला सुख भी वास्तवमें दुःखरूप ही है। इसमें जो सुखबुद्धि है, वह अज्ञानके कारण ही है। महर्षि पतञ्जलिजीने इसको अविद्याका ही एक भेद बतलाया है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (योगदर्शन २। ५)

"अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मामें क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभावकी प्रतीति ही 'अविद्या' है।"

अतः संसारके भोगोंमें सुखबुद्धि करना दुःखमें ही सुखबुद्धि करना है और यह अज्ञान है; क्योंकि संसारके विषयभोग आरम्भमें सुखप्रद प्रतीत होते हैं, पर वास्तवमें उनमें सुख नहीं है। जैसे फतिंगोंको दीपककी लौमें आरम्भमें सुख प्रतीत होता है, परंतु वह अन्तमें महान् दुःखदायी है; क्योंकि जब दीपककी लौका स्पर्श करनेपर उनके पंख झुलस जाते हैं, तब वे तड़फ-तड़फकर मरते हैं। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न राजस सुख आरम्भमें अमृतके समान दीखते हैं, पर परिणाममें वे विषके समान हैं।

अतएव राजस भोजन (गीता १७। ९) के पदार्थोंका, राजस यज्ञ (गीता १७। १२), राजस तप (गीता १७। १८), राजस दान (गीता १७। २१), राजस कर्म (गीता १८। २४) आदि फलेच्छासे युक्त राजसी क्रियाओंका तथा राजस त्याग (गीता १८। ८), राजस ज्ञान (गीता १८। २१), राजसी बुद्धि (गीता १८। ३१), राजसी धृति (गीता १८। ३४) एवं राग-द्वेष, काम, लोभ, मत्सरता, अहंकार, अभिमान, दम्भ, दर्प, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा, अपवित्रता, विषय-चिन्तन, व्यर्थ आशा, भोगेच्छा, व्यर्थ मनोरथ और अन्यायपूर्वक अर्थ-संग्रहकी इच्छा आदि राजस भावोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

जो भी इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न सुख है, वह सब देश, काल और वस्तुसे अल्प, क्षणिक, नाशवान्, अनित्य और असत् है। उदाहरणार्थ, जिह्वाके विषयपर विचार करें। जब हम किसी पदार्थको खाते हैं, तब उसमें जिह्वाको ही सुख मिलता है, कानको नहीं; इसलिये वह एकदेशीय होनेसे अल्प है। तथा भोजनकालमें ही वह सुख मिलता है, अन्य समयमें नहीं; इसलिये वह एककालिक होनेसे अल्प है। एवं वह भोजन करनेका पदार्थ परिमित है, अतः वह वस्तुसे भी अल्प है। और उस पदार्थका क्षय होता रहता है, अतः

वह क्षणिक और अनित्य है; अन्तमें वह नष्ट हो जाता है, अतः नाशवान् है। जो अनित्य—नाशवान् है, वह असत् है। अर्थात् उसकी केवल प्रतीतिही होती है, वह वास्तवमें नहीं है; क्योंकि सत् होता तो उसका कभी अभाव नहीं होता। भगवान्ने कहा है—

> नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
> उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
> (गीता २। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं होता; इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषों-द्वारा देखा गया है।'

इसी प्रकार नेत्रके विषय रूपके सम्बन्धमें समझना चाहिये। जब हम किसी सुन्दरी स्त्री आदि दृश्यको देखते हैं तो उसमें नेत्रोंको ही सुख मिलता है; जिह्वाको नहीं; इसलिये वह एकदेशीय होनेसे अल्प है। तथा देखनेके समय ही वह सुख मिलता है, अन्य समयमें नहीं; इसलिये वह एककालिक होनेसे अल्प है। एवं वह दृश्य पदार्थ परिमित है, अतः वह वस्तुसे भी अल्प है; और उस पदार्थका क्षय होता रहता है, अतः वह क्षणिक और अनित्य है। अन्तमें वह नष्ट हो जाता है, अतः नाशवान् है। जो अनित्य और नाशवान् है, वह असत् है।

इसी प्रकार खान-पान, भोग-विलास, ऐश-आराम, स्वाद-शौक, हँसी-मजाक, इत्र-फुलेल, नाच-गान, ताश-चौपड़, खेल-तमाशा, सिनेमा-थियेटर, सर्कस-क्लब आदि अन्यान्य विषयोंमें प्रतीत होनेवाले सभी सुख देश, काल, वस्तुसे अल्प, क्षणिक, नाशवान्, दुःखदायी, अनित्य और असत् हैं। इनमें केवल भोगकालमें ही सुख प्रतीत होता है; पर इनका परिणाम दुःखदायी और महान् हानिकर है। इसलिये इन विषयजन्य राजस सुखोंका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

मनुष्यको अनुकूलतामें राग और प्रतिकूलतामें द्वेष स्वाभाविक ही होता है। वह जब किसीके साथ वैर-द्वेष करता है और उसकी क्रिया सफल हो जाती है, तब उसे सुख प्रतीत होता है। किंतु जब उसका वैरी या द्वेषी बदला लेता है, उसकी क्रियाका प्रतीकार करता है, तब उसे महान् दुःख होता है। क्योंकि जिस वस्तुमें राग होता है, उसकी प्राप्तिमें क्षणिक सुख होता है; किंतु उसके नाश, वियोग और अभावमें दुःख होता है। जो उसके संयोगमें सुख होता है, वह भी देश, काल, वस्तुसे अल्प, क्षणिक, नाशवान्, अनित्य और असत् है तथा परिणाममें दुःखदायी है, इसलिये सर्वथा त्याज्य है।

मनुष्य किसी स्त्री, पुत्र, धन, मकान, जीवन, आरोग्य, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा करता है; किंतु उसकी इच्छाके अनुसार ही इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाय, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि सभी सुन्दर और युवती स्त्री चाहते हैं, सभी सुपात्र विद्वान् और सेवाभाव-सम्पन्न पुत्र चाहते हैं, सभी धन-मकान आदि सम्पत्ति चाहते हैं, सभी अधिक कालतक जीना चाहते हैं, सभी नीरोग रहना चाहते हैं, सभी मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा करते हैं; पर ये सब सभीको इच्छानुसार प्राप्त नहीं होते, अतः इच्छा या कामना करनेमें दुःखके सिवा कोई लाभ नहीं है।

मनुष्य कामके वशीभूत होकर स्त्री-सहवास करता है तो उसे क्षणिक सुख मिलता है। पर उसके परिणामस्वरूप उसके बल, वीर्य, बुद्धि, तेज, आयु, आरोग्य, स्मरणशक्ति और परलोकका विनाश होता है; अतः परिणाममें दुःखदायी ही है।

मनुष्य लोभके वशीभूत होकर झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी और विश्वासघातपूर्वक व्यापार करता है; अन्यायपूर्वक रुपया बचानेके लिये आय-कर, बिक्री-कर, सम्पत्ति-कर, दान-कर, व्यय-कर, मृत्यु-कर आदि अनेक सरकारी करोंकी स्वयं या सरकारी अधिकारियोंसे मिलकर चोरी करता है; व्यापारमें तौल-माप और संख्यामें अधिक लेता और कम देता है; मुनाफा, आढ़त, दलाली, कमीशन, ब्याज, भाड़ा आदि ठहराकर—तय करके उससे अधिक लेता और कम देता है; रुई, पाट, सुपारी आदि वस्तुओंमें जल छिड़ककर उनका वजन बढ़ा देता है; जीरा, दाल आदिमें मिट्टी-कंकड़, घीमें वनस्पति-तैल, दूधमें पानी, शुद्ध तैलमें व्हाइट ऑयल आदि वस्तुओंको मिलाकर उन-को दूषित कर देता है; बढ़िया वस्तु दिखाकर घटिया देता है एवं अन्यान्य अन्यायपूर्ण उपायोंद्वारा रुपये एकत्र करता है। उसमें उसे आरम्भमें तो सुख प्रतीत होता है; पर अन्तमें इस लोकमें निन्दा, अपमान और बेइज्जती होती है तथा परलोकमें दुर्गतिरूप भयानक कष्ट प्राप्त होता है।

मनुष्य दूसरोंकी उन्नति देखकर डाह करता है, उनको नीचा दिखाने और नीचे गिरानेकी चेष्टा करता है, तब उसे कार्यकी सफलतामें सुख-सा प्रतीत होता है। पर जब उसकी

चेष्टा व्यर्थ हो जाती है, तब उसके हृदयमें जलन पैदा हो जाती है। अतः उसका परिणाम भी दुःखदायी ही है।

इसी प्रकार जो नाम, जाति, देश, धन, विद्या, बल, आयु और श्रेष्ठता आदि किसी भी प्रकारका अभिमान या घमंड है, उसमें थोड़े कालके लिये ही सुख प्रतीत होता है; पर उसका फल दुःखदायक और नाशवान् है, अतः वह अनित्य और असत् है।

इसी तरह अन्य सभी राजस सुख, पदार्थों, क्रियाओं और भावोंके सम्बन्धमें समझ लेना चाहिये।

गीतामें भगवान्ने जहाँ-जहाँ राजस और तामस सुख, पदार्थ, क्रिया और भावोंका वर्णन किया है, वह उनका त्याग करानेके उद्देश्यसे ही किया है। अतः उन सबका त्याग कर देना चाहिये। एवं सात्त्विक सुख, पदार्थ, क्रिया और भाव मुक्तिमें सहायक और इहलोक तथा परलोकमें हितकारक होनेके कारण भगवान्ने उनका वर्णन ग्रहण करानेके उद्देश्य-से ही किया है।

३—सात्त्विक सुख

सात्त्विक सुखके लक्षण भगवान्ने इस प्रकार बतलाये हैं—

अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥
(गीता १८ । ३६-३७)

'जिस सुखमें साधक मनुष्य भजन, ध्यान, तीर्थ, व्रत, तप, उपवास और सेवादिके अभ्याससे सुखका अनुभव करता है और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त होता है, जो ऐसा सुख है, वह आरम्भकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत होता है, परंतु परिणाममें अमृतके तुल्य है, इसलिये वह परमात्म-विषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है।'

कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोगके साधनसे मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। इसलिये इन साधनोंमेंसे किसी भी साधनका निष्कामभावसे तत्परताके साथ अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि इन साधनोंके अनुसार भजन, ध्यान, यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा आदिका अभ्यास करनेसे ही अन्तःकरण शुद्ध होकर सात्त्विक सुखकी प्राप्ति होती है और सात्त्विक सुखकी प्राप्ति होनेपर समस्त दुःखोंका अत्यन्त अभाव होकर परमात्मामें बुद्धि स्थिर हो जाती है, जिसके फलस्वरूप उसे परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्ने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(गीता २ । ६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर उसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

मनुष्यकी स्वाभाविक ही सांसारिक क्रियाओंमें और विषयभोगरूप पदार्थोंमें आसक्ति रहती है; इस कारण सात्त्विक पदार्थों, सात्त्विक क्रियाओं और सात्त्विक भावोंके सेवनमें प्रथम कठिनता प्रतीत होती है, इसीलिये उसको आरम्भमें विषके समान बतलाया गया है। किंतु उन सात्त्विक पदार्थों, क्रियाओं और भावोंका सेवन करते-करते अन्तमें उससे अन्तःकरण शुद्ध होकर पूर्ण सात्त्विक सुख प्राप्त हो जाता है, इसलिये सात्त्विक सुखको अमृतके समान बतलाया गया है।

अतएव सात्त्विक भोजन (गीता १७ । ८) के पदार्थोंका तथा सात्त्विक यज्ञ (गीता १७ । ११), सात्त्विक तप (गीता १७ । १४–१७), सात्त्विक दान (गीता १७ । २०), सात्त्विक कर्म (गीता १८ । २३) आदि सात्त्विक क्रियाओंका सम्पादन एवं सात्त्विक त्याग (गीता १८ । ९), सात्त्विक ज्ञान (गीता १८ । २०), सात्त्विकी बुद्धि (गीता १८ । ३०), सात्त्विकी धृति (गीता १८ । ३३) आदि सात्त्विक भावोंका सेवन करना चाहिये। इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर सात्त्विक सुखकी प्राप्ति हो जाती है; फिर परमात्मामें बुद्धि स्थिर हो जाती है, जिसके फलस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जैसे गीता अ० १३ श्लो० ७ से ११ तक वर्णित ज्ञानके साधन और अ० १६ श्लो० १ से ३ तक वर्णित दैवीसम्पदाके गुण-आचरणोंका पालन मुक्तिदायक है, उसी प्रकार सात्त्विक पदार्थों, क्रियाओं और भावोंका सेवन भी मुक्तिदायक है; अतः इनका सेवन करना परम आवश्यक है।

किंतु मनुष्यको इनका सेवन करते समय अपनेको कृतकृत्य नहीं मान लेना चाहिये और इनमें आसक्त भी नहीं होना चाहिये; क्योंकि इनसे उत्पन्न ज्ञान और सुखमें आसक्ति होनेपर आगे बढ़नेमें रुकावट हो सकती है। भगवान्‌ने भी अर्जुनसे कहा है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥
(गीता १४ । ६)

'हे निष्पाप अर्जुन ! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है। वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् उसके अभिमानसे बाँधता है ।

अतः इस बातपर विशेष ध्यान रखना चाहिये कि सात्त्विक पदार्थों, सात्त्विक क्रियाओं और सात्त्विक भावोंका सेवन तो करें, परंतु सेवन करके अपनेमें सात्त्विकताका—अच्छेपनका अभिमान न करें ।

उपर्युक्त तामस, राजस और सात्त्विक भावों आदिकी पहचानके लिये इनका परस्पर भेद समझना आवश्यक है। तमोगुणमें मोह और अज्ञान अधिक है, बुद्धिका प्रकाश बहुत ही कम है और उत्तम क्रियाका अभाव है; किंतु रजोगुणमें तमोगुणकी अपेक्षा मोह और अज्ञान कम है, बुद्धिका प्रकाश कुछ अधिक है और सकामभावसे उत्तम क्रियाओंका बाहुल्य है । इस लिये तमोगुणकी अपेक्षा रजोगुण श्रेष्ठ है। किंतु रजोगुणकी अपेक्षा सत्त्वगुण तो बहुत ही श्रेष्ठ है; क्योंकि उसमें मोह और अज्ञान लेशमात्र हैं, बुद्धिका अतिशय प्रकाश है और क्रिया उत्तम तथा निष्काम भावसे होती है।

अतएव जो पदार्थ, क्रिया अथवा भाव हिंसा, मोह और प्रमादसे युक्त हो तथा जिसका फल दुःख और अज्ञान हो, उसको तामस समझना चाहिये। जो पदार्थ, क्रिया अथवा भाव लोभ, स्वार्थ और आसक्तिसे युक्त हो तथा जिसका फल क्षणिक सुखकी प्राप्ति एवं अन्तिम परिणाम दुःख हो, उसको राजस समझना चाहिये। जो पदार्थ, क्रिया अथवा भाव स्वार्थ, आसक्ति और ममतासे युक्त न हो तथा जिसका अन्तिम फल परमात्माकी प्राप्ति हो, उसको सात्त्विक समझना चाहिये।

४—यथार्थ सुख

यद्यपि उपर्युक्त सात्त्विक सुख भी सत्त्वगुणसे सम्बन्ध रखनेवाला होनेके कारण असली सुखकी अपेक्षा अल्प, अनित्य और मायिक ही है, तथापि सात्त्विक पदार्थोंके सेवन, सात्त्विक क्रियाओंके आचरण और सात्त्विक भावोंके धारणको असली सुखकी प्राप्तिमें हेतु होनेके कारण 'कर्तव्य' बतलाया गया है; किंतु इनका सेवन करते समय उसमें रसास्वादका अनुभव करते हुए रमण नहीं करना चाहिये, प्रत्युत परमात्माकी प्राप्तिरूप असली सुखको लक्ष्यमें रखकर तथा स्वार्थ, आसक्ति और अभिमानसे रहित होकर साधन करते ही रहना चाहिये। इस प्रकार साधन करते-करते परमात्माकी प्राप्तिरूप असली सुख प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥
(गीता ५ । २०-२१)

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है ।

यहाँ 'विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्' में वर्णित 'सुख' 'ध्यानजनित सात्त्विक सुख'का वाचक है और 'सुखमक्षयमश्नुते' में वर्णित सुख 'परमात्माकी प्राप्ति'रूप यथार्थ सुखका वाचक है; क्योंकि इसमें 'सुख'का विशेषण 'अक्षय' दिया गया है।

इसी प्रकार—

योऽन्तस्सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
(गीता ५ । २४)

'जो पुरुष आत्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

इस श्लोकमें आत्मामें सुखवाले योगीको निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति होनेका वर्णन है, इसलिये यह सुख साधनकालका होनेसे सात्त्विक है। किंतु निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति ही यथार्थ सुख है।

तथा—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
(गीता ३ । १७)

'परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

इस श्लोकमें आत्मसंतुष्ट पुरुषके कर्तव्यका अभाव बतलाया गया है, इसलिये यह 'आत्म-संतुष्टिरूप' सुख 'परमात्मप्राप्ति'-रूप सुख है। एवं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
(गीता ६ । २१-२२)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं तथा परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्म-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता (उसको जानना चाहिये)।

यहाँ बतलाया हुआ सुख परमात्माकी प्राप्तिरूप सुख है; क्योंकि इसका विशेषण 'आत्यन्तिक' दिया गया है और यह कहा गया है कि ऐसे सुखको प्राप्त पुरुष भारी दुःख प्राप्त होनेपर भी उस परमात्मप्राप्तिरूप सुखसे विचलित नहीं होता।

इसी प्रकार भगवान्‌ने गीता अध्याय ६ श्लोक २७-२८ में बतलाया है—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

'क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन-ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।

यहाँ २७ वें श्लोकमें सुखका 'उत्तम' विशेषण और २८ वेंमें 'अत्यन्त' तथा 'ब्रह्मसंस्पर्श' विशेषण दिया गया है, अतः यह परमात्माकी प्राप्तिरूप सुख है।

इसी प्रकार भगवान्‌ने जो यह कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(गीता १४ । २७)

'क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।'

इसमें 'सुख' का विशेषण 'ऐकान्तिक' दिया गया है, अतः यह भी परमात्मस्वरूप सुख है।

इसी यथार्थ सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिको गीतामें कहीं 'ब्रह्मनिर्वाण' (गीता ५ । २४), कहीं 'निर्वाणपरमा शान्ति' (गीता ६ । १५), कहीं 'परम गति' (गीता ८ । १३), कहीं 'अमृत' (गीता १३ । १२), कहीं 'अव्यय पद' (गीता १५ । ५), कहीं 'परमधाम' (गीता १५ । ६), कहीं 'संसिद्धि' (गीता १८ । ४५), कहीं 'परम शान्ति' और 'शाश्वत स्थान' (गीता १८ । ६२) आदि नामोंसे कहा गया है।

अतएव मनुष्यजीवनका समय बहुत ही अमूल्य और क्षणिक है—यों समझकर, ममता-आसक्ति और अभिमानको छोड़कर विवेक-वैराग्ययुक्त चित्तसे उपर्युक्त यथार्थ सुखकी प्राप्तिके उद्देश्यसे मनुष्यको शास्त्रोंमें वर्णित ज्ञानयोग (गीता १८ । ५१–५५), भक्तियोग (गीता ११ । ५४–५५), कर्मयोग (गीता २ । ४७–५१) और अष्टाङ्गयोग (गीता ५ । २७–२८) आदि अनेक साधनोंमेंसे किसीका भी अनुष्ठान करनेके लिये कटिबद्ध होकर तत्परतापूर्वक प्राणपर्यन्त शीघ्रातिशीघ्र प्रयत्न करना चाहिये।

हम दुखी क्यों हैं ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

हम रात-दिन जीतोड़ परिश्रम करते हैं—चोटीका पसीना एड़ीतक बहा लेते हैं। यह क्यों ? केवल सुखके लिये—मैं सुखी हो जाऊँ, मेरी स्त्री सुखी रहे, मेरा लड़का सुखी रहे इत्यादिके लिये। दु:खको तो हम देखना भी नहीं चाहते। पर क्या सुख हमें इच्छानुसार मिल ही जाता है, अथवा क्या हम दु:खसे कभी अपना पिण्ड छुड़ा सके हैं ? कभी नहीं। चाहते हैं सुख; पर दु:ख आकर घेर लेता है। नाना प्रकारकी कामनाएँ मनमें आती रहती हैं, उनके चिन्तनमें ही रात-दिन एक कर देते हैं; पर उनमेंसे अधिकांश कामनाएँ मनमें ही मिटकर रह जाती हैं। यदि हमारी सभी कामनाएँ पूरी हो जायँ तो यह दुनिया और-की-और ही हो जाय।

उपनिषद्का वाक्य है कि जिस प्रकार अनन्त आकाशको चमड़ेकी तरह लपेट लेना असम्भव है, वैसे ही परमात्मा अथवा आत्माके ज्ञानके बिना दु:खका नाश असम्भव है। दु:खका नाश तो तभी सम्भव है, जब हम अपने स्वरूपको तत्त्वसे जान लेंगे।

दु:ख-सुख वास्तवमें है क्या—यह जान लेना भी सुखकी प्राप्तिमें और दु:खको दूर करनेमें सहायक है। प्राय: हम कहा करते हैं कि दु:ख-सुख प्रारब्धका भोग है, इसलिये बिना भोगे यह दूर होनेको नहीं। पुण्यका फल सुख और पापका फल दु:ख हमें भोगना ही पड़ेगा। पर विचार करनेसे यह बात जँचती नहीं। सुख-दु:ख प्रारब्ध नहीं हैं—ये तो केवल अपने मनकी मान्यताएँ हैं। प्रारब्ध तो केवल परिस्थितिको लाकर सामने उपस्थित कर देता है। पर उसमें सुख या दु:ख मान लेना यह तो प्रारब्धका नहीं—मनका काम है। सुनते हैं कि नारदजीकी माता मर गयी तो वे बहुत प्रसन्न हुए। वैसे ही नरसी भगत भी अपने एकमात्र पुत्रकी अचानक मृत्युपर दुखी नहीं हुए, किंतु भगवान्‌की लीलाको जानकर नाचने लगे। हम भी ऐसे ही कर सकते हैं। इस लेखके दीन लेखकने अपनी आँखोंसे कितने ऐसे स्त्री-पुरुषोंको देखा है, जो विकट-से-विकट परिस्थिति पड़नेपर भी मनमें विकार नहीं उत्पन्न होने देते। अत: यह सिद्ध हो जाता है कि जिसको सुख-दु:खका विवेक है, वही प्रतिकूल परिस्थितिमें भी प्रसन्न रह सकता है। ऐसे पुरुष वास्तवमें पूज्य हैं—उन्हींके लिये दु:ख भी दास बनकर सुखके रूपमें बदल जाता है।

जो भाग्यवादी हैं, उनको चाहिये कि प्रतिकूल तथा अनुकूल परिस्थितिमें पूर्ण शान्त बने रहें, चिन्ता और भयको पास नहीं फटकने दें। जो होनेको होगा, वह तो होकर ही रहेगा और जो होनेका नहीं, वह लाख उपाय करनेपर भी नहीं होगा। फिर हम सिर क्यों फोड़ें। अपने कर्तव्यका पालन उचित रीतिसे करते रहना चाहिये। फल तो कर्मके अनुसार मिलता ही रहेगा। अपने मनको ऐसा दृढ़ बना लीजिये कि वह पदार्थोंके आनेपर फूल न जाय और उनके चले जानेपर उदास न हो। यही तो योग है। घर बैठे योगी बन जाइये। एक संतने कितना सुन्दर कहा है—

> आवत हर्ष न ऊपजै, जावत सोक न होय।
> ऐसी रहनी जो रहै, घरमें जोगी सोय॥

ऐसे ही यदि आप ईश्वरभक्त हैं तो जैसी भी परिस्थिति आ पड़े—अनुकूल चाहे प्रतिकूल, उसको आप प्रभुका प्रसाद समझकर प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करें। वे परम सुहृद् हैं; जो कुछ करते हैं, सब आपके हितके लिये ही। कोई भी माँ-बाप अपनी संतानका अहित नहीं चाहता। फिर जो सारे जगत्‌के पिता हैं, सर्वसामर्थ्यवान्, भक्तवत्सल और स्वार्थरहित हैं—वे अपने दासका अहित कैसे कर सकते हैं। वे तो पग-

पगपर क्षण-क्षणमें हमारे कल्याणके लिये ही सुख-दु:खका नया-नया विधान बनाते रहते हैं। वह भक्त नहीं, जो भगवान्‌के दिये हुए परम प्रसाद—सुख-दु:खको स्वीकार करनेके लिये तैयार न हो। भगवान् तो परम कृपा करके हमारे उत्थानके लिये ही सुख-दु:ख भेजा करते हैं।

इस प्रकारसे विचार करनेपर सिद्ध हो जाता है कि ईश्वरकी कृपापर निर्भर रहनेवाला भक्त तथा प्रारब्धवादी मनुष्य सुख-दु:खकी परवा नहीं करता। अतः दु:ख भी उससे दूर ही भागता रहता है। दु:ख और मृत्यु—ये दोनों उन्हींके पास दौड़ते हैं, जो इनसे भय खाता है। जरा अकड़कर खड़े हो जाइये—तो दु:ख भी दुम दबाकर भाग जायगा।

जो भी मनुष्य सुख चाहता हो, उसे संसारसे कुछ भी लेनेकी आशा नहीं रखनी चाहिये। इस क्षणभङ्गुर तथा अनित्य संसारसे मिल ही क्या सकता है। जो कुछ भी मिलेगा, उससे वियोग तो अवश्य होगा। और वियोगमें ही दु:ख निहित है। अतः सबकी सेवा तत्परतापूर्वक करते चले जाइये, पर उसके बदलेमें कुछ लीजिये नहीं तो आप देखेंगे कि प्रसन्नता आपके पाससे कहीं जायगी नहीं। सभी आपसे प्रेम करेंगे तथा उनकी सद्भावना मिलते रहनेसे आपका जीवन सुखपूर्ण हो जायगा। काम, क्रोध, लोभ—ये आपके अन्तःकरणसे निकलकर नष्ट हो जायँगे और आपका हृदय प्रभुका मन्दिर बन जायगा। आप संसारके ऋणसे मुक्त होकर कृतकृत्य हो जायँगे। सदा स्मरण रखिये—'प्रतिकूल परिस्थिति प्रभुका प्रसाद है।'

गीतामें स्वधर्मका स्वरूप

(लेखक—श्रीमिश्रीलालजी ऐडवोकेट)

जिज्ञासा

'कल्याण' अङ्क ८ सन् १९५८ के 'गीतामें श्रेयःका प्रश्न' शीर्षक लेखमें दिखलाया गया था कि श्रेयःसिद्धिका साधन 'स्वधर्म' का पालन है। उसके अतिरिक्त भी श्रीमद्भगवद्गीतामें 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'के सिद्धान्तानुसार स्वधर्मके पालनमें प्राणोंतकके चले जानेकी चिन्ता न करनेका उपदेश है और यह भी आदेश है—'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्' अर्थात् स्वधर्मको सदोष होनेपर भी न त्यागे। उधर स्वधर्मकी अदम्य प्रवृत्तिका इतना बलवती होना वर्णन किया है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(गीता ३। ३३)

अर्थात् प्राणिमात्र प्रकृतिके अनुकूल आचरण करते हैं। एक ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुकूल ही चलता है। कारण कि भूतमात्र प्रकृतिके वशमें हैं और प्रकृतिकी प्रवृत्तिको रोकनेमें समस्त प्रयास प्रायः व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं। इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कह दिया था—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥
(गीता १८। ५९-६०)

अर्जुन! यदि तुझे यह अहंकार हो कि युद्धमें प्रवृत्त होना अथवा न होना तेरे हाथमें है तो तेरा यह विचार और प्रयास व्यर्थ है। तेरे क्षत्रियधर्मका स्वभाव तुझे युद्ध करनेके लिये विवश कर देगा। स्वाभाविक प्रवृत्तिमें अदम्य शक्ति होती है। श्रीकृष्ण जानते थे कि अर्जुन सच्चा क्षत्रिय है, एक अवसरपर उन्होंने अर्जुनसे कहा था—

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥
(गीता १६। ५)

'अर्जुन! तू शोक मत कर, दैवी गुणोंके प्रभावसे तेरी प्रकृति ओतप्रोत है।' निष्कर्ष यह है कि जब स्वधर्मकी इतनी महिमा और इतनी शक्ति है, तब उससे लाभ उठानेके लिये प्राणिमात्रको उसके स्वरूप और तत्त्वसे भलीभाँति परिचित होना चाहिये।

स्वधर्मका स्वरूप

स्वधर्मका शब्दार्थ तो बहुत सरल प्रतीत होता है, परंतु उसका भाव कुछ गूढ़ है। 'धर्म' शब्दके भी अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होनेके कारण किसी विशेष स्थानपर उसके सही अर्थको न समझकर दूसरा अर्थ लगानेसे अर्थका अनर्थ हो जाता है। अतः गीतामें वर्णित 'स्वधर्म' शब्दके असली भावको समझनेमें भी कठिनाई रहती है।

यहाँपर स्वधर्मका अभिप्राय किसी मत-मतान्तरसे नहीं है; उससे हिंदू, मुसल्मान, ईसाई आदिका मतलब नहीं समझना चाहिये। गीतामें 'स्वधर्म' शब्द स्वाभाविक कर्तव्य कर्मके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी एवं डाक्टर, वैद्य, दूकानदार, अध्यापक, जज आदिके नामको सार्थक करनेवाले उनके स्वाभाविक सच्चे गुणोंका समावेश हो। 'स्वधर्म' शब्दका ऐसा ही अर्थ होनेका प्रमाण गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशमें मिलता है, जो उन्होंने अर्जुनको दिया था। उसमें कहा गया है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
(गीता २। ३१)

'स्वधर्मके विचारसे भी तुझे युद्धसे नहीं हटना चाहिये। धर्मयुद्धसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म क्षत्रियके लिये नहीं है।' पुनः कहा गया है—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
(गीता २। ३३)

'यदि तू इस धर्मयुद्धको नहीं करेगा तो स्वधर्मसे च्युत हो जायगा और पाप तथा अपकीर्तिका भागी बनेगा।'

स्वधर्मको सहज धर्म अथवा सहज कर्म भी कहते हैं। सहजका शब्दार्थ तो है—जो जन्मके साथ उत्पन्न हो; परंतु व्यक्तमें उन प्रवृत्तियोंको भी, जो जन्मके पश्चात् स्वभावका अङ्ग बन जाती हैं, सहजधर्म कहा करते हैं। गूढ़-भाव यह है कि स्वधर्मको स्वभावका अङ्ग होना चाहिये और उसके पालनमें कर्तव्यपरायणताकी भावना इतनी प्रबल होनी आवश्यक है कि मनुष्य स्वधर्मके त्याग और अवहेलनाको मृत्युसे अधिक दुःखदायक समझे।

यहाँपर यह शङ्का उठनी स्वाभाविक है कि यदि स्वभावाङ्ग होना स्वधर्मका लक्षण है और उसे सदोष होनेपर भी त्यागना नहीं चाहिये तो दैवी गुणोंसे युक्त स्वधर्मके पालनार्थ तो यह *नियम उचित है परंतु क्या काम, क्रोधादि आसुरी गुणोंके* स्वभावाङ्ग बन जानेपर भी 'न त्यजेत्' का सिद्धान्त लागू होगा?

इस शङ्काका समाधान गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके निम्नलिखित वाक्योंसे होता है। उन्होंने कहा है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। २०)

'आसुरी स्वभाववाले मूर्ख प्राणी भगवान्‌को न पाकर जन्म-जन्मान्तरमें अधम योनियोंमें भ्रमते रहते हैं।' पुनः कहा है कि आसुरी प्रकृतिके मूल कारण, नरकके तीन द्वार काम, क्रोध और लोभ हैं। अतः—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(गीता १६। २२)

'नरकके तीनों द्वार काम, क्रोध और लोभसे जो बचा रहता है, उसकी आत्माका कल्याण होता है और वह परमगतिको प्राप्त होता है।'

इन उद्धरणोंसे सिद्ध होता है कि आसुरी प्रकृतिके गुण स्वभावाङ्ग हो जानेपर 'स्वधर्म' की परिभाषामें नहीं आते। वे तो निषिद्ध कर्म हैं और त्याज्य हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने तो यह कहा है कि निषिद्ध कर्म ही नहीं, अपितु समस्त काम्यकर्मोंको, जो मन और इन्द्रियोंकी प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं, त्याग देना चाहिये। करनेके कर्म तो उन्होंने केवल वे बतलाये हैं, जो यज्ञ, दान और तपकी परिभाषामें आ जाते हैं। यज्ञ, दान और तपको उन्होंने **'पावनानि मनीषिणाम्'**—मननशील पुरुषोंको पवित्र कर देने-वाला बतलाया है। परंतु उसके साथ यह भी कहा है कि उनके करनेमें स्वार्थको स्थान नहीं, भोग-विलास अथवा लोकैषणा उनका उद्देश्य नहीं और स्वर्ग-प्राप्तिकी कामनाका भी उनमें प्रवेश नहीं। तीनों निस्स्वार्थभावसे लोक-कल्याणके लिये किये जाते हैं। भेद केवल इतना है कि तप व्यक्तिगत उत्थानके लिये, दान दूसरोंकी उन्नतिके लिये और यज्ञ

विश्वकल्याणकी भावनासे किये जाते हैं। उनमें भी बड़े हितोंके आगे छोटे हितोंको त्याग दिया जाता है और इस प्रकार यज्ञ, दान और तपके रूपमें स्वधर्मका पालन किया जाता है। आसुरी भावनाओंके लिये चाहे वे मनुष्यके स्वभावका अङ्ग बन गयी हों, स्वधर्मके क्षेत्रमें कोई स्थान नहीं।

सदोष होनेपर भी स्वधर्मको न त्यागे, इस आदेशमें दोषका आशय आसुरी प्रकृति नहीं है; किंतु दैवी गुणोंमें ही एक दूसरेके तारतम्यमें कम गुणवाला होना समझना चाहिये। अतः कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
(गीता ३। ३५; गीता १८। ४७)

दूसरोंके सुचारुरूपसे सम्पादित होनेवाले तथा अधिक फल देनेवाले गुणोंकी अपेक्षा यदि अपने कर्तव्य धर्म (स्वधर्म) में कम गुण भी हों, तो भी अपना स्वधर्म ही श्रेयस्कर है। इस भावको अधिक दृढ़ताके साथ चित्तमें धारण करनेके लिये गीताका यह ऊपर उद्धृत श्लोकार्द्ध तीसरे तथा अठारहवें अध्यायमें दो बार आया है। अतः सदोषका भाव विगुण है, जो सापेक्ष गुणरहित होनेके अर्थमें है।

स्वधर्मके स्वरूपकी जिज्ञासाके प्रस्तुत विषयपर पुनः आते हुए गीताने स्वधर्मको नियत कर्म भी कहा है और आदेश दिया है—

नियतं कुरु कर्म त्वम्। (गीता ३। ८)

अर्थात् 'तू अपने नियत कर्मका पालन कर' और यह भी कहा है—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥
(गीता १८। ७)

'नियत कर्मका त्याग नहीं होना चाहिये। यदि मोह अथवा अज्ञानवश उसका त्याग किया जाता है तो ऐसा त्याग तमोगुणी त्याग माना जायगा।'

ये नियत कर्म तीन प्रकारके होते हैं—(१) प्राकृतिक, (२) सांसिद्धिक और (३) नैमित्तिक।

(१) प्राकृतिक—जो प्रकृति अर्थात् ईश्वरकी रची हुई सृष्टिके नियमानुकूल नियत हैं और जिनको सृष्टिकी रचनाके साथ ही रचा गया है। सोना, जागना, खाना, पीना, शौच, लघुशङ्का इत्यादि प्राकृतिक कर्म नियत कर्मोंके उदाहरण हैं। यदि इनको न किया जाय अथवा अनियमित रूपसे किया जाय तो ये हानिकारक सिद्ध होंगे।

(२) सांसिद्धिक—जो पूर्वजन्मके संस्कारोंद्वारा, माता-पिताके गुणोंसे उनके रजोवीर्यद्वारा अथवा समाजके संसर्गद्वारा प्राप्त तथा उपार्जित हैं अथवा कर्तव्यकर्म समझकर अभ्यासद्वारा स्वभावके अङ्ग बन गये हों।

(३) नैमित्तिक—जो मनुष्यकी किसी विशेष परिस्थितिवश किसी विशेष निमित्तसे नियत किये गये हों—जैसे गृहस्थपालनके निमित्त व्यापारादि करनेके लिये नियत कर्म।

उपर्युक्त तीनों प्रकारके नियत कर्म शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक समस्त क्षेत्रोंमें समानरूपसे आचरणीय हैं। जिस प्रकार दैनिक कार्यक्रम और दिनभरके परिश्रमके कारण शारीरिक थकानको तथा पसीने और रेत-मिट्टी आदिसे मैले हो जानेवाले देहके अङ्गोंके मैलको विश्राम, स्नान, हाथ-मुँहके प्रक्षालन आदिद्वारा प्रतिदिन दूर किया जाता है और जिस प्रकार रात्रिके शयनके पश्चात् प्रातःकाल शौचादि तथा दन्तधावन आदिद्वारा शारीरिक क्षेत्रमें शरीरकी स्वच्छता एवं स्वस्थता स्थिर रखी जाती है, उसी प्रकार संसारमें रहते हुए अनेक अवसरोंपर काम, क्रोध, लोभ, मोहादिके वातावरणमें आनेसे मानसिक क्षेत्रमें भी राग-द्वेषादिका अज्ञात प्रभाव मन और बुद्धिपर पड़ता है, जिससे काम-क्रोधादिके संस्कार चित्तपर जमने लगते हैं। यदि इन संस्कारोंका शोधन दिन-प्रति-दिन न कर दिया जाय तो वे भी संचित और परिवर्धित होकर एक दिन मनुष्यके स्वभावमें भीषण विकार उत्पन्न कर देते हैं। अतः उनको भी दूर करनेके लिये शारीरिक शौच-स्नानादिकी भाँति प्रतिदिन संध्या, जप, तप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि मानसिक साधनोंका प्रयोग करना पड़ता है। इसी प्रकार मायाके वशीभूत होकर दिन-रात अपना-विराना करते हुए स्वार्थ और भेदभावके वातावरणमें मनुष्यके आध्यात्मिक विचार भी मलिन हो जाते हैं। अतः उनके लिये भी नित्य नियमसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन अथवा ईश्वरचिन्तन आदि आवश्यक हैं। इन नियत कर्मोंको 'नित्यकर्म' कहते हैं और नियमितरूपसे करनेके लिये शास्त्रोंमें नित्यकर्मपद्धतिका विधान है। अवस्था और परिस्थितिके अनुसार इन नित्य कर्मोंमें परिवर्तन हो सकता है, परंतु उनकी अवहेलना नहीं हो सकती। अवहेलना करनेसे हानि होती है।

प्रकृतिद्वारा नियत कर्मोंके सम्बन्धमें गीतामें श्रीकृष्णने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
(४ । १३)

'मैंने (ईश्वरने) चारों वर्णोंके आधाररूप धर्मोंको गुण और कर्मोंके सिद्धान्तपर, 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' सृष्टिमें प्रजाके साथ-साथ रचकर—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥
(१८ । ४१)

—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चारों वर्णोंके कर्म स्वाभाविक गुणोंके आधारपर विभाजित कर दिये हैं ।'

इसमें संदेह नहीं कि सृष्टिको चलानेके लिये जीवोंकी उत्पत्तिके साथ उनके कर्मोंके रचनेकी भी आवश्यकता थी; परंतु सृष्टिकी रचनाके पश्चात् समाजको सुचारुरूपसे चलानेके लिये चारों वर्णोंके अनुरूप कार्यविभाग करना भी अनिवार्य था । अतः स्मृतियोंद्वारा उसके नियम बनाकर चारों वर्णोंके सामाजिक कर्म नियत किये गये । इन स्मृतियोंमें मनुस्मृति प्रधान स्मृति समझी जाती है । अतः गीता और मनुस्मृतिमें वर्णित चारों वर्णोंके कर्मोंका परस्पर मिलान करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीतोक्त वर्णधर्म प्रकृतिनियत हैं और मनुस्मृतिमें वर्णित प्रत्येक वर्णके धर्म समाजसंगठनके विचारसे निर्धारित किये गये हैं ।

गीतोक्त ब्राह्मणधर्म

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
(१८ । ४२)

'शम (मनकी शान्ति), दम (इन्द्रियोंकी शान्ति), तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक लक्षण हैं ।'

मनुस्मृतिमें वर्णित ब्राह्मणधर्म

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
(१ । ८८)

'पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना, लेना—ये कर्म ब्राह्मणोंके लिये नियत किये गये ।

गीतोक्त क्षत्रियधर्म

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥
(१८ । ४३)

'शूरवीरता, तेज (प्रताप), धैर्य, कार्यकौशल, युद्धमें पीठ न दिखाना, दानशीलता और शासन करनेकी क्षमता—ये क्षत्रियके स्वाभाविक धर्म हैं ।

मनुस्मृतिमें वर्णित क्षत्रिय-धर्म

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥
(१ । ८९)

'प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और सांसारिक भोगविलासमें अधिक प्रीति न होना संक्षेपतः ये क्षत्रियके लिये निर्धारित किये हुए कर्म हैं ।

इसी प्रकार वैश्य और शूद्रोंके जो कर्म गीता और मनुस्मृतिमें वर्णन किये गये हैं, उनके मिलानेसे प्रकट होता है कि गीतोक्त वर्णधर्म सैद्धान्तिक हैं, शाश्वत हैं, और गुण तथा स्वभावके आधारपर सृष्टिके साथ रचे गये हैं; मनुस्मृतिमें निर्धारित वर्णधर्म समाजकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये नियत किये गये हैं । चारों वर्णोंके सम्बन्धमें मनुस्मृति तो कहती है कि अमुक-अमुक वर्ण अमुक-अमुक धर्मोंका पालन करे और गीता कहती है कि जो अमुक-अमुक धर्मोंका स्वभाव रखते हैं, वे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हैं । दोनों प्रकारके धर्मोंके शील और स्वरूपमें श्रुति और स्मृतिके समान सिद्धान्तोंका भेद है । गीतोक्त वर्णधर्म श्रौत धर्मोंके समान हैं, जो परिस्थितिके अनुकूल नहीं बताये गये, अपितु परिस्थिति उनके अनुकूल बना करती है । मनुस्मृतिमें वर्णित धर्म स्मार्त हैं, जो समाजको ठीक प्रकारसे चलानेके लिये परिस्थितिके अनुकूल बनाये गये हैं और परिस्थितिके अनुकूल समय-समयपर बदलते भी रहते हैं । सम्भवतः जन्मसे जातिका नियम भी समाज-संगठनके सिद्धान्तपर ही अवलम्बित है । परंतु जन्मसे जाति होती है अथवा गुण, कर्म और स्वभावसे—यह प्रश्न यहाँपर नहीं है । जन्मसे हो अथवा गुण, कर्म, स्वभावसे—यदि वर्णधर्मकी प्रवृत्तियाँ मनुष्यका स्वभाव बन जाती हैं और उसके कर्म परिस्थितिजन्य अथवा प्रकृतिजन्य नियत कर्मोंकी कोटिमें आ

जाते हैं तो उन प्रवृत्तियोंको भी मनुष्यका स्वधर्म ही माना जायगा और स्वधर्म-पालन करनेके सिद्धान्त दोनों अवस्थाओंमें लागू होंगे। वस्तुतः आवश्यकता दोनों प्रकारकी प्रवृत्तियोंकी है। गीतामें वर्णित वर्णधर्म, जो स्वभाव और गुणोंके आधारपर हैं, यदि पारमार्थिक क्षेत्रके लिये आवश्यक हैं, तो मनुस्मृतिद्वारा निर्धारित धर्म भी समाजसंगठनके लिये उपादेय हैं। धर्मका लक्षण भी 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' के अनुसार संसारमें अभ्युदय और मरणानन्तर मुक्तिलाभ दोनोंको आवश्यकीय बतलाता है। अतः दोनों स्वधर्म हैं। भेद केवल इतना है कि स्वभावनियत धर्ममें प्रकृति स्वयं स्वधर्मानुकूल आचरण करनेके लिये मनुष्यको बाध्य करती है और समाज-क्षेत्रमें कर्तव्यपरायणताकी तीव्र भावना एवं परिस्थिति नियत कर्मोंको करनेके लिये प्रेरित किया करती हैं।

स्वधर्म-पालनके नियम

स्वधर्मका स्वरूप जाननेके साथ ही स्वधर्मके पालनकी विधिका भी जानना आवश्यक है। प्रत्येक कार्यके करनेकी सफलता उसके सम्पादनकी विधिपर निर्भर रहती है। अतः स्वधर्म-पालन करनेमें निम्नोक्त नियमोंपर ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) स्वधर्ममें गुण और दोष देखनेकी आवश्यकता नहीं।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि निषिद्ध और काम्यकर्म तो स्वधर्मकी परिभाषामें आते नहीं; जो आते हैं उनमें यह नहीं देखना चाहिये कि मेरे कर्मसे दूसरेका कर्म ऊँची कोटिका है, अथवा मेरा कम लाभदायक है और दूसरोंका अधिक लाभदायक है। कर्मयोगका मौलिक सिद्धान्त '**कर्मण्येवाधिकारस्ते**' है, जिसके अनुसार कर्तव्यपालनमें सुख-दुःख, अच्छा-बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल, अथवा सरल और कठिन नहीं देखा जाता। केवल कर्म करनेकी धारणा स्थिर रखी जाती है। कार्यके गुण-दोषका विचार उसके फलमें आसक्तिकी ओर संकेत करता है, अतः स्वधर्ममें गुणदोष देखना फलासक्तिपूर्वक स्वधर्मका सम्पादन करना है, जो वर्जित है। गीतामें कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥
(१८।४८)

'स्वाभाविक कर्म (स्वधर्म) चाहे दोषयुक्त हो—त्यागना नहीं चाहिये। क्योंकि कर्म कोई भी ऐसा नहीं है, जिसमें अग्निमें धूँएकी भाँति किसी-न-किसी प्रकारका दोष न हो। इस विषयमें यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि सब कर्म ईश्वरके हैं। उसने जिस-जिसको जो-जो कर्म करनेका विधान किया है, उस-उस कर्मको करके ईश्वरकी आज्ञाका पालन करना चाहिये।

(२) स्वधर्मके पालन करनेमें आलस्य और प्रमाद नहीं करना चाहिये।

जब कि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' के अनुसार मृत्युका भी भय न करके स्वधर्म-पालन करनेका विधान है, तब फिर उसमें आलस्य और प्रमादको स्थान कहाँ है।

(३) स्वधर्म-पालनमें नियमबद्ध रहना चाहिये। गीता कहती है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
(६।१७)

'आहार, विहार, रहना-सहना तथा अन्य चेष्टाओंको एवं सोने, जागने आदिको विधिवत् और नियमपूर्वक करना चाहिये। ऐसा करना एक महायोग है, जो बड़े-बड़े कष्टों और दुःखोंका नाश करनेमें समर्थ है।'

(४) स्वधर्म-पालनमें कर्म-त्याग नहीं, फल-त्याग होना चाहिये। गीता कहती है—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
(१८।७)

स्वधर्मका त्याग वर्जित है। पुनः—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥
(१८।९)

नियतकर्मको कर्तव्यधर्म समझकर आसक्ति और फलेच्छाके त्यागपूर्वक करना चाहिये। ऐसा त्याग सात्त्विक त्याग कहलाता है। पुनश्च—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकमुच्यते॥
(१८।२३)

'नियत कर्मको कर्तृत्वाभिमान त्यागकर रागद्वेषकी भावना तथा फलकी कामनासे रहित होकर करना सात्त्विक कर्म कहलाता है।'

धार्मिक कर्मसे चित्तकी शुद्धि और चित्तकी शुद्धिद्वारा परमपदकी प्राप्ति होती है।

स्वधर्मके पालन करनेके सम्बन्धमें उपर्युक्त नियमोंपर विचार करनेसे यह स्पष्टतया समझमें आ जाता है कि स्वधर्मके आचरणमें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—तीनोंका पर्याप्त समावेश है। ऊपर—उद्धृत श्लोकोंसे कर्मयोगका साधन प्रयुक्त होना तो स्पष्ट है। परंतु इसीके साथ जो अपने प्रत्येक कर्मको भगवान्‌का कर्म समझकर उसे करते हैं, वे भक्तियोगके मार्गका भी अवलम्बन लेते हैं। इस सम्बन्धमें नीचेका उद्धृत एक प्रमाण ही पर्याप्त होगा। गीता कहती है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(१२।६-७)

'जो अपने कर्मको मेरे (ईश्वरके) ऊपर छोड़ देते हैं और मुझ भगवान्‌में ही अनन्यभक्ति रखते हैं, उनको मैं (ईश्वर) मृत्युरूपी संसार-सागरसे शीघ्र ही पार कर देता हूँ।'

इसी प्रकार स्वधर्म-पालनमें ज्ञानयोगका साधन भी काममें आता है। प्रमाणके लिये देखिये नीचेके उदाहरण—

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।
(गी० ३।२८)

सत्त्व, रज, तम—तीनों गुण ही कारणरूपसे अपने-अपने कार्यमें विद्यमान रहते हैं। पुरुष कुछ नहीं करता—यह भावना स्वधर्म-पालनमें कर्तृत्वाभिमानके त्यागमें रहती है। अतः सांख्यसिद्धान्तके अनुसार यह ज्ञानयोग है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
(गी० ४।२४)

सब कर्म ब्रह्मरूप हैं, सब साधन भी ब्रह्मरूप हैं, करनेकी समस्त शक्तियाँ भी ब्रह्मरूप हैं और सब कर्मोंका फल भी ब्रह्मको ही प्राप्त होता है। फलासक्ति त्यागकर स्वधर्म-पालन करनेवालेकी यही भावना रहती है, अतः वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार यह ज्ञानयोग है।

स्वधर्मका माहात्म्य

इसके पश्चात् स्वधर्म-पालन करनेके माहात्म्यको विचारिये तो वह मुक्तिका द्वार है और श्रेयःसिद्धिका साधन है। स्वधर्म-पालनके माहात्म्यके सम्बन्धमें गीता कहती है—

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।
(१८।४७)

स्वभावद्वारा नियत कर्म अर्थात् स्वधर्मके पालन करनेसे मनुष्य समस्त प्रकारके पापोंसे बचा रहता है।

पुनः—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
(१८।४५)

अपने-अपने कर्तव्य कर्म (स्वधर्म) को पूर्णयोगसे पालन करता हुआ पुरुष मुक्तिपदका लाभ करता है। और यह लाभ किस प्रकार होता है, इस सम्बन्धमें स्वयं प्रश्न उठाकर गीता कहती है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८।४६)

जिस ईश्वरने सृष्टिको रचकर जीवों और जीवोंके कर्मोंको बनाया है, उन कर्मोंको करते हुए मनुष्य ईश्वरकी आज्ञाओंका पालन करता है और यह उसकी सर्वोच्च पूजा और आराधना है, जिससे वह मोक्षका अधिकारी बनता है।

उपसंहार

स्वधर्मके स्वरूप और माहात्म्यका उपर्युक्त उपदेश गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको एक निमित्त बनाकर मनुष्यमात्रके हितार्थ दिया है। प्राणिमात्रका कर्तव्य है कि वह उसपर चलकर कल्याणपदकी प्राप्तिका अधिकारी बने।

रोष न रसना खोलिये बरु खोलिअ तरवारि।
सुनत मधुर परिनाम हित बोलिअ बचन बिचारि॥
(दोहावली)

मानसमें श्रीहनुमच्चरित्र

(लेखक—श्रीकुन्दनलालजी नन्दौरया)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

अब हनुमान्जी सोचते हैं कि माता सीताजीने कह तो दिया परंतु तीन बारके कहनेपर ही सुत-स्वीकारोक्तिकी प्रामाणिकता ठहरायी जाती है, जैसा कि दानिशिरोमणि सर्वेश परम प्रभुने स्वायम्भुव मनु और शतरूपाजीको वर देनेके समय कहा था—

पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य पन सत्य हमारा॥

अतएव हनुमान्जी कहते हैं—

सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु प्रताप तें गरुडहि खाइ परम लघु ब्याल॥

महावीरकी ऐसी निरभिमान वाणीको सुनकर माताने—

आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना। होहु तात बल सील निधाना॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥

हनुमान्जी अपने लिये दूसरी बार सुतका सम्बोधन सुना 'करहुँ कृपा' ऐसा सुनकर पूर्ण प्रेममें मग्न हो जाते हैं और ऐसी प्रेममयी अवस्थामें बारंबार माता सीताजीके चरणोंमें सिर नवाकर कहते हैं—

अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता। आसिष तव अमोघ बिख्याता॥
सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा॥

अब माताजी तीसरी बार सुतका सम्बोधन इस प्रकार करती हैं—

सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी। परम सुभट रजनीचर भारी॥

अरे! अभी कुछ क्षणोंके पूर्व ही तो उन्होंने अपने सुतको—

कनक भूधराकार सरीरा। समर भयंकर अतिबल बीरा॥

—देखा है; परंतु इसे वे भूल जाती हैं और अपने नन्हे सुतके लिये उनके हृदयमें वात्सल्य छलकने लगता है। वास्तवमें माताके इस वात्सल्यमय स्नेहका पान करनेके लिये ही तो हनुमान्जीको एकाएक अतिशय भूख लगती है। इस प्रकार पतिपरायणा, सती-साध्वी सीता-ऐसी माताके अब वे एक विश्वासी, आशिषयुक्त एवं वात्सल्य-स्नेहसिक्त सुत बन जाते हैं। ऐसे शक्तिशाली साधनोंसे सुसज्जित हो तदनन्तर वे कहते हैं—

तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं। जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं॥

माता अपने बच्चेको भूखा कैसे देख सकती है! अतएव—

देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकीं जाहु।
रघुपति चरन हृदयँ धरि तात मधुर फल खाहु॥

इसी बहाने लङ्काको जलाकर और चिह्नस्वरूप चूड़ामणि लेकर तथा—

जनकसुतहि समुझाइ करि बहु बिधि धीरजु दीन्ह।
चरन कमल सिरु नाइ कपि गवनु राम पहिं कीन्ह॥

लौटनेपर यह टोली देखती है—

फटिक सिला बैठे द्वौ भाई। परे सकल कपि चरनन्हि जाई॥

इतना महान् गौरवशाली कार्य कर आनेपर भी हनुमान्जी अपने शीलके कारण, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सबके पीछे चुपचाप खड़े रहते हैं। वे तो इतना भी कहना नहीं चाहते कि माता सीताजीने उन्हें सुत स्वीकार कर लिया है; क्योंकि ऐसे कथनमात्रतकमें उन्हें गर्वकी गन्ध मालूम पड़ती है। अतएव उनकी ओर इङ्गित करते हुए—

जामवंत कह सुनु रघुराया। जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया॥
ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर। सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर॥
सोइ बिजई बिनई गुन सागर। तासु सुजसु त्रैलोक उजागर॥

सीताजीके सुत बनकर आनेका पहला संकेत श्रीरामजीको यहीं मिल जाता है; क्योंकि उनके पुत्रोंके लिये भी ये ही विशेषण प्रयोगमें आये हैं।

यथा—

दुइ सुत सुंदर सीताँ जाए। लव कुस बेद पुरानन्ह गाए॥
दोउ बिजई बिनई गुनमंदिर। हरि प्रतिबिंब मनहुँ अति सुंदर॥

तत्पश्चात् उनके नामका उल्लेख करते हुए जाम्बवंतजी कहते हैं—

नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी॥
पवन तनय के चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए॥

अब हनुमान्जीसे पहला प्रश्न श्रीरामजी ऐसा कर देते हैं, जिससे जानकीजीकी दशाकी जानकारी प्राप्त हो जाय और

साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाय कि हनुमान्‌जी सच्चे अर्थमें सीताजीके सुत बनकर आये हैं। प्रश्न है—

कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की॥

श्रीरामजी 'आपन चरित कहा हम गाई' के अनुसार हनुमान्‌जीको सुना चुके हैं कि साथमें ले चलनेके लिये जानकीजीने कहा था—

प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥

× × × ×

बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥
अस जियँ जानि सुजान सिरोमनि। लेइअ संग मोहि छाड़िअ जनि॥

× × × ×

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचन बियोगु न सकी सँभारी॥

और फिर शृङ्गवेरपुरमें सुमन्त्रजीको विदा करते समय भी कहा है—

प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई॥
आदि-आदि

तो अब किस प्रकार प्राणोंकी रक्षा करते हुए रहती हैं? —इस प्रश्नमें हनुमान्‌जीको माताजीके प्रति व्यङ्ग्यात्मक पुट मालूम पड़ती है, अतएव—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥
(मनुस्मृति २। १४५)

अर्थात् उपाध्यायसे दसगुना आचार्यका, आचार्यसे सौगुना पिताका और पितासे हजारगुना बड़प्पन माताका है।'

—इस शास्त्रोक्तिके अनुसार श्रीरामजीके—'रहति करति रच्छा स्वप्रानकी'—इस गूढ़ प्रश्नका उत्तर देते हुए हनुमान्‌जी स्वयं प्रश्न कर बैठते हैं, यथा—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

ऐसा खरा उत्तर पाकर श्रीरामजी दंग रह जाते हैं और उन्हें निश्चय हो जाता है कि सीताजीने हनुमान्‌जीको सुतके रूपमें स्वीकार कर लिया है। इसी कारण हनुमान्‌जी अपनी माताका पक्ष लेकर अपने शीलके विपरीत उत्तर माँगनेका साहस कर रहे हैं, इस प्रकार श्रीरामजीको निरुत्तर देखकर हनुमान्‌जी चूड़ामणि देते हैं, फिर जनककुमारीका दुःखपूर्ण संदेश सुनाते हैं। अन्तमें अपनी असहाय एवं दीन माताकी दयनीय दशाके स्मरणमात्रसे द्रवित होकर जब उनका गला रुँधने लगता है, तब कातर होकर वे कहते हैं—

सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहें भलि दीनदयाला॥
निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति।
बेगि चलिअ प्रभु आनिअ भुज बल खल दल जीति॥

प्रभु यह जानते हैं कि अशोकवाटिकामें सीताजीका प्रतिबिम्बमात्र है; फिर भी—

सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिव नयना॥

इस प्रकार प्रभुको खेद-खिन्न देखकर उन्हें ढाढ़स बँधानेके लिये हनुमान्‌जी कहते हैं—

केतिक बात प्रभु जातुधान की। रिपुहि जीति आनिबी जानकी॥

इतना सुनते ही श्रीरामजीका ध्यान हनुमान्‌जीकी केवल भगवत्प्रीत्यर्थ सेवाकी ओर आकृष्ट हो जाता है और वे अपनी अनुपम, अद्वितीय, अगाध एवं असीम कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

इसे हनुमान्‌जी अपना मुख नीचा किये हुए सुन रहे हैं। इसी समय प्रभुको कृतज्ञतासूचक अपने उपर्युक्त शब्दोंमें कुछ कमीका भान होता है, अतः वे अन्तमें कह देते हैं—

सुनु सुत ताहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

यह सब कहते जा रहे हैं और—

पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥

हे प्रभु! आपकी यह झाँकी वाणीसे परे है। धन्य हैं प्रभु! धन्य हैं आप और धन्य है आपका मानव-चरित्र! संसारमें पितासे पुत्र उऋण नहीं होता, ऐसा देखने-सुननेको मिलता है; परंतु आप तो हनुमान्‌जीको सुत भी स्वीकार कर रहे हैं और साथ ही ऐसे सुतसे उऋण न होनेकी विलक्षण कृतज्ञता भी बता रहे हैं, जो कदाचित् ही कहीं सुननेको

देखनेको मिले । इसीलिये तो काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

अस सुभाउ कहुँ सुनउ न देखउँ । केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ ॥

हनुमान्‌जीको अपने लिये केवल 'सुत'के सम्बोधनकी लालसा रही है, परंतु प्रभु सदैवके लिये ऋणी भी बन जाते हैं । ऐसे अद्भुत और महान् आभारके नीचे महाबली पवनकुमार इतने दबे जा रहे हैं—

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत ।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत ॥

हनुमान्‌जी प्रेमसे व्याकुल होकर और प्रभुके चरणोंका सहारा लेकर पुकारने लग जाते हैं कि (मैं दबा जा रहा हूँ) प्रभु ! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो । ऐसे सेवक-सुतका अपने चरणोंमें अधिक समयतक पड़े रहना शरणागत-भक्त-वत्सल भगवान्‌से भला कैसे देखा जा सकता है । अतः

बार बार प्रभु चहइ उठावा । प्रेम मगन तेहि उठब न भावा ॥

बार-बार अर्थात् एक बार उठाना चाहा तो नहीं उठा सके; दूसरी बार उठाना चाहा, तो भी नहीं उठा सके । इस प्रकार प्रभुके कई बार उठाना चाहनेपर भी हनुमान्‌जी प्रेममें मग्न होकर उठना नहीं चाहते । अखिलब्रह्माण्डनायक प्रभु यदि हार मानते हैं तो ऐसे ही भक्तोंसे । इसी प्रेमके वशीभूत होकर—

प्रभु कर पंकज कपि कें सीसा ।

प्रभु अपना कमलस्वरूपी हाथ हनुमान्‌जीके सिरपर रख देते हैं, और तब—

सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा ॥

इस दशाका स्मरण करके शंकरजी मग्न हो जाते हैं—अपना आपा खो बैठते हैं, और वह इसलिये कि—

जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान ।
पुरुषा ते सेवक भए हर ते भे हनुमान ॥
(दोहावली १४३)

श्रीशंकरजी स्वयं हनुमान्‌जीके रूपमें अपने सिरपर प्रभुके कर-कमलके स्पर्शके आनन्दमें डूब रहे हैं । अयोध्यापुरीमें श्रीशंकरजीको अपना हाथ बालक रामके सिरपर रखना पड़ा था—

यथा—

अवध आजु आगमी एकु आयो ।
करतल निरखि कहत सब गुनगन, बहुतन्ह परिचौ पायो ॥
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो ।
सँग सिसुसिष्य, सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो ॥
पाय पखारि, पूजि दियो आसन, असन बसन पहिरायो ।
मेले चरन चारु चारयो सुत माथे हाथ दिवायो ॥
—आदि, आदि (गीतावली १।१७)

आये थे करतल निरखने और रेखाएँ देखनेके बहाने चरण-स्पर्श करने, परंतु माता कौसल्या प्रभुको श्रीशङ्करजीके चरणों-पर डाल देती हैं और 'माथे हाथ दिवायो' उनके माथेपर शंकरजीसे हाथ भी रखवाती हैं । इन त्रिभुवनपति श्रीरामजीके मस्तकपर हाथ रखनेके विशाल बड़प्पनको आज स्वयं सेवक-सुत बनकर एवं प्रभुके चरणोंमें अपना माथा रखकर उन्हें ही अर्पण कर देते हैं और तब उन परब्रह्म परमात्माके कमल-स्वरूपी हाथको अपने सिरपर रखा हुआ पाते हैं । इस प्रकार परम पिता रामाख्य रघुपुंगव अपना भी वात्सल्य प्रदान करते हुए—

कपि उठाइ प्रभु हृदयँ लगावा । कर गहि परम निकट बैठावा ॥

उपर्युक्त अर्धालीमें (१) 'कर गहि' और (२) 'परम निकट' शब्द विशेष महत्त्वके हैं ।

(१) 'कर गहि'—अर्थात् भगवान् जिसका हाथ पकड़ लेते हैं, उसे फिर कभी नहीं छोड़ते—भगवान् उसे अपना लेते हैं और वह भगवान्‌का ही हो जाता है ।

(२) 'परम निकट'—अर्थात् श्रीरामजी और श्रीहनु-मान्‌जीमें अन्तरका कोई व्यवधान नहीं रह जाता और यह ठीक भी है; क्योंकि पुत्र तो पिताका ही अङ्ग हुआ करता है ।

इस प्रकार पहले दिनकी भेंटके समय हनुमान्‌जीकी जो साध थी—

सेवक सुत पति मातु भरोसें । रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें ॥

—वह पूर्णरूपेण सफल हो जाती है और वे निश्चिन्त हो जाते हैं । अतएव प्रभुको उनका पालन-पोषण करते ही बनता है, जैसा कि आगे बताया गया है—

भगवान् श्रीकृष्ण भी गीतामें इसी आशयकी पुष्टि करते हुए कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(९ । २२)

जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योग-क्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ—उनके कल्याणके लिये मैं जिम्मेदार हूँ।

तदनन्तर वानर-सेनाके साथ समुद्र पारकर श्रीरामजी लङ्कापर विजय प्राप्त करते हैं एवं विभीषणको लङ्केश्वर बनाकर मुख्य-मुख्य सेनापतियोंके साथ अयोध्याको लौटते हैं, जहाँ श्रीरामजीका राज्याभिषेक होता है, और—

नित नव मंगल कौसलपुरी। हरषित रहहिं लोग सब कुरी॥

× × × ×

ब्रह्मानंद मगन कपि सब कें प्रभु पद प्रीति।
जात न जाने दिवस तिन्ह गए मास षट बीति॥
बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं। जिमि परद्रोह संत मन माहीं॥

तब श्रीरामजी सबको अपने-अपने घर भेजते हैं, यहाँतक कि अङ्गदके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी—

निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।
बिदा कीन्हि भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ॥

परंतु हनुमान्‌जीको तो सुत बना लिया है और 'कर गहि' -हाथ भी पकड़ा है; सो ऐसे पुत्रका घर ही कहाँ—जहाँ जाने-को कहें। अब तो भगवान्‌का घर ही हनुमान्‌जीका घर है।

हाँ, अयोध्यापुरीसे चलते समय सुग्रीवजी कतिपय कारणों-से हनुमान्‌जीको अपने साथ ले जाना चाहते थे। उनकी यह इच्छा हनुमान्‌जीकी पैनी दृष्टिसे छिपी नहीं रहती।

अतएव—

तब सुग्रीव चरन गहि नाना। भाँति बिनय कीन्हे हनुमाना॥
दिन दस करि रघुपति पद सेवा। पुनि तव चरन देखिहउँ देवा॥
पुन्य पुंज तुम्ह पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपा आगारा॥

एक प्रकारसे हनुमान्‌जीको छुट्टी मिल गयी। परंतु यह दसवाँ दिन उनके लेखेमें कभी आता ही नहीं; क्योंकि नौ दिनके बाद फिर वही एक, दो, तीनके अङ्क शुरू हो जाते हैं। अतएव युगल सरकारकी सेवा ही हनुमान्‌जीका अजर-अमर जीवन बन जाता है। ऐसी परम पुनीत सेवामें-ही हनुमान्‌जी नित्य-निरन्तर निमग्न रहते हैं।

पहली भेंटके समय हनुमान्‌जीकी वन्दनाके अन्तिम शब्द हैं—

'बनइ प्रभु पोसें'—अर्थात् प्रभुको पालन-पोषण करना ही पड़ता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। अपने ऐसे सेवक-सुत एवं प्रिय भक्तकी इस याचनाको श्रीरामजी बड़ी सुन्दरतासे निभाते हैं।

राजभोगके लिये रत्नजटित कञ्चन-थालोंमें सुधा-सदृश स्वादिष्ट अनेक प्रकारके व्यञ्जनोंको सीता माता सजा-सजाकर स्वयं लाती हैं, यथा—

जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ॥

और जब प्रभु—

अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननीं सुख भरहीं॥

तब जैसे स्वभावतः हास-परिहास होते रहनेसे भोजनमें विशेष रस आता है और फिर प्रभु तो लङ्का-विजयके पश्चात्‌से ही—

मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति नेति कह बेद।
कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद॥

कपियोंसे अनेक प्रकारके विनोद करते रहे हैं; सो यहाँ भी भोजन करते जाते हैं और बीच-बीचमें अपने थालोंमेंसे कभी पूड़ी, कचौड़ी और कभी लड्डू आदि भोज्य एवं चर्व्य व्यञ्जनोंको उठा-उठाकर एक ओर बैठे हुए हनुमान्-जीकी तरफ फेंकते जाते हैं। हनुमान्‌जी इन्हें ऊपर-के-ऊपर ही पकड़ लेते हैं और उदरस्थ करते जाते हैं एवं राजमहलके आँगनमें विचरनेवाले खग, मृगादिको भी कुछ खिलाते जाते हैं। इतनेपर भी प्रभुको आशङ्का रहती है कि उनका लाड़ला हनुमान् कहीं भूखा न रह जाय।

अतएव वे अपने थालोंमें कुछ अधिक सामग्री छोड़ देते हैं। प्रभुकी इस जूँठन प्रसादीको हनुमान्‌जी बड़े चावसे खाते हैं; परंतु वानरी चञ्चलताके कारण उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें लेह्य एवं चोष्य व्यञ्जनादि जैसे खीर, रबड़ी, कढ़ी, श्रीखण्ड, चटनी आदिके लग जानेसे उनका चित्र-विचित्र वेष बन जाता है और तब उनको देख-देखकर चारों भाई, माता सीता एवं अन्य बहुएँ तथा बूढ़ी माताएँतक हँसते-हँसते लोट-पोट होने लगती हैं। 'भूमि सप्त सागर मेखला' के एकमात्र सरकार इस प्रकारके अनेक विनोद करते हुए हनुमान्‌जीका

वृत्तियुक्त पालन-पोषण करते हैं और तब हनुमान्‌जी भी फुदक-फुदककर अपने सरकारकी आज्ञाओंका पालन बड़ी लगनसे करते रहते हैं।

ऐसा है पवनकुमार श्रीहनुमन्तलालजीका परम उज्ज्वल चरित्र।

उपसंहार

इस चरित्रसे यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्यका कल्याण इसीमें है कि अपने-आपको इन युगल सरकार—श्रीसीतारामजीका सेवक और सुत मान ले और उनपर दृढ़ भरोसा रख कर अपने कर्तव्य-कर्मों—स्वधर्मका, जितनी उत्तमतासे हो सके, पालन करते हुए निश्चिन्त हो जाय। तब फिर प्रभु-कृपासे यथाविधि उसका पालन-पोषण होता ही रहेगा—इसमें तिलमात्रका संदेह नहीं है और इसके लिये अपनेसे बाहर कहीं अन्यत्र प्रमाण ढूँढ़नेकी भी आवश्यकता नहीं है।

ऋग्वेदीय मन्त्रद्रष्टा

(लेखक—ऋग्वेद-भाष्यकर्ता पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

[गताङ्क पृष्ठ ८०० से आगे]

मनु ब्रह्माके मानस पुत्र थे। इनकी संख्या १४ है—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, धर्मसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि। प्रति कल्पमें ये १४ मनु होते हैं। इस समय वैवस्वत मनुका अधिकार है। परंतु ऋग्वेदमें ये बातें नहीं हैं। मनुके सम्बन्धमें ऋग्वेदमें जो कुछ लिखा है, वह आगेकी पङ्क्तियोंमें द्रष्टव्य है—

मानवोंके पिता मनु थे (१ । ८० । १६)। ये कहीं राजा, कहीं राजर्षि और कहीं प्रजापति कहे गये हैं। वैवस्वत मनु और सावर्णि मनुका भी उल्लेख है। मनुने अग्निदेवसे स्वर्गकी कथा सुनी थी (१ । ३१ । ४)। इसी ३१ सूक्तके ४ में पुरूरवा राजा और ११ में पुरूरवाके पौत्र नहुषका उल्लेख है। १७ वेंमें मनुके साथ ही ययातिका भी नाम आया है। १ । ४५ । १ में तो देवोंको भी मनु-पुत्र बताया गया है। १ । ४६ । १३ में मनु 'सेवक यजमान' कहे गये हैं। १ । ८० । १६ में मनु 'समस्त प्रजाके पितृ-भूत' बताये गये हैं। १ । ९६ । २ का कथन है—'मनुके प्राचीन और स्तुति-गर्भ मन्त्रसे संतुष्ट होकर अग्निदेवने मानवीय सृष्टि की थी।' अश्विद्वयने मनुको प्रथम गमनमार्ग दिखाया था और अन्न देकर उनकी रक्षा की थी (१ । ११२ । १६ और १८)। मनुके लिये गायें 'सर्वार्थ-माता' थीं (१ । १३० । ५)। मनु प्रख्यात याज्ञिक थे (३ । ३२ । ५)। मनु 'स्वर्ग-प्रदर्शक' थे (६ । २५ । ४)। ७ । ३५ । १५ में मनु 'यजनीय प्रजापति' कहे गये हैं। ८ । १९ । २४ में मनु 'अग्नि-स्थापक' बताये गये हैं। ८ । २७ । ७ में 'मनु-वंशधरों की यज्ञ-परायणता' का कथन है। वहीं २१ वें मन्त्रमें मनु ऋषि 'हव्यदाता' और 'प्रकृष्टज्ञानी' कहे गये हैं। वालखिल्य सूक्त ४ । १ में विवस्वान् मनुका उल्लेख है। ९ । ९२ । ५ में मनु 'राजर्षि' बताये गये हैं। मनु 'अश्वमेध-यज्ञ-कर्त्ता' थे (१० । ६१ । २१)। १० । ६२ । ८-९ में सौ अश्वों और हजार गायोंके दाता सावर्णि मनु कहे गये हैं। इसी ९ वें मन्त्रमें लिखा है—'मनुके समान कोई भी दान देनेमें समर्थ नहीं है। सावर्णि मनुका दान नदीके समान सर्वत्र विस्तृत है।' १० । ६३ । १ में विवस्वान्‌के पुत्र मनुका उल्लेख है। मनुके यज्ञमें इला, भारती और सरस्वती उपस्थित थीं (१० । ७० । ८)। ८ । २७-२८ और ३०-३१ सूक्तोंके द्रष्टा वैवस्वत मनु हैं। ९ । १०६ (७—९ मन्त्रों) के अप्सु-पुत्र मनु ऋषि हैं और १० । १३ के विवस्वान् मनु हैं।

मनुके पुत्र नाभा नेदिष्ट थे। ये १० । ६१-६२ के मन्त्र-द्रष्टा हैं। इन्होंने १० । ६१ । १८ में अपनेको सूर्यका बन्धु बताया है। इन्होंने अपनेको 'अश्वमेध-यज्ञ-कर्त्ता मनुका पुत्र' और 'सर्वज्ञ' कहा है।

अगस्त्य महातेजा और महातपा ऋषि थे। समुद्रस्थ राक्षसोंके अत्याचारसे घबराकर देवतालोग इनकी सेवामें गये और अपना दुःख कह सुनाया। फल यह हुआ कि ये सारा समुद्र पी गये और राक्षसोंका समूल विनाश हो गया। इनकी स्त्री लोपामुद्रा ब्रह्मवादिनी थी। अगस्त्य द्रविड़ सभ्यताके प्रवर्तक माने जाते हैं। तमिळ भाषाका आदि

व्याकरण इन्हींका माना जाता है। इनके नामपर संस्कृतके अनेक ग्रन्थ प्रचलित हैं। अगस्त्य नक्षत्र भी प्रसिद्ध है।

ऋग्वेद ७। ३३। १३ से विदित होता है कि मित्र और वरुणके द्वारा कुम्भ या वसतीवर कलशसे अगस्त्यका जन्म हुआ था। यही बात १। ११७। ११ में भी है। १। १७९ सूक्तमें अगस्त्य और लोपामुद्राका कथोपकथन है। अगस्त्य हजार स्तुतिवाले कहे गये हैं (१। १८०। ८)। अगस्त्यके दौहित्र बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु, विप्रबन्धु आदि कहे गये हैं (१०। ६०। ६)। १। १६५ से १९१ सूक्तोंके ऋषि ये ही माने जाते हैं।

अगस्त्यके पुत्र दृढच्युत ९। २५के और दृढच्युतके पुत्र इध्मवाह ९। २६के मन्त्र-द्रष्टा हैं।

भृगु ब्रह्माके मानस पुत्र थे। ये अन्यतम प्रजापति भी माने जाते हैं। दक्ष-पुत्री ख्यातिसे इनका विवाह हुआ था। इनकी कन्या लक्ष्मी हैं और धाता, विधाता नामके दो पुत्र हैं। ये भृगु भृगु-वंशके प्रवर्तक और धनुर्विद्याके कर्ता माने गये हैं। एक बार मुनियोंकी इच्छा यह जाननेकी हुई कि ब्रह्मा, विष्णु और शिवमें कौन श्रेष्ठ है। परीक्षक बनकर भृगु ब्रह्मा और शिवके पास गये तो; परंतु मर्यादानुकूल प्रणाम नहीं किया, जिससे ये दोनों रुष्ट हो गये। बहुत अनुनय-विनयके पश्चात् इन्हें संतुष्टकर अन्तको भृगु विष्णुके पास गये। विष्णु सो रहे थे। भृगुने उनके वक्षःस्थलपर लात मारकर जगाया। परंतु विष्णु रुष्ट होनेके स्थानपर संकोच और शालीनताके साथ मुनिवरसे यह चिन्ता प्रकट करने लगे कि 'मेरे कठोर वक्षःस्थलपर लगनेसे कहीं पैरमें व्यथा तो नहीं हो गयी?' साथ ही भृगुकी चरण-सेवा भी करने लगे विष्णुकी ऐसी विशालहृदयता और उच्चातिशयता देखकर भृगुने निश्चय किया कि देव-श्रेष्ठ और ब्राह्मणोंके पूज्य विष्णु ही हैं। विष्णुके हृदय-देशपर आजतक भृगु-पद-चिह्न विद्यमान है।

ऐसी पौराणिक कथा ऋग्वेदमें तो नहीं है; किंतु भृगु और भार्गवोंके सम्बन्धमें यथेष्ट उल्लेख है। भार्गव विख्यात याज्ञिक थे। ये भृगुओंके पास प्रथम मातरिश्वा अग्निदेवको ले आये थे (१। ६०। १)। भार्गवोंने अग्निकी सेवा करके उन्हें जल, स्थल और वायुमें स्थापित किया था (२। ४। २)। इनके अभिलाषा-दाता अग्निदेव थे (३। २। ४)। भृगुओंने ही दावानल-रूपमें अग्निको वनमें स्थापित किया था (४। ७। १)। अपने आश्रमपर भी इन्होंने अग्निको स्थापित कर रखा था (६। १५। २)। इन्द्र अकर्मण्योंका धन लेकर भार्गवोंको देते थे (८। ३। ९)। ये इन्द्रके भी उपासक थे (८। ३। १६)। अग्निदेवोंके उपासकोंमें भृगु और मनु मुख्य कहे गये हैं (८। ४३। ३)। यज्ञ-विघ्नकारी मखका विनाश भी भृगुओंने किया था (९। १०१। १३)। प्रजापतिके शरीरसे नौ भृगुओंकी उत्पत्ति हुई थी (१०। २७। १५)। भार्गव रथका भी निर्माण करते थे (१०। ३९। १४)। ये ऋषियोंमें भी 'पण्डित' बताये गये हैं (१०। ४६। २)। इन्होंने स्तुतिके द्वारा अग्निको प्राप्त किया था (१०। ४६। ९)। प्रथम अथर्वाने यज्ञके द्वारा देवोंको संतुष्ट किया था। अनन्तर भृगुओंने यज्ञ-सम्पादन किया (१०। ९२। १०)।

भार्गव वेन सोमाभिषवकर्ता थे (९। ८५। १०)। ये ९। ८५ और १०। १२३ के मन्त्र-द्रष्टा हैं। भार्गव नेम बड़े तेजस्वी ऋषि थे। उन्होंने इन्द्रपर भी कभी शङ्का की थी (८। ८९। ३)। इस ८९ वें सूक्तके ये ही वक्ता हैं। भार्गव इट १०। १७१ के, भृगुके अपत्य सोमाहुति २। ४-७ के और भार्गव स्यूमरश्मि १०। ७७-७८ के ऋषि हैं। स्यूमरश्मिके शत्रुको अश्विद्वयने तीर मारा था (१। ११२। १६)। भार्गव और्व और आप्नवान् भी प्रसिद्ध अग्नि-सेवक थे (८। ९१। ४)। वेनके पुत्र पृथु प्रसिद्ध स्तोता थे (१०। १४८। ५)। इस १४८ सूक्तके ये ही ऋषि हैं। इनके पुत्र तान्व १०। ९३ के ऋषि हैं। इसी सूक्तके १४ वें मन्त्रमें बली राजा रामका नाम आया है। यदि ताड़काका वध करानेके लिये राम और लक्ष्मणको ले जानेवाले विश्वामित्र मन्त्रद्रष्टा विश्वामित्र हैं तो मन्त्र-लिखित राजा राम भी दाशरथि राम हैं। ऋग्वेदमें ऐसे अनेक मन्त्र द्रष्टा ऋषियों और राजा-राजर्षियोंका भी विवरण है, जिनका साक्षात्कार श्रीरामचन्द्रसे हुआ था।

कवि उशनाका बहुत उल्लेख पाया जाता है। उशना शुक्राचार्यका नाम है, परंतु ऋग्वेद (५। ३१। ८) में ये भार्गव बताये गये हैं। ९। ४७—४९ और ७५—७९ सूक्तोंके ऋषि भी भृगु-पुत्र कवि उशना हैं। ये इन्द्रके उपासक थे। (१। ५१। १०-११)। गायोंके उद्धारमें उशनाने इन्द्रकी सहायता की थी (१। ८३। ५)। वृत्र-वधके लिये उशनाने इन्द्रको वज्र दिया था (१। १२१। १२)। इन्द्रने उशनाकी रक्षा की थी (१। १३०। ९)। भावावेशमें

वामदेवने कहा है कि 'मैं ही उशना कवि हूँ' (४ । २६ । १)। इनके विशिष्ट उपकारक इन्द्र थे (६ । २० । ११)। मनुके गृहमें उशनाने ही अग्निको स्थापित किया था (८ । २३ । १७)। काव्य वा स्तोत्र करनेमें उशना प्रवीण थे। ९ । ९७ । ७)। अश्विद्वयने उशनाको संकटसे बचाया था। (१० । ४० । ७)। इन्द्रने उशनाके मङ्गलके लिये अत्कको मारा था (१० । ४९ । ३)। ८ । ७३ और ९ । ८७-८९ के द्रष्टा उशना हैं।

अङ्गिराके पुत्र एक कुत्स ऋषि १ । ९४—९८ और १ । १०१-११५ सूक्तों तथा ९ । ९७ के ४५—५८) मन्त्रोंके वक्ता हैं। दूसरे अर्जुन-पुत्र कुत्स ऋषि थे (४ । २६ । १ और ८ । १ । ११)। इनके सहायक इन्द्र थे (१ । ६३ । ४)। कुत्स एक बार कुएँमें गिर गये थे। इन्द्रने उनका उद्धार किया था (१ । १०६ । ६)। इन्द्रको भी अर्जुन कहा गया है (१ । ११२ । २३)। कुत्सके समस्त शत्रुओंका वध इन्द्रने कर डाला था (२ । १४ । ७) इन्द्र कुत्सके गृहमें तो जाते ही थे, दोनों एक साथ रथपर भी जाते थे (४ । १६ । ९-१२)। कुत्ससे डरकर अपनी 'शत'संख्यक सेनाओंके साथ पणि असुर भाग गया था। (६ । २० । ४)। कुत्सके शत्रु शुष्णका वध इन्द्रने किया था (६ । ३१ । ३ और ७ । १९ । २)। इन्द्रने कुत्स राजर्षिके लिये दो प्रकारसे शत्रुनाश किया था (८ । २४-२५)। एक अन्य मन्त्र (२ । १९ । ६) में भी कुत्स राजर्षि कहे गये हैं। एक दूसरे स्थान (१० । २९ । २) पर भी इन्द्रके साथ कुत्सका रथपर गमन लिखा है। इन्द्रने प्रसन्न होकर कुत्सको वेतसु नामका देश दे दिया था (१० । ४९ । ४)। पता नहीं वेतसु देश कहाँ था। उद्धरणोंसे ज्ञात होता है कि कुत्स नामके कई ऋषि और राजर्षि थे।

अथर्वा ऋषि ब्रह्माके ज्येष्ठ पुत्र थे। ब्रह्माने इनको ब्रह्म-विद्या पढ़ायी थी, जिसे इन्होंने अन्य ऋषियोंको दिया था। यह भी कहा जाता है कि अथर्वाने ही अरणि-मन्थन करके सर्वप्रथम अग्निको उत्पन्न किया और सबसे पहले इन्होंने ही यज्ञ किया-कराया था। कर्दम ऋषिकी पुत्री शान्तिसे इनका विवाह हुआ था, जिससे दधीचि ऋषिका जन्म हुआ। दधीचिको दध्यङ् भी कहा गया है। ऋग्वेदमें ऐसी कोई कथा नहीं है। हाँ, दधीचिके पिता अथर्वा कहे गये हैं।

१ । ८० । १६ से विदित होता है कि अथर्वा, मनु और दधीचिने बहुत यज्ञ किये थे। यज्ञमें चुरायी गयी गायोंका मार्ग अथर्वाने ही बताया था (१ । ८३ । ५)। अथर्वाने अरणि-मन्थन करके अग्निको उत्पन्न किया और दधीचिने अग्निको समुज्ज्वलित किया (६ । १६ । १३-१४)। सत्यको असत्यसे दबानेवाले राक्षसोंको दध्यङ् अथर्वा मार डालते थे (१० । ८७ । १२)। एक मन्त्र (१० । ९२ । १०) में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि अथर्वाने सबसे प्रथम यज्ञके द्वारा देवोंको संतुष्ट किया था। अथर्वाके पुत्र भिषक् १० । ९७ के ऋषि हैं। अथर्वाके दूसरे पुत्र बृहद्दिव १० । १२० के ऋषि हैं। ये ऋषि श्रेष्ठ और 'महाबुद्धि' कहे गये हैं (१० । १२० । ८-९)।

अथर्वाके पुत्र दधीचि विख्यात शैव थे। इन्होंने अपने शिष्य नन्दीको शिव-मन्त्रसे दीक्षित किया था। इन्होंने ही दक्षप्रजापतिको शिव-हीन यज्ञ करनेसे मना किया था। दक्षके न माननेपर ये यज्ञ-स्थलसे चले गये थे। वृत्रासुरके द्वारा स्वर्गसे खदेड़े जानेपर देवोंने जाना कि दधीचिकी हड्डीसे बने अस्त्रके द्वारा ही वृत्रका नाश होगा। फलतः इन्द्रने इनकी सेवामें पहुँचकर सारा अभिप्राय कह सुनाया। ये देवोपकारके लिये शरीरका दान 'अद्भुत संयोग' समझकर शान्तचित्त हो गये और योग-बलके द्वारा शरीरका त्याग कर दिया। इन्द्रने इनकी हड्डीसे वज्रास्त्र बनाकर उससे वृत्रका वध कर डाला। किंतु ऋग्वेदके उल्लेखसे इसमें थोड़ा भेद है।

१ । ८४ । १३-१४ में कहा गया है कि 'इन्द्रने दधीचिकी हड्डियोंसे वृत्रादि असुरोंको नवगुण-नवति (८१०) बार मारा। पर्वतमें छिपे हुए दधीचिके अश्व-मस्तकको पानेकी इच्छासे इन्द्रने उस मस्तकको शर्यणावत् सरोवर (कुरुक्षेत्रस्थ) में प्राप्त किया। हो सकता है कि पहले इस सरोवरके पास पर्वत रहा हो, जहाँ दधीचिने शरीर छोड़ा हो। १ । ११६ । १२ में कहा गया है—'अथर्वाके पुत्र दधीचि ऋषिने घोड़ेका मस्तक धारणकर अर्थात् सुदृढ़ मस्तिष्कसे अश्विद्वयको मधु-विद्या सिखायी थी। यही बात १ । ११७ । २२ में भी है। यह विद्या इन्द्रसे दधीचिको मिली थी। यही विद्या 'प्रवर्ग विद्या-रहस्य' कहलायी। कक्षीवान् ऋषि कह रहे हैं—'अश्विद्वय! तुमने दधीचि ऋषिका मनोरथ पूर्ण किया था। उनके अश्व-मस्तकने तुम्हें मधुविद्या प्रदान की थी।' (१ । ११९ । ९) मनु अङ्गिरा आदिके साथ दधीचि 'पूर्वकालके ऋषि' कहे गये हैं (१ । १३९ । ९)। इन्द्रके मना करनेपर भी दधीचिने

अश्विद्वयको मधुविद्या सिखायी थी; इसलिये इन्द्रने दधीचिका सिर काट डाला अर्थात् दधीचिके मस्तिष्कसे वह विद्या निकल गयी।

च्यवन ऋषिके पिता भृगु थे और माता पुलोमा थीं। इनके गर्भस्थ रहते ही इनकी माताको एक राक्षस ले जाने लगा। घबराहटमें ये गर्भसे च्युत हो गये, इसलिये इनका नाम च्यवन पड़ गया। शिशुके प्रचण्ड तेजसे राक्षस जलकर भस्म हो गया। यथासमय ये तपस्या करने लगे। अनेक वर्षोंतक समाधिस्थ रहनेके कारण इनका शरीर दीमकोंसे छिप गया। एक बार राजा शर्याति सदल-बल वहाँ जा पहुँचे। दीमकमें छिपे ऋषिकी आँखें चमक रही थीं। राजाकी पुत्री सुकन्याने कौतूहल-वश आँखोंमें काँटे गड़ा दिये। ऋषि रुष्ट हुए। अन्तको राजाने सुकन्याका विवाह च्यवनसे करा दिया। इन्हें प्रमति नामका पुत्र हुआ। अश्विद्वयके प्रतापसे इनको तारुण्य प्राप्त हुआ।

ऋग्वेद (१।११६।१०) में कहा गया है कि 'अश्विद्वयने च्यवनका वार्द्धक्य दूर किया था १।११७।१३ से ज्ञात होता है कि भैषज्यके द्वारा ही अश्विद्वयने ऋषिको नव यौवन प्रदान किया था।५।७४।५ में कहा गया है— तुम दोनों (अश्विद्वय) ने जराजीर्ण च्यवनके हेय और पुरातन कुरूपको कवचके समान विमोचित किया था। जब तुम दोनोंने उन्हें पुनर्वार युवा किया था, तब उन्होंने सुन्दरी कामिनीके द्वारा वाञ्छित मूर्ति (पुत्र) को प्राप्त किया था।' प्रायः यही बात ७।७१।५ और १०।३९।४ में भी है।

त्रित ऋषि भी ब्रह्माके मानस पुत्र थे। मतान्तरमें ये गौतम ऋषिके पुत्र थे। इनके द्वित और एकत नामके दो सहोदर भाई इन्हें पिताके समान मानते थे। एक बार विपिनमें ये भेड़िया देखकर भागे और कुएँमें गिर पड़े। स्तुति करनेपर देवोंने इनको बचाया। सभी बातें तो नहीं, परंतु अन्यान्य ऋषियोंके समान ऋग्वेदसे इनकी कुछ बातें मिलती हैं।

जैसे दूसरे ऋषि अपने नाम ले-लेकर मन्त्रोंमें अपना कथानक कहते हैं, वैसे ही त्रितने भी कहा है। अनेक स्थानोंमें इनका नाम आपत्य त्रित आया है। ये अपने देखे १।१०५ सूक्तके ९ वें मन्त्रमें कहते हैं—'ये जो सूर्यकी ७ किरणें हैं, उनमें मेरी नाभि, मर्मात्मा वा वासस्थान है। यह बात आपत्य त्रित जानते हैं और कूपसे निकलनेके लिये रश्मिसमूहकी स्तुति करते हैं।' इसी सूक्तके १७ वें मन्त्रमें पुनः कहते हैं—'कूपमें गिरकर त्रितने रक्षाके लिये देवोंको पुकारा। बृहस्पतिने उसका उद्धार किया।' त्रितके द्वारा वर्द्धित होकर इन्द्रने अर्बुद असुरको नष्ट किया था (२।११।२०)। त्रितके शत्रुओंका विनाश मरुतोंने भी किया था (२। ३४।१०)। इनके रक्षक इन्द्र भी थे (वालखिल्य ४। १)। त्रितने स्वयं छिन्न और हरित सोमको प्रस्तुत किया था (९।३२।२ और ३८।२)। त्रित अनन्य पितृभक्त थे। इन्होंने अपने पिताके युद्धास्त्रोंको लेकर युद्ध किया और त्रिशिरा असुरका वध कर डाला (१०।८।७-८)। कदाचित् त्रित नामके कई ऋषि थे (१०।४६।३)।

८।४७, ९।३३ और १०२-१०३ तथा १०।१-७ सूक्तोंके द्रष्टा आप्त्य त्रित हैं। इनके पुत्र भुवन ऋषि १०।१५७ के द्रष्टा हैं।

सौभरि ऋषि प्रसिद्ध तपस्वी थे। अन्य कई ऋषियोंके समान इनका भी विवाह महाराजा मान्धाताकी कन्यासे हुआ था। परंतु अन्तको ये गृहस्थीका त्यागकर गहन कान्तारमें तपोनिरत हो गये। इनको कहीं सौभर और कहीं सोभरि भी कहा गया है। इस प्रकारकी गड़बड़ी अनेक ऋषियोंके नामोंके अक्षर-विन्यासमें है। कदाचित् यह लिपिकारों और मन्त्र सुन-सुनकर कण्ठस्थ करनेवालोंके कारण हुई है।

सोभरिके वंशजोंके रक्षक अग्निदेव थे (८।१९।३२)। ये और इनके पिता अश्विद्वयके पूजक थे (८।२२।१५)। इन्होंने पुनः-पुनः अग्निका आवाहन किया था (८।९२। १४)। इस ९२ वें सूक्तके ये ही ऋषि हैं। कण्वगोत्रीय सोभरि ८।१९-२० के और कण्वपुत्र सोभरि ८।२१-२२ के द्रष्टा हैं। कदाचित् इस नामके कई ऋषि थे। १०।१२७ के द्रष्टा सोभरि-पुत्र कुशिक कहे गये हैं।

अश्विद्वयके उपासक कण्वगोत्रीय वत्स ऋषि थे (८।८।८)। यहीं ११ वें मन्त्रमें ये मेधावी और मेधावीके पुत्र कहे गये हैं। इनका स्तोत्र मधुमय होता था। ये स्तोत्रोंसे अश्विद्वयको संवर्द्धित करते थे (वहीं १५ और १९)। अश्विद्वय इनकी रक्षामें रहते थे। इन्होंने सोम और घर्म (हविर्विशेष) से यज्ञ किया था (८।९।१ और ७)। देवोंको इनकी स्तुति अत्यन्त प्रिय थी (८।११।७)। ये ८।६।७ और ११ सूक्तोंके ऋषि हैं। १०।१८७ के ऋषि अग्नि-पुत्र वत्स हैं।

ऋचीक ऋषिके मँझले पुत्र और विश्वामित्रके भागिनेय शुनःशेप थे। विश्वामित्रने इनका नाम देवरथ रखकर इन्हें गोष्यपुत्र बना लिया।

परंतु ऋग्वेद (१ । २४ । १३) में कहा गया है कि 'शुनःशेपने धृत और तीन काठोंमें आवद्ध होकर अदितिके पुत्र वरुणका आह्वान किया था। इस सूक्तमें शुनःशेपने पहले अग्नि और सूर्यकी स्तुति की है और अन्तमें वरुणदेवकी। ऋग्वेदमें ये अजीगर्त्तके पुत्र कहे गये हैं। ऋचीकका नाम अजीगर्त्त भी था।

१ । २४–३० और ९ । ३ सूक्तोंके द्रष्टा शुनःशेप हैं।

रथ और एतश ऋषियोंका एक साथ ही बहुत बार उल्लेख है। इनके रक्षक इन्द्र थे (१ । ५४ । ६)। इन्हें युद्धमें इन्द्रने बचाया था (१ । ६१ । १५)। एतशने इन्द्रको सोम प्रदान किया था (२। १९।५)। इन्द्रके द्वारा रक्षाकी बात अनेक मन्त्रोंमें है (४ । ३० । ६ और ५ । ३१ । ११)। इन्हीं एतशको एक मन्त्र (८ । १ । ११) में राजर्षि भी कहा गया है।

आङ्गिरस अयास्य ऋषि विख्यात देवपूजक थे (९ । ४४ । १)। ये संसारके हितैषी-बताये गये हैं (१० । ६७ । १)। पणियों द्वारा चुरायी गायोंके उद्धारमें अयास्यका भी हाथ था (१० । १०८ । ८)। ये ९ । ४४–४६ और १० । ६७–६८ सूक्तोंके ऋषि हैं।

विमद ऋषि प्रजापतिके पुत्र थे। ये इन्द्रोपासक थे (१ । ५१ । ३)। पुरुमित्र राजाकी कन्यासे अश्विदयने इनका विवाह कराया था (१।११२।१९; १।११७।२० और १०।३९।७)। ये परम याज्ञिक थे (१०।२०।१०; १०।२१।१ और ६)। इनके वंशजोंने 'विलक्षण और विस्तृत' स्तोत्र आविष्कृत किये थे (१० । २३ । ६)। ये १० । २०–२६ के ऋषि हैं।

शंयु ऋषि बृहस्पतिके पुत्र थे (१ । ३४ । ६ और १ । ४३ । ४)। अश्विद्वयने इनकी गायको दुग्ध-पूर्ण किया था (१ । ११७ । २० और १ । ११८ । ८)। अश्विद्वय इनके रक्षक थे (१०।४०।८)। ६।४४–४६ और ४८ सूक्तोंके ये ही ऋषि हैं।

गौरवीति ऋषि इन्द्रके विशिष्ट स्तोता थे (५ । २९ । ११)। ये शक्ति ऋषिके पुत्र थे। ५ । ९, ९ । १०८ और १० । ७३–७४ के ये ऋषि हैं।

देवल ऋषिके पिता असित थे और अनुजका नाम धौम्य था। इन्हीं देवलके आश्रमपर विख्यात राजर्षि जैगीषव्य इनके पहले ही सिद्ध पुरुष हो गये। फलतः देवलने इनका शिष्यत्व ग्रहणकर मोक्ष प्राप्त किया। ९ । ५–२४ सूक्तोंके ऋषि असित और देवल हैं। ये कश्यपगोत्रज थे।

वालखिल्य मुनि ब्रह्माके मानसपुत्र थे। कहा जाता है कि इनकी संख्या साठ हजार थी।

परंतु ऋग्वेद (१० । २७ । १५) में कहा गया है कि 'इन्द्ररूप प्रजापतिके उत्तरी शरीरसे वालखिल्य आदि आठ उत्पन्न हुए।' अष्टम मण्डलके अन्त और नवम मण्डलके आदिमें इनके देखे ११ सूक्त हैं। प्रथम सूक्तके ऋषि कण्वपुत्र प्रस्कण्व, द्वितीयके प्रष्टिगु, तृतीयके श्रुष्टिगु, चतुर्थके आयु, पञ्चमके मेध्य, षष्ठके मातरिश्वा, सप्तमके कृपि, अष्टमके पृषध्र, नवम और दशमके भी मेध्य और एकादशके सुपर्ण ऋषि हैं। इन सूक्तोंपर सायणने भाष्य नहीं लिखा है।

वम्र ऋषि इन्द्रके उपासक थे (१ । ५१ । ९)। इनके रक्षक अश्विद्वय भी थे (१ । ११२ । १५)। ये विखनसके पुत्र थे। १० । ९९ के ये ऋषि हैं।

अतिथिग्व और आयु ऋषिके शत्रुओंका वध इन्द्रने किया था (३ । १४ । ७)। इन्द्रने आयुके वंशमें इनके शत्रुओंको कर दिया था (१० । ४९ । ५)। इन्द्र इनके सदा रक्षक थे (वालखिल्य ५ । २)। ये वालखिल्य सूक्त ४ के ऋषि हैं।

इन्द्रने प्रवाहशील जलके पार जानेके लिये तुर्वीति और वय्य ऋषियोंको मार्ग दिया था (२ । १३ । १२)। ५ । ७९-८० सूक्तोंके द्रष्टा सत्यश्रवा ऋषिके वय्य पिता थे।

'इन्द्रने तुर्वीति ऋषिके निवास-योग्य एक स्थान बनाया था (१ । ६१ । ११)। ये अर्जुन या इन्द्रके पुत्र, कहे गये हैं (१ । ११२ । २३)।

यह वैज्ञानिक इन्द्रजाल

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ ८०४ से आगे]

आत्मसमर्पण

इस प्रकार विपर्यसनसे रोग होनेपर शरीरमें भीतर या बाहर कोई अङ्ग रोगी हो गया हो, घाव या गाँठ हो गयी हो, वह सड़ रहा हो तो उसपर दवा या इंजेक्शन उपयोगी न होनेसे चीर-फाड़द्वारा उसे काट निकालकर या सुधारकर रोगीको जिंदा रखने, उसका उपकार करनेकी वैज्ञानिक प्रथा, सरकारको अनेक रूपोंमें टैक्स या चंदा देकर जनताद्वारा स्वयं पोषित है। शरीर-विज्ञानकी विशेष शिक्षा और छुरीबाजीकी कलाके अभ्यासमें विशिष्ट संस्थाओंसे दक्ष होकर निकले हुए एवं सरकारद्वारा लायसेंस पाये हुए 'डॉक्टर-सर्जन' ही इसे करनेका अधिकार रखते हैं। अन्य साधारण व्यक्ति करे तो अपराध, जुर्माना, सजा! रोगीका उपकार करनेमें सिद्धहस्त ऐसे अधिकारीसे अज्ञानवश, संयोगवश अथवा लालचवश या अन्य ऐसे ही कारणोंसे रोगी प्राण त्याग दे तो उनका कोई अपराध नहीं; क्योंकि पहले रोगीसे लिखा लिया जाता है—'मैं अपनी मर्जीसे आपरेशन कराना चाहता हूँ,' और वह अपनी मर्जीसे देहपर छुरी चलानेके लिये सैकड़ों हजारों रुपयेकी फीस-मजदूरी उस अधिकारीको पहले दे देता है।

भारतके उदाहरण तो जीते-जागते इन वैज्ञानिक बूचड़खानोंमें रोज मिलेंगे किंतु इस जघन्य रक्तपातको देखनेके लिये जनसाधारणको वहाँ प्रवेश नहीं मिलता—चाहे वह कितना भी निकट सम्बन्धी हो। वहाँ तो केवल छुरी और विष-धंधेके अधिकृत जातिबन्धु ही रहते हैं। अमेरिकाके एक ऐसे ही कुशल विशेषज्ञ सर्जनके पास एक इटालियन महिला अपने निदान और इलाजके लिये गयी। बताया गया, पेटमें गाँठ है। ऑपरेशन करना होगा, अन्यथा खतरा होगा। इस महिलाको छः मास पूर्व गर्भपात हो गया था और उसके तीन मास पश्चात् वह पुनः गर्भवती हो गयी; परंतु उसे गर्भस्थितिकी कल्पना न हुई, समझा कि पहलेका कुछ अंश रहकर गाँठ बन गयी है; इसलिये वह डॉक्टरके पास गयी थी। इस अज्ञानवश अपने घरवाले भोले इटालियन परिवारके लोगोंसे परामर्श और आज्ञा लेकर वह महिला निश्चित दिन *ऑपरेशनके लिये आयी।* इस डॉक्टरने इस ऑपरेशनकी अपनी कुशलता दिखानेके लिये अपने अन्य मित्र डॉक्टरोंको भी बुलाया था, एक लेडी डॉक्टर भी थी। जब वह महिला स्वयं छुरीका शिकार बनने बारीक वस्त्र पहने उस वैज्ञानिककी टेबलपर आयी तो उपस्थित लेडी डॉक्टर तथा अन्य डॉक्टरोंने बारीक वस्त्रमेंसे उसके उदर-भागको आँखें फाड़कर देखा और परस्परकी ओर आश्चर्यसे देखने लगे। वे जान गये कि यह महिला गर्भवती है। एक डॉक्टरने विशेषज्ञ सर्जनसे पूछा—'साहब! आपने इनकी पूरी परीक्षा कर ली है?'

साहब बोले—तुम क्या मुझे इतना मूर्ख समझते हो कि परीक्षा किये बिना मैं ऑपरेशन करूँगा! तुम मित्र हो, अन्यथा कोई दूसरा होता तो ऐसा प्रश्न सुनकर मैं उसे बाहर निकाल देता।

साहबने छुरी चलायी और उस गाँठको काटकर निकाल लिया। वह गाँठ नहीं थी, सजीव गर्भ गर्भाशयमें था। दूसरे डॉक्टरने चीरकर उसे देखा और इस गर्भको साहब अपनी मोटरमें अपने घर प्रयोगशालामें ले गये, एक बड़ी बोतलमें भरे रासायनिक मिश्रणमें डाल दिया, अपनी कौशलका नमूना—पुरस्कार! और वह महिला चार दिनमें संसारसे विदा हो गयी। परंतु डॉक्टरी धंधेके कठोर नैतिक बन्धनमें बँधे हुए कोई डॉक्टर ऑपरेशनसे पहले या बादमें कुछ नहीं कह सके। ये सब बातें आपसमें गुप्त रखने, परस्पर मिलजुलकर काम करने, परस्परकी गलतीपर कभी विरुद्ध गवाही न देनेके कठोर नियम हैं और सभी लोग धार्मिक कट्टरतापूर्वक इस व्यापारिक नियमको निभाते हैं। यह धर्म संसारके सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है। कोई भी धर्म या समाज देश, जाति या परिवारका व्यक्ति, भाई-भाई आपसमें विरुद्ध गवाही, कानूनी कार्यवाही कर सकते हैं, परंतु ये डॉक्टर आपसमें एक माँसे उत्पन्न भाइयोंसे बढ़कर, रूह एक, शरीर अनेककी तरह मिले-जुले संगठित हैं, *'सूत्रे मणिगणा इव'* एक सूतमें पिरोये हुए मालाके दानेके सदृश हैं।

ऐसे ही बहुत-से मामलोंका अमेरिकाका एक ईमानदार

(परंतु डॉक्टरी दृष्टिसे द्रोही) डॉक्टर नॉरमन बार्नसबी एम्० डी० ने अपनी मोटी पुस्तक *'डॉक्टरी अन्धेर और पाप'में भण्डाभोड़ स्पष्टरूपसे साक्षी होकर किया है।

आजकल तो इस विशाल मानव-शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी चिकित्सा व चीर-फाड़ करनेके लिये विशेषज्ञ सर्वत्र व्याप्त हैं। सारे शरीरके सब अङ्ग परस्परसे समन्वित हैं, इसीसे एकमें विकार होनेसे दूसरा भी रोगी होता है, इतना न जानकर ये वैज्ञानिक विशेषज्ञ अमुक अङ्गविशेषकी अलग चिकित्सा करते हैं। सम्पूर्ण शरीरकी परीक्षा नहीं करते, मानो सब अङ्ग अलग-अलग हों। यह कैसा अन्धेरका विज्ञान है। आँखका डॉक्टर पेटके विषयमें कुछ नहीं जानता या करता। दाँतवाला केवल दाँत उखाड़ेगा, दवा नहीं बतायेगा, अन्यथा उसपर अपराध कायम हो जायगा। दवा बताना, देना दूसरे डॉक्टरका काम है।

ईश्वरके गुरु

प्रकृति कहिये, अथवा परमात्माने अपनी दृष्टि और कला-योजनासे मानवकी ऐन्द्रिक शक्तियाँ सीमित बनायी हैं, असीम नहीं। असीम-ससीमका यही सम्बन्ध है, सूक्ष्म और स्थूलका। इन इन्द्रियोंसे दूरकी देख, सुन, बोल न सकने और पार्थिव तत्त्वके कारण पानीपर या भीतर तथा हवामें तैर न सकनेके कारण उसने अपनी बुद्धि दौड़ाकर प्रयोगोंसे अब दूरवालोंको देखता, सुनता, उनसे बातें करता और जलवायुमें तीव्रगामी हो गया है। ईश्वर-पूजाकी अब उसे आवश्यकता नहीं, वह आत्मपूजक पुरुषार्थी स्वयं ब्रह्मका नगाड़ा बजाने लगा है। ईश्वरने मनुष्यके साथ दो अन्याय किये हैं। वैज्ञानिकोंने पता लगाया है कि शरीरमें छोटी-बड़ी आँतोंके जोड़में †अन्त्र-पुच्छ व्यर्थ लगा दी है और उसे ये रोगियोंके पेट फाड़कर काटकर निकाल फेंकने लगे हैं। ईश्वरकी भूलको सुधारनेवाले ये ईश्वरके गुरु! दुनियाके किन्हीं देशोंमें तो आजकल जन्मजात बच्चोंके पेट चीरकर ये उसके अन्त्रपुच्छको निकाल देनेकी प्रथा वैज्ञानिक संस्कारके रूपमें चला चुके हैं जिससे आगे उसे कोई वैसा रोग न हो।

ईश्वरका दूसरा अन्याय अथवा भूल यह है कि उसने मानुष चोला अन्धकारमय बनाया है, बाहर चर्मपरसे भीतर-का कुछ दिखता नहीं। सो उसके भीतर सब कुछ अच्छी तरह देखनेके लिये भी इन्होंने तिलस्मी वैज्ञानिक प्रकाश‡ बना लिया है जो सूर्यके प्रकाशसे भी अधिक सूक्ष्म है। वह मानुष-कङ्कालका दर्शन कराता है।

बहत्तरसे सत्ताईस

जन्म लेनेके साथ ही शरीर बढ़ना आरम्भ हो जाता है; लोग इसे वर्षोंकी संख्याके साथ उम्र बढ़ना समझते हैं, किंतु वास्तवमें समझें तो उम्र घटना आरम्भ हो जाता है; क्योंकि लोगोंकी यह भी धारणा है कि विधाताने निश्चित कालतक हमें इस मृत्युलोकमें कर्म करनेके लिये अथवा पूर्वकर्मोंको भोगनेके लिये भेजा है। उसीके अनुसार हमें रोग और मृत्यु प्राप्त होती है। ५० वर्ष होनेपर व्यक्ति ५१वेंमें प्रवेश करता है, ४९वेंमें वापस नहीं लौटता। ज्यों-ज्यों उम्रकी संख्या बढ़ती है, ऐन्द्रियिक शक्ति घटती है, इसलिये शरीरायुको दीर्घ करनेके जिज्ञासु, संसार-वासनाके प्रेमी हमेशा जवान बने रहनेकी इच्छासे हजारों वर्षोंसे ऐसे रस-रसायनकी खोज करते आये हैं, जिससे सदा जवानी कायम रहे।

अभी एक ऐसे जिज्ञासु वैज्ञानिकने चार वर्ष पूर्व एक ७२ वर्षके व्यक्तिपर वैज्ञानिक उपचारसे उसकी उम्र उलटने का प्रयत्न किया था। लन्दनके इस विख्यात विशेषज्ञने उस व्यक्तिकी उम्रको 'उल्टी गङ्गा' की तरह बहाना चाहा कि ७२ से वह व्यक्ति २७ वर्ष-जैसा जवान बन जाय।

आप लोगोंको यह वैज्ञानिक प्रयोग सुनकर अवश्य आश्चर्य होगा। कदाचित् आपको भी अपने लाचार बुढ़ापेसे घृणा होकर, बिजलीकी चमककी तरह पहलेकी खोई हुई जवानीकी उमंग पा जानेकी उमंग मनमें पैदा हो जाय। यह प्रयोग कायाकल्पकी क्रियासे बिल्कुल भिन्न है। इसके पूर्व ३० महिलाओंपर वे डाक्टर अपने प्रयोग कर चुके हैं। उन महिलाओंके चर्मपर परिवर्तन हो गया था, रक्तके लालकण बढ़ गये थे, सफेद बाल काले हो गये थे। उन सबकी औसत उम्र ७५ वर्ष थी। इसी प्रयोगके अनुभव-आधारपर उस डॉक्टरने ७२ वर्षके महोदयपर प्रयोग करनेकी प्रेरणा व उत्साह पाया।

इस प्रयोगका वैज्ञानिक इन्द्रजाल सुनिये। डॉक्टरोंका कहना है कि शरीरकी ग्रन्थियोंकी क्रियाशीलतासे जवानी कायम रहती है और शिथिलतासे बुढ़ापा आता है। अतएव यदि

* Norman Barnesly Medical chaos and Crime.

† Appendix

‡ X ray

आकस्मिक दुर्घटनाओंसे मरते हुए जवान आदमियोंकी एड्रिनल ग्रन्थियाँ बूढ़ोंको लगा दी जायँ तो ग्रन्थियोंकी उत्तेजित क्रियासे जवानी लौट सकती है, उससे सारे शरीरकी रासायनिक क्रियामें परिवर्तन हो जायगा।

कतिपय डॉक्टर ऐसे ही अन्य प्रयोग करके असफल होकर इसे छोड़ चुके हैं और इससे सहमत नहीं हैं।

कायाकल्प रसायन

जबसे भगवान्ने मनुष्य बनाया और आयु पूरी करके वह मरने लगा, अथवा जबसे मनुष्यको अवतार लेनेके बाद अपनी गलतीसे रोग, ताप, मृत्यु होने लगी, तबसे बुद्धिपूर्वक वह रोग, ताप, मृत्युसे लड़ने, सदा जवान और अमर बने रहनेका रसायन खोजने-बनानेमें अबतक लगा हुआ है। अपने अतिभोजन, असंयम, व्यसन और कुकर्मी पशुप्रवृत्तिपर आत्मविजयका स्वयंमें सामर्थ्य न पाकर, अपनी इन दूषित मारक प्रवृत्तियोंको सुखदायीरूप मानकर कायम रखते हुए मजेमें जीनेके लिये हीरा-भस्म सेवन करके, अब वैज्ञानिक बनकर पशु एवं अन्य प्राणियोंके रक्त, मल, मूत्रसे भी ऐसा रसायन बनाने लगा है। ऐसे एक चमत्कारी पुनर्यौवनकारक प्रयोगके अन्वेषणका समाचार लन्दनसे १७ मई १९५८ के प्रकाशित 'डेली मिरर' अखबारमें छपा है, जिससे मालूम होता है कि अपना पाप बढ़ानेके लिये कितनी दूरतक वैज्ञानिक मानवने अपनी घृणित बुद्धि दौड़ायी है। एक बूढ़ेको युवा बनानेका नुस्खा एक डॉक्टरके दिमागमें सूझा। डॉ० नीद्हान्सने एक गर्भिणी भेड़को जिंदा चीर-फाड़कर मार डाला, उसका गर्भाशय निकालकर जल्दीसे अपनी मोटर-में वैज्ञानिक प्रयोगशाला ले गये, वहाँ चीरकर उसमेंसे गर्भस्थ जिंदा भ्रूण मेमनेको निकालकर उसको भी चीर डाला और उसके मस्तिष्क, हृदय, यकृत आदि अङ्गोंको निकाला और उन्हें अलग-अलग काँचके वर्तनोंमें सुरक्षित रख दिया, जिनमें पहलेसे कोई तरल रासायनिक पदार्थ रखा हुआ था। प्रत्येकमें उन अङ्गोंको घोलकर उन्होंने ६० इन्जेक्शन तैयार किये। ये इन्जेक्शन उन धनाढ्य बूढ़ोंको दिये जायँगे जो अपनी जवानी वापस बुलाना चाहते हैं। इस प्रयोगसे दो मासमें ८० वर्षवाले ६० के, ६० वाले ४०के और ४० वाले २० के बन जायँगे!

बहुत वर्ष पहले लोग बंदरकी ग्रन्थियोंके प्रयोग कर चुके हैं। इन रासायनिक हत्यारे प्रयोगोंसे मनुष्य, भेड़, बंदर, सूअरके रस, रक्त, पीव और अङ्गोंको वैज्ञानिक पद्धतिसे अपने शरीरमें प्रवेश करवाकर स्वयं क्या भेड़, बंदर, सूअर, नहीं बनता जा रहा है? भेड़, बंदर, सूअर अब मनुष्यके चोलेमें प्रविष्ट हो रहे हैं! अथवा कहिये कि विकास-क्रमसे जो बंदर मनुष्य बन गया है, वह अब, वैज्ञानिक साधनसे लौटकर भेड़, बंदर, सूअर बन रहा है। मनुष्य जैसा खाता है वैसा बनता है!

बताया जाता है कि दूधको फाड़कर चीज (पनीर) बनाया जाता है और उसे वैज्ञानिक विधिसे रखकर कालान्तरसे जब उसमें कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं तब उन कीटाणुओंको मारकर उसको ठोस बनाकर रख दिया जाता है। तब यह खानेयोग्य और शरीरके लिये बड़ा पोषक होता है।

सम्भवतः ऐसे पदार्थ खानेवालोंने ही कीटाणुवादका शोध किया। और वह विज्ञान इतना विकसित हुआ कि कच्छ, मच्छ, वाराह अवतारके, सृष्टिकालके आदिम चरणयुग अब वैज्ञानिक रूपमें अपनी आँखोंसे देख लीजिये।

इन सब विपाक्त घृणित प्रयोगोंसे भूमि, फसल, भोजन, पानी सब विपाक्त होनेसे मानवकी सामाजिक फसल—संतान भी कीटाणुवत् बन रही है। कुछ सौ वर्षोंमें आगेके मानव सृष्टि करनेयोग्य न रह जायँगे, फिर सबके मर जानेपर पृथ्वीपरसे मानव लुप्त हो जायगा। पशु-पक्षी, कीटाणु मात्र बच रहेंगे, न विज्ञान रहेगा, न वैज्ञानिक रहेंगे।

इतना सब पढ़कर आप कहेंगे—मैं बड़े अंधेरकी बातें लिख रहा हूँ, जो विज्ञान सारी दुनियामें प्रचलित, सरकारोंद्वारा पोषित है, वैज्ञानिक लोग अपने तथ्योंको प्रयोगद्वारा सिद्ध करते हैं, क्या सब दुनिया बेवकूफ-पागल है! चिकित्सा-शास्त्र सैकड़ों वर्षसे चला आ रहा है।

मैं कहता हूँ इस विज्ञानका साक्षात् नतीजा देख लीजिये। कोई भी बात बहुमान्य अथवा पुरानी होनेमात्रसे सत्य शिव सुन्दर होनेका प्रमाण नहीं है। उसके गुण-दुर्गुणका परिणाम देखिये। अधिक नहीं, गत पचास वर्षोंमें विज्ञानने जो उन्नतिका नगाड़ा पीटा है, उससे मानवका रोग कितना घटा है, स्वास्थ्य कितना बढ़ा है, उसे पौष्टिक भोजन, पानी, वातावरण, मानसिक शान्ति, प्रसन्नता कितनी मिल रही है! विज्ञान मनुष्यकी हत्या कर सकता है, मनुष्यको पैदा नहीं कर सकता। मनुष्य सोना पैदा करे, किंतु सोना मनुष्यको नहीं पैदा कर सकता। जंगलीपन और नास्तिकता सबसे पुरानी और आदि-कालमें प्रचलित थी, फिर इसीको अच्छा क्यों नहीं मानते!

हिंसक कलाकार

जंगली प्रदेशकी जंगली जातियोंकी फिल्मोंमें 'मानव बलि'के प्रसंग सिनेमामें दिखाये जाते हैं कि देवी-देवताओंके कोपसे होनेवाली महामारीसे बचनेके लिये वे पशुबलि या मानवबलि उन देवताओंको चढ़ाते हैं, यह समझकर कि देवी-देवता रक्तके भूखे-प्यासे होते हैं। आजकल वैज्ञानिक सभ्यता और मानवताके आदर्शमें इस प्रकारकी 'बलि'प्रथाकी अमानुषिकताको दूर करनेके लिये अहिंसावादी धार्मिक संस्थाओं और कानूनी प्रतिबन्धका विकास हुआ है; फिर भी 'पशु-बलि'का उतना विरोध नहीं है, अब तो भेड़-बकरोंके साथ गाय-बैल, गधे-घोड़े और शूकरको वैज्ञानिक विधियन्त्रोंसे हलाल करनेका विश्वव्यापक व्यापार नित्य होता है, मानवका अन्न-पानीसे पेट नहीं भरता, वह इन पशुओंको हलालकर उनके रक्त-मांससे अपनी भूख-प्यास बुझाता है। मानवताकी धार्मिक संस्था और समताका कानून केवल मानवके अपने लिये है।

परंतु इस व्यापारके साथ-साथ अब अहिंसावादका वैज्ञानिक रूप तो हमारे सामने है। उस व्यवस्थामें मनुष्यको जिंदा रखते हुए मनुष्य मनुष्यको उसका रोग-दुःख दूर करनेके लिये अमृत औषधके नामपर विषभरी दवा देकर, मीठे, भ्रान्त और अनिश्चित शब्दजालमय विज्ञापनसे उसे भुलावा देकर, उसे कीमतसे दवा देकर, उसके रक्तमें विष घोलकर, उसके शरीरपर छुरी चलाकर और प्रचलित प्राकृतिक जल, दूध एवं भोजनके तत्त्वोंको विषाक्त बताकर उनको शुद्ध सुपाच्य बनानेके धोखेमें विष घोलकर—उसे रोगी बनाते हुए—चूस-चूसकर धीरे-धीरे उसका—अपने मानव-बन्धुका बलिदान किया जाता है। किसी देवी-देवता परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये नहीं, वरं अपनी ही पेटकी ज्वालाको शान्त करनेके लिये, अपने विज्ञापन-कला और विज्ञानद्वारा अज्ञानियोंके अज्ञानके कारण उनकी ही बलि चढ़ाते हैं। और ये अज्ञानी रोगी खूब धन देकर, स्वास्थ्यके स्वर्गीय सुख पानेकी मृगतृष्णा—मृगजालमें फँसकर स्वयं बलिदान होते हैं। ऐसा आष्ट्रेलियाके अस्पतालकी एक ईमानदार 'मेट्रन'ने स्पष्ट कहा है—'नौ की लकड़ी नब्बे खर्च' 'टकेकी मुर्गी नौ टका किराया।' ठीक इन कहावतोंके ... आज दवाका व्यापार है। दो पैसेकी दवा, चार आनेकी शीशी, पैकिंग और बारह आनेका विज्ञापन। अमेरिकामें बीस हजार अखबारोंको अधिकांश मुनाफा इसी विज्ञापनसे होता है। दवा बनानेवालोंको जितना मुनाफा होता है, उससे कई गुना मुनाफा विज्ञापन करनेवाले अखबार, रेडियोवालोंको होता है। और एक दवा हमेशा उसी नामसे कायम न रहकर हर साल नये नामसे नये चमत्कारी गुणसे विज्ञापित होती है। सालभरमें पूर्व विज्ञापित दवाको उपयोगमें प्रभावहीन जानकर जनता उससे मन मोड़ लेती है, तब उसे नयी चमत्कारी चीज बताकर प्रसार किया जाता है। इस व्यापारमें शब्द बेचनेवाले साहित्यकार और चित्रकारोंका भी प्रमुख हाथ है। शब्द-रचनाके आकर्षक ढंगसे और चित्रकारीसे अज्ञानी रोगी जनताको ये ज्ञानी और कलाकार बेवकूफ बनाते हैं, फुसलाते हैं, अपनी कलापर दवावालोंसे धन कमाते हैं। दवा ही नहीं—बीड़ी, सिगरेट, शराब-जैसी घातक वस्तुएँ भी ऐसे ही विज्ञापनसे ही तो फैल रही हैं। भारतमें यह रोग बुरी तरह झपाटे-से फैल रहा है।

राजनैतिक और जनताको उभाड़नेवाले भाषण देनेपर वक्तापर कानूनसे रोक लगायी जाती है। पकड़कर 'शान्ति भङ्ग' करनेके अपराधपर जुर्माना-जेलकी सजा होती है। उनके भाषण अखबारमें छपनेके पहले 'सेंसर' होते हैं; परंतु वैज्ञानिकता, रोगनाश और स्वास्थ्य-साधनके नामपर ये दवाके धंधेधारी अधिकारी लोग अपनी शब्दचातुरी, वाक्चातुरी, चित्रचातुरी अथवा छुरीचातुरीसे दुखी-रोगी जनताका 'शरीर' भंग करते हैं, जिनका अखबारोंपर रुपयेके बलपर आधिपत्य है, जिन्हें कानूनकी ओरसे कोई रोक न होकर पूरी स्वतन्त्रता है। आजकल उन जंगली जातियोंद्वारा परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये 'मानव-बलि' की प्रथाको हम अज्ञानका युग कहते हैं; परंतु उसके स्थानपर 'मानव बलि' आजकल सभ्य मानवद्वारा जीवित रूपमें विज्ञानके युगमें दिन-दहाड़े विश्वव्यापक है। मनुष्य मनुष्यको जिंदा रखते हुए धीरे-धीरे बुद्धिपूर्वक वैज्ञानिक विधिसे चूस-चूसकर खाता है। यह है हमारी मानवताका मानवके प्रति आत्मवत् व्यवहार! बुद्धिमान् मूर्खको खाता है, सबल निर्बलको खाता है, शासक शासितको खाता है, धनिक गरीबको खाता है। भक्ष्य अपने भक्षकके आश्रयमें पलता है, उसे अपना पोषक और रक्षक मानता है। अज्ञानपर ज्ञानका चमत्कार! कहनेका तात्पर्य यह है कि हे मेरे देशके रोगी-व्यसनी माताओ-पिताओ, मुर्दार होनहार संतानके माताओ, पिताओ और मेरे देशके भाई-बहिनो! यदि आपको सात्त्विक नीरोगी बनकर जीवनका आनन्द लेना है, सच्चे अहिंसक बनना है, तो इन देशी-विदेशी

वैज्ञानिक प्रचारित वस्तुओं, दवाओंका विज्ञापन, धंधा और प्रयोग अपने परिवारमें बहिष्कार कर दें। केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता निरर्थक है। जबतक कि राष्ट्रका प्रत्येक व्यक्ति सात्त्विक स्वस्थ सबल न हो, स्वतन्त्रता कंकालमात्र और ढोलकी आवाजमात्र है। कितना भी बीमार पड़नेपर दवा, केप्सूल, गोलियाँ, इंजेक्शन मरते दमतक न लें। आप कहेंगे जीवन-रक्षा, आत्मरक्षाके लिये कुछ भी पाप नहीं है, जीनेके लिये दवा खाना, अपने शरीरमें दूसरेका रक्त डालना (Blood Transfusion) आवश्यक है, दवा या ऐसे वैज्ञानिक साधनोंके बिना मनुष्य मर जायगा।

यह निरी भ्रान्ति है, गलत विचार है। कोई भी व्यक्ति, महामूर्ख भी, अपना वमन किया हुआ भोजन, अपना ही मल-मूत्र नहीं खा-पी सकता, अपना ही रक्त नहीं पीता, दूसरे पशुओंके रस, रक्त-पीब, मल-मूत्र नहीं खा-पी सकता, उसे घृणा होगी; परंतु वैज्ञानिक मिश्रणसे इन्हें मुँहसे तथा चर्मरक्तद्वारा अपने शरीरमें, अपना रोग-नाशके लिये प्रविष्ट कराता है—यह उसकी वैज्ञानिक बुद्धिके लिये कितनी घृणित और शर्मकी बात है। इसकी अपेक्षा तो अपना ही रस, रक्त, मल; मूत्र खाओ-पियो तो कहीं श्रेष्ठ है।

चौरासी लाख प्रकारके प्राणियोंमें मानवके अतिरिक्त किसीको वैज्ञानिक बुद्धि नहीं है। उनको इतना रोगी होते नहीं देखा गया। वे वैज्ञानिक दवाइयाँ, अन्य प्राणियोंके रक्त-रस आदिसे बने घृणित पदार्थ नहीं खाते। फिर ऐसा करनेमें मनुष्यकी कौन-सी श्रेष्ठता है और उसने अबतक अपनेको श्रेष्ठ मानकर क्या पाया है? जैसे सब प्राणियोंका शरीर संयम और आत्मशुद्धिसे स्वस्थ रहता है, उसी नियमसे मानव-शरीरकी भी रचना है। इसे किसी अन्य डॉक्टर या साधनकी कोई आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं अपनी चिकित्सा, नवनिर्माण और विषाक्त तत्त्वोंसे अपनी रक्षाके लिये जन्मसे ही समर्थ बनाया गया है। दवाके बिना वह मरेगा नहीं, वरं दवाके बिना उसे स्वस्थ होनेमें अपनी शक्तिका प्रमाण देनेका अवसर मिलेगा।

लात मार दी

हमारे भारतमें ऐसे घातक खाद्य पानी, दवा, व्यसन और सौन्दर्य-प्रसाधनोंके निर्माता साहित्यकारों, चित्रकारोंसे आकर्षक कहानी चित्र प्रतिस्पर्धाका विज्ञापनकर उन्हें भारी पुरस्कार देते हैं, अधिकारी डॉक्टरोंको किसी प्रकार प्रसन्न कर अपने पेटेंटपर उनका प्रमाणपत्र प्राप्त करते हैं, जनताके गुमनाम कल्पित हस्ताक्षरसे उन वस्तुओंसे लाभान्वित आपबीती कहानी छापते हैं—विज्ञापनके ये बड़े हथियार जनताको बेवकूफ बनानेमें सफल होते हैं। भारतके औषध-निर्माण तथा प्रचार क्षेत्रमें यह पाप आगकी तरह बढ़ रहा है।

फलोंमें बिटामिन होता है, प्राकृतिक भोजन है, यह बात समझानेके लिये केलिफोर्निया (अमेरिका) का एक शराब-निर्माता एक विख्यात प्रमाणित डॉक्टरके पास पहुँचा कि फल अधिक कालतक नहीं टिक पाते, दूर भेजनेमें खराब हो जाते, सड़-गल जाते हैं। अतः फलोंके गुणसे टिकाऊ लाभ लेनेके लिये उनका रस हम निकालकर शराब बनाते हैं। आप इस तथ्यको लेकर एक छोटी-सी पुस्तिका लिख दें, प्रचार होगा, इसके लिये मैं एक लाख डालर (पाँच लाख रुपये) आपको दूँगा।

डॉक्टर बोले—फल खानेमें दुर्गुण नहीं है; लेकिन शराबसे नैतिक, सामाजिक, आर्थिक हानि कितनी होती है, आप स्वयं आँखोंसे देखते हैं। ऐसी पुस्तक मैं लिखूँ तो लोगोंको मेरे शब्दोंसे प्रोत्साहन मिलेगा। ऐसा करना समाज-द्रोह, मानवद्रोह और देशद्रोह है, देशका पतन होगा। मैं ऐसी पुस्तक लिखकर अपने देश-भाइयोंको धोखा नहीं देना चाहता। देशका पतन नहीं होने दूँगा। मैं सब-कुछ जानकर भी एक लाख रुपये पानेके लिये ऐसी पुस्तक लिखूँ तो यह अपनेको स्वयं धोखा देना है। मैं न तो पुस्तक लिखूँगा, न रुपये लूँगा। मैं इतना नीच, जघन्य नहीं हूँ।'

इतना सब पढ़-जानकर आपमें मानवता, आत्मीयता कुछ जाग्रत् हुई? दुनियाको सुधारनेकी ठेकेदारी मेरी या आपकी नहीं है। दूसरेको कोई जबरदस्ती न तो कुछ दे सकता है, न सुधार सकता है। किंतु दुनियामें नित्य होनेवाले इस वैज्ञानिक सभ्यताके अंधेरको जानकर इससे प्रत्येक व्यक्तिको सावधान हो जाना चाहिये। आप भले तो जग भला। व्यक्ति-मात्रके स्वयं सुधरनेसे समाज, देश और दुनियाका सुधार अपने-आप होता है।

अपनी आत्मा बेचनेवाले भारतीय साहित्यकार, कलाकार और विज्ञापकोंको इस उदाहरणसे सीखना चाहिये।

Save yourself from abetting the Social Crime and save the society from your selfish sly art. Thus keep away from the skills of misnomer science.

संत-महात्माओंकी दृष्टिमें संसार

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इस संसारको 'अनित्य, सुखहीन[1] तथा दुःखालय और अशाश्वत[2]' कहा है। भागवतकारने इसका नाम 'दुःखग्राम' (१ । ३ । २९) रखा है।[3] गोस्वामी तुलसीदासजी इसे अविचारित तथा आपातरमणीय बतलाते हैं, वस्तुतः वे इसके वास्तविक स्वरूपको अत्यन्त भयंकर बतलाते हैं—

अनबिचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी[4]।

वेदान्तियोंकी दृष्टिसे यह प्रतिक्षण परिवर्तमान तथा निस्सार है—

देखत ही कमनीय, कछू नाहिन पुनि किएँ बिचार।
(विनय० १८८)

विशेषकर इसका आकर्षक स्वरूप नितान्त निस्सार तथा क्षणिक है—

ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार।

राजतरङ्गिणीकारकी दृष्टिमें संसारमें निरवच्छिन्न क्लेश तो है, किंतु विशुद्ध, दुःखासंस्पृष्ट, निरवच्छिन्न सुख नहीं है—

दुःखं सुखेन पृथगेवमनन्तदुःख-
पीडानुवेधविधुरा न सुखस्य वृत्तिः।
(६ । ७-८)

सांख्यदर्शनकी दृष्टिमें भी सांसारिक सुख दुःख-शबल होनेके कारण दुःखमें ही परिगणित होने योग्य हैं—

कुत्रापि कोऽपि सुखीति तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः। (६ । ७-८)

योगदर्शनके अनुसार भी परिणाम आदिपर विचार करनेसे संसारके सुख भी भयानक उपद्रव तथा दुःख-कारक ही हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (२ । १५)

अर्थात् दुःख तो दुःख हैं ही, सुख भी परिणाममें दुःखयोनि हैं। उनके वियोग होनेपर परिताप तथा हृदयपर संस्कार जम जानेसे बादमें याद पड़कर गृह, मित्र, जाया आदि शोकके कारण होते हैं। यही उनका परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख आदि है। भर्तृहरिकी दृष्टिमें यह संसार विषमय है। एक अन्य कवि भी यही कहता है—

दुःखाङ्गारकतीव्रः संसारोऽयं महानसो गहनः।
इह विषयामृतलालस मानसमार्जार मा निपत॥

सूरदासजी भी इस संसारको विषयरूपी विषका सागर बतलाते हैं—

यह संसार बिषय बिष सागर रहत सदा सब घेरे।
(सूरविनयपत्रिका, गीताप्रेस, ९१)

कबीरदास कहते हैं—

---

१. अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।
(९ । ३४)

२. ···दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ (८ । १५)

३. जन्म गुह्यं भगवतो य एतत् प्रयतो नरः।
सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद् विमुच्यते॥

इस श्लोकके 'दुःखग्राम' पदका श्रीधरस्वामी तथा प्रायः अन्य सभी टीकाकारोंने 'संसार' ही अर्थ किया है।

४. किसी अन्य कविने भी कहा है—
अयमविचारितचारुतया संसारो भाति रमणीयः।
अत्र पुनः परमार्थदृशा न किमपि सारमणीयः॥

५. विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते।
जन्मान्तरघ्ना विषया एकदेहहरं विषम्॥
(योगवासिष्ठ १ । २९ । १३)

विषयोंकी तीक्ष्णता ही विष है, विष उसके सामने कुछ नहीं। विष एक ही देहका नाश करता है, विषयोंका प्रभाव तो जन्मान्तरके शरीरोंको भी नष्ट करता चला जाता है।

यह संसार कागदकी पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँटकी बाड़ी, उलझ पुलझ मरि जाना है॥
यह संसार झाड़ और झाँखड़, आग लगे जरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है॥
(भजनसंग्रह, भाग १, गीताप्रेस, २१७)

गोरखनाथजीकी वाणी है—

नाथ कहै तुम आपा राखो, हठ करि वाद न करणा।
यह जग है काँटेकी बाड़ी, देख देख पग धरणा॥

श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजीने महात्मा जडभरतके द्वारा विस्तारपूर्वक भवाटवीका वर्णन कराया है। उसकी तीक्ष्णता तथा भयानकता पञ्चम स्कन्धके १३ वें, १४ वें अध्यायमें देखनी चाहिये। उसे लिखनेसे यहाँ बहुत विस्तार हो जायगा।

गोस्वामी तुलसीदासजीने—

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु, भाई रे।
नाहिं त परिबो भव बेगारि महँ, छूटत अति कठिनाई रे॥

मैं तोहि अब जान्यौ संसार

—इत्यादि विनयपत्रिकाके भजनोंमें संसारकी भयानकता दिखलायी है। तथापि भारतवर्षमें मानव-शरीर ग्रहणकर संसृतिग्रस्त प्राणी भी भगवद्भजनके सहारे अपना श्रेय सम्पादन कर सकता है। सभी प्रलोभनोंसे बचकर नित्य-निरन्तर भगवत्स्मरण तथा स्वधर्मानुष्ठान करनेवाला प्राणी देवताओंसे भी श्रेष्ठ गतिको प्राप्त कर सकता है, किंतु यहाँ भगवत्स्मरणसे रिक्त समयका यापन तथा स्वधर्म-विरोधी कर्तव्योंका अनुष्ठान अवश्य भारी चिन्ताकी बात है। इस भयंकर विपत्तिकी स्थिति तथा अत्यन्त क्षणिक किंतु दुर्लभ मानव-शरीरको पाकर भजन न करना ही सबसे बड़ी हानि है—

हानि कि जग एहि सम कछु भाई।
भजिअ न रामहि नर तनु पाई॥

इयमेव परा हानिरुपसर्गोऽयमेव हि।
अभाग्यं परमं चैतद् वासुदेवं न यत् स्मरेत्॥
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि केशवं नैव चिन्तयेत्।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिस्सैव विक्रिया॥
(स्कन्द० काशीखण्ड; गरुडपुराण, पूर्वखण्ड)

इस तीक्ष्ण विषाग्निमय दंदह्यमान संसाररूपी कड़ाहमें भी भगवत्स्मृति दिव्य सुधा है। इसका तात्त्विक स्वाद मिल जानेपर तो परम कल्याण सुलभ ही है। पर जबतक विषयरूपी विषकी मिथ्या माधुरी दूर नहीं हुई, तबतक इसका वास्तविक स्वाद अज्ञात ही समझना चाहिये।

तुलसी जब लगि विषय की सुधा माधुरी मीठि।
तौलौं सुधा सहस्र सम राम भगति सुठि सीठि॥
(दोहावली)

वस्तुतः सत्सङ्ग, भगवत्स्मृति, भगवच्चर्चा तथा स्वधर्मानुष्ठानमात्र ही इस संसारमें सार पदार्थ हैं—

विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां
भवति शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम्॥
(वामनपुराण ९४। १९)

असारे खलु संसारे सारमेतत्त्रयं स्मृतम्।
काश्यां वासः सतां सेवा मुरारेः स्मरणं तथा॥
विष्णुरेकादशी गङ्गा तुलसी विप्रधेनवः।
असारे दुर्गसंसारे षट्पदी मुक्तिदायिनी॥
तुलसी ब्राह्मणा गावो विष्णुरेकादशी खग।
पञ्चप्रवाहणान्येव भवाब्धौ मज्जतां सताम्॥
दानं सत्यं दयां चेति सारमेतज्जगत्त्रये।
(गरुड० उत्तर० १९। २२-२३; २८। ३७)

महाराष्ट्रकी मीराँ संत जनाबाई

(लेखक—डा० श्रीकृष्णलालजी हंस, एम्० ए० पी-एच्० डी०)

हिंदीके संत-साहित्यमें जो स्थान मीराँबाईको प्राप्त है, वही स्थान मराठीके संत-साहित्यमें जनाबाईको प्राप्त है। दोनोंकी भक्ति-प्रणाली भी लगभग एक-सी ही है। जनाबाईके विट्ठल अथवा पाण्डुरङ्ग ही मीराँबाईके गिरधर गोपाल हैं। जनाबाईका आविर्भाव-काल मीराँबाईसे लगभग दो शताब्दी पूर्व हुआ था।

जनाबाईका स्थान महाराष्ट्रकी संत कवियित्रियोंमें सर्वोच्च है। उसकी भक्ति-भावना ही नहीं, काव्य-वैभव भी अपूर्व है। उसके काव्यमें कल्पनाकी उड़ान और भाषाकी प्रगल्भता नहीं है। भाषाकी सरलता तथा भोले और प्रेमार्द्र हृदयकी भक्ति-विह्वलता ही उसके काव्यकी वे विशेषताएँ हैं, जिन्होंने उसे मराठीके संत-साहित्यमें सदाके लिये अमर बना दिया है। उसके द्वारा रचित अभङ्ग आज लगभग छः सौ वर्षके पश्चात् भी मराठीभाषियोंकी वाणीपर तरङ्गित दिखायी देते हैं।

गोदावरीके पुनीत तटपर गंगाखेड़नामक एक छोटा-सा ग्राम है। वहीं इस भक्तिमती देवीका जन्म एक शूद्र परिवारमें हुआ था। इसके माता-पिता विट्ठलभगवान्‌के परम भक्त थे। वे प्रतिवर्ष पंढरपुरकी यात्रा करते थे। भक्त माता-पिताकी संतानके हृदयमें भक्तिका बीज उर्व्वसित होना स्वाभाविक ही था। जनाबाई जब केवल पाँच वर्षकी ही थीं, अपने माता-पिताके साथ पंढरपुरकी यात्राको गयीं। वह वहाँ विट्ठलभगवान्‌की मूर्तिके दर्शन करते ही मुग्ध हो गयी। उसके माता-पिताने उसे बहुत समझाया, किंतु वह मन्दिरसे हटनेको सहमत न हुई। यह देखकर उसके पिता दामा तथा माता करुंडने उसे नामदेवके पिता दामा सेठको सौंप दिया। वह नामदेवके परिवारकी एक सदस्या बन गयी। उससे जब कोई यह पूछता कि वह किसकी लड़की है, वह उत्तरमें यही कहती कि वह नामदेवकी दासी है। अपने अभङ्गोंमें भी उसने 'दासी जनी' शब्दका ही प्रयोग किया है। इस परिवारमें रहते हुए उसकी भगवद्भक्ति और भी विकसित हो गयी। नामदेवकी सेवा करना और उनके साथ भगवद्भक्तिमें तल्लीन रहना ही उसके जीवनके कार्य थे। कहते हैं, स्वयं नारदजीसे उसने दीक्षा ग्रहण की थी। उसने स्वयं नामदेवके सत्सङ्गसे भक्तिका प्रसाद प्राप्त होना स्वीकार किया है।[1]

ऐसा जान पड़ता है कि जनाबाई आजन्म अविवाहित ही रही और हरि-स्मरणमें ही उसने अपना जीवन बिता दिया। वह निष्कामकर्मयोगिनी थी। उसकी भगवद्भक्ति किसी कामनासे न थी, वह केवल भगवान्‌के सांनिध्यकी आकाङ्क्षिणी थी। वह केवल यही चाहती थी कि उसे सर्वत्र और सर्वकाल उसके परम प्रियतम आराध्यके दर्शन होते रहें—

हेंचि देई हृषीकेशी। तुझे नाम अहर्निशी॥
रूप न्याहाळीन डाळा। पुढें नाचेन वेळोवेळा॥
सर्वाठायीं तुज पाहें। ऐसें देऊनि करीं साहे॥
धावा करितां रात्र झाली। दासी जनीसि भेटी दिली॥

वह कहती है—'हे हृषीकेश! मुझे यही वरदान दे कि मैं रात्रि-दिवस तेरा नाम लेती रहूँ। मेरे नेत्रोंके सामने तेरा रूप नाचता रहे। मैं सर्वत्र तुझे देखती रहूँ। तू मुझे इस प्रकारका वरदान देकर मेरी सहायता कर। जब मुझे दौड़ते-दौड़ते रात्रि हो गयी, तब भगवान्‌ने मुझे दर्शन दिये।' अब वह आराध्यमय हो गयी। उसे प्रत्येक वस्तु आराध्यस्वरूप दिखायी देने

---

१. जनी म्हणे जोड झाली विठोबाची।
दासी नामयाचि म्हणोनिया॥

लगी । वह भगवान्‌में तन्मय होकर कहती है—'मैं देव खाती, देव पीती और देवपर ही सोती हूँ । मैं देव देती, देव ही लेती और देवके साथ ही व्यवहार करती हूँ । यहाँ-वहाँ सर्वत्र देव ही है । कोई भी स्थान देव-से शून्य नहीं है । मेरा अन्तर और बाह्य देवसे ही पूर्ण है ।'[1]

कितनी महान् भाग्यशालिनी है वह ! उसे अपने प्रियतम आराध्यके बिना चैन नहीं, उधर उसके आराध्यको भी उसके बिना चैन नहीं है । वह सदैव उसीके आगे-पीछे डोलता रहता है । वह उससे एक क्षणको भी विलग नहीं होता । वह जहाँ जाती, वहीं वह उसके साथ चला जाता और उसकी उसके प्रत्येक कार्यमें सहायता करता है । 'वह पानी भरने जाती, उसका आराध्य उसके साथ वहीं चला जाता और अपने हाथसे उसकी गागर भरने लगता है ।'[2] वह जंगलमें कंडे बीनने जाती है, उसका आराध्य पीताम्बर पहिने उसके साथ कंडे बीनता दिखायी देता है ।[3] वह धान कूटना आरम्भ करती है, उसका प्रियतम उसके हाथसे मूसल लेकर स्वयं कूटने लगता है । कूटते-कूटते उसके हाथमें छाले पड़ जाते हैं, पर वह मूसल नहीं छोड़ता ।[4] अत्यधिक कार्यव्यस्तताके कारण जनी अधिक दिनोंतक अपना सिर नहीं धो पाती, वह स्वयं उसकी वेणी अपने हाथमें लेकर माताकी तरह सँवारने लगता है ।[5] धन्य है उसकी भगवद्भक्ति !

वह रात्रिके तीसरे प्रहरमें उठकर चक्कीसे अनाज पीसती और सुरीले कण्ठसे गीत गाती जाती है । उसके स्वरके साथ किसी दूसरेका भी गीत-स्वर सुनायी देता है । नामदेवकी माता गोणाईको उसके साथ किसी अन्य पुरुषके होनेका संदेह होता है और वह करछुल लेकर उसे मारने जाती है । वह वहाँ देखती है कि उसके साथ कोई पुरुष नहीं, पर दूसरी एक स्त्री पीसती हुई गीत गा रही है और वह अपना नाम 'बिठाबाई' बतलाती है । गोणाईके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहता, वह लज्जित होकर लौट आती है । नामदेव समझ लेते हैं, यह बिठाबाई और कोई नहीं, पर उसका परम प्रियतम आराध्य 'विठ्ठल' ही है, जो कभी पुरुषवेशमें और कभी स्त्रीवेशमें सदैव अपनी अनन्य भक्ता जनाबाई-के साथ बना रहता है ।[6]

जनाबाईकी अनन्य भक्तिके कारण उसे सदैव अपने आराध्यका मधुर मिलाप प्राप्त था । वह प्रत्येक कार्य ईश्वरार्पण-बुद्धिसे करती और अपने उन कार्योंमें अपने आराध्यका ही योग अनुभव करती थी । इस प्रकार उसे तादात्म्य स्थिति प्राप्त थी । उसे यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि उसके सब काम ईश्वर ही करता है । वह इसी मधुर भावनासे अपने सब कार्य करती थी । उसकी इस भावनासे उसकी सब क्रियाएँ पुनीत हो गयी थीं और वह अपने हृदयमें नित्य नूतन बल-संचारका अनुभव करती थी । इससे उसका जीवन अत्यन्त पवित्र और आह्लाददायक बन गया था । उसके अनेक अभङ्गोंसे ऐसा जान पड़ता है कि उसकी

---

१. देव खातें देव पितें । देवावरी मी निजतें ॥
देव देतें देवा घेतें । देवासवें व्यवहारितें ॥
देव येथें देव तेथें । देवा वीण नाहीं रितें ॥
जनी म्हणे विठाबाई । भरुनि उरली अन्तर्बाहीं ॥

२. पाणी आणावया गेली । तिच्या मागें धांव झाली ॥
घागर घेऊनी हातांत । पाणी ओती रांजणांत ॥

३. शेणी वेंचू गेलें राना । पाठीमोरा उभा कान्हा ॥
× × ×
पितांबराची घाली कास । शेणी वेंची सावकाश ॥

४. हातां आले फोड़ । जनी म्हणे मुसळ सोड़ ॥

५. आपुले हातीं वेणी घाली । जनी म्हणे माय झाली ॥

६. एकलीच गाणें गात । दुजा साद उमरत ॥
कोण गे तुझे बरोबरी । गाणें गातो तुझे धरी ॥
खूण कळली नामदेवा । विठ्ठल जनींचिया भावा ॥

अपने आराध्यके प्रति मातृत्वकी भावना भी कम न थी। वह उसे किंचित् भी अपनी दृष्टिसे ओझल देखती तो वह उसी प्रकार उसके लिये बिलखने लगती, जिस प्रकार शिशु अपनी माताके लिये बिलखने लगता है। शिशुको बिलखते देख जैसे माता अपना सब कार्य छोड़ उसके पास दौड़ी आती है, इसी प्रकार उसका आराध्य भी उसका क्रन्दन सुन दौड़ पड़ता है। वह कहती है—'मैं तेरे बिना कैसे जीवित रहूँ, अपने प्राणोंको जानेसे कैसे रोकूँ। मेरे प्राण निकलना ही चाहते हैं, मेरी माता! शीघ्र ही दौड़कर आ। हे माता! मैं तुझसे प्रार्थना कर रही हूँ, तू आकर मुझे दर्शन दे[1]। वह एक दूसरे अभङ्गमें अपने उद्धारकी प्रार्थना करती हुई कहती है—'हे विट्ठल! क्या तू न आयेगा? मुझसे ऐसा कौन-सा अपराध हो गया है? तू ही मेरा माता-पिता और स्वामी है, मेरी सुध ले और मेरा उद्धार कर। तूने अनेक बड़े-बड़े पापियोंका उद्धार किया है। मेरे-जैसी पापिनीका उद्धार करना तेरे लिये कौन कठिन है। हे दीनानाथ! हे दीनबन्धु! हे कृपासिन्धु! मेरा भी उद्धार कर।[2]' कितनी विह्वलता और प्रेमार्द्रता है जनाबाईकी वाणीमें।

जनाबाईके कुछ अभङ्गोंमें दार्शनिक भावनाएँ भी बड़ी सुन्दरतासे व्यक्त हुई हैं। वह एक अभङ्गमें कहती है—'मैंने पंढरपुरके चोरको उसके गलेमें रस्सी बाँधकर पकड़ लिया है। मैंने अपने हृदयको वन्दीगृह बनाकर उसमें उसे बंद कर दिया है। मैंने शब्दोंको जोड़कर बेड़ी तैयार की और वह बेड़ी विट्ठलके पैरोंमें डाल दी है। इसके पश्चात् जब मैंने उसे 'सोऽहं' शब्दकी चाबुकसे मार लगाना शुरू किया, तब वह कायल हो गया। मैंने उससे कहा कि 'हे विट्ठल! अब मैं तुझे इस जीवनमें कभी भी अपने हृदयके वन्दीगृहसे मुक्त न करूँगी।[3]' जनाबाईके इस रूपकमें जो उसके हृदयका सौन्दर्य परिलक्षित है, वह काव्यके महान् सौन्दर्यसे किसी प्रकार भी कम मूल्यवान् नहीं है। यदि भगवान् अपने ऐसे भक्तके लिये धान कूटने, अनाज पीसने, कपड़े धोने, पानी लाने और कंडे बीननेका कार्य करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।[4]

जब भक्त अपने भगवान्में पूर्ण तन्मय हो जाता है, उसके विरहमें क्रन्दन करने लगता है, उसके मिलनका अनुभव करके नृत्य करने लगता और निशि-वासर उसके ध्यानमें आत्मविस्मृत बना रहता है, तब भगवान् सर्वथा उसके वशमें हो जाते हैं और उसके संकेतोंपर दौड़े-दौड़े फिरते हैं। वह भक्त धन्य है, जिसके संकेतपर, अपने संकेतपर समस्त विश्वका संचालन करनेवाला स्वयं चलनेको विवश होता है। जनाबाई महाराष्ट्रकी एक ऐसी ही भक्तप्रवरा थी। वह अपढ़ थी, असंस्कृत थी, शूद्रकन्या थी; किंतु उसकी अनन्य भक्तिने उसे संतोंके लिये भी वन्दनीय बना दिया।

अन्य भगवद्भक्तोंकी तरह जनाबाईके जीवनसे सम्बन्धित भी अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ सुनी जाती हैं। उसमेंसे एक घटना इस प्रकार है। एक दिन

१. तुजविण काय करूँ। प्राण किती कंठीं धरूँ॥
आतां जीव जाऊँ पाहे। धांव घाली माझे माये॥
माझी भेटेना जननी। संता विनवी दासी जनी॥

२. कां ग न येसी विट्ठला। ऐसा कोण दोष मला॥
मायबाप तूंचि धणी। मला सांभाळी निर्वाणी॥
त्वां वा उद्धरिले थोर। तेथें कोण मी पामर॥
दीननाथा दीनबंधू। जनी म्हणे कृपासिंधू॥

३. धरिला पंढरिचा चोर। गळा बांधोनिया दोर॥
हृदय बंदीशाळा केले। आंत विट्ठला कोंडिलें॥
शब्दें केली जुड़ा-जुड़ी। विठ्ठलपायीं घातली बेड़ी॥
सोहं शब्दांचा मार केला। विठ्ठल काकुळती आला॥
जनी म्हणे बा विट्ठला। जीवें न सोडी मी तुला॥

४. दळण कांडण धुणें धोवुनी पाटी डोईवरी।
गवऱ्या वेंचुन आणी घरी॥

रात्रिके तृतीय प्रहरमें विट्ठलभगवान् जनाबाईके साथ पीसने बैठ गये और उसके स्वरमें स्वर मिलाकर गाने लगे। गीतोंकी तल्लीनतामें उन्हें समयका ध्यान न रहा। प्रात:कालकी आरतीका समय हो गया, किंतु मन्दिरमें भगवान् नहीं हैं; यह स्मरण आते ही जनाबाईने तुरंत ही विट्ठलभगवान्को मन्दिरमें भेज दिया। शीघ्रतामें जनाबाईका कम्बल उनके साथ चला गया। मन्दिरमें भगवान्को कम्बल ओढ़े देखकर ब्राह्मणोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। पता लगानेसे विदित हुआ कि वह कम्बल जनाबाईका है; फिर क्या था, उनके क्रोधकी सीमा न रही। उन्होंने सोचा, 'जनाबाईने भगवान्का स्वर्णपदक चुरा लिया है और यह चोरी छिपानेके लिये उसने अपना कम्बल उन्हें ओढ़ा दिया है।' उन्होंने जनाबाईके लिये प्राणदण्ड घोषित कर दिया। वह शूलीपर चढ़ानेके लिये वध-स्थलमें लायी गयी। उसने मृत्युके पूर्व जैसे ही अपने आराध्यका स्मरण करते हुए शूलीकी ओर देखा, शूली जलके रूपमें परिवर्तित हो गयी। उपस्थित जनसमूह यह चमत्कार देखकर स्तम्भित हो गया और जनाबाईकी भगवद्भक्तिकी मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा करने लगा।

जनाबाईका साहित्य

इस अपठित संत गायिकाद्वारा रचित लगभग तीन सौ अभङ्ग अवश्य उपलब्ध हैं। अध्यात्म, भगवद्भक्ति, हरिनाम-महिमा, नामदेव-प्रशंसा, पौराणिक आख्यानादि इसके अभङ्गोंके प्रमुख विषय हैं। स्त्री-सुलभ विनीत और कोमल भावना, आर्तहृदयाभिव्यञ्जना, भक्तहृदयकी विह्वलता एवं अपने आराध्यके प्रति व्यक्त की गयी अनन्यता इसके काव्यकी विशेषताएँ हैं। कुछ अभङ्ग प्रसङ्गानुसार पहले दिये जा चुके हैं। उसके एक वात्सल्य-रस-पूर्ण अभङ्गका भावार्थ इस प्रकार है—

'वैकुण्ठमें निवास करनेवाला हरि यशोदाके घरके आँगनमें रेंग रहा है। उसके सिरपर जवालकी वेणी है। पैरोंमें पैजनी और कड़े तथा हाथमें मक्खनका लौंदा है। माता यशोदा! तू धन्य है। यह दासी जनी तेरे चरणोंकी वन्दना करती है।'[1]

भगवान् जनाबाईके घर आते हैं। वह उनका सम्मान करनेमें अपनेको असमर्थ पाती है। वह कहती है—'भगवन्! मैं तेरा स्वागत कैसे करूँ? तू तो वैकुण्ठके रत्न-सिंहासनपर आसीन रहनेवाला है। मेरे घर तो एक कुरूप खुरदरा आसन है, जिसपर मैंने एक फटा कपड़ा बिछा रखा है। तू विश्वम्भर है, मैं तेरा सम्मान कैसे करूँ? एक टूटी हुई खाट है, जिसपर एक गुदड़ी बिछी हुई है। तेरे समान सुकुमार-को उसपर निद्रा कैसे आयेगी? तू मेरे घरके फूटे तूँबेमें जल कैसे पीयेगा? रुक्मिणी सुस्वादु व्यञ्जनोंसे थाली सजाकर तेरी प्रतीक्षा कर रही हैं। हे विट्ठल! क्या तू मेरे घरके रूखे-सूखे बासी स्वादहीन टुकड़े खा सकेगा?'[2] उसकी विवशता कितनी हृदयस्पर्शिनी है! जनाबाईके सभी अभङ्गोंमें उसके हृदयकी सरलता और उसके हृदयमें प्रवाहित होनेवाले प्रेमका विमल स्रोत देखा जा सकता है। साहित्य-सौन्दर्यकी दृष्टिसे उसका साहित्य भले ही उच्चकोटिका न हो, किंतु

१. वैकुंठीया हरी। ताना यशोदेचा घरी॥
रांगत से हा अंग णी। माथां जावळाची वेणी॥
पायीं पैंजण आणि वाळे। हातीं नवनीताचे गोळे॥
धन्य यशोदा माय। दासी जनी बंदी पाय॥

२. खड़तरले आसन त्यावर झुड़तरले वसन।
तुज कैंचे रत्नसिंहासन रे विठोबा॥
काय करूँ उपचार भक्तिभावाचा लाचार।
तो तूं विश्वी विश्वम्भर सर्वसाक्षी रे विठोबा॥
मोड़कीसी बाज त्यावर वाकळाची सेज।
तुज सुकुमारासी नीज कैसी येईल रे विठोबा॥
फुटकासा तुंबा कैसा उदक पिशी बा।
ताट वाढुनि रुक्मिणि रंभावाट पाहे रे विठोबा॥
वाळले चिळले कुटकें शिळे आणि तुटके।
मज दासी जनी घरींचे विटके खासी रे विठोबा॥

भक्ति-साहित्यकी दृष्टिसे वह अत्युच्च कोटिका अवश्य है। उसकी इसी श्रेष्ठताने उसे मराठीभाषियोंका कण्ठहार बना दिया है। उसके काव्यका गान करते हुए कोई भी आत्मविभोर हो सकता है। जनाबाईके कृष्णजन्म, हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद-चरित्र, द्रौपदी-चीरहरण आदिसे सम्बन्धित अभङ्ग भी प्राप्त हैं।

दिव्यलोक-प्रयाण

महाराष्ट्रकी इस भक्तप्रवरा भगवद्गुणगायिकाका देह-त्याग आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी, सं० १३५० वि० को हुआ था। उसने समाधिस्थ होनेके पूर्व एक अभङ्गमें कहा है कि 'मेरे मनमें जो-जो था, वह हरिकृपासे मुझे प्राप्त हो गया है।'[1] जनाबाईके समान अनन्य भगवद्भक्ति-परायणकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण होना आश्चर्यजनक नहीं है। जिसकी अटल और निष्काम भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने साकारस्वरूपमें अहर्निश उसके साथ रहनेमें आनन्दानुभव किया, उसके लिये उसे क्या अदेय हो सकता था।

विशुद्ध मानव 'श्रीभरत'

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र)

रामानुज लक्ष्मण ससैन्य भरतको आते देख मानवताके संहारके तीर-तरकश सम्हाल धनुष टंकारकर खड़े हो गये यह कहकर—

कुटिल कुबंधु कुअवसर ताकी। जानि राम बनबास एकाकी॥
करि कुमंत्रु मन साजि समाजू। आए करै अकंटक राजू॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आए दल बटोरि दौ भाई॥

राज्यमदसे बौराकर चढ़कर भरत आज आ गये हैं, अब मन नहीं मारा जाता।

आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहुँ समर सेज दोउ भाई॥
जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥

भरतको मारकर तब जल पीऊँगा। आकाशवाणी हुई—

सहसा करि पाछें पछिताहीं।

भगवान् रामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे कहा—भरत मुझे मनाने और अयोध्याका राज्य सौंपने आये हैं; तुम यदि राज्य चाहते हो तो भरतसे तुम्हें दिला दूँगा; परंतु—

सुनहु लषन भल भरत सरीसा।
बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥

भरत मानवताको बटोरकर उसके रक्षणके लिये सैन्य लेकर आये हैं। विधि-प्रपञ्चमें ऐसा मानव न जन्म लेकर कभी आया था न आया है—

भरत हंस रबि बंस तड़ागा।

रविवंशमें स्वार्थी देवताओंके आग्रहपर शारदाके माध्यमसे मन्थरा और कैकेयीको आड़ बनाकर दानवी विकराल रूप अवतरितकर मानवताका ह्रास करनेको जाग उठी थी—जिस मानवीने शम्बरासुरके युद्धमें अपने स्नेह और पातिव्रतसे एक मानवके भाग्यसिन्दूरको सुरक्षित रखा था, वह कुसङ्गसे विकराल स्वरूप ले विकृत वात्सल्य तथा पुत्र-स्नेहको लेकर भ्रमित, भटकी हुई दशरथको चाट गयी। शील और संकोचके सागर, कोमलचित्त राम-से पुत्रको निर्वासित करा राजतिलकको मृत्यु-उत्सवमें परिणत कर बैठी—किसीकी सीखको नहीं माना—सीता और लक्ष्मणको लेकर वनको वे चल दिये। सारी अयोध्याको श्मशान बना दिया, परिजन भूत बन गये। मानव रामके पीछे-पीछे दौड़ पड़े। उस बिखरी और शोक-दग्ध मानवताको बटोरकर भरत-सा शुद्ध मानव ससैन्य चल दिया वनकी ओर।

विकृत वात्सल्यको मौन किया—स्थिर किया। कैकेयी-

[1] माझे मनीं जें जें होतें। तें तें दीधलें अनंतें॥

की मानवताका उल्लङ्घन किया। कौसल्याके संदेहका विषवृक्ष उखाड़ फेंका, वह शुद्ध मानव आ रहा है रामशरणमें—

निषादको भी भ्रम हुआ था कि वह मानवताका उपहास करने आ रहा है। जुझाऊ बाजे और ढोल बजवा दिये थे, पर वस्तुस्थिति जानकर बंद करने पड़े।

भरद्वाजजीको भी भ्रम हो गया था, उन्होंने भी वस्तुस्थिति जानकर कहा—

अब अति कीन्हेहु भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु।
सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु॥
तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

भरत मानवताके उत्खननके हेतु पयादे चलते हुए फल खाकर पिताका दिया राज्य छोड़कर रामको मनाने जा रहे थे—जाते हुए जहाँ रामका निवासस्थल मिलता, भरपेट आँसू बहाते। आँसू बहाते-बहाते विकल होकर मूर्च्छित हो जाते। रामजीके पद-अङ्क जहाँ पाते, लोट जाते, रुदन करते, निषाद उठाते—उठते और—

कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग।
यहि दुख दाह दहइ नित छाती। भूख न बासर नीद न राती॥

ऐसा विशुद्ध मानव मानवताकी खोजमें चित्रकूट जा रहा था। जाकर पुरुषोत्तम रामकी चरण-शरणमें लकुट इव गिर पड़ा।

भगवान् रामसे विवाद किया। वशिष्ठसे हठ किया और विजयमें ली मानवताकी पाँवरी, लौटकर स्थापना की राज्य-सिंहासनपर अयोध्याकी मानवताकी पाँवरी!

छोड़ दिया ऐश्वर्य, भोग और सुख; बैठ गया नन्दिग्राममें—विशुद्ध मानवताकी धूनी रमाकर, गुफा खोदकर और जबतक पुरुषोत्तम न आये उत्खनन करता रहा—कराता रहा मानवताका फिर। संत बन जगत्‌को विशुद्ध संतके पदसे कृपाकी दीक्षा दी। पूर्वार्धमें विशुद्ध मानवता-सेवा धर्मके माध्यमसे की और उत्तरार्धमें विशुद्ध संत बन प्रभुका अनुगमन किया।

प्रमाणपत्र मिला था मर्यादा-पुरुषोत्तमसे—

मिटिहैं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार॥
भरत सरिस भल··· बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा।

भरतजीने मानवताका दाह, दुःख, दम्भ, दारिद्र्य, दूषण सुयशके मिस अपहरण किया था।

मैं भगवान्‌का अधिक-से-अधिक स्नेहपात्र बनता जा रहा हूँ

भगवान् ही समस्त जगत्‌के सारे प्राणियोंके रूपमें प्रकट हैं। यह रहस्य भगवान्‌की कृपासे मुझे मालूम हो गया है। अतएव अब मेरे लिये न तो कोई पराया रहा है न कोई दूसरा ही है। सभी मेरे पूज्य, मेरे आराध्य हैं। मैं सभीमें सदा अपने भगवान्‌को देखकर मन-ही-मन प्रणाम करता हूँ और भिन्न-भिन्न वेशभूषा तथा नाम-रूपवाले प्राणियोंमें भगवान्‌को पहचानकर अपनी वेशभूषाके अनुसार व्यवहार करता हुआ भी—उनकी पूजाके लिये ही सब व्यवहार करता हूँ। मैं अनुभव करता हूँ कि मेरी राग-द्वेष-रहित आदर तथा प्रीतिपूर्वक की हुई स्वकर्मरूप पूजासे मेरे भगवान् मुझपर बहुत प्रसन्न हो रहे हैं और मैं उनका अधिक-से-अधिक स्नेहपात्र बनता जा रहा हूँ।

सह-शिक्षा

(लेखक—श्रीशेषनारायण चंदेले)

मानव-समाज विश्वका जीवनसूत्र है। अतः विश्वके संरक्षण-हेतु उसकी सुव्यवस्था एक अनिवार्य वस्तु बन जाती है। भारतीयोंने इस तत्त्वकी महत्ता प्रारम्भसे ही समझ ली थी। आर्य-ग्रन्थोंके अध्ययनसे भारतीयोंकी विचार-पद्धतिका हमें बोध होता है, जो आधुनिक ढंगसे सर्वथा पृथक् है। भारतीयोंने जीवनको जिस दृष्टिकोणसे देखा है, वह पाश्चात्त्य भावनाओंसे सर्वथा विपरीत है। आज हमारे देशमें विदेशी लहर दौड़ रही है, वर्तमान युग संघर्षोंमें व्यतीत हो रहा है—विचारोंके, भावनाओंके। उसके जीवनकी गतिविधिमें क्रान्तिका आगम है। परम्परागत रूढ़ियोंको झटकेमें तोड़ डालनेका उद्रेक है, तो प्राण-प्यारी संस्कृतिकी रक्षाका मोह भी है। विश्वके अन्यान्य देशोंमें विज्ञानकी भौतिक दृष्टिने आमूल परिवर्तन कर दिये हैं, किंतु भारतकी स्थिति अभीतक अर्जुनके मोहका अभिनय कर रही है। इसी संघर्षमें सह-शिक्षाका प्रश्न भी पश्चिमी हवाकी एक सर्दी है।

भारतीयोंने जीवनको सदैव एक गहरी मनोदृष्टि—अध्यात्मके अनोखे परदेपर देखा है। वहाँ विज्ञानकी पहुँच नहीं। अध्यात्मके धरातलपर जीवनका अद्भुत विश्लेषण हुआ है। तथा दीर्घ मन्थनोपरान्त उसका उद्देश्य निर्धारित किया है—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। उक्त बातें विषयान्तर नहीं हैं। जबतक भारतीय और पाश्चात्त्य दृष्टिकोणोंका अन्तर समझमें न आये, सह-शिक्षाके विरुद्ध दी गयी हमारी दलीलें थोथी जान पड़ेंगी। अस्तु, भूख और प्यासकी तरह कामका वेग मानवमात्रके लिये स्वाभाविक है। किंतु उसपर यदि कोई नैतिक प्रतिबन्ध न हो तो समाज और मनुष्यके वैयक्तिक जीवनके लिये भी वह घातक सिद्ध होगा। सर्वत्र उच्छृङ्खलता और अनैतिकता फैल जायगी। इसीलिये उसपर धर्मकी अर्गला है। जीवनके मर्मज्ञोंने कभी भी 'अर्थ-लिप्सा' और 'काम-(भोग)-लिप्सा'को प्रोत्साहन नहीं दिया। धर्म अपने बन्धनोंद्वारा सदैव उसे विरक्तिके द्वारतक पहुँचानेका प्रयत्न करता है। विश्लेषण करनेपर ज्ञात होगा कि अर्थ और काम (भोग)-की लिप्सा ही विश्वके समस्त संघर्षोंका मूल है। अतः समाजमें सुव्यवस्थाके लिये उसपर कठोर नियन्त्रणकी आवश्यकता है, किंतु राज्यका शासन उसके नियन्त्रणके लिये पर्याप्त नहीं। इस कार्यके लिये धर्मकी नियुक्ति हुई है। वह मानव-हृदयमें सद्वृत्तियोंका बीजारोपण करता है, मनुष्यको नैतिक साहस प्रदान करता है। अर्थ और कामके उचित प्रयोगके लिये मनुष्य स्वयं अपनेको जिम्मेदार समझने लगता है। अर्थ और कामके अधिक-से-अधिक त्यागकी महत्ता यहीं समझमें आती है, जो मानव-समाजके लिये कल्याणकारिणी और व्यक्तिके सात्त्विक जीवनका उत्थान करनेवाली है। पाश्चात्त्य दृष्टिकोणमें धर्म एक आडम्बरमात्र है। आधुनिक सभ्यता त्यागको मूर्खता ठहराती है। आज भारत और विश्वकी जिसे हम उन्नति समझते हैं, उसका आधार भोग है तथा स्वार्थोंसे परिपूर्ण होनेके कारण वह संघर्षोंकी भूमिका है।

यहाँतक भोग-वृत्तियोंको अवाञ्छनीय सिद्ध किया—व्यक्ति और समाज दोनों दृष्टिसे। अब जब सह-शिक्षापर विचार-विमर्श किया जाता है, तब वह इसी भोग-वृत्तिकी पोषिका दीख पड़ती है। मनुष्यकी समस्त कामनाओंको उन्मुक्त रूपसे प्रवाहित होने देनेका सिद्धान्त भ्रमपूर्ण है। भारतीय दार्शनिक कामनाओंके अस्तित्वकालमें मनकी शान्ति कभी नहीं मानते; क्योंकि दुःख या अशान्तिकी उपलब्धि कामनाकी अपूर्णताका परिणाम

है। कामनाकी शान्तिके विना मनकी शान्ति असम्भव है। यह कहना गलत होगा कि 'स्वाभाविक होनेके कारण कामनाओंको रोकना नहीं चाहिये।' क्योंकि कठिन होते हुए भी उनपर नियन्त्रण असम्भव नहीं है। यह भी कहना उचित नहीं जान पड़ता कि 'कामनाओंकी पूर्ति करते रहनेसे अन्तमें उससे विरक्ति हो जायगी।' क्योंकि विषयोंके संयोगसे इन्द्रियोंकी भोग-लिप्सा बढ़ती है तथा हर संयोगसे मस्तिष्कपर उसका अङ्कन—संस्कार गहरा बनता जाता है तथा संस्कार उसे उसी कर्मकी ओर प्रेरित करता है। बालक और बालिकाओंके विशिष्ट उम्रमें साथ-साथ रहनेसे प्रतिक्षण मानसिक व्यभिचारका—कुवासनाओंका संस्कार गहरा होता रहता है। पाश्चात्य सभ्यताके झोंकोंमें आकर वे भले ही बाह्यरूपसे भाई और बहिनके शिष्टाचारका पालन करते रहें, किंतु उनके मनमें रह-रहकर मानसिक व्यभिचार होता रहता है। अपने हृदयमें वे इस सत्यको अस्वीकार नहीं कर सकते। श्रवण, दर्शन और मननरूप क्रियाओंका गहरा प्रभाव मस्तिष्कपर पड़ता है। ऐसी स्थितिमें सह-शिक्षा कहाँतक उचित है, यह विचारणीय है।

ऊपर बताया गया कि युवक-युवतियोंके आपसमें मिलनेसे उनके अन्तर्मनपर बुरा असर पड़ता है। बहुतोंका कहना है कि 'युवक-युवतियोंको परस्पर न मिलने देना संकीर्णता है, इससे उनका मानसिक पतन होता है; क्योंकि कार्यरूपमें जो अभिलाषा पूरी नहीं होती, उसका सदैव चिन्तन होता रहता है और वह किसी-न-किसी रूपमें प्रकट होती है।' किंतु सोचनेका यह ढंग उचित प्रतीत नहीं होता। यदि आपसी मिलनका न होना ही 'चिन्तन'का प्रधान कारण है तो उन्हें 'मिलने देनेसे' चिन्तन-क्रिया दूर हो जानी चाहिये; किंतु ऐसा नहीं होता। वास्तवमें उनके चिन्तनका या मननका प्रधान कारण है—'काम (भोग)-लिप्सा।' अतः इस काम (भोग)-लिप्सापर ही कठोर नियन्त्रण होना चाहिये। इसीलिये प्राचीन शिक्षा-प्रणालीमें सह-शिक्षाका अभाव होते हुए भी संयमका बहुत बड़ा स्थान था। प्राचीन कालकी शिक्षा-प्रणाली अपना अनोखा आदर्श उपस्थित करती है। तत्कालीन विद्यार्थी नगरोंसे दूर रहकर प्रकृतिकी रम्य क्रीडाओंमें जीवनका निर्माण और विद्याकी प्राप्ति करता था। वह ब्रह्मचर्यके कठोर नियमोंके पालनसे तेजोमय और विद्या-बुद्धिका भंडार बनता था। इसके विपरीत आधुनिक छात्रोंकी दुर्दशापर किस विचारशीलका हृदय द्रवित न हो उठेगा? इस दुर्दशाका कारण उनकी संयमहीनता है। महाविद्यालयोंके अनैतिक वातावरणमें जो नित्यप्रति लज्जास्पद घटनाएँ घटती हैं, उन्हें देखते हुए भी सह-शिक्षाका पक्षपात करना उचित नहीं। प्राचीन कालमें किसी भी गुरुकुलमें कन्याओंकी शिक्षाका उल्लेख नहीं मिलता, किंतु वे अशिक्षिता भी नहीं होती थीं। माताकी गोदमें उनके मधुर नारीत्वका विकास होता था।

सह-शिक्षा होनेके कारण कन्याओंकी पढ़ाई भी पुरुषोंके ढंगपर रखनी पड़ती है, किंतु यह उचित नहीं; क्योंकि नारियोंका क्षेत्र पुरुषोंसे सर्वथा भिन्न है। पुरुष बाह्य क्षेत्रका खिलाड़ी है, स्त्री गृहकी स्वामिनी है। पुरुष और नारियोंके कार्य-क्षेत्र भिन्न हैं। आधुनिक शिक्षाद्वारा इस विभाजनपर धावा बोलना समाजमें नवीन समस्याएँ उठानेके अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

वर्तमान शिक्षासे नारियाँ शिक्षित होकर घरसे बाहर कदम रखने लगी हैं और इसे हम मानवीय सभ्यताका विकास समझ रहे हैं; किंतु इसके साथ यह भी स्पष्ट है कि भ्रष्टाचारके लज्जास्पद चित्र अधिक रूपमें सामने आ रहे हैं। दूसरी ओर बेकारीकी समस्याको बहुत बड़ा सहयोग भी मिल रहा है; क्योंकि स्त्रियोंके नौकरी करनेसे पुरुषका हक छीना जाता है, जिसके आश्रित पूरा कुटुम्ब रहता है। नारीत्व—मधुर भावनाएँ नारियोंकी कमजोरी नहीं, वह

एक दाम्पत्य-वैभव है, जहाँ दोनोंका जीवन कर्मक्षेत्रकी कठोर भूमिसे उतरकर विश्राम लेता है। बालकपर माँ-के जीवनकी गहरी छाया रहती है। अतः नारी यदि अपनी कोमलताको अपनी कमजोरी समझ ले तो संततिपर इसका क्या असर पड़ेगा ? बाह्य क्षेत्रमें कदम पड़नेपर संततिकी उपेक्षा होने लगेगी। कहा है, पुरुषोंमें नारीत्व आ जाय तो सोनेमें सुगन्ध है; किंतु नारियोंमें यदि पुरुषत्व आ जाय तो वे रण-चण्डीका रूप लेकर समाजको निगल सकती हैं। तात्पर्य यह कि दोनोंका क्षेत्र सर्वथा भिन्न है। अतः दोनोंकी शिक्षा-दीक्षा अलग-अलग ढंगपर होनी चाहिये। अन्यथा दोनोंके स्वाभाविक गुणोंका सम्यक् विकास न होने पायेगा।

महासती सावित्री

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

[गताङ्क पृष्ठ ८१६ से आगे]

(३)

थोड़े ही दिनोंके पश्चात् देवताका आशीर्वाद फला—विफल तो होता ही कैसे ! कुछ दिन जाते-जाते राज्यभरमें यह शुभ संवाद फैल गया कि राजरानी गर्भवती हुई हैं। सारे मद्रदेशमें इस समाचारसे प्रसन्नता छा गयी।

क्रमशः नौ मास व्यतीत हुए। यथासमय राजरानीने एक अपूर्व सुलक्षणा कन्या प्रसव की। देवताओंकी देह जैसे नाना प्रकारके शुभ लक्षणादिसे सुशोभित होती है, वैसे ही इस कन्याका शरीर भी जन्मते ही नाना शुभ लक्षणादिसे दीप्त होने लगा। जिस मुहूर्तमें इस अपूर्व बालिकाने धरतीका स्पर्श किया, उसी घड़ीसे धरतीने मानो एक आश्चर्यमयी शोभा धारण कर ली। कन्याके चारो ओर मानो एक उज्ज्वल प्रकाश थोड़ी देरके लिये चमक उठा। स्वर्गीय वीणा-ध्वनिके समान एक मनोहर वाद्यप्रसूतिकाके कानोंमें एकाएक झंकार उठा। महाराज अश्वपति और महारानी मालवी देवी देवताके दिये हुए उस कन्यारूपी प्रसादको मस्तकपर धारण करके स्वर्गीय आनन्दमें मग्न हो गये।

मद्रदेशका वह बड़े ही हर्षका दिन था। प्रत्येक स्थान और मन्दिरमें देवताओंकी पूजा होने लगी। सारे मार्ग और गली-कूचोंमें असंख्य पुष्पमालाएँ वायुके झोंकोंसे इधर-उधर लहराने लगीं। नगरके प्रत्येक द्वार और सभी राजपथोंमें मङ्गल-शङ्ख बजने लगे। नवजात बालिकाकी मङ्गल-कामनाके लिये अश्वपतिने उस दिन बहुत-सा दान-पुण्य भी किया। दीन-दुखियोंको इतना अन्न-धन दिया गया कि उसकी सीमा रही। अन्न-वस्त्र, धन-धान्य, पात्र आदिसे उनका घर भर गया। ब्राह्मण, पण्डित, विद्वान् दानकी वस्तुओंको गठरियाँ बाँध-बाँधकर भी अपने घर नहीं ले जा सके। सभी परम तृप्त हो गये। चारो ओर एक अत्यन्त आनन्दकी धूम मच गयी।

राज-कन्याके जन्मका समाचार सुनकर चारो ओरसे अनेक लोग राजकुमारीको देखनेके लिये आने लगे। दूर-दूरके लोग भी इसी निमित्त मद्रदेशमें आये। ब्राह्मण और ऋषि-मुनि आ-आकर उस सर्वसुलक्षणा कन्याको आशीर्वाद देने लगे। राज्यके प्रधान-प्रधान अधिकारी और सेठ-साहूकार आकर बहुमूल्य रत्न राजकुमारीको भेंटमें देने लगे। साधारण धनी और गरीब प्रजाजन खाली हाथ ही आकर राजमहलके विस्तीर्ण प्राङ्गणको जय-जयकारसे निनादित करने लगे। उनके सच्चे निस्स्वार्थ और भक्तिभरे भावके सामने मानो अश्वपतिके विपुल उत्साहकी छटा भी म्लान-सी हो गयी।

(४)

इसके बाद अश्वपतिके कितने ही दिन बड़े सुखसे कटे; किंतु सुखके दिन बहुत जल्दी बीत जाते हैं। तेरह-चौदह वर्ष न जाने कहाँ चले गये। अश्वपतिको मानो उनका भान भी नहीं रहा। धीरे-धीरे अश्वपतिकी पुत्रीने बाल्यावस्था छोड़कर किशोरावस्थामें पदार्पण किया।

सावित्री देवीकी कृपासे कन्या प्राप्त हुई है, इसलिये अश्वपतिने कन्याका नाम 'सावित्री' रखा। अवस्थाके साथ ही सावित्रीके गुण भी धीरे-धीरे बढ़ने लगे।

सावित्रीका सोनेके समान सुन्दर वर्ण धीरे-धीरे चाँदनीकी

तरह निर्मल और स्निग्ध हो उठा। कमलकी पँखड़ीके समान दोनों नेत्र गम्भीर होकर पवित्रताका खजाना बन गये। मस्तकके केश बढ़ते-बढ़ते लहराती हुई सर्पिणीके समान उसके मुख-कमलपर लहराने लगे। सावित्रीका शरीर इतना सुकोमल हो गया कि उठते-बैठते कमल-नालकी भाँति झुकता हुआ दिखायी देने लगा।

सावित्रीके मनकी सुन्दरता भी साथ-ही-साथ खिल उठी। जो एक बार उसे देख लेता या उसकी दो-चार बातें सुन लेता, वही समझ जाता कि इसका यह बाहरी सौन्दर्य इसके भीतरी सौन्दर्यका ही एक रूप है। सावित्रीने बचपनके सब खेलोंको धीरे-धीरे छोड़कर अपने असली कर्तव्यको पकड़ा। धूलमें खेलनेके बदले व्रत-पूजादि आरम्भ किये और दीन-दुखियोंकी सेवा-शुश्रूषामें चित्त लगाया।

सावित्रीके इस परिवर्तनपर अश्वपतिकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने देखा कि 'बालिका सावित्री धीरे-धीरे किशोर-अवस्थामें पहुँचकर विवाह-योग्य होती जा रही है।' यह देखकर वे सावित्रीके लिये सुयोग्य वर खोजनेमें व्याकुल हुए। मनमें विचारा कि 'मेरे केवल एक कन्या है और वह भी रूपमें लक्ष्मी और गुणमें सरस्वतीके समान है। इसलिये इस कन्याको मैं भलीभाँति खोजकर संसारके सर्वोत्तम पुरुषको ही दूँगा।' यह सोचकर अश्वपतिने देश-देशमें निपुण भाटोंको भेजा और नगर-नगरमें डौंडी पिटवा दी। कई स्थानोंके पात्रोंके गुण-दोषकी परीक्षाके लिये भी बहुत-सी व्यवस्थाएँ की गयीं। कई देशोंमें अनेक गुप्तचर नियुक्त हुए। सभी राजदूत निमन्त्रण-पत्र ले-लेकर देश-विदेशको जाने लगे।

किंतु आश्चर्य है कि इतना प्रयत्न करनेपर भी विशेष फल नहीं हुआ। ज्ञात होता है, इसमें विधाताकी इच्छा प्रबल है; क्योंकि इतनी चेष्टा करके भी अश्वपति सावित्रीके योग्य एक वर भी पसंद नहीं कर सके। लूले-लँगड़े और काने-बहरोंका भी विवाह होता है; पर खेदका विषय है कि सावित्रीके विवाहमें इतनी बाधा कैसे आयी! इतना अवश्य है कि वह अधिक रूप-गुणवती थी। उसकी सब प्रवीणताओंके बीच यही एक बाधा थी। उस रूपकी छटा मानवोंकी आँखें नहीं सह सकती थीं। जो उसकी ओर देखता था, उसीके नेत्र झुलस-से जाते थे। इसीलिये सभी उसको देवी समझकर भयभीत हो पड़ते थे। कितने ही राजा आये, राजकुमार आये, मन्त्रिपुत्र और जागीरदारोंके कुँवर आये, किंतु सावित्रीकी ओर प्रणय-दृष्टिसे देखनेको किसीकी भी आँख न उठी।

यह बात वे पहले ही सुन चुके थे कि सावित्री अपूर्व-रूप-गुणवती है। इसीसे वे लोग बन-ठनकर आये थे। पर सावित्रीके रूपमें तो ऐसी एक बिजलीकी तेजी थी, जिसे वे लोग नहीं जानते थे। अब वही तेजी देखकर उनकी आँखें बंद हो गयीं, मस्तक अपने-आप नीचे हो गये और सावित्री-की अपूर्व बालिका-मूर्तिमें वे एक अद्भुत देवी-मूर्ति देखकर शङ्कित मनसे अपने-अपने राज्योंको लौट गये।

धीरे-धीरे बात चारों ओर फैल गयी। देवताके वरसे राजा अश्वपतिके भवनमें कोई स्वर्गकी देवी आकर अवतीर्ण हुई है—यह बात देखते-देखते राज्यभरमें प्रसारित हो गयी। सभीने सुना कि 'राजकन्याके मुखकी ओर जो भी देखता है, उसकी आँखें मुँद जाती हैं, उसके मनमें भक्तिका उदय हो जाता है और उसका मस्तक अपने-आप उस देवीके सामने झुक जाता है।' यह बात सुनकर सभी बड़े शङ्कित हुए और विवाहार्थी होकर भी दूर रहे। किसीने उसके विवाहका प्रस्तावतक सुननेका साहस नहीं किया। इसीलिये चारों ओरसे अश्वपतिके दूत निराश होकर लौटने लगे।

देश-विदेशसे सब भाट लौट आये हैं, दूत भी अद्भुत समाचार लेकर वापस आ गये हैं। विवाहकी बात सुनते ही कई राजकुमार कानों अँगुली देते हैं और दूतोंको उल्टी-सीधी सुनाये बिना नहीं छोड़ते। कहते हैं—'वह तो हमारी पूजनीया माताके समान है, उसके लिये ऐसी बात हमसे क्यों कहते हो? नाक-कान कटवा दिये जायँगे। कितने ही उसके पीछे छले जा चुके हैं। फिर कौन इस झंझटमें पड़कर वृथा दुःख सहन करेगा?'

ऐसी बातें सुनकर अश्वपति बेसुध हो गये। हाय, इतनी आदरकी कन्या, जो आजकलमें ही इतनी बड़ी हुई है, फिर भी उसका विवाह नहीं होता! विवाह तो दूर रहा, वरतक नहीं मिल रहा है। इससे तो ज्ञात होता है कि उसके रूप, गुण और धनैश्वर्यकी मोहिनी शक्ति भी विफल हुई! यह क्या कम चिन्ताकी बात है? इसी सोच-विचारमें अश्वपतिने आहार, निद्रा—सब परित्याग कर दिये। उनकी इसी चिन्ताके साथ सावित्री दिनोंदिन और भी बढ़ने लगी।

रूप-गुणके लिये विवाह न हो, यह एक अनोखी बात है। क्योंकि रमणीका सौन्दर्य कामनाकी उत्पत्ति करना जानता है; पर वह इच्छा-त्याग भी उत्पन्न करता है, यह बात तो हमने कहीं भी नहीं सुनी। केवल सावित्रीके चरित्रमें ही

हम इस अलौकिक आश्चर्यको देख पाये हैं। सावित्री सचमुच ही रमणी-कुल-भूषण और समस्त नारियोंमें एक छद्मरहित देवी है। उसने अपने बलसे जो संसारमें धर्म फैलाया और धर्मराजको परास्त करके अपने मृतपतिको जीवित कर लौटाया, उसकी सूचना मानो इस स्थानपर मिल रही है।

सावित्रीका जब किसीसे भी विवाह नहीं हुआ, तब अश्वपतिने एक विचार स्थिर किया। वे सोचने लगे कि 'मेरी कन्या अपूर्व तेजस्विनी है। इसीसे कोई इसका पाणि-ग्रहण करनेके लिये साहस नहीं करता। इसलिये अब मैं इसका स्वयंवर रचूँगा। उसमें सावित्री अपनी इच्छासे जिसे वरण कर लेगी, वही उसका पति होगा और कदापि उसे त्याग नहीं सकेगा।'

यह सोचकर अश्वपति स्वयंवर रचनेका सुयोग ढूँढ़ने लगे। उन्होंने यथासमय कितना ही व्यय करके स्वयंवरकी रचना करायी। बहुत प्रयत्न किया, तो भी स्वयंवर-मण्डप खाली पड़ा रहा। अब सावित्री किसको वर-माल पहनाये? सोचनेकी बात है कि छोटी-बड़ी राज-कन्याओंके स्वयंवरमें हजारों राजपुत्र एकत्र हो जाते हैं, पर सावित्रीके स्वयंवरमें कोई भी नहीं आया। यह देखकर अश्वपति बहुत ही निराश हुए और दूसरा उपाय सोचने लगे।

इस बार अश्वपतिने सावित्रीको तीर्थ-यात्रामें भेजना निश्चय किया। तीर्थोंमें भ्रमण करनेसे मन पवित्र होता है, कर्म-दोष नष्ट होते हैं और अनेक लोगोंसे परिचय भी हो जाता है। सावित्री अपूर्व बुद्धिमती है। तो क्या वह इस सुयोगसे अपने पतिको स्वयं न खोज सकेगी? यही सोचकर अश्वपतिने एक दिन सावित्रीसे यह बात कही।

देव-मन्दिरोंमें शङ्ख बज रहे हैं, झालर-घंटाओंकी ध्वनि चारो ओर सुनायी दे रही है, नौबत बज रही है और भगवान्‌के जय-जयकारका शब्द सुनायी पड़ रहा है। सारे दिनकी उपवासी सावित्री भगवत्-पूजा समाप्त करके खाली फूलोंकी डाली हाथमें लिये हुए मूर्तिमती देवीके समान अन्तःपुरमें प्रवेश कर रही है। ऐसे ही समयमें अश्वपतिने उसे पुकारकर कहा—'बेटी! एक बार यहाँ आकर सुनो तो!'

पिताका पुकारना सुनकर सावित्री तुरंत आयी और खाली फूलोंकी डाली नीचे रखकर पिताजीको सादर प्रणाम-कर खड़ी रही।

अश्वपतिने एक बार सावित्रीकी ओर अच्छी तरह निगाह भरके देखा। 'सावित्रीने पंद्रह वर्ष पूर्ण कर दिये हैं। सोलहवें वर्षमें पदार्पण करनेसे उसके शरीरमें कान्तिका सागर उमड़ पड़ा है। स्वाभाविक निर्भय मुख-मण्डल लज्जावनत हो उठा है और ललाट, भौंहों एवं पलकोंके केशोंकी सुलभ सरलताके बदले एक प्रतिभामण्डित लज्जाकी छायामें आकर क्रीड़ा कर रहा है।' अश्वपतिने समझ लिया कि अब कन्याको विवाहे बिना ठीक नहीं होगा; क्योंकि धर्मका कभी लोप नहीं होने देना चाहिये। जाति जाय, कुल जाय और वंश-गौरव नष्ट हो जाय, फिर रहा क्या? इसलिये अश्वपतिने सावित्रीसे यही बात कही—'बेटी!

प्राप्तः प्रदानकालस्ते न च कश्चिद् वृणोति माम्।
स्वयमन्विच्छ भर्त्तारं गुणैः सदृशमात्मनः॥

'अर्थात् तेरे दान देनेका समय आ गया है, किंतु कोई भी तेरे लिये मुझसे प्रार्थना नहीं करता। अतएव अब तू स्वयं ही अपने गुणोंके समान पतिको ढूँढ़ ले।'

अश्वपतिने यह बात कहकर सावित्रीसे तीर्थयात्रा करनेकी बात भी कह डाली। सुनकर सावित्रीने नीचा मुख कर लिया। उसका मुख-मण्डल लाल हो उठा। उसने कोई बात नहीं कही। बात करना तो दूर रहा, गर्दनतक नहीं उठायी। तब क्या सावित्रीको लज्जा आ गयी थी? अवश्य आ गयी होगी; क्योंकि विवाहकी बात सुनकर कौन आर्य-कन्या लज्जासे संकुचित नहीं होती! पर सावित्रीके मनमें उस समय लज्जाके साथ एक और भी उत्तम भाव जाग उठा था। वह पर-दुःखसे दुःखित होनेका—पर-दुःख देखकर स्वार्थ-त्यागके अनुरागका पवित्र भाव था। सावित्री सोचने लगी—'अहा! मेरे ऐसे स्नेहमय पिता, ऐसी स्नेहमयी माता—इनको इतना दुःख और कष्ट मेरे ही लिये हो रहा है! और मेरे ही लिये उनको इतनी अशान्ति है! हाँ, मैं ही तो उनकी सारी चिन्ताका कारण हूँ। प्राण देकर भी क्या मुझे उनका यह कष्ट दूर करना उचित नहीं है? अवश्य ही उचित है। लज्जा हो तो क्या करूँ, यह गुरुभार मुझे लेना ही होगा।'

सावित्रीने इस प्रकार सोचते-सोचते थोड़ी देरमें ही अपना कर्तव्य स्थिर कर लिया। वह इसलिये नहीं कि स्वतन्त्रतासे विवाहके बारेमें प्रेमकी बातें अच्छी तरह कर सकूँगी! यह तो कुछ भी आनन्द नहीं है। बल्कि माता-पिताका दुःख दूर करना ही उसने अपना मुख्य कर्तव्य समझा

और यही सोचकर उसने इस गुरुतर भारको ग्रहण करनेमें बिल्कुल आनाकानी नहीं की। फिर भी स्थिर मनसे—विनीत भावसे वह पिताके पास खड़ी रही कि कदाचित् पिताजी और भी कुछ कहें।

अश्वपतिने फिर कहा—'बेटी, चिन्ता न करो। तुम स्थिरबुद्धि हो, शास्त्र जाननेवाली हो, बुद्धिमती हो और कर्त्तव्यपरायणा हो। इसीलिये इस गुरु भारको ग्रहण कर सकोगी, ऐसा मेरा विश्वास है। इसीसे आज तुमको यह आज्ञा देता हूँ। तुम्हारी सहायताके लिये बहुत-से मनुष्योंको तुम्हारे साथ भेजूँगा। राज्यके वृद्ध मन्त्री और दासियाँ—सभी तुम्हारे साथ जायँगे। उनकी सहायतासे अवश्य ही तुम कृतकार्य हो सकोगी। उनके साथ तीर्थोंमें और नगरोंमें भ्रमण करके जिसकी इच्छा मनमें कर आओगी, मैं विचारकर उसीके साथ तुम्हारा विवाह कर दूँगा।'

यह कहकर अश्वपतिने सावित्रीको आशीर्वाद दिया। सावित्रीने भी मस्तक नवाकर पिताजीके चरण छुए और पिताका आज्ञापालन करनेकी स्वीकृति प्रकट की। इसके बाद वह धीरे-धीरे चली गयी।

सावित्रीके चले जानेपर अश्वपतिकी दोनों आँखोंसे आँसू टपक पड़े। हाय, उनकी इतने आदरकी लक्ष्मीतुल्य कन्या, उसे भी आज पति खोजनेके लिये वनको जाना पड़ रहा है!

तदनन्तर एक दिन शुभ घड़ीमें देव-चरणोंमें पुष्पाञ्जलि चढ़ाकर सावित्री तीर्थ-भ्रमणके लिये प्रस्थित हुई। दासियाँ, कितने ही आदमी और वृद्धमन्त्री उसके साथ-साथ चले। प्रियतमा कन्याके निर्विघ्न भ्रमणके लिये अश्वपतिने किसी बातकी कमी नहीं रखी। अपूर्व सुन्दर रथ उसे लेकर चला। महाराज अश्वपति अपनी लाड़ली पुत्रीको बहुत दूरतक पहुँचाने गये।

सावित्रीका प्रिय रथ अनेक नदी-नद, उपजाऊ भूमि और वन-पर्वतोंको पार करता हुआ जाने लगा। नगरके बाहर प्रकृतिकी अपूर्व शोभा देखकर सावित्री बहुत आनन्दित हुई। प्राचीन भारतके तपोवन, उपवन और वनोंकी शोभा-सम्पदाका वर्णन जिन महात्माओंने किया है, उनकी प्रतिभा आज भी देश-विदेशमें प्रकाशित है। उस वर्णनको पढ़ते-पढ़ते एक दिन विदेशी कवि गेटे अपनेको भूलकर कह उठे थे—'वास्तवमें यदि कहीं स्वर्ग है, तो यहीं है।' इसी शोभाकी गोदमें लालित-पालित होकर हमारे ऋषि-मुनियोंने एक समय एक विश्वविजयिनी शक्तिसे जगत्को मुग्ध कर दिया था।

सावित्रीने रथमें बैठे-बैठे मार्गमें बहुत-से मनोरम दृश्य देखे। कहीं स्वच्छ-सलिला नदी कलकल शब्द करती हुई बहती जा रही है। कहीं नाना प्रकारके पक्षी श्यामल वृक्षोंकी शाखाओंपर बैठे हुए आनन्द-ध्वनि कर रहे हैं। कहीं झरनोंका निर्मल जल लहराता हुआ बह रहा है। कहीं फसल-से भरे खेतोंमें वायुके झोंकोंसे श्यामल तरङ्गें उठ रही हैं। कहीं बादलोंके टुकड़े संध्याकी लालीके साथ किलोल करते हुए दिगन्तोंको उद्भासित कर रहे हैं। कहीं शान्त तपोवनमें तपस्वियोंकी मधुर वेद-ध्वनि चारों ओर एक अद्भुत स्वर्गीय भाव फैला रही है। कहीं मेघ-शावक मनोहर नृत्य कर रहे हैं, कहीं मयूर नाच रहे हैं। कहीं मृग-शिशु और गौएँ शान्त भावसे विचर रहे हैं। यह सब दृश्य देखते-देखते सावित्रीका हृदय वनकी सुन्दरतासे भर गया। वह बार-बार अँगुली उठाकर मन्त्रियोंसे इन सब दृश्योंके विषयमें बहुत-सी बातें पूछने लगी। मन्त्री भी उसे कई प्रकारकी अनेक नयी-नयी बातें सुनाकर उसका मनोरञ्जन करने लगे।

वह दिन समाप्त होनेपर केवल उसी रातके लिये वे सब एक तपस्वीके आश्रममें जाकर विश्राम करनेको उतरे। अश्वपतिकी कन्या पति खोजनेके लिये भ्रमण करनेको आयी है, यह बात जानकर आश्रमकी मुनिपत्नियाँ और मुनि-बालिकाएँ दौड़कर उसके पास आयीं। 'शिवतुल्य वर-लाभ करो' यह कहकर सबने सावित्रीको आशीर्वाद दिया। सावित्रीसे मिलकर उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। उन्हें ऐसा भासने लगा कि मानो कोई स्वर्गकी देवीके पधारनेसे हमारा तपोवन एकदम हँस उठा है। वे सावित्रीको पास बिठाकर रातभर धर्म-विषयकी अनेक बातें करती रहीं। उनकी मधुर बातें सुनते-सुनते सावित्रीके हृदयमें एक अपूर्व आनन्द भर गया। उसे प्रतीत हुआ मानो ऐसी शान्ति, ऐसा आनन्द मुझे और कहीं भी नहीं मिला था। नगरके राज-भोगकी अपेक्षा ऋषियोंकी यह शान्त वन-भूमि सावित्रीको अति पवित्र जान पड़ी। ऋषि-कन्याओंके विमल सहवाससे सावित्रीकी वह रात परम सुखसे कटी।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही मुनि-पत्नियोंसे विदा ले तथा ऋषि-मुनियोंको सादर प्रणाम करके सावित्री रथमें बैठकर चली। फिर भी मार्गके बहुत-से रमणीय दृश्य सावित्रीके चित्तमें प्रसन्नता उत्पन्न करने लगे।

इस प्रकार दिनमें भ्रमण और रात्रिमें आश्रमपर विश्राम करते-करते सावित्रीने धीरे-धीरे कई तीर्थोंका भ्रमण कर डाला। साथ-ही-साथ उसने दान-पुण्य और देव-दर्शन भी जारी रखे। तीर्थ-तीर्थमें देव-दर्शन, आश्रम-आश्रममें ऋषि-मुनियोंकी वन्दना और नगर-नगरमें ब्राह्मण, पण्डित एवं दीन-दुखियोंको प्रचुर अन्न-वस्त्र-धन-रत्नादि दान करते हुए दिन-पर-दिन, सप्ताह-पर-सप्ताह और पखवाड़े-पर-पखवाड़े अतुल आनन्दसे कटने लगे। सावित्रीको मार्गकी कोई थकावट नहीं है, परिश्रम नहीं है, आलस्य नहीं है; बल्कि आनन्दसे वह भ्रमण करती है। राजाके परम स्नेह, ऋषि-मुनियोंके प्रेमपूर्ण आशीर्वाद और वनवासिनियोंके सरल, कोमल व्यवहारके कारण सावित्रीको मार्ग चलनेका कष्ट कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ। उसके चित्तमें धीरे-धीरे मानो एक अपूर्व भाव भरने लगा, हृदय सराहनीय हो गया, धर्मका भाव अधिकाधिक दृढ़ होने लगा। इसी भावसे वह मद्रदेशकी सीमा भी पार कर गयी। मद्रदेशकी सीमाके बाहर और भी कितने ही सुन्दर-सुन्दर राज्य हैं। कितने ही सुन्दर-सुन्दर तपोवन, उपवन और आश्रमोंने भारतकी गोदको शोभित कर रखा है। सावित्री उनमें भी भ्रमण कर चुकी। वह जहाँ पहुँचती, वहीं सब उसका आदर करते थे। सावित्री भी अपने सद्गुण और मधुर व्यवहारसे उन्हें प्रसन्न कर लेती थी।

इसी तरह अनेक दिन बीत गये। केवल एक दिन सावित्रीकी मनोकामना पूर्ण होनेकी सूचना हुई। बहुत-से देश, बहुत-से तीर्थ और कई आश्रमोंमें वह भ्रमण कर चुकी थी। एक दिन संध्याकालकी वायु धीरे-धीरे उसके कपोलोंका स्पर्श कर रही थी, तथा सुदूर प्रान्तकी गोधूलि-कणिकाके साथ संध्याकी आलोक-रश्मि आकाशमें विलीन हुई जाती थी। इसी समय वह एक रमणीय काननमें एक अंधे तपस्वीकी कुटीमें आकर ठहरी। बड़े-बड़े नगरोंमें, बड़े-बड़े राजमहलोंमें, बड़े-बड़े धनियोंके घरोंमें जो रत्न नहीं मिलता है, उसी अमूल्य रत्नका इस दरिद्रकी कुटीमें पता लगा। विधाताकी क्या ही विचित्र लीला है। (क्रमशः)

बीसवीं शताब्दीके महान् तत्त्वज्ञ पुरुष श्रीमद् राजचन्द्र

(लेखक—श्रीहजारीमलजी बाँठिया)

भारत-भूमि सदासे संतोंकी उर्वरा भूमि रहती आयी है। यहाँ अनेक महापुरुष अवतीर्ण हुए हैं, जिनका स्थान विश्वके इतिहासमें बेजोड़ है। इसी शृङ्खलासे बीसवीं शताब्दीमें भी एक ऐसे ही अलौकिक, आध्यात्मिक महापुरुष श्रीमद् राजचन्द्रका आविर्भाव हुआ है, जिनकी जीवनचर्याकी अमिट छाप विश्ववन्द्य महात्मा गान्धीजी-जैसे पुरुषपर पड़ी। गान्धीजीने अहमदाबादमें आयोजित 'श्रीमद् राजचन्द्र-जयन्ती' पर सभापति-पदसे कहा था—

'मेरे जीवनपर श्रीमद् राजचन्द्र भाईका ऐसा स्थायी प्रभाव पड़ा है कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। उनके विषयमें मेरे अपने विचार हैं। मैं कितने ही वर्षोंसे भारतमें धार्मिक पुरुषकी शोधमें हूँ; परंतु मैंने ऐसा धार्मिक पुरुष भारतमें अबतक नहीं देखा, जो श्रीमद् राजचन्द्र भाईके साथ प्रतिस्पर्धामें खड़ा हो सके। उनमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति थी। ढोंग, पक्षपात या राग-द्वेष न थे। उनमें एक ऐसी महती शक्ति थी, जिसके द्वारा वे प्राप्त हुए प्रसङ्गका पूर्ण लाभ उठा सकते थे। उनके लेख अंग्रेज तत्त्वज्ञानियोंकी अपेक्षा भी भावनामय और आत्मदर्शी हैं। योरपके तत्त्वज्ञानियोंमें मैं टालस्टायको पहली श्रेणीका और रस्किनको दूसरी श्रेणीका विद्वान् समझता हूँ, परंतु श्रीमद् राजचन्द्र भाईका अनुभव इन दोनोंसे भी चढ़ा-बढ़ा था।

'इन महापुरुषके जीवनके लेखोंको आप अवकाशके समय पढ़ेंगे तो आपपर उनका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा। वे प्रायः कहा करते थे कि मैं किसी बाड़ेका नहीं हूँ और न किसी बाड़ेमें रहना ही चाहता हूँ। ये सब उपधर्म मर्यादित हैं; और धर्म तो असीम है कि जिसकी व्याख्या भी नहीं हो सकती। वे अपने जवाहरातके धंधेसे विरत होते कि तुरंत पुस्तक हाथमें लेते। यदि उनकी इच्छा होती तो उनमें ऐसी शक्ति थी कि वे एक अच्छे प्रभावशाली बैरिस्टर, जज या वायसराय हो सकते थे। यह अतिशयोक्ति नहीं, किंतु मेरे मनपर उनकी छाप है। उनकी विचक्षणता दूसरेपर अपनी छाप लगा देती थी।'

उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट झलकता है कि श्रीमद् राजचन्द्र निस्संदेह एक महान् तत्त्वज्ञानी, दार्शनिक और युगपुरुष थे। महात्मा गान्धीको हम महान् मानते हैं और गान्धीजी जिसको स्वयं महान समझते थे, वह महापुरुष निश्चय ही महान्

था, इसमें कोई भी अतिशयोक्ति नहीं है। महात्मा गान्धी जब डरबन (दक्षिण अफ्रिका) में थे, तब उनके मनमें हिंदू-धर्मके प्रति शङ्का हो गयी और उनका झुकाव ईसाई पादरियोंके उपदेशसे ईसाई-धर्मकी ओर हो गया था। उस समय उन्होंने २७ प्रश्नोंके उत्तर श्रीमद्से माँगे थे, जिनका उत्तर श्रीमद्ने मिती आसोज वदी ६ शनिवार, विक्रम संवत् १९५०को दिया। इससे गान्धीजीकी सब शङ्काओंका समाधान हो गया और उनकी हिंदू-धर्ममें पूर्ण आस्था हो गयी। सत्य, अहिंसा और दया-धर्मका मन्त्र गान्धीजीको श्रीमद् राजचन्द्रसे ही मिला था, जिसके बलपर उन्होंने हमारे देशको आजाद कराया। श्रीमद् राजचन्द्रसे गान्धीजीकी प्रथम भेंट जुलाई सन् १८९१में जब वे विलायतसे बंबई आये थे, हुई थी; उसके बाद तो निरन्तर सम्पर्क बढ़ता ही गया। अब हम इस लेखमें श्रीमद्के जीवनके बारेमें कुछ संक्षेपमें बताना चाहते हैं। आशा है वह पाठकोंको हृदयगम्य होगा और उनकी जीवन-दिशाको एक नयी मोड़ देगा।

जन्म

श्रीमद् राजचन्द्रका जन्म विक्रम संवत् १९२४ (सन् १८६७), मिति कार्तिक सुदी पूर्णिमा रविवारके दिन काठियावाड़—मोरवी राज्यके अन्तर्गत ववाणिया गाँवमें दशा-श्रीमाली वैश्यजातिमें हुआ था। इनके पिताका नाम रवजीभाई पंचाण और माताका नाम देवबाई था। श्रीमद्के एक भाई, चार बहिनें, दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। इनकी एक पुत्री श्रीमती जवलबेन अब भी मौजूद हैं, जिनके दर्शन मैंने हाल-में ही किये हैं, उनकी उम्र इस समय ६५ वर्षके लगभग है।

बाल्यावस्था

बालक राजचन्द्रकी सात वर्षकी बाल्यावस्था नितान्त खेल-कूदमें बीती थी। इस दशाका उन्होंने अपनी आत्मचर्यामें लिखा है—'सात वर्षतक एकान्त बालसुलभ खेल-कूदोंका सेवन किया। इतना मुझे उस वक्तके सम्बन्धमें याद है कि उस समय मेरी आत्मामें विचित्र कल्पनाएँ हुआ करती थीं। खेल-कूद-तकमें विजय प्राप्त करने और राजराजेश्वर-जैसी उच्च पदवी प्राप्त करनेकी परम जिज्ञासा होती। वस्त्र पहिनने, साफ रखने, खाने-पीने और सोने-बैठनेके सम्बन्धमें विदेही दशा थी।

'फिर भी मेरा हृदय कोमल था। वह दशा अब भी याद आती है। अबका विवेकी ज्ञान उस समयमें होता तो मुझे मोक्षके लिये इतनी अधिक जिज्ञासा नहीं रहती। उस समयकी ऐसी निर्दोष दशा होनेसे वह पुनः-पुनः स्मरण हो उठती है।'

उनकी सात वर्षसे तेरह वर्षतककी आयु शिक्षा-अभ्यासमें बीती। वे बचपनसे ही मेधावी छात्र थे। उनकी स्मृति बड़ी तीव्र थी। जो पाठ शिक्षक पढ़ाता, उसका भावार्थ तत्क्षण ही वे समझ लेते और वह उन्हें कण्ठस्थ हो जाता। अपने शिक्षाकाल-के बारेमें श्रीमद् स्वयं लिखते हैं—'अभ्यासमें बहुत प्रमादी था, वाक्-पटु, खिलाड़ी और मौजी था। पाठमात्र शिक्षक पढ़ाते, उतना ही मैं पढ़कर उसका भावार्थ कह जाता। इसलिये पढ़नेकी ओरसे निश्चिन्तता थी। उस समय कल्पित बातें करनेकी मुझमें बहुत टेव थी। आठवें वर्षमें मैंने कविता की थी, वह पीछे जाँच करनेपर समात निकली। उस समय मैंने कितनेक काव्यग्रन्थ पढ़े थे। उसी प्रकार अनेक प्रकारके उपदेश-ग्रन्थ थोड़े उल्टे-सीधे मैंने देखे थे, जो प्रायः अब भी स्मृतिमें हैं।'

श्रीमद् राजचन्द्रको सात वर्षकी अल्पायुमें ही जातिस्मरण-रूप ज्ञान हो गया था। उन्हें अपने पूर्व-जन्मके भावोंका आभास हो गया था। पुनर्जन्मकी सिद्धि उन्होंने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाणोंसे की है। लघुवयमें ही उन्हें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो गयी थी। इस सम्बन्धमें एक जगह श्रीमद् राजचन्द्रने स्वयं लिखा है—

> लघु वय थी, अद्भुत थयो तत्त्वज्ञान नो बोध।
> ए ज सूचवे एम के, गति अगति का शोध॥
> जे संस्कार थवा घटे, अति अभ्यासे क्याँय।
> विना परिश्रम ते थयो, भव शंका शी त्याँय॥

अर्थात्—मुझे जो छोटी-सी अवस्थासे तत्त्वज्ञानका बोध हुआ है, वही पुनर्जन्मकी सिद्धि करता है; फिर गति-अगति (पुनर्जन्म) की शोधकी क्या आवश्यकता है? तथा जो संस्कार अत्यन्त अभ्यास करनेके बाद उत्पन्न होते हैं, वे मुझे बिना किसी परिश्रमके ही हो गये हैं, फिर अब पुनर्जन्मकी क्या शङ्का है?

बालक राजचन्द्रपर ईश्वर-भक्तिकी छाप उनके पितामह-द्वारा पड़ी। वे श्रीकृष्णके उपासक एवं भक्त थे। बालक राजचन्द्र उनके साथ श्रीकृष्ण-कीर्तन करता। अवतारोंके चमत्कारिक जीवनसे बालक राजचन्द्र बहुत प्रभावित हुआ। किंतु धीरे-धीरे बालक राजचन्द्रका झुकाव जैनधर्मकी ओर हुआ। इसके विषयमें वे स्वयं लिखते हैं—'धीरे-धीरे मुझे उनके (जैन) प्रतिक्रमणसूत्र इत्यादि ग्रन्थ पढ़नेको मिले। उनमें अति विनयपूर्वक सर्व जगत्-जीवोंसे मित्रताकी कामना

१. श्रीमद् राजचन्द्र ग्रंथ पृष्ठ ४०६ पृष्ठ सं० नं० ४४७।

की है। इससे मेरी प्रीति उनमें भी हुई और पहली मान्यतामें भी रही। धीरे-धीरे यह प्रसङ्ग आगे बढ़ा। इतना होनेपर भी स्वच्छता तथा दूसरे आचार-विचार अब भी मुझे वैष्णवोंके प्रिय थे और जगत्-कर्ता होनेमें विश्वास था। यह मेरी १३ वर्षकी अवस्थातककी चर्चा है। पीछे मैंने अपने पिताकी दुकानपर बैठना शुरू किया। मेरे अक्षरोंकी छटाके कारण जब मैं लिखनेके कार्यके लिये कच्छदरबारके यहाँ बुलाया जाता, तब वहाँ जाया करता।'

बालक राजचन्द्रने गुजराती भाषाके सिवा अन्य किसी भाषाका नियमित अभ्यास नहीं किया था। फिर भी संस्कृत, प्राकृत और मागधीपर आपका अबाध अधिकार था। आपकी क्षयोपशम शक्ति इतनी तीव्र थी कि जिस अर्थको अच्छे-अच्छे मुनि और विद्वान्लोग नहीं समझ सकते थे, उन्हें आप पूर्णरूपसे समझ लेते थे। कहते हैं कि श्रीमद् राजचन्द्रने सवा वर्षके भीतर ही सब आगमोंको हृदयंगम कर लिया था। स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र थी कि जो पाठ पढ़ लेते, उसे कभी भी भूलते नहीं थे। अंग्रेजीका अभ्यास करनेके लिये आप एक बार राजकोट भी गये, पर वहाँ पढ़नेकी व्यवस्था न बैठनेसे वापिस ववाणियाँ लौट आये। आपकी अद्भुत पठन-पाठन एवं लेखन-शक्तिसे प्रभावित होकर कुछ श्रीमन्त आपको विद्याभ्यासके लिये काशी भेजना चाहते थे, किंतु श्रीमद्ने दूसरोंसे आर्थिक सहायता लेकर जाना स्वीकार नहीं किया।

गृहस्थाश्रममें प्रवेश

श्रीमद् ज्यों-ज्यों वयस्क होते जा रहे थे, त्यों-त्यों उनका अध्ययन, मनन एवं चिन्तन परिपक्व होता जा रहा था। उनकी उदासीनता एवं वैराग्यभावना बढ़ती जा रही थी, किंतु पूर्वकर्मोंके भोगसे, कन्या-पक्षवालोंके 'आग्रह' और उनके प्रति 'ममत्वभाव' होनेके कारण श्रीमद्ने विवाह-प्रस्ताव स्वीकार किया था। आपका विवाह विक्रम-संवत् १९४४, माघ सुदी १२ को १९ वर्षकी अवस्थामें गान्धीजीके परम मित्र डा० प्राणजीवन मेहताके बड़े भाई पोपटलालकी पुत्री झबकबाईके साथ हुआ था। गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके बाद भी स्त्री एवं संसारके अन्य सुख उनको किंचिन्मात्र भी आकर्षित न कर सके। उनकी उस समय भी यही धारणा रही कि 'कुटुम्बरूपी काजलकी कोठरीमें निवास करनेसे संसार बढ़ता है। उसका कितना भी सुधार करो, तो भी एकान्तवाससे जितना संसारका क्षय हो सकता है, उसका सौवाँ भाग भी उस काजलके घरमें रहनेसे नहीं हो सकता; क्योंकि वह कषायका निमित्त है और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है।'

शतावधानका प्रयोग

तो श्रीमद् १४-१५ वर्षकी आयुसे ही अवधान-प्रयोग करने लगे थे और क्रमशः शतावधानतक पहुँच गये। उन्नीस वर्षकी अवस्थामें उन्होंने बम्बईमें डा० पिटर्सनके सभापतित्वमें एक सार्वजनिक सभामें एक सौ अवधानोंका एक साथ प्रयोग करके बड़े-बड़े लोगोंको आश्चर्यचकित कर दिया। श्रीमद्की इस अलौकिक शक्तिकी उस समयके सभी पत्रों—पायनियर, टाइम्स आव इंडिया आदिने भूरि-भूरि प्रशंसा की और उन्हें 'साक्षात् सरस्वती' की उपाधि प्रदान की। वे चाहते तो इस शक्तिद्वारा विपुल मात्रामें धन अर्जित कर सकते थे, परंतु उन्होंने थोड़े ही दिनों बाद यह प्रदर्शन बंद कर दिया।

कुशल व्यापारी

श्रीमद् राजचन्द्र परम तत्त्वज्ञानी होनेके साथ-साथ एक परम कुशल व्यापारी भी थे। उन्होंने २२ वर्षकी आयु—विक्रम संवत् १९४६ में श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवनके साझेमें बंबईमें जवाहरात, कपड़े तथा किरानेके आयात-निर्यातका काम शुरू किया। जवाहरातके धंधेमें बहुत कुशाग्र बुद्धिकी जरूरत होती है। वे इस धंधेमें पूरे पारखी एवं निपुण थे। श्रीमद् राजचन्द्रके व्यापारिक जीवनके बारेमें पूज्य बापू लिखते हैं—'धार्मिक मनुष्यका धर्म उसके प्रत्येक कार्यमें झलकना चाहिये। यह रायचन्द्र भाईने अपने जीवनमें बताया था। उनका व्यापार हीरे-जवाहरातका था। वे रेवाशंकर जगजीवन झवेरीके साझी थे। अपने व्यवहारमें सम्पूर्ण प्रकारसे वे प्रामाणिकता बरतते थे। ऐसी उन्होंने मेरे ऊपर छाप डाली थी। वे जब सौदा करते तो मैं कभी अनायास ही उपस्थित रहता। उनकी बात स्पष्ट और एक ही होती थी। 'चालाकी'-सरीखी कोई वस्तु उनमें मैं न देखता था। दूसरेकी चालाकी वे तुरंत ताड़ जाते थे, वह उन्हें असह्य मालूम होती थी? ऐसे समय उनकी भ्रकुटि भी चढ़ जाती और आँखोंमें लाली आ जाती, यह मैं देखता था।

'धर्मकुशल लोग व्यवहार-कुशल नहीं होते, इस वहमको रायचन्द्र भाईने मिथ्या सिद्ध करके बताया था; अपने व्यापारमें वे पूरी सावधानी और होशियारी बरतते थे। उनके जो तर्क होते थे, वे अधिकांश सच्चे ही निकलते थे। इतनी

सावधानी और होशियारी होनेपर भी वे व्यापारकी उद्विग्नता अथवा चिन्ता न करते थे। दूकानमें बैठे हुए भी जब अपना काम समाप्त हो जाता, तब उनके पास पड़ी हुई धार्मिक पुस्तक अथवा कॉपी, जिसमें वे अपने उद्गार लिखते थे, खुल जाती थी। मेरे-जैसे जिज्ञासु उनके पास रोज आते ही रहते थे और उनके साथ धर्म-चर्चा करनेमें हिचकते न थे। इस तरहके अपवाद होते हुए भी व्यवहार-कुशलता और धर्मपरायणताका सुन्दर मेल जितना मैंने कवि (रायचंद्र भाई) में देखा है, उतना किसी दूसरेमें देखनेमें नहीं आया।'

रहन-सहन

श्रीमद् राजचन्द्रका रहन-सहन अत्यन्त सादा एवं संयमित था। 'सादा जीवन, उच्च विचार' के वे ज्वलंत प्रतीक थे। गान्धीजीके शब्दोंमें श्रीमद्का 'रहन-सहन, सादा और पहनाव अँगरखा, खेस, गर्म सूतका पेंट और धोती होते। भोजनके लिये जो मिलता, उसमें संतुष्ट रहते। उनकी चाल धीमी थी और देखनेवाला समझ सकता कि वे चलते-चलते भी अपने विचारोंमें मग्न हैं। आँखोंमें चमत्कार था, अत्यन्त तेजस्वी विह्वलता जरा भी न थी। आँखोंमें एकाग्रता खींची थी। चेहरा गोलाकार, होंठ पतले, नाक अणिदार भी नहीं, चपटी भी नहीं, शरीर एकहरा, कद मध्यम, वर्ण श्याम और देखनेमें गम्भीर-मुद्रा थे। उनके कण्ठोंमें ऐसा माधुर्य था कि जिसको सुनते-सुनते मनुष्य थकते नहीं; चेहरा हँसमुख और प्रफुल्लित था। उसके ऊपर अन्तरानन्दकी छाप थी। उनकी भाषा परिपूर्ण थी। ऐसा वर्णन संयमीके सम्बन्धमें ही सम्भव हो सकता है।'

महिला-उद्धारक

श्रीमद् राजचन्द्रके हृदयमें स्त्री-जातिके प्रति बड़ा सम्मान था। उन्होंने नारीको 'नरककी खान' नहीं समझा था। स्त्री-सम्बन्धी विवेचनपर श्रीमद् राजचन्द्र अपने एक पत्रमें लिखते हैं—'स्त्रीमें कोई दोष नहीं, परंतु दोष तो अपनी आत्मामें है। स्त्रीको सदाचारी ज्ञान देना चाहिये और उसे एक सत्सङ्गी समझना चाहिये। उसके साथ धर्म-बहिनका सम्बन्ध रखना चाहिये। अन्तःकरणसे किसी भी तरह माँ-बहिनमें और उसमें अन्तर न रखना चाहिये। उसके शारीरिक भागका किसी भी तरह मोहनीय कर्मके वशसे उपभोग किया जाता है। उसमें योगकी ही स्मृति रखनी चाहिये। उससे कोई संतानोत्पत्ति हो तो वह एक साधारण वस्तु है—यह समझकर ममत्व नहीं रखना चाहिये।'

स्त्री-समाजको बोध देनेके लिये आपने १६ वर्षकी आयुमें 'स्त्री-नीतिबोध' नामक एक पद्यग्रन्थ भी बनाया था। इस ग्रन्थमें स्त्रियोंको सुघर बननेके लिये हर प्रकारका उपदेश दिया है। अनमेल एवं बाल्य-विवाहके आप विरोधी थे। स्त्रियोंको शिक्षा देनेकी आवश्यकतापर बल देते हुए आपने एक पद्यमें बताया है—

थवा देश आबाद सौ हौंस धारो, भणावी गणावी वनिता सुधारो।
थति आर्य भूमि विषे जेह हानी, करो दूर तेने तमे हित मानी॥

कवि लेखक और साहित्यकार

श्रीमद् राजचन्द्र जन्मजात कवि एवं सिद्धहस्त लेखक थे। वे संस्कारी ज्ञानी तथा साहित्यकार थे। उनकी काव्य-प्रतिभा अनूठी थी; उनकी कविता जितनी सरल है, उतनी ही मौलिक एवं सरस है। प्रत्येक कवितामें शब्द-योजना और भाव अनूठे हैं। जैसे सरिताका नीर सहज गतिसे प्रवाहित होता है, वैसे ही आपकी काव्यधारा हृदय-मन्थनका नीर है। श्रीमद्को कविताके लिये श्रम नहीं करना पड़ता था। उपशम, भक्ति, चारित्र, तत्त्वज्ञान आदि सभी विषयोंपर श्रीमद्ने गद्य एवं पद्यमें लिखा है। गान्धीजीके शब्दोंमें 'उन (श्रीमद्)के लेखोंकी एक असाधारणता यह है कि उन्होंने स्वयं जो अनुभव किया, वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं, दूसरेके ऊपर छाप डालनेके लिये उन्होंने एक लाइन भी लिखी हो यह मैंने नहीं देखा। उनके पास हमेशा कोई-न-कोई धर्मपुस्तक और एक कोरी कापी पड़ी ही रहती है। इस कापीमें वे अपने मनमें जो विचार आते, वे लिख लेते थे। ये विचार कभी गद्यमें और कभी पद्यमें होते थे।'

श्रीमद्ने ८ वर्षकी उम्रसे कविता करना शुरू कर दिया था। ९ वें वर्षमें रामायण और महाभारतको संक्षिप्तमें पद्योंमें लिख दिया था। १० वर्षकी उम्रमें आपके विचार काफी परिपक्व हो गये थे। ११ वर्षकी उम्रमें आपने कई निबन्ध लिखे, जिनपर उन्हें पारितोषिक मिला। १२ वर्षकी उम्रमें 'घड़ियाल'पर तीन सौ पंक्तियोंकी एक कविता लिखी। 'स्त्री-नीतिबोध', 'काव्यमाला', 'वचन-सप्तसती' और चौथी रचना 'पुष्पमाला—ये सब श्रीमद्की १६ वर्षके पूर्वकी रचनाएँ हैं। जिस तरह जापमालाके १०८ दाने होते हैं, उसी तरह श्रीमद् राजचन्द्रने सुबह-शाम, निवृत्तिके समय पाठ करनेके लिये

१०८ राजा, वकील, श्रीमंत, बालक, युवा, वृद्ध, धर्माचार्य, कृपण, दुराचारी, कसाई आदि सभी तरहके लोगोंके लिये हितकारी वचन लिखे हैं । श्रीमद्की पाँचवीं रचना 'मोक्षमाला' है । यह सोलह वर्ष, पाँच महीनेकी आयुमें लिखी गयी थी । मोक्षमालामें जैनधर्मके सिद्धान्तोंका सरल और आधुनिक शैलीसे १०८ पाठोंमें रोचक वर्णन किया गया है । सब दुःखोंकी जननी 'तृष्णा' है । तृष्णाकी विचित्रताका किस सुन्दर ढंगसे मोक्षमालामें श्रीमद्ने वर्णन किया है, यथा—

करोचली पड़ी डाढी डांचातणो दाट वल्यो,
काली केशपटी विषे, श्वेतता छवाई गई ।
सुंघवूं, साँभळवुं ने, देखवुं ते मांडी वल्यूं,
तेम दांत आवली ते, खरी के खवाई गई ।
वली केड वांकी, हाड गया, अंग रंग गयो,
उठवानी आयु जता, लाकडी लेवाई गई ।
अरे राजचन्द्र एम, युवानी हराई पण,
मन थी न राँड ममता मराई गई ॥

—अर्थात् मुँहपर झुर्रियाँ पड़ गयीं, गाल पिचक गये, काली केशकी पट्टियाँ सफेद पड़ गयीं; सूँघने, सुनने और देखनेकी शक्तियाँ जाती रहीं और दाँत सब पड़ गये; कमर टेढ़ी हो गयी, हाड़-मांस सूख गये और शरीर काँटा हो गया, उसमें बैठनेकी शक्ति जाती रही और चलनेके लिये हाथमें लाठी लेनी पड़ गयी । अरे राजचन्द्र ! इस तरह युवावस्थासे हाथ धो बैठे, परंतु फिर भी मनसे यह राँड़ ममता नहीं मरी ।

विक्रम-संवत् १९४२—अठारह वर्षकी आयुमें आपने 'भावनाबोध' नामक ग्रन्थ लिखा । भावनाबोधमें अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, संसार, आश्रव, संवर, निर्जरा, और लोक-स्वरूप—इन १० भावनाओंका वर्णन किया गया है । तत्त्ववेत्ताओंके उपदेशका सार बताते हुए श्रीमद् कहते हैं—'इन तत्त्ववेत्ताओंने संसारसुखकी प्रत्येक सामग्रीको शोकरूप बतलाया है । यह उनके अगाध विवेकका परिणाम है । व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पतञ्जलि, कपिल और युवराज शुद्धोधनने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश किया है, उसका रहस्य नीचेके शब्दोंमें आ जाता है—'अहो प्राणियो ! संसाररूपी समुद्र अनन्त और अपार है; इनको पार करनेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो, उपयोग करो ।'

महात्मा गान्धीका प्रिय भजन—

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे, क्या रे थईशुं बाह्यांतर निर्ग्रन्थ जो ।
सर्व सम्बन्ध नुं बंधन तीक्षण छेदीने, विचरीशुं कव महत्पुरुषने पंथ जो ?
सर्व भावथी औदासीन्य वृत्ति करी, मात्र देह ते संयमहेतु होय जो ॥
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहिं, देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो ॥

इस भजनके बारेमें गान्धीजी लिखते हैं—'रायचन्द्र भाईकी १८ वर्षकी उम्रके निकले हुए अपूर्व उद्गारोंकी ये पहली दो कड़ियाँ हैं; जो वैराग्य इन कड़ियोंमें छलक रहा है, वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ़ परिचयसे प्रत्येक क्षणमें उनमें देखा है ।'

१९ वर्षकी अवस्थामें श्रीमद् राजचन्द्रने १२० वचनोंका 'वचनामृत' लिखा है । वचनामृतके वचनोंकी मार्मिकता हृदयस्पर्शिनी है । जीवनको नयी मोड़ देनेकी रामबाण ओषधि है ।

बीसवें वर्षमें श्रीमद् राजचन्द्रने प्रतिमाकी (मूर्तिपूजाकी) सिद्धिके ऊपर एक बृहद् निबन्ध लिखा था । इसमें आगम, इतिहास, पुरातत्त्व, परम्परा और अनुभवके प्रमाणसे प्रतिमा-पूजनका मण्डन किया है ।

इसके बाद अन्य कई काव्य लिखे, जो तत्कालीन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें छपे थे । कुन्द-कुन्द, पंचास्तिकाय और दशवैकालिक सूत्रकी कुछ गाथाओंका सुन्दर अनुवाद भी श्रीमद्ने किया था । बनारसीदास, आनन्दघन, चिदानन्द और यशोविजय प्रभृति मस्त योगी-संतोंके पद्य श्रीमद्को बहुत प्रिय थे । इन पदोंका सुन्दर विवेचन भी श्रीमद्ने लिखा था ।

श्रीमद् राजचन्द्रकी प्रौढावस्था यानी २९ वर्षकी अवस्थामें लिखा गया ग्रन्थ 'आत्म-सिद्धि-शास्त्र' है । यह आत्मज्ञानका अमोघ शास्त्र है । इसमें १४२ पद्य हैं । यह ग्रन्थ श्रीमद्ने श्रीसौभाग्यभाई, श्रीअचलभाई आदि मुमुक्षु तथा भव्य जीवोंके हितके लिये नडियादमें रहकर बनाया था । इस ग्रन्थमें (१) आत्मा है, (२) वह नित्य है, (३) वह निज कर्मका कर्ता है, (४) वह भोक्ता है, (५) मोक्ष है, (६) मोक्षका उपाय है—इन 'छः' पदोंकी विस्तृत व्याख्या करके उसे सिद्ध किया है । इसमें कविता बड़ी ही उच्च कोटिकी है । षड्दर्शनका स्वरूप इस छोटी पुस्तकमें बहुत ही बारीकीके साथ आ गया है । इस ग्रन्थके हिंदी,

अंग्रेजी एवं मराठीमें अनुवाद हो चुके हैं। इसका अंग्रेजी अनुवाद तो स्वयं गान्धीजीने किया था।

श्रीमद् राजचन्द्रने कुछ काव्य हिंदीमें भी लिखे थे। श्रीमद्की गान्धीजीकी तरह नित्य डायरी लिखनेमें भी विशेष रुचि थी। श्रीमद्का समस्त साहित्य 'श्रीमद्राजचन्द्र' नामक विशिष्ट ग्रन्थमें 'परमश्रुत प्रभावक मण्डल', बम्बईकी ओरसे प्रकाशित हुआ है। जिज्ञासु पाठकोंकी जिज्ञासा उस ग्रन्थके पठन एवं मननसे तृप्त हो सकती है। यहाँ तो अति ही संक्षेपमें सब कुछ लिखा जा रहा है।

महान् तत्त्ववेत्ता, दार्शनिक, धर्मोपदेशक और सुधारक

श्रीमद् राजचन्द्र महान् तत्त्वज्ञानी, असाधारण दार्शनिक और संत थे। भारतके समस्त मुख्य दर्शनोंका आपने गहरा अध्ययन एवं अभ्यास किया था। जैन-तत्त्वज्ञानके आप जिस उच्च कोटिके विद्वान् थे, वेदान्त, सांख्य तथा बौद्धादि दर्शनोंमें भी आपका पाण्डित्य उतना ही विशाल एवं गहरा था। वे सभी धर्मोंका समानरूपसे आदर करते थे। 'क्षीर-नीर'के विवेकवत् सबसे साररूप ग्रहण करते थे। कुरान, जिंदअवेस्ता आदि पुस्तकें भी आप अनुवादके जरिये पढ़ गये थे।

श्रीमद् राजचन्द्रने 'आत्मा'को ही धर्मका स्वरूप समझा था। धर्मका अर्थ मत-मतान्तर नहीं। धर्म आत्माका गुण है और वह मनुष्यजातिमें दृश्य अथवा अदृश्य रूपसे विद्यमान है। धर्म वह साधन है, जिसके जरिये हम अपने-आपके 'निज स्वरूप'को स्वयं जान सकते हैं। मतों, साम्प्रदायिकता एवं बाडाबंदीके आप सख्त विरोधी थे। जैन-धर्म और समाजकी वर्तमान दशासे आप बहुत ही क्षुब्ध थे। आप दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी एकताके प्रबल पक्षपाती थे। आपका स्पष्ट कहना था कि दिगम्बर, श्वेताम्बर आदि मत-दृष्टिसे कल्पनामात्र हैं। राग-द्वेष और अज्ञानका नष्ट होना ही जैन-मार्ग है। वे सब धर्मोंका मूल 'आत्मधर्म' मानते थे। श्रीमद् स्पष्ट शब्दोंमें कहते थे—

भिन्न-भिन्न मत देखिये, भेद दृष्टि नो येह।
एक तत्त्वनां मूळ मां, व्याप्या मानो तेह॥
तेह तत्त्वरूप वृक्षनु 'आत्मधर्म' छे मूळ।
स्वभावनी सिद्धी करे, धर्म तेज अनुकूळ॥

अर्थात् जगत्में जो भिन्न-भिन्न मत दिखायी देते हैं, वह केवल दृष्टिका भेदमात्र है। इन सबके मूलमें एक तत्त्व रहता है और वह तत्त्व आत्मधर्म है। अतएव जो निजभावकी सिद्धि करता है, वही धर्म उपादेय है।

जैन-मत और वेद-मतकी तुलना करते हुए श्रीमद् राजचन्द्रने एक बार कहा था—'जैन स्वमत है और वेद परमत है, यह हमारी दृष्टिमें नहीं है। जैनको संक्षिप्त करें तो वह वेदमत है, और वेदमतको विस्तृत करें तो वह जैनमत है। हमें तो दोनोंमें कोई बड़ा भेद नहीं प्रतीत होता।

ईश्वर-प्राप्तिके लिये सद्गुरु और सत्-शास्त्रका साधन नितान्त आवश्यक है। श्रीमद्ने जगह-जगह इन दोनोंको स्मरण किया है। श्रीमद्के रचित 'श्रीसद्गुरु-भक्ति-रहस्य' के २० दोहे प्रातः और सायं पठनीय एवं कण्ठाग्र करने योग्य हैं। एक दोहेमें आप कहते हैं—

प्रभु, प्रभु लय लागी नहीं, पड्यो न सद्गुरु पाय।
दीठा नहीं निज दोष तो, तरिये कौन उपाय?

और भी श्रीमद् कहते हैं—

बिना नयन पावे नहीं, बिना नयनकी बात।
सेवे सद्गुरुके चरन, सो पावे साक्षात॥

श्रीमद् राजचन्द्र दार्शनिकके सिवा उग्र सुधारक भी थे। रूढ़िवादियोंको आपने खूब आड़े हाथ लिया है। वे 'देशहित' कार्य करनेके लिये लोगोंको उपदेश देते थे। स्त्री-शिक्षाके लिये आपने बहुत कुछ कहा था। वर्तमान कालमें क्षयरोग (T. B.) जिस त्वरितगतिसे देशमें फैल रहा है, उसके इलाजके लिये आप अपने विक्रम-सं० १९५६ वैशाख सुदी ९के पत्रमें मोरबीसे लिखते थे—'वर्तमान कालमें क्षयरोग विशेष बढ़ा है और बढ़ता जा रहा है। इसका मुख्य कारण ब्रह्मचर्यकी कमी, आलस्य और विषयादिकी आसक्ति है। क्षयरोग-नाशका मुख्य उपाय ब्रह्मचर्य-सेवन, शुद्ध सात्त्विक आहार-पान और नियमित वर्तन है।' इसी तरह Inoculation (महामारीका टीका) आदि क्रूर प्रथाओंका भी श्रीमद्ने घोर विरोध करके अपनी समाजसुधारक लोकोपकारक वृत्तिका परिचय दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं—श्रीमद् राजचन्द्र 'आत्म-विकास'की उच्चदशाको पहुँचे हुए थे और इसी दशाका आपने 'शुद्ध समकित' के नामसे उल्लेख किया है। वे अपने स्ववृत्तान्तमें लिखते हैं—

धन रे दिवस आ अहो, जागि रे शान्ति अपूर्व रे।
दश वर्षे से, धारा उलसी, मट्यो उदयकर्म नो गर्व रे॥
ओगणीससें ने एकत्रीसे, आव्यो अपूर्व अनुसार रे।
ओगणीसे ने बेतालीसे, अद्भुत वैराग्य धार रे॥

ओगणीससे ने सुडताळीसे, समकित सुद्ध प्रकाश्युं रे।
श्रुत अनुभव वधती दशा, निज स्वरूप अवभास्युं रे॥

एकान्तवासी

श्रीमद् राजचन्द्रमें ज्यों-ज्यों आत्मविकास हो रहा था, त्यों-त्यों उन्हें एकान्त प्रिय लगने लगा। उन्होंने ईडरकी गुफाओंमें महीनों एकान्तवास किया था और निर्भय होकर गुजरातके अन्य पहाड़ों और वनोंमें भी आपने प्रवास किया था। वे गुप्त रहते थे, तो भी दर्शनाभिलाषी उनका पीछा करते रहते थे। ईडरमें रहते वक्त उन्होंने ईडरके राजाको भी प्रबोध दिया था। अन्तमें—

अन्तमें श्रीमद् राजचन्द्र संसारके नाना मत-मतान्तरोंसे बहुत दुखी हो गये थे। श्रीमद् बहुत बार कहा करते थे कि 'मेरे शरीरमें चारों ओरसे कोई बरछी भोंक दे तो मैं उसे सह सकता हूँ; पर जगत्में जो झूठ, पाखण्ड, अत्याचार चल रहा है, धर्मके नामपर जो अधर्म हो रहा है, उसकी बरछी मुझसे सही नहीं जाती। गान्धीजीने राजचन्द्र-जयन्तीपर कहा था—'अत्याचारोंसे उन्हें अकुलाते मैंने बहुत बार देखा है। वे (श्रीमद्) सारे जगत्को अपने कुटुम्बके-जैसा समझते थे। अपने भाई या बहिनकी मौतसे जितना दुःख हमें होता है, उतना ही दुःख उन्हें संसारमें दुःख और मृत्यु देखकर होता था।'

इस तरह श्रीमद् राजचन्द्र संसार-तापसे संतप्त थे। अत्यधिक शारीरिक और मानसिक श्रमके कारण आपका स्वास्थ्य दिनों-दिन गिरता गया। स्वास्थ्य सुधारनेके लिये आपको धर्मपुर, अहमदाबाद, वढ़वाण कैंप और राजकोट रखा गया और नाना प्रकारके इलाज कराये गये। पर सब निष्फल हुए। कालको श्रीमद् राजचन्द्र-जैसे अमूल्य रत्नका जीवन प्रिय नहीं हुआ और उन्हें इस नश्वर देहको छोड़ना पड़ा। कहते हैं कि विक्रम संवत् १९५६ में श्रीमद् राजचन्द्रने व्यवहारोपाधिसे निवृत्ति लेकर स्त्री और लक्ष्मीका परित्याग करके, अपनी मातुश्रीसे आज्ञा मिलनेपर संन्यास ग्रहण करनेकी भी तैयारी कर ली थी। मृत्यु-समय श्रीमद्का वजन १३२ पौंडसे घटकर कुल ४३ या ४४ पौंड ही रह गया था। इस तरह श्रीमद् राजचन्द्रकी आत्मा इस विनश्वर देहको विक्रम-संवत् १९५७ मिती चैत वदी ५ मङ्गलवारको दोपहरके २ बजे राजकोटमें छोड़कर प्रयाण कर गयी। देह-त्यागके ५-६ घंटा पूर्व श्रीमद्के अन्तिम उद्गार ये थे—'तुम निश्चिन्त रहना, यह आत्मा शाश्वत है। अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होनेवाली है। तुम शान्त और समाधि-भाव वर्तन करना। जो रत्नमय ज्ञानवाणी इस देहद्वारा कही जा सकती, उसके कहनेका समय नहीं। तुम पुरुषार्थ करना, मनसुख! दुखी न होना, माँको ठीक रखना। मैं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता हूँ। इस तरह वह पवित्र देह और आत्मा समाधिस्थ हो छूट गयी। लेशमात्र भी आत्माके छूट जानेके चिह्न प्रकट प्रतीत नहीं हुए। लघुशङ्का, दीर्घशङ्का, मुँहमें पानी, आँखोंमें पानी अथवा पसीना कुछ भी नहीं था। उस समय श्रीमद्का समस्त परिवार तथा गुजरात-काठियावाड़के बहुत-से मुमुक्षु उपस्थित थे।

श्रीमद्के जीवनसे शिक्षा

श्रीमद् राजचन्द्रके सम्पूर्ण जीवन और ज्ञानसे गान्धीजीके प्रवचनानुसार हमें चार बातोंकी शिक्षा मिलती है—(१) शाश्वत वस्तु (आत्मा) में तन्मयता, (२) जीवनकी सरलता, (३) समस्त संसारके साथ मैत्रीभाव, (४) सत्य-अहिंसामय जीवन।

श्रीमद् राजचन्द्र-अनुभव-वाणी

१—व्यवहारमें बालक बनो, सत्यमें युवक बनो और ज्ञानमें वृद्ध बनो।

२—राग करना नहीं, करना तो सत्पुरुषपर; द्वेष करना नहीं, करना तो कुशीलपर।

३—शूरवीर कौन? जो स्त्रीके नयन-कटाक्षसे घायल न हो।

४—सत्पुरुषोंका क्षणभरका भी समागम संसाररूपी समुद्रको पार करनेमें नौकारूप होता है—यह वाक्य महात्मा शंकराचार्यजीका है और वह यथार्थ ही मालूम होता है।

५—तू किसी भी धर्मको मानता हो, इसका मुझे पक्षपात नहीं। कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि जिस राहसे संसार-मलका नाश हो, उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारका तू सेवन करना।

६—प्रजाके दुःख, अन्याय और कर, इनकी जाँच करके आज कम कर। तू भी हे राजन्! कालके घर आया हुआ पाहुना है।

७—श्रीमंत हो तो पैसेके उपयोगको विचारना। उपार्जन करनेका कारण आज ढूँढ़कर कहना।

८—तू चाहे जो धंधा करता हो, परंतु आजीविकाके लिये अन्यायसम्पन्न द्रव्यका उपार्जन नहीं करना।

९—'सहजात्मस्वरूप परमगुरु' का नित्य जाप करो।

मुरली और माला

(लेखक—श्रीकमलाकरजी 'साहित्यरत्न')

एक बार शरद्-पूर्णिमाके महारासमें आनन्द चरम सीमापर था। श्यामसुन्दरकी बाँसुरीसे अमृत झर रहा था और भुवनमोहिनी स्वर-लहरीपर गोपियाँ झूम-झूमकर नाच रही थीं।

बात कुछ ऐसी हुई कि नटनागरकी किसी योगिनामप्यगम्य लास्यमुद्रामें वनमालाका छोर उछलकर बाँसुरीपर झूलने लगा।

मानिनी मुरलिका हारका भार न सह सकी। उपेक्षापूर्वक उसने मालाको आड़े हाथों लिया। तमक-कर बोली—'तेरा यह साहस? ऊपर चढ़ने लगी अधोमुखी! निम्नगे!! अपनी सीमामें रह न?'

मालाने सुरभि बिखेरते हुए कहा—'री अधरशायिनि! कुपित क्यों होती है? चढ़कर ऊपर आ भी गयी तो क्या तेरा स्वर चुरा लूँगी? समीप हूँ, तबतक सौरभ ही ले।'

'बड़ी आयी सौरभवाली! मेरी समानता तू कैसे कर सकती है? कहाँ मैं मूर्तिमयी माया, भगवान्‌को त्रिभङ्गी बनाकर नचानेवाली और कहाँ तू, नगण्य एक सुमनमाल!'

मालाने और विनम्रतासे कहा—'बहिन मायाविनि! माना तेरी महिमा अपार है। तू अधिकारके गौरवसे दृप्त है, नादब्रह्म तुझमें झंकृत है। सत्य है मैं तेरे पासंगमें भी नहीं; किंतु अरी मैं तो केवल उत्सर्गकी एक अकिंचन भावना हूँ। मेरे सुमन तो बस, मूर्तिमान् समर्पण हैं। वे नित्य इसीलिये खिलते और मुसकराते हुए बिंधते हैं कि रसिक-शिरोमणिके हृदयसे लगें और टूट भी जायँ तो चरणोंपर गिरें। मेरा प्रत्येक पुष्प केवल इतना जानता है कि हमारे पुण्य कितने महान् हैं, जो आज भक्तवत्सलके कुसुमादपि कोमल हृदयपर झूल रहे हैं; नहीं तो क्या वृन्दावनमें फूलोंकी कमी थोड़े ही है।'

'उपदेश देने लगी री सुमनाङ्गिनि!' मुरलीने कटाक्ष किया।

'उपदेश नहीं देवि! सचाई है।' वनमाला बोली। 'तू सोच तो सही, विश्वकी वनराजिमें क्या बाँसोंका अभाव है? तुझ-जैसी करोड़ों बाँसुरियाँ बन सकती हैं। हम क्यों न इसे अपना अहोभाग्य मानें कि सर्वाधारने तुझे अधरसे लगाया और मुझे हृदयसे। गहराईसे विचार करके देख कि तेरे माधुर्यमें स्वर किसका है—उसीका न, जिसका सौरभ मेरी पाँखुरी-पाँखुरीमें है।'

मालाकी बात सुनकर बाँसुरीको जैसे बोध हो गया। बोली—

'अपराध हो गया री सहोदरे! क्षमा कर दे, मेरी माँ-जाई!'

और तब गद्गद होकर माला बाँसुरीसे लिपट-लिपट गयी।

मैं सदाके लिये भगवान्‌का हो गया हूँ

मेरे भगवान् कहते हैं कि तुम सब धर्मोंको छोड़कर एक ही परम धर्मको अपना लो। वह परम धर्म है—'भगवान्‌का हो जाना।' भगवान्‌में ही मन लगाना, भगवान्‌की ही भक्ति करना, भगवान्‌की ही पूजा करना, भगवान्‌को ही नमस्कार करना और भगवान्‌के ही कर्म करना। मैं ऐसा ही करता हूँ। अब मेरी मेरे भगवान्‌के अतिरिक्त न कहीं आसक्ति रही है न ममता। और मेरा सारा अहंकार सब जगहसे निकलकर एक ही जगह केन्द्रित हो गया है कि 'मैं भगवान्‌का हूँ। मैं नित्य-निरन्तर सदाके लिये भगवान्‌का हो गया हूँ।'

आस्तिकके चरणोंमें

[कहानी]

(लेखक—श्रीविजय निर्बोध)

गर्मियोंके दिन: संध्याका समय और उसपर भी मन्थर गतिसे बहती हुई शीतल बयार अपने स्पर्शसे हरी-हरी दूबपर लेटे हुए नास्तिकको बरबस ही अचेत किये दे रही थी। सहसा मन्दिरकी घण्टाने तन्द्राको भङ्ग कर दिया और कानोंमें पड़ी एक मधुर भजनकी रसभीनी पङ्क्ति—

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई।

उसके क्रोधकी सीमा न रही और पागलोंकी भाँति वह बड़बड़ा उठा—'आखिर यह भगवान् है क्या मुसीबत ! जिसे देखो, उसीकी अक्लका दिवाला निकला नजर आता है। हर वक्त राम, राम, राम''''''मेरी तो समझमें नहीं आता आखिर दुनियाको हो क्या गया है !'

'ऐसा न कहो दोस्त, ऐसा न कहो''''''उस सर्वशक्तिमान्की सत्ताको ऐसे अस्वीकार मत करो !' एक अदृश्य आवाजने उसके भावके तूफानको सहसा रोक दिया।

'कौन ! कौन हो तुम ! तुम कौन हो ! सामने क्यों नहीं आते !' वह बड़बड़ाया। 'मुझे अपनी शङ्काओंका समाधान चाहिये !'

शायद वह कुछ और भी कहता, परंतु एक वयोवृद्ध साधुने उसके हृदयपर एक छाप-सी लगा दी और चाहनेपर भी कुछ क्षणके लिये वह बोल नहीं पाया।

'तुम भटक रहे हो दोस्त''''''भगवान्को इस प्रकार भूलनेसे काम नहीं चलेगा।' साधुकी वाणीमें माधुर्य था और अमिट स्नेह। 'आपके भगवान्को आजतक किसीने देखा भी है या वह केवल कल्पना-लोकका ही विषय रहा है !,' नास्तिकने बड़ी उत्सुकतासे पूछा।

'आँखें होते हुए भी अगर कोई उसे देख न पाये तो कमी केवल देखनेवालेकी है''''''मेरे भगवान् तो नित्यप्रति अनेकानेक रूपोंमें लीलाका प्रदर्शन करते ही रहते हैं। ऐसा कौन-सा काम है, जो बिना उनकी सहायताके पूरा हो सकता हो !' साधुने विनम्र-सा उत्तर दिया।

'इनका मतलब हमें खाना भी आपका भगवान् खिलाता है।' उसने व्यंग्य किया। 'इसमें भी क्या संदेह है !' साधुके स्वरमें दृढ़ता थी और आँखोंमें आत्मविश्वासकी झलक।

'और यदि मैं स्वयं न खाऊँ तो क्या आपके भगवान् मुझे मार-मारकर खिलायेंगे !' उसने सशङ्क-स्वरमें फिर पूछा।

प्रश्न बे-तुका होनेपर भी साधुके मुखसे निकल ही तो पड़ा, 'हाँ !' 'ठीक है तो मैं भी अब उसी समय खाना खाऊँगा, जब भगवान् मुझे मार-मारकर खिलायेंगे; अन्यथा नहीं।' कहते हुए नास्तिक सामने खड़े पीपलके वृक्षपर चढ़ने लगा और साधुके बार-बार समझानेपर भी जमीनपर नहीं उतरा।

रात हुई; साधु चला गया; किंतु नास्तिक एक कठिन व्रत लिये उसी प्रकार बैठा रहा। अगले दिन दोपहरको एक व्यक्ति विश्रामार्थ उसी पेड़के नीचे रुका, सोया और जगनेपर जल्दीमें अपने साथका खाना और पानी वहीं रखा भूलकर अपने रास्ते लगा।

भूख और प्यासने उसे हथियार डाल देनेके लिये विवश तो अनेक बार किया; किंतु निश्चयकी दृढ़ताने नास्तिकको झुकने लेशमात्र भी नहीं दिया। धीरे-धीरे साँझ बढ़ी और रात हो गयी।

अचानक ही रात्रिकी नीरवताको टापोंके स्वरने भङ्ग कर दिया और वृक्षपर बैठे हुए नास्तिकने देखे जलती हुई मशालोंके साथ उसी ओर आते हुए कुछ लुटेरे। प्रकाश बढ़ता चला गया और अन्तमें नेताके आदेशपर पूरा गिरोह आ टिका उसी पेड़के नीचे।

'वाह, चुपड़ी और दो-दो,' एक लुटेरा उछला।

'क्या है, नं० ५१० !' सरदारने उत्सुकतासे पूछा।

'खाना और ठंडा पानी !' लुटेरेने दुगने उत्साहसे जवाब दिया। रुको, इसे हाथ मत लगाना''''''यह किसी शरारतीका काम है, जो हमें जहर देकर तमाम माल खुद हड़प जाना चाहता है।' दृढ़ताके साथ सरदार गरजा।

मशालें अपराधीकी खोजमें दौड़ने लगीं और कुछ क्षण पश्चात् सरदार बरस पड़ा नास्तिकपर।

'नीचे उतरो''''''अगर जिंदगीकी खैर चाहते हो तो नीचे उतरो।' 'नहीं उतरता।' नास्तिकने वहींसे उत्तर दिया।

'नं० ७ ! तुम पेड़पर चढ़कर इसे नीचे फेंक दो।' सरदारकी वाणीमें विष था और आँखोंमें धधकती हुई ज्वाला।

पलक झपकते आज्ञाका पालन हुआ और पेड़पर बैठा हुआ नास्तिक बलात् नीचे फेंक दिया गया; किंतु गिरते-गिरते भी वह यह कहना नहीं भूला कि 'वह खाना नहीं खायगा' और भूलता भी कैसे, आखिर बिना मार खाये खाना न खानेका व्रत जो ले लिया था उसने।

'यह सब इसीकी शरारत है'.....'नं० ७! तुम इसे मार-मारकर खाना खिलाओ'.....'जिससे न रहे बाँस न बजे बाँसुरी।'

नं० ७ नास्तिकके लिये भगवान् बन गया। उसका व्रत पूरा तो हुआ; परंतु साधना बड़ी मँहगी पड़ी।

× × ×

अब यही नास्तिक संसारके लिये संत मलूकदास बन गया और अपने अनुभव एवं विश्वासको केवल दो पंक्तियोंमें ही उसने इस प्रकार व्यक्त किया—'अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम। दास मलूका कह गए सबके दाता राम'॥

मलूकदासका आलसी सम्प्रदाय देशके कोने-कोनेमें फैलना शुरू हो गया। उसके अनुयायी न काम करते न धंधा। दानका खाना और मन्दिरमें सोना—यही था उनके जीवन-यापनका एक मात्र ढंग। मुगलसम्राट् इसे सहन न कर सका और उसने निश्चय किया संतकी परीक्षाका। सहसा एक रात मन्दिर आगकी लपटोंसे चमक उठा, संतके शिष्य भाग खड़े हुए, किंतु अपने प्रमुख शिष्यके साथ संत अविचलित पड़ा रहा उसी मन्दिरमें.....धीरे-धीरे लपटें शरीरको भस्म करने लगीं और प्रमुख शिष्य भी बड़बड़ा उठा—'अब तो उठिये गुरुदेव! लपटें शरीरको झुलसने लगीं।'

'तुझे बोलनेमें आलस्य नहीं आता।' संतने स्थिर भावसे पूछा। 'विधाताकी इच्छाको टाल कौन सकता है। यदि उसे हमारा जीवन अभीष्ट है तो यह मामूली आग क्या हमें जला सकेगी और यदि उसकी इच्छा है कि हम जल मरें तो क्या सागरमें भी आग नहीं लगती?'

खट.....खट.....खट, सरकारी आग बुझानेवाले संत और शिष्यकी खाट उठाकर मन्दिरसे बाहर ले आये... संत परीक्षामें पास हुआ और मुगलसम्राट् झुक गया आस्तिकके चरणोंमें!

रस-लीला

(लेखक—कु० श्रीरैहाना तैयबजी)

'जीवनमें बहुत मुसीबतोंका सामना करना पड़ता है। निराशाएँ भी आदमीको कभी-कभी इस तरह घेरती हैं कि उसका दम घुट जाय। आदमीको जीना दूभर हो जाय। इतना सब होते हुए भी कुल मिलाकर अगर अलिप्तभावसे सोचा जाय तो जिंदगी जीनेमें एक अजीब लुत्फ है। रोज नये-नये अनुभव, नये-नये विचार, मुसीबतें, निराशाएँ भी नयी-नयी। जिंदगी सचमुच एक दिलचस्प चीज है। क्या आपका भी यह अनुभव नहीं है? आपके पास रोज नये-नये लोग अपना अन्तरंग खोलने आते हैं। इसलिये जिंदगीके इस दिलचस्प पहलूका अनुभव आपको अधिक उत्कटतासे होता होगा। अपने पिछले लेखमें आपने इस बातका कुछ जिक्र किया है। अपने निजी अनुभवोंसे आप इसका ज्यादा विस्तार कर सकें तो अच्छा होगा।'

'बड़ी मजेदार चर्चा छेड़ी है तुमने, भैया! इसमें शक नहीं कि जिंदगी एक अनन्त रसलीलाही का नाम है। जैसे तुमने कहा है, दुःख हो या सुख, चैन हो या बेचैनी, आराम हो या बेआरामी, अमीरी हो या गरीबी—जीवनका हर पहलू, जीवनकी हर घटना, एक रसझरनी हुआ करती है। लोग समझते हैं (और मैं भी समझती थी) कि रस असाधारणतासे ही पैदा हो सकता है, लेकिन जीवनने मुझे सिखाया है कि जीवनकी हर बात 'साधारण' होते हुए भी सदा ही असाधारण हुआ करती है। बेशक मेरी जिंदगीमें बड़े अजीब किस्से बनते भी हैं और आते भी हैं; लेकिन जो नन्ही-नन्ही रोजमर्राकी बातें होती हैं, सो भी तो कुछ कम रसिक नहीं होतीं। अगर नयन रसद्रष्टा और रसपारख बनना सीखें तो चौबीस घंटोमें कोई ऐसी चीज नहीं होती, जो रसविहीन हो और

जो अपनी रससाधनासे ज्यादा और ज्यादा रसिक न बनायी जा सके। हुजूरका फरमान है कि 'जिंदगीकी हर हालतमें, हर काममें, हर सम्बन्धमें हुस्न (सौन्दर्य), लुत्फ (रस) और सुरूर (आनन्द) पैदा करते सीखो। यह काफी नहीं कि तुम शुद्ध, सज्जन और अध्यात्मप्रेमी बनो। तुम्हारा स्वभाव और तुम्हारा जीवन, तुम्हारी नन्ही-सी दुनियाके बागमें एक हुस्न, लुत्फ और सुरूरका महँकता फूल बन जाना चाहिये।' इस दृष्टिबिन्दुने जीवनमें एक अजीब लुत्फ और रंगरस पैदा करना शुरू किया। मुझे घरके कामोंसे बड़ी बेजारगी रहा करती थी। हुजूरके फरमानको पाकर मैंने हर काम एक रसलीला बना देनेकी कोशिश शुरू की। हुजूरने फरमाया, 'वृन्दावन जानेकी कौन जरूरत है? तेरा घर ही वृन्दावन क्यों न बन जाय? जहाँ कृष्ण, वहीं वृन्दावन!' चुनांचे जब बावरचीका हिसाब-किताब लेने बैठती हूँ, तब उसे भी एक वृन्दावनी रसलीला बनानेकी कोशिश जारी रहती है! अल्लाहका दिया कितना खर्च हुआ; उसमें कौन-कौन ज्यादती हुई; कहाँ-कहाँ किफायत हो सकती है; रसोइयेने कहाँ खास चतुराई, ईमानदारी और विवेक-विचारसे काम लिया; उसने कहाँ लापरवाही की या खता खायी; उसे किस विध समझाना, हटकना या डाँटना चाहिये; कहाँ शाबाशी और कहाँ प्रोत्साहन देना चाहिये—गरज, रोज सुबह हिसाब-किताबका कार्यक्रम एक नन्ही-सी, मगर अत्यन्त रसिक सहसाधना बन जाता है, जिसमें रसोइया और मैं दोनों ही भगवान्‌के सहचर बने हुए होते हैं। जिन्हें हम 'नौकर' मानते हैं, उनका महत्त्व कुराने-पाकमें सबसे बढ़कर माना और बताया गया है। अल्लाहके सामने वह हमारे मुख्य गवाह होते हैं और होंगे। लिहाजा इन 'चाकर-सहसाधकों' के साथका सम्बन्ध और व्यवहार खास तौरसे हसीन, लतीफ और पुरसुरूर बनानेकी कोशिश करते रहना साधनाका बहुत ही मौलिक और महत्त्वपूर्ण अंग होता है। एक उदाहरण दूँ। बरसों पहले हमारे यहाँ एक रसोइया था, जिसे मैं मिर्जा कहूँगी। गाँवका लड़का था। पकाता तो ठीक था, ईमानदार था, शरीफ था, मगर सदा ही फुगा-फुगा-सा, चिढ़ा-चिढ़ा-सा रहता था। हुजूरने मुझसे साधना शुरू करवायी। हुकुम हुआ कि मिर्जाके साथ स्नेह-सम्बन्ध पैदा किया जाय। उसकी खास तरीकत बतायी गयी। सुबह प्रार्थना खतम होनेपर अन्न-मन्दिर (रसोईघर) जाना और मिर्जाको 'सलामालेकुम बेटा!' कहना। रोज रातको अन्नमन्दिर जाना, मिर्जाकी खबर पूछना और 'खुदा हाफिज' या 'जय भगवान्, बेटा!' कहकर रातकी विदाई लेना। कुछ हफ्तोंतक बस इतना ही चला। धीमे-धीमे मिर्जा पिघलने लगा, मुसकुराने लगा; जरा गरमाकर, अपनेपनसे बात करने लगा। धीमे-धीमे हम नजदीक आने लगे और चंद महीनोंमें मिर्जा मेरा बेटा कहिये, मित्र कहिये, बड़ा अंगत स्वजन बन गया। आज वह बहुत बेहतर नौकरीपर है। मगर अब भी मेरा सच्चा मित्र और सहायक माना जा सकता है। यह साधना वैसे तो बहुत सादी-सी मानी जा सकती है, मगर मैं इसे अपने जीवनके खास महत्त्वपूर्ण अनुभवोंमें अङ्कित करती हूँ। मित्रोंके बारेमें भी यही दृष्टिकोण काम करता रहता है।

एक सज्जनको मुझपर बड़ी शङ्का थी। वह बिल्कुल गड़बड़ाये-गड़बड़ाये-से रहते थे। पहले तो, उनकी समझमें न आता था कि मैं हिंदू हूँ, या मुस्लिम हूँ, क्या हूँ और क्या नहीं हूँ! अब हम रहे सहसाधक! भला जहाँ इस दरज्जे दिमागी संग्राम मचे रहें, वहाँ सहसाधना हो कैसे? हुजूरने बड़ी सादी-सी तरीकतपर चढ़ा दिया। वे सज्जन जब-जब आते, तब-तब उनके

साथ शान्त प्रार्थनामें बैठनेका हुकुम हुआ। बहस-मुबाहिसा निषिद्ध कर दिया गया। महीनों यही साधना रही कि मैं उनकी इबादतमें शरीक रहूँ। कुछ जादूई असर हो गया इसका! जब उन्होंने देखा कि मेरी शिरकतसे उनकी इबादतमें कोई बाधा या विघ्न या बेचैनी पैदा नहीं होती, तब उन्हें यकीन होने लगा कि मेरी साधना कैसी भी हो, मैं कम-अज-कम प्रभुविमुख या आत्मविमुख तो नहीं! इस निश्चयसे उनकी दिमागी गड़बड़ मिट गयी और आज हमारी सहसाधना बड़े मजेमें चल रही है, अलहम्दुलिल्लाह! बिगड़े दाम्पत्यको भी हुजूर इसी तरह सुधार देते हैं। पहला फरमान यह होता है कि सुबह उठते ही पति-पत्नी सहप्रार्थना करें और सोनेसे पेश्तर भी इकट्ठी प्रार्थना कर लें। दोनों एकमेकके आशीर्वाद कमानेकी भरसक कोशिश करते रहें। आखिर सफल जीवन क्या है? कम-से-कम हाय, ज्यादा-से-ज्यादा आशीर्वाद कमाना!

(मंगल प्रभात)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

एक महात्माका आतिथ्य

जिन सच्चे साधु-संतोंको हम अपनी अज्ञानताके कारण ढोंगी, लालची, आडम्बरी इत्यादि-इत्यादि समझते हैं, कभी-कभी वे भी हमारे सम्मुख इस प्रकार उपस्थित होते हैं कि उनकी एक ही करामातमें हमारे हृदयका सारा अज्ञान रफूचक्कर हो जाता है और उसी क्षण श्रद्धा तथा भक्तिसे उनके पाद-पद्मोंमें हमारा हृदय स्वतः ही नत हो जाता है। ऐसी अनेक आत्माएँ साधारणतया हमारे सम्मुख उपस्थित होती हैं, फिर भी हम देखते ही रह जाते हैं। अफसोस!

लगभग दो वर्ष हुए, हम तीन साथी पाताल-भुवनेश्वरकी गुफा देखने गये। यह गुफा अल्मोड़ेके गंगोलीहाट नामक क्षेत्रके निकट स्थित है। स्थान बड़ा रमणीय है, जहाँकि मनोहारी दृश्य नास्तिकोंके हृदयमें आस्तिकताकी लहर-सी पैदा कर देते हैं। अस्तु! हमने गुफाकी प्रत्येक चमत्कारिताका निरीक्षण किया और खानेसे निवृत्त हो, गुफाके बाहर एक जलस्रोतके निकट, धूनी रमाये एक बाबाके सम्मुख बैठकर अपनी थकान मिटाने लगे।

महात्माजीको हम सबने दण्डवत्-प्रणाम किया। मेरे आश्चर्यकी सीमा न रही। जब मैंने देखा कि—महात्माजीके सम्मुख कैपस्टन, सीजर, नेशनल गोल्ड फ्लैक, बीड़ी, सुपारी इत्यादि-इत्यादिके पैकेट और चार दाने संतरेके भी रक्खे हैं। पास ही राम-कृष्ण-शिव आदि देवताओं और उर्वशी-जैसी अप्सराओंके रंगीन चित्र भी रक्खे हैं।

मैंने और मेरे साथियोंने यह निश्चय कर लिया कि ये महात्माजी शायद उसी श्रेणीके हैं, जो सच्चे साधु-संतोंका नाम बदनाम करते हैं। सम्भवतः मुझे उनपर क्रोध भी आया और मेरे साथी तो अंग्रेजी भाषामें उन्हें अंटसंट कहने भी लगे।

महात्माजीने हमसे परिचय पूछा और वे भगवत्-सम्बन्धी चर्चा करने लगे। उनकी भगवत्-चर्चामें भी मुझे, 'जाकी रही भावना जैसी' के अनुसार काम-क्रोध-लोभ ही दिखायी देने लगे। एकाएक कैपस्टनके डिब्बेको देखकर मेरे मुँहमें पानी भर आया; क्योंकि यहाँ पर्वतीय प्रदेशमें ऐसी सिगरेट अन्यत्र कहाँ उपलब्ध थी—आखिर मैं अपने व्यसनको काबू न कर सका। मैंने कहा—'महात्माजी! और बात तो होती रहेंगी,

हम इस समय आपके अतिथि हैं, कुछ आवभगत होनी ही चाहिये—बस, हमें एक-एक संतरा, एक-एक कैपस्टन और एक-एक सुपारीकी आवश्यकता है ।'

मेरी बात सुनकर महात्माजी हँसे और इतने हँसे कि हँसते ही रहे ।

हमने उन्हें पागल भी समझा ।

'अब आये राहपर' वे बोले—'अच्छा बेटा, तुम सिगरेट भी पीता है !' हाँ ! इच्छा बड़ी प्रबल होती है, कैपस्टनका डिब्बा देखा तो मुँहमें पानी भर आया, परंतु काश ! मेरे पास कुछ नहीं है, जो मैं तुम-जैसे भोले अतिथियोंकी सेवा कर सकूँ ।

उन्होंने कैपस्टनका डिब्बा उठाया—'बोले, यह लो कैपस्टन !' (डिब्बा खाली था,) वे बोले—'अच्छा सीजर पिओगे ?' उन्होंने सीजरका पैकेट उठाया (वह भी खाली था) । वे हँसकर बोले, 'लो पिओ ! अच्छा बीड़ी ही सही !' उन्होंने बीड़ीका बंद डिब्बा उठाकर खोला तो उसमें गोबर भरा था, 'अरे ! अच्छा सुपारी चबाओगे ? (पैकेट उठाकर) लो !' (वह सुपारी न थी, तुलसीकी मालाके बिखरे दाने थे) । 'लो ! फिर संतरे खाओ !' (उठाकर) वह केवल संतरेका बाहरी खोखला था ।

महात्माजी फिर ठहठहाकर हँसने लगे—'तृष्णा बड़ी बुरी चीज है बेटा !'

हम चित्रलिखित-से उनके सभी चमत्कार देखने लगे और समझ न पाये कि ये क्या कर रहे हैं । एकाएक मेरा एक साथी बोल उठा—'महात्माजी यह क्या ! हम आपके अतिथि हैं और आप मजाक-सा कर रहे हैं !' वे हँसते हुए बोले—'बेटा ! मजाक नहीं सच है और बिल्कुल वास्तविक चीजें तुम्हें दिखा रहा हूँ ! देखो, यदि तुमको पीना ही है तो क्रोधको पिओ, सिगरेट नहीं । यदि तुमको खाना ही है तो अहंकार खाओ, संतरे नहीं । यदि तुमको चबाना ही है तो राग-द्वेषादि विकारोंको चबा जाओ, सुपारी नहीं और यदि तुमको पागल ही होना है तो यह देखो, (कृष्णका चित्र दिखाकर) इसके लिये बनो । (दूसरा चित्र अप्सराका दिखाकर) इसके लिये नहीं । मैं यही तुम भोले अतिथियोंका सत्कार कर सकता हूँ । जो मेरा वास्तविक आतिथ्य है, इसे ग्रहण करो ।'

उस समय हमारे आत्माके सामनेसे एक परदा-सा उठता अनुभव हुआ और हमने महात्माजीके चरण पकड़ लिये ।

इस घटनाको बीते आज दो साल हो गये हैं । शायद मेरे दो साथी सँभल भी गये हैं, पर मैं अभागा फिर भी न सँभल सका । काश ! मैं भी सँभल पाता ! चाहे मैं न सँभलूँ, पर मुझे विश्वास है कि मेरे भाई जो इस घटनाको पढ़ेंगे, सुनेंगे और समझेंगे, वे अवश्य ही सँभल जायँगे ।

—देवेन्द्रकुमार गन्धर्व

(२)

कर्जदारसे शरम

श्रीरामतनु लाहिड़ीकी बहुत-सी जीवनियाँ लिखी जा चुकी हैं । उनके जीवनकी अनेक घटनाएँ शिक्षाप्रद हैं । कहते हैं एक बार वे कलकत्तेकी एक सड़कपर अपने एक मित्रके साथ चले जा रहे थे । एकाएक उन्होंने एक गलीकी मोड़पर अपने मित्रकी बाँह पकड़ ली और उसे साथ लिये एक गलीमें झपाटेके साथ घुस गये । जल्दी-जल्दी कदम रखते हुए वे चलते रहे और उस समयतक नहीं रुके, जबतक पीछे देखकर उन्होंने यह निश्चय न कर लिया कि उनका पीछा तो नहीं किया जा रहा है । उनके मित्र उनकी यह हरकत देखकर बहुत चकित हुए और कुछ समयतक तो उनके मुँहसे बोलतक न निकला । अन्तमें उन्होंने पूछा कि उनके

इस प्रकार घबराकर दौड़ पड़नेका क्या कारण था ?'

रामतनु बाबूने अबतक अपने मित्रका हाथ छोड़ दिया था। उनका दिमाग भी ठीक-ठिकाने आ गया था। उन्होंने कहा—ओह, मैंने एक आदमीको देखा था। वह दूरसे निश्चय ही हमलोगोंकी ओर आता दिखायी दे रहा था।

लेकिन इससे क्या ? उससे बचकर भागनेकी ऐसी क्या जरूरत आ पड़ी और वह भी इतने विचित्र ढंगसे ? आपको उससे ऐसा डर ही क्या था ?

'असल बात यह है—रामतनु बाबूने कहा कि वह आदमी बहुत अरसेसे मेरा कर्जदार है। धन तो बहुत ज्यादा नहीं है, परंतु वह उसे वापस करनेमें असमर्थ है।' 'किन्तु उससे बचकर इस तरह भागनेका यह तो कोई कारण नहीं है।' उनके मित्रने उन्हें टोककर पूछा।

'कारण तो है। रामतनु बाबू बोले—समझो जरा, यदि हम दोनोंकी भेंट हो जाती तो हम दोनोंको ही एक दूसरेके सामने पड़नेसे शरम आती और बेचैनी महसूस होती। वह तुरंत मुझसे क्षमा माँगता और धन लौटानेका ऐसा वादा करता, जो वह कभी भी पूरा नहीं कर सकता था। असलमें ऐसे ही वादे वह पीछे करता भी रहा है। अब मैं यह चाहता था कि न तो वह लज्जित हो और न उसे मेरे कारण फिरसे झूठ ही बोलना पड़े।'

'किंतु इससे तो अच्छा यही था कि उससे आप कह देते कि आपने कर्ज छोड़ ही दिया और इस तरह सारा मामला ही हल हो जाता।' मित्रने कहा।

'शायद मैं यही करता भी, रामतनु बाबूने कहा—'परंतु फिर मुझे यह खयाल आया कि मेरे ऐसा करनेसे उसके आत्मसम्मानको चोट लगेगी। इससे बेहतर मैंने यही सोचा कि उसके सामने ही न पड़ा जाय। इससे उसका यह आत्मसम्मान बना रहेगा कि उसपर किसीका कर्ज तो चाहिये और वह उसे अवसर आनेपर अवश्य लौटा देगा। कभी-कभी आदमीका भ्रम बने रहनेसे भी उसका आत्मविश्वास नष्ट नहीं होता।'

उनके मित्र यह देखकर दंग रह गये कि रामतनु बाबूमें दूसरोंकी भावनाओंका खयाल रखनेकी कितनी क्षमता है। उनका तो यहाँतक खयाल था कि इस संसारके भीतर शायद ही इतनी सुकोमल भावनाएँ रखने-वाला दूसरा आदमी मिल सके। निश्चय ही रामतनु बाबू-जैसे मनुष्य इस धरतीपर जल्दी दिखायी नहीं देते। ('पराग')

प्रेषक—वल्लभदास बिन्नानी

(३)

यह व्यापार

भाव बढ़ने-बढ़नेकी धारणासे खरीदकर इकट्ठी की हुई मूँगफली अकस्मात् आग लगकर सब भस्मीभूत हो जायगी, ऐसी कल्पना भी किसने की थी ? लालाजी-की तो मानो छाती ही बैठ गयी। कैसे न बैठती ! दूसरोंसे रकम लेकर, जितनी खरीदी जा सकती थी, उतनी मूँगफली खरीद ली थी। भाईका अन्तकाल हुए अभी थोड़े ही दिन बीते थे कि यह घावको ताजा करनेवाली नयी विपत्ति आ गयी। इस विषादके साथ बड़ा तीखापन था। अपनी इच्छा न होते हुए भी भाईने मूर्खताभरी मूँगफलीकी खरीद की और उसकी व्यवस्था किये बिना ही वह इस दुनियाको छोड़कर चला गया और उसके बाद यह दुर्दशा आ पड़ी।

अग्निके कारण आयी इस विपत्तिके समय कितने ही व्यापारी, सगे-सम्बन्धी आश्वासन देने लालाजीके पास आये। परंतु लालाजीके इस व्यापारमें जिनकी रकम लगी थी, वे बाबू जब आये तब तो लालाजी काँप

उठे। बात शुरू होते ही लालाजीने उनसे कहा—'बाबूजी! मैं बिल्कुल टूट गया हूँ। मेरा भाई मर गया और मुझे भी मारता गया। मेरी जरा भी इच्छा नहीं थी परंतु········'लालाजीकी आँखोंसे आँसू बहने लगे। आश्वासन देने आये हुए बाबूने फोन करके अपना खाता मँगवाया।

खाता आया और बाबू उसे खोलकर उसके पन्ने उलटने लगे। लालाजी लगभग पैरोंमें पड़कर कराह उठे, बोले—'बाबूजी, घावपर नमक! जरा तो विचार कीजिये। मैं इस समय कैसे क्या करूँगा, अभी कुछ दिन ठहरिये, पीछे········'

बात यह थी कि खाता मँगवानेवाले बाबूने लालाजी-को एक बड़ी रकम व्यापारके लिये ब्याजपर उधार दे रक्खी थी; परंतु ऐसे बुरे समयमें उन्हें खाता उलटते देखकर उक्त लालाजी घबराकर विनती कर रहे थे।

बाबूने खातेके जिस पन्नेमें उधारकी रकम लिखी थी और इकरारनामा था; उस पन्नेको खातेसे निकाला और फाड़कर दूर फेंक दिया बिना किसी हिचकके। लालाजी तो आँख फाड़कर उनकी ओर देखते रह गये। बाबूने कहा—'लालाजी, आपकी आबरू मेरी हाथमें है और मेरी आबरू आपके हाथमें है। मेरे रुपये और इकरार सब आपके भाईके साथ था। वे जीवित होते तो चाहे जिस दिन रकम वसूल हो जाती। वे गये तो उनके साथ यह उधार और इकरार भी टूट गया। छाती हो तो दूसरी रकम ले जाइयेगा। यह तो व्यापार है व्यापार।' इतना कहकर बाबूजी उठे और चलते बने।

लालाजी तो इस व्यवहारको देखकर अवाक् रह गये। अन्तरमें धन्यवाद देते रहे—वाह रे तेरी मर्दानगी, वाह तेरी खेल दिली! धन्य।

—शशीकान्त प्र० दवे

(४)

एक अंग्रेज महानुभावकी मानवता

गत संवत् १९८२ की बात है। मैं मुगलसराय स्टेशनसे कलकत्ते जानेके लिये डाकगाड़ीके मध्यम श्रेणीके डिब्बेमें बैठा। उसी डिब्बेमें एक अंग्रेज सज्जन भी सवार हुए। वे मेरे पास बैठ गये। मैं उस समय झाड़-झाड़कर पगड़ी बाँध रहा था। अंग्रेज सज्जनने कहा—'यह तो बहुत अच्छी लगती है।' मैंने हँसकर कहा—'अच्छी लगती है तो आप क्यों नहीं बाँधते?'

इतना सुनते ही उन्होंने पेटी खोलकर एक फोटो निकाला। फोटो उन्हींका था। इसमें उन्होंने साफा बाँध रक्खा था (जैसा सेल्वेशन आर्मीवाले बाँधते हैं)। एक दूसरा फोटो और निकाला। उसमें इनके अपने फोटोके साथ मद्रासके गवर्नरका फोटो भी था। गवर्नर महोदयके द्वारा लिखा हुआ था—'ये सज्जन बड़े दानी और आत्मबली पुरुष हैं।' मैंने उनसे इसका रहस्य पूछा। तब उन्होंने अपना कोट उतारा और पतलूनके बटन खोलकर दाहिनी जाँघका वह स्थान दिखाया, जो बहुत मांसल होता है। मैंने देखा वह समूचा स्थान कटा हुआ था। और उसमें गड्ढे पड़े थे।

फिर बटन बंद करके उन्होंने बतलाया कि "एक बार मेरा स्वास्थ्य खराब था, इसलिये मैं अस्पताल गया था। वहाँ सिविलसर्जनके पास बैठा था कि इतनेमें एक भिखारी एक आठ सालकी लड़कीको लेकर आया। उसकी छाती सड़ गयी थी और वह बहुत ही दुखी थी। सिविलसर्जन महोदयने देखकर बताया कि 'इसके अच्छे होनेका एक ही उपाय है और वह यह कि कोई स्वस्थ मनुष्य अपना ताजा मांस काटकर दे और इसका सड़ा अंश निकालकर वह मांस वहाँ जोड़ दिया जाय। पर ऐसा कौन करेगा?' मैंने कहा—'सिविलसर्जन महोदय! मेरे शरीरका मांस काटकर जोड़ दिया

जाय।' सिविलसर्जनने कहा—'आप नशेमें हैं क्या? इसमें कष्ट तो भयानक होगा ही, मृत्युतकको नौबत आ सकती है।' मैंने कहा—'मैं कभी नशा करता ही नहीं।' तब सिविलसर्जन महोदयने मुझे दूसरे दिन आनेको कहा। मैं दूसरे दिन पहुँचा और मांस काटकर उसके लगानेके लिये सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेकर मैंने उनको लिख दिया। तदनन्तर डाक्टरने ५५ टुकड़े मांस काटकर लड़कीके सड़े मांसको निकालकर उस जगह जोड़ दिये। मैं बेहोश हो गया था। दो दिनके बाद मुझे होश आया। लड़की बिल्कुल अच्छी हो गयी।"

मैंने उन अंग्रेज सज्जनसे पूछा कि आप क्या काम करते हैं?—उन्होंने बताया कि 'मैं हिंदुस्तान आनेवाले ईरानी लोगोंकी देख-रेख रखता हूँ। मुझे इतना वेतन मिलता है।' वेतन बड़ा था। मुझे उन्होंने बताया कि "वे अपने लिये बहुत थोड़े पैसे खर्च करके शेष सब अस्पतालोंमें दे देते हैं। इसीसे गवर्नर महोदयने उनको 'दानी' बतलाया है और शरीरका मांस काटकर दिया था, इससे 'आत्मबली' कहा है।"

उनकी बातें सुनकर मुझे उनकी मानवताके प्रति बड़ी श्रद्धा हुई। प्राचीन कालमें जो काम दधीचिने किया था, वही इन्होंने किया। तदनन्तर एक खानशामा खानेका प्लेट लाया तो उन्होंने केवल चाय-बिस्कुट लेकर और चीजें लौटा दीं—कहा कि 'ये निरामिषाहारी मारवाड़ी मेरे पास बैठे हैं—इन्हें कष्ट होगा।' धन्य!

—हरीबकस नवलगढ़िया

(५)

रणजीतसिंहकी उदारता

पंजाबके महाराणा रणजीतसिंह बड़ी उदार प्रकृतिके व्यक्ति थे। एक बार वे कहीं जा रहे थे। उनके साथ उनके अङ्गरक्षक और सेनाके अधिनायक भी थे। जब वे शहरके बीचोबीचवाली सड़कपर पहुँचे, तब अकस्मात् एक ढेला आकर उनके माथेपर लगा। इससे उन्हें बहुत तकलीफ हुई।

उनके अङ्गरक्षक और सेनाके लोग दौड़े और एक बुढ़ियाको लाकर उनके सामने उपस्थित कर दिया।

बुढ़िया भयके मारे काँप रही थी। उसने हाथ जोड़कर रोते हुए कहा—'सरकार! मेरा बच्चा तीन दिनसे भूखा था, खानेको कुछ नहीं मिला। मैंने पके बेलको देखकर ढेला मारा था। ढेला लग जाता तो बेल टूट पड़ता और उसे खिलाकर मैं बच्चेके प्राण बचा सकती, पर मेरे अभाग्यसे आप बीचमें आ गये। ढेला आपको लग गया। मैं निर्दोष हूँ। मुझे मालूम न था कि आप आ रहे हैं। नहीं तो, मैं·······मुझे क्षमा कर दीजिये महाराज!'

महाराजाने करुणाभरी दृष्टिसे बुढ़ियाकी ओर देखा। फिर अपने मन्त्रीसे बोले—'बुढ़ियाको एक हजार रुपये और खानेका सामान देकर आदरपूर्वक घर भेज दो।'

मन्त्री बोला—'यह क्या कर रहे हैं सरकार! इसने आपको ढेला मारा, इसे तो दण्ड मिलना चाहिये।'

महाराजा हँस पड़े। उन्होंने कहा—'मन्त्रीजी, जब निर्जीव और बिना बुद्धिवाला पेड़ ढेला मारनेपर सुन्दर फल देता है, तब मैं प्राण और बुद्धिवाला होकर इसे दण्ड कैसे दे सकता हूँ?'

महाराजाकी बात काटनेवाला वहाँ कोई नहीं था। सबने उनकी उदारता और सरल प्रकृति देखकर श्रद्धासे सिर झुका दिये। उस बुढ़ियाको उसी दिन एक हजार रुपये और भोजनका सामान खजानेकी ओरसे दे दिया गया।

प्रेषक—वल्लभदास बिन्नानी

(६)

प्रभुने पुकार सुन ली

एक बार मैं एक आवश्यक पुस्तक ढूँढ़ने लगी। बहुत चीजें पटकी, बहुत देरतक ढूँढ़ा, पर वह पुस्तक न मिली, न मिली। यहाँतक कि मेरा जी ऊब गया। तब मुझे भगवान्‌की याद आयी। मैंने प्रभुसे कहा—हे भगवन्! मैं दो पंक्ति गाऊँगी। अगर वह पंक्ति समाप्त होते-होते मुझको वह पुस्तक नहीं मिलेगी तो मैं आपसे निराश हो जाऊँगी। प्रभुने मेरी विनती सुन ली। तब मैं यह पंक्ति उसी समय गाने लगी—'गोविन्द हरे गोपाल हरे। जय-जय प्रभु दीनदयाल हरे।' बस, पंक्तिका समाप्त होना था कि मेरी नजर बहुत-सी चीजोंके गिचड़-पिचड़में उस पुस्तकपर पड़ गयी। मैंने भगवान्‌को धन्य-धन्य कहा और तब मेरा भगवान्‌के प्रति इतना प्रेम बढ़ गया कि मैं रोने लगी। बात छोटी-सी है पर विश्वास बढ़ानेवाली और कभी बड़ी विपत्तिसे तारनेवाली है।

—कु० उषा अग्रवाल

मैं भगवान्‌का ही हो गया

मेरे भगवान् मेरे हैं और मैं उनका हूँ। जब उनका हो गया, तब दूसरे किसीका अब मुझपर कोई अधिकार नहीं रहा। अबतक मैं धनका, धामका, कामका, नामका, मकानका, जमीनका, बड़ाईका, मानका, सम्पत्तिका, सुखका, मनका, इन्द्रियोंका—न मालूम किस-किसका गुलाम बना हुआ था और उनकी नीच गुलामीमें पड़ा नरकयन्त्रणा भोग रहा था—सुखके मोहमें पड़ा दुःखोंके समुद्रमें डूबता-उतराता था। अब मेरी सारी गुलामीकी बेड़ियाँ कट गयीं। अब मैं घरके कारागारसे मुक्त हो गया। अब मैं रागद्वेषरूपी चोरोंसे छूट गया; क्योंकि मैं सदाके लिये भगवान्‌का हो गया। मैं भगवान्‌का ही हो गया।

जानना-न-जानना

मैं क्या हूँ?
यह क्या है?
वह क्या है?
मैं नहीं जानता।
कभी जान पाऊँगा—यह भी संदिग्ध है।

पर मैं इतना जानता हूँ कि यह, वह, मैं एक-दूसरेसे अलग नहीं हैं।

कोई एकात्मताका विद्युत्-प्रवाह सबमें नित्य-निरन्तर दौड़ रहा है और कह रहा है—

'सब सब तरह एक हैं, थे, रहेंगे······
भिन्न-भिन्न, भाँति-भाँति के भासते हुए भी।'

और इस जाननेसे न जाननेकी अकुलाहट शान्त हो जाती है।

कभी भी जान पाने-न-जान पानेकी संदिग्धता सत्त्वहीन होकर रह जाती है।

जाने-पायेका-सा सहज आनन्द बाहर-भीतर सर्वत्र छा जाता है······सदैवके लिये।

—हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

भगवान्‌की विभूति पीपल, नारद, चित्ररथ और कपिल

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम् ।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २०१६, मई १९५९ { संख्या ५
पूर्ण संख्या ३९०

भगवान्की विभूति—पीपल, नारद, चित्ररथ और कपिल

हरिकी दिव्य विभूति अमित हैं, है अनन्त उनका विस्तार ।
बता रहे हैं उनमेंसे कुछ जो प्रधान हैं सबमें सार ॥
हूँ नारद देवर्षिवर्गमें, वृक्षोंमें मैं हूँ पीपल ।
हूँ गन्धर्व चित्ररथ मैं ही, सिद्धोंमें मुनि सिद्ध कपिल ॥

कल्याण

याद रक्खो—जबतक भजन-साधन बोझ माल्म होता है, बिना मन किया जाता है, बला टालनेकी तरह जल्दी-जल्दी समाप्त किया जाता है, तबतक वह भजन-साधन है ही नहीं।

याद रक्खो—बोझ तो नहीं माल्म होता, किया भी जाता है मनसे, परंतु उसके लिये समय निर्दिष्ट है। जितना आज करना है, उतना हो गया तो फिर आज अधिक कुछ करनेकी कल्पना नहीं। कभी फुरसत न मिलनेपर न हो सका तो कोई बात नहीं, उसमें कोई हानि है, यह कल्पना नहीं—यह भी यथार्थ साधन नहीं है।

याद रक्खो—साधन यथार्थ वह है, जो जीवन बन जाता है। जिसके होनेमें कोई भी प्रयास या कठिनता नहीं होती, जिसके लिये कोई समय निर्दिष्ट नहीं, जिसके लिये मन लगने या जल्दी समाप्त करने या छोड़नेकी कल्पना ही नहीं, जो नित्य-निरन्तर बना रहता है, जिसके क्षणभर भी न होनेपर चित्तमें अत्यन्त व्याकुलता हो जाती है। वह साधन है।

याद रक्खो—साधन स्वाभाविक होता है और होता है वह जीवनरूप। वह किया नहीं जाता। होता है। वह है, सदा है। उसके बिना चलता ही नहीं। जैसे श्वासकी क्रिया अपने-आप होती है, की नहीं जाती। श्वास ही जीवन है; वह जबतक आता है, तभीतक जीवन है। क्षणभरके लिये उसका रुकना सहन नहीं होता। श्वास जरा-सा रुकते ही इतनी अधिक व्याकुलता होती है कि उसका वर्णन किया नहीं जा सकता। श्वास सदा ही अनवरतरूपसे सोते-जगते, चलते-बैठते, खाते-पीते, चुप रहते—बात करते, प्रेम करते—विवाद करते, पूजा करते—व्यापार करते, हँसते—रोते—सभी समय सहज चलता रहता है। चलते रहनेमें जरा भी कठिनाई नहीं, प्रयास नहीं, उकताहट नहीं, समयकी सीमा नहीं, किसीको दिखाना नहीं। पर यदि जरा रुक जाय तो, किसी भी काम करते समय, उसी क्षण उसका पता लग जाता है और चित्त अत्यन्त बेचैन हो जाता है। इसी प्रकार जब साधन-भजन सहज जीवनरूप बन जाता है। तभी वह यथार्थ साधन होता है।

याद रक्खो—इस साधनमें न किसी कर्तव्य-बोधकी आवश्यकता है, न किसी विशेष फलकी। न कोई इसका खास अभिमान होता है, न मनमें गौरव बुद्धि होती है। यह तो जीवन है—सहज जीवन है। कोई बाहरसे लायी हुई नयी चीज नहीं जिसके लिये किसी विशेष आदर-सत्कार, या सँभालकी जरूरत हो। यह स्वभाव है, यही फल है, यही अपना स्वरूप है। इस प्रकार जब साधन साधकसे अलग नहीं रहता और साध्यकी भी साधनसे पृथक्ता नहीं रह जाती, जब साधक, साधन और साध्य तीनोंकी एकरूपता 'साधन-रूपता' हो जाती है, तभी यथार्थ साधन होता है। जबतक ऐसा न हो तबतक प्रयत्न करो।

याद रक्खो—दृढ़ मान्यता या सरल अटूट विश्वास ही वह प्रयत्न है जो साधनको जीवन बना देनेमें समर्थ है। यह किसी बाहरी क्रियासे नहीं होता। इसीसे सत्संगकी महत्ता है—जिससे ऐसी दृढ़ मान्यता और अटूट विश्वासका उदय होता है जो इस प्रकारके साधनरूप जीवनका या जीवनरूप साधनका निर्माण करनेमें हेतु है।

याद रक्खो—समय जा रहा है, शरीर मृत्युके समीप पहुँच रहा है। मनुष्यशरीरका यह दुर्लभ अवसर व्यर्थ न चला जाय, अनर्थोत्पादक न हो जाय। इसकी सार्थकता साधनमें ही है। उसीमें लग जाओ। भगवत्कृपासे, जो सदा तुमपर अनन्त है और सत्संगसे, जो नित्य अन्तर्यामी भगवान् एवं उनके दिये हुए विवेकके रूपमें तथा संत-शास्त्रके रूपमें तुम्हें नित्य प्राप्त है, तुम इस साधनकी भूमिकापर अनायास पहुँच सकते हो। तीव्र इच्छा पैदा करो।

'शिव'

स्वास्थ्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

लेखका शीर्षक देखकर पाठकोंको ऐसा लगेगा कि मानो यहाँ कोई आयुर्वेदकी चर्चा की जायगी; परंतु यह शङ्का आवश्यक नहीं है। भौतिक दृष्टिसे स्वास्थ्यका अर्थ शरीरकी नीरोगता किया जाता है, यह सत्य है; परंतु तनिक और विचार करनेसे जान पड़ेगा कि केवल शारीरिक नीरोगता ही स्वास्थ्य नहीं है; क्योंकि इससे वास्तविक सुखकी प्राप्ति नहीं होती। आध्यात्मिक दृष्टिसे देखें तो 'स्व'में अर्थात् निजस्वरूपमें अखण्ड स्थिति बनी रहनी ही सच्चा स्वास्थ्य है; क्योंकि ऐसे स्वास्थ्यसे ही परम सुखका अनुभव सदा बना रहता है।

इस प्रकारका स्वास्थ्य प्राप्त करनेके लिये ईश्वरकी भक्ति एक अमोघ उपाय है। यह भक्ति कैसे हो सकती है, यह बतलाते हुए कुन्तीजी कहती हैं—

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचनगोचरम्॥

'हे भगवन्! जो जन्म, ऐश्वर्य, विद्या, धन आदिमें ममता बनाये रहते हैं तथा इनके द्वारा देहाभिमानका पोषण करते हैं, वे तुम्हारा भजन नहीं कर सकते। इस प्रकारके मनुष्य भजन करते देखे जायँ, तो भी वे मनोवाञ्छित विषयोंकी प्राप्तिके लिये ही तुम्हारा भजन करते हैं।' तब फिर सच्चा भजन कौन कर सकता है? —इसका उत्तर देते हुए कहती हैं कि 'जो अकिंचन हैं अर्थात् जिनकी किसी प्राणी, पदार्थ या परिस्थितिके प्रति लेशमात्र भी ममता नहीं, वही तुम्हारा यथार्थ भजन करनेमें समर्थ होते हैं; क्योंकि तुम अकिंचन-गोचर हो तथा अकिंचनके सर्वस्व हो।' इस प्रकार अकिंचन हुए विना, चारो ओरसे आसक्ति हटाये विना यथार्थ भजन नहीं होता।

इस बातकी साक्षी देती हुई श्रुति भगवती कहती है—

द्वे पदे बन्धमोक्षाय ममेति निर्ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तु निर्ममेति विमुच्यते॥

'बन्ध और मोक्ष देनेवाले दो पद हैं। वे हैं—(१) ममता और (२) ममताका सर्वथा अभाव अर्थात् अकिंचनपना। कहीं भी ममता बाँधनेसे प्राणीको बन्धन होता है और आसक्तिमात्रके त्यागसे मुक्ति प्राप्त होती है।' स्मृति भी कहती है—

ममेति दुःखमूलं हि निर्ममेति च निर्वृतिः।
शुकस्य विगमे दुःखं न दुःखं गृहमूषके॥

कहते हैं कि 'ममताका सम्बन्ध बाँधना ही सब दुःखोंका मूल है और कहीं भी ममता न बाँधनेसे मोक्ष-सुख मिलता है। दृष्टान्त देते हुए समझाते हैं कि घरमें पालतू शुक और चूहे दोनों रहते हैं; परंतु शुकमें ममता होनेसे उसकी मृत्यु होनेपर दुःख होता है और चूहेमें वैसा भाव न होनेपर उसके मरनेपर दुःख नहीं होता।'

मनका ऐसा स्वभाव है कि वह अपने सर्वस्वका त्याग कर देता है और फिर अति तुच्छ विषयोंमें आसक्त हो जाता है। हरिनमें आसक्ति होनेसे राजा भरतके हरिन-जन्म प्राप्त करनेका इतिहास जगत्-प्रसिद्ध है। एक उच्च कोटिके साधुको एक क्षुद्र बेरमें आसक्ति हो गयी, इससे उन्हें उस बेरमें कीड़ा होना पड़ा। एक दूसरे महात्माको चमचमाते जूतेमें आसक्ति रहनेसे मोचीके यहाँ जन्म लेना पड़ा था। इस प्रकारके अनेक दृष्टान्त हैं, जिनसे यह शिक्षा मिलती है कि यदि मनके ऊपर खूब कड़ी चौकी या पहरा न रखा जाय तो वह कहाँ आसक्त हो जायगा, इसका पता भी नहीं लगेगा। मनुष्य ऐसा मान लेता है कि मैं तो अकिंचन हो गया हूँ, परंतु मन छिपे तौरपर अपनेमें कुछ-न-कुछ भरे रखता है।

इस बातको समझानेवाला एक दृष्टान्त लीजिये। राजा जनक अपने महलमें पलंगपर सोये थे। उनको एक सपना दीख पड़ा कि मानो वे स्वयं भिखारी हैं और फटे-पुराने कपड़े पहने हुए हैं। भोजनके लिये भीख माँगते फिर रहे हैं, पर तीन दिनसे कुछ भी खानेके लिये नहीं मिला है। चौथे दिन एक अन्न-सत्रमें पकायी हुई खिचड़ी बँट रही थी और उसे लेनेके लिये भिखारियोंकी टोली चली जा रही थी। वे स्वयं भी उसके साथ हो लिये। वे मिट्टीके एक खपरेमें खिचड़ी लेते हैं और सोचने लगते हैं—'अहा! खानेके लिये तो मिला, अब एक जगह निराले बैठकर खाऊँगा।' इस प्रकार विचार करते जा ही रहे थे कि पीछेसे एक गायने सींग मारा और वे जमीनपर गिर पड़े और वह मिट्टीका खपरा हाथसे छूटकर टूट गया तथा खिचड़ी जमीनपर बिखर गयी।

गिरनेकी चोटसे सहसा नींद टूट गयी। जागनेपर देखते हैं कि वे स्वयं अपने महलमें पलंगपर सोये हुए हैं। वे भिखारी नहीं हैं, भूखे भी नहीं हैं और न वह मिट्टीका खपरा और न खिचड़ी ही कहीं दीख रही है। इस स्वप्नका प्रभाव उनके मनपर इतना गहरा पड़ता है कि वे अपने आपसे स्वयं पूछने लगते हैं कि 'यह सच है या वह ?' अपने-आप कोई समाधान नहीं होता; तब वे जो ही आता है, उसीसे पूछते हैं कि 'यह सच है या वह सच है?'। इस प्रश्नका कोई क्या उत्तर देता!

एक दिन अष्टावक्रजी वहाँ आ पहुँचे। राजाने उनसे भी यही प्रश्न पूछा। मुनिने उत्तर दिया—'या तो दोनोंको सच्चा मानो या दोनोंको मिथ्या मानो।'

राजाने कहा—'भगवन्! दोनोंको सच्चा कैसे मानें! और मिथ्या भी कैसे समझें! एकको सच्चा कहें तो दूसरेको मिथ्या कहना ही पड़ेगा।' अष्टावक्रजी बोले—'राजन्! देखो। इस जाग्रत् प्रपञ्चमें ब्रह्म ही जगत्-रूपमें अविद्याके योगसे प्रतीत होता है; इसलिये अधिष्ठान-दृष्टिसे जगत्को सच्चा कह सकते हैं। इसी प्रकार स्वप्नमें भी स्वप्नद्रष्टा अपने आपको स्वप्न-प्रपञ्चके रूपमें देखता है, इसलिये अधिष्ठान-दृष्टिसे स्वप्न-प्रपञ्च-को भी सत्य कह सकते हैं। इसी प्रकार नामरूप-दृष्टिसे जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही मिथ्या हैं।'

इस उत्तरसे राजाके मनका समाधान हो गया और उन्होंने बड़े ही आदर-सत्कारसे मुनिको अपने यहाँ रखा। अब वे अष्टावक्र मुनि प्रतिदिन सायंकाल-को वेदान्तपर प्रवचन करने लगे। राजा जनकके दरबारमें बहुतेरे उच्चकोटिके सर्वस्व-त्यागी संत-महात्मा तथा संन्यासी रहा करते थे। प्रत्येकको उनकी इच्छाके अनुसार रहनेके लिये कुटी बनवा दी जाती तथा जो कुछ वे माँगते थे उसकी भी पूर्ति कर दी जाती थी। राज्यकी ओरसे ही नियमित रूपसे उनकी भिक्षाका प्रबन्ध था। वे सभी महात्मा प्रवचनमें आते थे और अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानपर बैठ जाते थे। राजा जनक भी उपस्थित होते ही थे। किसी समय राजाको आनेमें देर हो जाती, तब नीचे लिखे अनुसार संवाद प्रारम्भ हो जाता।

महात्मागण—'मुनिवर! कथा प्रारम्भ कीजिये, समय हो गया है।' मुनि—'महाराजको आने दीजिये।'

महात्मागण—'मुनि महाराज! वे तो राजा हैं। उनको राज-काजसे अवकाश मिलेगा, तब आयेंगे। कथाके अधिकारी तो हम हैं। राजा तो केवल हमारी प्रसन्नताके लिये आकर उपस्थित होते हैं। हम तो आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सर्वस्व त्यागकर अकिंचन हो गये हैं और राजा जनकको मिथिलाका राज्य चलाना है। अतएव हमें तो ऐसा लगता है कि राजा-के आगमनकी बाट देखकर उनको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसलिये कथा आरम्भ कीजिये।'

अष्टावक्रने कुछ उत्तर नहीं दिया न राजा जनकके आनेके पहले कथा ही आरम्भ की।

इस प्रकारके प्रसङ्ग दो-चार बार आ चुके, तब मुनिने इसका कोई उपाय करनेका विचार किया। एक दिन कथा आरम्भ हुई। थोड़ी देरके बाद ही अष्टावक्र मुनि बीचमें ही बोल उठे—'देखो, देखो, चारो ओर प्रचण्ड आग लगी दीखती है। ऐसा लगता है, अभी सब कुछ जल जायगा।' सब महात्माओंने पीछे फिरकर देखा तो सामने ही आगकी लपटें दीख पड़ीं। सभी अपनी-अपनी वस्तुएँ बचानेके लिये दौड़े। अपने आसनपर कोई भी नहीं रहा। तब अष्टावक्रजी राजा जनकसे बोले—'राजन्! यह प्रचण्ड आग लग गयी है; उसे देखते नहीं जो यहाँ बैठे हुए हो? जल्दी जाओ, नहीं तो यह आग देखते-देखते सारी मिथिलाको भस्मसात् कर देगी। ये सर्वस्वत्यागी लोग अपनी-अपनी वस्तुएँ बचानेके लिये दौड़ गये हैं, यह देखते हुए भी तुम क्यों नहीं जाते?'

राजा जनकने उत्तर दिया—'महाराज! सारी मिथिला यदि जल जायगी तो उसमें मेरा कुछ भी नहीं जलेगा। जिस मिथिलाकी रक्षा करनेके लिये आप कहते हैं, वह मिथिला जिसकी है, वह उसकी रक्षा करनेमें समर्थ है। मैं किसलिये चिन्ता करूँ? आपकी कृपासे मैं यह अनुभव कर सका हूँ कि—

अकिंचनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपि दुर्लभम्।

इस विश्वमें मेरा कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह सब परमेश्वरका है। इस प्रकारके निश्चयसे उत्पन्न स्वास्थ्य सर्वस्व-त्यागी कौपीनधारीको भी दुर्लभ है। फिर आज तो आपने इसका प्रत्यक्ष अनुभव ही करा दिया।'

अष्टावक्रजी बोले—'अभयं प्राप्तोऽसि जनक!'—राजा जनक! अब तुमने निर्भयपदमें विश्रान्ति प्राप्त कर ली है।

विज्ञ पाठकवृन्द! ईश्वरकी मायाका यथार्थ रूप यहीं देखना है। ये महात्मा प्रारब्धसे प्राप्त घर-बार, खेती-बाड़ी तथा कुटुम्बीजनोंको त्यागकर एक कौपीन धारण करके घरसे निकले होंगे और इसी स्थितिमें राजा जनकके यहाँ पहुँचे होंगे राजा जनकके द्वारा सत्कृत होकर कुछ ही समयतक वहाँ रहे होंगे। कुटी तथा सर्वसामग्री राजाकी दी हुई है, यह भी जानते होंगे। तथापि किसीकी लँगोटीमें, किसीकी कमण्डलुमें तथा किसीकी पुस्तकमें आसक्ति-ममता बँध गयी होगी; कुछ लोगोंने खानेकी सामग्री इकट्ठी कर रखी होगी। ऐसी स्थितिमें वे अपनी मानी हुई वस्तुएँ बचानेके लिये दौड़े होंगे, यद्यपि वस्तुतः कोई भी वस्तु उनकी थी ही नहीं।

इधर राजा जनकको मिथिलाका राज्य प्रारब्धसे ही प्राप्त था, तो भी वे उसको अपना नहीं मानते थे; इसी कारण वे अडिग धैर्यके साथ अपने आसनपर स्थिर बैठे रहे।

इसलिये प्रतिदिन मनका निरीक्षण करता रहे; जिससे यह कहीं कुछ भर न ले। प्रतिदिन इसको साफ करता रहे, जिससे कहीं भी ममताकी मैल न लग जाय। इसी कारण श्रीशंकराचार्यने कहा है—

अहर्निशं किं परिचिन्तनीयं
संसारमिथ्यात्वशिवात्मतत्त्वम्।

दिन-रात किसका चिन्तन करते रहना चाहिये? उत्तर देते हैं कि (१) संसारका कोई भी विषय सुख नहीं दे सकता, इसलिये उसमें मनको आसक्त न होने दे। इस प्रकार संसारके मिथ्यात्वका और (२) 'मैं सुख-स्वरूप आत्मा हूँ'—इसका विस्मरण न होने दे। इस प्रकार शिवात्मतत्त्वका नित्य चिन्तन करना चाहिये।

ज्ञानकी सात भूमिकाएँ

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीवसिष्ठजीने बतलाया है—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८ । ५-६)

'पहली शुभेच्छा, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्त्वापत्ति, पाँचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावना और सातवीं तुर्यगा—इस प्रकार ये ज्ञानकी सात भूमिकाएँ मानी गयी हैं ।'

इनके स्वरूपको पृथक्-पृथक् इस प्रकार समझना चाहिये—

१. शुभेच्छा

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८ । ८)

"मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषोंके द्वारा जानकर तत्त्वका साक्षात्कार करूँगा—इस प्रकार वैराग्यपूर्वक मोक्षकी इच्छा होनेको ज्ञानीजनोंने 'शुभेच्छा' कहा है ।"

अभिप्राय यह कि समस्त (पापमय) अशुभ इच्छाओंका अर्थात् चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, बलात्कार, हिंसा, अभक्ष्य-भोजन, दुर्व्यसन और प्रमाद (व्यर्थ चेष्टा) आदि शास्त्र-निषिद्ध कर्मोंका मन, वाणी और शरीरसे त्याग करना; नाशवान्, क्षणभङ्गुर, स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तथा रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासनादि काम्यकर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना; मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाका त्याग करना; अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करनेकी याचना न करना और बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार न करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा न रखना; ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह और शरीर-सम्बन्धी खान-पान आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंमें आलस्यका तथा सब प्रकारकी सांसारिक कामनाका त्याग करना एवं 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐतरेय उप० १ । ३)—ब्रह्म विज्ञानघन है, 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य उप० २)—यह आत्मा ही परब्रह्म परमात्मा है, 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्य उप० ६ । १२ । ३)—वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म तू ही है और 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदा० उप० १ । ४ । १०)—मैं देह नहीं हूँ, ब्रह्म हूँ—इन वेदान्त-वाक्योंका एकमात्र परमात्माके तत्त्व-रहस्य-ज्ञानपूर्वक उनको प्राप्त करनेकी इच्छासे सत्-शास्त्रोंमें अध्ययन करना और सत्पुरुषोंका सङ्ग करके उनसे इन महावाक्योंका श्रवण करना ही 'शुभेच्छा' नामकी प्रथम भूमिका है । इसलिये इस भूमिकाको 'श्रवण' भूमिका भी कहा जा सकता है ।

२. विचारणा

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८ । ९)

'शास्त्रोंके अध्ययन, मनन और सत्पुरुषोंके सङ्ग तथा विवेक-वैराग्यके अभ्यासपूर्वक सदाचारमें प्रवृत्त होना—

यह 'विचारणा' नामकी भूमिका कही जाती है।

उपर्युक्त प्रकारसे सत्पुरुषोंके सङ्ग, सेवा एवं आज्ञा-पालनसे, सत्-शास्त्रोंके अध्ययन-मननसे तथा दैवी सम्पदारूप सद्गुण-सदाचारके सेवनसे उत्पन्न हुआ विवेक (विवेचन) ही 'विचारणा' है। भाव यह कि सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम 'विवेक' है। विवेक इनका भलीभाँति पृथक्करण कर देता है। सब अवस्थाओंमें और प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विश्लेषण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है।

जिसका कभी नाश न हो, वह 'सत्' है और जिसका नाश होता है, वह 'असत्' है। भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(गीता २। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इस नियमके अनुसार जो दृश्य जड पदार्थ हैं, वे उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण असत् हैं और परमात्मा ही एक सत् पदार्थ है। जीवात्मा भी उसका अंश होनेके कारण सत् है। अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं, मायाकी उपाधिके सम्बन्धसे उनका भेद प्रतीत होता है। जैसे महाकाशके एक होते हुए भी घड़ेकी उपाधिके सम्बन्धसे घटाकाश और महाकाश अलग-अलग प्रतीत होते हैं, वस्तुतः घटाकाश, महाकाश एक ही हैं, इसी प्रकार जीवात्मा, परमात्मा वास्तवमें एक ही हैं—इस तत्त्वको समझ लेना 'विवेक' है।

उपर्युक्त विवेकके द्वारा जब सत्-असत् और नित्य-अनित्यका पृथक्करण हो जाता है, तब असत् और अनित्यसे आसक्ति हट जाती है, एवं इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें कामना और आसक्तिका न रहना ही 'वैराग्य' है। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।
(योगदर्शन १। १५)

"स्त्री, धन, भवन, मान, बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गादि परलोकके सम्पूर्ण विषयोंमें तृष्णारहित हुए चित्तकी जो वशीकार-अवस्था होती है, उसका नाम 'वैराग्य' है।"

समस्त इन्द्रियों और विषयोंके सङ्गसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी भोग हैं, वे सब अनित्य हैं; किंतु अज्ञानसे अनित्यमें नित्यबुद्धि होनेके कारण विषयभोगादि नित्य प्रतीत होते हैं। इसलिये उनको अनित्य मानकर उनसे वैराग्य करना चाहिये। गीतामें भगवान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
(गीता २। १४)

'हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये हे भारत! उनको तू सहन कर।'

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥
(गीता २। १५)

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्षके योग्य होता है।'

अतः वैराग्यकी प्राप्तिके लिये संसारके विषयभोगोंको अनित्य और दुःखरूप समझकर उनमें आसक्तिरहित होना परम आवश्यक है, यों समझकर ही विवेकी मनुष्य उनमें नहीं रमते। भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं; इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

इस प्रकार विवेक-वैराग्य हो जानेपर साधकका चित्त निर्मल हो जाता है; उसमें क्षमा, सरलता, पवित्रता तथा प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें समता आदि गुण आने लगते हैं; उसके मन, इन्द्रिय और शरीर विषयोंसे हटकर वशमें हो जाते हैं, फिर उसे गङ्गातट, तीर्थ-स्थान, गिरि-गुहा, वन आदि एकान्तदेशका सेवन ही अच्छा लगता है; उसके ममता, राग-द्वेष, विक्षेप और मान-बड़ाईकी इच्छाका अभाव-सा हो जाता है; विषयभोगोंसे स्वाभाविक ही उपरति हो जाती है एवं विवेक-वैराग्यके प्रभावसे वह नित्य परमात्माके स्वरूपके चिन्तनमें ही लगा रहता है ।

भगवान्ने गीतामें ज्ञानके साधन बतलाते हुए कहा है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥
(१३ । ७–११)

'श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदिकी सरलता, श्रद्धाभक्ति-सहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना; मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना; अध्यात्मज्ञानमें नित्य-स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है—यों कहा गया है ।'

दूसरी भूमिकामें परिपक्व हो जानेपर उस साधकमें उपर्युक्त गुण और आचरण आने लगते हैं ।

ऊपर प्रथम भूमिकामें बताये हुए महावाक्योंका निरन्तर मनन और चिन्तन करना ही प्रधान होनेके कारण इस दूसरी भूमिकाको 'विचारणा' कहा गया है, अतः इसे 'मनन' भूमिका भी कहा जा सकता है ।

३. तनुमानसा

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।
यात्रा सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा ॥
(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८ । १०)

"उपर्युक्त शुभेच्छा और विचारणाके द्वारा इन्द्रियोंके विषयभोगोंमें आसक्तिका अभाव होना और अनासक्त हो संसारमें विचरण करना—यह 'तनुमानसा' है; इसमें मन शुद्ध होकर सूक्ष्मताको प्राप्त हो जाता है, इसीलिये इसे 'तनुमानसा' कहते हैं ।"

अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कामना, आसक्ति और ममताके अभावसे; सत्पुरुषोंके सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे तथा विवेक-वैराग्यपूर्वक निदिध्यासन—

ध्यानके साधनसे साधककी बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तथा उसका मन शुद्ध, निर्मल, सूक्ष्म और एकाग्र हो जाता है, जिससे उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मतत्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता अनायास ही प्राप्त हो जाती है। इसीको 'तनुमानसा' भूमिका कहा गया है।

इस तीसरी भूमिकामें स्थित साधकके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण अवगुणोंका अभाव होकर स्वाभाविक ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनसूया (दोषदृष्टिका अभाव), अमानिता, निष्कपटता, पवित्रता, संतोष, शम, दम, समाधान, तेज, क्षमा, दया, धैर्य, अद्रोह, निर्भयता, निरहंकारता, शान्ति, समता आदि सद्गुणोंका आविर्भाव हो जाता है। फिर उसके द्वारा जो भी चेष्टा होती है, वह सब सदाचाररूप ही होती है तथा उस साधकको संसारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हैं—ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें उसकी वासनाका भी अभाव हो जाता है। भाव यह है कि उसके अन्तःकरणमें उनके चित्र संस्काररूपसे भी नहीं रहते एवं शरीरमें अहंभाव तथा मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान नहीं रहता; क्योंकि वह परवैराग्यको प्राप्त हो जाता है। परवैराग्यका स्वरूप महर्षि पतञ्जलिने यों बतलाया है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।
(योगदर्शन १। १६)

'प्रकृतिसे अत्यन्त विलक्षण पुरुषके ज्ञानसे तीनों गुणोंमें जो तृष्णाका अत्यन्त अभाव हो जाना है, यह परवैराग्य या सर्वोत्तम वैराग्य है।'

पूर्वोक्त दूसरी भूमिकामें स्थित पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है; परंतु इस तीसरी भूमिकामें पहुँचे हुए पुरुषकी तो विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर भी उनमें आसक्ति नहीं होती; क्योंकि उसके निश्चयमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं। अतः परवैराग्य हो जानेके कारण उसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ सम्पूर्ण संसारसे अत्यन्त उपरत हो जाती हैं। यदि किसी कालमें कोई स्फुरणा हो भी जाती है तो भी उसके संस्कार नहीं जमते; क्योंकि उसकी एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही निरन्तर गाढ़ स्थिति बनी रहती है, जिसके कारण उसे कभी-कभी तो शरीर और संसारका विस्मरण होकर समाधि-सी हो जाती है। ये सब लक्षण परमात्माकी प्राप्तिके अत्यन्त निकट पहुँच जानेपर होते हैं।

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करते-करते उस परमात्मामें तन्मय हो जाना तथा अत्यन्त वैराग्य और उपरतिके कारण परमात्माके ध्यानमें ही नित्य स्थित रहनेसे मनका विशुद्ध होकर सूक्ष्म हो जाना ही 'तनुमानसा' नामकी तीसरी भूमिका है। अतः इसे 'निदिध्यासन' भूमिका भी कह सकते हैं।

ये तीनों भूमिकाएँ साधनरूपा हैं। इनमें संसारसे कुछ सम्बन्ध रहता है, अतः यहाँतक साधककी 'जाग्रत अवस्था' मानी गयी है।

४. सत्त्वापत्ति

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥
(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ११)

'ऊपर बतायी हुई शुभेच्छा—श्रवण, विचारणा—मनन और तनुमानसा—निदिध्यासन भूमिकाओंके अभ्याससे चित्तके सांसारिक विषयोंसे अत्यन्त विरक्त हो जानेके अनन्तर उसके प्रभावसे आत्माका शुद्ध तथा सत्यस्वरूप परमात्मामें तद्रूप हो जाना 'सत्त्वापत्ति' कहा गया है।'

उपर्युक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासनके तीव्र अभ्याससे जब साधक सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है, तब उसीको 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका कहते हैं। इसीको गीतामें निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति कहा गया है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥
(५। २४)

'जो पुरुष आत्मामें ही सुखी है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवान् है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त—'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुभव करनेवाला ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

जिस प्रकार गङ्गा-यमुना आदि सारी नदियाँ बहती हुई अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें ही विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर परम दिव्य पुरुष परात्पर परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है, उसीमें विलीन हो जाता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(मुण्डकोपनिषद् ३। २। ८)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८। ५४-५५)

'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकारके अनुभवसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला ज्ञानयोगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्ति (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त हो जाता है। उस ज्ञाननिष्ठारूप पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस ज्ञाननिष्ठासे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

जब साधकको परब्रह्मका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्म ही हो जाता है—

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।
(मुण्डकोपनिषद् ३। २। ९)

फिर उसका इस शरीर और संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। ब्रह्मवेत्ता पुरुषके अन्तःकरणमें शरीर और अन्तःकरणके सहित यह संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी घटनाको मनकी कल्पनामात्र समझता है, वैसे ही उस ब्रह्मवेत्ताके अन्तःकरणमें यह संसार कल्पनामात्र प्रतीत होता है अर्थात् इस संसारकी काल्पनिक सत्ता प्रतीत होती है। स्वप्नमें और इसमें इतना ही अन्तर है कि स्वप्नका समय तो भूतकाल है और संसारकी स्वप्नवत् प्रतीतिका समय वर्तमानकाल है; तथा स्वप्नमें तो जो मन-बुद्धि थे, वे वर्तमानमें भी इस जीवात्माके साथ सम्बन्धित हैं, किंतु जब मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, तब उसके मन-बुद्धि इस शरीरमें ही रह जाते हैं, उस ब्रह्मवेत्ताके साथ ब्रह्ममें सम्बन्धित नहीं होते, इसलिये ब्रह्मकी दृष्टिसे तो इस संसारका अत्यन्त अभाव है।

वास्तवमें तो ब्रह्मके कोई दृष्टि ही नहीं है। केवल समझानेके लिये उसमें दृष्टिका आरोप किया जाता है। ब्रह्मकी दृष्टिमें तो केवल एक ब्रह्म ही है, उसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं। ब्रह्मवेत्ताके शरीरका जो अन्तःकरण है, उसमें इस संसारका तो अत्यन्त अभाव और

सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका भाव प्रत्यक्ष है। यह ब्रह्मवेत्ताका अनुभव है। इसी अनुभवके बलपर शास्त्रोंमें यह कहा गया है कि एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है।

जो ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह ब्रह्म ही बन जाता है। श्रुतिमें भी कहा गया है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक० ४।४।६)—वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।' इसलिये वह लौटकर नहीं आता। श्रुति कहती है—

न च पुनरावर्तते। न च पुनरावर्तते।
(छान्दोग्य० ८।१५।१)

'फिर वह कभी नहीं लौटता, फिर वह कभी नहीं लौटता।'

जब ब्रह्मकी दृष्टिमें सृष्टिका अत्यन्त अभाव है, तब ब्रह्म ही हो जानेपर लौटकर कौन कैसे कहाँ आवे। गीतामें भी बतलाया गया है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥
(५।१७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् पुनः न लौटनेवाली परम गतिको प्राप्त होते हैं।'

भाव यह कि उसका मन तद्रूप—ब्रह्मरूप हो जाता है। पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, एक आनन्दके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपका मनन करते-करते जब मन तन्मय—ब्रह्ममय हो जाता है, तब उसको 'तदात्मा' कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकारके विशेषणोंसे विभूषित ब्रह्मका मनन करते-करते जब मन ब्रह्ममें विलीन हो जाता है और उन विशेषणोंकी आवृत्तिके प्रभावसे ब्रह्मके विशेष स्वरूपका बुद्धिमें अनुभव हो जाता है, तब बुद्धिके द्वारा अनुभव किये हुए उस ब्रह्मके विशेष स्वरूपको लक्ष्य बनाकर जीवात्मा उस ब्रह्मका ध्यान करता है। यहाँ ब्रह्म तो ध्येय है, ध्यान करनेवाला साधक ध्याता है और बुद्धिकी वृत्ति ही ध्यान है। इस प्रकार ध्यान करते-करते जब बुद्धि उस ब्रह्ममें विलीन हो जाती है, तब उसे 'तद्बुद्धि' कहते हैं। इसके पश्चात् जब ध्याता, ध्यान और ध्येयरूप त्रिपुटी न रहकर साधककी ब्रह्मके स्वरूपमें अभिन्न स्थिति हो जाती है, तब उसे 'तन्निष्ठ' कहते हैं। इसमें ब्रह्मका नाम, रूप और ज्ञान रहता है; इसलिये यह प्रारम्भिक 'सविकल्प समाधि' है। इसीको सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।
(योगदर्शन १।४२)

'उसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनोंके विकल्पोंसे मिली हुई समाधि सवितर्क है।'

इस प्रकार सविकल्प समाधि होनेके बाद जब स्वतः ही साधककी निर्विकल्प समाधि हो जाती है, तब ब्रह्मका नाम (शब्द), रूप (अर्थ) और ज्ञान—ये तीनों विकल्प भिन्न-भिन्न नहीं रह जाते, एक अर्थमात्र वस्तु—ब्रह्मका स्वरूप ही रह जाता है। इसीको निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।
(योगदर्शन १।४३)

'(शब्द और प्रतीतिकी) स्मृतिके भलीभाँति लुप्त हो जानेपर अपने रूपसे शून्य हुईके सदृश केवल ध्येय मात्रके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाली (अन्तःकरणकी स्थिति ही) निर्वितर्क समाधि है ।'

इसमें साधक स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही बन जाता है । अतः उसको 'तत्परायण' कहते हैं । इस निर्विकल्प समाधिका फल जो निर्बीज असम्प्रज्ञात योग है, वही वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति है; उसीको यहाँ गीतामें अपुनरावृत्ति कहा गया है; क्योंकि ब्रह्मज्ञानके द्वारा जिसके मल, विक्षेप और आवरणरूप कल्मषका नाश हो गया है, वह ब्रह्मको प्राप्त पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है; वह लौटकर नहीं आता ।

यही 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका है । इसमें पहुँचे हुए पुरुषको 'ब्रह्मवित्'—ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है। इसमें संसार उस ज्ञानी महात्माके अन्तःकरणमें स्वप्नवत् भासित होता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी 'स्वप्नावस्था' मानी जाती है ।

श्रीयाज्ञवल्क्यजी, राजा अश्वपति और जनक आदि इस चौथी भूमिकामें पहुँचे हुए माने गये हैं ।

योगवासिष्ठमें जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त पुरुषकी चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं भूमिकाके रूपमें चार भेद बतलाये गये हैं, इस प्रकारके भेद गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते । परमात्माको प्राप्त पुरुषके लक्षण तो गीतामें जगह-जगह आते हैं, किंतु उसके इस प्रकारके अलग-अलग भेद नहीं बताये गये हैं । वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति होनेके पश्चात् ज्ञानी महात्मा पुरुषका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि वह देहाभिमानसे सर्वथा रहित होकर ब्रह्ममें तल्लीन हो जाता है । अतः योगवासिष्ठमें बतलाये गये उन भेदोंको ब्रह्मप्राप्त पुरुषके भेद न समझकर उसके अन्तःकरणके भेद समझने चाहिये ।

५. असंसक्ति

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च ।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्तासंसक्तिनामिका ॥
(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८ । १२)

शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति—इन चारोंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक अभ्याससे चित्तके बाह्याभ्यन्तर सभी विषयसंस्कारोंसे अत्यन्त असङ्ग (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जानेपर अन्तःकरणका समाधिमें आरूढ—स्थित हो जाना ही 'असंसक्ति' नामकी पाँचवीं भूमिका कहा गया है ।

परम वैराग्य और परम उपरतिके कारण उस ब्रह्मप्राप्त ज्ञानी महात्माका इस संसार और शरीरसे अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, इसीलिये इस पाँचवीं भूमिकाको असंसक्ति कहा गया है ।

ऐसे पुरुषका संसारसे कोई भी प्रयोजन नहीं रहता । अतः वह कर्म करने या न करनेके लिये बाध्य नहीं है । गीतामें भगवान्ने कहा है—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥
(३ । १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ।'

फिर भी उस ज्ञानी महात्मा पुरुषके सम्पूर्ण कर्म शास्त्रसम्मत और कामना एवं संकल्पसे शून्य होते हैं । इस प्रकार जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
(गीता ४ । १९)

अतः ऐसे पुरुषको उसके सम्मानके लिये 'ब्रह्मविद्वर' कहा जा सकता है। ऐसा महापुरुष जब समाधि-अवस्थामें रहता है, तब तो उसे सुषुप्ति अवस्थाकी भाँति संसारका बिल्कुल भान नहीं रहता और व्युत्थान अवस्थामें—व्यवहार-कालमें उसके द्वारा पूर्वके अभ्याससे सत्ता, आसक्ति, कामना, संकल्प और कर्तृत्वाभिमानके बिना ही सारे कर्म होते रहते हैं। उसके द्वारा जो भी कर्म होते हैं, वे शास्त्रविहित ही होते हैं। उसकी कभी समाधि-अवस्था रहती है और कभी व्युत्थानावस्था, उसकी किसी दूसरेके प्रयत्नके बिना स्वतः ही व्युत्थानावस्था हो जाती है। किंतु वास्तवमें संसारके अभावका निश्चय होनेके कारण उसकी व्युत्थानावस्था भी समाधिके तुल्य ही होती है, इस कारण उसकी इस अवस्थाको 'सुषुप्ति-अवस्था' भी कहते हैं।

श्रीजडभरतजी इस पाँचवीं भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

६. पदार्थभावना

भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात्।
पदार्थभावनानाम्नी षष्ठी संजायते गतिः॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। १३-१४)

'उपर्युक्त पाँचों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक अभ्याससे उस ज्ञानी महात्माकी आत्मारामताके प्रभावसे उसके अन्तःकरणमें संसारके पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है, जिससे उसे बाहर-भीतरके किसी भी पदार्थका स्वयं भान नहीं होता, दूसरोंके द्वारा प्रयत्न-पूर्वक बहुत कालतक प्रेरणा करनेपर ही कभी किसी पदार्थका भान होता है; इसलिये उसके अन्तःकरणकी 'पदार्थभावना' नामकी छठी भूमिका हो जाती है।

पाँचवीं भूमिकाके पश्चात् जब वह ब्रह्मप्राप्त पुरुष छठी भूमिकामें प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य समाधि रहती है, इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरणमें शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसार-का और शरीरके बाहर-भीतरका बिल्कुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते जाते हैं; इसलिये उस भूमिकाको 'पदार्थभावना' कहते हैं। जैसे गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषको बाहर-भीतरके पदार्थोंका ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता। अतः उस पुरुषकी इस अवस्थाको 'गाढ़ सुषुप्ति अवस्था' भी कहा जा सकता है। किंतु गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषके तो मन-बुद्धि अज्ञानके कारण अपने कारण मायामें विलीन हो जाते हैं, अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है; पर इस ज्ञानी महापुरुषके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं (गीता ५। १७), अतः इसकी अवस्था गुणातीत है। इसलिये यह गाढ़ सुषुप्तिसे अत्यन्त विलक्षण है।

तथा गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुष तो निद्राके परिपक्व हो जानेपर स्वतः ही जाग जाता है; किंतु इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुषकी व्युत्थानावस्था तो दूसरोंके बारंबार प्रयत्न करनेपर ही होती है, अपने-आप नहीं। उस व्युत्थानावस्थामें वह जिज्ञासुके प्रश्न करनेपर पूर्वके अभ्यासके कारण ब्रह्मविषयक तत्त्व-रहस्यको बतला सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुषको 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहते हैं।

श्रीऋषभदेवजी इस छठी भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

७. तुर्यगा

भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। १५

'उपर्युक्त छहों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक चिरकालतक अभ्यास होनेसे जिस अवस्थामें दूसरोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्रेरित करनेपर भी भेदरूप संसारकी सत्ता-स्फूर्तिकी उपलब्धि नहीं होती, वरं अपने आत्म-भावमें स्वाभाविक निष्ठा रहती है, उस स्थितिको उसके अन्तःकरणकी 'तुर्यगा' भूमिका जानना चाहिये।

छठी भूमिकाके पश्चात् सातवीं भूमिका स्वतः ही हो जाती है। उस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महात्मा पुरुषके हृदयमें संसारका और शरीरके बाहर-भीतरके लौकिक ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो जाता है; क्योंकि उसके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं, इस कारण उसकी व्युत्थानावस्था तो न स्वतः होती है और न दूसरोंके द्वारा प्रयत्न किये जानेपर ही होती है। जैसे मुर्दा जगानेपर भी नहीं जाग सकता, वैसे ही यह मुर्देकी भाँति हो जाता है। अन्तर इतना ही रहता है कि मुर्देमें प्राण नहीं रहते और इसमें प्राण रहते हैं तथा यह श्वास लेता रहता है। ऐसे पुरुषका संसारमें जीवन-निर्वाह दूसरे लोगोंके द्वारा केवल उसके प्रारब्धके संस्कारोंके कारण ही होता रहता है। वह प्रकृति और उसके कार्य सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंसे और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे अतीत होकर ब्रह्ममें विलीन रहता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी अवस्था 'तुर्यगा' भूमिका कही जाती है।

ब्रह्मकी दृष्टिमें संसारका अत्यन्त अभाव है। उपर्युक्त महात्मा पुरुष उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको नित्य ही प्राप्त है। अतः उसके मन-बुद्धिमें भी शरीर और संसारका अत्यन्त अभाव है। इसलिये ऐसे पुरुषको ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं।

ऐसे ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ महापुरुषसे वार्त्तालाप न होनेपर भी उसके दर्शन और चिन्तनसे ही मनुष्यके चित्तमें मल, विक्षेप और आवरणका नाश होनेसे उसकी वृत्ति परमात्माकी ओर आकृष्ट होनेपर उसका कल्याण हो सकता है।

इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको विवेक-वैराग्यपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके ध्यानमें निरन्तर स्थित रहनेके लिये तत्परतासे प्रयत्न करना चाहिये।

प्रभु निरन्तर मुझे अपनी सेवाका अवसर प्रदान कर रहे हैं

सच्चे सफल एवं यथार्थ सुखमय जीवनके लिये मैं भगवान्पर अपने मनको केन्द्रित कर जीवनमें प्राप्त प्रत्येक परिस्थितिके लिये भगवान्का कृतज्ञ होता हूँ तथा उसके द्वारा भगवान्की यथासम्भव सेवाकर उसका सदुपयोग करता हूँ। 'अभावके रूपमें भगवान् ही हमारे सामने उपस्थित होते हैं'—संतोंके इस आदेशके अनुसार अपने सामने उपस्थित होनेवाली प्रत्येक अभावकी परिस्थितिको अपनी सामर्थ्यके अनुसार भगवत् रूप मानकर उसे सच्चे अर्थमें पूरा करनेका प्रयत्न करता हूँ। ऐसा करके भी मैं अपनेमें किसी भी प्रकार की श्रेष्ठताकी गंध भी नहीं आने देता, प्रत्युत प्रभुकी शक्ति ही सब-कुछ कर रही है ऐसा मानता हूँ। प्रभु की प्रत्येक वस्तु प्रभुकी सेवामें प्रयुक्त हो रही है, ऐसा अनुभव कर उस वस्तुके सम्यक् रक्षणके उत्तर दायित्वसे अपनेको मुक्त हुआ मानता हूँ और इस विचारसे हृदयमें अत्यन्त प्रसन्न होता हूँ कि प्रभुने अपनी सेवामें मुझे स्वीकार कर लिया है, प्रभु निरन्तर मुझे अपनी सेवाका अवसर प्रदान कर रहे हैं।

पूर्णब्रह्म परात्पर राम

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

इधर कई विद्वानोंने रामायणपर अनुसंधान-कार्य किया है। इनमेंसे अधिकांश लोगोंने रामको साधारण मनुष्य सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। एक संधानकर्ता महोदयकी बड़ी प्रशंसा है। उन्होंने अधिकांश राम-कथाओंका आलोकन किया है, पत्र-पत्रिकाओंतकको नहीं छोड़ा है। पर ये इसी निष्कर्षपर पहुँचे कि वेदोंमें जहाँ 'सीता' या 'राम' शब्द आया है, वह अन्य अर्थमें है। वाल्मीकिरामायणके रामको अवतार बतलानेवाले सभी स्थल क्षेपक हैं। महाभारतके भी ऐसे स्थल पीछेसे जोड़े हुए हैं। बौद्ध जातकग्रन्थों तथा जैन-ग्रन्थोंमें रामकी ईश्वरता नहीं कही गयी। कथाएँ भी सब एक-सी नहीं मिलतीं। अतः सिद्ध है कि रामकथाकी कल्पना सर्वप्रथम वाल्मीकिने की और उसी आधारपर अन्य लोगोंने भी अपनी सूझ-बूझके अनुसार इस दिशामें कुछ श्रम किया। अन्तमें रामको ईश्वर मान लिया गया।

ऐसे अनुसंधानोंका अन्त नहीं। कईने तो महर्षि-वाल्मीकिको दक्षिण तथा मध्यभारतके भूगोलसे भी अनभिज्ञ लिखनेकी धृष्टता की है।[1] कइयोंने लङ्काको ही मध्यभारतमें ला पटका है।[2] श्रीमाधवराव किबेके अनुसार रावणकी लङ्का अमरकण्टक पहाड़पर स्थित थी। प्रोफेसर जैकबीके अनुसार लङ्का कहीं आसाममें थी।[3] सीलोनको लङ्का माननेवाले तो बड़ी उदारता करते हैं। यदि ये विचार छपते नहीं तो कोई विशेष बात नहीं थी। किंतु आज प्रकाशनका युग है। सब चीजें छपकर प्रचारित तथा प्रसारित हो जाती हैं। इससे अनजान लोगोंको ईसाई बनाने तथा अन्य धर्मोंमें अन्तरित करनेमें सहायता मिलती है। साधारण साधक तथा श्रद्धालु व्यक्तियोंको भी बड़ी ठेस लगती है, अतः इसपर विचार करना परमावश्यक हो जाता है।

वस्तुतः विधर्मियोंका रामकथा-विषयक अनुसंधानका उद्देश्य ही इसकी निस्सारता दिखलाकर अपनी ओर आकृष्ट करना रहा है और इसका प्रयास बहुत दिनोंसे चल रहा है। परिणामतः अनेक भारतीय हिंदू ईसाई, मुसल्मान आदि बन गये और अनेक भारतीय विद्वान् उन्हींके मतसे प्रभावित होकर वैसा ही अनुसंधान करने लगे। यदि इन विद्वानोंकी सच्ची जिज्ञासा होती तो इनके समाधानके लिये एकमात्र पूज्यपाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज ही पर्याप्त थे। यद्यपि आज उनका शरीर हमारे बीचमें नहीं है, तथापि उनकी भास्वती भगवती अनुकम्पा, उनकी प्रतिभा, व्यवसायात्मिका बुद्धि, विचार, उनकी वाङ्मयी मूर्ति हमारे सामने ही हैं। उन्होंने अपना सारा जीवन रामचरितको ही सुनने, गाने, मनन करने तथा लिखनेमें समर्पण कर दिया था। उनकी प्रतिज्ञा ही थी—'स्रवनन्हि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।' उन्होंने किसीसे भी कम अनुसंधान तथा भगवच्चरित्रमय साहित्यका आलोडन नहीं किया था। वे रामचरितके परम रसज्ञ थे और इसमें अवगाहन करते हुए कभी भी तृप्त नहीं होते थे। इन विभिन्न रामचरित्रोंके श्रद्धापूर्वक मनन-पठनसे उन्हें पूर्ण विश्रान्ति तथा सुख-शान्ति प्राप्त हुई थी—

'सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा।'
'बुध बिश्राम सकल जन रंजनि।
रामकथा कलिकलुष निकंदनि।'
'…पायउ परम बिश्राम…'
……'स्वान्तस्तमःशान्तये :
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसी-
दासस्तथा मानसम्।'
'स्वान्तस्सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति।'

—इत्यादि उनके वचनोंसे यह अत्यन्त स्पष्ट है; रामचरित्रमें संदेह उनके निर्देशानुसार घोर क्लेश तथा खेदका कारण होता है। 'संसय मन तर्क बढ़ाई।' संसारी व्यक्ति गुरुके बिना कभी श्रीरामभद्रका रहस्य नहीं समझ सकता—

'ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप।'
'गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई।'

---

१. देखिये श्रीबुल्केकी रामकथा पृ० ११८।

२. एम्० वीकिबे—इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग ४ पृ० ६९३–७०२; एपिक ऐंड पुरानिक स्टडिज—भांडारकर इंस्टिच्युट—पृ० १३७–१३८।

३. देखिये—'कल्याण', रामायणाङ्क—पृ० ३१७।

और वास्तवमें इन अनुसंधानाभिमानियोंके मोहमय तमसाच्छन्न अनर्गल उन्मत्तालापको पढ़कर साधारण साधकको भीषण ग्लानि तथा मानसिक अशान्ति होती ही है।

सबसे बड़े आश्चर्यकी बात तो यह है कि इन दुर्लक्ष्यपूर्ण अन्वेषकोंके तर्कोंमें कोई दम नहीं है। वाल्मीकि-रामायणमें प्रायः एक हजार वचन ऐसे हैं, जिनसे श्रीरामकी परमोपास्यता सिद्ध है। पर ये गवेषक उन सभीको प्रक्षिप्त मानते हैं। जहाँ भक्तसमुदाय वाल्मीकिके प्रत्येक श्लोकको मङ्गलमय परमात्माका वाङ्मय विग्रह, तथा—

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥

—के अनुसार प्रत्येक अक्षरको महापातक-नाशक मानकर पढ़ता-सुनता है, वहाँ ये विपरीत दिशामें ही प्रयत्नशील हैं। किंतु विचारणीय है कि तृणमूलफलाशी, परमनिष्काम वनवासी तपस्वीको शतकोटि श्लोकोंमें किसी साधारण नरके चरित्रचित्रणमें निष्प्रयोजन आयु नष्ट करनेका क्या तुक हो सकता है। स्पष्ट है कि जिन श्रीरामके नामको उलटा जपनेसे वे व्याधकी चिन्तनीय अवस्थासे महामुनिकी स्थितिको प्राप्त हुए, उनका चरित्रकीर्तन ही उनके द्वारा समुचित था। अतः परब्रह्म परमात्मा, सर्वोपरि श्रेष्ठतत्त्वका अनुसंधान-गान ही उन महाप्रतिभाशाली, परमबुद्धिमान्‌की बुद्धिमत्ताके उपयुक्त कार्य होता और वही अन्य श्रेष्ठ कवियोंके भी अनुरूप था। फिर यदि इनके मतानुसार एक हजार श्लोक प्रक्षिप्त हैं तो दूसरोंके मतानुसार अन्य कई हजार श्लोक जिनमें श्रीरामके ईश्वरत्वका उल्लेख नहीं है, वे प्रक्षिप्त माने जा सकते हैं। फिर तो रामायणका अस्तित्व ही न रह जायगा। जब भौगोलिक स्थिति दस-पाँच वर्षोंमें, साधारण भूकम्पादिसे ही कुछ-की-कुछ हो जाती है, तब दो करोड़ वर्षोंकी भौगोलिक स्थितिकी आजके चश्मेसे कैसे परीक्षा ली जा सकती है। भला, महाभारतके रामावतारप्रतिपादक वचनोंको प्रक्षिप्त कहना कितने दुस्साहसकी बात है! महाभारत भगवान् व्यासकी रचना है। उन्होंने सभी पुराणों तथा महाभारतमें भी दशावतारोंका कीर्तन तथा यशोगान किया है। महाभारतके प्रतिपाद्य तत्त्व ही भगवान् श्रीकृष्ण हैं। विष्णु, वाराह, वामन, कूर्म, मत्स्य, ब्रह्म आदि पुराणोंका नामकरण ही अवतारोंके नामपर है। प्रायः सभी पुराणोंमें ही बार-बार रामचरित्रका समास या विस्तारसे वर्णन है। यह क्षेपक-शङ्का पिशाची कहाँतक जायगी? ये पुराण ही वस्तुतः वेदार्थ हैं। प्रायः प्रत्येक पुराणके ही उपोद्घातमें व्यासदेवने चेतावनी दी है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

वेदोंका अर्थ पुराणोंद्वारा ही समझा जाय; अन्यथा कोई लाभ न होगा।

श्रीरामके पूर्णब्रह्मत्वप्रतिपादक इतने ग्रन्थ हैं और इतने वचन हैं, जिनका संग्रह करनेका साहस नहीं हो सकता। 'धर्मात्मा सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यदि। पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वः शरैनं जहि रावणिम्' यह श्लोक वाल्मीकि युद्धकाण्ड, अध्यात्म और आनन्दादि कई रामायणोंमें आया है। इस वचनके प्रभावसे लक्ष्मणके बाणने मेघनादका वध कर दिया। इससे रामका विश्वमें सर्वातिशायी पौरुष सिद्ध है, जो बिना ब्रह्मके सम्भव नहीं। अगस्त्यसंहितामें श्रीरामको सभी अवतारोंका मूल बतलाया गया है—

सर्वेषामवताराणामवतारी रघूत्तमः।
रामपादनखज्योत्स्ना परब्रह्मेति गीयते॥

यहाँ श्रीरामकी नखज्योत्स्नाको परब्रह्म कहकर श्रीरामको ही एकमात्र सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इसमें भक्त्यतिशयता ही हेतु है। बृहद्ब्रह्मसंहितामें एक ऐसा वचन मिलता है, जिसमें सभी अवतारों तथा ब्रह्म-विष्णु-महेशद्वारा साकेतमें श्रीरामको सेव्य बतलाया गया है—

'तस्मिन्साकेतलोके विधिहरहरिभिः संततं सेव्यमाने
दिव्ये सिंहासने स्वे जनकतनयया राघवः शोभमानः।
युक्तो मत्स्यैरनेकैः करिभिरपि तथा नारसिंहैरनन्तैः
कूर्मैः श्रीनन्दनन्दैर्हयगलहरिभिर्नित्यमाज्ञोन्मुखैश्च॥
यज्ञः केशववामनौ नरवरो नारायणो धर्मजः
श्रीकृष्णो हलधृक् तथा मधुरिपुः श्रीवासुदेवोऽपरः।
एते नैकविधा महेन्द्रविधयो दुर्गादयः कोटिशः
श्रीरामस्य पुरो निदेशसुमुखा नित्यास्तदीये पदे॥

वाराहसंहितामें भी 'नारायणोऽपि रामांशः शङ्खचक्रगदाधरः' विष्णुको श्रीरामांश बतलाया है। सुन्दरीतन्त्र, आनन्दसंहिता, रामोपनिषद्‌में ऐसे अनगिनत वचन हैं। हनुमत्संहिता, हनुमदुपनिषद् तथा ज्यौतिषके परम प्रामाणिक ग्रन्थ पराशर-मुनिप्रणीत बृहत्पाराशर-होराशास्त्रमें भी श्रीरामको सभी अवतारोंमें श्रेष्ठ बतलाया गया है। वहाँके वचन हैं—

अवताराण्यनेकानि ह्यजस्य परमात्मनः ।
जीवानां कर्मफलदो ग्रहरूपी जनार्दनः ॥
दैत्यानां बलनाशाय देवानां बलवृद्धये ।
धर्मसंस्थापनार्थाय ग्रहा जाताः शुभाः क्रमात् ॥
रामोऽवतारः सूर्यस्य चन्द्रस्य यदुनायकः ।
नृसिंहो भूमिपुत्रस्य बुद्धः सोमसुतस्य च ॥
वामनो विबुधेज्यस्य भार्गवो भार्गवस्य च ।
कूर्मो भास्करपुत्रस्य सैंहिकेयस्य सूकरः ॥
(बृहत्पारा० होरा १ । २६-२९)

वाल्मीकिरामायणकी 'शिरोमणि'नामक टीकाकी प्रस्तावना, कृष्णाङ्क पृ० १६६–६७, मानसपीयूष–बालकाण्ड, प्रथम भाग, पृ० २४९ आदि स्थलोंपर भी श्रीरामकी महत्ता प्रतिपादित है।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके मतानुसार भी भगवान् राम ब्रह्मा-विष्णु-शंकरके ब्रह्मत्वादिके कारण हैं—

'हरिहि हरिता, बिधिहि बिधिता, सिवहि सिवता जिन दई ।
सोइ जानकी-पति मधुर मूरति, मोदमय मंगल मई ॥'
जाके बल बिरंचि हरि ईसा । पालत सृजत हरत दससीसा ॥
बिष्नु कोटिसत पालनकर्ता । रुद्रकोटि सत सम संहर्ता ॥
बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई । सारद कोटि कोटि चतुराई ॥

अन्तमें वे इन सब उपमाओंको भी श्रीरामके लिये न्यून ही बतलाते हैं—

जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै ।

कुछ पुराणों तथा श्रीतुलसीदासजीके भी कुछ ग्रन्थोंमें श्रीरामको महाविष्णुका अवतार बतलाया गया है। इसपर लोगोंका कहना है कि इस उक्तिमें एक प्रकारका 'वदतो व्याघात' दोष आता है; किंतु ऐसी बात नहीं है। वास्तवमें महाविष्णु तथा शंकर भी ब्रह्मके ही स्वरूप हैं। साथ ही इसमें कल्पभेदकी भी बात है। इसपर 'नारद बचन सत्य सब करिहउँ' तथा 'मोर साप करि अंगीकारा' आदि चौपाइयोंकी 'मानसपीयूष' व्याख्यामें अनेकानेक विद्वानोंका श्रद्धेय मत देखने योग्य है।

श्रीरामनामको भी प्रायः सभी जाप्योंमें श्रेष्ठ बतलाया गया है। इसके प्रतिपादक वचन असंख्य हैं। सभी लोग मानते हैं कि रामका लक्ष्यार्थ परब्रह्म है। नानक, कबीर आदि निर्गुणोपासक तथा सूरदासजी-जैसे कृष्णोपासकोंने भी श्रीरामनामके महिमा-वर्णनमें अनगिनत पद लिखे हैं। कुछ लोग रामचन्द्रजीको १२ कलाका अवतार बतलाते हैं; किंतु तुलसीदासजी तो 'बालचरितमय चंद्रमा यह सोलह कला निधान।' (गीतावली) लिखकर उन्हें १६ कलायुक्त ही बतलाते हैं। अतः श्रीरामोपासकोंको अपनी साधनामें इन अनर्गल प्रलापोंसे तनिक भी शिथिलता नहीं आने देनी चाहिये। अनधिकारियोंको तो संदेह होना तथा विपरीत परिणामपर पहुँचना उचित ही है—

उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति ।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति ॥

कौन तुम ?

कौन तुम जो साथ रहते ?
नित्य, पलभर भी न हटते, देखते सब, कुछ न कहते ॥
मैं मुखर करता अवज्ञा घोर अवहेला सदा ही,
मूढ़तापर मुसकरा देते, सभी चुपचाप सहते ॥
कभी जो गिरने लगा मैं अन्ध अपनी मूर्खतासे,
तुरत दे करका सहारा तुम बचा लेते, सहमते ॥
नहीं आते सामने पर सदा सब संभाल रखते,
हो अनोखे सत्य-स्नेही जो कभी बदला न चहते ॥

* मानसपीयूषके पूर्वोक्त स्थलपर भी इस पदका यही अर्थ माना गया है।

जीवन-दर्शन

[संसारमें रहनेका तरीका]

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार)

प्रजापति अपने आश्रममें ब्राह्मवेलासे पद्मासनपर विराजमान हैं। एक ओर मृगशावक स्वच्छन्दभावसे खेल रहे हैं और दूसरी ओर शिष्यगण विनम्रभावसे आचार्यके संकेतकी प्रतीक्षामें बैठे हैं। वातावरण कुछ देरतक सर्वथा निःस्पन्द रहा। अपने नेत्रोंको अर्ध-उन्मीलित करते हुए आचार्यने एक शिष्यकी ओर प्रश्नसूचक दृष्टिसे देखा। शिष्य बोला—'गुरुवर! धृष्टता क्षमा हो। कल आपने तपके विषयमें उपदेश दिया था। आज हमें जीवन-दर्शन समझाइये, ताकि आपके श्रीचरणोंसे विदा होकर जब हम शिष्य संसारमें जायँ, तब हमें जीनेकी विद्याका कुछ परिचय प्राप्त हो जाय।'

मानव-जीवनकी श्रेष्ठता

प्रजापति—सबसे पहले तुमको यह निश्चितरूपसे समझ लेना चाहिये कि यह मानव-जीवन विश्वमें सर्वश्रेष्ठ है। इस मानव-देहको—'देवमन्दिर', 'अमृतकुम्भ', 'दैवी नाव' इत्यादि नामोंसे शास्त्रोंमें कहा गया है। संसार-सागरको पार करनेके लिये इससे अधिक अच्छा अन्य कोई साधन नहीं है। वेदमें इस शरीरको 'देवोंकी नगरी' कहा गया है।

शिष्य—तो क्या हम इस शरीरको पुष्ट करना और अलंकृत करना ही अपना ध्येय समझें?

प्रजापति—नहीं, यह शरीर तो साधन है। इसकी विशिष्टता तभीतक है, जबतक इसमें आत्माका निवास है। आत्माके चले जानेके बाद तो यह शरीर—चाहे वह कितना ही स्वस्थ और सुन्दर क्यों न हो—मिट्टीके सदृश हो जाता है और उसे जल्दी-से-जल्दी घरसे बाहर निकालकर अग्निके भेंट कर दिया जाता है।

शिष्य—तो फिर इस मानव-शरीरकी क्या सार्थकता हुई?

प्रजापति—मानवशरीरकी सार्थकता इसीमें है कि मोक्षकी और आनन्दकी प्राप्ति तथा भगवान्‌के दर्शन इसी शरीरमें स्थित हृदय, आत्मा या अन्तःकरणद्वारा कर सकते हैं। किसी पशु-पक्षी और कीट-पतंगके शरीरद्वारा यह लक्ष्य-सिद्धि कभी नहीं हो सकती। इसलिये प्रातःकाल उठते ही मनुष्यको यह सोचना चाहिये कि—

> उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं किमद्य सुकृतं मया।
> आयुषः खण्डमादाय रविरस्तं गमिष्यति॥

'जाग-जागकर मनुष्य यह सोचे कि मैंने आज कौन-कौन अच्छे काम किये हैं; क्योंकि आयुके एक दिनको लेकर आज शामको सूर्य अस्त हो जायगा।'

शिष्य—आपके एक शिष्य विरोचन हैं। वे आपके आश्रमसे बाहर जाकर यह प्रचार कर रहे हैं कि 'यह शरीर ही सब कुछ है, इसको खूब मोटा-ताजा और सुन्दर बनाओ। बस, यही जीवनका लक्ष्य है। इसके बाद दूसरा शरीर मिलेगा या नहीं, यह कौन जानता है।' भगवन्! विरोचन यह भी कहते हैं कि 'यदि आत्मदर्शन और मोक्ष-प्राप्ति करनी भी है तो वह बुढ़ापेमें करनी है, जवानी तो खाने-पीने और मौज करनेकी उम्र है।'

शिष्यकी इस युक्ति और विरोचनके प्रचारकी बात सुन प्रजापति कुछ मुस्कराये और दृढ़ स्वरमें बोले—'वत्स! विरोचन इस आश्रममें कुछ दिन ही रहा था। उसका सहपाठी इन्द्र था। विरोचन राक्षसोंका और इन्द्र देवताओंका प्रतिनिधि था।। दोनोंको मैंने एक साथ शिक्षा दी, पर विरोचन एक दिन आधी शिक्षा सुनकर ही भाग गया और यह प्रचार करने लगा कि यह शरीर ही सब कुछ है। इन्द्रने पूरे समयतक शिक्षा प्राप्त की और वह मेरी शिक्षाओंका ठीक प्रकारसे प्रचार कर रहा है। इन्द्रने विरोचनको कई बार समझाने, बैठकर इस सम्बन्धमें पूरा विचार करने और निर्णय करनेके लिये बुलाया; पर वह कभी सामने नहीं आता और इधर-उधर छुक-छिपकर ऐसे भ्रमपूर्ण मिथ्या सिद्धान्तोंका प्रचार करता रहता है।

प्रजापति बोले—विरोचनका यह कहना सर्वथा युक्तिहीन और प्रमाणशून्य है कि यही जीवन है और इसके बाद क्या होगा—कौन जानता है। क्या कभी बिना पूँजीके भी कोई कारोबार प्रारम्भ करता है? क्या कभी बिना नींवके भी मकान खड़ा किया जाता है? केवल न जाननेसे ही किसी सत्यका अभाव नहीं माना जा सकता। हम अपनी पीठको ही नहीं देख सकते, अपने शरीरके अंदर होनेवाली हजारों क्रियाओंको नहीं देख और जान सकते, तब क्या इससे ही उनका अभाव हो जायगा? कई योगी और विद्वान् पुरुष

पिछले जन्मोंकी बात अन्तश्चक्षुसे जान भी जाते हैं। यदि पिछला कोई जन्म न हो तो बालक पैदा होते ही रोता क्यों है? और स्वयमेव माताके दूधको कैसे पीना शुरू कर देता है? इसलिये यह विश्वास करना चाहिये कि यह जीवन अनन्त जीवन-शृङ्खलाकी एक कड़ी है।

विरोचनकी यह बात कि जवानीमें विषयोंका मजा लूट लो और बुढ़ापेमें भक्ति कर लेंगे—केवल अपनेको धोखा देना है। पहली बात तो यह है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

'जबतक यह शरीर स्वस्थ है और बुढ़ापा दूर है, जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति कम नहीं हुई है और आयुका ह्रास नहीं हुआ है, तभीतक मनुष्यको चाहिये कि वह आत्म-कल्याण कर ले। मकानमें आग लगनेपर कूँआ खोदनेसे क्या लाभ हो सकता है?'

दूसरी बात यह कि मनुष्यकी आयु समाप्त हो जाती है, पर संसारके विषय समाप्त नहीं हो सकते—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥
(भर्तृहरि)

'भोग समाप्त नहीं हुए, पर हमीं समाप्त हो गये; तप नहीं किया गया, पर हमीं विषयोंसे संतप्त हो गये; काल नहीं गया, पर हमीं चल दिये; तृष्णा बूढ़ी नहीं हुई, हमीं बूढ़े हो गये।'

प्रजापतिने कहा—सौम्य! मैं तुमसे कह रहा था कि सबसे पहले इस मानव-जीवनकी श्रेष्ठतामें दृढ़ आस्था रखनी चाहिये। जब तुम विश्वासपूर्वक यह मान लोगे, तब इस प्राप्त अवसरसे अधिक-से-अधिक लाभ उठानेका प्रयत्न करोगे। शास्त्रोंमें मानव-योनिकी श्रेष्ठतापर बहुत बल दिया गया है।

इसी जगत्‌में रहना होगा

प्रजापतिने इसी प्रसङ्गको जारी रखते हुए कहा—दूसरी बात मानवको यह समझ लेनी चाहिये कि उसे इसी जगत्‌में रहना है, उसका स्वर्ग और नरक यहीं है। जैसे मछली-का समूचा जीवन जलके भीतर ही है और जलसे बाहर निकलते ही उसका अन्त हो जाता है, इसी प्रकार मानवका सारा जीवन इसी पृथ्वीपर है, इसी संसारमें है और इसी दुनियामें है। ईश्वरके कोई पृथक् विभाग नहीं हैं। वेदका उपदेश है—

इह त्वा भूर्या चरेदुपत्मन् दोषावस्तर्दीदिवांसमनुद्यून्।
क्रीळन्तस्त्वा सुमनसः सपेमाभि द्युम्ना तस्थिवांसो जनानाम्॥
(ऋग्० ४। ४। ९)

'हे मनुष्य! तू प्रतिदिन—दिन-रात—इसी संसारमें अपने चमकनेवाले आत्मासे बहुत पदार्थोंको जान। तू धन, यश, तेजको दृढ करता हुआ, अच्छे मनवाला होकर सब जनोंके साथ दृढ़ रहता हुआ प्रभुको पूजनेवाला बन।'

केन-उपनिषद्‌में भी बहुत सुन्दर ढंगसे उपदेश दिया गया है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ (२। ५)

'मनुष्य! यदि तूने इस जन्ममें और इस संसारमें रहते हुए ही आत्मतत्त्व जान लिया, तब तो ठीक है; नहीं जाना तो महा-विनाश है। उत्तम पुरुष इस विश्वके जड-चेतन पदार्थोंको जानकर इसी परिणामपर पहुँचे हैं कि मूल-तत्त्व यही है। ऐसे उत्तम पुरुष ही इस लोकके बाद अमृतपदको प्राप्त होते हैं।'

शिष्य—भगवन्! एक शङ्का है।

प्रजापति—वत्स! कहो, क्या शङ्का है?

शिष्य—इस दुनियाको ही अगर सब कुछ मान लें, तब इससे छुटकारा कैसे होगा?

प्रजापति—इस संसारसे तो जीवित रहते हुए एक क्षण भी छुटकारा सम्भव नहीं है। कोई भी प्राणी और मनुष्य तो सर्वथा नहीं एक क्षणके लिये निश्चेष्ट रह सकता है। जब इस संसारमें रहना ही है, तब क्यों न अच्छा बनकर रहा जाय!

प्रजापतिने आगे कहा—निरन्तर प्रयत्न और दृढ़ संकल्प तथा श्रद्धाकी भावनाके साथ जो साधना करता है, वह उच्च-तम पदको प्राप्त करता है। वेद भगवान्‌के शब्दोंमें—

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतम्।
अयुतोऽहं सर्वः॥ (अथर्व० १९। ५१)

'मैं अनन्त शक्तिवाला हूँ, मेरा आत्मा अनन्त शक्तिवाला है, मैं सब ओरसे अनन्तशक्तियुक्त हूँ।'

शिष्योंको सम्बोधित करते हुए प्रजापतिने अन्तमें कहा' 'इस जीवनमार्गपर चलते हुए तुम निश्चय ही विजय प्राप्त करोगे।'

भरद्वाज-आश्रममें श्रीभरतजीका अनुपम आतिथ्य

(लेखक—कुँवर श्रीराजेन्द्रसिंहजी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वनवासके कारण भरतजीकी मनोव्यथा अपनी चरम सीमापर पहुँच गयी थी; उनके हृदय-में विरहजन्य दावाग्नि बराबर धधकती रहती थी। उन्होंने महाराज वसिष्ठजी, माता कौसल्याजी, सचिवगण तथा प्रजा-के इस प्रस्तावकी कि वे राज्यासन ग्रहण करें, अवहेलना करके यही निश्चय किया कि—

॥ देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाय।

—और अयोध्याके समस्त समाजके साथ चित्रकूटकी ओर प्रस्थान किया। मार्गमें प्रभुके स्मारकोंको देखकर वे बड़े विह्वल हो जाते थे। शृङ्गवेरपुरमें जिस शिंशपावृक्षके नीचे प्रभुने विश्राम किया था, उसके दर्शन करके उनकी आत्मग्लानि-की सीमा नहीं रही थी। प्रयागराजमें त्रिवेणीमें स्नान करते समय उन्होंने जिन प्रेमविगलित शब्दोंमें यह वरदान माँगा था कि—

सीताराम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें।
जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पबि पाहन डारउ॥
चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़ें प्रेमु सब भाँति भलाई॥
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें॥

—उनकी समानतामें विश्वका साहित्य कोई उदाहरण प्रस्तुत करनेमें असमर्थ है। फिर वे महर्षि भरद्वाजजीके आश्रममें पहुँचे। महर्षिने उनका स्वागत अपूर्व ढंगसे किया और 'भरत-यश-चन्द्र'का साङ्गोपाङ्ग वर्णन करके अपनी वाणीकी सार्थकताको प्रमाणित किया। पारस्परिक कथोपकथनके उपरान्त भरतजीको पूर्णरूपसे सान्त्वना देकर और यह कहकर कि—

तात करहु जनि सोचु बिसेषी। सब दुखु मिटिहि राम पग देखी॥

मुनिवरने कहा कि जिस प्रकार भगवान्को प्रेम ही प्रिय है, उसी प्रकार परम भागवत होनेसे तुम भी केवल प्रेमके ही ग्राहक हो; क्योंकि—

सुर साधु चाहत भाउ सिंधु कि तोष जल अंजलि दिए।

हम इस योग्य तो नहीं हैं कि तुम्हारी पहुनाई करें; हमारे पास तो केवल प्रेम ही है। उसीके निहोरे हम प्रार्थना करते हैं कि तुम हमारे प्रेमके अतिथि होओ। हम कन्द-मूल, फल-फूल—जो कुछ दें, उसे कृपा करके अङ्गीकार करो।

महर्षि भरद्वाजजीका यह प्रेम-निमन्त्रण पाकर भरतजी बड़े असमञ्जसमें पड़ गये। उनके प्रभु भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भगवती श्रीसीताजी और अनुज लक्ष्मणजीके सहित वन-वनमें नाना भाँतिके कष्ट सहन करते हुए विचरण कर रहे हैं और उनके वियोगमें स्वयं भरतजी और अयोध्यावासी नर-नारी व्रत करनेका नियम लिये हुए हैं। वे सभी—

पय अहार फल असन एक निसि भोजन एक लोग।
करत राम हित नेम ब्रत परिहरि भूषन भोग॥

फिर भरतजी अकेले नहीं हैं। उनके साथ अयोध्याका सारा राजसमाज है, ब्रह्ममण्डल है, परिजन और पुरजन हैं, पूरा रनिवास है, राज्यकी सेना तथा नाना प्रकारके वाहन आदि हैं। इतनी बड़ी भीड़के सत्कारमें महर्षि भरद्वाजजीको भी बड़ा कष्ट सहना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त यह बात कुछ बड़ी अशोभन-सी लगती है कि इस घोर दुःखके समय भरत-जी सारे समाजके साथ आतिथ्य ग्रहण करें। उनके सेवक-धर्ममें एक विपर्यय-सा उपस्थित होता है। एक ओर तो यह संकोच है और दूसरी ओर गुरुतुल्य महर्षिकी अवज्ञाका प्रश्न है। भरद्वाजजीने बड़े प्रेमसे यह प्रेमका निमन्त्रण दिया है। उनके इस प्रेमका निरादर भी तो नहीं किया जा सकता। भरतजी इस समय बड़ी दुविधामें पड़ गये। वे विचार करने लगे और विचार करते-करते उनको यह स्मरण हो आया कि कुछ इसी प्रकारकी मनःस्थितिमें भगवान् शंकरजीको भी पड़ना पड़ा था; और उन्होंने भी यही निर्णय किया था कि—

सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥

अस्तु, महर्षि भरद्वाजकी वाणी ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसका समादर करना ही सब प्रकारसे उचित है। उसका पालन बिना किसी प्रकारका विचार किये ही करना चाहिये—'गुरोराज्ञा गरीयसी।' यह निश्चय करके भरतजीने भरद्वाजजीके चरणोंकी वन्दना की और हाथ जोड़कर अत्यन्त विनीत भाव-से अक्षरशः वे ही शब्द कहे, जो श्रीशंकरजीने भगवान् श्रीरामचन्द्र-जीसे कहे थे। वास्तवमें भरतजीको इस समय महर्षि भरद्वाजजीके विग्रहमें प्रभुकी मूर्तिके ही दर्शन हो रहे हैं। विनयपत्रिकामें कहा भी है—

प्रभु के बचन बेद बुध सम्मत, मम मूरति महिदेवमई है।

जिस प्रकार श्रीशंकरजीके स्वीकृति-सूचक वचन सुनकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको संतोष हुआ था—

प्रभु तोषेउ सुनि संकर बचना।

उसी प्रकार भरतजीके बचन भी मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजीको मनभावन लगे। वे भी प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने पवित्र सेवकों और शिष्योंको निकट बुलाया। स्मरण रहे कि वही सेवक शुचि और वही शिष्य सत्-शिष्य कहा जा सकता है, जो अपने प्रभुके आज्ञा-पालनमें मनसा-वाचा-कर्मणा सदैव तत्पर रहता है और जिसके लिये सब धर्मोंसे बड़ा धर्म यही है कि स्वामीकी आज्ञाको शिरोधार्य करनेमें किसी प्रकारका आगा-पीछा न करे। महर्षिने उनसे कहा कि भरतजीकी पहुनाई करनी चाहिये; उसके लिये कन्द, मूल और फल जाकर ले आओ। शिष्यों और सेवकोंने 'नाथ! बहुत अच्छा।' कहकर सिर नवाया और बड़ी प्रसन्नतासे जिसको जो काम सौंपा गया, उसको करनेके लिये चले। महर्षि भरद्वाजजी उदासीन भावसे सदैव तपस्यामें निरत वनमें ही रहते थे। उनके पास न किसी प्रकारकी कोई राजोचित सामग्री रहती थी और न उसकी कभी कोई आवश्यकता ही पड़ती थी। वे स्वयं कन्द, मूल और फलको ही अपने व्यवहारमें लाते थे और उनके सेवकों और शिष्योंको भी इन्हीं वस्तुओंको वनसे लानेका अवसर पड़ता था। उनमेंसे कुछ कन्द, कुछ मूल और कुछ फलके लानेकी सेवा करते थे और एक प्रकारसे अपने-अपने कामके विशेषज्ञ हो गये थे। इसी कारणसे उनको इस समय अलग-अलग काम भी सौंपा गया और वे अपने-अपने कामको करनेके लिये बड़ी प्रसन्नतासे चले। एक तो वे सभी शुचि सेवक थे, अपने स्वामीके आज्ञापालनमें, उनकी सेवामें, वे जो कुछ करते थे, सदैव प्रसन्न होकर ही करते थे; दूसरे इसी समय तो उनको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई, परम भागवत श्रीभरतजीके आतिथ्यके लिये सामग्री संचित करना है। अस्तु, उनकी प्रसन्नताका क्या कहना! इन शुचि सेवकोंने भरद्वाजजीसे यह भी नहीं पूछा 'कि आपके अतिथि तो करोड़ोंकी संख्यामें हैं, उनके लिये पर्याप्त मात्रामें कन्द-मूल-फल हम लायें तो कहाँसे लायें।' बात यह है कि ये सब सेवक भरद्वाजजीके शिष्य हैं और उनका अपने गुरुकी कृपामें अटूट विश्वास है। वे जानते हैं कि गुरुकी कृपासे संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

महर्षि भरद्वाजजीने अपने सेवकों और शिष्योंको भेज तो दिया, परंतु वे विचार करने लगे कि 'आज हमारे आमन्त्रित अतिथि हैं महाभाग भरतजी! कन्द-मूल-फलका जो सत्कार हम करने जा रहे हैं, वह तो उनकी महानताके अनुरूप नहीं है। जैसा देवता हो, वैसी ही उसकी पूजा भी होनी चाहिये। हमारा आजका अतिथि तो बहुत बड़ा है, परंतु उसकी पूजाकी सामग्री बहुत ही तुच्छ है।' जान पड़ता है कि भरतजीके आगमनपर जिस प्रकार सब देवता आकाशमें आकर उपस्थित हो गये थे, उसी प्रकार अणिमादिक ऋद्धि-सिद्धियाँ भी महर्षि भरद्वाजजीके आश्रममें एकत्रित हो गयी थीं और इस प्रतीक्षामें थीं कि कदाचित् हमको भी कुछ सेवाका सौभाग्य प्राप्त हो जाय। ऐसा लगता है कि महर्षि भरद्वाजजीको अपने अतिथिके योग्य पहुनाईकी चिन्तामें सोच हुआ तो वे जोरसे बोल उठे कि 'हमारे निमन्त्रणका अतिथि तो बहुत बड़ा है और नियम यह है कि देवताके पूजनके लिये उसके अनुरूप ही पूजन-सामग्री भी होनी चाहिये।' अणिमादिक ऋद्धि-सिद्धियोंने यह बात सुनी तो उनको अपने जीवनके सफल करनेका अवसर मिला। वे तुरंत भरद्वाजजीके पास गयीं और निवेदन किया कि 'हे गोसाईं! हे प्रभु!! जो आज्ञा हो, उसका हम पालन करें।'

ऋद्धि-सिद्धियोंकी यह प्रार्थना सुनकर मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजीका सोच मिट गया। उन्होंने प्रसन्न होकर कहा कि 'अपने छोटे भाई शत्रुघ्नजी और अयोध्याके समाजके सहित भरतजी राम-विरहमें व्याकुल हैं। उनकी पहुनाई, उनका अतिथि-सत्कार करके उनके श्रमको दूर करो।' पूज्य गोस्वामीजी आगे कहते हैं—

रिधि सिधि सिर धरि मुनिबर बानी। बड़भागिनि आपुहि अनुमानी॥
कहहिं परसपर सिधि समुदाई। अतुलित अतिथि राम लघु भाई॥
मुनि पद बंदि करिय सोइ आजू। होइ सुखी सब राज समाजू॥
अस कहि रचेउ रुचिर गृह नाना। जेहि बिलोकि बिलखाहिं बिमाना॥
भोग बिभूति भूरि भरि राखे। देखत जिन्हहि अमर अभिलाषे॥
दासीं दास साजु सब लीन्हें। जोगवत रहहिं मनहि मनु दीन्हें॥
सब समाजु सजि सिधि पल माहीं। जे सुख सुरपुर सपनेहुँ नाहीं॥
प्रथमहिं बास दिए सब केही। सुंदर सुखद जथा रुचि जेही॥

ऋद्धि-सिद्धियोंने महर्षि भरद्वाजजीके वचनोंको शिरोधार्य किया और अपनेको बड़ी भाग्यवती समझा। सब सिद्धियाँ आपसमें एक-दूसरेसे कहती हैं कि 'भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई ऐसे अतिथि हैं, जिनकी तुलना नहीं हो सकती।' यह कहकर वे एक ओर तो अपने परम सौभाग्यकी सराहना करती हैं कि 'हमारे बड़े भाग्य हैं जो आज हमको ऐसे अनुपम अतिथिकी सेवा करनेका अवसर मिला' और दूसरी ओर वे मानो इङ्गित करती हैं कि 'अयोध्याके जिस

राज्यकी सराहना देवराज इन्द्र करते रहते हैं और जिसकी सम्पन्नताके सम्मुख कुबेर भी लज्जित हो जाते हैं, उसका भी त्याग करनेवाले, रामप्रेममें विभोर, परम भागवत भरतजीका आतिथ्य हमको करना है। परंतु हममें यह शक्ति कहाँ कि हम राम-विरहमें व्याकुल भरतजीका श्रम निवारण कर सकें।' वे मानो कहती हैं कि 'भरतजीकी तो बात अलग है; हाँ, राजसमाजको हम कदाचित् सुखी करनेमें समर्थ हो सकें। परंतु वह भी साधारण कार्य नहीं है, उसके लिये भी हमको मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजीके चरणोंकी वन्दना करके विशेष बल प्राप्त करना चाहिये।' बात यह है कि सिद्धियोंकी शक्तिका मूल उद्गमस्थान स्वामिनी श्रीसीताजीके चरण-कमल हैं। अस्तु, जो भक्त माताके चरणोंमें अनुरक्त हैं, उन्हींमें यह सामर्थ्य है कि वे सिद्धियोंको बल दे सकें। इसीसे वे भरद्वाजजीकी चरण-वन्दना करनेका निश्चय करती हैं। इस कारणसे ऋद्धि-सिद्धियाँ कहती हैं कि 'मुनिके चरणोंकी वन्दना करके हमको आज वही करना चाहिये, जिससे राजसमाज सुखी हो।'

यों कहकर ऋद्धि-सिद्धियोंने बहुत-से सुन्दर-सुन्दर घर रचकर बनाये, जिनको देखकर देवताओंके निवास-स्थान—विमान लज्जित होकर मानो रोते हैं। इन सुन्दर घरोंमें भोग और ऐश्वर्यकी ऐसी सामग्री भर कर रखी थी कि जिसको देखकर देवतागण भी ललचाने लगते हैं और उनके भी हृदयमें यह अभिलाषा होने लगती है कि हम भी यदि इस समाजमें होते तो हमको भी इस ऐश्वर्यके भोगका अवसर मिलता। इन घरोंमें ऐसी दास-दासियाँ नियुक्त हैं, जो सब सामग्री लिये हुए, लोगोंके मनसे अपने मनको एकाकार करके उनके मनको ताकती रहती हैं कि जिस समय जिस किसीके मनमें, जिस किसी वस्तुके लिये रुचि उत्पन्न हो, हम बिना माँगे ही वह वस्तु प्रस्तुत कर दें। जो सुख देवलोकमें स्वप्नमें भी नहीं है, उसकी उपलब्धिका सब साज-सामान पलभरमें साजकर सिद्धियोंने सबसे पहले सबको उनकी रुचिके अनुकूल सुन्दर और सुखदायक निवास-स्थान दिये।

पाठकोंको स्मरण होगा कि विवाहके अवसरपर परिक्रमाके समय भी कहा है कि—

मधुपर्क मंगल द्रब्य जो जेहि समय मुनि मन महुँ चहैं।
भरे कनक कोपर कलस सो तब लिएहिं परिचारक रहैं॥

उस समय भी भगवती सीताजीके प्रभावसे सिद्धिरूपी सेवक उपस्थित थे।

बहुरि सपरिजन भरत कहुँ रिषि अस आयसु दीन्ह।
बिधि बिसमय दायकु बिभव मुनिबर तपबल कीन्ह॥

ऋद्धि-सिद्धियोंकी जहाँतक गति थी और उनको जो करना था, उन्होंने किया। नाना प्रकारके सुन्दर-सुन्दर गृहोंका निर्माण किया, उनमें सुरदुर्लभ भोगकी सामग्री प्रचुरमात्रामें भर-भरकर रख दी, सेवाके लिये मनकी गतिको जाननेवाले दास-दासियोंकी नियुक्ति की और सबको अपनी-अपनी रुचिके अनुकूल निवास-स्थान दिया। यह सब सेवा पुरवासियोंकी हुई, जिनके लिये सिद्धियोंने 'राज-समाज' शब्दोंका प्रयोग किया था। स्वयं भरतजी और उनके कुटुम्बीजनने ऋद्धि-सिद्धियोंकी ओर देखातक नहीं। मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजीने तब अपने तपोबलसे ऐसे वैभवकी सृष्टि की, जिसको देखकर स्वयं विधाताको आश्चर्य होने लगा। ब्रह्माजीको अपना रचना-कौशल अत्यन्त तुच्छ जान पड़ने लगा। बात यह है कि भरद्वाजजीने ऋद्धि-सिद्धियोंसे कहनेको तो कह दिया कि 'रामविरहसे व्याकुल भरतजी तथा उनके छोटे भाई और उनके साथके समाजका श्रम निवारण करो।' परंतु वे जानते थे और ऋद्धि-सिद्धियाँ भी समझती थीं कि राज-समाजका श्रम चाहे उनकी सेवासे शमन हो जाय; परंतु भरतजी और उनके परिवारके लोगोंके लिये वे चाहे जो कुछ करें, वह निरर्थक होगा। भरद्वाजजीका तपोबल ऐसा उत्कृष्ट था कि जो वैभव ऋद्धि-सिद्धियोंकी तो बात ही क्या, स्वयं ब्रह्माजी भी प्रस्तुत करनेमें असमर्थ थे, उसको उन्होंने उत्पन्न कर दिया। उन्होंने सोचा कि जब ब्रह्मलोकके ऐश्वर्यमें ही किसी प्रकारका शोक-श्रम नहीं रह सकता तब उससे भी श्रेष्ठतर वैभवके मध्य अपनेको पाकर भरतजी और उनके परिजनोंका श्रम कदाचित् निवारण ही हो जाय। अस्तु, इस प्रकारके, ब्रह्माजीको आश्चर्यमग्न करनेवाले वैभवको प्रकट करके मुनिवर भरद्वाजजीने भरतजीको कुटुम्बसहित उनके लिये निर्धारित निवास-स्थानमें ठहरनेकी आज्ञा दी।

महर्षि भरद्वाजजीने अपने तपोबलसे कैसे वैभवकी सृष्टि की, इसका वर्णन आगेकी चौपाइयोंमें है—

मुनि प्रभाउ जब भरत बिलोका। सब लघु लगे लोकपति लोका॥
सुख समाज नहिं जाइ बखानी। देखत बिरति बिसारहिं ग्यानी॥
आसन सयन सुबसन बिताना। बन बाटिका बिहग मृग नाना॥
सुरभि फूल फल अमिअ समाना। बिमल जलासय बिबिध बिधाना॥
असन पान सुचि अमिअ अमी से। देखि लोग सकुचात जमी से॥
सुर सुरभी सुरतरु सबही कें। लखि अभिलाषु सुरेस सची कें॥

रितु बसंत बह त्रिबिधि बयारी। सब कहँ सुलभ पदारथ चारी॥
स्रक चंदन बनितादिक भोगा। देखि हरष बिसमय बस लोगा॥

पाठकोंको स्मरण होगा कि महर्षि भरद्वाजजीने भरतजीमें अपनी धारणा इन शब्दोंमें बतायी थी—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

यह राम-स्नेह जब भरद्वाजजीकी भावनाके अनुसार शरीरधारी होकर भरतजीके विग्रहके रूपमें उत्पन्न हुआ, तब जिस प्रकार भरतजीको भरद्वाजजीका 'आयसु' इस कारणसे अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ा था कि उन्होंने उसको प्रभुकी ही आज्ञा समझा था, उसी प्रकार महर्षिकी दृष्टिमें भरतजी भी साक्षात् भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके रूपमें दिखायी देने लगे। यों भी भरतजी और श्रीरामचन्द्रजीका स्वरूप एक-सा ही था।

भरत राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥

महर्षि भरद्वाजजीको आज उन भरतजीका सत्कार करना है, जो भगवान्से सर्वथा अभिन्न हैं और जिनके विग्रहमें मुनिवरको अखिलब्रह्माण्डनायक सर्वेश्वर साकेतविहारी भगवान्के दर्शन हो रहे हैं। ऋद्धि-सिद्धियोंने जो सामग्री प्रस्तुत की थी, वह देवलोककी थी; उससे भरतजी या उनके कुटुम्बियोंका किसी प्रकारसे मनोरञ्जन न हुआ; उन्होंने उसकी ओर दृष्टिपाततक न किया। यहाँ एक रहस्यकी बात है। जब साकेतविहारी भगवान् रामका पृथ्वीपर प्राकट्य होता है, तब उनके नित्य पार्षदगण ही उनके कुटुम्बियोंके रूपमें जन्म लेते हैं। वे भगवान्का सामीप्य छोड़ ही नहीं सकते। भरतजी और उनके परिजनोंके प्रति महर्षि भरद्वाजजीकी ऐसी ही भावना हो गयी कि मानो साक्षात् परम प्रभु एवं उनके नित्य सहचर पार्षदगण आ गये हों। अस्तु, मुनिराजने अपनी तपस्याके प्रभावसे मानो एक दूसरे साकेतकी ही रचना कर डाली। उनको इस रचनाके करनेके समय यह भूल-सा गया कि प्रभु नरलीला करनेके लिये अवतीर्ण हुए हैं और माधुर्यभावसे अनुप्राणित होकर मनुष्योंके अनुरूप ही सब व्यवहार कर रहे हैं। प्रभुका माधुर्यभाव भरद्वाजजीको विस्मरण हो गया और उसका स्थान ले लिया ऐश्वर्यभावने। अस्तु, उन्होंने देवलोक, इन्द्रलोक और ब्रह्मलोकसे भी ऊँचे, देवताओं, देवराज इन्द्र और ब्रह्माजीको भी दुर्लभ, साकेतके ऐश्वर्यके समान, प्रचुर मात्रामें सभी दिव्य ऐश्वर्य प्रस्तुत कर दिये।

जब भरतजीने मुनिका यह प्रभाव देखा, तब उन्हें सभी लोकपालोंके लोक तुच्छ लगने लगे। इस प्रसङ्गमें यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भरद्वाजजीकी जैसी धारणा भरतजीके प्रति है, उसके सर्वथा विपरीत, भरतजी अपनेको तुच्छातितुच्छ एक क्षुद्र प्राणीमात्र समझते हैं और अपनेको कलङ्कका अवतार मानते हैं।

सुखकी सामग्रियाँ जो इस समय एकत्रित थीं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। वे ऐसी हृदयग्राही और आकर्षक थीं कि उन्हें देखकर ज्ञानीजन वैराग्यको भूल जाते थे। वैराग्यकी परिपक्व अवस्थामें ही ज्ञानकी उपलब्धि होती है। बिना वैराग्यकी पुष्ट साधनाके ज्ञान हो ही नहीं सकता। ज्ञानीकी सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति वैराग्य ही है। इसी वैराग्यके आश्रयसे ज्ञानी ब्रह्मसुखके अनुपम सुखका अनुभव करते हैं—

ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा।

इस समय भरद्वाजजीके तपोबलसे ऐसे सुख-समाजकी सृष्टि हुई कि उसको देखकर ज्ञानी अपने ब्रह्मानन्दके सुखको तुच्छ मानने लगे, उनका वैराग्य विस्मरण होने लगा। वास्तवमें साकेतके समान परमानन्दकी सामग्रीके सम्मुख ब्रह्मानन्दका सुख और उस सुखका मूलभूत वैराग्य ठहर ही कहाँ सकता है।

दिव्य आसन (शय्या), सुन्दर वस्त्र, परम शोभासम्पन्न चँदोवे, नन्दनकाननके समान वन, जिसमें नाना प्रकारके मृग विहार कर रहे हैं, देवदुर्लभ सुन्दर वाटिका, जिसमें भाँति-भाँतिके पक्षी अपनी सुन्दर तानसे मानो प्रभुका गुणगान कर रहे हैं, जिसके वृक्षोंमें परम सुगन्धमय पुष्प प्रफुल्लित हो रहे हैं और अमृतके समान अनेक प्रकारके स्वादयुक्त मधुर और सरस फल फले हुए हैं तथा निर्मल जलसे परिपूर्ण जलाशय, परम पवित्र और अमृतके भी अमृत, सुधासारसदृश खाने और पीनेके पदार्थ ऐसे विलक्षण थे कि उनको देखकर संयमी भी सकुचाने लगे। अयोध्यावासी नर-नारी सभी संयमके नियममें इस समय बँधे हुए हैं, वे सभी भूषण और भोगका त्याग किये हुए हैं। इन दिव्य पदार्थोंको देखकर उनको इसका संकोच हो रहा है कि ये हमारी वृत्तियोंको आकर्षण करके कहीं हमारे संयममें बाधा न उपस्थित कर दें, कहीं हमारा व्रत भङ्ग न हो जाय! इतना ही नहीं, सभीके निवास-गृहोंमें पृथक्-पृथक् कामधेनु और कल्पवृक्ष हैं, जिनको देखकर देवराज इन्द्र और उनकी धर्मपत्नी देवी शचीको भी इसकी अभिलाषा होती है कि हमको भी कहीं भोग-पदार्थ मिल जाते। वास्तवमें, साकेतके-से वैभव और ऐश्वर्य, कामधेनु और कल्पवृक्षको देखकर इन्द्र और इन्द्राणी ईर्ष्या-सी करने लगे और उनको अपना ऐश्वर्य तुच्छ जान पड़ने लगा। ऋतुराज

वसन्तका समागम है और शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन वह रहा है। सभीको अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सुलभ हो रहे हैं—और सुलभ क्यों न हों? काम और अर्थके देनेवाले कामधेनु और कल्पवृक्ष हैं ही, और भगवत्-प्रेमकी मन्दाकिनी जो इस समय प्रवाहित हो रही है, वह सभी धर्मोंको देनेवाली है। रहा मोक्ष, वह तो महर्षि भरद्वाजजी-ऐसे संतोंके सत्सङ्ग-के प्रभावसे मानो सबके सम्मुख हाथ जोड़े खड़ा है। सुन्दर-काण्डमें कहा गया है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

जब साकेतके समान सभी सुखदायक पदार्थ इस प्रकार उपलब्ध हो गये, तब वहाँके निवासियोंके नित्य व्यवहारकी वस्तुएँ—सुगन्धित मालाएँ और चन्दन—क्यों रह जायँ; वे भी प्रस्तुत हो गये। कोमल, मधुर कण्ठसे भगवान्की गुणावलीका गान करनेवाली और साकेतवासी परम सौभाग्यवान् भगवान्के नित्य सहचरोंके हृदयोंके तार-तारको, भगवत्-प्रेमसे परिपूर्ण अपनी स्वरलहरीसे झंकृत करनेवाली दिव्य महिलाओं अर्थात् अप्सराओंके बिना कुछ अपूर्णता रह जाती—अस्तु, वे भी आ गयीं और इस प्रकार भोगकी सभी सामग्रियाँ प्रस्तुत हो गयीं। इनको देखकर सभी लोग हर्ष और विस्मयसे अभिभूत हो गये। हर्ष तो इस पृथ्वीपर साक्षात् साकेतके अनुरूप सुख-समाजको देखकर हुआ और विस्मय महर्षि भरद्वाजजीके तपका प्रभाव देखकर।

इस प्रसङ्गमें यह शङ्का की जा सकती है कि महर्षि भरद्वाजजी सर्वज्ञ होते हुए भी क्या यह न जान पाये कि जिसकी भगवान् श्रीरामजीके चरणकमलोंमें भक्ति है, वह इन भोगादिकी तो बात ही क्या, मुक्तिका भी निरादर कर देता है—'मुकुति निरादर भगति लोभाने'—फिर अयोध्यावासी इन सब वस्तुओंका उपभोग कैसे कर सकते हैं? वे तो भगवान्के अत्यन्त प्रिय हैं। उनके लिये स्वयं श्रीमुखवाक्य है—

अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥

वास्तवमें बात यह है कि भरद्वाजजीने स्वयं कहा था कि 'तस पूजा चाहिअ जस देवता।' उन्होंने यह सब सामग्री यह समझकर नहीं प्रस्तुत की थी कि भागवतश्रेष्ठ भरतजी उसका उपभोग अवश्य करेंगे। वे तो उसी भावसे अनुप्राणित थे, जिस भावसे एक उच्च कोटिका आराधक अपने आराध्य-की पूजाके लिये अपनी श्रद्धा और भक्तिके प्रतीकस्वरूप सर्वोत्कृष्ट और अच्छी-से-अच्छी वस्तुएँ, जो वह पा सकता है, प्रस्तुत करके स्वयं संतोष प्राप्त करता है और कृतकृत्य हो जाता है।

एक बात और है। इस प्रसङ्गमें वनिताओंकी चर्चा करके यह भी दिखाया गया है कि भोगकी सभी सामग्रीकी उपेक्षा भी भगवद्भक्त कर देते हैं। त्यागका महत्त्व पूर्णरूपसे प्रमाणित हो गया। सहृदय पाठकोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि भक्तिके प्रभावसे ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो दुर्लभ हो और विलासकी ऐसी कौन-सी सामग्री है, जो भक्तको आकर्षित कर सके। पूज्य गोस्वामीजी आगे कहते हैं—

संपति चकई भरतु चक मुनि आयस खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजराँ राखे भा भिनुसार॥

देवलोक और साकेतकी-सी समस्त भोग-सामग्री ऋद्धि-सिद्धियोंने और भरद्वाजजीके तपोबलने प्रस्तुत कर दी। परंतु किसीने उसको ग्रहण नहीं किया। पुरजन तो थोड़ी देरके लिये उसको देखकर इस संकोचमें भी पड़े कि कहीं हम इन प्रलोभनोंमें फँस न जायँ और हमारे नियम-व्रतके पालनमें बाधा न पड़े; परंतु भरतजीने उनकी ओर देखातक नहीं। परिणाम यह हुआ कि सारी भोग-सामग्री ज्यों-की-त्यों रखी रही और भरतजी उन सब उपादानोंसे पृथक् ही रहे। महर्षि भरद्वाजजीकी आज्ञासे भरतजी इस समस्त भोग-सामग्रीके समीप बैठे तो रहे, परंतु उसकी ओर भूलकर भी दृष्टिपाततक नहीं किया। वे मानो सम्पत्तिसे वियोगी ही बने रहे। पूज्य गोस्वामीजीने इस स्थानपर बड़े सुन्दर सम अभेद-रूपकका उदाहरण प्रस्तुत किया है। प्रकृतिका यह नियम है कि रात्रिके समय चकवा और चकईका संयोग नहीं होता—वे परस्पर वियोगी ही बने रहते हैं। यदि कोई खेलवाड़ करनेवाला व्यक्ति चकवा और चकईको पकड़कर रात्रिमें एक ही पिंजरेमें बंद कर दे, तो भी उनके नियममें बाधा न पड़ेगी। वे एक दूसरेसे उदासीन ही बने रहेंगे। यही दशा इस समय भरतजी और इन सब देवदुर्लभ प्रसाधनोंकी हुई। सारी सम्पत्ति मानो चकई है, भरतजी चकवा हैं और महर्षि भरद्वाजजीकी आज्ञा वह खेल करनेवाला व्यक्ति है, जिसने इन चकवा-चकवीको आश्रमरूपी पिंजरेमें रात्रिके समय एक साथ बंद कर दिया है। परंतु भरतरूपी चकवा सम्पत्तिरूपिणी चकईकी ओरसे मुख फेरे हुए उदासीन ही रहा। उसने अनुरक्त होना तो दूर रहा, उसकी ओर मुँह उठाकर देखा तक नहीं। इसी पारस्परिक वियोगकी दशामें सारी

रात्रि व्यतीत हो गयी और प्रातःकाल हो गया । भरतरूपी कोकको तो भानुकुल-भानुके विना सभी कुछ अन्धकारमय दिखायी देता है । बिना उन प्रभाकरके दर्शन हुए वे किसी प्रकारके भोग-विलासरूपी कोकीकी ओर दृष्टिपाततक नहीं कर सकते । मुनिकी आज्ञासे उन्होंने इन विधाताको भी विस्मय-में डालनेवाले पदार्थोंके समीप रहना तो स्वीकार कर लिया, परंतु मुनिवरका सारा प्रयास एक कौतुक-सा होकर रह गया ।

इस प्रसङ्गमें यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भरतजीने भरद्वाजजीद्वारा प्रस्तुत सामग्रीकी उपेक्षा तो की, परंतु उनकी आज्ञाका निरादर नहीं किया । पूर्व प्रसङ्गसे यह स्पष्ट है कि भरद्वाजजीने भरतजीको यही निमन्त्रण दिया था और इसीको भरतजीने स्वीकार भी किया था—

कंद मूल फल फूल हम देहिं लेहु करि छोहु ।

बस, उन्होंने केवल वही ग्रहण किया । और सब सामग्री तो केवल भरतरूपी महान् देवताकी पूजाके लिये अपने हृदय-की उल्लसित भावनाकी परितुष्टिके हेतु भरद्वाजजीने प्रस्तुत की थी और यही उनकी सार्थकता थी । भरतजीके त्याग-की पुष्टिमें मगवासिनी स्त्रियाँ भी आगे चलकर कहती हैं—

चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु ।
जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आजु ॥

एक बात और है । महर्षि भरद्वाजजीके पास भरतजी अकेले ही गये थे और अकेलेमें ही भरतजी और भरद्वाज-जीके बीचका संवाद हुआ । पुरजन, परिजन आदिको न तो भरद्वाजजीके निमन्त्रणका पता था और न उनको यह ज्ञात था कि भरतजीने केवल फल-फूल तथा कन्द-मूलका ही आतिथ्य स्वीकार किया है । अस्तु, इन सब लोगोंने जो त्याग किया, वह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है ।

धन्य हैं श्रीभरतजी और धन्य है अयोध्याका समाज, जिनमें ऐसे अनन्य भगवत्-प्रेमके दर्शन होते हैं ।*

बोलो श्रीअनन्त युगलसरकारकी जय ।

ऋग्वेदीय मन्त्रद्रष्टा

(लेखक—ऋग्वेद-भाष्यकर्ता पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

[गताङ्क पृष्ठ ८६० से आगे]

पुरुकुत्स ऋषिके सहायक इन्द्र थे (१ । ६३ । ७)। अश्विद्वयने इनकी रक्षा की थी (१ । ११२ । ७)। इनके अश्वके रक्षक भी ये ही थे (१ । ११२ । २१)। पुरुकुत्स बंदी हो गये थे । दुर्गहके पुत्र पुरुकुत्सकी स्त्रीकी प्रार्थनापर सप्तर्षियोंने यज्ञ करके त्रसदस्यु नामका पुत्र स्त्रीके लिये प्राप्त किया था (४ । ४२ । ८-९) । पुरुकुत्स गिरिक्षिति-गोत्रीय थे ।

इनके पुत्र त्रसदस्यु थे । इनके रक्षक इन्द्र थे (७ । १९ । ३) । १० । ३३ । ४ में कहा गया है कि ये कुरुश्रवण राजाके पिता थे । सोभरि ऋषिका कहना है कि पुरुकुत्सके पुत्र त्रसदस्युने मुझे ५० मित्र दिये हैं । वे बड़े दानी, आर्य और स्तोत्रपालक हैं । त्रसदस्यु राजा महान् दानी थे (४ । ३८ । १) । त्रसदस्युके पुत्र तृक्षिको अश्विद्वयने प्रचुर धन दिया था (८ । २२ । ७) । त्रसदस्युको इन्द्रने धन प्रदान किया था (वालखिल्य १ । १०) । युद्धके समय अग्निने त्रसदस्युकी रक्षा की थी (१० । १५० । ५)। ४ । ४२ सूक्त और मतान्तरमें ५ । २७ तथा ९ । ११० के ऋषि त्रसदस्यु हैं ।

त्रिवृष्णके अपत्य राजर्षि त्र्यरुणने शकट-युक्त दो बैल, दो अश्व, बीस गौएँ और दस हजार स्वर्ण दान किये थे (५ । २७ । १-२) । कुछके मतसे ५ । २७ और ९ । ११० के ऋषि त्र्यरुण हैं ।

अश्वमेध भरतके अपत्य थे । वे किसी याचकको खाली हाथ नहीं जाने देते थे । ये सौ-सौ बैल एक साथ देते थे (५ । २७ । ४—६) । किसीके मतसे ५ । २७ के ये ही ऋषि हैं । कहते हैं—पुरुकुत्स, त्रसदस्यु, त्र्यरुण और अश्वमेध क्षत्रिय थे ।

भरतके पुत्र देवश्रवा और देववात अरणि-मन्थनसे अग्नि उत्पन्न करते थे (३ । २३ । २-३) । भरतवंशीय विपाशा

* लेखकके अप्रकाशित ग्रन्थ 'भक्तिचिन्तामणि' अथवा 'मानसमें श्रीभरत-चरितामृत' से संकलित ।

(व्यास) और शुतुद्रु (सतलज) के पार चले गये थे (३ । ३३ । १-२) । ये ३ । ३३ के ऋषि हैं । ये क्षत्रिय तो थे; परंतु पता नहीं, सूर्यवंशमें थे, चन्द्रवंशमें थे अथवा किस वंशमे थे । भरत नामके राजा इन सभी वंशोंमें थे ।

कक्षीवान् उशिज्-पुत्र कहे गये हैं (१ । १८ । १) । ये वृद्ध राजा थे (१ । ५१ । १३) । १ । ११७ । ६ में ये आङ्गिरस कहे गये हैं । १ । १२० । ५ में ये वज्रवंशी कहे गये हैं । सिन्धु-निवासी स्वनय राजासे कक्षीवान्ने सौ बैल, सौ घोड़े, १०६० गायें, दस रथ, सौ निष्क दानमें पाये थे (१ । १२६ । २-३) । ४ । २६ । १ में ये दीर्घतमाके पुत्र कहे गये हैं । ये अश्विद्वयके विशिष्ट स्तोता थे (८ । ९ । १०) । अश्विद्वयने इन्हें नवयौवन दिया था (१० । १४३ । १) । ये १ । ११६—१२५ और ९ । ७३ के ऋषि हैं । १० । १३१ के ऋषि इनके पुत्र सुकीर्ति और १० । १६९ के इनके पुत्र शबर हैं । उद्धरणोंसे ज्ञात होता है कि कक्षीवान् नामके कई पुरुप थे ।

गोतम-पुत्र नोधा ऋषिने इन्द्र-पूजा करके महती शक्ति प्राप्त की थी (१ । ६१ । १४) । इन्होंने प्रिय वस्तुका आविष्कार भी किया था (१ । १२४ । ४) । १ । ५८—६४, ९ । ७७ और ९ । ९३ सूक्तोंके द्रष्टा नोधा हैं । इनके पुत्र एकद्यु ऋषि ८ । ६९ के द्रष्टा हैं । ये देव-तृप्तिकारक थे (८ । ६९ । १०) ।

व्यश्वके पुत्र वैयश्व प्रख्यात स्तोता थे (८ । २४ । १४) । इस २४ वें सूक्तके ये ही ऋषि हैं । वैयश्वका ही नाम विश्वमना भी था । ये 'सर्वार्थ-दर्शक' कहे गये हैं (८ । २३ । २) । विश्वमनाके यज्ञमें इन्द्र पधारते थे (८ । २४ । ७) । ८ । २३—२६ सूक्तोंके ये ऋषि हैं ।

रेभ ऋषिको बाँधकर एक राक्षसने कुएँमें फेंक दिया था । अश्विद्वयने उन्हें बचाया था (१ । ११२ । ५) । उस कुएँमें ये नौ दिन, दस रात पड़े थे । रेभके जो अङ्ग टूट गये थे, उन्हें औपधसे अश्विद्वयने ठीक किया था (१ । ११६ । २४; १ । ११३ । ४ और १२) । ये कश्यपगोत्रीय रेभ ऋषि इन्द्रके विशिष्ट भक्त थे (८ । ८६ । १२) । एक बार इन्हें शत्रुओंने मृत-प्राय करके गुफामें रख दिया था । अश्विद्वयने इनको उबारा था (१० । ३९ । ९) । ८ । ८६ के ये ऋषि हैं ।

वन्दन ऋषि भी कूप-जलमें फेंके गये थे (१ । ११२ । ५; १ । ११६ । ११) । अश्विद्वयने इन्हें कूपसे निकाला था (१ । ११७ । ५; १ । ११८ । ६; १ । ११९ । ६ और १० । ३९ । ८) । वन्दनके पुत्र और इन्द्र-भक्त द्युवस्यु ऋषि १० । १०० के द्रष्टा हैं ।

बृहस्पतिके ज्येष्ठ भ्राता उतथ्यके पुत्र दीर्घतमा थे । इनकी माता ममता थी । ये जन्मान्ध थे । प्रद्वेपीसे इनका विवाह हुआ था, जिससे गौतम आदि पुत्र उत्पन्न हुए थे । ऋग्वेदमें इससे मिलती-जुलती कथा है । परंतु उतथ्यको कहीं उकृथ्य लिखा गया है और कहीं उचथ ।

दीर्घतमा तपोमूर्त्ति थे । बृहस्पतिके शापसे ये अंधे हुए थे । अग्निदेव और सोमदेवने शापसे मुक्तकर इन्हें आँखें दी थीं (४ । ४ । १३ और १० । २५ । ११) । उचथ-पुत्र दीर्घतमा १ । १५८ । १ में अश्विद्वयकी प्रार्थना कर रहे हैं । इसी सूक्तके ६ ठे मन्त्रमें कहा गया है कि 'दसवें काल (रात) के बीतनेपर ही ये जीर्ण हुए थे ।' १ । १४०—१६४ सूक्तोंके मन्त्र-द्रष्टा ये ही हैं । विख्यात 'अस्य वामीय' सूक्तके द्रष्टा भी ये ही हैं ।

परावृज लँगड़े थे, साथ ही अंधे भी थे । इन्द्रने इन्हें पैर और आँखें दी थीं (१ । ११३ । ८; २ । १३ । १२; २ । १५ । ७ और १० । २५ । ११) ।

ऋजाश्व भी अंधे थे । अश्विद्वयने इन्हें नेत्र दिये थे (१ । ११२ । ८ और १ । १२० । ६) । १ । १०० सूक्तके द्रष्टाओंमें ये हैं । ये वृषागिर्के पुत्र कहे गये हैं ।

ऋजिश्वा उशिज्के पुत्र थे । इनके पिता थे विदीथ । एक बार क्रुद्ध होकर इन्द्रने इन्हें बंदी बनाया था । (४ । १६ । १३) । पीछे प्रसन्न होकर इन्द्रने इनके लिये पिप्रु असुरको वशीभूत किया था (५ । २९ । ११) । ऋजिश्वा नामके दूसरे ऋषिने इन्द्रकी पूजा की थी (वहीं) । इन्द्रने इन्हें गौ और सुवर्ण दिया था । (वालखिल्य १ । १०) उशिज्-पुत्रने इन्द्रकी स्तुति करके वज्रद्वारा पिप्रुके गृहको विदीर्ण किया था (१० । ९९ । ११) । यही बात १० । १३८ । ३ में भी है । भरद्वाज-पुत्र ऋजिश्वा ६ । ४९ । ५२ और ९ । ९८ और १०८ के कुछ मन्त्रोंके द्रष्टा हैं । इस नामके कई ऋषि थे ।

वसुक्रके पुत्र वसुकर्ण वसिष्ठवंशधर थे (१० । ६५ । १५) । ये समस्त भुवनोंमें विचरण करते थे (१० । ६६ । १५) । १० । ६५ । ६६ के ये वक्ता हैं । एक इन्द्रके पुत्र वसुक्र ऋषि १० । २७—२९ के द्रष्टा हैं ।

वध्यश्वके पुत्र सुमित्र महान् याजक थे। सुमित्रने इन्द्रके लिये एक सौ स्तोत्र पढ़े थे। इनके भाई दुर्मित्रने भी पढ़े थे (१० । ६९ । ८-९ और १० । १०५ । ११)। १० । ६९-७० और १० । १०५ के ये ही ऋषि हैं।

१० । ८१-८२ के ऋषि भुवन-पुत्र विश्वकर्मा हैं। ये सृष्टि-कर्ता बताये गये हैं। इन्होंने स्वयं सारे संसारका हवन करके अग्निमें प्रवेश किया। फिर प्रथम जलको उत्पन्न किया। अनन्तर द्यावापृथिवीको बनाया। ये सबसे महान्, सर्व-श्रेष्ठ और सर्व-द्रष्टा हैं। ये उत्पादक और पालक भी हैं। देवोंके नाम-कर्ता भी ये ही हैं। विश्वकर्माकी नाभिमें ब्रह्माण्ड है। इन दोनों सूक्तोंमें स्वाधीन चिन्ताकी पराकाष्ठा है। दोनों कण्ठस्थ करने योग्य हैं। समस्त मन्त्र देखनेपर स्पष्ट विदित होता है कि ये विश्वकर्मा और कोई नहीं, साक्षात् परमात्मा हैं। ऐसा ही ८२ सूक्तके ७ वें मन्त्रमें कहा भी गया है—'जिन विश्वकर्माने सारे प्राणियोंको उत्पन्न किया है, उन्हें तुमलोग (मानव) नहीं जानते। तुम्हारा अन्तःकरण उन्हें समझनेकी शक्ति नहीं रखता। हिमरूप अज्ञानसे आच्छन्न होकर लोग नाना प्रकारकी कल्पनाएँ करते हैं। लोग अपना पेट पालते और केवल स्तोत्र करके स्वर्ग-प्राप्तिकी चेष्टा करते हैं—ईश्वर-तत्त्वका विचार नहीं करते।' 'विश्वकर्मा भुवन-पुत्र हैं' इसका आशय यह है कि जड-चेतनका रक्षण और सारे प्राणियोंकी परिचर्या परमात्मा वैसे ही करते हैं, जैसे पिताकी सेवा अहैतुकी की जाती है। ऋग्वेदके नासदीयसूक्त, पुरुषसूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त और अस्यवामीयसूक्तके समान ही इन दोनों सूक्तोंका भी महत्त्व है।

विश्वकर्माका अर्थ भी ईश्वर है। पुराणोंमें सूर्य और देवशिल्पी विश्वकर्माको बताया गया है। इनके पिता प्रभासमरुत् और माता योगसिद्धा थीं। सूर्य-पत्नी संज्ञा इनकी कन्या थी। वृत्रासुरके वधके लिये इन्होंने ही दधीचिकी हड्डियोंसे वज्रास्त्र बनाया था। परंतु ऋग्वेदमें ऐसा कुछ नहीं है।

यमराज दक्षिण दिशाके दिक्पाल हैं। ये सूर्य-पुत्र हैं। सूर्यसे प्राप्त एक कुत्ता इनका साथी है। ये जीवोंके पाप-पुण्यके निर्णायक हैं। इनके मन्त्री चित्रगुप्त हैं। इन्हींके अवतार विदुर थे। इनके तेरह पुत्र थे। इनके प्रधान नाम हैं—यम, शमन, कृतान्त, अन्तक, दण्डधर, दण्डपाण, धर्मराज, पितृपति आदि। ये धर्मराजके रूपमें पुण्यका और यमराजके रूपमें पापका विचार करते हैं। ऋग्वेदमें ये वैवस्वत कहे गये हैं।

ऋग्वेदके १० वें मण्डलके १४ वेंसे १८ सूक्तोंमें यमराज, धर्मराज, यमधानी, नरक, स्वर्ग, पितर, कुक्कुर, स्वधा, कव्य, यमदूत, यमपुरीमार्ग, श्मशान, प्रेत, पिशाच, अग्निदाह, चिता आदिका विस्तृत विवरण है, जो यथेष्ट मनोरञ्जक और ज्ञातव्य है। स्थानाभावसे यहाँ विवरण नहीं दिया जा सका।

दशम मण्डलके १४ वें सूक्तके द्रष्टा वैवस्वत यम, १५ वेंके शङ्ख, १६ वेंके दमन, १७ वेंके मथित, १८ के संकुसुक और १९ के देवश्रवा हैं। ये शङ्ख आदि पाँचों ऋषि यमराजके पुत्र हैं। १० । १३५ के ऋषि यमगोत्रज कुमार हैं। १० । १८४ के त्वष्टा, ८-९ के त्वष्टृ-पुत्र त्रिशिरा, १० के यम-यमी, ४२-४३ के घोषा-पुत्र सुहस्त, ५३ के देववृन्द, ७९ के वाजम्भर-पुत्र सप्ति, ८० के सौचीक वैश्वानर, ८८ के मूर्द्धन्वान्, ९० के नारायण, ३७ के सूर्य-पुत्र अभितपा, १५८ के सूर्यपुत्र चक्षु, १८१ के सूर्य-पुत्र धर्म, १७० के सूर्यपुत्र विभ्राट्, ३५-३६ के धनाकपुत्र लुश, १११ के वैरूप अष्टादंष्ट्र, ११४ के वैरूप सध्रि, १२६ के शिलूषपुत्र कुल्मलबर्हिष, १३६ के जूति आदि, ११२ के विरोपगोत्रज नभःप्रभेदन, ११३ के शैवरूप शत-प्रभेदन, ११५ के वृष्टिहव्यपुत्र उपस्तुत, ११६ के स्थूलपुत्र अग्नियुत, ११८ के अमहीयगोत्रीय उरुक्षय, १४६ के इरम्मदपुत्र देवमुनि, १४७ के गिरीषपुत्र सुवेदा, १६६ के वैराजऋषभ, ११९ के उशीनरपुत्र शिवि, १८५ के वरुणपुत्र सत्यधृति, १६८ के वातगोत्रीय अनिल और १८६ के वातगोत्रीय उलऋषि हैं। १० । ८४ सूक्तके वाकपुत्र प्रजापति, १२९ के परमेष्ठी प्रजापति, १८३ के प्रजापति-पुत्र प्रजावान्, १३१ के हिरण्यगर्भ, १६१ के यक्ष्मनाशन, १३० के यज्ञ और १७७ के पतङ्ग ऋषि हैं। हिरण्यगर्भ आदि चारों प्रजापतिके पुत्र हैं। १० । ९३ सूक्तके पृथु-पुत्र ताम्र, ८१-८२ के सुकक्ष अथवा श्रुतकक्ष, ८३ के पूतदक्ष वा बिन्दु, १३८ के उरुपुत्र अङ्ग, १३९ के विश्वावसु गन्धर्व, १४० के अर, १२४, १४१ और ५१-५२ के अग्नि आदि, १५६ के अग्निपुत्र केतु, १८८ के अग्निपुत्र श्येन, ४८-५० के इन्द्र, ३८ के मुष्कवान इन्द्र, ११९ के लवरूपी इन्द्र, १८० के इन्द्रपुत्र जय, १०२ के भर्माश्वपुत्र मुद्गल, ७६ के इरावान्‌के पुत्र अरत्कर्ण, १६५ के निर्ऋति-पुत्र

कपोत, ७१-७२ के लोकनानापुत्र बृहस्पति, १८२ के बृहस्पति-पुत्र तपुर्मूर्द्धा, १९१ के संवनन, १६२ के ब्रह्मपुत्र रक्षोहा, १०८ के पणिगण और सरमा, १४२ के जरिता आदि पक्षी, १४४ के तार्क्ष्य-पुत्र सुपर्ण, १७८के तार्क्ष्यपुत्र अरिष्टनेमि, ९० के अर्बुद और १७५ सूक्तके अर्बुद-पुत्र ऊर्ध्वग्रीवा ऋषि हैं ।

जरिता आदि पक्षी गरुड़वंशीय हैं । गरुड़ दिव्यप्राणी और भगवत्संनिधानमें रहनेवाले हैं । इन पक्षियोंको साधारण पक्षी नहीं, दैवी समझना चाहिये । १०८ सूक्तके ऋषि आङ्गिरस दिव्य हैं; परंतु इसमें पणियों और सरमाकी उक्तियाँ हैं, इसलिये ये ही ऋषि कह दिये गये हैं । इसी प्रकार जिन सूक्तोंमें इन्द्र, अग्नि आदिके कथन हैं, उनके ऋषि ये ही कहे गये हैं । वस्तुतः केवल मन्त्रद्रष्टा ही ऋषि कहलाते हैं ।

१ । १६५ सूक्तके ऋषि इन्द्र, मरुत् और अगस्त्य—तीनों हैं; क्योंकि सूक्तमें तीनोंमें बातचीत हुई है । ९ । ९७ (४ से ६ मन्त्रों) के ऋषि इन्द्र-पुत्र प्रभृति हैं । इन्द्र और इन्द्र-पुत्र वृषाकपि १० । ८६ के कुछ मन्त्रोंके ऋषि हैं । ४ । १८ के ऋषि इन्द्र, अदिति और वामदेव हैं; क्योंकि इसमें तीनोंकी उक्तियाँ हैं । ९ । ५०–५२ के उतथ्य, ३ । ५४–५६ के विश्वामित्रपुत्र प्रजापति, ८ । ६० के सुदिति, ६ । ३५-३६ के नर, ६ । ३३-३४ के शुनहोत्र और ६ । ३१-३२ के सुहोत्र हैं । सुहोत्रके पुत्र अजमील्ह और पुरुमील्ह यशस्वी और ज्ञानी थे । इन्होंने श्यावाश्व ऋषिको सौ गायें और 'मूल्यवान्' धन प्रदान किया था (५ । ६१ । ९-१०) । ४ । ४३-४४ के ऋषि ये ही हैं । ८ । ९१ के बृहस्पतिपुत्र अग्नि, ९ । १०६ (१–३ और १०–१४ मन्त्रों) के चक्षुःपुत्र अग्नि और ९ । १०९ के ईश्वरपुत्र अग्नि ऋषि हैं । कदाचित् अग्नि नामके कई ऋषि थे । ९ । ८६ (११–२० मन्त्रों) के सिकता और निवावरी, २१–३० मन्त्रोंके अज और पृश्नि, ४१–४५ के अत्रि, ४६–४८ के गृत्समद और शेषके आकृष्ट और माष ऋषि हैं । ८ । ९ के कण्वगोत्रीय शशकर्ण तथा ९ । ६६ के शतवैखानस ऋषि हैं ।

भालन्दन वत्सप्रि ९ । ६८ और १० । ४५–४६ सूक्तोंके ऋषि हैं । ऐतिहासिकोंके मतसे ये वैश्य थे ।

चन्द्रवंशी राजा प्रतीपके पुत्र और भीष्मके पिता शंतनु थे । इन्हें स्पर्श करनेपर वृद्ध भी यौवन प्राप्तकर शान्त हो जाते थे; इसलिये इनका नाम शंतनु पड़ा । इनकी प्रथम पत्नी गङ्गादेवीसे भीष्म (देवव्रत) और द्वितीय पत्नी मत्स्यगन्धासे चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य हुए थे । इनके भाई थे देवापि, जो तपोबलसे विश्वामित्र और सिन्धुद्वीपके समान ब्राह्मणत्व प्राप्त कर चुके थे ।

ऋग्वेदमें देवापिके पिता ऋषि ऋष्टिषेण कहे गये हैं । देवापि १० । ९८ के द्रष्टा हैं । इस ९८ सूक्तके ७ वें मन्त्रमें देवापिको शंतनुका पुरोहित बताया गया है । शंतनुके यज्ञमें देवापिने पौरोहित्य किया था । इस सूक्तमें इन दोनोंके सम्बन्धमें अनेक ज्ञातव्य विषय हैं । सायणाचार्यने शांतनुको कौरव बताया है । पूरा सूक्त द्रष्टव्य है ।

१ । १०० सूक्तके ऋषि अम्बरीष और सहदेव, ९ । ९८ के वृषागिर् राजाके पुत्र अम्बरीष, ९ । १०१ (४–६ मन्त्रों) के नहुषपुत्र ययाति, ९ । १०८ के उरु, कृतयशा और ऋणंजय, १ । १२७–१३९ के दिवोदासपुत्र परुच्छेद, ९ । ९६ के दिवोदासपुत्र प्रतर्दन, ९ । १११ के परुक्षेप-पुत्र अनानत, १० । १३३ के पिजवनपुत्र सुदास, १० । १३४ के यौवनाश्व मान्धाता, १० । १७९ के द्वितीयमन्त्रके काशीनरेश प्रतर्दन और तृतीयके रोहिदश्वपुत्र वसुमना, १० । ३०–३४ के ऐलूषपुत्र कवष और १० । ९१ के वीतहव्य-पुत्र अरुण ऋषि हैं । ऐतिहासिकोंके मतसे अम्बरीषसे अरुणतक सब क्षत्रिय ऋषि हैं ।

क्षत्रिय और वैश्य ही नहीं, अनेक देवियाँ भी ऋषिकाएँ हो गयी हैं । १० । ९५ सूक्तमें राजा पुरूरवा और उर्वशीका कथोपकथन है । ९ मन्त्रोंमें उर्वशीकी उक्तियाँ हैं; इसलिये वह इन मन्त्रोंकी ऋषिका मानी गयी है । १० । १३४ के ७ वें मन्त्रकी ऋषिका गोधा है । ६ । १० के द्वितीयमन्त्रकी ममता हैं । ८ । १ के ३४ वें मन्त्रकी ऋषिका अङ्गिराकी पुत्री और असङ्गकी स्त्री शश्वती हैं । १ । १२६ के ७ वें मन्त्रकी लोमशा, १० । १५४ की विवस्वान्‌की पुत्री यमी, १० । १२५ की आम्भृण-पुत्री वाक्, १० । १०९ की जुहू, ५ । २८ की विश्ववारा, १० । १८९ की सार्पराज्ञी, ८ । ८० की अत्रिपुत्री अपाला, १ । १७९ के १-२ मन्त्रोंकी लोपामुद्रा, १० । ८५ की सूर्या, १० । १५३ की इन्द्रमाता, १० । १४५ और १० । ८६ के कुछ मन्त्रोंकी इन्द्राणी, १० । १५९ की पुलोमपुत्री शची तथा १० । १५१ की कामगोत्रीय श्रद्धा ऋषिका हैं । १० । ३९-४० सूक्तोंकी ब्रह्मवादिनी ऋषिका घोषा हैं । ये

कक्षीवान् ऋषिकी पुत्री थीं। इन्हें कुष्ठरोग हो गया था। ये बुढ़ापेतक पितृ-गृहमें अविवाहिता रहीं। इनका कोढ़ अश्विद्वयने दूर किया था (१ । ११७ । ७)। अश्विद्वय प्रख्यात चिकित्सक थे ही। उन्होंने इनको तारुण्य प्रदानकर इनका विवाह करा दिया था (१० । ३९ । ३)। इन्हींके पुत्र सुहस्त ऋषि थे।

यह मन्त्र-द्रष्टाओंका बाह्य विहगावलोकन है; सो भी अत्यन्त संक्षिप्त। आन्तर विहगावलोकन कठिन, जटिल और विकट है, जो किसी दूसरे लेखका विषय है। वस्तुतः ऋग्वेदीय मन्त्रोंके कहीं आध्यात्मिक, कहीं आधिदैविक और कहीं आधिभौतिक अर्थ हैं। कहीं समाधि-भाषा, कहीं परकीय भाषा और कहीं लौकिक भाषाका प्रयोग है। सायणने तीनों-का अर्थ और रहस्य बतानेका प्रयास किया है। मन्त्रोंमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, लाटानुप्रास, दृष्टान्त, उदाहरण, पुनरुक्तवदाभास आदि अलंकार भी हैं। इन सब अर्थों, भाषाओं और अलंकारोंको ध्यानमें रखकर वेदार्थ करनेकी चेष्टा करनेपर ही ऋषियों और उनकी उक्तियोंका रहस्य समझमें आ सकेगा।

वैदिक ऋषियोंकी दृष्टि व्यापक और विशाल थी। उन-की माता पृथिवी थी और पिता स्वर्ग था (१ । ८९ । ४)। वे प्रत्येक अवसरपर सारे ब्रह्माण्डका स्मरण करते थे। उनके वचन उदार थे, उनके मन विराट् थे, उनके कर्म पिण्ड-ब्रह्माण्डव्यापी थे। वे अपनेमें विश्वको देखते थे और विश्वमें अपनेको देखते थे। वे मानव ही नहीं, अतिमानव, महामानव और मानवेन्द्र थे। ऐसे दिव्य पुरुषोंका सर्वत्र देवता और चेतन-लीला देखना स्वाभाविक था।

ऐतिहास वेद विशेषतः अध्यात्म-विद्याका अनन्त आगार है। वह विश्वके शाश्वत नियमोंका प्रतिपादन करता है। उसके एक-एक मन्त्रमें निगूढ़ रहस्य भरा पड़ा है। उसे समझनेके लिये महान् धैर्य और सतत स्वाध्यायकी आवश्यकता है। यह मानवधर्म और संस्कृत साहित्यका जनक है। आश्चर्य है कि इधर अध्येताओंका ध्यान अत्यल्प है

महासती सावित्री

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

[गताङ्क पृष्ठ ८८० से आगे]

सावित्रीका रथ जब उस तपोवनके पास जाकर पहुँचा, तब उस आश्रमकी एक बगलमें विस्तृत प्राङ्गणपर एक अद्भुत खेल चल रहा था। हरी-हरी दूबपर बैठा हुआ एक बालक बड़े अद्भुत खेलमें व्यस्त था। बालक बिल्कुल ही बालक नहीं था। उसकी उम्र किशोरावस्थाको पार करके यौवनावस्था-में पहुँच गयी थी। यौवनकी छटामें उसका स्वाभाविक अङ्ग-प्रत्यङ्ग बहुत कुछ उज्ज्वल हो उठा था। उसके नेत्र और मुखसे एक अपूर्व तेजस्विताका भाव प्रकट हो रहा था; तो भी बालकको बालक कहना ही उचित जान पड़ता था; क्योंकि समस्त यौवनके लक्षणोंके बीच उसका भाव नितान्त बच्चों-जैसा था। बालकके यौवनावस्थामें पदार्पण करनेपर भी उसके सारे शरीरसे एक आश्चर्यमयी कोमलता और सरलता मानो फूटकर निकल रही थी। देखते ही ज्ञात होता था कि यह कोई ऋषि-पुत्र है। बालकके मस्तकपर जटाजूट, वल्कल-वस्त्र और समस्त शरीरमें ऋषियों-जैसी पवित्र ज्योति थी। उस समय वह एक छोटे-से अश्वशावकके गले लगकर अनेक प्रकारके आमोद-प्रमोद कर रहा था। कभी उसे घास खिलाता, कभी आदरसे उसकी पीठपर हाथ फेरता और कभी उसके साथ थोड़ा-थोड़ा दौड़ता था। देखकर मालूम होता था कि मानो वह छोटा-सा पशु भी इसमें अधिक आनन्द मान रहा है; क्योंकि वह अपने स्वामीको प्रसन्न करनेके लिये बारंबार उछल-कूदकर अनेक प्रकारके अद्भुत-अद्भुत नृत्य दिखा रहा था। इसी दशामें ऋषि-पुत्रने एकाएक वनके पास एक अपूर्व रथ आता हुआ देखा।

थोड़ी ही देरमें रथ आश्रममें आ पहुँचा। रथसे अमूल्य-अमूल्य वस्त्राभूषण लेकर नर-नारी उतर रहे हैं। यह दृश्य देख बालक क्रीड़ा करता हुआ दौड़कर उनका परिचय पानेके लिये गया। उस समय उस आश्रममें एक बृहत् शालवृक्षके नीचे बैठे हुए और भी दो स्त्री-पुरुष ध्यानमें मग्न थे। यही बालकके माता-पिता हैं। इनमें पिता अंधे हैं और दोनों ही बुढ़ापेसे बड़े दुःखित हैं। इसलिये आश्रमकी देख-भाल, माता-पिताकी सेवा-शुश्रूषा और अतिथि-सत्कार—ये सब काम सदा बालकको ही करने पड़ते हैं। इसीसे आज वह पहले ही उनकी अभ्यर्थना करनेको गया। बालकका अश्व-शावक भी पीछे-पीछे

दौड़ता गया, मानो वह भी स्वामीकी सहायता करने जा रहा हो।

वहाँ पहुँचकर बालक आगन्तुकोंका अपूर्व रथ और उनके उज्ज्वल वस्त्राभूषण देखकर अवाक् हो गया। सावित्रीकी अपूर्व देवीमूर्ति, उसकी सखियोंकी अद्भुत रत्नाभरण-भूषित दिव्य देह और मन्त्रियोंकी वेश-भूषा-मण्डित गम्भीर आकृति देखकर बालक सोचने लगा कि इनमें खास अतिथि कौन है। यह जाननेके लिये वह आगे बढ़ा। किंतु इसके पहले ही उसे देखकर मन्त्रियोंमेंसे एकने कहा—'ऋषिपुत्र! हम कई देशों-का भ्रमण करके आ रहे हैं, उद्देश्य और भी देश-भ्रमण करनेका है। आज रातभर इस स्थानमें विश्राम करना चाहते हैं। बोलो—कर सकते हैं? यह किसका आश्रम है?'

बालकने कहा—'महाशय! आपलोग आज राजर्षि द्युमत्सेनके आश्रममें उपस्थित हुए हैं। मेरे पिता द्युमत्सेन इस आश्रमके अधिपति हैं। किसी समय वे शालदेशके राजा थे; पर समयका फेर है कि आज वे अठारह वर्षसे अंधे और राज्यसे च्युत होकर यहीं निवास करते हैं। अब वे तपस्वी हैं। आइये, आपलोगोंको उनके पास लिये चलता हूँ।'

बालककी बात सुनकर सभी बड़े आश्चर्यमें हुए और अकस्मात् उस निर्जन वनमें शालदेशी राजाके अपूर्व शौर्य-सम्पन्न एकमात्र पुत्रको ऋषि-पुत्रके वेशमें देखकर उनके अचरजकी सीमा न रही। सावित्रीने विचारा कि ऐसा देव-तुल्य पुरुष मैंने इसके पहले कभी भी नहीं देखा था। राज-पुत्रका वह ऋषिवेश और ब्रह्मचर्यानुराग उसके नेत्रोंको बड़ा पवित्र और दुर्लभ प्रतीत हुआ। बादलोंके बीच जैसे बिजली बड़ी सुन्दर दिखायी देती है, नीलाकाशमें जैसे तारागण अति सुन्दर खिले रहते हैं, वैसे ही सावित्रीने दरिद्रवेशमें भी राजतनयको अत्यन्त उज्ज्वल देखा।

राजमन्त्रीने बालकको पुकारकर कहा—'कुमार ·······

किंतु बीचमें ही बालक बात काटकर बोल उठा—'महाशय! मुझे सत्यवान् या चित्राश्व* कहकर पुकारिये। मैं अब कुमार नहीं, केवल ऋषि-पुत्र हूँ।'

सत्यवान्के इस विनीत प्रतिवादसे सावित्री और उनके अनुचर बहुत प्रसन्न हुए। राजपुत्रका यह निरहंकार-भाव सावित्रीको बड़ा ही मनोरम और पवित्र लगा। गर्वित और अहंकारी राजपुत्रोंके वृथा आडम्बरके साथ सावित्री सत्यवान्के इस अपूर्व सीधे-सादे भावकी तुलना करके मन-ही-मन उसकी पूजा करने लगी।

राजमन्त्रीने तब उसे 'सत्यवान्'ही कहकर सम्बोधन किया और कहा—'सत्यवान्! आज हम एकाएक इस रमणीय स्थानमें राजर्षि द्युमत्सेन और उनके इकलौते पुत्र सत्यवान्-को प्रत्यक्ष पाकर बड़े ही आनन्दित हुए हैं। हमें भी आप राज-अतिथि ही जानें। मैं मद्रदेशके अधिपति महाराज अश्वपति-का प्रधान मन्त्री हूँ और यह उनकी इकलौती कन्या सावित्री है। चलो, आज हम आपके परम धर्मनिष्ठ माता-पिताके चरणारविन्दोंके दर्शन करके धन्य हो गये।'

अश्वपतिकी कन्या सावित्रीको सम्मुख उपस्थित देखकर सत्यवान् भी कुछ विस्मित हुआ। सावित्री उस समय पुलकित नेत्रोंसे उसकी ओर देख रही थी। फिर सावित्रीका परिचय पाकर सत्यवान् भी उसकी तरफ टकटकी लगाकर देखने लगा। इस समय सावित्रीने उसे अपनी ओर देखता हुआ देखकर दृष्टि नीची कर ली। तब सत्यवान् भी दूसरी ओर देखने लगा।

अन्धमुनि और उनकी पत्नीने जब सुना कि अश्वपतिकी कन्या सावित्री उनके यहाँ अतिथि होकर आयी हैं, तब वे बड़े प्रसन्न हुए। थोड़ी देरके पश्चात् सावित्रीने स्वयं आकर प्रणाम किया। उस समय उनके आनन्दकी और भी सीमा न रही। वे सावित्रीको दोनों हाथ उठाकर आशीर्वाद देने लगे।

नाना प्रकारके कुशल-प्रश्न और कथोपकथनके बाद उन्होंने सत्यवान्को पुकारकर कहा—'बेटा! इनका सत्कार भलीभाँति करना, किसी प्रकारका कष्ट इन्हें न होने पाये।' आज्ञानुसार सत्यवान् प्राण-पणसे ऐसी ही चेष्टा करने लगा।

उस वनके दूसरी ओर द्युमत्सेनके सिवा और भी कई तेजस्वी ऋषि-मुनि निवास करते थे। सावित्रीके आनेकी बात सुनकर वे सब भी उसे देखने आये। ऋषि-बालिकाएँ और ऋषि-पत्नियाँ भी आकर सावित्रीके आस-पास खड़ी हो गयीं। सावित्री उनके बीच चन्दन-मण्डित पुष्पके समान शोभा पाने लगी। उन बालिकाओंके शान्त और उदार भावसे सावित्री बहुत विस्मित हुई। बालिकाओंने बहुत दिनोंकी

---

* सत्यवान्को बालपनेमें घोड़ीके बच्चेसे बड़ा प्रेम था। जहाँ मौका पाता, वहीं जमीनपर वह अश्वचित्र बनाया करता था। पिछले पृष्ठमें उसके इसी प्रेमका परिचय दिया गया है। इसीलिये उसका दूसरा नाम 'चित्राश्व' पड़ा था।

जान-पहचानके समान सावित्रीका हाथ पकड़ लिया और सब ठौर ले जाकर आश्रमके सब दृश्य दिखाये।

ऋषि-पत्नियाँ भी उसे आशीर्वाद देती हुई बहुत बातें पूछने लगीं। थोड़े समयमें ही उनके साथ सावित्रीका विशेष परिचय हो गया। उन्होंने भी उसे तपोवनके कई स्थानोंमें ले जाकर अनेक प्रकारके दृश्य दिखाये।

सावित्रीने इसके पहले और भी बहुत-से तपोवन देखे थे, परंतु ऐसा सुन्दर तपोवन मानो उसने कहीं देखा ही न था। यहाँ सावित्रीने देखा कि इस तपोवनमें दुःख नहीं है—कष्ट नहीं है—विषाद नहीं है और अमङ्गलकी छायातक नहीं है। केवल आनन्द-ही-आनन्द है और चारों ओर एक विराट् शान्तिमय भाव छाया हुआ है। कहीं मयूर-मयूरी नाच रहे हैं; कहीं माधवी लता सुगन्धित मञ्जरी-युक्त आम्रसे लिपट रही है; कहीं शुक-शारिका वृक्षोंकी शाखाओंपर बैठे हुए मधुर गान कर रहे हैं; कहीं मृगके बच्चे निर्भय होकर मुनि-बालिकाओंका अङ्ग-स्पर्श कर रहे हैं; कहीं समूह-के-समूह वन्यपुष्प खिलकर श्यामल पत्तोंकी आड़से झाँक रहे हैं। ऐसा ज्ञात होता था, मानो वे भी मुनि-कन्याओंकी भाँति अपना-अपना रूप और छटा दिखानेमें संकुचित हो रहे हैं! कहीं ऋषि-बालक एकत्र होकर नाना प्रकारके खेल कर रहे हैं; कहीं तपस्वीगण यज्ञके धुएँसे चारों दिशाओंको पवित्र करते हुए उच्च स्वरसे मन्त्रध्वनि कर रहे हैं; कहीं छोटा-सा निर्मल-जलस्रोत पर्वतसे गिरकर मधुर शब्द करता हुआ नदीके सम्मुख बहता जा रहा है; कहींपर अद्भुत-अद्भुत जलाशय हैं; उनमें राजहंस कमल-नालोंपर घूमते-फिरते हैं। उनके पाँवोंसे कुचले हुए सरोवरके कमल कभी-कभी भौंरोंके आलिङ्गनसे खड़े हो जाते हैं और खड़े होकर लज्जावती कामिनीके समान हँसते-हँसते जलमें छिप जाते हैं।

सावित्री यह दृश्य देखकर मोहित हो गयी; मनमें विचारने लगी कि जिनका ऐसा स्थान, ऐसा भाव और ऐसा पवित्र जीवन-यापन है, उनके समान सुखी जगत्‌में कौन हो सकता है। सावित्री कितनी ही बातें सोचने लगी। सोचते-सोचते संध्याकी लालीके साथ-ही-साथ आश्रमको लौट आयी।

आश्रममें आकर सावित्रीने एक और भी पवित्र दृश्य देखा। संध्याके पश्चात् खुले मैदानमें बैठकर मुनि-बालक एक साथ साम्य-स्तोत्रका पाठ कर रहे हैं। उस दृश्यकी तुलना नहीं हो सकती! सावित्री तो यह देखकर मानो जगत्‌को भूल गयी। यह स्तोत्र कितना मधुर है; वह ध्वनि कितनी प्राण-स्पर्शिनी है! मुनि-बालकोंका वह अद्भुत तेजस्वी शरीर देखकर, उनकी सुमधुर तान सुनकर सावित्री एक प्रकारकी भावामें लीन हो गयी। सत्यवान्‌की मीठी ध्वनि सुनकर उसके मनमें हुआ कि क्या मैं स्वप्न देख रही हूँ। सावित्रीने उस प्रकारका स्वर, वैसा स्वर्गीय चित्र मानो कभी भी नहीं देखा था। वह टकटकी लगाकर उनके प्रसन्न और पवित्र मुखकी ओर देखती रही। मानो एक पवित्रतामय भावने आकर उसके हृदयको मोहित कर दिया हो।

साम्य-स्तोत्र समाप्त होनेपर सबने फल-मूल खाये। उनमेंसे सावित्रीने भी हिस्सा पाया। आहार कर लेनेके पश्चात् सावित्री पुनः वृद्ध दम्पतिके पास बहुत-सी धर्म-विषयकी बातें सुननेको जा बैठी। अनेक प्रकारके उत्तमोत्तम उपदेश, उत्तम-से-उत्तम उपाख्यान सुनते-सुनते सावित्रीका मुख उज्ज्वल हो उठा और वह रात अधिक बीत जानेपर उस छोटी-सी कुटियाकी तृण-शय्यापर परम आनन्दसे सो गयी। वह रात मानो उसे सुख-स्वप्नके समान व्यतीत हुई। सावित्रीके साथी भी वृक्षोंके नीचे सो गये।

प्रातःकाल उठकर सावित्रीने सबको प्रणाम किया और विदा माँगी। अहा! मुनि-बालकोंकी क्या ही सच्ची मित्रता है! वे उस समय सजल नेत्रोंसे सावित्रीकी ओर देखते रहे। मुनि और उनकी पत्नियोंने भी आकर अनेक शुभाशीर्वाद देते हुए सावित्रीको विदा किया। सत्यवान् उसके रथको चलानेके लिये सारथि बनकर गया।

चलते समय सत्यवान्‌के माता-पिताने सावित्रीसे पूछा—'बेटी! अब किस देशको जाओगी?'

सावित्रीने यह बात सुनकर अपना प्रफुल्ल मुख-मण्डल संकुचित कर लिया और फिर लज्जित होकर बोली—'माँ! अब कहीं भी जानेकी इच्छा नहीं है; अब तो देशको ही लौटूँगी।' वृद्धदम्पतिने यह उत्तर सुनकर कुछ आश्चर्य माना।

वृद्धमन्त्रीने भी प्रस्थानके समय सावित्रीसे यही प्रश्न किया; क्योंकि वृद्धदम्पतिके साथ जो सावित्रीकी बातचीत हुई थी, उसे वह नहीं जान सका था। इसीसे उसने पूछा—'बेटी! अब किस ओर चलना होगा।'

सत्यवान् उस समय रथ तैयार करके आश्रमकी ओर लौट रहा था। उसके वल्कल-वस्त्रसे घिरे हुए उन्नत शरीरकी ओर देखकर कुछ अनमने भावसे सावित्रीने उत्तर दिया—'मन्त्रिवर! अब कहीं भी जानेकी आवश्यकता नहीं है। अब तो देशको ही चलना चाहिये।'

वृद्धदम्पतिके समान मन्त्री भी इस उत्तरसे कुछ आश्चर्यान्वित हुआ। पर उसने तत्काल ही सारथिको वही आज्ञा दी। एक बार सावित्रीके मुखकी ओर और एक बार सत्यवान्‌के अपूर्व उन्नत शरीरकी ओर देखकर उसका मुख एकाएक प्रफुल्ल हो उठा। इसके पश्चात् उनका रथ तीव्रगतिसे चल निकला।

नारद मुनिको हरेकका काम बिगाड़नेमें ही अधिक आनन्द आता है। इसीसे ब्रह्माजीने उनको बुलाकर कहा—'नारद! सावित्री पतिको चुनकर अपने देशको लौट रही है। अब तुम्हें कुछ परिश्रम करना होगा; क्योंकि इसमें विशेष कार्य है। तुम अभी मनुष्यलोकमें जाकर जिस तरह हो सके, उसे बताओ कि सत्यवान्‌की उम्र बहुत थोड़ी है। आजसे ठीक एक वर्षके बाद उसकी मृत्यु हो जायगी, यह विधाताका अटल विधान है।'

मुनिजी तो यह बात चाहते ही थे। मनकी बात पाकर बड़े प्रसन्न हुए और उसी समय बगलमें एक पोथी और हाथमें मस्त वीणा लेकर राग अलापते हुए बाहर निकले और देखते-ही-देखते स्वर्गसे मृत्युलोकमें आ गये।

इधर सावित्री नगरको लौट रही है, प्रायः राजमहलके निकट आ पहुँची है। ठीक इसी समय ऋषिवर नारद अश्वपतिकी सभामें उपस्थित हुए। नारदजीको देखकर राजाको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने आग्रहपूर्वक उनके पाँव पखारे और अनेक प्रकारकी मृदुल बातें करते-करते मुनिवरको अपने आसनपर बिठाया। कुशल-प्रश्नके पश्चात् मुनिराजने इधर-उधरकी बहुत-सी वार्ताएँ उन्हें सुनायीं।

उसी समय सभामें संवाद पहुँचा कि सावित्री लौट आयी है। साथ ही दास-दासी, सारथि, मन्त्री आदि भी लौट आये हैं। सभी सभाके द्वारपर महाराजके दर्शनोंके लिये खड़े हैं। यह बात सुनकर अश्वपति बड़े व्याकुल हुए। सोचने लगे कि हाय, सावित्री न जाने क्या कर आयी है। कन्याका सोलहवाँ वर्ष समाप्त होनेको है और सत्रहवाँ लगनेमें कुछ दिन शेष हैं। अब भी यदि सावित्री विफल-मनोरथ होकर आयी होगी तो न जाने क्या अनर्थ होगा। अश्वपति इसी बातकी चिन्तासे भयभीत हो गये; किंतु उन्होंने उसी समय कन्याको सभामें आनेकी आज्ञा दी।

सावित्री सभामें आयी। उसकी उज्ज्वल एवं स्निग्ध आभासे सारी सभा मानो आलोकित हो उठी। वनमें भ्रमण करने और ऋषि-मुनियोंके समीप रहनेसे सावित्रीके स्वाभाविक सौन्दर्यपर एक पवित्रताकी ज्योति आ गयी थी। उसी ज्योतिमें उसका देवीभाव मानो और भी उज्ज्वल दीखने लग गया था। सभी उसकी ओर टकटकी लगाकर देखते रहे। मुनिवर भी राजा अश्वपतिके गृहमें ऐसी देवी-तुल्य कन्याको देखकर बहुत देरतक अचेत-से हो गये। उनके हाथसे वीणा गिर गयी। तो भी उनकी हृदयतन्त्री उसी समय एक भक्ति-भावके सुरमें बज उठी थी।

सावित्रीने आकर पहले नारद मुनिको सादर प्रणाम किया। उसके बाद सिलसिलेसे पिता और गुरुजनोंको प्रणाम करके कुछ लज्जासे नीचा मस्तक कर खड़ी रही। नारद उसकी ओर देखकर मन-ही-मन असंख्य आशीर्वाद देने लगे। उनको मनुष्यलोकमें आना सफल लगा।

मुनिजी लड़ानेवाले होकर भी मनसे बड़े अच्छे हैं। किसीकी बुराई वे कभी नहीं चाहते। परंतु सबके कामोंमें केवल विघ्न डालकर तमाशा देखनेकी इच्छा रखते हैं। इसका भी दूसरा ही हेतु है। वे सोचते हैं कि निर्विवाद और निर्विघ्न रहकर तो सभी साधु हो सकते हैं और जो धनवान् हैं, वे भी सबको धन बाँट सकते हैं। इसमें तो पुरुषार्थ ही क्या! पर जो विपद्‌में पड़कर अपनी साधुता ज्यों-की-त्यों रखता है, दुःख और कष्टमें पड़कर धर्मको नहीं भूलता—प्राणोंके अन्ततक भी असत्य मार्गपर नहीं जाता और अपनी ओर न देखकर धर्म-रक्षाकी ओर देखता है, वही मनुष्य सच्चा पुरुषार्थी है। इसी अभिप्रायसे नारद सबके कामोंमें विघ्न डालकर हमेशा उनके मनुष्यत्वकी जाँच करना चाहते हैं—सुनार जैसे आगमें तपाकर सोनेकी परीक्षा करता है, ठीक वैसे ही। इससे जगत् और मनुष्य दोनोंका ही उपकार होता है। जगत् तो देख-सुनकर शिक्षा प्राप्त करता है और मानव धीरे-धीरे उन्नतिके पथपर अग्रसर होते हैं। जो इस परीक्षामें उत्तीर्ण होते हैं, वे तो जगत्‌में अपूर्व कीर्ति छोड़ ही जाते हैं; पर जो उत्तीर्ण नहीं हो पाते, वे भी अपनी-अपनी दुर्बलता मिटानेकी पूरी चेष्टा करते हैं। अन्ततः फल इसका भी उत्तम ही होता है। इसीलिये नारदमुनि प्रकटरूपसे लड़ानेवाले होकर भी अन्तःकरणसे हमारे लिये विशेष हितकारी मित्र हैं।

मुनिजीने सावित्रीको देखकर मनमें विचार किया कि 'यह बालिका साधारण नहीं है। इसके द्वारा जगत्‌का विशेष उपकार होगा। इसका आदर्श जगत्‌में चिरस्मरणीय बनाना चाहिये।' ऐसा विचारकर वे बोले—'महाराज! आपकी यह कन्या पूर्ण सुलक्षणा और अपूर्व गुणवती है। इतनी बड़ी

कन्याको आपने अबतक कुँवारी रखा, इसका क्या कारण है? और अब यह कहाँसे आ रही है?'

नारद मुनि सब कुछ जानते थे, पर जान-बूझकर भी मुसाफिरोंकी तरह पूछने लगे।

अश्वपतिने कहा—'प्रभो! भाग्यकी बात भला, आपके सिवा कौन पूछे! सावित्रीका विवाह होगा भी, मुझे तो अभी-तक इसकी आशा नहीं है; क्योंकि उसके रूप-गुण ही तो इस कार्यमें भारी बाधक बन रहे हैं। ये रूप-गुण देखकर ही कोई उससे विवाह नहीं करना चाहता। इसी कारण सावित्री मेरी आज्ञासे स्वयं अपना पति खोजनेके लिये गयी थी। अब न जाने क्या करके आयी है, यह उसीके मुखसे ज्ञात होगा।'

यह कहकर अश्वपतिने सावित्रीसे कहा—'बेटी! तुम क्या करके आयी हो, वह सब मुनि महाराजके सामने भलीभाँति कहो तो। हम सभी तुम्हारी बात सुननेको व्याकुल हो रहे हैं। लज्जावश कोई बात छिपाना मत।'

पिताजीके वचन सुनकर सावित्रीने अपनी कहानी कहना आरम्भ किया। लज्जासे नीचा मस्तक और संकुचित मुख करके धीरे-धीरे सारी बातें वह कहने लगी। लज्जाके साथ विनय और अधीनताके संयोगसे वह उस समय बड़ी ही सुन्दर दीख रही थी। केवल लज्जा ही अच्छी नहीं, केवल विनय ही अच्छी नहीं; किंतु दोनोंके मिश्रणसे एक बड़ा चमत्कार हो जाता है। यह बात हमारे देशके बालक-बालिकाओंको खूब अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। गुरुजन जिस कामको करनेकी आज्ञा दें, उसमें लज्जावश प्रमाद करना ठीक नहीं। पहली आज्ञासे कार्य नहीं किया और दूसरी आज्ञा पाकर उसका पालन किया, तो यह भी अच्छा नहीं है। लज्जा रमणीका भूषण अवश्य है, अतः लज्जा रखना ही चाहिये; किंतु साथ ही यह भी ध्यान रहे कि लज्जामें कर्तव्यकी भूल न होने पाये। देखिये, सावित्री इतनी सुकोमल, इतनी लज्जावती होकर भी पतिकी खोज करनेके निमित्त वनमें गयी और वही आज पिताकी आज्ञासे राजसभामें खड़ी होकर अपनी प्रणय-कहानी प्रकट करनेको तैयार है केवल कर्तव्यके नाते। (क्रमशः)

स्मृतिपुष्प

(लेखक—श्रीतारा पण्डित एम्० ए०)

(१)

'बेटा! रामनाम लेते रहो। इसीसे तुम्हारा कल्याण होगा। अच्छा!'

'जी, मैं मानता हूँ।'

दूसरी बार फिर गुरुजीसे भेंट हुई। वे और शिष्योंके साथ बैठे थे। मैं भी वहीं था। मेरी ओर देखते हुए वे बोले—

'बेटा! रामनाम चलता है न?'

'जी! कोशिश तो करता हूँ। परंतु बहुत कम होता है।'

'कोई बात नहीं। किंतु कोशिश न छोड़ना। समझे?'

'अच्छा, गुरुजी!'—गुरुजीके चरणकमलपर सिर झुकाकर मैं वहाँसे चल पड़ा।

अबकी बार गुरुजी मेरे ही घर आये हुए थे।

'बेटा! रामनाम कैसे चल रहा है?'

मैंने साफ-साफ कह दिया—

'गुरुजी! सच बात बताऊँ तो यह है—मुझसे रामनाम नहीं लिया जाता। दिनभर मैं काममें लगा रहता हूँ और आपने ही तो कहा है कि अपना कर्तव्यकर्म ठीकसे करना चाहिये। बताइये, मैं रामनाम कैसे ले सकता हूँ?'

गुरुजी बोले—'बात तो सच है, अपना कर्तव्यकर्म तो नहीं छोड़ना चाहिये; परंतु तुम काम करते कैसे हो?'

'हाथसे करता हूँ, गुरुजी!'—मैंने आश्चर्यके साथ कहा।

'ठीक। उस समय तुम्हारा मुँह क्या काम करता है?'

'कुछ भी नहीं, गुरुजी!'

'फिर उस समय मुँहसे तो रामनाम अवश्य लिया जा सकता है।'

'जी, गुरुजी! किंतु माला हाथमें लेकर बैठनेके लिये तो मैं समय नहीं पाता। इसीलिये मैंने वैसे कहा था।'

'माला हाथमें लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हाथसे काम करते रहो और मुँहसे रामनाम लेते चलो। अच्छा, बेटा!'

'जी, गुरुजी! कलसे मैं ऐसे ही करूँगा।'

'कलसे नहीं, बेटा! आजसे ही, अभीसे करो। तुम जानते हो, भक्त कबीरने कहा है—

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।

(२)

× × ×

गुरुजी जब गाँवमें आते, तब किसी एक भक्तके घर ठहरते और शिष्यगण उनके दर्शनके लिये वहाँ प्रतिदिन जाया करते। गुरुजी एक बार आये और मुझे जब इसका पता लगा, तब मैंने सोचा कि कम-से-कम एक दिन मुझे उनके दर्शनके लिये अवश्य जाना चाहिये। मैं एक दिन हो आया। फिर गुरुजी कब गाँव छोड़कर चले गये, मुझे पता नहीं।

इसी तरह फिर गुरुजी एक बार आये। समाचार मिलते ही मैं दर्शन करने गया। लौटते समय मनमें सोचता रहा—एक भारी काम समाप्त हो गया, अच्छा हुआ। अब मजेमें घूमने-फिरने जा सकता हूँ। दूसरे दिन पता नहीं कैसे गुरुजीकी याद आ गयी। परंतु दोपहरमें आलस्यके कारण मैं सो गया। शामको जाना था मित्रोंके साथ। मनमें सोचा—'एक बार तो दर्शन कर ही लिया है। आज नहीं जाऊँगा तो क्या हानि है। गुरुजी तो अभी दो-तीन दिन और ठहरेंगे ही। फिर कभी हो आऊँगा।' बस! मजेमें सिनेमा देखकर लौट आया। तीसरे दिन किसीके यहाँ भोजन था। मनमें सोचा—दोपहरमें भोजन है। संध्याको दर्शन करने जा सकता हूँ। घर लौटकर लेटनेका विचार कर रहा था कि एक आदमीने आकर कहा—'गुरुजीने आपको बुलाया है। वे आपकी याद कर रहे हैं।'

अब तो जाना आवश्यक था ही। मैं वैसे ही चल पड़ा। रास्तेमें दूसरे शिष्य मिले। वे भी वहीं जा रहे थे।

'आप आज प्रथम ही दर्शन करने जा रहे हैं?'—मैंने उनसे पूछा।

'जी नहीं। मैं तो प्रतिदिन जाया करता हूँ। जबतक गुरुजी गाँवमें हैं, तबतक प्रतिदिन उनके दर्शन करना आवश्यक है। आप भी प्रतिदिन जाते होंगे?'—वे बोले। मैंने कहा—'जी नहीं, मैं प्रतिदिन तो नहीं जाता।' यह बात कहते हुए मनमें मैं लज्जित-सा हो गया था।

इतनेमें घर आ गया। हम दोनो अंदर गये। गुरुचरणोंपर मस्तक टेककर दोनों अपनी-अपनी जगहपर बैठ गये।

गुरुजी मुझसे बात करने लगे—

'बेटा! अच्छे हो न?'

'जी, अच्छा हूँ।'

'अभी जानेकी जल्दी न हो तो कुछ पढ़कर सुनाओगे?'

'जी, गुरुजी।'

गुरुजीने 'नाथभागवत' खोलकर एक निर्दिष्ट समास मेरे सामने रखकर कहा—

'पढ़ो इसे।'

मैं पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते मुझे ऐसा लगा मानो मैंने कुछ अपराध किया है। तदनन्तर सत्सङ्गकी महान् महिमा पढ़ते-पढ़ते—

> घरा आली कामधेनु। दवडिती न पोसवे म्हणुनु।
> तेवीं श्रीरामनाम उच्चारणु। नाडला जणुं नरदेही।

इस पंक्तितक जब मेरी आँखें पहुँचीं, तब तो मेरे नेत्रोंमें आँसू भर आये। मन-ही-मन मैंने अपनेको अधम कहा। गुरुजीके दर्शनका अलभ्य लाभ प्राप्त करनेका सुअवसर मैंने ही अपने हाथों खो दिया था। अरे! कितना नीच है मेरा मन। बाहर भटकना, खाना-पीना—सब कुछ मुझे अच्छा लग रहा था और मैं केवल गुरुजीके दर्शनको टाल रहा था।

मैंने कठिनाईसे वहाँतक पढ़ा और एकाएक उठकर मैंने गुरुजीके चरणोंपर मस्तक रख दिया। मेरा मन कह रहा था—'गुरुजी, ऐसी भूल अब कभी नहीं करूँगा। मुझे क्षमा कीजिये।'

मेरे नेत्र जलसे परिपूर्ण थे, यह उन्होंने जान लिया।

मेरी पीठपर हाथ फेरकर वे प्रेमभावसे बोले—'बेटा! बीच-बीचमें आकर मुझे कुछ पढ़कर सुनाते रहोगे तो अच्छा होगा। इससे अपना भला-बुरा समझना आसान हो जायगा। मनको भी शान्ति प्राप्त होती है। अब तुम घर जाओ। कल प्रातः हमको गाँव छोड़कर चले जाना है।'

गुरुजीको अनन्य भावसे प्रणाम करके मैंने उनकी आज्ञा ली। गुरुजीके प्रेमपूर्ण शब्द याद आ रहे थे। मनमें पूर्ण शान्ति छायी थी। कानमें कोई कह रहा था—

> दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
> तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

अन्नके अभावसे बचना चाहते हो तो अन्नदाताकी रक्षा करो

[धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः]

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीहरिदेवजी)

एक वह समय था कि सारा विश्व भारतमें देवी अन्नपूर्णाका निवास अनुभव करता था और आज यह दशा है कि भारत पेट भरनेके लिये संसारके अन्य देशोंसे अन्नकी भीख माँगता दिखायी देता है। देशके प्रत्येक राज्यमें अन्न-संकट महाविकराल रूप धारण करता जा रहा है। जन-जनमें त्राहि-त्राहिकी पुकार सुनायी दे रही है। राज्यकी ओरसे अन्नाभाव दूर करनेके लिये नित्य नये कार्यक्रम, नयी योजनाएँ, नयी व्यवस्थाएँ अपनायी जा रही हैं, पर सफलताके स्थानपर असफलता-ही-असफलता मिल रही है। जनता हैरान है, देशके बुद्धिमान्, विचारक, तार्किक—सभी चक्करमें हैं; किसीकी समझमें नहीं आता। सब सोचते हैं—सरकारकी दूसरी पञ्चवर्षीय योजनाका समय पूर्ण हो रहा है, तीसरी योजना चालू होने जा रही है, कितने बाँध बन चुके हैं, कितनी नहरें निकल चुकी हैं, बिजलीसे कितने कूप चलने लगे हैं; फिर भी अन्न बढ़ता नहीं। सरकारने धरती भी सब तुड़वा ली है; ऊसर, जंगल, बंजर, गोचर, नदी किनारे, बाग-बगीचे—यहाँतक कि मकानोंके आँगनमें भी ट्रैक्टर चलवा दिये गये हैं। पर अन्नमें बरकत नहीं, जनतामें चारों ओर वही 'हाय रोटी, हाय रोटी'की ही पुकार सुनायी दे रही है। 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की' वाली बात हो रही है। आखिर बात क्या है?

सीधे-सरल ढंगसे विचारा जाय तो बात स्पष्ट है। सब जानते हैं भारत एक कृषिप्रधान देश है, कृषिपर ही भारतीय जीवन अधिक निर्भर है। आज भले ही देशकी कुछ धरतीपर ट्रैक्टरोंसे खेती होने लगी है, पर वह प्रयत्न कहीं भी अधिक सफल होता दिखायी नहीं दिया। अधिकांश धरतीपर बैलोंसे ही सारा काम होता है। आज ही नहीं, अनादिकालसे ही बैल हमारे जीवनका सच्चा साथी बना रहा है और इसके महान् उपकारोंके कारण ही इसे 'अन्नदाता'-ऐसे श्रेष्ठ पदोंसे विभूषित किया गया है। इसके प्रति सदा आदरका भाव रखा, इसके रक्षणकी चिन्ता की, इसकी हर अवस्थामें योग्य सेवा करनेकी व्यवस्था बनायी गयी। यहाँतक कि इसीके मन्दिर बनाकर इसका पूजन तक किया। भारतरूपी महादेवके महान् शरीरको उठानेवाले वाहनके रूपमें हमने इसी नन्दीको ही देखा। इतिहास साक्षी है—जबतक इस भारतमें 'अन्नदाता' इस बैलका योग्य संरक्षण होता रहा, थोड़ी धरतीपर हल चलनेपर भी अन्नके भंडार भरपूर होते रहे, सारे विश्वका पेट भर सकनेका सामर्थ्य भी हमें प्राप्त रहा। और आज हम भूखों मरनेकी नौबतपर आ गये हैं तो इसका एक ही कारण है—'अन्नदाता' को हम रुष्ट कर चुके हैं। जिसे पशु नहीं, देवके रूपमें भारतीय महापुरुषोंने पहचाना, जिसकी प्रसन्नतामात्रमें भारतीय तत्त्ववेत्ताओंने अपने जीवनका कल्याण माना, आज वही नन्दी नन्दीका सारा वंश हमारी दानवताका शिकार बनकर समाप्त हो रहा है। जीवनभर जिसकी तपस्याओं, सेवाओंसे हमने आनन्द लूटे, आज उसके वृद्ध होनेपर उसकी सेवाके स्थानपर मानवीय आदर्शसे गिरकर हमने उसे क्षणभर भी अपनी आँखोंके सामने खड़ा देखना सहन न किया और कसाईकी छुरीके नीचे कर दिया। आह! कितना पतन है मानवताका। और इसपर भी हम चाहते हैं सुख-शान्तिका, आनन्दका अनुभव करना। कितना मिथ्या है यह सपना! कितना पागलपन है यह हमारा! अपने ऊपर उपकार करनेवालेसे भी दगा करनेवाला संसारमें क्या कभी सुखी हो सकता है? कदापि नहीं। और ठीक यही दशा आज हमारी है। बैलको 'अन्नदाता' तो कहा ही गया, साथ ही हमारे धर्मका प्रतीक भी माना गया है, और हमारे धर्म-शास्त्र उच्च स्वरसे घोषणा कर रहे हैं—'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।'—धर्मकी हत्या करनेवालेकी धर्म हत्या कर देता है; और जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है, पालन करता है। भगवान्से प्रार्थना है कि वह हमें उक्त मर्मको समझनेकी शक्ति दें, बुद्धि दें और हमें गोवंशके रक्षण-पालनकी प्रेरणा प्रदान कर महान् संकटोंसे बचायें, हमें धर्मका पालन करते हुए सुख-शान्तिके मार्गकी ओर अग्रसर करें।

मानवताके इस महान् प्रश्नका आज हमारे पास क्या उत्तर है? 'बैल अन्नका दाता है, फिर क्यों काटा जाता है?' ऋषियोंके इन महावाक्योंको हम कहाँतक झुठला सकते हैं! 'गोवंशकी हत्यासे प्रजा तथा राजा दोनोंका सर्वनाश हो जाता है।' 'जहाँ गोवंशका रक्त गिरता है, उस भू-भागको दुष्काल, महामारी आदि अनेक आपदाएँ घेरे रहती हैं।'

वैज्ञानिक अन्धविश्वास

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

निसर्गमें स्वर्ग

यह लेख किसी साम्प्रदायिक संकीर्णता, राष्ट्रिय कट्टरता अथवा अपनी रूढ़िगत प्राचीन परम्पराके प्रति अन्धभक्तिसे नहीं लिखा जा रहा है, न आधुनिक वैज्ञानिक कही-मानी जानेवाली किसी प्रवृत्तिके प्रति द्वेषभावसे ही, वरं समस्त मानव-जातिके परमार्थ हित एवं भारत माताके आर्थिक और नैतिक दुःख-निवारणार्थ, निष्पक्ष एवं शुद्ध प्राकृतिक वैज्ञानिक आधारपर जीवनरक्षार्थ यह प्रयास किया जा रहा है।

वर्तमानमें भारतकी प्रजाका दुःख-दर्द टालनेके लिये जो चिकित्साकी प्रणाली चल रही है, वह विदेशियोंके द्वारा विज्ञानका नाम देकर हमारे देशमें अपने शासनके साथ पोषितकर प्रविष्ट एवं प्रचलित की हुई है। पिछले दस वर्षोंसे यद्यपि विदेशियोंका प्रभुत्व हमपर समाप्त हो गया है, फिर भी वे अपने लगाये हुए वृक्षका फल खा रहे हैं। दुःखकी बात तो यह है कि केवल भारतपर ही नहीं वरं विश्वभरमें इस वैज्ञानिक अन्धविश्वासका भ्रमजाल वा इन्द्रजाल फैला है और संसारका प्रत्येक व्यक्ति कानूनसे इस मकड़जालमें फँसा हुआ है। इससे बचकर जन्म लेना, जीना और मरना भी अवैध है। और इस वैज्ञानिक भ्रान्त-परम्पराको संसारके अन्य जनतन्त्र देशोंकी तरह हमारे भारतवासी भी तन-मन-धनसे पाल-पोष रहे हैं और नित्य हानि उठाते हुए भी नहीं चेतते।

योरप अमेरिकाके कतिपय विख्यात अनुभवी डाक्टरों-द्वारा इस पद्धतिका विरोध होनेपर और किसी दवा, इंजेक्शन या चीरफाड़के विना रोगनाश एवं स्वास्थ्य-लाभ होना सिद्ध होते देख, हमारे देशके लिये इसे हानिकारक जानकर हमारे प्रथम दिव्यद्रष्टा पूज्य महात्मा गांधीने इससे मुक्ति पानेके लिये निसर्गोपचारका प्रचार आरम्भ किया। जिस प्रकार विदेशी वस्त्र तथा अन्य वस्तुओंके बहिष्कार एवं खादीप्रचारसे देशवासियोंका धन विदेशकी ओर बहनेसे रुका और लाखों गरीबोंको रोजी और रोटी मिली, निसर्गोपचारसे भी उसी प्रकार भारतकी जनताका तन और धन बचेगा। हमारे देशमें निसर्गोपचार तो परम्परासे प्रचलित है; परंतु अंग्रेज आये और हमें अन्धविश्वासी असभ्य बताकर उन्होंने हमारे पूर्वजोंकी रीति बंद की और अपनी मनमानी रीति चलायी जो हमारे देशके जलवायु, धर्म-कर्म, रहन-सहन, रीति-रिवाजके सर्वथा प्रतिकूल है और आर्थिक दृष्टिसे भी हमारे देशके लिये वह दिन-दिन अधिकाधिक असह्य एवं घातक होती जा रही है; क्योंकि विज्ञानका चोला पहिने वह वास्तवमें अन्धविश्वासयुक्त, अवैज्ञानिक, परमात्मा और प्रकृतिके अचल अबाधित नियमोंके विरुद्ध एवं प्राणियोंके नैसर्गिक दया और प्रेमका नाश करनेवाली है, इसका कारण यह है कि इसमें हिंसा समायी हुई है। पूज्य बापूजीने इसीलिये इसका त्याग करनेका आदेश दिया था।

व्यक्ति, समाज और देशको अपने कर्मानुसार सुख-दुःख मिलते हैं। कोई बाहरसे हमें सुख-दुःख देता है, कीटाणु हमें रोग देते हैं—ऐसा समझना मूर्खता है।

> सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
> परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
> यथाकृतिर्मनुष्यस्य प्रकृतिर्जायते तथा।
> निसर्गो भवति स्वर्गो ह्यनुकूलं चरेद् यदा॥

'मनुष्यकी प्रकृति (तन्दुरुस्ती या बीमारी) अपनी करनीके अनुसार होती है; यदि अनुकूल आचरण किया जाय तो कुदरतका संसार ही स्वर्ग बन जाता है।'

अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगे बिना अनेक जन्मोंमें भी छुटकारा नहीं होता—महापुरुषोंके इस वचनको न मानकर धंधाधारी अर्थ-कामी विदेशियोंकी बुद्धिको अपने माथेपर चढ़ाकर भारत सरकारका स्वास्थ्य-विभाग जनताका दुःख-दर्द मिटाने और उन्हें स्वस्थ करनेके लिये करोड़ों रुपयोंका प्रतिवर्ष खर्च बढ़ा रहा है और करोड़ों मूक निरपराध प्राणियोंकी तड़पा-तड़पाकर हत्या करके, उनके शरीरसे रक्त-मांस-मज्जा और उनके अन्य अङ्ग काट निकालकर उनमेंसे दवा नामक घृणित दुर्गन्धित पदार्थ बनाकर, उसे चमत्कारिक रोगनाशक स्वास्थ्य-वर्धक रसायन कहकर, मानवके नीरोग अङ्गोंमें डाल रहा है—

इस मोहमयी धारणासे कि इससे रोग नहीं होगा, रोग मिट जायगा।

अन्ध-परम्परा

इस वैज्ञानिक अन्धबुद्धिकी राक्षसी प्रवृत्तिको देखकर बापूजीने अपने उद्गार निकाले थे—'मैं जो विचार आपके सामने रखता हूँ, वे मेरे स्वयंके हैं; परंतु मैंने ही ये विचार बनाये नहीं हैं। पश्चिमके सुधारकोंने तो मेरी अपेक्षा कठोर शब्दोंमें लिखा है और * वकील-डाक्टरोंको खूब फटकारा है।

'जैसा और जितना तुम्हें डॉक्टरोंसे मोह है, मुझे भी था। एक समय ऐसा था कि मैं खुद डॉक्टर बननेका इरादा रखता था और डॉक्टर बनकर देशकी सेवाकी धारणा थी; अब वह मोह चला गया। हम तो वैद्य-डॉक्टरके धंधेको अच्छा समझते ही नहीं। डॉक्टरोंने हमें घबरा दिया है। डॉक्टरोंकी अपेक्षा तो नीम-हकीम अच्छे—ऐसा कहनेको मेरा जी चाहता है। रोग क्यों और कैसे होता है? अपनी भूलसे। मैं बहुत-सा खा लूँ, मुझे अजीर्ण हो जाय, मैं डॉक्टरके पास जाऊँ, डॉक्टर मुझे हाजमेकी गोली दें, मैं अच्छा हो जाऊँ, फिर खूब खाकर फिर गोली खाऊँ, ऐसी बात बन चली। यदि मैं गोली न खाऊँ तो अजीर्णका दुःख भोगूँ, फिर बेहद न खाऊँ। बीचमें जो डॉक्टर आया, उसने गोली देकर मुझे बेहद खानेमें मदद की (असंयमी बनाया)—जिससे मेरे शरीरको आराम मिला, परंतु मन निर्बल हो गया। ऐसा चलते आखिर मेरी ऐसी दशा हो गयी कि मन और जिह्वापर कुछ भी नियन्त्रण न रहा। मैंने विषय किया। रोगी हुआ। डॉक्टरने दवा दी और मैं ठीक हो गया। क्या मैं पुनः विषय नहीं करूँगा? यदि डॉक्टर बीचमें न आता तो कुदरत अपना काम करती, दुःख अनुभवकर शिक्षा पाकर मेरा मन दृढ़ होता और मैं निर्विषयी होकर सुखी होता।

'अस्पताल पापकी जड़ हैं, शरीरकी खोटी सेवाके लिये प्रतिवर्ष लाखों जीवोंकी हत्या करते हैं। विज्ञानके नामपर ऐसा करना किसी भी धर्ममें कबूल नहीं है। डॉक्टर हमें धर्म-भ्रष्ट करते हैं, उनकी बहुत-सी ऊँची मानी जानेवाली दवाओंमें चर्बी या शराब होती है; इन दोनोंमें एक भी वस्तु हिंदू या मुसल्मानके लिये खपनेवाली नहीं है। सभ्यता और वैज्ञानिकताकी इस चमकमें हमलोगोंकी आँखें फिर गयी हैं और अन्य सब पुरानी बातोंको वहम समझकर हम मनमानी करें तो दूसरी बात है। इसका परिणाम यह होता है कि हम लोग निर्बल और नपुंसक बनते जा रहे हैं। अंग्रेजी या यूरोपियन डॉक्टरी विद्या सीखकर अपनी अधोगति करना है। हम डॉक्टर क्यों बनते हैं? इज्जतदार ढंगसे पैसा कमानेका धंधा करना, परोपकार नहीं। इस धंधेमें परोपकार-की भावना नहीं है। मैं तो कहता हूँ इससे हानि है। डॉक्टर तो आडम्बर—ढोंग करके लोगोंसे बड़ी फीसकी रकम लेते हैं, एक आनेकी दवाका रुपया लेते हैं। अच्छे होनेकी आशा और विश्वासमें लोग ठगाये जाते हैं। भलाईका ढोल बजानेवाले इन ठगोंसे तो नीम-हकीम माने जानेवाले खुले ठग अच्छे हैं।'

महात्मा गांधी हमारे देशके नेता थे—इस दृष्टिसे उनकी बात चाहे सर्वमान्य हो। परंतु वे डॉक्टर या वैज्ञानिक नहीं थे, डॉक्टरी उन्होंने नहीं पढ़ी-सीखी थी; अतएव वैज्ञानिकोंको उनकी बातोंपर आपत्ति हो सकती है। परंतु उन्होंने स्वयं कुछ न कहकर, ईमानदार वैज्ञानिकोंकी बात केवल दुहरायी है। किसीके घरका अन्तरङ्ग भेद घरवालोंसे ही मिलता है; अतएव आइये, देखें, अनुभवी सुधारक डॉक्टरोंने क्या कहा है! न्यूज़ीलैंडके प्रथम रेडियो-डॉक्टर उलरिक विलियम्सने लिखा है—* मेडिकल साइन्स और कुछ नहीं, केवल नयी

* वकील, वेश्या और वैद्य—तीनों प्रायः एक ही श्रेणीमें कहे गये हैं; परंतु इनमें वेश्या उत्तम मानी गयी है। क्योंकि वह अपने ग्राहकोंको तन-मन देकर प्रसन्नकर धन कमाती है; परंतु वकील-डॉक्टर तो जनताको सत्य और प्रकृतिके विरुद्ध गुमराह करते हैं। बेईमानी और रोग जितने इनसे बढ़े हैं, कानून और दवाकी आड़में, वेश्यावृत्ति उतनी नहीं बढ़ी; क्योंकि वेश्यावृत्ति सामाजिक तिरस्कार-बहिष्कारके फलस्वरूप लाचारीसे उत्पन्न—एक कलाको लेकर निर्वाह करती है, जब कि वकालत और डॉक्टरी—कानूनी आवश्यकताएँ हैं।

* **Ulric Williams, the original Radio doctor of New Zealand, sums up—"Medical Science is nothing but an arduous way of converting acute illness into chronic disease, yet victims climb over each other for the privilege of being exterminated by what one hospital matron described as the "senseless butchery" that goes on in our hospital theatres. Radium, X-ray, Surgery are nothing but clumsy, illogical and painful techniques for shortening life and increasing misery.**

बीमारीको पुरानी बीमारी बनानेका धंधा है; फिर भी बीमार एक शिकारकी तरह इस प्रकार लाचार होकर ऑपरेशन थियेटरमें एक-एक करके बूचड़खानेकी तरह हलाल होने आते हैं। रेडियम, एक्स-रे और चीर-फाड़ केवल एक गंदी, नामसझ और दर्दनाक क्रूर क्रियाके अतिरिक्त और कुछ नहीं; इनसे तो जीवनके दिन कम होते और दुःख बढ़ते हैं।

डॉ० जे० एन्० टिल्डनने २५ वर्षतक डॉक्टरी और सर्जन-सम्बन्धी कुशलताके पश्चात् उसे छोड़कर प्राकृतिक उपचारको अपनाया और ९० वर्षकी उम्रतक करते रहे। उन्होंने लिखा है—* 'आजकल जो मेडिकल साइन्सके नामसे विख्यात धंधा चल रहा है, वह शुरूसे अन्ततक भ्रान्त है। ईसाई भक्त किसी रोगीके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करता है, डॉक्टर भी रोगीको दवा देता है; परंतु ये दोनों उस रोगीको रोगोत्पादक-वर्धक व्यसनों आदिसे जबतक नहीं रोकते, तबतक ये दोनों प्रकारके चिकित्सक अज्ञानी और नास्तिक हैं। जबतक रोगका बीज विद्यमान है, तबतक तंदुरुस्ती नहीं आ सकती—यह मोटा बात कोई भी साधारण व्यक्ति समझ सकता है।'

सफेद झूठ

अपनी ही आँखों देखकर हम अपने देशकी दुर्दशापर विचार नहीं करते कि पचास वर्ष पहले जो आँख, दाँतके रोग बूढ़ोंको हुआ करते थे; लकवा, हृदय-रोग, कैंसर, मधुमेह इनेगिने लोगोंको बुढ़ापेमें हुआ करते थे। वे अब सद्योजात बच्चोंमें भी पाये जाने लगे हैं और जन्मते ही उन्हें नाकमें 'आक्सीजन' की ट्यूब दी जाती है तथा जीवनभरके लिये वे दवा, इंजेक्शन, नकली दाँत और चश्मेके गुलाम बचपनसे ही बन रहे हैं। वैज्ञानिक भोजन, रहन-सहन, सभ्यता और इलाजकी गुलामीसे दाँत खोये, आँखें खोयीं, रोग खरीदा, अपंग बने। हम इंजेक्शन और ऑपरेशनसे मौत टाल रहे हैं। बिस्तरपर हिल-डुल न सकने लायक हम जिंदा हैं। विज्ञानकी करामातको हम धन्यवाद देते हैं कि अपना दुःख-दर्द बोल सकने लायक भी हम न रह गये; और मौत चाहने, बुलाने, माँगनेपर भी नहीं मिल सकती कि हमें दुःखोंसे मुक्ति मिल जाय। हम अपने सगे-सम्बन्धी या डॉक्टरसे अपनी 'हत्या' के लिये प्रार्थना भी नहीं कर सकते; करें भी तो कौन हमारी हत्या करके हमें दुःखसे मुक्त करनेका उपकार करनेमें कानूनकी फाँसी अपने गले लगायेगा ? यही कारण है कि बहुत वर्षोंतक दवाइयां खाकर भी रोगी बने रहकर कतिपय पुरानी बीमारियों, खासकर पाचन-सम्बन्धी रोगों तथा तज्जन्य मानसिक या चर्मरोगादिसे परेशान होकर कितने ही लाचार लोग रेल-मोटरके आगे सड़कपर कूदकर, विष खाकर या अन्य उपायोंसे आत्म हत्या कर लेते हैं, स्वयं मुक्तिका यह अन्तिम साधन कर लेते हैं—न रहेगा शरीर न रहेगा रोग। फिर भी अखबारोंमें दावा किया जाता है, चमत्कारी संजीवनी दवाओंके शोधका डंका बजाया जाता है, असंयम, पाप और आयु बढ़ानेके नये नुस्खे (यथा—संतति-नियमन) बनाये जाते हैं और कानून तथा विज्ञानके द्वारा उनका प्रचार किया जाता है कि रोगपर विजय मिल गयी, संसारमें तंदुरुस्ती और आयु बढ़ रही है। किंतु यह सब सफेद झूठ है।

हमारे गौराङ्ग अधिपति हमें कायदेसे स्वतन्त्रता सौंपकर वसीयतमें विज्ञानके नामपर विनाशके नुस्खे हमें और हमारी भविष्यकी पीढ़ियोंको अंधा, अपंग, नपुंसक बनानेके लिये छोड़ गये हैं। केवल भारतका ही मैं पक्षपात क्यों करूँ, सारी दुनियाके देशोंमें यह वैज्ञानिक विनाशक अंध-भक्ति परम्परा बनी उन्नति कर रही है। इनके चमत्कारी यन्त्रोंसे रोगियोंका रोग निदान करनेमें महीनों लग जाते हैं और निदान होनेपर अन्तमें जब चीर-फाड़ होती है, तब उसके द्वारा इहलोकसे मुक्ति ही मिल जाती है। आजकल अन्त्रपुच्छ (appendix) के ऑपरेशनका खूब प्रचार है और सर्जन लोग ऐसे ऑपरेशन करके अपने गलेमें मुण्डमालाओंकी संख्या बढ़ाकर कुशल विख्यात हो रहे हैं। वास्तवमें इनमें बहुत-से ऑपरेशन अंदाजमात्रसे होते हैं। एक गरीब ब्राह्मण कृपकको कब्ज रहता था। उसने उग्र जुलाब लिया, जिससे मरोड़सहित उसे कई दस्त लगे; कमजोरी बढ़ी तो दस्त रोकनेके लिये शामक 'कपूर' की दवा ली। अब उसकी भूख जाती रही, मल भी

* Dr. G H. Tilden changed over after twenty-five years of routine medical and surgical work and continued to expound the "leave alone" theory, until he died in harness at the age of 90. This is how he sums up his lifelong experiences—"I want to go on record as one saying that so-called medical science as practised today is a fallacy from beginning to end. The Christian prays to God to cure without the sick man being troubled to leave off his disease-provoking habits; the doctor gives a drug to cure the patient in spite of his inebriating habits. Both practise atheism without knowing it.

नहीं निकला। सर्जनने अंदाजी निदानसे उसके अपेण्डिक्स-का ऑपरेशन कर डाला, जिससे उसका दर्द सौगुना बढ़ गया। वास्तवमें उसे छोटी आँतमें एक स्थानपर कैंसर था, जिससे आँतका वह स्थान सूखता-सिकुड़ता जा रहा था और सारी पाचन-प्रणाली मुर्दार हो रही थी; परंतु सर्जनको ये बातें नहीं सूझीं।

सूक्ष्म-विज्ञान

पंजाबके अम्बाला जिलेमें कभी ऐसे आम आपने खाये हैं जिनमें सौंफ या अजवायनकी सुगंध मिली हो? आमकी गुठलीको सौंफ या अजवायनके पानीमें या शुद्ध दूधमें भावना देकर बो दिया जाय तो आमके प्रत्येक फलमें सौंफ, दूध या अजवायनकी खुशबू आपको पचीस वर्षतक या पेड़के सारे जीवनतक उसके फलोंमें मिलेगी, यद्यपि पेड़की जड़में दूध, अजवायन या सौंफका लेशमात्र भी वैज्ञानिक खोजसे न मिले। इस तथ्यके आधारपर यह निश्चय है कि आजकल सारे देशमें नलोंद्वारा प्राप्त होनेवाले म्युनिसिपलिटीकी वैज्ञानिक अन्धभक्ति एवं अज्ञानके फलस्वरूप फ्लोराइड-घुले पानीमें, भोजनकी बनावटी वस्तुओंमें घुले-मिले डी० डी० टी० तथा व्यसनकी वस्तुओंमें घुली-मिली 'कोलतार'के सुगन्धित विषों और रासायनिक दवाइयोंका असर मानवकी वंशानुगत पीढ़ियोंमें अनन्तकालके लिये कितना व्यापक रहेगा, इसकी कल्पना वैज्ञानिकोंकी सूझमें नहीं आती। भौतिक विज्ञान केवल स्थूल और साक्षात्को देखता है। किंतु प्राकृतिक विज्ञान इतना सूक्ष्म है कि वह परोक्ष, अनन्त और असीमके गर्भमें है; उसके प्रभावका नाश नहीं हो जाता। साधारण-सी बात लीजिये। एक बोतलमें स्याही आधा भरकर ऊपरसे दूध डालकर भर दें; फिर चाहें कि उसमेंसे दूध पी लें और स्याहीसे लेखनका काम लें तो क्या ऐसा मिश्रण पीने या लिखनेके काम आयेगा? इसमेंसे वर्षोंतक किसी भी प्रकारकी मिलावट बार-बार करते रहनेपर क्या दूध और स्याही अलग होंगे?

नित्य आविष्कारमें घोषित होनेवाली चमत्कारी दवाइयोंके प्रयोग-अनुभव होनेपर जो घातक परिणाम संसारभरमें रोगियोंपर हुए हैं, उनके विषयमें प्रख्यात डॉक्टरोंने गम्भीर चेतावनी दी है, जिन सबका स्थानाभावसे यहाँ विस्तार न करके हम केवल उन अनुभवी डॉक्टरोंके कुछ वचन यहाँ देंगे। ये सब यूरोप-अमेरिकाके सामयिक डॉक्टरी संस्थाओंके अखबारोंमें कई बार प्रकाशित हो चुके हैं—'स्ट्रेप्टोमाइसिनके प्रयोगसे मनुष्य सदाके लिये बहरा और मन्द-दृष्टि हो सकता है, पेनिसिलिनके समान ही इसके प्रयोगसे शरीरके चर्मपर भयंकर प्रतिक्रिया होती है और क्लोरम्फेनिकोलसे कभी कभी अस्थिद्रवमें, जहाँ लाल रक्तकण बनते हैं, गम्भीर विषमयता उत्पन्न हो जाती है, जिससे घातक रक्ताल्पता हो जाती है।'

क्लोरटेट्रासाइक्लीन और आक्सीटेट्रासाइक्लीन इतने तीव्र विष हैं कि इनके प्रयोगसे पाचन-प्रणालीके सहायक कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं। योरप-अमेरिकाके वैज्ञानिक अखबारोंके जानकार सम्पादक लोग इन बातोंको स्पष्ट निष्पक्ष-भावसे प्रकाशित कर देते हैं, जब कि हमारे जनतन्त्र देशके भारतीयभाषी लोकप्रिय अखबारोंके अनजान मालिक और सम्पादक उनके विषयमें प्रचार-लेख और विज्ञापन छापते हैं—यह कितने अंधेरका अज्ञान और स्वार्थ है!

अधूरा संविधान

हमारे देशके संविधानमें चार प्रकारकी स्वतन्त्रतामेंसे दूसरे नंबरकी स्वतन्त्रता 'हमारे राज्यमें सबको सोचने, बोलने, लिखने, धर्म और पूजा-पाठकी पूरी स्वतन्त्रता होगी' हमारी दृष्टिसे बिल्कुल अधूरे संविधानका द्योतक है। देशकी स्वस्थ जनता ही देशकी मौलिक सम्पत्ति है। जनता रोगी, पङ्गु, अन्ध, नपुंसक हो तो किसी भी प्रकारकी स्वतन्त्रताका संविधान बनाना और ऐसी वैज्ञानिक उन्नति करना केवल पाखण्ड और तमाशा है। संविधानकी इस कलममें यों सुधार होना आवश्यक है कि 'प्रत्येक व्यक्तिको अपने शरीरको, तन-मनको स्वस्थ रखना स्वयंकी जिम्मेदारी है। इसमें सरकार या कानूनकी कोई जबरदस्ती ठेकेदारी कायम करना, जबरदस्ती टीका-इंजेक्शन लगाना, दवाइयाँ पिलाना अन्याय है।' अज्ञानजन्य यह वैज्ञानिक जबरदस्त ठेंगा जनताकी भविष्य पीढ़ियोंके लिये कितना घातक होगा, यह आज नहीं जाना जा सकता। हमारी सरकार और जनता जबतक रोगनाश और स्वास्थ्य-साधनके लिये विनाशक विज्ञानकी विषाक्त दवाओंके गुलाम रहेंगे, तबतक स्वतन्त्रताका संविधान अधूरा है।

* डॉ० डब्ल्यू० एच्० व्हाइट, एम० आर० सी० एस०, एल० आर० सी० पी० ने लिखा है—रोगपर हम स्वार्थवृत्तिसे

* Disease becomes a vested interest, and consciously or unconsciously the doctors foster it. As such it is a common observation that doctors produce disease. Moreover the whole system and philosophy of our dealing with the disease is mistaken.

धंधा करते हैं। ऐसा देखा गया है कि डॉक्टर ही रोग उत्पन्न करते हैं। अधिक क्या करें—रोगपर प्रयोगके विषयमें हमारा सारा सिद्धान्त और कार्यप्रणाली भ्रान्त है।

व्याख्या

प्रचलित डॉक्टरी चिकित्सा-विज्ञान ऐलोपैथी है, जिसे आर्थोडॉक्स मेडिकल प्रेक्टिस कहा जाता है। देखिये इन शब्दोंका अर्थ क्या है!

Allopathy—The term really means curing of diseased action by inducing a different kind of action in the body.—American Illustrated Medical Dictionary. Websters International Dictionary of the English Language में इसकी व्याख्या यों दी है—

Allopathy—The system of medical practice which aims to combat disease by the use of remedies which produce effects *different* from those produced by special disease treated.

Oxford Dictionary में लिखा है—Treatment of disease by inducing a different tendency.

अर्थात् बीमारीका इलाज करनेमें उससे भिन्न लक्षण उत्पन्न कर देना। जिस घरमें चोर घुसा हो, उसे घरमेंसे निकालनेका प्रयत्न तो दूर, वरं उसमें एक जबरदस्त डाकूको लाकर घुसा देना—यही इस इलाजका विज्ञान है। ये दोनों मौसेरे भाई कितना भला करेंगे—यह वैज्ञानिकोंकी सूझमें अभी-तक नहीं आया। Orthodox का अर्थ है—साधारण विश्वास-के अनुसार, माने हुए विचार धारण करना—According to general belief; holding accepted views. इसीको 'मेडिकल साइंस' कहा जाता है।

विज्ञान और विश्वास—दो अलग-अलग बातें हैं, परस्पर विरोधी हैं; विज्ञानमें विश्वासकी पैठ नहीं। विज्ञानका अर्थ होता है—विशेषरूपसे जानकर सिद्ध किया हुआ ज्ञान। जिस बात, क्रिया या वस्तुको हम तर्क या क्रियाद्वारा सिद्ध नहीं कर सकते परंतु श्रद्धाभावसे अनुभव कर सकते हैं, वह विज्ञान नहीं, विश्वासकी भूमिका है। इस वैज्ञानिक दृष्टिसे 'ईश्वर' विश्वास या अन्धविश्वासकी वस्तु है। फिर भी चिकित्सा-विज्ञानको जब 'आर्थोडॉक्स मेडिकल प्रेक्टिस' कहते हैं तो उसका अर्थ होता है कट्टर अन्धविश्वासयुक्त। इसमें वैज्ञानिकता कहाँ रही? यह तो विश्वासकी चीज है। और यदि इसमें लेशमात्र विज्ञान होता तो संसारका दुःख दूर होनेके बदले बढ़ता क्यों? इनकी परिभाषा एवं क्रियाप्रणाली-से स्वयं स्पष्ट होता है कि ये परम्परानुगत विश्वासके अनुसार इलाज करते हैं और वह इलाज भी रोग तथा रोगके कारण-को दूर करनेका नहीं, वरं रोगकी दशामें रोगीके शरीरमें उग्र विष प्रविष्ट करके दूसरे लक्षण उत्पन्न कर देना है। तब इसमें वैज्ञानिकता कहाँ रही?

उद्गार

डॉ० मेलविल कीथ एम्० डी० ने लिखा है—डॉक्टरका अर्थ है आचार्य, शिक्षक। परंतु ये हमें कोई भलाईकी बात न बताकर केवल जहर देकर हमारे शरीरको बिगाड़ते हैं। टीका बच्चोंके जीवनके लिये अभिशाप है। हम तो घोषणा करते हैं कि डॉक्टरी धंधा मूर्ख, दुष्ट और अज्ञानियोंका है।

प्रोफेसर ईवान्स, एफ्० आर० सी० एस० लन्दनने लिखा है—हमारे जमानेका यह डॉक्टरी धंधा सबसे अधिक अनिश्चित और असंतोषप्रद है। इसमें कोई समझदारीका सिद्धान्त नहीं है कि कोई उसपर विश्वास कर सके। फ्रांसके शरीर-विज्ञानी डॉ० मेजांडीने लिखा है—दवा धोखेकी चीज है। मैं जानता हूँ इसे विज्ञान कहते हैं, परंतु इसमें विज्ञान-जैसी कोई बात नहीं है। डॉक्टरी तो गोरख-धंधा है। हमलोग नहीं जानते कि दवा क्या वस्तु है। दुनियामें कौन जानता है कि रोग और दवा क्या चीज है?'

डॉक्टर विलियम हावर्ड एम० डी० ने लिखा है—'जब डॉक्टरलोग एक-मत न हों तो इसका यही अर्थ हुआ कि रोगके विषयमें सभी भ्रान्त हैं। अंधोंके पीछे अंधे चल रहे हैं। साधारण सिरदर्द दूर करना भी डॉक्टरी धंधेके बूतेके बाहर है।'

फील्डिंगने लिखा है—'हरेक डॉक्टर स्वयं एक-न-एक अपनी बीमारीमें फँसा रहता है। फिर ये दूसरोंका क्या इलाज करेंगे?'

इंगलैंडके प्रसिद्ध डॉक्टर जॉन मेसन गुडने लिखा है—'युद्ध, अकाल और महामारीसे जितने लोग मरे हैं, उसकी अपेक्षा दवाओं और डॉक्टरोंसे बहुत अधिक लोग मरे हैं। और स्वयं असंयमसे जितने लोग रोगी होते हैं, उसकी अपेक्षा दवाओं और डॉक्टरोंसे अधिक लोग रोगी होते हैं।

केवल भारतमें ही नहीं, सारी दुनियामें जहाँ-जहाँ एलोपैथीका जंजाल सरकारने फैलाया है, तमाम रोग बढ़ रहे हैं, और इस अन्धवैज्ञानिक पद्धति (आर्थोडॉक्स मेडिकल साइंस) की व्यर्थता एवं खोखलेपनका बहुत वर्षोंतक अनुभव करके वयोवृद्ध डॉक्टरोंने दवा और चीर-फाड़की निर्दयी प्रथाका भंडाफोड़ करते हुए अनेकों पुस्तकें लिखी हैं। अमेरिकाके एक आहारविज्ञानी डब्ल्यू हिक्सने 'रिवोल्ट अगेन्स्ट डॉक्टर्स' (डॉक्टरोंके विरोधमें) और डॉ० नार्मन वार्नवी एम० डी० ने 'डॉक्टरी अंधेर और पाप' नामकी मोटी पुस्तकमें बहुत-सी रहस्यमय बातें विस्तारपूर्वक साक्षीरूपमें लिखी हैं।

इंगलैंडके विख्यात डॉक्टर सर आरबुथनाट लेनने प्रचलित डॉक्टरी विज्ञान और धंधेके खोखलेपनका विरोध किया, तब डॉक्टरी संगठनकी स्वार्थनीतिको यह ईमानदारीके उद्गार सहन नहीं हुए और उन्होंने सर आरबुथनाटको डॉक्टरी रजिस्टरसे 'जात बाहर' कर दिया। ऐसे बहुत-से हिम्मत करनेवाले स्पष्ट हृदयवादी डॉक्टरोंने दवाका विषाक्त और चीर-फाड़का निर्दयी धंधा त्यागकर प्राकृतिक पद्धतिसे इलाज करना आरम्भ किया और सफल हुए।

(शेष अगले अङ्कमें)

श्रीराधाका त्यागमय एकाङ्गी निर्मल भाव

पवित्रतम प्रेमसुधामयी श्रीराधाने प्रियतम प्रेमार्णव श्रीश्यामसुन्दरके दर्शन करके सर्वसमर्पण कर दिया। अब वे आठों पहर उन्हींके प्रेम-रस-सुधा-समुद्रमें निमग्न रहने लगीं। श्यामसुन्दर मिलें-न-मिलें—इसकी तनिक भी परवा न करके वे रात-दिन अकेलेमें बैठी मन-ही-मन किसी विचित्र दिव्य भावराज्यमें विचरण किया करतीं। न किसीसे कुछ कहतीं, न कुछ चाहतीं, न कहीं जाती-आतीं। एक दिन एक अत्यन्त प्यारी सखीने आकर बहुत ही स्नेहसे इस पर-अज्ञात विलक्षण दशाका कारण पूछा तथा यह जानना चाहा कि तुम सबसे विरक्त होकर दिन-रात क्या करती हो ? यह सुनकर श्रीराधाके नेत्रोंसे अश्रुबिन्दु गिरने लगे और वे बोलीं—

'प्रिय सखी ! हृदयकी अति गोपनीय यह मेरी महामूल्यमयी अत्यन्त प्रिय वस्तु, जिसका मूल्य मैं भी नहीं जानती, किसीको दिखलाने, बतलाने या समझानेकी वस्तु नहीं है; पर तेरे सामने सदा मेरा हृदय खुला रहा है। तू मेरी अत्यन्त अन्तरङ्गा, मेरे ही सुखके लिये सर्वस्व-त्यागिनी परम विरागमयी मेरे रागकी मूर्तिमान् प्रतिमा है; इससे तुझे अपनी स्थिति, अपनी इच्छा, अभिलाषाका किंचित् दिग्दर्शन कराती हूँ। सुन—

'प्रिय सखी ! मेरे प्रभुके श्रीचरणोंमें मैं और जो कुछ भी मेरा था, सब समर्पित हो गया। मैंने किया नहीं, हो गया। जगत्में पता नहीं, किस कालसे जो मेरा डेरा लगा था, वह सारा डेरा सदाके लिये उठ गया। मेरी सारी ममता सभी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितियोंसे हट गयी, अब तो मेरी सम्पूर्ण ममताका सम्बन्ध केवल एक प्रियतम प्रभुसे ही रह गया। जगत्में जहाँ कहीं भी, जितना भी, जो भी मेरा प्रेम, विश्वास और आत्मीयताका सम्बन्ध था, सब मिट गया। सब ओरसे मेरे सारे बन्धन खुल गये। अब तो मैं केवल उन्हींके श्रीचरणोंमें बँध गयी। उन्हींमें सारा प्रेम केन्द्रित हो गया। उन्हींका भाव रह गया। यह सारा संसार भी उन्हींमें विलीन हो गया। मेरे लिये उनके सिवा किसी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिकी सत्ता ही शेष नहीं रह गयी, जिससे मेरा कोई व्यवहार होता। पर सखी ! मैं नहीं चाहती मेरी इस स्थितिका किसीको कुछ भी पता लगे। और तो क्या, मेरी यह स्थिति मेरे प्राणप्रियतम प्रभुसे भी सदा अज्ञात ही रहे। प्यारी सखी ! मैं सुन्दर सरस सुगन्धित सुकोमल सुमनसे (सुन्दर मनसे) सदा उनकी पूजा करती रहती हूँ, पर बहुत ही छिपाकर

करती हूँ; मैं सदा इसी डरसे डरती रहती हूँ, कहीं मेरी इस पूजाका प्राणनाथको पता न चल जाय । मैं केवल यही चाहती हूँ कि मेरी पवित्र पूजा अनन्त कालतक सुरक्षित चलती रहे । मैं कहीं भी रहूँ, कैसे भी रहूँ, पर इस पूजाका कभी अन्त न हो । और मेरी यह पूजा किसी दूसरेको—प्राणप्रियतमको भी आनन्द देनेके उद्देश्यसे न हो, इस मेरी पूजासे सदा सर्वदा मैं ही आनन्द-लाभ करती रहूँ । इस पूजामें ही मेरी रुचि सदा बढ़ती रहे, इसीसे नित्य ही परमानन्दकी प्राप्ति होती रहे । यह पूजा सदा बढ़ती रहे और यह बढ़ती हुई पूजा ही इस पूजाका एकमात्र पवित्र फल हो । इस पूजामें मैं नित्य-निरन्तर प्रियतमके अतिशय मनभावन पावन रूप-सौन्दर्यको देखती रहूँ । पर कभी भी वे प्रियतम मुझको और मेरी पूजाको न देख पायें । वे यदि देख पायेंगे तो उसी समय मेरा सारा मजा किरकिरा हो जायगा । फिर मेरा यह एकाङ्गी निर्मल भाव नहीं रह सकेगा । फिर तो प्रियतमसे नये-नये सुख प्राप्त करनेके लिये मनमें नये-नये चाव उत्पन्न होने लगेंगे ।'

यों कहकर राधा चुप हो गयी, निर्निमेष नेत्रोंसे मन-ही-मन प्रियतमके रूप-सौन्दर्यको देखने लगी ।

हुआ समर्पण प्रभु-चरणोंमें जो कुछ था सब, मैं, मेरा ।
अग-जगसे उठ गया सदाको चिरसंचित सारा डेरा ॥
मेरी सारी ममताका अब रहा सिर्फ प्रभुसे सम्बन्ध ।
प्रीति, प्रतीति, सगाई सबही मिटी, खुल गये सारे बन्ध ॥
प्रेम उन्हींमें, भाव उन्हींका, उनमेंही सारा संसार ।
उनके सिवा, शेष कोई भी बचा न, जिससे हो व्यवहार ॥
नहीं चाहती जाने कोई, मेरी इस स्थितिकी कुछ बात ।
मेरे प्राणप्रियतम प्रभुसे भी यह सदा रहे अज्ञात ॥
सुन्दर सुमन सरस सुरभित मृदुसे मैं नित अर्चन करती ।
अति गोपन, वे जान न जायें कभी, इसी डरसे डरती ॥
मेरी यह शुचि अर्चा चलती रहे सुरक्षित काल अनन्त ।
रहूँ कहीं भी, कैसे भी, पर इसका कभी न आये अन्त ॥
इस मेरी पूजासे पाती रहूँ नित्य मैं ही आनन्द ।
बढ़े निरन्तर रुचि अर्चामें, बढ़े नित्य ही परमानन्द ॥
बढ़ती अर्चा ही अर्चाका फल हो एकमात्र पावन ।
नित्य निरखती रहूँ रूप मैं, उनका अतिशय मनभावन ॥
वे न देख पायें पर मुझको, मेरी पूजाको न कभी ।
देख पायँगे वे यदि, होगा मजा सभी किरकिरा तभी ॥
रह नहिं पायेगा फिर मेरा यह एकाङ्गी निर्मल भाव ।
फिर तो नये नये उपजेंगे 'प्रिय' से सुख पानेके चाव ॥

भगवान् ही मेरी शक्ति, शान्ति एवं विवेकके मूल स्रोत हैं

मेरे भगवान् मेरे हृदयमें नित्य विराजमान हैं और वे ही मेरी शक्ति, शान्ति एवं विवेकके मूलस्रोत हैं । आज मैं अपने हृदयमें स्थित भगवान्की ओर उन्मुख होता हूँ । भगवान्की शक्तिसे अब मेरा प्रत्येक कार्य बड़ी सरलता और सुव्यवस्थासे सम्पन्न हो रहा है । भगवान्के सत्य विवेकसे मेरा विवेक पुष्ट हो रहा है और मैं प्रत्येक परिस्थितिका बड़ी अच्छी तरह सदुपयोग करता हूँ ।

जीवनमें नाना विषमताएँ थीं, भगवान्की ओर उन्मुख होते ही वे सब विलीन हो गयी हैं । अब जीवनमें पूर्ण सामञ्जस्य है । अब मैं अपनी शक्ति और सामर्थ्यके सम्बन्धमें पूर्ण विश्वस्त और अपने लिये तथा अपनोंके लिये पूर्ण निश्चिन्त हूँ । अब मैं सब प्राणियोंको स्नेहपूरित दृष्टिसे देखता हूँ, अब मेरा हृदय धैर्य और क्षमाभावनासे परिप्लुत है ।

भगवान् ही मेरी शक्ति, शान्ति एवं विवेकके हेतु हैं ।

पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुराम शर्मा

(अनु० तथा प्रेषक—श्रीसुरेश एम्० भट)

महापुरुषोंने भारतको पुण्यभूमि कहा है। इस भूमि-पर समय-समयपर अनेक संत, महात्मा और अवतारी पुरुषोंने प्रकट होकर इसकी आध्यात्मिक सम्पत्तिको बढ़ाया है। मानव-जीवनके सनातन सत्योंको प्रकट किया है। किसी अलौकिक ईश्वरीय योजनाने भारतमें मानव-जीवनकी भूमिकाको उच्चस्थितिमें रखनेके लिये अनेक दिव्य आत्माओंका आविर्भाव स्वीकृत किया है। इसलिये यहाँ सनातन मानव-धर्मके श्रेष्ठ तत्त्वोंका पुष्प-गुच्छ दिखायी पड़ता है। ऐसे मानव-धर्मके श्रेष्ठ तत्त्वोंकी परम्पराके पुरस्कर्ता सद्गुरुवर्य श्रीमान् नथुराम शर्माका जीवन-परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचार्यश्रीका जन्म सौराष्ट्रमें लीमडीके पास मोजीदड गाँवमें संवत् १९१४ की आश्विन शुक्ला ४ को हुआ। सदाचारसम्पन्न, धर्मनिष्ठ ब्राह्मणदम्पतिका गृहाङ्गण इस महापुरुषके जन्मसे भाग्यशाली बना और भविष्य-के महान् तत्त्वज्ञानी, समस्त मानवको शाश्वत अभयमन्त्रके दाता, सनातन मानव-धर्मकी प्रत्यक्ष मूर्ति, आत्माकी उन्नति शिवपदतक की जा सके, ऐसे वेदान्त-ज्ञानके साथ योग-विद्याके प्रचारक महात्मा पुरुषकी प्रभुने महागुजरातको भेंट दी।

पूज्यपादश्रीने बचपनमें प्राथमिक शिक्षणका अभ्यास समाप्त करके ब्राह्मणके कुल-परम्परारूप विद्यावितरणका व्यवसाय ग्रहण किया। तत्कालीन अनुकूलतानुसार राज-कोट ट्रेनिंग कालेजमें शिक्षा प्राप्तकर, कॉलेजकी उच्च-परीक्षामें प्रथम कक्षामें उत्तीर्ण होकर अध्यापनकार्य आरम्भ किया। किंतु उन्होंने महान् शिक्षक होनेके लिये जन्म लिया था। इसलिये उनकी नैसर्गिक शक्ति, भावना और कर्तव्यनिष्ठाके लिये यह क्षेत्र पर्याप्त नहीं बन सका। अतएव आचार्यश्रीने अध्यापन-कार्यका त्याग करके लोक-शिक्षककी तरह संत-महंतोंके द्वारा भारतमें स्थापित मार्ग ग्रहण करनेकी तैयारी की और इसके लिये उन्होंने ऋषि-मुनि तथा देवोंके द्वारा सतत सेवित और जहाँसे आर्य-संस्कृतिकी अस्खलित धारा प्रवाहित हुई, उस नगाधिराज हिमालयकी शरण ली।

हिमालयमें अति कठिन तपश्चर्याके बाद श्रीदक्षिणा-मूर्ति महेश्वरके कल्याणकारी आदेशको हृदयस्थ करके पतितपावनी गङ्गाके तटपर मोक्षपुरी काशीके समीप आनन्दगुहामें विशेषरूपसे तपस्या की। इसके बाद पुराणप्रसिद्ध गिरनारकी तलहटीमें मुचकुन्दगुहामें काष्ठ-मौन धारण करके तप किया। दीर्घकालकी तपश्चर्याके बाद मानव-धर्मके प्रचारके लिये उन्होंने सद्गुरु-आचार्य-की भाँति समग्र गुजरात-सौराष्ट्रमें विचरण करना आरम्भ किया।

'आचार्य'का अर्थ ऐसा किया जाता है कि जिन्होंने ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीतापर समर्थ भाष्य किये हों, जो स्वयं शास्त्रोक्त सदाचारके अनुसार आचरण करनेवाले हों और जनताको भी उसीके अनुसार आचरण करनेके लिये प्रेरित करें, उन्हें आचार्य कहते हैं। पूज्यपाद श्रीनथुराम शर्माने इसी आदर्शके अनुसार आचार्यपदपर अपनी प्रतिष्ठा स्थापित की। तदुपरान्त वे अनेकों शास्त्रोंके रहस्यभूत व्याख्यान, लेख और पुस्तकोंके द्वारा सदाचाररूप धर्मका प्रचार करने लगे। उन्होंने संस्कृत भाषाके प्राचीन उत्तम ग्रन्थोंमें भरे हुए तत्त्वज्ञानको सीधी-सादी गुजराती भाषामें अवतरित करनेका प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। गुजरातमें जिन आचार्योंने सदाचार और सद्विद्याकी अजस्र धारा प्रवाहित की, उनमें आचार्यश्री-का नाम उल्लेखनीय है।

कर्म, उपासना, ज्ञान और योग आदि विषयोंपर

आचार्यश्रीने अनेकों पुस्तकें लिखकर जनताके कल्याणके लिये ज्ञान-वितरणका महान् कार्य किया है। प्रस्थानत्रयी-की टीका, विचारसागरका पद्यविभाग, पंचदशी, महर्षि पतञ्जलिके योगदर्शन एवं कपिलमुनिकृत सांख्यदर्शन आदि महान् ग्रन्थोंपर सुमधुर गुजराती भाषामें टीका लिखकर आपने गुर्जर भाषाको समृद्ध किया। इनके अतिरिक्त उपदेशग्रन्थावलि, अन्तर्यामीके आदेश, योग-कौस्तुभ, योगप्रभाकर, परमपदबोधिनी और विवेकभास्कर आदि उत्तमोत्तम ग्रन्थोंकी रचना करके आचार्यश्रीने उनको प्रकाशित किया। जिज्ञासु पुरुषोंके प्रश्नोंके उत्तररूपमें लिखे हुए आचार्यश्रीके पत्रोंका संग्रह 'सदुपदेशदिवाकर' नामक पुस्तकके रूपमें प्रकाशित हो चुका है, जो व्यवहारशुद्धि और अध्यात्मज्ञानके मार्ग-दर्शनके लिये अत्यन्त सुन्दर है। तदुपरान्त आचार्यश्रीके व्याख्यानोंके संग्रहरूपमें अनेकों पुस्तकें हैं। यों कुल मिलकर छोटी-बड़ी लगभग १२५ पुस्तकें आचार्यश्रीने जनताके कल्याणके लिये प्रदान की हैं। छपाईकी शुद्धिके लिये आचार्यश्री इतने सावधान थे कि वे स्वयं प्रूफ पढ़ते थे। इसीसे आपके द्वारा प्रकाशित किसी भी पुस्तकमें शुद्धिपत्रक देनेकी आवश्यकता नहीं हुई। इसी प्रकार मानवधर्मकी विशुद्धि-के लिये भी आचार्यश्रीकी तत्परतामें बहुश्रुतता एवं ब्रह्म-निष्ठता ओतप्रोत दिखायी पड़ती थी।

आचार्यश्रीने अपने निकट-परिचयमें आये हुए मुमुक्षुओंको विशुद्धि प्रदानकर उन्हें पवित्र नित्यकर्ममें प्रवृत्त किया और आध्यात्मिक कर्तव्य-पालनके साथ-साथ उनको व्यवहारदक्ष भी बनाया। जनकल्याणके इस महत् कार्यके लिये आचार्यश्रीने सौराष्ट्र-गुजरातको ही नहीं, बम्बई, नासिक और कराँचीके प्रदेशोंमें भी परिभ्रमण करके सुप्त जनताको जाग्रत् किया।

पूज्यपादश्रीका समग्र जीवन निष्काम सेवारूप प्रवृत्तिमें संलग्न रहा। जीवनके एक क्षणका भी निरर्थक व्यय न हो, ऐसा आचार्यश्रीका अलिखित मुद्रालेख था। अध्यात्मविद्याके वितरणके साथ उन्होंने स्वाध्यायद्वारा संस्कृत, मराठी, बँगला, हिंदी, उर्दू और अंग्रेजीका भी अभ्यास किया।

हिमालयकी तपोभूमिमें प्राप्त आदेशके अनुसार आचार्यश्रीने अपनी जो जीवनचर्या नियत की थी, उसका आपने आजीवन अस्खलित आचरण किया।

आप प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर रात्रिको ग्यारह बजे शयनके समयपर्यन्त, अनेकों छोटे-बड़े लोकहितकर कार्योंमें रत रहते हुए ठीक समयपर सब काम सुव्यवस्थित आचाररूपसे करते थे। उनका सदा सादा, नियमित व्यवहार और आदर्श आचार था। आचार्यश्रीकी दिनचर्यामें व्यवहार और परमार्थका युगपत् समन्वय रहता था। किसी भी प्रसङ्गमें रजोगुण या तमोगुणके वेगसे आचार्यश्रीमें क्षोभ, प्रमाद या अस्थिरता दिखायी नहीं पड़ती थी। चित्तकी व्यग्रता या स्खलनसे सर्वथा रहित, सदा एकरस धीर-गम्भीर दिनचर्या आचार्यश्रीकी एक अनोखी आकर्षक वस्तु थी।

आचार्यश्रीके सदा-सर्वदा प्रसन्न मुखमुद्रामें शान्त दर्शन होते थे। कठोर समयपालन, कर्तव्यनिष्ठा, ज्ञान-भंडार एवं जनकल्याणकी तीव्र भावना आदि सद्गुणोंसे आचार्यश्रीके समागममें आनेवाले संत विद्वान्, अधिकारी पुरुष और राजनीतिक नेता—सभी आश्चर्यमुग्ध हो जाते थे। आचार्यश्रीकी अक्रोध प्रकृति एवं जितेन्द्रियता सर्वाधिक आकर्षक तथा प्रशंसनीय थी। स्वाश्रित सद्गुण और स्वच्छता आपको बहुत प्रिय थी। आपकी तीव्र स्मरणशक्ति आश्चर्यमयी थी। परिणामका स्वच्छ दर्शन और किसी भी विषयका तलस्पर्शी विचार—ये आचार्यश्रीमें सहज प्राप्त थे। सर्वधर्म-समभाव, धर्मपालन, निःस्पृही-वृत्ति और परोपकारकी उत्कट भावनासे आचार्यश्रीके जीवनमें सदा दैवी ओजस् दिखायी पड़ता था। प्रत्येक क्षणका सदुपयोग करनेकी तत्परतासे आचार्यश्रीमें महापुरुषका आदर्श जीवन प्रतिबिम्बित होता था।

उदार परमत-सहिष्णुता, मण्डनात्मक उपदेशपद्धति, ज्ञान-विज्ञानका तलस्पर्शी आकलन एवं साक्षर और निरक्षरकी पात्रतानुसार उसे सरल भाव और भाषामें समझानेकी कुशलतासे आचार्यश्री मानवधर्मके आचार्य-पदपर विराजित होकर अनोखा आदर्श उपस्थित करते थे। नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका ओजस् आपकी भव्य मुखमुद्रापर सदैव अङ्कित रहता था।

संत-महात्माओंके विहरणसे पवित्र हुए गिरनारकी पुनीत छायामें बीलखा (सौराष्ट्र) स्थानमें स्थापित आनन्दाश्रम आचार्यश्रीका निवासस्थान था। आपके निवाससे वह आश्रम भी सात्त्विक, सुन्दर और शान्तिप्रद बन गया। इस आश्रमकी सादगी मुमुक्षुओंके लिये सदा आकर्षक बनी रही। आश्रममें प्राचीन-अर्वाचीन पद्धतिका विलक्षण समन्वय था। उसमें श्रीदक्षिणामूर्ति-पुस्तकालयमें साहित्यका विपुल भंडार है। वहाँ अभी श्रीदक्षिणामूर्ति नाथमन्दिर और पूज्यपादश्रीका समाधिमन्दिर सुन्दर बगीचेसे सुशोभित हैं।

आनन्दाश्रमके नियमानुसार वहाँ प्रमाद, आलस्य, दीर्घसूत्रता आदिका त्याग करके आश्रमवासियोंको अपने विशुद्ध नित्यकर्ममें अनुरक्त रहना पड़ता है। सावधानीसे कर्तव्यपालन, नियमितता एवं विशुद्ध सदाचरण करनेवाले नियमानुवर्ती व्यक्ति ही वहाँ रहते हैं। पूज्यपादश्रीने अपने जीवनमें जैसा सिद्धान्त मूर्तिमान् किया और जिनका उपदेश किया, उन्हीं सिद्धान्तोंका उन्होंने आनन्दाश्रमद्वारा प्रचार किया।

आचार्यश्रीके उपदेशमें 'व्यवहारशुद्धिपर पूरा बल रहता था, सारांश यह कि उन्होंने 'व्यवहारका सेवन धर्मबुद्धिमें चरितार्थ किया जाय' यह शिक्षा दी। जगत्के सर्वधर्म—महासागरमें जैसे सरिताएँ मिल जाती हैं, उसी तरह मिल जाते हैं उस महासागर सनातन-मानवधर्ममें। उस मानव-धर्मका विशुद्धिपूर्वक सदाचरण आचार्यश्रीने जीवनपर्यन्त किया और उसीका उपदेश दिया। उनके प्रवचनका लाभ सभी धर्मों एवं वर्णोंके लोगोंने प्राप्त किया था। आचार्यश्रीने किसी धर्मकी टीका-टिप्पणी न करके सर्वधर्मसमन्वयकी पद्धतिको अपनाया था।

ऐसे धुरंधर, सद्गुरुवर्य आचार्यने पचास वर्षोंतक सतत सदुपदेशका प्रवाह बहाकर ७३ वर्षकी वय होनेपर स्वरूपावस्थान किया। आज उसे २६ वर्ष बीत चुके हैं; किंतु आचार्यश्रीकी अक्षयकीर्तिका प्रसार करता हुआ आपका अक्षर देह सदा विलस रहा है।

['आकाशवाणी' राजकोटसे साभार अनुवादित]

क्षमा

भोले, ऐसा भोलापन दे।
भूलूँ और क्षमा कर पाऊँ, ऐसा मुझको मन दे॥
नेकी करूँ, कुएँमें डालूँ, प्रत्युपकार न चाहूँ।
बदी करे जो, उससे बदला कभी न लेना चाहूँ॥
बुरा किसीका कभी न चाहूँ, करूँ बुरा न किसीका।
करूँ बड़ाई और भला ही करूँ व चाहूँ सबका॥
पकड़ूँ सीधी राह व बोलूँ सीधी-सच्ची वाणी।
मनमें समझूँ हैं ये मेरे आत्मरूप सब प्राणी॥
अपनेको भी क्षमा कर सकूँ, बनूँ मित्र मैं अपना।
माधवके प्रभु भोले शंकर! सत्य करो यह सपना॥

—मधुसूदन वाजपेयी

कथा-सत्र

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराज)

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥
शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥*
(श्रीमद्भा० १ । २ । १६-१७)

छप्पय

सुनहु विप्रगन ! परम रहसमय बात सुनाऊँ।
लोक और परलोक बने, सो युक्ति बताऊँ॥
श्रद्धा तैं श्रवनेच्छु पुन्य तीर्थनि में रहि कैं।
करि संतनि कौ संग प्रेम तैं तिनि पद गहि कैं॥
पुन्य श्रवन कीर्तन रमन, कृष्ण कथा निज रुचि करैं।
उभय लोक सुखकर करैं, प्रभु हिय के सब अघ हरैं॥

जीवनमें किसी प्रकार भी यदि भगवान्‌की कथाओं-में रुचि हो जाय, भगवत्-कथा कानोंको मधुर और हृदयको सुखकर लगने लगे तो हृदयके सभी मल धुल जायँ; किंतु विषय-भोगोंमें ही सुख समझनेवाले हम संसारी प्राणियोंको कृष्ण-कथामें अनुराग होता नहीं। वैसे किसीकी निन्दा-स्तुति सुननी पड़े तो पूरी रात्रि विना सोये विता देंगे; किंतु जहाँ भगवत्-कथा सुननेका प्रसङ्ग आया कि आँखोंमें झपकियाँ आने लगेंगी, चित्त चाहेगा कब यह समाप्त हो। आप सोचिये—देवदत्त ऐसा था, उसने ऐसा किया, वैसा किया, उस माता-बहिन-पुत्रीने यह किया, यज्ञदत्त वैसा है, विश्वमित्र बड़ा पाखण्डी है। इन बातोंके कहने और सुननेसे क्या मिल जायगा। यदि वे बुरे हैं तो तुम्हारे बुराई करनेसे वे अच्छे तो हो नहीं जायँगे। उलटे उनके दोष कहते-कहते कुछ दोष तुम्हारे भीतर भी चिपके रह जायँगे। जैसे गीले वस्त्रमें आटा लो और फिर उसे किसीको लौटा दो तो कुछ-न-कुछ आटा उसमें चिपका रह ही जायगा, उसी प्रकार दूसरोंके दोष कहनेवालेके मनमें कुछ दोष तो अवश्य आ जायँगे। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा है—

यदधर्मकृतं पापं सूचकस्यापि तद् भवेत्।

'अधर्म करनेवालेको जो पाप लगता है, उस पापको जो दूसरोंपर प्रकट करता है, उसे भी पाप लगता है।' इसी प्रकार जो दूसरोंके पुण्यकर्मोंकी प्रशंसा करता है, उसे भी पुण्यका कुछ भाग (कमीशन) प्राप्त हो जाता है।

इससे सिद्ध हुआ कि पर-चर्चा, पर-निन्दा करनेसे न तो अपना ही कोई लाभ है, किंतु हानि ही है और न जिसकी निन्दा करते हैं, उसीका कोई सुधार हो सकता है। पर-निन्दा एक ऐसा विषाक्त व्यसन है, जो पान करनेमें तो मीठा लगता है, किंतु उसका परिणाम अत्यन्त दुःखद है। ग्राम्य कथा—परचर्चा न सुनकर यदि प्राणी कृष्ण-कथा सुने, भगवच्चर्चा श्रवण करे तो उसके यह लोक और परलोक दोनों ही बन जायँ। मानव-जीवनकी सफलता एकमात्र भगवत्-कथा-श्रवण ही है। भगवान्‌की कथाओंमें रुचि हो जाय तो फिर वेड़ा पार ही है; किंतु प्राणियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति तो विषयोंमें है, तब भगवत्-कथाओंमें रुचि कैसे हो ?

भगवान्‌की कथाओंमें रुचि होनेके चार ही साधन हैं। सर्वप्रथम तो प्राणीके हृदयमें सुननेकी इच्छा होनी चाहिये, चाहे वह आरम्भमें यत्किंचित् ही क्यों न हो। बिना कुछ श्रवणेच्छाका बीज हुए कोई कथा-श्रवणमें

* सूतजी कहते हैं—'हे विप्रगण ! श्रद्धावान् श्रवणेच्छु पुरुषकी महापुरुषोंकी सेवासे तथा पुण्य-तीर्थोंमें वास करनेसे भगवान् वासुदेवकी कथामें रुचि उत्पन्न होती है। जो भगवान् साधुजनोंके सुहृद् हैं तथा पुण्य-श्रवण-कीर्तन हैं, वे श्रद्धालु भक्तोंके हृदयमें विराजमान होकर उनकी समस्त अशुभ वासनाओंको नष्ट कर देते हैं।

प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। थोड़ी इच्छा बढ़ायी जा सकती है; किंतु जिसके हृदयमें सुननेका बीज ही न हो, वह तो लाख प्रयत्न करनेपर भी कथामें बैठेगा ही नहीं। आरम्भमें थोड़ा हो तो वह अनन्त हो सकता है। इस सम्बन्धमें एक कथा है।

एक बार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र पाण्डवोंके राजसूय यज्ञमें आये थे। पाण्डव तो अपना सर्वस्व श्रीकृष्णको समर्पण करके निश्चिन्त ही रहते थे। सब सार-सम्हार श्यामसुन्दरको ही करनी पड़ती थी। कुछ काम करते हुए भगवान् वासुदेवकी उँगलीमें चाकू आदिसे कुछ चोट लग गयी, रक्त बहने लगा। अन्तःपुरकी बात है—बहुत-सी स्त्रियाँ थीं, सब हाय-हाय चिल्लाने लगीं। कोई कहती—पानी लाओ; कोई कहती—शीघ्रतासे एक वस्त्र तो लाओ, इसमें बाँधना है। द्रौपदीजी भी वहीं थीं। वस्त्रका नाम सुनते ही वे जो बहुमूल्य साड़ी पहिने थीं, तुरंत उन्होंने फाड़कर श्यामसुन्दरकी उँगलीमें बाँध दिया। भगवान्ने कहा—'अरे द्रौपदी! यह क्या कर रही हो? इतनी मूल्यवान् साड़ीको फाड़ रही हो, दूसरा वस्त्र आ जाता।'

आँखोंमें आँसू भरकर पाञ्चालीने कहा—'प्रभो! इस अनित्य और तुच्छ साड़ीका बिगड़ा ही क्या? वास्तविक उपयोग तो इसका अभी हुआ। तुम्हारी दी हुई यदि तुम्हारी सेवामें लग जाय तो यही तो वस्तुओंका सदुपयोग है। इस अनित्य नाशवान् शरीरको सजाये रहना—यही तो वस्तुओंका उपयोग नहीं है।'

भगवान् हँस पड़े और बोले—'द्रुपदनन्दिनी! मुझे जो अल्प अर्पण करता है, उसके बदलेमें मुझे अनन्त देना होता है; क्योंकि मैं अनन्त हूँ, जीव तो अल्प ही है।'

इसीलिये जब दुश्शासनने द्रुपदसुताका चीर खींचा, तब भगवान्को उसके दिये हुए चीरकी याद आयी। इसने मुझे चीर दिया था, तब मैं भी इसके चीरको अनन्त कर दूँ। तभी तो दस सहस्र हाथियोंके बलवाला दुश्शासन पूरी शक्तिसे चीर खींचता जाता था। रंग-बिरंगी साड़ियोंके पहाड़ लग गये; किंतु उस द्रुपदसुताके चीरका अन्त नहीं हुआ। उसका चीर अनन्त बन गया।

दुश्शासनकौ बल घट्यौ, बढ्यौ न दस गज चीर।

कहनेका अभिप्राय इतना ही है कि सुननेके कुछ छिपे हुए भी संस्कार अवश्य होने चाहिये। संस्कारहीन पुरुष रात्रि-दिन समीप रहनेपर भी भगवत्-कथाओंसे लाभ नहीं उठाते। इसलिये श्रवणेच्छा प्रथम गुण है।

दूसरा गुण है—भगवत्-गुणोंमें श्रद्धा होना। बिना श्रद्धाके कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता। यह पुरुष श्रद्धामय है—जिसकी जैसी श्रद्धा होगी, वह वैसा ही हो जायगा। देवतामें, तीर्थमें, भगवत्-प्रतिमाओंमें तथा गुरुमें और ओषधिमें श्रद्धाके ही अनुरूप फल मिलता है। श्रद्धाहीन पुरुष यथार्थ वस्तुको धारण ही नहीं कर सकता। इसलिये भगवत्कथाओंमें रुचि होनेके लिये श्रद्धा होना अनिवार्य है।

स्वयं पुस्तकोंद्वारा पढ़ लेनेमें तथा महापुरुषों—संत-महात्माओंके निकट रहकर उनके मुखारविन्दसे सुननेमें बहुत अन्तर है। जड पुस्तकके माध्यमसे जो सुना या पढ़ा जायगा, उसमें ज्ञान तो रहेगा ही, बोध तो हो ही जायगा; क्योंकि उसमें भी किसी चैतन्यद्वारा ही ज्ञान लिखा गया है। किंतु स्वयं साक्षात् चैतन्यके द्वारा—संत-महात्माओंके मुखसे जो सुना जायगा उसमें ओज, तेज, स्फूर्ति और चैतन्यांश अधिक होगा। वह भी यदि बहुत-से साधु पुरुषोंके बीचमें बैठकर सुना जाय तो उसमें अनन्तगुना रस बढ़ जायगा। कारण कि उन सभी समुपस्थित संतोंकी भावना मिलकर एक अपूर्व वातावरणको उत्पन्न कर देती है। उसमें विद्युत्-जैसी शक्ति आ जाती है। इसीलिये महाराज पृथुने भगवान्से यही वर

माँगा था—प्रभो ! महापुरुषोंके मुखसे निस्सृत आपकी अमृतमयी कथा मुझे सुननेको मिल जाय, मेरे कानोंमें इसे सुननेके लिये दस सहस्र कानोंकी-सी शक्ति आ जाय, यही वर मुझे दें; क्योंकि महापुरुषोंके मुखसे निस्सृत आपके चरणारविन्दोंके कणोंसे युक्त वायु तत्त्व-मार्गको विस्मृत जो योगभ्रष्ट साधक हैं, पतित योगी हैं, उनकी स्मृतिको पुनः जाग्रत् कर देता है। अर्थात् भगवत्-कथा-श्रवणसे ही उन्हें अपने पूर्वजन्मोंके किये हुए सुकृत स्मरण हो आते हैं। इसीसे उनकी कथा-श्रवणमें अधिकाधिक इच्छा बढ़ती है। इसीलिये आपकी सुयश-कथा-सुधाके अतिरिक्त हमें कोई भी दूसरा अन्य वर नहीं चाहिये।*

श्रीमद्भागवतमें तथा अन्यान्य सभी ग्रन्थोंमें बारंबार इसी बातपर बल दिया गया है कि महापुरुषोंके मुखसे निस्सृत जो कथामृत है, उसीसे समस्त क्लेश, दुःख, क्षुधा-पिपासा आदि शोक-मोह शान्त हो जाते हैं। इसलिये आरम्भमें श्रद्धा थोड़ी ही क्यों न हो, कथामें बैठकर श्रद्धापूर्वक उसे सुनना चाहिये।

तीसरा गुण श्रवणकर्ता साधकमें यह होना चाहिये कि उसका अनुराग महापुरुषोंकी सेवा-शुश्रूषामें हो। संसारमें जो कुछ भी प्राप्त होता है, सेवासे ही प्राप्त होता है। संसारमें जितने महापुरुष हुए हैं, उन्होंने जो यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, नाम तथा महत्त्व प्राप्त किया है, एकमात्र सेवासे ही किया है—वह सेवा चाहे धर्मकी हो, जाति-की हो, समाजकी हो, देशकी हो, भगवान् अथवा संत-महात्माकी हो। सेवासे आप जो भी चाहेंगे, वही प्राप्त कर सकेंगे। 'सेवया किं न लभ्यते'—संसारमें ऐसी कौन-सी दुर्लभ वस्तु है, जो सेवासे प्राप्त न हो सके। नीतिकारों-का कथन है—यह सम्पूर्ण पृथिवी सुवर्णके पुष्पोंसे लदी हुई है, किंतु उन सुवर्ण-पुष्पोंको सभी नहीं तोड़ सकते। तीन लोग ही उन पुष्पोंको तोड़कर एकत्रित कर सकते हैं—एक तो वे जो शूरवीर हों, दूसरे वे जिन्होंने पूर्ण-रूपसे विद्या प्राप्त की हो और तीसरे वे जो सेवा करना जानते हों। शूरवीरता और विद्या भी बिना सेवाके प्राप्त नहीं होती। अतः सिद्ध हुआ कि एकमात्र सेवाव्रती ही समस्त कार्योंमें सफलता प्राप्त कर सकता है। अतः कथा-प्रेमी, भगवद्-भजन-पूजनमें निरत परमार्थ-पथके पथिकोंके साथ रहकर ही कथाको श्रवण करना चाहिये। सत्र उसे कहते हैं कि कुछ समान विद्या-बुद्धिवाले साधक मिलकर भगवत्-चर्चामें समय बितायें—उनमेंसे कोई एक वक्ता बन जाय, शेष सब श्रोता हो जायँ। सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन—ये चारो भाई विद्या, बुद्धि, तप तथा प्रेममें समान थे। वे जब सत्र करते, कोई भी एक वक्ता बन जाता, शेष तीनों श्रोता बनकर सुनते। तभी कथामें रस आता है, तभी उसमें अपूर्व आनन्दकी अभिवृद्धि होती है। अपनेसे विद्या-बुद्धि तथा वयमें जो बड़े हों, उनकी सेवा करनेसे उनका सम्मान, आदर तथा अभिनन्दन करनेसे श्रद्धा बढ़ती है, पात्रता आती है, विनय-सदाचार-की वृद्धि होती है और आयु, विद्या, यश तथा बलकी अभिवृद्धि होती है। अतः सेवाभावको मनमें रखकर उसे कार्यरूपमें परिणत करते हुए कथा श्रवण करनी चाहिये।

चौथा गुण है पुण्य तीर्थोंका निषेवण। मनपर वातावरणका बड़ा प्रभाव पड़ता है, आप किसी स्थानमें आते ही इसका प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे। किसी साधु-महात्माके शुद्ध पवित्र स्थानपर जाते ही मन बड़ा ही शान्त हो जाता है। पहले मैं यहीं झूँसीमें समीप ही हंसतीर्थमें एक विशाल वटवृक्षके नीचे रहता था। वृक्ष बड़ा भारी विशाल सघन है, उसके नीचे एक छोटी कुटी थी, उसमें बहुत-से संत पूर्वमें तपस्या कर चुके थे। नीचे

---

* स उत्तमश्लोक महन्मुखच्युतो
भवत्पदाम्भोजसुधाकणानिलः।
स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनां
कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः॥
(श्रीमद्भा० ४।२०।२५)

हमने बड़ा भारी चबूतरा बना लिया था, कुछ प्रेमी बन्धु उसे बहुत अधिक स्वच्छ रखते, लीप-पोतकर निर्मल रखते। गङ्गा-किनारे शान्त एकान्त निर्जन रमणीक स्वच्छ लिपे-पुते उस स्थानको देखकर जो भी वहाँसे निकलता, उसीके मुखसे हठात् निकल पड़ता—'कैसा शान्त स्थान है;' कोई कहता—'काकभुशुण्डिका स्थान है।' इस प्रकार स्थानका मनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। तीर्थोंमें युग-युगसे हमारी पवित्र भावना रही है। अब भी लाखों यात्री पवित्र भावनासे श्रद्धापूर्वक यात्रा करते हैं। इससे वहाँके वातावरणमें अब भी आध्यात्मिकता संनिहित है। इसीलिये तीर्थ-स्थानोंमें किया हुआ जप, अनुष्ठान, यज्ञ-याग तथा दूसरे धार्मिक कृत्योंका अन्य स्थानसे सहस्रोंगुना फल बताया गया है; सुतरां यदि तीर्थ-सेवनपूर्वक भगवत्-कथा सुनी-सुनायी जाय तो उसका प्रभाव अनन्तगुना श्रेष्ठ होता है।

इस प्रकार तीर्थ-स्थानमें रहकर साधु-संतोंकी सेवा करते हुए श्रद्धापूर्वक जो शुश्रूषु कथाका श्रवण करते हैं, उनकी शनैः-शनैः भगवत्-कथाओंमें रुचि बढ़ने लगती है। आरम्भमें जिन्हें हठपूर्वक बैठना पड़ता था, अब उन्हें कथामें रस आने लगता है, बिना कथा-श्रवण किये रहा ही नहीं जाता। जैसे छोटे बच्चेको आरम्भमें जब माता अन्न खिलाती है, तब उसकी इच्छाके विरुद्ध ही उसके मुखमें ठूँस देती है। वह मुँह बनाता है, अनिच्छा प्रकट करता है, उसे उगल देता है; फिर भी माता उसके मुखमें नित्य ही अन्नका ग्रास देती रहती है, अभ्यासको चालू रखती है; नित्य निगलते-निगलते अब उसकी अन्नमें रुचि बढ़ने लगती है, रुचि बढ़ते-बढ़ते वह अन्नमय हो जाता है; फिर उसे एक समय भी अन्न न मिले तो आकाश-पाताल क्षोभके कारण एक कर देता है। इसी प्रकार कथा सुनते-सुनते जिनकी रुचि बढ़ जाती है; उनका जीवन भी कथामय हो जाता है; उन्हें एक दिन भी कथा सुननेको न मिले तो उस दिनको वे अभागा दिन समझते हैं। ऐसे ही एक कथाप्रेमी भगवद्-भक्त थे; वे कहीं ऐसे गाँवमें पहुँच गये, जहाँ कथा-कीर्तन-सत्सङ्गका कोई ढंग ही नहीं था। जाड़ेके दिन थे, शरीरमें चुभनेवाली ठंडी-ठंडी वायु चल रही थी; बादल घिर रहे थे, घनघोर घटाएँ छा रही थीं; आकाशमें बिजली चमक जाती, बादल गरजते। आँधी, पानी, अन्धकार—सभी था। एकने कहा—आज तो बड़ा दुर्दिन है। इसपर वे भक्त बोले—'अरे भैया! आकाश मेघोंसे आच्छन्न हो जाय, आँधी-पानी आ जाय, अँधेरा हो जाय—यही दुर्दिन नहीं है, वास्तवमें दुर्दिन तो वह है, जिस दिन भगवत्-कथासे प्राणी वञ्चित रह जाय।

तद् दिनं दुर्दिनं मन्ये मेघाच्छन्नं न दुर्दिनम्।
यद् दिनं कृष्णपीयूषकथापानादिवर्जितम्॥

वास्तवमें जिसके सम्बन्धमें ऐसी भावना हो जाय, उसीका नाम दुर्दिन है। भगवान्‌की कथा सुनते-सुनते जन्म-जन्मान्तरोंके कल्मष कटते जाते हैं, प्राणीके पूर्व-जन्मके सुकृत उदय होने लगते हैं। इससे उसकी अशुभ वासनाएँ नष्ट होती हैं, अन्तःकरण शुद्ध होने लगता है और शुद्ध अन्तःकरणमें भगवान् आ विराजते हैं। जिसके शुद्ध हृदयमें भगवान् निरन्तर विराजमान दृष्टिगोचर हों, वह प्राणी कृतार्थ हो गया, विमुक्त बन गया। अतः परमपदकी प्राप्तिका सहज-सरल उपाय भगवत्कथाओंका श्रद्धापूर्वक श्रवण करना तथा श्रद्धालु भक्तोंको सुनाना ही है। इसीलिये भक्ति-शास्त्रोंमें बारंबार कथा-श्रवणपर बड़ा बल दिया गया है और सज्जनोंकी यही एकमात्र पहचान बतायी गयी है कि उनके यहाँ नित्य-नियमसे कथा होती है।

आजसे कुछ ही दिन पूर्वतक हमारे देशमें पूर्वसे पश्चिमतक, उत्तरसे दक्षिणतक लाखों त्यागी-विरागी संत-महात्मा विचरण करते रहते थे, जो लोगोंको निःशुल्क—अपना धर्म अथवा कर्तव्य समझकर नित्य

कथा सुनाते थे। कालके प्रभावसे न तो अब उतने त्यागी-विरागी सदाचारी कथा सुनानेवाले संत-महात्मा ही रह गये हैं और न जनतामें ही पहिले-जैसी रुचि ही रही है। अब जो कथा-वाचक हैं भी, उन्होंने कथा कहनेको भी एक व्यवसाय बना लिया है; उनकी दृष्टि कथामें उतनी नहीं रहती, जितनी चढ़ावेपर भेंटपर रहती है। देनेवाले तो भगवान् ही हैं, प्रारब्धका लिखा तो अवश्य मिलेगा ही; फिर तुम अपने भावोंको दूषित क्यों करते हो? लोगोंको लोभसे न रिझाकर उन महान् रिझवार श्यामसुन्दरको रिझाओ। तुम्हारे लोक-परलोक दोनो ही बन जायँगे।

बहुत दिनोंसे हम सोच रहे थे—जैसे पहले झूसीमें १४ महीनेका अखण्ड कीर्तन एवं जपानुष्ठान हुआ था, जिसमें साधक मौनी तथा फलाहारी रहकर ६४ मालाओंका जप करते हुए बिना क्षौर कराये कथा-कीर्तन और सत्संगमें लगे रहते थे। वैसे ही अबके एक कथा-सत्र भी एक वर्षके लिये किया जाय। उस कीर्तनानुष्ठानका समस्त देशने हार्दिक अभिनन्दन किया और उसके कारण सम्पूर्ण देशमें भगवत्-कीर्तन-अनुष्ठानको बहुत कुछ प्रेरणा मिली। भगवन्नामकीर्तनका व्यापक प्रचार हुआ। उसी प्रकार कथाका भी प्रचार हो।

यदि भगवत्-कृपा हुई तथा योग्य साधक और समुचित साधन जुट गये तो इसी गुरु-पूर्णिमासे ६-६ महीनेके दो अनुष्ठान करनेका विचार है। जो साधक उसमें सम्मिलित हों, उनके निवास, भोजन तथा पुस्तकादिका सभी प्रबन्ध आश्रमकी ओरसे हो। उसमें निरन्तर कथाओंका क्रम चलता ही रहे। योग्य विद्वान् कथा-वाचकोंके द्वारा उन्हें कथा कहनेकी शिक्षा दी जाय। यह एक प्रकारसे कथाका प्रशिक्षण होगा। भगवान् नन्दनन्दनके चरणारविन्दोंमें हमारी यही प्रार्थना है कि वे अपने चरणारविन्दोंमें हमारा अनुराग उत्पन्न करें और हमारे देशमें विशुद्ध परोपकारी त्यागी विरागी सदाचारी अधिक-से-अधिक कथावाचक उत्पन्न हों, जो गाँव-गाँवमें जाकर लोगोंको त्रितापोंको नाश करनेवाली भगवान्की ललित लीलाओंकी कमनीय कथाओंको सुनाकर उनके लोक-परलोक दोनोको सुखमय बनावें।*

अब भगवदीय शक्ति मेरे जीवनमें सक्रिय हो रही है

भगवान् मुझपर बिना किसी शर्तके बिना किसी अपेक्षासे सहज ही अपनी कृपा-सुधाकी वर्षा कर रहे हैं। इस भगवत्कृपाके प्रभावसे मुझे निश्चय हो गया है कि मेरा जीवन नित्य-निरन्तर मङ्गलसे - कल्याणसे ही ओत-प्रोत है।

मुझे विश्वास है कि भगवान् निरन्तर मुझे अपने वाञ्छित शुभसे भी कहीं अधिक अनन्त शुभ दे रहे हैं, किंतु उस शुभको ग्रहण करनेके लिये अपनेको तैयार करना मेरा काम था। इस तैयारीमें सबसे पहले मुझे अभाव, दैन्य, संघर्ष एवं रोगमूलक विचारोंको अपने मनसे निकाल बाहर करनेकी आवश्यकता थी। सो उनको मैंने भगवान्की कृपाशक्तिके बल निकाल दिया है। अब मैं जीवनमें भगवच्छक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी शक्तिको सक्रिय नहीं होने देता। भगवच्छक्ति परम मङ्गलमय है, अतएव मेरा जीवन मङ्गलसे भर गया है तथा स्थान न पानेके कारण अभाव आदि स्वतः कूच कर गये हैं।

अब मैं अपने जीवनको घृणा, असंतोष, दुःख, निराशा, ग्लानि आदिके प्रभावसे सर्वथा परिष्कृत-कर उसे भगवान्के प्रेम, संतोष, प्रसन्नता, आशा, उत्साह, विवेक और विश्वाससे ओतप्रोत पाता हूँ। और इसलिये मैं चिन्मयी भगवदीय शक्तिको अपनेमें तथा अपने माध्यमद्वारा जगत्में सक्रिय होनेमें सहायक सिद्ध हो रहा हूँ।

अब भगवदीय शक्ति मेरे जीवनमें सक्रिय हो रही है।

* जो सज्जन इस कथा-सत्रमें श्रोतारूपसे या साधकरूपसे सम्मिलित होना चाहें, वे अपनी अवस्था, योग्यता तथा वृत्ति आदिका पूरा परिचय लिखकर यहाँ भेजें और जबतक यहाँसे बुलावेका पत्र न जाय, तबतक आयें नहीं। ५० नये साधक अभी इस सत्रमें रखनेका विचार है।

रस-दर्शन

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

संसारमें सभी प्राणी रसके प्रेमी हैं, रसके पीछे चारो ओर भागदौड़ दीख पड़ रही है, सभी रसकी अतृप्त प्यास बुझाना चाहते हैं। कहीं-कहीं तो यही प्रतीत होता है कि अब ऐसा रस मिल गया कि पूर्ण तृप्ति हो गयी, इससे अधिक कुछ चाहिये ही नहीं; पर कुछ ही क्षणोंके बाद वही तृप्ति नवीन कामनामें विलीन हो जाती है। रसकी प्यास बुझनेके बदले और अधिक बढ़ती दीख पड़ती है। रसास्वादके प्रलोभनसे ही जीवनमें प्रगति होती है; पर जहाँ रसास्वादका भोग होता है, वहीं जीवनकी गति रुक जाती है और अवनति होने लगती है। इसे विवेकी ही देख पाते हैं। यद्यपि हम सभी प्राणी अपने सब अङ्गोंके द्वारा रसास्वादकी प्यास बुझाकर नित्य तृप्त रहना चाहते हैं, फिर भी हम देखते हैं कि जीवनकी सारी शक्ति रसकी भेंट देकर अन्तमें अतृप्तिका अनुभव करते हुए अपनेसे आगे बढ़े हुए रसके प्यासे पथिक अतृप्त ही हैं। गुरु-विवेककी कृपासे यह दीख रहा है कि रूपका रस लेते-लेते आँखोंकी ज्योति चली गयी, शब्दका रसपान करते-करते कान बहरे हो गये, रसनाका रस लेते-लेते दाँत गिर गये, स्पर्शका रस लेते-लेते त्वचा संज्ञाशून्य हो चली, गन्धका रस लेते-लेते घ्राण-शक्ति क्षीण हो गयी; पर तृप्ति न हो सकी, रसास्वादकी तृष्णा वैसी ही बनी रही। संसारमें जहाँ कहीं रसकी प्रतीति होती है, जिस किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था तथा परिस्थितिके द्वारा रसास्वाद मिलता है, वहीं—उसीसे ममता-मोह-लोभ हो जाते हैं। रसासक्त प्राणी जिस वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थितिके संयोगसे रसास्वादन करता है, वह कुछ भी नित्य नहीं है; जो कुछ भी मिलता है, जिस किसीका भी संयोग होता है, उसको कोई भी सदा बनाये नहीं रख सकता; उसमें परिवर्तन है, ह्रास है, उसका कभी-न-कभी विनाश होता है। रसास्वादके परिणाममें ही न चाहते हुए भी जो दुःख-कष्ट देखने पड़ते हैं, उनसे बचनेके लिये एक अमोघ उपाय यह है कि अनित्य वस्तुको रसका आश्रय न मानकर नित्य-अपरिवर्तनशील सत्यको ही सर्वभावसे रसका परमाश्रय जान लिया जाय।

प्रपञ्ची और परमार्थी मानवमें यही अन्तर है कि प्रपञ्ची अपनी तृप्ति सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियोंके द्वारा करना चाहता है, सांसारिक वस्तु तथा व्यक्ति अनित्य हैं, इसलिये वस्तु-व्यक्तिके ह्रास-विनाश होनेपर प्रपञ्ची सुखका अन्त दुःखरूपमें देखता है। परमार्थी मानव अपनी तृप्तिके लिये अविनाशी परमात्माकी शरण लेता है—उस परमात्माका जिसका स्वयं कोई रूप नहीं है, अपना कोई भाव नहीं है, जो सर्वरूपमय तथा सर्व-भावमय बन सकता है; यही कारण है कि परमात्माका प्रेमी किसी भी भाव, रूप या स्थानमें उसकी उपासना करते हुए स्वतन्त्रतापूर्वक तृप्त होता रह सकता है। परमात्माके भावमय रूपमें ह्रास-विनाश होना ही नहीं है, इसलिये परमात्माके भक्त उससे सम्बन्ध जोड़कर अपने भावानुसार रस लेते रहनेके लिये स्वतन्त्र हैं; इसके विपरीत संसारके वस्तु-व्यक्तिसे भावानुसार रस लेते रहनेमें सभी प्राणी परतन्त्र हैं।

निम्न कोषोंमें शब्द-स्पर्श-गन्ध-रूप-रसका आस्वाद लेते रहनेकी जो भूख है, उसे बलात् दबानेके लिये हठपूर्वक कोई तपका आश्रय भले ही ले; पर उसको मिटाया नहीं जा सकता; इसीलिये साधन-विज्ञानके अनुभवी महापुरुषोंने निम्न कोषकी इस भूखको तृप्त करनेके लिये परमेश्वरमें ही दिव्य रूप-शब्द-स्पर्श-गन्ध-

रसकी भावना की। इस प्रकार सर्व-भावमय परमात्माकी स्वतन्त्र उपासनासे निम्न कोषोंकी तृप्ति करनेके लिये किसीने वात्सल्य-भाव, किसीने दास्य-भाव, किसीने सख्य-भाव तथा किसीने कान्ता और मधुर-भावसे उपासना करते हुए निम्न-कोषोंके अभिमानी जीवकी रसपिपासाको तृप्त करते हुए विज्ञानमय कोषके विकसित होनेपर भगवत्तत्त्वके अनुभवसे अखण्ड रस और आनन्दमय कोषको साधन बनाकर प्रेमयोग—भक्तियोगद्वारा अनन्त रसके आस्वादनका संदेश परमार्थी साधकोंको प्रदान किया। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोषकी सीमामें रसानुभूति भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। अन्नमय कोषके अभिमानीको भूख तथा नींदकी पूर्तिमें रस आता है; प्राणमय कोषके अभिमानीको इन्द्रियोंके विषय-संयोगमें रस आता है, यहाँ क्रियाकी प्रधानता रहती है। मनोमय कोषका अभिमानी कामना-पूर्तिमें रस लेता है, यहाँ भाव अथवा अपनत्वकी प्रधानता है। विज्ञानमय कोषके अभिमानीको सद्-असद्-विवेचन—तत्त्व-दर्शनमें रस आता है, यहाँ ज्ञान-विवेककी प्रधानता है। आनन्दमय कोषके अभिमानीको सत्य—परम प्रियतमसे अभिन्न होनेमें रस आता है, यहाँ निष्काम प्रेम प्रधान है। मानवमें जबतक विज्ञानमय-आनन्दमय कोष विकसित नहीं होते, तबतक निम्न कोषोंमें लोभ-मोह-मान-भोगकी ही प्रबलता रहती है।

मानवका अन्तिम लक्ष्य जीवनमें पूर्णता प्राप्त करना है; यह पूर्णता उससे नहीं मिल सकती, जो स्वयं अपूर्ण है। यद्यपि मनुष्य पुरुषार्थ—प्रयत्नके द्वारा संसारमें आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त करता है, कहीं-कहीं उसे अपनी सिद्धिपर पूर्ण संतोष होता है; पर कालचक्रमें चलते हुए सफलता और सिद्धिके अभिमानीको विवेक-प्रकाशमें स्पष्ट दीखने लगता है कि संसारकी समस्त सफलता और सिद्धियाँ आकुलतासे अनुरञ्जित हैं, प्राप्ति-कालमें, रक्षाको तथा भोगके कालमें विनाशकी चिन्तासे क्रमशः संयुक्त और क्षीणता तथा शोकसे ग्रस्त हैं। जीवनमें बड़ी-बड़ी सफलताओं और सिद्धियोंके साथ जहाँ कहीं अशान्ति-अतृप्ति आती है, वहीं बलात् वह पूर्णताके योगके लिये प्रेरित करती है तथा रस-लोलुप जीवके रसास्वादमें बाधा बनकर शिक्षा देती है कि यह नीरसताके सम्पुटमें घिरा अनित्य रस है। जीवनमें पूर्णता प्राप्त करनेके लिये अथवा अखण्ड रस या अनन्त रसमय धाममें पहुँचनेके लिये आरम्भमें साधन-रूप क्रिया, क्रियाके पीछे सुविधि, सुविधिके साथ पवित्र प्रीतियुक्त सद्भाव, सद्भावके साथ विवेक-ज्ञान, विवेक-ज्ञानके साथ प्रेम-योग अत्यन्त आवश्यक हैं।

क्रियाजनित रसकी अपेक्षा भावजनित रस अधिक श्रेष्ठ, सुखकर है; भावजनित रसकी अपेक्षा ज्ञानजनित रस अत्यधिक उत्तम है; ज्ञानजनित रसकी अपेक्षा प्रेमजनित रस परमोत्तम है; इससे भी परे बोधजनित रस है, पर वह अवर्णनीय है। क्रियाजनित रसकी आसक्ति भावविकासमें बाधक है। भावजनित रसका राग ज्ञानजनित समाधिके रसमें बाधक है। ज्ञानजनित समाधिका रस प्रेमजनित रसके बोधमें बाधक हो जाता है। निम्नकोटिके रसकी आसक्तिका त्याग करते ही उससे उत्तम रसकी उपलब्धि उत्तरोत्तर होती जाती है।

साधनकी पूर्णतामें आरम्भसे अथवा मध्यमें बाधा डालनेवाली क्रियाजनित अथवा भावजनित रसकी आसक्ति है। जबतक मनको रसका आस्वादन मिलता रहता है, तबतक लक्ष्य-प्राप्तिके लिये व्याकुलता प्रबल नहीं होती। व्याकुलतासे ही साधनमें प्रगति होती है, व्याकुलताकी वेदनामें संसारके सारे रस नीरस दीखने लग जाते हैं। साधनकी सिद्धि-असिद्धिका दर्शन—गति-दुर्गति-सद्गति-परमगतिका भेद विवेकवती बुद्धिके द्वारा ही दीखता है जबतक साधककी साधनामें विवेकका योग नहीं होता, तबतक बिना

बुलाये आनेवाले लोभ, मोह, अभिमान, प्रमाद, स्वच्छन्दता आदि विघ्नकारी दोषोंका सम्यक् ज्ञान नहीं हो पाता। कदाचित् दोषोंका ज्ञान भी हो गया, तो दोषोंके रहनेका पूर्ण दुःख नहीं होता; सद्गुण तथा प्रेमकी कमी होते हुए भी पूर्णताके लिये व्याकुलता नहीं होती। व्याकुलता इसलिये नहीं होती कि कुछ करते-मानते-जानते हुए रस आता रहता है। रसका प्यासा प्राणी न जाननेके कारण अनित्य वस्तुके संयोगसे नित्य तृप्तिकी आशा करता है और कभी-न-कभी उसे निराश होना पड़ता है। संसारमें जितने प्राणी वियोग, हानि, अपमान, अपयश, अभाव तथा अन्यान्य कारणोंसे जहाँ कहीं दुखी होते हैं, वे केवल अनित्य वस्तु-व्यक्ति-अवस्था-परिस्थितिमें रसासक्त होनेके कारण ही दुखी होते हैं और दुखी होकर भी दुःखके मूल कारण नहीं जान पाते।

गुरुविवेकमें ज्ञात हो सका कि रसके चार भेद हैं—अनित्य, शान्त, अखण्ड और अनन्त। अनित्य वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थितिके संयोग, भोग तथा उपयोगसे जो रस मिलता है, वह अनित्य है। अनित्य रससे विरक्त होनेपर प्राप्त वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थितिके प्रति राग—अपनत्वका त्याग ही शान्तरसका आस्वादन है; इसमें अन्यसे आशा या सम्बन्धकी अपेक्षा नहीं रहती। राग-मोह-ममता, संयोगकी दासता, आशा-कामना-इच्छाके त्यागसे यह निरपेक्ष रस अपने-आपमें सुलभ होता है। शान्त रसका स्वतन्त्रतापूर्वक आस्वादन करते हुए महात्यागी-को अखण्ड, चिन्मात्र परमात्म-तत्त्वका बोध होता है; इस बोधमें जो रस आता है, वही अखण्ड रस है। अखण्ड रसका आस्वादन करनेवाले महात्माको स्वानुभूत अखण्ड-तत्त्व जब अनन्त नाम-रूपोंके प्रकाशक परमाश्रय सर्वाधिष्ठान-रूपमें बोधित होता है, तब उससे अभिन्नताकी अनुभूतिमें जो रस आता है, वही अनन्त रस है। अनित्य रसका आस्वादन इन्द्रिय-मनका संयोगी भोगी करता है, शान्तरसका आस्वादन कोई बुद्धियोगी त्यागी करता है, अखण्ड रसका बोध किसी परमात्म-तत्त्वके ज्ञानीको होता है और अनन्त रसकी स्थितिमें कोई प्रेमी ही पहुँच पाता है। अनित्य रसमें आसक्त भोगीजन शान्तरसका आस्वादन नहीं कर पाते; शान्त रससे संतुष्ट हो जानेवाले त्यागी पुरुष अखण्ड रसका अनुभव नहीं कर पाते और अखण्ड रसमें तल्लीन तत्त्ववेत्ता महात्मा अनन्त रसकी महिमा नहीं समझ पाते। अनित्य रसके उत्कृष्ट भोगके लिये तप और पुण्यका संचय आवश्यक है; शान्त रसकी उपलब्धिके लिये अशान्तिपरक इच्छा-कामनाका त्याग आवश्यक है, अखण्ड रसके अनुभवके लिये गुरुकृपाकी परम आवश्यकता है और अनन्त रसका बोध परमेश्वरकी करुणा-अनुकम्पासे होता है।

निरा भार ! भूपर निस्सार !!

जहाँ न आध्यात्मिक अनुशासन, और न अखिलेश्वरसे प्यार !
सुरा सुन्दरीका यौवन पर छाया मादकतम अधिकार !
गुरु-जनका सत्कार न किंचित्, केशोंका अविरल शृङ्गार !
छात्र-वर्गका ऐसा जीवन निरा भार भूपर निस्सार !!

—ब्रह्मानन्द "बन्धु"

मैत्री-भावना एक अमोघ अमृत है

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

'अशत्रुरिन्द्रो अभयं नः कृणोतु।'
(अथर्ववेद ६। ४०। २)

शत्रुरहित इन्द्रदेव हमें शत्रुओंकी ओरसे निर्भय करें।

दूसरोंके प्रति वैरभाव रखनेसे मानस-क्षेत्रमें उत्तेजना और असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। हम जिन व्यक्तियों-या शत्रु माने हुए लोगोंसे घृणा करते हैं, उन्हें याद कर अपने ऊपर हावी कर लेते हैं। गुप्त मनमें उन वस्तुओं, व्यक्तियों या शत्रुओंके प्रति भय बना रहता है। मानसिक जगत्में निरन्तर वैर और शत्रुताका भाव बना रहनेसे हमारे स्वास्थ्यपर दूषित प्रभाव पड़ता है। शत्रुभाव हमारी भूख बंद कर देता है, नींद भङ्ग हो जाती है, रक्त-संचालनपर बुरा प्रभाव पड़ता है। अंदर निरन्तर उत्तेजना बनी रहती है। फल यह होता है कि हमारा स्वास्थ्य और प्रसन्नता सदाके लिये नष्ट हो जाते हैं। हम जीवित रहकर भी दुर्भावनाओंके कारण नरककी यातनाएँ भोगते हैं।

स्मरण रखिये—यदि आपके शत्रुओंको कहीं यह ज्ञात हो जाय कि आप सदा उनके बारेमें सोचा करते हैं या चिन्तित रहा करते हैं, वे आपके मनमें सदा टकराते रहते हैं तो वे बहुत प्रसन्न होंगे। अतः शत्रु-भाव कदापि मनमें नहीं रखना चाहिये।

औरंगजेब मुगल-साम्राज्यका अन्तिम शासक था, जिसने सबसे अधिक दिनोंतक राज्य किया। उसका साम्राज्य दूर-दूरतक फैला हुआ था। ऐश्वर्यकी विपुल सामग्री उसे सहज ही प्राप्त थी। किंतु वह कभी मानसिक शान्ति प्राप्त न कर सका। उसका मन सदा शत्रुओंके आक्रमणके भयसे भरा रहता था। उसने अपने भाइयोंके साथ दुर्व्यवहार किया था। हिंदुओंपर कर लगाये थे। वह संगीतादि कलाओंका शत्रु था। उसके शत्रुओंकी संख्या भी बहुत थी। फल यह हुआ कि दीर्घकालतक राज्य करने और एक विशाल भूखण्डका स्वामी होनेपर भी वह सदा अतृप्त और अशान्त ही बना रहा। जो किसीसे शत्रुताका भाव रखेगा, उसे बदलेमें शत्रुता ही मिलेगी।

आज विश्वमें क्रोध, स्वार्थ और हिंसाका प्राचुर्य है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको विध्वंस कर देना चाहता है। एक-से-एक उग्र और विध्वंसात्मक बम बन रहे हैं। बड़े राष्ट्र छोटोंको हड़प जाना चाहते हैं। विश्वमें झगड़े और मतभेद बढ़ते ही जाते हैं। शत्रुताका बीज बोया जा रहा है और एक दूसरेको नष्ट करनेकी नाना योजनाएँ बन रही हैं। यह सब हम मानवोंका दुर्भाग्य ही है कि विश्व एक ज्वाला-मुखीपर खड़ा प्रतीत होता है।

दैनिक और पारिवारिक जीवनमें द्वेष, कटुता और वैर-भाव पनप रहे हैं। भाई-भाईमें, सास-बहूमें, पिता-पुत्रमें, अफसर-मातहतमें, पति-पत्नीमें कटुता है। इसीसे द्रोह, कटुता, वैर और मनोमालिन्य अंदर-ही-अंदर पनप रहे हैं। ऐसी परिस्थितिमें कैसे शान्ति स्थापित हो सकती है और मनुष्य कैसे सुख, शान्ति तथा आन्तरिक आनन्दका उपभोग कर सकता है।

कटुतासे कटुता बढ़ेगी। हिंसासे हिंसा फैलेगी। विद्वेषसे विद्वेष ही पनपेगा और इनसे विनाश अवश्यम्भावी है। कौरव-पाण्डवोंका विद्वेष कैसे भारतके पतन तथा शक्ति-ह्रासका कारण बना, यह सर्वविदित है। भाई-भाईका तनिक-सा वैमनस्य देशकी अमूल्य जन-शक्तिके ह्रासका कारण बना। उस महायुद्धमें देशके सर्वश्रेष्ठ योद्धा नष्ट हो गये और वर्षोंतक हम उठ न सके।

अन्तारार्ष्ट्रिय क्षेत्रमें हिटलर और मुसौलिनीका उत्थान ले लीजिये। कितनी हिंसा, दमन-चक्र, क्रूरता, बर्बरता, स्वार्थ और अत्याचारोंसे उन्होंने कमजोर राष्ट्रोंको चूसा, अनगिनत अत्याचार किये, असंख्य निर्दोष व्यक्तियोंकी हत्याएँ हुईं, अपरिमित सम्पदा और जायदादें नष्ट हुईं, सर्वत्र विद्वेष फैला। कुछ दिनोंतक हिंसा और आतङ्कका बोलबाला बना रहा, पर अन्तमें हिंसा और कटुताका विषैला वातावरण फूट निकला। सब कुछ ज्वालामुखीकी तरह जलकर क्षार-क्षार हो गया। शत्रुभाव एक संक्रामक रोगकी तरह है, जो धीरे-धीरे *समस्त वातावरणमें व्याप्त होकर उसे विषैला बना देता है।*

शत्रुभावकी गंदी विचार-लहरें धीरे-धीरे फैलकर परिवार, समाज, प्रान्त, देश और फिर विश्व भरमें छा जाती हैं। वातावरणमें तनाव आ जाता है। तनावसे चारों ओर दम घोंटनेवाला वातावरण फैल जाता है। इसमें रहनेसे मनुष्यका विकास रुक जाता है—यहाँतक कि जानवर भी उस दूषित वातावरणसे घबरा जाते हैं।

शत्रुभाव मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे अप्राकृतिक है। मनुष्यकी प्रकृति कुछ ऐसी है कि वह परस्पर प्रेम करना चाहता है, मिल-बैठकर प्यारसे जिंदा रहना चाहता है। सहयोग और सौहार्द उसके लिये आसान हैं। प्रेममय रहनेसे उसका व्यक्तित्व स्वभावतः सही दिशाओंमें अपने-आप विकसित होता रहता है। शत्रुभाव मनमें प्रविष्ट हो जानेसे व्यक्तित्वके बहुत-से कोमल और मानवोचित भाग नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य प्रेमकी ओर स्वाभाविक रूपसे अग्रसर हो सकता है। कभी-कभी हम मनुष्यको ऊपरी दृष्टिसे ही देखकर यह गलत धारणा बना लेते हैं कि वह शत्रु-भावसे पूर्ण होगा; पर यदि हम उसे गहराईसे देखें, उसकी आत्मासे निकलनेवाले विचारों और भावनाओंको परखें तो हम पायेंगे कि वह वस्तुतः शुभ, पवित्र और कल्याणकारी है; उसमें किसीके विरोधका तत्त्व किंचित् भी नहीं है। यह गुप्त आत्मतत्त्व ही मनुष्यका सच्चा दैवी स्वरूप है, जिसमें सबके लिये पुनीत मैत्रीभाव विराजमान रहता है। प्रेम, दया, सहानुभूति, करुणा, मैत्री हमारे दैवी स्वरूपके दिव्य गुण हैं, जिनके कारण हमें गौरवका अनुभव करना चाहिये और सदा इन्हींको विकसित करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जब मनुष्य अपने दैवीगुणोंसे गिर जाता है, तब उसे स्वयं अपने ऊपर लज्जाका अनुभव होता है। वह आत्मग्लानिसे भर जाता है। वह ऐसा अनुभव करता है जैसे अपने महान् उत्तरदायित्वसे नीचे गिर रहा हो। बड़े-से-बड़ा आदमी यदि किसी दुर्भावनाका शिकार होता है तो आत्मिक पतनका अनुभव करता है।

स्मरण रखिये, अन्यायपूर्वक किसीको सताना दुष्टता है। आप यदि किसीको सताते हैं तो एक दिन ऐसा आयेगा, जब आपसे शक्तिशाली व्यक्ति आपको पीसेगा, दुखी करेगा और अनुचित लाभ उठानेका प्रयत्न करेगा। अथर्ववेदमें कहा गया है—

मा ते हृदयमर्पियम्
'किसीका दिल न दुखाओ।'
उप प्रयन्तो अध्वरम् (ऋ० १।७४।१)

हम यज्ञका सम्यक अनुष्ठान करते हुए (अग्निदेवके लिये स्तोत्ररूप मन्त्रका पाठ करें)

वह कार्य करो, जिससे दूसरोंको कष्ट न हो। उन मानसिक पापोंसे सदा बचते रहो, जिनसे दूसरोंको कष्ट पहुँचता है और शत्रुता बढ़ती है।

शत्रुता, ईर्ष्या और द्वेषके कुविचारोंको दूरकर मनमें शान्ति और संतुलन बनाये रखनेका साधन मैत्रीभावका दीर्घकालीन अभ्यास है। मैत्रीभावका अर्थ है यह मान लेना कि मेरा कोई शत्रु नहीं है। मेरी सबसे मित्रता है। मैं सबको मित्रभावसे ही देखता हूँ। मित्रताका ही व्यवहार करता हूँ। चारों ओर मेरे मित्र-ही-मित्र हैं। मैत्रीभाव रखनेवाला मनमें यह सोचता है—

'मैं सबका मित्र हूँ। सब मेरे मित्र और हितैषी हैं। मेरा कोई भी अहित करनेवाला नहीं है। मैं किसीका कुछ बिगाड़नेका भाव कभी मनमें नहीं रखता। मैत्रीभाव रखनेसे अब मेरे मनमें न कोई घबराहट है, न मानसिक या शारीरिक क्लेश या दुःख-दर्द।

जिस तरह परम सत्तासे सारे कार्यव्यापार चलते हैं, उसी तरह इस परम पुनीत मैत्रीभावसे मेरा मानसिक जगत् संचालित होता है। मैत्रीके मेघ बरसते हैं, प्यार और सौहार्दकी फसलें उगती हैं। इसी भव्य विचारसे मेरा रक्तसंचार होता है, विचार स्फुरित होते हैं। मेरा सारा जीवन मैत्रीसे ओतप्रोत है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(योगसूत्र १। ३३)

महर्षि पतञ्जलिके 'योगसूत्र' में चार प्रकारकी भावनाएँ मनमें रखनेसे कल्याण होना माना गया है। ये भावनाएँ ही संसारमें विनाशकारी विचारोंपर विजय देकर सर्वत्र शान्ति स्थापित करनेवाली हैं। ये चारो इस प्रकार हैं—

१—मैत्री-भावना—अर्थात् प्राणिमात्रके लिये सत्, प्रेममय और हितकारी भावना रखना—सबसे प्रेम, सौहार्द और मित्रताका भाव। २—करुणा-भावना अर्थात् संसारके पीडित जन-समुदायके प्रति हार्दिक सहानुभूति रखना। ३—मुदिता अर्थात् सुखी वर्गके सुखमें अपने सुखको लय कर देना। ४—उपेक्षाभाव—प्रतिकूल मन या विचारवालोंके झंझटों या भ्रान्तिमें न फँसना।

यदि विराट् दृष्टिसे देखा जाय तो उपर्युक्त चारो प्रकारकी भावनाएँ एक मैत्री-भावनामें ही आ जाती हैं। एक मैत्रीभावसे टकराकर सब शत्रुताएँ, तनाव, खिंचाव, रंजिश समाप्त हो जाती हैं।

महर्षि पतञ्जलिका तात्पर्य है कि मनुष्य यदि किसी पुरुषको सुखी देखे तो उसके प्रति मित्रताका भाव करे। यदि किसीको दुःखसे पीड़ित पाये तो उसे अपनी करुणा (सहानुभूति) प्रदान करे। यदि पुण्यवान्‌को देखे तो प्रसन्न हो और यदि उद्दण्ड पापीको देखे तो उसके प्रति उपेक्षा करे अर्थात् उससे तटस्थ रहे। इन चारो भावनाओंका अभ्यास करनेसे चित्तका उद्वेग नष्ट होता है।

यदि आप अपनेसे ऊँचे, प्रतिष्ठित, समृद्धिशील व्यक्तिसे मैत्रीभाव रखेंगे तो चित्तमें ईर्ष्याकी अग्नि प्रज्वलित नहीं होगी। दुखी व्यक्तिके प्रति प्रेम-भाव प्रदर्शित करनेसे उसकी क्रूरता एवं स्वार्थपरताकी बुरी आदत छूट जाती है।

हमारा निरन्तर ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि मैत्रीभावना विकसित होती रहे। जितने व्यक्तियोंसे भी हमें मिलनेका और मित्रताका हाथ बढ़ानेका अवसर मिले, उतना ही श्रेष्ठ है। जिस व्यक्तिके अनेक मित्र हैं, जिसकी आत्मीयताका जितना बड़ा दायरा है, वह उतना ही प्रसन्न है। वह उतने ही अच्छे मानसिक स्वास्थ्यका आनन्द उपभोग करता है। अपने जीवन-चरित्र और व्यवहारमें मृदुता धारण कीजिये।

कब आओगे ?

मुरझि रहे हैं भावनाके बास हीन फूल,
कब निज सरस सुगंधिन सों छाइहौ।
करि कै अनुग्रह दरस आस पूरि कब,
आरती अरघ आदि सफल बनाइहौ।
'राजहंस' सुन्दर सुरूप छवि छाय कब,
मंजु मौन सुखद संगीत सरसाइहौ।
रस बरसाइहौ, मढ़ाइहौ अमंद मोद,
स्याम! कब रीते मन मंदिरमें आइहौ॥

—बलदेवप्रसाद मिश्र

अपने विचारको शुद्ध कीजिये

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

मनुष्य जैसा विचार करता रहता है, वैसा ही बन जाता है; क्योंकि विचार एक सजीव शक्ति है। इसका प्रभाव अवश्य ही पड़कर रहता है। अतएव अपने विचारका सदैव निरीक्षण करते रहिये। कहीं अशुद्ध विचार मनमें प्रवेश न कर जाय।

जैसा आपका विचार होगा, आपके शारीरिक विद्युत्के प्रमाण आपके चारो ओर वैसा ही मण्डल बना लेगा। क्या कारण है कि संत-महात्माओंके सङ्गकी इतनी महिमा गायी जाती है। उनके निवास-स्थानोंपर पहुँचते ही हृदयमें शान्तिकी लहरें उठने लगती हैं।

जो मनुष्य अपनेको दीन, हीन, मलिन और अयोग्य समझता है, वह वैसा ही बनकर रह जाता है।

जो अपनेको निराश, भीरु और श्रान्त अनुभव करता है, वह वैसा ही होकर रहता है।

फलतः ऐसे मनुष्यके जीवनमें शान्ति कहाँ? वह तो निरन्तर अशान्तिके सागरमें ही डूबता रहता है।

यदि आप मानव-जीवनके आनन्दको लूटना चाहते हैं तो निराशाका परित्याग कर दीजिये। दयालु परमेश्वर-पर पूर्ण विश्वास कीजिये और निरन्तर दृढ़ निश्चय कीजिये कि भयहारी भगवान्के वरद कर-कमल आपके मस्तकपर स्थित हैं, आप शान्ति और चिर-सुखका अनुभव कर रहे हैं। भगवान् तो अपने भक्तोंकी इच्छाको इच्छा करनेके पूर्व ही पूरी कर देते हैं।

भगवान्ने जिस भक्तके मस्तकपर अपना वरद कर-कमल रख दिया, उसका पाप-ताप और माया—सब मिट जाती है और वह सदाके लिये अभय हो जाता है। इसीलिये तो संत-शिरोमणि श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया।
निसि बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया॥

आप निरन्तर अपनेको भगवान्के निकट ही अनुभव कीजिये। वे जितने निकट हैं, उतने निकटपर तो आप-का अपना अङ्ग भी नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि आप भगवान्में हैं और भगवान् आपमें।

आप निरन्तर अनुभव करते रहिये कि आप भगवान्-के हैं और भगवान् आपके। एक संत महोदय 'साधन-पञ्चामृत'के नामसे पाँच बातें सुनाया करते हैं—

(१) मैं भगवान्का हूँ।

(२) मैं भगवान्के दरबारमें रहता हूँ।

(३) मैं भगवान्का ही प्रसाद भोजन करता हूँ।

(४) मैं भगवान्की ही सेवा करता हूँ।

(५) मैं भगवान्की दी हुई वस्तुओंसे ही नर-नारायण अथवा विश्वरूप भगवान्की सेवा करता हूँ।

कितनी सुन्दर बातें हैं! मुझे तो बहुत ही पसंद है यह पञ्चामृत।

मैं पूर्ण आरोग्य हूँ, शान्त हूँ और सफलता देवी मेरे पीछे-पीछे है।

मैं निश्चिन्त और निर्भीक हूँ; क्योंकि परम प्रभु मेरे साथ हैं।

सभी जीव-जन्तु मुझे सुख प्रदान कर रहे हैं। किसीसे भी मुझे दुःख नहीं है।

इस व्यक्त संसारके रूपमें मैं उस परम प्रभुकी मुनि-मनमोहिनी मधुर मनोहर मूर्तिके दर्शन कर रहा हूँ और उनको मानसिक प्रणाम करता हूँ। भगवान्की असीम कृपासे मैं समृद्धिशाली हूँ। मैं पूर्णकाम तथा आत्माराम हूँ।

मेरे योगक्षेमका वहन तो वे ही विश्वम्भर कर रहे हैं। मेरी सभी आवश्यकताएँ उनकी कृपासे पूरी हो जाती हैं।

भगवान् मेरे हृदयमें हैं, अतः मैं उनकी शक्तिको पाकर सब कुछ करनेमें समर्थ हूँ। सभी सद्गुण, सदाचार मुझमें भरे पड़े हैं। ऐसा निश्चय करते रहें।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आदर्श अंग्रेज-चरित्र

सन् १९२४ की बात है, मेरे सहपाठी श्रीनरुलाजी, जो आजकल नागपुर साइंस कालेजमें उपप्रिंसिपलके पदपर नियुक्त हैं, उच्चशिक्षाके लिये विलायत गये थे। वहाँसे तीन साल पश्चात् पी-एच्० डी० की उपाधि लेकर वापिस भारतवर्षमें आये। इन्होंने अपनी जवानी अंग्रेज-चरित्रकी महानताका जो वर्णन किया था, वह मैं उपस्थित करता हूँ। उन्होंने बतलाया था कि वे लंदनके एक घरमें पेइंग गेस्टकी हैसियतसे ठहरे। वहाँपर और व्यक्तियोंके अतिरिक्त मेट्रनकी एक तरुण लड़की थी, जो वहाँ किसी दुकानपर 'सेल्स् गर्ल' का काम करती थी। इधर इनको विज्ञानमें पी-एच्० डी० करना था, इसलिये इन्हें लैबरेटरीमें बहुत काम करना पड़ता था। ये जेबमें डबल रोटी ले जाया करते थे और भूख लगनेपर वही खा लेते थे। एक दिन दोनोको सायंकाल अवकाश था; इसलिये प्रातःकाल यह विचार निश्चित हुआ कि आज सायंकालको सिनेमा जायँगे। फिर मिलनेका स्थान निश्चित हो गया। प्रभुकी लीला विचित्र है। निश्चित समयसे दो घंटे पूर्व बड़े जोरकी वर्षा प्रारम्भ हो गयी। जब इन्होंने लैबरेटरीसे बाहर निकलकर देखा तो हिम्मत नहीं पड़ी कि ऐसी वर्षामें वहाँसे निकला जा सके। ये वहीं ठहरे रहे, परंतु वह लड़की वर्षाकी परवा न करके निश्चित समयपर नियत स्थानपर पहुँच गयी और मूसलाधार वर्षामें बिना छाते या रेन-कोटके खड़ी भीगती रही। इधर जब वर्षा बंद हुई, तब ये भी उस ओर जा निकले। उसे पानीसे भीगी हुई तथा सर्दीसे काँपती हुई देख उनके मुखसे निकला—'ओह! आप यहाँ हैं? (Oh, you are here?)' उसने काँपते हुए होठोंसे कहा—मुझे तो यहीं रहना चाहिये था (I was supposed to be here)। इतना कहा और उसके होठ बंद हो गये; उसने इनसे यह शिकायत नहीं की कि तुम समयपर क्यों नहीं पहुँच सके। परंतु उसके शब्द इनको ऐसे लगे जैसे किसीने भालेसे मर्मस्थानको बींध डाला हो। इनका सिर 'अंग्रेज-चरित्र' के आगे नत हो गया।

इन्होंने फिर बतलाया कि "समय व्यतीत होनेपर वह दिन निकट आ गया जब कि मुझे अपना थीसिस दाखिल करना था। परंतु समयके अभावसे मुझे बहुत कष्ट हो रहा था कि अब क्या किया जाय; इतनी जल्दी मेरे लिये लिखना असम्भव था। मैं इसी चिन्तामें डूबा था कि वही लड़की जिसके साथ मेरा भाई-बहिन-जैसा शुद्ध प्रेमका सम्बन्ध था, मुझसे पूछने लगी कि 'आज आप उदास क्यों हैं?' मैंने कहा कि 'एक ही दिनमें मुझे थीसिस दाखिल करना है और मुझमें साहस नहीं कि मैं इतनी जल्दी इस सुलेखको लिख सकूँ। यदि यह तिथि निकल गयी तो फिर छः महीने और प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इसलिये मैं विवश हुआ सो नहीं पा रहा हूँ।' बिना रुके उसने झट कहा—'आप इसके लिये जरा भी चिन्ता न करें; मैं टाइप बहुत अच्छा जानती हूँ और मेरी स्पीड प्रति मिनट ८० शब्दकी है। मैं सारा थीसिस टाइप कर दूँगी।' मैंने प्रसन्नताकी श्वास ली और थीसिस उसके हवाले कर दिया। पहले तो एक-दो घंटे मैं उसकी सहायता करता रहा, परंतु फिर निद्राने मुझे विवश कर दिया। मैं सो गया। परंतु वह देवी सारी रात्रि टाइपपर जुटी रही। जब प्रातःकाल सात बजे मैं उठा, तब मैंने देखा कि वह लगी हुई है

और सर्दीसे उसकी अंगुलियोंसे रक्त बह रहा है। वह थीसिस समाप्त कर ही चुकी थी, मैंने उसका साहस देखकर उसकी प्रशंसा की। परंतु उसने कहा कि 'इसमें कौन-सी बड़ी बात हुई, यह तो मेरा कर्तव्य ही था कि इस संकटमें मैं आपकी थोड़ी-बहुत सहायता करती।' धन्य हैं ऐसे मनुष्य—जो अपने सुखकी जरा भी परवा न करके दूसरेके हितके लिये अपने-आपको अर्पण कर देते हैं। धन्य है उनका चरित्र जो बिना किसी लालचके तथा बिना किसी आर्थिक लाभके इस प्रकार सेवा करते हैं।

—योगेन्द्रराज भण्डारी

(२)

दयाके सागर विद्यासागर

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर अपने मित्र श्रीगिरीशचन्द्र विद्यारत्नके साथ बंगालके कालना नामक गाँव जा रहे थे। रास्तेमें उनकी नजर एक लेटे हुए मजदूरपर पड़ी, जिसे हैजा हो गया था। उसकी भारी गठरी एक ओर लुढ़की पड़ी थी। उसके मैले कपड़ोंसे बदबू आ रही थी। लोग उसकी ओरसे मुख फेरकर जल्दी-जल्दी चले जा रहे थे। मजदूर बेचारा उठनेमें भी असमर्थ था। विद्यासागर तो दयासागर थे; उनके मित्र भी उनसे पीछे क्यों हटते ? उन्होंने मजदूरको अपनी पीठपर बैठाया और उनके मित्रने मजदूरकी गठरीको सिरपर रक्खा और उसे लेकर वे कालना पहुँचे। मजदूरकी वहाँ उन्होंने चिकित्सा करायी। जब वह अच्छा हो गया, तब उसे कुछ पैसे देकर घर भेज दिया। (पराग)

(३)

सभी मनुष्योंसे प्रेम

शिशु बाबूका नाम न केवल उनके जन्म-स्थानमें ही आदरके साथ लिया जाता था, बल्कि आस-पासके इलाकेमें दूर-दूरतक वे प्रसिद्ध थे। वे बहुत धनी थे, किंतु उनका नाम धनके कारण नहीं था। उनके हृदयमें मनुष्यमात्रके लिये लबालब प्रेम भरा था।

एक दिन शामको उनका एक नौकर उनकी बैठकमें दिया जला रहा था। ऐसा करनेमें एक कीमती झाड़फानूस उसकी लापरवाहीसे फर्शपर गिरकर चकनाचूर हो गया। नौकरकी तो डरके मारे मानो जान ही निकल गयी। उधर घरका मैनेजर भी यह घटना देख रहा था। उसने आव देखा न ताव, उस गरीब नौकरके ऊपर वह बरस पड़ा। चिल्लानेके साथ-साथ उस डरे हुए बेजान नौकरपर उसने लातों और घूँसोंके वार करने शुरू कर दिये। इतने जोरसे उसे मारना शुरू किया कि वह चोटोंके मारे चिल्लाने लगा।

शिशु बाबूने यह चिल्लाना सुना, तो वे झपटकर ऊपर गये। उन्हें देखकर मैनेजरने नौकरको छोड़ दिया और वह अदबसे अलग हटकर खड़ा हो गया। शिशु बाबूने उस नौकरको कंधा पकड़कर उठाया और बाहोंमें भर लिया। वह उनकी छातीपर सिर रखकर इस प्रकार रोने लगा, जैसे कोई बेटा बापकी छातीपर अपने सारे दुःख उँड़ेल देता है। इसी हालतमें कुछ समय गुजर गया।

इसके बाद शिशु बाबूने तेज नजरोंसे अपने मैनेजरकी ओर देखकर कहा—'महाशय, मैं आपके इस कामको सख्त नापसंद करता हूँ, इस बातकी गाँठ बाँध लीजिये। बताइये, आखिर क्या किया था इस आदमीने ?'

मैनेजरने सारी बात बता दी। इसपर शिशु बाबू बोले—निश्चय ही यह दुर्घटना थी और हममेंसे किसीके द्वारा घट सकती थी। देखते नहीं, जो कुछ हुआ है, उसका इस आदमीको स्वयं कितना दुःख है ? तुमने जो काम किया है, वह बहुत ही नीचे दर्जेका है।

शिशु बाबूके सारे नौकर अपने स्वामीको इसी कारण बहुत चाहते थे। —वल्लभदास बिन्नानी

(४)

ईमानदार ताँगेवाला

घटना पुरानी नहीं है। मेरी छोटी बहिनकी शादी थी। [1]बतीसीमें गङ्गाशहर जाना था, साथमें अन्य औरतें भी थीं। गङ्गाशहर बीकानेरसे तीन मील दूर है, इसलिये किरायेके ताँगे किये गये और सब लोग ताँगेपर सवार होकर गङ्गाशहर गये। रास्तेमें मेरी चाचीजीके हाथमें पहना हुआ एक [2]भुजबंद ताँगेमें दोनों सीटोंके बीचके छेदमें गिर गया। उस समय उनको मालूम नहीं हुआ। गङ्गाशहर आनेपर सब लोग ताँगोंसे उतरे और ताँगेवालोंको किराया चुका दिया गया। ताँगेवाले सब चले गये।

हम सब ताँगोंसे उतरे और बतीसी लेकर माताजीके पीहर गये। वहाँ आदर-सत्कारके बाद जब टीकेका काम चालू हुआ, उस समय मेरी चाचीजीकी दृष्टि अनायास ही हाथकी ओर गयी और तब उन्होंने देखा कि भुजबंद नहीं है। भुजबंदकी कीमत लगभग १५००) रुपये थी। खलबली मच गयी। चाचीजीको पूछे जानेपर उन्होंने कहा कि 'मैं ताँगेपर सवार हुई थी, उस समय मेरे भुजबंद हाथमें था और यहाँ कहीं गिरा नहीं है, हो न हो ताँगेमें गिरा है।' ताँगेवालेको कोई पहचानता नहीं था।

इतनेमें ताँगेवाला आया और उसने भुजबंद देते हुए कहा—'जब मैं अपने घर गया और जब मैंने घोड़ेको दाना-पानी देनेके लिये खोला तथा ताँगेको साफ करते समय इसको देखा, तब मैंने समझा कि यह भुजबंद तो आपका ही हो सकता है; क्योंकि आज मैं पहले-पहल आपके ही किरायेपर आया था। मैंने सोचा आपलोग बहुत चिन्तित होंगे, इससे मैं तुरंत ताँगा जोड़कर भुजबंद देने चला आया। आप इसे सँभाल लीजिये।'

हम सब लोग प्रसन्न हो गये और ताँगेवालेकी ईमानदारीकी प्रशंसा करने लगे। मेरे भाईसाहबने उसे ५०) इनामके देने चाहे, किंतु उसने नहीं लिये और कहा कि 'मैं ईमानको सोने-चाँदीके टुकड़ोंपर नहीं बेच सकता। मैं भुजबंद इसलिये नहीं लाया कि आप मुझे इनाम दें। मैं भगवान्‌को चारों ओर देखता हूँ। मुझे डर लगता है कि यदि मैं बेईमान हो गया तो भगवान्‌के न्याय-दरबारमें क्या उत्तर दूँगा।'

बहुत कहने-समझानेपर भी उसने इनाम नहीं लिया और सबको ईमानदारीका जीता-जागता सबक देकर ताँगेपर सवार होकर चल दिया।

[1] राजस्थानमें जब लड़के या लड़कीका विवाह होता है, तब लड़के या लड़कीकी माँ अपने भाईके यहाँ (पीहर) जाकर भाईके तिलक लगाती है और बादमें भाई भात या माहेरा भरता है। इस तिलककी प्रथाको बतीसी कहते हैं।

[2] भुजबंद—औरतोंके हाथमें पहननेका एक सोने और मोतियोंका बना गहना।

(५)

सहृदयता

एक बार गोंडलनरेश स्व० श्रीभगवतसिंहजी और उनके कुअँर श्रीभोजराज मोटरमें किसी दूरके गाँव जा रहे थे। रास्तेमें एक जगह मोटर रुक गयी। दोनो नीचे उतरकर इधर-उधर टहलने लगे। बिल्कुल सादी पोशाक थी, जल्दी कोई पहचान भी नहीं सकता था। पास ही एक बुढ़िया थेपड़ीका टोकरा भरे खड़ी थी। उसने समझा कोई किसान है और आवाज दी—'अरे भाई! जरा यह टोकरा मेरे सिर तो उठा दो।' श्रीभगवतसिंहजीने भोजराजसे कहा—'जरा सहारा लगा आओ।' उसके बाद तो उन्होंने वहाँ थोड़ी-थोड़ी दूरपर ऐसे थामले बनवा दिये कि कोई भी अकेली स्त्री उनपर अपना बोझा रखकर अपने आप ही सिरपर ले लेती।

—जेठालाल कानजी भाई शाह

(६)

भगवान् देना चाहते हैं तो छप्पर फाड़ कर देते हैं

बात सन् १९४९ की है (मास और दिवस मुझे स्मरण नहीं) । उस समय मैं बीकानेर स्टेशनपर डिप्टी स्टेशनमास्टरके पदपर नियुक्त था ? अप गाड़ी (संध्याके समय) बीकानेर रेलवे-स्टेशनसे चलनेवाली थी । मैं ड्यूटीपर प्लेटफॉर्मपर खड़ा था । इतनेमें मेरे एक घनिष्ठ मित्र पं० श्रीदुर्गाप्रसाद, जो उन दिनों रेलवे ऑफिसमें क्लर्क थे और अब भी हैं, मेरे पास चले आये । वहाँ मेरी उनकी विनोद-वार्ता होने लगी। बातों-ही-बातोंमें मेरे मुँहसे निकल पड़ा 'भगवान् देना चाहते हैं तो छप्पर फाड़कर देते हैं ।' मेरी इस बातकी हँसी उड़ाते हुए उन्होंने भी विनोदमें ही कहा कि हम तो तुम्हारे भगवान्को तब जानें, जब वे तुम्हें कहींसे अनपेक्षित पचास रुपये भेज दें । मैंने अपने उसी विश्वासपूर्णभावसे उत्तर दिया 'भगवान् चाहें तो कुछ भी असम्भव नहीं है ।' उन्होंने मेरे इस उत्तरको उपेक्षाकी मुद्रासे सुना-अनसुना कर दिया । मैं भी गाड़ीको विदा करनेके कार्यमें संलग्न हो गया ।

इधर भगवान्की अहैतुकी कृपाने तुरंत ही मेरे इस विश्वासको साकार रूप दिया । सन् १९३८-३९ में मैं लूनकरनसर स्टेशनपर स्टेशनमास्टर रहा था । उस बीचमें मैंने वहाँके गण्यमान सेठ नथमलजी बोथराके पुत्रको प्रायः दो मासतक अँग्रेजी पढ़ायी थी । परंतु न तो मैंने उनसे कुछ शुल्क माँगा था, न मेरी ऐसी अभिलाषा ही थी । मैं तो प्रारम्भसे ही केवल स्वभावेन अपना जीवन-लक्ष्य बनाकर जो कुछ मैं जानता हूँ उसके अनुसार किसी भी व्यक्तिको रेलवेका काम सिखाने तथा अंग्रेजी 'विषय' समझानेको प्रस्तुत रहता आया हूँ । अस्तु, उक्त सेठ साहब मेरी और श्रीदुर्गाप्रसादजीकी बातचीतके दो ही मिनट पश्चात् अनायास ही कहींसे मेरे सामने आ खड़े हुए । मानो भगवान्ने ही मेरी उस विश्वासभावनाको सत्य प्रमाणित करनेके लिये उनको भेजा था । वे बोले—'बाबूजी ! मेरा आपका कुछ हिसाब है ।' यह सुनकर मैं अवाक्-सा रह गया । लूनकरनसर छोड़े मुझे दस वर्ष हो चुके थे । उनके पुत्रको पढ़ानेकी बातका तो मुझे स्मरण भी न रहा था । मैं तो उल्टे यह समझने लगा कि कहीं ये यह न कह दें कि 'मैं तुमसे कुछ रुपये माँगता हूँ ।' मैंने उसी आश्चर्य मुद्रासे पूछा—'कैसा हिसाब सेठ साहब ! क्या आप मुझसे कुछ माँगते हैं ?' उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया—'नहीं बाबूजी ! नहीं । मुझे तो आपको कुछ रुपये देने हैं ।' यह कहते हुए उन्होंने मेरे हाथपर ५०) रुपयेके नोट रख दिये और कहा—'आपने मेरे लड़केको पढ़ाया था, उसका शुल्क है ।' मैंने कुछ आनाकानी की; परंतु वे बोले 'यह तो आपकी मेहनतवा है, आपको लेना ही पड़ेगा ।' मैंने रुपये ले लिये और श्रीदुर्गाप्रसाद, जो कुछ ही दूरीपर वहीं खड़े थे, भगवान्के इस चमत्कारको देखकर चकित हो गये ।

—लक्ष्मणप्रसाद विजयवर्गीय

(७)

'दान करना धर्म नहीं'

पचास-पचपन वर्षकी पुरानी बात है । कलकत्तेमें एक सेठ रहते थे । नाम उनका याद नहीं रहा । उनसे जब कोई मिलता, तब वे यही कहते कि 'दान करना धर्म नहीं ।' यह एक अनोखी कहावत तो थी, पर इससे भी ज्यादा अनोखी बात यह थी कि जो कंजूस सेठ उनके मुँहसे यह कहावत सुनता, वह सुननेके बाद तुरंत दानी बन जाता । जैसे ही लोगोंको इस अनोखी बातका पता चला, तो उन्हें यह जाननेकी इच्छा हो उठी कि आखिर यह सेठ किस तरह कानमें इस 'दान करनेसे धर्म नहीं होगा' मन्त्रको फूँकते हैं

कि हमेशाके कंजूस सेठ दानी बन जाते हैं। कई दानी बने कंजूस सेठोंसे मन्त्र जाननेके लिये पूछताछ भी की गयी, पर परिणाम कुछ न हुआ।

पाठक यह तो नोट कर ही लें कि वे सेठ कहते तो यही थे कि दान करनेसे धर्म नहीं होता, पर खूब दान करते थे। वे अपने सिद्धान्तके पूरे विश्वासी हैं, इसका सबूत सिर्फ इस बातसे मिलता था कि वे अपने दानकी बात कभी मुँहपर नहीं लाते थे और दानी होनेके नाते कभी किसी तरहका अभिमान नहीं जताते थे। दान देनेमें न हिचर-मिचर करते थे और अगर किसीको नहीं देना होता था तो इन्कार करनेमें भी जरा नहीं झिझकते थे। खुलासा यह कि उनके दान करनेका ढंग दूसरे दानियोंसे एकदम निराला था। कलकत्तेके अनाथालयको सैकड़ों नहीं, हर महीने हजारोंका दान करते थे। एक तरहसे अनाथालयके आर्थिक प्राण वे ही थे। पर अनाथालयकी प्रबन्ध-समितिपर किसी भी हैसियतसे कहीं भी उनका नाम न था। अनाथालयके प्रबन्धमें कभी किसीने इन्हें दखल देते नहीं देखा। प्रबन्धकर्ताओंने इस तरहकी कभी कोई शिकायत भी नहीं की।

'दान करना धर्म नहीं है,' यह कहावत ऐसे आदमीको शोभा देती है, पर इतनेसे तो हम सबकी तसल्ली नहीं हो सकती और न पाठकोंकी ही तसल्ली हो सकती है। तब यह सवाल होता है कि आगे बात किस तरह बढ़े!

हाँ, तो हुआ यह कि एक दिन एक मनचला आदमी उनके पास पहुँच ही तो गया और एकदम कह बैठा, 'देखिये सेठजी, मैं आपसे यह सुननेके लिये नहीं आया कि दान करना धर्म नहीं है; क्योंकि मुझे यह अच्छी तरह मालूम है कि आप खूब दान करते हैं और यह भी पता है कि सचमुच दान करनेको धर्म नहीं मानते; क्योंकि दानियोंमें जो कमियाँ होती हैं, वे आपमें नहीं पायी जातीं। मैं तो सिर्फ यह पूछने आया हूँ कि अगर दान करना धर्म नहीं है तो क्या है? और आप क्यों दान करते हैं? और फिर यह सवाल तो है ही कि धर्म क्या है?'

सेठजी गम्भीरमुख होकर बोले, 'दान करना एक आवश्यकता है, और धर्म है हाथ-पाँवसे दूसरोंकी सेवा करना।'

सेठजी इतना कहकर चुप हो गये और अपने काममें लग गये। मानो वे सब कुछ कह चुके।

उसके बाद आगन्तुक हिम्मत करके पूछ ही तो बैठा, 'यह आवश्यकता कैसी? मैं ठीक-ठीक नहीं समझा।'

सेठजी काम करते-करते कह गये, 'आवश्यकता ऐसी, जैसे खाना-पीना, टट्टी-पेशाब जाना, जैसे साँस लेना और बाहर निकालना'—और बस चुप हो गये। वह आगन्तुक सेठजीसे आगे कुछ न पूछ सका और अपना-सा मुँह लेकर लौट पड़ा। सुनते हैं, जब वह फाटकसे बाहर होने लगा, तब सेठजीकी हवेलीके चौकीदार आपसमें बातें कर रहे थे कि 'अजब खब्ती सेठ है। रोज अनाथालय जाता है और अपने हाथों छोटे-छोटे बच्चोंके टट्टी-पेशाबके कपड़े धोता है। इसकी कंजूसीका कोई ठिकाना है? यह नहीं करता कि वहाँ एक धोबी लगा दे और वहाँ एक मेहतर रख दे।' दूसरा चौकीदार कह रहा था, 'अरे हाँ, धर्मात्मा बनता है, न कभी मन्दिर जाता है, न हवन-पूजा करता? नरक जायगा, नरक!'

[दान करना धर्म नहीं होता, इसका कैसा दिल-चस्प सार है यह! कितना अच्छा हो कि इसे लोग समझें और अपने पासकी उन चीजोंका कर्तव्यभावसे दान कर दें जिनपर वे अनावश्यक स्वामित्व जमाये बैठे हैं—]

'भूदानयज्ञ'से साभार — महात्मा भगवानदीन

(८)

विपत्ति-हरण

'हम बारातमें सवा सौ व्यक्तियोंसे कम नहीं ला सकते !' भावी समधीके इन शब्दोंके साथ ही चिन्ताकी अमिट रेखाएँ मेरी मुखाकृतिपर अङ्कित हो उठीं; परंतु विवशता मेरे साथ थी। प्रभु-स्मरणके साथ ही जहरका घूँट पीते हुए, एक साथ उमड़ पड़नेवाले आँसुओंको रोकते हुए कहना पड़ा, 'अच्छा साहब' और विवाह-तिथि तय हो गयी।

समयानुसार मैं केवल २५ व्यक्तियोंके पक्षमें था, यद्यपि मेरी स्थिति इतनोंको भी केवल एक समय अल्पाहारमें ही निबटा देने मात्रकी थी; परंतु सामाजिक कीड़ा होनेके नाते समाजका यह आग्रह मुझपर था।

'अच्छा' कह चुकनेके बाद अब चिन्ता थी व्यवस्थाकी। जिन व्यक्तियोंको मैं अपना समझे बैठा था और मुझे जिनपर दृढ़ विश्वास भी था, मैंने उनको स्थितिसे पूर्णतया अवगत करा दिया। कुछ मुझपर हँसे, कुछने बेवकूफ बताया, कुछेकने सहानुभूति भी दिखलायी; पर सबका संक्षिप्त उत्तर था, "है ही नहीं, भाई, क्षमा करें।"

ज्यों-ज्यों समय निकटतम होता जाता था, मैं सूखा जाता था। प्रश्न था सामाजिक इज्जतका; पर कहीं भी आशा-रश्मितक दृष्टि-गोचर नहीं हो पा रही थी; सारांश 'प्रभु-स्मरण'के अतिरिक्त अब और कोई साधन अवशेष नहीं रह गया था।

मैं अपनी 'ड्यूटी'पर जा रहा था; बसमें बैठा यही सोच रहा था कि वहाँ जाकर लिख दूँगा, 'बहिनकी शादी अभी छुट्टियाँ न मिल सकनेके कारण नहीं कर सकूँगा' इन्हीं विचारोंको दृढ़कर पुनः प्रभु-चिन्तनमें मग्न हो गया!

अकस्मात् बस नसीराबाद स्टैंडपर रुकी, मैं गाड़ीसे उतर पड़ा। उतरते ही मेरे पूर्वके प्र० अ० श्रीगोवर्द्धन-सिंहजी मेरी ओर ही आये। उनके पास आते ही उचित शिष्टाचार भी न हो सका कि आँखें स्वतः टप-टप बरसने लगीं; यह दृश्य देखकर वे भी स्तम्भित-से रह गये। आखिर मैंने सब बातें उनसे बतायीं, यद्यपि मेरी-जैसी ही उनकी स्थिति होनेके कारण मुझे शङ्का बराबर होती जा रही थी। मेरी बात समाप्त होते ही उन्होंने मेरे हाथपर·······सौंप दिये और आप स्वयं न जाने कहाँके लिये और किस कामके लिये बसपर चढ़ गये, मैं अवाक् रह गया। चढ़नेके बाद उन्होंने हाथ हिलाया, तब उनके मोती भी आँखोंसे बाहर निकल चुके थे। मैंने नीचा मस्तक किये ही उनमें साक्षात् विपत्ति-हरण 'गोवर्द्धन-धारी'के दर्शन किये। कुछ साहस बँधा, फिर जहाँ कहीं जानेका साहस करता, स्वतः उस गोवर्द्धन-धारीका स्वरूप हृदयके अन्तरङ्गमें दिग्दर्शित हो उठता, तब फिर किसीने 'नहीं' नहीं किया; फलतः शादी सकुशल सम्पन्न हो गयी।

मेरे हृदय-पटलपर वह विपत्ति-हरण गोवर्द्धन-धारी अब भी ज्यों-के-त्यों अङ्कित हैं।—महाप्रभु गोवर्द्धन-धारीकी जय।

—जौहरीलाल जैन

(९)

मनुष्यका कर्तव्य

कुछ समय पहलेकी बात है, मैं और मेरे एक पारसी मित्र साइकलद्वारा दिल्लीकी सैर करने गये थे। इन्दौरमें दीवाली मनायी और नये वर्षके दिन प्रातःकाल ही इन्दौरसे निकले। इन्दौरसे ग्यारह मील आगे गये थे कि मेरे मित्रकी साइकलमें पंकचर हो गया। हमलोग एक ओर बैठकर साइकल ठीक करने लगे। पर कौन जानता था कि आध घंटेका काम दो घंटेमें भी पूरा नहीं होगा। आस-पास कोई गाँव भी नहीं था कि कहींसे मदद मिल सके। इतनेमें एक भड़कीली मोटर हमारे पाससे निकली और पूरी चालसे आगे बढ़ गयी।

थोड़ी दूर जाकर ही मोटर रुकी। हमारा ध्यान उस तरफ गया। हमने सोचा, मोटरमें कुछ बिगड़ा होगा। इतनेमें तो मोटर वापस घूमी और हमारे पास आकर ठहर गयी।

मोटरमेंसे एक गोरे साहब उतरे और 'मैं आपकी कुछ मदद कर सकता हूँ?' यों अंग्रेजीमें कहते हुए हमारे पास आ गये। हमने अपनी कठिनाई उनको बतलायी और वे हमारी मदद करने लगे। पंद्रह मिनटमें साइकल ठीक हो गयी।

वे दिल्लीकी प्रदर्शनी देखकर सकुटुम्ब बम्बई जा रहे थे। साइकल ठीक न होनेपर वे हमलोगोंको वापस इन्दौर पहुँचानेको तैयार थे, यह उन्होंने बताया। हमारे बार-बार मना करनेपर भी जाते समय उनकी पत्नी हमें एक दर्जन केले दे गयीं।

हमने उनका उपकार माना; तब उन्होंने जो शब्द कहे, वे हमारे मनमें अब भी रम रहे हैं—'यह मनुष्यका कर्तव्य है।'

—अब्बास अहमदाबादी

सहारा दो

(रचयिता—श्रीगोविन्दजी, एम्० ए०, बी० एस्-सी०)

पंथ हारा हूँ, मुझे क्षणभर सहारा दो।
प्रभो ! क्षणभर सहारा दो॥

वासनाओंके तिमिरमें मैं स्वयंको खो चुका हूँ,
कल्पनाओंके जलधिमें रूप तेरा धो चुका हूँ,
पंथ भूले पाँवको तुम ज्योति-तारा दो।
प्रभो ! क्षणभर सहारा दो॥

सिन्धुका विस्तार अपनी नील सीमामें गरजता,
डगमगाती क्षुद्र नौकाके लिये हरदम मचलता,
डूबते मस्तूलको तुम बस, किनारा दो।
प्रभो ! क्षणभर सहारा दो॥

बन गये तूफान मेरे पंथके साथी मधुरतर,
बुझ रहे वे दीप, जो जलते हृदयमें साँस भरकर,
टिमटिमाती रोशनीको स्नेह धारा दो।
प्रभो ! क्षणभर सहारा दो॥

चल रहा मैं सीमसे निस्सीम सीमामें अलक्षित,
आँसुओंके देशमें अपने हृदयसे भी अपरिचित,
देव, करुणाके करोंकी स्निग्ध कारा दो।
प्रभो ! क्षणभर सहारा दो॥

पंथ है, मैं हूँ, हृदयमें साधनाकी प्यास भी है,
और केवल एक तुमपर ही टिका विश्वास भी है,
यह रहा गन्तव्य, बस, तुम कर इशारा दो।
प्रभो ! क्षणभर सहारा दो॥
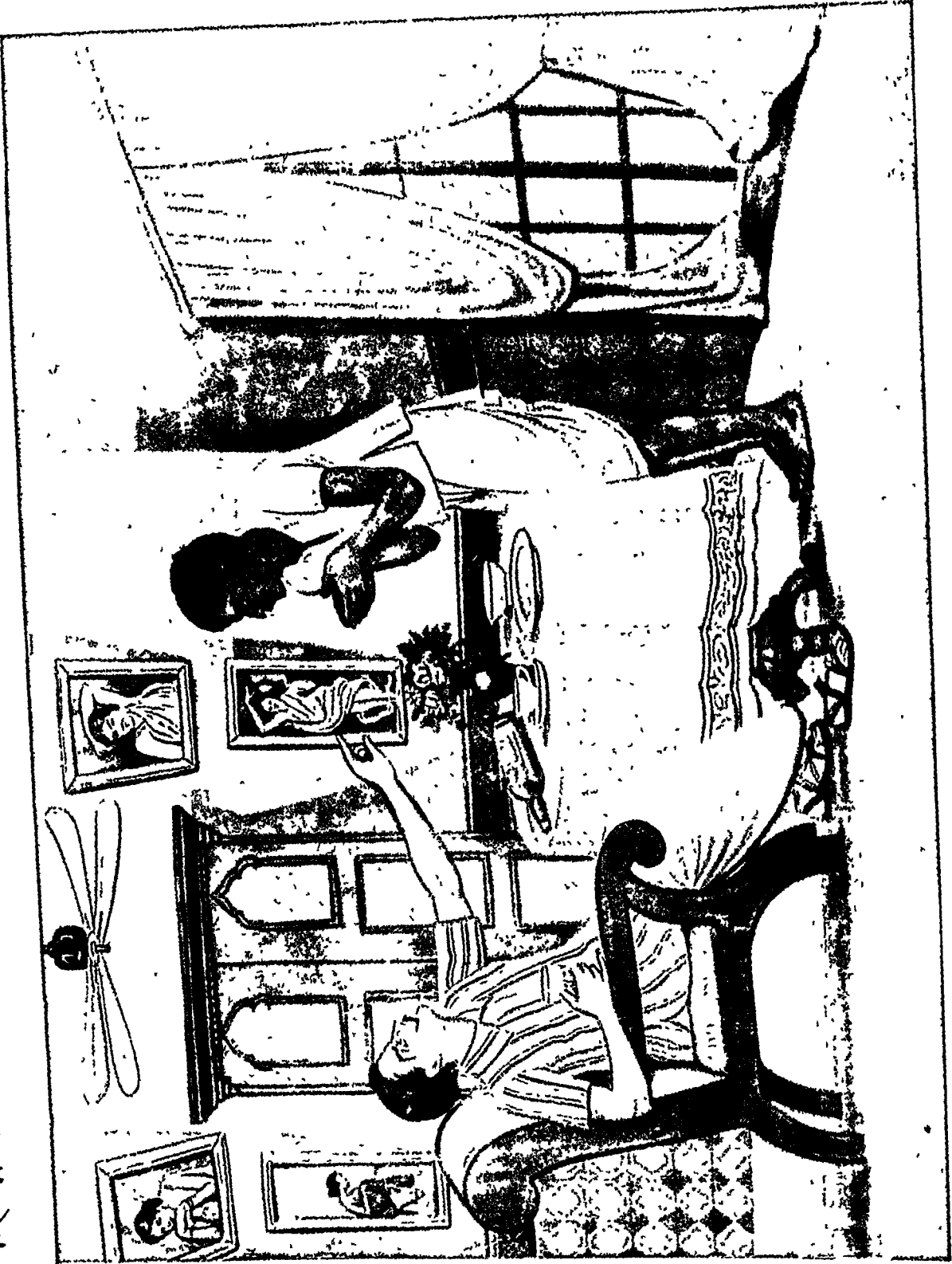
आसुरीभावका आश्रित मूढ़ मनुष्य

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम् ।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर आषाढ़ २०१६, जून १९५९ { संख्या ६ पूर्ण संख्या ३९१

आसुरी भावके आश्रित मूढ मनुष्य

मायाने है जिन लोगोंका हरण कर लिया सारा ज्ञान,
आश्रय ले वे आसुरपनका करते नित दुष्कर्म महान।
कुत्सित-विषयभोग-रत रहनेमें ही वड़ी मानते शान,
ऐसे मूढ़ नराधम भजते नहीं कभी भी श्रीभगवान ॥

(गीता ७ । १५ के आधारपर)

याद रक्खो—तुम शरीर नहीं हो; तुम सच्चे अर्थमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पिता, पुत्र, पति, गुरु, पत्नी, माता आदि नहीं हो। तुम हो सच्चिदानन्द आत्मा या तुम हो भगवान्‌के सनातन अंश।

याद रक्खो—यह शरीर तथा इस शरीरके सम्बन्धको लेकर कहे जानेवाले नाम सब कल्पित हैं और हैं केवल लोगदेखाऊ या कामचलाऊ—व्यावहारिक जगत्‌में केवल व्यवहारके लिये। ये न तुम्हारा स्वरूप हैं न इनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध है।

याद रक्खो—शरीरको तथा शरीरके सम्बन्धसे कहे जानेवाले नामोंको अपना स्वरूप मान लेनेके कारण ही शरीरमें तथा प्राणिपदार्थोंमें तुम्हारी अहंता, ममता, आसक्ति हो गयी है तथा इनकी कामना-वासनामें फँसकर तुम बिना हुए ही दुखी हो रहे हो। और यह दुःख जबतक इस शरीर तथा शरीरके सम्बन्धसे कहे जानेवाले नामोंमें स्वरूप-बुद्धि रहेगी, तबतक मिटेगा ही नहीं—चाहे बाहरी स्थिति कुछ भी, कैसी भी क्यों न हो जाय।

याद रक्खो—इस मिथ्या मान्यताके कारण ही ममता, आसक्ति, कामनाके वश हुए तुम नाना प्रकारकी अनन्त आशाकी फाँसियोंसे बँधे हुए हो, इन्हींके कारण तुम काम-क्रोध-लोभपरायण हुए भाँति-भाँतिके नये-नये पाप कर रहे हो और इसीलिये जीवनके अन्तिम क्षणतक तुम हजारों-लाखों नयी-नयी चिन्ताओंकी ज्वालासे जलते रहते हो। परिणामस्वरूप तुम्हें तीन चीजें हाथ लगती हैं—१—दिन-रातकी चिन्ताज्वाला, २—कामना-पूर्तिके लिये किये जानेवाले पापोंका संग्रह और ३—जन्म-मृत्युके चक्रमें ही डाले रखनेवाली मानव-जीवनकी असफलता।

याद रक्खो—तुमको मनुष्य इसलिये नहीं बनाया गया कि तुम अपनी बुद्धिका दुरुपयोग करके जन्म-मृत्युके चक्रको और भी लंबा कर लो, अज्ञानके बन्धनको और भी सुदृढ़ कर लो, आसुरी योनियों तथा अत्यन्त पीड़ादायक नरकादिमें पचनेकी और भी निश्चित सुव्यवस्था कर लो। तुम्हें तो यह मानवशरीर मिला था—जन्म-मृत्युके चक्रसे छूटकर अपने सत्य नित्य चिदानन्दघन आत्मस्वरूपकी प्राप्ति या भगवान्‌की प्राप्तिके लिये, समस्त बन्धनोंको सदाके लिये काट डालनेके लिये और नित्य-निरन्तर भगवान्‌में ही स्थिति प्राप्त करनेके लिये।

याद रक्खो—अब भी समय है, अब भी चेतकर सन्मार्गपर आनेसे काम बन सकता है। अब भी मानव-जीवन सफल हो सकता है। तुम आज ही, अभी, इस सत्यको समझकर इसे स्वीकार कर लो और शरीर तथा शरीरके सम्बन्धसे कहे जानेवाले नामोंमें स्व-रूपकी मिथ्या कल्पना छोड़ दो। एवं अपनेको नित्य सत्य-चिद्घन आत्मा समझ लो या भगवान्‌की लीलामें सेवा करनेवाला एक भगवान्‌का अनन्यसेवक मान लो। फिर तुम्हारी जगत्‌के प्राणिपदार्थोंमें ममता, आसक्ति तथा उनके लिये आशा और उनमें कामना नहीं रहेगी; फिर, व्यावहारिक जगत्‌में सारे काम होंगे या तो स्वप्नकी तरह या भगवान्‌की पवित्र सेवाके रूपमें।

याद रक्खो—ऐसा होते ही तुम्हारी सारी चिन्ताएँ दूर हो जायँगी, पापकी कल्पना तुम्हारे चित्तके समीप भी नहीं आ सकेगी और तुम यहीं आत्मस्वरूप या भागवत-जीवनमें सुप्रतिष्ठित होकर जीवनकी परम और चरम सफलता लाभ करोगे।

'शिव'

चमत्कार

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

नानाश्चर्यमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किंचिदिव शाम्यति॥

श्रीअष्टावक्र मुनि कहते हैं कि यह विश्व नाना प्रकारके चमत्कारोंसे भरपूर दीखता है; परंतु तत्त्व-दृष्टिसे देखनेपर यह कुछ भी नहीं है। जिसने ज्ञानके द्वारा यह निश्चय कर लिया है, उसे विश्वका कोई चमत्कार सत्य नहीं जान पड़ता। और इस कारण उसकी किसी वस्तुमें आसक्ति नहीं होती। ऐसा पुरुष चैतन्यमात्र—ब्रह्मस्वरूप हो जाता है और अपने-आपमें ही शान्त बना रहता है।

यह विश्व ईश्वरकी मायामात्र है। मायामें भला कौन चमत्कार सम्भव है और कौन असम्भव? 'अघटितघटनाघटीयसी माया'—यह मायाकी व्याख्या है। अतएव जो हमको अघटित या असम्भवित जान पड़ता है, उसे माया प्रत्यक्ष कर दिखाती है। जलमें स्थलकी प्रतीति होती है और मरुभूमिमें पानीकी नदी दीखती है, यह मायाका ही विलास है। काले पत्थरके गर्भमें जीवित मेढक रहता हो, यह कोई साधारण आश्चर्य नहीं है। उस मेढकको अन्न-जल और हवा कौन पहुँचाता होगा? समुद्रमें बड़वानल रहता है और देहमें जठरानल रहता है; तथापि समुद्रमें अग्नि बुझती नहीं तथा देहमें रहनेवाली अग्नि शरीरको जलाती नहीं। यह कोई साधारण चमत्कार नहीं है। अनादिकालसे संसारभरकी नदियाँ प्रतिदिन मीठा जल समुद्रमें गिराती जा रही हैं, तथापि समुद्रका खारापन मिटता नहीं; यह भी कोई हल्का चमत्कार नहीं है। आकाशकी ओर दृष्टि डालिये तो ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र तथा असंख्य तारागण परस्पर आकर्षणके वश होकर घूमते रहते हैं—यह कोई कम आश्चर्यकी बात नहीं है। 'हेली' जैसा प्रचण्ड धूमकेतु असह्य वेगसे आकाशमें घूमता रहता है, तथापि किसीसे टकराता नहीं—यह क्या आश्चर्यकी बात नहीं है?

फिर प्राणियोंके शरीर भी एक भव्य चमत्कार ही हैं। वायु प्राणरूपसे बाहर निकलती है, तब वह अग्नि या सूर्य कहलाती है तथा जीवनके लिये घातक होती है और जब वायु अपान होकर शरीरके भीतर जाती है, तब वह चन्द्रमा कहलाती है तथा वह जीवनके लिये पोषक है। इस प्रकार वायुका निरन्तर आवागमन कोई साधारण चमत्कार नहीं है। फिर पाँच-छः फुटके सारे शरीरमें चौबीसों घंटे रक्तका संचरण होता रहता है। यह भी कोई ऐसा-वैसा चमत्कार नहीं है। आज खाया हुआ अन्न बत्तीस दिनोंमें छओ धातुओंमें प्रसरित होकर वीर्य बनता है और उसकी एक ही बूँदसे फिर वैसा ही प्राणी उत्पन्न हो जाता है—यह भी कोई सामान्य चमत्कार नहीं। वटवृक्षके एक फलमें असंख्य वटवृक्ष उत्पन्न होते हैं, इतनी बीजशक्तिका होना भी कोई साधारण चमत्कार नहीं है।

एक मनुष्य सिद्धि प्राप्त करके अग्निके ऊपर चलता हो, तथापि तुम उसको महान् या सुखी मत मानना। कोई मनुष्य विद्याके बलसे चाहे मृतकको जीवित कर सकता हो तथा जीवितको फूँक मारकर मार सकता हो; पर वह सुखी है, यह नहीं मानना। यदि कोई मनुष्य अफीम, धतूरा या वत्सनाग खाकर भी जीता रहे तो उसको तुम महान् या सुखी मत मानना। एक कोई मनुष्य भूमिसे ऊपर चलता हो या पानीके ऊपर चलता हो, या धकधकाती आगको या काँचको खा सकता हो, या सर्प-जैसे विषैले प्राणीको अपने गलेमें लपेट लेता हो तो उसको भी तुम सुखी न मानना। तथा यदि कोई मनुष्य आकाशमें उड़ सकता हो, पर्वतोंको चीरकर निकल जा सकता हो, घड़ी-घड़ीमें अपने शरीरको बदल सकता हो, या घड़ीमें सिंह बन जाता हो और घड़ीमें सियार हो जाता हो, घड़ीभरमें घोड़ा हो जाता हो और घड़ीमें ऊँट बन जाता हो तो उसको भी तुम महान् या सुखी मत समझना। कोई आदमी आँखपर पट्टी बाँधकर तुम्हारे सोचे हुए

स्थानपर मोटर हाँक ले जाता हो, या छः महीने भूगर्भमें समाधिस्थ रहता हो, तथापि तुम उसको महान् या सुखी माननेकी भूल न करना। यदि कोई मनुष्य सूर्यकी किरणोंकी साधना करके उनमेंसे फल-फूल तथा अनेक प्रकारकी सुगन्ध पैदा कर सकता हो तो उसको सुखी समझनेकी भूल मत करना। एक आदमी फूँक मारकर दीप जला सकता हो, मन्त्र पढ़कर बिना आगके लकड़ी सुलगा सकता हो, मन्त्रशक्तिसे खोयी वस्तुको दिला सकता हो तो उसको भी तुम महान् या सुखी मत समझना।

सरकसके खेलपर दृष्टि डालो। चिड़िया चोंचमें सूई पकड़कर मोती पिरोती है और सुग्गा तोप चलाता है। एक नन्हीं-सी बालिका सिंहके मुँहमें अपना सिर डाल देती है और दर्शकोंकी तालियोंकी गड़गड़ाहट सुनकर प्रसन्न होती है। मनुष्य सिंह और बाघ-जैसे क्रूर प्राणियोंके साथ कुश्ती लड़ता है। एक मनुष्य अपनी छातीपर बड़ा-सा पत्थर रखकर उसको घनसे तुड़वाता है। दूसरा मनुष्य मजबूत लोहेकी जंजीरसे बदनको जकड़कर केवल छाती फुलाकर उसे तोड़ डालता है। इस प्रकार शारीरिक कसरतके अनेकों खेल आश्चर्य-चकित करनेवाले होते हैं। ये सभी काम किये जा सकते हैं, सतत अभ्यास और परिश्रमके फलस्वरूप हैं।

मायाकी सृष्टि मन है; फिर उसका रचा हुआ यह संसार मायामय न हो तो और क्या हो? इसलिये मनका संयम करनेसे तत्तत् सिद्धि प्राप्त होती है और वह चमत्कार कर दिखाती है। परिश्रम तथा अभ्यास करनेवाला होना चाहिये।

पातञ्जल योगदर्शनमें अनेकों सिद्धियोंका वर्णन है। और उनको प्राप्त करनेकी विधि भी वहाँ बतलायी गयी है। उदाहरणार्थ—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

सत्यपर संयम करनेसे सत्यसंकल्पत्वकी सिद्धि होती है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

अस्तेय (चोरी न करने) पर संयम करनेसे सर्व प्रकारके रत्न मिलते हैं।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंता सम्बोधः।

अपरिग्रह (संग्रह न करने) पर संयम करनेसे अगले और पिछले जन्मोंका ज्ञान होता है। इस प्रकार-की अनेक सिद्धियाँ हैं और उनसे अनेकों चमत्कार हो सकते हैं।

इस प्रकारके अनेकों उदाहरण देखकर श्रीशंकरा-चार्य कहते हैं कि ये सब तो केवल दीख पड़ते हैं, जादूगरके तमाशेके समान हैं। मृगमरीचिकाका जल जैसे केवल दीख पड़ता है, उसमें कोई स्नान नहीं कर सकता या प्यास नहीं बुझा सकता, उसी प्रकार इस सृष्टिके चमत्कार केवल देखनेमात्रके हैं। यदि शास्त्रीय भाषामें कहें तो ये सब दृश्यमात्र हैं। और इनको देखनेवाला यदि द्रष्टा पुरुष न हो तो दृश्यकी सिद्धि ही नहीं होती। इसीसे कहते हैं—

मा कुरु धनजनयौवनगर्वं
हरति निमेषात् कालः सर्वम्।
मायामयमिदमखिलं हित्वा
ब्रह्मपदं त्वं प्रविश विदित्वा॥

'धन-वैभव, कुटुम्ब, युवावस्था या सिद्धियोंका गर्व न करो; क्योंकि शरीर क्षणभङ्गुर है और कालके मुँह-में पड़ा हुआ है। यानी किसी क्षण इसका नाश हो जा सकता है; क्योंकि जो कुछ दीखता है, वह केवल मायामात्र है, इसलिये उसको छोड़कर अर्थात् उसमेंसे आसक्ति हटाकर ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर स्वरूपमें स्थिर हो जाओ।' भाव यह है कि तुम स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो, यह निश्चय करके स्वरूपमें स्थिर हो जाओ। तब यह माया-मय प्रपञ्च अपने-आप छूट जायगा। ऐसी अवस्थामें ये मायाके चमत्कार तुम्हें मोहमें नहीं डाल सकेंगे।

जगत्के सारे चमत्कार स्वप्नवत् हैं, इन्द्रजालके खेलके समान हैं। उनका कोई स्थायी फल नहीं है, अतएव उनकी प्राप्तिसे कोई मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। ये सारे चमत्कार अपरा विद्याके हैं और अपरा विद्या कभी सच्चे सुखको प्रदान नहीं कर सकती।

इस प्रकारका चमत्कार दिखलानेवाले सुखी नहीं होते; इतना ही नहीं, बल्कि अधिकांशमें वे दुखी

होते हैं। किसी मनुष्यके पास देह बदलनेकी सिद्धि है। परंतु उसके इस चमत्कारको देखनेवाला तथा प्रशंसा करनेवाला कोई न हो तो उसकी यह सिद्धि किस कामकी ? स्वयं अकेला सर्पके शरीरमें पड़ा रहे या सिंहके शरीरमें—ये दोनों ही उसके लिये तो एक-से हैं। अर्थात् उसके सुखका आधार प्रेक्षकके ऊपर अवलम्बित है। मनु महाराजने सुख-दुःखकी परिभाषा करते हुए कहा है—'सर्वं परवशं दुःखम्।' अर्थात् जहाँ पराधीनता है, वहाँ सब दुःख ही है। किसी भी पराधीन स्थितिमें सुख होता ही नहीं। अपना चमत्कार दिखानेके लिये उसको गाँवके मुखिया लोगोंसे मिलना पड़ता है और लोगोंको इकट्ठा करनेकी व्यवस्था करनेके लिये खुशामद करनी पड़ती है। व्यवस्था हो जानेपर, लोगोंकी वाहवाहीसे थोड़ी देरके लिये उसके अहंकारको भले ही पोषण प्राप्त हो और उसको वह भले ही सुख माने। उससे उसे कुछ द्रव्यकी प्राप्ति भी होती है और उसके द्वारा जीवन-निर्वाहमें सुविधा भी मिलती है। परंतु फिर उसे किसी दूसरे स्थानपर जाना पड़ता है और वहाँ भी यही सब करना पड़ता है। इसको यदि सुख कहा जा सकता हो तो खुशीसे कहा जाय। परंतु तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर तो इस स्थितिमें लेशमात्र भी सुख नहीं है।

श्रुति भी इसी बातका साक्ष्य देती हुई कहती है—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

अर्थात् अपरा विद्यासे तो जीवन-निर्वाहके साधनमात्र प्राप्त होते हैं, परंतु परा विद्यासे अमरपद अर्थात् मोक्षसुख मिलता है। अपरा विद्यासे मिलनेवाला सुख सुख नहीं, बल्कि सुखकी भ्रान्तिमात्र है; क्योंकि उससे मायिक सुखकी ही प्राप्ति होती है, शाश्वत सुख उससे कभी नहीं मिलता।

इसलिये अब यह देखना है कि सचमुच महान् या सुखी कौन है ? परा विद्याकी व्याख्या इस प्रकार है— सा विद्या या विमुक्तये। सच्ची विद्या वह कहलाती है, जो मुक्ति दे सके। मुक्तिका दूसरा नाम है— शाश्वत सुख या अविचल शान्ति और दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति। तब फिर सच्चा सुखी है कौन ?— जिसने सच्ची विद्या प्राप्त की हो, वही सच्चा सुखी है, दूसरा कोई नहीं। इसी विद्याका दूसरा नाम ज्ञान या तत्त्वज्ञान है। ज्ञानकी प्राप्तिके लिये पहले तो अन्तःकरणको शुद्ध करना चाहिये। इसके लिये विवेकद्वारा वैराग्यको जाग्रत् करना चाहिये और फिर उसकी सहायतासे इच्छामात्रका त्याग करना चाहिये। अन्तःकरणमें इच्छाओंके उठनेसे वह चञ्चल रहता है और चञ्चल अन्तःकरणमें ज्ञानका उदय नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इच्छामात्रका त्याग अनिवार्य है। फिर अन्तःकरण शुद्ध होनेपर उसमें ज्ञानका उदय होता है और आत्मा अपने सत्-चित्-आनन्दस्वरूपका अनुभव करता है। इस प्रकारका जो अनुभव होता है, उसका नाम 'ज्ञानकी प्राप्ति' या 'मोक्षकी प्राप्ति' है। मुक्ति प्राप्त होनेपर मनुष्य जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाता है और इससे पुनः उसको जन्म-मरणका असह्य दुःख भोगना नहीं पड़ता। ऐसा ही मनुष्य यथार्थतः महान् और सुखी कहला सकता है, दूसरा कोई नहीं।

सच्ची कुशलता या चतुराई कैसी विद्या प्राप्त करनेमें है, यह समझाते हुए वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं—

तावन्माया भवभयकरी पण्डितत्वं न यावत्
तत्पाण्डित्यं पतसि न पुनर्येन संसारचक्रे।
यत्नं कुर्यादविरतमतः पण्डितत्वेऽमलात्म-
ज्ञानोदारे भयमितरथा नैव वः शान्तिमेति ॥

(योगवासिष्ठ नि० उ० १४३ । ४६)

जिसके भीतर बुद्धिमें सत्-असत्का विवेक रहता है, यह पण्डिताई जबतक उदय नहीं होती, तभीतक माया पराभव करती है। सच्ची पण्डिताई, सच्ची विद्या या सच्चा ज्ञान वही कहलाता है, जिसके द्वारा संसार-चक्रमें, जन्म-मरणके प्रवाहमें तुमको फिर पड़ना न पड़े। इसलिये निरन्तर निर्मल होकर इस प्रकारके आत्मज्ञानके द्वारा ऐसी उदार पण्डिताई प्राप्त करनेके लिये यत्न करता रहे; क्योंकि उसके बिना दूसरे किसी भी उपायसे जन्म-मरणके भयकी शान्ति नहीं मिलेगी—निवृत्ति नहीं होगी।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

भगवदर्थ कर्म और भगवान्‌की दयाका रहस्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

समस्त प्राणी, पदार्थ, क्रिया और भावका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ जोड़कर साधन करनेसे साधकके हृदयमें उत्साह, समता, प्रसन्नता, शान्ति और भगवान्‌की स्मृति हर समय रह सकती है। इससे भगवान्‌में परम श्रद्धा-प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति सहज ही हो सकती है। जो कुछ भी है—सब भगवान्‌का है और मैं भी भगवान्‌का हूँ, भगवान् सबमें व्यापक हैं (गीता १८ । ४६), इसलिये सबकी सेवा ही भगवान्‌की सेवा है। मैं जो कुछ कर रहा हूँ, भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार भगवान्‌के लिये ही कर रहा हूँ, भगवान् ही मेरे परम प्यारे और परम हितैषी हैं—इस प्रकारके भावसे अपने घर या दूकानके कामको अथवा किसी भी धार्मिक संस्थाके कामको अपने प्यारे भगवान्‌का ही काम समझकर और स्वयं भगवान्‌का ही होकर काम करनेसे साधकको कभी उकताहट नहीं आती, प्रत्युत चित्तमें उत्साह, प्रसन्नता और शान्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। यदि नहीं बढ़ती है तो गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि इसमें क्या कारण है। खोज करनेपर पता लगेगा कि श्रद्धा-विश्वासकी कमी ही इसमें कारण है। इस कमीकी निवृत्तिके लिये साधकको भगवान्‌के शरण होकर उनसे करुणापूर्वक स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये और भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझना चाहिये।

गीताप्रचारका काम तो प्रत्यक्ष भगवान्‌का ही काम है; इसमें कोई शङ्काकी बात नहीं है। जो मनुष्य श्रीमद्भगवद्गीताके अर्थ और भावको समझकर गीताका प्रचार करता है, तो उससे उसका उद्धार हो जाता है और भगवान् उसपर बहुत ही प्रसन्न होते हैं। इसके लिये गीता अ० १८ श्लो० ६८-६९ को देखना चाहिये—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

जो मनुष्य इन दोनो श्लोकोंके अर्थ और भावको भली-भाँति समझ जाता है, उसका तो सारा जीवन गीताप्रचारमें ही व्यतीत होना चाहिये। वर्तमानमें जो कुछ भी गीताका प्रचार हमारे देखने-सुननेमें आता है, उसका भी प्रधान कारण इन दो श्लोकोंके अर्थ और भावको जाननेका प्रभाव ही है।

अतः गीताप्रचारका कार्य भगवान्‌का ही कार्य है और यह भगवान्‌की विशेष कृपासे ही प्राप्त होता है। रुपये खर्च करनेसे यह नहीं मिलता।

भगवान्‌का काम करना—उनकी आज्ञाका पालन करना भगवान्‌की ही सेवा है। वास्तवमें इस कामको भगवान्‌की सेवा समझकर करनेसे अवश्य ही प्रसन्नता तथा शान्ति प्राप्त हो सकती है। यदि नहीं मिलती है तो उसने इस कामको भगवान्‌की सेवा समझा ही नहीं। यदि कोई मनुष्य महात्माको महात्मा जानकर उनके कार्यको, उनकी आज्ञाके पालनको उनकी सेवा समझकर करता है तो उसके हृदयमें भी इतना आनन्द होता है कि वह उसमें समाता ही नहीं, तो फिर भगवान्‌की सेवासे परम प्रसन्नता और शान्ति प्राप्त हों, इसमें तो कहना ही क्या है!

गीता-प्रचारका कार्य करनेवालोंके चित्तमें यदि भगवान्‌की स्मृति, प्रसन्नता, उत्साह, प्रेम और शान्ति नहीं रहती है तो उन्हें इसके कारणकी खोज करनी चाहिये, एवं जो दोष समझमें आये उसको भगवान्‌की दयाका आश्रय लेकर हटाना चाहिये। भगवान्‌की दया सबपर अपार है, उसको पूर्णतया न समझनेके कारण ही हमलोग प्रसन्नता और शान्तिकी प्राप्तिसे वञ्चित रहते हैं। हमलोगोंपर भगवान्‌की जो अपार पूर्ण दया है, उसके शतांशको भी हम नहीं समझते हैं। किंतु न समझमें आनेपर भी हमलोगोंको अपने ऊपर भगवान्‌की अपार दया मानते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे वह आगे जाकर समझमें आ सकती है।

दयाके इस तत्त्वको भली-भाँति समझनेके लिये यहाँ एक दृष्टान्त बतलाया जाता है। वह इस प्रकार है—एक क्षत्रिय

बालक राज्यकी सहायता और व्यवस्थासे एक महाविद्यालयमें अध्ययन करता था। उसके माता-पिता उसे सदा यही उपदेश दिया करते थे कि 'इस देशके राजा उच्चकोटिके ज्ञानी योगी महापुरुष हैं, वे हेतुरहित प्रेमी और दयालु हैं, उनकी हमलोगोंपर बड़ी भारी दया है। हमलोगोंका देहान्त हो जाय तो तुम चिन्ता न करना; क्योंकि महाराज साहबकी दया तुमपर हमलोगोंकी अपेक्षा अतिशय अधिक है।' माता-पिताके इस उपदेशके अनुसार वह ऐसा ही मानता था। समय आनेपर उसके माता-पिता चल बसे, परंतु वह बालक दुःखित नहीं हुआ। विद्यालयके सहपाठी बालकोंने उससे पूछा—'तुम्हारे माता-पिता मर गये, फिर भी तुम्हारे चेहरेपर खेद नहीं, क्या बात है ? अब तुम्हारा पालन-पोषण कौन करेगा ?' क्षत्रिय बालकने कहा—'मुझे शोक क्यों होता ? क्योंकि मेरे माता-पितासे भी बढ़कर मुझपर दया और प्रेम करनेवाले हमारे परम हितैषी महाराज साहब हैं। महाराज साहब उच्चकोटिके भक्त एवं ज्ञानी महापुरुष हैं। मैं तो उन्हींपर निर्भर हूँ।' बालककी यह बात सुनकर वहाँके प्रधानाध्यापकको बड़ा आश्चर्य हुआ कि देखो, इस बालकके हृदयमें महाराज साहबके प्रति कितनी श्रद्धा-भक्ति है। वे प्रधानाध्यापक राज्यकी कौंसिलके सदस्य थे। एक दिन जब कौंसिलकी बैठक हुई, तब वे भी उसमें उपस्थित थे। उस दिन महाराज साहबने कहा—'अपने देशमें कोई अनाथ बालक हो तो बतलायें, उसका प्रबन्ध राज्यकी ओरसे सुचारु रूपसे हो जाना उचित है।' कौंसिलके कई सदस्योंने उसी क्षत्रिय बालकका नाम बतलाया। इसपर राजाने सबकी सम्मतिसे उस बालकके लिये खाने-पीनेका सब प्रबन्ध कर दिया और उसके कच्चे घरको पक्का बनानेका आदेश दे दिया। पढ़ाईका प्रबन्ध तो पहलेसे ही राज्यकी ओरसे था ही।

कुछ ही दिनों बाद जब राजाकी आज्ञासे राजकर्मचारी उसके कच्चे घरको पक्का बनानेके लिये तोड़ रहे थे, तब उस क्षत्रिय बालकके एक सहपाठीने दौड़कर उसे सूचना दी कि तुम्हारे घरको राजकर्मचारी तोड़कर बर्बाद कर रहे हैं। यह सुनकर वह बालक बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा—'अहा ! महाराज साहबकी मुझपर बड़ी ही दया है। सम्भव है, वे पुराना तुड़वाकर नया घर बनवायेंगे !' उसकी यह बात सुनकर प्रधानाध्यापक आश्चर्यचकित हो गये और सोचने लगे—'देखो, इस बालकको कितना प्रबल विश्वास है। महाराजपर कितनी अटूट श्रद्धा है।'

पुनः जब दूसरी बार कौंसिलकी बैठकमें प्रधानाध्यापक सम्मिलित हुए, तब राजाने यह प्रस्ताव रक्खा—'मैं वृद्ध हो गया हूँ। मेरे संतान नहीं है। अतः युवराजपद किसको दूँ ? इसके योग्य कौन है ?' इसपर प्रधानाध्यापकने बतलाया—'वह क्षत्रिय बालक गुण, आचरण, विद्या और स्वभावमें सबसे बढ़कर है। वह राजभक्त है और आपपर तो उसकी अपार श्रद्धा है।' इस बातका दूसरे सदस्योंने भी प्रसन्नतापूर्वक समर्थन किया। राजाने सर्वसम्मतिसे उस क्षत्रिय बालकको ही युवराजपद देनेका निर्णय कर दिया।

दूसरे दिन राजाके मन्त्री और कुछ उच्चपदाधिकारी उस क्षत्रिय बालकके घरपर गये। उन सबको आते देख उस क्षत्रिय बालकने उनका अत्यन्त आदर-सत्कार किया और कहा—'मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' पदाधिकारियोंने कहा—'महाराज साहबकी आपपर बड़ी भारी दया है।' बालक बोला—'यह मैं पहलेसे ही जानता हूँ कि महाराजकी मुझपर अपार दया है। इसी कारण आपलोगोंकी भी मुझपर बड़ी दया है।' पदाधिकारियोंने कहा—'हम तो आपके सेवक हैं, आपकी दया चाहते हैं।' बालक बोला—'आप ऐसा कहकर मुझे लज्जित न कीजिये। मैं तो आपका सेवक हूँ। महाराज साहबकी मुझपर दया है—इसको मैं अच्छी तरह जानता हूँ।' पदाधिकारियोंने कहा—'आप जो जानते हैं, उससे कहीं बहुत अधिक उनकी दया है।' क्षत्रिय बालकने पूछा—'क्या महाराज साहबने मेरे विवाहका प्रबन्ध कर दिया है ?' तब उन्होंने कहा—'विवाहका प्रबन्ध ही नहीं, महाराज साहबकी तो आपपर अतिशय दया है।' बालकने पुनः पूछा—'क्या महाराज साहबने मुझको दो-चार गाँवोंकी जागीरदारी दे दी है ?' पदाधिकारियोंने कहा—'यह तो कुछ नहीं, उनकी आपपर जो दया है, उसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते।' इसपर बालकने निवेदन किया—'उनकी मुझपर कैसी दया है, इसे आप ही कृपा करके बतलाइये।' उन्होंने कहा—'आपको महाराज साहबने युवराजपद दे दिया है। इसलिये हम आपकी दया चाहते हैं।' यह सुनकर क्षत्रिय बालक हर्षमें इतना मुग्ध हो गया कि उसे अपने-आपका भी होश नहीं रहा।

इस दृष्टान्तको अध्यात्मविषयमें यों घटाना चाहिये कि, भगवान् ही ज्ञानी महापुरुष राजा हैं। श्रद्धालु साधक ही क्षत्रिय बालक है। उपदेश देनेवाले गुरुजन ही माता-पिता हैं। सत्संगी साधकगण ही सहपाठी बालक हैं। भगवत्प्रेमी महापुरुष ही कौंसिलके सदस्य प्रधानाध्यापक हैं। राज्यकी ओरसे बालकके खान-पानका प्रबन्ध कराये जानेको लोकदृष्टिसे अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्ति और घर तुड़वाये जानेको लोकदृष्टिसे प्रतिकूल परिस्थितिकी प्राप्ति समझना चाहिये तथा इन दोनोंमें बालकके द्वारा राजाका मङ्गलविधान मानकर प्रसन्न होनेको

प्रत्येक घटनामें भगवान्का मङ्गलमय विधान मानकर प्रसन्न होना समझना चाहिये । बालकका राजाको सुहृद् मानकर उनपर निर्भरता, श्रद्धा और विश्वास करना ही भगवत्-शरणागतिका साधन समझना चाहिये ।

इस दृष्टान्तसे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हमलोग अपने ऊपर भगवान्की जितनी दया मानते हैं, भगवान्की दया उससे कहीं बहुत अधिक है । भगवान्की हमपर इतनी दया है कि उसका हम अनुमान भी नहीं कर सकते । यदि हम उस दयाको जान जायँ तो क्षत्रिय बालककी भाँति हमें इतना आनन्द और प्रसन्नता हो कि उसकी सीमा ही न रहे; फिर हमें अपने-आपका भी ज्ञान न रहे ।

अतः हमें स्वेच्छा, अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी प्राप्त हो, उसे भगवान्का मङ्गलमय विधान समझकर और अपनेद्वारा होनेवाली क्रियाओंको भगवान्का काम तथा भगवान्की परम सेवा समझकर हर समय भगवान्को याद रखते हुए आनन्दमें मग्न रहना चाहिये ।

इस प्रकार भगवद्भक्तिके साधनसे साधकके चित्तमें प्रसन्नता, रोमाञ्च और अश्रुपात होने लगता है, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है तथा कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है । किंतु मनुष्य जब साधन करते-करते सिद्धावस्थामें पहुँच जाता है—भगवान्को पा लेता है, तब वह आमोद, प्रमोद, हर्ष आदिसे ऊपर उठकर परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त कर लेता है । जैसे कड़ाहीमें घी डालकर उसमें कचौड़ी सेंकी जाती है, वह जबतक कच्ची रहती है तबतक तो उछलती है—उसमें विशेष क्रिया होती रहती है; किंतु जब वह पकने लगती है, तब उसका उछलना कम हो जाता है और सर्वथा पक जानेपर तो वह शान्त और स्थिर हो जाती है । इसी प्रकार साधनकालमें साधकमें जबतक कच्चाई रहती है, तबतक वह साधन-विषयक आमोद-प्रमोदमें उछलता रहता है एवं उसके रोमाञ्च, अश्रुपात और कण्ठावरोध होता रहता है; किंतु जब साधन पकने लगता है, तब हर्षादि विकारोंका उफान कम हो जाता है और सर्वथा पक जानेपर आमोद, प्रमोद, हर्ष आदि विकारोंसे रहित परम शान्त हो जाता है । फिर वह परमात्मामें अचल और स्थिर होकर परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

भगवान् मेरे चरणोंको सदा शान्ति-पथसे आगे बढ़ा रहे हैं

भगवान् मेरे साथ हैं, सदा हर-हालतमें हर-जगह मेरे साथ हैं—यह अनुभूति मेरे हृदयको महान् आश्वासन तथा परम आनन्दसे भर रही है । मैं कहाँ हूँ, किस परिस्थितिमें हूँ और मेरे चारों ओर क्या हो रहा है—इसकी मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं है, मैं जानता हूँ कि मेरे भगवान् मेरे साथ हैं । मैं जानता हूँ कि जो भी मेरा कदम उठेगा, वह मङ्गलमय भगवान्के साथ उठेगा ।

जब मैं भगवान्के साथ कदम बढ़ा रहा हूँ, तब पूर्ण सुरक्षित हूँ । छोटा बच्चा माँकी अँगुली पकड़कर माँके भरोसे—माँके सहारे निर्भय निश्चिन्त होकर पत्थरोंपर पैर रखकर उन्हें पददलित करता हुआ दौड़ा जाता है; कहीं ऊबड़-खाबड़ जमीनपर पैर उखड़ता है तो माँ तुरंत सँभाल लेती है, वैसे ही भगवान्के साथ रहनेसे मैं भी विघ्नोंके सिरोंपर पैर रखता हुआ निर्भय एवं निश्चिन्त चला जा रहा हूँ । भगवान् मेरी सदा रक्षा करते हैं । अब मुझे किसी भयकी कल्पना भी नहीं है ।

भगवान् मेरे नित्य साथ रहनेसे मुझे नया-नया प्रकाश—नया-नया ज्ञान प्राप्त होता रहता है, मैं प्रत्येक स्थितिको आगे-से-आगे भलीभाँति देख पाता हूँ । इतना ही नहीं, भगवान्ने मेरे पैरोंको ऐसा सुदृढ़ और शक्तिसम्पन्न बना दिया है कि जब मैं उनकी आज्ञासे उनकी प्रीतिके लिये किसी भी कार्यमें प्रवृत्त होता हूँ तो दौड़नेपर भी कभी हाँफता नहीं, लगातार चलते रहनेपर भी कभी थकता नहीं । मेरी शक्ति तथा उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ते चले जाते हैं ।

भगवान्के साथ चलनेका अर्थ है—भगवान्में सरल विश्वास तथा दृढ़ भरोसा करके निश्चिन्तता और निर्भयताके साथ चलना । अतएव मैं पूर्ण निश्चिन्त और निर्भय हूँ । घने अंधकारकी घाटीसे निकलते भी मेरे कदम निश्चिन्त और निर्भय पड़ते हैं ।

भगवान् मेरे चरणोंको सदा शान्ति-पथसे आगे बढ़ा रहे हैं ।

मनुष्यको सच्चे अर्थोंमें 'मनुष्य' बनानेवाली दैवी सम्पदाएँ

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच० डी०

देवता और असुर कल्पनाकी वस्तुएँ नहीं हैं, इनके विभिन्न स्वरूप आदि भी हैं; परंतु यहाँ जिन मनुष्योंमें उच्च दैवी गुण विकसित हैं और जो मानवताकी कसौटीपर खरे उतरते हैं, उन्हें हम 'देवता' के नामसे सम्बोधित करते हैं। इसके विपरीत दुर्बलताओं और अवगुणोंसे भरे हुए व्यक्तियोंको 'असुर' कहा जाता है। वास्तवमें यह ठीक भी है। दैवी सम्पदा धारण करनेवाले व्यक्ति मनुष्य-शरीर धारण किये हुए भी 'देवता' ही हैं और आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य मानव-देहमें भी 'राक्षस' ही कहे जायँगे।

दैवी सम्पदाएँ ही मनुष्यकी दिव्य शक्तियाँ हैं। ये हमारी आत्माके विशिष्ट गुण हैं, जो स्थायी शक्ति और सन्मति प्रदान करनेवाले हैं, दुःखसे निवृत्ति और चिरंतन सुख देनेवाले हैं। ईश्वरने मनुष्यके स्वरूपकी जो कल्पना की है, वह स्वरूप तभी प्राप्त होता है, जब दैवी सम्पदाओंका पूर्ण विकास हो जाय। इन्हींका विकसित रूप 'मानवता' कहलाता है। जब मानव-चरित्रमें इन गुणोंका सर्वाङ्गीण विकास होता है, तब यथार्थ 'मानव-धर्म' का उन्मेष होता है।

वे कौन-से गुण हैं, कौन-कौन-सी विशेषताएँ हैं, जिन्हें विकसित करनेसे मनुष्य सच्चे अर्थोंमें 'मनुष्य' बन सकता है?

भगवान् श्रीकृष्णने गीताके १६ वें अध्यायमें मनुष्यमें विकसित होनेवाली दैवी सम्पदाओं (दैवी गुणों) पर प्रचुर प्रकाश डाला है तथा दैवी सम्पद्वाले लक्षणोंका स्पष्ट विवेचन किया है। जो व्यक्ति सच्ची मानवताका विकास करनेके इच्छुक हैं, उन्हें भगवान्के इस दिव्य संदेशको यथार्थ रूपसे हृदयंगम करना चाहिये। भक्ति तथा ज्ञानके प्रशस्त मार्गपर जो आगे बढ़ रहे हैं, उन मानवरूपी देवताओंमें दैवी सम्पद्के दिव्य गुणोंका विकास अनिवार्य है। मानवताके सभी सद्गुण, धर्म और कर्तव्योंका इनमें समावेश हो जाता है।

जो व्यक्ति इन गुणोंका विकास करना चाहता है, उसे प्रतिदिन शान्तचित्त हो इन सम्पदाओंपर गम्भीरतासे सोचना-विचारना चाहिये और उनके विस्तृत अर्थको समझना चाहिये। कार्योंद्वारा अपने व्यक्तित्वमें दैवी शक्तियोंको विकसित करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इसीमें मानवताकी आशा है। दैवी गुणोंके विकाससे आसुरी दुष्प्रवृत्तियाँ, अवगुण और दुर्बलताएँ स्वतः विलीन हो जायँगी। प्रकाशके सामने अन्धकार कैसे ठहर सकता है!

दैवी सम्पदाएँ क्या हैं?

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं— 'अर्जुन! दैवी सम्पदा जिन पुरुषोंको प्राप्त होती है, उनका कल्याण होता है। उन्हींसे मानवता धन्य होती है। दैवी सम्पदाके लक्षण इस प्रकार हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

अर्थात् जिन व्यक्तियोंको दैवी सम्पदा प्राप्त है, उनमें निर्भयता, अन्तःकरणकी शुद्धि, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान तथा इन्द्रियोंका दमन, भगवत्-सेवा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्म-पालनके लिये

कष्ट सहन करना तथा शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता होनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त उसमें अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निन्दा-त्याग, सभी भूत-प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रोंके विरुद्ध आचरणमें लज्जा तथा व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव होना चाहिये।

अन्तमें दैवी सम्पदावाले व्यक्तिमें तेज, क्षमा, धैर्य और बाहर-भीतरकी शुद्धि, किसीमें भी शत्रुभावका न होना, अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको प्राप्त हुए पुरुषोंके लक्षण हैं।

उपर्युक्त श्लोकोंमें मानवताका सारतत्त्व आ गया है। संक्षेपमें भगवान् श्रीकृष्णने उन गुणोंका उल्लेख कर दिया है, जो सच्चे 'मनुष्य' में होने चाहिये। इनमें जो विपुल अर्थविस्तार और छिपा हुआ व्यापक अभिप्राय है, उसपर हमें विचार कर लेना चाहिये। जो व्यक्ति इन दिव्य गुणोंको धारण करनेका अभ्यास करता है, उसमें अद्भुत शक्ति और सामर्थ्यका विकास होता है। इनका फल सच्ची मानवताकी प्राप्ति है। आइये, प्रत्येक दैवी सम्पदापर पृथक्-पृथक् विस्तारसे उसके पूरे अर्थोंमें विचार करें।

१—सर्वथा भयका अभाव

दैवी-सम्पद्के इच्छुकको भय त्याग देना चाहिये। भय मानवका घोर शत्रु है। निर्भयता वह मनःस्थिति है, जिसमें मनुष्यकी प्रतिभाका विकास होता है। मोह और अन्धकारवश मनुष्य अपनी अपार आवश्यकताएँ बढ़ाता है। असत्य-भाषण, मिथ्याचार, कपट, धोखे आदिसे अर्थ-संग्रह करता है। अनाप-शनाप व्यय करता है। फिर सत्यता प्रकट न हो जाय और अप्रतिष्ठा न हो जाय, इस बातसे सदा डरा करता है। एक झूठको निभानेके लिये सौ नये झूठ बोलता है। ऐसी अवस्थामें वह निर्भय कैसे रह सकता है।

सभ्यता और शिक्षाका ढोंग पीटनेवाला आजका सभ्य व्यक्ति नाना प्रकारके गुप्त भयों, मिथ्या कल्पनाओं, व्यर्थ शङ्काओं, वहम-चिन्ताओंमें लिप्त रहता है। उसे अपनी सामाजिक स्थिति नष्ट होनेका भय, धन-प्रतिष्ठा जानेका भय, संतान न होने या खराब निकल जानेका भय, स्वास्थ्य खो जानेका भय, मृत्युका भय, विवाह, शिक्षा, भोजन, बच्चोंकी चिन्ता, बनावटी सम्बन्ध बनाये रखनेकी चिन्ता, झूठी इज्जत, विरोध, समाजकी आलोचना, घरके नाना झगड़े या नौकरी छूटनेका भय लगा रहता है।

इस प्रकार मनुष्यने चारों ओर प्रत्यक्ष और कल्पित अनेक भय और शङ्काओंको पाल रखा है। वह गुप्त अलक्षित जंजीरोंमें बँधा हुआ है। इन कल्पित भयोंके फलस्वरूप मानवके मनमें भयानक अन्तर्द्वन्द्व और उद्वेग चल रहा है। कुछ व्यक्ति धनके लोभमें फँसकर ऐसे कार्य कर रहे हैं, जिनसे उनकी आत्माको क्लेश होता है। मायाके जंजालमें फँसे हुए ऐसे आसुरी स्वभाववाले व्यक्तियोंको ईश्वरीय आश्रय नहीं मिल सकता—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(गीता ७। १५)

अर्थात् मायाने जिनका ज्ञान (सद्बुद्धि) हरण कर लिया है, ऐसे पापी आसुरी स्वभावके नराधम मानव मेरे शरण नहीं हो सकते।

भयके कारण हैं—अज्ञान, मिथ्या कल्पनाएँ तथा कठोर स्थितियोंसे सामना न करके भागनेकी गुप्त इच्छा। अपने वास्तविक रूपमें मनुष्यको सत् ज्ञानसे परिपूर्ण हो, पूर्ण निर्भय होना चाहिये। मनुष्य तो साक्षात् आत्मा है,

ईश्वरका दिव्य अंश है। प्रभुके अंशमें भय कैसे रह सकता है?

भयको त्याग दीजिये। भय तो स्वयं हमारे द्वारा उत्पन्न, त्यागने योग्य एक बुरी आदत मात्र है। यदि हम सच्चे अर्थोंमें मानव बनना चाहते हैं तो हमें पूर्ण निर्भय होना चाहिये।

ईश्वरके पुत्र, असीम शक्तियोंके केन्द्र मनुष्य! उठ! कायरता और गुप्त भयकी गंदी गुदड़ी उतार फेंक!

डरपोकपनकी केंचुलीसे मुक्त होकर साहस और पौरुषके प्रभातमें जाग!

निर्भयताके सूर्यको देख! यही तेरा सत्-चित्-आनन्दरूप परम निर्भय स्वरूप है। तू सावधान होकर आत्मतत्त्वके दीपकसे ब्रह्मतत्त्वका दर्शन कर, जिसका तू प्रतिबिम्ब है!

भयका अस्तित्व अज्ञानमें है, अज्ञानजनित पापमें है। तेरे अन्तस्तलमें आत्मज्योति जगमगा रही है; फिर तेरे अन्तर-प्रदेशमें भ्रम, शङ्का, संदेह, चिन्ता और अनिष्ट प्रसङ्ग तथा पाप कैसे रह सकते हैं, कैसे उथल-पुथल मचा सकते हैं?

तुझे हीनताका विचार नहीं करना चाहिये। रोग, प्रतिकूलता और व्यग्रतासे विचलित नहीं होना चाहिये। तू अपने अज्ञानको त्यागकर निर्भयताको अपना ले। यह निर्भयता ही तेरा मुख्य गुण है। इसीके बलपर तू भूतलका स्वामी बना है। तुझे चरकालतक राज्य करना है। स्मरण रख, स्वयं मिथ्या भयोंमें लगे रहना या अन्य किसीको व्यर्थ ही भयभीत रखना—दोनो ही मानव-धर्मके विपरीत हैं।

अथर्ववेदमें अभय-प्राप्तिके लिये बड़े उपकारी सूत्र दिये गये हैं। अपने निर्भय स्वरूपको प्राप्त करनेके लिये निम्न सूत्रों (अथर्ववेद २ । १५) में रमण करना चाहिये—

'जिस प्रकार द्यौ और पृथ्वी न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी मत डरो, क्षीण मत हो।

'जिस प्रकार वायु और अन्तरिक्ष न डरते हैं, न क्षीण होते हैं, मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो न क्षीण हो।

'जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा न डरते हैं न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी मत डरो, न क्षीण हो।

'जिस प्रकार दिन और रात्रि न डरते हैं न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो न क्षीण हो।

'जिस प्रकार धेनु और वृषभ न डरते हैं न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो न क्षीण हो।

'जिस प्रकार मित्र और वरुण न डरते हैं न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो न क्षीण हो।

'जिस प्रकार ब्रह्म और क्षत्र न डरते हैं न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो न क्षीण हो।

'जिस प्रकार इन्द्र और इन्द्रियाँ न डरते हैं न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो न क्षीण हो।

'जिस प्रकार प्राण और अपान न डरते हैं न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो न क्षीण हो।

'जिस प्रकार मृत्यु और अमृत न डरते हैं न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम भी न डरो न क्षीण हो।

'जिस प्रकार सत्य (परमार्थ) और अमृत

(व्यावहारिक अर्थ) न डरते हैं न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो न क्षीण हो ।

'जिस प्रकार भूत और भविष्य न डरते हैं न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण ! उसी प्रकार तुम भी न डरो न क्षीण हो ।'

उपर्युक्त संकेतोंमें बार-बार रमण कीजिये । निश्चय ही आपमें अभयका संचार होगा । जीवनमें आपको जब कभी चारों ओर अन्धकार, प्रतिकूलता और दुःख दिखायी दें तो अपने आत्मस्वरूपका ही ध्यान कीजिये ।

तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योः (अथर्ववेद १०।८।४४)

'उस आत्माको जान लेनेपर मनुष्य मृत्युसे नहीं डरता ।'

स्मरण रखिये, आप महान् शक्तिशाली सर्वगुण-सम्पन्न विशुद्ध आत्मा हैं । आप निर्विकार आत्मा हैं । आपको कोई डरा नहीं सकता । आपकी शक्तियाँ इन्द्रके वज्रसे भी अधिक प्रभावशालिनी हैं । आप साहस और बलके अवतार हैं । विश्वके समस्त प्राणियोंके सिरमौर हैं । आपको अक्षय सिद्धियाँ प्राप्त हैं । इन्हींका निरन्तर विकास होना चाहिये ।

२—अन्तःकरणकी स्वच्छता

मानवताके सच्चे पुजारीको अन्तःकरणमें स्वच्छता धारण करनी चाहिये । जब मन, वचन तथा कर्ममें एकता नहीं रहती, तब अंदर गंदगी और कुरूपता उत्पन्न हो जाती है । जीवनमें कपट, मिथ्याचार और कृत्रिमता आती है । झूठ, कपट और मिथ्याचार-से मन मलिन हो जाता है ।

सत्यता एक शक्ति है, कृत्रिमता एक दुर्गुण है । आजके जीवनमें बाहरी टीपटाप बहुत आ गयी है, किंतु आन्तरिक शुद्धताकी ओर किसीकी भी दृष्टि नहीं है—

मन में राखैं और कछु, बाणी में कछु और ।
कर्म करैं कछु और ही, झूठे तीनौं ठौर ॥

सच्चे 'मनुष्य' को ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि उसका मन सदा स्वभावसे ही उत्तम संकल्पोंवाला हो—

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।

मनमें एकत्रित स्वार्थ, वासना तथा अहंबुद्धिके परिमार्जनसे मनुष्यके अन्तःकरणकी शुद्धि हो सकती है । अपनी आत्माको ब्रह्ममें अर्पण करना, दूसरेके दोष न देखना, कुसङ्गसे दूर हटना, तमोगुणी वातावरणसे परे रहना, अन्याय-असत्यसे पैसा न कमाना, पर-स्त्री-सङ्गी व्यक्तियों-से दूर रहना, खान-पानको शुद्ध रखना, वास्तविक दम्भी, अभिमानी, पर-निन्दापरायण लोभी व्यक्तियोंकी संगतिसे अलग रहकर सत्यके मार्गपर चलनेसे अन्तः-करण शुद्ध होता है ।

अन्तःकरणकी स्वच्छता पानेके लिये वैदिक ऋषियोंने कुछ बड़ी ही कल्याणकारिणी सूक्तियाँ दी हैं । इनके मर्मको मनमें धारण कीजिये—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम । (यजुर्वेद २५ । २१)

अर्थात् हम अपने कानोंसे सदा भद्र—मङ्गलकारी वचन ही सुनें—

भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि ।
(ऋग्वेद १ । १२३ । १३)

अर्थात् प्रभो ! हमलोगोंमें सुख और कल्याणमय उत्तम संकल्प, ज्ञान और कर्म धारण कराओ !

अहमनृतात्सत्यमुपैमि । (यजुर्वेद १ । ५)

अर्थात् मैं झूठसे बचकर सत्यको ही धारण करता हूँ ।

तात्पर्य यह कि मानवता प्राप्त करनेके लिये अपने अन्तःकरणको शुद्ध रखिये । बार-बार स्वच्छताका ही प्रयत्न कीजिये ।

स्वच्छ अन्तःकरणमें महर्षि पतञ्जलिकी बतायी हुई चार वृत्तियाँ रहती हैं—१ मैत्री, २ करुणा, ३ मुदिता और ४ उपेक्षा । स्वच्छ अन्तःकरणवाला व्यक्ति इन

चारों वृत्तियोंसे काम लेता है। वह बराबरवालेके साथ मित्रताका भाव रखता है। किसीको दुखी देखता है तो उसके आन्तरिक घावोंपर सहानुभूति तथा सेवाका मृदु मरहम लगाता है। यदि किसीको सुखी-उन्नत देखता है तो प्रसन्न होता है (डाह नहीं करता)। यदि किसी दुष्ट पापीको देखता है तो उसकी उपेक्षा करता है। इस प्रकार दुःखसे त्रस्त मानवके प्रति करुणाके व्यवहारसे उसकी स्वार्थ-परता दूर होती है। सुखी पुण्यवान्को देखकर प्रसन्न होनेसे ईर्ष्या-असूयाका नाश होकर सद्गुणोंकी वृद्धि होती है।

दैवी स्वभाववाला व्यक्ति सबको समभावसे देखता है तथा प्रेम करता है। वह अपने दैनिक और सामाजिक जीवनमें वास्तविकताको स्थान देता है। उसके कथन और कार्यमें समभाव रहता है। वह जैसा सोचता है, वैसा ही करता भी है। उसके मन, वचन और कर्म—तीनोंका एक रूप होता है। वह किसीके प्रति ईर्ष्या या द्वेष नहीं रखता।

अन्तःकरणकी स्वच्छताके कारण मनुष्य निरन्तर शान्ति और मानसिक संतुलनका सुख लूटता है। जिस व्यक्तिके पास छिपानेके लिये कुछ शेष ही न रह जाय, उसीका जीवन धन्य है।

३—ज्ञानयोगव्यवस्थिति

परमात्माके स्वरूप (ज्ञानयोग) में निरन्तर स्थित रहना एक दैवी शक्तिसे सम्पर्क स्थापित करना है। सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वरके स्वरूपमें एकीभावसे ध्यानमें निरन्तर गाढ़ स्थितिका नाम 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' है।

सम्पूर्ण इन्द्रियोंका कोलाहल शान्त होनेपर वैराग्य-युक्त पवित्र चित्तसे अपने इष्टदेव भगवान्‌का आह्वान करनेपर ध्यानावस्थामें भगवान्‌के दर्शन होते हैं। ध्यानावस्था योगकी उच्चतम स्थिति है, जिससे इष्टदेवके साकार रूपका ध्यान करनेमें कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती, प्रत्युत एक अदृष्ट महाशक्ति अन्तःकरणमें प्रवेश करने लगती है।

जगत्में सत्य ही ईश्वर है। सदा सत्यके ही आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है। सत्य ही सबकी जड़ है। सत्यसे बढ़कर दूसरी कोई गति नहीं है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
(मुण्डक० २।२।८)

कार्य-कारणरूप परात्पर ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर हृदयकी अविद्यारूपिणी ग्रन्थि टूट जाती है, समस्त संशय नष्ट हो जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्मबन्धन क्षय हो जाते हैं।

इस स्थितिके लिये सतत साधना तथा अभ्यासकी आवश्यकता है। नेत्र मूँद, शान्त हो सुखासनसे बैठ जाइये और मनमें ईश्वरकी जिस मूर्तिको या जिस तत्त्वस्वरूपको आप पसंद करते हों, उसका मानस-चित्र बनाइये। इसके बाद मन-ही-मन अपने उपास्यदेवके दिव्य गुणों, अपार शक्तियों और अतुल सामर्थ्योंका ध्यान कीजिये। जितनी एकाग्रतासे बार-बार आप इन शक्तियोंपर विचार करेंगे, उतनी ही तीव्रतासे आपके व्यक्तित्वमें दिव्य सम्पदाओंकी वृद्धि होगी। ईश्वरकी शक्ति, सौन्दर्य, पवित्रता और महानताका चिन्तन, मनन, कीर्तन करते-करते ये दिव्य गुण साधकमें भी प्रकट हो जाते हैं।

४—सात्त्विक दानकी शक्ति धारण करें

मानवताको प्राप्त करनेवालेको अपनी स्थिति और सामर्थ्यके अनुकूल दान देते रहना चाहिये, अपनेसे पिछड़े हुए व्यक्तियोंकी सहायता करनी चाहिये। कहा है—

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान्॥

'राजन्! ये दो प्रकारके पुरुष स्वर्गसे भी ऊपर स्थान पाते हैं—१ शक्तिशाली होनेपर भी क्षमा करनेवाला और २ निर्धन होनेपर भी दान करनेवाला।'

ऋग्वेदमें कहा गया है—'दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते' अर्थात् दानी अमर पद प्राप्त करते हैं।

यदि हम ध्यानसे देखें तो समस्त विश्व हमें दानके सत्त्वगुणी नियमपर चलता हुआ दिखायी देता है। ईश्वरकी सृष्टि कुछ ऐसी है कि दान देनेसे दी गयी वस्तु घटती नहीं बल्कि और भी कई गुनी बढ़ती ही जाती है। परमेश्वरने कुछ ऐसा क्रम रखा है कि 'पहले दान दो, तब तुम्हें मिलेगा।' जब कोई भी अपने दान देनेकी क्रियाको बंद कर देता है, तब वह धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है, विकृत एवं कुरूप हो जीवन-युद्धमें धराशायी होता है।

सृष्टि दानपर ही टिकी हुई है। यह ईश्वरीय नियम सर्वत्र कार्यमें आता हुआ दिखायी दे रहा है। संसारके किसी भी जड-चेतन, यहाँतक कि मन्दबुद्धिके पशु-पक्षियोंतकको देखिये—सर्वत्र दान देनेका (अर्थात् बिना स्वार्थ कुछ-न-कुछ देनेका) सार्वभौम नियम कार्य कर रहा है। यदि कुआँ जल-दान देना बंद कर दे, खेत अनाज, साग-सब्जियाँ देना छोड़ दे; वृक्ष फल-पत्तियाँ, छाल-लकड़ी इत्यादि देना रोक दें; वायु, जल, धूप अपना-अपना निर्धारित कार्य बंद कर दें; पशु हमें अपनी सेवाओंका दान न दें तो हमारा समाज तथा सृष्टिका संचालन ही बंद हो जाय।

माता-पिता अपने बाल-बच्चोंके लिये बलिदान करना, सेवा करना, देख-रेख, पालन-पोषण करना बंद कर दें तो चेतन जीवोंका बीज ही मिट जायगा! और सृष्टिका सबसे बड़ा दानी दयालु परमेश्वर तो हर पल, हर घड़ी हमें कुछ-न-कुछ उपयोगी वस्तु देता ही रहता है। उसकी रचनामें दान-तत्त्व प्रमुख है।

दानका अभिप्राय क्या है? दूसरेको देनेका तात्पर्य है—अपनी संकीर्णतासे छुटकारा और आत्मीयता एवं उदारताका अभ्यास। दानसे आत्मसंयमकी आदत पड़ती है और इन्द्रियनिग्रहमें भी सहायता मिलती है। दूसरोंके हितकी बात सोचकर हम कम वस्तुओं, कम द्रव्य, कम अनाज आदिसे काम निकालना सीखते हैं। रहीमने ठीक ही कहा है—

> तबही लग जीबौ भलौं, दीबौ परे न धीम।
> बिनु दीबौ जीबौ भलौ, हमैं न रुचै रहीम॥

दान देनेसे दी हुई वस्तु बढ़ती है। विद्या-दान दीजिये, आप स्वयं विद्वान् बन जायँगे। रुपया, पैसा, अनाज, वस्तुएँ, पुराने-नये वस्त्र इत्यादि नाना प्रकारके दान हैं। जितना देते हैं, उतना ही ये हमारे पास आते हैं। दयालुता, मैत्री-भाव, समवेदना, संयम, धैर्य, शान्ति, प्रेम—ये सारे भाव दूसरोंको जिस उदारतासे दिये जाते हैं, उतने ही और बढ़ते और मनुष्यको उन्नत करते हैं। आध्यात्मिक उन्नति बढ़ती है। दान देनेसे मनमें अमित शान्तिकी प्रतीति होती है। उस याचकके मुखको देखकर संतोष होता है, जिसे आपने भोजन करा दिया है, या ठिठुरते हुएको वस्त्र इत्यादि दान दिये हैं।

दानका प्रत्यक्ष लाभ आत्मसंतोष है, जो देनेवाला स्वयं अपने मनमें अनुभव करता है। देकर हमारी आत्माको जो शान्ति होती है, वह समस्त सुखोंमें श्रेष्ठ है।

पैसा, मकान तथा अन्य अनावश्यक वस्तुएँ, जो आपके पास व्यर्थ पड़ी हुई हैं और काम नहीं आ रही हैं, उन व्यक्तियोंके काम आनी चाहिये, जिनके लिये वे वास्तवमें आवश्यक हैं। यदि आपके पास कुछ ऐसी वस्तुएँ एकत्रित हो गयी हैं तो दूसरोंके हितके लिये उन्हें दे देनेमें ही हित है।

पैसेकी बुरी तरह चौकीदारी करनेवाला कंजूस दानके स्वर्गीय आत्मसुखके रसास्वादन करनेसे वञ्चित रह जाता है। जो निःस्पृह तथा विना अहंकारके दान देता है, वही वास्तविक आत्मवादी है। जो दान करता है, वह मानवके हृदयमें रहनेवाले एक सात्त्विक प्रवाह-की रक्षा करता है, तुच्छ स्वार्थोंको मारता है और संकीर्णतासे ऊपर उठता है।

चरित्रकी संकीर्णता छोड़िये। यदि आप दूसरोंको देंगे तो ईश्वरके अक्षय भंडारमेंसे आपको अधिकाधिक समृद्धि प्राप्त होगी। किंतु यदि आप देनेकी पवित्र क्रियामें कंजूसी करेंगे तो उस ईश्वरीय भंडारसे आपको मिलना बंद हो जायगा।

जो उदार है, दानी है, सत्कार्योंमें अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुकूल दान देता है, वास्तवमें वही बुद्धिमान् है। बुद्धिमानोंके पास ही दैवी सम्पदाएँ रहती हैं। अतः देश, काल, पात्र तथा परिस्थितिको ध्यानमें रखकर कर्तव्य-बुद्धिसे द्रव्य, सेवा अथवा श्रमका दान करते रहना चाहिये।

राल्फ वाल्डो ट्राइन नामक पाश्चात्त्य विचारकने सत्य ही लिखा है—

'मनुष्यद्वारा एकत्रित किये हुए धनका सदुपयोग करनेका अच्छे-से-अच्छा समय तथा मार्ग यही है कि वह अपने जीवन-कालमें ही प्रतिदिन उसका परोपकार (दान) में सदुपयोग करे। ऐसा करनेसे उसका जीवन उदारता और महानतासे भर जायगा।'

सात्त्विक निःस्पृह दान ही परमगतिको देनेवाला मुक्तिस्वरूप साधन है। दानसे त्याग, बलिदान एवं वैराग्यकी त्रिविध भव-भय-विनाशिनी अलौकिक सुधा-धारा उत्पन्न होकर हमें जगत्का वास्तविक स्वरूप प्रदान करती है। ऐसा दानी भक्त जगत्के समस्त कर्म करते हुए भी अहंकार, स्वार्थ, मोह, मायासे मुक्त रहता है। भवतापोंमें ऐसी शक्ति नहीं कि उसे विचलित कर सकें।

५—इन्द्रियोंका दमन

सच्चा मनुष्यत्व पानेके इच्छुकको अपनी पाँचों इन्द्रियोंको वशमें रखना अर्थात् ऐसी शक्ति रखना कि सब इन्द्रियोंपर पूरा काबू रहे, बहुत आवश्यक है। आपका शरीर मन और विचार-विवेकके द्वारा परिचालित होना चाहिये। निषिद्ध विषयोंका सेवन कदापि न करे और विहित भोगोंका भी उचित मात्रामें ही सेवन करना दैवी सम्पद्का गुण है।

सच्ची मानवताको धारण करनेवाला वह व्यक्ति है, जो शरीररूपी रथमें जुते हुए पाँचों इन्द्रियोंरूपी अश्वों-को लक्ष्यभ्रष्ट नहीं होने देता। इन चञ्चल इन्द्रियोंको वशमें रखनेकी उसमें अद्भुत सामर्थ्य होती है। वह प्रत्येक कार्यका अच्छा-बुरा पहलू देखकर कार्यमें प्रवृत्त होता है। क्षणिक सुखके प्रलोभनमें मत्त हो कोई कार्य नहीं करता। बलपूर्वक शास्त्रसम्मत शुभ और कल्याण-कारी कार्योंमें ही मन लगाता है।

इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं—१ ज्ञानेन्द्रियाँ, २ कर्मेन्द्रियाँ। कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नाक—ये ज्ञानेन्द्रियाँ तथा हाथ, पाँव, वाक्, उपस्थ तथा पायु हमारी कर्मेन्द्रियाँ हैं, किंतु इनमें ज्ञानेन्द्रियाँ ही अधिक प्रबल हैं।

इनमेंसे प्रत्येक इतनी चञ्चल है कि उसको अनियन्त्रित छोड़ देनेसे भयंकर पतन सम्भव है। वे सात्त्विक प्रवृत्तिवाले व्यक्ति धन्य हैं, जो इन्द्रियों (तथा वासना) की प्रबल तरङ्गोंको अपने विवेकके द्वारा रोके रहते हैं, उन्हें पथभ्रष्ट नहीं होने देते।

विवेकके नेत्रोंसे देखनेपर विषय-भोगोंकी निस्सारता प्रकट हो जाती है। शास्त्रोंके अध्ययन, सत्सङ्ग और ब्रह्मचर्यद्वारा सांसारिकताके बन्धनोंसे मुक्ति और शुद्ध

बुद्धिका प्रकाश होता है। तृष्णा और आसक्तिकी सारहीनता प्रकट हो जाती है।

जो व्यक्ति इन्द्रियोंको कछुएकी भाँति सभी विषयोंसे हटा ले और अन्तर्मुखी हो जाय, वही स्थितप्रज्ञ है। जो व्यक्ति मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर ईश्वरपरायण रहता है, वही जीवन्मुक्त है। वही नर-रत्न धन्य है, जो राग-द्वेषरहित हो अपनी आत्मामें स्थित रहता है और भोगोंसे सदा उदासीन रहता है।

इन्द्रियोंका दमन कैसे करें ?

सर्वप्रथम आस-पासका वातावरण स्वच्छ, सात्त्विक और धर्ममें प्रवृत्ति बढ़ानेवाला होना चाहिये। सांसारिक विषयोंके प्रति उदासीनता, भोग-विलासके प्रति वैराग्य, तामसिक पदार्थोंके सेवनसे सावधानी, कुकर्म, परनिन्दा, दम्भ, परदोष-श्रवण इत्यादिसे बचना चाहिये। नियमानुवर्तिताका अभ्यास करना चाहिये। नियमित कार्य करनेसे आलस्य दूर होता है और इन्द्रियोंको अपना कार्य करनेके लिये एक निश्चित मार्ग मिल जाता है। योग-आसनोंका नियमित व्यायाम, प्राणायाम और नियमित पूजा, भजन-कीर्तन इत्यादिके अभ्याससे समस्त नीच भावनाएँ फीकी पड़ जाती हैं।

जिस व्यक्तिको अपनी आत्माकी अचल, अव्यय, अनन्त शक्तिमें दृढ़ विश्वास है, उसकी इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थोंमें नहीं भटकतीं। वह दुष्ट स्वार्थोंमें चित्तकी स्थिरता भङ्ग नहीं होने देता। अतः आत्मश्रद्धा जाग्रत् कीजिये। मनकी शक्तियोंके मालिक बनिये। उपद्रवी प्रलोभनोंका निषेध कीजिये। एक आत्मवेत्ताके ये शब्द याद रखिये—

'दुनियाको मत बाँधो। अपनेको बाँध लो। अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर लो, तो तुम विजयी कहलाओगे। अपनी इन्द्रियोंकी रखवाली वैसे ही करो, जैसे एक कर्तव्यनिष्ठ सिपाही खजानेके दरवाजेकी रक्षा करता है। यदि चोरोंको अवसर मिलेगा तो वे इन्हीं दरवाजोंसे घुस पड़ेंगे और सारा खजाना खाली कर देंगे। इसलिये खबरदार! दरवाजोंपर गफलत न होने देना। इन्द्रियोंपर पापका कब्जा न होने पाये, वरना धर्मका खजाना खाली हो जायगा। मनके संयमसे स्वर्ग मिलता है, किंतु अनियन्त्रित इन्द्रियाँ तो नरककी ओर दौड़ती हैं। क्या तुम जानते हो कि उत्तम स्वास्थ्य, दीर्घ जीवन, दिव्य बुद्धि और सांसारिक सम्पदाएँ इन्द्रिय-निग्रहसे ही मिलती हैं। जिसने अपने ऊपर काबू पा लिया, वह हर परिस्थितिमें पर्वतकी तरह स्थिर बना रहता है।'

६—पूजा एवं अग्निहोत्रादि उत्तम कार्योंका आचरण

भगवान्के अनेक नाम हैं, रूप हैं और शक्तियाँ हैं। सब देवी-देवता ईश्वरकी नाना शक्तियोंके प्रतीक हैं। किसी भी रूपकी आराधना करना, प्रातः-सायं ईश्वरकी किसी भी प्रतिमाकी पूजा करना तथा अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण अपने चरित्रमें दैवी गुण विकसित करनेके अमोघ उपाय हैं।

भगवान्की प्रतिमा या मूर्ति सम्मुख रखनेसे एकाग्रतामें सहायता मिलती है, शुभ सात्त्विक भावनाओंका पवित्र प्रवाह हमारे हृदयमें बहने लगता है। यों तो सभी जगह भगवान्का पूजन और आराधन हो सकता है; किंतु मन्दिरके एकान्त स्थलमें प्रभु-प्रतिमाके सम्मुख जो गुप्त आनन्द प्राप्त होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। गङ्गाजीके तटपर पवित्र भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। मन्दिरमें आनेपर हमारे समस्त शुभ संस्कार जोर मारते हैं और दिव्य गुणोंकी अभिवृद्धि होती है।

पूजाका अर्थ व्यापक है। प्रभुकी सेवा चाहे किसी रूपमें की जाय, 'पूजा' शब्दके अन्तर्गत ही आ सकती है।

उदाहरणस्वरूप मान लीजिये आप डाक्टर हैं। यदि आप रोगियोंकी सेवा और पीड़ित मानवताके उत्थानमें योगदान देते हैं तो एक प्रकारकी पूजा ही करते हैं। यदि आप अध्यापक हैं तो विद्यार्थियोंमें विद्यमान भगवान्के रूपको देखकर विद्यादान दे सकते हैं। यदि आप दूकानदार हैं तो ग्राहकोंमें ईश्वरका अंश मानकर उनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सकते हैं। यदि आप समाजसेवी हैं तो दीन-हीन मजदूर-किसानोंमें रहकर उनके दुःख-दर्दका निवारण कर सकते हैं।

आप चाहे जिस स्थानमें हों, जिस हैसियतके हों, ईश्वरका विराट्रूप देखकर अपने निकटके व्यक्तियोंकी सेवा-सहायता कर सकते हैं। आपकी पूजा आपके सद्व्यवहार, आपकी सहानुभूति, आपकी मीठी बोलीमें निहित है। इस संसारमें ये मनुष्य, ये पशु, ये पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष ईश्वरकी साकार प्रतिमाएँ हैं। इनकी सेवाद्वारा इनकी पूजा कीजिये।

अग्निहोत्र (यज्ञ) भारतीय सूक्ष्म विज्ञानका प्रधान आधार है। यज्ञसे आत्मोन्नति, स्वर्ग, मुक्ति आदि पारमार्थिक लक्ष्योंकी प्राप्ति, बल-वृद्धि, रोगनिवारण, श्री-समृद्धि, सुसंतति, अभीष्ट वर्षा, कुसंस्कारोंसे निवृत्ति, दिव्य अस्त्र-शस्त्र, व्यापक वातावरणमें परिवर्तन, सूक्ष्म जगत्पर अधिकार आदि प्राप्त होते हैं। यज्ञ हमारी आपत्तियोंका निवारण करनेवाला है। यज्ञ करनेवाले मनुष्यकी सुख-शान्तिकी वृद्धि होती है—

ईजानाः स्वर्गं यान्ति लोकम्। (अथर्व० १८। ४। २)

'यज्ञ करनेवालोंको स्वर्गका सुख प्राप्त होता है।'

जिन्हें स्वर्गीय सुख प्राप्त करना अभीष्ट हो, उन्हें यज्ञ करना चाहिये। यज्ञमें दी हुई आहुतियाँ कल्याण-कारक होती हैं कहा गया है—

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।

'यज्ञ संसारका सर्वश्रेष्ठ कर्म है।'

सर्वेषां वा एष भूतानां सर्वेषां देवानामात्मा यद् यज्ञः।

(शतपथब्राह्मण)

'निश्चय ही यह यज्ञ सब प्राणियों और सब देवताओंका जीवन है।' आध्यात्मिक उन्नतिके लिये यज्ञ इत्यादि करते रहना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि यथासम्भव सत्कर्म करें। दुष्कर्मोंसे बचें। अपने कर्त्तव्योंका सचाईसे पालन करें। जो जिस परिस्थितिमें है, वह उसी जगह सत्कर्मोंमें लगे। दूसरोंके शुभ कर्मोंमें बाधा न डाले। हो सके तो सत्कर्मोंमें सहयोग देकर उन्हें आगे बढ़ाये। स्मरण रखिये, दूसरोंकी शुभ योजनाओंमें, पवित्र कर्मोंमें, धार्मिक अनुष्ठानोंमें, दान-यज्ञ इत्यादिमें बाधा डालनेसे स्वयं अपने संचित पुण्य नष्ट हो जाते हैं।

सत्कर्म ही श्रेष्ठ पूजा है। परमार्थ, समाज-सेवा, दूसरोंके लिये त्याग और निःस्वार्थ प्रेम-व्यवहार ही अपना दृष्टिकोण बना लेनेसे जीवन सुख-शान्तिमय बन जाता है। विश्वप्रेम भी ईश्वरप्रेमके ही अन्तर्गत है।

हमारे उत्तम कर्म भगवान्की पूजाके अंश हैं। उनमें दो भावोंकी प्रधानता होनी चाहिये। प्रथम तो उनमें ममता, आसक्ति एवं फलेच्छाका त्याग होना चाहिये। दूसरे प्रत्येक कार्य भगवान्का है—यह वृत्ति रखकर हमें पवित्र भावसे कार्यमें लगना चाहिये। निःस्वार्थ कर्मोंसे ही पूजा सम्भव है।

(क्रमशः)

गीताका ज्ञेय-तत्त्व

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार ज्ञेयका अर्थ परब्रह्म परमात्मा है । विचार करनेपर प्रतीत होता है कि ज्ञेय उसे कहते हैं, जो जाना जा सके, जानने योग्य हो 'अथवा जिसे जानना आवश्यक हो । इन तीनोंमें प्रथम जाना जा सकनेवाला ज्ञेय है संसार; क्योंकि यह नश्वर जगत् ही इन्द्रियोंके द्वारा या अन्तःकरणके द्वारा जाना जाता है । तथा जिन साधनोंसे हम संसारको जानते हैं, वे साधन भी वास्तवमें इस ज्ञेय संसारके ही अन्तर्गत हैं । इस संसारका जानना भी उपयोगी है, पर वह जानना है उसके त्यागके लिये । अर्थात् यह संसार ज्ञेय होते हुए भी त्याज्य है। वस्तुतः ज्ञेय एकमात्र परमात्मा ही हैं । इसे गीताने स्पष्ट कहा है—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः । (१५ । १५)

वेद्यं पवित्रम्— (९ । १७)

तेरहवें अध्यायमें श्रीभगवान्ने ज्ञानके बीस साधनोंका नाम 'ज्ञान' बताकर उन साधनोंसे जिसका ज्ञान होता है, वह ज्ञेय-तत्त्व परमात्मा है—यह बात स्पष्ट कही है ।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
(गीता १३ । १२)

इस श्लोकके पहले चरणमें वे ज्ञेय तत्त्वको बतलानेकी प्रतिज्ञा करते हैं, दूसरे चरणमें उसके जाननेका फल अमृतकी प्राप्ति बतलाते हैं, तीसरे चरणमें उसका नाम लक्षणके साथ बतलाते हैं और चतुर्थ चरणमें उस ज्ञेय-तत्त्वकी अलौकिकताका कथन करते हैं कि वह न सत् कहा जा सकता है न असत् । इस प्रकार इस श्लोकके द्वारा परमात्माके निर्गुण निराकार रूपका वर्णन करते हैं । अगले श्लोकमें परमात्माके सगुण निराकार रूपका वर्णन करते हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
(गीता १३ । १३)

'सब जगह उनके हाथ-पैर हैं, सब जगह उनकी आँखें, सिर और मुँह हैं और सब जगह वे कानवाले हैं तथा सब जगहको घेरकर वे स्थित हैं ।' जैसे सोनेके ढेलेमें सब जगह सब गहने हैं, जैसे रंगमें सब चित्र होते हैं, जैसे स्याहीमें सब लिपियाँ होती हैं, जैसे बिजलीके एक होनेपर भी उससे होनेवाले विभिन्न कार्य यन्त्रोंकी विभिन्नतासे विभिन्न रूप धारण करते हैं—एक ही बिजली बर्फ जमाती है, अँगीठी जलाती है, लिफ्टको चढ़ाती-उतारती है, ट्राम तथा रेलको चलाती है, शब्दको प्रसारित करती तथा रेकार्डमें भर देती है, पंखा चलाती है तथा प्रकाश करती है—इस प्रकार उससे अनेकों परस्पर-विरुद्ध और विचित्र कार्य होते देखे जाते हैं । इसी प्रकार संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि अनेक परस्परविरुद्ध और विचित्र कर्म एक ही परमात्मासे होते हैं; पर वे परमेश्वर एक ही हैं । इस तत्त्वको न समझनेके कारण ही लोग कहते हैं कि जब परमात्मा एक है, तब संसारमें कोई सुखी और कोई दुखी क्यों है ? उन्हें पता नहीं कि जो ब्रह्म निर्गुण, निराकार तथा मन-वाणी और बुद्धिका अविषय है, वही सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाला सगुण-निराकार परमेश्वर है। इनकी एकताका प्रतिपादन करते हुए ही गीता कहती है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
(१३ । १४)

'सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित होते हुए भी वे सम्पूर्ण इन्द्रियोंका कार्य करते हैं और आसक्तिरहित होते हुए भी सबका धारण-पोषण करते हैं। सर्वथा निर्गुण होते हुए भी सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं।' तथा—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
(गीता १३। १५)

वे सब प्राणियोंके बाहर-भीतर हैं, और चर-अचर प्राणिमात्र भी वे ही हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे वे अविज्ञेय हैं, क्योंकि वे 'अणोरणीयान्'—अणुसे भी अणु हैं। जाननेमें आनेवाले जड पदार्थोंकी अपेक्षा उनका ज्ञान सूक्ष्म है और ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञाता अत्यधिक सूक्ष्म है। फिर वह जाननेमें कैसे आ सकता है? श्रुति भी कहती है—

विज्ञातारमरे केन विजानीयात्?

उसीकी चित्-शक्तिसे बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको जाननेमें समर्थ होते हैं। वह ज्ञेय तत्त्व दूरसे दूर और समीपसे समीप है। देशकी दृष्टिसे देखनेपर पृथिवीसे समीप शरीर, शरीरसे समीप प्राण, प्राणसे समीप इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे समीप मन, मनसे समीप बुद्धि तथा बुद्धिसे समीप जीवात्मा तथा उसका भी प्रेरक और प्रकाशक सर्वव्यापी परमात्मा है और दूर-से-दूर देखनेपर शरीरसे दूर पृथ्वी, पृथ्वीसे दूर जल, जलसे दूर तेज, तेजसे दूर वायु, वायुसे दूर आकाश, आकाशसे दूर समष्टि मन, मनसे दूर महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे दूर परमात्माकी प्रकृति तथा प्रकृतिसे अति दूर स्वयं परमात्मा है। अतः देशकी दृष्टिसे परमात्मा दूर-से-दूर है। इसी प्रकार कालकी दृष्टिसे परमात्मा दूर-से-दूर तथा समीप-से-समीप है। वर्तमानकालमें तो वह परमात्मा है; क्योंकि जड वस्तुमात्र प्रत्येक क्षण नाशको प्राप्त हो रही हैं, अतएव उनकी तो सत्ता है ही नहीं। यदि सत्ता मानें भी तो उससे भी समीप वह सत्य तत्त्व है और भूतकालकी ओर देखें तो दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, चतुर्युग, कल्प, परार्ध, ब्रह्माकी आयु तथा उससे भी पूर्व—

सदेव सौम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

—वे सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदसे शून्य सत्स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही थे। तथा भविष्यमें भी उसी प्रकार क्षण, पल, दण्ड, घड़ी, प्रहर, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, चतुर्युग, कल्प, परार्ध तथा ब्रह्माकी आयुके बाद भी वे ही परमात्मा रहेंगे—'शिष्यते शेषसंज्ञः'। अतएव दूर-से-दूर भी वही तत्त्व विद्यमान है।

जिस ज्ञानके अन्तर्गत देश-काल-वस्तुकी प्रतीति होती है, वह चित्स्वरूप ज्ञान ही है तथा उसके अन्तर्गत आनेवाले देश-काल-वस्तुमात्र क्षण भर भी स्थिर न रहकर केवल परिवर्तनशील प्रतीत होते हैं। परिवर्तनशीलतामें वस्तु न होकर केवल क्रिया है और वह क्रिया भी केवल प्रतीत होती है, वस्तुतः वहाँ क्रिया भी न टिककर केवल ज्ञानमात्र ही है। वह ज्ञान चिन्मात्र है, ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। वही अवश्य जानने योग्य वस्तु है—

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।

उसके जान लेनेके बाद ज्ञात-ज्ञातव्य, प्राप्त-प्राप्तव्य होकर कृतकृत्यता हो जाती है, अर्थात् न कुछ जानना बाकी रह जाता है और न पाना बाकी रहता है, न करना ही बाकी रहता है। वह ज्ञेयतत्त्व—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
(गीता १३। १६)

—अनेक आकारोंके विभक्त प्राणियोंमें अविभक्त है अर्थात् विभागरहित एक ही तत्त्व विभक्तकी तरह प्रतीत होता है। अनेक व्यक्तियोंमें सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करनेवाला एक ही तत्त्व विद्यमान है। वही जगत्की उत्पत्ति करनेवाला होनेके कारण ब्रह्मा कहलाता है, पालन

करनेवाला होनेके कारण विष्णु कहलाता है और संहार करनेवाला होनेके कारण महादेवरूपसे विराजमान है।

'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'—वह ज्योतियोंका भी ज्योतिःस्वरूप है। अर्थात् जैसे घट-पट आदि भौतिक पदार्थोंका प्रकाशक सूर्य है तथा वह सूर्य घट-पट आदिके भाव और अभाव दोनोंको प्रकाशित करता है, जैसे सूर्यके प्रकाश-अप्रकाशको निर्विकाररूपसे नेत्र प्रकाशित करता है, नेत्रके देखनेकी क्रिया तथा नेत्रकी ठीक-बेठीक अवस्थाको एकरूप रहता हुआ मन प्रकाशित करता है, मनकी शुद्धाशुद्ध अनेक विकारयुक्त क्रियाको बुद्धि निर्विकाररूपसे प्रकाशित करती है, तथा बुद्धिके भी ठीक-बेठीक कार्यको आत्मा प्रकाशित करता है, उसी प्रकार समष्टि सृष्टि तथा उसकी नाना क्रियाओं तथा अक्रिय अवस्थाओंको शुद्ध चेतनरूप परमात्मा प्रकाशित करता है। अतः वह ज्योतियोंका भी ज्योति है तथा अज्ञानरूप अन्धकारसे अत्यन्त भिन्न है। वह केवल ज्ञानरूप है, वही जानने योग्य है तथा अमानित्व, अदम्भित्व आदि बीस साधनोंसे प्राप्त किया जा सकता है। वह सबके हृदयमें सदा-सर्वदा विद्यमान रहता है। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः।

तथा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

वही सर्वव्यापक, सर्वाधिष्ठान, सर्वरूप परमात्मा है, वही सर्वथा जानने योग्य है। वही परब्रह्म परमात्मा, जहाँ जगत् तथा जगदाकाररूपमें परिणत होनेवाली प्रकृतिका अत्यन्त अभाव है, वहाँ 'निर्गुण निराकार' कहलाता है। उसी परमात्माको जब प्रकृतिसहित जगत्‌के कारणरूपमें देखते हैं तब वह सगुण निराकार-रूपसे समझमें आता है, तथा जब उसे हम सम्पूर्ण संसारके स्रष्टा, पालक और संहारकर्त्ताके रूपमें देखते हैं, तब वही ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—इन त्रिदेवोंके रूपमें ज्ञात होता है।

वही परमात्मा जब धर्मका नाश और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंका विनाश करके धर्मकी स्थापनाके लिये राम-कृष्ण आदि विविध रूपोंमें अवतार लेते हैं। तथा संत-मतके अनुसार वे ही परमात्मा ज्योतिरूपमें साधकोंके अनुभवमें आते हैं। उनका वर्णन संतोंने पतिरूपमें तथा अमरलोकके अधिपतिके रूपमें किया है तथा यह भी बतलाया है कि वे ही हंसरूप संतोंको अमरलोकसे संसारमें भक्तिका प्रचार तथा संसारका उद्धार करनेके लिये भेजते हैं। वे ही दिव्यवैकुण्ठाधिपति, दिव्यगोलोकाधिपति, दिव्यसाकेताधिपति, दिव्यकैलासाधिपति, दिव्यधामके अधिपति, सत्यलोकके अधिपति आदि विभिन्न नामोंसे पुकारे जाते हैं। तथा इसकी प्राप्तिका ही परमात्माकी प्राप्ति, मोक्षकी प्राप्ति, परमस्थानकी प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति, आद्य स्थानकी प्राप्ति, परम शान्तिकी प्राप्ति, अनामय पदकी प्राप्ति, निर्वाण—परम शान्तिकी प्राप्ति आदि आदि अनेक नामोंसे गीतामें तथा अन्यान्य ग्रन्थोंमें निरूपण किया गया है। वही सर्वोपरि परमतत्त्व श्रीगीताजीका ज्ञेयतत्त्व है, जिसकी प्राप्तिके स्वरूपका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(गीता ६। २२)

—जिस स्थितिकी प्राप्तिके बाद वह कभी विचलित नहीं होता। मनुष्यके विचलित होनेके दो कारण होते हैं—एक तो जब वह प्राप्त वस्तुसे अधिक पानेकी आशा करता है; अथवा जहाँ रहता है, वहाँ यदि कष्ट आ पड़ता है तो वह विचलित होता है। इन दोनों कारणोंका निराकरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि उस ज्ञेय तत्त्वकी प्राप्तिसे बढ़कर कोई लाभ नहीं है और उसकी समझसे भी उसे कोई अधिक लाभप्रद वस्तु भी नहीं दीखती; क्योंकि उससे बढ़कर कोई तत्त्व है ही नहीं तथा तत्त्वज्ञ महापुरुषमें सुखका भोक्तापन रहता नहीं। अतएव

व्यक्तित्वके अभावमें भारी-से-भारी दुःख आ पड़नेपर भी विचलित कौन हो और कैसे हो ? अतएव वह महापुरुष सदा निर्विकार रूपमें स्थित रहता है। वह गुणातीत हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
(गीता १४ । २२–२५)

अर्थात् हे अर्जुन ! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको, रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको भी न तो प्रवृत्त होनेपर बुरा मानता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा करता है; जो मनुष्य उदासीन (साक्षी)के समान स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता तथा गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं—यों समझकर जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता; जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ सुख-दुःखको समान समझता है तथा मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाव रखता है, धैर्यवान् है, प्रिय और अप्रियको समान देखता है तथा अपनी निन्दा और स्तुतिमें भी समान भाववाला है; जो मान और अपमानको समान समझता है, मित्र और शत्रुके पक्षमें समभाव रखता है, वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित पुरुष गुणातीत कहलाता है।'

गीताके ज्ञेय तत्त्वकी अनुभूतिका यही फल है।

भगवान्‌की कृपासे मैं पूर्ण निश्चिन्त, निर्भय और निष्काम बनता जा रहा हूँ

भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे आज मेरे अंदर यह विश्वास उत्पन्न हो गया है कि मैं जिस साधनपथ-पर चल रहा हूँ, मेरे लिये वही प्रशस्त है और मैं उसमें निश्चय ही सफलता प्राप्त करूँगा। इस बार मानव-शरीर धारण करके मैं संसारमें आया ही इसलिये हूँ कि मैं अज्ञानजनित इस दुःखमय आवागमनके चक्करसे छूटकर ही रहूँगा। बहुत भटक चुका; अब नहीं भटकूँगा, नहीं भटकूँगा। निश्चय ही भगवान्‌के चरणोंको प्राप्त करके सदाके लिये उन पावन पद-कमलोंकी सेवामें ही लगा रहूँगा। मेरे इस विश्वासका एकमात्र बल है—भगवान्‌की कृपा और वह मुझे अनन्त, असीमरूपमें सदा प्राप्त है। मैं उस भगवत्कृपा-सुधाके महान् अगाध समुद्रमें निमग्न हूँ। भगवान्‌की कृपाशक्ति समस्त भागवती शक्तियोंकी स्वामिनी है; सारी शक्तियाँ उसकी अनुगता होकर ही क्रियाशीला रहती हैं। अतएव जितनी भी भागवती शक्तियाँ हैं, सब मुझपर सब ओरसे बरस रही हैं और मेरा जीवन परम पवित्र, परम मधुर, परम सरल, परम सरस और परम शान्त होता जा रहा है एवं मैं पूर्ण निश्चिन्त, निर्भय और निष्काम बनता जा रहा हूँ।

कलियुगका स्वर्ण-सुअवसर

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

आजकल कलियुगका प्रचण्ड ताण्डव वर्तमान है। सर्वत्र अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, दुर्विचारकी भरमार है। कलियुगने जबसे कलजुगका रूप धारण किया, तबसे धर्म-कर्मका और भी अन्त हो गया। हल जोतनेके लिये कल निकल पड़े—अब गाय-बैलोंकी क्या पूछ? उनका अन्त किया जाने लगा। पानी पीनेके लिये कल चला—जाति-पाँतिकी इतिश्री हुई। जहाँ प्रायः सौ, दो सौ वर्ष पहले कहीं कलका नाम न था, आज सर्वत्र सभी रूपमें सब कुछके लिये कल-ही-कल दीख रहा है। इससे चकित तथा विवश होनेके कारण लोगोंकी अभिरुचि धर्मसे हट रही है। अब गाँवोंमें बिजली लग गयी है। उनके बगलमें फैक्ट्रियाँ खुल गयी हैं। वहाँ खुले सिनेमा दिखाये जाने लगे हैं। इसके प्रभावसे ग्रामीण जनता बुरी तरह मारी गयी। वहाँ मद्य-मांस-जुआ-व्यभिचार बुरी तरह घुस रहा है। अब नाम लेनेके लिये कोई कोरा उपदेशक भी कहीं नहीं मिलता, जो सदाचार, ब्रह्मचर्य, धर्म, सत्यकी बात भी चला सके। जहाँ देखिये, केवल विलासिता तथा भोगमय जीवन। कहनेके लिये 'वेश्यावृत्ति' का अन्त कर दिया गया है; किंतु यथार्थ स्थिति यह हो रही है कि इन सिनेमाओं तथा महापुरुषों (?) के आदर्शके बदौलत अब प्रायः सारी स्त्रीजाति वेश्या बनने जा रही है। सर्वत्र मद्यनिषेधका राग अलापा जा रहा है और कानून बनते सुने जा रहे हैं; पर अब भले कुछ निम्न कहलानेवाली जातियाँ मद्य न पीने लगी हों, पर बाबुओंका, प्रमुख जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंका तो यह मद्य प्रमुख पेय पदार्थ बन गया है। कहाँतक कहा जाय, वस्तुतः विगत दस वर्षोंमें आचारका—मनुष्यताका इतना पतन हो गया है कि विवश होकर कहना पड़ता है कि यदि सार्वत्रिक यही क्रम और प्रगति रही तो संसारकी यात्रा अधिक लंबी न हो सकेगी। आजके शिक्षणालय तथा विश्वविद्यालय तो जैसे नास्तिकोंके उत्पन्न करनेके कारखाने बन रहे हैं। आजका चिकित्सा-विज्ञान खुलेरूपसे मांस-मदिरा—अधिक क्या, पशु-पक्षियोंकी विष्ठातक खाने-खिलानेका प्रोत्साहन दे रहा है। यह सब हुआ कलजुग आनेका—महायन्त्रप्रवर्तनका विलक्षण परिणाम।

पर यह कोई नयी बात नहीं है। पुराणोंमें कलियुगका बड़ा भीषण चित्रण बार-बार आया है। यत्र-तत्र इसकी बहुत ही निन्दा की गयी है। किंतु इसके कई ऐसे भी गुण बतलाये गयें हैं, जिनसे चतुर व्यक्ति बहुत ही लाभ उठा सकता है। उन गुणोंके देखते इसके सभी दुर्गुण कम ही जान पड़ते हैं।

सुनु ब्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार।
गुनउ बहुत कलिजुग कर बिनु प्रयास निस्तार॥
कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
(श्रीमद्भा० १२। ३। ५१)

कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥

विष्णुपुराण तथा ब्रह्मपुराणमें बतलाया गया है कि जो सत्ययुगमें महान् तपस्यासे मिल सकता है, वही महान् पुण्य कलियुगमें स्वल्प प्रयत्नसे साध्य है।

(ब्रह्मपुराण २३०। ६०; विष्णु० ६। १। ६०)

जो सत्ययुगमें दस वर्षतक तप आदि करनेसे, त्रेतामें एक वर्षके तपसे, द्वापरके एक महीनेके श्रेष्ठ धर्मसे मिलता है, वही कलियुगमें एक रात-दिन भगवन्नाम-कीर्तनसे प्राप्य है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
(विष्णु० ६ । २ । १५; ब्रह्म० २३० । ६२ तथा स्कन्द० ब्राह्म० सेतु० ४३ । ३–५)

बृहत्पाराशरस्मृतिमें कलियुगके सुकर्मोंका फल सत्ययुगकी अपेक्षासे दसगुना बतलाया गया है—

अस्मिन् कलौ च विदुषा विधिवत् कर्म यत् कृतम्।
भवेद्दशगुणं तद्धि कृतादेर्युगतो ध्रुवम्॥
(४ । ६३)

इसी ग्रन्थमें अन्यत्र कहा गया है कि सत्ययुगमें एक करोड़ मुद्रा देनेका, त्रेतामें एक लाखका, द्वापरमें दस हजार देनेका जो पुण्य है, वही कलियुगमें एक सौ मुद्रा देनेका है—

कृते यत् कोटिदस्य स्यात् त्रेतायां लक्षदस्य तत्।
द्वापरेऽयुतदस्य स्याच्छतदस्य कलौ फलम्॥
(बृहत्पारा० १। ४०)

स्कन्दपुराणके सेतु-माहात्म्यके चौथे अध्यायमें तो यहाँतक कहा गया है कि सत्ययुगमें जो पूरे युगभर तप करनेका पुण्य सम्भव था, त्रेतामें जो पाँच लाख वर्षकी तपस्याका पुण्य मिलता, द्वापरमें जो एक लाख वर्षके तपका पुण्य होता, उतना कलियुगमें एक रात-दिनके ही तपका पुण्य हो जाता है—

कृते तु युगपर्यन्तं त्रेतायां लक्षपञ्चकम्।
द्वापरे लक्षमेकं तु दिनैकेन फलं कलौ॥
(स्कन्द० ब्राह्म० धर्मारण्य० ४ । १०२)

श्रीमद्भागवतमें आता है कि जब दिग्विजयमें परीक्षित्‌की कलियुगसे भेंट हुई, तब उन्होंने उसे मार डालना चाहा। किंतु जब उन्होंने देखा कि इसमें धर्मकार्य अति शीघ्र सिद्ध होंगे, तब उसे छोड़ दिया—

नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक्।
कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत्॥
(१ । १८ । ७)

कहते हैं कि अगणित ऋषि-मुनियोंने घोर क्लेश, तितिक्षा एवं तप आदिके अनुष्ठानसे जब सत्ययुगमें सफलता नहीं देखी, तब भगवान्‌से कलियुगमें जन्म लेनेकी प्रार्थना की, इच्छा प्रकट की, जिससे अनायास स्वल्प पुण्याभ्याससे ही सिद्धि मिल जाय—

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः॥
(श्रीमद्भा० ११ । ५ । ३८)

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते॥
(श्रीमद्भा० ११ । ५ । ३६)

इस तरह इस समय जब कि कलियुगकी मध्याह्नकालिक प्रखर किरणें विश्वको संतप्त कर रही हैं, चतुर साधकको युक्तिसे काम लेकर अपना कार्य तत्काल सिद्ध कर लेना चाहिये। यों भी कहा जाता है कि जब राजा आपत्तिग्रस्त हो जाता है, तब उस समय उसे कोई एक पाव सत्तु या एक लोटा जल पिलाकर ही, उसको सोनेके लिये एक टूटी झोपड़ी देकर ही उसे वशीभूत तथा चिरकृतज्ञ बना लेता है। इसी प्रकार इस समय विपत्तिग्रस्त धर्मको जब कोई नहीं पूछता, तब निश्चय ही इस समय उसका आदर करनेवाला उसका परम हितैषी सिद्ध होगा। इसलिये अल्पमात्र तथा अल्पकालिक धर्मका भी अनुष्ठान इस समय परम श्रेयस्कर है।* फिर जो नित्य-निरन्तर भगवत्स्मरण, धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त हैं, धर्मप्रचार-प्रसारमें संलग्न हैं, वे निश्चय ही अत्यन्त चतुर तथा सौभाग्यशाली हैं। जो प्रयत्नपूर्वक समस्त अपकर्मोंसे सदा बचकर नित्य-निरन्तर प्रतिक्षण भगवत्स्मरणपूर्वक धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त हैं, उनके लिये तो यह कलियुग सत्ययुगसे भी सभी प्रकार बढ़कर है और यदि धर्म-भगवान्‌से मतलब नहीं तो सत्ययुग ही क्या कर लेता—

---

* यदल्पेन तु कालेन सिद्धिं गच्छन्ति मानवाः।
(स्कन्द० माहे० कुमारि० ३५ । ११५)

कलौ कृतयुगस्तस्य कलिरेव कृते युगे ।
हृदये यस्य गोविन्दः यस्य चेतसि नाच्युतः ॥
(गरुडपुराण, पूर्व० २२४)

ऐसी दशामें 'तिहूँ काल तिन को भलो जे राम रँगीले' भगवत्परायण प्राणियोंके लिये सदा-सर्वत्र सब कुछ मङ्गलमय ही सिद्ध होता है । जब उनके लिये विष भी अमृत, शत्रु भी मित्र, जंगल भी मङ्गलमय तथा मृत्यु भी महोत्सव ही प्रतीत होता है, तब यह दुर्युग कलियुग भी हितकर कैसे नहीं हो जायगा—

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई । गोपद सिंधु अनल सितलाई ॥
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही । राम कृपा करि चितवा जाही ॥
ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर । सुर नर मुनि प्रसन्न तेहि ऊपर ॥
सो विनई विजई गुनसागर । तासु सुजस तिहुँ लोक उजागर ॥

भगवान्की ओर चलने तथा उनकी कृपा प्राप्त करनेमें कोई कठिनाई भी नहीं है । बस, एक बार सरल हृदयसे अपनी दीनता प्रकट करने तथा अपना लेनेकी प्रार्थनाभर ही पर्याप्त है । फिर तो उन परम कृपाधामसे अस्वीकृति सम्भव ही नहीं । 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' तथा 'सब करौं तेहि साधु समाना ।' की बात वे स्वयं कैसे भूल सकेंगे । अतः सुस्पष्ट है कि परम-श्रेय सम्पादनके लिये बुद्धिमान् प्राणीके सामने यह स्वर्ण-सुअवसर उपस्थित है । अब इसका लाभ उठाना, न उठाना उनके भाग्यपर अवलम्बित है । पर जो इस समय भी सचेत न हुआ, उसे पीछे कितना पछताना पड़ेगा—यह कौन बतला सकता है ?

सब व्यवहारोंका मूल साधन—वाणी

(लेखक—श्री 'अभिलाषी' 'सम्पादक 'चरक')

कागा काको धन हरै, कोयल काकौं देय ।
मीठे वचन सुनाय कै जग वस मैं करि लेय ॥

वाणीका माहात्म्य बताते हुए कहा गया है—

लक्ष्मीर्वसति जिह्वाग्रे जिह्वाग्रे मित्रबान्धवाः ।
जिह्वाग्रे बन्धनं प्राप्तं जिह्वाग्रे मरणं ध्रुवम् ॥

'धन, मित्र, बन्धन और मरण—सभी कुछ एकमात्र वाणीपर ही आधारित है ।'

अपनी वाणीसे ही मनुष्य सम्मान या अपमान, विजय या पराजय, मित्रता या शत्रुता और सुख या दुःख प्राप्त करता है ।

वाणीके प्रभावसे ही व्यक्तिका व्यक्तित्व चमक उठता है । वाणीसे ही व्यक्ति अपने-आपको इस दुनियामें प्रकाशित करता है ।

इस दुनियामें जितने भी व्यवहार हो रहे हैं, उन सभीका मूल वाणी ही है । वाणीके बिना किसी भी व्यवहारका चलना अत्यन्त ही कठिन है ।

अंग्रेजीमें भी कहा गया है—Man is known by his speech. मनुष्य अपनी वाणीसे ही पहचाना जाता है ।

वैदिक शास्त्रकी दृष्टिसे मनुष्यके रोग और आरोग्य-का मूल भी वाणी ही है ।

ये जो मनुष्य वाणीका सम्यक् योग बनाता है, वह नीरोग रहता है और जो उसका असम्यक् योग बनाता है, वह रोगी बनता है ।

जैसा बोलना योग्य हो, जैसा बोलना शास्त्रसे अविरुद्ध हो, वैसे ही बोलनेको 'सम्यक् योग' कहते हैं ।

जो बोलना अयोग्य हो, जो बोलना शास्त्रसे विरुद्ध हो, ऐसे बोलनेको अयोग (अल्प-योग), अतियोग या मिथ्यायोगको वाणीका 'असम्यक् योग' कहते हैं ।

सबको प्रिय लगें, ऐसे मधुर शब्द बोलना, सत्य वचन बोलना, जिनसे अपना तथा जिससे बात की जाय, उस-का हित हो, ऐसे शब्द बोलना, तथा किसीको तनिक भी दुःख उपजे, ऐसे कटु वचन कभी न बोलना, किसीके

अच्छे सम्बन्ध टूट जायँ, ऐसी कलहात्मक वाणी न बोलना, योग्य समयपर योग्य मात्रासे बोलना, किसीकी निन्दा न करना, किसीकी चुगली न करना। इसे वाणीका 'सम्यक् योग' कहते हैं।

जो अप्रिय लगें, ऐसे कटु शब्द बोलना, असत्य वचन बोलना; जिनसे किसीको दुःख हो, किसीका अहित हो या अपमान हो, ऐसे वचन बोलना; कलह उत्पन्न हो, ऐसे वचन बोलना; समयका ध्यान रखे बिना अधिक या बहुत ही अल्प बोलना, निन्दा और चुगली करना—इसे वाणीका 'असम्यक् योग' कहते हैं।

शक्ति होनेपर भी वाणीका उचित प्रयोग न करके मूक रहना या अति अल्प बोलना—यह वाणीका अयोग या अल्पयोग कहलाता है; यह कई रोगोंका उत्पादक है।

अपनी शक्तिसे अधिक मात्रामें बोलनेको वाणीका अतियोग कहते हैं, यह भी कई हृदय-रोगोंका उत्पादक होता है।

वाणीका जैसी शास्त्रसम्मत होनी चाहिये वैसी न होना यानी जो वाणी शास्त्रसे विरुद्ध हो, उसे वाणीका मिथ्यायोग कहते हैं। आजके युगके बहुत-से रोगियोंके रोगका यही मूल कारण है।

किसीकी निन्दा करना, चुगली करना, जिनसे किसीको दुःख हो, ऐसे कटु वचन बोलना, असत्य अहितकर बोलना और बिना समय प्रमाणरहित बोलना भी शास्त्रमें वाणीका मिथ्या योग कहा गया है।

वाणी सर्वदा मधुर और प्रिय ही होनी चाहिये; क्योंकि मधुर और प्रिय वाणीसे सभी प्राणी आह्लादित और प्रसन्न होते हैं। प्रिय वचनसे जब पशु-पक्षीतक प्रसन्न होकर अपने वशमें हो जाते हैं, तब फिर मनुष्यकी तो बात ही क्या है।

वाणी प्रिय और मधुर होनेके साथ-साथ सत्य भी होनी चाहिये। अपने विद्वान् लोग कह गये हैं—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

सर्वदा प्रिय बोले, सत्य बोले। सत्य भी अप्रिय लगे, इस तरह कभी न बोले और प्रिय भी असत्य न बोले। यही सनातन धर्म है, यही वाणीका उत्तमोत्तम योग है।

जो मनुष्य सत्य बोलता है, वह अपने मन और आत्माका अनुगत रहता है। जो अपने मन और आत्माका अनुगत रहता है, वह बहुत-से रोगोंसे बचकर नीरोग एवं यशस्वी होता है।

जो मनुष्य झूठ बोलता है, वह अपने मन और आत्माको धोखा देता है और जो अपने मन और आत्माको धोखा देता है, वह कभी रोगोंका भोगी बनकर दुखी हो जाता है।

इसलिये जिसे नीरोग और सुखी रहना हो, अपने आत्माका कल्याण करना हो, उसे सर्वदा सत्य वाणी ही बोलनी चाहिये।

कटु वाणी बोलनेसे सुननेवाले व्यक्तिको दुःख होता है और कभी-कभी तो वह कटु वाणी बड़े-बड़े विनाशकारी संग्रामोंमें परिणत हो जाती है।

शस्त्रोंके घाव भर जाते हैं, किंतु वाणीके घाव नहीं भरते, वरं कभी-कभी तो वे बड़ा ही भयंकर रूप धारण करते हैं। कटु वाणीसे क्रोध निष्पन्न होता है। क्रोधसे वैरका दावानल भभक उठता है और उस दावानलमें अनेकों बड़े-बड़े राज्यों और जातियोंके भस्मीभूत हो जानेके अनेकों उदाहरण हमें ज्ञात हैं।

किसीने कोई भूल की, किसीने हमें धोखा दिया, किसीने हमें हानि पहुँचायी, किसीने हमारा अपमान किया हो—इस प्रकारकी स्थितिमें भी उन लोगोंसे बोलनेके समय वाणीका संयम रखकर मधुर और हितकर वचन बोलना उभय पक्षके लिये कल्याणकारी होता है।

क्योंकि क्रोधसे क्रोध बढ़ता है, वैरसे वैर बढ़ता है—यह तो हम सभी जानते ही हैं। वैर या क्रोधकी उपशान्ति—शान्ति और क्षमासे ही होती है। शान्ति और प्रसन्नता, क्षमा और शिक्षा, दण्ड और मान सभी कुछ मधुर वाणीमें आत्मसात् है। कोई हमें क्षति पहुँचाये, फिर भी उसके साथ मधुर वाणीसे बर्ताव करनेपर किसी-न-किसी दिन वह अवश्य पछतायेगा। वही उसके लिये उचित शिक्षा या दण्ड है।

इसलिये विद्वज्जनोंको चाहिये कि वे सदा-सर्वदा मधुर और प्रिय शब्दोंको ही मुखसे निकालें।

जो मनुष्य दूसरेकी निन्दा या चुगली करता है, वह अनेकों अनर्थ और दुःख उपार्जित करता है। दूसरेकी निन्दा या चुगली करनेवाला व्यक्ति समाजकी दृष्टिसे नीचे गिर जाता है। कोई भी उसका विश्वास या सम्मान नहीं करता। सज्जनोंके हृदयमें ऐसे व्यक्तिके लिये तनिक भी जगह नहीं होती।

इस तरह दूसरेकी निन्दा या चुगली करनेवाले मनुष्य दूसरेका अहित तो करते ही हैं, साथ-साथ अपना भी घोर अहित करते हैं।

उत्तम पुरुषोंको चाहिये कि वे कभी किसीकी निन्दा या चुगली न करें और न तो परनिन्दा-चुगली करनेवाले लोगोंके साथ सम्पर्क ही रखें।

बोलना कब और कैसा होना चाहिये, इसके बारेमें महर्षि वाग्भट कहते हैं—

'काले हितं मितं ब्रूयादविसंवादि पेशलम्।'

अवसर आनेपर ही बोलना चाहिये। बिना अवसर बोलनेसे न तो वचनोंका कुछ मूल्य रहता है और न उसका कोई अच्छा परिणाम आता है। वचनोंकी कीमत तभी होती है, जब वे सुअवसरपर प्रकाशित किये गये हों। वचनोंका प्रभाव अवसरपर बोलनेसे ही प्रकट होता है। प्रभावके बिना परिणाम निष्पन्न नहीं होता। बिना परिणामकी वस्तुका अर्थ ही क्या है।

इसलिये विज्ञजनोंको चाहिये कि वे अवसर प्राप्त होनेपर ही बोलें, उसीमें उनका सम्मान और प्रतिष्ठा है।

बोलना सर्वदा हितकर होना चाहिये और वह ऐसा होना चाहिये, जो किसीके लिये उसके दुःख और संकटमें आश्वासन या सहायरूप हो, अँधेरेमें प्रकाशरूप हो और जो सुख एवं शान्तिका कारण हो। ऐसी वाणीको ही 'हितकर' कहा जाता है। ऐसी वाणीमें दूसरेके हितकी कामना होनेसे वह वाणी सात्त्विक है। सात्त्विक वाणी ही सर्वोत्तम वाणी है।

इसलिये साधु पुरुषोंको चाहिये कि वे सर्वदा हितकर ही बोलें।

इस तरह वाणी ही श्रेष्ठत्व या हीनत्व, रोग या आरोग्य, सुख या दुःखका मूल कारण है।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें वाणीके पाँच प्रकारके सत् प्रयोगको वाङ्मय तप बतलाया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
(१७। १५)

'जो वचन उद्वेग उत्पन्न करनेवाले नहीं होते, सत्य, मधुर और सबके हितकर होते हैं और वाणीसे स्वाध्याय (पारमार्थिक साहित्यका पठन तथा भगवन्नामका उच्चारण) होता है, वह वाङ्मय तप कहलाता है।'

श्रीगदाधर भट्ट

[एक भाव-विश्लेषण]

(लेखक—क० श्रीगोकुलानन्दजी तैलंग, साहित्यरत्न)

व्रज-रजके कण-कण-व्यापी रस-निधिके एक सूक्ष्मतम परमाणुका भी जिन महानुभावोंने एक बार आस्वादन पा लिया है, वे फिर एक पलके लिये भी उससे बिलग होनेपर कितने अधीर, विकल और विरहातुर हो उठते हैं—कोई उनसे जाकर पूछे। उस अतीन्द्रिय रस-माधुरीमें क्या आकर्षण है, उसका अपना क्या आस्वाद है—सम्भवतः वे इसे गूँगेके गुड़की तरह वाणीसे व्यक्त भी नहीं कर पायेंगे। वे तो किसी व्रज-ललनाकी तरह व्रजनिधि श्यामसुन्दरके 'श्याम-रंग' में अङ्ग-अङ्ग सराबोर होकर, उसीको पानेके लिये व्याकुल हैं। अनुपल—सोते-जागते, बैठते-उठते, जहाँ-तहाँ, सर्वत्र उसीके मधुर मिलनके सपने देखते हैं।

श्रीगदाधर भट्ट ऐसे ही महानुभावोंमेंसे हैं। वे 'श्याम-रंग-रँगी, नेह-रस-पगी दो गोपाङ्गनाओंके परस्पर मधुर संवादके व्याजसे अपने अन्तर्भावकी अभिव्यक्ति कर रहे हैं—

सखी, हौं स्याम रँग रँगी।
देखि बिकाइ गई वह मूरति, सूरति माहिं पगी॥
संग हुतो अपनो सपनो सो, सोइ रही रस खोइ।
जागेहुँ आगें दृष्टि परै सखि, नेकु न न्यारो होइ॥
एक जु मेरी अँखियनि में निसि-द्योस रह्यो करि भौन।
गाइ चरावन जात सुन्यो सखि, सो धौं कन्हैया कौन॥
का सों कहौं कौन पतियावै, कौन करै बकवादु।
कैसें कैं कहि जात गदाधर गूँगे को गुड़ स्वादु॥

उस साँवली-सलोनी रूप-मोहिनीके राग-रंगमें वह ऐसी रँग गयी है कि उसका अपना स्वरूप ही उसमें अन्तर्हित हो गया। सारे रंग 'श्याम-रंग' में समा जाते हैं। वह भी उसीमें डूब गयी, समा गयी। अपनेपरसे उसका स्वत्व भी तो उठ गया। उसके हाथ बिकी-सी वह उसीकी हो गयी, उसीमें खो गयी। उसने तो अभीतक सुन ही रखा था कि व्रजमें कोई गो-चारण करता हुआ कन्हैया रमण किया करता है। उसकी आँखोंमें रात-दिन वही श्रुतिजन्य रूप बसा करता था, मानो उसकी पुतलियोंमें उसने घर कर लिया हो; किंतु जब आज स्वप्नमें भी उसीका मिलता-जुलता चित्र उतर आया, तब तो वह रस-विभोर हो उठी। वह भोली-भाली ग्वालिनी भूल गयी अपनेको। थोड़ा भी वह उसके दृष्टि-पटलसे विलग नहीं होता, बार-बार उसके आगे आ ही जाता है। आज सत्य और स्वप्न मानो एकरूप और सजीव हो उठे। अब वह किससे कहे, उसकी आँखोंमें कौन बसा है—विलक्षा है! वह जिस सौन्दर्य-निधिमें आकण्ठ निमग्न है, उसकी अनुभूतिका स्वारस्य कैसे बताये! उसकी प्रतीति किसे होगी? फिर प्रतीति ही नहीं तो, किसीके साथ इस विवादमें उलझना भी व्यर्थ है; उसकी 'तन्मनस्क, तदालाप' स्थितिको सिवा उसके और कौन जान सकेगा?

इसी 'गोपी-भाव' से कवि भी आज विभावित है। उसमें वैसी ही आर्ति, वैसी ही करुणा है, वैसी ही विकलता भरी है। वह अपनी भाव-तन्मयतामें डूबा, अनुरागके आँसुओंमें भीगा, प्रीति-रससे सिञ्चित व्रजकी किसी श्याम-तमाल-कुञ्जके तले बैठा मानो श्यामसुन्दरका आश्रय ग्रहण किये अचिन्त्य परमानन्दका अनुभव कर रहा है। उसके मधुर चिन्तनका चारु चित्र देखिये—

श्रीगोविंद पद पल्लव सिर पर बिराजमान,
कैसें कहि आवै या सुख को परिमान।
व्रज नरेस देस बसत कालानल हू त्रसत,
बिलसत मन हुलसत करि लीलामृत पान॥
भीजे नित नयन रहत प्रभु के गुनग्राम कहत,
मानत नहिं त्रिविध ताप जानत नहिं आन।
तिन के मुख कमल दरस पावन पद रेनु परस,
अधम जन 'गदाधर' से पावैं सनमान॥

कितनी तदाकार वृत्ति है! यह व्रजकी लता-पताके आश्रयमें नहीं, मानो श्रीगोविन्दके पद-पल्लवोंकी सुखद शीतल छायामें विराजमान है। इस सुखके परिमाणकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। व्रजपति नन्दनन्दनके इस राज्यमें निवास करते हुए, किसी भी प्रकारके ताप-दाप, आधि-व्याधि—यहाँतक कि अति दारुण कालानलका भी भय नहीं। अहर्निश भगवल्लीलाका पान करते हुए उल्लसित मनसे विलस रहे हैं। पल-पल प्रेमाश्रुओंसे आँखोंकी कोर भीगी रहती है, प्रभुका गुण-गान जो कर रहे हैं। कर्ण-पुटों और वाणी······'सर्वत्र ही

तो प्रीति रसका अमिय-निर्झर प्रवाहित है। इस अमृतत्वकी निरवधि उपलब्धिमें भला कोई भी ताप सम्भव है ? यदि प्रकृति अपना धर्म बरतती भी है तो यहाँ तो सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वोंको स्थितप्रज्ञ, समभाव होकर ग्रहण किये जा रहे हैं। सिवा उस प्रियतमके यहाँ अन्य किसीकी सत्ता ही नहीं मानते। सब कुछ हरिमय, रसमय है। प्रियतमके मुख-कमलके रूप-मधुसे जिनका हृदय आप्यायित है, जो अखिल-पावन चरणरेणुका स्पर्श करके अपनी समग्र अधम वृत्तियोंको खो चुके हैं, उन प्रभुके प्यारोंके सौभाग्यकी क्या इयत्ता है ? उनके माहात्म्यको कौन पा सकता है ?

व्रज और व्रजपतिमें उनकी गहरी निष्ठा है, पूर्ण आसक्ति है। अनन्य आश्रयके साथ वे उस व्रज-रजमें पड़े हुए हैं। विश्वकी समग्र सम्पदाको, जगत्‌के निखिल वैभवको व्रजके समक्ष वे तुच्छ, अपदार्थ गिनते हैं। व्रजमें रहकर वे आत्माराम, पूर्णकाम हैं। यदि उनकी कोई कामना अवशिष्ट है तो यही कि प्रभु अपना कर-कमल उनके मस्तकपर रखकर उन्हें अभय—आशीर्वाद दें। एक ढाढीकी अभिलाषाके रूपमें उनकी वृत्ति परखिये—

हौं व्रज माँगनौ जू, व्रज तजि अनत न जाऊँ ॥
बड़े बड़े भूपति भूतल में, दाता सूर सुजान।
कर न पसारूँ, सिर न नवाऊँ या व्रजके अभिमान ॥
सुरपति नरपति नागलोकपति राजा रंक समान।
भाँति भाँति मेरी आसा पुजवत ए व्रज जन जजमान ॥
मैं व्रत करि करि देव मनाए अपनी घरनि सँजूत।
दियौ है विधाता सब सुख दाता गोकुलपति कें पूत ॥
हौं आपनो मनभायो लैहौं, कत बौरावत बात।
औरनि कें धन घन ज्यों बरषत, मो देखत हँसि जात ॥
अठसिधि नवनिधि मेरे मंदिर तुव प्रताप व्रज ईस।
कहि कल्यान मुकुंद तात कर कमल धरौ मम सीस ॥

वे तो 'व्रजके भिक्षुक' हैं, व्रज छोड़कर अन्यत्र कहाँ जायँगे ? उनमें एक व्रजवासी, व्रज-भक्त होनेका अटल स्वाभिमान भी तो है। किन्हीं क्षुद्र भौतिक स्वार्थोंके पीछे किस-किसके आगे हाथ पसारें, किस-किसको सिर नवायें ? फिर कोई चाहे जितना वैभवशाली, पराक्रमी, दानशील हो, उनके प्रभुके समक्ष उसकी क्या गणना, क्या सत्ता ? जो अपने प्रभुको सर्वस्व—निधिस्वरूप माने हुए हैं, वह किसी भी लोकाधिपतिके अनुग्रहकी कामना क्यों करेगा ? उसके लिये तो राजा-रङ्क सभी समान हैं। अष्ट सिद्धियाँ, नवनिधियाँ तो उन्हें नित्य सुलभ हैं। वे तो केवल प्रभुकी अनुकम्पा, उनका स्नेह चाहते हैं। वे तो उनके रूपके प्यासे, उनकी सौन्दर्य-सुधाके ग्राहक हैं। उसीसे उनके संसार-जनित तापोंका निराकरण होगा। कितने सुन्दर रूपमें उन्होंने इस भावको व्यक्त किया है—

नंद कुल चंद वृषभानु कुल कौमुदी
उदित वृंदाविपिन विमल अकासे।
निकट वेष्टित सखीवृंद वर तारिका
लोचन चकोर तिनि रूप प्यासे ॥
रसिक जन अनुराग उदधि तजी मरजाद,
भाव अगनित कुमुदिनिगन विकासे।
कहि 'गदाधर' सकल विस्व असुरनि बिना
भानु भव ताप अज्ञान तम नासे ॥

इस भूतलपर एक दिव्यलोक अवतरित हो गया है। वृन्दाविपिन मानो एक प्रशस्त निर्मल नभोमण्डल है, जिसे नन्दनन्दन सुधांशु—चन्द्रकी भाँति समुद्भासित—आलोकित किये हुए हैं। उस चन्द्रकी विमल चन्द्रिकाके रूपमें उनकी परम प्रेयसी श्रीवृषभानुनन्दिनी शोभायमान हैं। वे भी वैसी ही रूपोज्ज्वल, वैसी ही लावण्यकी निधि, श्री-शोभा-सुषमाकी आकर हैं; सखी-समूह तारिकावलियोंकी भाँति विलसित हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके इतने समीप होते हुए भी उनके लोचन चकोरकी भाँति रूप-सुधाका पान करनेको अनुपल उत्कण्ठित हैं, मानो उनकी प्यास बुझती ही नहीं। उन्हींके साथ रसिक जनोंकी प्रीति भी अनन्त सागरकी भाँति पल-पल तरङ्गायमान हो रही है। आज उनके प्रेष्ठ पूर्णेन्दुरूपमें विकसित जो हो रहे हैं। उनके रूप-अमियका चुम्बकीय आकर्षण उनके हृदय-सागरको तरङ्गोल्लसित, आलोडित-विलोडित-हिन्दोलित कर रहा है। वह सारी मर्यादाओंका आज अतिक्रम कर रहा है। हृदयके आपूरित हो उठनेपर भला, उसे अपनेमें समाये रखा जा सकता है ? सारी कगारें टूट-फूट पड़ती हैं। युग-युगीन बन्धन क्षत-विक्षत होकर उन्मुक्त विलासको अवकाश देते हैं। अनगिनत सरस भाव-कुमुदिनियाँ अलग उत्फुल्लमान हैं। आज समग्र व्रजमण्डल आसुरी भावोंसे रहित, दिव्य गुणोंके वातावरणसे परिवेष्टित है। फिर भला, संसारके ताप-दाप, सांसारिक जीवनके हृदयका अज्ञानान्धकार क्यों न विलीन हो जायगा ?

कविकी आराधनाका लक्ष्य, उसकी साधनाका केन्द्र-विंदु उनके नयन-पटलपर निखर रहा है। 'गोपी-हृदय' मानो मूर्तिमन्त होकर उनके समक्ष विलस रहा है, उनकी रग-रगको अनुप्राणित कर रहा है। वन्दनाके छन्दोंमें उनका भाव-भरा हृदय रसनिधि श्रीराधिकाके चरणोंमें विनत हो मुखरित हो उठता है। उनका वही 'गोपीभाव' भावातिरेक-की परमावधिको पाकर निगूढतम 'राधा-भाव' में पर्यवसित हो जाता है—

जयति श्रीराधिके सकल सुख साधिके
तरुनि मनि नित्य नवतन किसोरी।
कृष्न तन नील घन रूप की चातकी
कृष्न मुख हिम किरन की चकोरी॥
कृष्न-मन भृंग बिस्राम हित पद्मिनी,
कृष्न दृग मृगज बन्धन सुडोरी।
कृष्न अनुराग मकरंद की मधुकरी।
कृष्न गुन गान रस सिंधु बोरी॥
एक अद्भुत अलौकिक रीति मैं लखी,
मनसि स्यामल रंग अंग गोरी।
और अचरज कहूँ हौं न देख्यौ सुन्यौ,
चतुर चौसठ कला, तदपि भोरी॥
विमुख परचित्त तें चित्त याको सदा,
करत निज नाह की चित्त चोरी।
प्रकृत यह 'गदाधर' कहत कैसैं बनै,
अमित महिमा इतै बुद्धि थोरी॥

राधाका सौन्दर्य ही राधाका भाव है। व्रजभक्तोंका हृदय-सौन्दर्य भी उनका आन्तरभाव है। रस और प्रीति-प्रतीतिकी प्रतीक ही मानो वृषभानु-नन्दिनी रासेश्वरी व्रजेश्वरी राधा हैं।

कृष्ण-सुख-साधना ही उनके जीवनकी परम आराधना है। अपने प्रियका प्रिय-साधन हो, इससे बढ़कर कामिनी-हृदयका और क्या सौभाग्य हो सकता है? तरुणियोंमें मणि-स्वरूप उनकी दिव्य-उज्ज्वल कान्ति है और नित्य-नूतन किशोरीके रूपमें वैसा ही उनके अन्तरका परमोज्ज्वल रस-भाव है। हृदयेश्वरके प्रति पल-पल उदीयमान कोमल रस-सिक्त कामना, नव-नव प्रवर्द्धमान भावशबलता उनके हृदयके अनुरूप प्रतिक्रियाएँ हैं। उनकी रस-द्रव-मृदुता नवनीत कृष्णघनके रूप-रसकी अनुसंगिनी है। रूप-रस-लोलुप चातक-हृदयकी प्यास जो उनके अन्तरमें जगमगा रही है। उन्हीं श्यामसुन्दरकी सजल, शीतल हिमांशु-मुख-माधुरीसे प्रतिक्षण बिखरने-निखरनेवाली अमृत-रश्मियोंके अनुपानके लिये उनका हृदय मानो चपलचित चकोरीका हृदय है। अनुराग-पराग-रागसे परिप्लुत, अनुरञ्जित किसी कान्त-कमलिनीरूप उनका हृदय है, जिसपर स्वयं रसेश, तथापि रस-लुब्ध श्याम-सलोने नन्द-नन्दनका मन-मधुकर मँडराया करता है—मानो वह श्याम-सुन्दर उन्हींके हृदयकी पंखुड़ियोंमें सम्पुटित होकर निशि-दिन उनसे स्फुरित भावोंके माधुर्यका आस्वाद पाता है। कभी-कभी उनकी भोली-भाली हरिण-सुलभ आँखें राधाकी चञ्चल-चितवनसे जा उलझती हैं तो उनका सुलझना कठिन हो जाता है, मानो रूप-राग-पगी नेहकी डोरीसे वे सदा-सर्वदाके लिये उनसे बँध गये, सध गये। सरल-तरल चितवनोंकी डोरीका सहज बन्धन कुछ क्षणोंका नहीं—युग-युग कल्प-कल्पका बन्धन है। इसीमें तो परस्पर सर्वस्व-समर्पणका रहस्य अन्तर्निहित है।

भक्तहृदय, कविहृदय भी इसी युगलप्रीतिकी रस-स्निग्धतासे अनुप्राणित है। उनकी परमाराध्या राधा जब नन्दनन्दन श्यामसुन्दरके अनुराग-परागकी मधुकरी है, उसके एक-एक रस-कणको पानेके लिये उतावली उनपर झूमती-लूमती मँडरा रही है, पी-पीकर भी, रस-डूबी-सी भी अधिकाधिक प्यासी-सी जो अपनेको अनुभव कर रही है, तब उसकी प्रीति-परिपाटीको लेकर चलनेवाले, उसके प्रेमादर्शका अनुगमन करनेवाले व्रज-भक्तोंकी गति-मतिका क्या कहना। वे भी श्याम-रसमें छके-से, थके-से 'और-और' के लिये आकुल-व्याकुल हैं। वे भी उन्हींकी तरह कृष्ण-गुण-गान-रूपी रसनिधिमें—प्रीति-महोदधिमें अपनेको आकण्ठमग्न पाते हैं। जब उसके अन्तरतममें जा पहुँचे, उसकी मिठासका तलस्पर्शी स्वाद मिल चुका, सदा उसीमें गर्क रहना चाहेंगे। अब पल-पल डूबने-उतरानेकी स्थिति ही नहीं रही; अथाह,—अगाधमें विरम गये, विलम गये।

'राधा-भाव' की एक और विलक्षणता देखिये। नन्दनन्दन श्यामसुन्दरके श्याम-रंगमें जिनका चित्त, हृदय, रग-रग रँगा हुआ है, अन्तः जो श्याम-रंगमें पूरे डूबे हुए हैं, वे बाह्यतः अङ्ग-प्रत्यङ्गसे गौर-वर्ण हैं—कैसा विरोधाभास है! 'ज्यौं ज्यौं डूबै स्याम-रँग, त्यौं त्यौं उज्ज्वल होइ' की उक्ति यहाँ पूर्णतया चरितार्थ हो रही है। राधा उन्हीं 'अनुरागी चित्त' श्यामरसिकोंकी तो प्रतीक है। इसीलिये उन्हें कृष्ण-अनुराग-मकरन्दकी 'मधुकरी' कहा गया है। यह

अलौकिकता, दिव्यता ही उन भक्तोंकी विशेषता है। यह गौरवर्णता उनके जीवनकी बहिरङ्ग स्थूलरूपता नहीं, किंतु वह तो उनके अन्तःबाह्य सर्वतः व्याप्त परमोज्ज्वल, तपोमय सात्त्विकताका निर्वचन है। श्याम-रंगमें समग्र रंगोंका अन्तर्भाव होनेपर भी उनके व्यक्तित्वका उज्ज्वल पक्ष सर्वथा पृथक् निखरता हुआ विद्यमान है। यह अपार्थिव, दिव्य आलोक है, जो उन्हें देदीप्यमान कर रहा है। भक्तोंकी दैवी-सम्पत्तियों, सत्त्वगुणोंका ही यह रूप है।

रस-रीति, भक्ति-भावकी सजीव प्रतिमा राधाको कविने यहाँ सरल, निर्मल और भोला भी चित्रित किया है। चौसठ कलाओंकी चातुरी जिसमें संनिहित है, वह रूपमें, व्यवहारमें एक 'गँवार भोली ग्वालिनी' है। कितना बड़ा आश्चर्य है! त्रिकालमें भी इस विश्व-पटलपर दुर्लभ भक्त भी जहाँ अन्तरतः समग्र गुण-गणोंके आकर, समग्र कला-कौशलकी निधि हैं, बाह्यतः—व्यवहारतः उतने ही सरल और तरल हैं। उनकी यह सरलचित्तता ही तो एक बहुत बड़ा आकर्षण है, जादू है। उनका यह भोलापन ही तो प्रभु-मन-माणिकको चुराकर ले जाता है। चित्तसे जो पर-चित्तके प्रति निःस्पृह हैं, निर्विकार और निर्लेप हैं, वे ही 'करत निज नाहकी चित्त चोरी' —कितना बड़ा चमत्कार है! प्रियतमका हृदय बलात् उनकी ओर खिंचा चला आता है। भगवान् भक्तके वशमें ही हो जाते हैं। सारी भगवत्ता, सर्व-नियन्तृत्व-शक्ति, सर्व-व्यापकता यहाँ विवश हो जाती है।

राधा और राधानुभावित भक्त-हृदयोंकी यह प्रकृति वर्णनातीत है। यह अद्भुत महिमा सहज बुद्धिगम्य भी नहीं। फिर कवि तो अपनेको अल्पमति मानता है—यद्यपि इतनेपर भी उसने 'राधा-हृदय'का जो सुन्दर विश्लेषण किया है, उसके मनोविज्ञानको जिस प्रकार समझा और परखा है, वह किसी भी प्रकार कम नहीं। वह स्वयं भी तो वही 'हृदय' रखता है। समानतत्त्ववादी एवं तत्त्ववाही व्यक्ति एक-दूसरेको पहिचाननेमें भूल नहीं कर सकते।

राधाकी मोहिनी जहाँ 'निज नाहकी चित्त चोरी' करती है, वहाँ वह स्वयं भी उसके रूपाकर्षणसे सम्मोहित है। अपने 'सारंग-नयनों' के बाणोंसे जहाँ वह प्रियतम श्यामसुन्दरके रससिक्त हृदयको बेधती है, वह स्वयं भी उस, वैसे ही लक्ष्यसे बच नहीं पाती। उसके रसावेशकी एक झलक देखिये—

> आजु माई, रिझई सारँगनैनी ॥
> अति रस मीठीताननि, काननि मैं अमृत सो बरसत।
> अँखियाँ जल झलमलाइ आईं, भईं तन पुलकनि छैनी ॥
> आपु तकति कर ताल देति दीनी न जाइ मुरझाइ माइ भीनी मृगनैनी।
> प्रेम पागि उर लागि रही 'गदाधर' प्रभु के पिय अँग अँग सुख देनी ॥

उस सुधा-सनी रस-मीठी वंशीकी स्वरलहरी और उसकी मधुर लयसे जो मन्त्र-मुग्ध-सी हो गयी है, सूक्ष्म संवेदनशील कलित कलेवरकी कोमलतासे जो भाव-भीनी-सी, मुरझा-सी गयी है, निस्पन्दित भित्ति-चित्रकी भाँति जो स्तम्भित और विचकित-सी खड़ी रह गयी है, उस राधाके हृदयकी रुझान-रिझानको कैसे व्यक्त किया जा सकता है। आँखें नेह-नीरसे झलमला रही हैं। प्रेम-पुलकोंसे समग्र देह आपूरित है। थकी-सी, ठगी-सी विजडित-विगलित-सी इकटक, अपलक प्रियतमके रस-पगे रूप-लावण्यकी ओर दृष्टि लगाये है। 'सारँग-नैनी' जो ठहरी। रूप-माधुर्य-संनिविष्ट वेणु-माधुरीने मानो उसे एक सम्मोहन प्रदान कर दिया है। अङ्ग-अङ्गकी प्रक्रियाओं, चेष्टाओंमें गति-रोध हो गया, सारी चेतना मानो कुण्ठित हो गयी! विवश, परानुशासित-सी उसकी दशा हो गयी है! तभी तो वह प्रियतमको 'अङ्ग-अङ्ग-सुख-देनी' है······'प्रेम पागि उर लागि रही' है।

कवि भी राधाकी इस सौभाग्य-सीमाको पानेका चिर-अभिलाषी है। वह भी सायंकाल गोचारणसे लौटते हुए, धूलि-धूसरित कुटिल भँवराली अलकोंकी झलकोंसे विलसित, मधुर, वेणुधर, मन्द-विहँसनि-कलित-मद, विघूर्णित-नयन वनमालीकी वनमालाके बीच अपना स्थान चाहती है! देखिये, उसकी कामना—

> आजु ब्रजराज को कुँवर बन तें बन्यो,
> देखि आवत मधुर अधर रँजित बेनु।
> मधुर कल गान निज नाम सुनि स्रवन पुट,
> परम प्रमुदित बदन फेरि हूँकति धेनु ॥
> मद, विघूर्णित नैनमंद बिहँसनि बैन,
> कुटिल अलकावलि, ललित गो पद रेनु।
> ग्वालबालनि जाल करत कोलाहलनि,
> सृंग दल ताल धुनि रचत संचत चैनु ॥
> मुकुट की लटक अरु चटक पट पीत की,
> प्रगट अंकुरित गोपी के मनहिं मैनु।
> कहि 'गदाधर' जु इहि न्याय ब्रज सुंदरीं
> बिमल बनमाल के बीच चाहतु ऐनु ॥

प्रियके हृदय-राज्यका अधिवासी होना प्रेमीकी बहुत बड़ी साधनाका फल है। वनमालाके बीच बसनेकी कामना, प्रियतमके अन्तरतममें स्थान पानेकी लालसा भी उसी साधनाके फल-

का प्रतिरूप है । व्रज-भक्तोंकी, प्रेयसी गोपीजनोंकी और उन्हीं-के प्रतिनिधि भट्टजीकी भी इससे बढ़कर और क्या महत्त्वाकाङ्क्षा हो सकती है ? वनसे लौटते हुए, कारी-कजरी, धौरी-धूमरि, धेनुओंके नामोंको वेणु-गीतके साथ उनके श्रवण-पुटोंमें पूरते समय मद-अलसित नयनोंकी मन्द-मधुर मुसकानको शृङ्ग-ध्वनि-निरत ग्वालबालोंके समूहोंपर पल-पल बिखेरते-समेटते-से— मुकुटकी लटक और पीत-पटकी चटकको सँवारते, सँभारते-से— धूलिधूसरित, विथुरित कुन्तलराशिसे बिखरती, निखरती अलका-वलियोंको अपने रूप-रागसे सँजोते-सहेजते-से—इस समग्र रूप-सौन्दर्य-शृङ्गार-संवलित ललित गति-विलास-हाससे व्रज-सीमन्ति-नियोंके मन-मानसोंको मनोज-ओजसे उद्वेलित-उन्मथित करते-से जब श्यामसुन्दर अपने वक्षःस्थलमें विलुलित वनमालाको नवनीत-कोमल अङ्गुलियोंसे रह-रहकर स्पर्श करेंगे, उस समय उसके बीच निवसित व्रज-भक्त-जनोंके भाग्यकी क्या सीमा ! नन्दनन्दनसे वनमालाको प्राप्त समग्र स्नेह, सम्पूर्ण अनुराग, प्यार और दुलारके समान अधिकारी वे भक्त ही तो होंगे । इसीलिये तो वे वहाँ अपना 'बसेरा' चाहते हैं । प्रियतमके हृदयको पानेका कितना सुन्दर उपाय है !

वनमाला और वनमालीके साथ यह निरवधि 'प्रेयसी-भाव' ही व्रजभक्तोंकी अपनी निधि है । उनकी अपनी बलवती निष्ठा भी तो इसीके समानान्तर है कि प्रभु हमारे हैं, हम उनके हैं । हृदय-पटलपर सर्वदा बसनेकी कामना उसीके अनुरूप है । फिर वनमालाकी नित्य-नवीन उत्फुल्लता उसकी एक-एक कलित-कुसुम-मुकुल-दलकी मृदुमादकता, एक रससूत्र-में पिरोये हुए सुधासिक्त सुमनोंकी भाव-भीनी महक-लहक सर्वांशतः उन भक्त-हृदयोंकी मधुर-मदिर भावुकतासे—उनके अन्तःसौन्दर्यसे कितना साम्य रखती है ! वनमाला और भक्त-हृदय—व्रजसीमन्तिनियोंका गोपी-हृदय—उसका परमावधि-रूप 'राधा-भाव' एकरस, एकरूप ही तो हैं ।

भट्टजी तो फिर उस माधुर्यभावके अनन्य उपासक ही ठहरे—अन्यतम व्रज-भक्तके रूपमें, रससिद्ध कवि और प्रीति-गीति-संगीतकारके रूपमें ।

धन और भागवत-जीवन

[श्रीअरविन्दके वचनोंकी व्याख्या]

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

धनकी आवश्यकता

धन ही हमारा एकमात्र लक्ष्य नहीं है, परंतु धनको अलग रखकर भी सर्वाङ्गपूर्ण जीवनकी हमारी कल्पना पूरी नहीं होती । धन भी हमारे लक्ष्य अथवा उपलक्ष्यका एक अङ्ग है और महत्त्वपूर्ण अङ्ग है । श्रीअरविन्दके शब्दोंमें— 'धन एक विश्वजनीन शक्तिका स्थूल चिह्न है । यह शक्ति भूलोकमें प्रकट होकर प्राण और जडके क्षेत्रोंमें कार्य करती है । बाह्य जीवनकी पूर्णताके लिये इसका होना अनिवार्य है ।'

श्रीअरविन्द आगे लिखते हैं—'अपने मूल और वास्तविक कर्मकी दृष्टिसे यह शक्ति भगवान्‌की है । परंतु भगवान्‌की अन्यान्य शक्तियोंके समान यह शक्ति भी यहाँ दूसरोंको सौंप दी गयी है और इस कारण अधःप्रकृतिके अज्ञानान्धकारमें इसका अहंकारके काममें अपहरण हो सकता है अथवा असुरोंके प्रभावमें आकर विकृत होकर यह उनके काम आ सकती है । मानव-अहंकार और असुर जिन तीन शक्तियोंसे सबसे अधिक आकर्षित होते हैं और जो प्रायः अनधिकारियोंके हाथोंमें पड़ जाती हैं तथा ये अनधिकारी जिनका दुरुपयोग ही करते हैं, उन्हीं आधिपत्य, धन और काम—इन तीन शक्तियोंमेंसे एक शक्ति है धन । धनके चाहनेवाले या रखनेवाले धनके स्वामी तो क्या होते हैं, अधिकतर धनके दास ही होते हैं । धन जो बहुत कालसे असुरोंके हाथोंमें रहा और इसका जो बराबर दुरुपयोग हुआ, इससे इसपर दोषकी एक ऐसी गहरी छाप लगी हुई है कि उससे कोई कठिनाईसे ही बचता हो । इसीलिये प्रायः सभी आध्यात्मिक साधन-मार्गोंमें पूर्ण संयम, अनासक्ति और धनके सब बन्धनों तथा प्रत्येक प्रकारकी वैयक्तिक और अहंकार-युक्त वित्तैषणाके त्यागपर इतना जोर दिया जाता है । कुछ साधन-मार्ग तो धन-वैभवको पाप ही समझते हैं और यह बतलाते हैं कि दरिद्रता और अपरिग्रहका होना ही आध्यात्मिक स्थिति है । पर यह ठीक नहीं है । इससे यह शक्ति दानवी शक्तियोंके हाथोंमें ही रह जाती है । इसका भगवान्‌के लिये पुनरुद्धार करना—क्योंकि यह भगवान्‌की है—और भागवत जीवनके लिये भागवतभावसे इसका उपभोग करना साधकका विज्ञानमूलक मार्ग है ।'

धन अपने आपमें न अच्छा है न बुरा । वह केवल

एक शक्तिका स्थूल चिह्न है। यह शक्ति अच्छे हाथोंमें पहुँचकर अच्छे उपयोगसे अच्छी बन जाती है और बुरे हाथोंमें जाकर बुरे उपयोगसे यही बुरी बन जाती है। बुराईकी तरह अच्छाईको भी अपने कार्यके लिये शक्ति चाहिये। यदि हम अच्छे कार्य करना चाहते हैं तो हमें वह शक्ति प्राप्त करनी चाहिये, जिसका स्थूल चिह्न धन है। भगवान्‌के कार्यके लिये हमें धनी और शक्तिशाली बनकर अपने धन और शक्तिका—जो वास्तवमें भगवान्‌के हैं—सदुपयोग करना चाहिये।

आधिपत्य, धन और काम—ये शक्तियाँ बुराईको अपनाये बिना प्राप्त नहीं होतीं—यों समझना भूल है। और यह समझना भी भूल है कि इन तीन शक्तियोंसे सम्पन्न होनेके कारण ही कोई व्यक्ति वन्दनीय हो जाता है। उसने ये शक्तियाँ कैसे प्राप्त कीं और वह इनका कैसा उपयोग करता है, इसीसे उसकी श्रेष्ठता या नीचता सिद्ध होती है।

पवित्र उपायोंसे प्राप्त किया गया धन पवित्र होता है। ऐसे पवित्र धनवानों (शुचि श्रीमानों) के घरोंमें महान् पुरुष (योगभ्रष्ट साधक) जन्म लेते हैं। या फिर उनका जन्म बुद्धिके धनी योगियोंके ही कुलमें होता है। ऐसे जन्मको और भी दुर्लभ बताकर गीतामें धनसे ज्ञानकी श्रेष्ठता बतायी गयी है। ज्ञानके साथ ही हमें धन आदि बाह्य शक्तिकी भी आवश्यकता है।

धन-विजयका उद्देश्य

बिल्कुल प्रारम्भसे ही हमारे मनमें धन-विजयका उद्देश्य स्पष्ट रहना चाहिये। इस बातकी ओर हमें निरन्तर जागरूक रहना चाहिये कि धन हमें स्वयं अपने लिये नहीं, बल्कि भगवान्‌के लिये प्राप्त करना है—भगवान्‌के कार्यके लिये प्राप्त करना है। इस प्रकार यह योगका और योगके अन्तर्गत भक्तिका मार्ग है, जिसका पथप्रदर्शन स्वयं भगवान्‌ने किया है। गीताके नौवें अध्यायमें इस राजमार्गको 'सुखमय साधना' (सुसुखं कर्तुम्) कहा है। यह साधना सुखमय तो है, परंतु इसके साधकको निरन्तर जागरूक रहना होता है; जब सारी दुनिया सोती है, तब भी इस पथका पथिक जागता रहता है। परंतु इस मार्गके साधकका जागना औरोंकी तरह नहीं होता। और लोग अपने लिये जागते हैं और यह भगवान्‌के लिये जागता है।

धन-विजयका उद्देश्य यदि हमारे मनमें पहलेसे ही स्पष्ट न रहेगा तो होगा यह कि धन प्राप्त होते ही हम उसे अपने ही विषय-भोगोंमें लगा देंगे और इससे भी बुरा यह होगा कि हम धनके स्वामी न रहकर उसके दास बन जायँगे। अर्थात् धन हमारे लिये न होगा बल्कि हम धनके लिये होंगे, जब कि ये दोनों ही बातें नासमझीकी हैं; क्योंकि सारा धन वास्तवमें भगवान्‌का है और उन्हींके काममें उसका उपयोग करना हमारा धर्म है।

इसका यह अर्थ नहीं कि भगवान्‌के कार्यक्षेत्रसे हमारा जीवन बाहर है। बल्कि यदि हमने अपने आपको भगवान्‌के कार्यका निमित्त बन जाने दिया है तो हम उनके और भी निकट हैं। जो सारे संसारको सुख-समृद्धि प्रदान करते हैं, उनके वरदान प्राप्त करनेके हम और भी अधिक अधिकारी हैं। वे वरदान हमें अवश्य प्राप्त होंगे। हाँ, जब वे वरदान हमें प्राप्त हों, तब उनसे हमें वैरागियोंकी तरह भागना नहीं चाहिये। इस प्रकार उनके वरदानोंसे भागना तो उनका अपमान करना है। भगवान्‌के द्वारा जो पुरस्कार हमारे पास भेजे जायँ, उनको हमें सादर स्वीकार करना चाहिये। वह सब तो उनका प्रसाद है। श्रीअरविन्दके शब्दोंमें—'धन-शक्ति और उससे प्राप्त होनेवाले साधनों और पदार्थोंसे तुम्हें वैरागियोंकी तरह भागना न चाहिये और न इनकी कोई राजसी आसक्ति या इनके भोगमें पड़े रहनेकी दासत्व-वृत्ति ही पोसनी चाहिये। धनको केवल यह समझो कि यह एक शक्ति है, जिसे माताकी सेवाके लिये जीतकर लौटा लाना और उन्हींकी सेवामें अर्पण करना है।

धन-विजयका यह उद्देश्य हमें निरन्तर अपने सामने रखना चाहिये कि जो (धन) अपने मूल और वास्तविक कर्मकी दृष्टिसे भगवान्‌का है, वह जहाँ-कहीं अनुपयुक्त हाथोंमें है, उनसे जीतकर लौटा लाना है और उसे पुनः भगवान्‌की सेवामें अर्पण करना है।

धनका स्वामित्व

हमें धनका दास नहीं बनना चाहिये। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि हम स्वयं धनके स्वामी बन जायँ। सारा धन भगवान्‌का है और हमें धन उन्हींकी सेवामें लगाना है। हमें केवल पात्र बनना चाहिये, जिसे भगवान् भरते रहें और खाली करते रहें। बहते रहनेमें ही धनकी भी और पात्रकी भी पवित्रता सुरक्षित है।

जो (धन) भगवान्‌के पाससे आया है और जो उन्हींके पास चला जायगा, वह जबतक हमारे पास है, तबतक उसका अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना हमारा धर्म है। श्रीअरविन्दके

शब्दोंमें—'सारा धन भगवान्‌का है; और यह जिन लोगोंके हाथमें है, वे उसके ट्रस्टी (रक्षक) हैं, मालिक नहीं। आज यह उनके पास है, कल कहीं और चला जा सकता है। जबतक यह इनके पास है, तबतक ये इस ट्रस्टका पालन कैसे करते हैं, किस भावसे करते हैं, किस बुद्धिसे उसका उपयोग करते हैं और किस काममें करते हैं—इसीपर सब कुछ निर्भर करता है।'

धनका सदुपयोग

पवित्र साधनोंसे धन प्राप्त करना इस साधनाका पूर्वार्ध है तो पवित्र कार्योंमें इसका उपयोग करना इस साधनाका उत्तरार्ध है। जितनी सावधानी हमें धन प्राप्त करनेमें रखनी है, उतनी ही सावधानी इसके व्ययमें भी रखनी है। धन-विजयका जो उद्देश्य हमने अपने सामने रखा था, उसे हमें धन प्राप्त होनेके बाद भी निरन्तर अपने सामने रखना चाहिये। और जिस कार्यके लिये हमने धन प्राप्त किया है, उसी कार्यमें उसका उपयोग करना चाहिये।

भगवान्‌के सेवकके रूपमें ही हमें अपने लिये भी प्राप्त धनके उचित अंशका उपयोग करना चाहिये और सदैव याद रखना चाहिये कि हमारा सम्पूर्ण जीवन और हमारा प्रत्येक कर्म भगवान्‌के लिये है। श्रीअरविन्दके शब्दोंमें—'अपने लिये जब तुम धनका उपयोग करो, तब जो कुछ तुम्हारे पास है, जो कुछ तुम्हें मिलता है या जो कुछ तुम ले आते हो, उसे माताका समझो। स्वयं कुछ भी मत चाहो; पर वे जो कुछ दें, उसे स्वीकार करो और उसी काममें उसे लगाओ जिसके लिये वह तुम्हें दिया गया हो। नितान्त निःस्वार्थ, सर्वथा न्यायनिष्ठ, ठीक-ठीक हिसाब रखनेवाले, तफसीलकी एक-एक बातका ध्यान रखनेवाले उत्तम ट्रस्टी बनो; सदा यह ध्यान रखो कि तुम जिस धनका उपयोग कर रहे हो, वह उनका है, तुम्हारा नहीं। फिर उनके लिये जो कुछ तुम्हें मिले, उसे श्रद्धाके साथ उनके सामने रखो, अपने या और किसीके काममें उसे मत लगाओ।'

धन-विजयकी क्षमता

आध्यात्मिक साधकके लिये धन-विजयके मार्गमें दो बड़ी बाधाएँ आती हैं। एक बाधा तो भगवान्‌की ही ओरसे होती है। भगवान् नहीं चाहते कि उनके भक्तका पतन धनके कारण हो। अतः जबतक साधकमें धनकी इच्छा या आसक्ति शेष रहती है, तबतक उसे धन मिलनेमें बाधाएँ उपस्थित होती रहती हैं। जब वह धनके दोषसे मुक्त हो जाता है और धनके कारण उसके पतनका खतरा तनिक भी नहीं रहता, तब उसके मार्गसे दैवी बाधाएँ हटा दी जाती हैं।

धनकी प्राप्तिमें दूसरी बाधा स्वयं साधककी ओरसे रहती है। वह यह कि बहुत-से साधक दरिद्रताको ही जीवनका आदर्श मानते हैं। यदि वे ऐसा मानते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं यदि उन्हें धन नहीं प्राप्त होता। धनकी हमें अपने लिये इच्छा नहीं करनी चाहिये परंतु इच्छाका ही दूसरा रूप धनसे भागना है। श्रीअरविन्दके शब्दोंमें—'यदि धनके दोषसे तुम मुक्त हो, पर साथ ही संन्यासीकी तरह तुम उससे भागते नहीं हो तो भागवत-कर्मके लिये धन-जय करनेकी बड़ी क्षमता तुम्हें प्राप्त होगी। मनका समत्व, किसी स्पृहाका न होना और जो कुछ तुम्हारे पास है और जो कुछ तुम्हें मिलता है और तुम्हारी जितनी भी उपार्जनशक्ति है, उसका भागवती शक्तिके चरणोंमें तथा उन्हींके कार्यमें सर्वथा समर्पण—ये ही लक्षण हैं धनदोषसे मुक्त होनेके। धनके सम्बन्धमें या उसके व्यवहारमें किसी प्रकारकी मनकी चञ्चलता, कोई स्पृहा, कोई कुण्ठा किसी-न-किसी दोष या बन्धनका ही निश्चित लक्षण है।'

भगवान्‌के लिये ही यदि हम कोई व्यापार या व्यवसाय करेंगे तो उसमें अपने महान् उद्देश्यके अनुरूप अवश्य ही महती सफलता प्राप्त करेंगे, जो भगवान्‌के कार्यकी ही सफलता होगी।

धनके भागवत विजेता

धन केवल सज्जनोंको ही प्राप्त होता हो, ऐसी बात नहीं है; परंतु आध्यात्मिक साधकको धन तभी प्राप्त होता है, जब उसका जीवन पूर्णतया पवित्र बन जाता है। जैसा कि श्रीमाँने लिखा है—'जब तुम्हारे पास कुछ नहीं रह जायगा, तब तुम्हें सब कुछ मिल जायगा।' यह रिक्तता और पवित्रताका मार्ग ही साधकके लिये पूर्णताका मार्ग है। श्रीअरविन्दके शब्दोंमें—'विज्ञानकृत सृष्टिमें धन-बल भागवती शक्तिको पुनः प्राप्त करा देना होगा और माँ भगवती अपनी सृष्टि-दृष्टिकी प्रेरणासे जो प्रकार निर्धारित करेंगी, उसी प्रकारसे उसका विनियोग एक नवीन दिव्यीकृत प्राणिक और भौतिक जीवनके सत्य-सुन्दर-सुसंगत संघटन और सुव्यवस्थापनमें करना होगा। पर पहले यह धन-शक्ति उनके लिये जीतकर लौटा लानी होगी और इस विजय-सम्पादनमें वे ही सबसे अधिक बलवान् होंगे, जो अपनी प्रकृतिके इस हिस्सेमें सुदृढ़, उदार और अहंकार-

निर्मुक्त हैं, जो कोई प्रत्याशा नहीं करते, अपने लिये कुछ बचाकर नहीं रखते या किसी संकोचमें नहीं पड़ते, जो परमा शक्तिके विशुद्ध शक्तिशाली यन्त्र हैं।'

अतएव हमारा पहला कार्य यही है कि अपने-आपको पूर्णरूपसे भगवान्‌के कार्यके लिये अर्पित कर दें। इसके बाद उनके प्रसादसे विजय-पर-विजय प्राप्त होगी ही।

महासती सावित्री

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

[गताङ्क पृष्ठ ९२९ से आगे]

सावित्रीने कहा—'पिताजी! शाल्वदेशमें द्युमत्सेन नामके एक परम धार्मिक राजा थे। आज वे दैवयोगसे वनमें रहते हैं। समयके हेरफेरसे उनकी आँखें नष्ट हो गयी हैं। शत्रुओंने जिस समय उनका राज्य छीना, उस समय उनके पुत्र सत्यवान् बिल्कुल बालक थे।-इसलिये राज्यका बचाव किसी प्रकार न हो सका। तभीसे द्युमत्सेन अपनी पत्नी और बालक पुत्रसमेत तपस्वी हो गये हैं। आज अठारह वर्षोंसे वे महर्षियोंके तपोवनमें एक पत्तोंकी झोंपड़ी बनाकर उसमें रह रहे हैं। पिताजी! मैंने उन्हींके पुत्र सत्यवान्‌को पतिरूपमें वरण किया है।'

सावित्रीकी बात सुनकर अश्वपतिको कुछ आश्वासन हुआ। जैसी कन्या, वैसे ही पिता। कन्याने एक दरिद्रको वर पसंद किया है, यह बात जानकर भी अश्वपति दुःखित नहीं हुए। बल्कि सावित्रीने अपने लिये जो पात्र चुना है—सावित्री जिस राजपुत्रको पतित्वमें वरण कर आयी है, वही उसका पति हो सकता है, इसमें अश्वपतिको आनन्द है। परंतु नारदने उस समय एक संदेहभरी बात कह डाली!

सावित्रीके मुखसे सब बातें सुनकर नारदजी बोले—'बेटी सावित्री! क्या सचमुच तुमने सत्यवान्‌को पतिरूपमें वरण कर लिया है? यदि ऐसा है तो बेटी! तुमने बिना जाने बड़ी भारी भूल कर डाली—…'

महर्षि नारद इस प्रकार खेद प्रकट करने लगे। उनका मुखमण्डल गम्भीर हो गया, दोनो नेत्र नाचने लगे और वे सावित्रीकी ओर देखते रहे। किंतु सावित्री स्थिर और गम्भीर भावसे मौन धारण किये खड़ी रही, उसने कोई उत्तर नहीं दिया और इतना सुननेपर भी वह विचलित नहीं हुई।

सावित्री विचलित हो या न हो, सभाके समस्त सभासद् तो नारदजीकी बात सुनकर अत्यन्त घबराये। सभामें चारों ओर सन्नाटा छा गया। हाय, हाय, सावित्री न जाने क्या सर्वनाश कर आयी है। इतनी आदरकी कन्या, इतनी चाहकी इकलौती राजकुमारी इतनी चेष्टाके बाद पति ढूँढ़ पायी! फिर भी ईश्वरकी न जाने क्या इच्छा है। थोड़ी देर बाद घबराहटभरे स्वरसे अश्वपतिने कहा—'मुनिराज! आप ऐसी बात कह रहे हैं तो क्या सावित्री किसी अयोग्य व्यक्तिको आत्मसमर्पण कर आयी है?'

नारदजी बोले—'यह बात नहीं है, महाराज! सत्यवान् सब तरहसे सावित्रीके योग्य है। रूप, गुण और कुलवान् होनेमें भला, वैसा पात्र और कहाँ मिल सकता है! किंतु…'

अश्वपतिने कहा—'किंतु क्या, प्रभो? शीघ्र बताइये। हम तो व्याकुल हो रहे हैं। सत्यवान् क्या जितेन्द्रिय नहीं है?'

नारदमुनि शीघ्र बोले—'वैसा जितेन्द्रिय और कोई देखा ही नहीं जाता। एक तो वह राजपुत्र, दूसरे ब्रह्मचारी—बस, सोनेमें सुगन्ध है। भला, उसके सिवा और कौन जितेन्द्रिय हो सकता है।'

अश्वपतिने कहा—'तो क्या आप सत्यवान्‌के वनवासी होनेकी बात कह रहे हैं? सत्यवान् यदि दरिद्र है तो हो; मेरा तो रत्न है, क्योंकि मैं पुत्र-हीन हूँ। यदि आपके चित्तमें यही बात हो तो इसकी चिन्ता ही क्या है!'

नारदजी बोले—'सत्यवान् राजपुत्र है, वनवासी है और क्षत्रियोंका रक्त है—इसमें कोई संदेह नहीं। और इसपर भी वह वनवासियोंके पास रहकर अधिक पवित्र हो गया है। अब वह शिक्षा, नियम एवं नीतिशास्त्रमें निपुण होकर सबसे श्रेष्ठ बन गया है। इसमें तो निन्दाकी बात ही क्या है। पर ऐसा नहीं है, राजन्! वह बात ही दूसरी है…'

अश्वपतिने व्याकुल होकर कहा—'और क्या बात है? आप भलीभाँति समझाकर कहिये कि सावित्रीने सत्यवान्‌को

पसंद करके किस प्रकार भूल की है ? इस विषयमें हमें बड़ा संदेह हो रहा है।'

नारदजी बोले—'राजन् ! सत्यवान्‌के सब गुणोंमें एक बड़ा भारी दोष है । उस दोषने ही उसके सब गुणोंको मिट्टी कर दिया है।'......'सत्यवान् अल्पायु है।'

एकाएक सभाके बीच मानो वज्र गिर पड़ा। सभाके सभी लोगोंका मुखमण्डल जो थोड़ी देर पहले प्रफुल्ल था, नारदजीकी इस बातसे अकस्मात् म्लान हो गया। अश्वपति दुःखभरे शब्दोंमें बोले—'हैं ! यह आप क्या कह रहे हैं ?'

नारदजीने कहा—'आजसे ठीक एक सालके बाद अमुक दिन और अमुक तिथिमें सत्यवान्‌की मृत्यु हो जायगी। यह विधाताका लेख है । इसमें रत्तीभर भी अन्तर नहीं पड़ सकता !'

अश्वपति बड़े दुःखित हुए। हाय, हाय, ऐसे सुयोग्य पात्रको भी वे सावित्री नहीं दे सके। अब सावित्रीके लिये अन्य वर कहाँसे मिलेगा।

अश्वपति बोले—'मुनिजी ! यदि ऐसा ही है तो मुझे ज्ञात होता है कि सभी काम निष्फल हुआ ! अब जान-बूझकर कन्याको किस प्रकार सत्यवान्‌के समर्पण कर दूँ ! ऐसा होना तो अनुचित है।' नारदजीने अपनी राय कुछ भी प्रकट नहीं की। केवल राजाकी बात-में-बात मिलाकर कहने लगे—'हाँ, वही तो है; अब किस तरह क्या करें ?' अश्वपति थोड़ी देर चुप रहे । उसके बाद बोले—'बेटी ! सुनो, मेरे भाग्यमें तो सुख है नहीं । ऐसे वरके साथ भी मैं तुम्हारा विवाह न कर सका। अब तुम अन्य किसी वरको पसंद करनेका प्रयत्न करो; क्योंकि जान-बूझकर मैं ऐसी थोड़ी उम्रवाले व्यक्तिके साथ तुम्हारा विवाह कैसे कर दूँ ?'

सावित्री देखें क्या जवाब देती है, यह जाननेके लिये सभाके सब लोग व्याकुल हो उठे । उनमें नारद मुनि तो सबसे अधिक घबराने लगे। इस बार सावित्रीकी परीक्षा है। सावित्री अब जो कुछ कहेगी, वह हजार-हजार वर्ष, लाख-लाख वर्ष और युग-युगान्तरतक जगत्‌के आदर्शकी बात रहेगी। वेद-माता सावित्रीके वरसे यह कन्या जन्मी है। सती-धर्मकी मर्यादा रखनेके लिये—सतीधर्मका आदर्श स्थापित करनेके लिये सावित्रीदेवीने अपने अंशसे सावित्रीको उत्पन्न किया है । उसी सावित्रीके मुखसे देवी किस प्रकार अपूर्व सतीधर्मका प्रचार कराती है, यह जाननेके लिये उनका मन अति व्याकुल हो उठा।

मुनिजीकी आशा पूर्ण हुई। सावित्रीने बहुत ही उत्तम उत्तर दिया। उस उत्तरमें सावित्रीकी कोमलता और विनीत भाव, कर्तव्यके नाते, कुछ छिप-से गये थे; परंतु उसके 'त्याग' और 'स्वीकार' ने उसके कर्तव्य-ज्ञानको और भी उज्ज्वल बना दिया था। सावित्री प्राणोंके अन्ततक पिताका अपमान नहीं करना चाहती थी, पर आज वही कर्तव्यज्ञान और सतीधर्मकी मर्यादा रखनेके लिये पिताको कुछ स्पष्टता दिखानेको तत्पर हुई है । एक ओर स्नेहभरे पिताकी परेशानीका उपदेश, दूसरी ओर एक धर्मका नाश—सतीधर्मकी मर्यादाका विनाश । सावित्रीने समझा कि पिता स्नेहके वश होकर ही मुझे यह उपदेश दे रहे हैं—मेरा भविष्य सोचकर ही सतीधर्मकी मर्यादाको भूल गये हैं। इसका प्रतिवाद करना मेरे लिये कोई पाप नहीं है। बल्कि हजारों रमणियोंके कल्याणके लिये मुझे यह प्रतिवाद करना ही होगा। यही सोचकर सावित्रीने वैसा ही किया।

सावित्रीने पिताकी बातका जो अनमोल उत्तर दिया, उसे सुनकर सभी मोहित हो गये। नारदजीका हृदय नाच उठा। अश्वपतिको भी थोड़ी देरके लिये चैतन्य हो गया, सभासद् धन्य-धन्य कहने लगे। सावित्रीकी वह बात युग-युगान्तरके बाद आज भी हमारे कानोंमें वैसी ही गूँज रही है, आज भी उसे सतीधर्मकी अपूर्व मर्यादाका मन्त्र माना जाता है, जो कण्ठस्थ कर लेनेके योग्य है। जब कभी आपके मनमें किसी प्रकारकी कोई दुर्बलता आ जाय, तब आप उसे दुहरा लें। फिर देखें कि जीवनमें कितना बल मिलता है । हमारे देशकी विधवा स्त्रियाँ सावित्रीके इस अमूल्य उत्तरको याद रखेंगी तो उनका दुःखमय वैधव्य-जीवन अपूर्व बल पाकर बलवान् हो उठेगा । भावी विधवापनको माथे लेकर भी साध्वी सावित्री सत्यवान्‌को पति बनानेमें किस प्रकार दृढ़-प्रतिज्ञ रहीं, यह देखकर वे अपने दुःखमय जीवनकी क्षण-स्थायी अवस्था जान लेंगी और अपने थोड़े दिनोंके जीवनको, कष्टकी परवा न करते हुए, आनन्द और प्रसन्न चित्तसे व्यतीत कर देंगी। इसीसे हम सावित्रीके मुखसे निकले हुए श्लोक यहाँ ज्यों-के-त्यों लिखे देते हैं—

सावित्री पिताकी बातका उत्तर देती है—'पिताजी, सुनिये—

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा।
सकृद्वृतो मया भर्त्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥
मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते।
क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः॥

'भाइयोंमें सम्पत्तिका बँटवारा एक बार ही होता है और कन्याको भी एक बार ही दिया जाता है। 'देता हूँ' यह बात भी एक बार ही कहते हैं। ये तीन कार्य केवल एक बार ही होते हैं। इसीलिये जब मैं सत्यवान्‌को एक बार आत्म-समर्पण कर चुकी हूँ, तब वे चाहे दीर्घायु हों, अल्पायु हों, गुणवान् हों अथवा गुणहीन हों, मैं उनके सिवा दूसरेको मरते दमतक पसंद न करूँगी। आजन्म उन्हें छोड़कर दूसरा कोई मेरा स्वामी नहीं होगा। देखिये, लोग किसी कामको करनेके पहले उसे मनमें स्थिर कर लेते हैं, उसके पश्चात् वाणीसे प्रकट करते हैं, तब उसे कार्यरूपमें परिणत किया जाता है। अतः इस विषयमें भी मेरा मन ही प्रमाण है।'

बहुत सच्ची बात है। निस्संदेह लोगोंके चरित्रोंका भला-बुरा विचार मनके द्वारा ही किया जाता है। सावित्री जब सत्यवान्‌को मन-ही-मन आत्म-समर्पण कर चुकी है, तब अब किस प्रकार सत्यवान्‌को छोड़ दे। यह सतीधर्मका नियम तो कदापि त्यागनेके योग्य नहीं है। यही विचारकर और इसी पथपर चलकर सावित्रीने सतीके सच्चे आदर्शको जगत्‌के सामने खड़ा कर दिया।

सावित्रीका उत्तर सुनकर अश्वपतिने श्रीनारदजीसे पूछा—'प्रभो! अब क्या करें? सावित्री बहुत सत्य कह रही है। किस प्रकार उसका प्रतिवाद करें?'

नारद अपनी वीणाकी ओर आनन्दपूर्वक देखते हुए बोले—'प्रतिवाद करना व्यर्थ है। तुम्हारी यह कन्या अपूर्व तत्त्वज्ञानसम्पन्ना और बुद्धिमती है। इसका शास्त्र-ज्ञान देखकर मैं भी चमत्कृत हो गया हूँ। इसका सत्यवान्‌के साथ ही विवाह करो। ऐसी पवित्र, बुद्धिमती और साध्वी बालिकाका कदापि अमङ्गल नहीं होगा और न हो सकता है।' यह कहकर नारदजीने सावित्रीको प्राण भरके आशीर्वाद दिया और वीणा बजाते-बजाते स्वर्गकी ओर चले गये।

फिर अश्वपतिने सावित्रीको आशीर्वाद देते हुए कहा—'पुत्री! तुम्हारे मुखसे आज यह अपूर्व कथा सुनकर मैं बहुत ही सुखी हुआ हूँ। प्रभु तुम्हारी प्रतिज्ञाकी रक्षा करें। मैं सत्यवान्‌के ही साथ तुम्हारा विवाह किये देता हूँ। मेरा आशीर्वाद है कि तुम बहुत दिनोंतक इसी प्रकार धर्मपरायण रहकर अनेक दुःखोंको तुच्छ गिनती हुई जगत्‌में चिर-शान्ति लाभ करो।' पिताकी बात सुनकर सावित्रीके मुख-मण्डलपर थोड़ी देरके लिये एक अपूर्व ही आलोक-प्रभा खिल उठी।

इसके बाद अश्वपतिने सावित्रीके विवाहका शुभ दिन स्थिर किया। इस समय उन्होंने एक बहुत ही बड़प्पनका काम सोचा। द्युमत्सेन पहले राजा थे, अब दरिद्र हो गये हैं। राजधानीमें आकर वे सत्यवान्‌का विवाह नहीं कर सकेंगे। और राजाके साथ राजा-जैसा व्यवहार न कर सकनेपर किस राजाको कष्ट नहीं होता! द्युमत्सेनको भी अवश्य ही कष्ट होगा, क्योंकि इस समय वे सर्वथा असमर्थ हैं। अश्वपति तो अपनी बेटीके विवाहमें कई प्रकारके आमोद-प्रमोद करेंगे, पर उनके असमर्थ समधी तो कुछ भी न कर सकनेके कारण मन-ही-मन कितने दुखी होंगे। क्या ऐसा कष्ट देना उन्हें उचित है? नहीं। इसीसे अश्वपतिने सोचा कि मैं वनमें जाकर ही सावित्रीको सत्यवान्‌के सुपुर्द कर आऊँगा। दुनियादारीकी हँसी-खुशी करनेसे मुझे कोई मतलब नहीं!' यह सोचकर अश्वपतिने वनमें जानेका दिन निश्चित किया। अधिक लोग साथ ले चलनेसे राजर्षिको हमें स्थान देनेमें भी कष्ट होगा। इसीसे ब्याहका निमन्त्रण भी किसीको नहीं दिया। केवल परिवारके लोग, कुछ ब्राह्मण, पुरोहित और आवश्यकतानुसार नौकर-चाकर साथ लिये। पर प्रजाजन कब माननेवाले थे। अनेक वादक, नट, नर्तक एवं साधारण लोग समूह-के-समूह राजाके साथ चले। 'सावित्री क्या किसी दूसरेकी बेटी है? यदि नहीं है तो फिर उसके विवाहमें हमें निमन्त्रणकी क्या आवश्यकता है! हम तो बहुत दिनोंसे इस उत्सवकी राह देख रहे थे। आज हमारे आनन्द मनानेका अवसर आया है।' ऐसा सोच अनेक धनी, दरिद्र हाथी-घोड़े वाहन लेकर तथा निजी व्यय करते हुए, आनन्द मनाते, धनी दान करते, दरिद्र खाली हाथ ही जय-जय मनाते चलने लगे। उनकी यह धूमधाम देखकर अश्वपतिको आश्रमकी शान्ति भङ्ग होनेकी चिन्ता हुई।

आश्रमसे थोड़ी दूर पहुँचकर अश्वपतिने मनमें विचार किया कि 'इस तरह उन्मत्त लोगोंके साथ आश्रममें पहुँचकर

मेरे गरीब समधीके चित्तको कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये और विशेषतः सावित्रीके विवाहके सम्बन्धमें भी उनसे अभीतक कोई बात पूछी नहीं है। अतः इन सबको यहीं छोड़कर मैं पहले पैदल ही जाकर उनसे अनुमति लूँगा।' अश्वपति दो एक आदमी, मन्त्री तथा ऋत्विक् ब्राह्मणोंको साथ लेकर राजर्षिके तपोवनकी ओर चले। शेष लोग वहीं ठहरकर आनन्दके साथ नाच-गान करने लगे। उनके कोलाहलसे वह निस्तब्ध वन भी उस दिन मानो एक बड़े भारी नगरमें परिणत हो गया।

राजर्षि द्युमत्सेनने जब सुना कि अश्वपति सत्यवान्के साथ सावित्रीका विवाह करने आ रहे हैं, तब वे बड़े आनन्दित हुए। हाय, आज वे दरिद्र हैं, अश्वपतिके सिवा और कौन उनके दरिद्र पुत्रको राजकन्या देता! जान पड़ता है, ईश्वरने दया करके ही आज उनकी मर्यादाकी रक्षा की है। वृद्ध-दम्पति मन-ही-मन यही सोचते हुए ईश्वरको लाखों धन्यवाद देने लगे, उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये। उन्हें आनन्द केवल इसी एक बातसे नहीं हुआ कि हमने राजकन्याको पुत्रवधूके रूपमें पाया है, वरं परमधार्मिक और प्रबल प्रतापी राजा अश्वपतिके साथ नाता जुड़नेसे उनका मन और अधिक प्रसन्न हुआ। यह सम्बन्ध वे पहलेसे चाहते भी थे; पर निर्धन हो जानेके कारण यह इच्छा अभीतक सफल नहीं हो पायी थी, राज्य छूट जानेके बादसे तो इसे स्वप्नके समान मानने लग गये थे। पर अब उसी स्वप्नको साकार होते देख उनके आनन्दकी सीमा नहीं रही।

किंतु द्युमत्सेन इतने आनन्दित होकर भी अश्वपतिके प्रस्तावसे एकाएक सहमत न हो सके। कारण कि सावित्री राजाकी कन्या है; राजमहलकी सुरम्य अट्टालिकाओंमें आनन्दसे रहती है, वह इस वनवासमें आकर कैसे सुखी रहेगी! नाना प्रकारके उत्तमोत्तम भोजन करनेवाली सावित्री हमारे वनके साधारण कन्द, मूल, फल खाकर कैसे प्राण बचा सकेगी! अनेक कुटुम्बीजनोंमें लालित-पालित एवं भाँति-भाँतिके आभूषणोंसे विभूषित राजकन्या सावित्री दरिद्र पतिके घरका काम-काज करेगी?' द्युमत्सेन इन्हीं सब बातोंकी चिन्ता करके घबराने लगे। इधर, सावित्रीको छोड़नेमें भी उनको विशेष कष्ट होने लगा। मानो एक अद्भुत ममताके भावने आकर उन्हें कर्त्तव्य-बुद्धिसे गिरा दिया हो।

अश्वपतिने उनके भावको समझ लिया। कहा—'राजर्षि! आप वृथा क्यों घबराते हैं? मेरी कन्या राजकुमारी होनेपर भी विनीता, कष्ट सहनेवाली और धर्मशीला है। उसने अपनी इच्छासे ही यह दरिद्र वेष पसंद किया है। वह राजधानीसे भी आपके तपोवनकी अधिक पक्षपातिनी है। अतएव संकोच करके वृथा मुझे व्याकुल न करें। मेरी इकलौती कन्या सावित्रीको अनुग्रहपूर्वक पुत्रवधूके रूपमें ग्रहण करके मुझे कृतार्थ करें।'

राजर्षि बोले—'महाराज! आपके समान गौरवशाली नृपतिकी कन्या और सावित्रीके समान सुशीला बालिका मेरे पुत्रकी बहू होगी, इसमें तो कोई आपत्ति नहीं। पर मैं केवल अपने ही लिये चिन्ता नहीं कर रहा हूँ, आपकी बात भी सोच रहा हूँ। आप महाराज हैं, राजराजेश्वर हैं; मैं सामान्य वनवासी हूँ। मेरे साथ नाता जोड़नेसे आपको क्या सुख होगा? और मैं भी आपकी इस अयाचित कृपाके योग्य प्रतिदान नहीं दे सकता। यही मुझे असमञ्जस हो रहा है।'

अश्वपतिने दुःखित होकर कहा—'राजर्षि! आप यह अनुचित संदेह करके मुझे क्यों विशेष लज्जित कर रहे हैं! यह तो आप जानते ही हैं कि सांसारिक ऐश्वर्य कितने समयका है। पर आप जो धन-संचय कर रहे हैं, उसकी अपेक्षा पृथ्वीके सब धन धूलके समान हैं। हम बहुत कुछ सोच-विचार कर ही आपके साथ सम्बन्ध जोड़नेको तैयार हुए हैं। हमारा विनीत अनुरोध है कि आप सावित्रीको लेनेमें सहमत न होकर हमें विमुख न करें। सावित्री सत्यवान्के सिवा और किसीको भी अपना पति नहीं बनायेगी, यह उसकी दृढ़ प्रतिज्ञा है।' द्युमत्सेनको स्वप्नमें भी ज्ञात नहीं था कि अश्वपति ऐसा विनीत, भलमनसाहतका बर्ताव करेंगे; पर अब उनका सब संदेह दूर हो गया। वे उसी समय उठकर अश्वपतिसे बड़े प्रेमके साथ मिले। दोनोंके ही मधुर और निश्छल मिलापसे सावित्री और सत्यवान्के विवाहका सम्बन्ध ठीक हो गया और एक दिन विवाह भी बड़े समारोहके साथ हो गया। पति-पत्नी एक दूसरेको पाकर बड़े सुखी हुए। मानो दो पारिजात पुष्प एकत्र गुँथकर एक मनोरम लड़ी बन गये हों।

इस विवाहमें अश्वपतिने कई अनमोल रत्न और बहुमूल्य वस्तुएँ दहेजमें देकर राजर्षिका आश्रम भर दिया। आश्रमवासी ऋषि-मुनि आश्चर्यके साथ इन वस्तुओंकी ओर देखने लगे। उस दिन अन्धमुनि और उनकी पत्नीको जो आनन्द हुआ, उसका अनुमान करना कठिन है। बहुत ही अच्छा हुआ कि उनके वंश-गौरव और कुल—सभीने रक्षा

पायी। केवल एक दुःख उन्हें रहा। वे अपनी पुत्रवधूके मुखको नेत्रोंसे देखकर नयन तृप्त न कर सके। भगवान्‌ने उन्हें अन्ध बनाकर इस सुखसे वञ्चित रखा। लोगोंसे पूछ-पूछकर ही वे पुत्रवधूके गुण और देवीभावका परिचय लेने लगे और लोगोंसे उत्तर सुनकर उन्हें बहुत ही आनन्द होने लगा। पत्नी शैब्या भी उनसे कई बार बहुत-सी बातें कहकर बहूके गुणोंका परिचय देने लगी। महर्षिका तपोवन कितने ही दिनोंके लिये आनन्द और उल्लासका घर बन गया।

अश्वपति विवाहमें कोई छटा नहीं करना चाहते थे, पर उनकी प्रजाने ऐसा नहीं होने दिया। सभीने अपना-अपना धन खर्च करके खुशी मनायी, निर्धन नाच-गाकर ही प्रसन्न हुए। उस वनके ऋषि-मुनि, उनकी पत्नियाँ, उनके बालक—सभी आनन्दपूर्वक इस विवाहोत्सवमें सम्मिलित हुए। उस दिन ऋषि-मुनियोंके भोजनार्थ बहुत-से मेवे, मिठाई, फल आदि भेजे गये, जिन्हें उन्होंने तृप्तिके साथ पाया। यद्यपि अनेक प्रकारके वाद्योंसे आश्रमवासी तपस्वियोंकी तपस्यामें विघ्न रहा, तो भी वे प्रसन्न मनसे प्रतिदिन आकर सावित्री और सत्यवान्‌को आशीर्वाद दे जाना नहीं भूले। पशु-पक्षी भी उस दिन आश्रमोंके चारों ओर आनन्दध्वनि करने लगे। उनके नाना भाँतिके मधुर-मधुर रवसे प्रत्येक आश्रमवासीके चित्तमें आनन्दके भाव उमड़ उठे। अन्तमें एक शुभ दिन और शुभ घड़ीमें आनन्दपूर्वक सावित्री और सत्यवान्‌का अपूर्व मिलन हो गया।

(क्रमशः)

भक्त-गाथा

भक्तवर श्रीशिवनिधि

(लेखक—श्रीदेवेन्द्रकुमारजी गन्धर्व)

पार्वत्य प्रदेशमें, चिरकालसे ही, इस कलिकालमें भी ऐसे भक्तोंने जन्म लिया, जिनके लिये प्रभुने 'अनुव्रजामि' इत्यादिको कार्यरूपमें परिणत किया और प्रभु सखाभावसे सदैव उनके साथ रहे और पग-पगमें उनका ध्यान रखते रहे।

आजसे लगभग दो सौ वर्ष पूर्व, अल्मोड़ा जनपदके बना नामक ग्राममें श्रीघनश्यामजीके घरमें शिवनिधि नामक एक ऐसे ही भक्तने जन्म लेकर इस प्रदेशको पवित्र किया था।

भक्तवर शिवनिधिका बाल्यकालसे ही आशुतोष भगवान् शंकरके चरणोंमें अनन्य अनुराग था। उनके पिता घनश्यामजीने पुत्रकी पढ़ने-लिखनेमें रुचि न देखकर उसे गायोंकी रखवालीका भार सौंप दिया। ईश्वरकी प्रेरणा बड़ी प्रबल होती है। गायोंके साथ भक्तवर शिवनिधिकी साधना दिनोदिन बढ़ती गयी।

दीन-दुखियोंके प्रति शिवनिधिका हृदय करुणासे भर जाता; परंतु उनके पास कुछ भी नहीं था, जिसे वे दीन-दुखियोंको समर्पितकर उनकी सेवा कर सकते। गायोंके साथ जाते हुए वे घरसे अनाज चुराकर दरिद्रोंको बाँटते; परंतु चाहे कुछ हो, बादमें उन्हें विदित हुआ कि मैं चोरीका ही माल तो बाँटता हूँ। चोरी चाहे कहींसे की जाय, आखिर चोरी ही है; अतः वे प्रभुसे प्रार्थना करते—'प्रभो! मुझे ऐसा बना दो, जिससे मैं इन दरिद्रोंकी सेवा कर सकूँ।'

पिताने शिवनिधिकी यह कार्यवाही देखकर उनके लिये घरमें कड़ा पहरा कर दिया और उन्हें सांसारिक कार्योंमें लगानेके लिये उनका ब्याह भी कर दिया। परंतु भक्तके लिये चाहे कैसी ही परिस्थिति पैदा कर दी जाय, वह तो अपने ही लक्ष्यपर सदा दृढ रहता है।

बनासे लगभग तीन मीलकी दूरीपर कोटेश्वर महादेवकी गुफा और मन्दिर स्थित है। एक दिन भक्तवर शिवनिधि कोटेश्वर-मन्दिरमें भगवान्‌की पूजा करने तथा गुफा देखने अपनी धर्मपत्नीके साथ गये। जंगलके बीचमें एकान्त स्थान देखकर भक्तको बड़ी शान्ति मिली और उसने तन-मनसे प्रभुकी पूजा की और अपनी धर्मपत्नीको घर पहुँचाकर वे उस रात पुनः मन्दिरमें लौट आये। रातभर उन्होंने प्रभुसे प्रार्थना की। कहते हैं कि भगवान् शंकरने प्रसन्न होकर उन्हें एक शालग्राम भेंट किया और कहा कि इसकी तन, मनसे घरमें पूजा करना और पूजाके पश्चात् यह तुम्हें दो रत्ती सोना प्रतिदिन देगा, जिसे तुम दान कर देना।

अपने पुत्रकी वैराग्य-भावनाको देखकर पिताने शिवनिधिके ऊपर कड़ा पहरा लगा दिया कि वह दिनमें तथा सायंकाल मन्दिर आदिमें न जाय और न एकान्त स्थानोंमें ही रहे। परंतु शिवनिधिका हृदय प्रभुका यह वियोग सहन न कर सका। उस दिनसे उन्होंने रात्रिके दस बजे सबके सो जानेके

पश्चात् मन्दिरमें जाना आरम्भ कर दिया और रातमें ही पूजादि करके वे घर लौट आते, ताकि किसीको उनके बाहर जानेकी बात विदित न हो।

पिताके देहान्त हो जानेके पश्चात् भक्तवर स्वतन्त्र हो गये और उन्होंने अपना तन-मन भगवान्‌को समर्पित कर दिया। उनकी दिनचर्या थी, प्रातःकाल दस बजेतक भगवान्‌की शालग्रामके रूपमें सेवा करना और दिनभर भक्तोंके चरित्र गाना और सुनाना। रात्रिको दस बजे शिवजीके मन्दिरमें जाकर पूजादि करना और रात्रिमें ही घर लौट आना।

कोटेश्वर-गुफाको जानेके लिये उन दिनों मन्दिरके आँगन-से सीढ़ियाँ न थीं; कहते हैं कि इन्होंने ही एक ही रात्रिमें गुफा-द्वारतक सीढ़ियाँ भी अपने ही हाथोंसे बना दी थीं।

कहते हैं कि भगवान्‌का उनके साथ इतना प्रेम हो गया था कि दोनो मन्दिरमें साथ खाते-पीते और जब शिवनिधि घरकी ओर रवाना होते, तब स्वयं भगवान् शंकर उन्हें पहुँचाने उनके घरतक आते। दोनो कुछ देर आँगनमें विश्राम करते। जब शिवनिधि अपने घरके अंदर प्रवेश करते, तब उनके लिये किवाड़ स्वतः खुल जाते। इस तरह भक्तवरका प्रेम अपने भगवान्‌के लिये दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही गया।

कहते हैं कि शिवप्रदत्त शालग्राम उन्हें प्रतिदिन सोना देता था, जिसे वे निर्धनोंमें बाँट देते थे। अभी भी वह शाल-ग्राम उनके घरमें विद्यमान है और मैंने उसे स्वयं कई बार देखा है। परंतु अब वह सोना नहीं देता।

प्रभुकी प्रेरणा बड़ी प्रबल होती है। उनकी धर्मपत्नीको उनका बाहर रहना उचित नहीं प्रतीत होता। अतः एक दिन रात्रिमें जब वे मन्दिरको चले गये, तब उनकी पत्नीने घर-के सब किवाड़ अच्छी तरहसे बंद कर दिये और स्वयं उनकी राह देखने लगी। यथासमय जब वे अपने प्रभुके साथ आये और आँगनमें बैठे तथा प्रभुके चले जानेके पश्चात् जब किवाड़ स्वतः ही खुल गये तो उनकी पत्नीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पतिसे पूछा कि वे रात्रिमें कहाँ जाते हैं और उसके साथ वह कौन आया था।

भक्तवरने अपनी पत्नीको समझाया कि इन बातोंसे उसे कोई सरोकार नहीं है और उनसे ये सब बातें उसे पूछनी भी नहीं चाहिये। परंतु वह न मानी। आखिर भक्तने सब बातें उसे बता दीं। कहते हैं कि इस घटनाके तीन रोज बाद ही एकाएक एक दिन ब्रह्माण्ड फटकर उनकी आत्मा प्रभु-में लीन हो गयी।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

प्रियतमसे

मिलती अगर सान्त्वना तुमको मेरे दुखसे हे प्रियतम!
तो लाखों अतिशय दुःखोंसे घिरा रहूँगा मैं हरदम॥
किंचित्-सा भी यदि, सुख देता हो तुमको, मेरा अपमान।
तो लाखों अपमानोंको मैं मानूँगा प्रभुका वरदान॥
यदि प्यारे! मेरे वियोगमें मिलता तुम्हें कहीं आराम।
'कभी नहीं मिलने'का मैं व्रत लूँगा मेरे प्राणाराम!॥
मेरी निर्धनता, विपत्ति, दुर्गति यदि तुम्हें सुहाती यार!
तो रक्खूँगा इन्हें पास मैं सादर सदा सहित परिवार॥
मेरा मरण तुम्हें यदि देता हो किंचित्-सा भी आश्वास।
तो मैं मरण वरण कर लूँगा, निकल जायगा तनसे श्वास॥
'सुखी रहो तुम सदा' एक बस, यही नित्य मेरे मन चाह।
हर स्थितिमें मैं सुखी रहूँगा, नहीं करूँगा कुछ परवाह॥

—प्रियतमका प्रेमी

मेरे अपराध और तुम्हारी क्षमा

मेरे अवका पार नहीं है ।
इन्द्रिय-लोलुप मैं अति भारी,
खोकर कुल-मर्यादा सारी,
कुत्सित कर्मी अत्याचारी,
कोई अघ इनकार नहीं है ॥ मेरे० १ ॥

जगमें ज्ञानी भक्त कहाता,
भाँति भाँतिके तन-सुख पाता,
रखता सिर्फ भोगसे नाता,
क्या यह पाप-प्रसार नहीं है ? ॥ मेरे० २ ॥

दिव्य प्रेमकी बातें बकता,
कामानल अति हृदय धधकता,
पापप्रवाह न पल भर रुकता,
क्या यह भ्रष्टाचार नहीं है ? ॥ मेरे० ३ ॥

अपनेको 'चैतन्य' बताता,
प्रेमी सज रस-अश्रु बहाता,
पर मन हरि-रस रूखा पाता,
क्या यह दुष्टाचार नहीं है ? ॥ मेरे० ४ ॥

मिथ्या गाता, मिथ्या रोता,
मिथ्या सारी सुध-बुध खोता,
मिथ्या ही मूर्छागत होता,
क्या यह मिथ्याचार नहीं है ? ॥ मेरे० ५ ॥

कभी 'तथागत' बन इतराता,
'दुःख-दुःख' की टेर लगाता,
मनमें बँधा भोग-सुख ताँता,
क्या यह छल-विस्तार नहीं है ? ॥ मेरे० ६ ॥

खुद अवतार कभी बन जाता,
खुलकर खूब पाँव पुजवाता,
तरह-तरह छल-छद्म बनाता,
क्या यह कपटाचार नहीं है ? ॥ मेरे० ७ ॥

रचकर ढोंग जगतको छलता,
महापाप भी मन नहिं खलता,
हरि-हित होती नहीं विकलता,
क्या यह असुराचार नहीं है ? ॥ मेरे० ८ ॥

देख रहे सब अन्तर्यामी,
छिपा न कुछ भी तुमसे स्वामी !
तुमसे भी छल करता कामी,
मुझ-सा और गँवार नहीं है ! ॥ मेरे० ९ ॥

मैं अघ सहज सदा ही करता,
कभी नहीं, कैसे भी डरता,
क्षमामूर्ति तुम दुष्कृत-हर्ता,
क्या यह कृपा अपार नहीं है ? ॥ मेरे० १० ॥

जिसने शुभ-धारा सब खोई,
मुझ-सा नीच न दूजा कोई,
पर तुम-सा न दयामय कोई,
ऐसा जग दातार नहीं है ॥ मेरे० ११ ॥

मैं अपराधी सदा तुम्हारा,
पर मैं नित्य तुम्हें अति प्यारा,
कभी न तुमने मुझे बिसारा,
क्या यह अजब दुलार नहीं है ॥ मेरे० १२ ॥

सदा तुम्हारा प्यार पा रहा,
सदा तुम्हारा दिया खा रहा,
तब भी नित विपरीत जा रहा,
कुछ भी सोच-विचार नहीं है ॥ मेरे० १३ ॥

नीच दोष मम अन्तहीन है,
किंतु तुम्हारी क्षमा पीन है,
होती कभी न तनिक क्षीण है,
उसका पारावार नहीं है ॥ मेरे० १४ ॥

करते कृपा न कभी अघाते,
गिरे हुएको स्वयं उठाते,
हाथ पकड़ सन्मार्ग चलाते,
तुम-सा प्रेमाधार नहीं है ॥ मेरे० १५ ॥

अपना विरद पुनीत निभाते,
दोष भूल, सिर हाथ फिराते,
ले निज गोद नित्य दुलराते,
क्या अथाह यह प्यार नहीं है ?
मेरे अवका पार नहीं है ॥ १६ ॥

वैज्ञानिक अन्धविश्वास

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ ९३७ से आगे]

ये पूज्य महापुरुष

इंगलैंडके डॉ. ए. जे. क्रानिनने कई डॉक्टरीविषयक उपन्यास लिखे हैं, जिनमें इस धंधेके अन्धेर और अंधविश्वासका दर्शन कराया है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक* 'सिटाडेल'में उन्होंने ४४० पृष्ठपर लिखा है—डॉक्टरी विज्ञानमें †लुई पास्त्योरको महापुरुष माना जाता है, परंतु वह डॉक्टर नहीं था; ‡इर्लिक् भी अपने आविष्कारोंके कारण पूज्य है—वह भी डॉक्टर नहीं था; हिन्दुस्तानमें 'प्लेग'से मोर्चा लेनेवाला हाफकिन यद्यपि डॉक्टरोंसे कहीं अधिक प्रतिभाशाली सिद्ध हुआ—वह भी डॉक्टर नहीं था; मेचनिकाफ§ भी डॉक्टर नहीं था, अर्थात् इन लोगोंने विधिपूर्वक डॉक्टरी विज्ञानकी शिक्षा नहीं ली थी। ये अपनी प्रतिभा और आविष्कारके कारण महापुरुष और पूज्य माने जाते हैं। इसका यह अर्थ होता है कि संसारमें जो भी व्यक्ति मानवमात्रका रोग-दुःख दूर करनेका प्रयत्न करता है, वह कोई मूर्ख या बदमाश नहीं है—भले ही उसने डॉक्टरी शिक्षा विधिपूर्वक न पायी हो, डॉक्टरोंके रजिस्टरमें भले ही उसका नाम न हो। केवल डिग्रीधारी व्यक्ति ही सर्वज्ञान-विज्ञानका ठेकेदार नहीं होता। परंतु प्रचलित डॉक्टरी विज्ञान अपनी कट्टरपंथी नीतिपर कायम है, कि डॉक्टरी चहारदीवारीके अंदर जो कुछ होता है वही सब ठीक है, बाहरकी सब बातें गलत हैं; फिर भी कभी-कभी वे बिना सींग-पूँछवालोंके अनुसंधानपर कायल होते हैं और उनकी पूजा करते हैं, अन्यथा विज्ञानकी मौत हो जाय।

अस्थिवैद्य जारविस (Jarvis) ने सैकड़ों लोगोंकी मालिश आदि करके अपनी कलाविशेषसे उन्हें दुरुस्त, चलने-फिरने, काम करने लायक बना दिया। वह डॉक्टर नहीं था, उसके कामसे लन्दनके बड़े-बड़े सर्जन चकित थे। आखिर जब उसको सर्वप्रिय लोकसेवक घोषितकर इंगलैंडकी सरकारने 'नाइट'की उपाधि दी, तब बड़ी शर्मके पश्चात् डॉक्टरी संस्थाने उसे सम्मानित एम्. डी. की उपाधि घोषित की थी।

अभी पचास वर्षसे कुछ अधिक हुए होंगे, सर रम्बोल्डने अपने आविष्कारका नगारा अखबारोंमें बजाया था कि मानव-शरीरमें आँतोंका एक भाग बिल्कुल निरुपयोगी होनेके साथ-साथ हानिकर भी है, अतएव इसे काटकर निकाल फेंकना उचित है। बस, यह ढिंढोरा सुनकर सैकड़ों पढ़े-लिखे मूर्ख अपनी आँतें कटवाने दौड़ पड़े और तबसे सर्जनोंने इस क्रिया×को दुनियामें प्रचारित कर दिया और विशेषज्ञ बन गये। परंतु दुनियाको मालूम नहीं था कि सर रम्बोल्डने स्वयं अपनी आँतें न कटवाकर साबुत रखी थीं। सर रम्बोल्ड विख्यात आहार+-शास्त्री थे। यह विज्ञान पढ़े-लिखे लोगोंको मूर्ख बनानेका साधन है और दुनियाको राजकीय कानून और कार्यवाही द्वारा अन्धविश्वासी विज्ञानका गुलाम बनानेका साधन अब बन गया है, जब कि घर-घर, गाँव-गाँव, नगर-नगर हवा-पानी, भूमि, अन्न, साग, फल, दूध—सबपर जहरका छिड़काव और मिलावट की जाती है और न चाहते हुए भी जनताको स्वस्थ दशामें भी टीका लगाना और विषाक्त भोजन-पानी खाना-पीना पड़ता है—इस जबरदस्त वैज्ञानिक परम्परासे कोई बच नहीं सकता। इन डॉ० क्रानिनने प्रचलित डॉक्टरी विज्ञान और धंधेको स्पष्टरूपसे ÷'धन कमानेका निर्दय धंधा' कहा है। जब कोई डाक्टर अपने इस धंधेसे पाँच हजार रुपये मासिककी आमदनी करने लगे तो समझ लो कि वह निश्चय ही अस्वस्थ है; फिर भी दूसरे अपने समान ही रोगियोंसे वह इतनी रकम प्रतिमास चूसता है तो उसमें कितनी मानवता और कितना विज्ञान है, आप स्वयं विचार कीजिये। उन्होंने इसे केवल धन कमानेका धंधाA—इलाज करनेके बहाने कहकर आगे लिखा है—'मैं बहुत नरम भाषामें लिख रहा हूँ, मुझे तो और भी कठोर शब्द लिखना चाहियेB। यह पारस्परिक

---

* Dr A. J. Cronin—The citadel.

† Louis Pasteur (1822-95) French Chemist. The pathological and bactereological import of Pasteur's researches came about mainly through his disciples—Lister, Roux and others, and not directly, though all founded on his early non-medical investigation on organisms of fermentation etc.

‡ Paul Ehrlich (1854—1914) a noted German Scientist, one of the founders of serum therapy, research work in connection with Cancer, diptheria and anti-toxin.

§ Ilya Metchnikov (1845-1916) Russian biologist, won Nobel Prize in Medicine 1908.

× Rumbold—Bane excision

\+ Dietetician

÷ Apathic moneypathic Allopathy

A Guinea-chasing, moneyhunting treatment

B I am speaking less more strongly than I should—I don't believe in bogus remedies.

लाभ देनेवाला व्यापार है—तुम मेरी पीठ खुजलाओ, मैं तुम्हारी खुजलाऊँ ।

The reciprocity of orthodox medical practice is like "You scratch my back and I will scratch yours." That means chain system, how it goes with farcical show, monopoly and patronage.

It is the last and most stereotyped anachronism, the worst, stupidest system ever created by God-made man ! The old scientific orthodox quacks trading with human lives, posing as saviours of humanity. And he does not save, they bury or burn the patient. He says he has no drug against death !

Pious swine ! Prided himself on being practical. Old-fashioned conservative Ideas in them from the Middle Ages. A lot of people think that science lies in the bottom of the test-tube. Pathologist cynic !

सत्य घोषणा

अमेरिकामें डॉक्टर बेनेडिक्ट लस्ट तथा डॉ० आर० टी० ट्राल बहुत प्रसिद्ध हो गये हैं। डॉ० ट्रालने अपने एक भाषणमें इस डाक्टरी विज्ञान और धंधेके विरुद्ध स्पष्ट सत्यवादी घोषणा की थी। वह इस प्रकार है—

आजकलकी प्रचलित डॉक्टरी पद्धतियोंको मैं अनेक प्रकारसे मिथ्या सिद्ध करनेको तैयार हूँ—समस्त संसारसे स्वीकृत तथ्योंद्वारा, उनके प्रतिपादकोंकी गवाहीसे, उनके विरोधियोंकी गवाहीसे, प्रकृतिके नियमोंसे, तर्क और युक्तियोंसे एवं प्रस्तुत विषयसे सम्बन्धित सभी वैज्ञानिक तथ्योंके बलपर।

मैं घोषित करता हूँ और सिद्ध करनेको तैयार हूँ—सिद्ध कर ही दूँगा—क्योंकि यह सत्य है, तथा मेरे पास इसके बहुत-से प्रमाण हैं कि प्रचलित डाक्टरी धंधेकी सभी उच्च श्रेणीके प्रामाणिक ग्रन्थों, पाठ्य-पुस्तकों, विद्यालयों, प्रचलित मासिक-पत्रों और इस विषयके सभी जीवित लेखकोंके व्याख्यानोंमें जो शिक्षा दी जाती है, वह सिखाती है—

१. रोगकी प्रकृतिके विषयमें एक झूठा सिद्धान्त।

२. दवाओंकी क्रियाके विषयमें एक झूठा सिद्धान्त।

३. शरीरकी जीवनी-शक्तिके विषयमें एक झूठा सिद्धान्त।

४. प्रकृतिकी आरोग्यकारिणी शक्तिके विषयमें एक झूठा सिद्धान्त।

५. रोग और प्रकृतिकी आरोग्यकारिणी शक्तिके सम्बन्धके विषयमें एक झूठा सिद्धान्त।

६. रोगके साथ दवाओंके सम्बन्धके विषयमें एक झूठा सिद्धान्त।

७. शरीरके प्राण-सम्बन्धी व्यापार और रोगके सम्बन्धमें एक झूठा सिद्धान्त।

८. स्वस्थ शरीर एवं दवाके सम्बन्धके विषयमें एक झूठा सिद्धान्त।

९. चेतन तथा जड तत्त्वोंके सम्बन्धके विषयमें एक झूठा सिद्धान्त।

१०. रोगोंके अन्य कारण एवं उनके प्रभावके विषयमें एक झूठा सिद्धान्त।

११. रोग कैसे दूर होता है, इस विषयमें एक झूठा सिद्धान्त।

१२. दवाओंकी प्रकृति और उनकी प्राप्तिके साधनके विषयमें एक झूठा सिद्धान्त।

डाक्टर ट्रालने अपने समयके विद्वान् एवं विख्यात डाक्टरोंके मुँहपर उन्हें इस प्रकार चुनौती दी। किंतु कोई उनका विरोध करनेके लिये नहीं उठा।*

---

* Re: MEDICAL SCIENCE DOCTORS AND DRUGS.

Dr R. T. Trall, M. D. (America)

In one of his lectures Dr. Trall said:—

"I am about to prove the falsity of the popular medical systems--

1. By facts universally admitted,
2. By the testimony of its advocates,
3. By the testimony of its opponents,
4. By the Laws of Nature,
5. By argument and logic,
6. By all the data of science applicable to the subject.

I charge and shall undertake to prove, nay, I shall prove; for it is true, and I have the evidence that the regular medical profession, in

* इसके पर्याय, दवाके विषयमें डॉ० जेम्स जॉनसनने लिखा है—'यह मेरे हृदयकी सच्ची घोषणा है कि यदि दुनियामें एक भी डाक्टर या सर्जन न रह जाय, दवाका निर्माता-विक्रेता और धाय न रह जाय तो दुनियामें बहुत कम लोग मरें।'

† विख्यात सर्जन सर एस्लेकूपरने कहा था—'दवाका विज्ञान अनुमानके आधारपर बना है और प्राणियोंकी बलि दे-देकर आगे बढ़ा है।'

‡ प्रोफेसर जे० डब्लु० कारसन० एम्० डी०ने कहा है—'कानूनकी तरह दवाका प्रभाव भी अनिश्चित होता है। हम नहीं जानते कि हमारे रोगी हमारी दवासे चंगे होते हैं अथवा अपनी प्रकृतिसे चंगे होते हैं। अनिश्चित नुस्खेके मेलसे दवा बनती है, जिससे मनुष्यका जितना उपकार नहीं होता उससे अधिक क्षति होती है।'

all of its standard authorities, text-books and schools, and in all its current periodicals and in all the lectures of its all living authors teaches:

1. A False doctrine of the Nature of Disease,
2. A False doctrine of the action of remedies,
3. A False theory of vitality,
4. A False theory of Vis Medicatrix Naturae.
5. A False doctrine of the relations of disease and Vis Medicatrix Naturae.
6. A False doctrine of the relation of remedies to disease,
7. A False doctrine of the relations of disease and vital functions,
8. A False doctrine of the relations of remedies to healthy structure,
9. A False theory of the relations of organic and inorganic matter,
10. A False doctrine of disease in relation to their other causes and effects,
11. A False doctrine of the law of cure,
12. A False doctrine of the nature and sources of remedies.

Thus did Dr. Trall challenge to their faces the learned medical men of their day. No one attempted to argue against him.

* I declare it to be my most conscientious opinion that if there were not a single physician or surgeon, apothecary or chemist or midwife, drug or druggist in the world, there would be less mortality amongst mankind than there is now.

† The source of medicine was founded on Conjecture and improved by murder.

‡ The same uncertainty exists in medicine that the law is noted for. We do not know whether our patients recover because we give them medicine or because nature cures them. Medicine is a collection of uncertain prescriptions, the results of which, taken collectively, are more harmful than useful to mankind.

गुरु-परम्परा

डॉक्टर लोग हिपॉक्रेट्सको अपना आदिम डॉक्टर—डाक्टरी-विद्याके पिता, (Hippocrates the Father of Medicine) धन्वन्तरिके समान मानते हैं। हिपॉक्रेट्स आजके नहीं, वरं आजसे ढाई हजार वर्ष पूर्वके चिकित्सक थे, इनका जीवन-काल ईसा-पूर्व ४६०—३५७ था। थेसाली, मध्य ग्रीस देशके निवासी थे और एथेन्समें शिक्षा देते थे और चिकित्सा करते थे। आजका डॉक्टरी धंधा अपनेको हिपॉक्रेट्सका अनुगामी मानता है और डॉक्टरोंको दीक्षान्त समारोहमें हिपॉक्रेट्स-के नामपर उनके सिद्धान्तोंकी व्यवहारमें रक्षाके निमित्त 'शपथ ग्रहण' करनी पड़ती है। गुरुके पाससे इस महान् उपकारी शिक्षामें दीक्षित होकर विद्यार्थी शपथ ग्रहण करते थे कि इस विद्यासे किसीको हानि नहीं पहुँचाऊँगा, किसीको विष नहीं दूँगा, गर्भपात नहीं कराऊँगा, किसीपर छुरी नहीं चलाऊँगा, वरं अपने हस्त-कला-कौशलसे इलाज करूँगा। यह शपथ बहुत बड़ी नहीं है—

"I swear by Apollo Physician, by Asclepius, by Health, by Panacea and by all gods and goddesses, making them sure that I will carry out according to my ability and judgement this oath and indenture:

"To hold my teacher in this art equal to my own Parents, to make him partner in my livelihood; when he is in need of money, to share mine with him; to consider his family as my own brothers, and to teach them this art, if they want to learn it, without fee or indenture; to impart precept, oral instruction, and all other instruction to my own sons, to the sons of my teacher

and to indentured pupils who have taken the physicians' Oath but nobody else.

"I will use treatment to help the sick according to my ability and judgement but never with a view to injury and wrongdoing. Neither will I administer a poison to anybody when asked to do so, nor will I suggest such a course. Similarly I will not give a woman a pessary to cause abortion. But I will keep pure and holy both my life and my art. I will not use the knife not even verily on sufferers from the stone, but I will give place to such as are craftsmen therein. Into whatsoever house I enter I will enter to help the sick and I will abstain from all intentional wrongdoing and harm, especially from abusing the bodies of man or woman, bond or free.

And whatsoever I shall see or hear in the course of my profession, as well as outside my profession in my intercourse with man, if it be what should not be published abroad, I will never divulge, holding such things to be holy secrets. Now, if I carry out this oath and break it not, may I gain, for ever, reputation among all men for my life and my art; but if I transgress it and forswear myself, may the opposite befall me."

इसको पढ़कर आप देख-समझ सकते हैं कि मेडिकल क्षेत्रमें इसका यथार्थमें कितना व्यवहार होता है। स्पष्ट है कि आमके पेड़में बबूल पैदा हो गया है। शपथकी शर्तोंका कोई महत्त्व नहीं रह गया। विश्व डॉक्टरी अखबार, वर्ल्ड मेडिकल जरनलके मई १९५८ के अङ्कमें भविष्यके डॉक्टरोंकी हैसियतके विषयमें समाचार छपा था कि अब देश-देशमें स्वास्थ्य-बीमा-योजना* के अनुसार अब डॉक्टरोंकी ऊँची इज्जत न होगी, वे गृह-निर्माण करनेवाले मजदूरकी श्रेणीमें होकर तनखाह पायेंगे।

कीटाणु-पालक

इतना सब पढ़-समझ लेनेपर इस विज्ञान कही जानेवाली पद्धतिका व्यावहारिक रूप खोखला दिखायी देता है। 'रोग कीटाणुओंसे होता है, अतएव कीटाणुओंसे बचो। कीटाणुकी कृपापर मानवका जीवन-मरण निर्भर है।' इसका ढोल पीटनेवाले वैज्ञानिकोंने कभी विचार नहीं किया कि कीटाणुकी उत्पत्ति कहाँसे कैसे है। यह कीटाणुवाद कोई नयी चीज न होकर केवल भयानक वितण्डावाद है, स्वार्थ और व्यापारमात्र इसकी भूमिका है। कीटाणु अमर नहीं है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' है। यह प्राकृतिक और अस्थायी सृष्टि है। गंदगी और सड़ाँद विकार है, विकारसे विकार—कीटाणु उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कीटाणु गंदगीसे उत्पन्न होते और सफाईसे मरते रहते हैं। सफाईकी यह व्यवस्था प्रकृतिमें ऋतु-परिवर्तन, दिन-रातके चक्रसे होती रहती है और यह व्यवस्था सजीव शरीरमें भी है। कीटाणुवाद पाश्चात्त्य भयानक स्वार्थवाद है। शुद्ध चैतन्य रोम-रोममें सर्वव्यापक चैतन्य है; फिर कीटाणुसे भय और विष-सेवनकी आवश्यकता क्यों? दिव्य शुद्ध संकल्प और जलमात्रसे ये नष्ट हो सकते हैं और शरीरस्थ चैतन्यात्मा सतत विकारजन्य सड़ाँद और कीटाणुओंको अनेक मार्गोंसे निकालता रहता है। एक विषको दूसरे उग्र विषसे मारना और रोगनाश एवं स्वास्थ्य-लाभकी आशा दिलाना विज्ञान नहीं, अज्ञान है। यदि कोई वैज्ञानिक बहुत-सी विषाक्त दवाइयाँ खाकर एवं अपने शरीरमें घोलकर भी स्वयं अस्वस्थ हो तो हम केवल जलके संजीवन प्रयोगोंसे उसकी सेवा-परामर्श करनेको तैयार हैं।

बड़े खेदकी बात है और कीटाणुवादके भारतीय अनुयायी वैज्ञानिक कीटाणु-नाशक नित्य वर्तमान पञ्चमहाभूतोंके परिणाम सूर्य और जलको भूलकर विषसंचारके व्यापारमें लग गये। सूर्य और जलसे बढ़कर इनके पास कीटाणुनाशक क्या है? इस भयानक भ्रामक कीटाणुवादके अनुकरण-प्रयोगमें एक दिन

* What will the doctor of tomorrow be? He will have lost all his independence, he will not even be an official, he will be a downright medical labourer, not much more respected in consideration or money than a construction labourer. Surely compulsorily related with a general confederation of medical workmen, a small fraction of National labour confederation.

ऐसा आयेगा कि मानव-संसार क्रमशः रोगी, अंधा, अपंग, नपुंसक होकर नष्ट हो जायगा। केवल कीटाणु शेष रहेंगे।

मानव-जाति इस वैज्ञानिक अन्धविश्वासमें पड़कर अन्धानुकरण करते हुए विनाशकी ओर अग्रसर हो रही है, यह सुनकर आप आश्चर्य न करें। लोग अब दूध पीना, फल खाना छोड़कर चाय, शराब, तमाखू मुँहसे लगाये रहते हैं। चिकित्साका धंधा करनेवाले लोग भी इन व्यसनोंमें गोता लगाते रहते हैं और बड़ी-बड़ी पुस्तकोंमें इन विषाक्त वस्तुओं-के गुण बखानते प्रमाण देकर विज्ञापन करते हैं।

जो कीटाणु हजारों वर्षोंसे धूप और जलसे नष्ट होते रहे हैं, उनको अब उल्टे तरीकेसे नष्ट करनेके लिये कीटाणुवादी चिकित्सा-विज्ञानी सरकारसे जनताका अथाह धन विभिन्न रोगोंके कीटाणुनाशक तत्त्वोंका निर्माण और शोध करनेमें व्यय करते अपना जीवन भी खपाते हैं, और अगणित प्राणियों, पशुओंकी हत्या वैज्ञानिक बूचड़खानोंमें करते हैं, जिससे मानव लगातार बीमार पड़े रहकर अपंग, लाचार, मरणोन्मुखी बने रहते हैं। यह सब सभ्यता, विज्ञान तथा विकासके नामपर प्रकारान्तरसे प्राणिमात्रका द्रोह, मानवद्रोह और विश्वद्रोह है।

साक्षी-प्रमाण

डॉ० एच० स्टीवन्स, प्रो० डॉ० एम० स्मिथ और एडिन-बर्गके प्रोफेसर ग्रेगरीका मत जर्मनीके डॉ० बिल्स साहबने अपनी 'प्राकृतिक उपचार-विधि' शीर्षक दो हजार पृष्ठोंकी पुस्तकमें उद्धृत किया है कि 'सौ पीछे ९९ डॉक्टरी तथ्य झूठे हैं और सिद्धान्त मूर्खतापूर्ण हैं।'

फ्रैंकफूर्ट (जर्मनी) के डॉक्टर कूनरने "दवाओंपर अन्धविश्वास" पर अपने एक लेखमें बताया है कि मूर्च्छासे पीड़ित एक स्त्रीको एक जादूगरनीने दवाके रूपमें हींग दी थी तो उसे बालन्सटाट नगरमें जिन्दा जला दिया गया था। कितने अंधेरकी बात है कि उसे जिंदा जलाकर भी उसीके अन्धानुकरणस्वरूप आज भी वही दवा प्रचलित है।

वियेना, वाइडन अस्पतालके उपदंश-रोग-विभागके प्रमुख डॉक्टर और सलाहकार सर्जन डॉ० जोसफ हरमनने अपनी पुस्तकमें लिखा है कि यह रोग स्वाभाविक व्यापक नहीं है। उसे अच्छा करनेके लिये दवाका प्रयोग गलत भ्रान्त और अनाड़ीपन है।

स्टुटगार्डके प्रोफेसर डॉ० गस्टाव जागरने लिखा है—आप रसायन-विद्या, भौतिक विज्ञान और गणितके रहस्योंको भले ही जान-समझ लें; आप भले ही रोम, ग्रीस, यहूदी, तुर्कों और नास्तिकोंकी भाषा बोलने लगें, किंतु प्रकृतिके रहस्योंकी कुंजी आपके पास नहीं है।

'न्यूयार्क वर्ल्ड', अमेरिकाके विख्यात समाचारपत्रके सम्पादकने डॉक्टरोंकी बुद्धि, सचाई और चिकित्साकी वैज्ञानिकताकी जाँचके लिये एक महिलाको नियुक्त किया था। वह महिला चार डॉक्टरों और तीन लेडी डाक्टरोके पास अपनी जाँच और उपचार-सलाहके लिये गयी। एकने कहा—स्नायु कमजोर है, दूसरेने मलेरिया बताया, तीसरेने न्यूरैल्जिया कहा, चौथेने कहा अजीर्ण है, पाँचवेंने रक्ताभाव बताया, छठेने आँख खराब बतायी, सातवेंने कहा—पेट बिगड़ा हुआ है। छःने अपने नुस्खे लिखकर जल्द आराम देनेकी सान्त्वना दी। यह सब समाचार अखबारमें छपनेके बाद एक संवाददाता उन सब डॉक्टरोंके पास पुनः भेजा गया, तब सबने क्रमशः अलग-अलग बातें कीं। 'न्यूयार्क वर्ल्ड' लिखता है—देखिये हमारे चिकित्सा-वैज्ञानिकोंका ज्ञान, जिन्होंने जनताके जीवन-मृत्युका सौदा हाथमें लेकर सरकारसे अपने धंधेकी ठेकेदारी बना रखी है।

टीका लगानेसे क्या नुकसान होता है, यह स्पष्ट बताते हुए जर्मनीके एक वैक्सिनेटरने किसीसे कह दिया था कि टीका लगानेसे उपदंश हो जाता है; इसपर उसके ऊपर अदालतमें मुकदमा चला था। बर्लिनके डॉक्टर क्रीवल सरकारी गवाह होकर अपना वक्तव्य देने अदालतमें बुलाये गये थे। आपने भी वही बात स्पष्ट कही और बताया कि टीकेके आविष्कारक जेनर साहबकी दुग्धशालामें दूध दुहनेवाली नौकरानी 'सारा नेल्मीस' के हाथोंमें वह रोग था, जिससे गायोंके स्तनोंमें फैलकर संयोगवश जेनरके द्वारा टीका बनकर विख्यात चमत्कारी दवाके रूपमें सर्वत्र फैला। हरेक टीका लगानेसे बच्चोंके टांसिल फूल जाते हैं, स्त्रियोंके स्तनकी दुग्धग्रन्थियाँ सूख जाती हैं—जैसा कि उपदंशमें होता है। टीकेसे कोई लाभ नहीं वरं घृणित रोग फैलता है।

इन सब उत्पातोंका कारण और भार वैज्ञानिक कहे जानेवाले उपचारोंपर है, जो रोगके कीटाणुओंसे लड़नेके

लिये नये-नये विपाक्त रासायनिक पदार्थ बनाकर अज्ञान और दुःख फैलाते हैं।

दो भाई

संसारमें सर्वत्र दो प्रकारके लोग हैं—अक्लवाले और बिना अक्लवाले, अर्थात् धूर्त और मूर्ख, विज्ञानी और अज्ञानी। अज्ञानी तो असंयम और गल्तीसे दुःख पाते ही हैं, परंतु वे विज्ञानियोंसे सम्पर्क करके ठगाये जाते और अधिक दुःख पाते हैं। और वैज्ञानिक भी स्वयं गल्ती और असंयम करके दुःख पाते, दवा खाते, जीवनभर रोगी रहते हैं। फिर अज्ञानियों और विज्ञानियोंमें क्या अन्तर और विशेषता रही? और विज्ञानियोंका कितना कैसा विश्वास किया जाय? चौरासी लाख प्रकारके जीवधारियोंमें केवल मानव ही असंयम करता, रोगी होता, दवा खाता और अधिक दुःख पाकर मरता है। कोई इतर प्राणी असंयम करता, रोगी होता, दवा खाता और रोगसे मरता नहीं देखा गया। केवल मानव ही अपना विष—पाप धोनेके लिये विज्ञानके नामपर अनेकों प्राणियोंकी हत्या करके उनके रस-रक्त-मवाद-मांस-मल-मूत्रको अपने रक्तमें घोलता है। अपनी भूलोंको नहीं सुधारता, वरं कीटाणुओंको दोष देता है। यह कितने अंधेरका विज्ञान है कि सभ्यता और विज्ञानके दम्भमें मानव अज्ञानी पशुओंसे भी अधिक पतित हो गया है!

जबतक दुनियामें ये दवाएँ रहेंगी, तबतक रोग-दुःख बढ़ता जायगा। जबतक ये स्वार्थी वैज्ञानिक रहेंगे, तबतक दुनियाके मूर्ख असंयमी इस ओषधि-विज्ञानपर वैज्ञानिक अन्धविश्वास रखते हुए दुखी रहेंगे। आधुनिक मेडिकल साइंससे कोई रोग दूर न होकर भी उसे अन्धकट्टरतापूर्वक पुष्ट करते हुए उसपर विश्वास करना विज्ञान कैसे हो सकता है। जिस दिनसे दवा और इस अन्धविश्वासी विज्ञानका तिरस्कार-बहिष्कार होने लगेगा, उसी दिनसे रोग घटने लगेंगे, संसार संयमी और स्वस्थ बनने लगेगा। रोगको पालने-बढ़ानेवाली चीज है ये दवाएँ और यह महाविज्ञान।

अपनी गल्तीसे रोग होता है, अपनी गल्ती सुधारो। प्रायश्चित्तसे आत्मशुद्धि होकर रोग दूर होगा। अपने अंदर जीवनीशक्तिके उदयसे पाप नष्ट होंगे. पुनर्जीवन मिलेगा। परंतु इतना न करके, अपने विष—पापपर महाविष रखकर पुनर्जीवनकी वैज्ञानिक योजना अंधेर और अन्धविश्वास मात्र है। इतर प्राणियोंमें न तो विज्ञान है न असंयम, वे स्वाभाविक शक्ति और नियमोंसे स्वस्थ रहते हैं। शक्तिवान् जीता है, कमजोर मरता है।

दवाकी सहायतासे मनुष्य अपना पाप छिपाना चाहता है; परंतु दवा ऐसी धोखेकी चीज है कि वह अपने मालिकके पापको नहीं छिपा सकती। दवासे रोग नहीं मिटता वरं रंग-रूप बदलकर सामने आता है। अतएव दवा छोड़ दो। अपना सुधार आप करो।

शरीरको कोई भी व्याधि होनेपर विपाक्त उग्र या शामक रासायनिक दवाइयोंद्वारा उसे ठीक करनेकी प्रणालीसे रोग दूर होनेके बदले अधिक बढ़ता है। कारण यह है कि जिसे हम रोग समझते हैं, वह रोग नहीं—शरीरकी प्राकृतिक आत्मशोधक, आत्मरक्षक, स्वयं चिकित्साकी क्रियाप्रणाली है; और उग्र या शामक विषाक्त रासायनिक पदार्थों या अन्य प्राणिज तत्त्वोंसे बनी दवाइयाँ सल्फा, पेनिसिलिन, एम० बी० एंटि बायोटिक इंजेक्शन, रेडियम आदिका प्रयोग उसपर करनेसे शरीरकी उस स्वाभाविक क्रियामें बाधा पड़ती है, उसकी जीवनी शक्ति मन्द, शान्त हो जाती है। शरीरको किसी भी दशामें किसी दवाकी जरूरत नहीं है। चौरासी लाखमेंसे मनुष्येतर प्राणी जैसे स्वस्थ रहते हैं, मनुष्यका शरीर भी अपनी चिकित्सा, नवनिर्माण करने और विपाक्त प्रभावोंसे अपनी रक्षा करनेमें सर्वतः समर्थ बनाया गया है।

एक मनुष्यका भोजन दूसरेके लिये विष होता है, परंतु मनुष्यका अपना भोजन अतिशय एवं असंयमसे उसके लिये ही विष हो जाता है। अधिक, बेमेल, बेहिसाब खाने-पीनेसे शरीरकी अन्तरङ्ग क्रियाप्रणालीपर अधिक भार पड़कर रस-रक्त बिगड़कर विपाक्त हो जाते हैं, उनपर दवाका असर अधिक विषाक्त बनाता है। मनुष्यको उसका पाप ही खाता है, वैज्ञानिकोंका अज्ञान ही उन्हें सिरदर्द करता है। शरीरकी अपनी व्यवस्था है। उसके साथ बाहरी तत्त्वों या अस्त्रोंसे छेड़-छाड़ करना पाप है।

भक्त-गाथा

[भक्त रामदासु]

(लेखक—श्रीभीमसेनजी 'निर्मल' एम्० ए०, साहित्यरत्न)

श्रीरामं जनकात्मजाकुचतटीश्रीगन्धपङ्कोल्लसद्-
वक्षोवीथिमुदारमाश्रितमुनिं प्रादुर्भवत्कल्पकम्।
ब्रह्मेशानमुखामरस्तुतमजं ब्रह्माण्डभाण्डाधिपं
वन्दे कोसलकन्यकासुतमहं बाराद्रिगर्वापहम्॥

इस तथ्यमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि श्रीरामचन्द्र आन्ध्रजातिके प्रियतम भगवान् हैं, परम आराध्य हैं। साहित्यमें, दैनिक जीवनमें—जहाँ सुनिये वहीं वह पवित्र नाम प्रतिध्वनित होता रहता है। श्रीरामचन्द्रने वनवासके चौदह वर्षोंमें अधिक भाग, आन्ध्रदेशमें ही—दण्डकारण्यमें गोदावरीके किनारोंपर बिताये हैं।* उस पावन स्मृतिको जाग्रत् करनेवाले अनेक स्थान और चिह्न आन्ध्रदेशमें स्थित हैं। मर्यादापुरुषोत्तमकी पुनीत गाथा गानेवाले महानुभावों-से आन्ध्र-साहित्य भरा पड़ा है। ऐसे महानुभावोंमें त्यागराजु, रामदासु नित्य स्मरणीय हैं।

जेलमें जीवनके चौदह लंबे वर्ष बिताकर, अनेक असह्य कष्ट सहकर, भगवान्‌से विनय-अनुनय करके, अन्तमें डाँट-डपटकर भी कुछ लाभ न देख, सीतामाईके द्वारा पितृहृदय-को प्रभावितकर मुक्ति पायी है भक्त रामदासुने। पीडासंतप्त हृदयसे निकले इनके गीतोंको सुनकर श्रोताओंके हृदय भक्तिरससे आप्लावित हो जाते हैं।

रामदासका असली नाम कंचर्ल गोपन्न था। नेलकोंडपल्लेके निवासी कामाम्बा और लिङ्गन्नके पुत्र थे। आत्रेय गोत्रज नियोगी ब्राह्मण थे। माता कामाम्बा रामचन्द्र-की अनन्य भक्त थीं। प्रतिदिन रामायणका पारायण किया करतीं। उस रामभक्तिका प्रभाव बालक गोपन्नपर भी अङ्कित हुआ। रामभक्तिसे विह्वल हो बालक गोपन्न विलाप करते थे कि 'हाय! मैं तभी उस रघुरामके साथ जन्म लेता तो कितना अच्छा होता!'

वयस्क होनेपर कमलाम्बा नामक सुयोग्य ब्राह्मणकन्याके साथ गोपन्नका विवाह हुआ। पति-पत्नी रामभक्तिमें लीन अपना जीवन बिताते रहे। एक दिनकी बात है कि घरमें बैठे पति-पत्नीको दरवाजेपर राम-नामकी धुन सुनायी पड़ी। गोपन्न भागते हुए बाहर गये तो एक साधु-महात्माको देखा। भक्त गोपन्नका हृदय उस राम-धुनसे पुलकित हो गया। वे सीधे जा उस महात्माके पैरोंपर गिर पड़े। वे साधु और कोई नहीं, महात्मा कबीर ही थे।† गोपन्नको सर्वथा योग्य मानकर कबीरने उन्हें 'रामनाम' का उपदेश दिया।

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने॥

राम-नामका उपदेश पाते ही 'तारक-मन्त्र मिल गया', 'धन्य हो गया मैं' गाते हुए नाचने लगे। अब राम-नामके जपमें ही उनके दिन बीतने लगे।

गोपन्नके बारेमें अपने मन्त्री अक्कन्न और मादन्नद्वारा सुनकर गोलकुंडेके कुली कुतुबशाह (तानीशाह) ने उन्हें 'भद्राचलम्' का तहसीलदार नियुक्त किया।

'भद्राचलम्' पवित्र गोदावरी-तीरस्थ पुण्यक्षेत्र है। प्रतिवर्ष चैत्रमासमें श्रीरामनवमीके दिन असंख्य जनानीक श्रीराम और सीतामाईके विवाहके दर्शनार्थ यहाँ आते हैं। कुतुबशाही वंशके उत्तराधिकारी, हैदराबाद निजाम, आजतक श्रीरामनवमीके उपलक्ष्यमें अमूल्य मुक्ताएँ और कुछ जवाहरात भेंटके रूपमें भेजते रहे हैं। इस महाक्षेत्रकी ख्यातिका सारा श्रेय गोपन्नको ही है। अस्तु,

भद्रगिरि पहुँचनेपर गोपन्नने देखा कि पर्वतपर स्थित राम-मन्दिर जीर्ण अवस्थामें है। उसका सुधार करके, पुनर्निर्माण करके, उसमें अपने प्रिय आराध्य श्रीरामचन्द्रकी पुनः प्रतिष्ठा कर, भक्त गोपन्नने अपने जीवनको सार्थक बनाया। पर इतना धन आया कहाँसे? सरकारी रक़मको उन्होंने जी खोलकर अपने श्रीरामचन्द्रकी सेवामें खर्च कर दिया। प्रतिवर्ष बड़ी धूमधामके साथ कल्याणोत्सव मनाये जाते थे। एक दिनकी बात है। श्रीरामनवमीके दिन अन्नदान हो रहा था। पति-पत्नी कमर कसकर काममें लगे हुए थे कि गोपन्नका पुत्र 'गंजि' (माँड) के कुण्डमें गिरकर चल

* कुछ लोग नासिककी गोदावरी मानते हैं, कुछ लोग आन्ध्रदेशकी। —सम्पादक

† रामदासुके गुरु स्वयं कबीर थे या अन्य कोई कबीर-पन्थी, इसपर खोज हो रही है।

वला। खबर पाकर गोपन्नने कहा—'अच्छी बात है, कामसे निवटकर आऊँगा।' कार्य समाप्त होनेपर वे वालकके मृत शरीरको लेकर श्रीरामके दरवारमें उपस्थित हुए। गोपन्नकी अटल भक्तिके कारण वालक उठ बैठा, मानो सोते-से जाग पड़ा हो।

गोलकुंडके बादशाहसे मुसल्मानोंने शिकायत की कि गोपन्न सरकारी रकमको रामकी पूजा-सेवा-कार्यमें खर्च कर रहा है। उन्होंने तुरंत सैनिकोंको भेजकर गोपन्नको दरवारमें बुलाया। गोपन्न यही मनमें सोचकर निकल पड़े—

हळिनि दाटकन् दुनिमि यागमु गाचि यहल्यनु ब्रोचि
सीताललन न्वरिंचि रणदर्पित रावण कुम्भकर्ण
मुख्यालि वधिंचि राज्यमु नयंबुग नेलिन रामचन्द्र भू-
पालुडु रंगशायि मन पाल गलंडु विचार मेटिकिन ?

(युद्धमें ताड़काको मारकर, यज्ञकी रक्षा कर, अहिल्याका उद्धार कर, सीताजीको वर, वल-गर्वसे दर्पित रावण, कुम्भकर्ण आदि प्रमुख राक्षसोंको मारकर, रामराज्यकी स्थापना करनेवाले श्रीरामचन्द्र भूपाल हमपर कृपादृष्टि रखते हैं; फिर चिन्ता ही क्यों ?)

'हे भगवान्! अब तुम्हारा ही आसरा है। बचाओगे या डुबाओगे, तुम्हारी ही इच्छा है।' इस प्रकार श्रीरामचन्द्रपर ही सब कुछ छोड़ वे तानीशाहके दरवारमें हाज़िर हुए। तानीशाहने सारी कथा सुनकर राजसेवकोंको यह आज्ञा दी कि जबतक रकम वसूल न हो, तबतक गोपन्नको कैदमें डालकर तरह-तरहकी यातनाएँ दी जायँ।

इन यातनाओंको सहनेमें असमर्थ हो, गोपन्न तरह-तरहसे रामचन्द्रजीसे विनय करते हैं—

रक्षिं च मीकटे रक्षकुलेवरुन्नारुरा ?'

(रक्षा करनेके लिये तुम्हारे सिवा और कौन है ?)

शरणन्न जनुलनु बिरबिर ब्रोचेडु दोखे।

(शरणागत जनोंकी शीघ्र रक्षा करनेवाले साहब हो तुम।)
इस प्रकार विनय करते-करते, कभी-कभी वे डाँटने भी लगते हैं—

वरहालु मोहिरीलु जम जेस्तिगदरा,
नी परिचारकुलकु ने पंचिपेट्टिति गदरा।

(अशर्फियों और दीनारोंको जमाकर, तेरे ही सेवकोंमें तो बाँट दिया है।)

ओप्पुको वड्डुनानि चेप्पक दागितिवे।

(मानना पड़ेगा, इसलिये छिप तो नहीं गये ?)

'हाय, हाय! कष्टोंको सहनेमें असमर्थ हो मैंने स्वयं भगवान्को डाँट बतायी है। हे राम! इस बालकके दोषोंको क्षमा कर देना।'

इस प्रकार भद्रगिरीश रामका ध्यान करते रहनेपर उनकी सारी पीड़ाएँ कम हो जातीं। इसे देख राजसैनिक चकित रह जाते और राजाको इन विषयोंकी खबर देते। तब वह और भी कठोर यातनाओंकी आज्ञा देता। तब भी वे इसी प्रकार गाते रहते—

सीतारामनाममे मा जिह्वयंदु
यमुनिदूतल बार दोलेडि दोड्ड मंदु।

(हमारी जीभपर स्थित 'सीताराम' नाम ही यमदूतोंको भगानेवाली महान् ओषधि है।)

श्रीराम! नी नाममेमिरुचिरा ?

(हे राम! तुम्हारे नाममें कैसा—अनिर्वचनीय स्वाद है।)

प्रीतिनैन, प्राणभीतिनैन, कलिमिचेतनैन, मिम्मेतीरुनदलचिन
दिनमे सुदिनमु, सीतारामस्मरणे पावननु।

(प्रीतिसे या प्राणभीतिसे, सम्पत्तिमें या विपत्तिमें, किसी भी प्रकारसे तुम्हारा स्मरण जिस दिन करें, वही सुदिन है। सीताराम-स्मरण ही पावन है।)

उस 'दास-मानस-पद्म-भृङ्ग'को गोपन्न इस प्रकार सम्बोधित करते हैं।

पिलिचिन वलक वेमि ननुप्रेमनु गन्नुलजूड़वेमि ने
दलचिन तप्पुलन्नि मरि तप्पक चूचेदवेमि यय्यो
पलुमारु नीवे दिक्कनुचु वट्टिति नी पादपद्मयुगम्मुन्
पलुचदनंबु चेसिननु वाधरुपेट्टकु जानकीपति॥

(हाय! पुकारनेपर भी बोलते क्यों नहीं ? प्रेमकी चितवनसे देखते क्यों नहीं ? मेरे किये दोषोंको ही क्यों देखते हो ? बार-बार तुम्हारे ही चरणकमलोंकी शरणमें आया हूँ। मुझे मत सताओ, हे जानकीपति!)

फिर कहते हैं—

पलुके बंगारमायेना, कोदंडपाणि! पलुके बंगारमायेना ?

(बोलना ही मुश्किल हो गया! हाय, कोदण्डपाणिकी एक बात भी दुर्लभ हो गयी।) फिर नाराज होकर पूछते हैं कि मैंने तेरे लिये इतना जो खर्च किया··

नीवु कुलकुचु तिरिगेदवेवरब्बसोम्मनि रामचन्द्रा !'

(किसका धन है समझकर, इस प्रकार इठलाते फिरते हो !) फिर इन कठोर वचनोंके लिये पछताते हुए कहते हैं—

अव्व, तिट्टितिनि यनि यायासपडवद्दु रामचन्द्रा ।
ई देब्बनकोर्वलेक अव्व तिट्टितिनय्या रामचन्द्रा ।

(कठोर वचन कहे, इसलिये दुखी मत होना, हे रामचन्द्र ! इन कोड़ोंको सह न सका, बुरे वचन कहे, हे रामचन्द्र !)

भक्तजनोंकी रक्षा करना भक्तवत्सलका काम ही है। इस कर्तव्यकी याद दिलाते हुए वे कहते हैं—

नीकु पोषिंचे भारमु लेदा ?

(पालन-पोषणका भार तुम्हारा नहीं है क्या ?)

शंख-चक्रमुल्धरिंनंदुकु दासजनुलरक्षिंपवदेंदुकु ?

(शङ्ख-चक्र आदि धारण किया, तब दासजनोंकी रक्षा क्यों नहीं करते ?)

इस प्रकार भगवान् रामचन्द्रकी विनय करके, उन्हें डाँटकर, गाली देकर गोपन्न हार गये। भगवान्के मनमें दया न उपजी; क्योंकि उन्हें अभी कर्मफल भोगना था। (कहते हैं पूर्वजन्ममें गोपन्नने चौदह वर्षतक एक तोतेको पिंजरेमें रखा था, जिसके फलस्वरूप उन्हें चौदह वर्षतक जेलमें रहना पड़ा।) अन्तमें उस महाभक्तने सीतामाईके सामने हाथ फैलाये।

अदिगो वच्चेदरनि इदुगो वच्चेदरनि येदुरु चूचुचुंटि ।

(अब आयेंगे, तब आयेंगे—कहकर प्रतीक्षा करता रहा।)

परमपुरुषुडिंत अमर चेसिन परागलेव्वरि वेडुदु ?

(परमपुरुष ही इस प्रकार लापरवाही करें तो और किससे विनय करूँ ?)

ननुब्रोवमनि चेप्पवे सीतम्म तल्लि ।

(हे सीतामाई ! उनसे कह दो कि मुझे बचावें।)

तब माता-सीताने राम-लक्ष्मणको उस भक्तकी रक्षा करनेकी सलाह दी। राम-लक्ष्मण अच्छी पोशाकमें तानीशाहके पास गये और बोले—

दास जनानुकुमेमु, रामदासु वंपग वच्चिनामु

(हम दास जनोंके नौकर हैं, रामदासके भेजनेपर आये हैं।) और तानीशाहके सामने रुपयोंकी थैली डालकर चले गये ! तानीशाहको यह सब स्वप्नके सदृश लगा। अपनी गलतीपर पछताते हुए वह दूसरे दिन सवेरे रामदासके पास भागता हुआ गया, उनके पैरोंपर गिर पड़ा, सारा धन दे दिया और मुक्त कर भद्रादि भेज दिया।

तत्पश्चात् गोपन्नने अपना शेष जीवन वहीं रामकी सेवामें बिता दिया। प्रतिदिन वे अपने मधुर और भक्तिपूर्ण गीतोंसे भगवान्को रिझाते रहे। कुछ गीतोंकी झाँकी लीजियेः—

ओ, न मालु रागाने नाममे तोचु, येंदु जूचिननु नीदु अंदमे गान वच्चु ।

(ओ, न, मः सीखते ही तेरे ही नामका भास होता; जहाँ देखूँ, वहाँ तेरे ही सौन्दर्यके दर्शन होते।)

मुक्ति ने नोल्ल नीदु भक्ति मात्रेमे चालु

(मुक्ति तो मुझे चाहिये नहीं, भक्ति ही बस है।)

रामनाममु बल्कवे, पापपुजिह्व, रामनाममु पल्कवे

(री पापी जीभ ! रामनामका ध्यान तो कर।)

दगर रामुडु, मन्मथुंडु दव्वुलनुंडु

(राम पास हों तो मन्मथ दूर।)

राम जोगी मंदु कोनरे पामरुलारा ! काटुककोंडलवंटि कर्ममुलेडवापु मंदु।

(रामजोगीकी औषध खरीद लो, हे पामर ! कानलके पर्वत-सम पाप-कर्मोंका निवारण करनेवाले रामजोगीकी औषध खरीद लो, हे पामर !)

अन्तारामममयंबीजगमंतारामममयं, अन्तरंगमुन नात्मारामु-डनन्तरूपमुन विन्तलु सलुपग'

(सब कुछ राममय, यह सारी दुनिया राममय है। अन्तरमें आत्माराम। अनन्तरूपमें लीलाएँ करता रहे।)

इस प्रकार भगवल्लीलाओंका गान करते गोपन्न मुक्तिपदको प्राप्त कर गये।

शायद आजकलके बुद्धिजीवी इस कथापर विश्वास न करें, पर गोलकुंडेके किलेके खण्डहरोंमें स्थित रामदासका जेल और भद्रगिरिके अनुपम मन्दिर इस महाभक्तकी कीर्तिको अक्षुण्ण बनाये हुए हैं। आन्ध्रदेशकी साधरण जनता रामदासके भक्तिमय गीत बड़ी ही श्रद्धाके साथ गाती रहती है।

तेलुगुके भक्तिशतकोंमें 'दाशरथी-शतक'का विशिष्ट स्थान है। उस शतकके प्रत्येक पद्यमें रामदासने अपना भक्त-हृदय निचोड़कर रख दिया है। साहित्यिक दृष्टिसे तथा भक्तिरसकी दृष्टिसे यह शतक बड़ा ही सुन्दर है।

भारतकी अनन्य भक्त-परम्परामें भक्त रामदास एक अनुपम रत्न हैं, जिनके भक्तिमय गीतों और पद्योंसे आन्ध्र-जनता आजतक भक्ति-पुलकित हो जाती है।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय !

प्राचीन भारतमें जन्म-निरोध (Birth-Control)

(लेखक—श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ)

सम्प्रति भारतवर्षमें बढ़ती हुई जन-संख्याकी वृद्धिको रोकनेके लिये नाना प्रकारकी युक्तियाँ प्रस्तावित की जा रही हैं। उनमें सारी युक्तियाँ पाश्चात्त्य ढंगकी हैं और उनके प्रचारके लिये सरकारकी ओरसे स्थान-स्थानपर डाक्टरी साधन प्रस्तुत किये जा रहे हैं। बहुतेरे स्थानोंमें लोग सामूहिकरूपसे गर्भाधानको रोकनेके लिये जननेन्द्रियोंको शल्य-क्रियाके द्वारा निष्क्रिय करा रहे हैं। गर्भाधान-निरोधक सामग्रियोंकी बिक्री खुले आम बाजारोंमें होने लग गयी है। उद्देश्य यह है कि प्रतिवर्ष पचास हजारके परिमाणमें बढ़नेवाले बालक-बालिकाओंके भोजनका प्रबन्ध देशमें उपजनेवाले अन्नसे नहीं हो सकता, करोड़ों रुपयेका अन्न बाहरसे मँगाकर सरकार लोगोंकी उदर-पूर्ति करनेमें प्रतिवर्ष समर्थ नहीं हो सकती, देशके औद्योगिक विकास, सांस्कृतिक विकास आदि कामोंके लिये अपेक्षित धन नहीं पूरा हो रहा है, अतः जन-संख्यामें वृद्धि रुक जानेसे सारी समस्या आसानीसे सुलझायी जा सकती है।

इस विषयमें विवाद उठानेका प्रसर नहीं दीखता; बहुत-से अपाङ्ग, क्षीणाङ्ग, दुर्बलाङ्ग संतानोंकी वृद्धिसे देशमें वास्तविक जन-बलकी वृद्धि नहीं समझी जा सकती। केवल चुनावोंमें मतदाताओंकी संख्यामें ही वृद्धि होगी। बाहरी आक्रमणसे देशकी रक्षाकी समस्या जब उपस्थित होगी, तब उस समय पुष्टाङ्ग एवं दीर्घप्राण लोग ही अग्रसर होंगे। अतः हमारी नीतिकी सूक्तियोंमें कहा है—

> **को धन्यो बहुभिः पुत्रैः कुसूला पूरणाढकैः।**
> **वरमेको गुणी पुत्रो येन विश्रूयते पिता॥**
>
> (कुलालम्बी)

प्राचीनकालमें इस देशमें जन-संख्या कम रही होगी। अतः गृह्यसूत्रोंमें विवाहके समयके वर-वधूके आशीर्वचनोंमें वरको कहा गया है—'दशास्यां पुत्रानाधेहि। (इस कन्यामें दस पुत्र उत्पन्न करो) और वधूको कहा गया है—'पतिमेकादशं कृधि (दस पुत्र उत्पन्न करो, ताकि पुत्रोंसहित पतिकी गिनती ग्यारहवेंमें हो।)

जन-संख्या कम रहनेसे थोड़ी जमीनमें विपुल अन्न पैदा हो जानेसे इस देशमें भोजनका प्रश्न एकदम ही हलका था। सम्प्रति सारी सुकृष्य भूमिमें अथ च पड़ती, गोचर, जंगल, बंजरभूमिमें भी खेती की जानेपर जनताकी उदर-पूर्तिके लिये पर्याप्त अन्न नहीं लब्ध हो रहा है और देशके अग्रणीलोग इस विषयमें चिन्ताग्रस्त होकर अपने देशके प्राचीन आचार एवं जीवन-क्रमका त्याग करनेको प्रस्तुत हो गये हैं और पश्चिमीय घृणित परिपाटीकी अनुसृति करनेको तत्पर हो गये हैं। वे यह भूल रहे हैं कि मनुष्यके प्राकृतिक शरीरकी रक्षा तथा विकासके लिये कुछ प्राकृतिक नियम भी हैं, जिन्हें हमारे शास्त्रकारों तथा आयुर्वेदाचार्योंने हमारी जानकारीके लिये शाश्वत कल्याणके मार्गदर्शकके रूपमें लिख दिया है, जो आज भी हमारे हितका रास्ता समयानुसार दिखा सकते हैं, यदि हम बुद्धिसे और धैर्यसे काम लें। जन्म-निरोधके लिये जननिरोधक उपचारों तथा जननेन्द्रियोंको विकृत कराने (Operation) की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। संयमसे ही देश-कालकी आवश्यकताके अनुसार जन-संख्याका नियमन किया जा सकता है। तर्क-वितर्कके लिये मान लीजिये कि किसी नव-वयस्क दम्पतिके पाँच संतान हैं, जिनमें पुत्र-पुत्रियाँ दोनो हैं। विद्यमान संतानोंकी संख्याको लोकसंग्रहके लिये पर्याप्त समझकर दम्पति जननिरोधक उपचारोंके द्वारा सदाके लिये अपनेको संतानोत्पादनमें असमर्थ बनाकर समाज-सुधारकोंकी स्तुतिके भाजन बनते हैं, पर यदि दैव-कोपसे दम्पतिकी संतान एक-एक करके चल बसती है और वे निस्संतान हो जाते हैं तो पीछे केवल जीवन-

पर्यन्त पछतानेके और क्या हाथ लग सकता है। यदि पाँच संतानोंकी प्राप्तिके बाद वे संयम तथा ब्रह्मचर्यसे समय बितायें तो समय रहते फिर भी वे संतानका मुख देख सकते हैं।

मनु आदि शास्त्रकारोंने पति-पत्नीके सहवास एवं पुत्र-पुत्रीके जन्मका रहस्य स्मृतियोंमें लिखा है। ऋतु-काल किसे कहते हैं, ऋतुकालमें युग्मरात्रिमें सहवाससे पुत्र तथा अयुग्म (विषम) रात्रिमें सहवाससे पुत्रीकी उत्पत्ति होती है। ऋतुकालके परे सहवाससे गर्भाधान सम्भव नहीं है। अतः जो दम्पति सहवास-सुखकी प्राप्ति करना चाहें, वे गर्भाधानके भयसे सर्वथा रहित होकर ऋतुकालसे भिन्न कालमें सहवास कर सकते हैं। हाँ, अष्टमी, अमावस्या, रविवार तथा संक्रान्तियाँ सर्वदा वर्जित हैं। स्मृति-वचन इस प्रकार है—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
तासामाद्याश्चतस्रस्तु वर्जनीयैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया।
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु॥

ऋतुकालमें अथ च भिन्नकालमें भी वर्जित दिनोंमें सहवासको त्याग देनेसे महीनेमें कठिनतासे दस दिन शेष रह जायँगे। उसमें भी एकादशी, चतुर्दशी आदि व्रतके दिनों और चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि अवसरों तथा शारदीय नवरात्र, चैत्रनवरात्र आदि अवसर-विशेषोंपर संयम रखनेका ध्यान रखा जाय तो विशेष-रूपसे ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेका निमित्त मिल सकता है। 'पुत्रप्रयोजना दाराः'—पुत्र-प्राप्तिके लिये दार-संग्रह हमारी सभ्यताका एक महान् अङ्ग है। पौत्र-प्राप्तिके पश्चात् सन्तानोत्पत्तिमें विरामका समय समझा जाता था। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि इन्द्रिय-सुख-लालसाकी तृप्ति विषय-भोगसे हो ही नहीं सकती—इस बातको नीतिकारोंने डंकेकी चोट सहस्राधिक बार घोषित किया है। आजन्म ब्रह्मचर्य-पालन करनेवालोंको बड़ा ऊँचा स्थान इस देशमें दिया जाता था। हनूमान्, भीष्मपितामह आदि महापुरुष इसी हेतु अतिपूज्य माने गये हैं। ऐतिहासिक युगमें शंकराचार्यने बालब्रह्मचारी रहकर अपनी छोटी-सी आयुमें विश्वमान्य अद्वैत-सिद्धान्तके पोषक ब्रह्मसूत्रका भाष्य लिखकर हिंदूधर्मका पुनरुद्धार किया और बौद्ध-धर्मका इस देशसे बहिष्कार किया। स्वयं गौतमबुद्ध भी गृहस्थाश्रमके विषय-भोगका त्याग करके ही महान् धर्म-प्रवर्तक हुए और आज भी एशिया महादेशके अधिकांश जन-समूह बौद्धधर्मावलम्बी हैं। सृष्टिके आदिसे लेकर आजतक जितने महापुरुष हुए हैं, उनमें सब-के-सब अधिकाधिक मात्रामें ब्रह्मचर्यके उपासक ही रहे हैं। उनकी महत्ताकी पहली सीढ़ी संयम ही रहा है। मनुष्य-जीवनके इस महान् तथ्यको भुलाकर आज जो हमारे देशमें जन्म-निरोधक उपायोंका प्रचार किया जा रहा है, वह सर्वथा अभारतीय किंवा अमानवीय है।

उद्दाम विषयभोगका अनुत्तरदायी जीवन वितानेका मार्ग खोला जा रहा है। तीसों दिन असंयमी रहे और संतानोत्पत्तिके झंझटसे मुक्त रहे—बस एकमात्र यही उद्देश्य आधुनिक Family Planning (सीमित परिवार) के ओटमें प्रचारित किया जा रहा है। सरकारी खजानेकी बहुत बड़ी रकम भी इस काममें लगायी जा रही है—यह आश्चर्यकी बात है। जो बुरे काम विदेशी शासकोंने यहाँ कभी नहीं किये, उन्हें आज देश-हितकारक बतलाकर देशके शासक एवं नेतालोग बिना सोचे-विचारे कर रहे हैं। यदि इस दिशामें थोड़ा भी प्रयास प्राचीन जीवनादर्शके आधारपर व्याख्यानमालाके रूपमें अनवरत किया जाय तो आश्चर्यजनक परिणाम दीख पड़ेगा। धर्मशास्त्रका वह प्रकरण पुस्तिकाके आकारमें अंगरेजी तथा देशी भाषाओंमें अनुवादसहित लाखोंकी संख्यामें वितीर्ण किया जाना चाहिये। कालेजोंके पाठ्यविषयोंमें वह समाविष्ट कर दिया जाना चाहिये। शीर्षकमें यह श्लोक दिया जाना चाहिये—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

अर्थात् विषय-भोगकी तृष्णा विषय-भोगसे तृप्त नहीं होती; वरं जैसे आगमें घी देनेसे आग बढ़ती है, वैसे ही भोगसे विषयकी तृष्णा और भी बढ़ती है।

संयमसे संतान-निरोधमें केवल लाभ-ही-लाभ है, हानिका कोई प्रसर नहीं और कृत्रिम निरोधमें बहुत बड़ी शारीरिक तथा धार्मिक क्षतिकी सम्भावना है। विचारके तराजूपर तौलकर इस ओर पैर बढ़ाया जाना चाहिये। हाँ, समयकी प्रवृत्ति लघुमार्ग short-cut) से चलनेकी ओर है। तत्काल लाभ (तुरत बोओ, तुरत काटो) की मनोवृत्ति जोर पकड़ रही है। ऐसी मनोवृत्ति व्यक्तिगत धर्म है। संतति-निरोधका प्रश्न जनहित तथा देशहितसे सम्बद्ध है। जनताको अपने देशका पुराना मार्ग पूर्वसे ही परिचित है, इसमें कोई नया तर्क अपेक्षित नहीं है। आधुनिक विचारके लोग अपने कुत्सित उदाहरणसे जनताको पथभ्रष्ट कर रहे हैं। इसमें अधिक श्रेय है नेतामानी लोगोंको। जीवनका स्तर ऊँचा करनेकी जो चर्चा और योजना बनायी जा रही है, उसके आड़में भी भोग-सामग्रीको अधिक मात्रा-में जनताके लिये सुलभ करनेका ही लक्ष्य है। सुखी जीवनकी कोई परिभाषा किसी देशमें किसी समयमें न थी और न हो सकती है। सादे जीवनकी परिभाषा भारतवर्षमें यही थी कि जितना कम सामग्रीसे जो अपना जीवन संतोषपूर्वक बिता सकता है, वह उतना ही महान् है और ऐसे अपरिग्रहशील व्यक्तिके लिये मोक्ष सुलभ है। एक ओर इस आचारको देखिये और दूसरी ओर अबाध विषय-भोगके लिये संततिनिरोधके आधुनिक उपचारोंको देखिये; तब आप भारतीय और पाश्चात्य जीवनक्रमके अन्तरको समझ सकते हैं। निष्प्रयोजन वीर्य-पात हमारे यहाँ भ्रूण-हत्याके तुल्य प्रायश्चित्तीय कर्म समझा गया है। लोकसंग्रहके लिये संतानोत्पादनके हेतु ही पत्नीके साथ सहवासमें वीर्य-पात धर्मसंगत है। पशुओंमें भी मैथुनके कुछ प्रकृति-निर्धारित नियम हैं। स्त्री-पशुओंमें रजोदर्शनके समयमें ही पुरुष पशु उनके प्रति सहवासके लिये आकृष्ट होते हैं, पता नहीं स्त्रियोंमें जननेन्द्रियको शल्यद्वारा विकृत कर देनेपर रजोदर्शन होगा अथवा नहीं। यदि नहीं होगा तो स्त्रियोंके उदरमें एकत्रित रजोराशि क्या-क्या रोग पैदा करेगी—इसका क्या ठिकाना है। ऐसे कई उदाहरण लेखकको विदित हैं कि अवरुद्ध रजके एक बार खुल जानेपर स्त्रियोंके प्राण संकटमें पड़ गये हैं। आशा है, देशके विचारवान् लोग आजके इस व्यापक प्रश्नपर ठंढे दिलसे साङ्गोपाङ्ग विचार करके जनसमुदायके समक्ष गन्तव्य मार्गका निर्देश करेंगे।

भगवान्की कृपा मेरी सम्पत्ति हो गयी है

भगवान्की कृपाका अपरिमित प्रताप है। उससे मैं जहाँ घृणा करता था, वहाँ प्रेम करने लगा हूँ; जहाँ द्वेष करता था, वहाँ क्षमा करता हूँ; जहाँ अपमान करता था, वहाँ सत्कार करता हूँ; जहाँ मिथ्याको देखता था, वहाँ सत्यका साक्षात्कार पाता हूँ; जहाँ संदेह था, वहाँ विश्वास हो गया है; जहाँ निराशा थी, वहाँ निश्चित आशा हो गयी है; जहाँ आशा लगाकर दुखी रहता था, वहाँ निराश होकर परम सुखी हो गया हूँ; जहाँ भय था, वहाँ परम निर्भयता आ गयी है; जहाँ परायापन था, वहाँ आत्मीयताका अनुभव करता हूँ; जहाँ ममता थी, वहाँ समता आ गयी है; जहाँ अन्धकार था, वहाँ ज्योतिर्मय प्रकाश हो गया है और जहाँ विषाद-शोक था, वहाँ परमानन्द, अखण्डानन्द प्राप्त हो गया है; क्योंकि अब मैं भगवान्का हो गया, उनकी कृपा मेरी सम्पत्ति हो गयी।

सच्चा न्याय

(लेखक—डा० श्रीकेशवदेवजी आचार्य)

आजकल न्यायालयोंमें जो न्यायाधीश निर्णय करते हैं, वे अनेक बार तो किसी धर्म, जाति या देशके पक्षपातके साथ करते हैं। अनेक बार घूस लेकर या राज्यके दबावमें आकर निर्णय देते हैं। ब्रिटिश शासनकालमें भारतमें अनेक न्यायाधीशों-ने 'शराब मत पीओ'' ऐसा कहनेवालोंको अथवा कहनेके संदेहमात्रमें एक वर्षका कठोर दण्ड और एक हजार रुपये-तक जुर्माना किया है और कुछ भारतीय न्यायाधीशोंने तो दण्ड देनेके लिये विवश होनेपर अपना निर्णय लिखते समय इसे स्पष्ट ही बदला लेनेकी नीति (Vindictive policy of the Government) कहा है। अनेक देशभक्तोंकी देशभक्तिको अपराध मानकर उन्हें जेल, जुर्माना, देशनिर्वासन और फाँसीके दण्ड न्यायालयोंने दिये हैं।

परंतु सच्चा न्याय वह होता है, जिसमें न्यायाधीश बिना किसी धर्म, जाति या देश या मित्रताके पक्षपातके केवल तथ्योंके अनुसार निर्णय करता है। यदि उसके पुत्र या स्त्रीने अन्याय किया है तो उसे भी समान रूपमें दण्ड देता है।

बार्ली और बीचक्रैफ्ट

श्रीअरविन्द और उनके साथी देशभक्तोंपर सन् १९०८ में 'अलीपुर षड्यन्त्र' नामक एक अभियोग चलाया गया। इसमे श्रीअरविन्दके शब्दोंमें, 'मैजिस्ट्रेट, वकील, साक्षी, साक्ष्य अभियुक्त—सभी विचित्र थे। प्रतिदिन साक्षी और दस्तावेजोंका वही अविराम प्रवाह, वही वकीलोंका नाटकीय अभिनय, वही बालस्वभाव मैजिस्ट्रेटकी बालकोचित चपलता और लघुता, उन अपूर्व अभियुक्तोंके उस अपूर्व भावको देखते-देखते अनेक बार यह कल्पना मनमें उदय होती कि मैं ब्रिटिश न्यायालयमें न बैठकर किसी नाटकगृहके रङ्ग-मञ्चपर या किसी कल्पनापूर्ण औपन्यासिक राज्यमें बैठा हूँ।

'इस नाटकके प्रधान अभिनेता थे सरकार बहादुरके बैरिस्टर श्रीनॉर्टन साहब। वे प्रधान अभिनेता ही क्यों, इस नाटकके रचयिता, सूत्रधार (Stage-Manager) और साक्षी-स्मारक (Prompter) थे। इस प्रकारकी विचित्र प्रतिभावाले व्यक्ति जगत्में दुर्लभ हैं।

'नॉर्टनसाहबने इस नाटकके नायकरूपमें मुझे ही पसंद किया है, यह देखकर मुझे बहुत ही प्रसन्नता हुई। जिस प्रकार मिल्टनके पैरेडाइज लॉस्ट (Paradise lost) का शैतान, मैं भी इसी प्रकार नॉर्टनसाहबकी नाटकीय वस्तुका, कल्पनाप्रसूत महाविद्रोहका केन्द्रस्वरूप तीक्ष्ण-बुद्धि-युक्त, क्षमतावान् और प्रतापशाली मनुष्य (bold bad man) था। मैं ही राष्ट्रिय आन्दोलनका आदि और अन्त, स्रष्टा, पाता और ब्रिटिश साम्राज्यका संहार-प्रयासी था। उत्कृष्ट और तेजस्वी अंग्रेजी लेख देखते ही नॉर्टनसाहब कूदने लगते और जोरसे कहते 'अरविन्द घोष'। आन्दोलनका वैध, अवैध जो भी सुश्रृङ्खलित अङ्ग या अप्रत्याशित फल—सभी अरविन्द घोषकी सृष्टि; और चूँकि अरविन्दकी सृष्टि, अतः वैध होते हुए भी अवैध अभिसंधि गुप्तरूपमें उसके भीतर निहित थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका विश्वास था कि यदि मैं पकड़ा न जाता तो अंग्रेजोंका भारतपर शासन दो वर्षमें नष्ट हो जाता। मेरा नाम किसी फटे कागजके टुकड़ेपर पाते ही नॉर्टन बहुत प्रसन्न होते और आदरके साथ इस परम मूल्यवान् प्रमाणको मैजिस्ट्रेटके श्रीचरणोंमें अर्पित करते। नॉर्टनसाहबने मेरे प्रति उस समय ऐसी अनन्य भक्ति और ऐसा अनवरत ध्यान किया कि यदि मैं अवतार होता तो निश्चय ही उन्हें मुक्ति मिल जाती। ऐसा होनेपर मेरा कारावासका समय और सरकारका धन-व्यय दोनोकी ही बचत होती।

'बैरिस्टर चटर्जी महाशयके समान रसानभिज्ञ मनुष्य नहीं देखा। नॉर्टनसाहब जब संलग्न (युक्त), असंलग्न (अयुक्त) विचारको तिलाञ्जलि देकर केवल काव्यरचनाके लिये अनेक प्रमाण एकत्रित करते थे, तब चटर्जी महाशय उठकर असंलग्न (Inadmissible) कहकर आपत्ति करते। इस असंगत व्यवहारपर नॉर्टन साहब ही नहीं, मैजिस्ट्रेट बार्लीसाहब तक क्रुद्ध हो जाते। एक बार बार्लीसाहब-ने चटर्जी महाशयको करुण स्वरमें कहा था, 'मिस्टर चटर्जी! जबतक आप नहीं आये थे, हम मुकदमेको निर्विघ्न चला रहे थे (Mr, Chatterji, we were getting on very nicely before you came)। ऐसा होनेपर, नाटककी रचनाके समय बात-बातपर आपत्ति उठानेपर नाटक भी अग्रसर नहीं होता और दर्शकवृन्दका भी रस भङ्ग होता है।

नॉर्टनसाहब यदि नाटकके रचयिता, प्रधान अभिनेता और सूत्रधार थे तो मैजिस्ट्रेट बार्लीको नाटकका पृष्ठ-पोषक कहा जा सकता है। बार्लीसाहब सम्भवतः स्काच जातिके गौरव थे। पहलेसे ही वे नॉर्टनसाहबके पाण्डित्य और वाक्पटुतासे मुग्ध होकर उनके वशीभूत हो गये थे। विनीत भावसे नॉर्टनद्वारा प्रदर्शित पथका इस प्रकार अनुसरण करते—नॉर्टनके मतमें मत देते, नॉर्टनके हँसनेपर हँसते, नॉर्टनके क्रुद्ध होनेपर क्रुद्ध होते कि उनके इस सम्पूर्ण विशुद्ध आचरणको देखकर बीच-बीचमें उनके प्रति प्रबल स्नेह और वात्सल्यका भाव मनमें आविर्भूत होता था। बार्ली बिल्कुल

बालस्वभावके थे। कभी यह मनमें नहीं सोच सका कि वे मैजिस्ट्रेट हैं। ऐसा जान पड़ता मानो कोई स्कूलका विद्यार्थी जबर्दस्ती स्कूलका शिक्षक होकर शिक्षकके उच्च आसनपर बैठा हो। इसी भावसे वे कोर्टका कार्य चलाते थे। यदि कोई उनकी रुचिके प्रतिकूल व्यवहार करता तो स्कूल-मास्टरके समान उसे दण्ड देते। हममेंसे यदि कोई मुकदमा-प्रहसनसे उदासीन होकर आपसमें बात-चीत करने लगते तो बार्लीसाहेब स्कूलमास्टरके समान बकने लगते, न सुननेपर खड़ा होनेका हुक्म देते, उसे भी तत्काल न सुननेपर पहरेदारको खड़ा करनेका हुक्म देते। हम इस स्कूल-मास्टरीके आचरणकी प्रतीक्षा करते हुए इतने अभ्यस्त हो गये थे कि हम प्रतिक्षण इस प्रत्याशामें रहते थे कि इस बार बैरिस्टर चटर्जी महाशयके ऊपर खड़ा होनेका हुक्म जारी होगा। किंतु बार्लीसाहेबने उल्टा ही उपाय अपनाया। जोरसे चिल्लाकर बोले—मिस्टर चटर्जी ! बैठ जाओ (Sit down, Mr Chatterji)। ऐसा कहकर उन्होंने अलीपुर स्कूलके इस उद्दण्ड छात्रको बिठला दिया। जिस प्रकार किसी छात्रके पढ़ते समय कोई प्रश्न करनेपर या विशेष व्याख्या करनेको कहनेपर कोई मास्टर उसपर क्रुद्ध होकर उसे दण्ड देता है, उसी प्रकार बार्ली मैजिस्ट्रेट भी अभियुक्तके वकीलद्वारा आपत्ति करनेपर उसे दण्ड देते थे।

सौभाग्यसे यह अभियोग मैजिस्ट्रेटके कोर्टसे बदलकर सेशन जजके सामने चला गया। उसमें जज थे श्रीबीचक्रैफ्ट, जो कि इंग्लैंडमें श्रीअरविन्दके सहपाठी थे और ग्रीक तथा लैटिनमें जब कि श्रीअरविन्द सर्वप्रथम थे तो बीचक्रैफ्ट द्वितीय थे। श्रीयुत चित्तरंजनदासने बिना फीस लिये रात-दिन सेवाभावसे इस मुकदमेकी पैरवी की। दो असेसरोंने श्रीअरविन्दको निरपराध घोषित किया। जजने उनके निर्णयको स्वीकार कर लिया और श्रीअरविन्द छोड़ दिये गये, जब कि इनके छत्तीस साथी देश-भक्तोंको विविध प्रकारके दण्ड दिये गये। इस अभियोगके विषयमें श्रीअरविन्दने लिखा है—'सेशन अदालतमें मुझे निरपराध घोषित होनेसे नॉर्टनरचित नाटककी शोभा और गौरव नष्ट हो गये। नीरस-हृदय बीचक्रैफ्टने हैमलेट नाटकसे हैमलेटको निकालकर बीसवीं शताब्दीके श्रेष्ठ काव्यको हतश्री कर दिया।'

इस अभियोगमें हमें दो प्रकारकी विपरीत वस्तुएँ दिखायी देती हैं। एक ओर मिस्टर नॉर्टन-जैसे वकील हैं, जो एक हजार रुपये प्रतिदिनकी आयके लोभमें अनेक निरपराधी सच्चे देशभक्तोंको, जिनमेंसे कुछ ऐसे भी हैं कि जिनकी गिनती संसारके सर्वश्रेष्ठ महापुरुषोंमें होती है, कारावास, देश-[illegible], मृत्यु-जैसे दण्डका अपराधी सिद्ध करनेका षड्यन्त्र रचते हैं। दूसरी ओर चित्तरंजनदास-जैसे वकील हैं, जो रात-दिन परिश्रम करके उन्हें निरपराध प्रमाणित करनेमें अपना धन, समय और स्वास्थ्यतक बलिदान कर देते हैं। एक ओर बार्ली-जैसे न्यायाधीश हैं, जो अभियुक्तके वकीलद्वारा अभियोक्ताके गवाहसे प्रश्न कियेपर क्रुद्ध हो जाते हैं और उसे बैठ जानेका हुक्म देते हैं और दूसरी ओर बीचक्रैफ्ट-जैसे सच्चे न्यायाधीश हैं, जो हर प्रकारके धर्म या देशके पक्षपातको छोड़कर न्याय करते हैं। अतः बुद्धने कहा है—

> न तेन होति धम्मट्ठो येनत्थं सहसा न ये।
> यो च अत्थं अनत्थं च उभो निच्छेय्य पण्डितो ॥
> असाहसेन धम्मेन समेन नयती परे।
> धम्मस्स मेधवी धम्मट्ठोति पवुच्चति ॥
>
> (धम्मपाद २५६, २५८)

पक्षपात आदिके वशीभूत होकर सत्यासत्यका विचार किये बिना जो निर्णय करता है, वह सच्चा न्यायाधीश नहीं होता। जो पण्डित सत्य और झूठ दोनोका विचार करके पक्षपातरहित होकर न्याय करता है, वही धर्मकी रक्षा करनेवाला सच्चा न्यायाधीश कहा जाता है।

प्रह्लाद

केशिनी नामकी एक रूपवती कन्याके साथ विवाहके उद्देश्यसे सुधन्वा नामक ब्राह्मण और राजा प्रह्लादके पुत्र विरोचनमें विवाद हुआ। दोनो अपने-आपको श्रेष्ठ मानते थे। दोनोने बाजी लगायी कि जो श्रेष्ठ हो, वह दूसरेके प्राण ले ले। वह विवाद निर्णयार्थ राजा प्रह्लादके पास पहुँचा। प्रह्लादने पुत्रके मोहको छोड़ते हुए पक्षपातरहित होकर निर्णय दिया कि सुधन्वा विरोचनसे श्रेष्ठ है। सुधन्वा विरोचनके पिता प्रह्लादके इस पक्षपातरहित निर्णयको सुनकर प्रसन्न हुआ। उसने विरोचनको जीवन-दान दे दिया।

वही सच्चा न्याय है, जिसमें पुत्र और प्रजामें कोई भेद नहीं किया जाता।

गयासुद्दीन

दिल्लीका बादशाह गयासुद्दीन एक बार तीर चलानेका अभ्यास कर रहा था। अचानक एक तीर लक्ष्यसे चूककर एक बालकको लगा और वह मर गया। बालककी माता दिल्लीके प्रधान काजी सिराजुद्दीनके पास रोती हुई गयी। काजीने उसे दूसरे दिन न्यायालयमें उपस्थित होनेको कहा।

काजीने बादशाहके पास संदेश भेज दिया कि उनके विरुद्ध हत्याका अभियोग है, अतः वे न्यायालयमें उपस्थित हों। सुल्तान गयासुद्दीन साधारण वेशमें अदालतमें उपस्थित हुआ। काजीने उनका कोई सम्मान नहीं किया, इसके

विपरीत उन्हें साधारण अपराधीके समान खड़ा रहनेको कहा। सुल्तान शान्त खड़े रहे। उन्होंने अपना अपराध स्वीकार किया, बालककी मातासे क्षमा माँगी और उसे बहुत-सा धन देनेका वचन दिया। बालककी मातासे राजीनामा लिखवाकर सुल्तानने काजीको दे दिया।

यह सब हो जानेपर काजी न्यायासनसे उठा और आगे बढ़कर उसने सुल्तानको सलाम किया। बादशाहने अपने वस्त्रमें छिपी एक छोटी तलवार दिखाते हुए कहा—'काजीजी! आपकी आज्ञासे मैं न्यायका सम्मान करने और आपकी परीक्षा करने अदालतमें आया हूँ। यदि मैं देखता कि आप मेरे डरसे तनिक भी न्यायसे विचलित होते तो यह तलवार आपकी गर्दन उड़ा देती।'

काजी सिराजुद्दीनने अपने न्यायालयके पास रखी एक बेंतको उठाकर कहा—'जहाँपनाह! यह अच्छा ही हुआ कि आपने न्यायालयका सम्मान किया। यदि आप तनिक भी विचलित होते तो इस बेंतसे आपकी चमड़ी उधेड़ डालता, पीछेसे चाहे आप फाँसी ही क्यों न दे देते।'

सुल्तान उसे सुनकर प्रसन्न हुआ। उन्होंने कहा—'मुझे ऐसे न्यायाधीशपर गर्व है। वही सच्चा न्यायाधीश है, जिसके लिये राजा और प्रजा समान हैं।'

× × × ×

न्यायमें सत्यान्वेषण

आजकल न्यायालयोंमें न्यायाधीश जो निर्णय करते हैं, वह वादी-प्रतिवादियोंके वक्तव्यों, तत्सम्बन्धी साक्षियों और उनपर हुए वकीलोंके तर्क-वितर्कोंके आधारपर ही करते हैं। परंतु इन अभियोगोंमें प्रायः दोनो ही पक्षोंमें कुछ-न-कुछ असत्य रहता है और जब एक पक्ष सचाईपर होता है तब दूसरे पक्षके वकील अपनी धन-प्राप्तिके लोभमें उसे असत्य प्रमाणित करनेके लिये ऐसे विलक्षण तर्क उपस्थित करते हैं कि जिससे न्यायाधीशके लिये उनमेंसे सत्यको ढूँढ़ निकालना असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य हो जाता है। यदि वकील सच्चे पक्षका ही समर्थन करनेका व्रत लेते और न्यायाधीश सच्चे हृदयसे सत्यकी खोज करनेका प्रयत्न करें तो सत्यका पता चलाना असम्भव नहीं है। सत्यका अन्वेषण करनेवाले ऐसे अनेक न्यायाधीशोंके उदाहरण मिलते हैं।

विक्रमादित्य

विक्रमादित्य मालवा देशके एक बहुत प्रतापी न्यायप्रिय राजा हो गये हैं। इनकी राजधानी उज्जैन थी। भारतमें जो विक्रम-संवत् आजकल प्रचलित है, उसके ये ही प्रवर्तक माने जाते हैं। इनके न्याय और पराक्रमकी कथाएँ भारतमें घर-घरमें बहुत आदरके साथ कही और सुनी जाती हैं।

इनके राज्यके एक ग्राममें दो स्त्रियाँ रहती थीं, जिनमें एकका नाम था धर्मवती और दूसरीका था दुर्मति। इन दोनोंमें परस्पर मेल-जोल था। समय आनेपर धर्मवतीके पुत्र उत्पन्न हुआ और दुर्मतिके कन्या। दुर्मतिने जब यह सुना कि धर्मवतीके पुत्र उत्पन्न हुआ है, तब उसे बहुत दुःख हुआ और साथ ही ईर्ष्या भी। उसने किसीको यह नहीं बतलाया कि उसके कन्या हुई है। उसने यही घोषित किया कि उसके भी पुत्र ही हुआ है। एक दिन अवसर पाकर, जब कि धर्मवती घरसे कहीं बाहर गयी हुई थी, दुर्मतिने उसके पुत्रका अपहरण कर लिया और अपनी कन्याको समीपके एक ग्राममें अपनी सखीके पास भिजवा दिया। धर्मवतीने जब अपने पुत्रको घरपर न देखा, तब वह रोती-रोती इधर-उधर खोजती फिरती रही। जब वह दुर्मतिके घर पहुँची, तब उसने अपने पुत्रको देखकर कहा कि 'यह तो मेरा पुत्र है।' परंतु उसके कथनपर किसीको विश्वास नहीं हुआ। विवाद बढ़ा और निर्णयार्थ विक्रमादित्यके पास पहुँचा। विक्रमादित्यने दोनो स्त्रियोंके वक्तव्योंको सुना, किंतु वे कुछ भी निर्णय न कर सके। उन्होंने उनके भीतरी भावोंका पता चलनेके लिये यह निर्णय घोषित किया कि इनके वक्तव्योंसे ज्ञात होता है कि यह दोनोका पुत्र है, अतः इसके दो टुकड़े करके दोनोंमें बराबर बाँट दिये जाने चाहिये। उन्होंने एक सप्ताह आगेकी तिथि निश्चित करके उस दिन उन्हें न्यायालयमें उपस्थित होनेका आदेश दिया। उसने उनके लिये वहाँ पृथक्-पृथक् ठहरनेका प्रबन्ध करा दिया और इस बीचमें बालकको अपने राज्यकी ओरसे एक परिचारिकाकी देखभालमें रखवा दिया।

विक्रमादित्यने एक गुप्तचर स्त्रीको उनका भेद लेनेके लिये नियुक्त किया। वह गुप्तचर स्त्री दुर्मतिके पास गयी। उसने भोजन-वस्त्र आदिसे उसकी सहायता की और उसके साथ खूब घुल-मिलकर बातें करने लगी। एक दिन उसे प्रसन्न मुद्रामें देखकर गुप्तचरीने पूछा 'बहिन! आज बहुत प्रसन्न हो, क्या बात है।'

दुर्मतिने कहा—'यहाँके राजा बहुत अच्छे हैं। उन्होंने बहुत अच्छा न्याय किया है।' गुप्तचरीने पूछा—'राजाने क्या न्याय किया है, बहिन?' दुर्मतिने कहा—'राजाने यह न्याय किया है कि अमुक तिथिको वह बालक दो टुकड़ोंमें बाँट दिया जायगा।'

गुप्तचरी—'तब इसमें अच्छी बात क्या है, बहिन?'

दुर्मति—'बहिन! मुझसे यह नहीं देखा जाता कि मेरे केवल कन्या रहे और उसके पुत्र हो जाय। इस पुत्रके कट जानेपर मेरे तो कन्या रहेगी ही, पर उसके पुत्र नहीं रहेगा। इसीसे मुझे प्रसन्नता है।'

गुप्तचरीने वार्तों-बार्तोंमें यह भी पता चला लिया कि इसकी कन्या किस ग्राममें और किस स्त्रीके पास है और यह सारा समाचार विक्रमादित्यको सुनाया। राजाने गुप्तरूपसे अपने कर्मचारी भेजकर उस कन्याको और जिस स्त्रीके पास वह थी, उसे बुलवा लिया और दुर्मतिसे अलग ठहरा दिया।

वह गुप्तचरी धर्मवतीके पास गयी। उसने उसे भी भोजन आदिसे यथेष्ट सुविधाएँ दिलायीं। परंतु उसने देखा कि धर्मवती रात-दिन रोती ही रहती है। गुप्तचरीने कहा, 'बहिन! रात-दिन क्यों रोती रहती हो? यदि खान-पान आदिमें कोई कमी हो तो बतलाओ, मैं अभी पूरा किये देती हूँ।'

धर्मवतीने कहा—'बहिन! बहुत दिनोंकी प्रतीक्षाके बाद पुत्रका सुख देखा था। पुत्र होते ही पंद्रह दिन बाद इसका पिता परलोक सिधार गया। अब पुत्र भी परलोक जा रहा है। अब तो मेरे सामने अँधेरा-ही-अँधेरा है। रोनेके सिवा और कोई चारा नहीं। ऐसा जान पड़ता है कि पुत्रकी लाश और मेरी लाश एक ही चितापर साथ-साथ जलायी जायगी।' गुप्तचरीने यह समाचार भी राजाको दे दिया।

निश्चित तिथि आनेपर दुर्मति और धर्मवती दोनो राज-सभामें उपस्थित हुईं। बालक भी वहाँ लाया गया। एक जल्लाद हाथमें तलवार लिये बालकके पास खड़ा था। विक्रमादित्यने दुर्मतिको बुलाकर पूछा—'कहो, तुम्हें कौन-सा भाग चाहिये?'

दुर्मतिने उत्तर दिया—'दायाँ पैर, दायीं छाती, दायाँ हाथ, दायाँ कान और सिरका दायाँ भाग।'

राजाने धर्मवतीसे भी यही प्रश्न किया।

धर्मवतीने रोते-रोते कहा—'राजन्! मुझे कोई भी भाग नहीं चाहिये। यह पुत्र आप इसे ही दे दें। जीवित रहा तो मैं कभी-कभी इसका मुख देखकर नेत्रोंको तृप्त कर लिया करूँगी। यही मेरे लिये पर्याप्त है। यदि इसके दो टुकड़े ही करने हों तो इससे पहले मेरे शरीरके दो टुकड़े कर दीजिये।'

यह कथन सुननेके अनन्तर राजाने उस गुप्तचरीको बुलाया। गुप्तचरीने दुर्मतिके साथ जो बातचीत हुई थी, वह सब सुना दी। उसी समय उस कन्याको और उसकी उस परिचारिकाको भी, जो कि दुर्मतिकी सखी थी, सभामें उपस्थित किया गया।

परिचारिकाने राजाके भयसे सभामें सत्य-सत्य कहा कि 'यह कन्या दुर्मति की है, जो उसने पालन-पोषण करनेके लिये मेरे पास भिजवायी है।' विक्रमादित्यने निर्णय दिया कि धर्मवतीके हृदयमें बालकके प्रति मातृ-स्नेह है और यह पुत्र इसीका है। दुर्मतिकी यह कन्या है, पुत्र नहीं है। इसने उसका अपहरण किया है। अतः राजाने वह पुत्र धर्मवतीको दिला दिया और दुर्मतिको आर्थिक दण्ड देकर भविष्यमें वैसा न करनेकी चेतावनी दी। यह है न्याय!

कश्मीरनरेश यशस्करदेव

विक्रमीय दशम शताब्दीमें कश्मीरके सिंहासनपर महाराज यशस्करदेव शासन करते थे। एक बार जब वे सभामें बैठे थे, तब पहरेदारने आकर सूचना दी कि एक मनुष्य द्वारपर बैठा है और भूखो मरकर प्राण देनेका निश्चय किये हुए है। महाराजने उसको बुलवाकर कारण पूछा। उस व्यक्तिने कहा, 'महाराज! मैं इसी नगरका रहनेवाला एक व्यापारी हूँ। व्यापारमें घाटा होनेके कारण मुझे अपना मकान और सब सम्पत्ति बेच देनी पड़ी। परंतु मैंने अपना मकानका एक भाग जिसमें कुआँ है और सीढ़ी है, अपने लिये रख लिये थे। मैं व्यापार करने विदेश चला गया तो मेरे पीछेसे उस मकानको भी छीन लिया गया और मेरी स्त्री एवं बच्चोंको वहाँसे निकाल दिया गया। मैंने न्यायाधीशोंको सच-सच समाचार दिया तो किसीने कुछ भी नहीं सुना। अतः अब मैं आपकी शरणमें आया हूँ। मुझे आपकी न्यायप्रियतामें विश्वास है। राजाने न्यायाधीशोंको और उस नागरिकको, जिसने मकान लिया था, बुलाकर यह समाचार कहा। न्यायाधीशोंने उत्तर दिया कि जैसा प्रतिज्ञापत्रमें लिखा है, हमने तो वैसा ही निर्णय दिया है। तब राजाने बातों-बातोंमें चतुराईसे उस नागरिककी, जिसने मकानको मोल लिया था, अँगूठी ले ली। अँगूठीको उसके घरपर भेजकर उसकी बहीको मँगवा लिया। राजाने बहीको पढ़ा तो उसमें १०००) राजलेखकको दिये लिखे थे। राजाने न्यायाधीशोंसे पूछा कि इस साधारणसे क्रय-विक्रयके लिये राज-लेखकको १०००) देनेका क्या अर्थ है? क्या यह घूस नहीं है? उसने मकानके विक्रयपत्रको सावधानीसे पढ़ा तो पता चला कि 'सोपान-कूपरहित गृह' के स्थानपर राजलेखकने 'सोपान-कूपसहित गृह' बना दिया था। राजाने न्यायालयके लेखकको सभाभवनमें बुलवाया। वह लज्जित था और उसने यह स्वीकार कर लिया कि उसीने 'र' के स्थानपर 'स' बनाकर यह पापकर्म किया है।

राजाने वह मकान, कूप और सोपान उस व्यक्तिको दिलवा दिये और राजलेखक एवं मकान मोल लेनेवाले उस नागरिकको दण्ड दिया।

श्रीबंकिमचन्द्र चटर्जी

न्यायाधीश बंकिमचन्द्र चटर्जी बंगालके रहनेवाले थे। अंग्रेजी सरकारकी नौकरी करते हुए भी देशभक्तिकी और देशको बन्धनमुक्त करनेकी अग्नि प्रचण्ड वेगसे इनके भीतर

जला करती थी। राष्ट्रिय गीत 'वन्दे मातरम्', जिसपर सहस्रों देशवासियोंका बलिदान हो चुका है, इन्हींका निर्माण किया हुआ है। ये एक उच्चकोटिके लेखक और कवि भी थे। श्रीअरविन्दने इन्हें 'भविष्यदर्शी ऋषि' कहा है।

बंकिमचन्द्र चटर्जी बर्दवानमें मैजिस्ट्रेट थे। एक बार एक ग्रामीण ब्राह्मणका पुत्र कलकत्तेमें पढ़ता था। कलकत्तेसे उस ब्राह्मणको समाचार मिला कि उसका पुत्र बहुत रुग्ण है। दरिद्र ब्राह्मण बहुत घबराया और पैदल कलकत्तेके लिये चल पड़ा। मार्गमें रात हो जानेपर उसने एक ग्राममें ठहरनेका निश्चय किया।

उसने एक मनुष्यके द्वारपर जाकर अपना परिचय देकर रातभर विश्राम करनेकी अनुमति माँगी, किंतु नहीं मिली। वह और भी अनेक व्यक्तियोंके पास पहुँचा, किंतु सभीने मना कर दिया। बेचारा ब्राह्मण बड़ी कठिनाईमें पड़ा। एक ओर पुत्रकी चिन्ता, दूसरे मार्गकी थकावट और फिर भूख-प्यास और गाँववालोंका यह अमानुषिक व्यवहार! रात हो जानेके कारण आगे बढ़ना भी उसके लिये सम्भव नहीं था। एक व्यक्तिको कुछ दया आ गयी। उसने उसे अपने यहाँ ठहरा लिया। परंतु उसे यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ कि इतने बड़े ग्राममें केवल एक ही व्यक्ति उसे घरपर ठहरानेवाला मिला और वह भी बहुत कठिनाईसे। ब्राह्मणने अपने आतिथ्यकारसे इसका कारण पूछा। उसने बतलाया कि कुछ दिनोंसे हमारे ग्राममें अनेक यात्री आये और प्रायः सभी रात्रिमें कुछ-न-कुछ चुराकर ले गये। इसलिये हमलोगोंने किसी राहगीरको आश्रय न देनेका निश्चय किया है।

ब्राह्मण भोजन करके लेट गया, किंतु पुत्रकी चिन्तामें उसे निद्रा न आयी। वह करवटें बदलता रहा। मध्य रात्रिमें उसे अचानक बाहर कुछ आहट सुनायी पड़ी। वह उठ बैठा। उसने बाहर निकलकर देखा कि एक व्यक्ति सन्दूक सिरपर उठाये भागा जा रहा है। उसे संदेह हुआ। वह चोर-चोर चिल्लाता हुआ उसके पीछे भागा और उसे पकड़ लिया। संदूक लेकर भागनेवाला एक सिपाही था। सिपाहीने सन्दूकको रख दिया और चोर-चोर कहकर उल्टे ब्राह्मणको ही पकड़ लिया। ग्रामके बहुत-से व्यक्ति इकट्ठे हो गये। उन्होंने जब देखा कि पुलिसका सिपाही एक अज्ञात व्यक्तिको पकड़े हुए है और सन्दूक पासमें पड़ा है, तब उन्होंने उस ब्राह्मणको ही चोर समझा। उसे थानेमें ले जाया गया और उसपर अभियोग चला।

यह अभियोग बंकिमचन्द्र चटर्जीके न्यायालयमें गया। दोनोके वक्तव्यको सुनकर बंकिमबाबू यह तो ताड़ गये कि ब्राह्मण निर्दोष है और सत्य बोल रहा है, किंतु निर्णय देनेके लिये किसी बाहरी प्रमाणकी आवश्यकता थी। उन्होंने उस दिनकी कार्यवाही स्थगित कर दी।

दूसरे दिन न्यायालयमें एक व्यक्तिने आकर मैजिस्ट्रेट बंकिमबाबूसे कहा कि 'तीन कोसकी दूरीपर एक हत्या हो गयी है, लाश वहाँ पड़ी है।' बंकिमबाबूने तुरंत कटघरेमें खड़े उस पुलिसके सिपाही और ब्राह्मणको आदेश दिया कि 'तुम दोनो जाकर उस शवको अपने कंधोंपर उठाकर ले आओ।'

दोनो बतलाये हुए स्थानपर पहुँचे। वहाँ शव बँधा हुआ रक्खा था। दोनोंने उसे अपने कंधोंपर उठाया और चल पड़े। पुलिसका सिपाही हट्टा-कट्टा था, मौजसे ला रहा था। पर ब्राह्मण बहुत दुखी तथा पुत्रकी चिन्ता और इस विपत्तिके कारण रो रहा था। उसे रोते देखकर सिपाहीने हँसते हुए कहा—'कहो पंडितजी! मैंने तुमसे पहले ही कहा था कि मुझे चुपकेसे ले जाने दो, नहीं तो विपत्तिमें पड़ोगे। तुम नहीं माने, अब फल भोगो अपनी करनीका; अब कम-से-कम तीन सालकी जेलकी हवा खानी पड़ेगी।'

ब्राह्मण बेचारा अवाक् था। न्यायालयको स्थूल प्रमाण चाहिये। प्रमाणस्वरूप पुलिसमैन जो था, जिसने उसे पकड़ा था। ब्राह्मण रोता हुआ न्यायालयमें पहुँचा। न्यायालयकी आज्ञासे शव न्यायालयमें रक्खा गया और उसके बन्धन खोल दिये गये।

अब अभियोग प्रारम्भ हुआ। जिस समय दोनो पक्षोंके वक्तव्य हो चुके तो एक विचित्र घटना घटी। वह शव उन वस्त्रोंको उतारकर खड़ा हो गया और उसने मार्गमें हुई पुलिसके सिपाही और ब्राह्मणकी बातोंको कहा। उसकी बातें सुनकर बंकिमचन्द्रने ब्राह्मणको निरपराध घोषित किया और पुलिसके सिपाहीको चोरी करनेका अपराधी ठहराकर दण्ड दिया।

बंकिमबाबूने चोरीका पता चलानेके लिये स्वयं यह युक्ति निकाली थी और एक विश्वस्त व्यक्तिको मृतका अभिनय करनेके लिये नियुक्त किया था।

यदि सभी न्यायाधीश सच्चे हृदयसे सत्यकी खोज करनेका प्रयत्न करें तो अधिकांश अभियोगोंमें सत्यका पता चल सकता है और सच्चा न्याय हो सकता है।—भक्तरामशरणदास

पढ़ो, समझो और करो

(१)

परार्थ आत्मत्याग

आजसे पाँच वर्ष पहलेकी बात है—मैं उन दिनों आगरामें था। 'क्रान्ति'के स्वनामधन्य सम्पादक श्रीधर्मेन्द्रजी क्रान्तिकी पेशीसे लौटते हुए राजामण्डी स्टेशनपर टहल रहे थे, उसी समय मथुरानिवासी एक ब्राह्मण, जो पत्नीके स्वर्गवासके पश्चात् उसके फूल प्रयागमें प्रवाहित करके अपनी चौदह वर्षीय कन्याके साथ उसी स्टेशनमें मथुरा जानेवाली गाड़ीकी प्रतीक्षामें थे, अपना टिकट दिखाते हुए श्रीधर्मेन्द्रजीसे बोले, 'बाबूजी! मथुरा जानेवाली गाड़ी कब मिलेगी?' आपने बड़े सरल-स्वभावसे कहा, 'आपकी गाड़ी (तीसरी लाइन-पर खड़ी ट्रेनकी ओर संकेत करते हुए) तो सीटी दे चुकी है, चलनेहीवाली होगी। उस स्थानसे प्लेटफार्म बदलनेके लिये पुलसे होकर जाना पड़ता था। पुल दूर था, अतएव वे प्लेटफॉर्मसे उतर पटरी क्रास करते हुए अपनी गाड़ीतक पहुँचनेका प्रयास करने लगे। पिताके हाथमें बिस्तरेका एक बंडल था और कन्याके हाथमें एक साधारण झोला। पिता आगे थे। वे दोनो लाइनें पारकर अपनी गाड़ीतक तो पहुँच गये, किंतु पुत्री दूसरी पटरीके मध्य जाकर भौंचकी-सी खड़ी रह गयी। चूँकि पहली पटरीपर एक गाड़ी खड़ी थी और तीसरी पटरीपर मथुरा जानेवाली गाड़ी, इसलिये दूसरी पटरीपर आनेवाली मालगाड़ी प्लेटफार्मसे न दिख सकी, वास्तवमें कन्या जिस पटरीके बीच खड़ी थी, उसीपर आती गाड़ी देखकर सुध-बुध खो भौंचकी-सी रह गयी। श्रीधर्मेन्द्रजीने गरजकर कहा—'बेटी! बढ़ जाओ या लौट आओ।' किंतु उसे ज्ञान कहाँ? रुकनेवाली गाड़ीका इंजन बढ़ता ही गया। देखते-ही-देखते धर्मेन्द्रजी अपनी जान हथेलीपर ले प्लेटफार्मसे छलाँग मार कूद ही तो पड़े। उन्होंने चाहा था कि पुत्रीको फेंककर स्वयं भी पटरी पार कर जायँगे, किंतु जैसे ही वे कन्याके पास कूदकर पहुँचे, कन्याने उन्हें इतने जोरसे जकड़ लिया कि उनकी सारी शक्ति वहीं क्षीण हो गयी। फिर भी उन्होंने कन्याको पटरीके बाहर तो फेंक ही दिया, किंतु स्वयंको न सँभाल सके और इंजनसे टकराकर बेहोश हो पटरीके पार गिर पड़े। अबतक इंजन पर्याप्त धीमा हो चुका था। इस घटनाको सभी अवाक् खड़े देखते रह गये, पुलिस और अपार जन-भीड़के साथ मैं भी जा घुसा। वे ब्राह्मण देवता भी पकड़ लिये गये, जेबसे निकले हुए कागजोंको देखकर इन्सपेक्टर पुलिसने बताया कि ये क्रान्ति-सम्पादक श्रीधर्मेन्द्रजी हैं। 'क्रान्ति' का ग्राहक होने तथा सम्पादक बन्धु होनेके कारण मेरा हृदय एकाएक भर आया। इसके प्रथम मैंने उनकी कीर्ति कई स्थलोंपर सुनी थी; किंतु उस दिन उनका प्रत्यक्ष सराहनीय एवं साहसी कार्य देखकर मैं बड़ा ही प्रभावित हुआ। वे तत्काल चिकित्सालय भेजे गये। धन्य हैं ये और धन्य हैं वे ब्राह्मण-देवता भी, जिन्होंने चिकित्सालयमें रहकर अपनी कन्या तथा शेष परिवार-को मथुरासे बुलाकर उनकी भरपूर सेवा की। मुझे भी उनकी सेवाका तभी कुछ अवसर हाथ लगा। योग्य चिकित्सकके महाप्रयासपर जब वे कुछ होशमें आये, बड़ी प्रसन्नता हुई डाक्टरको अपनी कर्तव्य-परायणतापर।

वे अब स्वस्थ तो अवश्य हैं, किंतु आज भी उस चोटके फलस्वरूप वे जोरसे बोल नहीं पाते, तेजीसे चल नहीं सकते, मस्तिष्क-शक्ति, नेत्र-ज्योति एवं दन्तावलियोंपर बहुत ही आघात पहुँचा है। अब वे बहुत ही शान्ति-प्रिय, गम्भीर एवं एकान्तप्रिय बनते जा रहे हैं। ईश्वरसे हम उनके दीर्घजीवी होनेकी कामना करते हैं। धन्य है उनका जीवन!

—कृष्णचन्द्र पालीवाल

(२)

नारी—नारायणी

शारदा वहिन हमारी पड़ोसी हैं। क्रूर विधाताने अठारह वर्षकी सुकुमार अवस्थामें ही उनके सुहागको छीन लिया। जीवनमें लगी हुई ठोकरोंसे उनमें आश्चर्यजनक सहनशीलता आ गयी है। उनके एक पुत्र था। पुत्रकी भावी आशामें वे दुःखके जहरकी घूँट हँसते-हँसते पी जातीं। परंतु ईश्वरने उनके इस आशादीपको भी बुझा दिया। उनका पुत्र दुर्घटनामें मारा गया। उन्होंने ट्रकके ड्राइवरकी जिस प्रकारसे रक्षा की, वह हमारे समाजके लिये उज्ज्वल गौरवकी वात है। यह उज्ज्वल गाथा इस प्रकार है—

उत्तरायण वालकोंका प्रिय उत्सव है, उस दिन वालकोंका पतंगके पीछे दौड़नेका वावलापन शरावके नशेके समान बड़ा तीव्र बन जाता है।

नीले आकाशमें दो बड़े सुन्दर पतंगोंमें पेच लग गया। दोनों पक्षके पतंग उड़ानेवाले सावधानीसे डोरा खींच रहे थे। मृत्युके समीप पहुँचे हुए मनुष्यकी जीवन-डोरीके समान पतंगोंका डोरा अव टूटा तब टूटा हो रहा था।

एक पतंग कटा, तुरंत पतंगके पीछे बच्चे दौड़ने लगे और 'काटो·······काटो·······पकड़ो—पकड़ो'का शोर मचाते हुए आगे बढ़ने लगे। दीपक (शारदा वहिनका पुत्र) आकाशमें पतंगकी ओर देखता हुआ दौड़ा जा रहा था। दौड़ता-दौड़ता वह सड़कपर आ पहुँचा। सामनेसे मालसे भरी हुई एक ट्रक पूरे वेगसे आ रही थी। ड्राइवरको भी ध्यान नहीं रहा। जब ड्राइवरका ध्यान दीपककी तरफ गया, तव दीपक और ट्रकके बीचमें पाँच-सात फुटका ही अन्तर रह गया था। ड्राइवरने ब्रेक लगाया परंतु ब्रेक कावूमें नहीं आ सका और दीपककी पतंग प्राप्त करनेकी अभिलाषा अधूरी ही रह गयी। ट्रक उसके ऊपरसे निकल गयी!

मुकदमेके फैसलेका दिन था। सब लोग शारदा वहिनका बयान सुननेके लिये आतुर थे। वे बयान देनेवालोंके कटघरेमें आकर खड़ी हो गयीं और कभी ड्राइवरकी ओर तथा कभी न्यायाधीशकी ओर देखने लगीं। उनका मन विचारके झूलेपर झूल रहा था। लंबे विचारके वाद उनके होठ खुले। उनके शब्दोंने नारी-हृदयका परदा उठा दिया। ·······'मैं गरीव विधवा हूँ, मेरा आधार मेरे उगते हुए बच्चेपर ही था। दीपक मेरा जीवन था, मेरा श्वास था। पर बहुत वार मनुष्यको जो अच्छा लगता है, वह ईश्वरको कहाँ लगता है? ईश्वरको कुछ दूसरी ही वात अच्छी लगी और उन्होंने मेरे बच्चेको छीन लिया। मेरे एकमात्र आधारके चले जानेसे मैं निराधार हो गयी। जैसे मेरा आधार मेरे दीपकपर था, वैसे ही इन भाई (ड्राइवर) के कुटुम्बका आधार भी इन भाईपर ही होगा। इनके भी स्त्री होगी, छोटे बच्चे होंगे, परंतु इनको यदि जेलमें ढकेल दिया जाय तब? तब इनका कुटुम्ब निराधार हो जायगा। मुझे निराधारताका अनुभव है।

'जो कुछ बना, उसमें तो मेरे भाग्यका ही दोष है। इन भाईको जेलमें ढकेल देनेसे क्या मुझे मेरा दीपक वापस मिल जायगा? कभी नहीं। फिर मैं किस लिये इनके कुटुम्बको निराधार बनाऊँ। किसलिये इतना बखेड़ा? मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ आप इनको छोड़ दें।'

शारदाके ये वाक्य सुनकर न्यायाधीशतक आश्चर्यमें डूब गये। सब इस नारीको नारायणीके रूपमें देखने लगे। शारदा वहिन अपनी जवानीमें पक्की रहीं।

अन्तमें ड्राइवरको छोड़ दिया गया। एक नारी-हृदयको संतोष मिला। इस नारायणीको सभीने मन-ही-मन नमस्कार किया।

—मधुकान्त भट्ट

(३)

आजके आदर्श संत

आधुनिक युग भोगप्रधान है, किंतु इस भोग-प्रधान युगमें भी त्यागका जीवन अपनानेवाले दो-चार महापुरुषोंका अस्तित्व इस ओर संकेत करता है कि सनातन जीवनके मूल्य कभी पूर्णतया लुप्त नहीं होते। फ्रांससे एक ऐसे ही महापुरुषका आगमन इस देशमें हुआ है। कलकत्तेमें अपने एक भाषणके तारतम्यमें श्री पायरने अपने त्यागमय जीवनके अनुभवोंपर प्रकाश डालते हुए 'चीथड़ा सम्प्रदाय' की कहानी जनताके सामने रक्खी है। श्रीपायर एक धनी पिताके पुत्र थे और उनके पिता एक प्रसिद्ध मिलमालिक थे। केवल उन्नीस वर्षकी आयुमें श्रीपायरने अपने पितासे अपना उत्तराधिकार माँग लिया। पिताने पुत्रके अनुरोधको स्वीकार किया और उनके हिस्सेकी पैतृक सम्पत्ति उन्हें दे दी। श्रीपायरने इस विराट् पैतृक सम्पत्तिको केवल दो घंटोंमें गरीबोंमें बाँट दिया। इसके बाद उन्होंने त्याग और सेवाका जीवन शुरू किया। जीवन-निर्वाहके लिये वे सड़कपर चीथड़े बिनकर उन्हें बेच लेते थे और उदरपोषणके बाद जो कुछ रहता था, उसे गरीबोंमें बाँट देते थे। इस कार्यने उन्हें एक नयी प्रेरणा प्रदान की। उन्होंने धीरे-धीरे एक दलकी स्थापना की और उसका नाम रखा चीथड़ा-सम्प्रदाय। इस दलके सदस्य सड़कोंपर चीथड़े बिनकर बेचने लगे और इस प्रकार प्राप्त होनेवाले धनको दरिद्र-नारायणकी सेवामें लगाने लगे। धीरे-धीरे इस आन्दोलनने इतना सुन्दर रूप लिया कि अच्छे-अच्छे लोग इस सेवा-कार्यकी ओर आकृष्ट होने लगे। भारतके लोगोंको सम्भवतः इस बात-पर विश्वास करना कठिन होगा कि चीथड़े बिनकर इस दलने फ्राँसमें गरीबोंके लिये पिछले कुछ वर्षोंमें २२५० सुन्दर मकानोंका निर्माण किया है। यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि सद्भावना होती है तो कोई भी कार्य असम्भव नहीं होता। फ्रांसमें इस संतका कितना बड़ा प्रभाव है—इसका एक प्रमाण यह है कि हालमें ही इन्होंने रेडियोपर जनतासे गरीबोंके लिये धन अथवा वस्त्रकी एक अपील की थी। इस अपीलमें उन्होंने एक होटलका पता दिया था, जहाँ उसी दिन उन्हें कुछ दान प्राप्त हुआ था। केवल तीन सप्ताहके अंदर होटल दानके रूपमें आनेवाले पैकटों तथा रुपयेके लिफाफोंसे भर गया था। इन तीन सप्ताहोंमें दानके रूपमें जो कुछ आया, उसका मूल्य पाँच करोड़ रुपयेके लगभग था। यह छोटी-सी घटना इस बातका एक प्रमाण है कि त्यागी मनुष्यके प्रति जनता आज भी आकर्षित होती है। आवश्यकता केवल इतनी है कि उसके मनमें वस्तुतः लोक-कल्याणकी भावना हो और उसके विचारों तथा आचरणमें वास्तविक पवित्रता हो। इस साधनाके आगे अन्य सारी साधनाएँ हतप्रभ हो जाती हैं। कोई कारण नहीं कि जो प्रयोग फ्रांस-जैसे भोग-प्रधान देशमें सफल हुआ, वह भारतमें सफल न हो। यहाँ इस प्रकारके प्रयोगके लिये अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल परिस्थितियाँ हैं। आवश्यकता केवल इतनी ही है कि इस क्षेत्रमें श्रीपायर-जैसे पवित्र और लोकसेवारत व्यक्ति अग्रसर हों। [विश्वामित्र]

प्रेषक—वल्लभदास बिन्नानी

(४)

देवीकी दया

आजादी मिलनेपर क्वेटामें साम्प्रदायिक दंगे चल रहे थे। वहाँपर एक मुसलमान होटल-मालिकके यहाँ एक वफादार हिंदू नौकर था। उसका नाम था चोइथराम।

एक दिन कुछ दंगाइयोंने होटल-मालिक और उसकी बीवीको कुरान और सूअरकी शपथ दिलायी और चोइथरामको कत्ल करनेको कहा।

रातको होटल-मालिकने सोते हुए चोइथरामका काम-तमाम करनेका विचार किया। तब उसकी बीबीने उसे बहुत समझाकर कहा कि 'ऐसी बेसिर-पैरकी शपथ वास्तवमें शपथ नहीं कही जा सकती। तथा हर-एक मनुष्यका वास्तवमें धर्म अपने स्वामीभक्त नौकरकी रक्षा करनेका है, विश्वासघात करके उसको यमलोक भेजनेका काम तो जघन्य पाप है।' फिर भी मूढ़ होटल-मालिकके कानोंपर जूँतक नहीं रेंगी।

तब होटल-मालिककी बीबीने धर्म-संकट देख पतिसे नौकरके लिये चाय बनानेकी आज्ञा माँगी। पतिसे कहा कि 'मैं नौकरको मरते समय पहले चाय पिला दूँ, फिर आप नौकरको मृत्युके घाट पहुँचावें।' अब होटल-मालिक बिस्तरपर पड़ा सुस्ताने लगा।

मौका देखकर बीबीने चोइथरामको जगाकर उसे क्वेटासे नौ-दो ग्यारह हो जानेको कहा। वह भाग छूटा।

जोधपुर आनेपर चोइथरामने उस देवीके प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए बताया, 'मेरा जीवित-शरीर उस देवीकी ही दया है।'

(५)

व्यसनके बन्धनसे मुक्ति

रमणलाल हमारे पड़ोसी थे। सीढ़ीसे गिर जानेके कारण उनके छोटे लड़के निरंजनके पैरकी हड्डी टूट गयी थी। पायधुनीपर हाडवैद्यको दिखलाया तो उन्होंने तुरंत अस्पताल ले जानेकी राय दी।

रमणलाल सवा सौ रुपये मासिकके नौकर थे। उनकी घबराहटका पार नहीं रहा। अस्पतालका खर्च सहन करनेकी न उनकी स्थिति थी, न शक्ति!

परंतु डाक्टर देसाईके साथ उनकी कुछ जान-पहचान थी। (डाक्टर देसाई उनके मालिकोंके फेमिली डाक्टर थे।) वे तुरंत ही डा० देसाईके यहाँ पहुँचे और सारी बातें बतायीं। डा० देसाईने निरूको अस्पतालमें भर्ती कर दिया।

डा० देसाई सर्जन थे। वे नगरके बड़े अस्पतालमें काम करते थे। उनका हाथ ऑपरेशनपर इतना 'सेट' हो गया था कि जहाँ रोगीको यह पता लग जाता कि उसको डा० देसाईकी देख-रेखमें रखा गया है, वहीं उसका आधा रोग तो कम हो जाता। वे सर्जन होनेके साथ ही सज्जन भी थे। सोनेकी थालीमें लोहेकी कीलकी तरह मनुष्यमें सद्गुण होनेपर भी एकाध दुर्गुण भी होता ही है। डा० देसाई सद्गुणोंके सागर थे, परंतु उस सागरमें दुर्गुणका एक नन्हा-सा झरना भी बहता था। वह झरना था व्यसनका—सिगरेट उनके लिये प्राण थी। सिगरेटका व्यसन उनके साथ जोंककी तरह इस प्रकार चिपक गया था कि सिगरेटके बिना वे ऑपरेशन ही नहीं कर पाते।

आज निरूके ऑपरेशन होनेवाला था। निरूको सवेरे नौ बजे ऑपरेशन थियेटरमें ले जाया गया। बाहर बैठे हुए रमणलाल और उनकी पत्नीके कलेजे धक्-धक् कर रहे थे। 'अब क्या होगा?' का भाव उनके चेहरेपर स्पष्ट दिखायी दे रहा था। गहरी चिन्ताके बादलोंने उनके मुखका तेज हर लिया था। उनकी आँखें और कान 'ऑपरेशन थियेटर' की ओर लगे थे। ठीक सवा दस बजे डॉ० देसाई ऑपरेशन सम्पन्न करके बाहर निकले। उनके मुखपर विजयका स्मित फरक रहा था।

डॉ० देसाईने कहा—'रमण भाई! चिन्ता मत करो, ऑपरेशन अच्छी तरह हो गया है।' यह सुनकर रमणलालके शरीरमें चेतना आयी।

निरूको एक महीने बाद अस्पतालसे छुट्टी मिली!

× × ×

दो महीने पहले निरूके ऑपरेशनके समय रमणलालके चेहरेपर जैसा भाव था, वैसा ही भाव

आज भी उनके मुखपर छाया है। वे जल्दी-जल्दी डा० देसाईके यहाँ आये। डा० देसाई अखबार पढ़ रहे थे। रमणलालकी गम्भीर मुख-मुद्रा देखकर डा० देसाई भी विचारमें पड़ गये। रमणलालने कहा—'डाक्टर साहेब! निरूके पैरमें कुछ दिनोंसे सूजन आ रही है।'

रमणलालके घर आकर डाक्टरने निरूको देखा। कुछ देर विचार करके उन्होंने कहा—'रमणभाई! निरूको फिर अस्पतालमें भर्ती करना पड़ेगा।'

निरूको पुनः अस्पतालमें भर्ती किया गया। उसके पैरका एक्सरे लिया गया। फोटो देखकर डाक्टर गम्भीर हो गये। उन्होंने रमणलालको बुलाया और कहा—'रमणभाई! मेरे हाथसे कभी नहीं बन सकता, ऐसा काम इस बार बन गया है। निरू मेरी भूलका शिकार हो गया। मैं जब निरूका ऑपरेशन कर रहा था उस समय मेरी सिगरेटकी राख निरूके पैरके अंदर पड़ गयी थी। इसीलिये अब फिर ऑपरेशन करना पड़ेगा। प्रायश्चित्तरूपमें मैं आजसे सिगरेटको अपने जीवनमें सदाके लिये दूर कर रहा हूँ। और हाँ, मेरी भूल भी मुझे ही भोगनी चाहिये, अतः इस बारके ऑपरेशनका तथा अस्पतालका जितना खर्च होगा, उतना मैं दूँगा। चिन्ता मत करना।'

रमणलाल तो आश्चर्यसे देखते ही रह गये और मन-ही-मन कह उठे—'यह डाक्टर है या देवता?'

जब ऑपरेशन करके डा० देसाई ऑपरेशन थियेटरसे बाहर निकले, तब उनके मुखपर विजयका स्मित नहीं था, परंतु व्यसनके बन्धनसे छूटनेकी पहली सीढ़ीपर चढ़नेका आनन्द था।

—मधुकान्त भट्ट

(६)

पहलेसे बचानेकी व्यवस्था

बात ८ वर्ष पूर्वकी है, जब मेरे लघु भ्राता माध्यमिक विद्यालय बड़ोदियामें कक्षा ८ में अध्ययन करते थे। भगवान्‌की महान् कृपासे इनको भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा करना जन्मसे ही नियम-सा था। बड़ोदियेमें ये एक छोटे कमरेमें रहते थे, इनके साथ दो और साथी थे। बड़ोदियेमें स्थित श्रीदाऊजीके मन्दिरका दर्शन करना, मण्डली (सत्संग) में बैठना एवं धार्मिक पर्वोंपर कुछ सेवामें हाथ बँटाना आदि ये किया करते थे। एक बार रात्रिके समय जब ये सो रहे थे, तब अचानक ऊपर जमी हुई लकड़ियोंका ढेर खिसक गया और ऊपरसे सभी लकड़ियाँ गिर गयीं पर इसके कुछ समय पूर्व ही ये सोते हुए ऐसे घबराये हुए उठे, मानो इनको किसीने हाथ पकड़के अलग गिरा दिया हो। इनका वहाँसे अलग हटना हुआ और लकड़ियोंका गिरना हुआ। स्थान संकीर्ण होनेके कारण इन्होंने जलानेकी लकड़ियाँ इन्हीं लकड़ियोंसे पटाव-सा कर ऊपर जमा दी थीं। इनके सोनेके स्थान-पर एक टार्च रखी थी, वह लकड़ियोंसे बिलकुल चिपक गयी। उतनी आवाज होनेपर दो साथी जो दूर सो रहे थे, वे उठ आये। उन्होंने अत्यन्त घबराकर इनको आवाज दी, देखा तो बिलकुल आरामसे बाल-बाल बचे हुए बैठे हैं। सभीकी स्थिति अवाक्-सी हो गयी। यह प्रसंग मुझे सुनाते-सुनाते वे गद्‌गद हो गये। मैं भी बहुत प्रभावित हुआ कि भगवान् किस समय रक्षा करते हैं। यदि इनकी निद्रा न खुली होती तो इनका बचना असम्भव ही था। परंतु वहाँ तो बचनेकी व्यवस्था पहलेसे थी।

प्रेषक—पुरुषोत्तम पण्ड्या 'साहित्यरत्न'

(७)

अनजाने पापका बदला

पापोंके अपार समूहको लेकर जिस समय मैं कुम्भ-मेलेके लिये तैयार हुआ, उस समय पल-पलपर तामसी-वृत्ति अपना अधिकार बढ़ाती चली जा रही थी। प्रारम्भमें ही ऐसी-ऐसी अड़चनें खड़ी हो गयीं, जो कुम्भ-मेलेके प्रस्थानका अवरोधन करने लगीं। फिर भी

पाप-मोचनके लिये मैं चल पड़ा। कानपुर स्टेशनपर इतनी अधिक भीड़ थी कि उसे देख वहींसे लौटनेका इरादा करने लगा। किंतु स्नानकी प्रबल इच्छा जाग्रत् हो उठी और चार बजेके लगभग एक ट्रेनके दरवाजेपर खड़े-खड़े ही सङ्गमकी यात्राके लिये चल पड़ा। मनौरी स्टेशनके करीब कुछ जाटोंने मुझे डिब्बेसे नीचे उतरनेके लिये लाचार कर दिया। अतः उक्त स्टेशनपर मैं एक निराश्रितकी भाँति अन्धकारमें इधर-उधर टहलने लगा। इतनेमें एक भीड़ आयी और उसीके साथ मैं भी फिर उसी डिब्बेमें प्रविष्ट हो सका। इलाहाबाद स्टेशनपर गाड़ी रुकी और रात्रिके दो बजेके करीब यात्रियोंके विशाल समूहके साथ स्नानके लिये सङ्गम-तटपर रवाना हो गया।

अभी सवेरा होनेमें काफी देर थी। अस्तु, मैं गङ्गाके तटपर कम्बल ओढ़कर बैठ गया। सहस्रों यात्री स्नान करके लौट रहे थे, किंतु मेरे पाप मुझे स्नान करनेसे रोकते रहे और मैं घुटनोंमें सिर रखे सोता रहा। सूर्योदय होनेपर स्नान कर सका। इधर-उधर घूमता हुआ बाँध रोडके करीब खड़ा हुआ नागा-साधुओंका दृश्य देखता रहा।

इधर भीड़ बढ़ती गयी और नागा-साधुओंके जाते ही स्नानार्थी और स्नान करके जाते हुए मनुष्योंसे त्रिवेणी-क्षेत्र व्याप्त हो गया। मैंने अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी। कुछ आदमी तारके खम्भोंपर चढ़े जा रहे थे। कुछ भीड़से दबते हुए पुकार उठे—'मुझे बचाओ, मैं दब रहा हूँ।'

मैंने भी समझ लिया कि मेरी मृत्यु असमयमें आ गयी। यहाँ कोई मेरा साथी भी नहीं है, जो मेरे घरमें खबर कर सकेगा। अतः मैंने किलेके पास भूमिशायी हनुमान्‌जीसे जीवन-रक्षाकी प्रार्थना की।

भीड़में ठेल-पेल हो रही थी और मानव-समूह एक तरंगित सागरकी भाँति हिलोरें ले रहा था। मेरे समीप ही दस-बारह मनुष्य ढेर हो गये और अन्तमें मैं भी गिर पड़ा। उस समय मेरा बायाँ हाथ एक अधेड़ और शक्तिहीन मनुष्यकी गर्दनपर पड़ा। मैंने बिना उसकी परवा किये हुए उठ खड़े होनेके लिये पूरी शक्ति लगायी और भीड़को गिरनेसे रोकते हुए उठ खड़ा हुआ।

मेरे इस अनजाने पापने अपना रूप स्थिर कर लिया; क्योंकि मैंने केवल अपने जीवन-रक्षार्थ ही प्रयत्न किये थे। 'दूसरा मरे अथवा जिये' इसकी मुझे चिन्ता नहीं रही। सम्भव है वह आदमी उठ खड़ा हुआ हो, किंतु उसकी याद मुझे बराबर सताती रही और मेरा हृदय मुझे चुपके-चुपके कोसता रहा। यद्यपि मैं जान-बूझकर उसके ऊपर नहीं गिरा था, किंतु फिर भी अनजानेका यह पाप याद आनेपर सशंकित कर देता था।

कालान्तरमें मैं उसे बिल्कुल भूल गया। इधर मेरा एकवर्षीय लड़का चेचकके प्रकोपसे मर गया। मुझे हार्दिक दुःख हुआ।

मैंने अपने जीवनके पापोंपर एक विहंगम-दृष्टि दौड़ायी तो प्रयागके कुम्भ-मेलेवाले व्यक्तिकी स्मृति जाग उठी। कारुणिक भावनाओंसे हृदय भर गया। वह बालक बहुधा, जब मैं उसे गोद लेता था तो वह मेरी दाढ़ी और मूँछपर हाथ फेरकर पहचाननेकी कोशिश किया करता था। अतः अन्तर्ध्वनि होने लगी। 'ऐ दाढ़ी और मूँछोंवाले आदमी! मैं तुझे पहचानकर तेरे घरपर बदला लेनेके लिये आया हूँ। तूने मेरी उपेक्षा कुम्भ-मेलेमें की थी।'

मृत्युके पाँच दिन पहले वह चबूतरेकी सीढ़ीपर लुढ़कता हुआ गिर पड़ा जैसे वह घरसे जानेका संकेत कर रहा हो। मैं तुरंत दौड़ पड़ा और उसे जिसे कुम्भ-मेलेमें न उठा सका था, गोदमें उठा लिया। हृदयमें दुश्चिन्ताकी रेखा खिंच गयी कि क्या यह हँसता हुआ स्वस्थ बालक बाहर जानेकी तैयारीमें है।

मृत्युके दिनपर मेरे हृदयमें नाना प्रकारकी व्यथाएँ उभर रही थीं। वह अनोखे पश्चात्ताप और अभावोंसे ग्रस्त था। शामको मैं स्कूल समाप्त करनेके पश्चात् तेजीसे घरकी ओर जा रहा था। कौओंके झुंड उड़-उड़कर मार्गपर बैठकर पुनः उड़ जाते थे। गाँव पहुँचनेपर मेरा हृदय पुकार उठा कि कोई मुझसे यह न कह दे कि तुम्हारा लड़का मर गया है, किंतु दरवाजेपर रोनी सूरत बनाये लोग बैठे थे। मैं सीधा घरके अंदर प्रविष्ट हुआ, वहाँ मैंने उस लड़केको देखा जिसकी आँखें उलट रही थीं। उसने भी मुझे पहचाना। मैंने उसे उठाकर कंधेपर लगा लिया। उस मरणासन्न प्राणीने अपना हाथ मेरी दाढ़ी और मूँछोंपर फिराकर मेरे हृदयके घावको हरा कर दिया।

मैंने उसकी अन्तिम यात्राके लिये गङ्गाजल, तुलसी और रामके चित्रको उसके सामने उपस्थित कर दिया और रामायणको सिरहाने रखकर उसी बायें हाथपर, जिसके द्वारा कुम्भके अवसरपर अपरिचित व्यक्तिकी गरदनका सहारा लेकर खड़ा हुआ था, उस लड़केका सिर रख लिया। वह आरामसे सोने लगा। मैंने गङ्गा-जलका एक चम्मच उसे पिलाया। गल-गलका शब्द होने लगा। उसके सिरको थोड़ा ऊँचा किया, जिससे जल तो प्रविष्ट हो गया, किंतु गरदन छोड़नेपर वह लुढ़क पड़ी। इस प्रकार यह अनजानेका पाप रूप धारणकर करोड़ों आदमियोंके बीचमें, मुझे पहचानकर अपना बदला लेकर चला गया। मैं उसके साथ अन्तिम क्रिया-के लिये नदीके तटपर गया। उसका मुख बदल चुका था और जहाँतक मुझे स्मरण आता है ठीक उसी अधेड़ व्यक्तिका-सा मुख था, जो कुम्भ-मेलेमें मानव-ढेरपर गिरा था और जिसकी गरदनका सहारा लेकर मैं खड़ा हुआ था। इस प्रकार अनजानेका पाप भी समय आनेपर अपना बदला चुका लेता है। इससे मनुष्योंको सावधान होनेकी आवश्यकता है। —रामाधीन 'शान्त'

भगवान्‌की मङ्गलमयता और उनके सौहार्दमें मेरा विश्वास सुदृढ़ हो रहा है!

भगवान्‌की कृपासे उनकी नित्य मङ्गलमयतामें मेरा विश्वास दृढ़ हो रहा है। लौकिक जीवनमें देखता हूँ—माँ बच्चेके लिये सब कुछ सहन करके भी उसका परम हित करती है। अनन्त माताओंके हृदयका समस्त वात्सल्य-स्नेह मिलकर भी जिन भगवान्‌के वात्सल्य-स्नेह-सुधासागरकी एक बूँदके बराबर नहीं होता, वे भगवान् मेरा कितना हित करते होंगे। रोगी बच्चा अज्ञानवश ऐसी वस्तु माँग बैठता है, जो उसके लिये विषतुल्य है। हितभरे हृदयकी समझदार माँ वह वस्तु नहीं देती, उसके हितके लिये ही नहीं देती, बल्कि कहीं बच्चेको मिल गयी हो तो छीन लेती है, चाहे बच्चा कितना ही रोये-चिल्लाये। इसी प्रकार भगवान्‌की मेरे हितके लिये मुझे कई विषय-विषोंसे वञ्चित करके मेरा परम हित करते हैं। भगवान्‌के प्रत्येक कार्यके पीछे यही मङ्गलमय सौहार्द छिपा है। जो-जो प्राणी, जो-जो वस्तुएँ, जो-जो परिस्थितियाँ, जो-जो सफलताएँ मेरे अहंको पुष्ट करके मुझे परिणाममें निराशा और विनाशकी ओर ले जानेवाली हैं, भगवान् उन-उन प्राणियोंसे, उन-उन वस्तुओंसे, उन-उन परिस्थितियोंसे और उन-उन सफलताओंसे मुझको सदा दूर रखते हैं, चाहे मैं उनके लिये कितना ही मनोरथ करूँ, छटपटाऊँ और प्रयास करूँ।

भगवान् नित्य परम ज्ञानमय, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ और निर्भ्रान्त हैं तथा मेरे प्रति उनका नित्य-अहैतुक परम सौहार्द है। अतएव उनके द्वारा जो कुछ मेरे लिये हुआ है, हो रहा है और होगा, वह निश्चित ही परम मङ्गलमय हुआ है, परम मङ्गलमय हो रहा है और परम मङ्गलमय ही होगा। इसमें मुझे जरा भी संदेह नहीं है, इसीसे मैं परम प्रसन्न हूँ।

भगवान्‌की मङ्गलमयतामें और उनके सहज सौहार्दमें मेरा विश्वास सुदृढ़ हो रहा है!
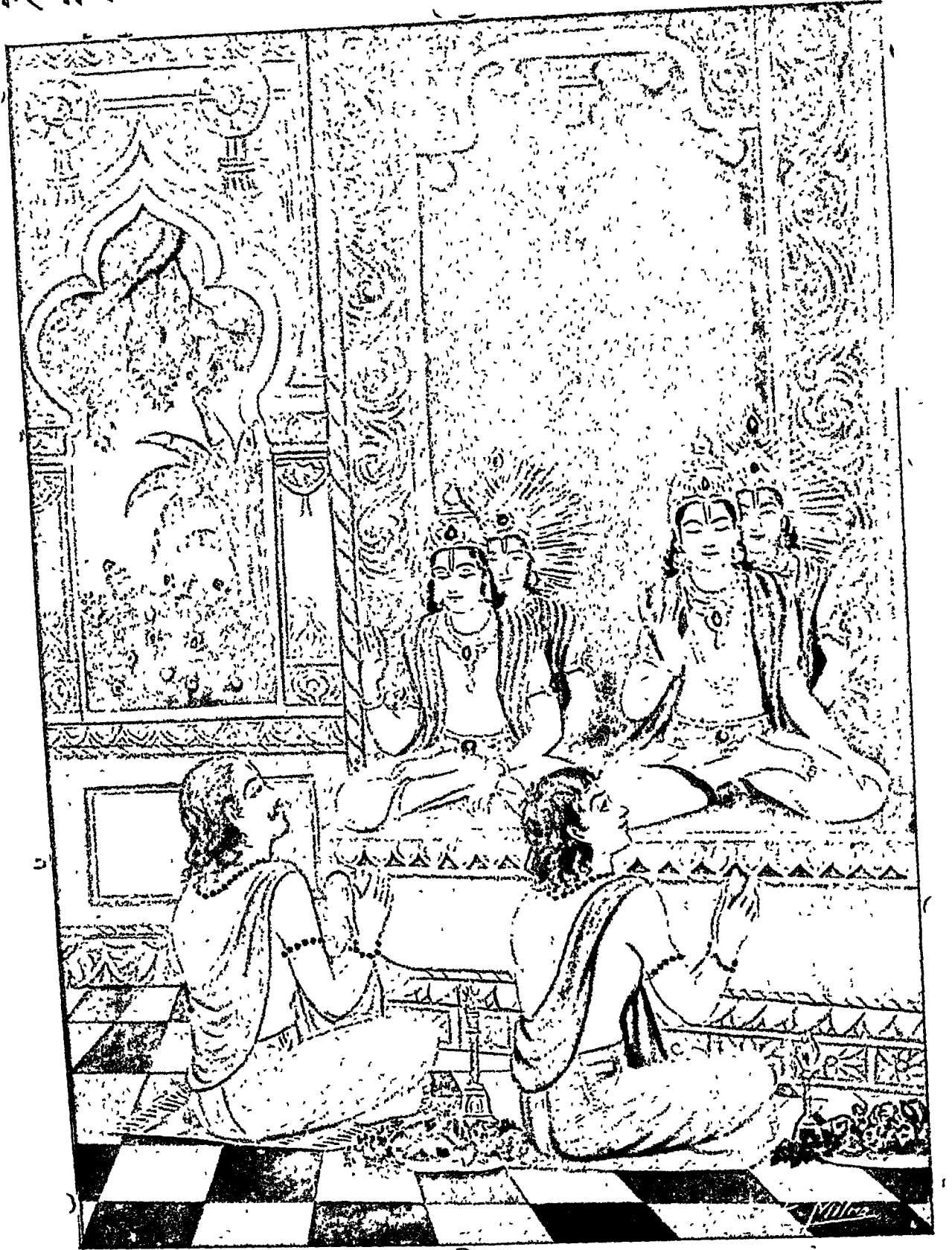
किसी भी देवताकी पूजामें भगवत्पूजा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम् ।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर श्रावण २०१६, जुलाई १९५९ { संख्या ७ पूर्ण संख्या ३९२

किसी भी देवताकी पूजामें भगवत्पूजा

कुन्तिपुत्र ! जो अन्य देवताओंको भजते श्रद्धायुक्त ।
वे भी विधिसे विरहित पूजा मेरी ही करते हैं भक्त ॥
मैं ही सब यज्ञोंका भोक्ता, मैं ही एकमात्र स्वामी ।
मुझे तत्त्वसे नहीं जानते, होते वही अधोगामी ॥

(गीता ९ । २३-२४ के आधारपर)

याद रक्खो—जबतक संसारके भोगपदार्थोंमें सुखकी भ्रान्ति है और इस कारण जबतक संसारके प्राणी-पदार्थोंमें ममता और आसक्ति है, तबतक न तो सच्ची भक्ति प्राप्त होगी, न ज्ञान ही मिलेगा और न योगसाधना ही सिद्ध होगी। निष्काम कर्मका साधन भी विना विषय-वैराग्यके नहीं हो सकता।

याद रक्खो—आसक्ति मनमें होती है और उसका त्याग भी मनसे ही होता है। इसलिये न 'वैरागी' या 'वीतरागी' नाम रखनेसे विषयासक्तिका त्याग होता है न बाहरी त्यागसे। नाम रखना और वस्तुतः वैराग्यकी इच्छा न करना तो दम्भ है। परंतु जबतक मनमें विषयोंकी ओर आकर्षण है, विषयोंमें सुखकी कल्पना है, विषय-सुखकी वासना है, तबतक 'वैराग्य' नहीं है।

याद रक्खो—जबतक विषय-सुखकी भ्रान्ति तथा उसकी वासना रहेगी, तबतक बाहरसे त्याग करनेपर भी विषयके सामने आनेपर अथवा विषयकी स्मृति होनेपर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा उत्पन्न हो जायगी, जो बाह्य-विषय-त्यागी पुरुषको भी विषयसेवनमें लगा देगी और उसका पतन हो जायगा।

याद रक्खो—विषयमें सुख है ही नहीं, दुःख-ही-दुःख है। संसारमें खान-पान और कपड़ा-लत्ता तथा घर-मकान तो जीवन-निर्वाहके लिये हैं और यह मानव-जीवन है भोगोंमें वैराग्य प्राप्त करके भगवत्प्राप्ति या स्वरूप-साक्षात्कारकी साधनाके लिये। जीवननिर्वाहके लिये इन वस्तुओंका ग्रहण है, इनके लिये जीवन कदापि नहीं है। अतएव जो स्वाद-शौकीनीके लिये भोजन-वस्त्रादिका सेवन करता है, वह विषयासक्त मनुष्य सर्वथा विरागहीन है और उसे संसारमें बँधे ही रहना पड़ेगा।

याद रक्खो—जैसे ये विषय शरीरनिर्वाहके लिये हैं, वैसे ही यह शरीर भी जीवात्माके रहनेभरके लिये है। यह तुम्हारा स्वरूप नहीं है। इस शरीरमें होनेवाली बाल-युवा-वृद्धावस्थाको जाननेवाला आत्मा सदा एक-सा रहता है। तुम कहते हो, 'मैं पहले बालक था, यों खेलता था। जवानीमें मेरे शरीरमें बड़ी शक्ति थी, अब बुढ़ापेमें मैं शक्तिहीन हो गया।' यों कहनेवाले तुम आत्मा इस शरीरसे पृथक् हो, यह सिद्ध है। यों समझकर इस शरीरसे आसक्ति-ममताका त्याग करो और जबतक शरीर है, तबतक समबुद्धिसे प्राप्त भोगोंका भोग करते हुए इसे भगवत्साधनामें सहायक बनाये रक्खो।

याद रक्खो—तुम्हारा जब भगवान्‌में अनुराग हो जायगा या आत्मस्वरूपमें तुम्हारी स्थिति हो जायगी, तब तो तुम भोगोंको विषकी भाँति या स्वप्नराज्यकी भाँति स्वयमेव ही त्याग दोगे। परंतु पहलेसे ही उनमें बार-बार दोष-दुःख देखकर और बन्धनका परम कारण मानकर उनकी आसक्तिका त्याग करो।

याद रक्खो—असली त्याग तो मनकी भोगासक्तिके त्यागमें ही है और वही सच्चा वैराग्य है। परंतु जहाँ-तक बने, विषय-सेवन कम-से-कम करो; विषयोंमें रमणीयता तथा सुखका बोध छोड़कर उनका केवल आवश्यकता होनेपर ही सेवन करो। भोगोंका संग्रह-परिग्रह भी भोगोंकी आसक्तिको बढ़ानेवाला है। भोगासक्त तथा भोगसम्पन्न मनुष्योंकी ओर मत देखो, देखो विषयविरागी त्यागी महात्माओंकी ओर। सङ्ग करो, उन विषयविरागी महात्माओंके चरित्रों और उपदेशोंका, जिससे भोगरूपी मीठे विषके प्रति तुम्हारे मनमें अनास्था, अनासक्ति पैदा होकर उनमें यथार्थ वैराग्य हो जाय।

याद रक्खो—भोगी पुरुष सदा ही भय और विषादके जालमें फँसा रहेगा—प्राप्त भोगके नाशका भय और नाश हो जाने या न मिलनेपर महान् विषाद और शोक। परंतु जिसकी भोगोंमें आसक्ति नहीं है, वह सदा निर्भय और शोकरहित एवं परमानन्दमें रहेगा। वैराग्यवान् पुरुषको कोई भी परिस्थिति दुखी नहीं बना सकती।

'शिव'

वैराग्य

(लेखक—स्वामीजी अनन्तश्री चिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तवासिनः॥

अर्थात् एकान्तवासमें रहनेवाले पूर्ण वैराग्यवान् ज्ञानीको जो सुख प्राप्त है, वैसा सुख देवताओंके राजा इन्द्रको भी नहीं होता; फिर भला इस पृथिवीके ऊपर किसी सम्राट्को कहाँसे होगा। देवलोकके तथा भूलोकके सारे सुख अल्प तथा नाशवान् हैं; और वैराग्यवान् ज्ञानीको तो स्वरूपका सुख होता है, इसलिये वह पूर्ण और अक्षय होता है।

स्वरूपकी प्राप्तिके लिये वैराग्य अत्यन्त आवश्यक साधन है, अतएव इसका स्वरूप जानना चाहिये, जिससे इसको जीवनमें उतारना सुकर हो जाय।

विगतः रागः यस्मात् स विरागः। विरागस्य भावः वैराग्यम्।

राग अर्थात् आसक्ति जिसकी निवृत्त हो गयी है, वह विराग अथवा वीतराग है। और विरागसे भाव-वाचक संज्ञा होती है—वैराग्य। इसके द्वारा वैराग्य और त्याग दोनोंका भेद समझमें आ जायगा। त्यागकी साधनामें पदार्थोंको छोड़ना पड़ता है और वैराग्यकी साधनामें पदार्थोंमेंसे आसक्ति दूर करनी पड़ती है। अर्थात् त्याग स्थूल क्रिया है—शारीरिक क्रिया है और वैराग्य मानसिक क्रिया है। यह बात समझाते हुए भगवान्ने गीतामें कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
(२।५९)

भाव यह है कि मनुष्य धीरे-धीरे विषयोंका त्याग करता है और इससे उसकी इन्द्रियोंको खुराक न मिलनेपर वे शिथिल हो जाती हैं। फल यह होता है कि विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; पर उसमें भोगकालकी अनुभवजन्य सूक्ष्म वासना रह जाती है। परंतु परमानन्दरूप परब्रह्मका साक्षात्कार होनेके बाद परम वैराग्य जाग्रत् होता है और इससे विषय-सुख तुच्छ लगने लगते हैं तथा विषयोंमें रहनेवाली सूक्ष्म वासना भी नष्ट हो जाती है।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि 'विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर उनमें सूक्ष्म वासना रह जाती है'—यह समझनेकी बात है। मधुर जिह्वास्वादके लिये हम गुड़ खाते हैं। किसी मनुष्यने किसी कारण-वश गुड़ न खानेका नियम ले लिया और इससे गुड़ खानेका त्याग हो गया। परंतु गुड़की मिठासका उसको अनुभव हो चुका है, उस अनुभवसे उत्पन्न अभिलाषा या सूक्ष्म वासना उसके अन्तरमें रह गयी। इस कारण जब-जब उसकी दृष्टि गुड़पर पड़ती है, तब-तब उसको खानेकी इच्छा तथा उसका रस लेनेकी अभिलाषा उत्पन्न होती है। प्रश्न यह होता है कि यह अभिलाषा नष्ट कब होती है?—उत्तर देते हैं कि जब आत्माके आनन्दस्वरूपका अनुभव होता है, तब इस प्रकारके भवानन्दका विस्मरण अपने आप हो जाता है। इसके लिये फिर कोई यत्न नहीं करना पड़ता। इस बातको समझाते हुए शास्त्र कहता है—

लब्धत्रैलोक्यराज्यो ना भिक्षामाकाङ्क्षते यथा।
एवं लब्धपरानन्दः क्षुद्रानन्दं न काङ्क्षति॥

भाव यह है कि त्रिलोकीका राज्य मिल जानेके बाद जैसे पुरुष भीख माँगनेकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार निरतिशय आत्मानन्दका अनुभव करनेवाला क्षणिक आनन्दकी इच्छा नहीं करता।

अब वैराग्यका माहात्म्य देखिये। पातञ्जलयोगसूत्रमें लिखा है—**वीतरागविषयं वा चित्तम्।** चित्त-निरोधके अनेक उपायोंको बतलाते हुए भगवान् पतञ्जलिने एक उपायके रूपमें इस सूत्रको प्रस्तुत किया है। भाव यह है कि श्रद्धेय वीतराग पुरुषका सतत ध्यान करने-

से भी चित्तका निरोध होता है। वीतराग पुरुषका अर्थ है वैराग्यवान् पुरुष। जब वैराग्यवान् पुरुषके ध्यानसे भी चित्तका निरोध हो जाता है, तब जो मनुष्य स्वयं वैराग्य धारण करता है, उसके लिये तो इसे सहज साध्य समझना चाहिये। इसीसे 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।'—यह सूत्र दिया गया है। और वैराग्यको चित्तनिरोधका प्रत्यक्ष साधन बतलाया गया है।

हम पहले देख चुके हैं कि आत्मसाक्षात्कार होनेके बाद ही परम वैराग्यकी दशा उत्पन्न होती है। इस बातको लक्ष्यमें रखकर वैराग्यका एक दूसरे ही प्रकारसे अर्थ किया गया है, जो इस प्रकार है—

न विरक्ता धनैस्त्यक्ता न विरक्ता दिगम्बराः।
विशेषरक्ताः स्वपदे ते विरक्ता मता मम॥

भाव यह है कि जो घर-धन आदि तथा स्त्री-पुत्रादिको त्यागकर वनमें जाते हैं, वे सच्चे विरक्त या वैराग्यवान् नहीं हैं। तथा जिसने लँगोटीतकको त्याग दिया है, इस प्रकारका दिगम्बर अर्थात् दिशारूपी वस्त्रधारण करनेवाला अवधूत भी सच्चा विरक्त नहीं। मेरे विचारसे परम वैराग्यको धारण करनेवाला वही पुरुष है, जो अपने स्वरूपमें विशेषरूपसे रागयुक्त है, अर्थात् जिसकी स्वरूपमें स्थिति है या जिसे स्वरूपकी प्राप्तिकी उत्कट इच्छाके सिवा दूसरी कोई इच्छा ही नहीं होती, वही परम त्यागी या परम विरक्त है।

अब दूसरे प्रकारसे देखिये। पहले हमने रागकी निवृत्तिरूप वैराग्यको बतलाया, उसे साधनरूप वैराग्य कह सकते हैं। और फिर इच्छामात्रके त्यागके द्वारा स्वरूप-प्राप्तिकी तीव्र इच्छारूपी वैराग्यको कहा, वह साध्यरूप वैराग्य कहलाता है; क्योंकि यहाँ वैराग्यकी आवश्यकता केवल स्वरूपकी प्राप्तिके लिये ही होती है। साधनरूप वैराग्य पहले प्राप्त करना चाहिये। जीव अनेक जन्मोंसे विभिन्न प्रकारकी शक्तियाँ धारण करता चला आ रहा है। प्रत्येक शरीरमें वह अपनी इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन करता रहा है और इससे विषयोंमें इसकी दृढ़ आसक्ति बँध गयी है। इस आसक्ति अर्थात् रागको दूर करना है। केवल पदार्थोंको छोड़ देनेसे उनमें रहनेवाले रागका नाश नहीं होता। यह श्लोक इसी बातको कहता है—

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणो
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥

रागी यदि गृहस्थाश्रमका त्याग करके जङ्गलमें जाय तो वहाँ भी यदि वह रागका त्याग न करे तो उसके आचरणमें दोष आ जाते हैं। और एक दूसरा आदमी जिसने रागका त्याग कर दिया है तथा पाँचों इन्द्रियोंको संयममें रखकर गृहस्थाश्रममें रहता है, वह तपस्वी ही है; क्योंकि ऐसा करनेसे उसका जीवन सदाचारमय रहता है। तात्पर्य यह है कि जिसने विषयोंमेंसे राग अर्थात् आसक्तिको निवृत्त कर दिया है, उसका घर ही तपोवन बन जाता है। वीतरागी पुरुषके लिये घर छोड़कर जङ्गलमें जाना जरूरी नहीं होता; और जिसने रागको नहीं छोड़ा, उसका जङ्गलमें जाना कोई अर्थ नहीं रखता। [रागकी निवृत्तिकी साधनाके लिये एकान्तवासकी बहुत ही आवश्यकता है, यह बात भूलनेयोग्य नहीं है।]

अब यह देखना है कि रागका त्याग कैसे किया जाय। साधारणतया मनुष्यका खाने-पीने तथा पहनने-ओढ़नेके पदार्थोंमें राग होता है। यह राग विवेकसे छूटता है। मनुष्य विवेकके द्वारा विचार करे कि संसारके भोग-पदार्थ नाशवान् हैं और भोगकालमें सुखकी भ्रान्ति कराकर दुःखकी स्थितिमें ही ढकेल देनेवाले हैं। शरीर है, अतः उसके निर्वाहके लिये खान-पान आवश्यक है। परंतु खान-पानके लिये जीवन आवश्यक नहीं है। अतः खान-पानके पदार्थोंमें मोह नहीं रखना चाहिये। ओषधि जैसे

आवश्यकता पड़नेपर ही ली जाती है उसका कोई शौक नहीं करता, उसी प्रकार खान-पान शरीरको बनाये रखनेके लिये ही है। इसी प्रकार शीत और घामसे बचाव करनेमात्रके लिये पहनने और ओढ़नेके वस्त्रकी आवश्यकता है। उनसे शृङ्गार करके रूपवान् दिखलानेकी कोई उपयोगिता नहीं है। इस प्रकार निरन्तर विचार करते रहनेसे भोगासक्ति अवश्य शिथिल पड़ जाती है। अनेक जन्मोंका भोगका अभ्यास है, अतएव इसे दूर करनेके लिये इस दूर करनेके अभ्यासको भी दीर्घकालतक दृढ़तापूर्वक करते रहना चाहिये।

विषयोंसे इस प्रकार रागकी निवृत्ति करके, फिर शरीरमेंसे रागकी निवृत्ति करनी चाहिये। शरीरके साथ जीवका अनादिकालसे परिचय है और शरीरके द्वारा ही जीव अनेकों भोगोंको भोगता आ रहा है तथा इसी कारण शरीरको अपना खरूप मान बैठा है। अतएव शरीरमेंसे रागकी निवृत्ति करनेके विचारका आश्रय लेना चाहिये। मैं प्रतिदिन वस्त्र धारण करता हूँ और प्रतिदिन उसे उतारता हूँ—तथा मैला होनेपर उसे बदल देता हूँ और फट जानेपर उसे फेंककर दूसरा सिलवाता हूँ। तथापि मैं मानता हूँ कि मैं कपड़ेसे अलग हूँ, तथा उसका उपयोग शरीरको ढँकनेभरके लिये है। इसी प्रकार मैं शरीरसे पृथक् हूँ; क्योंकि मैं अनुभव करता हूँ कि जवानीमें यह शरीर जैसा सशक्त था, वैसा अब वृद्धावस्थामें नहीं है। अर्थात् शरीरकी अवस्था बदलती है, पर मैं अपने मूल-खरूपमें ही रहता हूँ। जैसे कपड़े बदलनेपर मेरे शरीरमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसी प्रकार शरीर छोटा हो या बड़ा, जवान हो या बूढ़ा, सशक्त हो या अशक्त—मुझमें कोई फेरफार नहीं होता। जैसे रहनेके लिये घर होता है, उसी प्रकार जीवको कर्मफल भुगतानेके लिये शरीर एक धर्मशाला-रूप ही है। इसी कारण शरीरका एक नाम ''भोगायतन'' अर्थात् भोग भोगनेका स्थान है। फिर मैं बहुधा अनुभव करता हूँ कि अमुक विषयको मेरा मन नहीं मानता, अथवा मेरी बुद्धि निश्चय नहीं कर पाती। इससे यह निश्चय होता है कि मैं मन-बुद्धिसे पृथक् हूँ। इसी प्रकारके निरन्तर अभ्याससे शरीरमेंसे राग निवृत्त हो जाता है। शरीरमेंसे आसक्ति छूट जानेपर केवल शरीरके साथ ही सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री-पुत्रादि तथा घर-धन आदिमेंसे आसक्ति छोड़ते कुछ देर नहीं लगती।

सम्मीलने नयनयोर्नहि किंचिदस्ति।

अर्थात् जबतक शरीर है, तभीतक प्राणी-पदार्थोंके साथ सम्बन्ध है; आँखें मुँद जाने अर्थात् शरीरकी मृत्यु हो जानेपर तो यह सम्बन्ध अपने-आप छूट जाता है। अतएव जीते-जी क्यों न उस सम्बन्धको छोड़ दिया जाय, जिससे निश्चिन्तता प्राप्त हो।

इस प्रकार रागमात्रकी निवृत्ति होनेपर साध्यरूप वैराग्य जाग्रत् होता है। और उससे अपने खरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त तीव्र इच्छा जाग्रत् हो जाती है तथा साधक श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरण ढूँढ़ता है। ऐसे समयमें गुरु श्रोत्रिय न हो तो भी काम चल सकता है, परंतु ब्रह्मनिष्ठ तो होना ही चाहिये; क्योंकि जिसने खरूपका अनुभव नहीं किया, वह दूसरेको खरूप-ज्ञान कहाँसे करा सकता है। गुरुकी शरणमें जानेपर अधिकार देखकर गुरु कहते हैं—'तत्त्वमसि'। अर्थात् जिसको तू ढूँढ़ता है, वह तू खुद ही है। हे भाई! जो ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, वही तू है। इस प्रकार क्षणमात्रमें ही तीव्र इच्छावाला वैराग्यवान् अधिकारी मुमुक्षु आत्म-दर्शन कर लेता है। कहते हैं कि पलकके बंद होकर खुल जानेमें जितनी देर लगती है, आत्मदर्शन होनेमें उतनी देर भी नहीं लगती। अथवा एक फूलको तोड़नेमें जितनी देर लगती है, उतनी देर भी खरूप-साक्षात्कार होनेमें नहीं लगती। देर लगती है केवल

साधन-सम्पन्न अधिकारी होनेमें ही। अधिकार होनेके बाद तो तुरंत ही स्वरूप-दर्शन हो जाता है।

विषयोंमेंसे रागकी निवृत्ति कैसे की जाय, इस विषयमें श्रीविद्यारण्यमुनिने बहुत ही सुन्दर रीतिसे समझाया है—

दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी॥

(१) सांसारिक विषयोंमें दोष देखना (गुण नहीं देखना), (२) विषयोंका त्याग करनेका दृढ़ निश्चय, (३) भोगोंके अधीन न होना। विषयोंको छोड़ना ही है, यह निश्चय कर लेनेके बाद भोगोंकी इच्छा करना दीनता है और ऐसी इच्छा न करना अदीनता है। ये तीनों वैराग्यके लिये क्रमशः असाधारण हेतु, स्वरूप और कार्य हैं।

शास्त्रोंमें सर्वत्र वैराग्यकी महिमा गायी गयी है, उसका कुछ उल्लेख करके लेख समाप्त करना है। श्रीअष्टावक्र मुनि कहते हैं—

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु॥

'विषयोंमेंसे रसकी—रागकी निवृत्ति करना ही मोक्ष है और विषयोंमें रसवृत्ति—रागका रहना ही बन्धन है। बस, इतना ही विज्ञान है। यह जाननेके बाद इच्छानुसार कार्य करनेमें तुम स्वतन्त्र हो। न्यायदर्शन कहता है—

वीतरागजन्मादर्शनात्। 'जिसने रागमात्रकी निवृत्ति कर ली है, उस वीतराग पुरुषको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता, गर्भवासका दुःख फिर भोगना नहीं पड़ता।'

योगवासिष्ठमें भी आया है—

गोपदं पृथिवी मेरुः स्थाणुराकाशमुद्रिका।
तृणं त्रिभुवनं राम नैराश्यालंकृताकृतेः॥

'सांसारिक विषयोंसे रागकी निवृत्ति करके हे प्रिय रामचन्द्रजी! जो पुरुष आशारहित हो गया है, उसको बाह्य वस्तुएँ तुच्छ लगती हैं। उसकी दृष्टिमें पृथिवी गौकी खुरीके बराबर, मेरु पर्वत एक छोटे-से खंभेके बराबर, आकाश अँगूठीके बराबर तथा तीनों लोक घासके तिनकेके समान तुच्छ दीखते हैं।'

विषयासक्तिनाशेन विना न श्रवणं भवेत्।
ताभ्यामृते न मननं न ध्यानं तैर्विना भवेत्॥

'विषयासक्तिका नाश किये विना अर्थात् परम वैराग्यकी साधनाके विना श्रवण नहीं हो सकता, वैराग्य और श्रवणके विना मनन नहीं हो सकता तथा इन तीनों अर्थात् वैराग्यपूर्वक श्रवण और मनन किये बिना ध्यान अर्थात् निदिध्यासन नहीं हो सकता।' भाव यह है कि जबतक पूर्ण वैराग्यकी दृढ़ता नहीं हो जाती, तबतक अध्यात्मज्ञानका कोई भी साधन सफल नहीं होता।

एक दूसरे प्रसङ्गमें वशिष्ठजी यहाँतक कहते हैं कि—

मातुरङ्कगतो बालो ग्रहीतुं चन्द्रमिच्छति।
यथा योगं तथा योगी संत्यागेन विनाबुधः॥

तात्पर्य यह है कि माताकी गोदमें खेलता हुआ बालक चन्द्रमाको पकड़नेका यत्न करता है, उसको हम अवश्य ही अज्ञानी कहते हैं; इसी प्रकार जो योगी परम वैराग्यकी प्राप्तिके बिना योगकी साधनामें प्रवृत्त होता है, उसको भी अज्ञानी ही जानना चाहिये—अबुध समझना चाहिये; क्योंकि परम वैराग्यके बिना भक्ति, ज्ञान या योगका कोई भी साधन सफल नहीं होता।

गीतामें भगवान् कहते हैं—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

'जब पुरुष विषयोंसे सुख पानेकी लालसाका त्याग कर देता है, अर्थात् जब वह पूर्ण वैराग्यवान् बन जाता

है, तब उसको अपने सुख-स्वरूपका आनन्द प्राप्त होता है तथा वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है और अक्षयसुख प्राप्त करता है।'

श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

सर्वपरिग्रहभोगत्यागः कस्य सुखं न करोति विरागः।

अर्थात् समस्त स्त्री-पुत्रादि तथा गृह-वित्त आदि परिग्रहका त्याग तथा समस्त विषयभोगोंमें रागकी निवृत्तिरूप वैराग्य किसको सुखप्रद नहीं होता ! अर्थात् सबको सुखरूप होता है।

भर्तृहरिजी एक प्रसङ्गमें कहते हैं—

सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।

अर्थात् इस जगत्‌में प्रत्येक परिस्थितिमें भय रहता है। केवल वैराग्यका आश्रय ही एक निर्भय स्थिति है।

कबीर साहब भी कहते हैं—

चाह गई, चिंता गई, मनवाँ बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिए, सो जग शाहनशाह॥

विषयोंसे जन्म-मरणका बन्धन कैसे होता है, यह समझाते हुए श्रीव्यासजी विष्णुपुराणमें कहते हैं—

यद्यत्प्रीतिकरं पुंसां वस्तु मैत्रेय जायते।
तदेव दुःखवृक्षस्य बीजत्वमुपगच्छति॥

'जिन-जिन प्राणी-पदार्थोंमें मन प्रीति बाँधता है, उनमें वह आसक्त हो जाता है और यह आसक्ति ही भावी दुःखको उत्पन्न करती है।' बारंबार जन्मने और बारंबार मरनेके चक्करमें पड़नेसे बढ़कर संसारमें दूसरा कोई भी दुःख नहीं है। इस दुःखसे छूटनेका उपाय बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तिर्मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥
विषयेभ्यः समाहृत्य विज्ञानात्मा मनो मुनिः।
चिन्तयेन्मुक्तये तेन ब्रह्मभूतं परेश्वरम्॥

'बन्धन करानेवाला तथा उससे निवृत्ति करानेवाला मन ही है। विषयोंमें आसक्त रहनेवाला मन बन्धन कराता है और विषयोंसे छुटकारा पाया हुआ मन ही मोक्ष दिलाता है। अतएव मुक्तिकी कामनावाले मुनि मनको विषयोंसे हटाकर अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये परमात्माके चिन्तनमें लगाते हैं।' इस प्रकार मोक्षके लिये वैराग्यकी अनिवार्य आवश्यकता है।

इसीलिये अष्टावक्रजी चेतावनी देते हुए कहते हैं—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।

'यदि मुक्तिकी इच्छा हो तो विषयोंको विषके समान छोड़ दो।' विषयोंको—अर्थात् भोगवासनाको—विषयोंसे सुख पानेकी लालसाको छोड़ दो। क्योंकि विषयभोग जन्म-मरण प्रदान करनेवाले हैं तथा वैराग्य इनकी निवृत्ति करके मोक्ष-सुख प्रदान करता है।

यदि तुम्हें पाऊँ

नयनमें पूतरी सरिस मैं बसाऊँ, बैन में बरनमाला रूप तोकहँ सजाऊँ मैं।
मोहअन्धकारके समान ही हृदय माहिं मूरति तिहारी नेह सानि कै जमाऊँ मैं॥
मस्तकमें कारे केस ही सो बेस, तेरो ध्यान सकल सुज्ञान सीस ऊपर चढ़ाऊँ मैं।
नस नस रोम रोम तेरो रूप छाऊँ जो पै, 'कविराज हंस' मेरे स्याम! तोहि पाऊँ मैं॥

—बलदेवप्रसाद मिश्र

चतुःश्लोकी भागवत

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

निवेदन

ब्रह्माजीकी निष्कपट तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें अपने रूपका दर्शन कराया और आत्मतत्त्वके ज्ञानके लिये उन्हें परम सत्य परमार्थ वस्तुका उपदेश किया। वही उपदेश 'चतुःश्लोकी भागवत' के नामसे प्रसिद्ध है ।

जब ब्रह्माजी अपने जन्मस्थान कमलपर बैठकर सृष्टि करनेकी इच्छासे विचार करने लगे, परंतु जिस ज्ञानदृष्टिसे सृष्टिका निर्माण हो सकता था, वह दृष्टि उन्हें प्राप्त नहीं हुई, तब उनके सोच-विचार करते समय एक दिन अकस्मात् प्रलयकी उस अनन्त जलराशिमें उन्हें दो अक्षरोंका एक शब्द दो बार सुनायी पड़ा। उसका पहला अक्षर तो 'त' था और दूसरा 'प'। अर्थात् उन्होंने 'तप-तप' ऐसा सुना। इसे तप करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा मानकर और उसीमें अपना परम हित समझकर उन्होंने एक हजार दिव्य वर्षपर्यन्त तपस्या की। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने उन्हें अपना परमधाम (वैकुण्ठलोक) दिखलाया। उस परम दिव्य लोकका और उसमें भगवान्‌का दर्शन करके ब्रह्माजीका हृदय आनन्दसे भर गया, शरीर पुलकित हो गया और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु छलक आये। फिर ब्रह्माजीने भगवान्‌के चरणकमलोंमें सिर झुकाकर प्रणाम किया। उस समय भगवान् बहुत प्रसन्न हुए एवं उन्होंने बड़े प्रेमसे ब्रह्माजीका हाथ पकड़ लिया और कहा—'ब्रह्मन्! तुम्हारी जो अभिलाषा हो, वही वर मुझसे माँग लो।'

तब ब्रह्माजीने प्रार्थना की—'भगवन्! आप समस्त प्राणियोंके स्वामी हैं, सबके हृदयमें आप अन्तर्यामी-रूपसे विराजमान रहते हैं। आप अपने दिव्य ज्ञानसे यह जानते ही हैं कि मैं क्या करना चाहता हूँ। फिर भी आपसे मैं यह याचना कर रहा हूँ। आप कृपा करके मेरी माँग पूरी कीजिये। प्रभो! आप रूपरहित हैं; तथापि मैं आपके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपोंको जान सकूँ, ऐसी कृपा कीजिये। आप मायाके स्वामी हैं, आपका संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता। जैसे मकड़ी अपने मुँहसे जाला निकालकर उसमें क्रीड़ा करती है और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेती है, वैसे ही आप अपनी मायाको स्वीकार करके इस विविध शक्तिसे युक्त जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेके लिये अपने आपको ही अनेक रूपोंमें बना लेते हैं और क्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार आप कैसे करते हैं—इस मर्मको मैं जान सकूँ, ऐसा ज्ञान आप मुझे दीजिये। आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं सावधानीपूर्वक आपकी आज्ञाका पालन कर सकूँ और सृष्टिकी रचना करते समय भी कर्त्तापन आदिके अभिमानसे रहित रहूँ।'

ब्रह्माजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने उन्हें भागवतका साररूप निम्नलिखित उपदेश किया, जो श्रीमद्भागवतके दूसरे स्कन्धके नौवें अध्यायके तीसवें-से छत्तीसवें श्लोकोंमें वर्णित है। इन सात श्लोकोंमें प्रथम दो श्लोक तो उपक्रमके रूपमें हैं और अन्तिम एक श्लोक उपसंहारके रूपमें है; शेष बीचके चार श्लोकोंको 'चतुःश्लोकी भागवत' के नामसे कहा जाता है।

श्रीस्कन्दपुराणके वैष्णवखण्डान्तर्गत श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें बतलाया गया है—

ज्ञानविज्ञानभक्त्यङ्गचतुष्टयपरं वचः।
मायामर्दनदक्षं च विद्धि भागवतं च तत्॥

प्रमाणं तस्य को वेद ह्यनन्तस्याक्षरात्मनः।
ब्रह्मणे हरिणा तद्दिक् चतुःश्लोक्या प्रदर्शिता ॥
(अ० ४ । ५-६)

'जो वाक्य ज्ञान, विज्ञान, भक्ति एवं इनके अङ्गभूत चार प्रकारके साधनोंको प्रकाशित करनेवाला है तथा जो मायाका मर्दन करनेमें समर्थ है, उसे 'श्रीमद्भागवत' समझो श्रीमद्भागवत अनन्त अक्षर-स्वरूप है; इसका नियत प्रमाण भला, कौन जान सकता है। पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीके प्रति चार श्लोकोंमें इसका दिग्दर्शन कराया था।'

चतुःश्लोकी भागवत

श्रीभगवानुवाच—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥ ३० ॥

श्रीभगवान् बोले—

(ब्रह्मन्!)
मे =मेरा
यत् =जो
परमगुह्यम् =परम गोपनीय
विज्ञानसमन्वितम् =विज्ञानसहित
ज्ञानम् =ज्ञान है, उसका
च =तथा
सरहस्यम् =रहस्यसहित
तदङ्गम् =उसके अङ्गोंका
मया =मेरेद्वारा
गदितम् =वर्णन किया जाता है,
(तत्) =उसे
गृहाण =तुम ग्रहण करो।

व्याख्या—ब्रह्मन्! मेरे निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन स्वरूपके तत्त्व, प्रभाव, माहात्म्यका यथार्थ ज्ञान ही 'ज्ञान' है तथा सगुण निराकार और दिव्य साकार स्वरूपके लीला, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और माहात्म्यका वास्तविक ज्ञान ही 'विज्ञान' है। यह विज्ञानसहित ज्ञान समस्त गुह्य और गुह्यतर विषयोंसे भी अतिशय गुह्य—गोपनीय है, इसलिये यह परम गुह्य—सबसे बढ़कर गुप्त रखने योग्य है। ऐसे परम गोपनीय ज्ञानके साधनोंका मैं रहस्यसहित वर्णन करता हूँ, तुम उसे सुनकर धारण करो।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अर्जुनसे भी प्रायः इसी प्रकार कहा है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ (९ । १)

'तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस गुह्यतम—परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको (पुनः) भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।'

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥ ३१ ॥

अहम् =मैं
यावान् =जितना हूँ,
यथाभावः =जिस भावसे युक्त हूँ,
यद्रूपगुणकर्मकः =जिन रूप, गुण और लीलाओंसे समन्वित हूँ,
तत्त्वविज्ञानम् =उन सबके तत्त्वका विज्ञान
ते =तुम्हें
मदनुग्रहात् =मेरी कृपासे
तथैव =ज्यों-का-त्यों
अस्तु =प्राप्त हो जाय

व्याख्या—सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, स्थूल-सूक्ष्म, जड-चेतन, यावन्मात्र—जितना जो कुछ भी है, वह सब मैं परब्रह्म परमात्मा ही हूँ तथा मैं सच्चिदानन्दमय भावस्वरूप हूँ एवं क्षमा, दया, शान्ति, समता, ज्ञान, प्रेम, उदारता, वात्सल्य, सौहार्द आदि अनन्त असीम दिव्य गुणोंसे सम्पन्न तथा लोगोंका उद्धार करनेके लिये नानाविध दिव्य अलौकिक कर्म—लीलाओंसे युक्त जो मेरा सगुण-साकार रूप है, मेरे उस विज्ञानसहित ज्ञानमय समग्र स्वरूपका तत्त्व तुम्हें मेरी कृपासे ज्यों-का-त्यों प्राप्त हो जाय।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥ ३२॥

अग्रे	=सृष्टिके पूर्व
एव	=भी
अहम्	=मैं
एव	=ही
आसम्	=था;
अन्यत्	=मुझसे भिन्न कुछ भी
न	=नहीं था।
च	=और
यत्	=(सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद) जो कुछ भी
एतत्	=यह दृश्यवर्ग है, (वह मैं ही हूँ।)
यत्	=जो
सत्	=सत् (अक्षर)
असत्	=असत् (क्षर)
परम्	=और उससे परे (पुरुषोत्तम) है, (वह सब मैं ही हूँ।)
पश्चात्	=(तथा) सृष्टिकी सीमाके बाद भी
अहम्	=मैं ही हूँ।
यः	=(एवं इन सबका नाश हो जानेपर) जो कुछ
अवशिष्येत	=बच रहता है,
सः	=वह (सब भी)
अहम्	=मैं (ही)
अस्मि	=हूँ।

व्याख्या—सृष्टि—महासर्गके पूर्व भी मैं ही था। मेरे सिवा और कुछ भी नहीं था। और सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह दृश्यवर्ग है, वह मैं ही हूँ तथा सत्—अक्षर और असत्—क्षर एवं उससे परे जो पुरुषोत्तम ईश्वर है, सब मेरा ही स्वरूप है ('सदसच्चाहमर्जुन'—गीता ९। १९; 'सदसत् तत्परं यत्'—गीता ११। ३७)। तथा सृष्टिकी सीमाके पश्चात्—जहाँ सृष्टि नहीं है, वहाँ जो केवल निर्विशेष सच्चिदानन्द ब्रह्म है, वह भी मैं ही हूँ और सृष्टिका विनाश होनेपर जो शेषमें बच रहता है, वह भी मैं ही हूँ।

अभिप्राय यह कि जैसे बादलोंके उत्पन्न होनेसे पहले केवल आकाश ही था, उसके सिवा और कुछ भी नहीं था तथा बादल और उनका गरजना-बरसना, बिजलीका चमकना आदि सब आकाश ही है; क्योंकि आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है—'आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।' (तैत्तिरीय उप० वल्ली २ अनु० १)। अतः आकाश ही वायु, तेज, जल, पृथ्वीका मूल कारण होनेसे यह सब कुछ आकाश ही है। तथा जहाँ बादल नहीं हैं, वहाँ—बादलोंकी सीमाके परे भी आकाश ही है एवं बादल आदिका विनाश होनेपर केवल आकाश ही रह जाता है। उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें तथा उसकी सीमाके परे भी सदा ही विद्यमान रहते हैं।

भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन। (१०। ३२ का पूर्वार्ध)

'अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ ।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ (गीता १० । ३९)

'एवं अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ; क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी प्राणी नहीं है, जो मुझसे रहित हो ।'

अतः भागवतके उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्ने ब्रह्माजीको यही भाव समझाया है—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति । (गीता ७ । ७)

'मुझसे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है ।'

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥ ३३ ॥

यथा =जैसे
आभासः =आभास अर्थात् किसी वस्तुका प्रतिबिम्ब वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है, प्रतीतिमात्र ही है, (उसी प्रकार)
अर्थम् =(मुझ) परमार्थ वस्तुरूप परमात्माके
ऋते =अतिरिक्त
आत्मनि =परमात्मामें
यत् =जो कुछ
प्रतीयेत =प्रतीत होता है,
(वह वास्तवमें कुछ नहीं है ।)
च =एवं
यथा =जैसे (विद्यमान होते हुए भी)
तमः =तम अर्थात् राहु ग्रहकी प्रतीति नहीं होती, (इसी प्रकार वास्तवमें सत् होते हुए भी जो मुझ परमात्माकी)
न प्रतीयेत =प्रतीति नहीं होती ।
तत् =यह दोनों प्रकारकी ही
आत्मनः =मेरी
मायाम् =माया है—यों
विद्यात् =समझना चाहिये ।

व्याख्या—जैसे नेत्रोंके दोषसे आकाशमें तिलमिले या जाले-से दिखलायी पड़ते हैं अथवा दर्पणमें प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, पर वास्तवमें वे हैं नहीं, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्मामें परमात्मासे भिन्न प्रकृतिका कार्यरूप यह जडवर्ग माया (अज्ञान) के कारण बिना हुए ही प्रतीत होता है; तथा जैसे आकाशमें विद्यमान रहते हुए भी राहु ग्रह दिखलायी नहीं पड़ता, उसी प्रकार वह सच्चिदानन्द परमात्मा वास्तवमें ध्रुव सत्य होनेपर भी माया (अज्ञान) के कारण प्रतीत नहीं होता । बिना हुए ही इस जड संसारकी प्रतीति होना और वास्तवमें सत् होते हुए भी परमात्माकी प्रतीति न होना—इन दोनोंमें माया (अज्ञान) ही कारण है ।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥ ३४ ॥

यथा =जैसे
उच्चावचेषु भूतेषु =प्राणियोंके छोटे-बड़े शरीरोंमें
महान्ति भूतानि =(आकाशादि पाँच) महाभूत
अनु-प्रविष्टानि =प्रविष्ट भी हैं (और)
अप्रविष्टानि =प्रविष्ट नहीं भी हैं,
तथा =उसी प्रकार
तेषु =उनमें (मैं प्रविष्ट हूँ भी)
तेषु =(और वास्तवमें) उनमें
अहम् =मैं
न =प्रविष्ट नहीं हूँ ।

व्याख्या—जैसे पाँचों महाभूत प्राणियोंके छोटे-बड़े शरीरोंमें प्रविष्ट हुए दिखलायी देते हैं, उसी प्रकार मैं उन सब शरीरोंमें प्रविष्ट हुआ-सा दिखलायी पड़ता हूँ; परंतु वास्तवमें पाँचों महाभूत उन शरीरोंमें प्रविष्ट (आबद्ध) नहीं हैं, उसी प्रकार मैं भी उनमें प्रविष्ट (आबद्ध) नहीं हूँ।

भाव यह है कि जैसे आकाशके कार्यरूप बादलोंके समुदायमें आकाश प्रविष्ट हुआ-सा प्रतीत होता है, किंतु वास्तवमें वह उनमें प्रविष्ट नहीं है; क्योंकि बादलोंके नाशसे आकाशका नाश नहीं होता, बादलोंके न रहनेपर भी आकाश रहता है और बादलोंके एक स्थानसे दूसरे स्थानमें चले जानेपर आकाशका उनके साथ गमन नहीं होता; इस दृष्टिसे बादलोंमें होते हुए भी आकाश उनमें प्रविष्ट (आबद्ध) नहीं है। आकाशकी भाँति ही कोई भी महाभूत अपने कार्यमें आबद्ध नहीं है। उसी प्रकार परमात्मा भी समस्त जगत्‌में प्रविष्ट हुए-से प्रतीत होते हैं परंतु वास्तवमें वे जगत्‌में प्रविष्ट (आबद्ध) नहीं हैं; क्योंकि वे निर्विकार, निष्क्रिय और निर्लेप हैं। समस्त जगत्‌का नाश होनेपर भी परमात्मा विद्यमान रहते हैं। जिस जगह जगत् नहीं है, वहाँ भी परमात्मा विद्यमान हैं।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥ ३५॥

आत्मनः	=परमात्माके	एतावत्	=इतना
तत्त्वजिज्ञासुना	=तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले मनुष्यको	एव	=ही
अन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्	=विधिरूपसे अर्थात् 'परमात्मा ऐसे हैं,' 'परमात्मा ऐसे हैं'—इस भावसे तथा निषेधरूपसे अर्थात् 'परमात्मा ऐसे भी नहीं', 'परमात्मा ऐसे भी नहीं'—इस भावसे	जिज्ञास्यम्	=जानना आवश्यक है
		यत्	=कि (परमात्मा ही)
		सर्वत्र	=सब देशमें
		सर्वदा	=(और) सब कालमें
		स्यात्	=विद्यमान हैं।

व्याख्या—परमात्मा विज्ञानानन्दघन हैं, सदा सबमें समभावसे स्थित हैं, सर्वव्यापी, सर्वत्र परिपूर्ण और परम शान्तिस्वरूप हैं,इत्यादि जो परमात्माके स्वरूपका वर्णन विधिरूपसे किया जाता है—यही परमात्माके स्वरूपका 'अन्वय' रूपसे वर्णन है। एवं परमात्मा आकारवाला नहीं, विकारोंवाला नहीं, क्रियावाला नहीं, मनके द्वारा चिन्तनमें आनेवाला नहीं, संकेतमें आनेवाला नहीं, व्यक्त नहीं, चलनशील नहीं, सान्त नहीं, सीमावाला नहीं, इत्यादि जो परमात्माके स्वरूपका निषेधरूपसे वर्णन किया जाता है—यही परमात्माके स्वरूपका 'व्यतिरेक' रूपसे वर्णन है।

परमात्माके स्वरूपको तत्त्वतः जाननेकी इच्छावाले साधकको चाहिये कि उपर्युक्त दोनों प्रकारोंसे यही निश्चय करे कि एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सब देश और सब कालमें विद्यमान हैं, उनसे भिन्न कुछ नहीं है।

एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना ।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥ ३६ ॥

(ब्रह्मन् !)

भवान्	=तुम
परमेण	=उत्कृष्ट
समाधिना	=समाधिके द्वारा
एतत्	=मेरे इस
मतम्	=सिद्धान्तमें
समातिष्ठ	=भलीभाँति स्थित हो जाओ। (इससे तुम)
कल्पविकल्पेषु	=कल्प-कल्पान्तरोंमें भी
कर्हिचित्	=कभी कहीं भी
न विमुह्यति	=मोहित नहीं होगे।

व्याख्या—ब्रह्मन् ! तुम सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित परम समाधिमें स्थित होकर निश्चयपूर्वक मेरे इस उपर्युक्त सिद्धान्तको भलीभाँति स्वीकार करो । यों करनेसे तुम अनेक कल्प-कल्पान्तरोंमें सृष्टिकी रचना करते हुए कभी कहीं भी मोहित नहीं होओगे ।

इस प्रकार भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीको आदेश दिया है । अतः साधकको चाहिये कि वह सब प्रकारसे यही निश्चय करे कि एक सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही सब देश और सब कालमें विद्यमान हैं, उनसे भिन्न कुछ नहीं है । यों करनेसे वह शोकमोहादि सम्पूर्ण विकारों और दुःखोंसे मुक्त हो परमशान्तिस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो सकता है ।

पथिक रे !

(रचयिता—श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)

पथिक रे ! अभी कहाँ विश्राम !!
रुकना तेरा धरम नहीं है, चलना तेरा काम ॥
जनम-जनमका तू यात्री है, जुग-जुग, आठों याम ।
चल, चल, चल, उठ, उठ, आगे बढ़, क्यों रुकता बेकाम ?
पथिक रे !

अरे बटोही ! ठीक समझ ले, गति जीवनका नाम ।
गति मिलती है निष्ठासे ही, श्रमपर डाल लगाम ॥
पथिक रे !

लक्ष्य निकट फिर घड़ी यही शुभ, देख ! दूर है शाम ।
भ्रम-संशयसे भटका अबतक दिखता दूर मुकाम ॥
पथिक रे !

संशयसे ही सर्वनाश है, ले निश्चयसे काम ।
एक दृष्टि रख, एक लक्ष्य रख, कर निर्णय अविराम ॥
पथिक रे !

लक्ष्य भूलकर मारग भटका, अटका ग्राम-कुग्राम ।
दृष्टि न बिगड़े, लक्ष्य न भूले, तब ही पंथी नाम ॥
पथिक रे !

देह नहीं रे ! तू देही है, क्या श्रम ! क्या विश्राम !!
चेतन, दिव्य, चिरंतन है तू, अविनाशी बल-धाम ॥
पथिक रे !

देह-भावसे सारी दुर्गति, खूब चुकाया दाम ।
भय-भ्रम तज दे, मूढ़ न बन फिर, सन्मुख शुभ परिणाम॥
पथिक रे !

इधर-उधर क्यों तके सहारा ? खुद अपनेको थाम ।
पंथ अनूपम, पग-पग पावन, भीतर है सुखधाम ॥
पथिक रे !

'एकाकी हूँ'—इस कुभावसे बिगड़ा खेल तमाम ।
गरभ-दशामें जो रक्षक था भूल न उसका नाम ॥
पथिक रे !

बाहर तेरे शत्रु नहीं हैं, घटमें कर संग्राम ।
चल कुछ ऐसी चाल मुसाफिर ! मिले सदा आराम ॥
पथिक रे !

विश्व-पथिकता तज अब प्यारे ! तज सब मारग वाम ।
आप स्वयं तू विश्व-रूप है तुझमें तेरा राम ॥
पथिक रे ! अभी कहाँ विश्राम !!
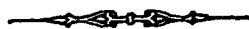
भोग और भगवान्

(लेखक—पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

यह ठीक है कि सभी कामनाओं तथा वरोंके उद्गम—सर्वश्रेष्ठ प्रापक भगवान्‌के श्रीचरण ही हैं[1]। और यह भी ठीक है कि एक ही साथ समस्त कामनाओंकी पूर्ति भी एकमात्र भगवद्भजनसे ही सम्भव है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(श्रीमद्भा० २।३।१०)

क्योंकि निखिल ब्रह्माण्डाधिपति होनेके साथ-साथ वे सर्वोपरि उदार तथा परम स्वतन्त्र—सर्वथा निजतन्त्र भी हैं[2]। अतः उनके तनिक भी प्रसन्न हो जानेपर विश्वकी कोई भी वस्तु, स्वाराज्य, साम्राज्य, ऐन्द्र, ब्राह्म, प्राजापत्य आदि पद भी दुर्लभ नहीं; वे बड़ी सुगमतासे प्राप्त हो सकते हैं[3]। अधिक क्या, जिन मङ्गलमयी महालक्ष्मीके कृपाकटाक्षके लिये ब्रह्मादि देवताओंने युगोंतक तपस्या की, वे ही चञ्चला कमला अपने निवासस्थान कमलवनका परित्याग कर बड़े अनुरागसे प्रभुके श्रीचरणोंमें सुस्थिर हुईं। तब भला, उन चरणोंके आश्रय—समाराधनसे बढ़कर उन लक्ष्मीकी कृपाप्राप्ति—ऐश्वर्यलाभका साधन भी क्या हो सकता है—

ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्ष-
कामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय
यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता॥[4]
(श्रीमद्भा० १।१६।३२)

जाकें बिलोकत लोकप होत, बिसोक लहैं सुरलोक सुठौरहि।
सो कमला तजि चंचलता, करि कोटि कला रिझवै सुर मौरहि॥
(कवितावली, उत्तर० २६)

जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कतहूँ।
हरि पद पंकज पाइ अचल भइ कर्म बचन मनहूँ॥
(विनय०)

अखिलब्रह्माण्डनायक भगवान्‌के चरणोंके शरण होकर उनका ध्यान करते हुए उनके नाम-जपसे लौकिक स्रग्-चन्दन-वनितादि भोगोंकी तो बात ही क्या, अणिमादिक दिव्य ऐश्वर्य तथा विभवभोग भी दौड़े आते हैं—

साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥
जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाएँ। धर्मसील पहिं जाहिं सुभाएँ॥
यथा भूमि सब बीजमय नखत निवास अकास।
राम नाम सब धर्ममय जानत तुलसीदास॥

बिना किसी योग, जप, तप, यज्ञ, व्रतका अनुष्ठान किये, बिना ही कोई क्लेश उठाये, एकमात्र श्रीरामभद्र राघवेन्द्रके

---

१. सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम्।
(श्रीमद्भा० २।६।६)

२. (क) ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं।
(ख) एकै दानि सिरोमनि साँचो।
जोइ जाच्यो सोइ जाचकताबस फिरि बहु नाच न नाचो।

३. तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे।
(श्रीमद्भा० ४।१८।२०)

४. (क) नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्
दुःखच्छिदं ते मृगयामि कंचन।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया
श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया॥
(श्रीमद्भा० ४।८।२३)

(ख) श्रियमनुचरतीं तदर्थिनश्च
द्विपदपतीन् विबुधांश्च यत्स्वपूर्णः।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः
कथममुमुद्विसृजेत्पुमान् कृतज्ञः॥
(श्रीमद्भा० ४।३१।२२)

५. (क) यद् भ्रूवर्तवर्तिन्यो सिद्धयोऽष्टौ नृपात्मज।
तमाराध्य हृषीकेशमपवर्गोऽप्यदूरतः॥
नितान्तं कमलाकान्ते शान्तचित्तं निधाय यः।
संशीलयेत् क्षणं नूनं कमला तत्र निश्चला॥
(स्कन्द० काशीखण्ड २४)

(ख) हरेराराधनं पुंसां किं किं न कुरुते बत।
पुत्रमित्रकलत्रार्थराज्यस्वर्गापवर्गदम्॥
(स्कन्द० काशी० २१।५२

चरणोंके अनुरागमात्रसे ही तुरंत समस्त लौकिक तथा बिना ही भरे समस्त पारलौकिक श्रेष्ठातिश्रेष्ठ सुख भी सुलभ हो जाते हैं—

बिनु बिराग जप जाग जोग ब्रत, बिनु तप बिनु तनु त्यागे।
सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभु पद प्रयाग अनुरागे॥
(गीतावली, उत्तरकाण्ड १५)

बिना ही किसी साधन-सम्पत्तिके सच्चे हृदयसे नारायण-चरणाश्रित प्राणीको समस्त पुरुषार्थ—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।
तां विना सर्वमाप्नोति यदि नारायणाश्रयः॥[६]

ध्रुवका सर्वोन्नत पद श्रीमन्नारायणके श्रीचरणाश्रयका ही परिणाम है। अनन्त बार अपने सिर-सरोजद्वारा शिवाराधनके फलस्वरूप किंचित्कालके लिये जिस सम्पत्तिको रावणने प्राप्त किया, उसे ही लाख नाहीं-नाहीं करते रहनेपर भी नमस्कारमात्रसे श्रीरामभद्रने बड़े संकोचके साथ अत्यन्त न्यून समझते हुए श्रीमद्विभीषणको कल्पपर्यन्तके लिये दिया—

जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जग माहीं॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन बृष्टि नभ भई अपारा॥
जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥

या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेन शंकरात्।
दर्शनाद्रामभद्रस्य सा विभूतिर्विभीषणे॥
(हनुमन्नाटक)

सुग्रीव भी लाख 'नाहीं' करते रहे—राज्य-परिवार छोड़कर अहर्निश भजनकी बात कहते रह गये; पर उन्हें भी प्रभुने अखण्ड राज्य दे ही दिया—

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥
सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥
सुनि बिराग संजुत कपि बानी। बोले बिहँसि राम धनुपानी॥
जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥

इसी प्रकार कर्दम प्रजापतिका दिव्य ऐश्वर्य-भोग, सुदामाका वैभव तथा मौद्गल्य ऋषिका वैभव (ब्रह्मपुराण १३६) एवं भरद्वाज महर्षि आदिद्वारा प्रदर्शित वैभव (रामचरितमानस, अयोध्या०) अन्यान्य साधनोंद्वारा कभी भी सम्भव न थे। तथापि भोगेच्छा अशुद्ध बुद्धिमें ही रह सकती है। जबतक भोगोंके प्रति तनिक भी सरस आकर्षण बना है, तबतक बुद्धिमें शुद्ध सत्त्वका अभाव ही समझना चाहिये; वहाँ शीतलता, शान्ति या व्यवसायात्मिका मति नहीं है। विशुद्ध शान्त मतिमें, भोगेच्छाकी तनिक हलचल, विषय-सम्भोगलब्ध भीषणाग्निका लेश भी असह्य हो जायगा। फिर विशुद्ध भक्तके हृदयमें तो भोग सर्वथा दीर्घ रोग-जैसे ही बाधक प्रतीत होते हैं—

जे रघुबीर चरन अनुरागे। ते सब भोग रोग सम त्यागे॥
राम चरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं॥
रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥
तजेउ भोग जिमि रोग लोग अहिगन जनु।
मुनि मनसहुँ ते अगम तपहिं लाएउ मनु॥

अहिमिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेद् यः
कुणपमिव कुनारीं त्यक्तुकामो विरागी।
विषमिव विषयादीन् मन्यमानो दुरन्तान्
जगति परमहंसो वासुदेवस्य भक्तः[७]॥

इसलिये ध्रुव, सुदामा, (भरत, जनक) आदि भोगोंमें रहकर भी जलके बीच कमलके समान सर्वथा उनसे निर्लिप्त रहे। वे चम्पकोद्यानस्थ भ्रमरके समान भोगोंसे सर्वथा असंस्पृष्ट रहे। भगवद्दर्शनके उपरान्त इनका विषयोंकी ओर रहा-सहा आकर्षण समाप्त हो गया—

'परं दृष्ट्वा निवर्तते' (गीता २। ५९)

ज्ञेयके अज्ञात रहने तथा परमतत्त्व परब्रह्मके अप्राप्त होनेतक भोगवासनाकी आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव भी नहीं—

ज्ञेयं यावन्न विज्ञातं तावत्तावन्न जायते।
विषयेष्वरतिर्जन्तोर्मरुभूमौ लता यथा॥
(योगवा० २। २। ९)

जैसे मरुभूमिमें लताकी उत्पत्ति सम्भव नहीं, वैसे ही तत्त्वके अज्ञात रहते विषयरति नहीं मिटती; विज्ञातज्ञेय

६. (क) सर्वानपीष्टं च प्राप्नोति चिन्तयन् मधुसूदनम्।
एकान्तभक्तिः सततं नारायणपरायणः॥
(महा० शान्तिपर्व ३४८। ७१)

(ख) यद् दुर्लभं यदप्राप्यं मनसो यन्न गोचरम्।
तदप्यप्रार्थितं ध्यातो ददाति मधुसूदनः॥
(गरुडपु० २२२। १२)

(ग) आराध्य विधिवद्देवं हरिं सर्वसुखप्रदम्।
प्राप्नोति पुरुषः सम्यक् यद् यद् प्रार्थयते फलम्॥
(गरुडपु० २२६। ४९)

७—अहेरिव जनाद्भीतः सौहित्यान्नरकादिव।
कुणपादिव कुस्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥
(महाभारत)

पुरुपको विषय विपके समान प्रतीत होते हैं[८]। उसे रम्यसे भी रम्य भोगभूमि रञ्चमात्र भी आकृष्ट नहीं कर सकती[९]। हृदयमें काम, क्रोध, मत्सर आदि दोषोंका तभीतक पड़ाव पड़ा रहता है, जबतक वहाँ भगवान्‌का प्रतापरूपी सूर्य उदित नहीं होता—

तब लगि हृदयँ बसत खल नाना। काम क्रोध मत्सर अभिमाना॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरें चाप सायक कटि भाथा॥
ममता तरुन तमी अँधियारी। रागद्वेष उलूक सुखकारी॥
तब लगि बसत जीव उर माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं॥

विभीषण स्वयं कहते हैं कि आपके दर्शनके पहलेतक थोड़ी-सी कुछ वासना रह गयी थी, किंतु अब तो वह आपके पदकमलकी प्रीति-सरितामें बह चुकी—

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥
अब कृपालु निज भगति पावनी। देहु दया करि सिव मन भावनी॥

वस्तुतः जबतक विषयोंकी मिथ्या मधुरिमा मनसे नहीं जाती, तबतक शुद्ध सात्त्विकी वैष्णवी भक्तिका तो उदय भी नहीं समझना चाहिये—

तुलसी जब लगि विषय की मुधा माधुरी मीठि।
तौ लौं सुधा सहस्र सम रामभगति सुठि सीठि॥

अन्य क्षुद्र देवताओंकी भक्तिकी बात चाहे जैसी हो पर हरिभक्तिकी तो यह खास विशेषता है।

विषय विडम्बना

भगवद्भक्ति, ज्ञान या जप, तप, मौन, व्रत, तीर्थ, देवार्चन, दान आदि किसी भी अनुष्ठानमें विषयासक्ति, भावदोष सर्वसंहारक है—

किं तज्जपेन तपसा मौनेन च व्रतेन च।
सुरार्चनेन दानेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्॥
(ब्रह्मवैवर्तपुरा० ब्रह्म० १६। ९०; श्रीमद्भा० ११। १४। ३०; ११। २६। १३; महा० अनु० ३८। ४०; नारदपु० ७। ८)

मनु भी कहते हैं कि कामादि भावदोषसे दूषित चित्तवालेकी उपासना, यम-नियम, तप, त्याग या स्वाध्याय, कुछ भी सिद्ध नहीं होता—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥
(मनु० २। ९७)

'विप्रदुष्टभावस्य—स्त्र्याद्यासक्तस्य'
(राघवानन्द, गोविन्दराज, मेधातिथि)

अतः काम आदिसे सावधान रहकर ही भगवत्सेवा करनी चाहिये—

सेवहिं तजे अपनपौ चेते।　　　　(विनय०)

वासनाकी उत्पत्ति ही इन्द्रिय, मन, प्राण, आत्मा, धर्म, धैर्य, बुद्धि, ह्री, श्री, तेज, स्मृति (शास्त्रज्ञान) तथा सत्यका संहारक है—

इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः।
ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना॥
(श्रीमद्भा० ७। १०। ८)

यस्य—कामस्य

ज्यों ही साधक कामादि दोषोंसे सर्वथा उन्मुक्त हो जाता है, उसी समय भगवत्प्राप्तिके या भगवान्‌के समान ही ज्ञानादि ऐश्वर्योंके प्राप्त होने योग्य बन जाता है—

विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते॥
(श्रीमद्भा० ७। १०। ९)

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(कठ० २। ३। १४)

कुन्तीने ऐसे ही मुक्तकाम, आत्मारामोंके विशुद्ध सत्त्वसंयुक्त शान्त हृदयमें भक्तियोगके विधानार्थ भगवदवतारका होना—भगवान्‌के श्रीविग्रहका प्रकट होना बतलाया है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥
(श्रीमद्भा० १। ८। २०)

८—विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते।
जन्मान्तरघ्ना विषया एकदेहहरं विषम्॥
(योगवासिष्ठ १। २९। १३)

९—(क) कृमिभिः पीड्यमानस्य कुष्ठिनः पामरस्य च।
कण्डूयनाग्नितापेन यत्सुखं स्त्रीषु तद् विदुः॥
(पद्म० भूमि० ६६। ११२)

(ख) यादृशं मन्यते सौख्यं गण्डे पूतिविनिर्गमात्।
तादृशं स्त्रीषु मन्तव्यं नाधिकं तासु विद्यते॥
(शिवपुराण, वायवीयसं० २। ३। २७)

(ग) यन्मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्।'
(श्रीमद्भा० ७। ९। ४५)

पूर्ण निष्काम हृदयमें ही भगवान्‌का आवास सम्भव है। कामनाकलुषित चित्तमें भगवान् वैसे ही नहीं रहते जैसे रात्रिमें सूर्य—

जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकैं, रवि रजनी एक ठाम॥

आत्माराम-मुनिगणाकर्षित्व भगवान्‌का एक विशिष्ट गुण है। शुकदेवजी आदि ऋषिगण निर्गुणमें परिनिष्ठित होकर भी भगवद्‌गुणोंसे आक्षिप्त होकर भागवत-अध्ययन-अध्यापनमें प्रवृत्त हो गये—

आत्मारामा हि मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥
हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥

योगवासिष्ठकी दृष्टिमें तो अन्तःशीतलता, कामाद्यनुपहतचित्तता ही जीवन्मुक्ति तथा परमपुरुषार्थता है। श्रीमद्भागवतादि अन्य भी सभी शास्त्रोंके अनुसार षड्वर्गसंयमपूर्वक भगवदुपासनामें ही लक्ष्यकी परिपूर्णता है—

षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः।
तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः॥
(श्रीमद्भा० ७। १५। २८)

उपाय क्या ?

भोगतृष्णा-शून्यतामें निश्चय ही भगवत्कृपा ही प्रधान हेतु है—

नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध निसि सोवत जागा॥
लोभ पास जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥
यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥

किंतु सदा-सर्वदा नित्य-निरन्तर भगवच्चर्चामें निरत रहना ही वासना-शून्यताका सर्वोत्तम उपाय है। श्रीमद्भागवतमें इसे बार-बार बतलाया गया है।—आरम्भमें ही सूतजी कहते हैं—

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
(१। २। १६)

अर्थात् पुण्यश्रवणकीर्तन भगवान् श्रीकृष्ण अपनी चर्चा—लीला-कथा सुननेवालोंके हृदयमें बैठकर उनके समस्त कामादि अमङ्गलकर दोषों तथा पापोंको समूल ध्वंस कर देते हैं। इसी ग्रन्थमें आगे चलकर नारदजी श्रीव्यासदेवको बतलाते हैं कि योगशास्त्रके चित्तनिरोधक यम-नियमासनादि साधनसे काम-लोभादि-उपहतचित्त उतना शीघ्र तथा वैसा शान्त नहीं होता, जैसा कि वह हरिचर्चा—हरिचर्याके परिशीलनसे होता है।

एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः।
भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम्॥
यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत् तथात्माद्धा न शाम्यति॥
(श्रीमद्भा० १। ६। ३५-३६)

ऐसी दशामें भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा करते हुए—

स्रवनन्हि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं,
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि, सीस ईसही नैहौं॥

कानन दूसरो नाम सुनैं नहिं, एकहि रंग रँग्यो यह डोरो।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़ै, रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो॥
ठाकुर चित्त की वृत्ति यहै, हम कैसेहुँ टेक तजैं नहिं भोरो।
बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ, जो साँवरो छाड़ि निहारति गोरो॥

सरग नरक अपबर्ग समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना॥
करम बचन मन राउर चेरा। ··· ··· ···॥

'श्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि।'

—की ही स्थितिमें साधनामें लगे रहना ही इसका सर्वोत्तम उपाय है। और स्वभाव बन जानेपर फिर तो यही सर्वोत्तम सिद्धि भी है—

'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'

शूल-फूल

नहीं चाहती याद रखूँ मैं, वरं चाहती जाऊँ भूल।
पर हटता वह नहीं हृदयसे, सदा चुभाता रहता शूल॥
कठिन नुकीला शूल किंतु वह बन जाता तुरंत मृदु फूल।
मुझे सदा असीम सुख देता, काट बहाता दुखका मूल॥

कुछ महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य विषय

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त, श्रीअरविन्दाश्रम)

[श्रीमाताजीके प्रवचन आधारपर लिखित]

(१)

सृष्टिकी कहानी

चेतना ही सृष्टिका मूल स्रोत और आधार है। यहाँतक कि ऊपरसे अचेतन दिखायी देनेवाली अत्यन्त स्थूल वस्तुके अंदर भी, जैसे पत्थर आदिके अंदर भी, चेतनाका प्रकम्पन विद्यमान है। जहाँपर कोई भी चेतना बिल्कुल है ही नहीं, उसे निश्चेतना कहते हैं। अगर तुम कभी निश्चेतनाके अंदर उतरो, कहनेका तात्पर्य यदि तुम कभी निर्जीव पत्थरसे भी नीचेके स्तरमें जाओ तो तुम इस भेदको समझ जाओगे। पत्थर और निश्चेतनाके बीचकी खाई बड़ी चौड़ी है, बहुत अधिक चौड़ी है। सच पूछो तो पत्थर और मनुष्यके बीच जो खाई है, उससे भी कहीं अधिक चौड़ी वह खाई है। चेतनाकी एक गुप्त धारा है, जो मनुष्यको पत्थरसे जोड़ती है, परंतु पत्थरके परे तो मानो एक अतल गह्वर है, एक ऐसी चीज है जिसपर पुल बनाया ही नहीं जा सकता। निश्चेतना महाशून्य है, नितान्त खालीपन है; वह कोई वस्तुसत्ता पदार्थ नहीं है बल्कि विशुद्ध अभावात्मक स्थिति है। भौतिक विश्वके पीछे चेतना विद्यमान है। यदि वहाँ वह चेतना न होती तो अणु-परमाणुके उपादानरूप भौतिक कणोंके अंदर जो अद्भुत संगठन दिखायी देता है, वह वहाँ कभी न विद्यमान होता। भौतिक सृष्टिसे पूर्व निश्चेतना ही विद्यमान थी।

सृष्टिका मूल है एकमेव अविभाज्य सत्य सत्ता और उसकी विशुद्ध चेतना। इस परात्पर चेतनाने अपने-आपको विषयीभूत करना चाहा, अपने-आपको स्वयं अपने अंदरसे ही निकालना चाहा, खेल करते हुए अपने-आपको देखना चाहा—उपनिषद् कहती है, एकमेवने एक द्वितीयकी, अपने लिये एक साथीकी इच्छा की, 'स द्वितीयमैच्छत्।' अपने-आपको विषयीभूत करनेकी यह शक्ति एक स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति है, जो चेतनाको इसलिये दी गयी है कि वह अपनी मूल एकीभूत स्थितिसे बाहर निकल सके, अपनी इच्छाके अनुसार चारों ओर और दूर-दूरतक विचरण कर सके। इस तरह परात्पर भगवान्ने स्वयं अपने-आपको आत्म-अभिव्यक्तिकारिणी अपनी ही शक्तिके रूपमें देखा और वही थी मातृ-चेतना, आद्याशक्ति, अदिति—चिच्छक्ति और फिर यह शक्ति जब अपने सृजनात्मक आवेगके साथ आगे बढ़ी, तब उसने अपने-आपको प्राथमिक चार प्रधान विभूतियोंमें अभिव्यक्त किया (महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती)। परंतु यह स्वतन्त्र प्रवृत्ति, जो कि अपने-आपको पृथक् करने तथा आत्माभिव्यक्ति और विकासकी एक स्वतन्त्र धारामें अग्रसर होनेके लिये स्वाधीन थी, स्वतन्त्र चुनावके अपने स्वभावके प्रायः एक युक्ति-संगत परिणामके रूपमें ही, तुरंत निश्चेतना-रूप अस्वीकृति-की, अभावकी स्थितिमें जा गिरी। अतएव, परात्पर भगवान्-के विरुद्ध, भागवत चेतनाके सम्मुख खड़ी हो गयी नितान्त अचेतनता-ज्योति विलीन हो गयी। एकान्त अन्धकारके अंदर। यह था तो चेतनामें विद्यमान आत्म-चुनावका ही परिणाम, पर उसका अन्त हुआ चेतनाकी एकदम विपरीत स्थितिमें।

वह स्थिति एकदम नीरवताकी स्थिति थी, वह मृत्युसे भी अधिक नीरव थी और स्वयं निश्चल-नीरवतासे भी कहीं अधिक मृत थी। और यह स्थिति थी चूडान्त निस्सहायता और आशाहीनताकी।......भागवत चेतना अर्थात् अदिति-ने भवितव्यताकी उस भयावनी धाराको देखा जिसे स्वतन्त्रता-ने अपनाया था और जिसमें वह परिसमाप्त हुई थी; वह इसे जरा भी सह न सकी और साहाय्य प्राप्त करनेके लिये उसके अंदरसे एक चीख निकल पड़ी। और तुरंत ही उसका उत्तर भी आया, एकमेव परमा चेतनासे एक किरण फूट निकली और निश्चेतनाके गर्भमें पैठ गयी। बस, एक महान् चमत्कार घटित हो गया, जड-तत्त्व उत्पन्न हो गया, प्रथम सृष्टि दृष्टिगोचर हो गयी, सर्वोच्च कृपा-शक्तिकी प्रथम अभिव्यक्ति सिद्ध हो गयी। जड-तत्त्वके अंदर चेतनाकी चिनगारी मौजूद है जो वर्द्धित होगी और अपनेको विकसित करेगी। निश्चेतनाके ढकनेवाले तमके अंदर अधिकाधिक चमकेगी, निश्चेतनाको क्रमशः आलोकित करती जायगी तथा उसकी सीमाओंको निरन्तर पीछेकी ओर और दूर-दूरतक ठेलती जायगी।

जड-तत्त्वके जन्मके साथ-ही-साथ परात्पर चेतनाका एक दूसरा अवतरण भी घटित हुआ; वह है विभिन्न स्तरोंकी क्रमपरम्परा जो उच्चतमको निम्नतमके साथ मध्यवर्ती रचनाओंके द्वारा जोड़ती है; वे स्तर जडतत्त्वके अंदर बीज-रूपमें निहित हैं जिसमें कि जड-तत्त्व उन्हें धारण कर सके और धीरे-धीरे अपनी अन्तर्निहित विकसनशील चेतनाके द्वारा तबतक उन्हें अभिव्यक्त करता रहे जबतक कि उच्चतम वैसे ही यहाँ प्रकट और मूर्तिमान् नहीं हो जाता, जैसे कि वह उच्चतम शिखरपर सर्वदा ही स्व-प्रकाशित रहता है।

क्रमवार अवतरण होनेपर, विभिन्न लोकों और स्तरोंकी क्रमपरम्परा प्रकट होनेपर, प्रत्येक क्षेत्रके अनुरूप नाना प्रकारकी शक्तियाँ और सत्ताएँ भी प्रकट हो गयीं। सबसे पहले, उनमें सबसे प्रथम हैं असुर, बल्कि यों कहें कि आदि-असुर—सबसे पहली चार शक्तियाँ (इनकी कुछ स्मृति हमें क्रोनोस (Chronos) और उसके वंशके रूपमें यूनानी पुराणोंमें विद्यमान प्रतीत होती है)। ये विभाजनकी, निश्चेतनाकी शक्तियोंके मूर्त्त रूप हैं; ये नकारात्मक स्थितिको प्रस्थापित करनेवाली शक्तियाँ हैं। इन असुरोंके विरुद्ध, विभाजनकी प्रथम पंक्तिके सम्मुख, ज्योतिके अवतरणके एक पक्षमें आ खड़े हो गये आदि-देवगण, भागवत चेतनाकी प्रमुख शक्तियाँ और व्यक्ति-सत्ताएँ। तबसे सर्वदा ही देवताओं और राक्षसोंके बीच पृथ्वीपर अधिकार जमानेके लिये संग्राम चल रहा है। एक दिन इस संग्रामका अन्त अवश्य होगा। इसका अर्थ होगा निषेधात्मक शक्तियोंका विलयन, कम-से-कम पार्थिव राज्यके अंदर, तथा पृथ्वीपर ज्योतिके राज्यकी प्रतिष्ठा।

पृथ्वी एक रूपक है

पृथ्वी इस स्थूल जगत्का केन्द्र है। इसकी सृष्टि उस शक्तिको केन्द्रीभूत करनेके लिये हुई है जिसका काम है जड-तत्त्वको रूपान्तरित करना। यह जड-तत्त्वमें निहित दिव्यशक्तिको सूचित करनेवाला एक रूपक है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं। पृथ्वीका सृजन हुआ था भागवत चेतनाके साक्षात् हस्तक्षेपके द्वारा। एकमात्र पृथ्वीपर ही भगवान्‌के साथ सीधा सम्पर्क रहता है और प्राप्त हो सकता है। पृथ्वी दिव्य ज्योतिको आहरण करती, विकसित करती तथा विकीर्ण करती है। ज्योतिकी ये किरणें देशके अंदर फैल जाती हैं और जहाँ-जहाँ जड-तत्त्व होता है वहाँ-वहाँतक चली जाती हैं। यह स्थूल विश्व, कुछ हदतक, उस दानमें भागवत चेतनाके प्रकाश और सामञ्जस्यमें हिस्सा बँटाता है जिसे यह पृथ्वी ले आती है। परंतु केवल पृथ्वीपर ही उस चेतनाका पूर्ण और अन्तिम विकास साधित होता है।

चैत्य पुरुष* महज इस पृथ्वीपर ही पाया जाता है, क्योंकि यह इस धरित्रीकी ही एक उपज है। यह जड-तत्त्वके ऊपर भगवान्‌का ही स्पर्श है। चैत्य पुरुष पृथिवी-माताका एक बालक है। यह धराधामपर उत्पन्न होता और बड़ा होता है, यह अन्य किसी स्थानका रहनेवाला नहीं है। फिर भी जब यह पर्याप्त मात्रामें विकसित हो जाता है और एक वयस्क व्यक्तित्व बन जाता है, तब यह अन्यान्य भौतिक क्षेत्रोंमें जा सकता है, उदाहरणार्थ अन्य ग्रहोंमें भी घूम सकता है।

शरीर गुह्यक्रियाका एक माध्यम है

शरीरका भी अपना एक निजी व्यक्तित्व होता है। यह एक सुसंगठित रचना है और अपने प्रत्येक और सभी अङ्गोंमें एक पूर्ण सत्ताके रूपमें कार्य करता है। मानव-शरीर विशेषरूपसे एक ऐसी ही रचना है; क्योंकि यह उस चेतनाके द्वारा चालित और शासित होता है जो इसपर छायी रहती है अथवा जो इसका गठन करती है, जो इसकी मालकिन होती है और जिसकी इच्छाको ही यह बड़ी सावधानीसे कार्यान्वित करती है।

शरीर इस जगत्का एक संक्षिप्त रूप है। यह अपने ढाँचेके अंदर समूचे जगत्को, विशेषकर पृथ्वीको लिये हुए है,—पृथ्वी स्वयं भी सारे विश्वका एक संक्षिप्त आकार है—एक छोटे-से परिमाणके अंदर, पिंड ब्रह्माण्डके सभी आकारों और स्वभावोंको प्रकट कर रहा है।

ऐसी बात होनेके कारण एक पूर्णतः सचेतन शरीर, जो परात्पर भागवत चेतनाद्वारा संचालित और अनुप्रेरित होता है, विश्वव्यापी ताल-छंदके अंदर निवास करता और चलता-फिरता है। वह अपने अंदर जगत्की सभी घटनाओंका केवल लेखा ही नहीं उतार लेता, बल्कि अपनी व्यक्तिगत गतिविधिके द्वारा उन घटनाओंको अधिकृत करने तथा यहाँतक कि

---

* चैत्य पुरुष श्रीअरविन्दकी योग-साधनाका एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और इसके स्वरूप और कार्यका विवेचन अन्य किसी साधनामें इतने स्पष्ट रूपमें नहीं किया गया है। इसके विषयमें श्रीअरविन्द तथा श्रीमाताजीके विचार किसी अन्य मौकेपर 'कल्याण' के पाठकोंके सामने रखे जायँगे। —अनुवादक

उन्हें परिवर्तित कर देनेकी एक सक्रिय शक्ति भी रखता है। हम पृथ्वीके एक प्रकारके नक्शे या चार्टके रूपमें शरीरकी कल्पना कर सकते हैं। पृथ्वीपरका प्रत्येक बिंदु एक विशिष्ट बिन्दुके द्वारा—उदाहरणार्थ, कोषोंके एक विशेष दलके द्वारा—शरीरके अंदर परिलक्षित होता है। यदि शरीरपर शासन करनेवाली चेतना उस बिन्दुपर एकाग्र हो और वहाँ एक परिवर्तन ले आये तो पृथ्वीका जो भाग और जो अवस्थाएँ उससे सम्बन्धित हैं, उनमें अपने-आप एक बड़ी मात्रामें वैसा ही परिवर्तन लाया जा सकता है। इस प्रकार बिना कहीं बाहर गये और इधर-उधर घूमे, साक्षात् वस्तुओंको जाननेके लिये ठीक घटनास्थलपर बिना मौजूद रहे, अपने कमरेमें बैठे-बैठे, अपने शरीरके एक कोनेमें मानो कोई चाभी घुमाकर ही मनुष्य पृथ्वीके एक विशिष्ट क्षेत्रमें घटनाओंकी एक लंबी धाराको गतिशील बना सकता है। अपने शरीरके अंदर कुछ थोड़े-से कोषोंमें ज्ञानपूर्वक कुछ हेर-फेर लाकर तुम जागतिक परिस्थितिमें अपनी इच्छाके अनुसार परिवर्तन ला सकते हो। इस तरह हम कह सकते हैं कि पृथ्वीपर घटनेवाली घटनाओंकी दृष्टिसे हमारा शरीर चेतनाके लिये वह कमरा है जहाँसे सारी बातोंको संचालित किया जा सकता है। अवश्य ही चाहे कोई भी शरीर ऐसा करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। जो शरीर ऐसा करनेके लिये निर्दिष्ट है और इस कार्यकी शिक्षा पा चुका है केवल वही ऐसा कर सकता है।

इस तरीकेसे हमारा शरीर पृथ्वीपर शक्तिशाली परिवर्तन ले आने तथा सृजन करनेका एक साधन: एक यन्त्र बन जाता है। शरीरकी गुह्य शक्तिकी यह कल्पना ही प्राचीन युगके मानव-समाजमें विशेषरूपसे प्रचलित बलिदानकी प्रथा या व्यवस्थाके मूलमें विद्यमान थी। यूनान देशमें इफिजीनिया (Iphigenia) को देवताओंका क्रोध शान्त करने तथा यूनानियोंको विजय दिलानेके लिये बलि चढ़ा दिया गया था। कभी-कभी मानव-बलिके बदले किसी पशुकी बलि भी चढ़ायी जाती थी और उससे उसी रूपमें और वही उद्देश्य सिद्ध होता था। और एक उच्चतर अर्थमें—निःसंदेह सबसे ऊँचे अर्थमें—किसी शरीरकी बलि ऐसे ढंगसे—सम्पूर्ण और सर्वाङ्गीणरूपमें—चढ़ायी जा सकती है जिसमें कि भौतिक जगत्‌में उसीके अनुरूप एक सर्वाङ्गीण उलट-फेर या पुनःसंगठन स्थापित हो जाय। जो मनुष्य अपने-आपको यज्ञ-कुण्डमें हवन कर देता है:—भगवान्‌की बलि-वेदीपर अपने-आपको भस्म कर देता है—अपने लिये कुछ भी बचाकर नहीं रखता, एकमात्र भगवान्‌के लिये ही जीवन धारण करता है, वह अपने अंदर भागवत संकल्पको उतारकर समूची पृथ्वीके जीवनमें एक भागवत उपस्थित और रूपान्तरको उतार लाता है। पूर्ण भौतिक बलिदानके फलस्वरूप अनिवार्यतः भौतिक जगत्‌में भगवान् सम्पूर्णरूपमें अभिव्यक्त और मूर्तिमान् होते हैं। (क्रमशः)

आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे भीतर शान्तिका समुद्र लहरा रहा है

भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे आज मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे भीतर उस शान्तिका स्रोत विद्यमान है, जिसे बाहरका कोई झंझावात स्पर्श नहीं कर सकता। इस आन्तरिक शान्तिका उपभोग करनेसे मुझे अब कोई अवस्था अथवा व्यक्ति रोक नहीं सकता।

अब किसी भी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिके द्वारा संत्रस्त होनेका अवसर आनेपर उससे दूर भागकर उसे अपने ऊपर और अधिक हावी होने देनेके बदले शान्त चित्त हो अपने अन्तरमें नित्य विराजमान सर्वशक्तिमान् परम सुहृद् भगवान्‌की कृपा एवं सामर्थ्यका विचार करता हूँ और तत्काल अपनेको पूर्ण निरापद पाता हूँ। अब जीवनमें जब कोई ऐसा परिवर्तन आ उपस्थित होता है, जो अपनी समझसे प्रतिकूल बोध होता है, तब उसके लिये चिन्ताग्रस्त होने, हाथ-पैर पटकने एवं उसका विरोध करनेकी अपेक्षा उस परिवर्तनके पीछे अपने प्रभुका प्रेमभरा संकेत अनुभव करता हूँ और तत्काल प्रसन्नवदन उस परिवर्तनको सिर चढ़ा लेता हूँ।

आनन्द और शान्तिका आस्वादन करनेके लिये मुझे अब अपनी परिस्थितियोंके बदले जानेकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती; अब मैं विषमताओंके बीचमें ही अपने भीतर महान् अखण्ड सुखका साम्राज्य प्राप्त करनेमें समर्थ हूँ।

आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे भीतर शान्तिका समुद्र लहरा रहा है।

मधुर

बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

किसी भगवत्प्रेमी महात्माके द्वारा भगवान्‌के स्वरूप, गुण, महत्त्व, रहस्य आदिकी कथा सुननेसे जब सांसारिक भोग-सुख-वासनाका मोह नष्ट हो जाता है तथा इस मोहका नाश होते ही भगवान्‌में दृढ़ अनुराग होता है, तब ध्यानमें, स्वप्नमें प्रत्यक्षवत् अथवा भगवत्कृपासे किसी प्रकार प्रत्यक्षमें भगवान्‌की मधुर झाँकी होती है। फिर तो उसका जीवन उन प्रियतम प्रभुके ही समर्पण हो जाता है और उसके जीवनका प्रत्येक पल परम प्रेमास्पद एकमात्र प्रभुके ही चिन्तन, स्मरण, कथनमें ही व्यतीत होता है। उसे प्रियतम प्रभुके मधुरतम स्वरूपकी अनवरत स्मृति बनी रहती है और वह सब कुछ भूलकर केवल उन्हींके मिलनकी तीव्र आकाङ्क्षासे व्याकुल रहता है। मिलनकी आकाङ्क्षामें जो तीव्र विरह-वेदना होती है, उसमें उनकी स्मृतिजन्य महान् मधुरता भरी रहती है, इसलिये वह उस स्थितिमें भी परमानन्दका अनुभव करता है।

श्रीराधारानीकी प्रेमानुकरणपरायण, एवं प्रेमके उच्चस्तरपर आरूढ़ भाग्यवती एक गोपाङ्गना अपनी प्यारी सखीसे कहती है—

जब तें मैं देखे मनमोहन
ठाढे रबितनया के तीर।
तब तें कल न परत पल भर मोहिं,
मन अति बिकल, धरत नहिं धीर॥
नैननि झरत सलिल निसि बासर,
नींद नेकु नहिं आवत रात।
बिरमत मन न कितहुँ छिन एकहु,
घर आँगन बन कछु न सुहात॥

सखी! जिस क्षण मैंने श्रीयमुनाजीके तीरपर मनमोहन श्यामसुन्दरको खड़े देखा था, उसी क्षणसे एक पल भी मुझे चैन नहीं पड़ रहा है। मन अत्यन्त व्याकुल हो रहा है, कभी धैर्य धारण करता ही नहीं। नेत्रोंसे प्रेमाश्रुजल रात-दिन झरता रहता है, रात्रिको जरा भी नींद नहीं आती। मन एक क्षणके लिये भी कहीं भी नहीं लगता। घर, आँगन, वन कुछ भी नहीं सुहाता।

अहा! कैसा अनुपम स्वरूप-सौन्दर्य था उनका—

अधर मधुर मृदु हास, सरद ससि
लजत बदन-बिधु अनुपम देख।
बिधि रचना अतीत, अतुलित
अतिसय रसमय सुषमा अवरेख॥
बिकट भ्रुकुटि, कटि पीत बसन,
सिर मुकुट-मोर, कल कुंचित केस।
झलमलात स्रुति कुंडल द्युति
दमकत कपोल, सुचि नटवर बेस॥
मधुर दृष्टि मानो बरछी-सी
करि घायल पियूख भरती।
घाव हरो ही रहत नित्य
मधु तीखी कसक मोद करती॥

मधुर अधरपर मृदु हास है, अनुपम मुख-चन्द्रको देखकर शरद्-पूर्णिमाके चन्द्र लज्जित हैं। ब्रह्माकी रचनासे अतीत अतुलनीय आत्यन्तिक रसमयी शोभा है। टेढ़ी भ्रुकुटी है, कटिमें पीत वस्त्र हैं, सिरपर मयूर-मुकुट है, सुन्दर घुँघराले केश हैं। कानोंमें कुण्डल झलमला रहे हैं, जिनकी द्युति कपोलोंपर दमक रही है। पवित्र नटवर-वेष है, दृष्टि मानो बर्छीके सदृश घायल कर देती है, पर घायल करके अमृत भर देती है, इससे वह घाव सदा हरा ही रहता है और उसकी तीक्ष्ण मधुर कसक सदा आनन्द प्रदान करती रहती है।

मेरी क्या दशा हो रही है, सखी, सुनो—

परसन कौं अँग अंग बिसूरत,
तिलमिलात मन होत अधीर।
तड़फड़ात ये प्रान नित्य,
ढूँढ़त उड़ि मिलिबे की तदबीर॥
देखन कौं पुनि सुखद स्याम-
घन बने पपीहा हैं ये नैन।
पल-पल पीउ रटत, न हरत मन,
बिकल सुनन कौं मधुरे बैन॥

मेरा एक-एक अङ्ग उसका स्पर्श प्राप्त करनेके लिये

त्रिसूर रहा है। मन तिलमिलाता और अधीर हो रहा है। प्राण निरन्तर तड़प रहे हैं और उड़कर तुरंत ही जा मिलनेका उपाय ढूँढ रहे हैं। ये मेरे नेत्र उन सुखद श्याम-घनको देखनेके लिये पपीहा बने हैं और प्रतिपल 'पिउ-पिउ' की रट लगाये हैं। मन हट नहीं रहा है। मधुर वचन सुननेके लिये प्राण व्याकुल हैं।

वह सखीसे अनुरोध करती है—

सखि ! तुम जतन करौ काहू विधि,
दरसन करि पावउँ चितचोर।
प्रान रहैं, मन नाचि उठै, भरि
मोद नचत जिमि घन लखि मोर ॥

सखी ! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे किसी भी प्रकार मैं उस चित्तचोरके दर्शन कर पाऊँ। दर्शन होनेपर ही मेरे प्राण रहेंगे और तब मेरा मन उसी प्रकार आनन्दमें भरकर नाच उठेगा, जैसे मेघको देखकर मोर मोदमें भरकर नाच उठता है।

कोई परम भाग्यवान् जन ही भोग-जगत्की परम विस्मृतिसे युक्त भगवत्स्वरूपकी नित्य अनुभूतिके इस उच्चतम सौभाग्य-स्तरपर पहुँच पाता है।

श्रीरामचरितमानसमें श्रीभरतजीकी अनन्त महिमा

(लेखक—मानसकेसरी श्रीकृपाशङ्करजी रामायणी)

श्रीरामचरितमानसमें यत्र-तत्र परम पावन श्रीरामभक्तोंका पारस्परिक सत्सङ्ग दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकारका पारस्परिक सत्सङ्ग मानसमें जहाँ भी है, वहाँ जीवोंके कल्याणकी दिव्य सरिताएँ उमड़ चली हैं। भक्तजन उन सरिताओंमें प्रमुदित होकर श्रद्धापूर्वक निमज्जन करते हैं। मज्जन ही नहीं करते, उन सरिताओंकी सुरम्य-लहरोंका परिगणन करते हुए उनकी परमपुनीत धाराओंमें प्रवाहित हो जाते हैं और दिव्य भँवरमें चकित होकर डुबकियाँ लगाने लगते हैं। इस प्रकारकी नदियाँ, संतशिरोमणि विश्ववन्द्य श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी परमपावनी, भावमयी लेखनीसे यत्र-तत्र आविर्भूत हैं। आइये, इन्हीं नदियोंमेंसे एक सुदिव्य सुसरितमें भलीभाँति. मज्जन करके कृतकृत्य होनेका सौभाग्य लाभ करें।

नदियोंकी सुषमा तरङ्गान्वित होनेमें है। तरङ्गोंके बिना नदियाँ शून्य हैं। श्रीभरतके अमल, अनुपम, अलौकिक, पावन चरित्र-पाथसे परिपूर्ण इस प्रस्तुत सरिताका उद्गमस्थल महर्षि श्रीभरद्वाजका गम्भीर हृदय ही है। इस श्रीभरतकीर्ति-सरित्में सात पवित्र लहरें हैं। प्रत्येक लहर श्रीभरतके अनुपम और उत्कृष्ट चरित्रको द्योतित करती है। प्रत्येक वीचि 'भरत' शब्दसे तरङ्गायमान होती है। उन वीचियोंकी तालिका इस प्रकार है—

१-सुनहु भरत हम सब सुधि पाई'''रामहि होत सुनत संतोषू।
२-अब अति कीन्हेहु भरत भल'''दसरथ सुअन राम प्रिय भ्राता।
३-सुनहु भरत रघुबर मन माहीं'''प्रनत कुटुंब पाल रघुराई।
४-तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥
५-तुम्ह कहँ भरत कलंक यह'''हरहु दरिद्रहि पारसु पाएँ।
६-सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं'''सहित पयाग सुभाग हमारा।
७-भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ।

इन सप्तवीचियोंके वर्ण्य विषयका ज्ञान भी नितान्त आवश्यक है। इस ज्ञानसे विरहित होनेपर मज्जनानन्द अपूर्ण रहेगा। वर्ण्य विषयकी तालिकापर ध्यान दें:—

प्रथम तरङ्गमें—श्रीभरतको सान्त्वना देते हुए उन्हें तथा महारानी कैकेयीको दोषविरहित बताया गया है।

द्वितीय तरङ्गमें—श्रीभरतके भूरिभाग्यकी प्रशंसा की गयी है।

तृतीय तरङ्गमें—श्रीभरतके श्रीराम-स्नेहका प्राकट्य है।

चतुर्थ तरङ्गमें—श्रीभरतके वास्तविक स्वरूपका वर्णन है।

पञ्चम तरङ्गमें—श्रीभरतके आचरणोपदेश एवं उनके कीर्ति-विधुका निरूपण है तथा उनके महापुरुषत्वकी व्याख्या है।

षष्ठ तरङ्गमें—श्रीभरतको श्रीरामभक्ति-रस-प्रदाता कहा गया है।

सप्तम लहरमें—श्रीभरतको अखिल विश्वके हृदय-साम्राज्यका सम्राट् कहा गया है।

भावमय भैया श्रीभरतलालको साष्टाङ्ग दण्ड-प्रणाम करते देखकर मुनिश्रेष्ठ श्रीभरद्वाजने अपने पुराकृत सुकर्मोंका—भाग्यका महान् उदय समझा—वे अपनेको महाभाग्यवान् समझने लगे। अपने भाग्यकी रक्षा प्रयत्नसे कौन नहीं करेगा ?

मुनिराजने भी अवनितलपर विकीर्ण अपने मूर्तिमान् भाग्यको दौड़कर उठा लिया, हृदयमें धारण कर लिया—श्रीभरतलालको हृदयसे लगा लिया। महामुनिने श्रीभरतलालको अपने मङ्गलमय आशीर्वादात्मक वचनोंसे कृतकृत्य कर स्वयं अपनेको तथा अपनी वाणीको भी कृतार्थ कर लिया। अपने भाग्यको कौन सुप्रतिष्ठित न करेगा? मुनिने भी पवित्र आसन प्रदान किया। मुनिद्वारा प्रदत्त आसनको स्वीकृत करके नम्र-मस्तक होकर बैठ गये श्रीभरतलाल। वे संकुचित हैं। उनके हृदयको मुनिके कुशल-प्रश्नोत्तरकी चिन्ता व्यथित कर रही है। वे सोचते हैं—यदि मुनिने पूज्य पितृदेवके विषयमें कुशल-प्रश्न किया तो मैं किस प्रकार अभिव्यक्त करूँगा, उनके दुःखद अवसानको। यदि ये श्रीरामसम्बन्धी कुशल-प्रश्न करेंगे तो मैं किस प्रकार यह उत्तर दे पाऊँगा—'गे बन राम लखन बैदेही।' मुनिके किसी भी प्रश्नका समुचित उत्तर मेरे पास नहीं है। इस प्रकार श्रीभरतके शील एवं संकोचको देखकर अन्तःपारखी महामुनि श्रीभरतके संकोचका निवारण करते हुए स्वयं बोल पड़े।

मुनिवरके परम पावन गम्भीर हृदयरूपी सुन्दर पर्वतसे श्रीभरतचरित्रकी कलकल निनादिनी निर्झरिणीकी दिव्यातिदिव्य धारा बह चली। उस मनोहारिणी सरितामें पूर्ववर्णित मनोहारिणी सप्त वीचियोंका प्रादुर्भाव हो गया। आइये, उन लहरोंका आनन्द लेते हुए हम भी अपने हृदय, नेत्र और वाणीको कृतकृत्य करें।

प्रथम तरङ्ग—

सुनहु भरत हम सब सुधि पाई। बिधि करतब पर किछु न बसाई॥
तुम्ह गलानि जियँ जनि करहु, समुझि मातु करतूति।
तात कैकइहि दोष नहिं, गई गिरा मति धूति॥
यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ। लोक बेद बुध संमत दोऊ॥
तात तुम्हार बिमल जसु गाई। पाइहि लोकउ बेद बड़ाई॥
लोक बेद संमत सब कहई। जेहि पितु देइ राजु सो लहई॥
राउ सत्य ब्रत तुम्हहि बोलाई। देत राज सुख धरमु बड़ाई॥
राम गवनु बन अनरथ मूला। जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला॥
सो भावी बस रानि अयानी। करि कुचालि अंतहुँ पछितानी॥
तहँउ तुम्हार अलप अपराधू। कहै सो अधम अयान असाधू॥
करतेहु राजु त तुम्हहि न दोषू। रामहि होत सुनत संतोषू॥

श्रीभरतलाल! आपके आगमनके पूर्व ही मैं सम्पूर्ण वृत्तोंसे अवगत हो चुका हूँ; परंतु भैया! विधिकर्तव्यपर किसीका वश नहीं है। आप अपने हृदयमें माँकी कुचालिके कारण चिन्तित न हों। यदि स्वतन्त्र माँका कर्तव्य होता तो सोचनेकी बात भी थी, किंतु यहाँ तो 'गई गिरा मति धूति।' परंतु इस प्रकारका कथन भी अप्रशंसित ही होगा; क्योंकि लोक और वेदमें दोनों मार्ग बुधसम्मत हैं। हे वत्स! तुम्हारे यशका मधुर गान करके वे बुधसम्मत लोक और वेद दोनों महत्त्वभाजन होंगे। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है, लोक-वेदसे भी सम्मत है कि 'जेहिं पितु देइ राज सो लहई।' यदि श्रीकैकेयीने केवल आपके राज्यकी ही कामना की होती तो सत्यप्रतिज्ञ श्रीदशरथराज आपको बुलाकर राज्य प्रदान करते तथा साथ ही सुख, धर्म और बड़ाई भी देते। परंतु द्वितीय वर-याचना अनर्थकारिणी हो गयी। श्रीरामका वनगमन, श्रीदशरथ-मरण आदि समस्त अनर्थोंका मूलभूत कारण बन गया। इन अनर्थों एवं श्रीरामवनगमनको विश्वमें जिसने सुना, उसीको महान् कष्ट हुआ। श्रीकैकेयीने भी श्रीरामवनवास-सदृश जघन्य कृत्य करके अन्तमें पश्चात्ताप ही किया। उनके हृदयमें वनगमनके पूर्व भी श्रीरामप्रेम विद्यमान था और अन्तमें भी। मध्यमें भावीवश विकृतमस्तिष्क हो गयीं। फिर भी सत्सङ्गविहीन प्राणी माँको दोष दे सकते हैं, किंतु आपका स्वल्पापराध भी कहनेवाला व्यक्ति अधम, अज्ञानी और असंतकी उपाधि धारण करनेवाला होगा। यदि आप पिता-प्रदत्त राज्यसुखका भी उपभोग करते तो भी अनुचित न होता, आपके उस कार्यको श्रवण करके श्रीरामकी तो अभिलाषा ही पूर्ण होती है। महाप्रभुकी तो अभिलाषा ही थी 'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू।' अभिलाषा-पूर्तिमें प्रभी संतुष्ट होते हैं। प्रभु भी आपके राज्य स्वीकार करनेके शुभसंवादका श्रवण करके परम संतुष्ट होते।

द्वितीय तरङ्ग—

अब अति कीन्हेहु भरत भल, तुम्हहि उचित मत एहु।
सकल सुमंगल मूल जग, रघुबर चरन सनेहु॥
सो तुम्हार धन जीवन प्राना। भूरि भाग को तुम्हहि समाना॥
यह तुम्हार आचरज न ताता। दसरथ सुअन राम प्रिय भ्राता॥

हे लोकोपकारी! यदि आप पिता-प्रदत्त राज्य-सुखका उपभोग करते तो भी अनुचित न होता, और अब तो आपका कार्य, आपके द्वारा आचरित आचरण सब प्रकारसे सुप्रशंसित है। पिता-प्रदत्त राज्य-सुखका परित्याग करके, कंद-मूल-फलका सेवन करते हुए श्रीराम-चरणोंका सांनिध्य प्राप्त करनेके हेतु वनमें जाना—यह कार्य श्रीरामचरणोंके पवित्र स्नेहका द्योतक है। आपका यह कार्य समस्त संसारमें एक नूतन मङ्गलकी सृष्टि करेगा; क्योंकि संसारके समस्त मङ्गलोंका

उत्पादक श्रीरामचरणानुराग ही है । वह प्रभुचरणानुराग ही आपका धन, जीवन और प्राण है । श्रीरामचरणानुराग ही जिसका जीवन हो, उस महाभागके महाभाग्यकी प्रशंसा करनेमें कौन वाणी किंवा लेखनी समर्थ है ? किंतु वत्स ! श्रीदशरथपुत्र एवं श्रीराम-बन्धुके लिये इस भूरिभाग्यकी प्राप्तिमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है ।

तृतीय तरङ्ग—

सुनहु भरत रघुबर मन माहीं । पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं ।
लखन राम सीतहि अति प्रीती । निसि सब तुम्हहि सराहत बीती ॥
जाना मरमु नहात प्रयागा । मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा ॥
तुम्ह पर अस सनेहु रघुबर कें । सुख जीवन जग जस जड़ नर कें ॥
यह न अधिक रघुबीर बड़ाई । प्रनत कुटुंबपाल रघुराई ॥

हे महाभाग ! परम कारुणिक, भक्तवत्सल, रघुश्रेष्ठ श्रीरामके मनमें आपके सदृश प्रेमपात्र कोई नहीं है । केवल श्रीराम ही नहीं, श्रीलक्ष्मण और श्रीसीताजीकी भी सारी रात्रि आपकी प्रशंसामें ही व्यतीत हो गयी । वह प्रशंसा अत्यन्त प्रीतिसंयुक्त थी । सम्पूर्ण रात्रि आपकी सराहनामें व्यस्त श्रीराम प्रातःकाल स्नानके अवसरपर श्रीयमुनाकी पवित्र श्यामल धाराका अवलोकन करके आपके पवित्र प्रेममें मग्न हो गये थे । उस समय मैंने ऐसा अनुमान किया कि आपके ऊपर महाप्रभुका उसी प्रकार स्नेह है जिस प्रकार जड पुरुषकी आसक्ति सांसारिक सुख-जीवनपर होती है । जिस प्रकार सांसारिक सुखाभिलाषी जीव संसारमें सर्वत्र अपने सुखको ही निहारा करता है, उसी प्रकार भक्तवत्सल श्रीरामचन्द्र अहर्निश आपकी ही चर्चा करते हैं, आपका ही स्मरण करते हैं, और आपके कल्याणकी ही सतत कामना करते हैं । धन्य है ! बलिहारी है महाप्रभुके प्रेमी-प्रेमको ! किंतु महाप्रभुकी यह विशेष प्रशंसा नहीं है; क्योंकि वे तो प्रणतमात्रके समस्त कुटुम्बका पालन करनेवाले हैं ।

चतुर्थ तरङ्ग—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू । धरें देह जनु राम सनेहू ॥

महर्षिने श्रीभरत-स्वरूपका कितना सुन्दर स्पष्टीकरण किया है । वे कहते हैं, कोई आपको कुछ समझे, परंतु मेरी सम्मतिसे तो आप मूर्तिमान् श्रीरामप्रेम हो । प्रेमके द्वारा प्रभुप्राप्ति सुलभ है, उसी तरह आपके द्वारा भी प्रभु-प्राप्ति सुगम है ।

पञ्चम तरङ्ग—

तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेस ।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेस ॥

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा । रघुबर किंकर कुमुद चकोरा ॥
उदित सदा अँथइहि कबहूँ ना । घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना ॥
कोक तिलोक प्रीति अति करिही । प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिही ॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू । ग्रसिहि न कैकइ करतबु राहू ॥
पूरन राम सुपेम पियूषा । गुर अवमान दोष नहिं दूषा ॥
राम भगत अब अमिअँ अघाहूँ । कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ ॥
भूप भगीरथ सुरसरि आनी । सुमिरत सकल सुमंगल खानी ॥
दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं । अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं ॥

जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ ।
जे हर हिय नयननि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ ॥

कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा । जहँ बस राम पेम मृग रूपा ॥

हे मूर्तिमान् श्रीरामप्रेम ! आपके लिये यह राज्य-त्याग आदि कार्य कलङ्कवत् प्रतीत हो रहा है; क्योंकि इसमें आपको वाक्य-विरोध करना पड़ा है, परंतु हम तपस्वियोंके लिये यह आपका कलङ्क—राज्यत्याग ही उपदेश है । श्रीरामभक्ति-रस-सिद्धिके लिये तो यह समय ही श्रीगणेश हुआ है । कोई क्रिया रसवती तभी होती है जब उस क्रियाके सहायक विषयोंका अवलम्बन करके उसके विरोधी विषयोंका सर्वथा परित्याग कर दिया जाय । श्रीरामभक्तिके बाधकगण ये हैं—'सुख संपति परिवार बड़ाई ।' आज सुखादि सर्वसाधन-सम्पन्न होनेपर भी आपने उसका परित्याग कर दिया है । अतः आपके द्वारा आज इस युगमें 'रामभक्ति-रससिद्धि'का आरम्भ हुआ है ।

हे वत्स ! आपका सुयश अभिनव, अमल चन्द्रमा है । उस कीर्ति-चन्द्रसे आनन्द प्राप्त करनेवाले श्रीरामभक्त ही कुमुद और चकोर हैं । चन्द्रकी चन्द्रिकासे सम्पूर्ण जगत् प्रमुदित हो जाता है । चन्द्रकी शीतलता ब्राह्मण, चाण्डाल, प्रवृत्तिमार्गावलम्बी एवं निवृत्तिमार्गावलम्बी आदि सभीके लिये सुखप्रद है । उसी प्रकार आपका निर्मल, नवीन यश-चन्द्र प्रवृत्ति-निवृत्ति उभय मार्गावलम्बियोंके लिये 'राम-भगति-रससिद्धि' प्रदान करनेमें समर्थ है । प्राकृत चन्द्रकी भाँति आपके नूतन विमल कीर्ति-विधुमें निम्नाङ्कित दूषण नहीं हैं—

(क) अस्त होना ।
(ख) घटना ।

(ग) केवल आकाशमें ही रहना ।
(घ) चकवेका दुःख प्रदान करना ।
(च) सूर्यके द्वारा छविरहित होना ।
(छ) रात-दिन सबको सुख न होना ।
(ज) राहुके द्वारा ग्रसित होना ।
(झ) पूर्ण अमृत न होना ।
(ट) गुरुतियगामित्वके कलङ्कसे संयुक्त ।
(ठ) मृत्युलोकवासियोंके लिये अमृतकी दुर्लभता ।

इन दोषोंके विपरीत भरत-कीर्ति-चन्द्र—

(क) श्रीभरत-यशचन्द्र निरन्तर समुदित रहेगा ।
(ख) दिनोंदिन वृद्धिंगत होगा ।
(ग) सम्पूर्ण जगत्‌में दृश्यमान होगा ।
(घ) चकवेकी तो बात ही क्या है, त्रैलोक्य अत्यन्त स्नेह करेगा ।
(च) श्रीरामप्रताप-दिवाकरके द्वारा त्रिकालमें प्रकाशित रहेगा ।
(छ) तीनों कालोंमें विश्वको सुखप्रद होगा ।
(ज) माताका कर्तव्यरूप राहु इस चाँदको ग्रसनेमें असमर्थ रहेगा ।

जो पामर अपनी जड़ताईं । तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाईं ॥
सो सठइ कोटिक पुरुष समेता । बस कलप सत नरक निकेता ॥

(झ) इस श्रीभरत-कीर्ति-चन्द्रमें श्रीराम-प्रेमामृत परिपूर्ण है—

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को ।

(ट) प्राकृत चन्द्रके विपरीत इस चन्द्रमें गुरु-प्रेम विद्यमान है—

राउर जापर अस अनुरागू । को कहि सकै भरत कर भागू ॥

—यह उक्ति महाप्रभु श्रीराघवकी है । श्रीगुरुदेवने स्वयं भी कहा है—

भरत भगति बस भइ मति भोरी ।

(ठ) सम्पूर्ण वसुंधरामें राम-भक्तिकी अविरल धारा प्रवाहित हो गयी ।

मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को ।

किसी व्यक्तिका व्यक्तित्व उसके कुलपर भी निर्भर है । श्रेष्ठ कुलमें श्रेष्ठ व्यक्ति ही समुत्पन्न होते हैं । इस दृष्टिसे भी श्रीभरतलालके महत्त्वकी ओर एक भावपूर्ण दृष्टि डालें ।

जिनकी परम विमल तरङ्गावलीके दर्शनसे ही मनुष्य अखिल कल्याणकी सम्प्राप्ति करता है, ऐसी परम पुनीता, पुण्य-सलिला भगवती सुरसरिताका इस भूतलपर अवतरण करानेका श्रेय राजर्षि भगीरथको ही है । ये राजर्षि पवित्र भानुकुलमें समुत्पन्न हुए थे । जिस कार्य-कारणातीत ब्रह्मको भगवान् देवाधिदेव श्रीमहादेवने अपने हृदयके विकसित विलोचनोंसे जी भरकर कदापि नहीं देखा, वही सर्वव्यापक, सर्वान्तर्दर्शी, सर्वान्तर्यामी जिन महाराजके केवल प्रेम-संकोचके वशीभूत होकर श्रीरामस्वरूपमें मूर्त हुआ, उन महाभाग्यवान्, चक्रवर्ती दशरथजीकी गुणावलियोंका विस्तृत एवं पूर्ण वर्णन करनेके सौभाग्यसे महाकवियोंकी लेखनी आजतक वञ्चित है । उनमें महत्त्वपूर्ण कोई व्यक्ति है या नहीं—इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये प्रथम उनके समानकी खोज हुई; किंतु उत्तर मिला—

अधिक कहाँ जेहि सम जग नाहीं ॥

सत्यता तो यह है कि कौन हो सकता है उनसे विशेषतर महिमामय । महिमा भी सीमाबद्ध हो जाती है जब अजन्मा अपना 'परिचय' इन शब्दोंमें देता है—'कोसलेस दसरथ के जाए ।' कितने भाग्यवान् हैं ये श्रीअवधनरेश ! इनकी परम पवित्र गोदका आश्रय ग्रहण करनेके लिये उस निरीह, निर्लेप, निरञ्जन, विगत-विनोद 'ब्रह्मका' भी मन मचल पड़ता है । धन्य है ! ये महाभाग श्रीदशरथ भी रविकुलवंशसमुद्भव हैं । उसी 'परम पवित्र' वंशमें आप भी समुत्पन्न हैं । हे रघुपुङ्गव श्रीभरतलाल ! आपने तो अनुपम, अमल, धवल, अभिनव सुयश-सुधाकरकी सृष्टि करके 'महान् विश्व-कल्याण' किया है; क्योंकि आपके इस कीर्ति-चन्द्रमें मङ्गलमय श्रीराम-प्रेम मृगाङ्ककी भाँति निरन्तर निवास करता है । इस प्रकार आप अपने श्रेष्ठ कुलमें सर्वश्रेष्ठ हैं । श्रीभगीरथकी भागीरथी सब देशोंमें 'सुलभ' नहीं है । भाग्यवान् दशरथके श्रीराम भी सर्वदा सबको प्राप्त नहीं हैं । परंतु आपके कीर्तिचन्द्रमें निवसित श्रीराम-प्रेम निरन्तर, देश-कालकी सीमासे विरहित होकर सभी जीवोंको सुलभ है ।

इस प्रकार महर्षिने उत्तरोत्तर गुणोंका उत्कर्ष दिखाया । श्रीभगवच्चरण-नख-निर्गता सुरसरिताके परम पुनीत अवतरणके कारण राजर्षि श्रीभगीरथ प्रशंसनीय हैं । परम पावनी महिमामयी 'श्रीगङ्गा'के जनक श्रीरामके प्राकट्यसे सत्य-सनेही दशरथ तो 'उनसे' भी बढ़कर हैं, और श्रीरामको प्रकट करनेकी क्षमता रखनेवाले श्रीप्रेम महाराजको सर्वदा सुलभ करनेवाले श्रीभरतलाल ! आपकी महिमाकी प्रशंसा करनेमें कौन समर्थ है ।

षष्ठ तरङ्ग—

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

महिमामय! वनमें निवास करनेके कारण तथा तपस्वी एवं संसारसे विरक्त होनेके कारण हमें असत्य भाषण नहीं करना पड़ता। हम अपनी उसी प्रवृत्तिसे अपनी सफलता आपको श्रवण करा रहे हैं। साधक आजीवन साधनाएँ करता है; किंतु उसकी साधना फलवती तभी होती है, जब उसे त्रिमूर्ति (श्रीसीता-राम-लक्ष्मण) के परम पवित्र दर्शन हो जायँ। मैं भी एक साधक हूँ। जीवनमें तीर्थराज प्रयागमें निवासकर तप, त्याग, योग, जप, वैराग्य आदि अनेक प्रकारकी साधनाएँ मेरे द्वारा आरम्भ होकर सम्पूर्ण हुईं। उनके फलसे मैं वञ्चित न रहा—श्रीसीता-राम-लक्ष्मणके पवित्र दर्शनोंको पाकर मैं कृतकृत्य हो गया। किंतु आज श्रीतीर्थराजके साथ हमारा परम सौभाग्य है कि हम उन दिव्य त्रिमूर्तिके दर्शनोंका दिव्य फल उपलब्ध कर रहे हैं—आपके दिव्यातिदिव्य अलौकिक श्रीराम-प्रेमका हम रसास्वादन कर रहे हैं।

विशेष—'रामभगतिरससिद्धि' एवं 'तेहि फल कर फल' का भाव महात्माओंने, मानसविज्ञोंने जी भरकर लिखा है, उन भावोंको पढ़कर हृदय प्रमुदित हो जाता है। साथ ही एक भाव बालक-हृदयमें और मूर्त हुआ है; इस भावके द्वारा यदि श्रीराम-रसिकोंके रसमें कुछ अभिवृद्धि हुई तो बालक कृतार्थ हो जायगा।

'फलकर फल' रस होता है। जब फलको लेकर उसका आस्वादन किया जाता है, तब रसका ही आविर्भाव होता है। महर्षिके हृदयरूपी उर्वरा भूमिमें साधनस्वरूप वृक्षका समुद्भव हुआ। सदाचार, संयम, नियम, निरभिमानता आदि जलसे सिञ्चित होकर उस वृक्षने फलदायिनी शक्ति प्राप्त की। यथासमय उस वृक्षमें त्रिमूर्तिके शुभदर्शनस्वरूप फल भी दृष्टिगोचर हुए। जब जीव फलप्राप्ति करता है, तो उसे एक विशेष आनन्दकी अनुभूति होती है, वह आनन्दानुभूति श्रीरामके द्वारा भक्ति वर-प्राप्ति है। केवल वर-प्राप्तिके द्वारा ही भक्ति रसमयी नहीं होती है। भक्तिमें सरसता तो तब आती है, जब उसे महान् श्रीराम-प्रेमीका मधुर सम्पर्क प्राप्त हो जाता है। उस मधुर सम्पर्कके द्वारा भक्तिमें रसका आविर्भाव हुआ, यही 'फलकर फल' है। और इसी भावका आश्रय करके अभी-अभी पाँचवीं वीचीमें कहा है—

राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेस।

सप्तम तरङ्ग—

भरत धन्य तुम्ह जसु जग जयऊ। ....॥

हे रसस्वरूप श्रीभरतलाल! आप धन्य हो! आपका यश-चन्द्र धन्य है! आपका श्रीराम-प्रेम धन्य है। आपने अपनी सुहावनी सुकीर्तिके द्वारा अखिल जगत्पर विजय प्राप्त कर लिया। शस्त्रास्त्रोंके बलपर विजय प्राप्त करनेवाले विजयी मनुष्योंके पराजित होनेकी सम्भावना भी रहती है, किंतु आप तो निरन्तर संसारके हृदय-साम्राज्यके सम्राट् रहेंगे।

इस प्रकार तरङ्गोंकी गणना कराते हुए महर्षि श्रीभरद्वाज श्रीभरत-कीर्ति-तरङ्गिणीके विशुद्ध एवं गम्भीर भँवर-प्रेमके चक्करमें डूब गये।

..................। कहि अस प्रेम मगन मुनि भयऊ॥

फिर बोले कौन? वाणी मूक हो गयी। धन्य है यह श्रीभरतकीर्तिकी सुहावनी सुसरित, जिसके गम्भीर भँवरमें महर्षि श्रीभरद्वाज-सदृश अमलात्मा वीतराग महात्मा भी निमग्न हो गये।

मेरे सब कुछ तुम ही हो

मेरी 'मति-गति'के, मेरे 'मन-तन'के तुम ही हो उल्लास।
मेरे 'जीवन-धन' तुम ही 'जीवन'के मेरे श्वासोच्छ्वास॥
मेरी सारी 'ममता'के हो एक तुम्हीं आस्पद भगवान्।
मेरी 'सुखासक्ति'के तुम ही एकमात्र हो विषय महान्॥
मेरे परम 'काम्य' हो केवल 'वस्तु' एक तुम ही अभिराम।
जनक-जननि-सुत-सखा-बन्धु-गुरु-स्वामी-बल विद्या सुखधाम॥

मनुष्यको सच्चे अर्थोंमें 'मनुष्य' बनानेवाली दैवी सम्पदाएँ

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

[गताङ्क पृष्ठ ९७७ से आगे]

७—कीर्तन-स्वाध्याय

मानवताके सच्चे उपासकको कीर्तन करना चाहिये। जिस बातका उच्चारण मनमें बार-बार किया जाता है, वैसे ही विचार मनमें आते हैं और वैसे ही संस्कार बनते हैं। कीर्तनमें भगवान्‌के किसी गुणका बार-बार उच्चारण किया जाता है। उसमें भक्त तन्मय हो जाता है। भगवान्‌के रूप, गुण, शक्तिका कीर्तन वैसे ही सामर्थ्यवान् विचार उत्पन्न करनेके साधन हैं।

इस गुणको अपने चरित्रमें विकसित करनेके लिये सत्सङ्ग और स्वाध्यायद्वारा संत-महात्माओंके साथ कीर्तन करना चाहिये। श्रद्धा और भक्तिसे लिये हुए नामोंका व्यापक प्रभाव गुप्त मनपर पड़ता है तथा मन आनन्दविमुग्ध हो जाता है।

उस दैवी तादात्म्यके आनन्दकी कल्पना वही कर सकता है, जो भक्त मीराँबाईकी भाँति सब कुछ भूलकर भगवान् श्रीकृष्णमें तल्लीन हो निरन्तर उनके भजन-कीर्तनमें तन्मय रहता हो। कीर्तनसे शरीरमें दैवी रोमाञ्च हो उठता है। हृदयमें भक्तिकी कली प्रस्फुटित हो जाती है। धन्य तो वे साधक हैं, जो सांसारिक कार्योंसे समय बचाकर भगवान्‌के विविध नामों, रूपों, लीलाओंका भक्तिपूर्वक श्रवण, कीर्तन करते हैं।

भक्तका यह कीर्तन मनुष्यमें दैवी गुणोंका विकास करनेवाला है, कीर्तन जीव तथा परमात्माके सम्मिलनका पवित्र साधन है, भगवत्-प्राप्तिका खुला द्वार है। ब्राह्मण-घाती, पितृघाती, गुरुघाती एवं चाण्डालतक भगवान्‌के गुण तथा नामोंका कीर्तन करनेसे शुद्ध हो जाता है। कीर्तन समस्त सांसारिक चिन्ताओंसे मुक्तिका सरल उपाय है।

कीर्तन और साधारण गानमें बड़ा अन्तर है। कीर्तनमें भगवान्‌के प्रति श्रद्धा, प्रेम तथा सत्यता आवश्यक तत्त्व हैं। जब आप कीर्तन करें, तब सब सांसारिक चिन्ताओंका त्याग करके एक भावसे ईश्वरीय गुणोंकी प्राप्तिमें तन्मय हो जायँ। आपको मन-ही-मन अक्षय आनन्दकी प्राप्ति होगी।

श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके शब्दोंमें, 'भगवान्‌को सम्मुख समझते हुए उनके नामका उपांशु जप एवं ऊँचे स्वरसे कीर्तन करना, भगवान्‌के गुण, प्रभाव और चरित्र आदिका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक धीरे-धीरे या जोरसे खड़े या बैठे रहकर वाद्य-नृत्यसहित अथवा बिना वाद्य-नृत्य उच्चारण करना तथा दिव्य स्तोत्र एवं पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना—यही उत्तम भक्तिको प्राप्त करनेके साधन हैं।'

दैवी सम्पदाएँ विकसित करनेके अभिलाषी मानवको प्रातः-सायं अनन्यभावसे भगवान्‌का नाम-गुण-कीर्तन करना चाहिये। अपनी आत्माको भगवत्-प्रेममें इतना तन्मय कर देना चाहिये कि भगवान्‌के साथ एक रस, एक भाव हो जाये। भगवन्नामके कीर्तनसे भक्त ईश्वरकी सर्वव्यापकता अपने अन्तरमें तथा सर्वत्र अनुभव करने लगता है। भगवन्नाम-गुण-कीर्तन-जपके साथ ही भगवच्चरित्र, भगवत्स्वरूप-रहस्य, भगवान्‌के माहात्म्य, भगवान्‌के तत्त्वका निरूपण करनेवाले और भगवान्‌की ओर लगाने तथा विषयासक्तिसे हटानेवाले शास्त्रों, संत-वाक्योंका स्वाध्याय-अध्ययन-पठन भी अवश्य करना चाहिये।

८—स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट-सहन—तप

मानवताकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको स्वधर्म-पालन करना चाहिये। चाहे कुछ भी हो, अपने कर्तव्य-पालनके मार्गपर सब प्रकारके कष्टोंका सामना करते हुए सदा डटे रहना चाहिये। स्वधर्मके लिये बुद्धभगवान्‌जैसी दृढ़ता होनी चाहिये। उन्होंने कहा था—

'इस आसनपर मेरा शरीर सूख जाय, मांस-त्वचा-अस्थि नष्ट हो जायँ; किंतु मैं बहुकल्पदुर्लभ बोध प्राप्त किये बिना नहीं उठूँगा।'

यही वृत्ति, यही एकनिष्ठा, यही सतत उद्योगकी भावना हममेंसे प्रत्येक व्यक्तिकी होनी चाहिये। दृढ़प्रतिज्ञ स्वधर्म-पालनके लिये मार्गमें आनेवाली प्रत्येक कठिनाईको धूलके समान समझता है।

प्रतिघात एवं प्रतिकूलता सच्चे दृढ़प्रतिज्ञके संकल्पको क्षीण नहीं करते, प्रत्युत प्रत्येक असफलता उसे नयी प्रेरणा और शक्ति देती है। भयंकर आँधी और तूफानमें भी वह कर्तव्यपथपर दृढ़तासे अग्रसर होता है और अपने लक्ष्यको ध्रुवकी भाँति सदा सामने रखकर कार्य करता है। दैवी सामर्थ्य मिलकर उसके संकल्पोंमें अपूर्व दिव्यता भर देती है।

विपत्तियाँ स्वयं उससे डरती हैं। वास्तवमें आपत्तियाँ उन्हींपर आती हैं, जो कठिनाइयोंसे डरते रहते हैं। जो व्यक्ति विपत्तियोंसे घबराता नहीं, वरं उनका मुकावला करनेको सदैव तैयार रहता है, वे उसके पास फटकतीतक नहीं।

दूसरे भले ही समझते रहे कि उसपर विपत्तियाँ आयी हुई हैं; किंतु वह इतना दृढ़ एवं आत्मसंयमी होता है कि उस विषम स्थितिमें भी मनकी शान्ति भङ्ग नहीं होने देता।

जो सौभाग्यमें खुशीसे नहीं नाच उठते, वे दुर्भाग्यके समय रोते भी नहीं। दैवी शक्तिमें विश्वास रखनेवाले व्यक्ति समझते हैं कि सदा ईश्वरकी असीम शक्तियाँ उनके साथ हैं।

स्वधर्म-पालन करनेवाले वीर-पुंगवोंमें आत्मवादी सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र, भक्तप्रवर ध्रुव, प्रह्लाद आदि सदा हमे प्रेरणा देते रहेंगे। वे कष्टोंको देखकर कभी नहीं विचलित हुए। उनके मुख-मण्डलपर चिन्ता और विषादकी लकीरें नहीं दीखीं।

सच्चा आत्मवादी पं० श्रीरामशर्मा आचार्यके शब्दोंमें कहता है—

"ऐ मेरे आनेवाले दुःखो! आओ! मेरे बालको! चले आओ। अपनी भूलोंके द्वारा मैंने ही तुम्हें उत्पन्न किया है। मै ही तुम्हें छातीसे लगाऊँगा। दुराचारिणी वेश्याकी तरह तुम्हें 'जारपुत्र' समझकर छिपाना या भगाना मैं नहीं चाहता। तुम सती-साध्वीके धर्मपुत्रकी तरह आओ! मेरे अञ्चलमे क्रीड़ा करो। मैं कायर नहीं हूँ कि तुम्हें देखकर रोऊँ। मैं नपुंसक नहीं हूँ, जो तुम्हारा भार उठानेसे गिड़गिड़ाऊँ! मै मिथ्याचारी नहीं हूँ, जो अपने किये हुए कर्मका फल भोगनेसे मुँह छिपाता फिरूँ।

'ऐ कष्टो! मैं तुम्हें देखकर घबराता नहीं, डरता नहीं! तुमसे बचनेके लिये मैं किसीकी सहायता नहीं चाहता, वरन् एक कर्तव्यनिष्ठ बहादुर साधककी भाँति तुम्हें स्वीकार करता हूँ।'

आप भारतकी महान् संस्कृतिके महान् पुत्र हैं। पुण्यभूमि भारतके राजर्षियोंके स्वधर्म-पालन, उनके दृढ़ संकल्प, निष्ठा एवं दृढ़ताको कौन नहीं जानता? आप भी स्वधर्मपर डटे रहें। कष्टोंकी परवा न करें।

महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

अभ्यास जब दीर्घकालतक निरन्तर सत्-संकल्पसे किया जाता है, तभी स्वधर्म-पालनकी शक्तिका प्रादुर्भाव होता है।

जिस मनुष्यने कष्टोंकी परवा न करते हुए स्वधर्मपालनको ही अपने जीवनका मूल मन्त्र बना लिया है, वह सदा समुन्नत और प्रगतिशील रहेगा। उसके विचारोंमें दृढ़ता, संकल्पमें निष्ठा और भावनाओंमें पवित्रता आ जायगी। मनुष्य अपने विचारोंका ही फल है।

जिस व्यक्तिमें अपने कर्तव्योंके पालनमें दृढ़ता है, वह आवश्यकताके समय अपनी सारी शक्तियोंको एक ही केन्द्रबिन्दुपर एकाग्र कर सकता है। इस एकाग्रतासे उसके शरीर, मन तथा मस्तिष्ककी सभी शक्तियाँ उसके साथ रहती हैं और इष्ट-सिद्धि होती है।

९—अन्तःकरणकी सरलता—आर्जव

मनुष्यका जैसा अपना अन्तःकरण है, वस्तुतः वैसा ही वह है। हमें अपने अन्तःकरणको छल, द्वेष, प्रपञ्च, दुरभिसंधिसे मुक्त रखना चाहिये। सरल अन्तःकरणवालेके लिये छिपानेके लिये कुछ भी शेष नहीं रह जाता। वह बाहर-भीतर एक-सा ही होता है। हमें कुटिलतासे बचना चाहिये।

अन्तःकरणको दूषित करनेवाले अवगुणोंमें स्वार्थ और वासना अनर्थकारी हैं। वासनाके उत्पातमे मनुष्यका सम्पूर्ण संस्थान अस्त-व्यस्त हो जाता है। विषयभोगोंसे दूर रहनेसे अन्तःकरणमें शान्ति आती है।

दुःखोंसे छुटकारा पानेका एक ही उपाय है—अपने अन्तःकरणकी स्थितिको उच्च बनाइये। जो आत्मा मङ्गलमय है, उसीमें विहार कीजिये। क्षुद्र सांसारिक भोग त्याग दीजिये। परमात्माके सत्-चित्-आनन्दस्वरूपपर विचार करनेसे अन्तःकरणकी स्थिति ऊँची होती है, जीवन दिव्य बनता है।

पवित्र भावनाएँ दूसरोंके प्रति सच्ची सहानुभूति और उच्चभाव हमारे अन्तःकरणकी वृत्तिको ठीक दिशामें विकसित होनेमें सहायक होती हैं। सरल अन्तःकरणवाला स्वार्थरहित हो लोककल्याणकारी बातें सोचकर सेवा-मार्ग अपना सकता है।

जीवनकी सरलता कल्याणकारी है। संत फ्रांसिसने इसलिये जान-बूझकर दरिद्रता और सरलता अङ्गीकार की थी कि उससे प्रकृति और मनुष्यका अबाध्य सम्पर्क स्थापित हो सके। फ्रांसिस कहा करते थे कि प्रकृतिसे साहचर्य स्थापित करनेपर ही मनुष्य स्वतन्त्रताका अनुभव कर सकता है;

क्योंकि तब उसमें किसी प्रकारके ढोंगके लिये सम्भावन नहीं रह जाती। अतिरिक्त सभ्यता बनावटी जीवनकी ओर ले जाती है। काम-धंधोंसे छूटते ही आजका व्यक्ति चाहता है कि देहात या समुद्रतट आदिकी ओर दौड़ पड़े, खेतोंमें रहे, सरिताओंके तटपर विचरण करे। इससे सिद्ध होता है कि बनावटी सभ्यता ही कुटिलताकी जननी है।

बन्धुत्व और एकताके अभावके कारण आज समाजमें सर्वत्र स्वार्थ और आपाधापी मची हुई है। हर मनुष्य धोखा देकर कुटिलतासे अपना काम बना लेना चाहता है। एक दूसरेके प्रति एक प्रकारका अविश्वास-सा छाया हुआ है।

यदि हम आन्तरिक कुटिलताका परित्याग करके भ्रातृत्व और बन्धुत्वके सरल विमल भावोंको बढ़ायें और सर्वत्र एक ही आत्माके दर्शन करें तो मानव-समाजमें, घर-घरमें, प्रान्त-प्रान्तमें प्रेम, मृदुता और सहानुभूतिकी मञ्जुल धारा प्रवाहित हो उठे। सरलताके अभावमें बुद्धिका दुरुपयोग होता है। एक दूसरेके बीच स्वार्थ और कटुताकी अलङ्घ्य दीवारें खड़ी कर ली गयी हैं। सरलताके प्रयोगमें शुद्धता और प्रेमका प्रकाश होता है।

मनुष्यो! अपने अन्तःकरणके मार्गपर चलो! तुम्हारे अन्तःकरणमें ईश्वरत्वका निवास है। आत्माके निर्दिष्ट पथपर चलनेसे स्वतः तुम उन्नतिके मार्गपर आरूढ़ होगे।

ऊँचे विचार किसमें नहीं आते? कौन महत्त्वाकाङ्क्षी नहीं होता! किसकी अन्तरात्मा उच्च पदके लिये नहीं तड़पती! किंतु स्मरण रखिये, महत्ताका सेहरा उन्हींके सिरपर बँधता है, जो रात-दिन अपने अन्तःकरणके बताये दिव्य मार्गपर लगातार चलते रहते हैं।

१०—अहिंसा

मानवताके विकासके इच्छुकको अहिंसाको धारण करना चाहिये। शरीरसे किसीको कष्ट पहुँचानामात्र ही हिंसा नहीं है, मन और वाणीतकसे किसीको कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये। किसीको अपशब्द कहकर कटु या आवेशपूर्ण वचन कह देना भी एक प्रकारकी हिंसा है। गुप्तरूपसे किसीके विरोधमें ईर्ष्या-द्वेषके विचार रखना भी हिंसा है। अतः हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि हमारा व्यवहार ऐसा हो जो किसीके मनको दुःख न पहुँचाये। हिंदू-शास्त्रोंमें तीन प्रकारके पापोंसे बचनेको कहा गया है—१—कायिक अर्थात् शरीरसे होनेवाले, २—वाचिक (वाणीसे होनेवाले), ३—मानसिक (दुर्विचार)। इनसे बचनेसे हम अहिंसाके पथिक बन सकते हैं।

हिंसकमें कई दूषित प्रवृत्तियाँ होती हैं। वह अहंवादी होता है, अपने मुकाबलेमें किसीको नहीं समझता, क्रोध करता है और व्यर्थ दूसरेको दण्ड देनेकी सोचता है, दूसरेके उत्कर्षको देखकर जलता है। ये वृत्तियाँ घातक हैं।

अहिंसा सब धर्मोंका सार तत्त्व है। जिन व्यक्तियोंने हिंसक और शोषक वृत्तिको त्याग दिया है, वे मानवताके मुकुटमणि हैं।

अहिंसाका व्यवहार उसके व्यापक अर्थमें करना चाहिये। व्यङ्ग्य, कटाक्ष, निन्दा, द्वेषपूर्ण झूठ व्यवहार—सब हिंसक वृत्तिमें शामिल हैं। परदोषदर्शन, दूसरोंकी कटु आलोचना,—साम्प्रदायिकता सब मनमें कुसंस्कार उत्पन्नकर अन्तःकरणको दूषित बनाते हैं। पर-उत्कर्ष न सहना, दूसरेके हितका नाश करना-करवाना और होते देखकर प्रसन्न होना किसीको किसी प्रकारका कभी दुःख न हो—इसके विरुद्ध कल्पना करना आदि सभी हिंसा है, अतः त्याज्य हैं। अहिंसा-व्रतके पालनके लिये शुद्ध अन्तःकरण, धैर्य, सुगठित शरीर और दृढ़ आत्मा—सर्वत्र आत्मदर्शनकी आवश्यकता है।

११—सत्य, मधुर और हितकर भाषण

अन्तःकरण एवं इन्द्रियोंद्वारा जैसा मनमें सत्य विश्वास और निश्चय किया हो, ठीक वैसा ही प्रिय शब्दोंमें, सुननेवालेके हितकी भावना रखकर कहना एक दैवी गुण है, जिसे सब उन्नति चाहनेवाले व्यक्तियोंको धारण करना चाहिये।

मधुर भाषण और अपनी बातचीतमें सुखद, श्रुतिमधुर, प्रिय वचनावलिका प्रयोग एक ऐसी शक्ति है, जो सर्वत्र फलदायक है। आप कोई भी क्षेत्र ले लीजिये। मधुर शब्दावली आपको सदैव लोगोंका प्यारा बनायेगी। व्यापार, वाणिज्य, नौकरी, सार्वजनिक सम्बन्ध, परिवार तथा इष्ट-मित्र सभीमें मधुर भाषण श्रेष्ठ फल देनेवाला है। भगवान्‌ने इस गुणको धारण करनेका निर्देश मनुष्यकी सर्वाङ्गीण उन्नतिको दृष्टिमें रखकर ही किया है

इस दैवी गुणको विकसित करनेके लिये दो तत्त्व विशेष रूपसे स्मरण रखने चाहिये—

१—मनमें दूसरोंके प्रति मैत्रीभाव धारण करना, शुभ चिन्तन, शुद्ध सात्त्विक विचार और दूसरोंके प्रति अपने अन्तर्मनमें कल्याणकारी भावना धारण करना।

२—इस शुभ चिन्तनको प्रिय एवं मधुर शब्दोंमें ही कहनेका सतत प्रयत्न। भाषापर विशेष ध्यान रखना कि कही हुई बात कटु होते हुए भी अनुचित प्रतीत न हो। मधुर शब्दों और कला-चातुर्यके प्रयोगसे दूसरा व्यक्ति आपकी कठोर बात भी सहन कर जाता है। इसीसे कहा गया है—

वशीकरन एक मंत्र है तज दे बचन कठोर।

प्राचीन ऋषि-मुनि सदासे हमें प्रिय शब्दावलिका प्रयोग करनेकी सलाह देते आये हैं—

मधुमतीः मधुमतीभिः सं पृच्यन्ताम्।
(यजुर्वेद १।२१)

अर्थात् संसारके मनुष्यो! मीठा बोलो। मधुरभाषियोंके साथ रहो। जो मधुरता अपनाते हैं, उनके लिये सभी अपने बन जाते हैं।

मधु मे अन्तरास्ये (भवतु)
(पैप्पलाद-संहिता)

अर्थात् मेरे मुखके भीतर मधु हो। मैं सदा मीठा बोलूँ।

जाया पत्ये मधुमती वाचं
(अथर्ववेद ३।३०।२)

स्त्रियाँ सदा-सर्वदा मधुर वाणी बोलें।

उपर्युक्त तत्त्वज्ञानियोंने जिस तथ्यकी ओर संकेत किया है, वह यह है कि हम किसीसे कभी भी कर्कश व्यवहार न करें। कोई अप्रिय बात भी कहनी हो, तो यथासम्भव मधुर शब्दोंका ही प्रयोग करें। कटु शब्दोंसे राक्षसत्व प्रकट होता है। शब्दावलीका माधुर्य देवत्वका प्रतीक है। अतः थोड़ा बोलिये; पर मधुर बोलिये, सरस बोलिये। ऐसी भाषाका प्रयोग कीजिये, जो लोगोंके मर्ममें प्रवेश करे और स्थायी प्रभाव अङ्कित करे।

हे मनुष्यो! मधुर बोलिये, उसके मीठे फल जीवन-भर आपको मिलते रहेंगे; पर इतना नैतिक साहस रखिये कि अनुचित, असत्य, उद्दण्डके प्रति आप विरोध कर सकें। अन्यायके प्रति सतर्क रहकर सर्वत्र मधुरता बिखेरते रहिये। मधुर भाषण करनेवालेकी जिह्वापर साक्षात् सिद्धियाँ निवास करती हैं। शुद्ध अन्तःकरणद्वारा जैसा शुभ निश्चय हो, ठीक वैसा ही हमें नित्यप्रतिके मधुर व्यवहार, दैनिक वार्तालाप तथा आचरणमें लाना चाहिये—यही दैवी सम्पदाका लक्षण है। शास्त्रकारोंका वचन है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

अर्थात् सत्य बोलिये और मधुर बोलिये। कटु सत्य मत बोलिये। दैवी वाणीका मूल, अन्तःकरणका औदार्य प्रेम, प्राणीमात्रके लिये आत्मबुद्धि उत्पन्न करता है।

प्रिय भाषणके साथ संसारकी सहानुभूति है। मीठी वाणीका खरे रुपयेकी तरह सर्वत्र स्वागत होता है। माधुर्य सार्वजनिक जीवनका रस है। पर केवल वाक्योंकी बाह्य मधुरता ही अपेक्षित नहीं है, उसके साथ हित-भावना भी अवश्य होनी चाहिये। अहितकर मधुर शब्द तो ठगोंकी सम्पत्ति है।

१२—अक्रोध

क्रोध मनुष्यकी निर्बलताका सूचक है। इसके विपरीत शान्तभाव आन्तरिक शक्ति और मानसिक संतुलनका द्योतक है। क्रोधी व्यक्ति तनिक-सी देरमें राक्षस बन जाता है और आवेशमें उचित-अनुचित, सत्य-असत्यका विवेक खो बैठता है।

क्रोधसे मानसिक तनाव उत्पन्न होता है, जिससे सुन्दर तथा आकर्षक व्यक्ति भी भयंकर राक्षसस्वरूप लगने लगता है। देवताओंके मुख-मण्डलपर दिव्य मुसकान खेलती है। राक्षस हमेशा क्रोधमें भरे रहते हैं। क्रोधकी स्थिति उत्तम मनुष्यकी स्थिति नहीं है। क्रोधका हमारे शरीरपर भी बड़ा ही दूषित प्रभाव पड़ता है। अनेक व्यक्तियोंके गिरे हुए स्वास्थ्य-का कारण स्थायीरूपसे मुख और मनमें रहनेवाली विकारमयी स्थिति ही है। अतः यह दुष्ट मनोविकार सर्वथा त्याज्य है।

अक्रोध अर्थात् क्रोधका न करना, सदा प्रशान्त और संतुलित बने रहना, विकाररहित रहना ही शक्तिशाली बने रहने-का मार्ग है। मनोविकारोंके ऊपर कठोर नियन्त्रण रखनेकी आवश्यकता है। वाग्भटके अनुसार—

धारयेत्तु सदा वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च।
लोभेर्ष्याद्वेषमात्सर्यरागादीनां जितेन्द्रियः॥

'जो मनुष्य लोक और परलोकमें सुख चाहता है, उसे चाहिये कि जितेन्द्रिय होकर लोभ, द्वेष, मत्सर और क्रोध इत्यादि मनोविकारोंको रोके।'

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गीता)

'आत्माका (और शरीरका भी) नाश करनेवाले नरकके तीन दरवाजे हैं—काम, क्रोध और लोभ। इसलिये इनको छोड़ना चाहिये।'

क्रोधो हि शत्रुः प्रथमो नराणां
देहस्थितो देहविनाशनाय।
यथास्थितः काष्ठगतो हि वह्निः
स एव वह्निर्दहते शरीरम्॥

'मनुष्योंका पहला शत्रु क्रोध है। दूसरे शत्रु तो बाहरसे चोट करते हैं, पर यह तो देहमें रहते हुए ही देहका नाश करता है, जैसे लकड़ीमें रहनेवाली आग लकड़ीको जलाती है।'

पिथागोरस कहा करते थे कि क्रोधका प्रारम्भ होता है मूर्खतासे और अन्त पश्चात्तापमें। चीनी कहावत है कि तुम जो आग शत्रुके लिये जलाते हो, बहुत बार वह उसकी अपेक्षा तुम्हें स्वयं ही अधिक जलाती है।

वास्तवमें क्रोध मानव-वृत्तियोंमें सबसे अधिक निकम्मा है। इससे कुछ भी बनता नहीं, बिगड़ता ही अधिक है। जिसपर किया जाता है, उसकी अपेक्षा करनेवालेको क्रोधसे अधिक हानि पहुँचती है।

अक्रोध अर्थात् शान्तभाव धारण कीजिये। ठंढा लोहा गर्म लोहेको काटता है। क्रोध करना शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियोंसे हेय है। इससे मनमें भयंकर उद्वेग, थरथराहट, कम्पन, जलन, दूषित मनःस्थिति उत्पन्न होती है। अन्तःकरणकी शान्ति भङ्ग हो जाती है। बुद्धिपर उद्वेगका पर्दा-सा छा जाता है और सामाजिक कलहकी नींव पड़ती है।

क्रोधको त्याग दीजिये। क्रोध एक प्रकारका पागलपन है, जिससे सत्संकल्पोंका विनाश होता है। क्रोधी मनुष्य बड़े-से बड़ा अन्याय करनेसे नहीं हिचकता। क्रोधके साथ द्वेष मिलकर हमारी न्यायान्यायकी वृत्तिको पङ्गु कर देता है। प्रायः हम ऐसी बात कर बैठते हैं, जो हमारे भविष्यके लिये घातक सिद्ध होती है। दैवी सद्गुणोंका विकास करनेवालेके लिये क्रोध साक्षात् विषतुल्य है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि क्रोध एक प्रकारकी मानसिक एवं स्नायविक दुर्बलताका प्रकाशन है। दृढ़ संकल्प एवं स्थिर मानसिक शक्तिवाले पुरुष क्रोधके दुःखदायी प्रभावोंसे मुक्त रहते हैं। दैवी सम्पदावाला नररत्न अपने शत्रुपर भी क्रोध नहीं करता प्रत्युत प्रेमपूर्ण उपायोंसे उसे संतुलित करता है। स्मरण रखिये—चिन्ता, घृणा, दुराव, क्रोध, ईर्ष्या मनुष्यकी शक्तियोंको क्षीण करते हैं। ईश्वरकी इच्छा है कि आप शान्तिपूर्वक संतुलित रहें। अतः क्रोधको छोड़ दीजिये।

१३—कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग

मनुष्यके साथ दैवी इच्छा और दैवी शक्तिका साहचर्य रहता है। यह गुप्त दैवी-शक्ति हमें अप्रत्यक्षरूपसे सदा सहायता देती रहती है। हमारा तो पुरुषार्थ रहता ही है, गुप्तरूपसे हमारे इर्द-गिर्द हमारे वातावरण तथा मनमें ऐसी शक्तियाँ हैं, जो अचूक ब्रह्मास्त्र है। हम शरीर ही नहीं वरन् आत्मा—महान् आत्मा हैं, परम आत्मा हैं, अतः साक्षात् सफलताकी मूर्ति हैं। हम जिसे आत्मध्वनि कहते हैं, वह हमारे अन्तरसे बोलनेवाला ईश्वर ही तो है। अतः जब हम कोई शुभ कर्म करते हैं, तब वास्तवमें हमारे माध्यमसे ईश्वर ही वह कार्य कराता है।

हमारे द्वारा जो बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य सफल होते हैं, वे वास्तवमें हमारी इसी गुप्त ब्रह्मशक्तिद्वारा होते हैं। हम तो जगन्नियन्ता ईश्वरके हाथमें एक औजारमात्र हैं। हमारे जरियेसे ईश्वर अपनी सदिच्छाएँ पूर्ण किया करता है। हम जो कुछ सफलता लाभ करते हैं, उसका श्रेय हमें नहीं, ईश्वरको ही है। अतः कार्यमें कर्तापनका अभिमान त्याग देना चाहिये।

हम निरन्तर कार्य करें, क्योंकि कार्य करना तो हमारा पुनीत कर्तव्य है। सच्चा साधक मनोयोगसे काम करता है, पर निःस्वार्थ एवं निष्कामभाव रखता है। 'भगवान् ही मेरेद्वारा अपने पवित्र कार्य करा रहे हैं'—ऐसा भाव सदा वह मनमें रखता है। वह अपनी सफलताका सम्पूर्ण श्रेय भगवान्‌को ही देता है। इसकी क्रियाएँ और दैनिक कार्य अहंकारप्रेरित न होकर प्रभु-प्रेरित हुआ करते हैं।

'परम प्रभु ही मेरे हाथसे सब कुछ करा रहे हैं। मेरे कार्योंकी बागडोर तो मेरे परम प्रभुके कर-कमलोंमें है। उन्हींकी शक्तिसे मेरा समस्त कार्य सम्पन्न होता है। मैं तो उनके हाथमें एक यन्त्र (Instrument) मात्र हूँ।' —इस विनीत आत्मसमर्पण-प्रधान भाव... मनमें रखनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है। वेदोंमें कहा भी है—

पुरुष एवेदं सर्वम् (ऋग्वेद १०।९०।२)

यह सम्पूर्ण विश्व परमात्माका ही रूप है। संसारको परमात्माका प्रत्यक्ष स्वरूप मानकर इसकी सेवा करनी चाहिये। अपने कर्तापनका अभिमान त्याग देना चाहिये।

प्रजापतिः''बहुधा वि जायते'' (अथर्ववेद १०।८।१३)

इस विश्वमें परमात्मा ही अनेक रूपोंमें जन्म ले रहा है। संसारके सब प्राणधारी उस एक परमात्माकी प्रतिमूर्तियाँ हैं।

मर्त्या ह वा अग्रे देवा आसुः (शत० ब्रा० ११-१-२-१२)

मनुष्य शुभ कार्य करके देव बनते हैं। अतः शुभ कार्य (कर्तापनका त्याग कर) करो और इसी शरीरसे भूसुरका पद प्राप्त करो।

हे मनुष्यो! यह संसार सर्वज्ञ सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परमात्माकी प्रकृतिद्वारा ही संचालित है, उन्हींकी लीलाभूमि है। यहाँका प्रत्येक जीव (हम और आप) उसी सूत्रधारकी कठपुतलियाँ हैं। अतः हमारी सारी सांसारिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक सफलताओंका श्रेय उसी महामहिम ईश्वरको है।

'मैं तो ईश्वरका एक निमित्तमात्र हूँ।'—यह भाव मनमें रखकर हम स्वयं अपने मनको ईश्वरमय कर लेते हैं, अन्तःकरणकी पवित्रता, शान्ति और शीतलता प्राप्त करते हैं। सर्वत्र अपने अंदर गतिशील सर्वव्यापक परमात्माको बार-बार स्मरण करनेसे हमारी जन्म-जन्मान्तरकी मलिन वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं।

अपने ईश्वरीय रूपपर विचार कीजिये। आप नित्य-शुद्धबुद्ध, मुक्तस्वरूप, अचिन्त्य अखण्ड चेतन, अमल सुखराशि हैं। अज्ञानवश अपने स्वरूपको विस्मृतकर व्यर्थ दुखी और अभिमानी बन रहे हैं। ज्ञानकी पैनी कृपाणसे अज्ञान-पाशको काटकर स्वच्छन्द आत्मा बनें। अपने स्वरूपको पहचानें।

मान, बड़ाई, प्रशंसा तथा कर्मोंमें अभिमान प्राप्त करनेकी इच्छा खाजकी भाँति एक बड़ा सुहावना रोग है। इसके वशमें हो जानेपर मनुष्य सत्-कर्मोंतकको अभिमानकी अग्निमें होम देता है, प्रमादी बन जाता है, अपने भाग्यपर इतराता है।

पर यह सब कुछ मनुष्यके पतनका सूचक है। कर्तापनका अभिमान एक संक्रामक बीमारी है, जो मनुष्यको अधोगतिमें पहुँचा सकती है। अतः इस दुर्गुणसे बहुत सावधान रहना चाहिये।

तुम महान् हो, पर तुम्हारी महानताका रहस्य गुप्त ईश्वरीय शक्ति ही है। अपनी इस दैवी महानताको पहचानो और उसे समझनेमें, खोजनेमें और प्राप्त करनेमें तन्मयतासे जुट जाओ।

१४—शान्ति, अन्तःकरणकी उपरामता—

भगवान् श्रीकृष्णने मनुष्यका चौदहवाँ गुण उपरामता माना है। उपरामताका अर्थ है—चित्तकी प्रशान्त स्थिति, चित्तमें चञ्चलताका न होना। अशान्त मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता और चित्तकी चञ्चलतासे मनुष्यकी अनेक मानसिक शक्तियोंका क्षय हो जाता है। भगवान्ने स्वयं लिखा है—

> असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
> वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥
> (गीता ६। ३६)

अर्थात् जिसका मन वशमें नहीं है, उसके लिये योगको प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है; किंतु मनको वशमें करनेवाले प्रयत्नशील पुरुष साधनद्वारा योग प्राप्त कर सकते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि चञ्चल चित्तका निग्रह अत्यन्त कठिन है। अर्जुन-जैसे महावीरोंके सम्मुख भी मनोनिग्रहकी सीढ़ीपर सबसे अधिक कठिनाई पड़ी थी, किंतु बिना एकाग्रताके मानसिक शक्ति और शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

वास्तवमें यह कहना सत्य ही है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

मनुष्यका मन ही जगत्के बन्धन और मोक्षका प्रधान कारण है।

दैवी सम्पदाएँ प्राप्त करनेवाले पुरुषके मनमें चञ्चलता नहीं रहती। वह तनिक-सी बातसे उतावला नहीं होता। उतावलेपनको वह एक मानसिक कमजोरी मानता है। हृदयकी वासनाएँ, अभद्र इच्छाएँ एवं सांसारिक कामनाएँ इधर-उधर दौड़ नहीं मचातीं, उसका मन अप्रिय विषयोंमें नहीं भटकता। वह उद्देश्यरहित होकर निष्प्रयोजन वस्तुओंकी ओर नहीं दौड़ता। उसके अन्तःकरण-प्रदेशमें तो सदा एकाग्रता, शान्ति एवं आनन्दका साम्राज्य छाया रहता है।

उत्तम पुरुष अपने जीवनके प्रकाशमय, आनन्द एवं प्रेममय पहलुओंपर ही अपने मानसनेत्र एकाग्र करता है। उसका अन्तःप्रदेश विक्षेपरहित शान्त अवस्थामें रहता है। आत्माके आनन्दमें मग्न रहनेके कारण उसके पास चञ्चलता नहीं आती।

चित्तकी चञ्चलता मनुष्यकी एक बड़ी कमजोरी है। अनेक व्यक्ति तनिक-तनिक-सी बातोंमें उद्विग्न हो जाया करते हैं। इस ओर ध्यान न देनेसे यह मानसिक रोग उनके स्वभावको चञ्चल बना देता है। चिड़चिड़ा व्यक्ति जरा-जरा-सी बातपर यों ही बिगड़ने लगता है। स्नायविक दुर्बलताका शिकार होनेके कारण उसके मस्तिष्कके ज्ञानतन्तु कम्पायमान रहते हैं।

स्मरण रखिये चञ्चलता और उद्विग्नतासे आपकी मानसिक शक्तियोंका ह्रास होता है। जरा सोचकर देखिये, जिस दिन आप उद्विग्न रहते हैं, उस दिन आप कुछ भी स्थायी कार्य नहीं कर पाते। आप कोई भी अच्छी और उपयोगी बात सोच ही नहीं पाते। मनोवेगोंका यह ताण्डव छोड़ देना चाहिये और स्थिर एवं संतुलित चित्तसे ही कार्य करना चाहिये। ऐसे मानसिक उद्वेगोंसे आन्तरिक स्थिति क्षत-विक्षत होती है।

आप पूछते हैं, अन्तःकरणकी उपरामताको प्राप्त करनेके क्या उपाय हैं ? हमारा मन एकाग्र क्योंकर हो ?

इसके लिये भगवान्‌ने दो ही उपाय बतलाये हैं—

१—मनको पुनः-पुनः किसी शुभ कार्य या विचारमें एकाग्र रखना।

२—वैराग्यका अभ्यास।

मनको बार-बार दुश्चिन्ताओंसे मोड़कर एकमात्र अपने दिव्य शक्तिमय रूपपर एकाग्र करना चाहिये। पहले तो मन दौड़-दौड़कर विषयोंकी ओर भागेगा, पर बादमें उसकी चञ्चलता नष्ट हो जायगी।

वैराग्यका अभ्यास कीजिये। सांसारिक पदार्थोंका अस्थिर अनित्य स्वरूप समझमें आनेपर जब जीव सर्वथा वितृष्ण हो जाता है, तब सद्-विवेकके नेत्र खुलते हैं।

हमें विषयोंसे आकर्षण हटाकर सौन्दर्यके उद्गम-स्थान अपनी आत्मापर दृढ़तासे मनको एकाग्र रखना चाहिये। माया-मरीचिकासे वितृष्ण होते ही वैराग्यके ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं और सम्पूर्ण अविद्या दूर हो जाती है।

मनको वशमें करनेके लिये जीवनको नियमोंमें बाँधना चाहिये। एक अच्छी दिनचर्या बनाइये। प्रातःकाल ब्राह्म-मुहूर्तसे लेकर रात्रिमें शयनतक क्या-क्या सांसारिक कर्तव्य, दैनिक ध्यान-प्रार्थना, पूजन-अर्चन, संध्या-उपासनाएँ होनी चाहिये—इसका ब्योरा तैयार कीजिये और उसपर दृढ़ रहिये।

सात्त्विक कार्योंके लिये मनको सदा प्रोत्साहन देना चाहिये। दुष्कर्मोंमें भागनेपर ताड़ना और भूलसे पाप हो जानेपर पश्चात्ताप करना चाहिये। अच्छे साहित्यका नियमित स्वाध्याय, उसपर मनन और चिन्तन खूब होना चाहिये। जिसे उत्तमोत्तम पुस्तकोंके पठन-पाठनका सौभाग्य प्राप्त है, उसके लिये चञ्चल लक्ष्मीका शुष्क विनोद किस अर्थका है ?

हरे-भरे वनमें भी भूखों मरनेवालों और ज्ञान प्राप्त करनेके इतने सुलभ और सस्ते साधनोंके होते हुए भी ज्ञानविहीन रहनेवाले मनुष्योंमें क्या अन्तर है ?

गरीबोंको दरिद्रतासे छुड़ानेकी, दुखियोंका दुःख दूर करने तथा शरीर और मनको नीरोग रखनेकी जितनी शक्ति सद्-ग्रन्थमें होती है, उतनी और किसी चीजमें नहीं है।

सद्ग्रन्थोंसे सद्विचार आते हैं और मनका संतुलन स्थिर रहता है। उन विचारोंको त्याग दो, जो आत्माको कष्ट दें। अनीति और अधर्मके कुविचार सर्वथा त्यागने योग्य हैं—

अप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे। —ऋग्वेद

अर्थात् कुविचारों और कुकर्मोंसे दूर रहो। ये अपने धारण करनेवालोंको ही नष्ट कर देते हैं।

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर।

(अथर्व० २०। ९६। २४)

अर्थात् मानसिक पापोंका परित्याग कर दीजिये। मनमें जमी हुई पुरानी जीर्णवासना ही दुष्कर्म कराती है।

जब-जब मन सांसारिक विषय-वासनाओंकी ओर भागे, तब-तब उसे आग्रहपूर्वक पवित्र विचारोंमें दृढ़ कीजिये। परमेश्वरके दिव्य गुणोंका चिन्तन कीजिये।

'योगदर्शन' आपका प्रिय-ग्रन्थ होना चाहिये। उसमें वर्णित मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा आदि वृत्तियोंका अभ्यास करना चाहिये। समाधि और प्राणायाम आदि भारतीय ऋषियोंके जाँचे हुए चित्तको एकाग्र करनेके साधन हैं। मनसे पृथक् हटकर उसके नाना कार्योंको देखिये और सतर्क चौकीदारकी तरह वासना, ईर्ष्या, द्वेष और मिथ्या भयको प्रविष्ट न होने दीजिये। धैर्यपूर्वक निरन्तर अभ्याससे चञ्चलता दूर कीजिये।

दो भूलो, दो याद रखो

१ भूलो—हुआ कभी जो तुमसे अन्य किसीका कुछ उपकार।
२ भूलो—हुआ किसीके द्वारा कभी तुम्हारा जो अपकार॥
१ याद रखो—जो हुआ किसीसे कभी तुम्हारा कुछ उपकार।
२ याद रखो—जो हुआ किसीका तुमसे कभी तनिक अपकार॥

संत सेठ श्रीरामरतनजी डागा

(लेखक—श्रीमुरलीधरजी व्यास 'विशारद')

पुण्यपुरुषोंके भूतलपर अवतरित होनेसे प्राणि-मात्रका उपकार ही होता है। पापका पलड़ा जब भारी हो जाता है, तब सृष्टिको डिगनेसे बचानेके लिये महापुरुष जन्म लेते हैं। वे अपने अलौकिक त्याग, सेवा और प्रेमकी त्रिवेणीमें संसारको स्नान कराके उसे पवित्र तथा उज्ज्वल बना देते हैं।

'हाय ! मेरा धन', 'हाय ! मेरा परिवार' जो आठों पहर यही झींखते रहते हैं और ईर्ष्या और रोषवश राक्षसोंकी तरह दूसरोंका अहित करनेमें ही तत्पर रहते हैं, उनके लिये कैसा धर्म और कैसे भगवान्; वे तो उनके निकटसे ही नहीं निकलते। वे अपनी काली करतूतोंसे ही बालकोंके खेल '*चिलम-चिलम धूताड़ियो'की तरह अपने और पराये घरोंको काला करते रहते हैं।

'माया मायापतिकी है। मैं तो उसका रखवाला हूँ। सारी सृष्टि प्रभुका एक परिवार है, फिर अपना परिवार उससे भिन्न कैसा ?' ऐसी गम्भीर बुद्धिवाले महापुरुष ही प्रेम और भाई-चारेकी भावनाओंसे संसारको सुगन्धित बना देते हैं।

बीकानेरमें भी ऐसे बहुत-से महापुरुषोंने जन्म लिया है। उनमेंसे एक हमारे पूजनीय शिवलोकवासी संत सेठ श्रीरामरतनजी डागा थे।

संत सेठ साहबका जन्म संवत् १८९८ में बीकानेर-के प्रसिद्ध डागापरिवारमें हुआ था। यह परिवार अबतक 'बंशीलाल अबीरचंद' के नामसे भारतके बड़े-बड़े नगरोंमें व्यापार करता है और पर्याप्त ख्याति-लब्ध है।

सेठ रामरतनजी भगवान् महादेवके बड़े भक्त थे। सब कार्य करते हुए भी उनकी सुरत अपने इष्ट देवतामें ही लगी रहती थी। वे जन्मसे ही उदार और गम्भीर थे। गृहस्थ होते हुए भी वे महान् त्यागी और विरक्त थे। जल-कमलवत् वे संसारमें विचरते थे।

धन-सम्पत्तिको वे महादेवकी समझते थे, अपनी नहीं। अपनेको केवल महादेवका मुनीम मानते थे। वे किसीको छोटा-बड़ा नहीं समझते थे; महादेव-की सृष्टिमें सब बराबर, ऊँच-नीच कैसा ? लोग उनके गुणोंपर रीझकर उनका बड़ा आदर करते थे। आपका उनपर स्नेहमय सात्त्विक प्रभाव था। संक्षेपमें लोग उन्हें संत समझते थे।

इधर वर्ष समाप्त हुआ कि सेठजी सब गुमाश्तों-नौकरोंको बुलाकर कहते—'अपना-अपना हिसाब सलटा लो, भाई !' प्रकटमें तो यों सबको खड़खड़ा देते, पर परोक्षमें मुनीमजीको आदेश दे देते कि 'जिसके नाम जितने रुपये निकलते हैं, सब खर्चखाते लिखकर खाता ड्योढ़ा कर दो।' मुनीमजीके किंचित् विरोध करनेपर कहते—'भला, सोचो तो सही—वे बेचारे कहाँसे सधायँगे। घरमें खानेवाले पूरे-सूरे हैं। शंकरका पैसा फोकटमें बिना उनकी मर्जीके कोई नहीं पचा सकता। यदि हम उन्हें तंग करेंगे तो वे शंकर-के घरकी ही चोरी करेंगे, उनके अलग कोई व्यापार-धंधा तो है नहीं।' यह थी सेठसाहबकी हृदय-महानता—सच्ची सहानुभूति।

घड़ीमें टन-टन चार बजते ही सेठजीका बुलावा आ जाता। मुनीम-गुमास्तेसे लेकर छोटे-से-छोटे नौकर-तकको तैयार हो जाना पड़ता। जो कहता—मेरा

* बच्चे अपने-पराये घरोंपर जगह-जगह कोयलेसे काली लकीरें खींच देते हैं; फिर परस्पर लकीरवाले स्थानको ढूँढ़नेके लिये कहते हैं।

काम थोड़ा बाकी है, उसे उत्तर मिलता—'हमारे यहाँका काम हमसे छिपा नहीं है, भाई ! यदि तुम ग्यारह से चार बजेतक ईमानदारीसे काम करते तो काम शेष रह ही नहीं सकता था; झूठा दिखावा-भुलावा मुझे पसंद नहीं है।'

कोटड़ी पहुँचनेपर बिना भेद-भावके नाई सबकी हजामत बनाता। फिर मिलती बढ़िया ठंढाई और मिलता घरकी भट्ठीसे तैयार कराया हुआ बढ़िया गुलाबका इत्र।

सर्दियोंमें बादामकी बोरियाँ भरी रहतीं। सेठजीकी स्पष्ट आज्ञा थी जिसके घर जितनी जरूरत हो, ले जायँ। एक बार एक नौकरने बादाम चुरा लिये। चुगल चूकते थोड़े ही हैं, झट सेठजीको चुगली हुई। उनको वचन-सिद्धि थी—जो कह देते, होकर रहता। किंचित् खीझकर उन्होंने कहा—महादेवका भंडार सबके लिये खुला है। फिर भी कोई चोरी करता है तो चोर ही बना रहेगा। ऐसा देखा गया कि वह व्यक्ति चोरीके मामलेमें जेल गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई।

सेठजीकी खास आदत थी कि वे अपने पास एक पैसा भी नहीं रखते थे। नित्य नियमपूर्वक श्रीकाशी-विश्वनाथजीके दर्शनके लिये सैंसोलाव तालाव जाया करते थे।

एक दिन मार्गमें एक 'साधु बाबा' मिल गये। उन्होंने सेठजीसे दस रुपयोंका सवाल किया। उन्होंने मुनीमजीके नाम रुक्का लिखकर वहाँसे ले आनेको कह दिया। मुनीमजी चिढ़े हुए थे, लिया साधुको लबड़-धक्के। बोले—दिन ऊगा ही नहीं कि फकीरिया फौज आ डटी। सेठजी तो घर-लुटाऊ है। लेना हो तो एक-दो रुपये लेकर अपने पापे-पुन्ने लगो। साधु था वास्तविक जरूरतमन्द और निष्कपटी। बोला—'मुझे तो पूरे दस ही चाहिये, जरा भी कम नहीं।' मुनीमजी गरम होकर गर्ज उठे—जैसे हमारे यहाँ जमा धर रखी हो ? लेना हो तो लो, नहीं तो यह रहा नाककी डाँडी-सा मार्ग।

सेठजी दर्शन करके लौट रहे थे कि साधु बाबासे भेंट हुई। साधुका मुँह देखकर ही वे सब ताड़ गये और बोले—'नहीं दिये न ? जैसे उनके बापका माल है; सब कुछ तो शंकरका है। उन्होंने दसके आगे एक शून्य बढ़ा दिया और कहा—'मुझे दुःख है, एक बार और आपको जानेका कष्ट करना होगा; पधारिये, ले आइयेगा।'

इधर मुनीमजी जले-भुने बैठे थे, उधर शंकर-भगवान्‌को लीला करनी थी। साधुने मुनीमजीके सामने रुक्का रख दिया, जिसे दूर फेंकते हुए वे बोले—'रुपये आकों-के नहीं लगते, महाराज ! एडी-चोटीका पसीना एक करना पड़ता है। दो-चार लेकर पिण्ड छोड़ो।' साधु उत्तर सुनकर लौट पड़ा।

इस प्रकार उसे चार बार फेरी फिरनी पड़ी; शून्य बढ़ते गये। झड़-झपाट सुनकर सेठजीके ज्येष्ठ भ्राता श्रीअबीरचन्दजी मुनीमजीसे बोले—'आज क्या आपकी अक्ल भाँग खा गयी है ? रतन आया तो पूरे एक लाख रुपये ही चुकता कर देगा। उसके काममें विघ्न मत डाला करो, कितनी बार आपको चेतावनी दी है। उन्होंने साधु महाराजको सादर विनयपूर्वक राजी करके दस रुपये दे दिये और उन्हें समझा दिया कि रतनके पूछनेपर कह दीजियेगा कि रुपये मिल गये। उसने लौटकर ऐसा ही किया।

विवाह-शादियोंके दिनोंमें सेठ साहब चोखे और भरोसेवाले मनुष्योंको बुलवाकर कहते—'आपको कृपा करके थोड़ी-सी सहायता करनी होगी। बतलाइये तो आपकी जातिमें लड़के-लड़कियोंके कुल कितने विवाह हैं? अन्दाजन कितना उचित व्यय करना अनिवार्य होगा ?'

उनके निष्कपट सुझावके अनुसार ही वे लाल कपड़ेकी थैलियाँ सिलवाकर उनमें उतना ही द्रव्य रखकर बिना जात-पाँतके भेद-भावके, विश्वासी आदमियोंके हाथ छिपे-छिपाये किसीकी छतपर और किसीके घरकी मोरीमें बाँसद्वारा ठिलवाकर आँगनमें डलवा देते।

पौ फटते ही, औरतें बासी झूस-बुहारी करतीं और थली पड़ी देखकर समझ जातीं कि यह सेठजीकी ओरसे विवाहके लिये दिया हुआ गुप्त-दान है। उस समय कैसी वे हृदयसे उन्हें आशीर्वाद देती होंगी?

'पैसा महादेवका है, मैं तो उसका मुनीम हूँ। किसमें सामर्थ्य है जो बिना उसकी मर्जीके उसका दैवी-द्रव्य छलसे ले ले।' इस महावाक्यकी आवृत्ति दिनमें कई बार नित्य ही सेठ साहब कर लिया करते थे।

भगवान्‌की लीला बड़ी विचित्र है। ऐसे पर-दुःख-कातर और परोपकारी सेठके घरमें एक दिन चोर घुस गये। सेठजीकी नींद खुली। चोरोंने कटारसे पेट चीर डालनेकी धमकी दी। उन्होंने पूछा—'क्यों मारनेपर उतारू हुए हो? कुछ बताओ भी?' धन बतलाओ, हमें धन चाहिये!' चोर बोले। उन्होंने तिजोरियोंकी चावियोंके गुच्छे उनके सामने फेंक दिये। तब भी चोर शङ्कित रहे और वे सेठको मुश्के बाँधकर मुँहमें वस्त्र ठूँसनेका प्रयत्न करने लगे। वे बोले—'क्यों यह सब कर रहे हो? मैं भगवान् शंकरकी शपथ लेता हूँ कि न तो अभी और न बादमें ही किसीको यह भेद बतलाऊँगा। ले जाओ मन चाहे जितना, शंकरका माल है। उनकी सम्भव है यही इच्छा हो।' चोरोंने वाचा लिया और बड़ी-बड़ी गठरियाँ बाँधकर चैनसे चलते बने; परंतु यह क्या? नेत्रोंके पट मिल गये, दिखना बंद हो गया और मारने लगे वे इधर-उधर टटोले। अन्तमें झींखते-पछताते उनके ही पैर पकड़े और रोकर क्षमा माँगी, तब कहीं अंधापन मिटा। तबसे उन्होंने सेठजीके यहाँ ही नौकरी कर ली।

उनके दीवानखानेसे कभी कोई खाली हाथ नहीं जाता था। एक बार एक ब्राह्मण देवता वहाँ पहुँचे। बोले—कन्याका विवाह है, पाँच सौकी आवश्यकता है। सेठजीने कहा—'मेरे विचारसे ३००) में ही भली-भाँति काम चल जायगा।' ब्राह्मण खीझकर बोला—'देना हो तो पूरे ५००) दो, अन्यथा ना कह दो।' उन्होंने कहा—'(३००) से लेकर २०००) तककी चिट्ठियाँ डाल लो और शंकरका नाम लेकर आँख मूँदकर उठा लो।' एक बार, दो बार, तीन बार ऐसा किया गया, परंतु हर बार ३००) ही की चिट्ठी उठी। तब हँसकर वे बोले—'शंकरकी ३००) की ही आज्ञा है तो अधिक कैसे मिलेगा?' लज्जित होकर उतने ही रुपये लेकर ब्राह्मण देवता चलते बने।

एक ब्राह्मणके कुछ डौल नहीं था। किसीने उसे सुझाया कि सेठजीकी बग्घीके आगे-आगे भागने लगो। एक-दो बार ऐसा करनेपर सेठजीकी नजर उसपर पड़ी। उन्होंने पूछा—'तुम ऐसा क्यों कर रहे हो, भाई? फिर सहानुभूतिपूर्वक, धीरज दिलाते हुए उससे सब बातें पूछने लगे। सब सुन-गुनकर बोले—'देखो देवता! आपने मुझपर बड़ा भारी अपराध चढ़ा दिया। शंकर! शंकर! ब्राह्मण और मेरी बग्घीके आगे-आगे भागे। मैं तो ब्राह्मणोंके चरणोंकी रजको सादर मस्तकपर चढ़ाता हूँ।' फिर पूछा—'आप पढ़े-लिखे तो अवश्य ही होंगे?'

'काला अक्षर भैंस बराबर है।'

'रसोई बनानी आती है?'

'चूल्हेमें फूँक देना भी नहीं आता'।

'तब.......तब.......तब तो.......अच्छा ठीक है। कल दुपहरमें आप दीवानखाने अवश्य पधारो।'

दूसरे दिन सेठजीने नागपुरकी दुकानपर एक चिट्ठी लिखी, जिसमें यह स्पष्ट आदेश था कि इन ब्राह्मण

देवताको वहाँवाले रसोइया रसोई करना सिखायें और जबतक ये पूरी तरह नहीं सीख लें, तबतक दोनो एक ही स्थानपर काम करें और वेतन लेते रहें। पत्रवाहक महाराजके होली, दिवाली और राखी-पूजनादि त्योहारोंपर यथार्थ दक्षिणा दी जाकर ऐसी व्यवस्था कर दी जाय, जिससे वर्षभरमें निर्वाहयोग्य पर्याप्त द्रव्य इन्हें मिल जाय। ध्यान रहे कि इसमें त्रुटि न होने पाये, इस प्रकार ब्राह्मण देवताका दारिद्र्य धुला और वे लगे धापने-फाटने।

मतीरोंकी ऋतुमें, बढ़िया मतीरोंके टाँकियाँ लगवा-कर उनमेंसे किसीमें एक मोहर और किसीमें रुपये रखवाकर उसका मुँह बंद करवा देते। देते समय साधुओंको सेठजी कहते—'महाराज! ये भंडानके प्रसिद्ध मीठे मतीरे हैं; स्वयं खाना, वेच न देना।' इस प्रकार वे गुप्त दान किया करते थे।

ग्रीष्म ऋतुमें मरुभूमिमें आग बरसती है। आदमी बिना परके तड़फने लगते हैं। ऐसे समयमें सेठजी जगह-जगहपर शीतल जलकी प्याऊ लगवा देते थे। बेचारे अबोल जानवरोंके लिये जंगलोंमें जगह-जगह मिट्टीके कूँडे जलसे भरवाकर रखवा देते। वट, पीपलादि वृक्षोंमें जल सिंचवाते थे।

तालावसे जल भर-भर लानेवाली पनिहारिनियोंके लिये कंधे-कंधेतक ऊँची भीतें बनवा दी थीं, जिसपर वे सरलतासे अपने घड़े रखकर थोड़ा विश्राम ले सकें। ऐसी भीतें आज भी मौजूद हैं।

इतना ही नहीं, अपंग-अशक्त मनुष्यों, विधवाओं और गरीबोंके निर्वाहार्थ वे गुप्तरूपसे धन दिया करते थे।

एक बार उन्हींके भाइयोंमेंसे एक डोकरी (बुढ़िया) परलोक सिधार गयी। गरीबका कौन वेली ? घरवाले बेचारे सब भाइयोंके घर घूमे, परंतु सबसे एक ही टरकाऊ उत्तर मिला—'बस आये ही।' परंतु आया कोई नहीं। सेठजीको सूचना मिलनेपर वे तुरंत ही सिरपर सफेद दुपट्टा लपेटकर मृतकके घर आगे आ खड़े हुए। यह देखकर सब भाई-बन्धु बात-की-बातमें उपस्थित हो गये। सेठजीने डोकरीको अपनी माँकी तरह मानकर मरणोपरान्त सब धार्मिक कृत्य करवा दिये।

सेठजीके घरमें उनकी भतीजीका विवाह। माहेश्वरी वैश्योंमें ऐसी रीति है कि वरपक्षवाले अपने द्वारा निमन्त्रित जनोंको पहचानकर समधीकी भोजनशालामें घुसने देते हैं। सेठ साहबका बड़ा नाम सुनकर निमन्त्रित-अनिमन्त्रित अनगिनत आदमियोंका जमघट्ट मच गया। हल्ला सुनकर सेठ साहबने समधीसे विनयपूर्वक सादर कहा—'जो आपके न्योतेसे आये हैं, वे तो ठीक ही हैं, शेष सबको शंकरके न्योतेसे आये समझियेगा। मेरी प्रार्थना है—शंकरके भंडारसे कोई भूखा नहीं जाना चाहिये।' विशाल भोजनशालाके द्वार खुलवा दिये। नगरके अधिकांश व्यक्तियोंने खूब छककर भोजन किया।

बीकानेरमें सेठ साहब 'रतनसेठ' के नामसे प्रसिद्ध हैं। किसीके कपूतको देखकर लोग अब भी कहा करते हैं—'रतनसेठ तो संतानकी इच्छा लेकर स्वर्ग सिधार गये और अब देखो, यह कपूत जन्मा है।

किसी कंजूसको उत्साहित करनेके लिये लोग कहते हैं—थोड़ी देरके लिये तो बन जा 'रतनसेठ'।

कराल काल उनके पार्थिव शरीरको तो नष्ट करनेमें समर्थ हो गया, परंतु उनका कीर्ति-कलेवर उसके मिटाये नहीं मिट सका।

आप इस संसारको छोड़कर संवत् १९५१ में शिवलोक सिधारे।*

---

* ये संस्मरण मैंने अपने गोलोकवासी पूज्य पितामह श्रीपरमसुखदासजीके मुखारविन्दसे सुने थे। आपने सेठ साहबके फर्ममें गुमाश्तेसे लेकर मुनीमके उच्चपदपर चालीस वर्षोंतक काम किया था। बादमें अकोला (बरार) में आपने अपना निजका कारोबार प्रारम्भ कर दिया था।

सत्यार्थी

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

'सत्य-सुन्दरीका दर्शन उसकी एकमात्र आकाङ्क्षा थी। जाने कितने जन्म-जन्मान्तरोंसे वह उसे पालता-पोसता आ रहा था। इसी ललकसे वह लहकता रहता और इसी खब्तमें बहकता'।

सुबहसे शामतक पागल-सा वह इसी धुनमें घूमता-फिरता और फिर रात-रातभर बैठा रह जाता······· खोया-खोया-सा गुमसुम।

कब जागता, कब सोता—इसका कोई ठीक न था। पर जब जागता, तब यन्त्रवत् जुटा रहता अपनी साधनामें; और जब सोता, तब साध्यके सपने लेता।

पल-पल क्षण-क्षण करके काल दिन पूरे कर रहा था; चप्पा-चप्पा करके भूमि पाँव-तलेसे भागी-सरकी जा रही थी; और परतमेंसे परतमें उतरकर वह कारण-अकारणकी ओर अग्रसर हो रहा था।

पर यह सब होते हुए भी क्या हो रहा था? न होनेके नाते बहुत-कुछ सही, किंतु होनेके नाते कुछ भी तो नहीं।

× × ×

सत्य·······सम्पूर्ण सत्य·······अनावृत सत्यके दर्शन हों—यह उसकी अन्तर्लालसा थी। यों सत्यानुभूति किसे नहीं होती। सत्य प्रकट नहीं तो अप्रकट भी कब है। पर झाइयों·······झाईं-माईं-सी झाँकियोंसे वह संतुष्ट न था। नकाब-घूँघट-परिधान-व्यवधान उसे पसंद न थे। नंगे-उघाड़े दर्शन!—उसका तो खब्त था।

× × ×

जाने कब, कहाँ, कैसे क्षोभ, खीझ और निराशाके आँसुओंमें 'मैं' गल गया और सहज सत्य देवी प्रसन्न हो गयी, करुण कटाक्षके मिस आँखें मचल पड़ीं और झीना-झलझला आवरण हट गया।

सुन्दरीकी अनुपम अछवि-सुछविकी स्पष्ट झाँकी हुई। आँखें रूपसे भर गयीं, साथ ही तेजसे झँप गयी—न, न, कसकर बंद हो गयीं।

× × ×

बालककी मोहिनी मूढ़तामें कहूँ अथवा तनिक तीखा बनकर गँवारके मीठे भौंदूपनमें, जाने कैसे वह चेष्टाकर खोल बैठा उन भरी आँखोंको।

सत्यसे भरी आँखोंमें उसने शायद स्वयं सत्यको भर लेना चाहा।

रूप गहरा-गहरा खुभा जा रहा था और तेज अत्यधिक गर्म हो-होकर फैल रहा था।

× × ×

कहाँ सुन्दरी थी, कहाँ दर्शनाकाङ्क्षी। राखका एक ढेरमात्र अवशिष्ट था। पर फिर भी दोनो ही थे भी।

राख राख न रहकर कण-कण पराग बन गयी थी और सुन्दरीके विराट् रूपने उसे आँखका अञ्जन करके सार लिया था।

× × ×

आती-जाती दुनियाका 'बाहर' नाना रूपोंमें बात बना रहा था—

'हो ली सत्यकी खोज! खब्ती कहींका! सत्यार्थी बना था। आखिर चल बसा न।'

और 'भीतर' सनकर एक हुआ अनुभूति कर रहा था—

'कुछ भी हो, पर था पहुँचा हुआ।'

× × ×

और उधर एकान्त टीलेपर अलग अलग टिके मौन तत्त्ववेत्ता मुस्कराहटमें बोल बखेर रहे थे—

'अन्तर! ·······नित्य छूमंतर। अन्तर कहाँ है? है भी तो केवल इतना कि सत्यार्थीने सत्य-सुन्दरीको आँखोंमें भरना-धरना चाहा और सुन्दरीने सत्यार्थीको ही नयनोंमें सार लिया।

सचमुच अन्तर है कहाँ! अन्तर! ··········नित्य छूमंतर।

मनुष्य और यन्त्र

(लेखक—श्रीराधाकृष्णजी)

वैज्ञानिक अनिरुद्ध वर्माने जिस आश्चर्यजनक मनुष्यतामापक यन्त्रका आविष्कार किया था, उसकी शक्ल घड़ीकी तरह थी। घड़ीमें दो सूइयाँ होती हैं, लेकिन इसमें केवल एक ही सूई थी। घड़ीकी डायलपर जहाँ बारहका अङ्क रहता है, वहाँपर मनुष्यताकी सीमा-रेखाके लिये एक चिह्न बना हुआ था। उस सीमारेखासे सूई अगर दाहिनी ओर आगे बढ़ जाय तो उसमें मनुष्यता होनी चाहिये। इधर बायीं ओर सूईके खिसकनेपर मनुष्यताकी कमी सूचित होती थी। जितनी डिग्रीतक सूई पीछेकी ओर खिसकती जाय उतनी ही उसमें मनुष्यताकी कमी होनी चाहिये।

राष्ट्रिय हितके विचारसे यह कामके लायक आविष्कार था। सरकारने अपने कार्यालयोंमें व्यवहारके लिये इस यन्त्रको स्वीकार कर लिया। कारखानों और व्यापारके कार्यालयोंके लिये भी यह यन्त्र उपयोगी था। अब मनुष्यताकी भावनाकी वृद्धिको कौन रोक सकता है? अब उच्चकोटिके मनुष्य आगे आयेंगे, अब मनुष्यतासे हीन लोगोंकी कोई गुंजाइश नहीं होगी। संसार उन्नति करेगा।

अनिरुद्ध वर्माने इस यन्त्रके निर्माणके लिये एक कारखाना भी खोल दिया था। वहाँपर बड़े पैमानेपर यन्त्र तैयार होते और व्यापारी उन्हें उठा ले जाते। उस यन्त्रकी तमाम बिक्री हो रही थी।

कुछ दिनोंतक तो अच्छा काम चला, फिर ठप पड़ गया। अब उस यन्त्रकी बिक्री नहीं होती। कारखानेमें जो माल बनता, वहीं-का-वहीं पड़ा रह जाता। ऐसा लगता था जैसे व्यापारियोंको साँप सूँघ गया हो—वे आते ही नहीं थे। महीनों बीत जाते और एक ग्रोसका आर्डर भी नहीं आता। आखिर यह क्या हो गया? कर्जपर कर्ज, परेशानीपर परेशानी बढ़ती चली गयी। महाजनोंके तकाजोंसे नाकमें दम आ गया। आज अनिरुद्ध वर्माके समान कोई दुखी नहीं था। आज उसने ठान लिया था कि आज वह आत्महत्या कर लेगा और सदा-सर्वदाके लिये इस संसारसे विदा हो जायगा।

उसके शरीरका शूट अस्त-व्यस्त था। मूँछ और दाढ़ी बढ़ी हुई। देखनेसे ही पता लग जाता था कि यह कोई बदकिस्मतीका मारा हुआ आदमी है। चेहरेपर भयानक निराशा, जो आँखोंमें घनीभूत हो गयी थी। वह धीरे-धीरे यमुनाकी ओर जा रहा था कि अब फिर कभी नहीं लौटेगा।

कि एक आदमी उसकी ओर बढ़ आया और सहानुभूतिपूर्वक बोला—'आप बड़े दुखी मालूम होते हैं?'

'बहुत!' अनिरुद्ध वर्माने कहा।

उस व्यक्तिकी सहानुभूति गाढ़ी हो रही थी। उसने कहा—'मालूम होता है आप भी उसी मनहूस वैज्ञानिकके सताये हुए हैं!'

'किसके?'—अनिरुद्ध वर्माको आश्चर्य हो रहा था।

'जिसने उस मनुष्यतामापक यन्त्रका आविष्कार किया है, वही अनिरुद्ध वर्मा। उसके उस यन्त्रने हजारों घर घाले। न कहीं किसीको नौकरी मिलती थी और न कोई किसीका विश्वास करता था। बेचारी बदनसीबी चारों ओर बढ़ती ही चली गयी।'

अनिरुद्ध वर्माके लिये यह आश्चर्यजनक समाचार था। उसने पूछा—'तब?'

'तब क्या अन्याय-अनाचार हमेशाके लिये चल

सकता है ?' उस व्यक्तिने कहा। 'ऐसा तो कदापि सम्भव नहीं। तब दूसरे वैज्ञानिकोंने उसी तरहके दूसरे यन्त्रका आविष्कार किया। इससे सभी तरहके आदमियोंका काम चलता है। अब मुझे ही देखिये। जहाँ कामके लिये जाता था, वहींसे छाँट दिया जाऊँ। यन्त्र नहीं साहब, उस अनिरुद्ध वर्माने बदनसीबीका आविष्कार किया था। मगर अब ! यह देखिये, कितना अच्छा यन्त्र है ?'

उसने पाकेटसे यन्त्र निकाला तो वर्माने उसे उत्सुकतापूर्वक ले लिया। वर्माने कहा—'मैं भी कल-पुर्जोंको देखना थोड़ा-बहुत जानता हूँ। अगर मैं इस यन्त्रको खोलकर देखूँ तो आपको कोई आपत्ति तो नहीं होगी ?'

'नहीं-नहीं, आपत्ति क्यों होने लगी। मुझे क्या मालूम था कि आप कारीगर भी हैं। आप देखना चाहते हैं तो शौकसे खोलकर देखें।'—उस व्यक्तिने बड़े आश्वस्तभावसे कहा।

अनिरुद्ध वर्मा पेड़के नीचे बैठकर ध्यानपूर्वक उस यन्त्रको देख रहा था। बड़ी सफाईके साथ उसके यन्त्रकी नकल की गयी थी। वही मेक, वही नाम—वही सब कुछ। खोलकर जब भीतर देखा तो उसी तरहके सभी पार्ट-पुर्जे थे। केवल सिस्टम उलट दिया गया था। इससे यह होता था कि जो व्यक्ति मनुष्यता-से जितना अधिक विहीन था, वह उतना ही अधिक मानव मालूम पड़ता था।

'छी: !' अनिरुद्ध वर्मा अपने-आपको धिक्कारने लगा। 'कहीं यन्त्रसे भी मनुष्यता मापी जा सकती है ? यन्त्र भला, मनुष्यको क्या माप सकते हैं। यह सिद्धान्त ही गलत है।'

और उसने मन-ही-मन तय किया कि वह साधु हो जायगा। किसी ऐसे गुरुकी तलाश करेगा, जो उसकी आत्माके विकासमें उसका सहायक हो सकता है। वह उसका दर्शन करेगा, जो उसीके अन्तरमें बैठा हुआ है और उसे यन्त्रकी तरह चला रहा है।

उस नकली मनुष्यतामापक यन्त्रको वापस करके अनिरुद्ध वर्मा धीरे-धीरे जाने लगा।

पूर्ण प्रेम, पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण शक्तिमान् भगवान् मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ

भगवान्‌की विशेष कृपासे आज मैं चराचर अखिल विश्वमें जो भी दीखता है, 'इदं' रूपसे जो कुछ भी है, उस सबके रूपमें अपने भगवान्‌के मङ्गलमय दर्शन कर रहा हूँ; अनन्त जीवन, अनन्त प्रेम, अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्तिके रूपमें उनका अनुभव करता हूँ और अपने परम स्नेही नित्य सुहृद्‌रूपमें मैं उन्हें पहचानता हूँ। मैं उनका हूँ; सर्वदा तथा सर्वथा उनका हूँ। उनकी कृपासे इस बातका मुझे अनुभव हो गया है।

आज मैं अपने भीतर विशेष दिव्य जीवनका स्पन्दन अनुभव कर रहा हूँ और जानता हूँ कि मांस, रुधिर और अस्थिसे अधिक मेरी सत्ता है। मेरा निर्माण भगवान्‌के सनातन शुद्ध अंशसे हुआ है; मैं अखिल जीवन, समस्त प्रेम और सम्पूर्ण मङ्गलमयताका एक सनातन अंश हूँ। इस रूपमें भगवान्‌के साथ अपने यथार्थ सम्बन्धकी अनुभूतिसे आनन्दमत्त हो रहा हूँ।

भगवान् पूर्ण प्रेम, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण शक्ति हैं। मैं उनमें हूँ और वे मुझमें हैं।

महासती सावित्री

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

[गताङ्क, पृष्ठ ९९८ से आगे]

वहूरूपमें सावित्री

अवतक हम सावित्रीको एक रूपमें देखते आये हैं, अव दूसरे भावसे देखेंगे; क्योंकि सावित्री इतने दिनोंतक अविवाहित थी, अव विवाहिता स्त्री हो गयी है। अस्तु, अव हमारे देशकी कुललक्ष्मियोंको इससे विशेष शिक्षा लेनेका अवसर है। वे देखेंगी कि देव-द्विजोंकी अपूर्व भक्ति करनेवाली सावित्री यौवनावस्थामें पतिके घर आकर किस प्रकार पत्नीका कर्तव्य पालन करती है।

पतिके घर आकर सावित्रीने जो पहला काम किया, वह यह था कि पिताके दिये हुए अनेक रत्नालंकार उतारकर रख दिये। 'इतने दिनोंतक मैं राजकुमारी थी, अव तो वनवासिनी हूँ। वनवासिनीको इतने आभूपणोंसे क्या काम। मेरे पूज्य ससुर वनवासी हैं, सास वनवासिनी हैं, स्वयं पतिदेव सत्यवान् भी जटाजूट और वल्कल धारण करते हैं। ऐसी दशामें मेरा नाना रत्नालंकारों एवं आभूपणोंसे सज्जित रहना नितान्त अनुचित है।' यह विचारकर सावित्रीने सव आभूषणोंको उतारकर पतिकी तरह साधारण वल्कल-वस्त्र अपनी कमनीय देहपर धारण कर लिये। उसका यह अद्भुत आचरण देखकर वनके सभी ऋषि-मुनि उसकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करने लगे। सावित्रीके सास-ससुर भी मुग्ध हो गये, पर साथ ही उन्हें कष्ट भी प्रतीत हुआ। प्रेम और करुणासे भरे हृदयसे वे सोचने लगे कि 'हाय, राजकन्याको आज हमारे यहाँ आकर इतना कष्ट भोगना पड़ रहा है। हम भी तो एक दिन राजा-रानी थे। आज हमारी वही दशा होती तो ऐसी सुशीला सावित्रीको पाकर इतना कष्ट क्यों होने देते।' यही सोच वे दुःखसे आँसू टपकाने लगे। मोतियोंके समान उनके आँसुओंकी बूँदोंने प्रणाम करती हुई चरणोंमें सावित्रीका मस्तक सींचकर उसका सदाके लिये कल्याण कर दिया। वैसे पवित्र आँसू, वैसे पवित्र आशीर्वाद आज हमारे देशमें कितने दुर्लभ हैं! हमारे समाजमें प्रायः कई धनी कन्याएँ निर्धनोंको व्याह दी जाती हैं, पर वे अपने पिताके धन-धामका अभिमान छोड़कर ससुराल ही जाना कम पसंद करती हैं और जाती हैं तो सावित्रीकी भाँति निरभिमान होकर स्वामीके सौभाग्यमें ही अपना सौभाग्य नहीं समझतीं। यह शोचनीय दशा है। विशेष खेद तो यह है कि उनके माता-पिता अधिकांश इससे सहमत होते हैं। यह नितान्त अनुचित है। प्रशंसाके पात्र वे हैं, जो निर्धनसे नाता जोड़कर उसे अपने समान समझें और अपनी कन्याओंको प्रेरणा देकर दिखा दें कि पातिव्रतधर्म निभाना कितना आवश्यक है। अतः समस्त संसारके नर-नारियोंको सावित्रीके परम पवित्र चरित्रसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

सावित्रीके सम्पूर्ण आभूषण उतारकर रख देनेपर उसकी सासने कहा—'प्रिय बहू! तुमने राज-कन्या होकर भी ऐसा गरीवी वेप धारण कर लिया है, यह मुझसे नहीं देखा जाता। बेटी! हम तो वहुत दिवसोंसे इसी ढंगसे रहते हैं, हमारी तो चिन्ता ही क्या है; पर तुम एकदम ऐसा वेश बनाकर इतना कष्ट मत उठाओ। शरीरपर आभूषण पहिने रहो, ताकि हमारा चित्त देख-देखकर प्रसन्न होता रहे।' सावित्रीने सासकी इस वातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया, केवल अपने नेत्र नीचे कर लिये। पूज्य सास-ससुर वनवासी हैं, वल्कल धारण करते हैं, स्वयं पतिदेव जटा-जूट और वल्कल धारण किये रहते हैं—ऐसी दशामें सावित्री केवल अपने ही सुखकी बात कैसे मान ले! सासने वहुत कहा, समझाया-बुझाया, किंतु सावित्री मौन ही रही।

'इन तुच्छ अलंकारोंसे मेरा क्या होगा! इनके वदले तो आज मैंने जो अमूल्य अलंकार पाया है, उसीसे मुझे आनन्द है, सुख है और उसीसे मेरी शोभा है। इसी एक अलंकार (पति) को सदा पहिने रहकर मैं सुखी रह सकती हूँ, नहीं तो दुनियाभरके अलंकारोंसे भी मेरी शोभा नहीं वढ़ सकती!'

निस्संदेह अति उत्तम बात है। स्वामी ही स्त्रीका एकमात्र मङ्गलमय महामूल्य आभूषण है—अमूल्य धन है। जो स्त्री इसी धनपर, इसी अलंकारपर, इसी शोभापर सुरक्षित रूपसे अधिकार रख सकती है, वही सुखी है, वही सच्ची सौन्दर्यमयी है और वही सच्ची नारी है। और जो स्त्री इस अमूल्य रत्नकी—धनकी मर्यादा नहीं समझती, वह नारी होकर भी पशुके तुल्य है, आँख रहते भी अंधी है और हीरेको छोड़कर काँचके टुकड़ेको प्यार करती है। ऐसी

स्त्रीसे हमारा और हमारे देशका कभी कोई कल्याण नहीं हो सकता।

यही नहीं कि सावित्रीने केवल गहने ही खोलकर रख दिये हों, बल्कि वह वनवासियोंके सत्सङ्गसे पूरी वनवासिनी बन गयी। पतिगृह जाते समय प्रायः मोहवश कन्याओंके नेत्रोंसे अश्रु-धारा बहने लगती है। हमारी देवी सावित्रीको भी यह सब हुआ होगा। पर जिस प्रकार वह कन्या-अवस्थामें माता-पिताकी सेवा-शुश्रूषा तथा आज्ञापालनमें तत्पर रही, वैसे ही ससुरालमें आकर हम उसे किसी भी कर्त्तव्यको निभानेमें असावधान नहीं देखते। वह जानती है कि विवाहके बाद स्वामीका घर ही स्त्रियोंका एकमात्र सहारा है, स्वामी और सास-ससुरकी सेवा करना ही उनका मुख्य कर्त्तव्य है। जो रमणी यह बात नहीं समझती, उसे सावित्रीके चरित्रसे शिक्षा लेनी चाहिये।

राजकन्या सावित्री दरिद्र ससुरालमें आकर दो दिनमें ही अपने कर्तव्योंको समझ गयी और तदनुसार ही उत्साहके साथ सब कार्य करने लगी। यदि वह चाहती तो अतुल ऐश्वर्यके अधिपति पिताके घर कई दिनोंतक सुखसे रह सकती थी, पर सावित्री ससुरालमें आनेके पश्चात् एक दिनके लिये भी पिताके घर नहीं गयी। जिस दिन उसका विवाह हुआ, उसी दिनसे स्वामीके प्रेममें लीन हो गयी। सास-ससुरकी सेवा करना, आश्रमकी देखभाल करना, देवताओंकी पूजा करना और पतिका मनोरञ्जन करना—ये सब उसके नित्य-कर्म हुए।

सावित्री नित्य प्रातःकाल होते ही देवताओंका स्मरण करती हुई शय्या त्याग देती, पतिको प्रणाम करके आवश्यक कृत्यसे निवृत्त होती, फिर स्नान करके सास-ससुरके लिये फूल एकत्र करनेको सखियोंके साथ वनमें जाती। वहाँसे आकर, सास-ससुरकी पूजा समाप्त होनेपर भोजन बनाकर उन्हें खिलाती। सत्यवान् किसी दिन वनमेंसे लकड़ियोंका बोझा या किसी दिन फल-मूल आदि लेकर आता तो उसके बोझेको अपने हाथसे नीचे उतारकर पतिकी सेवा-शुश्रूषा करती और फिर पतिको स्नान तथा भोजन कराकर अन्तमें आप थोड़ा-सा खा लेती। इसी प्रकार सावित्रीके दिन बीतने लगे।

दोपहरके पूर्व जब बालसूर्यकी किरणोंसे तपोवन हँस उठता, सत्यवान् जब हाथमें कुठार लेकर वनमें जाता, सावित्रीके सास-ससुर जब प्रियतमा पुत्रवधूके कष्टसे एकत्र किये हुए पुष्पोंके बीच अपने इष्टदेवको स्थापित करके उनकी आराधनामें मग्न रहते, उस समय सावित्री पुष्पमाला, आम्रपल्लव और देव-कलश लेकर घरसे दूर आश्रमके एक निर्जन स्थानमें जाती और वहाँ लता-पुष्पमण्डित घने वृक्षोंकी श्यामल छायामें बैठकर एकाग्र चित्तसे पतिकी मङ्गल-कामनाके लिये इष्टदेवकी आराधना करती थी। फिर वृद्ध दम्पतिकी पूजा-समाप्तिका तथा पतिके लौटनेका समय जानकर तुरंत आश्रमको लौट आती थी। सावित्रीके मनकी बातें मनमें ही रहती थीं, कोई भी उन्हें नहीं जान पाता था।

दोपहरके बाद जब ऋषि-बालक एकत्र होकर वेद-गान करते, तब सावित्रीके विश्रामका समय होता था। उस समय वह अपने प्राणोंको भूलकर उन ऋषिबालकोंमें केवल सत्यवान्की ओर देखती रहती थी। विवाहके पहले एक दिन जिस पवित्र मुखमण्डलको देखकर सावित्री जगत्को भूल गयी थी, उसी पवित्र मुखमण्डलको नित्य प्रति देखकर भी तृप्त नहीं होती थी। प्रतिदिन अनिमेष नेत्रोंसे उसी मुखमण्डलकी ओर देख-देखकर एक अपूर्व आनन्दसे उसका मुखमण्डल उज्ज्वल हो उठता था। उस आनन्दका यथावत् वर्णन करनेमें हमारी लेखनी असमर्थ है। हाँ, यदि हमारी कोई भी विदुषी-पाठिकाएँ कभी अपने पतिका मुखारविन्द देखकर जगत्को भूल जाती होंगी तो वे अवश्य ही इसे भलीभाँति समझ लेंगी।

किंतु इतना करके भी—इतने आनन्दमें भी सावित्रीके मनमें एक बड़ी भारी चिन्ता लगी रहती थी वही मुनिवरकी भयानक बात—'ठीक एक वर्षके बाद अमुक दिन, अमुक समय सत्यवान्की मृत्यु हो जायगी!' हा, कैसी भयंकर बात है! ऐसे पति, ऐसे सास-ससुर, ऐसी सुख-शान्ति, जिसकी बराबरीवाला सुख सावित्री संसारभरमें खोजनेपर भी नहीं पा सकती, एक सालके बाद एकदम श्मशानमें परिणत हो जायगा! विधाताका क्या ही विकट लेख है! सावित्री खाती-पीती है, काम-काज करती है, पतिका मुख देखकर अपनेको भूल जाती है; तो भी उसे निर्भय शान्ति नहीं मिलती। सब सुखोंके बीच वही चिन्ता लगी रहती है, किसी भाँति भी उस बातको वह नहीं भूल पाती।

सावित्री दिनभर काम करती, रातको जगकर पतिके मुख-की ओर देखती रहती और दोनों हाथ जोड़कर भगवान्से

प्रार्थना करती—'हे भगवन् ! मुझे इस विपद्से बचाओ। मैं अति व्याकुल होकर भिक्षा माँगती हूँ कि मेरे स्वामीका जीवन प्रदान करो। केवल यही एक मेरी भिक्षा है। इसके बदले चाहे मेरा सर्वस्व ले लो, परंतु मेरे स्वामीका जीवन प्रदान करो। यदि स्वामी जीवित नहीं रहेंगे तो मैं भी जीवित नहीं रहूँगी और मेरे सास-ससुरका जीवन भी नहीं रहेगा। मेरा ऐसा सुख-संसार एक बार ही नष्ट हो जायगा। अतः हे प्रभो ! मुझे इस सुखसे वञ्चित मत करना—मेरी रक्षा करना। आपके सिवा मेरा कौन रक्षक है, आप सर्वसमर्थ हैं। असम्भव बातको भी सम्भव कर सकते हैं। आपकी जय हो।'

सावित्री रोती हुई इसी भावसे देवताओंकी प्रार्थना करती रहती। आँसुओंके लगातार गिरनेसे उसके वल्कल-वस्त्र भीग जाते और बीच-बीचमें निद्रित सत्यवान्के वक्षःस्थलपर भी आँसुओंकी दो-एक बूँदें पड़कर चाँदनीके प्रकाशमें मोतियोंके समान चमकने लगतीं; पर उद्भ्रान्त सावित्री यह हाल नहीं जान पाती और निद्रित सत्यवान् भी नहीं जान सकता था। इसी भाँति उनकी रातें व्यतीत होती थीं।

प्रातःकाल उठकर वन जाते समय जब सत्यवान् पुकारता—'सावित्री !' तब सावित्री उसकी ओर निहारकर सब भूल जाती, सोचने लगती कि हाय, क्या ऐसे स्वामी भी मुझे छोड़ जायँगे ? क्या यह सम्भव है ? किंतु फिर धैर्य धारण करके अपना काम करने लग जाती। इतनी भारी चिन्ताके बीच भी सावित्रीने अपने कर्त्तव्य-कार्यमें तनिक भी कमी नहीं होने दी और न मुखपर कभी कोई उदासीका भाव आने दिया ! मजाल क्या कि सत्यवान् या सास-ससुर यह बात जान जायँ। और ज्ञात कराकर भी व्यर्थ क्यों उन्हें दुखी किया जाय। इसीसे सावित्रीने इस रहस्यकी कोई भी बात प्रकट नहीं होने दी। जब अकेलेमें सावित्रीको अधिक दुःख व्याप्त होता, तब वह पड़ोसकी मुनि-पत्नियों तथा मुनि-बालिकाओंके पास जाकर अनेक धर्मकथाएँ सुनने लग जाती थी। दुःखमें फँसे हुए लोगोंके लिये धर्म-चर्चाएँ सुननेके बराबर दूसरा कोई मित्र नहीं है, इसीसे आत्मसंतोष होता है। इसीलिये सावित्री धर्मालोचना करते-करते अपना सब दुःख भूल जाती थी, उसकी आँखोंके आँसू प्रायः सूख जाते थे।

इसी प्रकार सावित्रीका पत्नी-जीवन व्यतीत होने लगा।

सावित्रीका वर-लाभ

इस बार हम सावित्रीके जीवनका सबसे प्रधान अंश उपस्थित करते हैं। इसी अंशमें सावित्रीके चरित्रकी सच्ची महिमा है, सच्ची शक्ति है और सच्चा तेज भरा हुआ है। सावित्री अपने तेजोबलसे जो अपूर्व और अलौकिक कीर्ति छोड़ गयी है, उसकी समानता संसारभरके इतिहासमें कोई नहीं करता। सतीकी महिमा कितनी शक्तिशालिनी होती है, कितनी उज्ज्वल होती है, सतीका तेज कितना प्रचण्ड होता है—ये सब बातें आपको इसी अंशमें पढ़नेको मिलेंगी।

सावित्रीका विवाह हुए प्रायः एक साल बीतनेको आया है, कुछ ही दिन शेष है। सावित्री बहुत ही चञ्चल हो उठी है। अब सावित्रीकी इस चञ्चलताका भाव किसीसे छिपा नहीं रहा। ऐसी शान्त, शिष्ट और बुद्धिमती वधूको कभी-कभी बड़ी उदास और भ्रममें पड़ी हुई देखकर उसके सास-ससुरने उससे इसका कारण पूछा। पर सावित्री क्या उत्तर दे ! क्या वह सत्यवान्की मृत्युसम्बन्धी बात कहकर वृद्ध दम्पतिको दुःखित कर सकती है ? कदापि नहीं। इसीसे उसने कोई उत्तर नहीं दिया, मौन रही।

सावित्रीका शरीर दिनोंदिन सूखने लगा। उसको दिनोंदिन मलिन-मुख और निर्बल होते देखकर एक दिन सत्यवान्ने उसकी ओर निहारते हुए कहा—'सावित्री ! यह क्या ! तुम दिनोंदिन इतनी दुर्बल क्यों होती जा रही हो ? ज्ञात होता है राजकन्या होकर यहाँ वनवासमें तुम्हें अनेक कष्ट सहने पड़ रहे हैं, इसीसे तुम्हारी यह दशा हुई है। किंतु अब इतना परिश्रम मत करो। तुम्हारा मुखमण्डल देखकर मुझे भय लगता है।'

सत्यवान्की बात सुनकर सावित्रीके नेत्रोंमें आँसू भर आये। हाय, सत्यवान् जानता नहीं कि उसके भयसे सावित्री-के मनमें कितना अधिक भय है ! सावित्रीने मुँह फेरकर आँसू पोंछे और फिर कहा—'प्रियतम, आपकी सेवा-शुश्रूषा न करनेपर मेरा शरीर और भी दुर्बल हो जायगा। आप मेरी चिन्ता न करें। मेरी पीड़ाका दूसरा ही कारण है। मैंने कोई कठिन व्रत धारण किया है। कलसे मैं तीन दिनतक उपवासी रहकर इस व्रतको समाप्त करूँगी। उसके बाद और कोई कष्ट नहीं रहेगा। आप पूज्य सास-ससुरजीसे मेरी यह बात कह दें।'

सावित्री प्रायः बहुत-से व्रत-उपवास किया करती थी,

इसलिये सत्यवान्‌ने सावित्रीकी उपर्युक्त बात मान ली। पर, तीन दिनतक लगातार उपवास! यह तो बड़ा ही कठिन विषय है। एक तो सावित्रीके शरीरकी ऐसी दुर्बल दशा, तिसपर इस प्रकारका लंबा लङ्घन! सत्यवान्‌ने सावित्रीसे यही बात कहकर उसे पराजित करनेकी चेष्टा की, पर सावित्रीने उसकी बात हँसीमें उड़ा दी और अनेक प्रकारसे अनुनय-विनय करके सत्यवान्‌की स्वीकृति चाही। बाध्य होकर सत्यवान् सहमत हो गये।

सत्यवान्‌ने माता-पितासे सावित्रीके इस कठोर व्रतकी बात कही। सुनकर वे बड़े भयभीत हुए। किंतु द्युमत्सेन परम धार्मिक थे। उन्होंने देवताके काममें कभी किसी प्रकारकी बाधा नहीं डाली, फिर वे सावित्रीको इस पुनीत कार्यसे कैसे रोक सकते थे। अन्तमें वे राजी हो गये। सासने भी अधिक आपत्ति नहीं उठायी। दोनोंने इस ख्यालसे भी आज्ञा दे दी कि सावित्री सत्यवान्‌के कल्याणके निमित्त ही व्रत करती है। अतः सावित्री निश्चिन्त हुई। दूसरे दिन प्रातःकाल ही उठकर सावित्रीने सब देवताओंकी अन्तःकरणसे प्रार्थना की। फिर पवित्र जलसे स्नान किया और सास-ससुर तथा सत्यवान्‌को प्रणाम करके यथासमय व्रत आरम्भ किया। ओहो! यह व्रत कितना कठोर है। इसकी कठोरताका वर्णन कैसे किया जाय। ऐसे व्रतसे, ऐसी एकाग्रतासे, ऐसी निष्ठासे, ऐसे घोर परिश्रमसे प्रार्थना करनेपर देवताओंका आसन क्यों न डिगेगा? हम सच्ची प्रार्थना करना नहीं जानते, इसीसे तो देवताओंको प्रसन्न नहीं कर पाते और उनका आशीर्वाद प्राप्त करनेसे वञ्चित रहते हैं। देखिये, सावित्री कितने गाढ़े मनसे आराधना कर रही है। उसकी बाहरी प्रकृति, ज्ञात होता है, छिप गयी है। उसका मन मानो जड देहको छोड़कर बल-संचय करनेके हेतु बहुत दूर चला गया है। देखो, उसके नेत्र आँसुओंसे भरे हैं, अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्थिर है, निश्वास-प्रश्वास छिपे-से जान पड़ते हैं। अवश्य यही सच्ची साधना है।

धन्य सावित्री! धन्य! नारीकुलमें तुम ही धन्य हो। हमारी आन्तरिक कामना है कि तुम्हारी इस पवित्र एकाग्रता, कर्तव्यनिष्ठा और पावन पति-भक्तिसे जगत्‌की समस्त ललनाओंका अन्तर्मन पुनः आज जाग उठे। तुम्हारे उस पुण्यमय युगके बाद भी हम इस कलिकालके घोर अन्धकारमें फिर एक बार अपने घरोंमें तुम्हारी-जैसी परम पुनीत देवियाँ देखकर धन्य हों।

धीरे-धीरे एक दिन, दो दिन करके व्रतके तीनों दिन बीत गये। चौथे दिन सावित्रीने स्नानादि करके व्रत समाप्त किया। उसी दिन तीसरे पहरके बाद जब सूर्यभगवान् पश्चिम दिशामें जा रहे थे, सत्यवान् जब आश्रमकी एक बगलमें कुठार लिये खड़ा था, ठीक इसी समय सावित्री एक उज्ज्वल और अपूर्व तेजोमण्डित मूर्ति-सी दुर्बल शरीरसे बाहर निकली। उसके उज्ज्वल नेत्र और निर्बल शरीरको देखकर सत्यवान् स्थिर नेत्रोंसे उसकी ओर देखने लगा। अहा, क्या ही अद्भुत देवी-मूर्ति है। सत्यवान्‌ने सोचा, 'ज्ञात होता है, सावित्री मानवी नहीं, देवी है। इसके चारो ओर मानो देवत्वका तेज फूटकर निकल रहा है।' सत्यवान् उस समय कुठार हाथमें लेकर रात्रिके लिये लकड़ी और फल-मूल लानेको वनमें जाना चाहता था। ऐसे समय सावित्रीकी विमल कान्ति देखकर वह बहुत देरतक उसकी ओर देखता ही रहा।

सत्यवान्‌को इस तरह अपनी ओर निहारते हुए देख, सावित्रीने धीरे-धीरे पास आकर उसका कोमल हाथ पकड़ लिया और कुठार देखकर हठात् उद्वेगपूर्ण कण्ठसे बोली—'प्रियतम! कहाँ जाते हो? संध्या होनेको आयी है, इस समय कुठार हाथमें क्यों लिया?'

सावित्रीका व्यग्रभाव देखकर सत्यवान्‌को और भी आश्चर्य हुआ। वह सावित्रीकी ओर अवाक्‌दृष्टिसे देखने लगा। सावित्री उसकी अवाक्‌दृष्टि देखकर कुछ हँसी। पर उसके उद्वेगपूर्ण मुखके विषाद-भावके साथ मिलकर वह हँसी कुछ अपूर्व ही हो उठी। ऐसी ही दशा पहले भी कई बार होती देखकर सत्यवान् बोला—'सावित्री, तुम देवी हो या मानवी? तीन दिन उपवासी रहकर तुमने व्रत-नेम सम्पन्न किया है; अब तो जाकर भोजन करो, व्रत तो समाप्त हो ही चुका है।' सावित्रीने कहा—'नहीं प्रिय, प्रातःकाल हुए बिना मैं कुछ भी नहीं खाऊँगी। मुझे तो कोई कष्ट है ही नहीं, फिर आप इतनी चिन्ता क्यों कर रहे हैं? अब कहिये, आप कहाँ जा रहे हैं।'

'घरमें काष्ठ नहीं है, फल-मूल भी नहीं है; बताओ, खायँगे क्या? इसीसे वनको जा रहा हूँ।' सत्यवान्‌ने कहा।

सावित्री व्याकुल हुई; किंतु उसने सत्यवान्‌पर उस व्याकुलताका भाव प्रकट नहीं होने दिया। कुछ हँसकर बोली—'ऐसे समय आप वनमें जायँगे? यह नहीं होगा। अच्छा सुनिये, मैं तो खाऊँगी नहीं; और जो भोज्य-पदार्थ रखा है,

वह आपके लिये पर्याप्त होगा। पूज्य सास-ससुरजी उपवासी हैं। फिर वनको जानेका क्या प्रयोजन है? आपको मेरी शपथ है, आज कहीं भी न जाइयेगा।'

सावित्रीकी बात सुनकर सत्यवान् अब और भी अधिक आश्चर्यमें पड़ गया। कितनी ही देरतक वह विस्मित नेत्रोंसे सावित्रीकी ओर देखता रहा। आश्चर्यकी बात यह है कि सावित्रीने पहले कभी सत्यवान्को कोई काम करनेमें इस प्रकार नहीं रोका था। फिर आज उसका ऐसा भाव क्यों है?

सत्यवान्ने उत्तर दिया—'हमारे भोजनकी कोई चिन्ता नहीं है; परंतु काठके बिना माता-पिताके होम-यज्ञ नष्ट हो जानेका डर है; इसलिये मुझे अवश्य ही जाना होगा।'

बाध्य होकर सावित्री इस कामसे सत्यवान्को न रोक सकी। सास-ससुर उपवासे रहें, स्वामी भूखे रहें, देवताओंका काम रुका रहे—ऐसी परिस्थितिमें वह सत्यवान्को किस प्रकार रोक सकती थी। अन्तमें उसने बाध्य होकर एक प्रस्ताव मनमें स्थिर करके कहा—'मैं भी आपके साथ वनको चलूँगी। मैंने कई दिनोंसे वन नहीं देखा है; इस समय वनकी शोभा बड़ी अपूर्व होगी। मुझे वही वन-शोभा देखनेकी प्रबल इच्छा हो आयी है। कृपया आप मेरी यह इच्छा पूर्ण कीजियेगा।'

'यदि अस्वीकार करूँगा तो चलेगा नहीं। पर सावित्री बड़ी दुर्बल है, तीन दिनोंतक भूखी रही है; आज भी अबतक इसने कुछ खाया नहीं है। ऐसी निर्बल दशामें इसे कैसे साथ ले चलूँ?' यों विचारकर सत्यवान्ने वनके कष्ट बताकर सावित्रीको रोकना चाहा। किंतु सावित्रीने इसपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और बार-बार वही कातर प्रार्थना करने लगी। कोई उपाय न देखकर सत्यवान्ने उसे साथ ले चलना स्वीकार किया।

सत्यवान्‌द्वारा प्रार्थना स्वीकृत हो जानेपर सावित्रीने सास-ससुरके पास जाकर वन जानेकी आज्ञा माँगी। सुनकर वृद्ध-दम्पति अवाक् रह गये, सोचने लगे—'यह त्रिरात्रि-व्रतका भयानक परिश्रम, अनाहार, इसपर भी संध्या-समय वन जानेका आग्रह! इसका अभिप्राय क्या है? ज्ञात होता है, सावित्री पतिकी चिन्ता करते-करते पगली हो गयी है। नहीं तो, कभी इसने ऐसी प्रार्थना नहीं की और न आजतक एक दिन भी आश्रमसे बाहर निकली। तो फिर आज ऐसे असमयमें वन जानेकी प्रार्थना क्यों करती है?' फिर वृद्ध दम्पतिने समझा कि सती-साध्वी पुत्रवधू स्वामीकी मङ्गलकामनाके लिये ही यह याचना कर रही है। तब पुत्रकी मङ्गलकामना और पुत्रवधूके सच्चे आग्रहने उनके मनको एक बार ही अभिभूत कर डाला। इन दोनों स्रोतोंके प्रवाहमें उनकी शङ्काके कारण एक-एक करके न जाने कहाँ बह गये। अतएव उन्होंने भी आशीर्वाद देते हुए सावित्रीको विदा किया।

सावित्री व्रत समाप्त करके स्वामीके साथ वनको जा रही है। सम्मुख चतुर्दशीकी भयानक अँधेरी रात है। कौन जाने आज इस घोर रात्रिमें सावित्रीको वहाँ क्या-क्या अभिनय करने होंगे! सावित्रीने जाते समय सब देवताओंकी खूब प्रार्थना कर ली है और उस वनके सब ऋषि-मुनि और उनकी पत्नियोंको प्रणाम कर आयी है। जितने बड़े-बड़े ऋषि-मुनि—जैसे अङ्गिरा, माण्डव्य, गौतम आदि उस वनमें निवास करते थे, सबने उसको 'सदा सौभाग्यवती रहो, बेटी' कहकर आशीर्वाद दिया है। सावित्री स्वामीकी जीवन-रक्षाके लिये आज भाग्यके साथ युद्ध करने जा रही है। ऐसे समयमें ये शुभाशीर्वाद उसे मानो एक शुभ दैववाणी और देवदत्त धर्मके समान जान पड़े। ऋषि-मुनियोंके इन आशीर्वादोंको एक अक्षय कवचरूपमें धारण करके सावित्री पतिके साथ वनको जा रही है।

घोर गहन कानन है। उसीके बीचमें होकर वन जानेका मार्ग है। चारों ओर घने वृक्ष शाखाओं तथा लता-पत्रोंसे आच्छादित हो रहे हैं। वह शोभा बड़ी सुन्दर है—बड़ी भयानक भी। सौन्दर्य और भय दिखानेवाला दृश्य कैसा प्राण-स्पर्शी होता है, यह क्या आप-हमने कभी देखा है? यदि नहीं तो वह बात ठीक-ठीक समझमें नहीं आयेगी। फिर भी देखिये—शान्त वन है, चारों ओर हिंसक जंतु हैं, संध्याका आगमन चारों ओर अन्धकार जमा रहा है। उसी अन्धकारमें केवल तारोंकी चमकके सहारे सावित्री, सत्यवान् एक दूसरेका जोरसे हाथ पकड़े हुए जा रहे हैं। अँधेरेमें भी प्रकृतिकी अपूर्व छटा उन्हें कुछ-कुछ दीख जाती है। उसी अन्धकार-राशिके बीच लताओंके पुष्प, पत्तोंकी श्यामल शोभा, शाखाओंपर बैठे हुए पक्षी आदिका शोभनीय दृश्य, सत्यवान् कुठार कंधेपर लिये हुए हाथ उठा-उठाकर सावित्रीको दिखाता जा रहा है।

किंतु सावित्रीकी आँखें आज किसी शोभाको नहीं देखतीं। सत्यवान् दिखाता है, सावित्री जोरसे हँसती है, आँख उठाकर कभी देखती भी है; परंतु कुछ भी आनन्द

नहीं लूट सकती। कभी-कभी तो सत्यवान्की बातोंकी ओर ही उसका ध्यान नहीं रहता था। सत्यवान् एक ओर दिखाता था, सावित्री उदासभावसे दूसरी ओर ही देखती रहती थी। सत्यवान्ने क्या कहा, यह भी उसे मालूम नहीं हो पाता था।

सत्यवान् कहता है—'प्रिये, देखती हो, कैसा सुन्दर फूल है ?'

सावित्री देखकर कहती है—'हाँ प्रियतम, देखती हूँ।'

सत्यवान्ने कहा—'अच्छा, कहो तो उसका क्या रंग है ?'

अन्धकारमें पक्षीका रंग अच्छी तरह ज्ञात नहीं होता था, इसीलिये हँसीके साथ सत्यवान्ने सावित्रीसे यह बात पूछी थी।

सावित्री अभीतक तो केवल हाँ-हाँ करके ही चलती रही, पर अब बड़ी कठिनाई आ गयी; उत्तर क्या दे ? उसका मन तो पक्षीकी ओर था ही नहीं ! उस समय सावित्री सत्यवान्को जोरसे पकड़े हुए थी। अपने हाथमें उसका हाथ लेकर—अँगुलियोंसे अँगुलियाँ मिलाकर काँपती हुई सोच रही थी—हाय, यह क्या अन्तिम मिलन है ! फिर क्या ऐसा सुन्दर शरीर नहीं देखूँगी ! यह अपूर्व रत्न क्या आज मुझे सचमुच ही इस घने जंगलमें हमेशाके लिये अकेली छोड़ जायगा ?' इसी सोच-विचारमें सावित्रीने सत्यवान्की बातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। सत्यवान्ने सावित्रीके मुखकी ओर निगाह डालकर देखा। देखता है कि जैसे शरद्के स्वच्छ आकाशमें कहींसे प्रकाण्ड बादलका एक टुकड़ा घिर आया हो और चाँदनी रातमें चारो ओरसे घिरे हुए बादलोंके बीचमेंसे चन्द्रमा-जैसे बलपूर्वक अपनी किरणोंको फैलाकर प्रकृतिको हँसाना चाहता हो, पर सफल न हो पाता हो, ठीक वैसे ही सावित्री भी जोरसे हँसना चाहती है, पर किसी प्रकार भी अपना विषाद-भाव छिपा नहीं पा रही है।

सत्यवान्ने सावित्रीका यह अपूर्व भाव देखकर पूछा—'सावित्री ! तुमको क्या कष्ट हो रहा है ? मैंने तो पहले ही कहा था कि ऐसे दुर्बल शरीरसे वनगमन-जैसे कठिन काममें हाथ मत डालो; परंतु तुमने तो माना ही नहीं ! क्यों ?'

सत्यवान्की बात सुनकर सावित्री चौंक उठी। समझा, क्या पतिदेवने मेरे उदासभावको जान लिया है ! क्या मैं असावधान रहकर पतिको पीड़ित कर सकती हूँ ! कदापि नहीं। सावित्रीने तुरंत अपनेको सावधानीके साथ सम्हाला और यथासम्भव दृढ़ताके साथ बोली—'नहीं प्रियतम ! आपके साथ भ्रमण करनेसे मुझे तनिक भी कष्ट नहीं हो रहा है। आपके साथ भ्रमण करना तो मेरे लिये स्वर्ग है ! ऐसा दिन और कब आयेगा ? आप किसी प्रकारका सोच-विचार न करें और आनन्दके साथ चलें।' बात कहते-कहते सावित्रीकी आँखोंमें आँसू भर आये थे। पर सावित्रीने बड़े कष्टसे अपनेको सँभाल रखा था।

इस समय वे एक भीषण वनमें जा रहे हैं। संध्या समाप्त होकर रात हो गयी है। तारोंका प्रकाश अभी अच्छी तरह वनमें नहीं फैला है। चारो ओर भीषण घना अन्धकार जम गया है। सामने बहुतसे फल-फूलोंके वृक्ष और थोड़ी ही दूरपर जलानेकी लकड़ियोंका जंगल है।

सत्यवान्ने सावित्रीको कष्ट होता जानकर जल्दी ही वृक्षोंसे फल-मूल इकट्ठे कर लिये। इसके बाद उन सबको एक वृक्षके नीचे रखकर वह जलानेकी लकड़ी काटनेके हेतु कुठार हाथमें लेकर एक वृक्षपर चढ़ा। इस समय सावित्रीका समस्त शरीर एकाएक मानो कुछ फड़क उठा। हृदय एक अज्ञात आशङ्कासे किंचित् चञ्चलता प्रकट करने लगा और बायीं आँख फड़क उठी। सावित्री उद्वेग और आशङ्का लिये हुए चुपचाप उसी वृक्षकी जड़पर बैठकर सत्यवान्की प्रतीक्षा करने लगी।

सत्यवान् वृक्षपर चढ़कर लकड़ी काटनेमें उद्यत हुआ। कुठारसे एक सूखी डालपर चोट लगायी। एक चोट, दो चोट, तीन चोट मारी। सावित्री नीचे बैठी हुई एकाग्र मनसे इन चोटोंका शब्द सुनने लगी। हरेक चोटके साथ-ही-साथ मानो उसके हृदयकी एक-एक नस नाचने लगी। किंतु तीसरी चोटके बाद सावित्रीने और कोई शब्द नहीं सुना। एक पल, दो पल, तीन पल बीत गये, धीरे-धीरे बहुत देर हो गयी। सत्यवान् क्या कर रहे हैं, यह सोचकर सावित्री बहुत ही व्याकुल हुई और भहराये कण्ठसे पुकारने लगी—'प्रियतम, प्रियतम !'

सत्यवान्ने दुःखसे उत्तर दिया—'सावित्री, सिरमें बड़ा दर्द है !'

'क्या सर्वनाश हुआ चाहता है ? ज्ञात होता है, समय

आ गया ! सावित्रीने कम्पित स्वरसे कहा—'प्यारे, जल्दीसे नीचे उतर आओ, देर मत करो; अब वृक्षपर रहनेका काम नहीं है। आपको मेरी शपथ है, शीघ्र ही नीचे उतर आइये।'

परंतु सत्यवान् नीचे नहीं उतरा। सावित्रीने फिर पुकार मचायी। सत्यवान् बोला—'प्रिये, वनमें हम काष्ठ लेने आये हैं; यदि काष्ठ नहीं ले चलेंगे तो माता-पिताका काम कैसे चलेगा ?' सत्यवान् असली बात नहीं जानता था। इसीलिये सोचने लगा, 'सिरमें दर्द कितनी देरतक रहेगा, अभी मिटा जाता है।' पर सावित्री तो सब जानती थी, तभी तो उसने अपनी सौगंध दिलायी !

अन्तमें सत्यवान् दर्दसे घबराकर नीचे उतरा, पर उतरते ही सावित्रीकी गोदमें मूर्च्छित होकर गिर गया। (क्रमशः)

कर्तव्य-विज्ञान

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

प्रायः अशिक्षित ही नहीं, शिक्षित बुद्धिमान् मनुष्य भी पूर्णरूपसे कर्तव्य-विज्ञानका यथोचित आदर नहीं करते; इसीलिये वे जिस अनुकूलताको अनेक प्रयत्नसे सुरक्षित रखना चाहते हैं, उसे रख नहीं पाते तथा जिस प्रतिकूलताके दुःखसे सदा बचते रहना चाहते हैं, उससे बच नहीं पाते। वर्तमान युगमें जिस किसी व्यक्तिको देखा जाय, वही वस्तुविज्ञान, प्रकृतिगत गुणविज्ञान तथा भोगविज्ञानको अधिक महत्त्व दे रहा है; पर जिससे जीवन सुन्दर होता है, सुन्दर समाजका निर्माण होता है, क्षेत्र सुव्यवस्थित होता है तथा जीवनमें निर्भयता-निश्चिन्तता प्राप्त होती है, उस कर्तव्य-विज्ञानको धारण करनेके लिये विरले ही व्यक्ति सावधान हैं। जो मानव पापों और अपराधोंसे बचना चाहता है, भय-चिन्तासे मुक्त होना चाहता है और अपने बनाये दोषों तथा दुःखोंका अन्त करना चाहता है, उसे विवेकपूर्वक कर्तव्य-विज्ञानको सदा स्मरण रखना चाहिये।········कर्तव्य-विज्ञानके द्वारा योग-विज्ञानमें तथा योग-विज्ञानके द्वारा अध्यात्म-विज्ञानमें क्रमशः प्रवेश अनायास ही होता जाता है।

कर्तव्यनिष्ठ मानव अनित्य सुखका भोगी न रहकर शाश्वत सत्यका योगी होता है। कर्तव्यपरायण मानवमें त्याग तथा दानका संकल्प सरलतासे पूर्ण होता है, इसीलिये वह रागरहित तथा लोभ-मोह-अभिमान एवं अधिकार-प्राप्तिकी कामनासे रहित होकर सेवा करता है। जो मनुष्य कर्तव्यपालनमें सावधान नहीं है, उसकी शक्ति, योग्यता तथा सामर्थ्य न करने योग्य कार्योंमें नष्ट होती रहती है। जो कर्तव्यविमुख है, वही अकर्तव्यमें आबद्ध है; अकर्तव्यमें संलग्न मनुष्य भयरहित, चिन्तारहित तथा आशा और बन्धनसे मुक्त नहीं हो पाता। प्रत्येक मनुष्य कर्तव्यपालन करनेमें सदा स्वतन्त्र है। कर्तव्य वही है, जिसका सम्बन्ध वर्तमानसे हो अथवा जो वर्तमानमें ही पूर्ण हो सकता हो तथा जो किसीके लिये अहितकर न होकर अपने लिये हितकर हो। जो मानव दूसरेके, अथवा जिस किसीसे किसी प्रकारका सम्बन्ध है, उसके अधिकारका ज्ञान रखते हुए अपने कर्तव्यका ध्यान रखता है, वही कर्तव्यनिष्ठ है। एक मनुष्यका सम्बन्ध उसी वस्तु या व्यक्तिसे हो जाता है, जिसे वह देखता है तथा मानता अथवा जानता है, और जिसे भी वह देखता है, मानता या जानता है, उसीके प्रति उसका कर्तव्य निश्चित हो जाता है। कर्तव्य-विज्ञान मानवको वहींसे कर्म कराना सिखाता है, जहाँ पूर्ण स्वतन्त्रता है; वह केवल अपना कर्तव्य देखते रहनेके लिये सावधान करता है। अपने कर्तव्यको पूर्ण करनेके लिये सदा

तत्पर रहनेवाला मानव जिसे भी देखता, मानता तथा जानता है, उसके हितके लिये—उसका दुःख दूर करने तथा सुख पहुँचानेके लिये जो कुछ भी कर सकता है, उसमें आलस्य नहीं करता है, बीचमें प्रमाद नहीं आने देता है। कर्तव्य-पालन वही विवेकी मानव कर सकता है, जो प्राप्त अधिकार-वस्तु तथा सम्बन्धित व्यक्तिका क्रमशः अभिमानी, लोभी तथा मोही न हो। कर्तव्य-विज्ञानको आत्मसात् करनेके लिये बुद्धि विवेकपूर्ण होना ही चाहिये। बुद्धिको विवेकवती बनानेके लिये अपने धर्मशास्त्रोंका अध्ययन-मनन अथवा श्रवण करना चाहिये। विवेक बढ़ानेके लिये गुरुजनोंका सङ्ग और श्रद्धापूर्वक सेवा सुन्दर साधन है। विवेकके द्वारा कर्तव्य—करनेयोग्य कर्मका ध्यान रखते हुए न करने योग्य कर्मका भी ज्ञान रखना अत्यावश्यक है। कर्तव्यकी पूर्णता अकर्तव्यके त्यागसे ही हो सकती है।

जिस कर्म या भावनासे अथवा संकल्प या विचारसे किसीका अहित होता है वही अकर्तव्य है—न करनेयोग्य कर्म है। शरीरके बलद्वारा अपनी रुचि-पूर्तिका पक्ष लेकर लोभ-मोह-अभिमान-कामवश हिंसा-चोरी-व्यभिचार तथा दुराचार करना अकर्तव्य है। इसी शरीर-बलद्वारा निर्बलकी रक्षा करना, सेवा-सहायता करना तथा उदारतापूर्वक सदाचारका पालन करना कर्तव्य है। वाणीद्वारा असत्य बोलना, परनिन्दा करना, कठोर वचन बोलना, व्यर्थ बात करना तथा अपनी प्रशंसा करना अकर्तव्य है। इसी वाणीद्वारा सत्य-चर्चा करना, किसीमें दीखनेवाले गुणोंका वर्णन करना, प्रिय-मधुर वचन बोलना, भगवत्-कथा-चरित्रका गान करना कर्तव्य है। मनके द्वारा बीती घटनाओंका मनन करना तथा ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह और प्रमाद-युक्त प्रवृत्ति अकर्तव्य है; इसके विपरीत मन लगाकर वर्तमानके आवश्यक कार्य पूर्ण करना तथा प्रीतिपूर्वक उदारता, दया, क्षमा आदि सद्गुणयुक्त प्रवृत्ति कर्तव्य है।········अकर्तव्य—न करने योग्य अहितकारी प्रवृत्ति और भोगमें आबद्ध होनेसे ही मनुष्य प्रमादी और हिंसक बन गया है। अकर्तव्यके त्यागसे ही मनुष्य अहिंसक—परमार्थी हो सकता है। कर्तव्यनिष्ठ मानवकी विशेषता यही है कि दूसरे व्यक्ति उसे देखकर स्वयं ही कर्तव्य-पालन करने लगते हैं। कर्तव्यनिष्ठ होनेके लिये मानवमें विवेककी जागृति अत्यन्त आवश्यक है। विवेकके बलसे अपने कर्तव्यमें दृढ़ रहनेके लिये मानव बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयोंको सहन कर लेता है, वह प्रलोभनोंसे विचलित नहीं होता। यद्यपि विवेक अनन्तकी कृपासे सभीके लिये सुलभ है, तथापि जो ऐश्वर्य-मदसे उन्मत्त हैं, क्षुधासे पीड़ित हैं, कामी तथा अहंकारविमूढ़ बुद्धिवाले हैं, उनमें विवेक नहीं होता।

अविवेकीके सामने प्रतिदिन अनेक शोक-भय-चिन्ताके अवसर आते रहते हैं, पर विवेकीके मनमें वे स्थान नहीं पाते। कर्तव्यका विवेक होनेके लिये ही गुरु, ग्रन्थ और घटनाओंके पीछे रहनेवाले परिणामके दर्शनकी आवश्यकता है। जिस प्रयत्नसे आत्माके गुण विकसित हों, वही नित्य स्मरणीय कर्तव्य है। कर्तव्य-विज्ञानकी दृष्टिसे दूसरोंके हितमें ही अपना हित निश्चित है; प्राकृतिक नियमके अनुसार जो कुछ दूसरोंके प्रति किया जाता है, वही कईगुना होकर अपने प्रति आता है। अविवेकी प्राणी कर्तव्य-विज्ञानका आश्रय न लेकर बलका दुरुपयोग करते हुए अपने ही कर्मोंसे भविष्यको दुःखमय बनाता रहता है। वास्तवमें कर्तव्यपालनमें ही मानवका अधिकार है। कर्तव्यपरायण मानव अधिकार मनानेमें स्वाधीन नहीं है, कर्तव्य-पालनमें स्वाधीन है; वह परिस्थिति-परिवर्तनमें नहीं, उसके सदुपयोगमें स्वाधीन है। वह सुखकी आशामें नहीं, वितरणमें स्वाधीन है। वह दूसरोंको मुक्त, भक्त और सत्यानुरक्त बनानेमें स्वाधीन नहीं है; अपनेको

मुक्त, भक्त, विरक्त और अनुरक्त बनानेमें स्वाधीन है। किसीके अधिकारानुसार देनेयोग्यको दे देना तथा अपने अधिकारानुसार जो कुछ लेना है उसे छोड़ देना स्वाधीनता चाहनेवाले परमार्थीका कर्तव्य है। अपनी बुराई करनेवालेके प्रति बुराई न करना पशु-प्रकृतिका दमन करनेवाले तथा मानवताका निर्माण चाहनेवाले विचारवान्‌का कर्तव्य है। अपनी बुराई करनेवालेके प्रति भलाई करना मानवतामें दिव्यताका अवतरण चाहनेवाले बुद्धिमान्‌का कर्तव्य है। किसी बाहर रहनेवाले शत्रुको न मारकर मनमें रहनेवाली शत्रुताको मार देना—समाप्त कर देना विजय चाहनेवाले वीरका कर्तव्य है। बाहरके प्रान्तों और देशोंको जीतनेकी अपेक्षा अपनी इन्द्रियों तथा मनको स्ववशमें कर लेना स्वराज्य चाहनेवाले शूरका कर्तव्य है। प्रारब्धानुसार मिले हुए गृह-धन-सम्बन्धी-जन आदिका त्याग न करके संगजनित अहंता, चिन्ता, लोभ, मोह, अभिमान, हिंसा, दुराचारका त्याग करना त्यागीका कर्तव्य है। अपने मनकी न करके प्रियतमके मनकी पूर्ति करते हुए सेवा-स्वधर्मके पालनमें कष्टोंको सहते हुए प्रसन्न तथा शान्त रहना तपस्वीका कर्तव्य है। जो कुछ अपने अधिकारमें शुभ, सुन्दर और पवित्र वस्तु हो उसका स्वयं उपभोक्ता न बनकर उसके सहित अपने-आपको समर्पण कर देना सर्वस्व-दानीका कर्तव्य है।

परम दातासे कुछ वस्तु माँगनेकी अपेक्षा उसके प्रेमका याचक होना—दाताको ही चाहना भिखारीका विवेक-पूर्ण कर्तव्य है। ऐसे भिखारीपर दाता परम प्रसन्न होता है। ऐसा भिखारी वही हो सकता है, जो संसारके सुखोपभोगसे पूर्ण विरागी हो; केवल परम प्रिय अपने दाताका ही परमानुरागी हो। आत्मामें निहित असीम शक्ति, अतुल सामर्थ्य और अनन्त ज्ञानको जाग्रत् करनेके लिये बुद्धियोगी होना जिज्ञासुका कर्तव्य है। बुद्धि-योगी होनेके लिये तृष्णा, भय, क्रोध तथा चिन्ता और व्यक्तित्वकी दासताका त्याग करना मननशील मुनिका कर्तव्य है। कछुएकी भाँति इन्द्रियोंको अन्तर्मुखी बनाकर मनसे विषय-सम्बन्ध छोड़ देना—मन-बुद्धिको मौन रखकर जो कुछ स्वतः हो रहा हो उसे देखते रहना; पर सहयोग स्थापित न करना योगाभ्यासीका कर्तव्य है। ऐसा करनेसे ध्यानयोगकी सिद्धि होती है। संयम, सदाचार, तितिक्षा, इन्द्रिय और मनका दमन तथा सदा भगवत्स्मरण करते रहना तीर्थके द्वारा सद्‌गति चाहनेवालेका कर्तव्य है। सर्वत्र विद्यमान सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माकी अहैतुकी कृपा तथा प्रभुके मङ्गलमय विधानसे अपना हित होनेपर विश्वास रखना आस्तिकका कर्तव्य है। परमात्माको ही सर्वभावसे अपना मानकर उन्हें ही प्रेमपात्र स्वीकार करना प्रेमीका कर्तव्य है। अपने बनाये हुए दोषोंका तथा अनित्य देहादि वस्तुओंकी ममताका त्याग करना शान्ति चाहनेवाले साधकका कर्तव्य है।

प्राप्त शक्ति, सम्पत्ति, योग्यता, अधिकार, बल और वस्तुका सदुपयोग करना पुण्य-समृद्धि चाहनेवाले मानवका कर्तव्य है। दुःखद परिस्थितिमें सुखोपभोगसे विरक्त होकर परमात्माका स्मरण-चिन्तन करना दुखी प्राणीका कर्तव्य है। अपनी रुचिपूर्तिका पक्ष छोड़कर, अपने सुखकी चिन्ता न रखकर अपने स्वामीकी प्रसन्नताके लिये उसकी आज्ञाका पालन करते रहना सेवकका कर्तव्य है। अहंमें किसी वस्तुको न रखकर तथा किसी वस्तुसे अहंको सम्बन्धित न बनाकर सबसे असङ्ग रहना मुक्ति चाहनेवालेका कर्तव्य है। संसारकी किसी वस्तुको अपनी न जानकर भगवान्‌को अपनेसे अभिन्न मानकर नित्य-निर्भय तथा उन्हींपर निर्भर रहना भक्तका कर्तव्य है।

कर्तव्यनिष्ठ मानव राग-द्वेषसे मुक्त होकर आत्माके निर्विकार स्वरूपका योगी होता है, योगस्थितिमें ही पूर्णताका बोध होता है और पूर्णताका बोध होनेपर प्रेम विभु हो जाता है। कर्तव्यनिष्ठ अपना अधिकार छोड़कर नित्य शान्ति प्राप्त करता है। अधिकारके अभिमानसे क्रोध आता है, दूसरेका

अधिकार पूर्ण न करनेसे लोभ बढ़ता है। क्रोधसे स्वरूप, कर्तव्य तथा परम प्रभुकी विस्मृति होती है; इसीलिये कर्तव्यप्रेमी मानव अधिकार भूलकर क्रोध-रहित तथा दूसरोंका अधिकार पूर्ण करते हुए लोभरहित हो जाता है। कर्तव्यपरायण होनेके लिये अधिकार-त्याग, चित्तमें स्थिरता तथा शान्ति और निष्काम प्रीति होना आवश्यक है।'

कर्तव्यका सम्बन्ध वर्तमान परिस्थितिसे है, परिस्थितिके साथ ही कर्तव्यका विवेक होना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य-के सामने अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार कहीं अनुकूल, कहीं प्रतिकूल परिस्थिति भाग्यानुसार आती रहती है। अनुकूल परिस्थितिको सुखद मानकर मानव रागी हो जाता है और प्रतिकूलको दुःखद मानकर द्वेषी बन जाता है। राग-द्वेषके द्वन्द्वसे आबद्ध बुद्धिमें कर्तव्यकी विस्मृति हो जाती है, इसीलिये अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिका सदुपयोग करना विवेकी मानवके लिये वर्तमानसे सम्बन्धित कर्तव्य है। मनुष्य भाग्यवश आनेवाली परिस्थिति भले ही न बदल सके, पर उसका सही उपयोग करते हुए अनेक पाप तथा अपराधसे बच सकता है तथा पुण्य-संचय कर सकता है; संयोग-सुख-की दासता और वियोग-दुःखके भयसे मुक्त हो सकता है। जो मनुष्य दुःखसे भयातुर होकर किसी अन्यसे सुख प्राप्त करनेकी आशा रखता है, वह परिस्थितिका सदुपयोग नहीं कर पाता है। सुखी दशामें उदारता-पूर्वक दूसरोंको सुख देना और दुखी दशामें विरक्त होकर अनुकूलके रागका त्याग करना वर्तमानसे ही सम्बन्धित कर्तव्य है। इस कर्तव्यके पालनमें परतन्त्रता नहीं है। बुद्धिमान् मानवके लिये विवेकपूर्वक अपने बनाये हुए दोषोंका पूर्णरूपसे त्याग करना, शुभ-सुन्दर पवित्रका दान देना तथा परिस्थितिका सदुपयोग करना वर्तमानसे सम्बन्धित स्वतन्त्र कर्तव्य है।

मैं अकेला नहीं हूँ, भगवान् सदा मेरे साथ हैं

'मैं अकेला नहीं हूँ; अपनी समस्याओंके साथ संघर्ष करने और उनका कोई उत्तम समाधान प्राप्त करनेके लिये मैं अकेला नहीं हूँ। भगवान् सदा मेरे साथ हैं; भगवान् सदा मुझे अपनी स्नेहमयी भुजाओंमें बाँधे हैं एवं शक्ति-सम्पन्न बना रहे हैं। मुझे जो कुछ भी करनेकी आवश्यकता है, वह सब भगवान् स्वयं मुझसे करवा लेंगे; मुझे तो केवल इतनी ही आवश्यकता है कि 'अपने एवं स्वजनोंके सम्बन्धमें समस्त भय और चिन्तामय विचारोंको भूलकर भगवान्की स्नेहमयी सँभालपर दृढ़ भरोसा कर लूँ'—इस सुखद विचारके साथ मैं आजका दिन आरम्भ करता हूँ और इस विचारको प्रत्येक क्षण अपने हृदयमें विराजित रखता हूँ। अब मेरी प्रत्येक आवश्यकताका समाधान भगवान् हैं तथा मैं अपने मन और जीवनके समस्त द्वारोंको सर्वशक्तिमान् परम सुहृद् भगवान्की उस मङ्गलमयताकी ओर उन्मुक्त कर रहा हूँ, और वे मुझे इस क्षण एवं प्रत्येक दिनके प्रत्येक क्षण मङ्गल प्रदान कर रहे हैं।

मैं अब कभी अकेलेपन या सूनेपनका अनुभव नहीं करता; क्योंकि भगवान् मेरे सुहृद् हैं और वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ हैं। मुझे कब क्या वास्तविक आवश्यकता होगी और किसमें मेरा यथार्थहित होगा, इस बातको वे पूर्णरूपसे जानते हैं। उनके लिये स्थिति एवं कालका कोई प्रतिबन्ध नहीं है। अतएव जब भी मैं उनकी ओर मुड़ता हूँ तो स्थिरता, शान्ति और शक्तिसे छलक उठता हूँ।

मैं अकेला नहीं हूँ, भगवान् सदा मेरे साथ हैं।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

परम आश्चर्यप्रद त्याग

वंबईकी एक पुरानी घटना है। सेठ जगमोहनदास एक दिन अपने स्वर्गीय पिता श्रीव्रजवल्लभदासजीके कागजोंकी पेटी खोलकर उसके कागज देख रहे थे। देखते-देखते उन्हें एक वड़ा लिफाफा मिला। उसमें एक मकानके कागजात पट्टे आदि, एक विक्रयपत्र तथा उसके साथ एक पत्रकी नकल थी। जगमोहनदासजीने उनको देखा और पत्र पढ़ा। पत्रमें लिखा था—

भाई द्वारकादासजीसे व्रजवल्लभदासके जय श्रीकृष्ण। आपपर एक झूठा मुकदमा लग गया, और सम्भव है कि उसमें आप हार जायँगे (यद्यपि आप सच्चे हैं, इससे ऐसी सम्भावना तो नहीं है) तो आपके मकानपर कुर्की आ सकती है। इसीसे सोलीसीटरोंकी रायसे आपने अपना मकान, जिसका पट्टा तथा कागजात आपने मुझको देकर, दो लाख वावन हजारमें मेरे नाम वेच दिया है। और वाकायदा सेलडीड (विक्रयपत्र) रजिस्टर्ड हो गया है। असलमें यह फर्जी वेचान है, आपने मुझसे एक पैसा भी नहीं लिया है। वेचानमें जो स्टाम्प तथा सोलीसीटरका खर्च लगा है, वह भी आपने ही दिया है। केवल रक्षामात्रके लिये आपने मेरे नामपर मकान कर दिया है। मकान सर्वथा आपका है तथा आपका ही रहेगा। मेरे या मेरे उत्तराधिकारी किसीका इसपर अधिकार नहीं होगा। आपकी स्थिति जव ठीक होगी और आप जव चाहेंगे, तभी यह मकान आपके नामपर पुनः ट्रांसफर करा दिया जायगा। इसमें मेरे तथा मेरे किसी उत्तराधिकारीको कभी कोई आपत्ति नहीं होगी।'

—हस्ताक्षर × ×

इस पत्रको पढ़ते ही सेठ जगमोहनदासकी आँखोंमें आँसू आ गये। उन्होंने अपनी पत्नी लक्ष्मीवाईको वुलाकर पत्र सुनाया और आँसू वहाते हुए कहा—'मेरा कितना दुर्भाग्य है, जो मैंने पंद्रह वर्ष इस पेटीके कागजोंको नहीं देखा। पिताजी और ताऊजी दोनों ही स्वर्गवासी हो गये। न मुझको इस वातका कुछ पता था और न भाई गिरधरदास ही इसे जानता था। वह तो छोटा था, जानता ही कैसे? और ताऊजीकी मृत्यु वहुत पहले हो गयी थी। ताई मर ही चुकी थी। मैं जानने लायक था; परंतु पिताजीकी अकस्मात् हृदयकी गति रुकनेसे मृत्यु हो गयी और वे मुझसे कुछ भी वता न सके। मुझे पता होता तो क्यों भाई गिरधरदास तकलीफ पाता, क्यों हमारे दिये हुए पाँच सौ रुपये मासिक लेनेकी उसे जरूरत पड़ती। छः सौ रुपये तो खर्च वाद देकर मकानका भाड़ा ही आता है। अव तो एक दिनकी देर नहीं करनी है। आज ही गिरधरदासको वुलाकर उसका मकान उसे सौंप देना है।'

लक्ष्मीवाई भी वस्तुतः लक्ष्मी ही थी। उसने कहा, 'यह तो वहुत ही अच्छा हुआ; भगवान् श्रीनाथजीने वड़ी कृपा की जो आपने कागज देख लिये। नहीं तो, स्वर्गीय पिताजीकी आत्मा कितनी दुखी होती और स्वर्गीय ताऊजीका भी यह ऋण कैसे उतरता। धरोहर रहनेसे हमलोगोंको भी, पता नहीं क्या, दुर्गति होती। आप अभी स्वयं गिरधरदासके पास जाइये। मैं भी साथ चलूँगी। उसे वुलाइये मत। ऋणी तो हमलोग हैं। और उससे क्षमा माँगकर उसकी तथा उसके वाल-वच्चोंकी आशीष प्राप्त कीजिये। केवल मकान ही नहीं देना है। कम-से-कम एक लाख रुपये नगद और देकर इस ऋणसे मुक्त हो जाइये।'

धर्मभीरु धर्मपत्नीकी वात सुनकर सेठ जगमोहनदास हर्षातिरेकसे गद्गद होकर वोले—'लक्ष्मी! तुम साक्षात्

लक्ष्मी हो; तुम्हारी जगह दूसरी कोई स्त्री होती तो कभी यह सलाह नहीं देती। क्यों भेद खोलने देती और क्यों आजकी कीमतसे केवल छः लाखका मकान ही लौटानेकी बात नहीं, एक लाख रुपये और देकर ऋणमुक्त होनेकी राय देती। तुम्हारी-जैसी पत्नी मिली, यह मेरा बड़ा सौभाग्य है और मुझपर भगवान्‌की बड़ी ही कृपा है।'

तुरंत ही दोनो पति-पत्नी सारे कागजात तथा एक लाखका चेक लेकर गिरधरदासके घर पहुँचे। चाचाजीको चाचीसमेत आये देख, गिरधरदास और उसकी पत्नीने आनन्दमें भरकर बहुत स्वागत किया। चाचा-चाचीका बहुत ही सद्‌व्यवहार था, भतीजे तथा उसके कुटुम्बके साथ। इन्होंने गिरधरदासको एक दूकान भी करवा दी थी तथा पाँच सौ रुपये मासिक शुरूसे ही खर्चके लिये देते थे। विवाह-शादीका भी सारा खर्च ये ही करते थे। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि कभी जरा भी अहसान जताना तो दूर, मुँह भी नहीं खोलते थे। किसीको पतातक नहीं था कि पाँच सौ रुपये मासिक जगमोहनदास लंबे समयसे दे रहे हैं। जगमोहनदास और उनकी पत्नीके सिवा पैढ़ीके मुनीमोंतकको पता नहीं था।

चाचा-चाचीने गिरधरदास और उनकी पत्नीको पास बैठाकर सारी बातें सुनायीं। पट्टा, कागजात सामने रखकर पिताजीके लिखे पत्रकी नकल पढ़ायी। (गिरधरदासको तो पता नहीं था। यद्यपि मूलपत्र उसके घरमें ही रखा था, पर उसने कभी खोजा—देखा ही नहीं था)। और एक लाखका चेक देकर यह कहा कि 'बेटा! भूलके लिये क्षमा करना। हमलोग तुम्हें कुछ दे नहीं रहे हैं। तुम्हारी ही चीज तुम्हें मिल रही है। भगवान्‌की कृपासे ही यह प्रसंग बन गया है। यह भी भगवत्कृपा ही है कि तुम्हारा मकान सुरक्षित है और तुम्हारा यह चाचा तुम्हारे पुण्यात्मा दोनो दादाजीके पुण्यसे इस समयतक इस स्थितिमें है कि तुम्हारी चीज तुम्हें लौटा सकता है।' यों कहकर दोनो रोने लगे।

गिरधरदास और उनकी पत्नीकी तो विचित्र हालत थी। वे अपार हर्षके साथ बड़े आश्चर्यमें डूब रहे थे। क्या अलौकिक दृश्य है। वे बोल नहीं सके। चाचा-चाचीके चरणोंपर गिर पड़े। दोनोने दोनोको उठाकर हृदयसे लगाया। गिरधरदासने कहा—'चाचाजी! हम तो अबतक आपके जिलाये ही जी रहे हैं। घर तो पिताजीके मरनेके पहले बर्बाद हो चुका था। आप ही अबतक सम्हालते रहे। हम आपके ही हैं, आप हमें यह सब क्या दे रहे हैं'—× × ×

चाचा-चाचीके बहुत आग्रह करनेपर कागजात और चेक गिरधरदासने लिये। जिस युगमें छल-बल-कौशलसे भाईका धन भाई हड़पनेको प्रयत्नशील है तथा इसीमें गौरव मानता है, उस युगमें इस प्रकारकी घटना निश्चय ही अत्यन्त आश्चर्यप्रद और परम आदर्श है।

—बनमालीदास

(२)

सास या जननी

कुछ वर्ष पहलेकी बात है। रामपर छोटा-सा गाँव है। उसमें रामचंद सेठका नाम दिपता था। खासी सम्पत्ति; सब प्रकारका सुख। गायें, भैंसें पर्याप्त संख्यामें। मलाईभरा दूध, अमृत-सी छाछ और घरके घीका शुद्ध आहार—इससे घरमें सभी स्वस्थ थे। सेठ मनके उदार थे, इससे आसपासके गाँवोंमें चारो ओर उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। उनके पुत्रका विवाह हुए अभी थोड़े ही दिन हुए थे। पुत्रवधू खानदानी कुटुम्बकी सुशील कन्या थी।

घरमें बहुत दूध होता, इसलिये रोज ही मक्खन उतरता और उसका घी भी बनता। आज चूल्हेपर

अद्धा टीन चढ़ी थी, जिसमें लगभग दस सेर मक्खन था। बाहर औसारेमें सेठका पुत्र पूरी टीन लिये बैठा था, उसमें घी भरना था। रसोईमें सास-बहू दोनो थीं—बीचकी कोठरीमें ससुरजी बैठे माला फेर रहे थे। मक्खनका घी हो गया तब सासने बहूसे कहा—'मैं अद्धा बाहर रख आती हूँ, तुझको घूँघट निकालकर जाना पड़ेगा।' परंतु आर्यवधू सासको कैसे जाने देती? वह स्वयं अद्धा लेकर, घूँघट निकालकर चली। बीचकी कोठरीमें घुसी ही थी कि न जाने कैसे साड़ीका छोर पगमें अटक गया और हाथसे अद्धा गिर पड़ा। सारा घी बह चला, स्वयं गिरते-गिरते मुश्किलसे बची। घी बहुत गरम था, पर सौभाग्यसे वह कहीं जली नहीं। ससुर आवाज सुनते ही बोले—'खमा बेटा!' और रसोईमेंसे सास दौड़ी आयी और बहूको बाँथमें भरकर बोली—'बेटा! कहीं जली तो नहीं है न? तुझे कहीं चोट तो नहीं लगी? घी ढुल गया, इसकी जरा भी चिन्ता नहीं है, कल फिर घी तैयार हो जायगा। तू चिन्ता मत करना।'

इतना सुनते ही बहू सासके चरणोंपर गिर पड़ी, हर्षातिरेकमें उसकी पलकें भींग गयीं, वह कुछ बोल नहीं सकी; पर मन-ही-मन कहने लगी—ये मेरी सासजी मेरी माँसे भी बढ़कर हैं। कहीं पीहरमें ऐसा हुआ होता, तो कुछ भी नहीं तो, माँ उलाहना जरूर देती।

ऐसी सास-बहू घर-घरमें हों तो इस पृथ्वीपर स्वर्ग ही उतर जाय।

—झवेर भाई बी० सेठ, बी० ए०

(३)

सहानुभूति और सेवा

सन् १९०८ की बात है। मेदिनीपुरमें एक अंग्रेज जज थे। उनका नाम था मि० किली। उनका जीवन बहुत ही ईमानदारीका तथा संयमी था। उन्होंने अपने घरके कामके लिये एक चपरासी रख लिया था। वह नौकर दिनभर साहबका काम किया करता।

एक दिन वह चपरासी बाहरसे डाक लेकर आया था। साहेबके बँगलेमें प्रवेश करते ही एक पागल कुत्तेने उसके पैरमें काट खाया। साहब बरामदेमें बैठे देख रहे थे। वे तुरंत खड़े होकर दौड़े और चपरासीका पैर हाथमें लेकर मुँहसे चूसने लगे। पागल कुत्तेका विष चूसते जायँ और थूकते जायँ। परंतु साहबको जहर चूसनेकी आदत नहीं थी और मुँह भी गीला था। आधे घंटे बाद जब सारा विष चूस लिया गया, तब वह साहेबको चढ़ने लगा। उन्होंने नौकरको आराम करनेके लिये छुट्टी दे दी और स्वयं हँसते-हँसते डाक्टरके पास पहुँचे।

डाक्टरने उनसे कहा—'आप इस बखेड़ेमें क्यों पड़े?' तब मि० किलीने उत्तर दिया कि 'बेचारा चपरासी पागल कुत्तेका इलाज करानेकी स्थितिमें नहीं था। मैंने इसीलिये जहर चूस लिया कि मेरी इलाज करा सकने-लायक आर्थिक स्थिति है। चपरासीको पैसा देता तो वह शायद उन्हें बचा लेनेके लोभमें इलाज न कराता। मेरे इलाजके पैसे तो मुझे खर्च करने ही पड़ेंगे। इस प्रकार एक गरीबकी सेवा हो गयी।'

मि० किली सच्चे अर्थमें चपरासीके लिये 'नील-कण्ठ' थे।

—सुकेतु

(४)

अशरणके शरणदाता

सन् १९५६ की बात है। मैं एक फौजी विभागमें सिविलियन कर्मचारी हूँ तथा वहाँकी एक छोटी-सी मजदूर यूनियनका कार्यकर्ता भी। उक्त विभागके स्थानीय सर्वोच्च अधिकारीसे मेरी साधारण-सी बातपर अनबन हो गयी और वे उच्चाधिकारी मुझे हर प्रकार-

की हानि पहुँचानेपर उतारू हो गये। उनके संकेतसे उक्त कार्यालयके लगभग साढ़े तीन हजार मजदूर मेरी एक जानके पीछे पड़ गये। मुझे जानसे मार डालनेकी बात सोची जाने लगी। कई बार लोगोंने मुझे अपमानित करने एवं मारने-पीटनेको घेर भी लिया, पर उन्हीं लोगोंके हृदयमें दयाका संचार हो जानेसे मैं बाल-बाल बचता रहा। उस दशामें मुझे ऐसा कोई अपना नहीं दिखायी देता था कि जिसके सामने जाकर मैं रोऊँ और शिकायत करूँ। अन्तमें अपना भला इसीमें सोचकर कि अशरणके शरणदाता परमात्मा हैं, मैंने उन्हींकी शरण ली और कारखानेसे एक सप्ताहकी छुट्टी लेकर मानसकी इस चौपाई—

दीनदयाल बिरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥

—के सम्पुटके साथ अत्यन्त आर्तभावसे मानसका पाठ प्रारम्भ कर दिया। पाठके समाप्त होनेके ठीक दूसरे ही दीन वे अधिकारी अपने दो अन्य बड़े-बड़े सहायकोंके साथ स्वयं मेरे पास मिलने आये और सब झगड़ा समाप्त करनेको कह गये। यही नहीं, जो मजदूरोंकी भीड़ मेरे विरुद्ध बाजारमें किसी पागल स्त्रीके पीछे लगे हुए लड़कोंके झुंडकी तरह अपमानित करनेके लिये पीछा करती थी, वही पाठ-समाप्तिके बाद नौकरीपर जानेमें मेरे लिये जय-जयकारके नारे बुलंद करने लगी और वे उच्चाधिकारी तो मेरे इतने निकट-सम्बन्धी बन गये कि मेरे साथ छोटी-मोटी दावत और मेले-ठेलोंके सैर-सपाटेमें भाग लेने लगे। बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

—'भरैया'

(५)

ईमानदारीकी प्रेरणामूर्ति

कुछ महीनों पहलेकी बात है—

मैं अपने यहाँ आये हुए एक मेहमानके साथ बाड़ीमें नहाने गया था। नहा-धोकर लौटते समय हम लोगोंने बाड़ीमेंसे ९-१० केले, ३-४ सीताफल, कुछ अमरूद तथा नीबू चोरी-छिपाईसे ले लिये। घर वापस लौटनेपर मेहमानने मुझसे पूछा—'मधुभाई! मेरे सोनेके बटन आपके पास हैं?'

मैंने कहा—ना भाई, नहाते समय आपने कपड़ोंमें ही रक्खे थे न?

'हाँ, रक्खे तो थे कपड़ोंमें ही, पर वे जाते कहाँ?' यों कहकर मेहमान महोदयने अपने कपड़ोंको फिरसे देखा, पर बटन नहीं मिले।

मैंने कहा—'तो फिर बटन बाड़ीमें ही रह गये। किसीकी नजर चढ़ गये होंगे तो मिलने मुश्किल हैं।'

मेहमानने कहा—चलिये, बाड़ीमें फिर पता लगायें।

हमलोग बाड़ी जाकर वहाँके रखवाले गंगूभाईके पास गये। हमलोगोंका मुँह चिन्ताग्रस्त तथा हमारी अस्तव्यस्त-सी हालत देखकर वह खुद ही जलके पंपकी कोठड़ीसे बाहर आकर हमसे पूछने लगा—'बटनकी खोजमें आये दीखते हैं?'

हमलोगोंने अधीर होकर उससे पूछा—'हाँ, तुम्हें बटन मिले हैं क्या?'

उसने 'हाँ' कहा, तब हमें शान्ति मिली। हमलोगोंने उसको बटनकी निशानी बतायी तब उसने बटन दे दिये। फिर उसने चाय पिलाकर कुछ मीठे उपदेशकी बातें कहीं—'अब आगेसे ऐसी गफलत और उतावली मत करना, उतावला सो बावला। यह तो खैर, बटन ही थे, इनसे भी बहुत अधिक कीमतकी वस्तु कहीं भूल जाय और वह यदि किसी बुरे आदमीके हाथ लग जाय तो फिर गयी वस्तुका मिलना कठिन है।'

ऐसे ईमानदार पुरुषके सामने हमारे मस्तक झुक गये। और साथ ही बाड़ीमेंसे चुराकर ले गयी हुई

चीजोंके लिये हमारे दिलपर बड़ी चोट लगी।—'कहाँ यह अशिक्षित ईमानदार आदमी और कहाँ हमारे-सरीखे शिक्षित और उच्च श्रेणीके पुरुष। इस अशिक्षित परंतु शुद्ध हृदयके पुरुषने सोने और पत्थरको समान समझा और हमारी नीयत बिल्कुल मामूली चीजोंके लिये ही बिगड़ गयी।'

हमारे मनमें कई प्रश्न आये—बाड़ीमेंसे ये चीजें हमने किसलिये चुराई? क्या पैसे देकर इन चीजोंको नहीं खरीदा जा सकता था? गंगूभाईसे कहकर लेते तो क्या वह नहीं देता? अथवा क्या चोरी हुई और मुफ्त-में मिली हुई चीजोंके खानेमें विशेष आनन्द आता है? इन प्रश्नोंका एक भी उत्तर मेरे पास नहीं था।

हमने गंगूभाईसे 'चोरी'की बात कही और उससे माफी माँगी। इस प्रसंगके बादसे मैं गंगूभाईको अपने जीवनकी ईमानदारीके लिये प्रेरणा-मूर्ति मानता हूँ।

—मधुकान्त भट्ट

(६)

शिव तथा संत-कृपासे रुपये मिल गये

मेरे स्वर्गीय पितामहकी एक हजार रुपयेके करीब-की रकम किन्हीं सज्जनमें जमा थी। उन सज्जनका व्यापार भी अच्छी तरह चलता था। पर "Riches have wings" के अनुसार उन्हें व्यापारमें घाटा लगा और दिवाला भी निकल गया। जिन-जिनका उनमें रुपया था, सभी माथेपर हाथ धरकर बैठ गये। मेरे दादाजीकी स्थिति बड़ी गम्भीर थी। उनका तो मानो हार्ट-फेल हुआ जा रहा था। महाराज स्वामीजी श्रीउत्तम-नाथजीको इसका पता लगा। उन्होंने मेरे पितामहको बुलाया और कहा—'शुरू! फिकर क्यूं करे है, थारा रुपया थने मिल जासे।' (क्यों चिन्ता करता है, तेरे रुपये तुझे मिल जायँगे) मेरे दादाने कहा—'पर उनका तो दिवाला निकल चुका है।' उत्तमनाथजीने मृदु स्वरमें कहा—'दिवालो निकल्यो तो निकलवा दे। भाग माथे भरोसो राखे या नीं राखे। आज पाणी रे सिवाय कीं मत लीजे, सारो दिन "ॐ नमः शिवाय" रो जाप करजे, सुबे थने रुपया घरे मिल जावेला।' (दिवाला निकला है तो निकलने दे। भाग्यपर भरोसा रखना है या नहीं। आज जलके सिवा और कुछ मत लेना और दिनभर 'ॐ नमः शिवाय' का जप करना। सुबह तुझको अपने घरपर ही रुपये मिल जायँगे।) मेरे दादाजीको पूज्य नाथजीके वचनोंपर विश्वास था। उन्होंने नाथजीके कहे अनुसार पारायण किया। रातको नींद भी कुछ कम ली।

ब्राह्ममुहूर्तमें वे सहसा चौंके। किसीने पुकारा 'शुरू! आडो खोल' (सुरू! किवाड़ खोल) वे भागे और दरवाजा खोल दिया। व्यापारीका भेजा हुआ आदमी आया था। उसने कहा कि 'आप रुपये गिन लीजिये व्याजसहित।' मेरे पितामहकी खुशीका पार ही नहीं था। भगवन्नाममें तन्मयतासे कामना तत्काल सिद्ध हो गयी। यह घटना भले ही हास्यास्पद प्रतीत होती हो, पर जो श्रीउत्तमनाथजीके सम्पर्कमें आये हैं वे तो कम-से-कम इसे मानेंगे ही।

—सुंदरलाल बोहरा

(७)

बहू शुभाकी शुभ वृत्तिका सुपरिणाम

लगभग चालीस वर्ष पहलेकी घटना है। बंगालके दिनाजपुर जिलेके एक गाँवमें एक रामतनु नामक ब्राह्मण रहते थे। उनकी स्त्रीका नाम प्रमिला था। एक पुत्र प्रद्योतकुमार था, जो कलकत्तेसे ग्रेजुएट होकर आया था और उसे अच्छी नौकरी मिलनेकी आशा थी। बगलके गाँवमें एक ब्राह्मण सद्गृहस्थ प्रमथनाथके एक बड़ी सुशीला कन्या थी। लड़केकी बी० ए० में सफलता सुन-कर प्रमथनाथने चेष्टा करके अपनी कन्या शुभाका विवाह

उससे कर दिया। रामतनुकी स्त्रीका स्वभाव बहुत ही उग्र था एवं वह अत्यन्त कठोरहृदया थी। उसकी शैवालिनी नामकी एक लड़की भी माँके स्वभावकी थी और प्रद्योतमें भी माँकी प्रकृतिका ही अवतरण हुआ था। जबसे शुभा घरमें आयी, तभीसे शैवालिनी उसके विरुद्ध माँको लगाया करती, कहती 'यह बड़ी कुलक्षणी है, घरको बर्बाद कर देगी और माँ अपने लड़के प्रद्योतका सदा कान भरा करती। बेचारी शुभाका बुरा हाल था, दिनभर उसे अपनेको तथा अपने सीधे-सादे माता-पिताको गालियाँ सुननी पड़तीं। घरका सारा काम तो गधेकी-ज्यों करना ही पड़ता। होते-होते सास, पति और ननद तीनों उसके लिये साक्षात् यमराजका रूप बन गये। वह बेचारी चुपचाप सब सहती रहती। स्वभाव बिगड़ जानेके कारण प्रद्योतकी कहीं नौकरी नहीं लगी। इससे वह और भी जला-भुना रहता। घरमें आपसमें भी उनके लड़ाई-झगड़े होते रहते। वृद्ध रामतनु बड़े भद्र पुरुष थे। वे चुपचाप सुनते रहते। मन-ही-मन परिवारकी दुर्दशापर दुःख करते हुए भी अपना अधिक समय भजनमें लगाते। उनके पास कुछ पूँजी थी, उसीसे घरका काम चलता।

एक दिन माँ-बेटेमें लड़ाई हो गयी। पुत्र प्रद्योतने माँको भद्दी गालियाँ दीं और वह मारनेको दौड़ा। शुभासे नहीं रहा गया, उसने उठकर पतिके हाथ पकड़ लिये और कहा—'स्वामिन्! आपकी माता हैं, देवस्वरूपा हैं। इनका पूजन करना और इन्हें सुख पहुँचाना ही आपका धर्म है। तथा इसीसे सबका कल्याण है इत्यादि।' शुभाकी यह हरकत देखकर प्रद्योत आग-बबूला हो गया और माँकी ओरसे हटकर पत्नीपर चढ़ आया, हाथ छुड़ाकर बड़े जोरोंसे दो-चार घूँसे लगाये और बोला—'चुड़ैल! तू हमारे बीचमें बोलनेवाली कौन? बड़ी ज्ञानवाली उपदेश देने आयी है। यह माँ राँड़ तेरी है कि मेरी है। मैं अपनी माँसे चाहे जैसा व्यवहार करूँगा, तुझे क्या मतलब!' शुभा बेचारी घूँसे खाकर चुपचाप अलग बैठ गयी।

इतनेमें ही तनककर प्रमिला (सास) ने कहा—'बेटा! सच ही तो है। यह चुड़ैल हमलोगोंके बीचमें बोलनेवाली कौन होती है। इसकी माँ राँड़ और भड़ुए बापने इसे यही सिखाया होगा कि 'पतिको सीख दिया करो'। ऐसी औरतें बड़ी कुलच्छनी होती हैं। इनका तो घरमें रहना ही घरके लिये बर्बादीका कारण है। तुमने अच्छा किया जो इसकी मरम्मत कर दी। मेरे तो एक सहेली थी। उसकी बहू भी इसी चुड़ैलकी तरह ज्यादा बोलती थी। एक दिन उसने अपने बेटेको समझाया। बेटा बड़ा आज्ञाकारी और धर्मात्मा था! उसने पहले तो उसकी खूब मरम्मत की और इसपर भी जब नहीं मानी तो माँकी सलाहसे एक दिन बेटेने उसके सोते समय तमाम बदनपर मिट्टीका तेल छिड़क दिया और दियासलाई लगा दी। राँड़ तुरंत ही जलकर खाक हो गयी। हर्रे लगा न फिटकरी, कुछ ही दिनोंमें इन्द्रकी परी-सी नयी बहू आ गयी। बेटा—ऐसी औरतें इसी कामकी हैं।'

माँकी बात सुनकर बड़े उत्साहसे बेटी शैवालिनी भाईसे बोली—'हाँ-हाँ भैया! माँ ठीक कहती है। लातका देवता बातसे थोड़े ही मानता है।'

प्रद्योत और भी उत्तेजित हो गया। उसके क्रोधकी आगमें माँ तथा बहिनके शब्दोंने मानो घृतकी आहुति डाल दी। उसने दौड़कर शुभाके सिरपर घूँसे मारे और कहा—'सुन लिया न, अब जरा भी चीं-चपड़ की तो माँका बताया उपाय ही किया जायगा। खबरदार!'

फिर तीनों बहुत बके-झके—बेचारी निरीह शुभा सुबक-सुबककर—चुपचाप रोती हुई सब सुनती रही और मिट्टीके तेलकी आगसे जल मरनेको तैयार होने लगी।

वृद्ध रामतनु सब सुन रहे थे, वे बड़े साधु-स्वभाव थे, पर आज उनसे नहीं रहा गया। इस कुत्सित अत्याचारको उनकी आत्मा सहन नहीं कर सकी। उन्होंने खड़े होकर बड़े जोरसे झिड़कते हुए अपनी पत्नी प्रमिलासे कहा—'चाण्डालिनी! तू मालूम होता है साक्षात् पिशाचिनी है। निरपराध बालिकापर, जो बेचारी देवकन्याके सदृश सर्वगुणसम्पन्न और सुशील है, तुमलोग इतना भयानक अत्याचार कर रहे हो। यह नीच प्रद्योत भी तुम्हारे साथ हो गया है। तुमलोग इसको तथा इसके साधु-स्वभाव माँ-बापको गालियाँ देकर बहुत बड़ा पाप कर रहे हो। इस छोकड़ी शैवालिनीकी भी बुद्धि मारी गयी। यह नहीं सोचती कि इसके ससुरालमें इसकी भी यही दुर्गति हो सकती है। तब माँ-बेटी दोनोकी क्या दशा होगी। बेचारी लड़की सात्त्विक माता-पिताको छोड़कर तुम्हारे घर आयी है और तुम राक्षसकी तरह उसे खानेको दौड़ रहे हो और उसे जलाकर मारनेकी सोच रहे हो। धिक्कार है। याद रखना, गरीब दीनकी हायसे सर्वनाश हो जायगा।'

पतिकी बात सुनकर प्रमिला कड़ककर बोली—'बस, बस, रहने दो। तुम्हारी तो बुद्धि सठिया गयी है। तभी तो इस नीच जबान छोकड़ीकी हिमायत कर रहे हो। रक्खो न, इस देवकन्याको अपने पास। हम माँ-बेटे तो अपना काम चला लेंगे।'

अब तो रामतनुकी आत्मा तिलमिला उठी। बड़े साधुस्वभाव होनेपर भी उनके मुँहसे सहसा निकल गया—'चाण्डालिनी! जा, तेरे और इस तेरे दुष्टचरित्र राक्षस बेटेके शीघ्र ही गलित कुष्ठका रोग हो जायगा और तू दुःखदर्दसे कराहते-कराहते मरेगी। यह लड़की भी सुख नहीं पायेगी × × ×।'

रामतनु बोल ही रहे थे और न मालूम उनके मुँहसे क्या निकलनेको जा रहा था कि शुभाने दौड़कर उनके चरण पकड़ लिये और वह चीख मारकर गिर पड़ी। फिर चरण पकड़कर बोली—'पिताजी! पिताजी! आप क्या बोल रहे हैं। कुसूर तो मेरा है। मैं न बोलती तो इतना काण्ड क्यों होता। मेरे ये पतिदेव ही मेरे देवता हैं, मेरे भगवान् हैं। और ये माताजी, जो मेरे भगवान्की माँ हैं, मेरे लिये परम पूजनीय हैं। पिताजी! इन लोगोंका जरा भी कष्ट मैं सहन नहीं कर सकती। इनको गलित कुष्ठ होगा तो मैं कैसे जीऊँगी। मुझपर दया करो, क्षमा करो पिताजी! आप दयालु हैं....'

बहूकी बात काटकर प्रमिलाने चिल्लाकर कहा—'बड़ी शिफारिस करनेवाली आयी है। जान गयी मैं, यह बूढ़ा और तू दोनो मिले हुए हो। हमलोगोंके पीछे लगे हो। पर चिड़ियाकी बीटसे कहीं भैंस मरती है। इसके शापसे हमारा क्या होगा। देखती हूँ, पहले तुमलोग मरते हो कि हमें कोढ़ होती है।'

शुभा कुछ नहीं बोली, वह ननदके लिये भी ससुरसे कुछ कृपाभिक्षा चाहती थी, पर अब बोल नहीं पायी। रोने लगी। रामतनु उठकर बाहर चले गये। उन्हें अपने क्रोधपर पश्चात्ताप था। तीनो माँ-बेटे-बहिन अलग एक कमरेमें चले गये।

× × ×

विधिका विधान, कुछ ही वर्षों बाद प्रमिला और प्रद्योतको गलित कुष्ठ हो गया और शैवालिनीका पति पागल होकर पागलखाने भेज दिया गया। अब प्रमिला और प्रद्योत दोनोंके पश्चात्तापका पार नहीं रहा। उधर शुभाकी दशा तो सबसे अधिक दयनीय हो गयी। वह रात-दिन रोती तथा सास-पति एवं ननदके दुःखमें अपनेको कारण मानकर महान् खेद करती हुई बार-बार भगवान्से कातर प्रार्थना करती—सास-पतिके रोगनाशके लिये और ननदोईकी स्वस्थताके लिये! दिन-रात सब घृणा छोड़कर वह तन-मनसे सास-पतिकी हर-तरहकी सेवामें लगी रहती।

गाँवमें एक सिद्ध महात्मा रहते थे—श्रीकपिल भट्टाचार्य। एक दिन शुभा उनके स्थानपर जाकर चरणोंमें पड़कर रोने लगी तथा उनसे सब हाल सविस्तर कह सुनाया। महात्माका हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने कहा—'बेटी! तुम धन्य हो। इनके पाप तो बहुत प्रबल हैं। परंतु तुम्हारी सद्भावनासे तुम्हारे स्वामी शीघ्र ही रोगमुक्त हो जायँगे और तुम्हारे अत्यन्त अनुकूल होंगे। तुम्हारा जीवन सुखी होगा। उन्हें केवल चने खिलाओ, चावलमोगरेका तेल लगाओ और एक सिद्धौषधि देकर कहा कि यह खिलाओ। तीन महीनेमें रोगसे छुटकारा मिल जायगा। परंतु सास अच्छी नहीं होगी, उसका रोग बढ़ेगा और वह मर जायगी। पर तुम्हारी सद्भावनासे परलोकमें उसकी दुर्गति नहीं होगी। तुम्हारे ननदोईका पागलपन भी मिट जायगा। तुम्हारी सद्भावना तथा इन तीनोंके सच्चे पश्चात्तापसे ही भगवत्कृपासे यह फल होगा।········पर यह याद रखना, तुम भी आगे चलकर सास बनोगी। कहीं ऐसा न हो कि सास बनकर बहूके प्रति दुर्भाव करने लगो। यद्यपि सब सास बुरी नहीं होतीं, तथापि सासमें वह मिठास नहीं होती, जो माँमें होता है। बहुत मीठी सास भी कुछ कड़वापन रखनेवाली ही पायी जाती है। होना चाहिये सासको अधिक मिठासवाली; क्योंकि उसे परायी बेटीको बेटी बनाकर उसपर स्नेह करना है। इसलिये बहूपर बेटीसे भी अधिक प्यार करना चाहिये। वह बेचारी अपने बापके घरको छोड़कर तुम्हारे यहाँ आती है, वह अपना दुःख भी किसीसे नहीं कह सकती और तुम यदि पिशाचिनीकी भाँति उसका खून चूसने लगती हो तो तुम्हारी दुर्गति कैसे नहीं होगी। याद रखना चाहिये, बहूको सतानेवाली सास नरकोंमें जाती है और उसे शूकरीकी योनि प्राप्त होती है। मैंने यह सभी सासमात्रके लिये कहा है। तुम कभी भी ऐसी नहीं हो सकती। तुम तो कौसल्या-सरीखी आदर्श सास होओगी। साथ ही पतियोंको भी याद रखना चाहिये, वे अपनी पत्नीको कभी गाली भी न दें, हाथको कभी उठावें ही नहीं। जो पति अपनी पत्नीको मारता है, वह अगले जन्ममें स्त्रीयोनिमें जाकर जवानीमें विधवा होता है।

कहना नहीं होगा कि कुछ ही दिनोंमें प्रद्योत रोगमुक्त हो गया। प्रमिला कष्ट भोगती हुई मर गयी; पर वह मरी पश्चात्तापकी आगमें जलती हुई तथा मुक्तकण्ठसे शुभाकी बड़ाई करती और उसे आशीर्वाद देती हुई। शैवालिनी भी पतिके स्वस्थ होनेसे सुखी हो गयी। तीनोंके बड़े पाप थे, पर शुभाकी परम शुभवृत्तिसे परिणाम मङ्गलमय हो गया। प्रद्योतकी बड़ी अच्छी नौकरी लग गयी और उन दोनोंका जीवन धन-सम्पत्ति-संतति-सम्मति आदिसे सर्वाङ्ग सुखपूर्ण हो गया।

—विमलेन्दु चटर्जी

(८)

गरीबीमें ईमानदारी

गरमीकी छुट्टियोंमें मैं घाटकोपर गया था। वहाँ हमारी दूकानपर नियमित आनेवाले एक शिक्षक मित्रने यह घटना सुनायी थी—

मैं जब नया-नया अध्यापक होकर स्कूलमें आया था, तबकी बात है। मैं दसवें क्लासमें संस्कृतकी घंटी ले रहा था। संस्कृत श्लोकोंपर पाठ देनेमें लगा था। इसी बीच आवाज सुनायी दी—'मैं अंदर आ सकता हूँ—महाशयजी।'

'हाँ', स्वीकृति मिलते ही एक पंद्रह वर्षका विद्यार्थी मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। उसके कपड़े ही उसकी गरीबीकी गवाही दे रहे थे। नंगे पैर, सुन्दर वदन, पर चेहरेपर अकथनीय वेदना फैली हुई! उसने करुणाके भावसे धीरेसे मुझसे कहा—

'सर! पाँचेक रुपयेकी सहायता करेंगे·······?'

पैसेकी बात सुनते ही एक बार तो मैं सहम ही

गया, पर फिर सावधान होकर मैंने धीरेसे पूछा—'क्यों, क्या करोगे ?'

'सर ! आज फीस भरनेकी अन्तिम तारीख है। मैं अबतक फीस नहीं भर सका, इसलिये क्लासटीचरने मुझको 'गेट-आउट' कर दिया है। सर ! इतनी-सी मदद करें तो..............तो पाँच-छः दिनोंमें मैं रुपये लौटा दूँगा।' नीचा सिर किये बड़े करुणस्वरमें उसने कहा।

जो कुछ भी हो, मैं एक शिक्षक था। इतने विद्यार्थियोंके (और सो भी दसवें क्लासके ही विद्यार्थियोंके) सामने मुझसे 'ना' नहीं कहा गया। मैं इस विद्यार्थीसे सर्वथा अपरिचित था, तो भी परिस्थितिवश मैंने जेबसे पाँच रुपये निकालकर उसके हाथपर रख दिये।

आभार मानता हुआ विद्यार्थी चला गया। कुछ क्षणोंतक तो मैं उस विद्यार्थीकी सभ्यता, नम्रता, वाक्पटुता आदिपर विचार करता रहा, पर उसी समय मनमें संदेहका कीड़ा सलबला उठा। चित्त तर्क-वितर्कोंसे भर गया। पर मैं इस ओर ध्यान न देकर अपने पढ़ाईके काममें लग गया।

देखते-देखते चार दिन बीत गये; पर उस विद्यार्थीके तो फिर दर्शन ही नहीं हुए। मैं रोज उसकी राह देखता। मेरा संदेहका कीड़ा मजबूत हो गया। अन्तमें मैंने उस वर्गमें जाकर खोज की तो मालूम हुआ कि वह विद्यार्थी चार-पाँच दिनोंसे स्कूलमें ही नहीं आता। मेरी आँखोंके सामने पाँच रुपयेका नोट नाचने लगा।

मैं पता लगाने लगा। विद्यार्थियोंने मुझे अपनी-अपनी राय दी। मैंने सोचा ये ठीक कहते हैं, उस विद्यार्थीने मेरे सीधेपनका लाभ उठाया होगा। ये सब मेरी अपेक्षा उससे परिचित भी अधिक हैं। उनकी बात सच मानकर मैं निराश होकर चुपचाप अपने काममें लग गया।

इस घटनाको लगभग दस दिन बीत गये। मैं उकताये हुए चित्तसे स्कूलमें आकर आरामकुर्सीपर पड़ा समाचारपत्र पढ़ रहा था। इसी समय मेरे कानमें आवाज आयी—'मैं अंदर आ सकता हूँ, महाशयजी !'

मैंने कहा—'हाँ'।

मैंने समाचारपत्रकी आड़से देखा, वही लड़का है जो मुझसे पाँच रुपये उधार ले गया था। मैंने उसको बुलाया और वह धीरे-धीरे कमरेमें आ गया। काँपते हाथसे पाँच रुपयेका नोट देते हुए उसने कहा—

'सर ! देर हो गयी, इसके लिये क्षमा चाहता हूँ।'

मुझसे यन्त्रवत् बोला गया—'स्कूलमें क्यों नहीं आते ?'

'सर........' कहते ही उसका कण्ठ गद्गद हो गया। 'घरमें माँ बीमार थी ! डाक्टरने कहा—रोग भयङ्कर है। इंजेक्शनोंकी जरूरत है। परंतु इंजेक्शनके पैसे मैं कहाँसे लाऊँ ? मैं गरीब हूँ, इसलिये मुझपर कोई विश्वास नहीं करता। किसीने एक पाई नहीं दी। ऐसी विषम परिस्थितिमें मैं क्या करता। मैं घबरा उठा। इधर माँकी स्थिति भयानक होती जा रही थी। अन्तमें मैं आपके पास आया। सच्ची बात कहते मुझे शर्म आ रही थी, इससे मैंने फीसका झूठा बहाना बनाकर आपसे रुपये माँगे और आपने विश्वास करके दे भी दिये। परंतु....'

'परंतु क्या ?'

'परंतु माँ........गयी।' यों कहते-कहते बच्चा फफककर रो पड़ा। मैंने उसकी पीठ थपकाकर उसे शान्त किया। उसने आँसू पोंछते हुए कहा—

'फिर सर ! मैं स्कूलमें कैसे आ सकता था ? स्कूलकी दो महीनेकी फीस चढ़ गयी, मैं कहाँसे दूँ ? अन्तमें स्कूल छोड़कर मैंने रेलवे स्टेशनपर मजूरी शुरू की ! ये पाँच रुपये मेरे पसीनेके हैं·········'बोलते-बोलते उसका कण्ठ रुक गया ।

इस बालककी ऐसी ईमानदारी देखकर मेरे हृदयमें हर्ष हुआ । सहानुभूतिके आवेशमें मैंने उससे कह दिया—'भाई ! तुम्हारी इस विषम परिस्थितिमें मुझे रुपये वापस लौटानेकी क्या जरूरत है ?'

'नहीं सर !' कहते हुए उसका स्वर दृढ़ हो गया । 'माँने अन्तकालमें कहा था—'बेटा, जिनसे लाया है, उनको जल्दी वापस दे आना । हरामका पैसा पचता नहीं ।'

'नरेन्द्र ! ये रुपये ले जा, तेरे काम आयेंगे'—कहकर मैंने नोट उसके सामने रख दिया ।

'नहीं सर ! हरामके पैसे लेनेके लिये माँने मुझको साफ मने कर दिया है । माँकी आज्ञाका मैं कभी उल्लङ्घन नहीं करूँगा ।'

—मनहरलाल पोपटलाल सोनी

(९)

चौबीस घंटेमें पूर्ण स्वस्थ

आजसे बीस वर्ष पूर्वकी बात है । मेरे शरीरके एक भागमें रसौली (गिल्टीके आकारमें मेद-वृद्धि) होने लगी । डाक्टरसे इसकी जाँच करवायी तो उसने बताया कि इसकी वृद्धि स्पष्ट होने लगी है और यदि यह इसी प्रकार बढ़ती गयी तो शल्यचिकित्सा (ऑपरेशन) के द्वारा इसे निकलवाना होगा । कुछ मास पूर्व मुझे एक भीषण आकस्मिक शोकका धक्का लगा और तभीसे यह रोग बढ़ने लगा । थोड़े ही समयमें इसने दुगुना रूप धारण कर लिया और मुझे भय होने लगा कि शल्यचिकित्साकी शरण लेनी पड़ेगी । एक दिन मेरी एक सहेलीने मुझे चिन्तित देखकर कहा—'इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना क्यों नहीं करती हो ? ऑपरेशन करवानेकी क्या आवश्यकता है ?' उसकी ऐसी उत्साहपूर्ण सलाहसे कुछ धैर्य बँधा और मैं अपनी पूजनीया अध्यापिकाके पास पहुँची । जब मैंने अपनी दुःखकथा उन्हें सुनायी तो वे बोलीं—'हम दोनों परम पिता परमात्मासे इसके लिये प्रार्थना करेंगी; क्योंकि मुझे विश्वास है कि उनमें इसे ठीक करनेकी शक्ति है और वे तुम्हें अवश्य ठीक करेंगे । अब ठीक हुआ ही समझो ।'

उस समय ईश्वरीय शक्तिमें मेरा विश्वास दृढ़ नहीं था । अतः मुझे यह विश्वास नहीं हो रहा था कि किस प्रकार बिना डाक्टरी सहायताके यह रोग ठीक हो सकता है; किंतु मेरी अध्यापिकाजीने मुझे बार-बार आश्वासन दिया और विश्वास दिलाया कि 'प्रार्थनासे यह निश्चितरूपसे ठीक हो सकता है और ईश्वर तुम्हारा सम्पूर्ण कष्ट शीघ्र एवं सुनिश्चितरूपसे दूर करेंगे ।' उन्होंने, मुझे जो कुछ करना था, उसका आदेश दिया और यह भी बताया कि परम पिता परमात्माके प्रति की गयी प्रार्थनाको किस प्रकार प्रभावोत्पादक बनाया जा सकता है । उन्होंने मुझे यह भी आश्वासन दिया कि ये मेरे लिये स्वयं भी प्रार्थना करेंगी ।

अपनी अध्यापिकाजीके द्वारा बतायी पद्धतिसे मैंने प्रार्थना करना आरम्भ किया और उन्होंने भी स्वयं मेरे लिये प्रार्थना की । प्रार्थना करनेके पश्चात् उन्होंने मुझे बड़े विश्वासके साथ कहा कि 'तुम्हारी प्रार्थनाकी भगवान्‌के यहाँ सुनायी हो गयी है ।' भगवान्‌की शक्ति अतर्क्य है । अध्यापिकाजीसे बात होनेके अगले २४ घंटोंमें वर्षोंसे वर्धमान वह रसौली (गिल्टीके आकारमें मेदवृद्धि) पूर्णरूपसे अदृश्य हो गयी । स्वयं मुझे विश्वास नहीं हो पाया कि क्या हुआ । अतएव अपने

संतोषके लिये मैं विश्व-विद्यालयके अस्पतालमें डाक्टरकी शरणमें पहुँची। उन्होंने ठीकसे देख-भाल करके बताया कि 'शरीरमें मेदवृद्धिका कोई भी चिह्न कहीं नहीं है। शरीरका प्रत्येक भाग वैसा ही स्वच्छ और स्वस्थ है, जैसा कि नवजात बालकका होता है।'

मैंने उन्हें समूची घटना कह सुनायी और बताया कि 'अन्तमें मैंने प्रार्थनाद्वारा उपकार करनेवाली अपनी अध्यापिकाकी शरण ली थी तथा उन्हींकी प्रार्थनाके उपरान्त यह चमत्कार हुआ है। मैं आपके पास इस भ्रमका निराकरण कराने आयी हूँ कि क्या सचमुच ही मेदवृद्धि अदृश्य हो गयी है ?' डाक्टर महोदय बड़े ही दयालु और विवेकशील पुरुष थे। उन्होंने अपने कम्पाउण्डरोंके समक्ष मेरे कंधेपर अपना हाथ रक्खा और बोले—'बेटी! जब भगवान् किसी कार्यको करते हैं तो वह उत्तमोत्तम रूपमें सम्पन्न होता है और उसमें तनिक भी कोर-कसर नहीं रहती। डाक्टरके लिये उसमें कुछ भी सुधार करनेकी गुंजाइश नहीं रह जाती।' इतना कहकर वे हँस पड़े। उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि यह मेरी आन्तरिक प्रार्थनाका प्रभाव है। और जो कुछ भी थोड़ा-बहुत विश्वास मुझमें भगवान्‌के प्रति था, उसीने मुझे इस रोगसे मुक्ति दिलवायी है; इसे 'संयोग' नहीं कहा जा सकता।

इस घटनासे मेरा भगवान्‌पर विश्वास दृढ़ हो आया है और मुझे यह निश्चय हो गया है कि भगवान् प्रार्थनाका उत्तर अवश्य देते हैं।

—श्रीमती एल० बी० (एक अमेरिकन महिला)

भगवान्‌के चरणोंके प्रतापसे मेरा मन प्रेम और आनन्दका दिव्य स्रोत बन गया है

कोई भी घटना, कोई भी परिस्थिति, कोई भी अभाव मुझे अब विचलित या भयभीत नहीं कर सकती; क्योंकि मैंने अपने मनको भगवान्‌के चरणोंपर केन्द्रित कर दिया है। भगवान्‌के चरणोंसे नित्य बहते हुए आनन्दमय प्रेम-पीयूषसे अभिषिक्त होकर मेरा मन पूर्ण पवित्र, पूर्ण स्थिर, पूर्ण शान्त, पूर्ण निश्चिन्त, पूर्ण निर्भय, पूर्ण विश्वस्त तथा पूर्ण आनन्दरूप हो गया है। अब मेरे हृदयसे प्रेम और आनन्दका नित्य स्रोत बहता रहता है। मेरी प्रत्येक चेष्टासे, मेरी प्रत्येक क्रियासे, मेरी प्रत्येक वाणीसे, मेरे प्रत्येक हाव-भावसे—देखने, चाहने, हँसने, बोलने, खाने, पीने, पढ़ने, लिखने आदिसे प्रेम-ही-प्रेम, आनन्द-ही-आनन्द झर रहा है और जो भी जान-अनजानमें मेरे सम्पर्कमें आ जाते हैं, वे प्रेम और आनन्दके सुधा-रस-स्रोतमें अवगाहन करके मत्त हो जाते हैं।

अब मैं अपने मनको भगवान्‌के चरणोंपर केन्द्रित कर प्रेम और आनन्दका दिव्य स्रोत बन गया हूँ।

तम्बाकू—मानव जातिकी शत्रु है या मित्र ?

तम्बाकू शब्दसे शायद ही कोई अपरिचित हो; क्योंकि यह घर-घरमें शहरसे लेकर गाँवके किसानोंतक व्यापक रूपसे फैला हुआ है। अब हम अधिक विवेचन न करके तम्बाकूके गुण-दोषोंके ऊपर दृष्टिपात करें।

तम्बाकूका जन्मस्थान भारत नहीं है। मुगलोंके शासन-कालमें पुर्तगीज लोग इसे भारतमें लाये थे। इसका प्रमाण यह है कि हिंदूजातिके पुराणादि धर्मग्रन्थोंमें, जो जगत्के साहित्यमें सबसे अधिक प्राचीन हैं, कहीं भी तम्बाकूका उल्लेख नहीं मिलता। इतिहासमें दृष्टिपात करनेपर ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम कोलम्बसने अमेरिकामें वहाँके निवासियोंको तम्बाकू पीते देखा था।

तम्बाकूका उपयोग

इसका उपयोग तीन प्रकारसे होता है—प्रथम, धूम्रपान करते हैं, बीड़ी-सिगरेट और चिलम-हुक्का—आदि अलग-अलग साधन हैं। द्वितीय, चूने या पानमें मिलाकर खाते हैं और तृतीय, नाकसे सूँघते हैं। बहुत-से लोग इसकी जर्दा बनाकर मुँहमें रखा करते हैं।

तम्बाकू भयङ्कर विष है

तम्बाकूकी खेतीकी रक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि संसारका कोई भी पशु-पक्षी इसके पत्ते नहीं खाता, मुँहतक नहीं लगाता। केवल एक प्रकारका कीड़ा है, जो तम्बाकूके पत्तेपर पैदा होता है और उसको खाता है। एक पुरानी ग्रामीण कहावत है—'तम्बाकूको गधा भी नहीं खाता।' उसको भी तम्बाकूके विषका ज्ञान होता है और सर्प तो भयके कारण तम्बाकूके खेतमें जाततक नहीं। यदि कोई साँपको पकड़कर उसके मुँहमें बलपूर्वक तम्बाकू डाल दे तो थोड़े ही समयमें वह मृत्युके मुँहमें चला जायगा। वर्तमान युगके वैज्ञानिकोंने तम्बाकूमें छः प्रकारके विषोंका पता लगाया है—(१) निकोटीन, (२) प्रूसिक एसिड, (३) पाइरीडीन, (४) कोलीडीन, (५) एमोनिया और (६) कार्बन मोनो ओक्साइड। इसके सिवा कई प्रकारके और भी बहुत-से विष इसमेंसे निकल सकते हैं। १९५७ ई० के अन्ततक शोधसे तम्बाकूमें विषोंकी संख्या १८ तक पहुँच गयी थी। आजके वैज्ञानिक एक रतल तम्बाकूमेंसे इतना विष निकालते हैं, जिससे ३०० मनुष्योंकी मृत्यु हो सकती है!

तम्बाकूका उपयोग करनेवालोंके मुँहका स्वाद बिगड़ जाता है, इतना ही नहीं, इससे आयु भी घट जाती है।

भूमिका नाश

जिस भूमिमें तम्बाकू बोयी जाती है, वह भूमि खराब हो जाती है। भारतमें ऐसी अधिकांश भूमिमें तम्बाकू बोयी जाती है, जिसमें अनाज नहीं बोया जाता। यदि बोया जाता है तो उपज जैसी चाहिये, वैसी नहीं उतरती। हमारे किसान अभागे हैं जो धनके लालचमें पड़कर अनाजकी अपेक्षा तम्बाकूकी खेती ही अधिक करते हैं। बहुत थोड़ी-सी भूमिमें अनाज उत्पन्न किया जाता है। अनाजकी कम खेती होनेके कारण ही अनाजका भाव आसमानपर चढ़ता जा रहा है। अनाजकी कमी पड़ती जा रही है और विदेशोंसे आयात करना पड़ रहा है। इससे हमारी धनलक्ष्मी परदेशमें खिंची जा रही है। घी और दूधका अभाव भी इसी कारण है तथा गोहत्याके पापका उत्तरदायित्व भी पूरा-पूरा इसीके सिर है। लाखों एकड़ जमीनमें तम्बाकूकी खेतीके कारण गायें भूखों मर रही हैं। इससे उनको कसाईखानेमें भेजते हैं। हमारी सरकार भी गोहत्याका कारण घास-चारेका अभाव बतलाती है।

धनका नाश

केवल बम्बई और इसके उपनगरोंमें एक दिनमें छः लाख रुपयेकी तम्बाकू काममें लायी जाती है। इस हिसाबसे सारे भारतवर्षमें एक दिनमें चार करोड़ रुपये और एक वर्षमें पंद्रह अरब रुपयेकी तम्बाकू उपयोगमें आती है।* सारी दुनियामें एक मिनटमें १२७० टन अर्थात् ३४६०० मन तम्बाकू उपयोगमें आती है। इतनी तम्बाकू कहाँ जाती है?

---

* तम्बाकूपर आयात और आबकारी 'कर'से केन्द्रीय सरकार-को अक्टूबर सन् १९५८ तक ४.३२ करोड़ रुपयेकी प्राप्ति हुई है। पूर्व वर्षमें ३.५६ करोड़की हुई थी। ('सन्मार्ग' कलकत्ता २०। ६। ५९) इससे सिद्ध है कि तम्बाकूकी उपज बढ़ रही है और साथ ही प्रचार भी। पता नहीं, अन्नका इतना भीषण अभाव होनेपर भी व्यर्थकी वस्तु तम्बाकूकी खेतीपर सरकार प्रतिबन्ध क्यों नहीं लगाती और क्यों तम्बाकूके विरोधमें प्रचार नहीं करती। 'कर'के रुपयोंका लोभ ही इसका कारण है, या इस ओर ध्यान ही नहीं गया है।

जितनी पीयी जाती है, वह धुएँके रूपमें हवामें मिल जाती है और जितनी खायी और सूँघी जाती है, वह कफ या थूकके रूपमें जमीनपर फेंक दी जाती है। वह सब सूर्यकी गर्मीसे सूखकर, वायुके वेगसे उड़कर, वायुमें मिल जाती है। यह तम्बाकूका व्यसन चौबीस घंटेका होता है। इस प्रकार सारी दुनियामें प्रत्येक मिनटमें ३४६०० मन तम्बाकू वायुमें चौबीसों घंटे मिलती रहती है और इसी वायुमें सारे प्राणी श्वास लेते हैं।

तनका नाश

तम्बाकूकी आदत पड़नेके बाद मनुष्य उसे जल्दी छोड़ नहीं सकता और वह इस व्यसनका गुलाम बन जाता है। नियत समयपर आदतके अनुसार यदि उसे तम्बाकू न मिले तो वह टट्टी फिरने नहीं जा सकता, अन्न पचा नहीं सकता तथा किसी भी प्रकारकी मेहनत-मजदूरी या दूकानदारी आदि काम नहीं कर सकता। वह भाड़ेका टट्टू बन जाता है। बहुत-से लोगोंको सुँघनीकी आदत पड़ जाती है, वह सबसे अधिक हानिकारक है। क्योंकि नाकके द्वारा सीधे फेफड़ेमें घुस जानेके कारण वह कैंसरका रोग उत्पन्न करती है। इस व्यसनसे खाँसी आती है। खाँसीसे दूसरा रोग दमा हो जाता है और दमेसे तीसरा रोग क्षय हो जाता है। चौथा, बड़े भागमें कैंसर हो जाता है। जैसे तम्बाकू खानेवालोंके गले और जीभके पिछले भागमें, बीड़ी-सिगरेट पीनेवालोंके गलेमें और सूँघनेवालोंके फेफड़ेमें कैंसर हो जाता है और पाँचवाँ रोग हृदयकी गतिको बंद करनेवाला होता है। तम्बाकूसे आँख, दिमाग, पेट और शरीरकी एक-एक नाड़ी खराब हो जाती है। बाजारमें कोई भी वस्तु शुद्ध नहीं मिलती, प्रत्येक वस्तुमें मिलावट होती है। संसारके दूसरे किसी देशमें भी खाने-पीनेकी वस्तुओंमें मिलावट नहीं की जाती, परंतु हम भारतवासी ऐसा करते हैं, यह अभागा देश पतनकी ओर जा रहा है। हमको तो अपने रोगी भाइयोंके ऊपर भी दया नहीं आती। हम दवाओंमें मिलावट करते हैं। बनावटी दवाएँ बनाकर बेचते हैं। कितने ही बच्चे, नौजवान इस कारणसे चोरी करके दुर्व्यसनमें फँस जाते हैं। बीड़ी-सिगरेट न मिलनेपर भीख माँगते हैं। यदि भीख माँगनेपर भी नहीं मिलता तो घरमें या बाहर चोरी करते हैं। तम्बाकूसे भूमिका नाश, शरीरका नाश, धनका नाश, मानवताका ध्वंस—इस प्रकार सर्वनाश हो रहा है।

तम्बाकूसे मुक्त होनेके उपाय

कहावत है कि प्रकृति प्राणके साथ ही जाती है। यही बात आदतके विषयमें है। आज इस कलियुगमें अच्छी आदत जल्दी नहीं पड़ती। परंतु बुरी आदत जल्दी पड़ती है और उसको भूलनेके लिये बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। प्रत्येक क्रियामें मानसिक बलकी आवश्यकता होती है। पहले अन्तःमार्गीके द्वारा मनोबल प्राप्त करके पक्का निश्चय कर लेना चाहिये कि मुझे तम्बाकू छोड़नी ही है। एक दिन घरमें भोजन न मिले या कच्चा अथवा ठंडा मिले तो हम उत्तेजित हो जाते हैं और लड़ने-झगड़ने लगते हैं, परंतु जब मनमें यह निश्चय कर लेते हैं कि हमको दो दिनका उपवास करना है तो वह आसानीसे सहन किया जा सकता है। इसी प्रकार तम्बाकूके छोड़नेका पक्का निश्चय करना चाहिये। बालकके समान हठ करना चाहिये। प्राण भले ही चले जायँ पर तम्बाकू नहीं छुऊँगा।* तीसरी बात यह है कि जो मनुष्य तम्बाकूके दास बन गये हैं, उसके बिना जो शौच नहीं जा सकते, भोजन नहीं पचा सकते, कोई भी काम मन लगाकर नहीं कर सकते, उसके बिना एक डग भी चला नहीं जाता, ऐसे लोगोंकी समस्याको सुलझानेके लिये बुद्धिपूर्वक विचार करना पड़ेगा। तम्बाकूको यदि त्याग देना है तो जिस कामकी पूर्तिके लिये तम्बाकूका उपयोग किया जाता है, उस कामकी पूर्तिके लिये किसी दूसरी वस्तुका उपयोग करना पड़ेगा। तम्बाकूका उपयोग पाँच कामोंकी पूर्तिके लिये किया जाता है—(१) टट्टी जानेके पहले तम्बाकू पीते या खाते हैं, उसके बिना टट्टी नहीं उतरती। (२) भोजन करनेके बाद उसको पचानेके लिये इसको खाते या पीते हैं। (३) किसीको रातको जागना होता है तो वह तम्बाकूका उपयोग करता है। (४) किसीका पेट फूल जाता है, पेटमें वायु हो जाती है

* कलकत्तेमें श्रीलक्ष्मीनारायणजी मुरोदिया नामक एक संत गृहस्थ थे। उन्हें वर्षोंसे तम्बाकूका बड़ा व्यसन था। उनकी चिलमकी आग कभी बुझती ही नहीं थी। वे विनोदमें कहा करते—'धूपियाकी आग कभी ठंडी नहीं होनी चाहिये।' एक दिन उनके एक श्रद्धेय महानुभावने उनसे कहा—'लक्ष्मीनारायण! चिलम छोड़ दो।' उन्होंने पूछा—'छोड़ दूँ?' महानुभाव बोले—'हाँ-हाँ छोड़ दो।' एक क्षण मौन रहकर तुरंत श्रीलक्ष्मीनारायणजीने कहा—'छोड़ दी'। बस, उसी क्षणसे चिलमकी आग बुझ गयी। उन्होंने फिर, जीवनभर कभी तम्बाकू नहीं पी।

तो उसके शमनके लिये वह तम्बाकूका प्रयोग करता है। (५) जब नाक बंद हो जाती है या सर्दी हो जाती है तो नाकको खोलनेके लिये सूँघनी लेते हैं।

उपाय—अब इन कार्योंके लिये हमें तम्बाकूके उपयोग-की जगह क्या करना चाहिये। इसका विचार करें।

(१) रातको काम करनेवाले वायुप्रकृतिवालोंके लिये सौंफ ५ तोले, अजवाइन १५ तोले, संचर नमक ७॥ तोले और दो बड़े नीबूका रस।

(२) गरम प्रकृतिवालोंके लिये, जिनको गरम वस्तु, अनुकूल नहीं होती—सौंफ १५ तोले, अजवाइन ५ तोले, संचर ७॥ तोले और दो बड़े नीबूका रस।

(३) सामान्य प्रकृतिवालोंके लिये, जिनको गरम और ठण्डी दोनों वस्तुएँ अनुकूल हों; सौंफ १० तोले, अजवाइन १० तोले, संचर ७॥ तोले और दो बड़े नीबूका रस।

बनानेकी रीति—संचर नमकको बारीक पीसकर काँचके गिलासमें नीबूके रसमें मिला दे। फिर सौंफ और अजवाइन साफ करके कलईवाले बर्तनमें रखकर संचर मिलाये हुए रसको उसमें डाले और हाथोंसे मसलकर सबको एकमें मिला दे। फिर कोयलोंकी आगपर सेंककर डब्बेमें भर ले और सदा पास रक्खे।

खानेकी रीति—हर समय दो-चार दाने मुँहमें डाल-कर चबाता रहे, कभी मुँह खाली न रक्खे; क्योंकि मुँह खाली रखनेसे तम्बाकू याद आयेगी। यदि नींदमें याद आये तो उठकर इसीको मुँहमें डाल ले। दस-पंद्रह दिनोंमें व्यसन छूट जायगा।

इससे पहला लाभ होगा भोजन पचनेका, दूसरा लाभ पेटकी खराबी दूर हो जायगी और टट्टी जानेके पहले तम्बाकू-का उपयोग नहीं करना पड़ेगा। सौंफ भोजनको पचाती है और पेटको साफ रखती है तथा आँखोंको लाभ पहुँचाकर दृष्टिको तेज करती है।

अजवाइन और संचर भोजनको पचानेके साथ-साथ वायु (गैस) का नाश करते हैं। इस ओषधिके सेवनसे मुँहका स्वाद बदल जायगा; इससे जागरणमें भी सहायता मिल सकेगी। दिनभर खानेसे एक-डेढ़ आना खर्च होगा। परंतु यह याद रखना चाहिये कि ओषधिका उपयोग करते समय घी-दूधका सेवन आवश्यक है।

छींकके लिये नाकमें सूँघनेकी इच्छा हो तो सूर्यके सामने नाक ऊपर करके खड़े रहनेसे एक-दो मिनटमें छींक आ जाती है और नाक तथा दिमाग साफ हो जाते हैं। यदि छींक न भी आये तो नाक अवश्य खुल जायगी। सूर्यनारायणकी किरणोंमें इतनी अधिक दिव्य शक्ति है कि प्रातः सूर्य-किरणों-का शरीरमें स्पर्श होनेसे अनेक रोग नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये सूर्य-स्नान और सूर्यनमस्कारको ऋषि-मुनियोंने प्रधानता प्रदान की है। (संध्या-वन्दनमें सूर्यार्घ्यका विधान है।) सारे दिन सूर्यसे मनुष्यको विटामिन 'डी' मिलता रहता है।

सुँघनीके बदलेमें कपड़ेसे छाना हुआ बारीक नमक अथवा नीलगिरी तेल ले सकते हैं। कपड़ेकी बत्ती बनाकर नाकमें डालनेसे यह काम पूर्ण हो सकता है।

भारतकी कायापलट

यदि हम भारतवासी तम्बाकू छोड़कर इसके ऊपर खर्च होनेवाले धनको इकट्ठा करें तो एक वर्षमें पंद्रह अरब रुपये हो जायँगे। अन्न-उत्पादनमें हम स्वावलम्बी बन जायँगे। लाखों गायोंको चारा दे सकेंगे और इससे लाखों डेरी तथा गायें हो जायँगी। शुद्ध दूध-घीकी नदियाँ बहने लगेंगी और भारतकी काया-पलट होकर नवनिर्माणका स्वप्न शीघ्र ही मूर्तिमन्त हो जायगा।

यूरोप और अमेरिका जाग उठे हैं। उन लोगोंकी शोधशालाएँ काम कर रही हैं। आज लंदनकी सरकार तम्बाकूके विरुद्ध पुस्तकें छपा रही है। स्वीडनकी सरकार तम्बाकूके प्रचारपर प्रतिबन्ध लगा रही है और भारत इतना अभागा है कि अन्नके उत्पादनको छोड़कर तम्बाकूकी उन्नतिमें प्रयास कर रहा है।

भारतीय कैंसर सोसायटीके एक डाक्टरने शोध किया है कि तम्बाकू पीनेसे कैंसरका रोग उत्पन्न होता है। उर्दूपत्र 'हिन्द समाचार' ता० ९। १२। ५७ के अङ्कमें प्रकाशित हुआ है कि जीभ और गलेके कैंसरका कारण बीड़ी और सिगरेटका पीना है। भारतमें कैंसरके ३६ प्रतिशत रोगी तम्बाकूके कारण होते हैं। न्यूयार्कमें ७ प्रतिशत, लंदनमें १६ प्रतिशत हैं। अभी हालमें यूरोप और अमेरिकाके वैज्ञानिकोंने अनुसंधानके द्वारा बतलाया है कि फेफड़ेके कैंसरका कारण तम्बाकू पीनेकी आदत है। आशा है कि इस विवेचनसे पाठकवर्ग स्वयं विचार करेगा और दूसरोंको विचारनेके लिये प्रेरणा प्रदान करेगा। —'अल्पज्ञ'

['तम्बाकूके ज्ञान और भारतके कल्याण'से संक्षेपमें—'श्रीजीवदया'से साभार]
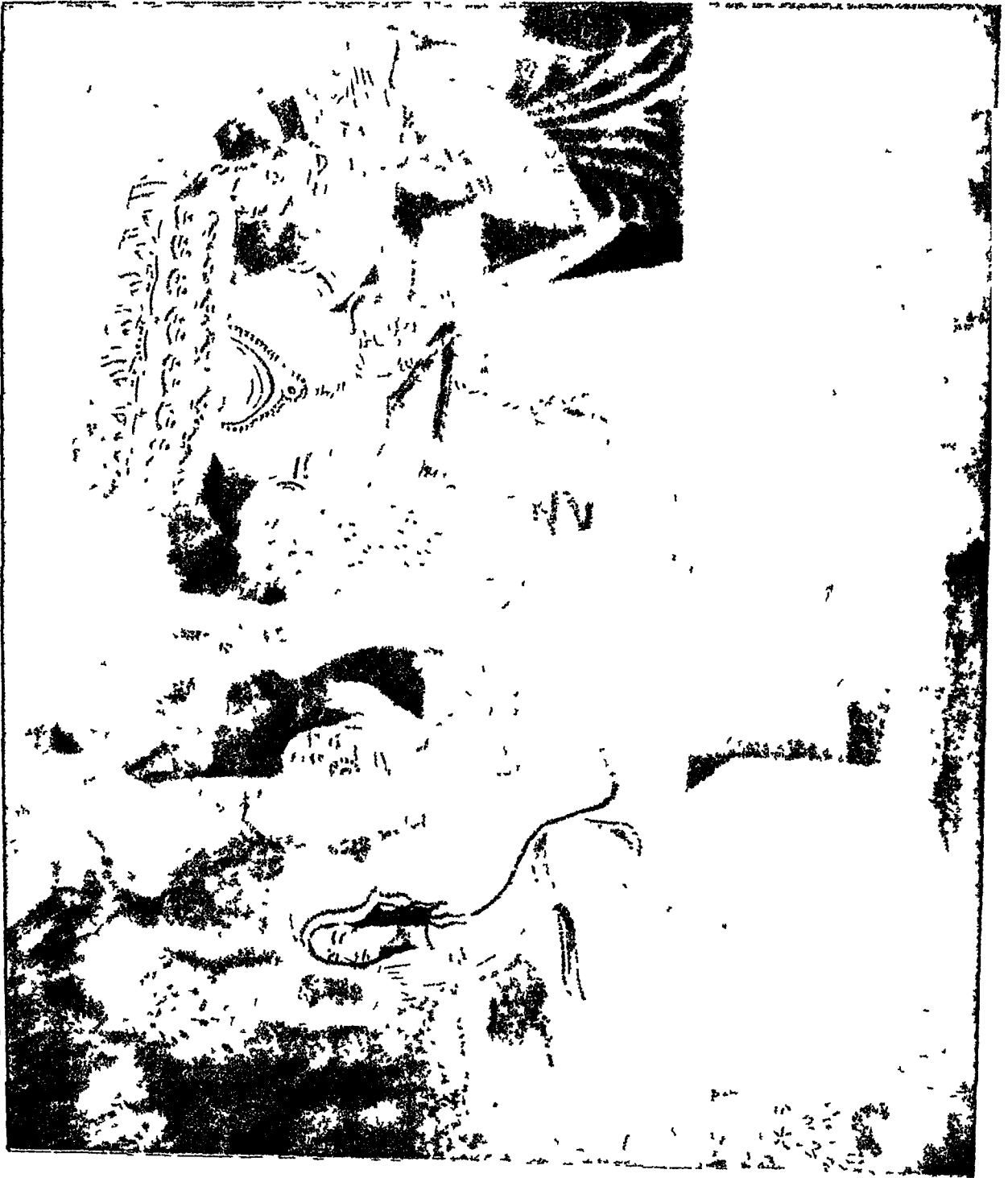
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम् ।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०१६, अगस्त १९५९ { संख्या ८
पूर्ण संख्या ३९३

अशोकवाटिकामें रावणका श्रीसीताजीपर कोप

सोरठा

सीता अति कृस गात, सुमिरत मन रघुबंसमनि ।
आयहु मन इतरात, दसमुख मंदोदरि सहित ॥
अधम निलज्ज अपार, कहे बचन निंदित अमित ।
सीता दै फटकार, बोली—'चुप रहु नीच ! खल' ॥
रावन कर अति क्रोध, कर अति कठिन कृपान लै ।
धायहु असुर अबोध, सीतहि मारन मंदमति ॥
मयतनया धरि हाथ, अति बिनीत कहि नीति सुचि ।
गई लेइ निज साथ, कोह-मोह-रत रावनहिं ॥

याद रक्खो—तुम संसारमें इसलिये मनुष्य बनकर नहीं आये हो कि दिन-रात शरीरके आराम तथा कल्पित नामके यशके लिये ही प्रयत्नशील रहो और मोहमें अंधे होकर ऐसे कुकर्मोंमें लगे रहो कि जिनके फल-स्वरूप असंख्य जन्म-जन्मान्तरोंतक फिर कभी मनुष्य बननेका अवसर ही न आवे।

याद रक्खो—तुम नित्य सच्चित्स्वरूप आनन्दमय आत्मा हो, सच्चिदानन्दघन भगवान्के सनातन अंश हो। अपने इस स्वरूपको भूलकर तुम अपनेको अमुक नामवाला शरीरधारी मनुष्य मान रहे हो और इस शरीरमें तथा शरीरसम्बन्धी प्राणी-पदार्थोंमें ही राग-द्वेष करके दिन-रात भय-विषादकी भट्ठीमें जल रहे हो। जीवनभर एक क्षणके लिये भी तुम्हें कभी यथार्थ आनन्द तथा सच्ची शान्तिके दर्शन नहीं होते। अपनी इस मिथ्या कल्पना तथा भ्रमजनित बुरी स्थितिपर विचार करो और गहराईसे सोचकर अनुभव करो कि तुम यह शरीर नहीं हो, तुम यह नाम नहीं हो।

याद रक्खो—जबतक तुम इस शरीर और नाम-को ही अपना स्वरूप मानते रहोगे, तबतक तुम्हें कभी सुख होगा ही नहीं; क्योंकि यह शरीर तथा इसके सम्बन्धी सभी प्राणी-पदार्थ अनित्य, परिवर्तनशील, क्षणभंगुर तथा अपूर्ण हैं। इनका वियोग और विनाश होगा ही। तुम्हारा जो अनन्त, नित्य, शाश्वत स्वरूप है, वह नित्य अविनाशी अपरिवर्तनीय और पूर्ण है। उसीमें अपनेको स्थित करो। फिर चाहे संसारमें, शरीरमें, नाममें, शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले प्राणी-पदार्थ तथा परिस्थितिमें कुछ भी परिवर्तन हो जाय, तुम सदा आत्मानन्द या भगवदानन्दमें ही स्थित रहोगे। तुमपर किसीका कोई भी असर नहीं होगा।

याद रक्खो—यहाँ न कुछ भी तुम्हारा है, न पराया है। अपना-पराया मानकर ही तुम राग-द्वेषके वश हो जाते हो। जबतक प्रारब्धवश शरीर है, तबतक व्यवहारके लिये सब चीजें तुम्हें यथायोग्य प्राप्त हैं। ये केवल व्यवहारके लिये ही हैं। तुम्हारे स्वरूपसे इनका कुछ भी, कहीं भी यथार्थमें कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्हें व्यवहारोपयोगी मानकर ही यथायोग्य व्यवहार करो। जिसका त्याग उचित है, उसका त्याग करो एवं जिसका ग्रहण उचित है, उसका ग्रहण करो। परंतु द्वेष या राग किसीमें मत करो। या यों समझो कि यह सब लीलामय भगवान्की नित्य लीला है। लीलामें परिवर्तनका और विभिन्न रसोंका, रंगोंका होना आवश्यक है। अतएव यहाँ जो कुछ भी हो रहा है, सभी भगवान्की लीलाका ही दृश्य सामने आ रहा है। उनकी लीला-भंगिमाको, नाट्य-निपुणताको देख-देखकर सदा उल्लसित होते रहो। नित्य नवीन नाट्य, नित्य नवीन अभिनय! कभी काली घटा, कभी प्रखर प्रकाश; कभी मृत्यु, कभी जन्म; कभी हानि, कभी लाभ; कभी अयश-अकीर्ति, कभी यश-कीर्ति; कभी अपमान, कभी सम्मान; कभी अप्रिय प्रसंग, कभी प्रिय प्रसंग—ये सभी लीलाके ही विविध अङ्ग हैं। वस्तुतः एक लीलामय भगवान्के अतिरिक्त और कुछ भी है ही नहीं।

याद रक्खो—जो मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें लीलामय भगवान्को, भगवान्की लीलाको अथवा नित्य एकरस सच्चिदानन्दघन परमात्माको ही देखता है, वही यथार्थ देखता है। सर्वत्र समभावसे व्याप्त भगवान् या आत्माको देखनेवाले उस पुरुषकी स्थिति नित्य चिदानन्दमय-स्वरूप ही रहती है। वह जन्म-मरणके चक्रसे मुक्त हो जाता है। यही मानव-जीवनका परम ध्येय है।

याद रक्खो—इस परम ध्येयकी प्राप्तिके लिये ही तुम मनुष्य बनकर संसारमें आये हो। अतः संसारमें यथायोग्य व्यवहार करते हुए सदा सावधानीके साथ इस ध्येयकी प्राप्तिके प्रयत्नमें लगे रहना ही तुम्हारा परम कर्तव्य है। इससे कभी किसी अवस्थामें भी विचलित न होओ। अपने ध्येयको निश्चितरूपसे प्राप्त कर लो।

'शिव'
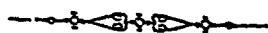
विनिपात या अवतरण

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

शिरः शार्वं स्वर्गात् पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथ वा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥

श्रीभर्तृहरि महाराज एक समय भारतवर्षके सम्राट् थे और वैराग्य प्राप्त करके नव नाथ-सिद्धोंमें एक नाथ हो गये। उनका ही यह श्लोक है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य एक बार भी विवेकसे भ्रष्ट हो जाता है, अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन कर जाता है, उसके पतनके सैकड़ों मार्ग खुल जाते हैं। सब मनुष्योंको अपनी मर्यादामें रहना चाहिये। मर्यादाका उल्लङ्घन करनेसे विनाश अवश्यम्भावी है। यह तो हम जगत्के नित्यके व्यवहारमें भी देखते हैं। राजाके लिये उसकी मर्यादा होती है, उसी प्रकार प्रजाके लिये भी होती है। गुरुको अपनी मर्यादामें रहना पड़ता है, तब शिष्य अपनी मर्यादाका पालन करता है। सर्प अपनी मर्यादाके अनुसार मुँहसे काटते हैं और बिच्छू अपनी मर्यादामें रहकर पूँछसे डंक मारता है; क्योंकि प्रकृतिने उसकी पूँछमें विष दे रक्खा है और सर्पके मुँहमें। सूर्य अपनी मर्यादामें रहकर ही उष्णता प्रदान करता है और चन्द्र अपनी मर्यादामें ही घटते-बढ़ते रहकर शीतलता और अमृत प्रदान करता है। इस प्रकार मर्यादा सृष्टिका एक अकाट्य सिद्धान्त है, इसलिये इसका पालन अनिवार्य है। इसलिये मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवालेका शतमुख पतन होना स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार महाराज भर्तृहरिने जो सिद्धान्त उपस्थित किया है, वह सौ टंचके सोनेके समान है। यह बात एक दृष्टान्तके द्वारा समझिये। एक छोटा-सा गाँव था, उसमें एक विधवा और उसका एक पाँच-सात वर्षका बालक रहते थे। घरकी स्थिति बहुत ही दीन थी, इसलिये वह विधवा बेचारी दूसरोंके घर काम-काज करके अपना निर्वाह करती थी।

बालक कुछ बड़ा हुआ, तब उसको विद्यालयमें भेजा गया। पाँच-सात दिनके बाद वह लड़का एक पेन ले आया और उसे माताको दिया। माताने वह पेन कहाँसे लाया—इतना भी नहीं पूछा और उस पेनको रख लिया एवं कहा कि 'यह तेरे काम आयेगी।' थोड़े दिन बाद वह एक पेन्सिल ले आया। माताने उसे भी रख लिया। उसके बाद उसे किताब, कागज, दावात—जो कुछ भी मिलता ले आता और माता सब संग्रह कर लेती। पीछे तो वह रुपये-पैसे और खाने-पीनेका सामान भी चोरी करके लाने लगा और माताकी गरीबी दूर हो गयी।

कुछ दिन बीतते-बीतते वह लड़का इतना पक्का चोर हो गया कि बड़ी-बड़ी चोरियाँ करता, पर पकड़में न आता। एक दिन राजाके खजानेमें चोरी करते समय वह पकड़ा गया; और जब यह साबित हो गया कि जो चोर बहुत दिनोंसे पकड़ाता नहीं था, वही चोर आज पकड़ा गया है, तब राजाने उसे फाँसीकी सजा दे दी।

फाँसीकी सजामें ऐसा नियम होता है कि जब अपराधीकी फाँसीका दिन आता है, तब उससे पूछा जाता है कि उसकी क्या इच्छा है। और यदि वह अपनी इच्छा बतलाता है तो उसकी पूर्ति की जाती है। नियमानुसार उस चोरसे भी पूछा गया तो वह बोला—'मुझको अपनी माँसे मिलना है।' उसकी माँ बुलायी गयी। वह लड़का उसके पास गया और बिना कुछ बोले-चाले उसकी नाकको दाँतोंसे काट लिया और बोला—'माँ! जिस दिन मैं पेन चुराकर लाया, उसी दिन यदि तूने मुझको तमाचा मारा होता, और किसी भी वस्तुको न लानेकी शिक्षा दी होती तो आज मुझे फाँसीके तख्तेपर चढ़ना न पड़ता। सच बात तो यह है कि फाँसीकी सजा तुझको ही होनी चाहिये, क्योंकि अपराध तेरा है। अब तो चोरी मैंने की है, इसलिये फाँसीके तख्तेपर मुझे लटकना है।' इतना कहकर अपने आप फाँसीकी रस्सी अपने गलेमें पहनकर लटक गया और शान्तिसे प्राण त्याग कर दिये।

इस प्रकार विवेक-भ्रष्ट होनेसे विनाश होनेकी कहानियाँ तो व्यवहारमें प्रतिदिन आती हैं, तथा विवेककी मर्यादामें रहनेसे जीवन सफल होनेके दृष्टान्त भी सामने आते हैं। सूक्ष्म-

दृष्टिसे देखनेपर यह बात ठीक समझमें आ जाती है। एक समय मेरे गृहस्थाश्रमके मित्र एक व्यापारी भाई मेरे पास अचानक आ पहुँचे। बालकके ऊपर घरके वातावरणकी कैसी छाप पड़ती है, ऐसा कोई प्रसङ्ग चल रहा था। उस समय उन्होंने एक आपबीती बात सुनायी; जिसका सारांश इस प्रकार है। "मैं सात-आठ वर्षकी उम्रका था। उस समय अपने मित्र-बन्धुओंके साथ मैं गुल्ली-डंडा खेलता था। एक दिन किसीके घरके पास एक बढ़िया डंडा पड़ा हुआ दीख पड़ा। मैंने सहज स्वभाववश उसे ले लिया। मेरे हाथमें दो डंडे देखकर मेरी माँने मुझसे पूछा—'यह दूसरा डंडा कहाँसे लाया?' मैंने कहा—'अमुक लड़केके घरके पास रास्तेपर पड़ा था, उसको मैंने ले लिया और घर ले आया हूँ।' माँने मेरे हाथसे डंडा छीनकर दो डंडे मेरे जमा दिये और धमकाती हुई वह बोली—'जा, जहाँसे लाया है, वहीं अभी रख आ। आगेसे यदि किसीकी वस्तुपर हाथ रखा तो जीता नहीं छोड़ूँगी।' बस, स्वामीजी! उस दिनका बोध—वह एक दिनकी शिक्षा ऐसा अद्भुत काम कर गयी कि आज व्यापारी जीवनमें भी मेरी नैतिकता ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। और चाहे कैसा भी प्रलोभन हो उसे मैं ठोकर मार सकता हूँ। धन्य है वह माँ! ऐसी हजारों लाखों सुमाताएँ धन्य हैं।"

इधर इतना तो कहना ही पड़ेगा कि भर्तृहरिने जो सिद्धान्त उपस्थित किया है, वह ठीक जनसमाजका अनुभव करके ही किया है और इसके दिन-प्रति-दिनके दृष्टान्त भी राजाके जाननेमें आये ही होंगे। अब सिद्धान्तकी दृढ़ताके लिये दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि गङ्गाजी पहले तो स्वर्गमें थीं, वहाँसे वे शंकरके सिरपर पड़ीं। शिवजीके सिरसे पर्वतके ऊपर गिरीं और वहाँसे पृथ्वीके ऊपर आयीं। इस प्रकार नीचे उतरते-उतरते, कुछ पहाड़ियोंपर चढ़कर कुछ दरारोंको भरती हुई, जंगलोंको पार करती समुद्रमें पहुँच गयीं।

दृष्टान्त सदा सिद्धान्तके अनुरूप होना चाहिये और सिद्धान्तकी पुष्टि करनेवाला होना चाहिये तथा यथार्थ भी होना चाहिये। प्रस्तुत दृष्टान्त ठीक है या नहीं, इसे देखना है। इसके लिये पहले गङ्गाजीका माहात्म्य देखिये और पश्चात् यह देखिये कि गङ्गाजीका धरा-धामपर आना कैसे हुआ।

गङ्गाजीका माहात्म्य और उनके अवतरणके प्रसङ्ग तो सभी पुराणोंमें होंगे। किसी पुराणमें एक प्रसङ्ग विस्तारपूर्वक दिया होता है तो किसीमें कम। परंतु मूल कथा तो सबमें एक-सी होती है। नारदपुराणमें गङ्गाजीका माहात्म्य इस प्रकार वर्णित है—

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शते स्थितः।
सोऽपि मुच्येत पापेभ्यः किमु गङ्गाभिषेकवान्॥
विष्णुपादोद्भवा देवी विश्वेश्वरशिरे स्थिता।
संसेव्या मुनिभिर्देवैः किं पुनः पामरैर्जनैः॥
अहो माया जगत्सर्वं मोहयत्येतदद्भुतम्।
यतो वै नरके यान्ति गङ्गानाम्नि स्थितेऽपि हि॥
सकृदप्युच्चरेद्यस्तु गङ्गेत्येवाक्षरद्वयम्।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति॥

अर्थात् सैकड़ों योजनकी दूरीसे जो 'गङ्गा-गङ्गा' कहकर पुकारता है, वह भी पापोंसे मुक्त हो जाता है; तब फिर भला, स्नान करनेवाला क्यों न मुक्त होगा? गङ्गाजी विष्णुभगवान्‌के चरणोंसे उत्पन्न हुई हैं तथा शंकरजीके सिरपर स्थित हैं; मुनिगण तथा देवगण उनकी सेवा करते हैं, फिर पामर मनुष्योंकी तो बात ही क्या? अहो! कैसे आश्चर्यकी बात है कि माया सारे जगत्‌को मोह रही है, जो गङ्गानामके रहते हुए लोग नरकमें जा रहे हैं अर्थात् गङ्गानाम लेकर भी मुक्त नहीं हो रहे हैं। जो मनुष्य एक बार भी 'गङ्गा' इन दो अक्षरोंका उच्चारण करता है, वह सब पापोंसे छूटकर विष्णुलोकको प्राप्त होता है।

अब जिसके स्मरणमात्रसे मनुष्यके पाप जल जाते हैं और उसको अमूल्य मुक्ति मिलती है, उसके विषयमें कहें कि 'उसका विवेकसे भ्रष्ट होनेपर शतमुख विनिपात हुआ' तो कहाँतक उचित होगा, इसका विचार पाठकोंको स्वयमेव करना चाहिये।

गङ्गाजीके अवतरणकी कथा इस प्रकार है। सगर राजाके साठ हजार पुत्र थे। उन्होंने एक बार अश्वमेध यज्ञ किया। नियमानुसार यज्ञका घोड़ा छोड़ दिया गया। उसको इन्द्र पकड़कर ले गया और समुद्रके तटपर कपिल मुनिके आश्रमके पास ले जाकर बाँध दिया। घोड़ेको न देखकर सगरके पुत्र सारी पृथ्वीको खोदते हुए चारों ओर घूम आये। अन्तमें एक ऋषिके आश्रमके पास घोड़ेको बँधा हुआ देखा। राजकुमार रोषमें भरकर ऋषिको

गाली देने लगे और मनमानी तिरस्कारकी बातें बकने लगे। ऋषि तो समाधिमें थे, इसलिये इस कोलाहलका उनके ऊपर कोई असर न हुआ। इससे राजकुमारोंको और भी क्रोध आया और वे ऋषिके ऊपर प्रहार करने लगे। ऋषिकी समाधि भङ्ग हो गयी। उनकी आँखोंके खुलते ही उसमेंसे प्रचण्ड अग्नि निकली और देखते-देखते सगर राजाके साठो हजार पुत्र जलकर भस्म हो गये।

इधर घोड़े और कुमारोंका जब कोई समाचार नहीं आया, तब राजा सगरने अपने पौत्र अंशुमान्‌को घोड़ेका पता लगानेके लिये भेजा। अंशुमान् उन राजकुमारोंके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करते हुए चला। चलते-चलते उसने एक ऋषिके आश्रमके पास घोड़ा बँधा हुआ देखा। अंशुमान् विनयपूर्वक ऋषिके पास गया, उनकी प्रदक्षिणा की और दण्डवत्-प्रणाम करके खड़ा हो गया। ऋषिने उसपर प्रसन्न होकर सारी कहानी कह सुनायी और कहा कि 'यह घोड़ा तू ले जा और अपने दादाको दे, जिससे उनका यज्ञ पूरा हो।'

यह सुनकर अंशुमान्‌ने कहा—'हे प्रभो! मेरे पितृव्य लोगोंको आपके कोपसे अधोगति प्राप्त हुई है; उनके उद्धारका कोई मार्ग बतलाइये, जिससे मैं उनका उद्धार करके भाग्यशाली बन सकूँ।' ऋषिने उत्तर दिया—'अंशुमान्! वह काम बहुत कठिन है, मनुष्यसे नहीं हो सकता। तू इसका आग्रह न कर।' अंशुमान्‌ने कहा—'प्रभो! आपकी कृपासे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। आप मार्ग बतलाइये।' उसका अडिग निश्चय देखकर कपिल मुनि बोले—'यदि स्वर्गसे गङ्गाजीको पृथ्वीपर उतार सको और उनके जलका स्पर्श इनके देह-भस्मसे हो जाय तो इनका उद्धार हो सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।' अंशुमान्‌ने दोनों हाथ जोड़कर दण्डवत्-प्रणाम किया और घोड़ेको लेकर घरकी ओर चला। घोड़ा आनेसे राजा सगर प्रसन्न हुए और उनका यज्ञ पूरा हुआ।

अंशुमान् अपने पुत्र दिलीपको तपश्चर्या चालू रखनेकी अनुमति देकर तप करने निकल पड़े। तप करते-करते उनका शरीरपात हो गया। उनके पीछे उनका पुत्र दिलीप भी उनके कथनानुसार व्यवस्था करके तप करने चला गया। तप करते-करते उसका शरीर भी छूट गया। और उसके बाद उसके पुत्र भगीरथने तप करना शुरू किया।

तीन-तीन पीढ़ीके तपके बाद गङ्गाजी प्रसन्न हुईं और भगीरथको वरदान माँगनेके लिये कहा! भगीरथने गङ्गाजीसे पृथ्वीके ऊपर पधारकर अपने पितरोंका उद्धार करनेकी प्रार्थना की। गङ्गाजीने कहा—'अच्छा, मैं पृथ्वीके ऊपर तो आऊँगी, पर मेरे वेगको सहन करनेवाला कोई चाहिये; क्योंकि मैं सीधी पृथ्वीके ऊपर पड़ूँगी तो पृथ्वी फट जायगी, जिससे मेरा प्रवाह पातालमें चला जायगा और तुम्हारा कार्य सिद्ध नहीं होगा अतएव मुझको रोकनेके लिये शंकरजीसे प्रार्थना करो।' भगीरथ शंकरजीकी शरणमें गये और तप करके उनको प्रसन्न किया। शंकरजीने जब उन्हें वर माँगनेके लिये कहा, तब भगीरथने गङ्गाजीको अपनी जटामें रोक लेनेके लिये उनसे विनती की। शंकरजीने 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति दे दी।

इस प्रकार गङ्गाजी स्वर्गसे शंकरकी जटामें आयीं और उनका प्रवाह निकलकर शिवजीकी एक लटमेंसे भगीरथके साथ-साथ उनके पितरोंकी जहाँ राख पड़ी थी, वहाँ गया। उस राखके ऊपर गङ्गाजलके गिरनेसे सगरपुत्रोंका उद्धार हो गया और गङ्गाजी समुद्रमें मिल गयीं। यह है गङ्गाजीके अवतरणकी कथा।

गङ्गाजीका स्वर्गसे पृथ्वीपर आगमन हुआ है तीन-तीन पीढ़ीकी तपस्याके बाद, और वह भी लोक-कल्याण करनेके लिये। इसलिये उनका विवेकभ्रष्ट होनेसे विनिपात हुआ—यह कहा जा सकता है या नहीं, यह प्रश्न ही नहीं रहता।

महाकवि कालिदासने भी एक श्लोकमें यही सिद्धान्त उपस्थित किया है। उसे अब देख लें, जिससे पाठकको दोनों दृष्टान्तोंमें तुलना करनेकी सुविधा हो। उनके श्लोकमें शब्द भिन्न हैं, पर भाव तो एक ही है। वे कहते हैं—'नास्ति भ्रष्टे विचारः।' मर्यादाकी एक भी सीढ़ी उल्लङ्घन करनेसे मनुष्यकी विवेक-बुद्धि नष्ट हो जाती है और वह विनाशकी अन्तिम सीढ़ीपर जा गिरता है। यह है वह श्लोक—

भिक्षो कन्था श्लथा ते नहि शफरिवधे जालमश्नासि मत्स्यान्
ते मे मद्योपदंशाः पिबसि च मदिरां वेश्यया यासि वेश्याम्।
दत्त्वाङ्घ्रिं मूर्ध्न्यरीणां तव किमु रिपवो भित्तिभेत्तास्मि येषां
चौरोऽसि द्यूतहेतोस्त्वयि सकलमिदं नास्ति भ्रष्टे विचारः॥

प्रसङ्ग यह है कि कालिदास एक साधुके वेशमें भोज

राजाके पास माँगनेके लिये गये। उस समय निम्नलिखित संवाद उनके बीच प्रारम्भ हुआ—

राजा—हे यति ! तुम्हारी यह गुदड़ी फटी जान पड़ती है।

यति—नहीं, यह गुदड़ी नहीं है, मछली पकड़नेका जाल है।

राजा—तो क्या तुम साधु होकर मछली खाते हो ?

यति—मैं शराब भी पीता हूँ, इसलिये उसके साथ मछली बिना नहीं चलता।

राजा—परंतु साधुको तो शराब नहीं पीना चाहिये।

यति—मैं तो शराब पीता हूँ और वह भी वेश्याके साथ।

राजा—तो क्या तुम वेश्याके पास भी जाते हो ?

यति—मुझे किसका भय है ? मैं शत्रुओंके सिरपर पैर रखकर धड़ल्लेसे निकल जाता हूँ।

राजा—तो क्या आपको मेरी तरह शत्रु भी हैं ?

यति—शत्रु होनेका कारण यह है कि मैं जुआ खेलता हूँ और उसमें पैसा चाहिये, इसलिये चोरी भी करता हूँ।

राजा—हे यति ! तुम्हारे अंदर तो सारे दुर्गुण एक साथ आकर बैठे हुए दीखते हैं।

यति—'नास्ति भ्रष्टे विचारः।' एक बार मर्यादा छोड़ दी तो फिर वह एकदम नीचेके तलपर पहुँच जाता है, ऐसा प्रकृतिका नियम है; इसलिये मेरी भी यही दशा हुई है।

सिद्धान्त दोनों श्लोकोंमें एक ही है। दृष्टान्त दोनोंमें पृथक्-पृथक् हैं। इन दोनोंको पाठकोंके सामने उपस्थित किया है। योग्यायोग्यका निर्णय स्वयं कर लें।

ॐ शान्तिः।

मानवके चार प्रकार

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

समय सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है। कहना चाहिये, सम्पत्तिसार है। इसे लेकर मानव चार प्रकारका है।

जो औरोंको गिरते-उठते, डूबते-उतराते देखकर ही 'क्या करना, क्या न करना' के मर्मसे अवगत होकर, इस उड़ती चिड़ियाके पर पहचानकर, एक क्षण भी व्यर्थ न खोकर लक्ष्य-सिद्धिकी अपनी राहपर लग जाता है, लगा रहता है सतत एकनिष्ठासे, वह मानव मानवोंकी परम्परामें 'महामानव' है; प्रकाश-स्तम्भ बनकर युग-युगतक पथ आलोकित करता रहता है भूले-भटके मानवोंका।

जो स्वयं तो न सही, पर अन्य अनुभवियोंके कहते-बताते रहनेपर सदैव निष्ठापूर्वक जीवन-लक्ष्यकी राहपर लगा रहता है, गिरते-उठते आगे ही बढ़ता जाता है, वह और कुछ नहीं तो कम-से-कम 'मानव' अवश्य है।

और जो किसीके कहने-बतानेपर भी कान नहीं देता, उल्टे कहने-बतानेवालोंकी खिल्ली उड़ाते हुए स्वयं ही मनमाने ढंगसे गलत-सलत चल-चलकर ठोकरें खाता है और उन ठोकरोंके बलपर ही कुछ सीखता है—राहपर लगता है, पर्याप्त समयका इस प्रकार अपव्यय करके, वह मानव होते हुए भी पशु है, पशु मानव-चोलेमें।

परंतु जो ठोकरें खा-खाकर भी नहीं सीखता—ठीक राहपर नहीं लगता, ठोकरोंमें ही मस्त है—भले ही जन-जनकी दृष्टिमें घृणा अथवा दयाका पात्र बना, उसे—उस समयके रूपमें स्वयंकी ही बेदर्दीसे हत्या करनेवाले आत्म-हत्यारेको क्या कहा जाय। पशुसे भी गया-बीता है वह तो। आत्महत्या तो पशु भी नहीं करते।

तो ये हैं चार प्रकार मानवके। अब देख लीजिये अच्छी तरह निरीक्षण-परीक्षण करके कि आप कहाँ हैं। विचार लीजिये यह भी कि होना कहाँ चाहते हैं और होना कहाँ चाहिये। चाह और चाहियेका समन्वय करके, उन्हें बिल्कुल एक जानकर फिर पकड़ लीजिये राह—सही ही राह—अविलम्ब, इसी क्षण; क्योंकि समय सदा चालू है, अल्प है और लौटकर नहीं आता।

इन्द्रियों और मनका विषयोंसे सम्बन्धविच्छेद, संयम और वैराग्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

परमात्माकी प्राप्तिमें ये तीन बातें बहुत ही सहायक हैं—

१. इन्द्रियों और मनको अपने-अपने विषयोंसे रोकना अर्थात् उनका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करना।

२. इन्द्रियों और मनको अपने वशमें कर लेना।

३. मन-इन्द्रियोंके विषयरूप इस संसारसे तीव्र वैराग्य करना।

इनमें इन्द्रियों और मनका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी अपेक्षा उनको अपने वशमें करना विशेष लाभदायक है; क्योंकि मनको वशमें किये बिना परमात्माकी प्राप्तिरूप योगकी सिद्धि सम्भव नहीं।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें बतलाया है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥
(६ । ३६)

'जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है।'

इन्द्रियोंका नियन्त्रण मनके नियन्त्रणके अन्तर्गत ही है; क्योंकि भगवान्ने पहले इन्द्रियोंको वशमें करनेके पश्चात् मनको वशमें करनेकी बात गीता अध्याय ३ श्लोक ४१, ४३ में कही है।

मन-इन्द्रियोंको वशमें करनेकी अपेक्षा संसारसे वैराग्य करना और भी उत्तम है; क्योंकि वैराग्यसे ही मन वशमें होता है (गीता ६ । ३५)। जब वैराग्यसे मन ही वशमें हो जाता है, तब उससे इन्द्रियाँ वशमें होनेकी तो बात ही क्या है? तथा वैराग्यसे ही मन और इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद भी हो जाता है।

वैराग्यके बिना कर्मयोग, भक्तियोग, अष्टाङ्गयोग, ज्ञानयोग—किसी भी साधनकी सिद्धि नहीं होती। वैराग्य होनेसे ही ये सब साधन सिद्ध होते हैं; क्योंकि साधनमें वैराग्य ही प्रधान है।

भगवान्ने गीतामें वैराग्य—आसक्तिके अभावसे हीं कर्मयोगकी सिद्धि बतलायी है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥
(६ । ४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें समस्त संकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ कहा जाता है।'

इसी प्रकार भक्तियोगके साधनमें भी भगवान्ने आसक्तिके अभावरूप वैराग्यकी आवश्यकता दिखलायी है—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥
(गीता १५ । ३ का उत्तरार्ध)

'इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर (परमपदरूप परमेश्वरके शरण हो उनको खोजना चाहिये)।'

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः। (गीता १५ । ५ का प्रथम चरण)

'जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है (वे ज्ञानीजन अव्ययपदको प्राप्त करते हैं)।'

मद्भक्तः सङ्गवर्जितः। (गीता ११ । ५५ का दूसरा चरण)

'जो मेरा भक्त और आसक्तिसे रहित है (वह मुझको प्राप्त होता है)।'

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
(गीता १४ । २६ का पूर्वार्ध)

'जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है (वह ब्रह्मको प्राप्त करनेमें समर्थ है)।'

क्योंकि भक्तियोगके साधकको भगवान्‌में अनन्य प्रेम हुए बिना भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि किसी भी पदार्थमें ममता और प्रीति है तो वह अनन्य भक्ति नहीं, वह तो भक्तिमें कलङ्क है।

इसी प्रकार अष्टाङ्गयोगकी सिद्धि भी वैराग्यसे ही होती है। चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको योग कहते हैं—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (योगदर्शन १ । २)

उन चित्तवृत्तियोंके निरोधका उपाय महर्षि पतञ्जलिजीने यों बतलाया है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (योगदर्शन १ । १२)

'उन चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे होता है।' अतः चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगमें भी वैराग्य प्रधान है। तथा आगे जाकर श्रीपतञ्जलिजी कहते हैं—

तीव्रसंवेगानामासन्नः। (योगदर्शन १ । २१)

'जिनके अभ्यास-वैराग्यरूप साधनकी गति तीव्र है, उनकी (निर्बीज समाधि) शीघ्र सिद्ध होती है।'

तीव्र वैराग्यसे ही तीव्र संवेग होता है और तीव्र वैराग्यको ही 'पर-वैराग्य' बतलाया गया है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।
(योगदर्शन १ । १६)

'पुरुषके ज्ञानसे जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है, वह 'पर-वैराग्य' है।'

इससे ज्ञानकी प्राप्ति शीघ्र होती है।

ऐसे ही ज्ञानयोग-निष्ठाकी सिद्धिमें भी वैराग्यकी प्रधानता है। गीतामें ज्ञानयोगकी परा-निष्ठाका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने प्रधानतासे नित्य ध्यानयोगके परायण रहने और वैराग्यका आश्रय लेनेका ही आदेश दिया है—

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।
(गीता १८ । ५२ का उत्तरार्ध)

'निरन्तर ध्यानयोगके परायण और भलीभाँति दृढ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला पुरुष (ब्रह्मकी प्राप्तिमें समर्थ है)।'

तथा गीता अध्याय १३ श्लोक ७ से ११ तक जो ज्ञानके बीस साधन बतलाये गये हैं, उनमें भी वैराग्यका बार-बार वर्णन किया गया है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
(गीता १३ । ८, ९का पूर्वार्ध)

'इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव तथा ममताका न होना—(ये सब ज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं)।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि मन-इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद, मन-इन्द्रियोंका संयम और संसारसे तीव्र वैराग्य—इन तीनोंमें वैराग्य ही प्रधान है।

देखनेमें भी आता है कि जब-जब चित्तमें वैराग्य होता है, तब-तब स्वतः ही साधन तेज होने लगता है और मन-इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही संसारके पदार्थोंसे उपरत होकर परमात्मामें अनायास लग जाती हैं। तथा वैराग्यके बिना तो प्रयत्न करनेपर भी मन परमात्मामें कठिनतासे ही लग पाता है और लगकर भी स्थिर नहीं रहता। अतः वैराग्यके बिना परमात्माकी प्राप्तिके किसी भी साधनकी सिद्धि होनी कठिन है।

एवं मन-इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर भी वैराग्यके बिना स्थितप्रज्ञ-अवस्था प्राप्त नहीं होती। भगवान्‌ने कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥
(गीता २ । ५९)

'इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।'

मन-इन्द्रियाँ वशमें होनेपर भी यदि संसारसे वैराग्य नहीं है तो उसका कल्याण होना कठिन है। योगदर्शन-के विभूतिपादमें बतलाया गया है—

त्रयमेकत्र संयमः। (योगदर्शन ३ । ४)

'किसी एक ध्येय विषयमें धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंका होना 'संयम' है।'

किंतु मन-इन्द्रियाँ वशमें हुए बिना इन तीनोंकी सिद्धि ही नहीं हो सकती। तथा इस 'संयम' के द्वारा ही हर प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये सभी सिद्धियाँ आत्मकल्याणमें विघ्न हैं। अतः इनसे वैराग्य होनेपर ही मनुष्यका संसार-सागरसे उद्धार हो सकता है—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।
(योगदर्शन ३ । ५०)

'उपर्युक्त सिद्धियोंमें भी वैराग्य होनेसे दोषके बीजका नाश हो जानेपर कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है।'

इससे यही सिद्ध हुआ कि मन-इन्द्रियोंके संयमकी *अपेक्षा वैराग्य ही श्रेष्ठ है।*

वैराग्य—रागके अभावसे द्वेषका अभाव तो स्वतः ही हो जाता है; क्योंकि जहाँ राग नहीं है, वहाँ द्वेष सम्भव नहीं। अनुकूलमें रागबुद्धि होनेसे ही तो प्रतिकूलमें द्वेषबुद्धि होती है। महर्षि पतञ्जलिजीने पञ्चक्लेशोंमें रागके बाद ही द्वेषका उल्लेख किया है—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।
(योगदर्शन २ । ३)

'अविद्या (अज्ञान), अस्मिता (चेतन और जडकी एकता), राग, द्वेष और अभिनिवेश (मरनेका भय)—ये पाँचों (दुःखप्रद होनेके कारण) 'क्लेश' हैं।'

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्………… ।
(योगदर्शन २ । ४)

'ऊपर जिनका वर्णन अविद्याके बाद किया गया है, उन अस्मिता आदि चारों क्लेशोंका कारण अविद्या है।'

अतः अविद्याके नाशसे अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन चारोंका नाश हो जाता है, इस न्यायसे रागके नाशसे द्वेष और अभिनिवेशका स्वतः ही नाश हो जाता है।

इसलिये गीतामें केवल आसक्तिके नाशसे ही परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
(गीता ३ । १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्ति-से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

कर्मयोगके साधनमें मन-इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध रहते हुए भी राग-द्वेषका अभाव और मन-इन्द्रियाँ वशमें होनेपर साधकका कल्याण हो सकता है। भगवान्‌ने बतलाया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(गीता २ । ६४-६५)

'परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियों-द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी

प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

इसी प्रकार भक्तियोगके साधनमें भी भगवान्‌के शरण हो जानेपर मन-इन्द्रियोंके द्वारा कर्म करते हुए भी भगवत्कृपासे कल्याण हो सकता है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(गीता १८।५६)

'मेरे परायण हुआ पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त हो जाता है।'

इसी प्रकार ज्ञानयोगके साधनमें भी मन-इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ भी साधक परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

भगवान्‌ने कहा है—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥
(गीता ५।८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निस्संदेह यह माने कि मैं कुछ भी नहीं करता।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
(गीता १४।१९)

'जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

फिर भी साधकको उचित है कि मन-इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संसर्ग न करे; क्योंकि इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर वे इन्द्रियाँ मनुष्यके मनको बलात् हरण कर लेती हैं। फिर मन और इन्द्रियाँ—ये दोनों मिलकर इसकी बुद्धिको हरण कर लेते हैं, जिससे इसका पतन हो जाता है।

भगवान्‌ने कहा है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
(गीता २।६०)

'अर्जुन! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं।'

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥
(गीता २।६७)

'क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरण करती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त (साधनरहित) पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है।'

इसलिये साधकको इन्द्रियों और विषयोंके संसर्गसे सदा दूर ही रहना चाहिये; क्योंकि इन्द्रियाँ विद्वान् पुरुषके भी चित्तको मोहित करके विषयोंकी ओर आकर्षित कर लेती हैं। श्रीमनुजीने बतलाया है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥
(मनु० २।२५१)

'मनुष्यको चाहिये कि माता, बहिन या लड़कीके साथ भी एकान्तमें न बैठे; क्योंकि बलवान् इन्द्रियोंका

समूह विद्वान्‌को भी (विषयभोगकी ओर) खींच लेता है ।'

देखनेमें भी आता है कि कोई सुन्दरी युवती स्त्री सामने आनेपर मनुष्य उसे देखने लगता है तो मन उसे धोखा देता है कि देखनेमात्रमें कोई थोड़े ही पाप है; परंतु देखते-देखते मन उसमें रस लेने लगता है और फिर उसमें पापबुद्धि होकर उसका पतन हो जाता है। इसी तरह जिह्वा-इन्द्रियके विषय—मेवा, मिष्टान्न, फल आदि मधुर और रुचिकर पदार्थोंके प्राप्त होनेपर मन धोखा देता है कि इनको खानेमें कोई हानि नहीं है, किंतु उनका उपभोग करनेपर उनमें स्वाद और सुखबुद्धि होकर वह उसमें फँस जाता है । इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके विषयोंमें भी समझ लेना चाहिये तथा साधकको विषयोंके संसर्गसे सदा सावधान रहना चाहिये । भगवान् गीतामें कहते हैं—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(गीता २ । ६८)

'इसलिये महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है ।'

केवल मनसे विषयोंका चिन्तन भी साधकके लिये सारे अनर्थोंका मूल है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(गीता २ । ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें बाधा पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोधसे अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढभावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है ।'

अतएव साधकको मन और इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध जितना कम-से-कम हो, वैसी चेष्टा करनी चाहिये । यदि संसर्ग करना हो तो मन-इन्द्रियोंको वशमें करके और ममता तथा राग-द्वेषसे रहित होकर या भगवान्‌के शरण होकर अथवा भगवान्‌के तत्त्वको समझकर संसर्ग करना चाहिये । यही कल्याणका मार्ग है ।

बड़ा कैसे हुआ जाय ?

सभी बड़ा बनना चाहते हैं, किंतु बड़ा बना कैसे जाय और बड़ापन है क्या वस्तु ? क्या उम्रका बड़ा होना ही बड़ापन है ? यदि किसी बूढ़ेसे किसीका हृदय संतुष्ट नहीं हो सकता तो वह बड़ा होना किस कामका ? यदि धनसे किसीको बड़ा माना जाय तो वह धन किस कामका, जिससे किसीकी भी भलाई न हो; वह विद्या भी कैसे बड़ी, जिससे किसीका उपकार न हो सके ? बड़ोंका मन बड़ा होता है—हृदय बड़ा होता है—समुद्र-जैसा जिसमें हर नदी, हर तूफान, हर तरङ्ग, अगणित जीव-जन्तु समा जाते हैं । ऐसे बड़ोंके दिलसे अपने दिलको मिलाओ—जैसे रामके दिलमें समाकर निषाद पवित्र, बंदर शिष्ट और राक्षस भक्त हो गये । श्रीकृष्णके दिलसे मिलकर स्त्रियाँ भी योगियोंकी गुरु बन गयीं । ऐसे बड़ोंके दिलसे अपने दिलको मिलाते चलो, जिन्होंने लोहेको पानी, पत्थरको नाव बनानेकी क्षमता सिखायी है ।

मैं उपदेश नहीं दे रही हूँ, मुझमें इतनी शक्ति नहीं । मैं तो जिज्ञासा करती हूँ कि बड़ा कैसे हुआ जाय ?

—दुर्गेश

स्वयंप्रकाश ब्रह्मसुख

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

जीवमात्र सुख चाहता है—सुख भी ऐसा, जो सर्वदा मिले, सर्वत्र और सबसे, जिसके लिये परिश्रम न करना पड़े, जो पराधीन न हो एवं जिसका भान होता रहे। इतनी उच्च-कोटिकी महत्त्वाकाङ्क्षा होनेपर भी यह एक विचित्र बात देखनेमें आती है कि उसकी प्राप्तिके साधनके सम्बन्धमें सब एकमत नहीं हैं। कोई किसी देशमें पहुँचकर सुखी होनेका विश्वास रखते हैं तो कोई परिस्थितिविशेष उत्पन्न करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। कोई किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये क्रियाशील हैं तो कोई लोकहितकारी श्रमकी प्रतिष्ठामें ही लगे हुए हैं। कोई हाथ जोड़कर किसी दूसरेसे सुखकी भिक्षा माँग रहे है तो कोई चेतनाशून्य होनेका उपक्रम कर रहे हैं। जितने जीव, उतनी मति और उतने ही मत—जैसे कुएँमें ही भाँग पड़ गयी हो। सुखके लिये भोग करें कि संयम ? त्याग करें कि संग्रह ? कर्म करें कि संन्यास ! नाचें-कूदें कि समाधि लगायें ? किसीकी स्मृति करें अथवा सबका विस्मरण कर दें ? होशमें रहें कि बेहोश हो जायँ ? स्पष्ट देखनेमें आता है कि सुख चाहनेवाले इन विभिन्न स्थितियोंमें अपनेको डालकर सुखी होनेके लिये आशावान् एवं तत्पर हैं। इसका कारण क्या है ? अपने इष्ट—सुखका ठीक-ठीक स्वरूप निर्णय न होनेसे तात्कालिक, अपूर्ण, श्रम-साध्य स्थिति और पराधीनता आदिमें ही अपना इष्ट सुख मिलनेकी भ्रान्तिसे ग्रस्त हो रहे हैं और शान्तिके स्थानपर श्रान्ति और क्लान्तिका अनुभव कर रहे हैं। सीमित देश-कालमें सीमित वस्तु, व्यक्ति और श्रमसे, सीमित चित्त-वृत्तिमें, सीमित 'अहं' को असीम सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सीमा असीमको आत्मसात् करनेमें असमर्थ है। तब क्या असीम श्रम ही इष्ट सुख है ? नहीं-नहीं; श्रमकी प्रतिक्रिया तो विश्राम है, वह सुषुप्ति हो चाहे समाधि। तब अपने इष्ट सुखकी प्राप्तिके लिये हम किसका द्वार खटखटायें ? निश्चय ही इष्टके स्वरूपको गम्भीरतासे यथार्थ रूपमें समझा नहीं गया है। आइये, एक बार सर्वदा: सर्वत्र और सर्वमेसे 'अब' 'यहाँ' और 'यह' को अलग कर लें। आयास और याचना छोड़ दें। देखें, सुख भासता है या नहीं! यदि नहीं भासता है अर्थात् वह सुख 'अब' 'यहाँ' और 'यह' नहीं है तो वह सर्वदा, सर्वत्र रहनेवाला सर्वरूप कैसे होगा ? वह तो अनायास सिद्ध और अपराधीन भी नहीं होगा। निश्चय ही अपने इष्ट सुखको पहचाननेमें भूल हो रही है। हम सर्वदा रहनेवाला सुख चाहते हैं और उसको अब और अबसे पहले भी नहीं मानते हैं; सर्वत्र सुख चाहते हैं, परंतु उसको यहीं अपरोक्षरूपसे नहीं पहचानते, सिद्ध रूपसे चाहते हैं और उसके लिये आयास, स्थिति अथवा कृपाकी अपेक्षा एवं प्रतीक्षा करते हैं। यह एक बौद्धिक असंगति, असमञ्जस विचार अथवा भ्रान्तिका विलास है। इष्ट सुखकी प्राप्तिके लिये यही दूर होना चाहिये।

वस्तुतः हम भासमान सुख चाहते हैं; क्योंकि सुख-की परोक्ष-सत्ता होती ही नहीं। वह जब होता है, तब अपरोक्ष ही होता है। अपरोक्षताका अर्थ प्रमाण और प्रमेयके व्यवहारसे होनेवाली अपरोक्षता नहीं, साक्षिभास्य अपरोक्षता है। साक्षी स्वयं सुखस्वरूप होनेपर भी अविद्यावृत्तिसे अर्थात् अपनी ब्रह्मताका ज्ञान न होनेके कारण सुखको अन्यरूपसे प्रकाशित करता है। इसीसे भास्यगत अवस्थाओंके परिवर्तनके कारण सुखका भी परिवर्तन मान बैठता है और स्वप्नवृत्ति, जाग्रत् वृत्तिसे तादात्म्यापन्न होकर अपनेको कभी सुखी, कभी दुखी मानने लगता है।

यह विचार करने योग्य है कि हम चित्तवृत्तिके किसी सविषय, निर्विषय आकारविशेषको ही तो सुख मानने नहीं लगते ! यदि ऐसा है तो वह आकारविशेष औपाधिक होगा, कालिक होगा, दैशिक होगा। इसलिये आकारविशेषमें और आकारविशेषसे सुखकी उपलब्धि भ्रान्ति सिद्ध होगी। इसका अभिप्राय यह है कि जीवको जैसा सुख इष्ट है, वह कोई संसारी आकार नहीं, प्रत्युत उससे सर्वथा रहित है। केवल ऐसा सुख ही दैशिक, कालिक, सविषय, निर्विषय आकारोंमें परिवर्तन होते रहनेपर भी—सृष्टि और महाप्रलयके प्रचण्ड ताण्डवमें भी अविनाशी, एकरस और परिपूर्ण रह सकता है। तत्त्वदृष्टिसे सुख भानमात्र ब्रह्म है। व्यावहारिक सुखकी क्षणिकतासे भानमात्र सुख-ब्रह्म क्षणिक नहीं हो सकता; क्योंकि क्षणिकता उपलब्धिका विषय है और सुख उपलब्धिस्वरूप, अकाल, अदेश और अविषय है। इसका तात्पर्य यह है कि उपलब्धि ही ब्रह्म है और ब्रह्म

क्योंकि यह तो एक परिपूर्ण पदार्थ है और सूर्य परिच्छिन्न। सूर्य एक स्थानमें रहता है, दूसरेमें नहीं। इसलिये वह जहाँ नहीं रहता है, वहाँ अपनी किरणें भेजता है। किसी कालमें सूर्य दीखता है, किसी कालमें नहीं। अन्यत्र अन्धकारके रूपमें उसका विरोधी भी विद्यमान है। उसके प्रकाश्य स्थावर-जंगम भी विद्यमान हैं। ऐसी स्थितिमें सूर्य अथवा चन्द्रमाकी किरणोंके समान प्रज्ञान-ब्रह्मकी किरणें नहीं हो सकतीं, जो देश, कालमें गतिशील होकर पदार्थका स्पर्श करें। तब ये त्रिपुटियाँ क्या हैं? निश्चितरूपसे ये चिदाभास हैं। प्रकाशक चेतन प्रकाशनके लिये भिन्न प्रकाश्य न होनेके कारण और अपनी अपरिच्छिन्नता एवं चेतनताके प्रकाशन-योग्य न होनेके कारण अपने आपको ही अपने स्वरूपसे विपरीतरूपमें प्रकाशित कर रहा है। जैसे आकाशकी अपरिमेयता जब नेत्रद्वारा प्रकाशित नहीं हो पाती, तब नीलिमाके रूपमें—निराकारताके विपरीत साकारताके रूपमें भासने लगती है। इसी प्रकार अपना प्रत्यगात्मा ही अविषय होनेके कारण पराक् विषयके रूपमें भास रहा है। चेतन जडके रूपमें, अविनाशी विनाशीके रूपमें, पूर्ण परिच्छिन्नके रूपमें, अद्वितीय द्वैतके रूपमें, स्व अन्यके रूपमें भासनेका एकमात्र कारण यही है कि स्वयं प्रज्ञान प्रज्ञानका विषय नहीं है। जो भी प्रज्ञानको विषय बनानेका प्रयत्न करेगा, वह प्रज्ञानको जड अथवा परिच्छिन्नरूपमें ही विषय करेगा। इसलिये वह प्रज्ञान न होकर प्रज्ञानका विवर्त ही होगा। इसीलिये श्रुति प्रज्ञानका शोधन करके उसको अन्यके रूपमें नहीं, शोधक जिज्ञासुके स्वरूपके रूपमें ही उपदेश करती है कि तुम्हीं प्रज्ञान ब्रह्म हो। इसीसे किसी भी कर्म, उपासना अथवा योगके फलरूपमें या किसी भी करणके विषय-रूपमें या स्वयं अपने ही भास्यरूपमें प्रज्ञानका साक्षात्कार नहीं हो सकता। सभी साधन अपने-अपने व्यावर्त्यकी व्यावृत्ति करके कृतार्थ हो जाते हैं। यहाँतक कि महावाक्यजन्य ज्ञान भी अज्ञानकी निवृत्तिके साथ-ही-साथ स्वयं निवृत्त अथवा बाधित हो जाता है और पूर्ववत् प्रज्ञान-ही-प्रज्ञान शेष रहता है।

प्रज्ञानमें व्याप्य-व्यापकभाव भी कल्पित रीतिसे ही है। तेजोबिन्दु श्रुतिने स्पष्टरूपसे कहा है—'व्याप्यव्यापकता मिथ्या।' इसको समझनेके लिये दृष्टान्त लीजिये—जैसे भूत, भविष्य, वर्तमान व्याप्य हैं और काल व्यापक। कितनी उपहासास्पद बात है कि जब कालसे भिन्न भूत, भविष्य, वर्तमान नामका कोई पदार्थ ही नहीं है, तब कौन किसमें व्याप्त होगा? वस्तुतः विषयनिष्ठ परिणामको देखकर ही, क्रमको स्वीकृति देकर कालमें त्रित्वकी कल्पना की गयी है। इस त्रित्वके अधिष्ठान कालको अथवा प्रकाशक चेतनको इस त्रित्वका कुछ भी पता नहीं है। यह मनुष्यकी बुद्धिका विलास है। इस बुद्धि-विलासको ही पारिभाषिक शब्दोंमें अध्यास कहते हैं। अब दूसरा दृष्टान्त लीजिये—विभाग-शून्य दिक्तत्त्वमें पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण या ऊपर, नीचेका विभाग सर्वथा कल्पित है। दिक्तत्त्वकी कल्पनासे उपहित चैतन्य अथवा उसके अधिष्ठानभूत सत्में दिग्-विभाग ही अनुपपन्न है। फिर भी विषयनिष्ठ विभाग अर्थात् घट-पटादि पदार्थोंकी लंबाई, चौड़ाई, गोलाई, बाहर-भीतर आदिकी सारी कल्पनाएँ दिक्तत्त्वके सिर मढ़ी जाती हैं। यह अन्यका अन्यपर आरोप है। क्या दिक्तत्त्वका पूर्व-पश्चिम, बाहर-भीतर आदिके साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है? राम कहो! अपने स्वरूपके साथ किसी वस्तुका कोई सम्बन्ध नहीं हुआ करता, तादात्म्य भी नहीं। पूर्णका किसके साथ तादात्म्य हो? अब तीसरा दृष्टान्त लीजिये—एक अद्वितीय अखण्ड सत्तामें आकाशादिका विभाग न कालमूलक है, क्योंकि परिणाम नहीं है; न गतिमूलक है, क्योंकि क्रिया और देश नहीं है; और न तो स्वभावमूलक है, क्योंकि किसी भिन्न-से-भिन्न स्वभावका निरूपण ही सम्भव नहीं। नाम-रूपमूलक भी नहीं है, क्योंकि वे तो प्रमाण-प्रमेयके व्यवहार-कालमें ही होते हैं। तब असलमें कालमें वर्तमानादि विभागके समान और देशमें पूर्वादि विभाग-के समान ही मूलभूत सत्तामें पञ्चभूत और उसमें कल्पित नाम-रूप सर्वथा ही मिथ्या हैं। इसी बातको समझानेके लिये श्रुति, शास्त्र एवं महात्मागण स्वप्न तथा रज्जु-सर्पादिका दृष्टान्त देते हैं। त्वं-पदार्थशोधनमें स्वप्नका दृष्टान्त है, तत्-पदार्थशोधनमें रज्जु-सर्पका दृष्टान्त है और तत्त्वतः ऐक्यके बोधनमें कोई भी दृष्टान्त नहीं हैं। इसलिये प्रज्ञान ब्रह्मकी व्यापकता समझानेके लिये प्रत्यक् चैतन्यकी दृष्टिसे यह कहना उचित ही है कि स्वप्नके पदार्थ उस देश और कालमें भास रहे हैं, जब और जहाँ वे सर्वथा असत् हैं। इसी प्रकार प्रज्ञान ब्रह्ममें दृश्यमान प्रपञ्च सर्वथा मिथ्या है। साथ ही जैसे रज्जु-देशमें अपनी प्रतीतिके कालमें ही प्रतीयमान सर्प मिथ्या है, इसी प्रकार तत्-पदार्थरूप अखण्ड चेतन सत्तामें यह दृश्यमान प्रपञ्च प्रतीति-समकाल ही मिथ्या है। दृश्यमान प्रपञ्चका मिथ्यात्व निश्चय हो

जानेपर प्रत्यक्-चैतन्यरूप आत्मा और अधिष्ठान-चैतन्यरूप परमात्मामें भेद करनेवाली कोई भी वस्तु नहीं रहती। वस्तुतः भेद ही प्रपञ्च है और यह अपने स्वरूपभूत प्रज्ञान-ब्रह्ममें बिना हुए ही भास रहा है। प्रज्ञान-ब्रह्ममें व्यापकता और व्याप्यता दोनों व्यवहारकी दृष्टिसे कल्पित हैं, परमार्थतः व्याप्तिमात्र ही हैं।

वेदान्तविचारमें अन्यमें अन्यकी व्याप्तिको व्यापकता नहीं कहते। लोहेमें अग्निकी व्यापकता अथवा दूधमें घीकी व्यापकता—ये सब दृष्टान्त वास्तविक व्यापकताके नहीं हैं; क्योंकि इनकी व्यापकता कालपरिच्छेद्य अथवा क्रिया-परिच्छेद्य है। वास्तविक व्यापकता तो उपादान कारणकी अपने कार्यमें उपस्थिति है। कार्य नष्ट होनेपर जिसमें मिल जाता है अर्थात् कार्य जिस धातुसे बना है, कार्यका आकार जिसमें गढ़ा गया है, कार्यमें उसके वजनके रूपमें जो उपस्थित है, उसीको उपादान कारण कहते हैं—जैसे घटमें मृत्तिका, तरङ्गमें जल, लपटमें अग्नि, प्राणमें वायु, घटाकाशमें महाकाश, स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टाकी दृष्टि। घट-मृत्तिकाके उदाहरणमें भी केवल मृत्तिका ही घटका उपादान नहीं है, बल्कि पञ्चभूत ही उसके उपादान हैं। इसलिये घटके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—सबमें पञ्चभूतोंकी उपस्थिति है। घट पञ्चभूतोंसे भिन्न नहीं है। घट फूट जानेपर भी पञ्च-भूत रहता है। इसी तरह तरङ्ग, लपट आदिके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिये। स्वप्नदृष्टिकी उपादानताका और रज्जु-सर्प-अधिष्ठानके अज्ञानसे होनेवाले कार्यके दृष्टान्त हैं। वे भी अपने उपादानसे भिन्न नहीं होते। प्रज्ञान-ब्रह्मकी व्यापकता समझानेके लिये इन सभी दृष्टान्तोंके उपयोगी होनेपर भी वस्तुतः उसकी व्यापकता ठीक-ठीक नहीं समझायी जा सकती; क्योंकि ये सब दृष्टान्त दृश्य अथवा जडसे सम्बद्ध हैं और प्रज्ञान-ब्रह्म चेतन है। जहाँ भी चेतन उपादान कारण होता है, वहाँ वह वस्तुतः कार्य-कारणके भेदसे रहित ही होता है।

इसलिये चेतनकी व्यापकता चेतनसे भिन्न अन्य पदार्थका न होना अर्थात् उसकी पूर्णता ही है।

कार्य-कारणरूप व्याप्य-व्यापकभाव दृश्यमें ही होता है, उसके प्रकाशक एवं अधिष्ठान चेतनमें नहीं। इसलिये दैशिक परिणाम, कालिक परिणाम और वैषयिक परिणाम मानना—तीनोंका सम्बन्ध प्रज्ञान-ब्रह्मके साथ नहीं जोड़ा जा सकता। देशाभाव, कालाभाव और कार्यकारणाभावके अधिष्ठान प्रकाशक प्रज्ञान-ब्रह्ममें और प्रज्ञान ब्रह्मसे प्रकाशित देश, काल एवं विषय अधिष्ठाननिष्ठ अत्यन्ताभावके प्रतियोगी होनेके कारण मिथ्या हैं। दृश्यत्व, विकारित्व, परिच्छिन्नत्वके कारण भी वे स्वतन्त्र, अविनाशी तथा परिपूर्ण नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें प्रज्ञान-ब्रह्मकी उपलब्धिके लिये कब, कहाँ, किस रूपमें और किस रीतिसे अनुसंधान करना चाहिये?

आश्चर्य है कि प्रज्ञान-ब्रह्मको ढूँढ़नेके लिये हम किसी समय, अवस्था एवं परिस्थितिकी प्रतीक्षा अथवा अपेक्षा करते हैं। क्योंकि जब वह अविनाशी है, कालकी कोई कला उससे खाली नहीं है, भूत-भविष्य-वर्तमानरूप कल्पित त्रित्वसे विलक्षण होकर भी वह इसमें परिपूर्ण है, उसीसे यह त्रित्व प्रकाशित है, अपनी मृत्यु, परिवर्तन, अभाव एवं जन्मकी कल्पना भी वह अपनेमें नहीं कर सकता, क्योंकि उनका साक्षी और प्रकाशक है, तब इसी क्षण, क्षणके अधिष्ठान और प्रकाशक-रूपमें उसकी उपलब्धि क्यों नहीं हो रही है?

आश्चर्य है कि वह विषयनिष्ठ परिमाणमूलक देशकी कल्पना-जल्पनासे अल्प मात्रामें भी संस्पृष्ट न होनेपर भी, अन्तर्देश, बहिर्देश, अन्तराल देशके त्रित्वसे सर्वथा विनिर्मुक्त होनेपर भी, उस त्रित्वकी कल्पनाका अधिष्ठान एवं प्रकाशक होनेपर भी, अन्तर्मुखता, बहिर्मुखता आदि दैशिक अवस्थाओं, परिस्थितियों तथा गमनागमन, अणुत्व, विभुत्व, मध्यमपरिमाणत्व आदिसे सर्वथा रहित होनेपर भी, इसी समय इसी देशमें समय और देशकी परिच्छिन्नताके अधिष्ठान एवं प्रकाशकरूपसे क्यों नहीं उपलब्ध हो रहा है, जब कि वह अपनेमें कभी अपूर्णता, परिच्छिन्नता आदिरूप परिमाणको आरोपित ही नहीं कर सकता; क्योंकि वह देशकी भावाभावकी कल्पनाका साक्षी चिन्मात्र वस्तु है। उस उपलब्धिस्वरूप परिपूर्णकी उपलब्धिके लिये अन्तर्देशके निभृततम प्रदेशमें प्रवेशकी प्रतीक्षा और अपेक्षा क्यों है? इसी देशमें उसका समीक्षण एवं निरीक्षण क्यों नहीं होता?

आश्चर्य है कि इसी देशमें इसी समय जो भी आकार, विकार, प्रकार, संस्कार अनुभवके विषय हो रहे हैं, वे सब-के-सब अपने विवर्ती उपादान चेतनमें उसीके द्वारा प्रकाशित होनेपर भी और तत्त्वतः उससे अभिन्न होनेपर भी क्यों उससे भिन्न रूपसे बुद्धिके विषय हो रहे हैं, जब कि वह अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय चेतन सत्ता देश-कालसे रहित रूपमें सर्वके रूपमें भास रही है, जिसने कभी अपनेको विषय-विषयीके भेदसे युक्त अनुभव नहीं किया; क्योंकि विषय और विषयी दोनों ही भिन्न रूपसे प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः भिन्न नहीं हैं; ऐसी वस्तुस्थितिमें

जब कि कोई अन्य है ही नहीं, उसकी उपलब्धिके लिये प्रमाण-प्रमेयरूप व्यवहारकी क्या आवश्यकता है ? यदि वह घटादिके समान विषयी होता तो प्रत्यक्षकी, जगत्कर्ता ईश्वरके समान परोक्ष होता तो अनुमानकी, उसके सदृश कोई और होता तो उपमानकी, अज्ञातरूपसे अन्य होता तो आप्त वचनकी अपेक्षा होती । सुख-दुःख आदि मानस आभासोंके समान होता तो साक्षि-भास्यता होती । परंतु इस सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक, स्वयंप्रकाश, प्रज्ञान-ब्रह्मकी उपलब्धिके लिये किस करणकी अपेक्षा है, या कौन सा नवीन करण उत्पन्न करना है जब कि वह कभी किसी वस्तुको अपनेसे भिन्न अनुभव करता ही नहीं और किसीके अनुभवका विषय होता ही नहीं ।

सब आश्चर्योंसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि हम प्रज्ञान-ब्रह्मको समाधि आदि किसी कालविशेषमें, ब्रह्मलोक आदि किसी देशविशेषमें और बुद्धिके विषय किसी आकारविशेषमें प्राप्त करना चाहते हैं । उत्क्रान्ति और गतिमें देश, चित्तके प्रतिलोम परिणाममें काल और तदाकारवृत्तिमें विषयविशेषका अतिक्रमण, उल्लङ्घन अथवा बाध नहीं हो पाता, इसलिये प्रज्ञान-ब्रह्मकी उपलब्धिमें ये सारी प्रणालियाँ साक्षात्-साधन नहीं बन सकतीं । जैसा कि पहले प्रज्ञान-ब्रह्मका निरूपण किया गया है, उसकी उपलब्धिके लिये शोधित अहमर्थकी उपलब्धि-प्रणाली ही सर्वोत्तम प्रणाली है; क्योंकि उसमें कालधर्म—मृत्यु, परिवर्तन आदिसे, देशधर्म—आन्तर-बाह्य आदिसे और विषय-धर्म—दृश्यता आदिसे विलक्षणता स्पष्टरूपसे प्रतिभात होती है । कोई भी अपने अभाव, जडता और अप्रियताका अनुभव नहीं कर सकता । इसलिये सुखस्वरूप प्रज्ञान-ब्रह्मकी उपलब्धिके लिये दैशिक, कालिक एवं वैषयिक आकारोंमें सुखकल्पना एवं सुखभावना करनेकी अपेक्षा प्रज्ञान-स्वरूप आत्मा (शोधित अहमर्थ) की ब्रह्मताके बोध द्वारा अविद्याकी निवृत्ति करके अपने स्वतःसिद्ध अद्वितीय सच्चिदानन्दघन ब्रह्मस्वरूपमें ज्यों-की-त्यों स्थिति ही अपने इष्ट सुखकी प्राप्ति है । केवल महावाक्य-श्रवणके द्वारा नित्य-निवृत्तकी निवृत्ति और नित्य-प्राप्त अपनी ब्रह्मताकी उपलब्धि होती है । इसके लिये पहले या पीछे साक्षात् साधन अथवा फलरूपसे किसी भी कर्तव्य कर्मका सम्बन्ध नहीं है ।

कुछ महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य विषय

[श्रीमाताजीके प्रवचनके आधारपर लिखित

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त, श्रीअरविन्दाश्रम)

(४)

शरीर चेतनाका विस्तार

हमारे शरीरकी क्रियाओंका क्षेत्र बहुत सीमित है । यदि तुम थोड़ा ध्यानपूर्वक देखो तो तुम देखोगे कि वह क्षेत्र वास्तवमें अत्यन्त संकीर्ण है और हमारी क्षमताएँ एक नन्हे-से वृत्तके अंदर आबद्ध हैं । हम अपने स्थूल शरीरके ढाँचेसे बँधे हुए हैं । उदाहरणार्थ, हम जब अपने कमरेमें बैठे रहते हैं, तब ठीक उसी समय खेलके मैदानमें व्यायाम भी नहीं कर सकते । अगर तुम एक कोई काम करना चाहो तो तुम दूसरा नहीं कर सकते; यदि तुम एक स्थानमें हो तो तुम साथ-ही-साथ किसी दूसरे स्थानमें नहीं रह सकते । कितना आसान होता यदि हम अपनी मेजपर लिखते समय तुरंत बिना चले-फिरे या किसीकी सहायता लिये दूर रखी आलमारीसे देखनेके लिये कोई पुस्तक ले लेते ! और फिर भी यह बात कितनी अधिक असम्भव है ! हमें ज्ञात है कि भूत-प्रेत बुलानेकी बैठकोंमें कितनी असाधारण—कम-से-कम विचित्र—बातें घटित होती हैं और उन्हें शरीरकी इन्द्रियोंकी साधारण क्रियाके द्वारा नहीं समझाया जा सकता । उनकी व्याख्या यह कह कर दी जाती है कि प्रेत-लोकके हस्तक्षेपके कारण वे घटित होती हैं । परंतु सच पूछा जाय तो उन मामलोंमें साधारणतया भूत-प्रेतोंका विशेष कोई हाथ नहीं होता । वे किसी मृतात्माकी क्रिया भी नहीं होतीं, बल्कि सामान्य मानवी शक्तियोंकी ही क्रिया होती हैं—विशेषतः प्राणगत या जीवनी-शक्तिकी क्रिया होती हैं, जो शरीरके बन्धनसे मुक्त होती और स्वतन्त्ररूपसे अपनी क्षमताका प्रयोग करती हैं । यहाँ जो कुछ मैं कहना चाहती हूँ उसे समझनेमें एक उदाहरण, जो कि एक सच्ची घटना है, अच्छी सहायता करेगा ।

पेरिसमें एक युवक रहता था, जो रेलवे स्टेशनपर क्लर्कका काम करता था । वहाँपर कभी-कभी उसकी माँ और उसकी प्रेयसी उससे मिलने आया करती थीं । एक दिन वह उनके आनेकी आशा करता था और रेलगाड़ीके आनेके

समयकी प्रतीक्षा कर रहा था। उस समय वह अपनी मेजपर बड़ी तल्लीनताके साथ काम कर रहा था; परंतु सहसा गाड़ी आनेके समयके लगभग उसके आसपासके लोगोंने देखा कि उसने एक चीखके साथ अपनी मेजपर झुककर सिर रख दिया और वहीं पड़ा रहा। वह एकदम अचेतन हो गया। इसी बीच दूसरी ओर एक भीषण रेलवे दुर्घटना हो गयी; वे दोनों स्त्रियाँ उस दुर्घटनामें पड़ गयीं। गाड़ीके डब्बे चकनाचूर हो गये और सभी यात्री निहत या सांघातिकरूपसे आहत हो गये। परंतु, विचित्र बात थी, उसकी प्रेयसी युवती स्त्री जीती हुई और लगभग बेदाग पायी गयी। वह जहाँ गिरी थी वहाँ उसके ऊपर एक लोहेकी धरन आ गिरी थी और उसके लिये उसके नीचे थोड़ी-सी रक्षाकी जगह बन गयी थी और फिर धरनके ऊपर माल-मलबा आ गिरा था। कूड़ा-करकट हटाकर उसे बाहर निकाला गया और मुश्किलसे कहीं उसे जरा खुरचन लगी थी। परंतु अब सुनिये उस युवककी कहानी। उसने बतलाया कि जब वह अपनी मेजपर काम कर रहा था, तब उसने अचानक अपनी प्रेयसीकी आवाज सुनी जो सहायताके लिये उसे पुकार रही थी। उसने मानो एक चमकके अंदर उसकी सारी हालत देख ली और वह दौड़ पड़ा, अवश्य ही शरीरसे नहीं, और वहाँ पहुँचकर उसने अपनी प्रेयसीको बचानेके लिये उसके शरीरके ऊपर अपने-आपको फेंक दिया; बस इतना ही वह कर सका। इसके फलस्वरूप निस्संदेह उसने उसकी रक्षा की। सच है कि वह अपने शरीरसे नहीं दौड़ा; उस कार्यके लिये यदि वह शरीरसे दौड़ा होता तो उसका कोई फल न हुआ होता। उसके अंदरसे जो चीज निकल भागी, वह था उसका प्राण-देह, उस प्राण-शक्तिकी एक रचना जो शरीरके अत्यन्त निकट होती है और लगभग उतनी ही ठोस होती है जितनी कि शरीरकी शक्ति, पर होती है उससे बहुत अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली। उसके अंदरसे केन्द्रीभूत होकर निकली हुई यह प्राणशक्ति ही उस औरतको बचानेवाली सच्ची ढाल बन गयी। विचित्र बात एक यह हुई कि स्वयं उस युवकके सिरपर घावके चिह्न उत्पन्न हो गये, मानो उसके सिरपर कोई बहुत भारी बोझ आ गिरा हो। प्राणशक्तिके ऊपर जब कोई प्रबल धक्का पहुँचता है, तब उसका दाग स्थूल शरीरपर भी पड़ सकता है और पड़ता ही है। यह कोई असामान्य घटना नहीं है। कहा जाता है कि बहुत-से ईसाई साधुओंके (जैसे असीसीके संत फ्रांसिसके) शरीरपर ईसाके शरीरके शूलीके चिह्न निकल आये थे। कहा जाता है कि रामकृष्णके सामने जब एक बच्चेपर कोड़े लगाये गये तो उन्होंने दिखाया कि उसके दाग उनकी पीठपर भी उठ आये थे।

इन सब बातोंका तात्पर्य यह है कि मनुष्यके लिये भौतिक जगत्में कार्य करनेका एकमात्र साधन स्थूलशरीर ही नहीं है; भौतिक शरीर अधिकाधिक सूक्ष्म क्रियाओंके अंदर फैलता और विस्तारित होता जाता है और फिर उसी कारण वह किसी अंशमें कम नहीं, बल्कि कहीं अधिक सफलरूपसे कार्य करनेके योग्य बनता जाता है। भौतिक शरीरके पीछे सूक्ष्म शरीर विद्यमान है, फिर उसके पीछे प्राण-शरीर है और फिर प्राणके विभिन्न स्तर हैं। निस्संदेह सम्पूर्णरूपसे प्राण-शक्ति ही हमारी सभी शारीरिक क्रियाओंको चलानेवाली सच्ची शक्ति होती है और यदि वह सामान्यतया अपने शारीर यन्त्रोंके द्वारा कार्य करती है तो वह इनसे स्वतन्त्र रहकर भी कार्य कर सकती है। सामान्य अवस्थाओंमें भी वह इस ढंगसे प्रायः ही कार्य करती रहती है। बस, हम उसे देखनेके लिये या तो सचेतन नहीं रहते अथवा उधर दृष्टि ही नहीं देते। अगर कोई सचेतन रूपसे अपनी प्राण-शक्तिपर एकाग्र हो और किसी स्थूल वस्तुपर उसका प्रयोग करे तो वह उसपर वैसे ही सफलतापूर्वक क्रिया कर सकता है जैसे कि कोई भौतिक शक्ति करती है। जब उस शक्तिको किसी भौतिक परिस्थितिकी आवश्यकता होती है, तब वह उसे उत्पन्न कर लेती है, जैसे कि उस युवककी संरक्षणकारिणी प्राण-शक्तिने भौतिक वस्तुओंकी एक ऐसी व्यवस्था कर ली जो उस लड़कीके लिये एक आश्रय बन गयी।

इस वर्तमान प्रसङ्गमें सारी घटना अपने-आप घटी; उससे सम्बन्धित लोगोंने पहलेसे उस बातपर कोई ध्यान नहीं किया; उन दोनोंके बीच समवेदना इतनी प्रबल थी कि उसके विरुद्ध अन्य कोई विचार नहीं उठे। यहाँ यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि यदि कोई ज्ञानपूर्वक इस गुह्य शक्तिपर अपना अधिकार जमाना चाहे तो उसे एक बड़ी लंबी और कठिन साधना करनी होगी। परंतु कठिन होनेपर भी उसे प्राप्त करना असम्भव नहीं है। शरीरकी क्रियाओंका भी जहाँतक सम्बन्ध है, कोई विशेष प्रकारका विकास इस समय तुम्हारी पहुँचके परे मालूम हो सकता है; परंतु यदि तुम अभ्यास करो और अनवरत लगे रहो, अटूट संकल्प बनाये रखो और सुयोग्य पथप्रदर्शन प्राप्त करो तो तुम केवल उस लक्ष्यतक ही नहीं पहुँच जाओगे बल्कि उससे भी कहीं

आगे चले जायँगे। ओलिम्पिक खेलोंमें जिन लोगोंने रेकर्ड तोड़े हैं, उनकी कहानियोंसे इस बातपर काफी प्रकाश पड़ सकता है। उसी तरह मनुष्य सूक्ष्म शक्तियोंको भी अधिकृत कर सकता है, यदि कोई सच्चे मनसे प्रयास करे और समुचित पथका अनुसरण करे। अवश्य ही ऐसा करना बहुत अधिक कठिन है—शायद उससे भी कहीं अधिक कठिन है; परंतु यदि किसीमें संकल्प-शक्ति हो तो उसका रास्ता भी अवश्य ही खुला हुआ है।

मृत्युका रहस्य

(लेखक—पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र, वेदधर्मशास्त्र-मीमांसा-दर्शनाचार्य)

किसी भी स्थानका नाम उसकी विशेषतासे है। वहाँ उन विशेषताओंको जानना, समझना और तदनुसार चलना उचित और आवश्यक है। हमलोग मृत्युलोकमें हैं और हमारा नाम भी मर्त्य है। मृत्युलोकमें मृत्युको जानना, समझना और तदनुयोगी बर्ताव करना आवश्यक और उचित है। मृत्युका प्रसिद्ध अर्थ शरीरसे चेतनशक्तिका अलगाव है। इसीको संस्कृतमें 'प्राणवियोगानुकूलव्यापार' शब्दसे समझाया जाता है। विचारक दार्शनिकोंकी दृष्टिमें चेतनशक्तिका स्रोत आत्मा अजर और अमर एवं व्यापक है। जिस प्रकार आकाश व्यापक, निर्मल एकरूप और नित्य है, परंतु उसे किसी सीमामें कर लिया जाय तो वह उसके भीतर रहकर उसके गुण-कर्मके प्रभावसे प्रभावित होता है और उस सीमाके नष्ट हो जानेपर वह सीमाके गुण-कर्म-प्रभावको अपनेसे अलग करके अपने स्वरूपमें प्रकाशित होता है। उसी भाँति आत्मा नित्य शुद्ध निर्विकार होते हुए भी कर्मफलरूपिणी वासनाओंकी सीमामें हो जाता है। तब वह जीवात्मा कहा जाता है। और उस जीवात्माका व्यवहारोपयोगी बाहरी आकार शरीर है। शरीरोंकी अनन्तता होनेपर भी उनके रचनाकी शैली विभिन्न रहती है। यही रचना-शैली 'योनि' कहलाती है। हिंदुओंकी समझमें विश्वमें ८४ लाख योनियाँ हैं। ये सभी योनियाँ भोगके लिये हैं। भोगका अर्थ 'किये कर्मोंका फल' है, वह चाहे दुःखरूप हो या सुखरूप। भोगायतन शरीरमें चेतन आत्मा कर्मफलरूपिणी वासनाओंसे जब घिरा रहता है, तब वह शुद्ध होते हुए भी मन-इन्द्रिय आदिके गुण तथा कर्मसे प्रभावित-सा ज्ञात होता है। इसलिये जिसे आत्मज्ञान नहीं है, उसे सुख-दुःखका अनुभव करनेवाला आत्मा ही जान पड़ता है; और किसीकी मृत्यु हो गयी का अर्थ उसका आत्मा शरीरसे अलग हो गया समझता है। 'एक शरीरसे प्राण छूटना मृत्यु है' इसके वास्तविक तत्त्वको ठहराने समझ लिया जाय तब तो कहना ही क्या है; परंतु एक शरीरमें व्यक्तिको अनेकों बार मृत्युका-सा ज्ञान होता है। इन अनेकों बार जाने गये मृत्युके परिचयसे भी हमें मृत्युलोककी सच्ची शिक्षा मिलती है। यहाँ 'मृत्यु' का अर्थ अपने 'निश्चित स्वरूपसे डिगना' है। जिस व्यक्तिने अपने स्वरूपको जिस तरह समझ लिया, वह उस तरह रहनेका प्रयत्न करता है और अपनी इच्छाओंको पूर्ण करके आनन्दका अनुभव करता है। जहाँ इसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती या इच्छाके विरुद्ध काम हो जाता है तो इसे 'आत्मग्लानि' का अनुभव होता है। यह आत्मग्लानि ही 'व्यावहारिक मृत्यु' है। इस मृत्युके जान लेने और यह न हो सके, ऐसा उपाय कर देनेसे मनुष्य 'मृत्युंजय' हो जाता है और सांसारिक आनन्द पा सकता है। विषय गम्भीर है, फिर भी इसे समझना सरल है, पर समझनेके बाद बरतना और दृढ़ रहना अति कठिन है। इसलिये 'मृत्युका समझना' एक पहेली है। फिर भी हम कुछ शब्दोंमें इसे समझानेकी चेष्टा करते हैं। वह इस प्रकार है।

१. किसी व्यक्तिका कोई ढंग और रूपरेखा, आशा और कल्पना, सिद्धि और लक्ष्य निश्चित रहता है। ये ही तीन द्वन्द्व क्रमशः वर्ण, रति और प्रमोद हैं। इन वर्ण-रति-प्रमोदों-का निश्चित स्वरूप जहाँ उलट-पुलट होता है कि वहाँ वह व्यक्ति अपनी 'मृत्युका अनुभव' करता है। जीवनके सहायक व्यक्ति वर्ण-रति-प्रमोद—इन तीनोंका रूप बनाते हैं, इस-लिये 'मित्र' हैं। जो इनमें बाधा देते हैं, वे ही 'शत्रु' हैं। इसीलिये कहा जाता है मित्र मृत्युसे बचाता है और शत्रु मृत्यु सामने खड़ी करता है।

२. मृत्युदायक और मृत्युनाशक उपायोंका एकत्र संकलन ही परिस्थिति है। इस संकलनको संतुलित करके अपने अनु-कूल बनाना ही बुद्धिमानी है। साधारण पुरुष इसका संतुलन ठीक नहीं कर पाते। इसलिये वे केवल 'दैव-दैव' कहकर परिस्थितिके वशीभूत हो जाते हैं। मध्यम पुरुष संतुलन तो

कर लेते हैं पर परिस्थितिको अपने अनुकूल नहीं बना पाते। इसलिये वे 'धीर' हैं। उत्तम पुरुष परिस्थितियोंका संतुलन करके उन्हें अपने अनुकूल झुका लेते हैं, इसलिये वे 'वीर' हैं।

३—परिस्थितियोंका वशवर्ती होना 'आसुर धर्म' है, धीरता मानवधर्म है; पर वीरता देवधर्म है। इसीलिये उत्तम पुरुष देवता कहा जाता है। सभी मनुष्य सर्वदा जीवनभर एक ही धर्मसे रहते हों यह बात नहीं है। कभी देवता भी आसुर धर्मसे आक्रान्त हो जाते हैं, और कभी आसुर भी देवता बन जाता है। इसका स्पष्टीकरण और शिक्षण ही हिंदुओंका अवतारवाद है।

४—अवतारवादसे जो शिक्षा मिलती है, वह सब व्यावहारिक मृत्युकी ही शिक्षा है। सब अवतारोंमें शिक्षा रहते हुए भी शिक्षाप्रणाली सर्वजन-सुलभ नहीं थी। परंतु नन्दनन्दन भगवान् मदनमोहनजीके अवतारकी शिक्षा स्पष्ट और सर्वजन-सुलभ है। इसीलिये इनका भगवत्त्व और इनका भगवत्तत्त्वका उपदेश, गीता सभीके लिये सुलभ है।

५—गीतामें भी भगवान्‌ने 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' कहकर अर्जुनको अपनी मृत्युका परिचय कराया और ज्ञान देकर दूसरोंके मृत्युस्वरूपको स्पष्ट कर दिया और अन्तमें 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' कहलाकर यह भी बतला दिया कि 'मोहका नाश और स्मृतिकी प्राप्ति' से मृत्युपर विजय मिल सकती है।

६—मोहका नाश अर्थात् अपने वर्ण, रति और प्रमोदोंका क्षेत्र सीमित समझकर जो ममतावश प्रतिक्षण अज्ञानीको मृत्यु (इच्छाकी अपूर्णतावश होनेवाली आत्मग्लानि) का सामना करना पड़ता है, उसकी जड़को हटाना है। इसका सरल उपाय मनुभगवान्‌ने बताया है। किसी भी कार्यको करनेसे पहले अवस्था, कर्तव्य-शक्ति, विद्या और सहायक इनको समझ लेना चाहिये। इनके समझनेसे उचित कार्यमें उचित ढंगसे प्रवृत्ति होगी; फलतः अनावश्यक इच्छाकी अपूर्तिसे जो मृत्यु आत्मग्लानि उत्पन्न होती है, वह नहीं होगी।

७—स्मृतिलाभका अर्थ अपनी सत्ताको व्यापक बनाना है। इसीलिये मित्र व्यक्ति बाधक उपायोंकी निवृत्तिके लिये उपायसे विरोधीपर भी अपनी सत्ता जमाकर विजय पा जाते हैं।

८—बस इन मोह-नाश और स्मृति-लाभरूप उपायोंसे व्यक्ति मृत्यु (इच्छाकी अपूर्णताजन्य आत्मग्लानि) से बच सकता है और मृत्युंजय होकर अनन्त श्री, विजय और भूतिको तथा इनके स्वामी नारायणको प्राप्त कर सकता है।

भगवान्‌के स्नेहसे मेरा जीवन मधुर शान्तिका लहराता समुद्र बन गया है

आज मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि भगवान् सदा-सर्वदा मेरे साथ हैं। प्रकाश और अन्धकार—दोनोंमें ही, संसारकी अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनो परिस्थितियोंमें ही मैं अनुभव करता हूँ—भगवान् मेरे पास हैं और मैं भगवान्‌के स्नेहामृतसे सराबोर हूँ। भगवान्‌की विलक्षण शक्ति-सुधा-धारा प्रतिपल मेरे अणु-अणुमें प्रवाहित हो रही है, भगवदीय सहज दान मेरे समस्त अभावोंको पूर्ण कर रहा है और भगवान्‌का दयापूर्ण विधान मेरी सारी दुविधाओंको दूर कर रहा तथा शङ्काओंका समाधान कर रहा है। भगवान्‌की परमा शान्ति मेरे पूरे हृदयको सब ओरसे छाये जा रही है; इससे मेरे हृदयमें जो क्षोभ, जो अशान्ति थी, वह सर्वथा नष्ट हो गयी है। हृदय मधुर शान्तिका लहराता समुद्र बन गया है और उसकी सदा सुहावनी शीतल तरङ्गें सर्वत्र शीतलता एवं सरसताका संचार कर रही हैं।

भगवान्‌के स्नेहसे मेरा जीवन मधुर शान्तिका लहराता समुद्र बन गया है!

प्रार्थनाका महत्त्व और उसका स्वरूप

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी)

मानवमात्र शान्ति चाहता है—चिरशान्ति ! पर वह शान्ति है कहाँ ? संसार तो अशान्तिका ही साम्राज्य है । शान्तिके भंडार तो सर्वेश्वर भगवान् ही हैं । वे ही हमारे परम गति हैं और उनके पास पहुँचनेके लिये सत्य हृदयकी प्रार्थना ही हमारे पंख हैं । उनके अक्षय भंडारसे ही शान्ति और सुखकी प्राप्ति होती है ।

प्रार्थना कीजिये । अपने हृदयको खोलकर कीजिये । अपनी टूटी-फूटी लड़खड़ाती भाषामें ही कीजिये । भगवान् सर्वज्ञ हैं । वे तुरंत ही आपकी तुतली बोलीको समझ लेंगे । प्रातःकाल प्रार्थना कीजिये, मध्याह्नमें कीजिये, संध्याको कीजिये, सर्वत्र कीजिये और सभी अवस्थाओंमें कीजिये; उचित तो यही है कि आपकी प्रार्थना निरन्तर होती रहे । यही नहीं, आपका सम्पूर्ण जीवन प्रार्थनामय बन जाय ।

प्रभुसे माँगिये कुछ नहीं । वे तो हमारे माँ-बाप हैं । हमारी आवश्यकताओंको वे खूब जानते हैं । आप तो दृढ़ताके साथ उनके मङ्गल-विधानको सर्वथा स्वीकार कर लीजिये । उनकी इच्छाके साथ अपनी इच्छाको एक-रूप कर दीजिये । ईसामसीहकी तरह आप भी कह दीजिये—

"Thy will, not mine, be done" 'हे सर्वेश्वर ! मेरी इच्छा नहीं, तुम्हारी इच्छा, पूर्ण करो ।'

ऋषिकेशके गीता-भवनके सत्सङ्गमें परम पूज्य स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज एक बहुत बढ़िया दृष्टान्त दिया करते हैं । मुझे तो वह बहुत प्रिय है, अतः संक्षेपमें उसे यहाँ उद्धृत कर देता हूँ ।

एक भक्त संत कहीं जा रहे थे । फटी लँगोटी थी और हाथमें एक जलपात्र । मस्त थे अपने प्रभुके पवित्र ... । चलते-चलते एक नदी आ गयी । नौकापर सभी चढ़ रहे थे । संत महोदय भी चुपचाप बैठ गये उसीपर एक कोनेमें ।

नौका बीच नदीमें पहुँची । इतनेमें बहुत भयंकर आँधी उठी । नौका अब डूबी, तब डूबी हो रही थी । हवामें बालूके कण उड़-उड़कर सभीके आँखोंमें भर गये । मल्लाह नौकाको सम्हालनेमें असमर्थ होकर चिल्ला उठा—'भाइयो ! यह नौका अभी डूबनेवाली है, अपना-अपना होश करना ।' सभीके चेहरे फीके पड़ गये । पर संत तो मस्त थे । लगे जलपात्रसे नदीका जल ले-लेकर नौकाको भरने । लोग दंग रह गये । नौका तो स्वयं डूब रही है और फिर ये पानी भर रहे हैं । किसी-ने फटकारा, किसीने गाली भी दी । पर संत तो उनकी सुनते ही न थे, पानी भरते ही रहे ।

देखते-ही-देखते आँधी हट गयी । मल्लाहने चिल्लाकर कहा—'भाई, घबराओ मत, गङ्गा मैयाकी कृपासे नौका बच गयी ।' सुनते ही सभी होशमें आ गये । अब तो संत महोदय पहलेके विपरीत नौकाका जल नदीमें फेंकने लगे । सभी हँस रहे थे—कितना पागल है यह बाबा । मल्लाहने रोषके साथ पूछा—'बाबा ! पागल हो गये हो क्या ?' बाबाने शान्त स्वरमें कहा—'भाई, पागल नहीं हूँ । भगवान्की हाँ-में-हाँ मिला रहा हूँ ।'

एक दिन स्वामीजीने सत्सङ्गियोंसे कहा—'भाई ! जब कभी जो भी परिस्थिति—अनुकूल अथवा प्रतिकूल—आ जाय, भगवान्को धन्यवाद दो और हृदयसे कहो—'प्रभो ! मैं तो यही चाहता था ।' कितना सुन्दर भाव है ! हमने अपनाया इस भावको कि काम बना ।

एक संत उपदेश कर रहे थे । एक सङ्गी भाईने पूछा—'महाराजजी ! मैं भगवान्के साथ कैसा सम्बन्ध

जोड़ूँ ।' संतने कहा—'उनका फुटबाल (गेंद) बन जा । जिधरको और ठुकरायें, उधर ही लुढ़क जा ।'

बस, भगवान्‌की इच्छामें ही अपनी इच्छाको लीन कर देना—सची प्रार्थना है । इसी प्रार्थनाके द्वारा आप ऊपर उठ सकेंगे । खर्च तो एक कौड़ीका भी नहीं है । प्रभुकी प्राप्तिका यही सर्वोत्तम उपाय है—'मामेकं शरणं व्रज ।'

अपने स्वार्थके लिये प्रार्थना करना उचित नहीं । हाँ, दूसरोंके कल्याणके लिये प्रार्थना करना उत्तम है । इससे प्रभु प्रसन्न होते हैं ।

एकान्तमें बैठकर मनको शिथिल कर दीजिये । नेत्र मूँद लीजिये । विरोधी विचारोंको हटा दीजिये । प्रार्थनापर अपने चित्तको बार-बार लगाइये । ज्यों-ज्यों आपका सम्बन्ध परमात्माके साथ अधिक-अधिक जुटता जायगा, त्यों-त्यों आपके रोम-रोममें पवित्रताका संचार होगा । फिर प्रार्थना प्रारम्भ कीजिये । विश्वास-सिञ्चित प्रार्थनासे तुरंत ही लाभ होगा । प्रार्थना सुन्दर, श्रद्धा और विश्वासयुक्त होनी चाहिये । प्रभुमें प्रीति-प्रतीति होनी चाहिये और एक उनके सिवा प्रार्थीकी कोई दूसरी गति नहीं होनी चाहिये । श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने कितना अच्छा कहा है—

सीतापति रघुनाथजी तुम लगि मेरी दौर ।
जैसे काग जहाजको सूझत और न और ॥

बालीको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने मारा और फटकारा भी; पर ज्यों ही उसने कहा—

प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि ।

—भगवान्‌के हृदयमें करुणाका सागर उमड़ पड़ा !

चीरहरणके अवसरपर सती द्रौपदीकी प्रार्थनामें प्रीति, प्रतीति और गति तीनों थीं । देखिये—

हाथ उठाय अनाथ नाथ सौं 'पाहि पाहि, प्रभु पाहि' पुकारी ।
तुलसी निरखि प्रतीति प्रीति गति आरत पाल कृपाल मुरारी ।
बसन बेष राखी बिसेष लखि बिरदावलि मूरति नर-नारी ॥

इस प्रीति-प्रतीति-गतिसे युक्त प्रार्थनासे अच्युतका भी आसन हिल गया । लेना पड़ा ग्यारहवाँ अवतार—वस्त्रावतार ।

त्राहि तीनि कहि द्रौपदी, चपरि उठाई हाथ ।
तुलसी कियो इगारहौं बसन बेष जदुनाथ ॥

यह है अलौकिक चमत्कार सची प्रार्थनाका ।

प्रार्थना रोगियोंके लिये धन्वन्तरि है, असहायोंका सहारा, निर्बलोंका बल और अनाथोंका आश्रयदाता माता-पिता है । संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो प्रार्थनासे प्राप्त न हो सके । पर सावधान ! प्रभुसे प्रार्थना करके फिर असार संसारकी ही माँग कर बैठना बहुत ही अनुचित है । उनसे तो एक ही माँग होनी चाहिये—वह यह कि उनकी कृपा हमारे ऊपर सदा बनी रहे, उनके चरणाम्बुजोंकी दासता मिलती रहे, हमारी सारी शक्तियाँ उन्हींकी दी हुई होनेके कारणसे उन्हींकी सेवामें सदा समर्पित रहें ।

येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥

उनकी वस्तु उन्हें दे दो

जो कुछ भी है मिला तुम्हें उस सबके स्वामी हैं भगवान ।
दीनवेशमें माँग रहे हैं वही, वस्तु अपनीका दान ॥
प्राणिमात्रमें दीन रूपमें दीनबन्धुके कर दर्शन ।
नम्रभावसे अर्पण कर दो उनको उनके तन-मन-धन ॥

मधुर

(१)

किसी उच्चस्तरके साधकको भगवान्‌की झाँकी हुई। इसी आदर्शसे—एक गोपीने एक दिन भगवान्‌की मधुर झाँकी देखी। बस, तभीसे उसकी विचित्र स्थिति हो गयी। वह सब कुछ भूल गयी, कभी भगवान् श्यामसुन्दरको वह अपने पास देखती, कभी वियोगका अनुभव करके पूर्वकी मधुर स्मृति करती, कभी नित्य-मिलनका अनुभव करती और कभी सर्वथा उनमें प्रवेश कर जाती। उस गोपीका अनुभव है—

पता नहीं कुछ रात-दिवस का,
पता नहीं कब संध्या-भोर।
जाग्रत्-स्वप्न दिखायी देता
श्याम सदा मेरा चितचोर॥
भूल गयी मैं नाम-धाम निज,
भूल गयी सुधि, हूँ मैं कौन।
नयन नचाकर, प्राण हरण कर,
खड़ा हँस रहा धरकर मौन॥

मुझे न रात-दिनका कुछ पता है, न सुबह-शाम-का। जाग्रत्‌में तथा स्वप्नमें मुझे अपना वह चित्तचोर श्यामसुन्दर ही सदा दिखायी देता है। मैं अपना नाम भूल गयी, घर भूल गयी; मैं कौन हूँ, इसकी याद भी भूल गयी। अहा! देखो न! वह आँखें नचा-नचाकर मेरे प्राण हरण कर रहा है और मौन धारणकर खड़ा हँस रहा है।

कैसी मधुर मूर्ति, वह
कैसा था विचित्र मनहारी रूप।
आँखें झूर रहीं, झरतीं नित,
करतीं स्मृति सौन्दर्य अनूप॥
मर्म बेध कर धर्म मिटाया,
किया चूर सारा अभिमान।
लोक लाज, कुल-कान मिटी सब,
रहा न कुछ निज-परका भान॥

हा! कैसा विधु बदन सुधामय,
विचर रहा कालिन्दी कूल।
हर सर्वस्व बाँध सब तोड़े,
मिटे सभी मर्यादा कूल॥

(इतनेमें ही उसने देखा, श्यामसुन्दर तो नहीं हैं, तब पूर्वदर्शनकी स्मृति करके वह कहने लगी—) अहा! कैसी मधुर छवि थी, वह कैसा विचित्र मनहरण-कारी रूप था। उस अनुपम सौन्दर्यकी मधुर स्मृति करती हुई फिर उसे देखनेके लिये मेरी ये आँखें झूर रही हैं और नित्य-निरन्तर इनसे प्रेमके आँसू झर रहे हैं। अहा, वह कैसी वस्तु है—जिसने मेरे मर्मको वेध डाला। जो हृदय सदा संसारके पदार्थोंमें लगा था, वह वहाँसे सर्वथा कट गया और उसमें निरन्तर वियोग-व्यथाकी पैनीधार कटारी बिंध गयी। मेरी सारी हृदयग्रन्थि सर्वथा कट गयी। जिसके दीखते ही सारे लोकधर्म अपने-आप ही मिट गये, सब प्रकारके अभिमान (वर्णाभिमान, विद्याभिमान, धनाभिमान, रूपाभिमान, देहाभिमान आदि) चूर-चूर हो गये, लोक-की लाज लुट गयी, कुलमर्यादा मिट गयी, अपने-पराये-का कुछ भान ही नहीं रहा—न कहीं मेरापन रहा, न परायापन, हा! हा! वह कैसा सुधामय चन्द्रवदन कालिन्दी-तटपर विचर रहा था, जिसने मेरा सर्वस्व हरण कर लिया। बलात्कारसे सर्वस्वार्पण करा लिया, सारे बन्धन छिन्न-भिन्न हो गये और मर्यादाके सारे किनारे अपार स्नेह-सागरमें विलीन हो गये।

अब फिर उसे मनसे नित्य संयोगका अनुभव होने लगा—तब बोली—

मनसा मिल रहते मेरे सब
अंग नित्य प्रियतमके अंग।
नहीं छूटता कभी, सभी विधि
रहता सदा श्यामका संग॥

रसमय हुई नित्य रस पाकर
रसिक-रसार्णवका सब ओर।
वही रस सुधा सरिता धारा
प्लावित कर सब, रहा न छोर॥

अहा! वे तो कभी मुझसे अलग होते ही नहीं। मनके दिव्य धाममें मेरे सारे अङ्ग प्रियतमके उनसे नित्य ही मिले रहते हैं। सब प्रकार सदा श्रीश्यामसुन्दरका सङ्ग बना रहता है, वह कभी छूटता ही नहीं। मैं तो उन परम रस ('रसो वै सः'), रसिक, रस-समुद्रका नित्य दिव्य रस प्राप्त करके रसमयी ही बन गयी। अब तो सबको—समस्त जगत्‌को—सम्पूर्ण लोक-परलोकको प्लावित करती हुई सब ओर रसामृत-नदीकी ही धारा वह चली है। कहीं उसका अन्त रहा ही नहीं।

अन्तमें अपनेको श्यामसुन्दरके साथ एकमेक पाकर वह कहती है—

श्याम रहे या रही मैं—कहीं,
कुछ भी नहीं रहा संधान।
श्याम बने मैं, श्याम बनी मैं,
एकमेक हो रहे महान॥

अब श्यामसुन्दर हैं या मैं कहीं हूँ, इसका कुछ भी पता नहीं रहा; क्योंकि श्यामसुन्दर 'मैं' बन गये और मैं श्यामसुन्दर बन गयी। महान् एकमेकता हो गयी।

यही रसराज्यमें पूर्ण प्रवेश है—'विशते तदनन्तरम्।'

(२)

एक गोपीकी धारणा

नहीं चाहती मनोनाश मैं,
नहीं चाहती चित्तनिरोध।
श्याम-सिन्धुमें सुरसरिवत् नित
वृत्ति प्रवाहित हो अविरोध॥
जैसे सुर-सरिता बहती नित
करती सब विघ्नोंका नाश।
वैसे ही सब भूल, दौड़ता
रहे चित्त प्रियतमके पास॥

वेदान्ती कहते हैं 'मनोनाश' हुए विना ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता; योगका तो सिद्धान्त ही है—'चित्तका निरोध'। पर गोपी कहती है—मैं न तो मनका नाश चाहती हूँ न चित्तका निरोध ही। मेरा मन सदा जीवित रहे और चित्तकी वृत्तियाँ निरुद्ध भी न हों, वे बिना बाधा सुरसरि (गङ्गा) की भाँति प्रियतम श्यामसुन्दर-समुद्रकी ओर प्रवाहित होती रहें। बीचमें कोई बाधा-विघ्न आयें तो जैसे गङ्गाकी प्रखर धारा पत्थर, चट्टान, पेड़ आदि समस्त विघ्नोंको चूर-मूर करती हुई सदा समुद्रकी ओर बहती रहती है, वैसे ही समस्त जगत्‌को भूलकर, सब विघ्नोंका नाश करके मेरा चित्त सदा प्रियतम की ओर दौड़ता रहे।

'मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।'
(भाग०)

नहीं चाहती इन्द्रिय संयम,
बनी रहें वे सक्रिय सत्य।
शब्द स्पर्श रस रूप गन्ध
प्रियतमके सेवन-रत हों नित्य॥

लोग कहते हैं—इन्द्रियोंको संयमित करो, उन्हें शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धके सेवनमें मत लगने दो—पर मैं नहीं चाहती कि मेरी इन्द्रियाँ संयमित रहें। मैं तो चाहती हूँ कि वे सचमुच ही सक्रिय रहें और वे प्रियतमके शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धके सेवनमें सदा-सर्वदा संलग्न होकर रहें—

नहीं चाहती हटे कभी
मेरे मनसे किंचित् आसक्ति।
बढ़ती रहे सदा प्रियतममें
दिन-प्रतिदिन अतिशय अनुरक्ति॥

मुझे उपदेश दिया जाता है कि आसक्तिको हटाओ; पर मैं नहीं चाहती कि मेरे मनसे आसक्ति जरा भी हटे। मैं तो चाहती हूँ कि प्रियतमके प्रति मेरी आत्यन्तिक आसक्ति सदा दिनोंदिन बढ़ती ही रहे।

नहीं चाहती मिटे कामना,
कभी वासना का हो अन्त।
तीव्र कामना नित्य वासना
प्रियकी बढ़ती रहे अनन्त॥

उस दिन एकने मुझसे कहा—कामना-वासनाका अन्त होना आवश्यक है; परंतु मैं तो नहीं चाहती कि मेरी कामना-वासनाका कभी अन्त हो। प्रियतमके लिये मेरी तीव्र कामना हो और वासना अनन्तरूपमें सदा बढ़ती ही रहे।

नहीं चाहती मैं जीवनभर
ममताका हो अन्त कभी।
सबसे हटकर रहें सदा
प्रियतममें पूर्ण अनन्य सभी॥

किसीने बतलाया ममता न रखो; पर मैं तो नहीं चाहती, जीवनभरमें कभी भी ममताका नाश हो। मैं तो यही चाहती हूँ कि मेरी ममता जगत्के प्राणी-पदार्थोंसे—सबसे बिल्कुल हट जाय और सारी ममता पूर्णरूपसे तथा अनन्यभावसे केवल प्रियतममें ही हो जाय।

नहीं चाहती मिटे कभी भी
मेरा अहंकार भारी।
मैं प्रियतमकी नित्य सहचरी—
रहे सदा यह सुखकारी॥

मुझसे मेरे एक हितैषीने कहा—अहंकारका त्याग कर दो। पर मैं नहीं चाहती मेरा भारी अहंकार कभी भी मिट जाय।' 'मैं अपने प्रियतमकी नित्य सहचरी हूँ' यह परम सुखदायी अहंकार सदा अनुभवमें आत ही रहे।

नहीं चाहती कोई भी मैं
कभी समाधि, राज लय योग।
बना रहे प्रियतमसे मेरा
नित्य अनन्य मधुर संयोग॥

एक योगिराजने बतलाया—समाधियोग, राजयोग य लययोग आदि किसी योगका साधन करो; पर मैंने त कहा—योगिराज! मैं कभी किसी भी समाधियोग, राजयो या लययोगको नहीं चाहती। मेरा तो बस, प्रियतम श्यामसुन्दरसे सदा-सर्वदा अनन्य मधुर-मधुर संयोग बना रहे।

नहीं चाहती कभी मिटे
यह अति वैचित्र्य भरा संसार॥
प्रियतम ही दीखें सबमें,
सर्वत्र, सदा सुचि लीलाकार॥

अधिक क्या कहूँ, मैं तो यह भी नहीं चाहती कि यह अत्यन्त विचित्रताओंसे भरा हुआ संसार कभी मिटे। मैं तो चाहती हूँ—बस, समस्त संसारमें सदा सर्वत्र मुझे अपने पावन प्रियतम ही लीला करते हुए दिखलायी देते रहें। इससे बढ़कर और कौन-सा सर्वश्रेष्ठ साधनस्तर होगा?

मेरा सर्वस्व

नाथ! तू सर्वस्व मेरा।
भरा अन्तरमें सदा है एक बस आनन्द तेरा॥
हो गया सब कुछ समर्पण बिना ही आयासके अब।
रह गया कुछ भी न, छूटा त्यागका अभिमान भी सब॥
पूर्ण निर्भरता हुई है, मिला संरक्षण अनोखा।
हृदयका सूखा हलाहल, सुधा-सरवर भरा चोखा॥
हट गया अवरोध सारा, मिट गई बाधा सकल है।
हो गया निज घर हृदय तब, आ बसा तू सदल-बल है॥

मनुष्यको सच्चे अर्थोंमें 'मनुष्य' बनानेवाली दैवी सम्पदाएँ

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

[गताङ्क पृष्ठ १०५७ से आगे]

१५—निन्दा और चुगली आदिका त्याग

अपनेसे विद्या, बुद्धि, धन आदिकी ऊँची स्थितिमें रहनेवालोंकी अथवा अन्य किसीकी भी निन्दा करना तथा दूसरोंकी चुगली खाना मनुष्यका एक विकार है। ऐसा करनेसे द्वेष बढ़ता है। मन उद्वेगसे परिपूर्ण हो उठता है। शत्रुताका भाव पनपता रहता है, जो मनुष्यको अग्निकी तरह जलाता रहता है—

आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम । (ऋग्वेद ५ । ४५ । ५)

अर्थात् द्वेषका परित्याग कर देना ही उचित है। जो द्वेष करता है, उसका अपना ही अहित होता है।

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा ।
(अथर्ववेद ७ । ५२ । २)

अर्थात् ऐसा कार्य करो, जिससे द्वेष नहीं, प्रेम बढ़े। निन्दा-चुगलीसे पारस्परिक विरोध बढ़ता है, अतः उन्हें मत करो।

दूसरोंकी खराबियाँ निकालने, न्यूनताओंका प्रदर्शन करने और निन्दा-चुगली करनेसे हमारा अन्तःकरण कालिमासे भर जाता है। हमें सर्वत्र बुराई-ही-बुराई दृष्टिगोचर होती है। हमारे अंदरका मानसिक वातावरण तमोगुणी रहता है और हमारे सद्गुणोंका ह्रास होने लगता है।

जिस प्रकार एक छोटेसे पत्थरसे सम्पूर्ण सागरमें कम्पन उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही दोषोंका तथा अशुभ आचरणोंका निरन्तर स्मरण करानेवाले निन्दा और चुगलीके छोटे-छोटे विकार तरङ्गकी भाँति अन्तःकरणके रग-रेशेको कम्पित कर देते हैं। जैसे पत्थरसे स्वच्छ पानी गँदला हो जाता है, वैसे ही मन कुप्रवृत्तियों, आसुरी विचारों और घृणित दुर्भावोंसे भर जाता है।

दोष-दर्शनकी दुष्प्रवृत्ति हमारे मनमें दोषवृद्धि करती है। हम जैसा देखते हैं, वैसा ही ग्रहण करते हैं। जो व्यक्ति सदा दूसरोंकी निन्दा किया करता है, वह चुपचाप अपने आपके बड़प्पनका ढोंग करता है। निन्दा तो स्वयं मनुष्यको अपनी कमजोरीका परिचायक दोष है। यह उन पापमयी प्रवृत्तियों और आसुरी विचारोंका प्रकाशन है, जो बहुत दिनोंसे उसके अन्तःकरणमें जमे हुए थे।

अतः प्रत्येक कल्याण चाहनेवाले व्यक्तिको चाहिये कि दूसरोंके दोषोंका चिन्तन-स्मरण करना तथा किसीसे भी पर-दोष कहना छोड़ दे तथा सबके शुभ गुण देखे; कुछ कहना ही हो तो किसीके शुभगुण-आचरणका सच्चा वर्णन करे। मनमें दूसरोंके प्रति दुर्भावोंको त्याग दे। छल-वृत्ति छोड़ दे। दम्भाचरणसे सावधान रहे। हृदय, मन और वचनमें एकता रखे। अच्छा ही सोचे और वैसा ही उच्चारण करे।

बुराइयोंको द्वेषकी अपेक्षा प्रेमसे दूर करना सरल है। अतः निन्दा-चुगली करनेकी प्रवृत्ति त्याग देनी चाहिये।

१६—हेतुरहित दया

सब जीवोंपर दया कीजिये, पर उसमें अपना कोई छिपा हुआ गुप्त हेतु (लाभ उठानेकी वृत्ति) मत रखिये। दया मनुष्यका सबसे बड़ा गुण है। परमपिता परमेश्वर स्वयं दया-सिन्धु कहलाते हैं। उनकी दया सर्वत्र फैली हुई है। जीवमात्रके प्रति उनकी दयाका वर्णन करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है, हृदय ही उसका अनुभव कर सकता है। यही दैवी गुण हम ईश्वरपुत्रोंको धारण करना चाहिये।

किसी स्वार्थसे प्रेरित होनेपर दयाका देवत्व नष्ट हो जाता है। अतः उसमें कदापि अपना स्वार्थ मत रखिये, वरना वह एक व्यापारमात्र बन जायगा। जगत्-नियन्ताकी अपरिमित दया सदा हेतु-रहित है। उनका कोई हेतु छिपा हुआ नहीं है।

आप जीवनकी किसी भी स्थितिमें क्यों न हों, हेतुरहित दयाका प्रयोग कर सकते हैं तथा उससे मिलनेवाले अमृतोपम आत्मसंतोषसे लाभ उठा सकते हैं। यदि उससे लाभ उठानेकी भावना रही तो उससे आत्मसंतोष न मिल पायेगा। जिस दयामें लाभ उठानेकी वृत्ति है, वह धर्मके नामपर एक कलङ्क है। सच्ची दया हेतुरहित ही होती है।

१७—लोलुपता या आसक्तिका न होना

जीवन्मुक्त वही है, जो सर्वत्र समभाव है, जो मन-वाणी तथा शरीरद्वारा होनेवाली समस्त क्रियाओंमें ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव रखता है, जिसको संसारका कोई भी पदार्थ लुभा नहीं सकता तथा जिसके मनसे विषयोंके प्रति

लालचका अभाव हो चुका है। एवं जो सम्पूर्ण पदार्थोंसे ऊपर उठकर परमात्माके विशुद्ध स्वरूप या प्रेममें स्थित है।

द्वेषका मूल कारण वास्तवमें आसक्ति है। मोहवश आसक्ति होती है। आसक्तिके कारण मनुष्य उचित-अनुचितकी परवा नहीं करता, अज्ञानवश विषयोंसे लिपटा रहता है। आसक्तिके कारण मनुष्य कर्तव्यपथसे च्युत होकर परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है। इसके विपरीत आसक्तिरहित व्यक्ति अपने सम्पूर्ण कार्योंमें स्वार्थहीन, राग-द्वेषरहित होता है। मान-बड़ाई, सांसारिक प्रतिष्ठा उसे अनुचित कार्योंमें नहीं खींच सकती। ऐसे व्यक्तिकी बुद्धि सर्वत्र सम रहती है। वह अपने जीवनका सद्व्यय सहज लोक-हितकारी कार्योंमें करता है।

जीवनके नाना कर्तव्य ईश्वरीय कर्तव्य समझकर ही कीजिये। उनसे मिलनेवाले लाभमें अपनेको मत बाँधिये।

एक विद्वान्के ये वचन स्मरण रखिये—

यदि कर्म करते समय फलसे मिलनेवाले सुखका काल्पनिक महल न खड़ा किया जाय तो असफलता होनेपर भी दुःख नहीं होता। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने निष्काम कर्मको 'योग' कहा है। यही कर्मकी कुशलता है। ममता ही दुःखकी जननी है, निस्स्वार्थको शोक-संताप नहीं हो सकता।

उस परिमित और संकुचित स्वार्थको त्याग दीजिये, जो सम्पूर्ण वस्तुओंको अपने लाभके लिये ही चाहता है। सच्चा स्वार्थ परमार्थ ही हो सकता है।

संसारके मिथ्या आकर्षणमें भी मत फँसो। संसारके प्रति अधिक आसक्ति तथा लोभ तुम्हारे दुःखका कारण है। स्वयं मनुष्यका जीवन ही अस्थिर है, मरणशील है। यहाँ संयोग है तो वियोग भी है। उन्नति है तो अवनति भी है। संग्रह है तो नाश भी है। जीवन है तो मरण भी है।

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद् भयम्।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद् भयम्॥

जिस प्रकार फल पककर गिरता अवश्य है, उसी प्रकार जन्मवालेका मरण निश्चित है।

जिस प्रकार मजबूत खंभेवाला मकान भी पुराना होनेपर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जरा और मृत्युके वशमें पड़े हुए मनुष्य नष्ट हो जाते हैं।

करोड़ो ब्रह्माण्ड नष्ट हो गये, अनेको सृष्टियाँ व्यतीत हो गयीं। सम्पूर्ण समुद्र एक दिन सूख जायँगे। फिर इस क्षणिक जीवन और संसारमें क्या आसक्ति की जाय।

यह आयु हिलते हुए पत्तेकी नोकपर लटकती हुई जलकी बूँदके समान क्षणभङ्गुर है। उसमें तुम क्या आसक्ति करते हो।

कोई आज मरा, तो कोई कल, कोई परसों। इस प्रकार सभी इस सीमारहित संसारसे चले जा रहे हैं। कोई भी वस्तु, कोई व्यक्ति अपने साथ नहीं ले जा सका है। फिर इन सैकड़ो वस्तुओंमें कोई क्या आसक्ति करे। इनका क्या लालच करे?

१८—स्वभावकी कोमलता

स्वभावकी कोमलता देवताओंका गुण है, कठोरता और शुष्कता राक्षसोंकी सम्पत्ति है। जो देवत्वका विकास करनेके अभिलाषी हैं, उन्हें मक्खन-जैसा सरल, स्निग्ध और निष्कपट स्वभाव रखना चाहिये। अन्तस्तलको सदा प्रेमरससे कोमल रखिये। आपका सबके साथ मृदुल व्यवहार होना चाहिये।

स्वभावकी कोमलता धारण करनेसे भगवान्की शक्तियोंका प्रादुर्भाव होता है। भगवान् स्वयं कोमल हैं। जो सच्चे हृदयसे प्रायश्चित्त करता है, उसे वे अनायास ही क्षमा कर देते हैं। वे सबके प्रेमी, सुहृद् और रक्षक हैं। आध्यात्मिक समृद्धियोंमें स्वभावकी कोमलता सबसे बड़ी सम्पदा है। लोग भौतिक धन और ऐश्वर्य इकट्ठा करनेके लिये रात-दिन चिन्ता करते हैं, पर आत्माके साथ जन्म-जन्मान्तरोंतक साथ रहनेवाली आत्मिक सम्पत्ति—स्वभावकी कोमलतापर ध्यान नहीं देते। जबतक स्वभावकी कोमलता धारण नहीं की जाती, तबतक सफल वकील, वैद्य, व्यापारी, अध्यापक, कर्मचारी और कारीगर नहीं बना जा सकता। कोमलता धारण करनेसे क्रोध, कटुता, पशुता और दुष्ट मनोविकार नष्ट हो जाते हैं। जहाँ मिठास होगी, वहाँ कड़वापन कैसे शेष रह सकती है।

कोमल हृदयमें भावुकताका होना आवश्यक है। कोमल हृदयवाला उदार होता है। सम्पूर्ण मानव-जगत् उसका परिवार होता है। वह दूसरोंका दुःख देखकर दुखी और सुख देखकर सुखी होता है। उसके मनमें, व्यवहारमें, वाणीमें तथा दैनिक कर्ममें मृदुलता छलकती रहती है। वह प्रत्येक व्यक्तिसे प्रीतिपूर्ण मीठी वाणीमें बातचीत करता है, अपने व्यवहारमें कहीं भी कठोरता नहीं आने देता।

किंतु उस अति कोमलतासे सर्वदा बचना चाहिये, जो अकर्मण्यता तथा निराशाजनक दीनतामें परिणत हो जाती है; वह एक कमजोरी है। अतः मध्यका मार्ग ही अपनाना

चाहिये। कोमलता मनुष्यकी दीनता और कठोरताके बीचकी स्थितिका नाम है। इस दैवीगुणके इच्छुकको यह ध्यान रखना चाहिये कि न वह दीन-हीन ही बन जाय और न वह राक्षसी कठोरता-ही धारण कर ले।

हम देखते हैं कि दैनिक व्यवहारमें अनेक व्यक्ति विशेषतः अफसर लोग कर्णकटु एवं कर्कश भाषाका प्रयोग करते हैं। मारपीट कर बैठते हैं। बोलते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो सिरपर डंडे मार रहे हों। उनके मुखसे भली बात भी कठोर और अरुचिकर प्रतीत होती है। उनके स्वरमात्रसे असुरत्व प्रकट होता है। यजुर्वेदमें कहा गया है—

मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
(यजु० ३६। १८)

हमें सब प्राणियोंको मित्रताकी दृष्टिसे देखना चाहिये। किसी प्राणीसे नहीं, केवल उनके दुष्कर्मोंसे शत्रुता रखो।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
(अथर्व० १। ३४। ३)

अर्थात् आते और जाते मधुरता बरसाओ। स्वभावकी कोमलता धारण करो। जहाँ जाओ, वहाँ प्रेम बिखेरो। जहाँसे आओ, मधुर स्मृति छोड़कर आओ।

यदि हम संसारमें अपने पारस्परिक मेल और रिश्ते कायम रखना चाहते हैं, अनावश्यक भय, अपमान, निन्दा और दुःखमय स्थितिसे बचना चाहते हैं, तो अवश्य ही हमें स्वभावकी कोमलता-जैसे दैवी गुणकी सिद्धि करनी चाहिये।

स्वभावकी कोमलता हमारी आत्माका, ईश्वरत्वका अंश है। उसे अवश्य धारण करना चाहिये। हमारे हृदयकी प्रत्येक भावना, हमारे शरीरका रोम-रोम कोमलताके भावसे भरा हुआ होना चाहिये। दैवी सम्पदा धारण करनेके लिये हमें प्यारसे मिश्रित वाणीका प्रयोग और तदनुकूल ही व्यवहार करना चाहिये।

१९—लोक और शास्त्रके विरुद्ध आचरणमें लज्जा

मनुष्यकी सर्वाङ्गीण उन्नतिके लिये हमारे शास्त्रोंमें व्यवहारके अनेक नियमोंका विधान है। समाजकी सुख-शान्तिके उद्देश्यसे प्रत्येक वर्णके लिये सुनिश्चित कर्मका विधान है। अधिक-से-अधिक व्यक्तियोंकी भलाईका विचार करके इनका निर्णय किया गया है। अधिक सुख-शान्ति और उन्नतिके लिये हमें शास्त्रोंमें वर्णित धर्म-कर्मों और नीतिका आचरण करना चाहिये। शास्त्रविरुद्ध आचरण-व्यवहार करनेमें बड़ी लज्जा होनी चाहिये तथा शास्त्रोक्त वैध कर्म—सेवा, भक्ति, परिश्रम, सादगी, दान, स्वाश्रयता आदि शुभ कर्म लज्जा छोड़कर करने चाहिये। शुभकर्मोंमें लज्जात्याग और अशुभमें लज्जा होनी चाहिये।

सच्चे मनुष्यको चाहिये कि शास्त्रोंका गहरा अध्ययन करे और ईश्वरके प्रति, अपने पूर्व पुरुषोंके प्रति, अपने समाज और परिवारके प्रति अपने सब कर्तव्योंका पालन करता रहे। मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको शास्त्रसम्मत कार्योंमें बाँधे रहे।

किसीको दुःख देनेवाली लोकविरुद्ध वाणी न बोले, किसीका अनिष्ट न करे, अकारण ही किसीके साथ द्वेष या घृणा न करे, घृणित मादक द्रव्योंका सेवन न करे; काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, अहंकार, दम्भ-दर्प, अभिमान आदिसे दूर रहे। ऐसे कार्योंमें सदा लज्जाका बोध करे।

सात्त्विक भोजन करे। यथाशक्ति यज्ञ-दान-तप और नियमका पालन करे। आत्मविद्या पढ़े और उसीके अनुसार आचरण करे। अपने व्यवहारमें सदा साधुता और मिठास रखे। परमार्थके उपकारी कार्यों (जैसे धर्मशाला बनवाना, कुँआ खुदवाना, छायादार वृक्ष लगवाना, प्याऊ चलवाना) में सहयोग प्रदान करे। गरीबोंकी, दीनोंकी, रोगियोंकी सब प्रकार सेवा करे; अपना काम अपने हाथसे करे; कुल-परिवारकी रक्षा करे और अन्तमें अपना सब कुछ प्रभुको समर्पित कर दे। शास्त्रोंके द्वारा वर्जित कार्य कदापि न करे। इसीमें हमें अधिकतम आनन्द मिल सकता है।

भारतीय शास्त्र, वेद, पुराण, उपनिषद् आदि नीति-ग्रन्थोंमें सहस्रों वर्षोंके ज्ञानका निचोड़ है। जो व्यक्ति मनमाना कार्य करता है, आत्म-नियन्त्रण नहीं रखता, अपने शास्त्रोक्त कर्तव्योंका पालन नहीं करता, वह परमगति (मुक्तिपद) और सुख (ब्रह्मानन्द) को प्राप्त नहीं होता है। इसीलिये हमें सदा कर्तव्य-अकर्तव्यका ध्यान रखना चाहिये। शास्त्रविधिद्वारा नियत किये हुए कर्म ही हमारे करनेयोग्य हैं।

२०—व्यर्थकी चेष्टाओंका अभाव

इस दिव्य गुणको धारण करनेसे हम उन व्यर्थकी चेष्टाओंसे छूट जाते हैं, जो समाजमें उचित नहीं हैं तथा हमारी शारीरिक या मानसिक शक्तियोंका क्षय करती हैं। हमें उनसे कोई लाभ नहीं होता वरं हानि होती है।

अनेक व्यक्ति बैठे-बैठे या चलते-फिरते व्यर्थकी गंदी चेष्टाएँ करते रहते हैं। और कुछ नहीं तो दूसरोंके दोष ही निकालते रहते हैं, या अपनी कमजोरियाँ दूसरोंके मत्थे मढ़ते रहते हैं। कुछ बकवाद करते रहते हैं, बेमतलबकी उक्तियाँ उच्चारण किया करते हैं, या दूसरोंको चिढ़ाया करते हैं। कुछ कुसङ्गमें समय नष्ट करते हैं। पक्षपात, चापलूसी और कपटकी कुचेष्टाओंमें फँसे रहते हैं। कुछ व्यक्ति फैशन या आडम्बरपूर्ण जीवनमें ही लगे हुए हैं। कुछ अनुचित रीतिसे धन कमानेके लिये सट्टा, फाटका, ताश, चौपड़, शतरंज आदि खेलते रहते हैं; गंदे तथा व्यर्थके साहित्यका अध्ययन करते हैं। कुछ नाना व्यसनोंमें पड़े हुए हैं। इन सब व्यर्थके कामोंमें लगे रहनेके कारण उनका अधिकांश समय आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यतामें व्यतीत हो रहा है। अपनी उन्नति और समाजकी उन्नतिके लिये हमें इन सबसे सदा बचना चाहिये।

पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता और संस्कृतिके सम्पर्क तथा अन्धानुकरणने हमारे नवयुवकोंकी अनेक कुचेष्टाएँ बढ़ायी हैं। हमारी नयी पीढ़ीकी बुद्धि प्रायः तामसी होती जा रही है। चाट, चाय, मादक वस्तु, अंडे, मांस-मदिरा आदि अनेक अभक्ष्य पदार्थोंके प्रयोगसे हमने कितनी ही अनुचित वस्तुओंको अपना लिया है। ये हर दृष्टिसे हानिकर और त्याज्य हैं। स्त्री-वर्गमें फैशन, व्यर्थकी टीपटाप, आभूषण-प्रेम, दिखौवापन, इत्र-फुलेल आदिका बड़ा जोर है। फैशनके कारण पाप-वृद्धि हो रही है। विवाहोंमें वेश्याओंके नृत्य या गंदे नाटक, गंदे मजाक, उत्तेजक फिल्मोंके प्रदर्शन, गंदे गाने और बेहूदी चेष्टाएँ चलती हैं। ये सर्वथा त्याज्य हैं। दैवीगुणोंकी वृद्धि करनेवालोंको इनसे घृणा करनी चाहिये। हमारा अधिकांश समय इन्हीं तथा इसी प्रकारकी और चेष्टाओंसे एवं विलासिताकी वस्तुओंमें व्यय हो जाता है। यही श्रम, धन और समय हम जीवनोपयोगी उच्चतर कार्योंमें व्यय कर सकते हैं।

कुविचार कुचेष्टाका मूल है। मनसे कुविचार निकालनेसे ही हम कुचेष्टाओंसे बच सकते हैं। जो अच्छे विचार या अच्छी आदतें हैं, हम उन्हींसे प्रेम करें, उन्हें ही आचरणमें उतारनेका प्रयत्न करें तो निश्चय ही दैवीगुण प्राप्त कर सकते हैं।

२१—आत्मतेजकी प्राप्ति

एक ही परमात्माको ज्ञानीलोग अनेक नामोंसे पुकारते हैं। सम्पूर्ण विश्व और हम सबमें आत्माके रूपमें वही ईश्वर प्रत्यक्ष हो रहा है। हम, आप और हमारे नगर, प्रान्त, देशके मनुष्योंमें परमात्मा ही अनेक रूपोंमें प्रकट हो रहा है। संसारके सभी मनुष्य परमात्माकी ही मूर्तियाँ हैं—

पुरुष एवेदꣳसर्वम्।

(ऋग्वेद १०।९०।२)

अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व परमात्माका ही रूप है।

प्रजापतिः···बहुधा वि जायते।

(अथर्ववेद १०।८।१३)

अर्थात् इस विश्वमें परमात्मा ही अनेक रूपोंमें जन्म लेता है।

अजायमानः बहुधा वि जायते।

(यजुर्वेद ३१।१९)

अर्थात् वह अजन्मा अनेक रूपोंमें जन्म लेता है। वह निराकार परमात्मा इस सारे चराचर जगत्‌में साकार है। हमारे अंदरसे चमकनेवाला यह आत्मा न कभी मरता है न इसकी कभी क्षति होती है। आत्माका गुण है दीप्ति या चमक। जो मनुष्य मनुष्यत्वके गुणोंका विकास करते हैं, वे आत्माके गुणोंके विकाससे अपने आपको प्रदीप्त कर लेते हैं। उनके मुखमण्डलपर एक प्रकारकी सात्त्विक चमक या तेज छाजाता है। इसे आत्मतेज कहते हैं। दीप्तिमान् आत्माओंके सम्पर्कमें रहकर हम अपनी आत्माको आत्मतेजसे प्रदीप्त कर लेते हैं। जो मनुष्य आत्माके गुणोंको बढ़ानेका प्रयत्न करते हैं, वे अपनी आत्माको आत्मतेजसे भर लेते हैं—

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।

(अथर्ववेद)

'तू शुद्ध तेजस्वी, आनन्दमय एवं प्रकाशमान आत्मा है। शुद्धता, आनन्द और प्रकाशका यह आत्मतेज ही तेरे मुखमण्डलसे भासित होना चाहिये।'

जिस मनुष्यकी मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ अत्यन्त उन्नत और विकसित हो जाती हैं, यह चुम्बकीय शक्तिसे युक्त एक महान् आकर्षणका केन्द्र बन जाता है। उसके व्यक्तित्वसे प्रकाशमयी आत्मतरङ्गें निकलकर इधर-उधर अपना प्रभाव डाला करती तथा निर्मल प्रकाशका विस्तार करती रहती हैं।

मनुष्यो! अपने आत्मामें देवत्वकी सम्पदाओंको विकसित करो। आत्मतेजसे आभासित हो जाओ। अपने आपको शरीर नहीं, आत्मा मानो। आत्मा ही आपके व्यक्तित्वका मूल स्रोत है। इसीमें स्थित होनेसे दृढ़ता और

शक्ति आती है। आत्मशक्ति आपमें प्रचुरतामें विद्यमान है। सद्विचार सत्संकल्प और सद्व्यवहारसे आत्मतेज प्राप्त करते रहो।

२२—क्षमा

पूरी शक्तिसे सम्पन्न होने और बदला लेनेके साधन होते हुए भी दोषीको सुधारका अवसर देनेके दिव्य गुणको क्षमा कहते हैं। हमारे यहाँ कहा गया है—

देवा उन्न यथा पुनः।

(ऋग्वेद १०। १३७। १)

हे देवो, सत्पुरुषो! गिरे हुओंको फिर उठाओ।

यह कार्य क्षमा नामक देवगुणद्वारा ही पूर्ण हो सकता है। गलती सबसे होती है। यदि हम गलती करनेवालेको क्षमाकर सुधरनेका अवसर दें तो उसका बड़ा उपकार होता है। अनेक मनुष्योंका पश्चात्ताप जाग्रत् हो जाता है और वे अज्ञान और कुसंस्कारोंसे मुक्त होते देखे गये हैं।

प्रायः देखा गया है कि सजाका प्रभाव उतना नहीं पड़ता, जितना दोषीको उदारतापूर्वक क्षमा कर देनेका होता है। गलतीको स्वीकार करके आगे भूल न करनेके संकल्पसे मनुष्य उन्नतिशील बनता है। गलतीको क्षमाकर उन्नतिका अवसर देना देवत्वका सूचक है।

जब हम गलती करते हैं, तब हमें यह ज्ञान नहीं होता कि हम गलती कर रहे हैं। विवेकशून्य अवस्थामें हम पाप-कर्म कर बैठते हैं। बड़े-से-बड़ा दोषी भी अपने आपको निरपराध समझता है। मोहका पर्दा उसकी बुद्धिको भ्रमित कर देता है। ऐसे अज्ञानी और अपरिपक्व बुद्धिके व्यक्तिको सजा देना कौन-सी बुद्धिमानी है।

गलतीपर क्रोध करना सहज है, पर सुधारका अवसर देना देवत्व है। गम्भीर पुरुष प्रेम तथा सहानुभूतिसे अपना कार्य निकालते हैं। क्षमासे दोनों ही पक्षोंको लाभ होता है। आवेशमें सम्भव है आप कुछ ऐसा कार्य कर जायँ, जिससे भविष्यमें आपको दुःख उठाने पड़ें और कई व्यक्ति सदाके लिये आपके शत्रु बन जायँ। यदि सहानुभूतिपूर्वक दोषीको सुधारनेका अवसर दिया जाय तो उसका चिरस्थायी प्रभाव दूसरेपर पड़ता है और शत्रु मित्र बन जाता है।

२३—धृति अर्थात् धैर्यधारण

धृति नामक गुणमें धैर्य, संतोष, सहनशीलता और विपत्तिमें भी अधीर न होना शामिल है। ये सब गुण हमें धैर्यधारणका उपदेश देते हैं।

आप जो भी कार्य करने निकलें, जो भी उद्देश्य आपके सामने हो, किसी समय या किसी भी स्थितिमें हों, धैर्यका गुण आपकी सहायता करनेवाला है।

आपको अपनी कठिनाइयाँ अथवा प्रतिकूलताएँ पर्वतके समान दुर्भेद्य और सिंहके समान भयंकर और डरावनी प्रतीत होती हों, फिर उनमें धैर्य धारण कीजिये। सब ठीक हो जायगा।

अधीर न होइये—घबराइये नहीं। आप महान् *शक्तिशाली आत्मा हैं। दैवी शक्तियोंका पुञ्ज आपमें* छिपा हुआ है। आपको बकरीकी तरह मिमियाना नहीं है, बल्कि सिंहके समान दहाड़ते हुए कर्तव्य-मार्गपर डटे रहना है।

आपत्तिके सामने घबराइये या गिड़गिड़ाइये नहीं। यदि सच्चा प्रयत्न करनेपर भी आप सफल न हो सकें तो कोई हानि नहीं। विजयके मार्गपर चलते हुए मिलनेवाली पराजय कोई बुरी चीज नहीं है।

प्रत्येक पराजय विजयकी दिशामें कुछ आगे बढ़ जाना है। यह उच्चतर ध्येयकी पहली सीढ़ी है। हमारी प्रत्येक पराजय यह स्पष्ट करती है कि अमुक दिशामें हमारी कमजोरी है, अमुक तत्त्वमें हम पिछड़े हुए हैं, या किसी विशिष्ट उपकरणपर हम समुचित ध्यान नहीं दे रहे हैं। पराजय हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित करती है, जहाँ हमारी निर्बलता है और जहाँ हमारी मनोवृत्तियाँ अनेक ओर बिखरी हुई हैं, जहाँ विचार और क्रियामें परस्पर विरोध चल रहा है, जहाँ दुःख, क्लेश, शोक, मोह आदि विरोधी इच्छाएँ हमें चञ्चल कर एकाग्र नहीं होने देतीं।

किसी-न-किसी दिशामें प्रत्येक पराजय हमें कुछ सिखा जाती है, मिथ्या कल्पनाओंको दूरकर हमें कुछ-न-कुछ सबल बना जाती है। हमारी विशृङ्खल वृत्तियोंको एकाग्रताका रहस्य सिखाती है। अनेक महापुरुष केवल इसी कारण सफल हुए; क्योंकि उन्हें कड़वाहटको चखना पड़ा था। यदि उन्हें पराजय न मिलती तो वे महत्त्वपूर्ण विजय कदापि न कर पाते। पराजयमें भी धैर्य रखना विजयका चिह्न है।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥

'विपत्तिमें धैर्य, अभ्युदयमें क्षमा, सभामें बोलनेकी चतुरता, युद्धमें पराक्रम, यशमें रुचि और शास्त्र सुननेमें व्यसन—ये सब महात्माओंके स्वाभाविक गुण हैं।'

बीमारीमें भी धैर्य-धारणकी अतीव आवश्यकता है। घबराहटसे रक्तमें गर्मी बढ़ जाती है। यदि धैर्यपूर्वक उपचार किया जाय, रोगीको साहस बँधाया जाय, तो अनेक परेशानियोंसे बचा जा सकता है। बीमारको जितना धैर्य मिलेगा, सान्त्वना मिलेगी, आराम मिलेगा, उतना ही दवाईका असर होगा।

दैवीशक्तियोंका निवास आपमें है। अतः धैर्यपूर्वक काम कीजिये। मजबूतीसे कदम आगे बढ़ाइये।

धैर्यवान् मनुष्य इस बातपर शोक नहीं करता कि मैं असफल हो गया हूँ या दूसरोंकी नज़रोंमें गिर गया हूँ, अथवा लोग व्यर्थ ही मुझपर दोषारोपण करते हैं। वह तो सोचता है कि मैं स्वयं अनेक उच्चतम शक्तियोंसे पूर्ण हूँ, पुरुषार्थ धारण किये हुए हूँ। धैर्य ही समस्त सफलताओंका आधार है।

२४—शौच अथवा पवित्रता

स्वच्छता देवत्वका लक्षण है। जो साफ—स्वच्छ है, वह देवता है। गंदगी तो राक्षसोंके पास ही पायी जाती है।

शौचका अर्थ विस्तृत है। यह दो प्रकारका होता है—(१) बाह्य शौच अर्थात् बाहरी स्वच्छता, (२) आन्तरिक शौच अर्थात् अंदरूनी (मानसिक) पवित्रता।

आजकल लोग बाह्य (शरीर, वस्त्र, भवन इत्यादिकी) स्वच्छतापर तो बहुत जोर देते हैं। सुन्दर स्वच्छ वस्त्र पहिनते हैं, सफेदपोश रहते हैं। नाना प्रकारसे सफाईका ढोंग करते हैं। स्त्रियाँ बार-बार स्नान करती हैं। वस्त्र इत्यादि धोती हैं, स्नो-पाउडर आदि लगाती हैं। नदियोंमें देरतक स्नान करती रहती हैं। चौके-चूल्हेमें भी सफाईका प्रयोग करती हैं।

(किंतु) ये सब बाहरी सफाईमात्रके प्रयोग हैं। यदि केवल स्नानमात्रसे ही मनुष्यकी मुक्ति सम्भव होती तो जलमें बहनेवाले तमाम जीव—जैसे मछली, कछुवा, मगर इत्यादि तो जन्मसे ही मुक्त हो गये होते। किंतु ऐसा नहीं है। यदि आपने बाहरसे स्वच्छता धारण कर ली है, अच्छे वस्त्र पहिन लिये हैं, माला, कंठी, टीका आदि भी लगा लिये हैं तो यही पर्याप्त नहीं है। आन्तरिक जगत्की दुर्भावनाओं, कुविचारों, कुसंकल्पोंको दूरकर सद्विचार और सद्भावनाओंको धारण करना ही सच्ची पवित्रता है।

अपने दुर्गुणोंको, कुसंस्कारोंको, ईर्ष्या, तृष्णा, चिन्ता आदि विकारोंको, हीनता और गंदे संस्कारोंकी दासताको हटाकर निर्भयता, सत्य, अहिंसा, प्रेम, सेवाभाव आदि पवित्र और आत्मिक प्रवृत्तियोंको बढ़ाना करोड़ों प्रकारकी बाहरी सफाईकी अपेक्षा अच्छा है।

आत्माको ब्रह्मके अर्पण करना आन्तरिक शौच है। जबतक अस्थिचर्मके पुतलेमें अहंभाव रहेगा, राग-द्वेषका संघर्ष चलता रहेगा, तबतक आन्तरिक शुद्धि सम्भव नहीं।

अपनी दुर्भावनाओंको परास्त कीजिये। कुविचाररूपी भयानक और बलवान् असुर ऐसे मायावी हैं, जो नेत्रोंसे तो दिखायी नहीं देते, पर अत्यन्त गुप्तरूपसे मनके भीतरी कोनोंमें धँस बैठते हैं और ऐसे जीर्ण हो जाते हैं कि इनको परास्त करना कठिन हो जाता है।

एक विद्वान्ने सत्य ही लिखा है—'यह असुर और कोई नहीं, आपके दुर्भाव और कुविचार हैं। भीतर-ही-भीतर ये दुष्ट शरीर और मनको खा डालते हैं और अन्तमें बड़ी निर्दयतापूर्वक इहलौकिक तथा पारलौकिक 'नरककी अग्नि' में जलनेके लिये पटक देते हैं। खुदगर्जी, कंजूसी, निष्ठुरता, झल्लाहट, हिंसा, ईर्ष्या, द्वेष, पर-सुख-असहिष्णुता, कायरता आदि अपवित्र दुर्भावनाएँ जब भी अपनेमें दिखायी पड़ें, तुरंत ही उनका विनाश करनेके लिये तत्पर हो जाइये।

वास्तविक शुद्धि तो एकमात्र आत्मज्ञानसे होती है। सच्चे आत्मज्ञानीके हृदयमें प्रेम, ईमानदारी, सत्यता, उदारता, दया, श्रद्धा, भक्ति और उत्साहके दिव्य भाव रहते हैं। इनको धारण करनेसे सच्ची शुचिता आती है। महाभारतमें आया है—

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥

'आत्मारूपी नदी हो, संयमरूपी पुण्य तीर्थ हों, सत्यरूपी जल हो, शीलरूप तट हों और उसमें दयाकी तरङ्गें उठ रही हों, युधिष्ठिर ! उसमें स्नान करो। जल अन्तरात्माकी शुद्धि नहीं कर सकता।'

२५—किसी प्राणीके प्रति द्रोह या वैरभाव न रखना

मनुष्य जब स्वार्थी बन जाता है, तब उसके आत्मभावका दायरा संकुचित हो जाता है। इसके वशीभूत होकर वह एक संकुचित दायरेकी भलाई सोचता है और उसमें अन्योंकी अपेक्षा अधिक दिलचस्पी दिखाता है। वह अपने-आपको दूसरोंसे पृथक् समझता है। यह 'तू' और 'मैं' का भाव हमें एक दूसरेसे अलग किये रहता है।

'अहं' का संकोच ही हमारी ईर्ष्याका प्रधान कारण है। जब मनुष्यके 'अहं' का विस्तार होता है, तब 'मैं अकेले' के स्थानपर 'हम सबकी उन्नति' का भाव पैदा होता है। आत्मज्ञान हमें 'मैं अकेला' के स्थानपर 'हम सब' में विश्वास करना सिखाता है। ऐसा दृष्टिकोण धारण करनेसे वैरभाव दूर हो जाता है।

वैर एक अग्नि है, जो अंदर-ही-अंदर मनुष्यको जलाती रहती है। इससे सदा सावधान रहनेका उपदेश दिया गया है।

वैरकी बुनियाद मिथ्या स्वार्थपर है। वैरी दूसरोंसे डरता है और अपने डरको छिपाये रहता है। जो निर्भय और सत्य-निष्ठ है, वह मनमें वैरकी अग्नि क्यों छिपायेगा? वह किसीसे क्यों डरेगा?

किसीका कभी बुरा मत कीजिये, बुरा न चाहिये तथा बुरा होते देखकर प्रसन्न न होइये। आपके चाह न करनेसे उसका बुरा नहीं हो सकता, वह तो उसके प्रारब्धसे ही होगा; पर आपका बुरा निश्चय ही हो जायगा।'

ईश्वरकी इच्छा है कि उनकी इस लीलाभूमिमें हम सब प्रेम और परस्पर सहानुभूतिपूर्वक रहें। इस समाजमें कहीं भी पशुताका या असारताका भाव न हो। प्रत्येक भागमें रहनेवाली सम्पूर्ण मानव-जातिमें परस्पर प्रेमभाव रहे। ईश्वरद्वारा बनायी हुई सब वस्तुएँ सबको बराबर मात्रामें मिलती रहें। अतः वैरभाव त्यागकर प्राणिमात्रके प्रति प्रेम और सहानुभूति दिखलाइये। सबसे मित्रतापूर्ण सरस व्यवहार कीजिये।

२६—वर्ण, जाति, कुल, विद्या, धन आदिका अभिमान न करना

बहुत-से व्यक्ति अपनेको ही सर्वगुणसम्पन्न, रूप-वर्ण-कुलमें सबसे उत्तम और सब प्रकारकी सिद्धियोंसे युक्त मानकर झूठे अहंकारमें डूबे रहते हैं। अहंकारसे अभिमान आता है। मनुष्य अपने संकुचित दायरेमें ही बंद रहता है। इस अभिमानका परित्याग कर देना चाहिये। आध्यात्मिक दृष्टिसे यह मनुष्यकी गिरावटका सूचक है।

अभिमानी व्यक्ति अपने सामने दूसरोंकी श्रेष्ठता और उत्कृष्टताको कुछ नहीं समझता। उनकी अच्छी ग्रहण करने योग्य बातें भी नहीं सुनता। दम्भ और मिथ्या गर्वके मार्गपर चलनेसे उसका पतन बड़ा ही विनाशकारी सिद्ध होता है।

रावण बड़ा विद्वान् एवं बुद्धिमान् ब्राह्मण था। उसे अपनी विद्या-बुद्धिका बड़ा गर्व था। इस अभिमानमें वह इतना लिप्त हो गया कि उसे उचित-अनुचितका विवेक ही न रहा। उसने जगज्जननी माता सीताका हरण किया और अपने वंशके विनाशका कारण बना। कंस बड़ा अभिमानी राजा था। उसका अभिमान स्वयं श्रीकृष्णने खण्डित किया था। इसी प्रकारके अनेको बड़े-बड़े अभिमानी राजाओं और शक्तिके मदमें चूर रहनेवालोंका गर्व चूर्ण हुआ है। अभिमानी विद्वानोंकी विद्वत्ता गिर गयी है।

विद्वत्ताके साथ नम्रता, शक्तिके साथ सौजन्य, धनके साथ उदारताका महत्त्व है। यदि नम्रता, सौजन्य और उदारता नामक दैवीगुण न हों तो शक्ति दुराग्रहमें परिणत हो जाती है।

अभिमान एक झूठा नशा है, जिसका मद मनुष्यको अंधा कर देता है। साधारण व्यक्ति भी अफसरीकी कुर्सीपर बैठकर पदके मदमें कुछ-का-कुछ हो जाता है। सभी वर्ग, जातियाँ, कुल, योग्यताके अनुसार अच्छे हैं। किसीको दूसरेकी अपेक्षा अभिमान नहीं करना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि भगवान् श्रीकृष्णद्वारा प्रतिपादित इन छब्बीस दैवी गुणोंको धारण करने और इनका उत्तरोत्तर विकास करनेसे हम सच्चे अर्थमें 'मनुष्य' बन सकते हैं। जिस प्रकार फूल सबेरेके प्रकाशको लेनेके लिये पंखुड़ियाँ खोल देता है, उसी प्रकार आप भी इन दैवी सम्पदाओंको अपने चरित्रमें लानेके लिये और ईश्वरके देदीप्यमान प्रकाशको भीतर आने देनेके लिये अपनी आत्माको खुला रखिये। देवत्वमें ही मनुष्यका सर्वोच्च विकास है। ऊपरके गुणोंको धारण करनेसे मनुष्य नित्य श्रेष्ठताकी ओर बढ़ेगा, श्रेष्ठ वस्तुओंको देखेगा, श्रेष्ठ चिन्तन करेगा, श्रेष्ठ विचार करेगा और श्रेष्ठ कार्य करेगा। इस प्रकार इन दैवी सम्पदाओंके विकाससे मनुष्य उच्चतम श्रेष्ठताको प्राप्त होता है।

महासती सावित्री

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

[गताङ्क पृष्ठ १०७१ से आगे]

अब एक बार आप सावित्रीकी दशाकी कल्पना कीजिये । घोर वन है, उसमें चारो ओर भीषण अन्धकार है, कहीं भी कुछ दिखायी नहीं देता । इधर-उधर हिंसक जन्तु सूखे पत्तोंके ढेरोंपर खेल रहे हैं, जिससे पत्तोंका खर-खर शब्द हो रहा है । बीच-बीचमें हिंसक जन्तुओंकी कई प्रकारकी विकट बोलियाँ सुनायी दे रही हैं । वृक्षके ऊपर उल्लू बोल रहे हैं । कहीं-कहीं मलिन तारोंका प्रकाश घने वृक्षोंके पत्तोंको पार करता हुआ घने अन्धकारमें किसी सामान्य वस्तुपर गिरकर अद्भुत दृश्य दिखा रहा है । इन्हीं सब भय दिखानेवाले दृश्योंके बीच मृतप्राय पतिको गोदमें लिये सावित्री बैठी है । कैसा भयानक दृश्य है !

पर सावित्रीको इन सबकी कुछ भी चिन्ता नहीं है । वास्तवमें उस समय उसकी बाहरी प्रकृति लुप्त-सी हो गयी थी, इसलिये भयभीत करनेवाले ये बाहरी दृश्य और दुःख उसके लिये नितान्त ही नगण्य थे । सावित्री उस समय केवल सत्यवान्‌की चिन्ता कर रही थी । उस चिन्ताके सिवा बाहरकी ओर लक्ष्य करनेका मानो उसे अवसर ही नहीं था । उस समय सावित्री वृक्षके नीचे जङ्घा फैलाकर बैठी थी और उसी जङ्घापर उसने अपने प्रिय पतिका मस्तक ले रखा था । एक घोर चिन्तामें वह मग्न थी । दृष्टि उसकी पतिके मुखकी ओर लगी हुई थी । अहा, वह देखना भी क्या अद्भुत था, कैसा उज्ज्वल था । उसकी उज्ज्वलतासे मानो उस घने अन्धकारमें भी वह वन प्रभामय हो उठा था । उसी चतुर्दशीके घोर अन्धकारमें पति-देहको गोदमें लिये हुए सावित्री एक पावन प्रकाश चारो ओर बिखेरती हुई प्रार्थना करने लगी—'हाय, मेरे देव ! यह क्या किया ! ऐसे स्वामीसे मुझे क्यों वञ्चित कर दिया ? यह तो मेरी बहुत दिनोंकी आराधनाकी सामग्री थी । अकालमें ही हे देव ! आपने इसे मुझसे छीन लिया । दासीकी इतनी आराधना, इतनी प्रार्थना क्या कुछ भी नहीं सुनी गयी ! जिनके पृथक् हो जानेसे हृदय शून्य और आधी देह भी अस्थायी हो जाती है, उन्हीं मेरे स्वामीको आपने अचानक ले लिया ! यदि लेना ही था तो प्रभो, मुझे भी साथ क्यों न ले लिया ? स्वामीके बिना शून्य प्राण लेकर मैं इस संसारमें कैसे रहूँगी ? किस पापका मुझे यह दण्ड दिया गया है ? मैंने तो जन्मसे लेकर अबतक किसीको भी कष्ट नहीं पहुँचाया है । विवाहिता होकर अबतक स्वामीके मुख-दर्शनके सिवा दूसरेका ध्यानतक नहीं किया है । स्वामी ही मेरे सर्वस्व थे । इनके मुखको देखकर भी अपनेको स्वामीसे बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं समझा है । फिर मुझे यह दण्ड क्यों ? ऐसे स्वामी मुझे छोड़कर चले जायँगे, यह बात मैं कैसे मान लूँ ? मेरा हृदय, मेरा मन, मेरे प्राण—सभी छूट सकते हैं; पर स्वामी मुझे छोड़ जायँ, यह बात मैं मान नहीं सकती । प्रभो ! मुनिवरके वाक्य सुनकर आज एक वर्षसे मैं चिन्ता करती आ रही हूँ; तो भी हे प्रभो, मुझे ऐसा विश्वास कभी नहीं हुआ था; क्योंकि जितना इस मुखकी ओर देखती हूँ, उतना ही मेरे मनमें दृढ़ विश्वास होता जाता है कि ऐसे स्वामी मुझे छोड़कर कभी नहीं जायँगे । वे जलमें, थलमें, इस लोकमें, परलोकमें—जहाँ कहीं रहेंगे, मैं भी वहीं उनके साथ रहूँगी । हे भगवन् ! मेरा यह विश्वास क्या सफल होगा ? मैं तो समझती हूँ, जरूर होगा । मैंने इतने व्रत किये, इतनी पूजा की, इतनी आराधना की; तब भी प्रभो ! क्या स्वामीको न बचा सकूँगी ?'

सावित्री इस प्रकार प्रार्थना कर रही है और सत्यवान्‌की ओर एक दृष्टिसे देख रही है । लगातार देखते-देखते उसके मनमें मानो एक अपूर्व शक्तिका संचार हो उठा । सती सावित्री मानो कहींसे एक अपूर्व बल पाकर अद्भुत शक्तिमती हो उठी । धीरे-धीरे मानो उसे ज्ञात होने लगा—'किसकी मृत्यु, किसका जीवन, मेरी अपूर्व शक्तिके सामने ये सब मिथ्या हैं । यह विश्वब्रह्माण्ड अति तुच्छ है, लोगोंका जीवन-मरण अति सामान्य है, पृथ्वीका सुख-दुःख सारशून्य है ।' अतः जगत्‌की सारी शक्तियाँ आज सावित्रीसे पराजित हो चुकी हैं । चराचर उसके आज्ञाधीन हो गया है । जलमें, थलमें, आकाशमें, पातालमें—सभी जगह मानो उसके लिये मार्ग खुल गये हैं । उसे यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि स्वामीकी जिसमें इच्छा होगी, मैं उसीका अनुसरण कर सकूँगी । इसी विश्वासके साथ उसके शरीरकी ज्योति बहुत कुछ बढ़ गयी । उस समय सावित्रीका मन सत्यवान्‌के प्राणको अपने प्राणके साथ एक करके दृढ़ बन्धनमें बाँधनेका उपक्रम कर रहा था ।

सावित्री उसी प्रकार पतिके मुखकी ओर टकटकी लगाये बैठी है। अब कुछ-कुछ उसकी आँखोंके आँसू सूख गये हैं। उसी अपूर्व विश्वासके कारण उसके मनमें एक अद्भुत आशाका आलोक प्रज्वलित हो उठा है। सत्यवान् पहलेकी तरह सावित्रीकी गोदमें अचेत पड़ा है। धीरे-धीरे उसके श्वास-प्रश्वास रुक-रुककर आने लगे हैं। सावित्री स्थिर है, धीर है, गम्भीर है और मनको बलवान् बनाये बैठी है। उसके अन्तःकरणकी चञ्चलता प्रायः शान्तभावमें परिणत हो गयी है। उसी शान्तभावसे अब वह सत्यवान्की ओर देख रही है। इसी समय धीरे-धीरे एक मृत्युकी छाया आकर उनके चारों ओर छा गयी। वह छाया बड़ी अद्भुत और मोहमयी है। मानो एक छिपे हुए इन्द्रजालने आकर धीरे-धीरे उन्हें घेर लिया हो।

सावित्रीने उस समय न कुछ देखा, न कुछ सुना और न कुछ स्पर्श ही किया; केवल एक नवीन राज्यमें मानो उसने एकाएक प्रवेश किया। उसे चारो ओर मायाजाल-ही-मायाजाल दिखायी देने लगा। सावित्रीको भास हुआ कि जैसे उस घोर अन्धकारमें, अन्धकारकी कायाके साथ कुछ खिलखिलाकर नाच रहा है। सावित्री एक दृष्टिसे उसकी ओर देखने लगी।

मूर्त्ति धीरे-धीरे रूप धारण करके स्पष्ट होने लगी और क्रमशः आकृति विशिष्ट हो गयी। सावित्रीने सभय देखा कि क्या ही विकट चेहरा है! देखकर उसने मस्तक नीचा कर लिया और प्रिय पतिके मुखकी ओर देखनेमें विशेष तन्मय होने लगी। धीरे-धीरे वह विकट चेहरा छिप गया।

इसके बाद बहुत देर हो गयी। अब भी सत्यवान्का हृदय धड़क रहा है। सावित्री आशाका घर बाँधने लगी। इसी समय घोर अन्धकारमय वह अरण्य-भूमि एक दिव्य तेजसे आलोकित हो उठी। वैसा प्रकाश आपने कभी नहीं देखा होगा और ज्ञात होता है, स्वयं सावित्रीने भी इसके पहले कभी नहीं देखा होगा; परंतु अब तो उसने उसे देखनेको तुरंत ही मुँह उठाया।

किंतु यह क्या! सावित्री एक दम काँप उठी। क्या ही दिव्य अलौकिक मूर्त्ति है! उस घोर अन्धकारके पर्देपर बादलोंसे निकली हुई बिजलीके समान सावित्रीने देखा कि क्या ही सुन्दर रूप है! क्या मनोहर आकृति है! हाथमें पाशदण्ड, मस्तकपर उज्ज्वल किरीट, चरणोंमें रत्नखचित पादुका और शरीरपर अमूल्य वस्त्र धारण किये हुए साक्षात् मूर्त्तिमान् धर्मराज हैं!

सावित्री समझ गयी कि यही धर्मराज हैं—यही यमराज हैं। अब रक्षा नहीं हो सकेगी। अब तो सत्यवान्को छोड़ ही देना पड़ेगा।

सावित्रीने हाथ जोड़कर उस अलौकिक पुरुषसे पूछा—'प्रभो! आप कौन हैं? आपकी मूर्ति उज्ज्वल और देह अलौकिक है! देखनेसे लगता है कि आप कोई देवता हैं। क्या आप ही धर्मराज यम हैं?'

यमराजने स्नेहपूर्वक सावित्रीपर एक दयादृष्टि डालते हुए कहा—'हाँ सावित्री, मैं ही यम हूँ, मैं ही धर्मराज हूँ, मैं ही चराचरका लयकर्त्ता हूँ और काल आनेपर लोगोंके प्राण हरनेवाला हूँ। मुझे ही मृत्यु जानो। आज मुझे ही तुम्हारे पतिके प्राणोंका हरण करना होगा; क्योंकि इसका काल आ गया है! अब तुम इसको छोड़ दो। मैं इसे स्पर्श करूँगा।'

सावित्रीने धीरे-धीरे सत्यवान्की देह नीचे रख दी और हाथ जोड़कर वह उठ खड़ी हुई। फिर धर्मराजने सत्यवान्की देहको स्पर्शकर उसके अङ्गुष्ठ बराबर प्राणपुरुषको बाहर निकाल लिया!

सावित्रीने कहा—'प्रभो, सुना है कि आपके दूत ही लोगोंके प्राण हरण करनेको आया करते हैं; पर आज आपको स्वयं उपस्थित देख रही हूँ। इसका क्या कारण है?'

यमराजने सावित्रीके मुखकी ओर देखा। क्या ही अपूर्व बालिका है! यमराजने उसके स्वामीका जीवन बाहर निकाल लिया है, तो भी बालिका स्थिर और गम्भीरभावसे यमके साथ बातचीत कर रही है। यह दृश्य यमराजको बड़ा ही अद्भुत जान पड़ा।

यमराजने उत्तर दिया—'सावित्री! तुम अपूर्व सती-साध्वी हो, इसीसे मै तुम्हारे इस प्रश्नका उत्तर देता हूँ कि पापी और कुकर्मी लोगोंके ऊपर ही मेरे दूतोंका अधिकार रहता है, साधुजनोंके ऊपर नहीं रहता। सत्यवान् परम धार्मिक है और फिर तुम्हारी-जैसी पतिव्रताकी गोदमें सोया हुआ है। ऐसी दशामें मेरे दूतगण कैसे इसे स्पर्श कर सकते हैं? ऐसे धार्मिक पुरुषोंका प्राण हरण करना तो मेरा ही काम है। इसीसे मैं स्वयं आया हूँ। अब तुम घर जाओ, मैं विदा होता हूँ।'

यह कहकर यमराज सत्यवान्के उस प्राण-पुरुषको लेकर उत्तर दिशाकी ओर जाने लगे। किंतु सावित्री घर नहीं लौटी।

सावित्री उस समय सोचने लगी—'अब मैं क्या करूँ ? क्या घर लौट जाऊँ ? पर घर कहाँ है ! घर तो स्वामीके साथ ही है और स्वामी यमपुरीकी ओर चल पड़े हैं ! तब मैं यहाँ क्यों खड़ी रहूँ ? यद्यपि यमराज नियतिकी आज्ञासे स्वामीको ले जा रहे हैं, तो भी मेरे साथ जानेमें क्या हानि है ? क्या बाधा है ? स्वामीके सङ्गसे मुझे कौन अलग कर सकता है ? मैं अवश्य जाऊँगी !' सावित्री यमराजके पीछे-पीछे चल निकली।

देवताओंका पुरुषार्थ प्रबल होता ही है। यमराज हवाके साथ मिलकर निमेषमात्रमें अनेक कोसोंका मार्ग पार करने लगे। परंतु पातिव्रतका माहात्म्य भी कुछ कम नहीं होता—बड़ा ही अपूर्व होता है ! उसी शक्तिके बलसे सावित्री भी अनायास ही यमके पीछे-पीछे जाने लगी। संसारमें जो काम कभी किसीने नहीं किया—नहीं देखा, सावित्री आज अपनी पवित्रता, पातिव्रत्य और सतीत्वके प्रभावसे वही करनेको तत्पर हुई है। उसकी इस क्रियासे जगत्में एक अपूर्व आदर्श स्थापित हुआ।

यमने कुछ दूर जा पीछे फिरकर देखा कि सावित्री आ रही है। देखकर वे बड़े आश्चर्यमें पड़ गये। एक मृत्युलोककी स्त्री देवताका पीछा किये हुए आ रही है—यह बात यमराजको बिल्कुल नयी प्रतीत हुई। उन्होंने कहा—'सावित्री ! यह क्या ! तुम कहाँ आ रही हो ? मेरे साथ तुम्हारा चलना असम्भव है !'

सावित्री बोली—'भगवन् ! जहाँ मेरे स्वामी जा रहे हैं, मैं भी वहाँ जाऊँगी; क्योंकि स्वामीके साथ जाना पत्नीका धर्म है। मैं उसी धर्मका पालन कर रही हूँ।'

यमने कहा—'सावित्री ! यह होनेका नहीं है ! मनुष्योंके लिये जितनी दूर आना सम्भव है, उतनी दूर तुम आ चुकी हो; अब और आगे न आ सकोगी। अब तुम्हारी चलनेकी शक्ति क्षीण हो जायगी। इसलिये वृथा क्यों कष्ट सह रही हो ? पतिकी मृत्यु होनेपर उसकी अन्त्येष्टि और पारलौकिक क्रिया करना ही पत्नीका कर्तव्य है। अतः अब तुम घर जाकर यही काम करो।'

किंतु सावित्रीने अटलभावसे कहा—'प्रभो ! घर जानेकी बात क्यों कर रहे हो ? घर मेरा कौन है ? मेरा घर तो अब आपकेही साथ है। नारीके जीवन-मरणका एकमात्र आश्रय पति ही है। आप तो मेरे उसी आश्रयको ले जा रहे हैं ! तब मैं कहाँ जाऊँ ?'

सावित्रीकी बात सुनकर धर्मराजको बड़ा आनन्द हुआ। आनन्द होनेकी बात ही थी। किंतु नियतिकी गतिका भी तो परिवर्तन नहीं हो सकता, यह उनको दृढ़ विश्वास था। इसीलिये उन्होंने कहा—'सावित्री ! दुःखके कारण अंधी मत बनो, पागलपनको छोड़कर घर जाओ। यमराजका पीछा न कभी किसीने किया है और न कर सकता है। वृथा क्यों कष्ट सह रही हो ? स्वामीका तुम्हारे ऊपर जो ऋण था, वह चुक गया। बस, अब मेरे पीछे-पीछे मत आओ।'

सावित्री विनयपूर्वक बोली—'प्रभो ! यदि शास्त्रानुसार ही रहती हूँ, तब भी इस काल और परकालमें पत्नी कभी स्वामीके ऋणसे मुक्त नहीं होती। पत्नी चिरकालसे ही पत्नी, और स्वामी चिरकालसे ही उसका स्वामी है। और तभीसे पत्नी स्वामीकी आज्ञाका पालन और उसकी सेवा-शुश्रूषा करती आ रही है। और यही सच्चा सतीधर्म है। मैं उसी धर्मके अनुसार आज आपका पीछा किये हुए हूँ। तपस्या, पातिव्रत्य, गुरुभक्ति, व्रत, देवाराधना और आपके आशीर्वादसे भी क्या आज मेरी गति निर्बाध न होगी ?'

सावित्रीके मुखसे यह बात सुनकर यमराज और भी आश्चर्यान्वित हुए; क्योंकि ऐसी धर्मकथा उन्होंने रमणीके मुखसे कभी नहीं सुनी थी। इस बार उसे सुनकर उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। इसीलिये वे सावित्रीको वर देनेके लिये तैयार हो गये। बोले—'सावित्री ! तुम निश्चय ही अपूर्व साध्वी हो। तुम्हारी बात सुनकर मुझे परमानन्द प्राप्त हुआ है। तुम वर माँगो। सत्यवान्‌के जीवनके सिवा और जो तुम्हारी इच्छा हो, मुझसे कहो; मैं उसे पूर्ण करूँगा।'

यमराजकी बात सुनकर सावित्री बड़ी प्रसन्न हुई क्योंकि उसे स्वप्नमें भी आशा नहीं थी कि यमराज इतने सहजमेंही प्रसन्न हो जायँगे; और अब एकाएक यमराजको प्रसन्न देखकर उसके हृदयमें आशाका एक छोटा-सा दीप जल उठा। पर यमराजने पहले ही उसे सत्यवान्‌का जीवन माँगनेके लिये मना कर दिया है। यह बड़े परितापका विषय है ! हाय, क्या यमराज किसी प्रकार भी उसे यह अमूल्य रत्न भिक्षामें नहीं देंगे ? यदि नहीं, तो उसे अन्य वर माँगनेसे क्या प्रयोजन है ? सावित्री यही चिन्ता करने लगी। किंतु इसी समय उसे एक बात याद आ गयी। उसने सोचा—'माना' मुझे ऐसे वरसे कोई प्रयोजन नहीं है; किंतु मेरे सास-ससुरका तो इससे उपकार हो सकता है। मेरे ससुर दोनों आँखोंसे अंधे हैं, वे

यदि अच्छे हो जायँ तो क्या ही उत्तम बात हो। मैं यही वर क्यों न माँगूँ ?'

यों विचारकर सावित्रीने यमराजसे, अपने वृद्ध सास-ससुरकी आँखें ज्योतिवान् हो जानेकी प्रार्थना की। यमराज प्रसन्नचित्तसे सावित्रीको यह वर देकर फिर यमपुरीकी ओर चले।

परंतु थोड़ी ही दूर जाकर फिर यमराजने पीछे देखा कि सावित्री अब भी आ रही है। देखकर वे बड़े अचंभेमें पड़े और उसी अवस्थामें खड़े रहकर सोचने लगे—'यह सामान्य मानवी सावित्री यहाँतक मेरा पीछा किये हुए आ रही है; यह बड़े ही आश्चर्यका विषय है ! मैंने तो ऐसा कभी नहीं देखा था; आज यह क्या हुआ ?' यमराजने फिर सावित्रीकी ओर एक बार अच्छी तरह देखा। 'यह क्या ही अपूर्व तेजोराशि-मण्डित छोटी-सी मनोहर मूर्ति है ? ऐसा तेज इसने कहाँसे पाया ? ऐसी शक्ति कहाँसे आयी ? किसने इस बालिकाको ऐसी शक्तिशालिनी बनाया ? पतिभक्तिने ही क्या ? पर नियतिकी गतिका कौन परिवर्तन कर सकता है ! और यह बालिका नियति भङ्ग करनेको मेरे पीछे-पीछे चली आ रही है। यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है !'

यमने फिर सावित्रीको सम्बोधन करके कहा—'सावित्री, मैं इतना स्वतन्त्रतापसे तेज चल रहा हूँ और तुम मेरा अनुसरण किये हुए आ रही हो; इसलिये तुम साधारण स्त्री नहीं जान पड़ती। परंतु मेरा पीछा करनेसे अवश्य ही तुमको बड़ा भारी आयास प्राप्त हो रहा है और तुम बहुत ही थक गयी हो। अतः अब भी घर लौट जाओ, क्यों वृथा असम्भव-साधनका यत्न कर रही हो !'

सावित्रीको स्वधर्मसे दूर करना धर्मराजको भी उचित नहीं है। अतएव सावित्रीने उत्तर दिया—'प्रभो ! आप धर्मराज हैं; धर्मराज होकर मुझे ऐसा आदेश न करें; क्योंकि पति ही स्त्रीका एकमात्र धर्म है। इसलिये मुझे आप इस धर्मसे च्युत न कीजिये। जहाँ पति जायँ, स्त्रीको भी वहीं जाना चाहिये। नहीं तो पत्नीका धर्म नष्ट हो जाता है। अब आप धर्मराज होकर किस प्रकार मुझे इस पथसे दूर करनेकी चेष्टा कर रहे हैं ? पतिके साथ चलनेमें मुझे तनिक भी कष्ट नहीं हो रहा है। आप मेरे कष्टकी चिन्ता न करें।'

यह कहकर सावित्री फिर आगे बढ़ने लगी। यमराजने उत्कण्ठित होकर कहा—'सावित्री ! तुम अपूर्व साध्वी हो, किंतु तुम नियतिकी गतिको बदलनेकी चेष्टा मत करो। इस लोक और परलोकका सम्बन्ध स्थायी नहीं होता। मनुष्य कभी मरे हुएका पीछा नहीं करते। वृथा क्यों मेरे पीछे-पीछे चली आ रही हो ? मैं अभी तुम्हारी दृष्टिके सामनेसे छिन हो जाऊँगा। बोलो, उस समय तुम कैसी विपद्में पड़ जाओगी ? एक बार सोचो तो सही ! कहना मानो, अब भी घरको लौट जाओ।'

सावित्रीने पुनः कातरभावसे कहा—'धर्मराज ! यह क्या आज्ञा दे रहे हैं ? नासमझ यदि इस बातको कहे तो ठीक है; पर आप तो धर्मावतार हैं ! आप किस प्रकार धर्मकी मर्यादा भङ्ग कर रहे हैं ? धर्म यह है कि सात पाँव किसी व्यक्तिके साथ चलनेसे बन्धुता हो जाती है और वह उसे निभाता है। आप भी अब शास्त्रके मतसे मेरे साथ उसी बन्धुताके सूत्रसे बँध गये हैं। उस सूत्रको तोड़कर आप मुझे किस प्रकार छोड़ जायँगे ?'

सावित्रीकी बात सुनकर धर्मराजको भान होने लगा मानो धीरे-धीरे किसीने एक लोहकी साँकल उनके पाँवमें पहना दी है और वे उस धर्मकी जंजीरसे बँध गये हैं। अब वास्तवमें सावित्रीको किस प्रकार छोड़ जायँ ? क्योंकि सावित्री न्यायानुसार ही बात कह रही है ! अब उसे परास्त करनेका उपाय ही क्या है ? और परास्त करना अधर्म भी है ! यम स्वयं धर्मराज होकर यह अधर्म किस प्रकार करें ? परंतु नहीं करनेसे काम कैसे चल सकता है ? और जीव किस तरह यमपुरी पहुँच सकता है !

ऐसे ही विचारोंसे यम व्यथित हुए। किंतु फिर बहुत कुछ सोच-विचारके बाद उन्होंने कहा—'सावित्री, तुम्हारी बातें अमृतके समान हैं; जितनी सुनी जाती हैं, उतनी ही सुननेकी इच्छा होती है। किंतु नियतिकी गतिका उल्लङ्घन करना मेरे लिये उचित नहीं। तुम और जो कुछ चाहो, उसके लिये प्रार्थना करो। सत्यवान्‌के जीवनके सिवा तुम्हें और क्या चाह है, उसे कहो। मैं तुमको और भी एक वर दूँगा।'

देवताओंका दान लेना ही चाहिये। सावित्रीने यह धारणा बनाकर और भी एक वरकी प्रार्थना की। इस बार उसने अपने ससुरका पुनः राज्य पाना माँगा।

'तुम्हारे ससुर शीघ्र ही गये हुए राज्यको पुनः पावेंगे।' यह कहकर यमराजने फिर यमपुरीका रास्ता लिया।

किंतु कैसी विडम्बना है ! कुछ दूर जानेमें ही फिर बाधा पड़ी। यमराजने थोड़ी दूर जाकर पीछे देखा तो अब भी सावित्री उनके पीछे-पीछे आ रही थी। यमराज इस बार

विचलित हुए; क्योंकि वे मन-ही-मन सोचे हुए थे कि सावित्री बहुत शीघ्र थक जायगी, उसकी चलनेकी शक्ति कम हो जायगी। किंतु इस समय इसके विपरीत देखकर उन्हें अति आश्चर्य हुआ। यमराज वायुवेगके समान छिपे मार्गसे यमपुरी जा रहे हैं और सावित्री भी स्वच्छन्दरूपसे उनके पीछे-पीछे जा रही है। यह क्या बात है, इसे यमराज ठीक-ठीक न समझ सके। बोले—'सावित्री, अब फिर कहाँ आ रही हो? समझती नहीं हो! जाओ, जल्द घर लौटो। मेरे छिप जानेसे अब तुम कुछ भी नहीं देख सकोगी। पीछे लौटनेका मार्गतक ढूँढ़नेसे नहीं मिलेगा। बोलो, और क्या चाहती हो? मैं तुमको और भी एक वर देनेको तैयार हुआ हूँ। सत्यवान्‌के जीवनके सिवा और एक वर माँग लो।'

इस बार सावित्रीकी दृष्टि पितृ-कुलकी ओर गयी। सुशीला सावित्री अपने सुख-दुःखको तुच्छ गिनकर पहले ही ससुर-कुलकी श्रीवृद्धिके साधनमें सफल हो चुकी है और अब माता-पिताके दुःख दूर करनेका उसने वर माँगा। सावित्रीके पिता अश्वपति पुत्रहीन हैं, इसका सावित्रीको बड़ा भारी कष्ट बना रहता है। राज्य नष्ट और वंश निर्मूल हुआ चाहता है। इसीलिये सावित्रीने प्रार्थना की,—'प्रभो! यदि आप संतुष्ट हुए हैं तो इस बार यह वर दीजिये कि मेरे माता-पिता सौ पुत्रोंके अधिकारी हों और उनमेंसे एक-एकके तेजसे मानो चारों दिशाएँ आलोकित हो उठें।'

यमराज सावित्रीको यह वर देकर फिर यमपुरीकी ओर अग्रसर हुए, परंतु फिर भी बाधा पड़ी। यमराजने सभय देखा तब भी सावित्री पीछे-पीछे चली आ रही थी। देखकर उनका मुखमण्डल म्लान हो गया। वे खड़े रह गये। बोले—'सावित्री! तुमको मैंने एक वर, दो वर, तीन वर दे दिये। तब भी तुम मेरे पीछे-पीछे आ रही हो! यह क्या बात है? तुम्हें और क्या चाहिये? वृथा क्यों इतना परिश्रम कर रही हो? मैं अब अधिक नहीं ठहर सकता। इस बार यदि तुम मुझे विदा नहीं दोगी तो मैं तुम्हें यहींपर छोड़ जाऊँगा। देखो, तब तुम कैसी विपद्‌में पड़ोगी! जरा सोचो तो सही।' किंतु सावित्री तनिक भी विचलित नहीं हुई। बोली—'धर्मावतार! यदि आप फिरे ही हैं तो दासीकी एक बात और सुन लीजिये। देखिये, मैं एक क्षुद्र नारी हूँ, पर नारी होनेपर भी आपकी बन्धु हूँ। जैसे सात पग एक साथ चलनेसे बन्धुता हो जाती है, वैसे ही सात बातें एक साथ कहनेसे भी बन्धुता हो जाती है। आप अब दोनों तरहसे मेरे साथ इस सम्बन्धमें बँध गये हैं। मुझे परिश्रमकी बात कहकर ऐसे सत्सङ्गसे वञ्चित न करें। शास्त्रमतसे सत्सङ्ग ही लोगोंके लिये अनमोल वस्तु है। मैं अब इसी सत्सङ्गमें रहूँगी, और हूँ। स्वामीके समान पवित्र वस्तु, आपके समान दुर्लभ सामग्री और इस रम्य स्थानके समान पुण्य प्रदेश और कहाँ है? इन सबकी समानता कौन कर सकता है? ऐसे सत्सङ्गमें रहकर मार्गका कष्ट मुझे तनिक भी अनुभव नहीं होता और न कुछ दूरी जान पड़ती है, बल्कि और भी आगे बढ़नेको उत्साह हो रहा है। मेरा मन मानो और भी दूर देशमें जानेके लिये उन्मत्त हो रहा है। इसलिये अनुग्रह करके मुझे भी आप स्वामीके साथ ही ले चलें। स्वामीके साथ रहनेसे बहुत दूर-दूरके प्रदेश भी मुझसे दूर न रहेंगे। आप मेरे साथ यही बन्धुताका कार्य करें।'

यमराज विषम भ्रममें पड़ गये। सोचने लगे, 'सावित्री यह क्या हठ कर रही है! इसे अदेय वस्तु तो कुछ भी नहीं है, पर विधाताके लेखका किस प्रकार उल्लङ्घन करूँ? ऐसा होना भी असम्भव है। और सावित्री मुझे धीरे-धीरे धर्मके बन्धनमें बाँध रही है। आज न जाने क्या घटना घटेगी! यमराज थोड़ी देरतक किंकर्तव्य-विमूढ़-से हो गये। इसके बाद बोले—'सावित्री, जो असाध्य है, उसकी चाह मत करो। बल्कि और भी एक वर माँग लो। तुम अपूर्व साध्वी हो। तुम्हारे तत्त्वज्ञानसे मैं मोहित हो गया हूँ। बोलो, सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर और क्या चाहती हो, जिसे मैं तुम्हें दूँ? अब यह वर लेकर मुझे छुट्टी दे देना।'

सावित्रीने देखा कि यमराज मुझे वरके ऊपर वर देकर केवल जानेकी सुविधा ढूँढ़ रहे हैं। ऐसे समय कोई गूढ़ वर माँगना चाहिये। यह सोचकर सती साध्वीने इस बार जैसे एक तीक्ष्ण शरका विक्षेप किया। एक अतिकूट भिक्षा देनेके लिये प्रार्थना की। सावित्रीने कहा—'देव! शास्त्र कहता है कि संतान बिना लोगोंकी गति नहीं होती और परलोकका काम भी नहीं सुधरता। मेरे ससुरके भी राज्यकी रक्षाके लिये मेरे स्वामी ही एकमात्र संतान हैं। इसलिये अबकी बार मुझे यह वर दीजिये कि मैं अपने स्वामीके सौ औरस पुत्रोंकी अधिकारिणी बनूँ, और इसीके साथ मेरे ससुरका वंश भी चिरस्थायी हो।'

यमराजने कहा—सावित्री, इस वरमें तुम्हारे माँगे

हुए सौ पुत्रोंकी व्यवस्था मैंने कर दी है। तुम्हारे ये सौ पुत्र पृथ्वीपर अपूर्व तेजस्वी और बल-वीर्य-सम्पन्न होंगे । उनका सुयश चारों ओर फैल जायगा और तुम्हारा कुल भी धन्य होगा। अब तुम मुझे छुट्टी दो, मैं जाता हूँ।'

यह कहकर यमराजने सावित्रीको दुबारा कुछ कहनेका अवसर ही नहीं दिया और बहुत ही तेज चालसे चल निकले। पर सावित्री भी उनके पीछे-पीछे चलने लगी।

(शेष अगले अङ्कमें)

सच्ची वकालत

(लेखक—श्रीकेशवदेवजी आचार्य)

आजकल प्रायः यह देखा जाता है कि झूठा या सच्चा जो भी अभियोग वकीलोंके पास आता है, उसे स्वीकार करके वे अनेक प्रकारके झूठे तर्कोंसे उसे सच्चा सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप न्यायाधीशोंके लिये उन तर्क-वितर्कोंके जालमेंसे सत्योंको छाँट निकालना असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य हो जाता है। इस कारण अनेक बार निरपराध व्यक्तियोंको दण्ड मिल जाता है और अपराधी छूट जाते हैं। मनुजीने कहा है कि जो राजा अदण्डनीय पुरुषोंको दण्ड देता है और दण्डयोग्य पुरुषोंको दण्ड नहीं देता, वह बहुत अपयशको प्राप्त होता है और नरकको जाता है *। इस पाप-कर्ममें सहायता देनेवाले वकील लोग ही हैं। सच्चा वकील वह होता है जो—

(१) सच्चा अभियोग स्वीकार करता है और झूठेको छोड़ देता है।

(२) दोनों पक्षोंमें समझौता करानेका प्रयत्न करता है।

(३) परिश्रमके अनुपातसे यथासम्भव कम फीस लेता है।

(४) अभियोगार्थीसे पहले पूरी फीस नहीं लेता। यदि पूरी फीस लेता है तो अन्ततक पूरे परिश्रमसे कार्य करता है।

(५) बिल्कुल सच्चे तर्क उपस्थित करता है, लेशमात्र भी तथ्योंकी तोड़-मरोड़ नहीं करता।

(६) यदि कोई बात समझमें न आये तो अभियोगार्थीको कह देता है और उसे यह अवसर देता है कि वह चाहे तो उसकी अपेक्षा किसी श्रेष्ठ वकीलको नियुक्त कर ले, अथवा दूसरे श्रेष्ठ वकीलसे परामर्श कर ले।

* अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥
(मनु० ८ । १२८)

अमेरिकाके राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन और भारतके राष्ट्रपिता महात्मा गांधीमें ये बातें बहुत कुछ दिखलायी देती थीं।

अब्राहम लिंकन

अब्राहम लिंकनका जन्म १८०९ ईसवीमें उत्तरी अमेरिकाकी केन्टे नामक रियासतमें हुआ था। ये बचपनसे ही सत्यप्रिय थे। जैसा मनमें होता, वैसा ही वाणीसे कहते और वैसा ही आचरण भी करते थे।

वकालतके विषयमें इनके कुछ निश्चित सिद्धान्त थे, जिनका वे पूरी सचाईसे पालन किया करते थे। वकीलोंको सम्बोधन करते हुए वे कहा करते थे—'जब भी सम्भव हो, अपने पड़ोसियोंको समझौतेके लिये बाध्य करो। उन्हें समझाओ कि किस प्रकार प्रकटमें जीतका सेहरा बाँधनेवाला वास्तवमें हारता है, खोता है, समय और धन दोनों ही नष्ट करता है। शान्ति-स्थापकके नाते वकीलके लिये यह एक अच्छा खासा व्यवसाय है।'

'मुकदमेबाजीको पनपनेका अवसर ही न दो। जो इसके लिये अवसर देता है, वह निकृष्टतम पुरुष है। सामान्यतया अपनी पूरी फीस पहलेसे मत लो; केवल उतनी ही फीस पहलेसे लो, जिससे अभियोगार्थी तुमसे बँधा रहे। यदि पहले ही सारी फीस ले ली जाती है और उसके बाद भी तुम्हारे मनमें अभियोगके प्रति वही अभिरुचि और भावना बनी रहती है मानो तुम्हें अपने अभियोगार्थीसे अभी भी कुछ प्राप्त करना शेष है, तो तुम सामान्य मनुष्यसे कुछ अधिक हो।'

अब्राहम लिंकन सदा अभियोगको सच्चा जानकर ही स्वीकार करते थे और यदि उन्हें बीचमें ही यह पता चल जाता था कि यह अभियोग मिथ्या है तो सफलता और पर्याप्त धन मिलनेकी पूरी आशा होनेपर भी वे तुरंत उसे छोड़ देते थे। एक बार कचहरीमें आते समय एक अभियोगमें

अचानक उन्हें एक ऐसा तथ्य मिला, जो उनके लिये नया था, किंतु जिसके कारण उन्हें अभियोगका विवरण देना उचित न जँचा। वे अपने स्थानपर लौट गये। न्यायालयमें अभियोग उपस्थित हुआ, परंतु अब्राहम अनुपस्थित रहे। जजने उनके पास संदेश भेजा। अब्राहमने उत्तर भेजा—'जज-से कह दो कि मैं इस अभियोगसे अपना हाथ हटा रहा हूँ।'

एक अभियोगार्थीको जिसे सफलताकी आशा बहुत अधिक थी, उसने कहा—मैं तुम्हारे अभियोगको जितवा सकता हूँ। पर यदि मैं ऐसा करता हूँ तो मैं एक ईमानदार परिवारपर संकट लानेका अपराधी बनूँगा और ऐसा करनेके लिये मैं तैयार नहीं हूँ। ऐसा करनेकी अपेक्षा मैं तुम्हारे अभियोग और तुम्हारी फीसको अस्वीकार करना ही अधिक पसंद करता हूँ। बिना कोई फीस लिये ही मैं तुम्हें एक सम्मति देना चाहता हूँ—'घर जाओ और छः सौ डालर कमानेका कोई और अधिक सच्चा रास्ता खोज निकालो।'

इस प्रकारकी सत्यनिष्ठाके निर्णय वहाँकी जनताकी भावनासे मेल नहीं खाते थे। इसी कारण लिंकनको पचीस वर्षकी आयुमें ही विक्षिप्तकी उपाधि मिली थी और पैंतीस वर्षकी आयुमें वे पूरी तरह विक्षिप्त माने जाने लगे थे। परंतु न्यायाधीशोंके मस्तिष्कपर इनकी युक्तियों और वक्तव्योंकी सचाईकी धाक बैठ जाती थी। ये प्रायः निर्दोष सताये जाने-वाले व्यक्तियोंका ही पक्ष ग्रहण करते थे।

अब्राहम लिंकन बहुत साधारण फीस लेते थे। वे अपनी फीसका हिसाब कभी मुकदमेके आधारपर नहीं करते थे, अपितु अपने परिश्रमके आधारपर करते थे। एक होटलके मालिकने कुछ आवश्यक कानूनी कागज तैयार करनेके लिये इन्हें पचीस डालर दिये तो लिंकनने कहा—'तुम सोचते होगे कि मैं कोई ऊँची फीसवाला वकील हूँ। जान पड़ता है कि तुम पैसा खर्च करनेके मामलेमें बहुत उदार हो। इस कामके लिये १५ डालर काफी होगा। मैं तुम्हें १० डालरका बिल लौटाये दे रहा हूँ।'

महात्मा गांधी

महात्मा गांधी वकालत करते समय सदा सच्चा ही अभियोग लेते थे और जहाँतक बन पड़ता, दोनों पक्षोंमें समझौता करानेका प्रयत्न करते थे। पोरबंदरके एक फर्मके मालिक सेठ अब्दुल्लाका एक ४० हजार पौंडका अभियोग चल रहा था। प्रतिपक्षी थे उनके ही एक रिश्तेदार भाई सेठ तैयब। इस अभियोगमें सेठ अब्दुल्लाकी ओरसे गांधीजी दक्षिणी अफ्रिका गये। इस अभियोगके विषयमें महात्मा गांधी इस प्रकार लिखते हैं—'दादा अब्दुल्लाके मुकदमेकी तैयारी करते समय मैं तथ्यकी महिमा इतनी है, यह न जान सका था। तथ्यका अर्थ है सची बात। सचाईका पलड़ा पकड़े रहनेसे कानून अपने आप हमारी सहायताको आ जाता है। मैंने तो अन्तमें यह भी देख लिया कि मेरे मुवक्किलका मुकदमा बहुत मजबूत है। कानूनको उसकी सहायता करनी ही चाहिये।

'पर मैंने देखा मुकदमा लड़नेमें दोनो पक्ष, जो एक-दूसरेके रिश्तेदार हैं और एक ही शहरके रहनेवाले हैं, बर्बाद हो जायँगे। मुकदमेके अन्तका किसीको पता नहीं। कचहरीमें तो वह चाहे जितना लंबा किया जा सकता है। उसके लंबा होनेमें दोनोमेंसे एकका भी लाभ न होगा।

'तैयब सेठसे मैंने अनुरोध किया—आपसमें झगड़ा निबटा लेनेकी सलाह दी। उन्हें अपने वकीलसे मिलनेको कहा। किसी ऐसे आदमीको पंच चुन लें, जिसपर दोनोका विश्वास हो तो मामला झट-पट निपट जाय। वकीलोंका व्यय इतना चढ़ता जा रहा था कि उसे चुकानेमें बड़े व्यापारीकी भी बछिया बैठ जाय। दोनो ऐसे जी-जानसे मुकदमा लड़ रहे थे कि एक भी निश्चिन्त होकर दूसरा कोई काम न कर सकता था। परस्परमें वैर भी बढ़ता जा रहा था। मुझे वकालतके धंधेसे घृणा हुई। वकीलके नाते दोनो पक्षोंका काम यही था कि एक दूसरेको जीतनेके लिये कानूनी नुकते ढूँढ़ निकाले। यह बात मैंने पहले-पहल इस मुकदमेमें ही जानी कि जीतने-वालेको कुल खर्चा कदापि नहीं मिल सकता। पक्षसे ली जा सकनेवाली कानूनी फीसका एक हिसाब होता है तथा मुवक्किल और वकीलके बीचका हिसाब दूसरा होता है। यह सब मुझे असत्य लगा। मुझे अपना धर्म दोनो रिश्तेदारोंमें मेल करा देना ही जान पड़ा। समझौता करा देनेके लिये मैंने जी-जानसे प्रयत्न किया। तैयब सेठ मान गये। अन्तमें पंच चुने गये। मुकदमा चला, दादा अब्दुल्ला जीत गये।

'पर इतनेसे मुझे संतोष न हुआ। तैयब सेठ ३६००० पौंडकी डिग्री और व्यय एक साथ न दे सकते थे। उन्हें एक दमड़ी कम भी न देना था, न दिवाला ही निकलवाना था। मार्ग एक ही था—दादा उन्हें पर्याप्त लंबी अवधि दे दें। दादा अब्दुल्लाने उदारता दिखलायी और खूब लंबी अवधि दे दी। मुझे पंचके चुनावमें जितना परिश्रम पड़ा, उससे अधिक यह लंबी अवधि दिलानेपर करना पड़ा। दोनो पक्षोंमें प्रसन्नता

हुई। दोनोंकी प्रतिष्ठामें वृद्धि हुई। मेरे संतोषकी सीमा न रही। मैंने सच्ची वकालत करना सीखा, मनुष्य-हृदयमें बैठना सीखा, मनुष्य-स्वभावका उज्ज्वल पक्ष ढूँढ़ निकालना सीखा। मैंने सीखा कि वकीलका कर्तव्य पक्षोंके बीचमें खुदी हुई खाईको भरना है। इस शिक्षाने मेरे मनमें ऐसी जड़ जमायी कि मेरी बीस सालकी कमाईका अधिक समय अपने दफ्तरमें बैठे सैकड़ों मुकदमोंमें समझौता करानेमें ही बीता। इसमें मैंने कुछ खोया नहीं। पैसेके घाटेमें रहा, यह भी नहीं कहा जा सकता। आत्मा तो नहीं ही गँवायी।

'मैं विद्यार्थी अवस्थामें भी सुनता था कि वकालतके धंधेमें झूठ बोले बिना नहीं चल सकता। मुझे झूठ बोलकर न तो पद लेना था और न पैसा। इसलिये इन बातोंका असर मुझपर नहीं पड़ता था।

'दक्षिण अफ्रिकामें इसकी परीक्षा बहुत बार हुई थी। मैं जानता था कि प्रतिपक्षीके गवाह सिखाये हुए हैं और तनिक भी मुवक्किल या गवाहको झूठ बोलनेको उत्साहित कर दूँ तो मुवक्किलका मुकदमा डिग्री हो जायगा। पर मैंने सदा इस लोभको दूर रखा। ऐसे एक ही अवसरका मुझे स्मरण है जब कि मुवक्किलका मुकदमा जीतनेके बाद मुझे यह संदेह हुआ कि मुवक्किलने मुझे धोखा दिया है; मेरे अन्तरमें सदा यही रहता था कि यदि मुवक्किलका मुकदमा सच्चा हो तो वह जीत जाय और झूठा हो तो हार जाय। पारिश्रमिक लेनेमें मैंने हार-जीतपर पारिश्रमिककी दर कभी ठहरायी हो, इसका स्मरण मुझे नहीं है। मुवक्किल चाहे हारे या जीते, मैं तो सदा पारिश्रमिक ही माँगता था और जीत होनेपर भी उसीकी आशा रखता था। मुवक्किलसे पहले ही कह देता था—झूठा अभियोग हो तो मेरे पास मत आना। गवाहको सिखाने-पढ़ानेकी तो मुझसे आशा ही न रखना। अन्तमें मेरी साख तो ऐसी हो गयी कि झूठे मुकदमे मेरे पास आते ही न थे। ऐसे मुवक्किल भी मेरे पास थे, जो अपने सच्चे मामले तो मेरे पास लाते थे और जिनमें जरा भी खोट-खराबी होती, उन्हें दूसरे वकीलके पास ले जाते।'

× × ×

एक बहीखातेकी उलझनवाले मुकदमेमें अदालतके चुने हुए हिसाब-किताब जाननेवाले पंचको उसका हिसाबी भाग सौंपा गया था। पंचके निर्णयमें गांधीजीके मुवक्किलकी पूरी जीत थी, परंतु उसके हिसाबमें एक भूल रह गयी थी। जमा खर्चकी रकम पंचके दृष्टिकोणसे इधरकी उधर ले ली गयी थी। मुवक्किलकी ओरसे गांधीजी छोटे वकील थे। बड़े वकीलने पंचकी भूल देखी थी। पर उनका मत था कि पंचकी भूल मानना मुवक्किलका कर्तव्य नहीं है। गांधीजीने कहा कि इस मुकदमेमें जो भूल है, वह स्वीकार की जानी चाहिये।

बड़े वकीलने कहा—'ऐसा होनेपर पूरा डर है कि अदालत सारे निर्णयको रद्द कर दे और ऐसे जोखिममें मुवक्किलको कोई चतुर वकील नहीं डालेगा। मुकदमा फिरसे चलाना पड़े तो मुवक्किल कितने खर्चमें पड़ेगा। और कौन कह सकता है कि अन्तिम परिणाम क्या होगा?"

गांधीजी लिखते हैं—'मैंने कहा—मैं तो समझता हूँ मुवक्किलको और हमें दोनोको यह जोखिम तो उठानी ही चाहिये और हमारे स्वीकार न करनेपर भी अदालत भूलभरे निर्णयको भूल मालूम होनेपर बहाल रखेगी, इसीका क्या भरोसा है? और भूल सुधारनेमें मुवक्किलको हानि उठानी भी पड़े तो क्या हर्ज है?'

भूल स्वीकार करनेकी स्थितिमें बड़ा वकील बहस करनेको तैयार न हुआ और भूल स्वीकार न करनेपर गांधीजी तैयार न हुए। अन्तमें मुवक्किलने गांधीजीसे कहा—'ठीक है, तब आप ही अदालतमें पैरवी करें। भूल स्वीकार कर लें। हारना भाग्यमें होगा तो हार जायँगे। सच्चेका रक्षक तो राम है न?'

गांधीजीने मुकदमेकी पैरवी करते समय उस भूलको बतलाया। पहले तो न्यायाधीश उस पक्षके विपरीत हुआ, किंतु अन्तमें उसने उस भूलको सुधारकर पंचके निर्णयको स्वीकार कर लिया!

गांधीजीके शब्दोंमें—'मेरे हर्षकी सीमा न रही। मुवक्किल और बड़े वकील प्रसन्न हुए और वकालतके काममें सत्यकी रक्षा करते हुए कार्य सिद्ध हो सकता है, मेरी यह धारणा दृढ़ हो गयी।'

'एक अवसर तो ऐसा आया कि जब विचाराधीन मुकदमेमें मैंने देखा कि मेरे मुवक्किलने मुझे ठगा था। उसका मुकदमा झूठा था। वह कठघरेमें खड़ा काँप रहा था, मानो गिर पड़ेगा। इससे मैंने मैजिस्ट्रेटको मुवक्किलके विरुद्ध निर्णय देनेको कहा और मैं बैठ गया। प्रतिपक्षीका वकील दंग रह गया। मैजिस्ट्रेट प्रसन्न हुआ। मुवक्किलको मैंने उलाहना

दिया । उसे पता था कि मैं झूठे मुकदमे नहीं लेता । उसने यह बात स्वीकार की—'मैं मानता हूँ कि मैंने विरुद्ध निर्णय माँगा ।' इससे वह अप्रसन्न नहीं हुआ । जो हो, पर मेरे वर्तावका बुरा प्रभाव मेरे धंधेपर नहीं हुआ और अदालतमें मेरा काम सरल हो गया । मैंने यह भी देखा कि मेरी इस सत्यपूजासे वकील बन्धुओंमें मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गयी थी और विचित्र संयोगोंके होते हुए भी उनमेंसे कितनोंकी प्रीति मैं सम्पादन कर सका था ।

'वकालत करते हुए मैंने एक आदत यह भी डाल ली थी कि अपना अज्ञान मैं न मुवक्किलसे छिपाता था, न वकीलोंसे । जहाँ-जहाँ मैं समझ न पाता, वहाँ-वहाँ मुवक्किलको दूसरे वकीलके पास जानेको कहता था । वह मुझे रखे तो अधिक अनुभवी वकीलसे सलाह लेकर कार्य करनेको कहता था । इस सरल व्यवहारके कारण मुवक्किलोंका मैं असीम प्रेम और विश्वास प्राप्त कर सका था ।'

सेठ रुस्तमजी चुंगीकी बहुत दीर्घ कालसे चोरी किया करते थे । एक बार वह पकड़ी गयी । अभियोग चलनेवाला था और जेल होनेकी सम्भावना थी । गांधीजीने कहा—'पर मुझे तो जिस चोरीके विषयमें वे नहीं जानते, उसे भी स्वीकार करना पड़ेगा । मैं सोचता हूँ कि जो दण्ड वे ठहरायें, उसे स्वीकार कर लेना चाहिये । बहुत करके तो वे मान जायँगे । पर कदाचित् न मानें तो जेलके लिये तैयार रहना होगा । मेरा तो मत है कि लज्जा जेल जानेमें नहीं है, अपितु चोरी करनेमें है । लज्जाका काम तो हो चुका । जेल जाना पड़े तो उसे प्रायश्चित्त समझियेगा । सच्चा प्रायश्चित्त तो अब आगे चुंगीकी चोरी न करनेकी प्रतिज्ञामें है ।'

अन्तमें गांधीजीके कहनेसे चोरी स्वीकार कर ली गयी । 'रुस्तमजीपर मुकदमा नहीं चला । उनकी स्वीकार की हुई चुंगीकी चोरीके दूने रुपये लेकर मुकदमा उठा लेनेका आदेश निकल गया ।'

'रुस्तमजीने अपनी चुंगी-चोरीकी कहानी लिखकर शीशेमें मँढ़वा ली और अपने दफ्तरमें टाँगकर अपने वारिसों और साथी व्यापारियोंको चेतावनी दी ।'

(आत्मकथा)

भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे मैं परम शान्ति, परमानन्द, परम निर्भयता, परम निश्चिन्तता एवं परम पवित्रताके सुरम्य क्षेत्रमें विचरण कर रहा हूँ

वाह्य जगत् भीतरी जगत्का प्रतिविम्बमात्र है—अपने जीवनके अनुभवसे आज मैं इस तथ्यको ठीकसे समझ रहा हूँ । मेरे मनमें जैसी भावनाएँ रही हैं, वाह्य जगत्की परिस्थितियाँ भी अपने-आप ठीक वैसी ही निर्मित होती चली गयी हैं । अवतक मैंने अपने अन्तरको असंतोष, अशान्ति, अभिमान, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदिसे भर रखा था; परिणामस्वरूप, ऐसे ही घृणित विचारोंको मैं निरन्तर अपनी ओर खींच-खींचकर बटोरता रहा और मेरा वाह्य जीवन भी इसी कारण भीषण दुःखकी ज्वालाओंसे सदा जलता रहा। पर भगवान्‌ने अपनी अहैतुकी कृपासे अव मुझे सँभाल लिया है और मेरा हृदय अव संतोष, शान्ति, विनम्रता, निष्कामता, उल्लास, दया, क्षमा, ज्ञान, त्याग, प्रेम आदि दैवी गुणोंसे भर रहा है एवं तदनुसार मेरा वाह्य जीवन भी अव मुझे परम आनन्द, प्रेम, शान्ति, प्रफुल्लता, सहानुभूति, सौहार्दसे भरा अति सुखमय अनुभव होने लगा है । दुर्भावनाओं, दुश्चिन्ताओंकी संकीर्ण सीमासे निकलकर अव मैं परम शान्ति, परम आनन्द, परम निर्भयता, परम निश्चिन्तता एवं परम पवित्रताके सुरम्य विस्तृत क्षेत्रमें विचरण कर रहा हूँ ।

सद्यः श्रेयस्करी शरणागति

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

जगद्गुरु श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान्‌की शरणागतिसे अपने उभयलोककल्याणका सम्पादन करके अनुभूत विचार कहा है—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु ।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु ॥
(दोहावली २२)

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि 'यदि तू बुरा समाज छोड़कर श्रीरामजीका (उनकी शरण) होकर उनके नामका जप करे तो तेरी अनेक जन्मोंकी बिगड़ी हुई परिस्थिति आज ही नहीं, अभी (इसी क्षण) सुधर जाय ।'

यहाँ, अनेक जन्मोंके साधनोंसे प्राप्त होने योग्य परम गतिकी तत्काल प्राप्तिमें तीन ही उपाय कहे गये हैं—(१) 'तजि कुसमाज' (२) 'होहि राम को' और (३) नाम जपु । इनका कुछ विवेचन आगे किया जाता है—(१) 'तजि कुसमाज'; यथा—

सुत, दार, अगारु, सखा, परिवारु बिलोकु महा कुसमाजहि रे ।
सब की ममता तजि कै, समता सजि, संत सभाँ न बिराजहि रे ॥
(कवितावली उ० ३०)

'पुत्र, स्त्री, घर, मित्र और परिवार (में आसक्ति) को महान् कुत्सित समाज देखिये; अतः इन सबकी ममता छोड़कर और समता-दृष्टि रखकर संतोंकी सभामें क्यों नहीं विराजमान होते ?'

ये सुत-दार आदि यदि श्रीरामभक्तिमें बाधक हों तो स्वरूपतः भी त्याज्य हैं; यथा—

जरउ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ ।
सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ ॥
(रा० च० मानस अयो० १८५)

जाके प्रिय न राम बैदेही ।
तेहि छाँड़िये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥
(विनय-पत्रिका १७४)

अन्यथा इनसे यथोचित बर्ताव रखते हुए इनमें ममताका ही त्याग करना चाहिये, इससे राग-द्वेषसे हृदयकी शुद्धि रहती है । ममतात्यागकी व्यवस्था भी श्रीरामजीने शरणागत विभीषणसे कही है—

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥
सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें । लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें ॥
(रा० च० मानस सुं० ४७)

अर्थात् जगत् श्रीरामजीका शरीर है । जैसे शरीरी जीवकी प्रेरणासे उसके हाथ-पैर आदि अङ्ग प्रत्येक कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही जगन्मात्रके शरीरी श्रीरामजीके शरीररूप ये जननी-जनक आदि उनकी ही प्रेरणासे वात्सल्य आदि गुणोंसे मेरा पालन-पोषण करते हैं । अतएव जिन उपकारोंके प्रति इन सबमें ममता है, वे उपकार तो श्रीरामजीने ही करवाये हैं; तब इनसे ममता छूटकर श्रीरामजीमें होगी और फिर प्रीतिपूर्वक उनकी भक्ति दृढ़ होगी तथा जगत्‌के प्रति समता भी अनायास आ जायगी; क्योंकि यह बोध हो जायगा कि सारा जगत् एक श्रीरामजीका ही शरीर है और सबके द्वारा मेरे कर्मानुसार वे ही हित-अनहितके बर्ताव करवा रहे हैं । अतः न कोई मेरा हितैषी है और न शत्रु, सुख-दुःखकी प्राप्तिमें मेरे कर्म ही हेतु हैं । तब एक शरीरके व्यष्टि-अङ्गोंमें परस्पर समत्वके समान सबमें समत्व रहेगा । यही जगत्‌के प्रति विवेक-दृष्टि है, तथा—

जननि-जनक, गुरु-बंधु, सुहृद-पति, सब प्रकार हितकारी ।
द्वैत रूप तम कूप परौं नहिं अस कछु जतन बिचारी ॥
(विनय-पत्रिका ११३)

अर्थात् जननी-जनक आदिके रूपसे आप ही मेरे सब उपकार कर रहे हैं, यह ज्ञान जगत्‌के प्रति अद्वैत-दृष्टिका है और इसके विरुद्ध ये जननी आदि मेरे स्वतन्त्र उपकारी हैं एवं शत्रु आदि स्वतन्त्र अपकारी हैं, यह अज्ञान द्वैत-दृष्टिका है; यह दृष्टि तम-कूपमें डालनेवाली है ।

इस समता-वृत्तिसे जगत्‌के प्रति उदासीन भाव करके सबसे ममता छोड़कर श्रीरामजीमें ममता दृढ़कर उनकी भक्ति करनी चाहिये । इसकी दृढ़ताके लिये उपर्युक्त प्रमाणमें 'संत सभा न बिराजहि रे' कहा गया है; तथा—

सेवत साधु द्वैत-भय भागै । श्रीरघुबीर चरन लय लागै ॥
देह जनित बिकार सब त्यागै । तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै ॥
(विनय-पत्रिका १३६ । ११)

संत-समासे यह जाना जाता है कि उक्त विवेक भगवान्‌को उपायरूपमें वरण करते हुए उनकी शरणागतिसे ही होता है; यथा—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(गीता ७।१४)

अर्थात् मेरी यह गुणमयी दैवी माया निस्संदेह दुस्तर है; (पर) जो एकमात्र मेरी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे इस मायासे तर जाते हैं।

इसलिये आगे श्रीगोस्वामीजी शरण होनेकी बात कहते हैं—

(२) 'होहि रामको'—अपने शरीर एवं तत्सम्बन्धी पदार्थोंको श्रीरामजीके चरणोंमें अर्पणकर उनका हो जाना शरण होना है; यथा—

योऽहं ममास्ति यत्किंचिदिहलोके परत्र च।
तत्सर्वं भवतोरेव चरणेषु समर्पितम्॥
(नारद-पञ्चरात्र)

क्योंकि जीव ईश्वरका सनातन अंश है, वह मायावश ही अज्ञानसे मन आदि इन्द्रियोंको आकर्षण करता है (गीता १५।७)। जब विवेकसे जानकर अपने अंशीको यह आत्मसमर्पण करता है, तब भगवान् (गीता ४।११) के प्रतिज्ञानुसार इसका कुल भार ले लेते हैं। शरणागत विभीषणके प्रति विचार-विमर्शमें आपने अपना सनातन व्रत कहा है; यथा—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वाल्मी० ६।१८।३३)

"एक बार ही दीन होकर 'मैं आपका हूँ' इस प्रकार याचना करनेवाले सब प्राणियोंके लिये (एवं सब प्राणियोंसे) मैं अभय देता हूँ, यह मेरा व्रत है।" मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामजीने यह प्रतिज्ञा सर्वतीर्थपति समुद्रके तटपर एवं असंख्य वानर-भालूरूप पार्षदों (भक्तों) के समक्ष की है। अतः इसका बड़ा महत्त्व है। वैष्णवाचार्योंमें यह श्लोक शरणागतिका चरम मन्त्र माना गया है। अतः इसके पदोंके कुछ विशेष भाव कहे जाते हैं—

सकृत् एव—इस पदद्वयसे शरणागतिमें पुनरावृत्तिका निषेध किया गया है। ब्रह्मसूत्र (४।१।१) में उपासनाकी आवृत्ति बार-बार करनी कही गयी है, परंतु प्रपत्ति तो एक ही बार की जाती है, इसीलिये 'सकृत्' पदके साथ 'एव' भी लगा है। जैसे विवाह-विधिमें कन्याका पाणिग्रहण वर एक बार कर लेता है तो वह उसका आजन्म निर्वाह करता है; वैसे ही शरणागतका आजन्म निर्वाह एवं अन्तमें उसे सद्गति-दान श्रीरामजी करते हैं; वह शरणागत-निश्चिन्त रहता है। वाल्मी० ४।५।११,१२,१५ में श्रीसुग्रीवजीकी शरणागतिके प्रसङ्गमें पाणिग्रहणमें शरण होनेका भाव स्पष्टरूपमें है। यही बात आगे इसी श्लोककी 'ददामि' इस वर्त्तमान कालकी क्रियासे भी सिद्ध है कि इसी जन्मकी इस एक बारकी शरणागतिमें ही उसे अभयपद (मोक्ष) भी प्राप्त हो जाता है।

प्रपन्नाय—इस पदके अनुसार दीन होनेपर हाथ जोड़ना होता ही है। अतः इसमें 'कायिकी' प्रपत्तिका भाव है और दीनतामें 'मानसी प्रपत्ति' भी है।

तवास्मि इति च याचते—'मैं आपका हूँ' इस याचनामें 'वाचिकी शरणागति' का भाव है। इस 'तवास्मि' की पुष्टिमें अन्यत्र भी कहा गया है—

'तू मेरो' यह बिनु कहें उठिहौं न जनम भरि।
(विनय-पत्रिका २६७)

बारक कहिये कृपालु तुलसिदास मेरो।
(विनय-पत्रिका ७८)

तात्पर्य यह कि मुमुक्षु मुखसे तो कह देता है कि 'मैं आपका ही हूँ', परंतु वैसी हार्दिक वृत्ति इसकी सदा नहीं रह पाती। अतः इस सामर्थ्यकी याचना यह स्वामीसे करता है।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि—लोकमें उसे सब प्राणियोंसे अभय मिलता है और ऋणत्रयाधिकारियोंसे भय नहीं रहता, यमराज एवं ईश्वरसे भी उसे भय नहीं रहता; क्योंकि अभयपद मोक्ष-प्राप्तिका भी बोधक है—

अथ सोऽभयंगतो भवति। (तैत्ति० २।७)

इस श्रुतिमें अभय-पद मोक्षपरक है। भागवत (११।५।४१) में शरणागतको ऋणत्रयसे मुक्त भी कहा गया है। सब प्राणियोंसे अभय तो सबको ईश्वर ही कर सकता है, इस प्रकार श्रीरामजीने माधुर्यमें भी अपना ऐश्वर्य प्रकट कर दिया है कि शरणागतोंको भरोसा हो जाय; यथा—

सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः।
(बृह० ४।४।२२)

अर्थात् ईश्वर श्रीरामजी सबको वशमें रखनेवाले, सबके प्रेरक और स्वामी हैं। इसमें 'सर्वभूतेभ्यः' यह पद चतुर्थी और पञ्चमी विभक्तिका है। पञ्चमीके भाव ऊपर आ गये। चतुर्थीपरक भाव यह है कि यहाँपर आये हुए विभीषण-के ही लिये यह कथन नहीं है, सब प्राणियोंके लिये है; सभी-को शरण आनेपर अभय प्राप्त होगा 'एतद्व्रतं मम'—यहाँ 'मम' पदसे प्रभुने अपना सामर्थ्य प्रकट करते हुए अपना व्रत कहा है कि सामान्य मनुष्य भी अपने व्रत (प्रतिज्ञा)की रक्षा करता है, फिर मैं तो माधुर्य दृष्टिसे सत्यप्रतिज्ञ श्रीदशरथ-जीका पुत्र हूँ। अतः मैं सत्यप्रतिज्ञ रहकर ही शोभा पा सकता हूँ। तथा—

रामो द्विर्नाभिभाषते।

(वाल्मी० ३। १०। १८)

अर्थात् श्रीरामजी दो बार नहीं बोलते; जो बोलते हैं, वही करते हैं।

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥

(वाल्मी० ३। १०। १८)

अर्थात् हे सीते! मैं प्राण छोड़ सकता हूँ, लक्ष्मण-के साथ तुम्हें छोड़ सकता हूँ, परंतु विशेषकर ब्राह्मणोंके लिये की हुई प्रतिज्ञाको नहीं छोड़ सकता।

ऐश्वर्यदृष्टिसे मैं सत्यसंकल्प ईश्वर हूँ, मेरे संकल्पसे ही जगत्के उत्पत्ति, पालन और संहाररूप कार्य होते रहते हैं, तब यह मेरी प्रतिज्ञा कैसे अन्यथा हो सकती है?

यह व्रत श्रीरामजीका सनातन है, क्योंकि इस विभीषण-शरणागतिके पूर्व भी वाल्मीकि (३। १। २०-२१) में दण्डकवनके ऋषियोंने 'ते वयं भवता रक्ष्याः······'कह-कर इसी प्रतिज्ञाके आधारपर शरणागति की है, और उसीपर श्रीरामजीने सर्व-राक्षसवधकी प्रतिज्ञा की है। जयन्त-शरणागति-प्रसङ्गमें भी श्रीनारदजीने इसी प्रतिज्ञाके आधारपर जयन्तकी शरणागति करायी है; तथा—

आएँ सरन भजौं न तजौं तेहि यह जानत रिषिराउ।

(गीतावली, सुं० ४४)

इन प्रमाणोंसे सिद्ध है कि 'मैं आपका हूँ' यों कहकर जो श्रीरामजीके शरणागत हो जाता है, उसके लोक-परलोकका सारा भार श्रीरामजी ले लेते हैं।

(३)—'नाम जपु'—शरण होनेपर शरणागतका कालक्षेप कहते हैं कि वह श्रीराम-नामका जप किया करे। शरणागतिके छः भेद हैं। यथा—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

(नारदपञ्चरात्र)

इनमें नाम-जप प्रथम एवं प्रधान अङ्ग 'आनुकूल्यस्य संकल्पः' का साधन है। नामजपकी प्रधानतामें रूपका ध्यान और उसके अर्थ-मननमें लीला भी रहती है। इससे मुमुक्षुके हृदयके संकल्प श्रीराम-परक ही होने लगते हैं। यथा—

रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव।
तस्यानुरूपं च कथां तदर्थामेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥
विचिन्तयन्ती सततं तमेव तथैव पश्यामि तथा शृणोमि॥
मनोरथः स्यादिति चिन्तयामि················।

(वाल्मीकि० ५। ३२। ११-१३)

अर्थात् मैं श्रीरामजीको ही सदा अपनी बुद्धिमें सोचा करती हूँ और मुँहसे राम-राम कहा करती हूँ, इसीसे अपने विचारोंके अनुरूप यह कथा सुन रही हूँ तथा देख रही हूँ।········मैं सदा श्रीरामका ही चिन्तन करती रहती हूँ, इससे वैसा ही देखती और सुनती हूँ। यह मेरा मनोरथ ही हो सकता है, ऐसा सोचती हूँ। यह नाम-जप करती हुई श्रीजानकीजीका लङ्कामें अनुमान है।

प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्—

उपर्युक्त 'तजि कुसमाज'में आ गया है। शेष स्वामी रक्षा करेंगे—इसका विश्वास, रक्षार्थ स्वामीसे कहना, आत्मनिक्षेप और कार्पण्य—ये नाम-जपकी प्रधानतामें स्वयं प्राप्त विवेकसे होते रहते हैं, जैसे राम-नाम जापक प्रह्लाद भक्तमें सब लक्षण स्वतः आ गये थे।

'अब हीं आजु'—आज ही नहीं, प्रत्युत इसी क्षण सुधर जायगी। यह कथन सहसा आश्चर्यजनक है। गीता (६। ४५) में जो गति अनेक जन्मोंके साधनोंसे मिलनेवाली कही गयी है, वही गति एक क्षणमें मिल रही है। यह कैसे? इसकी व्यवस्था यों होती है कि इस मुमुक्षुके शरण होते ही इसके करोड़ों जन्मोंके संचित पापोंका तो तुरंत नाश हो जाता है। यथा—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(रा० च० मानस सुं० ४३)

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।
(मुण्डक० २ । २ । ८)

शरण होनेपर यह प्रभुका होकर उनकी सेवारूपमें ही कर्म करता है । इससे वे कर्म इसे फलप्रद होते ही नहीं । ज्ञानपूर्वक शरणागत जानकर पाप करता ही नहीं; यदि चूक (अनजान) में उससे पाप हो जाते हैं तो प्रभु उन्हें क्षमा कर देते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की । करत सुरति सय वार हिए की ॥
(रा० च० मानस बाल० २८)

शेष प्रारब्ध कर्म भी भोग देकर समाप्त हो जाता है । भोग-कालमें भगवान् इसे विवेक देकर शान्तिपूर्वक भोग करा देते हैं । इस प्रकार इसके शरण होते ही भगवान् इसका कुल भार ले लेते हैं । यही तुरंत इसकी दशाका सुधरना है । क्योंकि उसी समय इसके उक्त सुधारके विषयमें सत्यसंकल्प भगवान्‌का संकल्प हो जाता है । इसके कुछ उदाहरण लिखे जाते हैं—

(क) श्रीद्रौपदीजी (महा० सभा० ६८ । ४१–४५में) शरण हुईं । तुरंत भगवान्‌ने वस्त्र बढ़ाकर उनकी तात्कालिक रक्षा कर दी; साथ ही उनके शत्रुओंके संहारका भी संकल्प कर लिया । यथा—

त्राहि तीनि कह्यो द्रौपदी तुलसी राज समाज ।
प्रथम बढ़े पट, बिय बिकल चहत चकित निज काज ॥
(दोहावली १६९)

अर्थात् महाभारतके इस प्रसङ्गके तीन श्लोकोंमें रक्षाके लिये तीन क्रियाएँ आयी हैं । तदनुसार श्रीगोस्वामीजीने भी तीन वार 'त्राहि' की बात लिखी है । उनके प्रथम 'त्राहि' कथनपर उनके वस्त्र बढ़ गये । दूसरी बार 'त्राहि' कहनेपर भगवान् व्याकुल हो उठे कि अब क्या करूँ । जब द्रौपदीजीने तीसरी बार 'त्राहि' कहा, तब भगवान्‌ने चकित होकर अपने कार्य (भू-भार-हरण) का संकल्प कर लिया । भगवान् सत्य-संकल्प हैं; इससे कौरववर्ग उसी समय मृतकतुल्य हो गये । इसीसे विराट् रूप दिखाते हुए भगवान्‌ने कहा है—

मयैवैते निहताः पूर्वमेव······
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः'
(गीता ११ । ३३-३४)

पुनः भगवान् जब पाण्डवोंकी ओरसे दूत बनकर कौरवोंके यहाँ गये थे, तब भी उन्होंने धृतराष्ट्र आदिको संदेश भेजते हुए स्पष्ट कह दिया; यथा—

ऋणमेतत्प्रवृद्धं हि हृदयान्नापसर्पति ।
यद्गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् ॥
(महा० उद्योग० ५९ । २२)

अर्थात् द्रौपदीजीने जो दूरवासी मुझको 'हे गोविन्द ! त्राहि' इस प्रकार पुकारा है, उसका ऋण बढ़ता जाता है, मेरे हृदयसे नहीं जाता । भाव यह कि मैंने उसी समय उसके विरोधियोंके नाश करनेका संकल्प कर लिया था; जितना विलम्ब हो रहा है, उसका ऋण बढ़ता है; अवश्य मैं उससे उऋण होऊँगा । अतः मूलरूपमें सभास्थित कौरववर्गका और व्याजरूपमें उनकी सेनाओंका भी संहार कराऊँगा; क्योंकि सभामें द्रौपदीजीके प्रति अन्याय होते हुए सभामें स्थित राजाओंने उसकी रक्षा नहीं की, इससे वे पूर्ण अपराधी हैं । अतः वे मूलरूप और उनकी अङ्गभूता उनकी सेनाएँ व्याजरूपा हैं ।

इससे सिद्ध है कि शरणागतके शरण होते ही भगवान् उसके उभयलोक सम्पन्न करनेका सत्य संकल्प कर लेते हैं । द्रौपदी अपने पतियोंके साथ लोकमें सुखी हुई, परलोकमें भी सद्गतिको प्राप्त हुई—महा० स्वर्गा० देखिये ।

(ख) श्रीविभीषणजीके शरण होते ही उन्हें राज्य-तिलक कर लङ्केश्वर-पद दे दिया गया । फिर कुछ काल लीला-मर्यादाके लिये युद्ध करके वह कार्य सम्पन्न किया; फिर भी विभीषणजीके प्रकट धैर्यके लिये एक ही बाणसे रावणके मुकुट, छत्र और मन्दोदरीके ताटङ्क काटकर उसका सर्वनाश करनेका आश्वासन भी दे दिया । परलोकमें सद्गति देनेका वचन भी प्रथम ही दे दिया है—

करेहु कल्प भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं ।
पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं ॥
(रा० च० मानस उ० ११६)

(ग) श्रीसुग्रीवजीके भी शरण होते ही तुरंत उनके शत्रु वालीको एक ही बाणसे मार डालनेका दृढ़ संकल्प कर लिया । फिर गाली सहकर भी उस कार्यको उसी रीतिसे पूरा किया, सुग्रीवजीका लोकसुख सम्पन्न किया । वाल्मीकि० (७ । ११०) में उनके परलोक-सुख-दानकी बात भी देखिये ।

इन प्रमाणोंसे सिद्ध है कि शरण होनेपर भगवान् शरणागतके लोक-परलोक-सुधारका दृढ़ संकल्प तुरत कर लेते हैं । तथा—

'बिगरी जन्म अनेक की, सुधरत पल न लगै न आधु ।
'पाहि कृपानिधि !' प्रेम सों कहेको न राम कियो साधु ॥'
(विनय-पत्रिका १९३)

प्रश्न—द्रौपदी आदिके समक्ष भगवान् थे, इससे शरण होकर उन्होंने लाभ उठाये; आज दिन कैसे लाभ हो सकता है ?

उत्तर—आज दिन भी भगवान् अपनी पूर्ण शक्तिके साथ अर्चारूपमें वर्तमान हैं । शरणागतको उनकी शक्ति उनके नाम एवं मन्त्रद्वारा प्राप्त होती है और मन्त्रार्थद्वारा उनका आश्वासन भी प्राप्त होता है—जैसे चोरी खोलनेकी विद्यामें ख्यात ज्योतिषीका नाम लेनेपर चोरी करते हुए चोर भयसे माल छोड़कर भाग जाते हैं । वहाँ ज्योतिषीकी विद्याशक्ति उसके नामके द्वारा जाकर चोरोंको भगाती है । वैसे ही भगवान्के शरण-रक्षण आदि गुण उनके नाम एवं मन्त्रद्वारा जापकके हृदयमें प्राप्त होकर भगवान्का ही कार्य करते हैं । अतः मुमुक्षुको दृढ़ विश्वासपूर्वक शरण होकर, भगवान्पर निर्भर रहकर अपने लोक-परलोकका कल्याण सम्पादन करना चाहिये ।

भोग और भगवान्

(२)

[गताङ्क पृष्ठ १०४१ से आगे]

(लेखक—पं०श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

श्रीमद्भागवतके अनुसार भोगेच्छा भगवत्प्राप्तिमें प्रबल प्रतिबन्धक है; नारदजीने श्रीमत्कृष्णद्वैपायनको अपना पूर्वचरित्र सुनाते हुए कहा था कि—'पूर्वजन्ममें मैं दासीपुत्र था । जब मेरी माताका देहान्त हो गया, तब ऋषियोंके द्वारा दिये हुए ज्ञानके अनुसार ही मैं साधनामें जुट गया और एक दिन एक घोर अरण्यमें प्रविष्ट हुआ । वहाँ एक पीपल वृक्षके नीचे बैठकर मैं भगवान्के चरणोंका ध्यान करने लगा । ध्यान करते-करते ऐसी तल्लीनता बढ़ी कि हृदय प्रेमसे भर आया, नेत्रोंमें आँसू आ गये, शरीर पुलकित हो उठा, मन संसारसे अत्यन्त निवृत्त-सा हो गया और मैं आनन्दके प्रवाहमें लीन हो गया । इसी समय हृदयमें धीरे-धीरे मनको अत्यन्त प्रिय लगनेवाले, समस्त शोकोंके अपनोदन करनेवाले भगवान् हृदयमें आ गये । उस समय मुझे और कुछ भी नहीं दीखा । किंतु यह दशा क्षणिक थी । दूसरे ही क्षण वह परमप्रिय रूप हृदयसे तिरोहित हो गया । मैं अत्यन्त विकल हो उठा । उस रूपके दर्शनके लिये पुनः समाहित होकर बैठा, किंतु वहाँ कुछ नहीं दीखा । उसी समय सहसा आकाशवाणी हुई कि 'मैं कुयोगियोंके लिये दुर्दर्श हूँ । जिनका मन भोगेच्छासे सर्वदा शून्य नहीं हुआ—जिनके मल-आवरण दूर नहीं हुए, मेरा दर्शन उन्हें दुर्लभ ही समझो । यह एक बार जो तुम्हें मैंने अपना रूप दिखलाया, वह इसलिये कि तुम मेरी ओर आकृष्ट हो सको । मेरी प्राप्तिकी इच्छावाला साधु पुरुष समस्त कामनाओंको धीरे-धीरे छोड़ देता है—

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ।
सकृद् यद्दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान् ॥
(श्रीमद्भागवत १ । ६ । २२-२३)

संतोंकी यह हार्दिक अनुभूति है कि यदि दसो इन्द्रियोंका संयम न किया जाय तो सारे साधन निष्फल एवं व्यर्थ हो जाते हैं और शार्ङ्गपाणि भगवान् नहीं मिलते, हृदयमें कामनाओं—भोगेच्छाओंके रहते हुए प्रभुकी प्राप्ति नहीं होती—

आठहूँ आठ प्रकृतिपर निर्बिकार श्रीराम ।
केहि प्रकार पाइय हरि, हृदय बसहिं बहु काम ॥
दसहूँ दसहु कर संजम जो न करिय जिय जानि ।
साधन बृथा होइ सब मिलहिं न सारँगपानि ॥
(विनय० २०३)

इसलिये दृष्ट, श्रुत सभी भोगोंको असत् समझकर मनसे सर्वथा भूल जाय, कभी उनका स्मरण भी नहीं

करे; क्योंकि उनका स्मरण-उपसर्पण संसृति-प्रद तथा आत्मविनाशक है—

दृष्टं श्रुतमसद् बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत् ।
संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान् स आत्मदृक् ॥
(श्रीमद्भा० ११)

विषयोंका दर्शन, श्रवण, स्मरण, उपसर्पण तथा भोग यदि न हो तो मनुष्यका उनके प्रति कोई आकर्षण ही नहीं होता—जैसे मदिरा न पीनेवालेके मनमें मदिराके प्रति या मांस न खानेवालेके मनमें मांसके प्रति कोई आकर्षण-अभिरुचि नहीं होती, अपितु घृणा ही होती है। महाभारत, शान्तिपर्वके शृगाल-कश्यप-संवादमें इसे अच्छी तरह समझाया गया है—

न खल्वप्यरसज्ञस्य कामः क्वचन जायते ।
संस्पर्शाद् दर्शनाद्वापि श्रवणाद् वापि जायते ॥
न त्वं स्मरसि वारुण्या लट्वाकानां च पक्षिणाम् ।
ताभ्यां चाभ्यधिको भक्ष्यो न कश्चिद् विद्यते क्वचित् ॥
(१८० । ३०–३१)

मद्यस्य लट्वाख्यपक्षिमांसस्य च—कर्मणि षष्ठ्यौ ।
त्वं न स्मरसि ब्राह्मणत्वेन तव तद्रसग्रहाभावात् ॥
(नीलकण्ठी)

शृगाल-वेषमें इन्द्र कहते हैं—कश्यप ! तुम ब्राह्मण हो, अतः वारुणी मदिरा तथा लट्वाक् पक्षीमांस जैसे सरस पदार्थोंके भी रसको नहीं स्मरण करते; क्योंकि इनका तुम्हें आस्वाद ही नहीं मिला। इसी तरह जिन्हें जिन-जिन विषयोंका संनिधान—ज्ञान नहीं हुआ, वे उन-उनके प्रति अनाकृष्ट ही रहते हैं। शृङ्गीऋषिके सम्बन्धमें वनपर्व तथा वाल्मीकिरामायण, बालकाण्डमें कथा आती है कि वे वेश्याओंको भी ब्रह्मचारी समझते हुए निर्विकार ही रहे; क्योंकि उन्हें स्त्रियोंका कोई ज्ञान ही न था।

इन्धन न मिलनेसे अग्नि जैसे स्वयं बुझ जाती है, वैसे ही उपशमसे भोग-तृष्णा शान्त होती है। जैसे इन्धन या घी डालनेसे अग्निकी लपटें और तेज हो जाती हैं, उसी प्रकार भोगोंके द्वारा तो विषयतृष्णा और भी बढ़ती जाती है—

भोगाभ्यासमनु विवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम् । (योगभाष्य २ । १५)

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
(मनुस्मृति २ । ९४; विष्णुपुराण ४ । १० । २३; भागवत ९ । १९ । १४; लिङ्गपुराण ८६ । २४; पद्मपुराण सृष्टि० १९ । २६३; महा० आदिपर्व ७५ । ५०)

साथ ही मन तथा इन्द्रियोंका संयम, शान्ति, शीतलता, निरोधका अन्वर्थ प्रयास, महान् तप तथा महायोग भी हैं—

इन्द्रियाण्येव संयम्य तपो भवति नान्यथा ।
एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिन्द्रियधारणम् ॥
एतन्मूलं हि तपसः कृत्स्नस्य नरकस्य च ।
(महाभारत, वनपर्व, अध्याय २११)

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । (योगद० १ । २)

और सबसे बड़ी बात तो यह है कि सभी इन्द्रियोंको संयमित करनेसे भगवान् भी अति शीघ्र प्रसन्न होकर दर्शन दे सकते हैं—

सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ।
(श्रीमद्भा० ४ । ३१ । १९)

दिदृक्षवो यस्य पदं सुमङ्गलं
विमुक्तसङ्गा मुनयः सुसाधवः ।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने
भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः ॥

इसलिये विषयोंकी आशा-तृष्णाका मनसे सदाके लिये विसर्जन कर देना ही सर्वोत्तम ज्ञान-वैराग्य-भक्तिकी साधना है, अन्यथा संसृतिका निस्तार कठिन है—

सदगुरु बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा ॥
सुमति छुधा बाढ़ै नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई ॥

× × ×

जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु बिषय आस मन माहीं ।
तुलसिदास जग जोनि भ्रमत तब लगि सपनेहुँ सुख नाहीं ॥

अधिदेवता

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'हमने यहाँ आकर भूल की। हमें यहाँ नहीं रहना चाहिये।' उनके मुखपर किंचित् क्षोभके भाव थे। 'मैंने यहाँ बहुत बुरा स्वप्न देखा। स्वप्नमें बहुत भय लगा।'

उन्हें स्वप्नमें ही भय लगा हो, यह बात नहीं; वह भय जाग्रत्में भी इस प्रकार मनमें बैठ गया कि एकाकी कुछ क्षण भी उस भवनमें आगे वे नहीं रहीं। वे संन्यासिनी हैं, वर्षोंसे एकाकिनी रहती हैं बस्तीसे पर्याप्त दूर; किंतु अन्ततः महिला जो ठहरीं।

'क्या देखा तुमने जीजी!' उनके एक मामाके पुत्र संन्यासी हो गये हैं, वे भी साथ आये थे। अब स्मरण नहीं कि उन्होंने भी कोई स्वप्न देखा था या नहीं। स्वप्नका विवरण अनावश्यक है; एक काला, मोटा, काना पुरुष—उसकी चेष्टाने उन्हें डरा दिया था।

'स्वप्न तो मैंने भी देखा है।' मैं बता दूँ कि मुझे बहुत कम स्वप्न दीखते हैं; किंतु उस रात्रि उस सुनसान पड़ी रहनेवाली कोठीमें मैंने भी स्वप्न देखा था। कोई विशेष बात नहीं थी, जैसे कोई पहाड़ी वृद्धा स्त्री सिरके पास आ बैठी थी। 'डरनेकी तो कोई बात नहीं है। कल हमलोग यहाँ देरसे आये थे। अब आज यहाँ स्वभावतः आजका भागवत तथा गीताका पाठ होगा। आगे कोई दुःस्वप्न दीखे, इसकी कोई सम्भावना नहीं।' सचमुच हम आठ दिन उस भवनमें रहे; किंतु किसीको कोई स्वप्न-दुःस्वप्न फिर नहीं दीखा।

कुछ दिन पहिले मैं नीलकण्ठ आया था, ऊपर भुवनेश्वरीको जाते समय यह कोठी देख गया था। नीलकण्ठ कुछ दिन रहनेका विचार था और रहनेके लिये ऐसा एकान्त, खुला भवन भला किसे पसंद नहीं होगा। दो-चार दिन बाद जब हम कुछ दिन रहनेके लिये आये, तब इस कोठीमें आ गये।

ऋषिकेशसे लगभग सात-आठ मील दूर पर्वतोंसे घिरा यह नीलकण्ठ तीर्थ अपनी अनोखी सुषमा रखता है। यहाँका शान्त, पवित्र वातावरण—नीलकण्ठकी चर्चा फिर कभी। यह कोठी नीलकण्ठसे लगभग एक फर्लांग ऊपर है। नीलकण्ठ आते समय यही पहिले दृष्टिपथमें आती है।

कभी बड़ा वैभव रहा होगा यहाँका। किसी रानीने अपने एकान्तवास तथा भगवद्भजनके लिये इसे बनवाया था। उस समयके उपवनकी मात्र कल्पना देनेवाले कुछ फलवृक्ष तथा मल्लिकाकी जंगली-सी बन गयी लताएँ अब बच रही हैं।

दो विशाल कोठियाँ हैं। उनमें मुख्य कोठी तो अब रहने योग्य नहीं। सूने भवनसे कुछ मिल जानेके लोभमें अपनी मानवतासे च्युत मनुष्योंद्वारा उसकी साँकलें-कुंडे इस प्रकार तोड़ दिये गये थे कि अब उसका कोई द्वार बंद करके आप बाहर जा सकें, ऐसी स्थिति नहीं। उसमें श्रावण मेलेके समय अवश्य यात्री रात्रि-निवास करते होंगे; क्योंकि एक बड़े कमरेमें जले बीड़ीके टुकड़ोंकी ढेरी पड़ी थी।

दूसरी कोठी उससे कुछ कम सज्जित है; किंतु अपेक्षाकृत स्वच्छ और सुरक्षित है। दूसरी कोठीमें स्नान-घर भी है और उसके पाइपमें अब भी जल आता है। हम इस दूसरी कोठीमें ही ठहरे थे। वैसे अब ये कोठियाँ नैपालके अधिकारमें हैं। सर्वथा उपेक्षित होनेसे जीर्ण हो गयी हैं और उनके अंश गिर रहे हैं। नौकरोंके भवनोंमेंसे बहुत-से गिर चुके हैं; जो हैं भी, वे रहने योग्य नहीं।

दोनो कोठियोंके मध्य सम्भवतः पुराना रसोईघर है। उसमें एक पर्वतीय वृद्धा रहती है। वही कोठियोंकी चौकीदार है। उसने भैंस, गाय, भेड़ें पाल ली हैं। कोठीके पासकी भूमिमें कुछ बो लेती है। भूले-भटके मेरे-जैसे यात्री आ टिके तो कुछ पारितोषक मिल जाता है, बस। अब कोठीके स्वामी या उत्तराधिकारी तो सम्भवतः यह भूल ही गये हैं कि उनकी यहाँ कोई कोठी भी है।

हम कोठीमें आनन्दपूर्वक रहे। अबाबीलोंके लिये पर्याप्त कमरे खाली पड़े थे। हमने उन्हें बाधा नहीं दी और वे भी रात्रिमें यदा-कदा देखने ही आती थीं हमारे कमरेमें कि उनके यहाँ ये तीन द्विपाद् पक्षहीन अतिथि कैसे आ गये हैं।

× × ×

'यहाँका अधिदेवता मर गया है।' मेरे वे बन्धु स्वर्गाश्रमसे पधारे थे। उनकी व्यवस्था न होती तो हम इस पर्वतीय स्थानमें इस प्रकार रह नहीं पाते। वे मुझसे मिलने ही आये थे। यह कठिन चढ़ाई पार करके और भोजनोपरान्त मध्याह्न-विश्राम करने हमारे समीप कोठीमें आ गये थे। 'यहाँ आप

लोगोंको नहीं रहना चाहिये। आप नीचे धर्मशालामें ऊपरके कमरेमें निवास करें।'

उन्होंने पता नहीं क्या अनुभव किया। अवश्य उन्हें कुछ मानसिक उद्वेग अनुभव हुआ होगा। रात्रि-विश्राम उन्होंने वहाँ न करके नीचे किया और हमारे लिये भी नीचेकी धर्मशालामें एक कमरेका प्रबन्ध करके तब दूसरे दिन प्रातः लौट गये।

'अधिदेवता मर जाता तो यह भवन टिकता नहीं।' मैं मन-ही-मन सोच रहा था—प्रत्येक पदार्थका अधिदेवता होता है, यह हिंदू-शास्त्र बतलाते हैं। वह भवन हो या छोटा कलश अथवा कुर्सी—पदार्थ बनता है और उसका अधिदेवता उसमें आ बसता है, जैसे शरीर माताके गर्भमें आया तो जीव उसमें आ जाता है। अधिदेवता प्रसन्न रहे तो पदार्थका उपयोग करनेवालेको वह पदार्थ सुख, शान्ति, लक्ष्मी और सुयश देनेवाला होता है और अधिदेवता अप्रसन्न हो जाय तो पदार्थ दुःख, अशान्ति, रोग, दरिद्रता, अयशादिका हेतु बन जाता है।

घर बनाकर क्षेत्रपालका पूजन तथा प्रत्येक पदार्थका उसके उपयोगसे पूर्व पूजनका विधान—परिपाटी सनातनधर्ममें उसके अधिदेवताकी तुष्टिके लिये ही है।

'अधिदेवता मर जाता तो भवन टिका कैसे रहता।' अधिदेवता भी मरता तो है। ग्रामका अधिदेवता मरता है तो ग्राम, घरका मरे तो घर और नगरका मरे तो नगर नष्ट हो जाता है। वहाँ दूसरा ग्राम, घर या नगर बसानेके प्रयत्न निष्फल जाते हैं और ऐसे प्रयत्नोंमें बहुत हानि होती है धन तथा जीवनकी भी।

'जीव न रहे तो शरीर टिका कैसे रहेगा। वह सड़ जायगा।' किंतु एक विचार साथ ही आया—'मनुष्य बहुत दिनोंतक अकेला रहे तो जनसम्पर्कमें जाना नहीं चाहता। सूने भवनका अधिदेवता भी तो एकान्तप्रिय हो जाता होगा। उसे उद्वेग होता होगा लोगोंके आनेसे और तब वह उन्हें उद्विग्न करता होगा।'

'आज यहाँका अधिदेवता दुखी होगा।' हम जब उस कोठीको छोड़कर नीचे जाने लगे, तब उन संन्यासिनी महिलाने कहा—'हमारे रहनेसे यहाँ दीपक जलता था, पाठ-पूजा होती थी और कम-से-कम दो-तीन कमरोंमें स्वच्छता तो रहती थी।'

'अवश्य वह दुखी होगा।' मुझे भी यही लगा। हम कोठी जब छोड़ना चाहते थे, तब छोड़ नहीं सके थे। दो दिनका विलम्ब हुआ था और वह भी नाममात्रके कारणसे। लगता था कि अधिदेवताको हमारा वहाँसे जाना अच्छा नहीं लगा था।

हम कोठी छोड़ देनेको उत्सुक थे; क्योंकि उसमें फुदकनेवाले छोटे कीड़े—पिस्सू बहुत थे और हमारे यहाँ आ जानेसे उन्हें उद्वेग हो रहा था। उद्विग्न होकर वे हम सबको उद्विग्न करते थे। उनके काटनेसे लाल फफोले उठ जाते थे और उनमें खाज तथा जलन होती थी। ऐसे फफोलोंकी संख्या दस-बीस प्रतिदिन शरीरपर बढ़ जाय, इतनी सहनशीलता हममें नहीं थी।

'हम यहाँ आये और रहे। यहाँके अधिदेवताको हमने आनेपर न तो प्रणाम किया और न उसके निमित्त एक धूप-बत्ती जलायी, न दो पुष्प अर्पित किये।' जाते-जाते मुझे यह स्मरण आया। यह भी मनमें आया कि प्रथम दिन जो स्वप्न दीखे, उसमें यह भी हेतु हो सकता है।

'लगता है वह भी उदासीन हो गया है इस भवनसे।' जब भवनके वर्तमान स्वामी ही उसकी खोज-खबर नहीं रखते तो ऐसे जीर्ण, अस्वच्छ, धूलि, पक्षियोंकी बीट तथा गंदगीसे भरे, नित्य अन्धकारपूर्ण भवनमें उसके अधिदेवताको क्या प्रसन्नता होगी। एक दिन वह इसे छोड़ देगा और भवन नष्ट हो जायगा।

'मैं उसे प्रणाम करूँगी।' संन्यासिनी महिलाने कहा। सचमुच भवनसे उतरकर उन्होंने नीचेकी सीढ़ीपर मस्तक रखा और भवनके अधिदेवतासे क्षमा माँगते हुए विदा ली।

हम नीचे धर्मशालामें चले आये; क्योंकि हमें पिस्सुओंके मध्य रहना स्वीकार नहीं था। उस भवनके अधिदेवता—उन्हें मेरा प्रणाम! हम जहाँ रहते हैं, जिन वस्तुओंका उपयोग करते हैं, उनके भी तो अधिदेवता हैं। उनकी ओर हमने कभी ध्यान दिया? उन्हें हमारी केवल प्रणति ही तो अपेक्षित है।

इस विराट् विश्वका अधिदेवता—वह परमपुरुष, अच्छा अब उसकी चर्चा रहने दें। वह प्रत्येकका अपना है—उसे तो प्रणति भी नहीं, केवल यह अपेक्षित है कि उसे अपना अनुभव किया जाय।

क्षुरस्य धारा

[कहानी]

(लेखक—श्रीराधाकृष्ण)

आज रविवारका दिन था। सवेरेसे ही बूँदाबाँदी हो रही थी। दिनके ग्यारह बज चुके थे; किंतु लगता था जैसे अभी सवेरा हुआ हो। रसायन-शास्त्रके बड़े प्रोफेसर, जो हमेशा रेशमी रूमालसे अपनी मोटी-सी नाकको पोंछते रहते हैं, रामभरोसेसे कह गये थे कि कल मैं लैबरेटरीमें आऊँगा, तुम भी आ जाना। रामभरोसे उस प्रयोगशालामें पिउन था। वह जानता था कि प्रोफेसर साहब कहनेको कह रहे हैं, किंतु आयेंगे नहीं। फिर भी वह आ गया था।

कालेजकी लैबरेटरीमें काम करते हुए रामभरोसेको साढ़े तीन साल होनेको आये। वहाँ वह अन्य पिउनोंसे भिन्न है। वह कुछ पढ़ा-लिखा और अधिक समझदार लगता है। फिर भी अपने व्यवहार और बातचीतसे इस बातको प्रकट नहीं होने देना चाहता था। उसका चेहरा रूखा और भद्दा था, किंतु उसकी आँखोंमें बुद्धिकी चमक थी। इतने दिनोंसे प्रयोगशालामें काम करते-करते वह वहाँकी सारी वस्तुओंका नाम जानने लगा था, बल्कि वह उन वस्तुओंका प्रयोग भी जानता था। कभी-कभी वह पहले और तीसरे वर्षके छात्रोंकी प्रयोगके समय सहायता भी करता था।

आज उस प्रयोगशालामें सन्नाटा छाया हुआ था। वहाँ कोई नहीं, कोई आयेगा भी नहीं। रामभरोसेने आलमारी खोली और वहाँका सबसे बढ़िया अणुवीक्षण यन्त्र निकालकर टेबलपर रख दिया। आज उस अणुवीक्षण यन्त्रके द्वारा वह स्वयं कुछ देखना चाहता था। उसने एक छूरा लिया और उसकी धारको अणुवीक्षण यन्त्रसे देखा।

····उसके मुँहसे एक चीख-सी निकल गयी। वह चौंककर वहाँसे इस तरह हटा जैसे किसीने जबरदस्ती उसे ढकेलकर अलग कर दिया हो। क्षण-भरमें ही उसका शरीर पसीनेसे तर हो गया। उसकी आँखें विकृत-सी दिखलायी देने लगीं। उसके होठ हिल रहे थे।

जैसे-जैसे वह अपनेको काबूमें करनेकी चेष्टा करता गया, वैसे-वैसे उसे रुलाई आने लगी। अणुवीक्षण यन्त्रसे उसने अभी जो छूरेकी धार देखी थी, वह धार सीधी नहीं थी। उसे लगा जैसे उसने ऊबड़-खाबड़ किसी वस्तुको देखा है। क्या छूरेकी धार ऐसी ही होती है? ····उसकी आँखोंसे आँसू बहने लगे। रामभरोसे वहाँ खड़ा-खड़ा रो रहा था। उसका मन सुदूर अतीतमें ऊब-डूब करने लगा था।

उसकी कल्पनाकी आँखें राजीवको देख रही थीं। उसकी छातीके अंदर छूरा पूरा घुस गया था। वहाँसे खूनका फव्वारा छूट रहा था। इसी हालतमें राजीव उससे कह रहा था—'छूरेकी धारका रूप तुमने देख लिया न! क्या वह सीधी है?'

रामभरोसे आजसे बीस साल पहलेके जीवनमें पहुँच गया था। उस समय वह पंद्रह सालका किशोर था। उसके चेहरेपर तेज था। वह दर्पके साथ चलता। वह अपनेको सच्चा आदमी मानता था। अपनी सचाईपर उसे गर्व था। उसकी सचाईका तेज उसकी आँखोंसे झलकता था।

उस समय उसका नाम रामभरोसे नहीं, रघुवीर था। राजीवसे उसकी मित्रता थी। दोनों सदा साथ रहते, साथ ही खेलते। वह उनके पड़ोसी विद्यासागर मिश्रका लड़का था।

चैतका महीना। पेड़ोंपर आमके टिकोरे लद गये थे। रामभरोसेके पास एक झोली टिकोरा था। राजीव अपने घरसे नमक-मिर्च लेता आया था। दोनों आमके बगीचेमें आम छील रहे थे और खा रहे थे।

इसी समय एक बात उठी। राजीवने उसे चिढ़ाना चाहा और रामभरोसे सचमुच चिढ़ गया। राजीव अपने हाथमें छूरा लेकर कह रहा था कि 'छूरेकी धार कभी सीधी नहीं होती!'

रामभरोसेने उसके हाथसे छूरा छीन लिया। क्रोधसे बोला—

'फिर छूरेकी धार होती कैसी है?'

'अजी, वही ऐंड़ी-बेंड़ी होती है। और कैसी होगी।'

'छूरा तुमने कभी देखा भी है?'

'छूरा तो तुमने भी देखा होगा, किंतु छूरेकी धार नहीं देखी होगी।'

बात बढ़ती चली गयी। बात बहुत बढ़ गयी। रामभरोसेकी आँखें लाल हो उठीं। उसका चेहरा तमतमा रहा था। वह कुछ कर डालना चाहता था। छूरेकी धार सीधी है। यह प्रत्यक्ष सत्य है। इस सचाईको भी यह झूठ बतला रहा है। रामभरोसेने अपना आपा खो दिया। क्रोधका एक ऐसा भीषण आवेश आया कि········

········छूरा राजीवकी छातीमें धँस गया। उसकी छातीसे खूनका इतने जोरोंसे उबाल आया कि रामभरोसेका सारा चेहरा उस रक्तसे भर गया। राजीव प्राणपणसे चिल्ला उठा और जमीनमें गिरकर लोटने लगा। ठीकसे छटपटा भी नहीं पाया कि तुरत ही लड़खड़ाकर शान्त हो गया।········यह मैंने क्या कर डाला?····हत्या!!········

रामभरोसे खेतकी पगडंडियोंसे भागता जा रहा था, जिसके दोनों ओर झींगुर बोल रहे थे। नदीके किनारे पहुँचकर उसने अपने चेहरेका लहू धोया। उसका तेज भरा दीप्त चेहरा अब फीका दिखलायी दे रहा था। उसे लगा कि नदीके जलके भीतर भी राजीव लोट रहा है और उसके चारो ओर लहू बह रहा है। वह वहाँसे भी भागा।············

जब वह प्रकट हुआ, तब उसका नाम रघुवीर नहीं, रामभरोसे था। कालेजकी प्रयोगशालामें नौकरी करते हुए उसे साढ़े तीन साल होनेको आये। आज उसने छूरेकी धारका असली रूप देखा········राजीवको देखा········उसकी छातीमें छूरा घुसा हुआ है और वह चिल्लाता हुआ धरतीपर लोट रहा है········

रोते-रोते रामभरोसेकी हिचकियाँ बँध गयी थीं। वह बुदबुदा रहा था मानो बीस साल पहले मरे हुए अपने मित्र राजीवसे बातें कर रहा हो। वह कह रहा था—"मैं नहीं जानता था····मुझे ज्ञात नहीं था····सचाई क्या है, इसे जानना कठिन है। सचाईके लिये किसीपर आक्रमण करनेके बदले सत्यके लिये अपनी जान दे देना अधिक उचित है।····मैंने बुरा किया राजीव! मैंने सत्यके लिये जान ली। सत्यके लिये अपनी जान दे सकता तो कितना अच्छा था।····

उसका सारा शरीर पसीनेसे लथपथ हुआ था। वह बेचैन था, बहुत ही बेचैन। उसकी जीभ सूख रही थी। वह पानी पीना चाहता था। प्रयोगशालाके बाहर झमाझम वर्षा हो रही थी। रह-रहकर बिजली कड़क उठती।

विश्वकी बढ़ती जनसंख्या और उसके भोजनके प्रश्नका हल

[मांसाहारका त्याग]

(सर चार्ल्स डार्विनका मत)

लंदनसे प्रकाशित होनेवाले 'टाइम्स' पत्रके ३० अप्रेल, १९५८ ई० के अङ्कमें सर चार्ल्स डार्विनने संसारमें बढ़ती हुई जनसंख्याके कारण उत्पन्न होनेवाले भयंकर संकटसे हमको सचेत किया है। इस प्रकारके अभिप्राय अनेक विद्वानोंके हैं, अतएव विशेषकर संसारमें फैलनेवाली भुखमरीको रोकनेके लिये साधारण व्यावहारिक मार्गकी खोजना आवश्यक है।

सन् १८४५ ई० में संसारकी जनसंख्या लगभग एक अरब थी और वह बढ़कर आज दो अरब सत्तर करोड़ हो गयी है। कुछ अङ्क-शास्त्रियोंका अनुमान है कि यह संख्या बीसवीं सदीके अन्तमें बढ़कर पाँच अरब हो जायगी। यह अनुमानमूल चेतावनी कहाँतक ठीक या बेठीक है—इसपर विचार न करके, इसे सम्भव समझकर संसारके भोजनके प्रश्नको लक्ष्यमें रखकर विचार करना बुद्धिमानीका कार्य होगा।

संयुक्त-राष्ट्रिय संगठन नामक संस्थाके आहार और कृषि तथा दूसरे सम्बन्धित विषयोंके अन्वेषकोंने इस विषयमें पर्याप्त सामग्री प्रकाशित की है। उनके अन्वेषणके द्वारा यह मौलिक तथ्य सिद्ध हो जाता है कि यदि मनुष्य-जाति बढ़ती हुई जन-संख्या तथा उसके फलस्वरूप अनाजके उत्पादनके लिये कमती पड़नेवाली भूमिकी उपजसे उत्पन्न होनेवाली नयी विश्वव्यापी समस्याका सामना करनेके लिये तैयार नहीं होती तो या तो उसे परिस्थितिके अनुकूल अपनेको बनाना पड़ेगा या वह नाशको प्राप्त होगी।

संक्षेपमें आधुनिक ढंगसे जोती जानेवाली १.६३ एकड़ भूमि एक मनुष्यके एक वर्षके लिये आपेक्षित मांस, अन्न तथा फल और शाककी मिली-जुली खुराक पैदा करनेके लिये आवश्यक है। इसमेंसे ०.३३ एकड़ भूमि अन्न, फल और शाकके उत्पादनके लिये आवश्यक है और शेष १.३० एकड़ भूमि मांसाहारकी पूर्ति करनेवाले प्राणियोंके निर्वाहके लिये आवश्यक है। जब अन्न, फल और शाकाहारपर निर्वाह करनेके लिये प्रतिमनुष्य ०.३३ या ०.७५ एकड़ वार्षिक भूमिकी आवश्यकता है; और यदि दूध-घी आदिका उपयोग कम कर दिया जाय तो इससे भी कम भूमिपर एक मनुष्य निर्वाह कर सकता है। इस प्रकार पश्चिमकी धारणाके अनुसार एक मनुष्यके अच्छे पोषक शाकाहारकी प्राप्तिके लिये केवल ०.५ एकड़ भूमि पर्याप्त हो सकती है। परंतु यदि भारतमें प्रति मनुष्य ०.८ एकड़ भूमि खेतीके लिये मिले तो वह पर्याप्त न होगी; क्योंकि भारतमें प्रति एकड़ अन्नका उत्पादन आधुनिक ढंगसे की जानेवाली खेतीके उत्पादनका ⅓ (एक तिहाई) ही होता है। बहुधा यह प्रश्न पूछा जाता है कि यदि मांसाहार छोड़ दिया जाय तो ये सब प्राणी किस काम आयेंगे! इसका उत्तर इस प्रश्नसे ही मिल रहा है कि देशमें जब मोटरके द्वारा यातायात होने लगा, तब घोड़ोंका क्या हुआ? सन् १९०० ई०में संयुक्त राज्यमें २०,००,००० घोड़े थे। सन् १९५७ ई० में १,७५,००० हजार घोड़े रह गये और प्रतिवर्ष उनकी संख्या घटती ही जा रही है। इसका कारण यह है कि समस्त पालतू जानवरों और विशेषकर काटे जानेवाले जानवरोंके पालनमें मनुष्य कोर-कसर करते जा रहे हैं। इसलिये जैसे पालन-पोषणमें कमी होनेसे घोड़ोंकी संख्या घटी है, वैसे ही पशुओं, सूअरों आदिकी संख्या भी घट सकती है।

मांसाहारके उत्पादनके लिये अन्नाहारकी अपेक्षा

अधिक भूमिकी आवश्यकता पड़ती है; इस प्रकार भोजनकी समस्याका समाधान स्पष्ट है। इसका उपाय प्रत्येक व्यक्ति और परिवारके हाथमें है। जो लोग आज थोड़ा मांस खाते हैं, वे मांस खाना बिल्कुल छोड़ दें और जो कोई एकदम छोड़ देनेके लिये पैर आगे नहीं बढ़ा सकें, वे धीरे-धीरे मांस खाना कम कर दें तो बचनेवाली भूमि अधिक अन्न-फल और शाक *उपजानेके लिये मिल जायगी,*× *और इस प्रकार एशिया,* अफ्रिका-जैसे महादेशोंके करोड़ो मनुष्योंके लिये, जिन्हें सदा कम पोषण प्राप्त होता है और जिनके वंशजोंके सामने, सर चार्ल्स डार्विनकी चेतावनीके अनुसार, भयङ्कर संकट उपस्थित है, अधिक अन्न पैदा हो सकेगा।

इस विषयके महत्त्वकी ओर विश्वभरकी जनताका ध्यान आकर्षित करना सर्वापेक्षा आवश्यक है। प्राणियोंका मांसाहार नहीं करना चाहिये, इसमें उनके प्रति केवल दयाकी भावनाका ही प्रश्न नहीं है, बल्कि इस प्रश्नमें भोजनकी उन आदतोंका सुधार करना है, जिनके परिणामस्वरूप हमारे बन्धु-बान्धवोंको भूमिकी न्यून-से-न्यून आवश्यकताओंसे वञ्चित रहना पड़ता है और जिससे उनके दुःख बढ़ते जाते हैं।

यदि हम निश्चय कर लें कि आज जो विश्वमें नयी परिस्थिति हमारे सामने उपस्थित है, उसको अनुकूल *बनानेके लिये हम इस विधायक मार्गको ग्रहण करेंगे* तो भविष्यमें बढ़नेवाली करोड़ोकी जनसंख्याके विषयमें हमको भय न रहेगा; और जिस प्रकार हम परिवारमें वृद्धि होती है तो उसका स्वागत करते हैं, उसी प्रकार बढ़ती हुई जनसंख्याका भी निर्भयताके साथ स्वागत कर सकेंगे।*

[दि थियासाफिकल आर्डर ऑफ सर्विस, ५० ग्लुस्टरवेस लंदन—के द्वारा प्रकाशित एक अंग्रेजी पत्रिकासे संगृहीत]

—'श्रीजीवदया'से साभार

× अहिंसा (ता० १ । ७ । ५९) में छपा है कि 'केन्द्रके खाद्यान्न' कृषि-संगठनके कार्यालयके एक प्रवक्ताने अधिकृतरूपसे बताया है—'देशमें बहुत शीघ्र खानेयोग्य मछलीका आटा उपलब्ध हो सकेगा। यह आटा स्वीडनकी एक कम्पनीके द्वारा तैयार किया जायगा। × × × ताजी मछलीके मांसमें १५ प्रतिशत प्रोटीन होता है और इस आटेमें प्रोटीनका औसत ८५ प्रतिशत होगा। इस मछलीके आटेसे रोटी, बिस्कुट इत्यादि आसानीसे बनाये जा सकते हैं।

सरकारके द्वारा भाँति-भाँतिसे मांसाहारका प्रचार किया जा रहा है। मांसमें प्रोटीनकी मात्रा अधिक बतलाकर मांसको राष्ट्रीय उद्योग और भारतीयोंके लिये अनिवार्य भोजन बतलाया गया है। खाद्यविभागकी रिपोर्टमें मांसका वार्षिक उत्पादन ४ लाख टन बतलाकर उसका मूल्य ७६ करोड़ बताया गया है और इस नारकीय धंधेसे सरकारको २२ करोड़की बचत बतायी गयी है। जनताको आगाह किया गया है कि वह मांसके बढ़ते हुए व्यापारके लिये अच्छे नस्लके जानवरोंका (उनकी हत्याके लिये) पालन करे। इस प्रकार मछली-उद्योग, सूअर-उद्योग आदिके नामसे मांसाहार तथा हिंसाका प्रचार करके मानव-वृत्तियोंको दानव बनाया जा रहा है। यूरोपवाले जहाँ मांसाहारसे आर्थिक हानि देखते हैं, वहाँ भारतीय उसमें लाभ मान रहे हैं। विधिकी विडम्बना और भारतका दुर्भाग्य! पर निरमिषाहारी अहिंसक जनताको अपना कर्त्तव्य तो सोचना चाहिये!

* बढ़ती हुई जनसंख्याको रोकनेके लिये इस समय अनैतिक कृत्रिम साधनोंके उपयोगका प्रचार किया जा रहा है और उसपर बड़ा धन भी व्यय हो रहा है। इस विषयमें श्रीशिवचरणलालजी माधोगंज, जिला हरदोईसे लिख रहे हैं कि—'शौच जानेके पश्चात् मूत्रस्थानको अंदरसे धोकर मलस्थानको सब धोते ही हैं, इसके बाद शुद्ध मिट्टी दोनो स्थानोंपर लगाकर तीन बार धोनेसे काम-वासनाजनित चित्तकी चञ्चलताका नाश हो जाता है। इसके बहुत अनुभव हैं। स्त्रियोंको भी मूत्रस्थानके आगेके हिस्सेको तथा मलस्थानको भी मिट्टी लगाकर तीन बार धोना चाहिये। इस प्रयोगसे अपने-आप ही संयम होता है और सहज ही संतति-निरोधका कार्य हो जाता ।

पशु-पक्षियोंके साथ एकात्मता और मैत्री

(लेखिका—बहिन कु० रैहाना तैयबजी)

× × × हम सब अल्लाहकी प्रजा हैं। हम सबोंके पिता जगत्‌के स्रष्टा, संरक्षक और परमप्रेमी मित्र भगवान् हैं। हम तमाम जीवोंके रूप और संस्कार भले ही भिन्न-भिन्न हों, हमारे अंदर उस दिव्य ज्योतिका ही वास है, जो समस्त जीवनका जीवन है, जो समस्त प्राणोंका प्राण है। जब सभीमें एक ही आत्माका नूर रौशन है, तब कौन किसे श्रेष्ठ माने और कौन किसे कनिष्ठ समझे। अल्लाहके सामने कौन-से भेदभाव टिकनेवाले हैं और उसके दरबारमें कौन-सी ऊँच-नीच भावना कायम रह सकती है। इस हकीकतको हरेक धर्मने माना ही है; क्योंकि तमाम धर्म तथा उन्नतिका पाया इस आत्मैक्य, प्रेम, बन्धुत्व और सहानुभूतिपर खड़ा किया होता है। मौलिक सिद्धान्त एक ही होता है—परमात्मा एक है, आत्मा एक है, सब अनेकतामें एकताका साक्षात्कार करना ही धर्मशुद्धि और आत्मशुद्धि कहलाता है। ठीक, हम इस सत्यको ऐसे भूले हुए हैं; आज शक्लसे मानवी होते हुए भी, हमारी हस्ती, हृदय और कर्मसे मानवताका रंग बिल्कुल ही उड़ गया है और जाहिर है कि जब इन्सानसे इन्सानियत निकल जाती है, तब उसमें शैतानियत भर जाना लाजिमी है। आसुरी सम्पत्तिका विकास दैवी सम्पत्तिके विनाशसे ही तो होता है।

तो हम अपनी नष्ट मानवताकी पुनः रचना कैसे शुरू करें? हरेक आदमी इसपर सोचे, जो आदमी होनेका दावा करता है। मैं आजतकके अपने मनन-चिन्तनका सार यहाँ आपके सामने पेश करती हूँ। पहले तो बच्चोंको प्राणियोंसे मैत्री-भाव, बन्धुत्व-भाव रखना सिखाना चाहिये। हमारी हर प्रार्थनामें मानवेतर कुटुम्बियोंके लिये एक प्रार्थना शामिल होनी ही चाहिये। हमारी पुरानी प्रथा कितनी अच्छी थी कि हर भोजनका कुछ हिस्सा हमारे पशु-पक्षी मित्रोंके लिये हुआ करता था। आजकी तंगीके जमानेमें अगर इतना न हो सके तो कम-अज-कम बचे-खुचे खाद्यको इकट्ठा करके पक्षियों या प्राणियोंके लिये तो रक्खा जा सकता है। बच्चोंको सिखाया जा सकता है कि 'प्राणियोंको इजा देना, उन्हें सताना, उन्हें पत्थरोंसे मारना, उनकी हाय लेना महापाप है तथा जो जीव अन्य जीवोंका पीड़न करता है, वह मानवतासे गिर जाता है; इतना ही नहीं, वह अपने लिये एक दारुण इजा और पीड़ाकी दुनिया बनाता रहता है, जिसमें घड़ी आते ही उसे रहना ही पड़ेगा।' ××× । ('मंगल प्रभात')

अब भगवान् ही मेरे एकमात्र काम्य हैं

आजतक मैं भगवान्‌का न होकर और भगवान्‌को न चाहकर विषय-कामना और भोग-लालसाके फंदेमें फँसा हुआ दुःखकी ज्वालासे जलता रहा किंतु अब मैं इस ज्वालासे सर्वथा हटकर भगवान्‌के सहज सौहार्द एवं अनन्त आत्मीयतापर विश्वास करने लगा हूँ। अब जगत्‌के किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थितिकी मुझे कोई कामना-लालसा नहीं रही है; अब भगवान् ही मेरे एकमात्र काम्य हो गये हैं। भगवान्‌की कामना हृदयमें जागते ही जैसे सूर्यके उदय होते ही सम्पूर्ण अन्धकार भाग जाता है, वैसे ही अन्य कामना-लालसाएँ सब विलीन हो रही हैं। अब सभी परिस्थितियाँ, सभी वस्तुएँ, सभी प्राणी स्वाभाविक रूपमें मेरे कल्याणमें लगे हुए अनुभव हो रहे हैं।

अब मुझे अपने योगक्षेमकी भी चिन्ता नहीं सता रही है। भगवान्‌पर भरोसा करके अब मैं पूर्ण निर्भय तथा निश्चिन्त हूँ; मेरे लिये जो भी उचित, हितकर और आवश्यक होगा, भगवान् स्वतः ही उसकी रक्षा और पूर्तिकी व्यवस्था कर देंगे।

अब भगवान् ही मेरे एकमात्र काम्य हैं।

साधकोंके उद्गार

(१)

एक साधककी भावना और प्रार्थना

××× ऐसा दिन कब होगा, जब सब कुछ भुलाकर यह मेरा मन भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके श्रीचरणोंमें ही निरन्तर लगा रहेगा। अभी तो मन लौकिक परिस्थितियोंमें सुखकी खोज करता है। संसारकी निन्दाका, घरके लोगोंकी नाराजीका भय पद-पदपर सामने आता है। मनमें राग-द्वेषकी बातोंका भी कुछ चिन्तन होता है। मन-बुद्धि, इन्द्रिय—सभीमें विकार भरे हैं। इस दशामें प्रभु मनमें कैसे बसकर रह सकते हैं। पर क्या करूँ—जैसा भी हूँ, प्रभुका ही हूँ, प्रभुके सामने हूँ। ये सारे विकार भी प्रभु ही दूर करेंगे। मुझमें ऐसी कौन-सी योग्यता है, ऐसी क्या साधन-शक्ति है, जिसके बलसे मैं मनको निर्विकार, कामना-वासनारहित, सर्वथा निर्मल—विशुद्ध बना सकूँ, सर्वथा संकल्परहित कर सकूँ। सब कुछ प्रभु ही करेंगे। जिन्होंने मेरा इतना मन लिया है, वे ही पूर्णरूपसे भी इसे लेंगे। पर मेरा आत्मसमर्पण भी तो सच्चा नहीं। सच्चा समर्पण होता तो बुद्धि-मन-इन्द्रियाँ पृथक् कैसे रह पाते? सब प्रभुमें ही तो समाये रहते। पर इन विकारोंके रहते सच्चा आत्मसमर्पण हो भी कैसे सकता है? मेरे कहनेसे क्या होगा, प्रभुसे मेरे हृदयकी कोई भी बात छिपी तो है नहीं। जिसे मैं नहीं जानता, उसे भी वे जानते हैं। मेरे अन्तस्तलमें क्या-क्या भरा है, उसे प्रभु प्रतिक्षण देखते हैं। मैं ऐसे ही मलिन हृदयको लेकर भगवत्प्रेमकी बातें करता हूँ, इसे भी प्रभु अच्छी तरह जानते हैं। यह सत्य है कि प्रभु सच्ची चाह देखते हैं, ऊपर-ऊपरकी बातोंसे कुछ नहीं होता। परंतु यह सच्ची चाह भी तो प्रभुकी ही प्रेरणा—कृपासे प्रकट होगी। प्रभु ही चाह करायेंगे और प्रभु ही पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण भी करा लेंगे। फिर, 'मेरा' कहनेके लिये प्रभुके सिवा मेरे पास कुछ भी नहीं रह जायगा। मन, बुद्धि, इन्द्रिय—सभी उन प्रभुके होकर रहेंगे। फिर, किसी सुख-दुःखकी कल्पना भी नहीं होगी। मैं कहीं भी रहूँ, किसी भी स्थितिमें रहूँ, सदा प्रभुमें ही रहूँगा और प्रभु सदा मुझमें रहेंगे। न पृथक् अहंकारका अस्तित्व रहेगा, न कहीं ममता रहेगी और न कामना-वासना ही। सब कुछ प्रभुके समर्पित हो जायगा। बस, प्रभुके पावन मधुर चरणारविन्दयुगलमें ही मन निर्विकार—अन्य संकल्परहित होकर संलग्न हो जायगा। प्रभो! मेरी यह इच्छा पूर्ण करें, यही उनके सर्वसमर्थ चरण-कमलोंमें इस दीन-हीनकी एकमात्र माँग है।

(२)

एक साधकका अनुभव

आजकल संसारके प्राणी-पदार्थोंसे वैराग्य हो रहा है। प्रभुकी विशेष स्मृति होती है। सांसारिक ममताका बन्धन बिल्कुल ढीला हो गया है और टूट रहा है। प्रभु जो कुछ करते हैं, सब परम मङ्गल ही करते हैं। वे तो सदा-सर्वदा हमारे पास ही रहते हैं। हम स्वयं ही उन्हें दूर मानकर उनकी समीपताका अनुभव करना ही न चाहें तो यह हमारा ही दोष है। मुझपर प्रभुकी असीम कृपा है, मैं इसका अनुभव करता हूँ। मेरा मन दिन-रात प्रभुमें ही बसा रहता है और इसमें मुझे परम सुखकी अनुभूति होती है। मेरा यह अपना सुख कौन छीन सकता है? यह तो हृदयमें प्रभुके मिलनका परम सुख है। किसकी शक्ति है, जो मेरी इस सुखकी वस्तुको छीन सके? शरीर कहीं रहे, इसपर किसीका भी अधिकार रहे। पर मेरे उस मनपर—जो नित्य-निरन्तर मधुलोभी भ्रमर बनकर प्रभुके चरणकमलोंका रस प्राप्त करता रहता है—किसका अधिकार हो सकता है? इसपर दूसरा कोई कैसे नियन्त्रण कर सकता है? मेरे इस असीम सुखको न कोई देख पाता है, न जान पाता है। बहुतोंके मनमें तो यही आश्चर्य नहीं समा रहा है कि इसके पास ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसको लेकर इसके मुखपर—सांसारिक प्रतिकूलताओंके होते हुए भी—सदा निर्मल प्रसन्नता छायी रहती है, कभी मलिनता आती ही नहीं।

शाकाहारके चमत्कार

(लेखक—श्रीमगनलालजी पी० जोशी)

शाकाहार मनुष्यजातिका स्वाभाविक भोजन है। यह स्वास्थ्यप्रद एवं सभी पोषक-तत्त्वोंसे परिपूर्ण है। पाश्चात्त्य यूरोपियन देश, जो कि अधिकांशतः आमिषभोजी हैं, भी इस तथ्यको स्वीकार करते हैं। यह धारणा कि मांसाहारसे शक्ति प्राप्त होती है, सर्वथा भ्रान्त है। यदि वे इसका उपभोग स्वाद अथवा लोकाचारके लिये करते हैं तो यह पाप है, पशुजीवनके प्रति बलात्कार है। प्रकृतिने सभी मनुष्यों और पशुओंको जीनेका समान अधिकार दिया है। पशुओंकी हत्या करना हिंसा है; अतएव जो मनुष्य मांसाहार करते हैं, वे भी प्रकारान्तरसे हिंसा ही करते हैं। यदि मांसका सेवन रुक जाय तो पशुओंकी हत्या भी स्वाभाविक ही बंद हो जाय।

यूरोप और अमेरिका आदि मांस-सेवन करनेवाले देश हैं, पर बहुत दिनोंतक मांसाहार-सेवनके पश्चात् वहाँके लोग भी अब शाकाहारकी महत्ताको मानने लगे हैं। कई शाकाहारी क्लब और संस्थाएँ स्थापित हो गयी हैं, जो निरामिष भोजनकी उपादेयताका प्रचार करती हैं। संसारके समस्त देशोंकी अन्ताराष्ट्रिय समितिने भी यही प्रस्तावित किया कि मांसका सेवन सैनिकोंके लिये कतई अपेक्षित नहीं है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि अच्छे स्वास्थ्यके लिये उपयुक्त सभी आवश्यक प्राकृतिक तत्त्व शाकाहारी भोजनमें विद्यमान है।

यूरोपियन देशोंके लोग अब निरामिष भोजनके चमत्कारोंका अनुभव कर रहे हैं। उन्होंने खुले आम इसकी उपादेयताको स्वीकार किया है। शाकाहारी समितिकी 'मिस जेनट इरविण्ड' नामकी एक सदस्याने 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में इस विषयके कई एक भावोत्पादक उद्धरणों एवं लेखोंको प्रकाशित किया है।

श्रीमर्रे रोज एक सुविख्यात आस्ट्रेलियन तैराक हैं। वे जन्मना कट्टर शाकाहारी हैं। स्वास्थ्यको बनाये रखनेकी कला और किस प्रकारके शाकाहारका सेवन किया जाय, उनसे इस बातकी जानकारी प्राप्त करना रोचक होगा।

ई० सन् १९५६ में मेलबोर्नमें हुए आलम्पिक खेलोंमें उन्होंने तीन स्वर्ण-पदक प्राप्त किये। विजेताओंमें उनका दूसरा नम्बर था। वे आस्ट्रेलियाके रहनेवाले हैं और कट्टर निरामिषभोजी हैं। उपर्युक्त खेलके प्रथम पुरस्कार-विजेता श्रीजौनी रोज मूलर भी निरामिष भोजनमें आस्था रखते हैं।

श्रीमर्रे रोज सर्वथा शाकाहार करते हैं। उनके विश्वासके अनुसार हमारे भोजनको वैज्ञानिक रीतिसे पुनः नया रूप देना चाहिये। आस्ट्रेलियामें वे इस आन्दोलनका नेतृत्व करते हैं। ब्रिटेन एवं अमेरिकामें शाकाहारिताने बहुत प्रगति की है। एक सौ अस्सी वर्ष पूर्व ही शिथिल रूपमें इस आन्दोलनका सूत्रपात हो चुका था। अब तो यह बहुत अधिक व्यापक और प्रबल हो गया है।

श्रीमर्रे रोज अपने नियमके पक्के हैं। वे पशुओंसे उत्पादित ओषधियों एवं इंजेक्शनोंका भी उपयोग नहीं करते। इसी कारण उन्होंने टीका लगवानेसे भी इन्कार कर दिया। (एक बार) उन्होंने अमेरिकाकी यात्रा की। जहाजके डाक्टरोंने कहा कि जो टीका नहीं लगवायेगा, उसे जहाजमें नहीं लिया जायगा। किंतु श्रीमर्रे रोज अपने निश्चयपर अडिग रहे। अन्ततः उन्हें सफलता मिली और जहाजपर यात्रा करनेके लिये अनुमति दे दी गयी। होनोलुलुसे प्रकाशित होनेवाले एक दैनिक पत्रमें यह समाचार निकला कि जब तीन स्वर्णपदकोंके विजेता श्रीमर्रे अपने माता-पिताके साथ अमेरिकाके

तटपर उतरे तो वहाँके सरकारी अफसरोंने यह सूचना निकाली कि ये लोग धार्मिक विचारोंके व्यक्ति हैं और शाकाहारी भोजनके कारण इनका स्वास्थ्य सब प्रकारसे ठीक है, अतः उन्हें बिना टीका लगाये उतरनेकी अनुमति दे दी गयी। उन्होंने टीका लगानेके लिये इन्हें विवश नहीं किया।

श्रीमर्रे रोज प्रतिदिन सोयाबीनसे एवं डेयरीमें निर्मित पदार्थोंका, सूर्यमुखीके बीज, मधु, गाजरका रस, सूखा मेवा, चीनी आदिका सेवन करते हैं। ये सभी पदार्थ अतीव पौष्टिक हैं। रूस, एशिया एवं मध्यपूर्वके लोग भी इनसे भलीभाँति परिचित हैं। इनमें सभीमें पोषक तत्त्व भी हैं। विशुद्ध शाकाहारसे बना ताजा रक्त हृदयको मजबूत बनाता है। यह बात श्रीमर्रे रोजकी बड़ी-बड़ी विजयोंसे प्रमाणित हो जाती है।

यह है शाकाहारका गौरव और महत्त्व। इसका समर्थन करनेवाले अन्य अनेकों उदाहरण हैं। आज शाकाहार अपनी चमत्कारिक उपयोगिताके कारण यूरोपके विचारशील विद्वानोंका आकर्षण-बिन्दु बन गया है।

श्रीदवे किलर एक दूसरे आस्ट्रेलियन खिलाड़ी हैं। पैतृक-परम्परानुगत ये सच्चे रूपमें शाकाहार करते हैं। इनका दृढ़ विश्वास है कि शाकाहार मनुष्योंका नैसर्गिक तथा यथोचित भोजन है। स्वस्थ रहने और खेलोंके योग्य बननेके लिये शाकाहार ही उपयुक्त है। इनके पिता श्रीवाल्टर किलर महोदय अपनी साठ वर्षकी आयुमें अब भी दौड़में प्रतिद्वन्द्वियोंसे मुकाबला करते और अपने पुत्र श्रीदवेको खेलोंके प्रमुख स्थलोंके लिये तैयार करते हैं।

श्रीदवे किलर एक चतुर साइकिल-चालक हैं। इन्होंने साइकिलकी अनेकों दौड़ोंमें पुरस्कार प्राप्त किया है। ई० सन् १९५७ में ये सफलताके शिखरपर पहुँच गये और दौड़में विजय प्राप्त की। नार्थ रोडपर ४७८ मील चलकर इन्होंने रेकार्ड स्थापित कर दिया। यह इनकी प्रमुख सफलता थी। समूचे देशमें इनका दूसरा नंबर रहा। 'साइक्लिङ्ग' (Cycling) मासिक-पत्रके सम्पादकने अपने तीस वर्षोंके अनुभवके पश्चात् ४७८ और ७०३ मीलके रेकार्डोंके लिये इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। कठोर शीतमें सत्तर प्रतिद्वन्द्वियोंके बीच श्रीदवे किलरने यह रेकार्ड स्थापित किया। नार्थ क्लब रोड सन् १८८६ में स्थापित हुआ था और श्रीदवेकी यह विजय क्लबके लिये बड़े गौरवकी वस्तु बन गयी।

श्रीदवे किलर और उनके पिता—दोनो शाकाहारी साइक्लिङ्ग और एथलेटिक क्लबके मेम्बर हैं। इसकी स्थापना सन् १८९७ में हुई थी। इस क्लबने हमेशा रेकार्ड स्थापित किये हैं। इसके सदस्योंने अनेकों स्थलोंपर सफलता प्राप्त की है। कुछ ही महीने पूर्व श्रीदवे किलरने स्कॉटलैंडमें २ दिन, तीन घंटे और २४ मिनटमें ९७० मील साइकिलपर चलकर एक नया रेकार्ड स्थापित किया है।

एक तीसरा उदाहरण है श्रीविल पिकरिंग नामके एक शाकाहारी तैराकका। इन्होंने सन् १९५५ के ग्रीष्ममें इंग्लिश चेनलको पार करनेका उद्योग आरम्भ किया। कोई उनको जानता न था। १४ घंटे और ६ मिनटमें पूरी इंग्लिश चेनल पार कर ली और राष्ट्रके वीरोंमें इनकी गणना होने लगी। श्रीबिल पिकरिंग महोदय एवं उनकी इस महान् सफलतासे शाकाहारिताको बड़ा बल मिला। वे एक विनोदशील प्रकृतिके अच्छे खिलाड़ी हैं और अपनी तुलना अखरोटसे करते हैं; इनका सुन्दर स्वभाव है। इनका यह दृढ़ विश्वास है कि उनकी यह सारी सफलता शाकाहारी भोजनका परिणाम है।

श्रीपिकरिंग महोदयका यह दावा है कि वे किसी भी मांसाहारीकी अपेक्षा अधिक सशक्त, पराक्रमी एवं स्वस्थ हैं। इनका कथन है कि शाकाहारी भोजन मनुष्यका स्वाभाविक भोजन है। इससे आयु बढ़ती है और इससे मनुष्य सुखी, संतुष्ट और शान्त रहता है। इनका भोजन प्रमुखतया मधु, फल, सलाद, खजूर, पनीर, सैंडविच एवं अन्यान्य दूधसे बनी सामग्री है। इस भोजनपर निर्वाह करनेवाले व्यक्तिको कभी वातव्याधि आदि रोग नहीं होते। चैनलको तैरकर पार करनेकी प्रतियोगिताके पूर्व ये सैंडविच एवं पनीर एवं घरमें तैयार किये गये आटेकी रोटीका भोजन किया करते थे। ये सदा हाथकी चक्कीसे पिसे आटेको ही उपयोगमें लेते हैं।

जिस समय श्रीपिकरिंग महोदय इंग्लिश चैनलको पार करके घर आये, सैकड़ों मनुष्योंकी भीड़ उनका स्वागत करनेके लिये उमड़ पड़ी। घंटोंतक सड़कपर यातायात अस्त-व्यस्त रहा। 'लंडन टाइम्स' ने ७ सितम्बर १९५५ के अपने पत्रमें प्रमुख रूपसे इस सफलताका समाचार "The Champion Swimmer and Vegetable Diet" शीर्षकसे निकाला। उसमें पिकरिंग महोदयके प्रतिदिनके भोजनका विवरण था, जो सर्वथा निरामिष एवं प्राकृतिक था। आज भी यदा-कदा इंग्लैंडके समाचार-पत्र शाकाहारपर इनके विचारोंको प्रकट करते हैं। इंगलैंडके एक पत्रमें सम्पादकीय स्तम्भमें शाकाहारकी महत्ताको विस्तृत रूपसे जनताके समक्ष रखा गया। सरकार भी शाकाहारी क्लबोंको प्रोत्साहन देती है। श्रीविल इस समय २८ वर्षके हैं। मोरकम्बेकी खाड़ीमें तैरनेकी प्रतियोगितामें भी ये प्रमुख तैराक थे। इंगलिश चैनलको तैरकर पार करनेवालोंमें ये सर्वप्रथम शाकाहारी हैं। इन्होंने कई स्थानोंपर स्वास्थ्यप्रद प्राकृतिक निरामिष भोजनके प्रचारार्थ अनेकों क्लबों और संस्थाओंकी स्थापना की है। इनसे सम्बन्धित कई दूकानें एवं होटल भी हैं।

ग्रेट ब्रिटेनमें कई शाकाहारी क्लब हैं, जिनमें श्रीविल पिकरिंग महोदयका सदा ही सम्मानित अतिथिकी तरह स्वागत किया जाता है और सार्वजनिक आयोजनोंपर तो इन्हें विशेषरूपसे आमन्त्रित किया जाता है।

कुछ ही दिन हुए, मेरे एक मित्रने पश्चिमी जर्मनीकी यात्रा की। उन्होंने मुझे बतलाया कि वहाँ अनेकों स्थानोंपर दुग्धशालाएँ खुली हुई हैं और वहाँ उनका प्रचार भी पर्याप्त है। दूध, दही एवं शिखरनकी सभी दुग्धशालाओंमें बहुत माँग रहती है। इन दुग्धशालाओंपर बड़े-बूढ़ोंकी भी भीड़ सदा लगी ही रहती है। दही आधपाव-की प्यालीमें विशेषरूपसे जमाया जाता है, जिसे लोग चीनी या शहद मिलाकर खाते हैं और कुछ गुड़के साथ सेवन करते हैं। गुड़को लोग 'पीली चीनी' (Yellow Sugar) के नामसे पुकारते हैं। कई भोजनालय तो अपनी तालिकामें इसकी विज्ञप्ति निकालते हैं कि विशेष रूपसे जमाया हुआ होनेसे यह दही अधिक टिकाऊ है। मेरे मित्रका कथन है कि लंदनमें बहुत-से शाकाहारी भोजनालय हैं, जो अधिकांशतः भोजनके समय अंग्रेजोंसे भरे रहते हैं, कठिनतासे कोई खाली जगह मिलती है।

पाश्चात्त्य जगत्ने अब शाकाहारके चमत्कारोंको देख लिया है। शाकाहारका वहाँ बहुत प्रचार हो रहा है और जनता भी इसकी सराहना करने लग गयी है। अंग्रेजी समाचार-पत्र भी प्रमुखरूपसे इसका प्रचार करने लगे हैं। किंतु भारतमें हम इनसे नितान्त विपरीत देखते हैं। हमारे भाई दिन-प्रति-दिन मांसाहारी होते जा रहे हैं। (सरकारी एवं अर्धसरकारी संस्थाएँ मांसाहारका प्रचार कर रही हैं। ×)

× हमारी सरकार तो खुले आम मांसाहारका प्रचार

आर्थिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक—सभी दृष्टियोंसे मनुष्यके लिये शाकाहार ही सर्वोत्तम आहार है। यह निर्विवाद सत्य है और लोग इसे मानते भी हैं; तथापि खेद है कि मांसाहारका संक्रामक रोग बढ़ता ही जा रहा है। जो कठोररूपसे शाकाहारी हैं, वे भी आजकलकी दूषित हवामें बहकर अविवेक तथा कुसङ्गके कारण मांसाहार करने लगे हैं। यह पतनकी ओर ले जानेवाली हमारी महान् मानसिक दुर्बलता है। (अंडोंको तो लोग निरामिषतक कहने लगे हैं।)

हवा बदलनेके लिये लोग पहाड़ोंपर जाते हैं। वहाँकी हरी-भरी वनस्पतियाँ एवं प्राकृतिक दृश्य, फल एवं ताजी तरकारियाँ बरबस मनको अपनी ओर आकर्षित करके चित्तको प्रसन्नतासे भर देती हैं। अब एक कसाईखानेके समीप खड़े होकर इसकी तुलना कीजिये। दम घुटानेवाली दुर्गन्ध, खूनके चकत्ते, पशुओंकी चीत्कारका दृश्य—यह सब कितना बीभत्स है। क्या यही पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि मनुष्यको स्वभावसे ही मांसाहारसे घृणा है।

हमें सदा शुद्ध एवं स्वच्छ फल ही खानेमें अच्छे लगते हैं, जब कि मांस जीवित पशुओंके शरीरमें स्थित मूत्रादि अन्यान्य भीतरी मलिन पदार्थोंके साथ मिला रहता है। इससे पूर्णतया स्पष्ट है कि पका और कच्चा मांस हिंसामय तो है ही, इस तरहके हानिप्रद मलिन द्रव्योंसे संयुक्त रहनेके कारण किसी भी तरह मनुष्यके भोजनके उपयुक्त नहीं है।

वैज्ञानिकोंने भी शरीरके अवयवोंके ध्यानपूर्वक अध्ययन एवं परीक्षणके पश्चात् इस बातकी घोषणा की है कि शाकाहार ही मनुष्यका सर्वोत्तम प्राकृतिक आहार है। मांसका सेवन कदापि नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह सर्वथा अप्राकृतिक है। शाकाहार सब प्रकारसे सस्ता एवं मितव्ययसाध्य है। यह सुलभ भी है। इसे टिकाकर बहुत दिनोंतक रखा भी जा सकता है।

दया करना सार्वभौम धर्म है। जिनकी न्यायमें आस्था है, वे कभी मांसका सेवन नहीं करेंगे। न वे हृदयसे कभी मांसके लिये किये जानेवाले पशुओंके निर्दयतापूर्ण वधमें शरीक ही होंगे। यदि आप मांसाहारी हैं तो हमारी आपसे विनम्र प्रार्थना है कि आप 'निरामिषभोजी' (शाकाहारी) बनिये। अपने मांसाहारी भाइयोंको समझाइये। वे भी कट्टर शाकाहारी बनें और शाकाहारका प्रचार करें। इस प्रकार करनेसे जगत्‌में शान्ति एवं अहिंसाकी स्थापना होगी और सुखका विस्तार होगा।

कर ही रही है। सरकारी योजनाओंमें करोड़ो रुपये मछली-उद्योग, सूअर-उद्योग आदिके लिये रखे गये हैं। 'भारत-सेवक-समाज' सरीखी संस्थाके द्वारा—जिसको सेवा-कार्यके लिये संघटित सार्वजनिक संस्था बताया जाता है—मांस-मछलीका प्रचार कराया जाता है। पिछले दिनों दिल्लीके समीप कैरेला ग्राममें भारत-सेवक-समाजकी ओरसे छात्राओंके ग्रीष्म-शिविरकी योजना की गयी थी। इस शिविरमें सामाजिक कार्योंके साथ-साथ यह भी बताया गया था कि जलसे निकल भागी हुई मछलियोंको किस तरह पकड़ा जाय; तथा ग्रामकी शाकाहारी जनताको मछलीके व्यवहारसे होनेवाले लाभ आदि समझाना और मछलियोंके उत्पादनसे देशको लाभ होगा, इसका प्रचार करना भी इस योजनाका एक उद्देश्य था। जो सर्वथा शाकाहारी है, उस बेचारी भोली जनताको वंश-परम्परासे रुपये कमानेके लोभसे मछलीके उत्पादनकी बात सिखायी जाय, यह कितने दुःखकी बात है। भारत-सेवक-समाजके लिये तो यह बड़ी ही अशोभनीय चेष्टा है। सरकार जगह-जगह नये कसाईखाने खोलनेकी बात रही है। यह सब हिंसात्मक कार्य देशके लिये कितने घातक होंगे, इसपर विचार करनेसे ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

पश्चात्तापद्वारा एक सर्पकी अपने पूर्वजन्मके ऋणसे मुक्ति

दो वर्ष पूर्व मेरे एक परिचित रेलवे-तार-विभागके इंस्पेक्टर श्रीशिवदासजी शर्मा पुष्टिकरने मुझे एक घटना सुनायी, जब कि मैं तथा वे बीकानेरसे श्रीगङ्गानगरके लिये रेलद्वारा एक ही डिब्बेमें यात्रा कर रहे थे।

उन्होंने कहा कि प्रायः तीस वर्ष पूर्वकी घटना है, जिन दिनों वे मकराणा रेलवे स्टेशन (तत्कालीन जोधपुर रेलवे) पर तार-बाबू नियुक्त थे। एक दिन संध्याकी गाड़ीसे एक सुसम्पन्न वैश्य-दम्पति उक्त स्टेशन-पर उतरे, उनके साथ एक डेढ़ वर्षका बालक भी था। उन्हें दूसरे दिन प्रातःकाल ऊँटकी सवारीद्वारा अपने ग्रामको जाना था; अतएव वे रात्रिविश्रामके निमित्त धर्मशालामें, जो स्टेशनके निकट ही थी, ठहर गये। स्टेशनसे गाड़ी चलनेके कुछ ही मिनट पश्चात् एक भयानक घटनाका सूत्रपात हुआ, जिसे देखकर सेठजी, उनकी पत्नी तथा अन्य उपस्थित सभी लोग डरके मारे काँपने लगे। छोटा लड़का धर्मशालाके कच्चे आँगनमें खेल रहा था। कुछ ही क्षण उपरान्त कहींसे एक काला नाग चला आया और बालकके चारों ओर कुण्डली मारकर, उसके मुँहके सामने अपना फन नीचेको झुका-कर बैठ गया; इधर बालक आँगनसे धूल उठा-उठाकर उसके फनपर डालने लगा। उन दोनोंका यह एक प्रकार-का खेल बन गया; परंतु जैसे ही बालकके माता-पिता तथा अन्य मनुष्योंकी दृष्टि उस ओर गयी, उन सबको कँपकपी छूट गयी; किंतु साहस किसका कि इनके इस खेलमें दखल दे। सेठ-सेठानी बेचारे बुरी तरह रोने लगे। रोनेके अतिरिक्त वे कर भी क्या सकते थे। इतनेमें एक ऊँटवाला, जो जातिका राजपूत था, बालकके माता-पिताके पास आकर कहने लगा—'मेरे पास बंदूक है तथा मुझे पूर्ण आशा है कि मेरा निशाना अचूक होगा; परंतु बंदूक मैं तब चलाऊँ, जब तुम यह लिख-कर दे दो कि विधिवश यदि बालकको कुछ हो जाय तो मैं दोषी न ठहराया जाऊँ।' बालकके माता-पिताने स्वीकार कर लिया तथा सेठजीने ऐसा ही लिखकर दे दिया; क्योंकि और कोई उपाय भी नहीं था। राजपूत युवकने बंदूक छोड़ी, निशानेने सोलह आने काम किया। साँप मर गया। बालक दुर्घटनासे बच गया। सेठ-सेठानीकी प्रसन्नताका पार न रहा। उन्होंने राजपूत युवकको कुछ पारितोषिक देना चाहा, परंतु उसने कुछ नहीं लिया। दर्शकोंने उसे उसकी वीरता तथा निशानेकी सचाईके लिये बधाई दी।

परंतु महान् खेद कि प्रातःकाल, पहले ही क्षणमें, सोकर उठनेवालोंने देखा कि वह ऊँटवाला राजपूत युवक सर्पदंशनद्वारा मरा पड़ा है; उसके पाँवमें साँप काटनेका निशान विद्यमान था। लोगोंमें दौड़-धूप होने लगी। इतनेमें सौभाग्यवश एक 'सर्पविद्या-विशारद' सज्जन आ पहुँचे और कहने लगे—'भाइयो! मैं साँपकाटे-का इलाज तो नहीं जानता; परंतु अपनी विद्याके प्रयोग-से किसी माध्यमद्वारा मैं सर्पकी आत्माको बुलाकर पूछ सकता हूँ कि उसने इसे क्यों काटा तथा उससे प्रार्थना भी कर सकता हूँ कि वह सदेह प्रकट होकर इस व्यक्तिका विष चूस ले जिससे कि वह जी उठे (क्योंकि साँपका काटा हुआ तत्काल ही मर नहीं जाता।)' उपस्थित जनोंका कौतूहल और भी बढ़ा।

एक आठ-दस वर्षके बालकको माध्यम बनाये जाने-का प्रबन्ध कर दिया गया। ज्यों ही उन सर्प-विद्या-विशेषज्ञ महोदयने मन्त्रोच्चारण किया त्यों ही साँपकी आत्मा माध्यमद्वारा बोल उठी—'मैं वही कलवाला साँप

हूँ । गोली लगनेपर मैं हतप्राण-सा तो हो गया था, परंतु मेरे शरीरके दो टुकड़े नहीं हुए थे और वैसे ही उसे पासवाली काँटोंकी वाड़पर फेंक दिया गया था । अतः रात्रि होनेपर पूर्वी हवा चलते ही मेरे शरीरमें पुनः प्राण संचरित हो उठे तथा मेरा घाव भी कुछ ठीक हो गया । मध्य रात्रिके समय मैं धीरे-धीरे चलकर इस व्यक्तिके पास आया तथा इसकी निद्रितावस्थामें ही इसके पाँवमें काटकर अपना वदला चुका लिया ।'

उन सर्पविद्या-विशारद महानुभावके विनय करनेपर कि 'सर्पदेवता ! अव कृपया प्रकट होकर इस व्यक्तिका विष चूस लें ।' उसकी आत्माने उत्तर दिया कि 'मैं इस सेठके पुत्रका तीन जन्म पहलेका ५००) रुपयेका ऋणी हूँ, जव कि यह तथा मैं दोनों मनुष्य-योनिमें थे । उस जन्ममें मैं ऋणोन्मुक्त नहीं हो सका तथा मृत्युके उपरान्त मनुष्येतर योनिमें जन्म मिलनेके कारण मेरे लिये ऋणोन्मुक्त होना असम्भव था ही । संयोगवश कल इस वालकको देखकर मैं पश्चात्ताप प्रकट करनेके हेतु इसके चारो ओर कुण्डली मारकर नतमस्तक होता हुआ क्षमायाचना कर रहा था तथा यह मेरे सिरपर धूल डालकर प्रकट कर रहा था कि 'तुझे धिक्कार है; तूने तीन जन्म ले लिये, परंतु अभीतक मेरा ऋण न उतार सका ।' इस प्रकार हम दोनो परस्पर अपने भाव प्रकट कर रहे थे कि इस राजपूत युवकने आकर मुझ निरपराधको मार दिया । अव यदि मेरा यह ऋण मेरे समक्ष चुका दिया जाय तो मैं प्रकट होकर इसका विष चूस सकता हूँ ।' लोगोंका कौतूहल प्रतिक्षण वढ़ रहा था । तुरंत ही उपस्थित सज्जनोंमेंसे एक धनाढ्य महानुभावने पाँच सौ रुपये निकालकर उस वालककी गोदमें डाल दिये । और आश्चर्य कि ऐसा करते ही वह सर्प एक ओरसे दौड़ता हुआ आया और उस राजपूत युवकका विष चूसने लगा । दो ही तीन मिनटमें वह युवक विषरहित होते ही चेतनामें आ गया । जव उसे सारा ज्ञात हुआ, तव उसने कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन धनाढ्य महानुभावको खड़ा-खड़ी अपना ऊँट वेचकर तथा वाकी कुछ रुपये अपने वहाँके किसी जान-पहचानवालेसे उधार लेकर दे दिये और भगवान्‌को धन्यवाद देता हुआ अपने ग्राम (जो निकट ही था) की ओर चल पड़ा । वह साँप भी वहाँसे चला गया । यह एक आँखोंदेखी घटना है । इसकी सत्यतामें लेशमात्र भी संदेहको स्थान नहीं है ।

—लक्ष्मणप्रसाद विजयवर्गीय

(२)

भगवान्‌का दूत

कोई दस-वारह वर्ष पुरानी वात है, दिल्लीमें मैं एक मकानके पहले मंजिलपर दो कमरोंमें कुटुम्बके साथ रहता था । एक खिड़कीके पास मैंने टेवल और कुर्सी लगा रखे थे और वहीं अध्ययन इत्यादि किया करता था । मेजके ठीक ऊपर एक रोशनदान था । इस रोशनदानमें कोई २०—२५ ईंटें डाँटकर भरी हुई थीं; जिससे धूल और पानी अंदर न आये ।

एक दिनकी वात है, रातके लगभग आठ वजेका समय था । जोरकी हवा चल रही थी, जाड़ेके दिन थे और थोड़ी वर्षा भी हो रही थी । मैं कुर्सीपर बैठा कुछ पढ़ रहा था या वैसे ही अलसिया रहा था । मारे हवाके सव वंद दरवाजे भड़भड़ा रहे थे । कमरेके अंदर वैठा मैं सुरक्षाका अनुभव कर रहा था । इतनेमें मेरे दरवाजेके किवाड़ किसीने वाहरसे भड़भड़ाये । मुझे आलस्य आ रहा था । एक वार तो सोचा, दरवाजा खोल दूँ । फिर विचार किया कि शायद यह शब्द हवाके तेज झोंकेके कारण आया हो । इसलिये मैं बैठा ही रहा । किंतु फिर और जोरसे दरवाजा भड़भड़ाया । अन्ततः मैं उठा और मैंने दरवाजा खोला । देखता क्या हूँ कि हमारे एक पुराने कानपुरनिवासी मित्र वर्षामें भीगे, सर्दीके मारे कुड़कुड़ाते वाहर खड़े

हैं। मैंने आश्चर्यमें भरकर अपना मुँह खोलना ही चाहा था कि पीछे कुर्सीपर बड़े जोरका धमाका हुआ। देखता क्या हूँ ऊपर रोशनदानसे सारी ईंटें हवाके झोंकेकें साथ कुर्सीपर गिर पड़ी थीं। केवल एक मिनट पहले ही अगर यह घटना हुई होती तो मेरे सिरकी लुब्दी बन गयी होती। मैं अवाक् रह गया। मित्र भी देखते ही रहे। जैसे भगवान्‌ने ही उस आँधी, पानी और ठंडमें रातके समय केवल मुझे उस समय कुर्सीपरसे हटानेके लिये ही उन्हें भेजा हो। जब कभी भाग्य या भगवान्‌की बात चलती है, तब यह घटना मेरी आँखोंके सामने नाचने लगती है।

—वि० य० घोरपड़े

(३)

सहानुभूति

अमेरिका होकर आये हुए एक भाईसे वहाँके जीवनकी बहुत-सी बातें जाननेको मिलीं। बात-बातमें उन्होंने एक सुन्दर प्रसङ्ग सुनाया, जो उन्हींके शब्दोंमें यहाँ लिख रहा हूँ—

अमेरिकाके लोगोंकी बहुत-सी बातें अच्छी लगीं। परंतु वे एक-दूसरे देश-बन्धुके प्रति जो सहानुभूति रखते हैं, उसकी बात तो मुझे बहुत ही पसंद आयी। एक दिन हमलोग बसकी बाट देखते जब 'क्यू' में खड़े थे, तब एक वृद्ध सज्जन भी आकर हमारे क्यूमें शामिल हो गये। बस आयी और हम सभी उसपर सवार हो गये। कंडक्टर जब टिकट देने आया, तब वे वृद्ध अपनी जेब टटोलने लगे और तुरंत ही वे नीचे उतरकर ऐसे कुछ ढूँढ़ने लगे, जैसे उनका कुछ खो गया हो। उनके चेहरेपर चिन्ता छायी थी। पूछनेपर उन्होंने बताया कि आज वेतन मिलनेका दिन था और दस पौंडके लगभग वेतनकी रकम लेकर वे अपने परगनेकी ओर जा रहे थे, जहाँ उनका छोटा-सा कुटुम्ब रहता था; परंतु दुर्भाग्यसे वे पैसे कहीं खो गये। पर मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और मैं नहीं समझ सका कि बसके सभी यात्री नीचे क्यों उतर गये? सभी यात्री एक लाइनमें खड़े हो गये और एक मनुष्य उनमेंसे निकलकर पैसे उगाहने लगा। मैंने यथाशक्ति कुछ दिया। लगभग दस पौंड इकट्ठे होनेपर वृद्धको दे दिये गये। उन वृद्धको मानो जीवन-दान मिल गया हो, ऐसे प्रसन्न होते हुए वे बसमें टिकट लेकर बैठ गये। ('अखण्ड आनन्द' से साभार)

—इज्जतकुमार त्रिवेदी

(४)

यह असाधारण साहस!

श्रीहेरंजल गजानन राव हमारे आश्रमके श्रमदानी युवकोंके अग्रणी हैं। स्काउट-मास्टरकी हैसियतसे बेंगलूरमें उनका एक छोटा-सा शान्ति-पथक भी है। अभी कुछ दिन हुए, बेंगलूर नगरमें 'करगा उत्सव' था। घनी बस्तीके भीतर रातभर मन्दिरोंकी ओरसे यह उत्सव होता है। लाखों लोगोंकी भीड़ चींटियोंके मुआफिक होती है। पुलिसका बन्दोबस्त बाकायदा रहता है। भीड़को कंट्रोल (नियन्त्रित) करना बड़ी मुसीबतका काम है। थोड़ी-सी गलती भी भयंकर परिणाम पैदा कर सकती है।

उत्सवमें एकाएक एक भीड़ नजर आयी। डी० एस० पी० पुलिस भीड़के बीच! और 'पुलिसोंको मारो-पीटो'की चारो ओरसे दर्शनेच्छु लोगोंकी आवाज। एक सिर फूटे हुए, खूनसे सराबोर एक पथिकके पकड़में एक कान्स्टेबिल! कहा गया कि पुलिसके लाठी-प्रहारसे ही यह आदमी घायल हुआ है। 'पीटो पुलिसोंको' एक ही नारा! एक निमिषमात्रका और विलम्ब होता तो खून-खराबी शुरू हो जाती।

श्रीगजाननजी भीड़के अंदर तीरके मुआफिक उस घायलके पास पहुँचनेकी कोशिश करने लगे। पुलिस-

अफसरोंने रुकावट डाली। 'मैं स्काउट हूँ, मैं उस घायलकी हिफाजत करूँगा। छोड़िये मुझे।' गजाननजी चिल्लाये।

एक पुलिस-अफसरने, जो उनके परिचितोंमेंसे था, जानेके लिये रास्ता कर दिया। बस, हिकमतसे उस घायलको और उसकी पकड़में रहे पुलिसको गजाननजीने तुरंत अलग कर दिया। घाव देखा—घाव लाठीका नहीं था, वह था तेज तलवारका। गजाननजीको हिम्मत हुई। उस घायलको और घायलोंके साथकी क्रुद्ध भीड़को लेकर नजदीककी पुलिस-चौकीपर अपने शुश्रूषा-पथकके साथ वे आगे बढ़े। शुश्रूषा भी चली और मामलेका खुलासा हुआ। घायलने भी मंजूर किया। 'करगा' पालकीके जाते समय गलतीसे उसका पाँव पालकीसे टकरा गया था। क्षमा-याचनाके लिये नीचे झुकते समय, पालकी-रक्षकोंके हाथकी तलवार सिरपर टकरायी, चार इञ्चका गम्भीर घाव उसीका परिणाम था।

श्रीगजाननजीके इस शान्ति-कार्यकी मुक्त प्रशंसा करते हुए पुलिस और क्रुद्ध भीड़ फिर जुलूसमें शामिल हुई। पुलिस-अधिकारियोंने गजाननजी और उनके साथियोंका गौरव किया। उनके शान्ति और सेवा-कार्यकी सरकारी रजिस्टरमें नोंध की गयी। शान्ति-सैनिककी जय! ('भूदान' से) —द० मं० बुरडे

(५)

आदर्श धर्म

हमारी सात मित्रोंकी मण्डली दीपावलीकी छुट्टीमें 'गोरादरा' नामक गाँवमें सैर करनेको निकली थी। वह गाँव सूरत शहरसे लगभग दस मील दूर था। दोपहरके साढ़े बारह बजे थे। सूर्यकी प्रचण्ड किरणें हमारे मस्तिष्कको जला रही थीं। पानीके बिना हमारा गला सूखा जाता था। एक मित्रने कहा—'भाई! मुझसे तो चला नहीं जाता। थोड़ा-सा पानी मिल जाय तो पैर चलें; नहीं तो बस, बड़ी थकान हो रही है।' बात सच थी। हम सबके पैर भी लड़खड़ा रहे थे। एक तो पानीके बिना हम सब व्याकुल हो रहे थे, दूसरे रास्ता भी भूल गये थे। इसलिये हम बहुत घबरा रहे थे। रास्ता बिल्कुल निर्जन-सा था। वह मित्र बार-बार पुकारता था कि 'पानी लाओ, मैं मर रहा हूँ।' इतनेमें ही वह बेहोश हो गया। हम सब घबरा उठे। न जाने अब क्या होगा, हमारे मनकी पीड़ा असह्य थी।

किंतु इतनेमें ही दिखायी दिया कि कुछ दूरपर एक स्त्री पानीसे भरा बेड़ा लेकर जा रही है। हमने पुकारा, 'ठहरो, बहिन! हमको पानी चाहिये।' वह बहिन ठहर गयी। हमने उसके पास जाकर देखा, वह एक बुढ़िया माई थी। बहिन नहीं, माँ-जैसी!

'माँ, हमें पानी दो। हमारा एक मित्र तो पानीके बिना बेहोश होकर पड़ा है। देखो, माँ, देखो! जल्दी पानी दो; हम तुम्हारा उपकार कभी नहीं भूलेंगे, माँ।'

'अच्छा, बेटा! लो यह पानी, उसको तुरंत पिलाओ।' इतना कहकर उस बुढ़िया माईने पानी पिलाना शुरू किया। वह मित्र पानी पीते ही होशमें आ गया। हम सबने भी पीया। वह बुढ़िया बोली—'बेटा! सबने पानी पी लिया न? और चाहिये?' हमने कहा, 'नहीं माँ, सबने पी लिया।' जेबमेंसे एक रुपयेका नोट निकालकर मैं उस बुढ़ियाको देने लगा। उस बुढ़ियाने कहा, 'यह क्या करते हो, बेटा! मुझे ये पैसे लेकर क्या करना है? मैं तो प्यासे मनुष्योंकी प्यास बुझाना ही अपना धर्म समझती हूँ। यह एक रुपया कहाँ तक रहेगा? यदि मैं तुम्हारा यह रुपया ले लूँगी तो मेरा भगवान्, जिसने मुझे यह काम सौंपा है, मुझसे रूठ जायगा; इस पानीके बदलेमें मैं कुछ भी अङ्गीकार करूँगी तो मेरा सहज धर्म नष्ट हो जायगा। नहीं, बेटा! नहीं, यह माया मुझे नहीं चाहिये।' उस बुढ़ियाने इतना कहा और वह चलती बनी।

हम सब आश्चर्यमें पड़ गये । थीं तो बिल्कुल बेपढ़ी-लिखी अज्ञानी, किंतु उनका ज्ञान आदर्श था । कितना बड़ा आदर्श धर्म ! कहाँ भगवान्‌की श्रद्धासे प्रार्थना करती हुई वह अबोध बुढ़िया और कहाँ हम अभिमानी शहरवाले, जो पैसेको ही धर्म समझते हैं !

हमारे मस्तक उस बुढ़िया माईके चरणोंपर नत हो गये और हम सबने उसको वन्दन एवं नमस्कार किया ।

—कञ्चनलाल चीमनलाल राजीवाला

(६)

राजाने मुहूर्त्तकी रक्षा की

संध्याका ढलता समय था । वर-राजा और बराती सरकारी बसकी बाट देखते हुए रास्तेमें खड़े थे । एकके-बाद-एक सरकारी बसें धूल उड़ाती चली जा रही थीं । पता नहीं, उस दिन क्यों वे सब खचाखच भरी थीं । बरातियोंके हृदय अधीर हो चले । मुहूर्त्त टल जानेकी आशङ्का होने लगी । स्त्रियोंने सोचा, कहीं यों अधर लटकते हुए ही रात न बितानी पड़े । बच्चोंके मन तो यह खेल ही था । सबसे अधिक चटपटी तो किसी बहिनके लड़ैते भाईको लग रही थी ।

इतनेमें एक बस आयी; पर वह भी इतनी लदी हुई थी कि अकेले वरको भी उसमें बैठाकर भेजना सम्भव नहीं था । बस अपनी गर्वीली चालसे चल दी । परिस्थितिकी गम्भीरता बड़े-बूढ़ोंके चेहरोंपर चमक उठी । कैसे यह समस्या हल हो, सभीके मनमें यह विकट प्रश्न उत्पन्न हो गया । हो-हल्लेमें दिवावसान हो गया और दूर क्षितिजपर.......................... ।

मोटरके दो दीपकोंकी रोशनी आकाशमें चमकी । ज्यों-ज्यों वह ज्योतिका प्रवाह निकट आता गया, त्यों-ही-त्यों सबके मनोंमें आशाका संचार-सा होने लगा । मनमें शङ्का-कुशङ्काएँ उत्पन्न होने लगीं, पर आशास्रोतमें स्नान करना तो सभीको अच्छा लगता है न ?........ ।

मोटर पास आयी, तब तो रही-सही आशा भी टूट-कर चूर हो गयी; क्योंकि वह 'भव्याङ्गना' तो वहाँके राजा साहेबकी थी और स्वयं महाराजा साहेब महारानीके साथ राजधानीकी ओर वापस जा रहे थे । राजाका ओजस् विलक्षण था और वहाँकी प्रजा राजापर मरी जाती थी । सबने मोटरके पास आकर भाव-लहरियोंसे निहारकर अभिवादन किया । महाराजाने मोटर रोक दी ।

राजाके पूछनेपर स्थिति बतला दी गयी । राजाके श्रेष्ठ हृदयने परिस्थितिका अनुभव किया । उन्होंने तुरंत लाड़ले वर-राजाको, वर-भगिनीको और वरके माता-पिताको अपनी 'लिमोज विंडसर' कारमें बैठा लिया और शेष बरातियोंको पीछेसे आनेवाली 'मोटर वैगन' में चढ़कर आनेके लिये कहा ।

पंद्रह मीलका रास्ता तै करके महाराजाने बरातको उसके नियत स्थानपर उतार दिया । ये राजा थे पोर-बंदरके महाराणा श्री........ । ('अखण्ड आनन्द'से)

—महेश भाई वैष्णव

(७)

सहजधर्म

× × ×

सन् १९५२ की बात है । श्रीसत्यस्वरूप महात्मा शाहंशाहजी अमरकण्टकसे शहडोल जा रहे थे । गाड़ीमें बहुत अधिक भीड़ थी, परंतु महात्माजीको शहडोल जाना अत्यावश्यक था । वे उसी भीड़में बड़ी सावधानीसे घुस गये और चुपचाप एक स्थानपर जाकर खड़े हो गये । वहींपर एक अप-टू-डेट सज्जन बैठे हुए थे । उन्होंने महात्माजीको देखकर बिगड़कर कहा—'यह ढोंगी साधू खा-खाकर मोटा-ताजा बना हुआ है । हरामकी वस्तु मिलती है और बिना टिकट जहाँ चाहें वहाँ चल पड़ते हैं । इन्हीं ढोंगियोंने तो भारतको

बर्बाद कर दिया है।......चल हट सिरपरसे......' इस प्रकार वे महात्माजीको बुरी-भली सुनाने लगे। महात्माजीने कोई प्रतिवाद नहीं किया, वे खड़े-खड़े मुस्कराने लगे।

उसी समय टिकट-परीक्षक इसी डिब्बेमें टिकट निरीक्षण करनेके लिये आ गया। अप-टू-डेट सज्जन उस टिकटनिरीक्षकको देखकर घबरा गये। इधर-उधर देखने लगे। तबतक उन्हीं सज्जन महोदयसे टिकट-परीक्षकने कहा—'टिकट!' वे तो मुँह बनाने-बिगाड़ने लगे। इतनेमें ही महात्माजीने कहा—'बाबू! इनका टिकट मेरे पास है, यह लीजिये।' यह सुनकर जब उस टिकट बाबूने ऊपर महात्माजीकी ओर देखा तो उन्हें पहचानकर सभी कुछ छोड़ 'स्वामीजी', 'स्वामीजी' कहता हुआ उनके चरणोंपर पड़ गया और उन्हें उठाकर प्रथम श्रेणीमें ले जाने लगा। वे अप-टू-डेट सज्जन महोदय उठकर रोते हुए स्वामीजीसे कहने लगे—'मुझे क्षमा कर दें।' स्वामीजीने हँसते हुए कहा—'भैया! इसमें क्षमा-प्रार्थनाकी तो कोई आवश्यकता नहीं। तुमने अपराध ही क्या किया है? वह तो तुम्हारी सहज प्रवृत्ति थी। और मैंने भी क्या किया, जिसपर तुम मेरे कृतज्ञ होते हो? भैया! मेरी प्रसन्नताका पार नहीं है; क्योंकि मुझ तुच्छकी सेवाको तुमने स्वीकार कर लिया। मैंने कोई नया कार्य थोड़े ही किया। यह तो मेरा सहजधर्म है, जिसका मैंने पालन किया है।' वे सज्जन तो पानी-पानी हो गये।

महात्माजीके इस वाक्यको सुनकर मेरा हृदय हर्षोत्फुल्ल हो उठा। आज भी जब मैं महात्माजीका सहज धार्मिक स्वभाव सोचता हूँ तो मुझे बड़ी प्रेरणा मिलती है।

—मानसकेसरी कुमुदजी रामायणी

सनातन भगवदीय अंशका विकास करना ही मेरा परम कर्तव्य है

'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'—इस सिद्धान्तके अनुसार मैं भगवान्‌का सनातन तथा अभिन्न अंश हूँ। अंशमें अंशीकी शक्ति एवं गुण सदा विद्यमान रहते हैं। मुझमें भी भगवान्‌की शक्ति एवं गुण पूर्णरूपमें विद्यमान हैं। मैंने आजतक उन शक्ति एवं गुणोंकी अवहेलना, अवज्ञा और विस्मृति करके अपनेको शक्ति-हीन, अयोग्य, पतित अनुभव किया है; पर अब भगवान्‌की सहज कृपाके प्रकाशमें मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि मैं शुद्ध आत्मस्वरूप शक्तिका पुञ्ज हूँ, महान् तेजस्वी हूँ, पूर्ण प्रतिभासम्पन्न हूँ। मैं शरीर नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, वरं आत्मा—महान् आत्मा—परम आत्मा हूँ। मैं अपनी शक्तिका स्वामी हूँ। भगवान्‌का सनातन अंश होनेसे मुझे अपनेको हीन अनुभव करनेका अधिकार नहीं है। ऐसा करके तो मैं अपने आत्मरूपका—भगवान्‌का अपमान कर रहा हूँ। अपने आत्मप्रदेशमें नित्य निवास करनेवाले भगवान्‌को प्रकाशित करना ही मेरा परम कर्तव्य है। अब मैं अपने कर्तव्यकी अवहेलना न करके सदा अपनेको भगवान्‌का सनातन अंश मानकर इस दिव्य भावको अधिकाधिक जाग्रत् कर रहा हूँ और करता रहूँगा।

सनातन भगवदीय अंशका विकास करना ही मेरा परम कर्तव्य है।
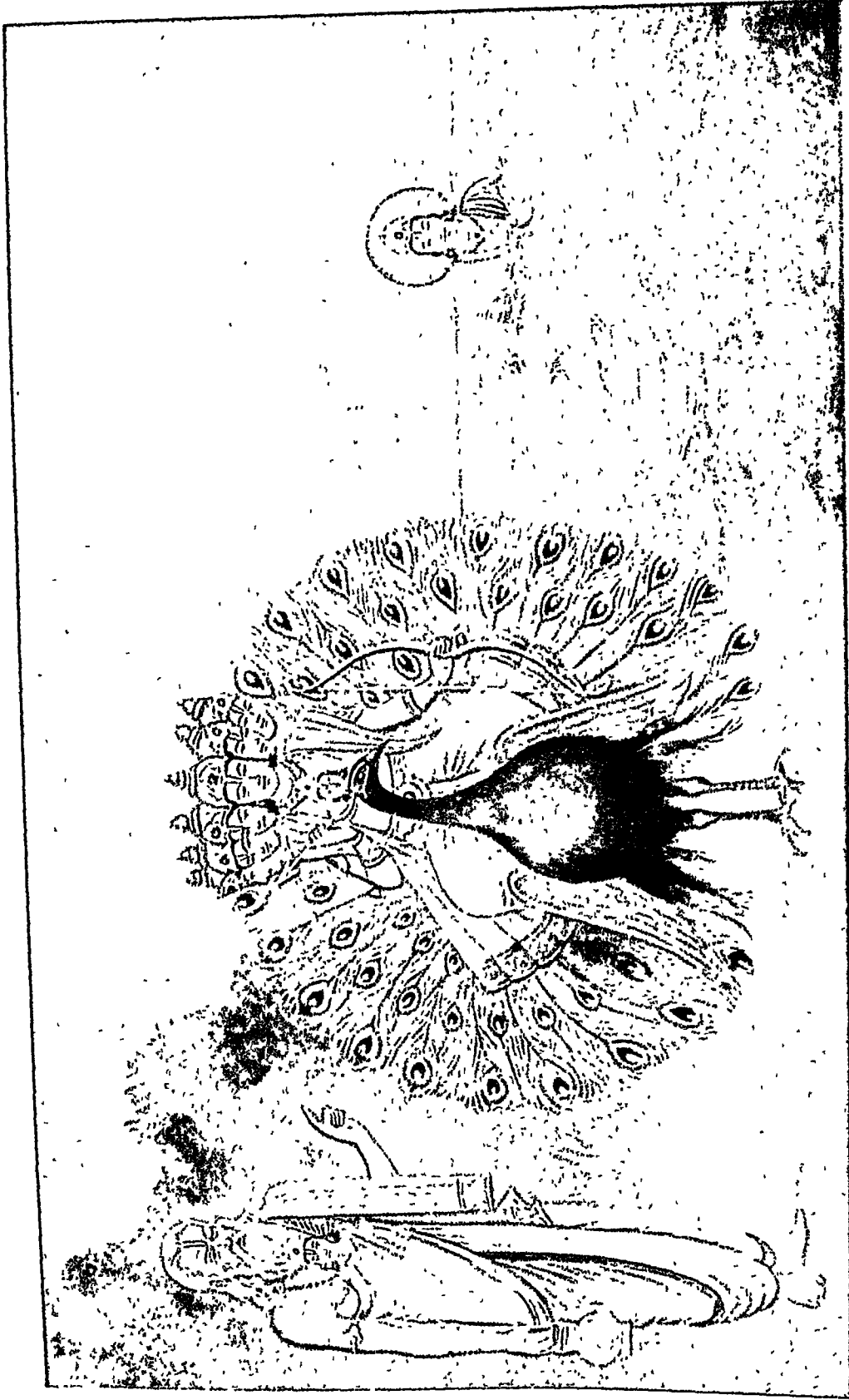
भगवान्‌की तीन विभूति–बृहस्पति, स्कन्द और समुद्र

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम्।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर आश्विन २०१६, सितम्बर १९५९ { संख्या ९
पूर्ण संख्या ३९४

भगवान्‌की तीन विभूतियाँ—बृहस्पति, स्कन्द, समुद्र

जिनसे सब प्रकारसे रक्षा-दीक्षा पाते हैं यजमान ।
उनमें मुख्य बृहस्पति मैं हूँ, सुरगुरु लोकोत्तर-विद्वान ॥
जितने सेनापति हैं जगमें, नीति-निपुण, रण-रीति-निधान ।
उनमें शंकरनन्दन मैं हूँ, स्कन्द महामति शूर-प्रधान ॥
जितने सरस नदी-नद-सर-निर्झर हैं जगमें जलके स्थान ।
उनमें मैं जलनिधि गभीर हूँ सागर निरुपम अतुल महान ॥
(गीता १० । २४ के आधारपर)

याद रक्खो—विशुद्ध भगवत्प्रेमके साधनमें एक महान् शक्ति है जो स्वार्थ, घृणा, भय, काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, द्वेष और वैर आदि दुर्भावोंपर विजय प्राप्त कराकर मनुष्यके जीवनको सेवापरायण, सौहार्दमय, निर्भय, काम-क्रोध-लोभसे रहित, विनम्र, द्वेष तथा वैर-भावसे शून्य एवं विभिन्न प्रकारसे प्राणीमात्रकी सेवाके द्वारा सर्वथा भगवत्सेवामें ही नियुक्त कर देती है। फिर इन दुर्भावोंके लिये जीवनमें कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

याद रक्खो—तुम कभी-कभी इन दुर्भावरूपी शत्रुओंसे अत्यन्त उत्पीड़ित होकर इनसे छुटकारा पाना तो चाहते हो, परंतु भगवान्में अविश्वासजनित मानसिक दुर्बलताके कारण, जो भोग-सुखमें विश्वास उत्पन्न करा देती है, उन शत्रुओंमेंसे ही किसीका आश्रय लेकर उसीके साथी दूसरे शत्रुओंको मारना चाहते हो। यह भूल जाते हो कि ये सभी परस्पर एक दूसरेके सहायक, पोषक और संवर्धक हैं।

याद रक्खो—जैसे अन्धकारसे अन्धकारका नाश नहीं किया जा सकता और शत्रुओंसे शत्रुओंका नाश नहीं हो सकता, वैसे ही पापसे पापका नाश सम्भव नहीं है। इन दुर्भावोंके सेवनसे इनका परिवार और बल बढ़ता ही जायगा और परिणामस्वरूप तुम्हारा जीवन पाप-दोषमय बन जायगा।

याद रक्खो—इसका प्रधान कारण है—विषयानुराग—इन्द्रिय-भोगोंमें आसक्ति या प्रीति। इसीलिये तुम्हें जब भ्रमसे ऐसा दीखता है कि उपर्युक्त दोषोंका आश्रय छोड़ देनेसे अमुक भोग नहीं रहेगा या नहीं मिलेगा, तब तुम उन दोषोंको अपना सहायक, सुहृद् मानकर उन्हें अपनाये रखते हो तथा उन्हें छोड़नेमें विपत्ति या हानिकी सम्भावना देखते हो। यहीं तुम्हारा भ्रम और भी बढ़ जाता है।

याद रक्खो—भगवत्प्रेमके पथिकोंको जिस दुर्लभ परमानन्दकी प्राप्ति पथमें ही होने लगती है, उसका भोगराज्यमें कहीं अस्तित्व ही नहीं है। तथापि दूरसे देखनेवालोंको यह भ्रम हो जाता है कि इन भगवत्प्रेमके पथिक कहे जानेवाले लोगोंके सांसारिक सुखोंका नाश हो रहा है और वे भीषण दुःखसमुद्रमें डूब रहे हैं। प्रकारान्तरसे बात भी सत्य है; जैसे सूर्यके प्रकाशमें दीपकका कोई महत्त्व या प्रयोजन नहीं रहता, अन्धकार तो मर ही जाता है, वैसी ही स्थिति यहाँ भोग-सुखोंकी होती है। इसीसे भोगपरायण लोग 'प्रेम' के नामसे ही डर जाते हैं; क्योंकि प्रेमकी भित्ति ही भोग और भोगासक्तिका सर्वथा त्याग है, उनसे एकदम रहित हो जाना है।

याद रक्खो—फिर यदि भोगपरायणोंकी दृष्टिमें प्रेमियोंमें कोई भोग रहते दीखते हैं तो वे वस्तुतः भोग नहीं होते। प्रेमास्पद भगवान्के इच्छानुसार रहे हुए सेवाके साधन होते हैं। वे पूजाके उपकरण होते हैं—इन्द्रियके चरितार्थ करनेवाले विषय नहीं!

याद रक्खो—यह तो प्रेमराज्यमें प्रविष्ट पथिकोंकी बात है। जो वस्तुतः भगवत्प्रेमको प्राप्त कर चुके हैं, उनका जीवन तो इतना पवित्रतम उच्चातिउच्च स्तरपर पहुँचा हुआ होता है कि स्वयं पूर्णकाम आप्तकाम भगवान् उनसे मिलनेके लिये लालायित रहते हैं। सच तो यह है कि भगवान् उनसे सदा मिले ही रहते हैं। भगवान् उनके दिव्य दानके गृहीता बनते हैं और वे सहज दाता।

याद रक्खो—उनमें दातापनका अभिमान तो होता ही नहीं, उनके पास अपना कुछ है या वे कुछ दे सकते हैं—ऐसी कल्पना भी उनके जीवनमें कहीं नहीं रह जाती, परंतु स्वयं भगवान् ही उन परम अकिञ्चनोंमें इतनी दुर्लभ वस्तु देखते हैं कि वे निरन्तर उनको बिना किसी व्यवधानके अपने साथ रखनेमें अथवा उनके साथ रहनेमें—सर्वथा घुल-मिलकर रहनेमें आनन्दलाभ करते हैं। यही प्रेमका महान् चमत्कार है।

'शिव'

ज्ञानोत्तर जीवन-निर्वाह

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

ज्ञानोदय होनेके बाद ज्ञानी—जीवन्मुक्त पुरुषको किस प्रकारकी भावनामें रहना चाहिये, इसका यहाँ विचार करना है। प्रथम तो—

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह॥

—ज्ञानीको अद्वैतकी भावना सदा करते रहना चाहिये, परंतु व्यवहारमें अद्वैत-भावना नहीं चलती। व्यवहार तो प्रकृतिका क्षेत्र है, अर्थात् वहाँ तो गुण-वैषम्यके अनुसार व्यवहारमें भेद रहेगा ही। दृष्टान्त यह है कि (१) गाय और बाघ, इन दोनोंमें अद्वैतदृष्टिसे कोई भेद नहीं है; क्योंकि दोनो ही ब्रह्मरूप हैं। परंतु व्यवहारके समय यह दृष्टि काम नहीं आती। गायको घरमें बाँधते हैं, बाघको नहीं। (२) शक्कर और संखिया—शक्करको तो लोग खाते हैं और संखियाको कोई खाय तो मर जाय। (३) अपनी माँ, स्त्री और बहिन—अद्वैत-दृष्टिसे तीनो ही ब्रह्मरूप हैं, व्यवहारमें भी तीनो स्त्रियाँ हैं; शरीर भी एक-सा है तथा एक ही आत्मा तीनोंमें है। फिर भी व्यवहार तो सम्बन्धानुसार यथायोग्य ही होना चाहिये। अन्यथा मनुष्य और पशुमें कोई भेद ही नहीं रहेगा। अतएव अद्वैत भावनामें ही होता है और व्यवहार तो द्वैतके बिना हो ही नहीं सकता।

तीनो लोकोंमें सर्वत्र अद्वैतकी भावना करे, परंतु गुरुके साथ तो अद्वैतकी भावना भी नहीं की जा सकती। गुरु और शिष्य दोनो ही जीवन्मुक्त हों तथा अद्वैतनिष्ठामें हों, तथापि शिष्यके लिये उचित है कि गुरुको ईश्वर-तुल्य मानकर उनकी सेवा करे। समानता तो कभी की जा सकती ही नहीं। इसीलिये ज्ञानोत्तर-कालके व्यवहारके लिये कहा है—

यावदायुस्त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।
आदौ ज्ञानप्रसिद्ध्यर्थं कृतघ्नत्वापनुत्तये॥

गुरु और शास्त्रमें ईश्वर-बुद्धि न हो तो ज्ञानका उदय ही न हो। अतएव पहले तो इन तीनोंमें पूज्य-बुद्धि होनी चाहिये। (यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।) ज्ञान होनेके बाद भी ऐसी बुद्धि रखनी चाहिये, अन्यथा कृतघ्नताका दोष लगेगा। अतः शरीर जबतक जीवित है, तबतक गुरु, शास्त्र और ईश्वरके प्रति सम्पूर्ण भक्ति-भाव रखे। क्योंकि—

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणामुपजायते॥

ईश्वरके अनुग्रहसे ही मनुष्यमें अद्वैतज्ञान प्रकट होता है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।

यह उसके बिना नहीं होता। यदि ज्ञानका अभिमान आ जाय और शरीरके रहते 'मैं ही ईश्वर हूँ'—यह मान बैठे और गुरु-शास्त्रकी अवमानना कर बैठे तो किया-कराया सब धूलमें मिल जाता है। अतएव यह कहना पड़ता है कि किन्ही विरले भाग्यशाली पुरुषोंको ही अद्वैत ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

ऐसा अभिमान न आये, एतदर्थ जीवन-निर्वाह किस प्रकारकी भावनामें करना चाहिये—अब यही विचार करना है।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीहनुमान्जी कहते हैं—

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥

देहदृष्टिसे दास हूँ, जीवदृष्टिसे अंश।
पर तू ही मैं तत्त्वतः, एतावत् सारांश॥

इस प्रकार जबतक शरीर है, तबतक उससे सत्कर्म करते रहना चाहिये (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य, गीता १८ । ४६) । स्वरूपसे एक-रूप होनेपर भी, जबतक शरीरकी उपाधि है, तबतक ईश्वरके साथ समता न करे। तब फिर ईश्वरके साथ एकता कब होगी ? 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव कब होगा ?*

इसके लिये करना कुछ नहीं है । केवल जबतक शरीर जीवित है, तबतक देखते रहना है—द्रष्टा-भावमें स्थिर रहना है । इस बातको समझाते हुए अवधूत दत्तात्रेय कहते हैं—

घटे भिन्ने घटाकाशमाकाशे लीयते यथा ।
देहाभावे तथा योगी स्वरूपे परमात्मनि ॥

जब घड़ा विद्यमान होता है, उस समय भी घटाकाश स्वरूपसे तो महाकाश ही होता है । तथापि जबतक घटका आवरण है, तबतक उसका अनुभव नहीं होता, तद्रूपता नहीं होती। इसी प्रकार आत्मज्ञानी देहके विद्यमान रहते भी ब्रह्मरूप ही है । (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति) तथापि जबतक देहकी उपाधि है, तब-तक उसका अनुभव नहीं होता, तद्रूपता नहीं होती; तीनो देहोंका नाश होनेपर ब्रह्मरूप आत्मा अपने ब्रह्मरूपके साथ एकरूप हो जाता है । इस प्रकारकी पूर्ण एकता तो विदेह-कैवल्यके समय ही होती है ।

इसी भावको कबीरदासजीने इस प्रकार व्यक्त किया है—

जिस मरनेसे जग डरे, उसमें मुझे अनंद ।
कब मरिये, कब भेटिये पूरन परमानंद ॥

तात्पर्य यह है कि जबतक देहमें आत्मभावना रहती है, तभीतक मृत्युका भय बना रहता है । परंतु आत्मज्ञान होनेके बाद वह भय दूर हो जाता है । इतना ही नहीं, बल्कि मृत्युके आनेपर ज्ञानीको हर्ष होता है; क्योंकि वह जानता है कि मृत्यु तो उपाधिकी होती है और उपाधिसे छूटनेमें आनन्द किसको नहीं होता ? इसीसे कहा जाता है कि कब शरीरका भोग समाप्त हो और कब उपाधिसे छूटकर पूर्ण आनन्दस्वरूपमें एक-रस हुआ जाय । *

इस विषयका एक प्रत्यक्ष दृष्टान्त है । सायंकालको टहलनेका समय था । अतः कपड़े पहन, हाथमें छड़ी लेकर, पैरोंमें जूते पहनकर मैं खड़ा था कि उसी समय वहाँ एक ब्रह्मचारी आया । उसको 'आओ' कहकर मैं वापस चारपाईपर बैठ गया । उसने कहा—'स्वामीजी ! यह एक श्लोक तो समझा दीजिये ।' मैंने उसको वह श्लोक समझाया और फिर जानेके लिये खड़ा हुआ । तब वह बोला—'स्वामीजी ! मैं इस श्लोकका अर्थ लिखकर आपको दिखा दूँ, तब उसे देखकर आप जायँ ।' श्लोकका अर्थ लिखकर ब्रह्मचारीने मुझे दिया और उसको देख लेनेके बाद मैं घूमनेके लिये गया ।

---

* मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम् ।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २२ । ३६)

मनुष्यका मन कर्ममय है, अतएव किये गये कर्मोंका फल भोगनेके लिये वह पञ्च-ज्ञानेन्द्रियोंको साथ लेकर, एक देह छोड़कर दूसरा देह धारण करता है । आत्मा तो निरपेक्ष है, तथापि भ्रान्तिसे अपनेको मनके साथ आवागमन करने-वाला मानता है और संसारी बन जाता है । यह देहात्म-भ्रान्ति 'सोपाधिक भ्रम' है, अर्थात् उपाधि जबतक सर्वथा दूर नहीं हो जाती, तबतक तद्रूपता प्रत्यक्ष नहीं होती ।

स्फटिकके पाससे लाल पुष्पके दूर हुए बिना जैसे स्फटिक-की लालिमा दीखनी बंद नहीं होती, उसी प्रकार तीनो देहोंके नाश हुए बिना जीव-ब्रह्मके अभेदका प्रकट अनुभव नहीं होता । भेदका बाध ज्ञानसे अवश्य होता है, परंतु अभेदका अनुभव तो उपाधि दूर होनेके बाद ही होता है ।

* उपाधिसे छूटनेपर आनन्दकी जो अभिव्यक्ति होती है उसको बतलाते हुए श्रीशंकराचार्य अपने अभिलाषाष्टक स्तोत्रमें कहते हैं—'कदा हित्वा जीर्णां त्वचमिव भुजङ्गस्तनुमिमाम् ।' अर्थात् सर्प जैसे जीर्ण केंचुली छोड़कर आनन्दसे चला जाता है, उसी प्रकार मैं भी इस देहरूपी केंचुलीको छोड़कर कब जाऊँगा ।

यहाँ समझनेकी बात केवल इतनी ही है कि मुझे अपने लिये तो वहाँ रुकनेका कोई प्रयोजन नहीं था, परंतु ब्रह्मचारीके प्रयोजनके लिये मुझको वहाँ बैठना पड़ा।

इसी प्रकार ज्ञान होनेके बाद आत्मज्ञानीको शरीरमें रहनेका कुछ भी प्रयोजन नहीं होता; परंतु शरीरको प्रारब्ध-क्षयपर्यन्त जीवित रहना है, अतएव शरीरके प्रयोजनकी सिद्धिपर्यन्त आत्मज्ञानीको बाध्य होकर रहना पड़ता है। अतएव शरीरके छूटनेपर उसको जो आनन्द होता है, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। और शरीरकी रक्षा करते समय कभी यदि चित्तको कुछ क्लेश होता है तो वह भी कोई विलक्षण बात नहीं है; क्योंकि अपने प्रयोजनके बिना किया जानेवाला कार्य कभी रुचिकर होता ही नहीं। ॐ तत्सत्

स्वर्गसुखभोग अनित्य है

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित श्रीशंकर स्वामीजी श्रीशंकरतीर्थजी महाराज)

एक प्रकृष्ट बलवान् अश्व एक दिनमें जितने योजन चल सकता है, उतने योजन परिमित देशको 'अश्वीन' कहा जाता है—'अश्वस्यैकाहगमः' (पाणिनि ५। २। १९) 'एकाहेन गम्यते इत्येकाहगमः आश्वीनोऽध्वा' (सिद्धान्तकौमुदी)। 'ऐतरेयब्राह्मण' में कहा गया है—भूलोकसे आरम्भकर सहस्र-अश्वीन ऊर्ध्व देशमें 'स्वर्गलोक' है, इस स्वर्गलोकमें सब प्रकारकी भोग्य वस्तुओंकी प्राप्ति होती है और इन्द्रादि देवगणके साथ प्रीतिपूर्वक सम्बन्ध होता है—'सहस्रमनूच्यं स्वर्गकामस्य, सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै सम्पत्त्यै संगत्यै' (ऐतरेय ब्राह्मण २। ७)। 'प्रबलोऽश्व एकेनाह्ना यावन्ति योजनानि गच्छति, तावद्योजनपरिमितो देशोऽश्वीनः। स च सहस्रसंख्यया गुणितः सहस्राश्वीनः। × × × इतः भूलोकादारभ्य 'सहस्राश्वीने' ऊर्ध्वदेशे स्वर्गो लोको वर्तते। अतः सहस्रसंख्या स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै प्राप्त्यै भवति, प्राप्तस्य सम्पत्त्यै सापेक्षितसर्वभोगवस्तुसम्पादनाय भवति; सम्पन्नस्य संगत्यै महतामिन्द्रादिदेवानां प्रीतिपूर्वकसम्बन्धाय भवति' (ऐतरेय-आरण्यक-भाष्य)। जो लोग स्वर्गकाम हैं अथवा पृथ्वीसे भिन्न लोकका दर्शन चाहते हैं, सत्यका रूप देखनेके लिये समुत्सुक हैं, जिस उपायसे ऊर्ध्वलोकका दर्शन मिल सकता है, ऊर्ध्वलोकमें गमन हो सकता है, अमरगणके दर्शन मिल सकते हैं, वेदभगवान्ने उसका उपदेश किया है। देवदर्शनके निमित्त दिव्यचक्षुका प्रयोजन है, तभी तो अतिनिकटवर्ती देव भी अदृश्य रहते हैं। सर्वत्र विद्यमान भगवान्के दर्शन क्या समस्त जीव कभी पाते हैं? अतएव विमानसे बहुत ऊपर चढ़नेपर भी स्वर्गलोकके समीप पहुँचना असम्भव है।

वेद कहते हैं, सृष्ट पदार्थमात्र ही त्रिगुणमय है। गुणत्रयका सम्मिलित रूप रज्जु जैसे त्रिवृत् है, उसी प्रकार पृथिव्यादि लोकत्रय भी त्रिवृत् है। पृथिवीमें भी स्वर्ग और अन्तरिक्ष हैं; स्वर्गमें भी पृथिवी और अन्तरिक्ष हैं; अन्तरिक्षमें भी पृथिवी और स्वर्ग हैं; उत्तम, मध्यम और अधम भाव प्रत्येक लोकमें ही विद्यमान हैं—'तिस्रो देवता अन्वाह। त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः' (ऐतरेय ब्राह्मण)। यथा गुणत्रयमेलनरूपा रज्जुस्त्रिवृद् एवमेते पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकाः परस्परं मिलितास्त्रिवृतः। यद्वा एकैकस्मिंल्लोके सत्त्वरजस्तमोगुणभेदेन अस्योत्तममध्यमाधमरूपत्वात् प्रत्येकं त्रिवृत्त्वम्' (सायणभाष्य)। वेदोक्त इस अतिमात्र सारगर्भ उपदेशका तात्पर्य-परिग्रह न होनेके कारण ही लोकान्तरके अस्तित्वको कल्पना-प्रसूत प्रतिपादन करनेकी चेष्टा चलती है। सत्त्व, रज और तम—इस गुणत्रयके भेदसे प्रत्येक लोकमें ही उत्तम, मध्यम और अधम—यह त्रिविध सृष्टि होती है; अतएव प्रत्येक लोक ही त्रिवृत् है अर्थात् उत्तम, मध्यम और अधम—त्रिविध भावमय है। वेद, दर्शन, पुराण, मन्वादि संहिता, आयुर्वेद, तन्त्र आदि शास्त्रोंमें इसके भूरि-भूरि प्रमाण हैं।

'महाभारत' और 'मनुसंहिता'में कहा गया है कि दिवस, रजनी, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष, भूरादि लोकसमूह, दान, यज्ञ, देवता, विद्या, गति, धर्म, प्राण अर्थात् अखिल जागतिक पदार्थ ही त्रिगुणात्मक हैं; गुणत्रय पर्यायक्रमसे निखिल वस्तुओंमें ही प्रवृत्त होता है, दिवसादि समस्त पदार्थ ही त्रिविध हैं—

अहस्त्रिधा तु विज्ञेयं त्रिधा रात्रिर्विधीयते।
मासार्द्धमासवर्षाणि ऋतवः संधयस्तथा॥

त्रिधा दानानि दीयन्ते त्रिधा यज्ञः प्रवर्तते ।
त्रिधा लोकास्त्रिधा देवास्त्रिधा विद्यास्त्रिधा गतिः ॥
पर्यायेण प्रवर्तन्ते तत्र तत्र तथा तथा ।
यत् किंचिदिहलोकेऽस्मिन् सर्वमेते त्रयो गुणाः ॥

(महा० आश्वमेधिक)

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः ।
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौमिकः ॥

(मनुसंहिता १२ । ५२)

जगत्‌में विद्यमान समस्त पदार्थ ही सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे सामान्यतः त्रिविध हैं—इत्यादि उपदेशका अभिप्राय मनन करनेपर उपलब्ध होगा कि प्रत्येक जागतिक पदार्थकी ही आपेक्षिक उन्नत और अवनत—दो अवस्थाएँ हैं । भूर्लोककी तुलनासे भुवर्लोक और भुवर्लोककी तुलनासे स्वर्लोक उत्कृष्ट है; पशु आदि जीवोंकी तुलनासे मनुष्य, और मनुष्यकी तुलनासे देवगण उत्कृष्ट हैं; भूर्लोकमें भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक परिणामवश देशादिकी उच्च और नीच अवस्थाएँ हैं । पृथिवीलोकमें भी स्वर्ग है, नरक है; सुर हैं, असुर हैं ।

'नरक' शब्दके निर्वचनमें महामति महर्षि यास्कने कहा है—नीच व्यक्ति जिस स्थानमें जाता है, अथवा जिस स्थानमें थोड़ा भी रमण—रतिकर स्थान नहीं है, वह 'नरक' है—

नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम् ।
नास्मिन् रमणकं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा ॥

(निरुक्त)

'तैत्तिरीय आरण्यक' में कहा गया है—दक्षिण और पूर्व दिक्के अन्तरालवर्ती (आग्नेय) दिक्में 'विसर्पी' नामक, दक्षिण-पश्चिम दिशामें 'अविसर्पी' नामक, उत्तर पूर्व दिशामें 'विषादी' नामक तथा उत्तर-पश्चिम दिशामें 'अविषादी' नामक नरक है । जिस नरकमें वेदनाकी अतिशयतासे अस्थिर होकर जीव इधर-उधर भागदौड़ करते हैं, उसका नाम विसर्पी है । जिस नरकमें दुःखके अत्यन्त आधिक्यके कारण जीव हिलने-डुलनेमें भी समर्थ नहीं होता, वह 'अविसर्पी' नामसे कहा गया है । जिस नरकमें जीव 'मैंने क्यों पाप किये थे' इस प्रकार विषाद करते हैं, उसका नाम 'विषादी' नरक है और जिस नरकमें दुःखातिशयके कारण जीव विषाद करनेमें भी असमर्थ रहते हैं, उसका नाम 'अविषादी' है—

दक्षिणपूर्वस्यां दिशि विसर्पी नरकस्तस्मान्नः परिपाहि ।
दक्षिणापरस्यां दिश्यविसर्पी नरकस्तस्मान्नः परिपाहि ॥
उत्तरपूर्वस्यां दिशि विषादी नरकस्तस्मान्नः परिपाहि ।
उत्तरापरस्यां दिश्यविषादी नरकस्तस्मान्नः परिपाहि ॥

(तैत्तिरीय आरण्यक)

'नरक' शब्द वेदमें दुःखमय स्थानके वाचकरूपसे व्यवहृत हुआ है, यह सुखबोध्य है । जिस लोकमें पुण्यवान् बसते हैं, वह लोक सुखमय है, वह 'स्वर्ग' है । 'स्वर्ग' शब्द वेदमें सर्वत्र एक ही अर्थमें व्यवहृत नहीं हुआ है । 'ऋग्वेद'में कहा गया है—स्वर्गमें भी उत्तम, मध्यम और अधम स्थान हैं; उत्तम, मध्यम और अधम भाव (अवस्था) हैं, आनन्दका तारतम्य है—

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः ।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥

(ऋग्वेदसंहिता ७ । ९ । ११ । १)

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥

(ऋ० सं० ७ । ९ । ११ । २)

श्रुतिने संसारको ऊर्ध्वमूल और अवाक्शाख वृक्षरूपसे वर्णन किया है; श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने संसारको ऊर्ध्वमूल वृक्षस्वरूप कहा है—

ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखम् । वृक्षं यो वेद सम्प्रति ॥
न स जातु जनः श्रद्दध्यात् । मृत्युर्मा मारयादिति ॥

(तैत्तिरीय आरण्यक)

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥

(कठोपनिषद्)

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

(श्रीगीता)

ऊर्ध्वमूलं कालतः सूक्ष्मत्वात्कारणत्वान्नित्यत्वान्महत्त्वाच्चोर्ध्वमुच्यते ब्रह्माव्यक्तमायाशक्तिमत्तन्मूलमस्येति सोऽयं संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः ॥

(श्रीशांकरभाष्य)

लौकिक वृक्षके अधोभागमें मूल और ऊर्ध्वभागमें शाखा होती है, परंतु जगद्वृक्ष इसके विपरीत है; जगद्वृक्षका ऊर्ध्व (अर्थात् सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म) मूल है और ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त देहसमूह शाखास्थानीय हैं । श्रुतिमें

'ऊर्ध्व' शब्द सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मके वाचकरूपसे प्रयुक्त हुआ है। सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म विश्वजगत्का मूल है; इससे हृदयंगम होगा कि जन्ममात्र ही—सृष्टिमात्र ही ऊर्ध्वसे निम्नमें आगमन है, ऊपरसे नीचे उतरना है। चूँकि समस्त पदार्थ ही मूलतः ब्रह्मसे उत्पन्न हैं, ब्रह्म ही विश्वजगत्का मूल कारण है। जो वस्तु किसीका कार्य नहीं है, जिसका कारणान्तर नहीं है, वही मूल कारण है। 'ब्रह्म' तादृश पदार्थ है, अतएव ब्रह्म ही मूल कारण है। जिस वस्तुसे इस विश्वके जन्मादि होते हैं, श्रुतिमें और वेदान्तमें उस वस्तुको 'ब्रह्म' कहा गया है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति॥
(तैत्तिरीय आरण्यक)

जन्माद्यस्य यतः। (वेदान्तसूत्र)

महर्षि यास्कने कहा—वेदका उपदेश है, पुरुष (अर्थात् आत्मा) ही सर्वविध स्थावर और जङ्गम पदार्थोंकी प्रकृति (अर्थात् कारण) है। इसमें सर्वविध विकार (अखिल कार्य) प्रकृत होता है, इस हेतु प्रकृतिका नाम 'प्रकृति' हुआ है। सत्तालक्षण (सत्ता है लक्षण जिसका), अर्थात् सामान्य सत्ताके द्वारा ही जो लक्षित होता है—

'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (कठोपनिषद्)

—वह महान् आत्मा (अर्थात् ब्रह्म ही) भूतप्रकृति है, ब्रह्म स्वीय प्रकृति (मायाशक्ति) के द्वारा अनेकविध स्थावर और जङ्गम भाव धारण करता है। कार्य कारणसे वस्तुतः भिन्न नहीं है, इस सत्यको बोधगम्य करानेके उद्देश्यसे वेदमें स्थावर-जङ्गमकी ब्रह्मरूपसे स्तुति की गयी है, वृक्षादिकी भी स्तुति वेदमें देखी जाती है*। अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वरुण आदि देवगण एक परमात्माके ही अङ्ग-प्रत्यङ्गस्वरूप हैं, अग्न्यादि देवगण परमात्मासे वस्तुतः अभिन्न हैं, शक्तिमान्‌से शक्तिका वास्तव भेद नहीं है, अङ्ग कदापि अङ्गीसे अतिरिक्त नहीं रह सकते। वेदमें अदेवताकी देवतावत् स्तुति नहीं की गयी है, महान् आत्माका ही विश्वरूपसे—सर्वव्यापक विभुरूपसे स्तवन किया गया है। परमात्मा सर्वव्यापक है, परमात्मा ही सर्वकारण है, परमात्मा ही स्वशक्तिबलसे विश्वरूपमें प्रकट होता है—इस रहस्यको बोधगम्य करानेके निमित्त वेदमें परमात्माका अङ्ग-प्रत्यङ्गसमूह स्तुत हुआ है—

अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः।
(निरुक्त ७। ४। १०)

प्रक्रियन्ते अस्यां सर्वे विकारा इति प्रकृतिः, स सत्तालक्षणो महानात्मा हिरण्यगर्भ इति। वक्ष्यति हि—स एव महानात्मा सत्तालक्षणः, तत् परम् तद् ब्रह्म स भूतात्मा, सैषा भूतप्रकृतिः इति। तस्या भूमा बहुत्वम्, अनेकधा विपरिणामः स्थावरजङ्गमभावेन। प्रकृतेर्भूमानि बहुत्वानि यानि सत्त्वानां तैरनन्यविषयत्वं पश्यन्तः कार्य-कारणयोरनन्यत्वात् कारणसहितभिः तान्यश्वादीन्यभिष्टुवन्ति इत्याहुरात्मविदः। तद्यथा—द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी शरीरमात्मान्तरिक्षम् इत्येवमादीनि। आत्मैव सर्वं स्थावर-जङ्गममित्यवेत्य अश्वमेधे 'मूलेभ्यः स्वाहा, शाखाभ्यः स्वाहा' इत्येवमादिभिस्तेन तेन वैशेषिकेण स्थावरजङ्गमात्मना प्रकृतेरभिन्नेनावस्थानेनावस्थितो महानेवात्मेज्यते। न ह्यदेवता-यागमर्हति। यावच्चान्यदपि किंचिदेवम्प्रकारमदेवताभिमत-मिज्यते। गृह्ये च बलिप्रभृतिकर्मादौ सर्वत्र स एवेत्युत्प्रेक्षितम्। (निरुक्तटीका) 'एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।' (निरुक्त ७। ४। ९) 'स एष महानात्मा अग्नीन्द्रसूर्याद्यङ्ग-प्रत्यङ्गभावेन व्यूहमनुभवन् एकोऽपि सन् बहुधा स्तूयते (निरुक्तटीका)

यहाँ प्रश्न होगा कि 'जब एक महान् आत्मा ही देवता मनुष्यादिके रूपसे लीलापरायण है, तब क्या देवता

---

* दिव्यं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान्।
समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥
(अथर्ववेदसंहिता ११। ८। २०)

अर्थात् हे सर्वमय ! सर्वव्यापक पशुपते ! द्योतमान स्वर्गमें आप अधिष्ठातृरूपसे निवास करते हैं, इस हेतु हम स्वर्गका स्तव करते हैं, स्वर्गाश्रित नक्षत्रोंका स्तव करते हैं; आपके भूमिमें अधिष्ठातृरूपसे रहनेके कारण हम भूमिका (पृथिवीका) स्तव करते हैं; आप पृथिवीस्थ यक्षमें (पूज्य पुण्यक्षेत्रमें) वास करते हैं, इस हेतु हम यक्षका (तीर्थका) स्तव करते हैं; आपके हिमवत्-प्रमुख महागिरियोंमें अधिष्ठित रहनेके कारण हम हिमवत्-प्रमुख पर्वतोंका स्तव करते हैं; आप सप्तसंख्यक भूम्याश्रित समुद्रोंमें, गङ्गादि नदियोंमें और सरोवरोंमें वर्तमान रहते हैं, इस हेतु हम समुद्रका, गङ्गादि नदियोंका, सरोवरोंका स्तव करते हैं। हे सर्वमय सर्वव्यापक सर्व ! हे पशुपते (देवदेव) ! आप हमें पापमुक्त करें, विशुद्ध करें। यदि हम आपको सर्वमय, सर्वव्यापक न जानते तो हम कदापि स्वर्गादिका स्तव नहीं कर सकते।

और मनुष्यादिमें कुछ भी भेद नहीं है ? देवता और मनुष्यादिका जन्म क्या समान कारणसे होता है ? देवता जो कुछ कर सकता है, मनुष्यादिमें भी उसे करनेकी सामर्थ्य है ?' इसके उत्तरमें महर्षि यास्कका कहना है—'नहीं, देवता और मनुष्यादिका जन्म समान कारणसे नहीं होता; देवता जिस कर्मको कर सकता है, मनुष्यादि उसे नहीं कर सकते; देवताकी शक्ति और मनुष्यादिकी शक्ति समान नहीं है; ऐश्वर्यके हेतु देवता जो कर्म कर सकते हैं, अनैश्वर्यके कारण मनुष्यादि उसे नहीं कर सकते । देवताकी शक्ति अचिन्त्य है । देवताका धर्म मनुष्यधर्मके विपरीत है । देवतामें अणिमादि ऐश्वर्य रहता है, मनुष्यादिमें वह नहीं रहता । मनुष्यादि अनैश्वर्य हैं, देवगण ऐश्वर्यवान् हैं—इसे समझानेके लिये महर्षि यास्कने कहा है—'इतरेतरजन्मानो भवन्तीतरेतरप्रकृतयः' (निरुक्त, दैवतकाण्ड)—देवगण इतरेतरजन्मा हैं, वे परस्पर परस्परका उत्पादन कर सकते हैं, वे एक दूसरेका रूप धारण करनेमें समर्थ हैं; मनुष्य वैसा नहीं कर सकते । अग्निसे सूर्य और सूर्यसे अग्नि आविर्भूत होते हैं; अग्नि सूर्यका प्रसव कर सकता है तथा सूर्य अग्निका प्रसव करनेमें समर्थ है; परंतु मनुष्यमें वैसा सामर्थ्य नहीं है । देवगण इतरेतरप्रकृति होनेसे एक दूसरेका रूप धारण करनेमें समर्थ हैं—'मनुष्यधर्मविपरीतो हि देवताधर्मः, अनैश्वर्यान्मनुष्याणामैश्वर्याच्च देवतानाम् । तत् कथमिति ? अतो भेदमाश्रित्य प्रतिसमाधीयते —इतरेतरजन्मानो भवन्तीतरेतरप्रकृतयः, देवाः ऐश्वर्यात् । न मनुष्याणामियं शक्तिरस्ति, अनैश्वर्यात् । × × × देवानां त्वग्नेः सूर्योऽजायत—एष प्रातः प्रसूयते—इति ह विज्ञायते, तस्मात् सूर्यस्याग्निः प्रकृतिः । सूर्याच्चाग्निः सायं जायते, तस्मादग्नेः सूर्यः प्रकृतिः । ''स एष सर्वथाप्यचिन्त्यो देवताधर्मः । तासामानन्त्यान्महाभाग्यस्य ।' (निरुक्तटीका)

ईश्वर (अर्थात् ऐश्वर्यशाली) होनेके कारण किसी प्रकारका अभाव या प्रयोजन न रहनेपर भी देवगण क्यों जन्म लेते हैं ? इसके उत्तरमें महर्षि यास्कने कहा है—'कर्मजन्मानः' (निरुक्त, दैवतकाण्ड) अर्थात् देवगण कर्मजन्मा हैं—लोगोंकी कर्मफलसिद्धिके निमित्त ईश्वर अर्थात् सर्व-ऐश्वर्यशाली होकर भी, किसी प्रकारका अभाव न रहनेपर भी लोकानुग्रहार्थ अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवतारूपसे प्रकट होते हैं; उनके अग्नि-सूर्यादिरूपसे आविर्भूत न होनेपर लोगोंकी कर्मसिद्धि नहीं होती—'अथ किमर्थमीश्वराः सन्तो देवता जायन्ते ? 'कर्मजन्मानः' कर्मफलसिद्ध्यै लोकस्य अग्निवायुसूर्या जायन्ते, न ह्येतेभ्य ऋते लोकस्य कर्मफलसिद्धिः स्यात् (निरुक्तटीका) । देवगण कैसे कहाँसे प्रादुर्भूत होते हैं ? इसके उत्तरमें 'निरुक्त'में कहा गया है—'आत्मजन्मानः' अर्थात् लोकानुग्रहार्थ, लोगोंकी कर्मफलसिद्धिके निमित्त देवगण परमात्मासे प्रकट होते हैं । परमात्मा सृष्टिकालमें विविध विचित्र जगद्भाव धारण करते हैं, स्थितिकालमें वे उपात्त-सर्वमूर्त्ति होते हैं और प्रलयके समय वे उपरतसर्वमूर्त्ति हैं । अर्थात् जगत्के स्थितिकालमें वे सर्वमूर्त्तिरूपसे विराजते हैं और प्रलयकालमें सर्वमूर्त्तिका संहार करते हैं । देवताओंका जन्म परमात्मासे होता है । प्रश्न हो सकता है कि ''परमात्मा सर्वकार्योंके परम कारण हैं, अतएव सब कुछ ही परमात्माका कार्य है, सभी परमात्मासे जन्मते हैं; सुतरां, देवगणको विशेषतः 'आत्मजन्मा' कहनेका क्या कारण है ?'' इसका उत्तर यही है कि सभी परमात्मासे जन्मते हैं, किंतु देवताओंके समान स्वेच्छानुसार सबका जन्म नहीं होता; परमात्मासे देवताओंका स्वेच्छापूर्वक आविर्भाव होता है । देवता योगानुष्ठान-से आत्माका स्वरूपदर्शन करके ईश्वरत्वको प्राप्त होते हैं—ऐश्वर्यवान् होते हैं, एवं यथाकाल संकल्पानुरूप शरीर धारण करते हैं । परंतु अनीश्वर मनुष्यादिका जन्म उस भावसे नहीं होता, उन्हें अपने आप कर्मोंके अनुसार शरीर ग्रहण करना पड़ता है । ''कर्मफलसिद्ध्यै लोकमनुजिघृक्षन्तः कुतः पुनर्जायन्ते ? 'आत्मजन्मानः' । योऽसावेक आत्मा बहुधा स्तूयत इत्युपात्तसर्वमूर्त्तिः स्थितौ, उपरतसर्वमूर्त्तिः प्रलये, भावाख्यसन्मात्रः सर्गकाले स्वमात्मानं विभज्य जगद्भावं बिभर्ति, तस्माज्जायन्त इति आत्मजन्मानः । क एव तस्मान्न जायन्ते इति चेत् ? सत्यम्, सर्वं तस्माज्जायते न कामकारेण । देवास्तु तमात्मानं पश्यन्तो योगेन ततः कामकारतो जायन्ते । किमेवां जन्म ? यदेवामिच्छतां संकल्पानुविधायिकर्मानुरूपं यथाकालमात्मनः कार्यकारण-मुत्पद्यते, तदेतेषां जन्म । तदनीश्वराणां नास्ति ।'' (निरुक्तटीका)

देवता जिस कर्मको अनायास कर सकता है, मनुष्य उसे नहीं कर सकता; क्योंकि देवताका धर्म और मनुष्यका धर्म एकरूप नहीं है । सामान्य प्रकृतिमें सर्वकार्यसाधनकी शक्ति रहनेपर भी विशिष्ट (परिच्छिन्न) प्रकृतिमें वह नहीं रहती; मनुष्य परिच्छिन्नप्रकृति होनेके कारण देवताके समान कर्म नहीं कर सकता । देवता योगद्वारा आत्मदर्शनरूप परमधर्मविशिष्ट हैं, अणिमादिविभूतियुक्त हैं, इस हेतु वे

यथाकाल स्वसंकल्पानुरूप शरीर ग्रहण करनेमें समर्थ हैं; मनुष्योंमें तादृश धर्म न रहनेके कारण वे यथाकाल यथाकाम जन्म-ग्रहणमें क्षमतावान् नहीं हैं। 'पातञ्जलदर्शन' से ज्ञात होता है, भूतजय होनेपर योगीमें अणिमा (जिससे वह अणु हो सकता है), लघिमा (जिससे लघु हो सकता है), महिमा (जिससे महान् हो सकता है), प्राप्ति (दूरस्थ द्रव्यका भी संनिहित होना—जैसे इच्छामात्रसे चन्द्रमाका अङ्गुलिसे स्पर्श कर सकना), प्राकाम्य (इच्छाका अनभिघात), वशित्व (भूतों एवं भौतिक पदार्थोंका वशकारी होना तथा स्वयं दूसरोंके अवश रहना), ईशित्व (भूत-भौतिक-स्रष्टृत्व अर्थात् भूतों एवं भौतिक द्रव्योंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय यथाभिलाप करनेका सामर्थ्य) और यत्रकामावसायित्व (सत्यसंकल्पत्व और भूतों तथा भूत-प्रकृतिसमूहको यथासंकल्पित अवस्थामें रखनेका सामर्थ्य)—इस अष्टविध विभूतिका (ऐश्वर्यका—सिद्धिका) आविर्भाव होता है—'ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः' (३ । ४५) । परंतु प्रजावृन्दकी कर्मसिद्धिके निमित्त (प्रजागण कर्म और कर्मका फलभोग कर सकेंगे—इस उद्देश्यसे) सत्यसंकल्प ईश्वरने जिस भूत-भौतिक पदार्थके लिये सृष्टिके प्रारम्भमें जिस प्रकारका संकल्प कर रखा है, योगिजनोंमें शक्ति रहनेपर भी वे उसका विपर्यास नहीं कर सकते । योगिगण ईश्वर-संकल्पयुक्त पदार्थमें यथोचित शक्तिका प्रयोग कर सकते हैं—'यत्रकामावसायित्वं सत्यसंकल्पता, यथा संकल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्, न च शक्तोऽपि पदार्थविपर्यासं करोति, कस्मात् ? अन्यस्य यत्रकामावसायिनः पूर्व-सिद्धस्य तथा भूतेषु संकल्पादिति' । (व्यासभाष्य) यह संकल्प ही 'ऐश्वरिक नियम' अथवा 'प्राकृतिक नियम' किंवा 'धर्माधर्म' अथवा 'निमित्तकारण' किंवा 'नियति' अथवा 'दैव' किंवा 'अदृष्ट' कहा जाता है । कार्यमात्र ही उपादान और निमित्त—इस द्विविध कारणसे व्यवहारोपयोगी अवस्थाको प्राप्त होता है, स्थूलरूपमें परिणत होता है । केवल उपादान कारण शक्तिरूपसे अवस्थित (अर्थात् अनभिव्यक्त) कार्यको व्यवहारोपयोगी अवस्थामें लानेके लिये पर्याप्त नहीं होता । यह सत्य है कि मृत्तिकामें घट-शक्ति है, किंतु निमित्तकारणके संयोगसे जबतक वह शक्ति स्थूलावस्थामें अभिव्यक्त नहीं होती, तबतक उससे किसी प्रकार अर्थक्रिया निष्पन्न नहीं हो सकती । शक्तिकी अभिव्यक्तिके निमित्त उसमें व्यापकका संयोग आवश्यक होता है । परंतु निमित्तकारण भी वस्तुतः परमेश्वरका ही शक्तिविशेष है, वह सर्वशक्तिमान्‌से भिन्न नहीं है । धर्माधर्मादिको 'निमित्त' कहा जाता है ।*

* 'ऋग्वेद' और 'यजुर्वेद' में कहा गया है—विश्वनियन्ता धर्माधर्मरूप बाहुद्वय और पतत्ररूप (पतनशील—गतिशील) परमाणुपुञ्जके द्वारा जगत्-कार्यका सम्पादन करते हैं; परमाणु जगत्-कार्यका उपादान वा समवायि-कारण है और धर्माधर्म निमित्त कारण हैं। 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥' (ऋग्वेदसंहिता ८ । १० । ११, शुक्लयजुर्वेदसंहिता १७ । १९) 'अथर्ववेद' में विश्वसृष्टि-तत्त्वको समझानेमें सत्त्व, रज और तमोगुणात्मिका प्रकृति अर्थात् मायाशक्तिके साथ स्वमहिमप्रतिष्ठ परब्रह्मके विवाहका वर्णन किया गया है । सिसृक्षा-अवस्थापन्ना पारमेश्वरी मायाशक्ति परब्रह्मकी जायास्थानीया है । पतिके स्त्रीमें पुत्रादिरूपसे जन्म ग्रहण करनेके कारण स्त्रीका 'जाया' नाम हुआ है—'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते । तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ।' (ऐतरेयब्राह्मण ७ । ३) लौकिक विवाहमें जाया श्वशुरके घरसे लायी जाती है; अतः यहाँ जिज्ञास्य होगा, परमब्रह्मकी जायाको—मायाको—सत्त्व, रज और तमोगुणात्मिका प्रकृतिको—विवाहकालमें कहाँसे लाया जाता है ? परब्रह्मसे उनकी शक्ति—माया—प्रकृति कदापि वियुक्त होकर नहीं रहती, सुतरां परमब्रह्मकी जायाको किसी दूसरे स्थानसे नहीं लाया जाता । मैं मायाके द्वारा बहुरूप होऊँगा—इस प्रकार प्राथमिक ईश्वरकृत संकल्प ही परब्रह्मका श्वशुरगृह है । जगत् रचनेके संकल्पवश सिसृक्षावस्था होती है । यह सिसृक्षावस्था ही परब्रह्मकी जायास्थानीया है । सृष्टिसमयमें सर्वज्ञ स्रष्टाका स्रष्टव्य-पर्यालोचनात्मक तप (यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः—मुण्डकोपनिषद् १ । १ । ९) और प्राणिगणद्वारा अनुष्ठित पुण्यापुण्यात्मक सुख-दुःखफलोन्मुख परिपक्व कर्म—ये दो विद्यमान थे । 'यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि । क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत् ।' (अथर्ववेदसंहिता ११ । ८ । १) 'स्वमहिमप्रतिष्ठस्य परम-ब्रह्मणः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकाया मायाशक्तेश्च प्राणिकर्म-परिपाकजनितसम्बन्धवशाज्जायमाना सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्या या पारमेश्वरी सिसृक्षावस्था सा लौकिकविवाहत्वेन रूप्यते । × × × स जायाम् आवहत् जायतेऽस्यां सर्वं जगत् इति जाया सिसृक्षावस्थापन्ना पारमेश्वरी महाशक्तिः ।' (अथर्ववेदभाष्य) 'तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्य-र्णवे' (अथर्ववेदसंहिता ११ । ८ । २) ।

इस धर्माधर्मरूप निमित्तके कारण नैमित्तिकका—धर्माधर्मादिरूप निमित्तके कार्य स्थूल शरीरका परिग्रह होता है। निमित्त और नैमित्तिक इन दोनोंका जो प्रसङ्ग—आसक्ति-अनुराग है, तदनुसार विविध स्थूलशरीरोंका परिणाम होता है। सूक्ष्मशरीर (अर्थात् लिङ्गदेह) निमित्त और नैमित्तिकके अनुरागानुसार नटके समान नाना स्थूलरूपमें रहता है। जिस प्रकार एक ही अभिनेता विभिन्न नाटकके अभिनयकालमें भिन्न-भिन्न व्यक्तिका आकार धारण करता है, उसी प्रकार एक ही लिङ्गशरीर मनुष्यके स्थूलशरीरमें प्रवेश करके मनुष्य तथा पशुके स्थूलशरीरमें प्रवेश करके पशु आदि नाना जातिको प्राप्त होता है। नियतिवश मनुष्यादि स्थूलशरीर सर्वत्र उत्पन्न हो सकते हैं; क्योंकि प्रकृति सर्वशक्तिमती है। प्रकृतिमें उपादानका अभाव नहीं है; प्रकृतिके विभुत्व (सर्वव्यापिता) के कारण सूक्ष्मशरीर देव, मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि रूपसे रहता है—'पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन। प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥' (सांख्यकारिका ४२) 'पुरुषार्थेन हेतुना प्रयुक्तं निमित्तं धर्माधर्मादि नैमित्तिकं तेषु तेषु निकायेषु यथायथं पाट्कौशिकशरीरग्रहः, स हि धर्मादिनिमित्तप्रभवः, निमित्तं च नैमित्तिकं च तत्र यः प्रसङ्गः प्रसक्तिः तया नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गं सूक्ष्मशरीरम्' (वाचस्पति मिश्रकृत कौमुदी)। भगवान् पतञ्जलिने 'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्' (पातञ्जलदर्शन ४। २)—इस सूत्रसे इसी तत्त्वका विशदीकरण किया है। कार्यमात्र ही सत्त्व, रज और तम—इस गुणत्रयात्मिका प्रकृति और धर्माधर्मरूप निमित्त कारणसे संघटित होता है। मनुष्यके देह, मनुष्यकी इन्द्रियों, देवताके देह, देवताकी इन्द्रियों और पश्वादि इतर प्राणियोंके देह आदिमें प्रकृति ही उपादानकारण है। प्रकृति धर्माधर्मादि निमित्तकारणानुसार आपूरित—अनुप्रविष्ट होकर यथायोग्य परिणामको प्राप्त होती है। धर्म प्रकृतिका अपना धर्म (गुण) है, अधर्म विरुद्ध प्रकृतिका धर्म है। निमित्त (अर्थात् धर्म) प्रकृतिका प्रयोजक नहीं है, किंतु वह विधर्मका अभिभवकारी है; विधर्मका अभिभव होनेपर प्रकृति स्वयं अनुप्रविष्ट होकर अभिव्यक्त होती है—'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्' (पा० द० ४। ३)। मानुष देवताके रूपमें उन्नत हो सकता है, राक्षस भी हो सकता है, पशु-पक्षी आदि भी हो सकता है; क्योंकि मनुष्यमें इन सबके होनेकी प्रकृति है। मानुष प्रकृतिका, ...प्रकृतिका अथवा पश्वादिप्रकृतिका धर्म दैवप्रकृतिके विरुद्ध है अर्थात् वह दैवप्रकृतिका अधर्म है। इन विरुद्ध धर्मोंके निरोधरूप निमित्तसे दिव्य प्रकृति स्वयं अभिव्यक्त होती है। इसका नाम प्रकृतिका आपूरण वा अनुप्रवेश है। कुमार नन्दीश्वरके धर्म और कर्मविशेषके द्वारा अधर्मका निरोध करनेसे उनकी दैव प्रकृति इसी जीवनमें प्रादुर्भूत हो गयी थी, उससे उनका देवत्वपरिणाम हुआ था। इसी प्रकार राजा नहुषका पापसे दिव्यधर्म निरुद्ध होकर अजगररूपमें परिणाम हुआ था। जीवमात्रकी करण-शक्तिमें, उस करणमें जितने प्रकारके परिणाम हो सकते हैं, उनकी प्रकृति अन्तर्निहित रहती है; क्योंकि 'असत् कभी सत् नहीं होता,' 'सत् भी कभी असत् नहीं होता।' शान्तावस्थामें स्थित पदार्थ ही उदितावस्थामें आता है; अव्यक्तावस्थामें स्थित शक्तिकी व्यक्तावस्था-प्राप्ति ही 'कर्म' नामसे प्रसिद्ध पदार्थ है; अतः 'कारणकी आत्मभूता शक्ति है और शक्तिका आत्मभूत कार्य है—'तस्मात्कारणस्यात्मभूता शक्तिः शक्तेश्चात्मभूतं कार्यम्।' (शारीरकभाष्य २। १। १८) कार्यनियमार्था शक्यता अर्थात् कार्यरूपमें परिणत होनेकी योग्यता ही 'शक्ति' शब्दका अर्थ है। कार्यमात्र ही कारण-गर्भमें सूक्ष्मभावसे—योग्यतारूपसे रहता है। सत्कार्यवादी सांख्यदर्शनका सिद्धान्त है कि कार्यशक्तिमत्त्व ही उपादान-कारणत्व है अर्थात् कार्यकी अनागतावस्था ही—जो कारण-गर्भमें योग्यतारूपसे रहती है, वही 'कार्यशक्ति' है—'शक्तस्य शक्यकरणात्' (सा० द० १। १ १७)। 'कार्यशक्तिमत्त्वमेवोपादानकारणत्वम्। सा शक्तिः कार्यस्यानागतावस्थैव' (सांख्यप्रवचनभाष्य)। दुर्गाचार्यने 'निरुक्तटीका' में कहा है—निखिल भावविकार ही सर्वार्थप्रसवशक्तित्वनिबन्धन कारणात्मभावसे सूक्ष्मावस्थामें—शक्तिरूपसे रहता है। इस प्रकारके सिद्धान्तमें युक्ति यह है कि अविद्यमानका—जो वस्तुतः नहीं है, जो वस्तुतः असत् है, उसका—जन्म नहीं होता, असत्का सद्भाव असम्भव है; अतएव स्वीकार करना ही होगा कि कार्यमात्र ही कारणगर्भमें शक्तिरूपसे—योग्यतारूपसे रहता है। स्थूलभावसे रहकर स्थूल (अर्थात् कार्य) सूक्ष्मसे (कारणसे) कदापि वियुक्त होकर नहीं रहता, करणसे कार्य वस्तुतः अभिन्न है। 'ऐतरेय-आरण्यक' श्रुतिमें स्पष्ट उक्त हुआ है कि विश्वजगत्का प्रत्येक पदार्थ ही भोक्तृ-शक्ति और भोग्यशक्तिका अर्थात् पितृशक्ति और मातृशक्तिका अर्थात् कारणशक्ति और कार्यशक्तिका मिलित रूप है—'तदिदं सर्वमत्ति धेयमित्याधात्री अत्ता ह वा आपो

भवति न तस्येदं यन्नाद्याद्यद्वैनं नाद्युः' (ऐतरेय-आरण्यक)। 'अत्ता योऽयं लोके भोक्ता, यश्च आद्यः भोग्यः पदार्थः तदुभयरूपेण सर्वात्मकं भवति इत्यर्थः' (ऐतरेयआरण्यकभाष्य)। अर्थात् जगत्में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो निरवच्छिन्न भोग्यशक्ति हो। 'मैत्र्युपनिषद्' में पुरुषको भोक्ता और प्रकृति तथा प्राकृतिक वस्तुसमूहको भोग्य कहा गया है—'तस्माद् भोक्ता पुरुषो भोग्या प्रकृतिः तत्स्थो भुङ्क्ते।' 'ताण्ड्यमहाब्राह्मण' में उक्त हुआ है—भूर्लोक और द्युर्लोक—ये दो सृष्टिके पूर्व परस्पर एकभूत थे, बादमें सृष्टिकार्य-निष्पत्तिके निमित्त इन्हें वियुक्त किया गया अर्थात् परस्पर-संयुक्त स्त्रीशक्ति और पुंशक्तिको विभक्त किया गया। वियुक्त होनेके उपरान्त भूर्लोक और द्युलोकने कहा, 'आइये, हम परस्पर विवाहसूत्रसे (परस्पर उपकार्य-उपकारक-भावसे) सम्बद्ध हो जायँ; हममें एकने जो तत्त्व पाया है, एकमें जो तत्त्व है, वह हम दोनोंका ही हो जाय। मैंने जो तत्त्व पाया है, तुमने वह नहीं पाया; और तुमने जो तत्त्व पाया है, मैंने वह नहीं पाया। परस्पर मिलित होकर जैसे परस्परका अभाव दूर किया जाता है, आइये, हम उसी भावसे परस्पर मिलें, परस्पर विवाहसूत्रसे बद्ध होकर पूर्ण हो जायँ—'इमौ वै लोकौ सहास्तां तौ वियन्तावब्रूतां विवहावहै सह नावस्त्विति' (ताण्ड्यमहाब्राह्मण ७।९।२२)। 'विवाहशब्दोऽनुवादः परस्परोपकार्योपकारकभावं करवावहै इत्यर्थः' (भाष्य)।—सुतरां, जगत्में समस्त पदार्थ ही अन्योन्यमिथुनवृत्तिक हैं, अन्योन्याश्रयवृत्तिक हैं, इतरेतराश्रयी हैं। भगवान् पतञ्जलिने 'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्' (पा० द० ४। २)—इस सूत्रसे उक्त श्रौत रहस्यका ही उल्लेख किया है। एक मूलप्रकृति धर्माधर्म-संस्कारावच्छिन्न होकर विभिन्न आन्तर और बाह्य प्रकृति-रूपमें अभिव्यक्त हुई है। अनादिकर्मसंस्कारवती प्रकृतिसे ही वस्तुतः विविध विचित्र जगत्का परिणाम होता है। जो दार्शनिक शक्तिका सातत्य और भूतका अनश्वरत्व स्वीकार करते हैं, वे कर्मके अनादित्वको अनिश्चितार्थक नहीं कहेंगे। विश्वजगत्का क्षुद्र, बृहत् सर्वविध परिवर्त्तन ही निर्दिष्ट नियमके अधीन है। परिणाममात्र ही निर्दिष्ट नियमाधीन है, समस्त परिणाम ही निर्दिष्ट क्रमानुसार होता है। समस्त कार्यका कारण स्थिर रहा है, जिस-जिस कारणसमवायसे जो-जो कार्य संघटित हुए हैं, उस-उस कारणके समवायसे चिरकाल ही उस-उस कार्यकी उत्पत्ति होगी।

स्पन्दरूपिणी, अवश्यम्भाविनी, समस्तकल्पगामिनी, ब्राह्मी चित्‌शक्तिको 'नियति' अथवा 'दैव' कहा जाता है। यह पदार्थ इस प्रकारसे स्पन्दित होगा, इस रूपसे इस समयमें उत्पन्न होगा—इत्याकारक अवश्यम्भाविताको 'नियति' वा 'दैव' कहते हैं। यह नियति सृष्टिके आदिमें 'यह अग्नि सर्वदा इस प्रकार ऊर्ध्वज्वलनादिस्वभावसम्पन्न होगा' इस प्रकार अक्षर परब्रह्मकी संकल्पात्मक वृत्तिरूपसे उद्रिक्त होती है। यह 'नियति' ही महासत्ता, महाचिति, महाशक्ति, महादृष्टि, महाक्रिया, महोद्भव, महास्पन्द और महात्माके नामसे अभिहित होती है। कल्पारम्भसे कल्पान्तपर्यन्त पुरुष-क्रियामूलक जो कुछ व्यवहार चल रहा है, वह इसी नियतिके वशसे होता है। इस अवश्यम्भाविनी नियतिकी इच्छा किसीकी भी बुद्धिके द्वारा लङ्घनीय नहीं हो सकती।* यह नियति पुरुषकाररूपसे कर्मकी नियन्त्री है। जब यह पुरुष-प्रयत्नमें विवक्षित नहीं होती, जब यह ईश्वरसंकल्पमात्रमें ही रहती है, तब यह 'नियति-पदवाच्य होती है और जब सृष्टिफलसम्पृक्त होती है, तब इसे 'पुरुषकार' के नामसे अभिहित किया जाता है। पुरुषकारमें परिणत न होनेपर नियतिसे किसी प्रकार फलकी प्राप्ति नहीं होती, पुरुषकारमें परिणत होनेपर ही नियति सफल होती है। सर्वगामी ब्रह्म ही वस्तुतः 'नियति' के रूपसे स्फुरित होता है। ब्रह्मकी स्पन्दरूपिणी अवश्यम्भाविनी चित्-शक्ति अर्थात् नियति अर्थात् दैव अर्थात् अदृष्ट और वेदात्मा विश्वप्राण हिरण्यगर्भ भिन्न पदार्थ नहीं हैं। ईश्वर-संकल्पको ही नियति कहा जाता है।

अचेतन कदापि किसी कर्मका स्वतन्त्र कर्ता, किसी कर्मकी प्रवृत्ति और निवृत्तिका प्रभु नहीं हो सकता। इसलिये वेदमें और वेदमूलक शास्त्रोंमें 'भूत' और भौतिक शक्तिकी अधिष्ठात्री देवताका वर्णन आता है। कर्मफल-प्राप्ति आकाङ्क्षित होनेपर देवताज्ञान परमावश्यक होता है। देवता-ज्ञान न रहनेपर श्रौत और स्मार्त्त सदाचारादि कर्मकी फल-प्राप्ति नहीं होती। जिनकी पूजा करनी है, उनके साथ

* अस्तीह नियतिर्ब्राह्मी चिच्छक्तिः स्पन्दरूपिणी।
अवश्यभवितव्यैकसत्ता सकलकल्पगा॥
आदिसर्गे हि नियतिर्भाववैचित्र्यमक्षयम्।
अनेनेत्थं सदा भाव्यमिति सम्पद्यते परम्॥
(योगवासिष्ठ, उत्पत्तिप्रकरण, ६२वाँ सर्ग)

पूजकका परिचय न रहनेपर उनकी पूजा नहीं हो सकती। अतएव देवता कौन पदार्थ है—इसका ज्ञान परम आवश्यक है।

'दिव्' धातुके उत्तर 'अच्' प्रत्ययसे 'देव' पद सिद्ध होता है, और 'देव' शब्दके उत्तर 'तल्' प्रत्ययसे ('देवात्तल्' पाणिनिसूत्र ३ । १ । १३४) 'देवता' पद निष्पन्न हुआ है। पाणिनिदेवप्रणीत धातु-पाठमें 'दिव्' धातुका निम्नलिखित दस प्रकारका अर्थ बताया गया है—(१) क्रीडा, (२) विजिगीषा (जय करनेकी इच्छा), (३) व्यापार (कर्म), (४) द्युति (ज्योति—प्रकाश), (५) स्तुति (गुण-कीर्त्तन), (६) मोद (हर्ष, प्रसन्नता), (७) मद, (८) स्वप्न, (९) कान्ति और (१०) गति। वेद और वेदमूलक शास्त्रोंमें जिस अर्थमें 'देवता' शब्दका प्रयोग हुआ है, उसका विचार करनेसे बोधगम्य होगा कि 'दिव' धातुके इस दशविध अर्थका कोई-न-कोई अर्थ उसमें संगत हुआ है। महर्षि यास्कने कहा है—'देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा (निरुक्त)' अर्थात् जो ऐश्वर्यका दान करते हैं, हमारे अभिमत (ईप्सित—प्रयोजनीय) पदार्थ हमें देते हैं, अथवा तेजोमय होनेके कारण पदार्थको प्रकाशित करते हैं, पदार्थका स्वरूप प्रकटित करनेमें समर्थ हैं, अथवा जो सामान्यतः 'द्युस्थान' अर्थात् स्वर्गवासी हैं, वे देवता हैं। जो क्रीडा करते हैं, जिनकी क्रिया ही विश्वजगत्‌की सृष्टि-स्थिति-प्रलयका कारण है, जो असुरोंके विजिगीषु अर्थात् पापनाशक हैं, जो सर्वभूतोंमें विराजमान हैं, व्यावहारिक जगत्‌में जो स्थावर-जङ्गमात्मक नाना रूपोंसे व्यवहृत होते हैं, जो द्योतन-स्वभाव हैं, जिनके प्रकाशसे निखिल वस्तुका प्रकाश होता है, जो सबके स्तुतिभाजन हैं, विश्वजगत् जिनके गुणोंका कीर्तन करता है—जिनकी विभूति अर्थात् ऐश्वर्यका वर्णन करता है, जो सर्वत्र गतिशील हैं—सर्वव्यापक हैं, जो ज्ञानमय हैं, वे 'देव' हैं—देवता हैं। महर्षि यास्कने अन्यत्र कहा है—'अथातो दैवतं तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद् दैवतमाचक्षते' (निरुक्त, दैवत-काण्ड)। अर्थात् जिन पदार्थोंका 'धर्म' प्रधानतः जिन मन्त्रोंमें स्तुत *—वर्णित—व्याख्यात हुआ है, मन्त्रका देवता कहनेसे उन पदार्थोंको जानना चाहिये। 'यावन्तो मन्त्रा सर्वशाखासु तेषु यानि गुणपदानि लक्षणोद्देशतः तानि सर्वाण्येव व्याख्यातानि (निरुक्तटीका)। महर्षि कात्यायनप्रणीत 'सर्वानुक्रमणी'में कहा गया है—'यस्य वाक्यं स ऋषिः। या तेनोच्यते सा देवता।' अर्थात् जिसका वाक्य है, वह ऋषि है; ऋषिके द्वारा जो उक्त होता है, वह देवता है। महर्षि शौनकने भी बृहद्देवतामें कहा है—

अर्थमिच्छन्नृषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति।
प्राधान्येन स्तुवन्भक्त्या मन्त्रस्तद्देव एव सः॥

(शेष आगे)

अब मेरा जीवन भगवान्‌के दिव्य सद्गुणोंसे भर गया है

मैंने अबतक अपनेको स्वतन्त्र मान रखा था। मनमें एक अभिमानका समुद्र उछलता था और सारे दैवी गुण उसमें डूब गये थे। अब मुझे यह अनुभव हो गया कि मैं तो कल्याणमय परम सुहृद् अनन्त-अचिन्त्य-सद्‌गुण-निधि भगवान्‌का यन्त्रमात्र हूँ। वे यन्त्री हैं। मुझमें अपना कुछ भी नहीं है। मेरा 'मैं' भी उन्हींका है। इसीसे उनके सद्गुण मुझमें सहज ही आ गये हैं।

अब मैं जहाँ घृणा है, वहाँ प्रेम प्रदान करता हूँ, जहाँ विषाद है, वहाँ आनन्द प्रदान करता हूँ; जहाँ अपराध है, वहाँ क्षमा प्रदान करता हूँ; जहाँ अन्धकार है, वहाँ प्रकाश प्रदान करता हूँ; जहाँ नास्तिकता है, वहाँ आस्तिकता प्रदान करता हूँ और जहाँ विषयासक्ति है, वहाँ भगवदनुराग प्रदान करता हूँ।

अब मेरा जीवन भगवान् और भगवान्‌के दिव्य सद्‌गुणोंसे भर गया है।

* महर्षि शौनकने कहा—'स्तुतिस्तु नाम्ना रूपेण कर्मणा बान्धवेन च। (बृहद्देवता) अर्थात् किसी यथार्थका नाम, रूप, कर्म और बन्धुवर्गके द्वारा विवरण (व्याख्या) का नाम स्तुति है।

साधन तेज न होनेमें अश्रद्धा ही प्रधान कारण है

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

कितने ही साधक यह प्रश्न किया करते हैं कि 'हमारा साधन पहलेकी अपेक्षा शिथिल प्रतीत होता है; इसमें ईश्वर-कृपाकी कमी कारण है या प्रारब्ध कारण है अथवा वर्तमानका दूषित वातावरण और कुसङ्ग कारण है या श्रद्धाकी कमी कारण है अथवा अन्य ही कोई कारण है ?'

इसका उत्तर यह है कि ईश्वरकी कृपा तो सबपर पूर्ण रही है और है । हमलोग अपने ऊपर ईश्वरकी जितनी कृपा मानते हैं, उससे कहीं अधिक है । किंतु मनुष्य ईश्वरकी कृपा अपने ऊपर जितनी मानता है, उतना ही उसे लाभ होता है । इसलिये ईश्वरकी अपने ऊपर पूर्ण कृपा मानकर साधनविषयक विशेष लाभ उठाना चाहिये ।

प्रारब्ध साधनमें बाधक नहीं है । जब मनुष्यपर कोई आपत्ति आती है या उसके कोई रोग हो जाता है, तब वह श्रद्धाकी कमी और आत्मबलकी कमीके कारण ही उस सांसारिक आपत्ति या रोगका बहाना लेकर प्रारब्धपर दोष देने लगता है ।

साधकको भगवान्‌की दयाके बलपर वर्तमानके दूषित वातावरणसे भी नहीं डरना चाहिये, किंतु उसके सङ्गसे दूर रहना चाहिये; क्योंकि श्रद्धाहीन, संशयात्मा, नास्तिक, दुराचारी, दुर्व्यसनी और दुर्गुणी दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग बहुत हानिकारक और आत्माका पतन करनेवाला है । साधकके लिये जिस प्रकार महापुरुषोंका सङ्ग बहुत लाभदायक है, उसी प्रकार अश्रद्धालु नास्तिक पुरुषोंका सङ्ग बहुत ही घातक है । अतः साधकको ऐसे पुरुषोंके सङ्गसे सदा ही दूर रहना चाहिये । यदि परिस्थितिवश उनका सङ्ग हो जाय तो उनके दोषोंसे सावधान रहना चाहिये । जैसे अपनी स्त्री, पुत्र या प्रेमीके हैजा, प्लेग, कुष्ठ या टी० बी० आदि कोई प्राणनाशक संक्रामक रोग हो जाता है तो बुद्धिमान् मनुष्य उसके इलाजके लिये दवा, पथ्य और वैद्यकी सलाह आदिकी चेष्टा करते हुए भी उस रोगसे स्वयं सावधान रहते हैं, वैसे ही जिसमें उपर्युक्त दोष हों, उससे घृणा-द्वेष न करके, उसमें जो दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन आदि भयंकर संक्रामक रोग हैं, उनसे सावधान रहना चाहिये ।

साधन कमजोर होनेमें वस्तुतः श्रद्धा और विश्वासकी कमी ही प्रधान कारण है; अतः साधनकी उन्नतिके लिये सबसे बढ़कर उपाय श्रद्धा ही है । भक्तिपूर्वक विश्वास होना ही श्रद्धा है । (१) ईश्वर, (२) महापुरुष, (३) भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-सदाचारके प्रेरक श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि धार्मिक सत्-शास्त्र और (४) परलोक—ये चार श्रद्धा करनेके योग्य हैं । यदि उपर्युक्त सत्-शास्त्रोंके वचन कहीं समझमें न आयें या कहीं उनके सम्बन्धमें अपने आत्मामें शङ्का उत्पन्न हो जाय तो महापुरुषोंके आचरणोंको लक्ष्य बनाकर उनके अनुसार आचरण करना चाहिये । महाभारतमें यक्षके प्रश्नोंका उत्तर देते समय महाराज युधिष्ठिरने बतलाया है—

> तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
> नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
> धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
> महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥
> (वन० ३१३ । ११७)

'तर्ककी कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं; एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा

हुआ—अत्यन्त गूढ़ है; अतः जिस मार्गसे महापुरुष गये हैं, वही मार्ग असली मार्ग है।'

अथवा महापुरुष सम्मुख विद्यमान हों तो उनसे पूछकर उनके कहे अनुसार आचरण करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३।२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार वर्तने लग जाता है।'

यदि महापुरुष न मिलें तो अपनी श्रद्धा, विश्वास, रुचि और स्वभावके अनुसार जो अपने आत्माका हितकर साधन प्रतीत हो, उसीको करे। कल्याणप्रद धर्मके चार मूल हैं। श्रीमनुजीने कहा है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥
(मनु० २।१२)

'वेद, स्मृति, महापुरुषोंका उत्तम आचरण और अपने आत्माकी रुचिके अनुसार परिणाममें हितकारक साधन—धर्मका यह चार प्रकारका साक्षात् लक्षण श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा कहा गया है।'

इसलिये ईश्वर, महापुरुष, सत्-शास्त्र और परलोक-पर परम श्रद्धा करके साधनके लिये तत्परताके साथ प्रयत्न करना चाहिये। मनमें कभी निराशाको स्थान नहीं देना चाहिये; क्योंकि निराशा उत्साहको भङ्ग करके मनुष्यका पतन कर देती है।

आत्माके उद्धारके लिये संसारमें श्रद्धासे बढ़कर कोई उपाय नहीं है। केवल श्रद्धासे ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

श्रीनारदपुराणके पूर्वभागके प्रथम पादमें श्रीसनत्कुमार-जीने नारदजीसे कहा है—

श्रद्धापूर्वाः सर्वधर्मा मनोरथफलप्रदाः।
श्रद्धया साध्यते सर्वं श्रद्धया तुष्यते हरिः॥
श्रद्धावाँल्लभते धर्मं श्रद्धावानर्थमाप्नुयात्।
श्रद्धया साध्यते कामः श्रद्धावान् मोक्षमाप्नुयात्॥
(४।१, ६)

'नारद! श्रद्धापूर्वक आचरणमें लाये हुए ही सब धर्म मनोवाञ्छित फल देनेवाले होते हैं। श्रद्धासे सब कुछ सिद्ध होता है और श्रद्धासे ही भगवान् श्रीहरि संतुष्ट होते हैं। श्रद्धालु पुरुषको धर्मका लाभ होता है, श्रद्धालु ही धन पाता है, श्रद्धासे ही कामनाओंकी सिद्धि होती है और श्रद्धालु पुरुष ही मोक्ष पाता है।'

श्रीस्कन्दपुराणमें नारदजीने राजा धर्मवर्मासे कहा है—

कायक्लेशैश्च बहुभिर्न चैवार्थस्य राशिभिः।
धर्मः सम्प्राप्यते सूक्ष्मः श्रद्धा धर्मोऽद्भुतं तपः॥
श्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत्।
सर्वस्वं जीवितं चापि दद्यादश्रद्धया यदि॥
नाप्नुयात् स फलं किंचिच्छ्रद्दधानस्ततो भवेत्।
श्रद्धया साध्यते धर्मो महद्भिर्नार्थराशिभिः॥
(स्क० मा० कुमा० ३।२९–३१)

'राजन्! शरीरको बहुत क्लेश देनेसे तथा धनकी राशियोंसे सूक्ष्म धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। श्रद्धा ही धर्म और अद्भुत तप है, श्रद्धा ही स्वर्ग और मोक्ष है तथा श्रद्धा ही यह सम्पूर्ण जगत् है। यदि कोई मनुष्य बिना श्रद्धाके अपना सर्वस्व दे दे अथवा अपना जीवन ही न्योछावर कर दे, तो भी वह उसका कोई फल नहीं पाता; इसलिये सबको श्रद्धालु होना चाहिये। श्रद्धासे ही धर्म सिद्ध होता है, धनकी बहुत बड़ी राशिसे नहीं।'

श्रीरामचरितमानसमें भी बतलाया गया है—

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावइ कोई॥
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीवन लह बिश्रामु॥
(राम० उत्तर० ८९। २, ४; ९० क)

अतः समस्त साधनोंकी सिद्धिमें श्रद्धा ही मूल कारण है। जो मनुष्य श्रद्धेयकी आज्ञा पाकर उसके अनुसार आचरण करता है, वह श्रद्धालु है। उससे अधिक श्रद्धालु वह है, जो श्रद्धेयका संकेतमात्र मिलते ही तदनुसार कार्य करने लगता है। उसकी अपेक्षा वह और अधिक श्रद्धालु है, जो अपने मनके विपरीत होनेपर भी उस कार्यको करता है तथा उससे भी अधिक श्रद्धालु वह है, जो मनके विपरीत आज्ञाको पाकर भी बड़ी प्रसन्नतासे उसे करता है। एवं श्रद्धेयकी आज्ञाके लिये अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपने-आपको न्योछावर कर देनेवाला पुरुष तो बहुत ही ऊँची श्रेणीका श्रद्धालु है। एक ओर अपनी मान्यता है और दूसरी ओर श्रद्धेयकी मान्यता है तो ऐसी स्थितिमें अपनी मान्यतापर कोई ध्यान न देकर श्रद्धेयकी बातको प्रत्यक्षकी भाँति समझनेवाला मनुष्य उच्चकोटिका श्रद्धालु है तथा प्रत्यक्ष-से भी बढ़कर श्रद्धेयकी बातका आदर करनेवाला परम श्रद्धालु है। भाव यह कि अपनी जो मान्यता, सिद्धान्त और समझ है—उन सबका श्रद्धेयकी बातपर बलिदान कर देना—यह परम श्रद्धालुका लक्षण है। जितनी अधिक श्रद्धा होती है, उतना ही उसमें बल आ जाता है। श्रद्धासे मनुष्यमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, शूरता आदि अनेक गुण प्रत्यक्ष आ जाते हैं। उसके मनमें अटल निश्चय हो जाता है कि श्रद्धेय जो बात कह रहे हैं, वह सोलहो आने—अक्षरशः वैसी ही है। अतः जिसके मनमें जितना अधिक निश्चय है, उसकी उतनी ही अधिक श्रद्धा समझी जाती है।

भक्त प्रह्लादके हृदयमें यह विश्वास था कि भगवान् सब जगह हैं। उनके विश्वासके बलपर भगवान्को खंभेसे प्रकट होना पड़ा। यह श्रद्धाकी महिमा है। भक्त प्रह्लादके दृढ़ निश्चय और विश्वासके बलसे उनके लिये अग्नि भी शीतल हो गयी। भगवान्की कृपासे असम्भव भी सम्भव और सम्भव भी असम्भव हो जाता है। अग्निका स्वाभाविक धर्म है जलाना; किंतु प्रह्लादको जब अग्निमें बैठाया गया, उस समय प्रह्लाद अग्निको परमात्मा-के रूपमें देख रहे थे; अतः अग्निकी शक्ति नहीं कि उनको जला दे। प्रह्लादके निश्चयसे प्रह्लादको तो अग्निमें भी भगवान् ही स्थित दिखलायी पड़ते थे। उस समय प्रह्लादने हिरण्यकशिपुसे कहा—

तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि
न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम्।
पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि
शीतानि सर्वाणि दिशाम्मुखानि॥
(विष्णुपु० १। १७। ४७)

'तात! यहाँ पवनसे प्रेरित हुआ भी यह अग्नि मुझे नहीं जला सकता। मुझको तो सभी दिशाएँ ऐसी शीतल प्रतीत होती हैं मानो मेरे चारो ओर कमलके आसन बिछे हुए हों।'

इसका कारण यही था कि उनका सर्वत्र भगवद्भाव था। हिरण्यकशिपुकी आज्ञासे जब दैत्योंने उनपर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार किया, तब उन्होंने उनसे स्पष्ट कहा था—

विष्णुः शस्त्रेषु युष्मासु मयि चासौ व्यवस्थितः।
दैतेयास्तेन सत्येन मा क्रमन्त्वायुधानि मे॥
(विष्णुपु० १। १७। ३३)

'दैत्यो! भगवान् विष्णु तो शस्त्रोंमें, तुमलोगोंमें और मुझमें—सर्वत्र ही स्थित हैं। इस सत्यके प्रभावसे इन अस्त्र-शस्त्रोंका मेरे ऊपर कोई प्रभाव न हो।'

जब हिरण्यकशिपुकी आज्ञासे दिग्गजोंने प्रह्लादको दाँतोंसे रौंदा, तब उनके हजारों दाँत उनकी छातीसे टकराकर टूट गये। उस समय प्रह्लादने पिताको बतलाया—

दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः
शीर्णा यदेते न बलं ममैतत् ।
महाविपत्तापविनाशनोऽयं
जनार्दनानुस्मरणानुभावः ॥
(विष्णुपु० १।१७।४४)

'ये जो हाथियोंके वज्रके समान कठोर दाँत टूट गये हैं, इसमें मेरा कोई बल नहीं है। यह तो श्रीजनार्दनभगवान्के महान् विपत्ति और क्लेशोंको नष्ट करनेवाले स्मरणका ही प्रभाव है।'

भक्त प्रह्लादका भगवान्पर कितना दृढ़ विश्वास था! इसी कारण वे सर्वथा निर्भय हो गये थे। उन्होंने स्वयं अपने पिता हिरण्यकशिपुसे कहा था—

भयं भयानामपहारिणि स्थिते
मनस्यनन्ते मम कुत्र तिष्ठति ।
यस्मिन् स्मृते जन्मजरान्तकादि-
भयानि सर्वाण्यपयान्ति तात ॥
(विष्णुपु० १ । १७ । ३६)

'तात! जिनके स्मरणमात्रसे जन्म, जरा और मृत्यु आदिके समस्त भय दूर हो जाते हैं, उन सकल-भयहारी अनन्तके हृदयमें स्थित रहते हुए मुझे भय कहाँ हो सकता है।'

उन्होंने केवल कहा ही नहीं, वास्तवमें उनमें निर्भयता थी। भगवान्ने उनके सम्मुख ऐसा भयंकर नृसिंहरूप प्रकट किया, जिसको देखकर विश्वको नष्ट करनेवाला काल भी डर जाता, संसारकी उत्पत्ति करनेवाले ब्रह्मा भी भयभीत हो गये, जगज्जननी लक्ष्मीजी भी भयभीत हो गयीं। सारे देवता और ऋषिगण हाथ जोड़कर मारे भयके दिव्य स्तोत्रोंसे उनकी स्तुति करने लगे। ऐसे कालके समान भयंकर रूपको देखकर भी प्रह्लादको भय नहीं लगा। वे निर्भय होकर भगवान्के पास चले गये। उनके मनमें न तो भयका भाव पहले आया और न परिणाममें ही। उनके निश्चयमें तो यह था कि ये साक्षात् मेरे प्रभु भगवान् ही हैं, इनसे मुझे क्या भय है। भगवान्का वह बाहरी भयानक रूप दुनियाके लिये था, प्रह्लादके लिये नहीं। (श्रीमद्भा० स्क० ७ अ० ८-९)

इसी प्रकार गुरुभक्त एकलव्य भीलकी गुरु द्रोणाचार्यके प्रति बड़ी भारी श्रद्धा थी। वह द्रोणाचार्यके पास धनुर्विद्या सीखने गया; किंतु उन्होंने उसको निषाद होनेके कारण धनुर्विद्याविषयक शिक्षा नहीं दी। यद्यपि एकलव्यकी यह श्रद्धा सकाम ही थी, फिर भी उसको यह विश्वास था कि 'द्रोणाचार्य मुझको शिष्य नहीं बनाते तो कोई बात नहीं। मैंने उनको गुरु बना लिया है; अतः जो इनके शिष्य इनसे लाभ उठा रहे हैं, वह लाभ मैं भी उठा लूँगा।' वह द्रोणाचार्यके चरणोंमें प्रणाम करके वनमें चला गया। वहाँ उसने द्रोणाचार्यकी मिट्टीकी मूर्ति बनाकर उसीमें आचार्यकी परमोच्च भावना करके नियमपूर्वक स्वयं ही धनुर्विद्याका अभ्यास किया। उस परम श्रद्धाके प्रभावसे उसने बाणविद्यामें ऐसी कुशलता प्राप्त कर ली कि जिसके सामने द्रोणाचार्यके अत्यन्त प्रिय शिष्य अर्जुनको भी आश्चर्यचकित होना पड़ा। बाणविद्याके तत्त्वको द्रोणाचार्यकी मिट्टीकी मूर्तिसे एकलव्यने जितना सीखा, उतना अर्जुन साक्षात् द्रोणाचार्यसे भी नहीं सीख सके (महा० आदि० अ० १३१)।

राजा द्रुपदकी श्रद्धा भी सकाम थी। परंतु वह श्रद्धा ही नहीं, परम श्रद्धा थी। उन्होंने संतानकी प्राप्तिके लिये घोर तपस्या करके भगवान् शंकरको संतुष्ट किया, (तब भगवान् शंकरने उनको कन्या-प्राप्तिका वर दिया। इसपर) राजा द्रुपदने कहा—'भगवन्! मैं पुत्र चाहता हूँ; अतः मुझे कन्या नहीं, पुत्र प्राप्त हो।' इसपर श्रीमहादेवजीने कहा—'राजन्! तुम्हें पहले कन्या प्राप्त होगी, फिर वही पुरुष हो जायगी। मैंने जो कुछ कहा है, वह कभी मिथ्या नहीं हो

सकता।' इस वरदानके फलस्वरूप जब उन्हें कन्या प्राप्त हुई, तब भगवान् शङ्करके वचनोंपर दृढ़ विश्वास और श्रद्धा होनेके कारण राजा द्रुपदने अपनी लड़कीको लड़का ही घोषित किया और लड़केके समान ही उसके जातकर्मादि संस्कार कराकर पुरुष-जैसा ही 'शिखण्डी' नाम रखा। इतना ही नहीं, उसका विवाह भी दशार्णदेशके राजा हिरण्यवर्माकी कन्याके साथ कर दिया। फिर उनकी श्रद्धाके बलसे शिखण्डी समयपर पुरुषत्वको प्राप्त हो गया (महा० उद्योग० १८८-१९२)।

जबालाके पुत्र सत्यकामकी गुरुके प्रति बड़ी अनुपम श्रद्धा थी। वे ब्रह्मको जाननेकी इच्छासे गौतमगोत्रीय महर्षि हारिद्रुमतके समीप गये। वहाँ वार्तालाप होनेपर गुरुने चार सौ अत्यन्त कृश और दुर्बल गौएँ अलग करके सत्यकामसे कहा—'सौम्य! तू इन गौओंके पीछे-पीछे जा।' बस, गुरुकी इसी आज्ञाको शिरोधार्य करके वे अत्यन्त श्रद्धा, उत्साह और हर्षके साथ उन गौओंको वनकी ओर ले चले। जाते समय उन्होंने गुरुसे निवेदन किया—'इनकी संख्या एक हजार पूरी हो जानेपर मैं लौटूँगा।' वे उन गौओंको तृण और जलकी अधिकतावाले निरापद जंगलमें ले जाकर चराने लगे। जब उनकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी, तब लौटे। लौटते समय श्रद्धा-विश्वासपूर्वक गुरु-आज्ञा-पालनके प्रभावसे मार्गमें ही उनको वृषभ (साँड), अग्नि, हंस और मद्गु नामक जलमुर्ग पक्षीके द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया (छान्दोग्य उप० ४। ४-९)। यह है श्रद्धाका फल!

भक्ति और विश्वासपूर्वक दृढ़ निश्चयको ही श्रद्धा कहते हैं। दृढ़ निश्चयमें बड़ा भारी बल होता है। उससे मनमें इतना बल आ जाता है कि फिर उसका कोई भी मुकाबला नहीं कर सकता। भक्त ध्रुवकी पाँच वर्षकी अवस्था थी, किंतु उसे ऐसा दृढ़ विश्वास था कि नारदजीके कथनानुसार साधन करनेपर अवश्य भगवान् मिलेंगे। और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक साधन करनेसे दृढ़ विश्वासके बलपर भगवान्‌को उसे दर्शन देना पड़ा (श्रीमद्भागवत, स्क० ४ अ० ८-९)।

इसी प्रकार भक्त सुधन्वाका भी भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास था। सदा-सर्वदा भगवान्‌का स्मरण करते रहनेके कारण उनके लिये उबलता हुआ तेल चन्दनके समान शीतल हो गया था। भक्त सुधन्वाको उबलते हुए तेलके कड़ाहेमें डाल दिया गया, किंतु वह सुधन्वाको नहीं जला सका; क्योंकि सुधन्वा तन्मय होकर भगवान्‌का स्मरण कर रहा था—

> एवं ब्रुवति वीरेऽस्मिन् स्मरणान्माधवस्य तु।
> तैलं सुशीतलं जातं सज्जनस्येव मानसम्॥
> (जैमिनीय अश्वमेध० १७। १९०)

'वीर सुधन्वाके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् माधवके स्मरणके प्रभावसे वह तैल सज्जनके चित्तके सदृश अत्यन्त शीतल हो गया।'

महर्षि शङ्ख और लिखितको शङ्का हुई कि कहीं तेल ठंडा तो नहीं है। उन्होंने परीक्षाके लिये तेलमें नारियल गिरवाया, जिसके दो टुकड़े होकर शङ्ख और लिखितके ही मस्तकपर पड़े और उनके चोट आ गयी।

भक्तिमती मीराँका भी भगवान्‌के प्रति कितना महान् विश्वास और प्रेम था। जब राणाजीने मीराँके पास चरणामृतके नामपर हलाहल विषका प्याला भेजा, तब मीराँने प्रसन्नतापूर्वक भगवान्‌के नामका उच्चारण करके पान कर लिया, किंतु वह मीराँके लिये अमृतके समान हो गया।

भक्तोंके, उच्चकोटिके महापुरुषोंके दृढ़ निश्चय—श्रद्धा-विश्वाससे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। विष अमृत बन सकता है और अग्नि चन्दनके समान शीतल हो सकती है। यद्यपि ये सभी बातें असम्भव हैं; किंतु भक्ति

और विश्वासयुक्त दृढ़ निश्चयमें बड़ा भारी बल है, उससे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। इसीको आत्म-बल और मानसिक बल भी कहते हैं। इसके मुकाबले-में इन्द्रियोंका और शरीरका बल कुछ भी नहीं है। इस आत्मबलसे—श्रद्धाके प्रभावसे साधन तेज हो जाता है और साधन तेज होनेसे मन-इन्द्रियाँ वशमें हो जाते हैं। ऐसा कोई भी कार्य नहीं, जो श्रद्धासे नहीं हो सकता। श्रद्धा होनेपर भगवान्‌को प्रकट होना पड़ता है। श्रद्धा-से जो सम्भव और युक्तिसंगत है वह भी असम्भव हो जाता है और असम्भव सम्भव हो जाता है।

ईश्वर, महात्मा और सत्-शास्त्रोंमें श्रद्धा-विश्वास करनेकी बात ऊपर बतलायी गयी, इसी प्रकार परलोक-में भी विश्वास करना चाहिये। आत्माके नित्यत्वका विश्वास ही परलोकविषयक विश्वास है अर्थात् आत्मा अजर-अमर है, शरीरका नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता। यह है आत्मविश्वास। यह आत्म-विश्वास ही बतलाता है कि परलोक है। शरीरके साथ ही इस लोकसे सम्बन्ध छूटनेके बाद जिस लोककी प्राप्ति होती है, वही परलोक है। शरीरके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता अर्थात् शरीरके मरनेसे मैं नहीं मरूँगा—इस विश्वाससे मनुष्यमें वीरता, धीरता, गम्भीरता, निर्भयता आ जाती है, फिर उसको कौन मार सकता है? गीता अध्याय २ श्लोक २० में इसी तत्त्वको समझाया गया है। भगवान् कहते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है; (शरीर ही जन्मता-मरता है) तथा न यह (शरीरकी भाँति) उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

इस आत्मतत्त्वके भलीभाँति समझमें आ जानेसे उसी समय मनुष्यका कल्याण हो जाता है। यह विश्वास अमरत्वकी प्राप्ति करानेवाला है। 'शरीर मैं हूँ'—यह भाव अज्ञानके कारण ही है। आत्माका ज्ञान होनेपर शरीर-की कोई परवा नहीं रहती और उसमें निर्भयता आ जाती है। आत्माके विषयमें जिसे यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि यह अजन्मा, नित्य, अनादि, शाश्वत, पुराण है, इसका कभी उद्भव या विनाश नहीं होता, वह अमरत्वको प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार जिसे परलोक और परमात्माका निश्चय हो जाता है, उसके द्वारा पाप नहीं हो सकते तथा उसमें भय नहीं रहता; बल्कि आत्मबल आ जाता है एवं उसे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो जाती है।

अब श्रद्धाकी प्राप्तिके उपाय बतलाये जाते हैं—

१. 'श्रद्धेयमें परम श्रद्धा कैसे हो?' इसकी अतिशय लालसा या उत्कट इच्छाको निरन्तर जाग्रत् रहना।

२. श्रद्धेयके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका ज्ञान (अनुभव) होना।

३. श्रद्धेयकी आज्ञा, संकेत और सिद्धान्तका पालन करना।

४. जिन ग्रन्थोंमें भगवान्, महापुरुष, शास्त्र और परलोकके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका उल्लेख हो, उनका अर्थ और भावको समझते हुए अध्ययन करना।

५. आदरपूर्वक श्रद्धालु पुरुषोंका सङ्ग, वार्तालाप और अनुकरण करना।

६. अन्तःकरणकी शुद्धिके उद्देश्यसे निष्कामभाव-पूर्वक ईश्वरके नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान आदि उपासना; यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास आदि सत्कर्म; दुखी और बड़ोंकी सेवा तथा सम्पूर्ण

प्राणियोंके हितकी चेष्टा करना। इनके निष्कामभावपूर्वक अनुष्ठानसे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर श्रद्धा प्राप्त हो जाती है; क्योंकि मनुष्यकी श्रद्धा उसके अन्तःकरणके अनुसार ही होती है (गीता १७। ३*)। उपर्युक्त किसी भी एक उपायको साङ्गोपाङ्ग किया जाय तो श्रद्धा हो सकती है। श्रद्धासे साधनकी तत्परता, मन-इन्द्रियोंका संयम और ज्ञानकी प्राप्ति होकर परमशान्तिस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

इस कथनसे हमलोगोंको यह रहस्य समझना चाहिये कि श्रद्धाके अनुसार ही साधनमें तत्परता होती है और तत्परताके अनुसार ही मन-इन्द्रियाँ वशमें होती हैं तथा ऐसा होनेपर ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति होती है। बहुत-से अज्ञ मनुष्य अपनी साधारण श्रद्धाको भूलसे अधिक मान बैठते हैं और पूर्ण श्रद्धाके फलको न पाकर उत्साहहीन हो जाते हैं। इससे उनके साधनमें बाधा पड़ जाती है। इसलिये जितना साधन तेज हो उतनी ही श्रद्धा समझनी चाहिये और मन-इन्द्रियोंका संयम जितना हो, उतना ही साधन समझना चाहिये; क्योंकि श्रद्धाकी कसौटी साधन है और साधनकी कसौटी मन-इन्द्रियोंका संयम है।

श्रद्धा होना कठिन मानकर साधकको कभी निराश और निरुत्साह नहीं होना चाहिये; क्योंकि श्रद्धा पुरुषप्रयत्नसाध्य है, उपर्युक्त साधनोंके द्वारा मनुष्यकी श्रद्धा श्रद्धेयमें अवश्य हो सकती है। यदि ईश्वरकी दयाका आश्रय लिया जाय तो कार्यकी सिद्धि और भी शीघ्र हो जाती है। जो कुछ भी अच्छापन अपनेमें दीखता है अर्थात् जो भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सद्गुण-सदाचार आदि उत्तम गुण और उत्तम भाव देखनेमें आते हैं, उनमें तो ईश्वरकी और महापुरुषोंकी कृपा समझनी चाहिये तथा अपनेमें जो दुर्गुण-दुराचार, दुर्व्यसन आदि विकार देखनेमें आते हैं, उनमें अज्ञता, अश्रद्धा, संशय, आसक्ति और कामना आदि अपने स्वभावका और कुसङ्गका दोष समझना चाहिये। ईश्वर और महात्माकी कृपासे तो श्रद्धेयमें श्रद्धा होकर साधन तेज होता है। अतः यदि साधन तेज नहीं हो रहा है तो उसमें अपने स्वभावका दोष समझना चाहिये।

जो मूर्ख मनुष्य ईश्वरकी और महात्माकी दयाके तत्त्वको नहीं समझते हैं, वे आलस्यके वश होकर साधनको छोड़ बैठते हैं और कहते हैं कि 'हमारा साधन तो ईश्वर और महात्माकी कृपासे अपने-आप ही होगा।' यों समझनेवाले अविवेकी मनुष्योंका साधन तेज होना तो दूर रहा, उलटा कम हो जाता है, उन्हें निद्रा-आलस्य घेर लेते हैं एवं उनमें अकर्मण्यता बढ़ जाती है। वे अज्ञ मनुष्य फिर कहने लगते हैं कि 'हम तो ईश्वर या महात्माकी दयाके भरोसेपर, उन्हींके शरण हैं।' किंतु याद रखें, यह नियम है कि ईश्वर और महात्माकी दयाके भरोसे उनके शरण होनेपर तो साधन तेज होता है, उसके प्रयत्नमें कभी कमी नहीं आती। यह शास्त्रोंका निर्णय है। अतः यह कसौटी है कि जिस कृपाके आश्रय और शरणागतिसे साधन तेज हो, आत्माकी उन्नति हो, वह तो ईश्वर और महात्माकी कृपाका सच्चा आश्रय और सच्ची शरणागति है, एवं

* सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
'हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।'

जिससे साधन कम हो या छूट जाय तथा निद्रा, आलस्य, प्रमाद, दुर्गुण, दुराचार और विक्षेप घेर लें, वह ईश्वर और महात्माकी कृपाका आश्रय और शरणागति नहीं है, वह तो मनका धोखा है। जैसे भगवन्नामजप और गीतादि शास्त्रोंके अध्ययनमें कभी हानि होनेकी सम्भावना नहीं है, वैसे ही ईश्वर और महापुरुषोंकी कृपाका परिणाम कभी बुरा नहीं हो सकता।

अतः श्रद्धेयमें किसी प्रकारके दोषकी कल्पना करना साधनमें बड़ा भारी विघ्न है। इससे साधकका बहुत पतन होता है। इतना ही नहीं, किसीके भी दोष देखना साधनमें बड़ा भारी विघ्न है। अतः एक-दूसरेके दोषोंको देखनेकी मनुष्यमें जो प्रवृत्ति रहती है, वह सर्वथा त्याज्य है। श्रोतागण वक्ताके दोषोंको देखते हैं और वक्ता श्रोताओंके दोषोंको देखते हैं। जैसे वक्ताके कथनको सुनकर श्रोतागण वक्तापर यों दोषकी कल्पना करते हैं कि ये हमको तो उपदेश देते हैं किंतु स्वयं पालन नहीं करते। इसी प्रकार वक्ता जो उपदेश देता है, उसका पालन श्रोतागण नहीं करते तो वक्ता कहता है कि श्रोतागण सुनी हुई बातको काममें नहीं लाते—इसमें श्रोताओंकी अपनी श्रद्धाकी कमी ही हेतु है। परंतु इस प्रकार दोषदृष्टि करनेसे किसीको भी लाभ नहीं है। अतएव सबको अपना-अपना दोष देखना चाहिये। वक्तासे परम हित-कारक साधनकी बातें सुनकर उनके अनुसार साधन नहीं होता तो उसमें श्रोताको तो अपनी श्रद्धाकी कमी, संशय, विषयासक्ति और स्वभावका दोष समझना चाहिये। एवं वक्ताको श्रोताओंके हृदयमें अपनी कही हुई बात धारण न होनेमें अपनी वाणीके ओज, तेज और सत्यताकी कमी, उपदेशके अनुकूल आचरणोंकी कमी तथा अपने मन-बुद्धिके सामर्थ्यकी कमी सोचकर अपना ही दोष समझना चाहिये। इस प्रकार अपना-अपना दोष देखनेसे मनुष्यका सुधार हो सकता है और इसीमें सबका लाभ है।

अतः किसीमें भी दोषदृष्टि नहीं करनी चाहिये, सदा गुणग्राही बनना चाहिये। गुण किसीमें भी हो उसको ग्रहण करना चाहिये तथा ईश्वर, महात्मा और सत्-शास्त्रकी आज्ञाओंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक विशेष-रूपसे पालन करना चाहिये। इससे मनुष्यका शीघ्र कल्याण हो सकता है।

भगवान्‌के नाते सब जीवोंके प्रति प्रेम और आत्मीयतासे मेरा हृदय भर गया है

'भगवान् प्रेमस्वरूप हैं'—इस निश्चयके उदय होनेके साथ ही मेरा हृदय सृष्टिके सब जीवोंके प्रति प्रेम और आत्मीयतासे भर गया है। आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि जीवमात्र भगवान्‌के अंश हैं; नाम, रूप, गुण, आकृति, स्थिति, उपयोगिता—ये सब चीजें सब जीवोंकी पृथक्-पृथक् हैं; पर सबके हृदयमें जो चेतनरूपसे विद्यमान आत्मा है, वह एक है। अतएव आत्माके नाते मेरा प्रेम, मेरी आत्मीयता सबके प्रति समभावसे प्रवाहित हो रही है; पर व्यवहारमें सबके प्रति आवश्यक भेद ज्यों-का-त्यों है।

अपने शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंके प्रति आत्मीयता समान होते हुए भी व्यवहार प्रत्येक अङ्गके साथ भिन्न होता है। सब जीवोंके प्रति अब मेरे हृदयमें ऐसी आत्मीयतापूर्ण भिन्नता ही है; उनकी यथोचित सेवा करनेके लिये मैं सदा समान भावसे तत्पर हूँ।

भगवान्‌के नाते सब जीवोंके प्रति प्रेम और आत्मीयतासे मेरा हृदय भर गया है।

भजनमें सफलता क्यों नहीं मिलती ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

संसारमें सारे अनर्थों तथा पतनका मूल है—'विषय-चिन्तन'। विषय-चिन्तन करनेवाले मनुष्योंकी बुद्धि धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है, जिसके फलस्वरूप उनका सत्यानाश हो जाता है। इसके विपरीत भगवच्चिन्तनके बढ़ानेका अभ्यास करनेवाले साधकोंकी दिन-दूनी और रात-चौगुनी उन्नति होती रहती है। ज्यों-ज्यों भगवच्चिन्तन बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उनके चित्तमें शान्तिका स्रोत बहने लगता है। आनन्दकी प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं, वे नरसे नारायण हो जाते हैं। इसीलिये निरन्तर भगवान्‌के परम पवित्र नाम, रूप, लीला और धामका चिन्तन करते रहना बुद्धिमानोंकी बुद्धिमत्ता है। भगवच्चिन्तन मानव-जीवनकी अपूर्व सम्पत्ति है। कृपणके धनके समान इस सम्पत्तिकी सँभाल रखनी चाहिये।

जो लोग व्यर्थ ही संसारका चिन्तन करते हैं, वे पापकर्मोंसे कभी बच नहीं सकते। चिन्ता उनका साथ कभी छोड़ती नहीं। वाद-विवाद बढ़ जाता है। अशान्ति बनी ही रहती है। राग-द्वेष आदि लुटेरे उनके हृदय-भवनके मालिक बन जाते हैं। संसारका चिन्तन सदा व्यर्थ जाता है। सार्थक तो वह होता ही नहीं। अमूल्य मानवताको व्यर्थ नष्ट करनेका सुगम उपाय है—'संसारका चिन्तन'।

बहुत-से साधक शिकायत किया करते हैं—'स्वामीजी, भजन तो वर्षोंसे करते आ रहे हैं पर लाभ तो कुछ भी नहीं होता। क्या कारण है ?' इसका सीधा उत्तर तो यह है कि भजनके बदले जो लाभ देखता रहता है वह तो बनिया ही है, जो इस हाथसे लेता है दूसरे हाथसे देता है। भाई ! भजनका फल तो भजन ही है। भगवान्‌के प्रति निरन्तर प्रेम बढ़ता रहे और भजन भी निरन्तर होता रहे, यही तो लाभकी अवधि है। यदि आप कहें कि 'यह भी तो नहीं होता' तो इससे सिद्ध होता है कि आपसे भजन बन ही नहीं रहा है। भजनके बदले भोगोंका चिन्तन होता होगा। भला, भगवान्‌का भजन थोड़ा बहुत बनता रहे और लाभ न हो, यह सरासर झूठी बात है। मनुष्य ज्यों-ज्यों भजन-साधन करता जाता है, त्यों-ही-त्यों सुख-शान्तिका अनुभव, संसारसे विरक्ति और भगवान्‌के प्रति प्रेम बढ़ता जाता है।

जो संसारका चिन्तन करता है, वह भगवान्‌से वैसे ही दूर हटता जाता है, जैसे पूर्वकी ओर जानेकी इच्छा रखनेवाला पश्चिमकी ओर चल दे तो वह अपने निर्दिष्ट स्थानसे दूर होता जाता है। अतः साधकोंको सावधान रहना चाहिये कि संसारका चिन्तन धोखेमें भी न होने पाये। स्मरण रखिये—मनुष्य जैसा चिन्तन करने लगता है, वैसा ही वह बन जाता है। जो विषयोंका चिन्तन करता है, वह 'विषयरूप' और जो भगवच्चिन्तन करता है वह 'भगवद्रूप'।

भगवद्भक्तोंका ही सङ्ग कीजिये। भक्ति-ग्रन्थोंका अवलोकन करते रहिये। भगवच्चर्चा कीजिये और सुनिये। विषयी पुरुषोंका सङ्ग तो भूलकर भी नहीं करना चाहिये। विषयका सङ्ग भी दुःखदायी तो है ही, पर उतना नहीं है जितना विषयीका सङ्ग है। अतः दोनोंके ही सङ्गका त्याग कर देना कल्याणकारक है।

पुराणोंमें, अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें श्रेष्ठ साधकोंका भी पतन होता पाया जाता है। महर्षि विश्वामित्रका नाम तो प्रसिद्ध ही है। सौभरि ऋषिकी कथा भागवतके छठे स्कन्धमें है। सौभरि ऋषि जलमें रहकर कठिन तप कर रहे थे। अनेक सिद्धियाँ भी

उन्हें प्राप्त हो गयी थीं । पर विषय-दर्शनसे वे भी तपस्यासे च्युत हो गये ।

वर्तमान कालमें भी कितने अच्छे-अच्छे साधक साधनासे च्युत हो गये हैं । इसका प्रधान कारण है 'असावधानी' । कुछ दिनोंतक साधना ठीक-ठीक चलती रही । जिन लोगोंने दर्शन किये उनकी श्रद्धा बढ़ने लगी । फिर क्या था, दर्शकोंकी भीड़ आने लगी । धीरे-धीरे चेला और चेलियोंकी संख्या भी बढ़ गयी । मनने धोखा देना शुरू कर दिया । सोचने लगे कि 'संसार बहुत बिगड़ रहा है । इसका सुधार करना चाहिये ।' बस, 'साधक' से बन गये 'सुधारक' । रुपये, धन-सम्पत्ति, मोटर-गाड़ियाँ, सेवक-सेविकाएँ और सुन्दर-सुन्दर भोग-पदार्थोंकी अब कमी ही नहीं है । एक मन कहता है—'सावधान । कहाँ जा रहे हो गिरने !' इतनेमें वही मन बदल जाता है—कहता है 'चलो भाई—त्याग तो भीतरसे होना चाहिये । बाहर मनसे भोगनेमें क्या दोष है । भोग-पदार्थ तो भोगनेके लिये ही भगवान्‌ने बना रखे हैं । हम नहीं भोगेंगे तो ये सब तो व्यर्थ ही बनाये गये । फिर भी, हम तो किसीसे माँगते नहीं—यह तो हमारी तपस्याका ही फल स्वयं मिल रहा है । पहले तो कोई पूछता नहीं था पर अब तो हमारे भजनका प्रताप प्रकट हो गया है, तभी तो बड़े-बड़े जज-मैजिस्ट्रेट, वकील-मुख्तार, डाक्टर-प्रोफेसर और सेठ-साहूकार हमारी सेवामें खड़े हैं ।' यह है साधकके पतनका मार्ग ।

साधको ! आप सदा सावधान रहें । मनके धोखेमें कभी न आ जायँ । निरन्तर अपने लक्ष्यकी ओर दृष्टि जमाकर रखे रहिये, जहाँ खतरा दिखायी पड़े, वहाँसे तुरंत नौ दो ग्यारह हो जाइये । थोड़ी-सी भी असावधानी भारी पतनका कारण हो जा सकती है । भजनमें सफलता न मिलनेका कारण है—(१) श्रद्धा-विश्वासकी कमी, (२) भजनमें निरुत्साह, (३) विषय-चिन्तन, (४) कुसङ्ग, (५) सत्संगका अभाव और (६) दृढ़ निश्चयकी कमी ।

भजनमें शीघ्र लाभ हो, इसके लिये तीन खास बातें चाहिये—(१) विषयोंसे तीव्र वैराग्य, (२) निरन्तर भगवच्चिन्तन और (३) सत्पुरुषोंका सङ्ग । साधकको चाहिये कि वह अपने निश्चयको पर्वतकी तरह दृढ़ रक्खे । मनसे भगवान्‌के नाम, रूप, लीला और धामका स्मरण करता रहे । जीभसे भगवन्नामका जप करता रहे, कानोंसे सत्कथा सुनता रहे और सद्गुरुके सांनिध्यमें रहे ।

भगवान्‌की परम अहैतुकी कृपा तो सबपर है ही ।

कठिनाइयोंका सामना करो

मानव-जीवनमें कटुता-कठिनाई विविध भाँति आती ।
कभी-कभी वे अति भीषण बन तन-मनपर है छा जाती ॥
जो निराश हो रोने लगता, उसपर वे बढ़ती भारी ।
विविध प्रकारोंसे बहुसंख्यक बन अति दुख देती सारी ॥
हो भयभीत छोड़कर साहस जो कापुरुष भाग जाता ।
भाग न पाता, गिर पड़ता वह, बुरी तरह कुचला जाता ॥
पर जो कर विश्वास ईश्वरी बलपर सन्मुख डट जाता ।
उससे डर वे भाग छूटतीं, नहीं दुखी वह हो पाता ॥

ईश्वरकी प्रार्थना

(लेखक—डा० श्रीमङ्गलदेवजी शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल्०)

ईश्वरकी प्रार्थनाके विषयमें नीचे दो पद्य दिये जाते हैं—

दत्तं देवेन यत् तुभ्यं तदर्थं स्वकृतज्ञताम्।
ब्रूहि तं परमात्मानं मा भूत् तेऽत्र कृतघ्नता ॥
यद्यासं त्वया देवात् तदर्थं योग्यतात्मनः।
दर्शनीया प्रयत्नेन प्रार्थनीयं ततोऽधिकम् ॥
(रश्मिमाला ५२ । १-२)

अनुवाद

परमात्माने जो कुछ तुमको दिया है, तुमको चाहिये कि उसके लिये परमात्मासे अपनी कृतज्ञता प्रकट करो। इस विषयमें तुम्हें कृतघ्न न होना चाहिये ॥ १ ॥

तुमने जो कुछ परमात्मासे पाया है, उसके लिये प्रयत्नपूर्वक पहले अपनी योग्यता दिखलाओ। उसके अनन्तर ही उससे अधिकके लिये प्रार्थना करनी चाहिये ॥ २ ॥

व्याख्या

नाना मनोरथों और अपनी राग-द्वेषपूर्ण प्रवृत्तियोंके प्रवाहमें वहता हुआ मनुष्य, उनके घात-प्रतिघातसे व्याकुल होकर, आदर्शहीन जीवन व्यतीत करता हुआ, प्रायः अपनेको असहाय तथा दीन-हीन अनुभव करता है और उस अवस्थामें उसी प्रवाहके वेगको बढ़ानेवाली वस्तुओंकी या अवस्थाकी प्राप्तिके लिये ईश्वरसे या अपने इष्टदेवसे प्रार्थना करता है।

उस प्रार्थनामें न तो सत्-असत्, उचित-अनुचित या अपनी वास्तविक आवश्यकताओंका विवेक होता है, न जीवनके किसी ऊँचे आदर्शकी भावनाका स्थान होता है।

विभिन्न धर्मोंके कर्मकाण्डमें प्रायः ऐसी ही प्रार्थनाओंका बाहुल्य है; यहाँतक कि मनुष्य अपने इष्टदेवसे अपने मनोरथोंको पूर्ण कर देनेका सौदा भी करता है, मानो इष्टदेवको भी हमारी ही तरह अनेक वस्तुओंकी आवश्यकता है।

उपर्युक्त प्रकारकी प्रार्थना जीवनको उठानेवाली न होकर हममें दीनता-हीनताके भावोंको ही बढ़ाती है।

इसमें संदेह नहीं कि ईश्वर-प्रार्थनामें बड़ी भारी शक्ति है; पर यह तभी होता है जब प्रार्थना बुद्धिपूर्वक कर्तव्याकर्तव्यकी आदर्श-भावनाके साथ की जाती है।

जीवनका वास्तविक लक्ष्य हमारी प्रतिदिनकी आवश्यकताओंकी प्राप्ति या स्वाभाविक वासनाओंकी तृप्तिमें नहीं है; वह तो हमारी आध्यात्मिक, नैतिक तथा सामाजिक उदात्त भावनाओंकी पुष्टि और उत्तरोत्तर विकासमें है। प्रतिदिनकी आवश्यकताओंकी प्राप्तिका महत्त्व वहींतक है, जहाँतक वे उक्त उत्तरोत्तर विकासमें सहायक हों।

इस दृष्टिसे ईश्वरने जो कुछ अपनी कृपाका प्रसाद हम सबको दिया है, वह अमूल्य है। जरा ध्यान देकर सोचिये कि प्रभुने हम सबको क्या-क्या अमूल्य निधियाँ दी हैं। सबसे पहले मनुष्यका जीवन, जिसको हम समस्त ब्रह्माण्डके साथ तोल सकते हैं। इस जीवनमें भी एक-एक वस्तु अद्भुत है। सदसद्का विवेक करनेवाली बुद्धि, सृष्टिके समस्त वैभव और सौन्दर्यको अनुभव करनेवाली चक्षुष् आदि इन्द्रियाँ तथा उनकी विभिन्न शक्तियाँ। क्या इनमेंसे किसी एकको भी मनुष्य कोटि-कोटि धन लेकर बेचनेको तैयार होगा ?

इसलिये प्रथम इसके कि मनुष्य ईश्वरसे प्रार्थना करे, उसे उसका गुणगान करना चाहिये, हृदयसे धन्यवाद देना चाहिये कि उसने हमको हमारी ही दृष्टिसे समस्त विश्वसे भी अधिक मूल्यवान् वस्तुएँ और शक्तियाँ प्रदान की हैं।

साथ ही हमको अपने आचरणसे यह सिद्ध करना चाहिये कि ईश्वरने जो कुछ हमको दिया है हम उसके योग्य भी हैं। यह तभी हो सकता है जब कि हम अपनी शक्तियोंका सदुपयोग करेंगे और उनके द्वारा जीवनके वास्तविक लक्ष्यकी प्राप्तिका सच्चे भावसे यत्न करेंगे।

यह सब कर लेनेके बाद ही हमको ईश्वरसे अधिक-की प्रार्थना करनी चाहिये। वह प्रार्थना यही होगी कि हम अपने जीवनके परम लक्ष्यकी प्राप्तिमें आनेवाली समस्त बाधाओंपर विजय प्राप्त करते हुए उत्तरोत्तर वास्तविक उन्नति करनेमें समर्थ हों। यही जीवनका रहस्य है, यही ईश्वरकी सच्ची प्रार्थना और भक्ति है।

ओम् शम्

अहङ्कार

(लेखक—श्रीगोपालचन्द्रजी चक्रवर्ती, वेदान्तशास्त्री)

जीवात्मा और परमात्मा—ये दो शब्द प्रचलित हैं। परमात्मा सर्वव्यापक, शुद्ध चेतन, सच्चिदानन्दस्वरूप, अविकारी, नित्यसत्ता हैं। इसमें किसीका मतभेद नहीं है। सृष्टिके पहले वह जैसे थे, अभी भी वैसे ही हैं और प्रलयके अनन्तर भी वैसे ही रहेंगे। अविकारी होनेके कारण ही वे नित्य हैं।

परंतु जीवात्मा क्या है? इसी विषयमें मतभेद है। कोई कहता है—स्फुलिङ्ग (चिनगारी) है; परंतु स्फुलिङ्ग तो अग्नि-से पृथक् स्थानमें दृष्ट होता है और परमात्मा सर्वत्र पूर्ण हैं। उनसे पृथक् स्थान कहाँ है कि जीवात्मा-रूप अगणित स्फुलिङ्ग पृथक् दिखायी देंगे? गीताके सप्तम अध्यायके पञ्चम श्लोक-में 'जीव' शब्दका उल्लेख है सही, किंतु स्वरूप वर्णित नहीं हुआ है। वेदान्त-दर्शनमें वेदव्यासजीने जीवके स्वरूपके सम्बन्धमें (सूत्र २।३।५०) लिखा है—'आभास एव च' यानी जीव परमात्माका आभास या प्रतिबिम्ब है। दर्पणमें जिस प्रकार मुखका आभास पड़ता है उसी प्रकार चित्तरूप दर्पणमें चेतन परमात्माका आभास प्रतीयमान होता है। जिस प्रकार चित्रपटपर मनुष्यका चित्र खींचकर उसका वस्त्र भी अङ्कित कर देते हैं और अङ्कित वस्त्रोंको लोग यथार्थ वस्त्र न कहकर वस्त्राभास कहते हैं—'वस्त्रवत् आभासते (प्रतीयते) इति वस्त्राभासः'—वस्त्रकी तरह प्रतीत होता है, यथार्थ वस्त्र नहीं है, इसीलिये वह वस्त्राभास है, ठीक उसी प्रकार दर्पणस्थ मुख मुखकी तरह प्रतीत होनेपर भी, मुख नहीं है—मुखाभास है।

दर्पण, जल, स्फटिक आदि स्वच्छ वस्तुओंमें ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। चित्त या अन्तःकरण सूक्ष्म पञ्चभूतोंके समष्टि सात्त्विक अंशसे उत्पन्न है। सत्त्वगुण प्रकाशशील होनेके कारण स्वच्छ है। इसलिये वह आधारभूत चेतन-सत्ताका प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है और चेतनकी तरह प्रतीत होता है। वेदान्त कहता है—

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित् प्रतिबिम्बकः।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते॥

परमात्माका देहावच्छिन्न अंश कूटस्थ माना जाता है। यथार्थमें पूर्ण पुरुषका अंश नहीं होता। कूटका अर्थ है निहाई; लोहारका लौहपीठ—शतसहस्र अस्त्र-शस्त्र तैयार होनेपर भी जो अविकृत रहता है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न या कल्पित होते रहनेपर भी जो अविकृत रहते हैं, वे ही कूट हैं और अगणित चित्तवृत्तियोंके उत्पन्न होनेपर भी जो अविकृत रहते हैं, वे ही कूटस्थ हैं, प्रत्येक जीवके भीतर ही यह कूटस्थ आत्मा विराजमान है। उन्हींके ऊपर चित्त कल्पित है। उसी चित्तमें चेतन कूटस्थ आत्माका प्रतिबिम्ब है। उस प्रतिबिम्बको ही वेदान्तमें जीव कहा गया है। जिस प्रकार दर्पणस्थ मुखाभासके अस्तित्वके लिये दर्पण और असली मुखका रहना आवश्यक है, बिना उन दोनोंके मुखाभास अकेला रह नहीं सकता, उसी प्रकार चित्तमें प्रतिबिम्बित आभास-चैतन्यके अस्तित्वके लिये चित्त और कूटस्थका रहना आवश्यक है, बिना उन दोनोंके चिदाभास अकेला रह नहीं सकता। इस कारण कूटस्थ, चित्त और चित्प्रतिबिम्ब—इन तीनोंका संघ या समूह ही जीव नामसे कथित है।

अतः जाना गया कि जीवकी चेतनता अपनी नहीं है; तपे हुए लोहेकी दाहिकाशक्तिकी भाँति उधार ली हुई चेतनता है। यदि दर्पणस्थ मुख कहता है—देखो, मेरा कैसा सुन्दर

रूप है, कैसा प्रशस्त ललाट है, कैसी नुकीली नाक है, तो वह उसका मिथ्या अहङ्कार है; उसे कहना चाहिये—तुमलोग मेरे भीतर जो सौन्दर्य देख रहे हो, वह मेरा अपना नहीं है, उधार लिया हुआ सौन्दर्य है; यदि यथार्थ सौन्दर्य देखना चाहते हो तो दर्पणके बाहर असली मुखकी ओर देखो तो वही सत्य कथन होगा। इसी प्रकार यदि जीव कहता है—देखो, मेरा कैसा रूप है, कितना ऐश्वर्य है, कितनी शक्ति है, कितना ज्ञान है तो वह उसका मिथ्या अहङ्कार होगा। उसे कहना चाहिये—तुमलोग मेरे भीतर जो रूप, ऐश्वर्य, शक्ति और ज्ञान देख रहे हो, वे मेरे अपने नहीं हैं, वे उधार लिये हुए रूप-ऐश्वर्य-शक्ति-ज्ञान हैं। यदि यथार्थ रूप-ऐश्वर्य-शक्ति-ज्ञान देखना चाहो तो मेरे चित्तदर्पणके दूसरी ओर मूल चेतन कूटस्थकी ओर ताको।

इस प्रकारके विचारसे जीवका स्वरूप समझ सकनेपर हमारे लिये अहङ्कार करनेका कोई कारण ही नहीं रह सकता।

अहङ्कार दूर करनेका और भी एक प्रकारका विचार है। हमारी यह विशाल पृथ्वी अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी तुलनामें एक बालू-कणके सहस्रांशसे भी क्षुद्र है, इस पृथ्वीमें मनुष्य तो अणुके समान है। उस मनुष्यका फिर चित्त! उस मनुष्यका फिर अहङ्कार !!

अहङ्कार ही तो सारे अनर्थोंका मूल है। अहङ्कारमें आघात लगनेपर ही क्रोध, द्वेष, हिंसा, हत्या और युद्ध अनिवार्य हो जाता है। परिणाम है—नाश, ध्वंस, दुःख। भगवान् अहङ्कारका भक्षण करते हैं। अहङ्कार किया था—रावण, कंस, शिशुपाल, दुर्योधन, नेपोलियन और हिटलरने, हमारे चारो ओर भी अनेक अहङ्कारियोंका पतन देखा गया है। अहङ्कारका पतन अनिवार्य है—यह सब देशोंके अनुभवी व्यक्तियोंकी वाणी है।

मनुष्यके निन्यानवे प्रतिशत दुःख ही तो अहङ्कारमें आघात लगनेके फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। मनुष्य दूसरोंके बुरे बर्तावों और चुभती हुई बातोंसे जर्जरित हैं। शारीरिक आघात और रोगका दुःख कितना है? प्रिय-वियोगमें भी अहमिकामें आघात लगनेके कारण ही लोग छटपटाते हैं। अपने ही अभावके लिये लोग रोते हैं, जो गया उसे क्या हुआ—उसपर कोई ध्यान नहीं देता।

अहङ्कारका भाव न रहे तो मनुष्यके निन्यानवे प्रतिशत दुःख पास ही नहीं आ सकते, उस स्थितिमें संसार तो स्वर्गके समान सुखमय हो जाता है।

यदि अहङ्कार करना ही हो तो दर्पण-प्रतिबिम्बित मुख जिस प्रकार अपना मिथ्या स्वरूप जानकर दर्पणके बाहरके असली मुखको ही अपना स्वरूप समझता है, ठीक उसी प्रकार जीवको मनोदर्पणमें प्रतिबिम्बित जीवत्वका मिथ्यास्वरूप जानकर मनके अन्तरतम प्रदेशमें बिम्बभूत मूल चैतन्यको ही अपना यथार्थ स्वरूप समझना चाहिये। इस मूल चैतन्यको कोई भी सांसारिक वस्तु सीमाबद्ध नहीं कर सकती। वह सर्वव्यापक, अविनाशी और अविकारी है। मनुष्य अपना क्षुद्र व्यक्तित्व भूलकर यदि इस अनादि अनन्त सच्चिदानन्द आत्माको अपना रूप समझ सके तो फिर उसे मृत्युभय नहीं रहता; क्योंकि क्षुद्र ही मरता है। भूमा (व्यापक या असीम) नहीं मरता। हम चारो ओर केवल क्षुद्र ही देखते हैं और देखते हैं उन क्षुद्रोंका प्रतिक्षण ध्वंस—

'यदल्पं तन्मर्त्यम्, यद् वै भूमा तदमृतम्।'

—अल्प ही मरता है, भूमा अमर है। फलस्वरूप सदा ही शङ्का, सदा ही भय लगा रहता है। यदि असीमको हम अपना रूप बना सकें तो भय क्यों होगा?

यदि बुलबुला यह समझे कि मैं छोटा बुलबुला हूँ तो उसे प्रतिक्षण ही नाश, ध्वंस या मृत्युका भय रहता है और यदि वह यह समझे कि बुलबुला तो मेरा मिथ्या रूप है, वायुने फुलाकर मुझे छोटा बना दिया है, मैं तो जल हूँ, मैं तो समुद्र हूँ, मैं तो अनन्त हूँ तो उसे भय किस बातका? इसी प्रकार मनुष्यको भी अहङ्कार वायुने फुलाकर छोटा बना दिया है। वह यदि अपना यह मिथ्या क्षुद्र स्फीत-भाव छोड़कर अपनेको अनन्तमें मिला देता है तो वह इस जीवनमें ही सारे बन्धनों और सारे शोक-दुःखोंसे सर्वथा मुक्त हो सकता है।

प्राणीका अहङ्कार

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजी कहते हैं कि पुण्यात्मा तपस्वी-गण बड़े रोषसे कामका संहार कर डालते हैं; किंतु वे आत्मदाहक रोषको नहीं जला पाते। यहाँतक कि भगवान् शङ्करने भी जब कामको जलाया, तब उनके मनमें कोपका उदय हो ही गया—

'सौरभ पल्लव मदन बिलोका। भयउ कोप कंपेउ त्रैलोका॥

तपःपरामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात॥
क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥

(कुमारसम्भव ३। ७०—७२)

किंतु भगवान् नारायणके पास जब कामकी सेना गयी, तब उन्होंने न तो तनिक रोष किया और न कोई उनके मनमें उधर आकर्षण ही हुआ। उन्होंने अपनी जंघासे उर्वशी आदि सहस्रों अप्सराएँ उत्पन्न कर दीं, अनङ्ग तथा उसके सहायकोंको सान्त्वना देकर तथा उर्वशीको भी साथमें देकर विदा कर दिया। जब उनके हृदयमें रोष ही प्रवेश करते हुए इतना डरता है, तब काम तो फिर उनके हृदयमें उत्पन्न ही कैसे हो सकता है।

कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या
रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम्।
सोऽयं यदन्तरमलं निविशन् बिभेति
कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत॥

(श्रीमद्भा० २। ७। ७)

किंतु काम तथा क्रोधको जीत लेनेके बाद भी यदि अहङ्कार उत्पन्न हो गया तो भी भारी गड़बड़ी है। नारदजीने एक बार हिमालयके समीप गङ्गातटवर्ती एक पवित्र गुफामें स्वाभाविक निर्मल हृदयसे समाधि लगायी। भयभीत होकर इन्द्रने उनके पास अप्सराओंकी सेना वसन्त तथा कामादिको भेजा; पर नारदजी न तो रोषाविष्ट हुए और न उनकी कामकलाका ही इनपर कोई प्रभाव पड़ा। समझा-बुझाकर उन्होंने भी कामादिको विदा कर दिया—

भयउ न नारद मन कछु रोषा। कहि प्रिय बचन काम परितोषा॥
नाइ चरन सिर आयसु पाई। गयउ मदन तब सहित सहाई॥

किंतु नारदजीको यह विस्मय हो गया कि मैं तो शङ्कर-जीसे भी एक कदम आगे बढ़ गया और सीधे शङ्करजीके ही पास पहुँचकर वे यह सब समाचार सुनाने लगे—

तब नारद गवने सिव पाहीं। जिता काम अहमिति मन माहीं॥
मार चरित संकरहि सुनाए। ....॥

भगवान् शंकर सब समझ गये। वे भगवान्की महिमा जानते थे। उन्होंने बड़े प्रेमसे नारदजीको सब कुछ समझाया और कहा कि 'इस प्रसङ्गको कृपया भगवान् नारायणके पास आप कभी न कहें, यदि वे कभी प्रसङ्ग चलावें तो भी आप इसे प्रकट न करें' किंतु नारदजीको यह सब अच्छा न लगा और उसे भगवान् विष्णुसे कह ही डाला। परिणामतः मायाका पुनः लंबा कुचक्र चल पड़ा और वे विवाहके लिये विकल देखे गये। भरी सभामें उन्हें भारी उपहासका पात्र बनना पड़ा। ऐसी दशामें कामका न होना, क्रोधका भी न होना और अहङ्कारका भी उदय न होना तो एकमात्र भगवत्कृपासे ही सम्भव है। मार्कण्डेयजी इसके उदाहरण हैं—

इतीन्द्रानुचरैर्ब्रह्मन् धर्षितोऽपि महामुनिः।
यन्नागादहमो भावं न तच्चित्रं महत्सु हि॥

(श्रीमद्भा० १२। ८। ३०)

इन्द्रके अनुचर—काम, वसन्त, अप्सराएँ, मार्कण्डेयजी-को तपसे भ्रष्ट करने आये; किंतु उनके द्वारा धर्षित होनेपर भी वे विचलित नहीं हुए। इतना ही नहीं, उनके मनमें इसका तनिक-सा अहङ्कार भी उदय नहीं हुआ।

वास्तवमें प्राणीको विजय, सफलता, विद्या, वैभव, सुख-सम्पत्ति आदि सब भगवत्कृपासे ही मिलते हैं, पर जब वह ऐसा न मानकर उन्हें अपनी क्रियाशक्तिका परिणाम मान लेता है, तब गर्वमें आकर ईश्वर तथा महापुरुषोंका अपमान करने लगता है। वह उनकी महत्ताको भूल जाता है—अज्ञानमदसे उन्हें देखते हुए भी नहीं देख पाता—

विद्यातपोवित्तवपुर्वयःकुलैः
सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः।
स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः
स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम्॥

(श्रीमद्भा० ४। ३। १७)

केनोपनिषद्के यक्षोपाख्यानमें इस बातको विस्तारसे समझाया गया है। मनुष्यकी तो बात ही क्या ? देवता भी, जिन्हें ब्रह्मकी कृपासे असुरोंपर विजय मिली थी, गर्वातिरेकसे अपने उपकर्ता परमात्माको भूल गये। जैसे कठपुतली या काष्ठका मृग पराधीन है, वैसे ही समस्त चराचरभूतसंजात प्राणीमात्र भगवदाधीन हैं। लोकपालोंके साथ-साथ समस्त लोक सूत्रबद्ध पक्षीकी भाँति जिसके अधीन हैं, वह कालात्मक परमात्मा ही जय-पराजय तथा अभ्युदय तथा पराभवका कारण है। ओज, सह, बल, प्राण, अमृत और मृत्यु—इन सबके हेतु भगवान् ही हैं। किंतु मदमत्त प्राणी उन्हें न जानकर अपनेको ही उसका हेतु मान लेता है—

ओजः सहो बलं प्राणममृतं मृत्युमेव च।
तमज्ञाय जनो हेतुमात्मानं मन्यते जडम्॥

प्रह्लादके मतसे समस्त क्रिया-शक्तियोंका मूल तथा बलवानोंका बल परमात्मा है। जब हिरण्यकशिपुने उनसे पूछा कि 'तुममें कौन-सी शक्ति है, जिससे तुम इन समस्त अस्त्र-शस्त्र-विष, अग्नि आदिके प्रभावोंको नष्ट कर देते हो ?' तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'मेरा ही नहीं, सभी बलवानोंका बल, शक्तिमानोंकी शक्ति भी वही परमात्मा ही है—

न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेपाम्।
(श्रीमद्भा० ७।८।८)

श्रीहनुमान्जी भी रावणको समझाते हुए यही कहते हैं—

जाकें बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥
जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥

वास्तवमें भगवान्का सहारा छोड़कर जो आगे बढ़ना चाहता है, वह कुत्तेकी पूँछ पकड़कर सागरके पार जाना चाहता है—

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन परं प्रशान्तम्।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः
श्वलाङ्गुलेनैव तितर्ति सिन्धुम्॥

ते जड़ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पारि चाहत निज करनी॥

श्रीमद्देवीभागवतके अनुसार तो अहङ्कारके उदय होते न होते ही समस्त पुण्य उसी प्रकार विदा हो जाते हैं, जैसे सूर्यके उदय होते-न-होते अन्धकार—

यथा सूर्योदये जाते तमः किंचिन्न तिष्ठति।
अहंकाराङ्कुरस्याग्रे तथा पुण्यं न तिष्ठति॥
वर्षकोटिसहस्रं तु तपः कृत्वातिदारुणम्।
अहङ्काराङ्कुरे जाते व्यर्थं भवति सर्वथा॥
(४।७।२५-२६)

विवेकचूडामणिमें शंकराचार्य कहते हैं कि जबतक इस दुरात्मा अहंकारसे इस आत्माका सम्बन्ध है, तबतक मुक्ति-जैसी विलक्षण वस्तुकी लेशमात्र भी आशा नहीं रखनी चाहिये—

यावत्स्यात्तस्य सम्बन्धोऽहङ्कारेण दुरात्मना।
तावन्न लेशमात्रापि मुक्तिवार्ता विलक्षणा॥
(विवेकचूडामणि ३००)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके शब्दोंमें अहंकार—

संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥

—है। अतः कृपानिधान प्रभु जिसपर कृपा करते हैं, उसके अहङ्कारको तुरंत उखाड़ फेंकते हैं—

तातें करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥

इसलिये उन्होंने यक्षका वेष बनाकर उन देवताओंको शिक्षा दी। उस समय अग्नि, वायु आदि देवतागण एक तुच्छ तृणको भी उड़ाने या जलानेमें समर्थ न हो सके। वे तुरंत समझ गये कि हमलोगोंका सारा गर्व व्यर्थ है। कल्याण वर्ष २२ के तीसरे अङ्कमें 'अखिल गर्वहारी भगवान्' तथा सत्कथा-अङ्कके 'गर्वापहार' शीर्षक-कथाओंमें प्रायः पचीसों भक्तोंके गर्वापहरणकी ऐसी बड़ी ही सुन्दर कथाएँ हैं। योगवासिष्ठके अनुसार जैसे सारे खदिर वृक्ष पर्वतपर ही उगते हैं, वैसे समस्त दीर्घ, विषम एवं महान् क्लेश अहङ्कारसे ही प्रकट होते हैं—

यानि दुःखानि दीर्घाणि विषमाणि महान्ति च।
अहंकारात्प्रसूतानि तान्यगात्खदिरा इव॥
(वैराग्यप्रकरण १५।६)

—पर इससे बचना बहुत कठिन है। यह कब प्रविष्ट हुआ, मुझमें है या नहीं, प्रायः इसका भान ही नहीं होता। निरन्तर भगवान्को स्मरण रखने तथा समस्त प्राणियोंमें भगवद्भाव मानकर उन्हें सदा नमन करते रहनेसे मनुष्य अहङ्कारसे बचा रह सकता है।

मधुर

(१)

एक सर्वात्मसमर्पण कर चुकनेवाला साधक गोपीरूपसे अपने एकमात्र अनन्य प्रियतम भगवान् श्यामसुन्दरसे कहता है—प्रियतम ! मैंने अपने तन-मन-प्राण तुम्हें समर्पण कर दिये हैं । मेरे ममता और अभिमान तुम्हारे समर्पण हो चुके हैं । अब तुम मुझको सर्वथा अपनी वस्तु जानकर जब जैसे मन चाहे, बरतो । अपने मनके अनुसार करते तनिक भी संकोच न करो, दूसरी कोई बात सोचो ही मत । तुमको सब पूरा पता है कि अब मेरा कुछ रह ही नहीं गया है—

सौंप दिये मन प्राण तुम्हींको
सौंप दिये ममता अभिमान ।
जब, जैसे, मन चाहे, बरतो,
अपनी वस्तु सर्वथा जान ॥
मत सकुचाओ मनकी करते,
सोचो नहीं दूसरी बात ।
मेरा कुछ भी रहा न अब तो,
तुमको सब कुछ पूरा ज्ञात ॥

मान-अपमान, दुःख-सुखसे मेरा अब कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह गया । मेरे लिये तो बस, तुम्हीं एक कैवल्य मोक्ष हो और केवल तुम्हीं एक बन्धन हो । मै कहीं, कैसे भी रहूँ, सदा-सर्वदा तुम्हारे ही अंदर बसी रहती हूँ । अब मेरे सभी दूसरे आश्रय छूट गये हैं, मेरे सभी अनित्य सम्बन्ध मिट गये हैं । एक तुम्हारे चरणकमलोंमें ही मेरा समस्त संसार विसर्जित हो गया है । बस, तुम्हीं एक मेरे स्वामी रहे हो, अतः सदा स्वच्छन्द विहार करो ।

मान-अमान, दुःख-सुखसे अब
मेरा रहा न कुछ सम्बन्ध ।
तुम्हीं एक कैवल्य मोक्ष हो,
तुम ही केवल मेरे बन्ध ॥
रहूँ कहीं, कैसे भी, रहती
बसी तुम्हारे अंदर नित्य ।
छूटे सभी अन्य आश्रय अब
मिटे सभी सम्बन्ध अनित्य ॥
एक तुम्हारे चरणकमलमें
हुआ विसर्जित सब संसार ।
रहे एक स्वामी बस, तुम ही,
करो सदा स्वच्छन्द विहार ॥

कैसा अनुपम सर्वात्मसमर्पण है !

(२)

एक दूसरी भाव-तरङ्ग है—एक प्रेमहृदया गोपी सदा सर्वत्र अपने मन-बुद्धि-इन्द्रिय सबमें एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्णके ही मधुरतम स्पर्शका अनुभव करती है और श्रीकृष्णके द्वारा उनकी मधुर उक्ति सुनती है । वह अपना अनुभव कहती है—

'वे मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर नित्य-निरन्तर मेरे हृदयमें रहते हुए दर्शन देते रहते हैं, कभी अदृश्य होते ही नहीं । बस, वे मेरे हृदयदेशमें ही निश्चल डेरा डाले सदा सुखसे सोते रहते हैं । वे मेरे हृदयमें किसी अन्यको घुसने तो देते ही नहीं, उधर झाँकने भी नहीं देते । (हृदयमें उनके अतिरिक्त अन्य किसी विषयकी कल्पनाकी छाया भी नहीं पड़ती ।) वे वहाँ अपना पूर्ण अधिकार जमाये हुए पूर्ण आनन्द लेते हैं । हृदयकी तो बात ही क्या, बाहर भी मेरे चारो ओर वे सदा निवास करते हैं । अतः मेरी इन्द्रियोंकी सीमाके भीतर कभी किसीको नहीं आने देते ।

रहते नित्य हृदयमें मेरे,
कभी न ओझल होते ।
वहाँ अचल डेरा डाले,
बस, रहते सुखसे सोते ॥
नहीं किसीको घुसने देते,
नहीं झाँकने देते ।
पूरा निज अधिकार जमाये
पूरा आनँद लेते ॥
बाहर भी वे रहते मेरे
चारों ओर निरन्तर ।
नहीं किसीको आने देते,
इन्द्रिय-सीमा अंदर ॥

वे मेरे नयनोंके तारे सदा मेरी आँखोंमें छाये रहते हैं। कानोंमें वे प्रियतम सदा मधुर वचन तथा संगीत सुनाकर अमृत उँड़ेलते रहते हैं। नासिकाको अत्यन्त मधुर अनुपम अपने अङ्गकी सुगन्ध सुँघाते रहते हैं। रसनाको सदा-सर्वदा अपना रसमय परम मधुर प्रसादामृत चखाते रहते हैं। अङ्ग-अङ्गको नित्य-निरन्तर अपना मधुर स्पर्श देकर धन्य करते रहते हैं। यों उन्होंने जगत्‌के अन्य समस्त सम्बन्धोंको बिल्कुल हरण कर लिया है।

इस प्रकार मेरी बुद्धिमें, मनमें और समस्त इन्द्रियोंमें वे सदा बसे रहते हैं और मुझपर एकच्छत्र पूर्णाधिकार किये हुए वे दृढ़ स्वरमें यों कहते हैं—

रहते सदा दृगोंमें छाये,
वे नयनोंके तारे।
कानोंमें मधु-वचन-सुधा
संगीत सुनाते प्यारे॥
नासाको सौरी अति अङ्ग-
सुगन्ध सुँघाते अनुपम।
सरस प्रसाद-सुधा रसनाको
मधुर चखाते हरदम॥
अंग-अंगको स्पर्श दानकर
धन्य सदा वे करते।
अन्य सभी जगके सम्बन्धों-
को वे बिल्कुल हरते॥
यों मतिमें, मनमें, इन्द्रियमें
सदा बसे वे रहते।
एकछत्र अधिकार किये वे
दृढ़ स्वरमें यों कहते॥

सुनो! तुमपर, तुम्हारी समस्त वस्तुओंपर, मेरा पूर्ण अधिकार हो चुका है और तुम भी मेरे अतिरिक्त अन्य किसीको कभी 'मेरा' नहीं कहती हो। इस प्रकार केवल एक मैं तुम्हारा हूँ और केवल तुम एक मेरी प्रियतमा हो। हम दोनों एक हैं, सदा एक ही रहेंगे। न कभी मैं पृथक् हो सकता हूँ और न कभी तुम पृथक् हो सकती हो।

तुमपर, वस्तु तुम्हारी सबपर,
पूरा कब्जा मेरा।
मेरे सिवा अन्यको तुम भी
कभी न कहती 'मेरा'॥
यों मैं सिर्फ तुम्हारा,
तुम हो केवल मेरी प्यारी।
एक, सदा ही एक रहेंगे,
कभी न न्यारा न्यारी॥

कितना आदर्श समर्पण और एकात्मभाव है। जगत् रहा ही नहीं। बस, प्रभु और प्रेमी दो ही एक होकर रह गये!

आज मेरा जीवन पूर्णरूपसे भगवान्‌का ही हो गया है

आज मैं अपने अन्तरमें नित्य स्थित भगवान्‌को अपने माध्यमसे स्वच्छन्द सक्रिय होने देनेके लिये प्रस्तुत हो गया हूँ। अपने 'अहं' को पकड़कर मैं अपने विवेक, अपनी बुद्धि, अपनी शक्ति तथा अपने सामर्थ्यको ही सब कुछ माने हुए था और भगवान्‌के मङ्गलमय स्वच्छन्द कार्यमें बाधा दे रहा था; पर आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरी ये सब चेष्टाएँ असत्य, मिथ्या और भगवान्‌की मङ्गलमयी क्रियाओंमें बाधक होनेके कारण मेरे लिये सभी अवस्थाओंमें दुःखदायिनी हैं। अब भगवत्-चेतनाके प्रकाशमें मैं भगवान्‌की शक्तिको ही जीवनमें सक्रिय होने दे रहा हूँ; उसके सहज मार्गमें किसी भी प्रकारका अवरोध उपस्थित न कर, उसके साथ पूर्ण सहमत होकर उसमें सहायक होनेका प्रयत्न कर रहा हूँ। आज मेरे शरीर, मन और वाणीसे जो भी क्रिया हो रही है, सब भगवान्‌की ही हो रही है। मैं वही कर रहा हूँ, जो वे करा रहे हैं। मेरा 'अहं' निष्क्रिय हो गया है। अब मेरा खाना-पीना, सोना-उठना, काम करना—यहाँतक कि श्वास लेना भी भगवान्‌का ही कार्य है।

आज मेरा जीवन पूर्णरूपसे भगवान्‌का ही हो गया है।

मानस-रामायण

(लेखक—डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्०ए०, डी०लिट्०)

(१)

यह सब क्या है ? अद्भुत लीला; निराकार साकार बन गया,
नाम-रूपसे जो अतीत था, उसपर सीमा-बन्ध तन गया।
किसी समय जो हुआ विभूषित, एक अनेकोंकी संज्ञासे,
उस अव्यक्त अनादि व्यवस्था-निधिके हैं ये कवि-दृग प्यासे ॥

(२)

प्यासे कवि-दृग, तृषित भक्त-दृग, अपनी प्यास बुझाते आये,
निज भावानुरूप ही अगुणीके गुण-गण हैं गाते आये।
गाये बिना न विरम सकी है किसी देशके कविकी वाणी,
देखे बिना न तुष्ट हुई है किसी कालकी मति कल्याणी ॥

(३)

सत्य न केवल सत्य रह सका, स्वतः सहज सौंदर्य दिखाया,
जहाँ देखना और दिखाना, वहाँ शिवत्व आप लहराया।
'सत्यं शिवं सुन्दरम्'का यह अखिल विश्व लीला-विलास है,
जिसकी एक एक थिरकनमें दिव्यलोकका भरा रास है ॥

(४)

हम तुम क्या हैं ! उसकी मौजें; नित्य नये नाटक रचते हैं,
फिर भी नाटकको सच्चा कह उसके सुख-दुखमें पचते हैं।
हम अपनेको भूल भटकते, वह हममें हँसता रहता है,
उससे ही तो पता हमारा लगता उसका पर न पता है ॥

(५)

हम सबका जो आदि रहा हो, वह अनादि अब अपने लेखे,
हमने तो ज्योंही दृग खोले, हम तुम-से कितने ही देखे।
जन्मजात अब तो उमंग है, कैसे अमर शान्ति सुख पायें,
कैसे दारुण दैन्य दुराशा दुःख-दाहके द्वन्द्व भगायें ॥

(६)

दौड़ाती हमको उमंग यह, भाँति-भाँतिके पंथ दिखाकर,
उर-अन्तर कह उठता हमसे, 'सोचा ? अन्तिम लक्ष्य कहाँपर'।
हम आराधक, और लक्ष्य वह बनता है आराध्य हमारा,
कृती वही जिसने उसके ही चरणोंपर निज तन-मन वारा ॥

(७)

हमसे बढ़कर प्रबल सत्य है वह आराध्य हमारा प्रियतम,
हम उसके हैं, वह सबका है, परम सुगम फिर भी अति दुर्गम।
उसका ही दर्शनाभिलाषी, विविध छटामें जगका प्राणी,
कोटि-कोटि शब्दावलियोंमें उसे टेरती जगकी वाणी ॥

(८)

वही राम है, वही श्याम है, बुद्ध वही, वह अर्हत् वर है,
गॉड कहें अल्लाह कहें हम, नियम, नियन्ता या नेचर है।
अशरीरी सशरीरी कह लें, बुद्धि लगाती हो जो बन्धन,
सबके भीतर थिरक रहा है उसी देवका मादक स्पन्दन ॥

(९)

किया बुद्धिने जिसका चिन्तन, हृदय उसे सप्राण बताता,
इन्द्रिय-अभिलाषा रहती है, उससे जुड़ ले चाक्षुष नाता।
नर-चरित्रमें इसीलिये तो विभु-चरित्र जब आ मिलता है,
तब मृण्मयमें अनायास चिन्मय-लीला-विलास खिलता है ॥

(१०)

भावुक भक्त मुग्ध होते हैं देख देख वह लीला झाँकी,
जिसने जैसी दृष्टि उठायी, उसने वैसी पायी झाँकी।
नराकार तक बँधे रहे कुछ, कुछने सुराकार भी देखा,
और किन्हींने उस चरित्रमें, निराकारका चरित सरेखा ॥

(११)

हम कल्पना-लोकमें पाते भावलोकहीकी परछाईं,
और कल्पनाकी गाथाएँ वस्तुलोकमें प्रायः आईं।
रामकथा है इसी दृष्टिसे, नश्वर नर-इतिहास न केवल,
सुरगाथा है वह, जिसमें है सुदृढ़ भाव चिन्तनका सम्बल ॥

(१२)

हमें चाहिये वह अविनश्वर राम, हमें कृतकृत्य बना दे,
देश-कालसे जो ऊँचे रह, हमें अमित आनन्द दिला दे।
हमें चाहिये वह मनरंजन, मनका लोहा सोना कर दे,
निज करुणासे, प्रेमामृतसे, उरका कोना-कोना भर दे ॥

(१३)

प्रेय श्रेयके विषम द्वन्द्वमें श्रेय-विजयकी कथा वहाँ हो,
भक्त-भक्ति-भगवन्त-भावमें जीव-उत्क्रमण-प्रथा वहाँ हो।
हमें चाहिये वह रामायण, उरका दानवत्व जो ढाये,
और उसे सच्चे अर्थोंमें दिव्य रामका अयन बनाये ॥

(१४)

तुलसीने वाल्मीकि-प्रथासे हमको ऐसी कथा सुनाई,
जिसमें केवल मनुज नहीं हैं दानव देव सभी सुखदाई।
वानर रीछ गीधतक जिसमें कामरूप हैं सेवक वर हैं,
हरण-मरण-मारण-रण-प्रकरण, सबके सब ही लीलापर हैं ॥

(१५)

भूतलकी रामायणसे बढ़ वह मानसकी रामायण है,
जिसके अनुशीलनसे बनता पावन मानसका कण-कण है।
दोषदृष्टिका, दुष्ट तर्कका: कहीं न कोई वहाँ स्थान है,
लीलामयके उस चरित्रमें सब सार्थक है, सब महान है॥

(१६)

क्या मन्थरा करेगी; वह था विपिन-गमन प्रभु-इच्छा केवल,
क्या निशाचरी युद्ध; हुआ था वह तो प्रभुकी लीलाके बल।
भक्तोंके घर स्वतः पहुँचना, शिष्ट दुष्टको मुक्ति दिलाना,
विश्व-नियन्ता लीलामयका यह सब तो था अपना बाना॥

(१७)

सूर्पणखा थी कामरूपिणी, वह विरूप रह सकी सदा कब,
कौन आड़का दोष, बालि था प्रतिपक्षी को जान रहा जब।
कहाँ अपहरण कहाँ त्याग, जब सीता रघुवरसे अभिन्न हैं,
लीलाके इस चमत्कारमें भक्त न होते खेद-खिन्न हैं॥

(१८)

निर्विकारने जग-मर्यादा पाल, जनोंके भाव उभारे,
राग-द्वेष भी, काम-क्रोध भी, निखर हो उठे प्यारे प्यारे।
राम-सरीखे निर्मल बन हम, रावणत्व निज दूर हटायें,
रामायणका पाठ सफल तब मनमें जब ये भाव समायें॥

(१९)

तर्क छोड़, श्रद्धासे हम सब रामकथाके तत्त्व निहारें,
आर्य-अनार्य कि उत्तर-दक्षिण-द्वन्द्व न हम उसमें स्वीकारें।
सच्ची है वह, जिस सीमातक वह रामत्व उभार सकेगी,
विविध रूपमें कविकी वाणी, गा-गाकर न थकी, न थकेगी॥

(२०)

अन्नकोष लंका नरतनुमें, किष्किन्धा ही प्राण-कोष है,
पंचवटी ही मनःकोष है, चित्रकूट विज्ञान-कोष है।
और अयोध्याकी अवनी है शुभ आनन्दकोष छविवाली,
पिण्ड और ब्रह्माण्ड उभय हैं इनहीं कोषोंसे श्रीशाली॥

(२१)

जीवनकी वर ज्योति अयोध्यासे चल चित्रकूटपर छाई,
पंचवटी- किष्किन्धासे बढ़ लंकाकी संशुद्धि कराई।
वह है तो सब कुछ पावन है, उसके बिना सभी सूना है,
यह सभ्यता-विकास न समझा, तो समझो विवेक ऊना है॥

(२२)

संस्कृतिका यह ही विकास है, लंकासे किष्किन्धा जावे,
और वहाँ व्यापक बन, आगे तपकर मनके छद्म ढहावे।
चित्रकूट तब कहीं मिलेगा, विश्व-व्यवस्था-निर्णयवाला,
तदनन्तर साकेत उपस्थित, सर्वश्रेष्ठ अक्षय रखवाला॥

(२३)

जो जन-जनका आकर्षक है, जन-जनके नयनोंका तारा,
ज्ञान-स्वरूपी प्रेमधाम जो वह सच्चित् ही राम हमारा।
और उसीकी माया सीता, विद्या बन जो लक्ष्मी लायीं,
तथा अविद्या बनकर ही जो रावण-विध्वंसिका कहायीं॥

(२४)

मानव-जीवोंके जीवनमें घटित हुआ करती रामायण,
पिण्ड और ब्रह्माण्ड उभय हैं जिससे सदा प्रभावपरायण।
राजसकी सहायता लेकर, सात्विक, तामसको संहारे,
यह संघर्ष-कथा कहती है, मानव निजको आप उबारे॥

(२५)

सात्त्विकता है अवध, राजसिकता है किष्किन्धा जनशाली,
और तामसिकता लंका है, बहुविध ऐन्द्रिय भोगोंवाली।
केवल तर्कबुद्धिसे जन-मन सरस रहस्य न लेख सकेगा,
यदि श्रद्धा-सम्बल है उसमें तो यह सब कुछ देख सकेगा॥

(२६)

त्रिविध अहं त्रिपुरीके पति हैं, सात्त्विक आवृत पूत ज्ञानसे,
राजस तामस अहं मिटेंगे ज्ञान-सूर्यके किरण बाणसे।
चित्त बुद्धि मन, भरत लखन रिपुसूदन यदि हैं सात्त्विक पुरमें,
तो सुकण्ठ मारुति अंगद हैं, क्रमशः तीनों राजस उरमें॥

(२७)

कुंभकर्ण, चैतन्य विभीषण, मेघनाद, तामसपुरवासी,
चित्त- बुद्धि मनकी प्रतिमासे, रामायणके तत्त्व-विकासी।
ज्ञान ब्रह्म है, ज्ञान राम है, त्रिविध बुद्धियाँ अनुचर होवें,
राजस चित्त रहे आश्रित नृप, काम्य यही, त्रिपुरी दुख खोवें॥

(२८)

त्रिविध बुद्धियोंपर प्रभु-करुणा जब होती है तब सुख मिलता,
और पुष्ट उनके योगोंसे ज्ञान-शान्ति-संगम फिर खिलता।
सीताराम विराजित जब हों जीव-हृदयके सिंहासनपर,
तब त्रिजगत्‌में छा जायेगा, रामराज्य सुखमय त्रितापहर॥

(२९)

दशरथ सात्त्विक अहं दसों इन्द्रियका जो प्रख्यात रथी है,
दशमुख तामस अहं कि जिसकी इन्द्रिय भोगमुखी मति ही है।
राजस अहं बालि बलशाली नर होकर निशिचरका संगी,
विश्व नियम हैं मूर्तिमान् ऋषि, घटना-सर्जक शक्ति तरंगी॥

(३०)

नारद विधि संकेत, प्रेरणा हैं वशिष्ठ, कौशिक विधिके बल,
सबने चाहा तामस ध्वंसन, सात्त्विक-अहं-सफलता केवल।
नरतनुरूपी भारत भूपर देखा जब कि व्यथा-घन छाये,
पुत्र इष्टि रच दी, पुत्रोंके बहु प्रकार संस्कार कराये॥

(३१)

दशरथकी थीं तीन रानियाँ, जिज्ञासा, भावना, क्रिया ही,
कौसल्या, कैकई, सुमित्रा, बुद्धि-चित्त-मनकी माता सी।
शुद्ध ज्ञान कौसल्या सुत बन, सात्त्विक चित्त कैकई जाये,
बौद्धिक भावुक कर्म युगल ही, युगल सुमित्रा सुत बन आये॥

(३२)

ज्ञान और सद्बुद्धि क्रियाने पाकर विधिकी शक्ति निराली,
ताड़क तामसकी सुबाहु भी काटीं, करके मख रखवाली।
उसी ज्ञानका वरण करेगी सीता शाश्वत शान्ति सुहाई,
जो चिन्तन-साधना-रूप-मय जनक-सुनयना-सुता कहाई॥

(३३)

दैव जनक, चिति दृष्टि सुनयना, सीता-स्मृतिके पालन कर्ता,
अध्यात्म-स्मृति तभी सफल है, पूर्ण ज्ञान हो उसका भर्ता।
अंग. रूपसे राजस तामस जीवोंमें स्मृतियाँ जो आतीं,
तारा मन्दोदरी सदृश वे, केवल असफलता हैं पातीं॥

(३४)

शिव विश्वास, शिवा हैं श्रद्धा, हरधनु जग-जड़त्व अलबेला,
ज्ञान तोड़ता जिसे शान्तिहित, सब विपक्ष-बल जिसने झेला।
परशुराम हैं तर्क, भले ही जिनने राजस शक्ति ढहाई,
शुद्ध ज्ञानके सन्मुख आकर, पर थी आप पराजय पाई॥

(३५)

सात्त्विक अहं अहं है आखिर, और भावना इच्छा केवल,
ममतारूप मन्थरा माया, कर देती है उसको चंचल।
जिसके वश हो अहं, ज्ञानको तजता है करता वनवासी,
मिटता है वह; किंतु न होता. शुद्ध चित्त है विषय-विलासी॥

(३६)

गुह-जनमतको बन्धु बनाकर, भाव रहेगा ज्ञान-पुजारी,
और प्रेरणा पा रच देगा, सुखमय जगद् व्यवस्था सारी।
सूर्पणखा विषयाशा जब है, उधर ज्ञानको फँसा न पाती,
तब उकसाकर तमस मोहको, कभी शान्तिका हरण कराती॥

(३७)

हरण भले हो, वरण न होगा, मोह लाख अपना सिर धुन ले,
शान्ति अ-शोक विपिनमें होगी, यह स-शोक वह मनमें गुन ले।
ज्ञान उसीकी तमस बुद्धिको, किसी दिवस निज दास बनाकर,
उसे ध्वस्त सकुटुम्ब करेगा, प्रेमभूमि लंकाको ढाकर॥

(३८)

अन्तर्दैवत ही जटायु था, शान्तिहरण जो सह न सका था,
किंतु मोहकी विषम मारसे, जो बेचारा हार थका था।
आशाका क्षण है अशोक वन, जहाँ शान्तिकी झाँकी देखे,
किंतु बड़ी है भूल, मोह यदि उसको वशवर्तिनी सरेखे॥

(३९)

छल मारीच मोह-संगी बन, मरा किंतु दे गया विरह दुख,
ज्ञान हुआ तब परम साधना भूमि सदृश किष्किन्धा अभिमुख।
राजस अहं बालि था जिसमें और चित्त सुग्रीव बना था,
मन था अंगद बुद्धि पवनसुत, सत्कृतित्व कपिवृन्द घना था॥

(४०)

स्मृति-ताराने बहुत चिताया, राजस अहं न फिर भी चेता,
ध्वस्त हुआ वह, चित्त ज्ञानका मित्र, हुआ साधनका नेता।
सद्विचारवत् हनूमानने शान्ति-सियाका पता लगाया,
पथरोधक थीं त्रिगुण शक्तियाँ, उनको यथायोग्य निपटाया॥

(४१)

यही नहीं, वैराग्यरूप बन, मोह दुर्गको भस्म किया भी,
और तामसी बुद्धि सुधारी, शरणागतिका तत्त्व दिया भी।
पूर्वस्मृतिरूपा मय-तनया विफल हुई पतिको समझाकर,
वह अभिमानी किंतु न माना, माना तामस अहं कहाँपर॥

(४२)

दुर्वासना-निसाचर काँपे, सेतु-साधना-मार्ग बना जब,
दैव-कृपा-अवसर सुवेलसे, निशिचर-ध्वंसी ठाठ ठना तब।
मोह-महीपतिने प्रमादके नागपाश बहुभाँति चलाये,
किंतु विवेक गरुड़-वाहन उस शुद्ध ज्ञानको बाँध न पाये॥

(४३)

तामस मनने सक्रियतापर बाण चलाकर जोर दिखाया,
शुद्ध ज्ञानको, सक्रियताको, जिसने क्षणभर विचल बनाया।
कालनेमि था कपट, चेतना मकरी, जिसने कपि-मति फेरी,
पा संजीवन लक्ष्मणजीकी जागृतिमें फिर लगी न देरी॥

(४४)

रावण अहं इन्द्रजित मन था, कुंभकर्ण था चित्त बुभुक्षित,
और विभीषण मूर्तबुद्धि था, तामस भोगभूमि परिनिष्ठित।
काम-क्रोधके, लोभ-मोहके चतुर्द्वार थे वहाँ सजाये,
दुर्वासना-निसाचरगण थे उसमें अपने स्थान जमाये॥

(४५)

ध्वस्त हो गई ऐसी लंका, बुद्धि-विभीषण बचा निराला,
प्रभु-प्रपन्न बन, सात्त्विकता रख, शोधित अपना राज्य सँभाला।
मर्यादामें राजस तामस राज्य रहे सात्विक-अनुवर्ती,
रामराज्य था सफल सभी विधि, मिटी अहंता शान्ति-विहर्ती॥

(४६)

और देखिये, जब-जब सात्त्विक चित्त ज्ञानसे अलग रहा था,
तब-तब प्रभुने विपिन-वास या शान्ति-विरहका दुःख सहा था।
राजस अहं नष्ट कर, पर जब राजस चित्त सहाय बनाया,
तब ही फिरसे शान्ति प्राप्त की, और जगत्में नव सुख छाया॥

(४७)

भूत भविष्यत् वर्तमानकी युगयुगीन यह राम-कथा है,
ज्ञान-शान्ति-संयमकी गरिमा, काम-क्रोधकी जहाँ व्यथा है।
अपना मृण्मय भी उदात्त बन, चिन्मय सदानन्द हो जाये,
श्रेयपथी बन, धर्मरथी बन, नर सब विधि कृतकार्य कहाये॥

(४८)

हृदय रमा दे राम वही है, जग-विद्रावण रावण जानें,
संघर्षोंकी और विजयकी जीवनमें स्थितियाँ पहिचानें।
तभी समझिये मनुजस्तरमें रामायणकी सफल कथाएँ,
शक्ति शील सौन्दर्य रामके उतर हमारे मनमें आएँ॥

(४९)

प्रेम रामका, त्याग भरतका, लक्ष्मणकी सेवा स्पृहणीया,
सहनशीलता सीताजीकी, मारुतिकी सुभक्ति कमनीया।
रावणसे दुर्धर्ष वीरका वह अभिमान और वह परिणति,
राम-कथा क्या, यदि न रँग गई इनके रसमें मानवकी मति॥

(५०)

काम-क्रोध आकर्षक जनके, स्वतः सिद्ध वे जन्मजात हैं,
सुनते सहज समुत्सुकतासे काम-क्रोधकी मनुज बात हैं।
काम-क्रोधकी जो निकृष्टता, उसका मूर्त रूप है रावण,
काम-क्रोधकी जो उदात्तता, वह ही राम-कथा मन-भावन॥

(५१)

तत्व मानवी रामायणके भी हैं इतने गौरवशाली,
खिल उठती है जिनको पाकर लोक-चरितकी डाली-डाली।
भारतहीमें नहीं, विदेशों तक व्यापी है राम-कहानी,
यह अनुपम सम्पत्ति हमारी, सदा अमर है इसकी बानी॥

(५२)

भाव उदात्त बनानेवाली रोचक अद्भुत कथा यहाँ है,
रसमें डूब गगनमें उड़ना, ऐसी अद्भुत प्रथा यहाँ है।
त्रेतायुगमें उतरी होगी वह रामायण दिव्यलोकसे,
किंतु करेगी यह रामायण मुक्त सदा जनलोक शोकसे॥

(५३)

इसका मर्म सुधीजन समझें, आचरणोंमें इसे उतारें,
तो वे निजको नहीं, अनेकों अन्योंको निश्चय ही तारें।
संभव और असंभव कहकर जो केवल इतिहास चुनेंगे,
राम-कथाका रस वे खोकर निश्चय है सिर आप धुनेंगे॥

(५४)

छिद्रान्वेषी क्या पायेगा कण्टक और व्रणोंको गिनकर,
जो कण्टक या व्रण जँचते हों उनमें भी है मतिका अन्तर।
सहृदय ऐसा कौन, कहे जो 'मतिविभ्रमका कुरस चाहिये',
जड़ें खोदनेमें उनको क्या, जिन्हें फलोंका सुरस चाहिये॥

सुधामयी कृष्ण-पद-रति

विषय-रस नीरस सदा है विष भरा संतापमय।
विषय-रतिसे नित्य बढ़ता है, इसीसे शोक-भय॥
कृष्ण-पद-रति है सुधामयि दिव्य अति माधुर्यमय।
तनिक-से आस्वादसे सब दूर होते शोक-भय॥

साधकके उद्गार

(१)

प्रभो ! आपको तो प्रेमके सुधारस-समुद्र तथा दयाके अमित निधान कहा जाता है, फिर आप इतने रूखे, नीरस तथा निष्ठुर कैसे हो गये ? यह निष्ठुरता, यह तरसानेकी कर्कश क्रिया कबतक चलती रहेगी मेरी आत्माके आत्मा ? मैंने ऐसा कौन-सा पाप किया है ? मुझसे कौन-से भीषण दुष्कर्म हुए हैं ?—जिनके फलस्वरूप आप मुझे ऐसा भीषण दण्ड दे रहे हैं !

× × ×

आप जानते हैं—घट-घटवासी अन्तर्यामी हैं—मेरे मनमें आपके मधुर दर्शन, नित्य आपकी चरण-सन्निधिकी प्राप्ति एवं आपकी मधुर स्मृतिके अतिरिक्त और कोई कामना-वासना नहीं है। फिर भी आपका वज्र-हृदय द्रवित नहीं होता। क्या बात है ? मुझे दीखती तो नहीं, पर कदाचित् कोई अन्य कामना-वासना हृदयमें छिपी हो, तो सर्वसमर्थ ! आप उसका तुरंत मूलोच्छेद कर डालिये। मुझे तो ऐसी किसी दुर्लभ दैवी वस्तुकी भी आवश्यकता नहीं है, जो आपके मिलनमें बाधक हो, फिर संसारके प्राणी-पदार्थों और विषयोंकी कामना-वासनाकी तो बात ही क्या है।

× × ×

एक बात है मेरे नटखट प्राणप्रियतम ! आपको शायद इसीमें मजा आता हो। यदि ऐसी बात हो, इसीमें आपको सुख मिलता हो तो मेरे प्रभो ! ऐसा ही करते रहिये। कभी मत मिलिये, कभी दर्शन मत दीजिये। पर मेरी एक प्रार्थना अवश्य स्वीकार करनी होगी—मेरे मनको निरन्तर अपने चरणप्रान्तमें बसाये रखिये। शरीर कहीं रहे, किसी भी योनिका रहे, पर मन सदा आपके पास रहे। आपके मनके साथ मिला रहे। क्षणभरके लिये भी कभी दूर न हो, विलग ही न हो।

× × ×

मुझे पता है—मेरा आपके यथार्थ प्रेमसे तनिक भी परिचय नहीं है। अभी तो मेरे सूखे और कठोर हृदयमें प्रेमका अङ्कुर भी नहीं उत्पन्न हुआ है। जब अङ्कुर ही नहीं, तब उसके बढ़नेकी तो कल्पना ही कैसे की जाय ? आप ही कृपया बता दें, वह प्रेम-बीज कहाँ मिलेगा, जिससे मैं उसे लाकर हृदय-भूमिमें बो दूँ। पर उसके बाद भी क्या पता कि मेरे सूखे हृदयमें उसका अङ्कुर उत्पन्न होगा या नहीं। हृदय अत्यन्त नीरस है। यह सब सोचकर मेरे दयामय स्वामी ! कभी-कभी बड़ी निराशा हो जाती है; परंतु दूसरे ही क्षण आपके सहज सौहार्दकी, अहैतुक प्रेम-स्वरूपकी स्मृति होते ही मेरी आशा-लता सहसा लहलहा उठती है। मुझे विश्वास हो जाता है कि प्रभुने मुझे अपना लिया है, सदाके लिये अपना बना लिया है। मेरे हृदयकी नीरसताका नाश करके प्रेमके अनन्तानन्त सिन्धु मेरे प्रभु उसमें भी एक प्रेम-समुद्रका समुद्भव कर देंगे—अवश्य कर देंगे और फिर वह अथाह रस-सुधा-निधि बनकर सदाके लिये लहराने लगेगा। और मेरे प्राण-प्राण प्रभु निरन्तर उसमें नित्य नव क्रीडा करते रहेंगे।

(२)

प्रभुका चिन्तन ही मेरे जीवनका परम धन और जीवनाधार बन गया है। मन कभी भरता ही नहीं। एक छोटे-से मनसे चिन्तन हो भी कैसे—कोटि-कोटि ऐसे मन होते तब चिन्तनका कुछ आनन्द आता ! प्रभुकी अनन्त गुणावली, उनकी मधुर-मधुर स्मृति मनमें समाती ही नहीं। सदा अतृप्ति ही बनी रहती है। पता

नहीं—मेरे जीवनकी यह प्यास कभी मिटेगी या नहीं। लोग कहते हैं प्रभुकी सन्निधिमें नित्य तृप्ति हो जाती है। पता नहीं, वह कैसी सन्निधि होती होगी। मुझे तो कभी तृप्तिका अनुभव होता ही नहीं। प्यास बढ़ती ही जाती है।

× × ×

मनकी बात कैसे बताऊँ—मनकी भाषाके लिये कोई शब्द ही नहीं मिलता। उसे तो वही समझते हैं, जो निरन्तर मनमें बसे रहकर उसकी प्रत्येक परिस्थिति—क्षुद्र-से-क्षुद्र कल्पनाको भी स्वयं देखते हैं।

× × ×

प्रभु ही मेरे जन्म-जन्मान्तरके एकमात्र हितू हैं, वे ही मेरे परम सुहृद्, परम आत्मीय, अभिन्न-स्वरूप हैं। इसीसे प्रभुके सामने मेरा जीवन खुला है, कुछ भी उनसे छिपा नहीं है। उनसे न जरा भी भय है, न संकोच और न लज्जा ही है। अपने-आपसे भय-संकोच-लज्जा होते ही नहीं।

× × ×

प्रभु नित्य-निरन्तर मेरे मनपर एकाधिकार किये उसमें विराजित रहते हैं। दूसरे किसीको वे कभी अपने अधिकृत स्थानमें नहीं आने देते। इसीसे मुझे कभी दूसरा कुछ भी न सुहाता है, न अच्छा लगता है। कहीं वृत्ति जाती ही नहीं; क्योंकि सारी वृत्तियोंमें वे ही समाये रहते हैं। यदि कभी कोई वृत्ति कहीं जाना चाहती है तो आगे-से-आगे मेरे प्रभु वहाँ विराजित रहते हैं। वृत्ति जाकर उन्हींमें समा जाती है।

× × ×

मन एक क्षण भी प्रभुको छोड़ना नहीं चाहता, कभी आधे क्षणको यदि प्रभुकी मधुर स्मृति छूट जाती है तो घोर दुःख अथवा परम व्याकुलता होने लगती है। असीम अनन्त संकट आ जाता है, यह होते ही उसी क्षण प्रभुकी स्मृतिसे मन भर जाता है। इतना अपार आनन्द होता है, मानो अनन्त प्राणोंसे अधिक प्रिय निधि मिल गयी हो। एकान्तमें बैठनेपर तो उठनेको मन चाहता ही नहीं।

× × ×

मेरे बुद्धि, मन, तन, प्राण, इन्द्रिय, रोम-रोम प्रभुके परमानन्दमय संस्पर्श-समुद्रमें सदा डूबे रहते हैं। कभी बाहर निकलनेकी कल्पना ही नहीं होती। पता नहीं, प्रभुको क्या आनन्द मिलता है—इन सबको अपने अंदर डुबाये रखकर निरन्तर इनको अपना दिव्य संस्पर्श प्रदान करनेमें!

× × ×

मुझे ऐसा लगता है—प्रभु मेरे मनकी बात न करके अपने ही मनकी करते हैं। इसीसे तो मेरे इच्छा करनेपर भी वे मेरे मन, बुद्धि, देहेन्द्रिय, प्राण-जीवन या रोम-रोमको छोड़कर कभी अलग नहीं होते। न उनको कभी अलग होने देते हैं। मालूम होता है, वे मुझमें घुल-मिलकर एक हो गये हैं। मेरा कोई अलग अस्तित्व ही नहीं रह गया है। वे ही आत्मा हैं, वे ही प्राण हैं, वे ही जीवन हैं और सब कुछ वे ही हैं।

मेरे प्रत्येक श्वासमें भगवान्‌का प्यार भर गया है

अब मैं बिना हिचक कहता हूँ कि मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान्‌के ही साम्राज्यमें सदा-सर्वदा रहता हूँ, उन्हींकी छत्रछायामें निवास करता हूँ। भगवान्‌का सहज स्नेह नित्य मुझे प्राप्त है। मैं सदा उनके प्यारसे सराबोर हूँ; क्योंकि भगवान्‌का प्रेम एक ऐसी करुणामयी जीवन्त सुधा-धारा है, जो सदा सर्वत्र प्रवाहित है। मैं अनुभव करता हूँ कि वह धारा मुझमें और मेरे द्वारा सर्वत्र प्रवाहित है तथा वही समस्त जगत्‌में निरन्तर बह रही है। भगवान्‌का यह सहज सौहार्द, अनवरत प्रवाहित प्रेमधारा ही हमारा बल है, हमारी मुक्ति है। मैं प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ कि भगवान्‌का प्यार भरी वस्तु है और भगवान्‌के इस प्यारको—इस महान् करुणामयी शक्तिको ग्रहण करनेके लिये मेरे जीवनका द्वार सदा उन्मुक्त है। मेरे प्रत्येक श्वासमें भगवान्‌का प्यार भर गया है।

मेरा 'अहं' बोलता है

[मद, कारण और निवारण]

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

('कल्याण' नवम्बर सन् १९५८ के पृष्ठ १३३१ से आगे)

(२)

मैं पैसेवाला हूँ। मैं रुपयेवाला हूँ।
मैं टमटमवाला हूँ। मैं मोटरवाला हूँ।
मैं गहनेवाला हूँ। मैं हीरेवाला हूँ।
मैं सोनेवाला हूँ। मैं चाँदीवाला हूँ।
मैं नौकरवाला हूँ। मैं बँगलेवाला हूँ।
मैं गायवाला हूँ। मैं भैंसवाला हूँ।
मैं रेडियोवाला हूँ। मैं दूकानवाला हूँ।
मैं शानवाला हूँ। मैं प्रतिष्ठावाला हूँ।
मैं बीबीवाला हूँ। मैं बच्चेवाला हूँ।
मैं ओहदेवाला हूँ। मैं रुतबेवाला हूँ।
मैं लिखनेवाला हूँ। मैं पढ़नेवाला हूँ।
मैं हँसनेवाला हूँ। मैं रोनेवाला हूँ।
मैं विद्यावाला हूँ। मैं बुद्धिवाला हूँ।
मैं शक्तिवाला हूँ। मैं यौवनवाला हूँ।
मैं कुलवाला हूँ। मैं नामवाला हूँ।
मैं कामवाला हूँ। मैं गुणवाला हूँ।
मैं चरित्रवाला हूँ। मैं ईमानवाला हूँ।
मैं करुणावाला हूँ। मैं दयावाला हूँ।
मैं त्यागवाला हूँ। मैं सेवावाला हूँ।
मैं तपस्यावाला हूँ। मैं साधनवाला हूँ।
मैं सिद्धिवाला हूँ। मैं ज्ञानवाला हूँ।
....

यों मेरे गुणोंकी फेहरिस्त एक-दो पन्नोंमें समानेवाली नहीं है। मेरी तारीफ विष्णुसहस्रनामसे कम नहीं होगी।

अहंकारके ऐसे एक नहीं, अनेक प्रकार हैं।

मद किसी एक वस्तुका नहीं, असंख्य वस्तुओंका होता है।

× × ×

किसीको धनका मद होता है।

वह जमीनपर सीधे पैर नहीं रखता। किसीको अपने बराबर नहीं मानता। छोटोंकी तो बात ही क्या, बड़ों और बुजुर्गोंका भी सम्मान नहीं करता। जिससे भी बोलता है, ऐंठकर। बड़ी बुरी होती है पैसेकी गरमी!

जमीन और जायदाद, कार और बँगला, रेडियो और टेलीफोन, सोना और चाँदी, हीरा और मोती, ऐशोइशरतके—भोग-विलासके असंख्य साधन—सहज ही मनुष्यको मदान्ध बना डालते हैं। मनुष्य इनके मदमें पड़कर मनुष्यको मनुष्य नहीं मानता। जो न करना चाहिये, सो कर बैठता है। जो न बोलना चाहिये, सो बोल बैठता है।

धन और वैभवके मदमें पड़कर विश्वमें जितने अनर्थ होते हैं, उतने और किसी कारणसे नहीं होते। इनके फेरमें पड़कर मनुष्य अन्याय और अत्याचार, दमन और उत्पीड़न, शोषण और दोहन करनेमें जरा भी नहीं शर्माता।

× × ×

किसीको अपने कुलका, जातिका मद होता है।

वह अपनी कुलीनतामें ही ऐंठा फिरता है।

वह मानता है कि मैं ही सबसे ऊँचा, मैं ही सबसे कुलीन, मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ। दुनियामें और जितने लोग हैं, वे सब मुझसे नीचे हैं, नगण्य हैं, हेय हैं, निकृष्ट हैं।

ऐसा व्यक्ति दूसरोंका तिरस्कार और अपमान करनेमें सुखका बोध करता है। दूसरोंकी निन्दा करनेमें उसे मजा आता है। दूसरोंसे अपने पैर पुजवाकर वह प्रसन्न होता है। उसका रोम-रोम पुकारता है—'धन्य मैं, धन्य मेरा कुल, धन्य मेरी जाति!'

यह 'कुलीन' पुरुष अपनी शादीमें, अपने भाई-भतीजोंकी शादीमें बेटीवालोंको नाकों चने चबवाता है। पर अपने घर यदि बेटी पैदा हो जाती है तो कोशिश यही करता है कि वह प्रसूतागारसे ही जीवित न निकल सके! कहाँ ले जायगा उसे शादीके लिये!

× × ×

कुलीनताके मदमें चूर व्यक्ति या तो किसीके घर खायगा नहीं, खायगा भी तो हजार नखरे करके। दूसरोंसे मिलनेमें वह परहेज करेगा। दूसरोंको छूनेमें परहेज करेगा। किसीकी

भी चर्चा करेगा तो अपनी कुलीनताका डंका पीटनेमें कमी न चूकेगा।

दूसरे लोग भी मनुष्य हैं, वे भी अमृतपुत्र हैं, वे भी भगवान्‌को प्यारे हैं, उन्होंने भी मानव-शरीर पाया है, वे भी आदर, सम्मान और श्रद्धाके पात्र हो सकते हैं—इस बातको कुलीनताका अभिमानी व्यक्ति कभी स्वीकार नहीं करता।

वह सबको अपनेसे नीचा मानता है, सबको अपनेसे गिरा हुआ मानता है।

इस श्रेणीके कारनामोंका ही नतीजा है—मनुष्यसे मनुष्यकी घृणा।

× × ×

किसीको अपने शरीरका मद होता है।

चलता है तो मूँछोंपर ताव देता हुआ।

जब होगा अपनी भुजाओंको निरखता रहेगा।

स्वस्थ शरीर एक नियामत है, पर उसका मद होना बुरी बात है। जिस व्यक्तिको शरीरका मद होता है, वह भले ही पहलवान न हो, पर वह अपनेको शेर मानता है, दूसरोंको भुनगा। इस मदमें पड़कर जब-तब वह अभद्रतापर भी उतर आता है और दूसरोंके प्रति ऐसा अनुचित और अभद्र व्यवहार कर बैठता है कि तटस्थ होकर सोचे तो वह स्वयं ही लज्जासे गड़ जाय।

× × ×

बल, शक्ति और सौन्दर्यका मद तो विश्वविख्यात है।

'किती न अवगुन जग करत नैवैं चढ़ती बार।'

यौवनका मद, जवानीका मद, रूपका मद—कितने अनर्थ नहीं करता !

सब जानते हैं उसकी असलियतको।

× × ×

दो पैड देखे हैं मैंने।

एक पैड था एक डाक्टरका, दूसरा था एक कवि महोदयका।

डाक्टर साहबके पैडमें पैडके चौथाई अंशमें उनकी डिग्रियाँ भरी पड़ी थीं और लिखा था कि किस संस्थाके वे अध्यक्ष हैं, किसके मन्त्री, किसके सदस्य। इतना ही नहीं, यह भी छपा था कि कहाँ-कहाँ किस-किस संस्थामें वे क्या-क्या रह चुके हैं।

'महाकाव्यकार'ने तो डयोढ़े फुलस्केप साइजके पैडमें उन सब दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्रोंकी पूरी सूची ही छपवा डाली थी, जिनमें एक बार भी उनकी तुकबंदी छप गयी है। उन्होंने यह भी छपवा डाला है कि कौन-कौन कवि उनके शुभचिन्तक हैं और किस-किसने उन्हें आशीर्वाद भेजा है।

नमक सुलेमानी और सुरमा बादशाहका बेचनेवाले लोग जिस तरह उसका चोगा पहनकर अपना विज्ञापन करते हैं, ऐसे लोग भी अपनी डिग्रियोंका, अपनी विशेषताओंका, अपनी प्रतिभाओंका, अपनी विद्याका, अपनी बुद्धिका, अपनी कारगुजारियोंका इसी तरह विज्ञापन करते हैं और खुश होते रहते हैं कि वाह, मैंने कैसा शेर मारा है! मेरे बराबर दूसरा कौन है?

विद्या, बुद्धि, प्रतिभा, योग्यताका मद!

× × ×

कोई सीनेपर तमगा लटकाये घूमता है, कोई पुरस्कारमें मिले शाल-दुशालोंकी प्रदर्शनी करता है कि मैं कितना लायक हूँ।

अभी-अभी एक 'पद्मश्री'की बैठकमें जानेका मौका मिला। देखा बैठकके ऊपर पद्मश्रीका सर्टीफिकेट लटक रहा है शीशेमें मढ़ा हुआ और उसीके बगलमें है श्रीमान् पद्मश्रीकी तस्वीर—राष्ट्रपतिके साथ!

और यहीं मुझे याद पड़ते हैं 'अकबर इलाहाबादी'। जो बेचारे परेशान होकर कह रहे हैं—

'लोग कहते हैं कि हैं आप निहायत काबिल!
मैं इसी सोचमें रहता हूँ कि मैं किस काबिल हूँ!!'

× × ×

महासती सावित्री

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

[गताङ्क पृष्ठ ११२५ से आगे]

यमराज इस बार बड़ी तेज चालसे चले; क्योंकि वे चाहते थे कि सावित्रीको मार्गमें किसी प्रकार कहीं भी छोड़ जायँ। और मनमें भी भारी चिन्ता थी कि आज न जाने क्या उपद्रव होगा। यमराज जितने कौशलसे तेज चल सकते थे, उतने कौशलसे चलने लगे। अन्तमें यमपुरीके निकट पहुँचकर उन्होंने फिर एक बार इस विचारसे पीछे देखा कि कहीं सावित्री अब भी मेरे पीछे-पीछे तो नहीं आ रही है! परंतु वास्तवमें देखा बड़ा ही अद्भुत दृश्य! वहाँ भी सावित्री वैसे ही धीर, गम्भीर और दृढ़-प्रतिज्ञ भावसे उनके पीछे थी।

'अब क्या करें! यह स्थान अन्तिम स्थान है। अब विधाताका लेख नहीं चल सकेगा, सत्यवान्‌को हाथसे छोड़ना ही पड़ेगा। अन्यथा, जीव सशरीर मृतपुरीमें प्रवेश करके सनातन प्रथाको पलट देगा।' अब यमराज किस ओरकी रक्षा करें। किस बातको रक्खें, किसे छोड़ें! यह बात यमराज ठीक-ठीक न सोच सके। भ्रममें पड़कर उच्च स्वरसे बोले—'सावित्री! सावित्री!! यह क्या कर रही हो? इधर कहाँ आ रही हो? देखो तो तुम किस भयंकर स्थानमें आ पहुँची हो! अब आगे मत बढ़ो। यह स्थान ही आखिरी मुकाम है। यही जीवोंकी अन्तिम सीमा है। इस सीमाका उल्लङ्घन मत करो। विधाताकी मर्यादाकी रक्षा करके इस नदीको पार मत करो। धर्मके लिये हे धर्ममयी! आत्म-विसर्जन करो!'

सावित्रीने पहलेकी तरह धीरभावसे उत्तर दिया—'धर्मराज! धर्मके हेतु मैं आत्मविसर्जन कर सकती हूँ; किंतु धर्मके लिये धर्मको नहीं छोड़ सकती। प्रभो! सती-धर्मके ऊपर कोई धर्म नहीं है और न कोई उससे ऊपर रक्षणीय वस्तु है। पर मैं देखती हूँ कि वह सतीधर्म इस समय आपके विधानसे गौरवहीन हो रहा है; क्योंकि ,आपने ही मुझे वर देकर स्वामीके औरसजात सौ पुत्रोंकी अधिकारिणी बनाया है और आप ही मेरे उन स्वामीको ले जा रहे हैं तो स्वामीको ले जानेपर आपका यह वर कैसे सफल होगा? और सफल न होनेपर मेरे गौरवकी रक्षा कैसे होगी!'

ओहो, बड़े आश्चर्यकी बात! सुनकर यमराज भयभीत हो गये। ऐसा क्यों हुआ! वे तो धर्मराज हैं न? फिर कहाँ उनके प्रज्ञाचक्षु! कहाँ दिव्यज्ञान! कहाँ अपूर्व दैवी दृष्टि! वे तो इन सब गुणोंको भूलकर एक घड़ीके लिये अपनेको मोहजालमें फँसा देखने लगे। उस विशाल और मायाबद्ध वैतरणी नदीके तटपर आकर भी यमराज दूसरा मार्ग ढूँढ़ने लगे, पर ढूँढ़नेपर भी कोई मार्ग न पा सके।

एक बार फिर उन्होंने विस्मयभरे नेत्रोंसे सावित्रीकी ओर देखा। क्या ही महिमामयी बालिका है! क्या ही तेजोमयी मूर्ति है! मानव क्या इतने तेजस्वी होते हैं! यह तो चाँदनीके समान निर्मल, जलधिके समान गम्भीर ज्ञानसम्पन्न, हिमाचलके समान स्थिर, शरद्‌के आकाशके समान विमल एव कलंकशून्य है। अपनी ज्योतिमें यह आप ही प्रकाशित है, अपने गौरवमें आप ही नत है, धर्म-बलसे विश्वविजयिनी है! यह नारीरूपिणी कौन है? धर्मराजको आज यह कौन धर्मकी शिक्षा दे रहा है?

धर्मराज कह उठे—'पुत्री! यह क्या कह रही हो? यह तो नियतिकी गति है, इसे भला कौन रोक सकता है!'

सावित्रीने उसी प्रकार धीर और गम्भीरभावसे उत्तर दिया—'क्यों नहीं रोक सकता है धर्मराज? कर्म-फल ही भाग्यकी सृष्टि करता और कर्मफल ही भाग्यका विनाश करता है। इसी कर्म-फलसे पाया हुआ भाग्य नियति है। मनुष्य अपने-अपने कर्मसे ही यह नियति बना लेते हैं और फिर अपने कर्मसे ही उसे बिगाड़ डालते हैं। यही जगत्‌का नियम है, यही सृष्टिका रहस्य है। धर्मावतार! मोहमें आकर आज आप इस सृष्टि-रहस्यको न भूलें। देखिये, कर्मफलसे ही मेरे माता-पिता अबतक पुत्रहीन थे और मेरे ससुर अंधे तथा राज्यच्युत थे; किंतु अब इसी कर्मफलके प्रभावसे उनके भाग्यका परिवर्तन हो गया है; क्योंकि आज आपने ही वर देकर उन्हें उस भाग्यसे मुक्त कर दिया है। तो भी देखिये, आपने आज उन्हें अपनी इच्छासे ही मुक्त नहीं किया है, बल्कि उनके कर्मफलने ही आपको बाध्य करके मुक्ति दिलायी है। जगत् इसी प्रकार चलता रहता है। अतएव

हे धर्मराज ! मेरा भाग्य भी आज इसी भाँति परिवर्तित होगा । कर्मफलसे ही सत्यवान् आज आपके हाथमें है—कर्मफलसे ही आज मैं पतिधनसे वञ्चित हूँ; परंतु इसी कर्मफलसे फिर मैं इस धनकी अधिकारिणी बनूँगी । मेरी कठोर साधना ही आपको मुझपर फिर प्रसन्न करेगी; मुझे फिर पति मिलेंगे, मैं पुत्रवती होऊँगी । समझे आप ? अब धर्मराज प्रभो ! कहिये, इस अभागिनीका कर्मफल-विनाश और कितना शेष है ? यदि समाप्त हो गया हो तो दया करके दासीको अपना स्वामी लौटा दीजिये । समाप्त न हुआ हो तो और आगे बढ़िये । मैं आपकी अपूर्व पुरीमें पहुँचकर आपके सुन्दर आसनके नीचे बैठी हुई और भी अनन्तकालतक साधन करूँगी, किंतु पतिविहीना होकर इस जीवनमें घर नहीं लौटूँगी ।'

इतना कहकर सावित्री चुप हो गयी । यम बोले—'बेटी ! इसकी तुमको आवश्यकता नहीं है । मैं अबतक किसी अज्ञानके विषम अन्धकारसे अपनेको भूलकर एक मोह-जालमें फँसा हुआ था । जानता नहीं था कि कोई तुम-सरीखी कृपामयी सती आज मुझे सदाके लिये इस मोहके स्वप्नसे जगा देगी । पुत्री ! यह लो तुम्हारे स्वामीका जीवन, और साथ ही मेरे मङ्गल आशीर्वाद ! मेरे वरसे—मेरे आशीर्वादसे पूरे चार सौ वर्षतक इस जरा-रोगपीड़ित मर्त्यधाममें तुम सुखका राज्य स्थापन करके फिर अपूर्व शान्ति प्राप्त करना । तुम्हारे आदर्श, तुम्हारी पवित्रता और तुम्हारी शिक्षासे जगत्के सब लोग देवभावसे अनुप्राणित हों ।'

यह कहकर यमराजने सत्यवान्का वह पाशबद्ध अङ्गुष्ठ-परिमित सूक्ष्म शरीर बाहर निकालकर सावित्रीको दे दिया । उस समय सावित्रीने सुन्दर प्रतिभा-मण्डित विश्वविजयिनी शक्ति-मूर्ति परित्याग कर एक मुहूर्तके लिये लज्जा-विनय-युक्त कमनीय रमणीमूर्ति धारण कर ली । मेघ-मुक्त आकाशके समान एक अपूर्व प्रफुल्लताका भाव उसके उद्वेग-मलिन नेत्रों एवं कपोलोंपर छा गया । सावित्री घुटने टेककर धर्मराज-के सामने बैठ गयी और दोनों हाथ पसारकर उसने मङ्गल आशीर्वाद और उस दुर्लभ उत्तम पुरुषको आदरके साथ ले लिया । उसी समय जगत्की कोटि-कोटि युगोंकी प्रचलित प्रथाका परिवर्तन हो गया ! जो अबतक किसीने नहीं किया था और न कोई आगे कर सकेगा, उसी सतीत्वकी महिमा-का अद्भुत चमत्कार जगत्में एक ही बार संघटित हुआ ! विश्वके मानवोंने भी समझा और देवता भी समझ गये कि सतीत्वसे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है, सतीके ऊपर और कोई शक्तिशालिनी नहीं है, सतीत्वके समान दूसरी कोई पवित्र वस्तु नहीं है ! इसी सतीत्वके तेजसे एक बार दक्षके घरमें भी प्रलयकी सृष्टि हुई थी और एक बार फिर यह विश्व-प्रथाका परिवर्तन हो गया । धर्मराजको भी एक नूतन शिक्षा मिली ! जगत्की सारी शक्तियोंके ऊपर उस समय सतीधर्मका एक परमोज्ज्वल आसन स्थापित हो गया ।

सावित्रीको सत्यवान्का जीवन देकर यमराज चले गये । सावित्री पुनः सत्यवान्के पास लौट आयी । इस लोकके साथ परलोकका क्या सम्बन्ध है, यह बात सावित्री नहीं जानती थी । वह तो केवल यमराजके पीछे-पीछे बहुत दूरतक चली गयी थी । ज्ञात होता है, पृथ्वीकी सीमाका भी उल्लङ्घन कर गयी थी; किंतु थोड़ी देर बाद अनायास ही वह फिर अपने स्थानपर लौट भी आयी । पर इसके पहलेकी स्थितिका थोड़ा-थोड़ा सामना उसे करना पड़ा । जानेके समय तो वह यमराजके पीछे-पीछे चली गयी थी और पीछे-पीछे चलनेमें दूर देशका मार्ग भी पहचान लिया था; परंतु लौटनेके समय सावित्री यह ठीक-ठीक मालूम न कर सकी कि किस प्रकार लौटूँ ? अतः धर्मराजके चले जानेपर सावित्री एक घड़ीतक सब ज्ञानोंको भूली रही । कहाँ है, क्या करती है, कहाँ जायगी, यह कुछ भी उसे मालूम न हो सका । सुननेकी शक्ति, देखनेकी शक्ति, स्पर्श-शक्ति सभी मानो वह खो चुकी; किंतु एक घड़ीके बाद ही फिर उसे चेतना प्राप्त हुई । सावित्री पुनः अपनेको जान सकी—बाहरी प्रकृतिका अनुभव कर सकी । देख सकी, सुन सकी और स्पर्शका अनुभव कर सकी । इस प्रकार नवजीवन पाकर सावित्रीने देखा कि वह उसी घोर वनमें स्वामीकी देहको गोदमें लिये वैसे ही भावसे बैठी है । उस समय खुले हुए गगन-मण्डलके नक्षत्रोंकी माला विलीन होती जाती थी, सावित्री देखते-देखते कुछ कम्पित हो उठी ।

सावित्री जब सावधान हुई, तब उसने सत्यवान्की ओर देखा । उस समय सत्यवान्के निश्वास-प्रश्वास पुनः आने लग गये थे । अङ्ग-प्रत्यङ्ग कुछ-कुछ कम्पित हो रहे थे । रक्त-गति पुनः आरम्भ हो गयी थी । सावित्रीको मालूम हुआ कि मानो सत्यवान् अब भी सो रहे हैं, फिर सावित्रीने आनन्दके वेगमें कष्टको मिलाकर आवेगपूर्ण कण्ठसे पुकारा—'प्रियतम ! प्रियतम !!'

सत्यवान् थोड़ी देर आलस्य मोड़नेके बाद आँखें मलते हुए देखने लगा। देखकर एकाएक उठने लगा; पर उठ न सका—गिर पड़ा। फिर चेष्टा की। इस बार वह जमीनपर हाथ टेककर आश्चर्यभावसे सावित्रीकी ओर देखने लगा, मानो कोई गहरा स्वप्न देखकर उठा हो और अब भी स्वप्न-सा देख रहा हो। ऐसी स्थितिमें वह जाग्रत् होनेका हाल भी ठीक-ठीक नहीं जान सका।

बहुत देरतक इसी दशामें रहनेके बाद सत्यवान्ने अचरजभरे भावसे सावित्रीकी ओर निहारते हुए कहा—'सावित्री, हम यहाँ क्यों?' सावित्री बोली—'प्रियतम! आप और मैं लकड़ी काटनेको यहाँ आये थे, तबसे यहीं हैं। लकड़ी काटते-काटते आपके सिरमें दर्द हुआ और आप मूर्छित होकर गिर पड़े। बादको धीरे-धीरे रात बहुत हो गयी। तभीसे मैं आपको लिये हुए यहाँ बैठी हूँ। अब कहिये, आपको कैसा लग रहा है?'

सत्यवान्ने कहा—'हूँ, ज्ञात होता है, मुझे बड़ी गहरी नींद आयी थी। ऐसी गहरी नींद मुझे कभी नहीं आयी। अब भी मेरा शरीर वशमें नहीं है। मैंने नींदमें एक विकट स्वप्न देखा था। श्यामवर्ण एक दीर्घ पुरुष, जिनका शरीर अपूर्व दीप्तिमान् था, जो लाल वस्त्र पहने थे और मस्तकपर मुकुट धारण किये हुए थे, मुझे मानो खींचते-खींचते न जाने कहाँ ले जा रहे थे और तुम मानो उनके पीछे-पीछे हाथ जोड़े हुए जा रही थीं! बताओ सावित्री! यह क्या अद्भुत स्वप्न था?'

सावित्री बोली—'प्रियतम! जो हो गया है, उसका विचार करनेसे क्या प्रयोजन है। जो करना है, अब उसीकी बात सोचनी चाहिये। देखिये, रात बहुत चली गयी है, चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखायी दे रहा है। मार्गका चिह्न भी नहीं दीख पड़ता। माता-पिता हमारी चिन्तासे व्याकुल होंगे। कहिये, अब क्या करें?'

सत्यवान्ने कहा—'सच बात है। मैं भी यही सोच रहा हूँ। सावित्री! चलो, हम बहुत शीघ्र आश्रमकी ओर चलें। माता-पिताके लिये मेरा मन चञ्चल हो रहा है।'

सत्यवान्ने उठनेकी चेष्टा की, पर उससे भली-भाँति खड़ा नहीं हुआ जा सका, सावित्रीके सहारेसे वह खड़ा हुआ। उसके शरीरकी ऐसी हालत देखकर सावित्रीने कहा—'प्रियतम! आपका शरीर बड़ा दुर्बल है, मुझे आशङ्का होती है कि आप

मार्गमें नहीं चल सकेंगे, आपको कष्ट होगा। यदि आज्ञा हो तो आज यहीं ठहर जायँ। कल प्रातःकाल होते ही मैं आपको ले चलूँगी।'

सत्यवान् बोला—'नहीं, सावित्री! नहीं! माता-पिता मुझे एक घड़ी भी नहीं देखते तो घबरा जाते हैं। एक दिन मुझे असमयमें आश्रमके बाहर गया जानकर व्याकुल हो उठे थे। संध्याके बाद मुझे वे प्रायः बाहर नहीं निकलने देते। आज इतनी राततक बाहर रहा हूँ; न जाने वे क्या चिन्ता कर रहे होंगे, कितना कष्ट पा रहे होंगे। सावित्री! चलो; जितनी जल्दी हो सके, आश्रमको चलें।'

सावित्रीने सत्यवान्को समझानेकी चेष्टा करते हुए कहा—'प्राणनाथ! मैंने कभी जान-बूझकर अधर्म नहीं किया, आपके सुखको छोड़कर दूसरेका ख्यालतक नहीं किया; फिर आप इतने चिन्तित क्यों हो रहे हैं? क्या मेरे दान, धर्म और होम यज्ञादिके फलसे यह रात मेरे सास-ससुरके लिये शुभ न होगी? अवश्य होगी? अनुमति दें कि हम आज यहीं निवास करें। कल आपका शरीर स्वस्थ होनेपर मैं आपको ले चलूँगी और वहाँ सब बातें कहूँगी।'

किंतु सावित्रीकी बातोंसे मातृ-पितृ-भक्त सत्यवान्का उद्वेग दूर न हुआ। उसने बहुत ही व्याकुल होकर कहा—'सावित्री! मेरे माता-पिता मुझे देखे बिना नहीं बचेंगे और यदि ऐसा हुआ तो निश्चय जानो, मैं भी जीवित न रह सकूँगा। अतः मेरा भला चाहती हो तो अब घड़ीभर भी विलम्ब न करो—शीघ्र ही आश्रमको चलो। मैं अब घड़ीभर भी यहाँ नहीं रह सकता।'

सावित्री और कुछ न बोली। उसे यह बात सोचकर बड़ा कष्ट हुआ कि सत्यवान् मुझे ही अपने दुःखका कारण समझ रहे हैं। पर उसके लिये पतिकी आज्ञाका पालन करना आवश्यक था। अतः वह वस्त्रोंको समेट, केशोंको बाँध, शरीरकी सब शक्ति लगाकर स्वामीको आश्रमपर ले जाने लगी। एक कोमल नारी, तीन दिनकी उपवासी, उसपर भी कठोर मानसिक एवं शारीरिक परिश्रम किये हुए। कैसी कठिन समस्या है। तो भी सावित्री प्राणपणसे सत्यवान्को आरामसे ले जाने लगी। उसने स्वामीका कुठार अपने हाथमें ले लिया, फल और जलानेके काष्ठ साथ ले लिये; पतिदेवको चलनेमें जरा भी कष्ट न हो, इसका पूरा ध्यान रखा। सावित्री व्रत-उपवासके कारण स्वयं दुर्बल थी, पर इसकी

परवा न करके उसने अपनी सारी शक्ति पतिदेवको सुखसे ले जानेमें लगा दी। इस प्रकार देवी-समाना सावित्री विश्व-भार-वाहिनी शक्तिके तुल्य उस अँधेरे मार्गमें प्रकाश करती हुई जाने लगी। सत्यवान् उसके कंधेके सहारे-सहारे चलने लगा।

उपसंहार

सावित्रीको अपने पति सत्यवान् प्राप्त हो गये। यमराजको हार माननी पड़ी। अब हमें विशेष कुछ नहीं कहना है। अन्ध मुनि और उनकी पत्नी व्याकुल होकर सावित्री और सत्यवान्को ढूँढ रहे थे। ढूँढते-ढूँढते प्रातःकाल हो आया था। वनके ऋषि-मुनि और उनकी पत्नियाँ भी खोज करनेमें लगे थे। सत्यवान्के माता-पिताकी व्याकुलताका ठिकाना नहीं था। ऋषि-मुनि उनको नाना प्रकारके उपदेशोंसे समझा रहे थे। इसी समय सावित्री और सत्यवान्ने जाकर उनको प्रणाम किया। वृद्ध दम्पति उनको पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और आशीर्वाद-पर-आशीर्वाद देते हुए अनेक बातें पूछने लगे। अन्ध मुनिके नेत्र यमराजके वरसे पहले ही ज्योतिष्मान् हो गये थे। इसलिये अब पुत्र और पुत्र-वधूको देखकर उन्होंने अपने नेत्रोंको खूब तृप्त किया। अहा, कितने ही दिनोंसे उन्होंने अपने प्राण-प्यारे पुत्रका मुख नहीं देखा था। अब पुत्रका मुख देखकर उन्हें इतना सुख मिला, जो लिखनेमें नहीं आ सकता।

दूसरे दिन शाल्व देशसे शुभ संवाद लेकर दूत आया। संवाद बड़ा आनन्ददायी और आश्चर्यपूर्ण था। 'द्युमत्सेनके शत्रु पराजित हो गये हैं, शत्रुको हराकर सेनापतिने राज्यपर अधिकार कर लिया है। अब द्युमत्सेनको जाकर फिर राज्य करना होगा। बड़ा ही आनन्ददायक संवाद है। यह संवाद शीतल समीरके समान समस्त वनमें फैल गया। वनवासी तपस्वियोंने बड़े हर्षके साथ वृद्ध राजा और रानीको मङ्गलाचरण करते हुए राज-वेशसे विभूषित किया।

सुखके दिन अकेले नहीं आते। उसी दिन मद्रदेशसे अश्वपति भी अपनी पुत्रीको देखने आये; क्योंकि अश्वपति विधि-विधानकी बात जानते थे। अब आकर उन्होंने पुत्रीसे वही बात पूछी। सावित्रीने अभीतक यह अद्भुत कहानी किसीसे भी नहीं कही थी; पर अब पितासे वह उसे छिपा न सकी, स्पष्ट सब बातें कह दीं। सुनकर सभी लोग सावित्रीको धन्य-धन्य कहने लगे।

सावित्रीके सास-ससुर यह अपूर्व कहानी सुनकर गद्गद कण्ठसे गुणवती बहूको अनेक आशीर्वाद देने लगे। सत्यवान् भी अपनेको बड़ा ही भाग्यवान् समझने लगा। ऋषि-मुनियोंने यह सब सुना। सुनकर वे चारों ओरसे आ-आकर सावित्रीकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करने लगे। देश-विदेशमें महासती सावित्रीका नाम धन्य-धन्य हो गया।

पाठक-पाठिकाएँ! आइये, आज हम इस चरित्रकी समाप्तिपर एक बार सावित्रीको अपने बीच आह्वान करें।

युद्ध जय करके वीर आते हैं तो हम उन्हें पुष्पमालासे विभूषित करते हैं; देश जीतकर राजा आते हैं तो हम उन्हें विजय-दुन्दुभि बजाकर सम्मानित करते हैं; हिंदुओंके घर देवता आते हैं तो वे उनकी मङ्गल-सूचक शङ्ख बजाकर अर्चना करते हैं। किंतु सावित्री आज धर्मराजको जीतकर हमारे निकट आयी है; कहिये, आज हम किस सामग्रीसे उसकी पूजा करें? आओ, सावित्री! आओ। जो शिक्षा और दीक्षा लेकर तुम जगत्में आयी हो, आज हम उसी शिक्षा और दीक्षासे अपनेको पवित्र करते हुए तुम्हारे चरणोंमें पुष्पाञ्जलि अर्पण कर रहे हैं। महासती! तुम्हारे इस आदर्शसे, तुम्हारी इस शिक्षासे, तुम्हारे सतीत्वके प्रभावसे आज हमारे दुर्बल भारतकी ललनाओंके मुख उज्ज्वल हों और वे भी तुम्हारी-जैसी अपूर्व तेजःशालिनी बनकर भारतका उद्धार करनेमें सहायक हों— यही हमारी जगन्नियन्ता जगदीश्वरसे नतमस्तक होकर प्रार्थना है। (समाप्त)

श्याम-विरहीकी दशा

दिन नहिं चैन, रैन नहिं निद्रा, भूख-प्यासका भान नहीं।
हियमें जलती आग अमित, पर उसका भी कुछ ज्ञान नहीं॥
रोती आँखें नित्य, बरसता रहता नित्य नेहका मेह।
याद नहीं, फरियाद नहीं कुछ, तेज-उज्ज्वलित जर्जरदेह॥

रोग, ऋण और शत्रु—इनसे फौरन निपटिये

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृतिने संसारके सब देशोंको एक सूत्रमें पिरो दिया है और हम भारतीय इस वैज्ञानिक अन्धानुकरणसे अपनी सजीव सम्पत्ति—मानव और भूमिकी उपजको विकृतकर पश्चिमकी भाँति विकासके नामपर क्या विनाशकी ओर नहीं जा रहे हैं ?]

क्या आपने कभी ८४ फुट लंबा और १४ फुट ऊँचा जानवर देखा है ? बीस करोड़ वर्ष पहले पृथ्वीपर यह *जानवर था, परंतु यह कई करोड़ वर्षोंसे निर्वंश और लुप्त हो चुका है। मनुष्यने सभ्यताका विकास करनेके साथ ऐसे बहुतेरे जानवरोंको निर्वंश और नष्ट कर दिया है। दस या पाँच हजार वर्ष पूर्वकी भाषा, रहन-सहन, विचारधारा आज तब-जैसी न होकर बहुत बदली हुई है। आज जो है, वह कबतक रहेगी—कोई नहीं कह सकता। मानवकी भाषा, विज्ञान, संस्कारोंमें गत पचीस वर्षोंमें कैसा क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है—यह आँखोंके सामने है। पुरानी शासन और कृषि उद्योग, एवं व्यापारकी पद्धति, †एकच्छत्र शासन और ‡सामन्तशाही दुनियाँके बहुतेरे देशोंसे उठ चुकी है और अब नवीन वैज्ञानिक प्रयोगों तथा जनतन्त्री सिद्धान्तोंपर वे उतर आये हैं। पूँजीवाद और साम्राज्यवादकी यह व्यवस्था अब पुरानी होकर बदनाम हो चली है। रूढ़िवादका ढकोसला अब समाजवाद और विकासवादकी नयी टहनियाँ और पत्ते लेकर नव वसन्तकी तरह लहलहाता है। शुद्ध सात्त्विक भोजन और संयमित जीवनचर्या, प्राचीन आयुर्वेद, पुराने जमानेकी लंबी उम्र और 'वज्राङ्गी' स्वास्थ्य भी अब नहीं रहा। किसी जमानेमें जब 'ताला'का आविष्कार भी नहीं हुआ था, लोग घरोंमें ताला क्या लगाते ? वह ईमानदारी अब केवल कहानी रह गयी है। अब ताला लगानेपर भी तिजोरी तोड़ ली जाती है और उन्हीं ईमानदारोंके वंशज अब जेबें काट लेते हैं। कूटनीति और तर्कवादसे परस्परके झगड़ोंके निपटारे सरकारी कानून और अदालतोंद्वारा होते हैं जहाँ अब चाँदी-सोने तो नहीं, कागजकी रंगीन कीमती छपी सरकारी हुंडियों×से न्याय अपने पक्षमें खरीदनेकी होड़ लगती है।

* डिप्लोडोकस Diplodocus
† Autocracy
‡ Aristocracy.
× Currency notes

इस सृष्टिके विधानमें हरेक वस्तु और व्यवस्थाकी आयु होती है। विकास-क्रमसे सभी वृद्ध, जीर्ण और अनुपयोगी हो जाती हैं। उनका त्याग होना स्वाभाविक है।

ऐसे पतित और विनाशगामी मानवकी इन्द्रिय-लोलुप आदतोंसे उत्पन्न रोगोंको दूर करने और उसे स्वास्थ्य तथा दीर्घायु प्राप्त करानेके लिये वैज्ञानिकोंने जिस आधुनिक हिंसक और घृणित डॉक्टरशाहीका गोरख-धंधा अथवा इन्द्रजाल मूर्ख मानवसमाजपर कानूनकी आड़ लेकर फैलाया है, क्या उसका भी कभी अन्त होगा ? संसारकी लगातार बेतादाद बढ़नेवाली आबादीके लिये भोजन और स्थानकी समस्या सुलझानेके निमित्त *लौह-वृषभोंसे शीघ्रगामी और गहरी जुताई तथा †रासायनिक खेती और सामाजिक खेतीकी वृद्धि रोकनेके लिये यान्त्रिक ‡ परिवार-नियोजन करके इन्द्रियानन्द कायम रखनेके जो व्यभिचारी रासायनिक साधनसभ्यता और विज्ञानके नामपर फैलाये जा रहे हैं, क्या कभी इनका अन्त होगा ?

हर एक प्राणीका अपना गुण और स्वभाव होता है। मनुष्येतर सभी प्राणियोंमें उनके गुण-स्वभाव वंश-परम्परागत प्रकृतिसे हमेशासे अब भी मौजूद हैं, किंतु मनुष्यकी मानवता बहुत कुछ नष्ट हो चुकी है। पहले-जैसा मनुष्योचित आचार-विचार, आकार न होकर अब अनेक प्रकारके इन्द्रियलोलुप भक्षण, व्यसन, रसायन-सेवन और जीवनचर्यासे उसकी वर्तमान पीढ़ीमें अनेक रोग और दुर्बलताएँ आ गयी हैं।

पुराने समयमें शरीरकी जरावस्थामें दाँत गिरते थे और आँखोंपर ऐनक चढ़ते थे, वह सब अब बचपनमें ही होने लगा है। गाँवोंमें अब भी नहीं, परंतु शहरोंमें, शालाओंमें बालक-बालिकाओंकी नाकोंपर यह आभूषण बहुत देखनेको मिलता है। मधुमेह, हृदयरोग, पक्षाघात—जो बूढ़ोंको ऐन्द्रिक निर्बलता या थकानके कारण पहले हुआ करते थे, अब बच्चोंको होने लगे हैं; यहाँतक कि कतिपय सद्योजात बच्चोंके फेफड़े-हृदय कमजोर मालूम होनेपर जन्मके दूसरे दिन ही उन्हें यान्त्रिक विधिसे सहायक§ प्राणवायु दी जाने लगी है।

* Tractors
† Chemical Agriculture ‡ Family Planning, Birth Control
§ Oxygen

मृतवत् मृत्युशय्यापर पड़े जीर्ण, श्मशानाभिमुखी दादा-नानाको कुछ क्षण जीवित रखनेके लिये जो प्रयत्न होते थे, वे ही प्रयत्न अब सद्योजात बच्चोंपर किये जाने लगे हैं। यही देख-समझकर अमेरिकाके डॉक्टर मेलविल कीथ एम. डी. ने अपनी पुस्तक *'नरक जानेका शानदार रास्ता' में बहुत वर्षों पूर्व लिख दिया था कि 'इस दुनियामें कुछ सौ वर्षों बाद अंधे, अपंग, नपुंसक, निर्बुद्धि और पागल लोग होंगे।'

वायु, जल, अन्न, साग, फल, मधु, दूध—ये हमें प्रकृतिसे शुद्ध रूपमें भोजन एवं पोषणके लिये प्राप्त होते हैं; परंतु वैज्ञानिक मानवने इन्हें अपनी बुद्धिसे रासायनिक विषाक्त तत्त्वोंके सम्मिश्रणसे बहुत विकृत और विषाक्त कर दिया है। इन्हीं करतूतोंके फलस्वरूप उसे सब उत्पात भोगने पड़ रहे हैं। हवामें उड़नेवाले हवाईजहाज, रॉकेट, भूमिपर तीव्रगामी मोटरों तथा रासायनिक कारखानोंसे निकलनेवाली दुर्गन्धित और अग्राह्य वायु तथा मनुष्यों और स्त्रियोंके भी ओठोंमें शोभा देनेवाली सभ्यतासूचक बीड़ी-सिगरेटके जूँठे धुएँ निर्व्यसनी जनताके श्वासमें अनिच्छासे घुसते हैं। बड़े-बड़े शहरोंमें जलप्रदायोंद्वारा घर-घर मिलनेवाले पानियोंके गन्ध-स्वादमें भिन्नता पायी जाती है। जलको दूषित मानकर उसके कीटाणुओंको मारकर जलको नीरोगी बनानेके लिये रासायनिक मिश्रण या जल-शोधनकी जो क्रियाएँ की जाती हैं, इनके फलस्वरूप जलको वैज्ञानिक दृष्टिसे तो निर्गन्ध और स्वादरहित होना चाहिये; फिर गन्ध-स्वादमें विषमता क्यों? और यह भी सबको अनिच्छासे जबर्दस्ती पीना पड़ता है।

वायु-जलके बाद अब खाद्य पदार्थोंको तो जड़-मूलसे दूषित करनेकी प्रथा विश्वव्यापिनी हो रही है। भूमिमें रासायनिक खाद मिश्रितकर भूमितत्त्वोंको उत्तेजितकर अधिक खाद्यान्न-साग-फल उपजानेके प्रयत्नसे होनेवाली इस रासायनिक व्यसनोत्तेजनाके फलस्वरूप, भूतत्त्व भी निस्तेज और वसुन्धरा वन्ध्या होने लगी है। उत्तेजक व्यसनोंसे मानव भी तो निस्तेज, निर्बल होता जाता है। अमेरिकामें ऐसी रासायनिक प्रक्रियासे १०५ करोड़ एकड़ कृषि और चरागाहकी भूमि बरबाद हो चुकी है। फिर भी वैज्ञानिक अन्धानुकरणद्वारा भारतमें इसका सरकारी प्रचार किया जा रहा है। यह सब औद्योगिक स्वार्थी तत्त्वोंकी प्रेरणामात्रसे हो रहा है; इससे देशका भविष्य कितना अन्धकारमय हो जायगा, यह तो आगेकी पीढ़ीको मालूम होगा। परंतु हमारे सामने पश्चिमके ये विनाशकारी अनुभव मौजूद हैं।

लगभग दो वर्ष पूर्व, इग्लैंडके राथमस्टेड*कृषि-प्रयोग-स्थानके डाइरेक्टर† सर विलियम ओगने मेन्चेस्टरमें अपने एक लेक्चरमें कहा था—'लोग रासायनिक कृषिका विरोध करते हैं कि इससे उत्तेजित होकर भूतत्त्व नष्ट हो जाते हैं; परंतु बात बिल्कुल उल्टी है। रासायनिक खादसे फसलकी जड़ें भूमिमें अधिक और विस्तारसे फैलती हैं, जिससे फसल अधिक होती है।'

किंतु यह कोरा सिद्धान्त और औद्योगिक स्वार्थ मात्र है। अमेरिकी‡ 'कनेक्टीकट' पत्रमे 'प्राकृतिक भोजन और कृषि'के जून १९५७ के अङ्कमें उपर्युक्त कथनके विरोधमें श्रीलियोनर्ड विकेंडनने लिखा है—'सर विलियमने जो कुछ भी लिखा है, उसकी जड़ तो टटोलिये। अमेरिकी§ भूमि-रक्षक विभागने १९५२ में एक छोटी पुस्तिका 'हमारी बाकी जमीन' शीर्षक प्रकाशित की है, जो हरेक बागवान और किसानके पास होनी चाहिये; परंतु वह मुद्रित उपलब्ध नहीं है। उसमें लिखित सामग्रीको देखकर अधिकारियोंने जाना कि दुनियाके लोग ऐसी सच्ची बातें पढ़कर चौंक उठेंगे, भड़क उठेंगे; इसलिये उसकी भाषा हल्की करके, विस्तृत करके, नाम बदलकर 'हमारी उपजाऊ भूमि' शीर्षकसे उसे छापा गया और उसमें लिखित मसालेमें अपना पानी मिलाकर पतला कर दिया गया। यह है×कृषि-सूचना-पत्रक संख्या १०६, जो अमेरिकी गवर्नमेंट प्रिंटिंग कार्यालय, वाशिंगटन, डी० सी० से दस सेंट मूल्यमें प्राप्य है। उस सामग्रीको यद्यपि पतला-फीका करके छापा गया है, फिर भी उसमें निम्नलिखित ठोस रस आपको मिलेगा—'२८ करोड़ एकड़ अमेरिकी कृषि और चरागाह भूमि मुर्दार हो गयी है; यह सब भूमि इलीनाय, अयोवा, मिसूरी, कन्सास, नेब्रास्का और वायोमिंग—इन छः राज्योंके क्षेत्रफलके बराबर है। अतिरिक्त ७७ करोड़ ५० लाख एकड़ भूमि भी कुछ निर्जीव-सी हो गयी है। अब हमारे पास केवल ४६ करोड़ एकड़ उपजाऊ भूमि बची है। अब

* Royal Road to Hell.

* Rothamsted Agricultural Experiment Station.

† Sir William Ogg

‡ Agricultural Information Bulletin, 106

§ Conecticut Letterre: Natural Food and Farming, June 57.

× Soil Conservation Service of U. S. Deptt. of Agriculture. "Our Remaining Land".

हम नयी जमीन तो बना नहीं सकते, खोज नहीं सकते । इसे हमें बचाना चाहिये । परंतु ५० लाख एकड़ भूमि प्रतिवर्ष वैज्ञानिक साधनोंके कारण मुर्दार बनती जा रही है । फिर आगे हम कैसे जी सकेंगे ? हमारे देशकी भूमिका जो पंचमांश बरबाद करके छोड़ दिया गया है, उसे सर विलियम ऑग अपने विज्ञानकी करामातसे जिंदाकर उपजाऊ बनायें ।'

बस, यहाँपर वैज्ञानिकोंकी करामातका ढोल फूट जाता है। आगे बताया गया है कि एरिजोना राज्यके एक क्षेत्रमें अच्छी जमीन और घास है और अमेरिकामें सबसे पहले लोग उस क्षेत्रमें आये थे। परंतु अब वही उतनी अच्छी भूमि बची है, शेष बड़ा मैदान रेगिस्तान-सा पड़ा हुआ है; यह अपने ही वैज्ञानिक कुकर्मोंसे बनाया गया रेगिस्तान है । पहले यही भूमि हरी-भरी थी। मूर्ख मानवने लोभवश इसे विज्ञानके द्वारा बरबाद कर दिया है । भूमिका तत्त्व बरबाद कैसे होता है, इसका वैज्ञानिक कारण है । उपजाऊ भूमिमें वनस्पति और प्राणि-जीवन भरा रहता है—कई प्रकारके कीड़े-मकोड़े, कीटाणु, जो फसलकी जड़ोंमें सहायक काम करते हैं और वनस्पति—घास; जिसमें जोश—'रस'† होता है, और उस रसमें 'कार्बन' होता है । रासायनिक खाद और गहरी जुताईसे भूतत्त्वका वह प्राण-कार्बन उत्तेजित होकर फसलद्वारा अधिक शोषित और खर्च हो जाता है, इस प्रकार लगातार क्रमशः कार्बन खतम हो जाता है । अतएव कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं । सुपर फास्फेट, नाइट्रेट ऑफ सोडा, अमोनियाँ सल्फेट, पोटाश नाइट्रेट आदि रासायनिक खादोंमें कार्बन नहीं होता; इस कारण भूमि 'कार्बन-हीन' हो जाती है, भूतत्त्व निर्जीव हो जाते हैं। यह याद रखना चाहिये कि भूमिसे खाद्यके लिये जो भी फसल हमें प्राप्त होते हैं, उनमें कार्बन प्रधान है। बिना कार्बनका खाद्य निष्प्राण, बेस्वाद-सा होता है ।

अब हम नकली हवा, नकली पानी और नकली भोजनपर आ गये । भूमिसे फसल प्राप्त होनेके बाद भी उनको टिकाऊ और सुन्दर सुगन्धित स्वादिष्ट बनानेके लिये विषाक्त रासायनिक प्रयोग बार-बार होता रहता है। विज्ञानकी सहायतासे लोभवश मानव कितना बेईमान और बदनीयत हो गया है कि जीवन-पोषणकी, खाने-पीनेकी, दवा-की चीजें भी नकली हो गयीं ! नकली प्रकाश—गैस बिजली, नकली यातायात—अपने पाँवोंका उपयोग छोड़कर रेल, मोटर, वायुयान, आदिमें चलनेके कारण मनुष्यकी संतानको छोटी अवस्थामें ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियोंके क्षीण होनेसे चश्मे, दाँत लगाने पड़ते हैं और अब तो नकली बच्चे* भी बनने लगे । †कृत्रिम गर्भाधान भी होने लगा ।

मानवको रोग, दुःख क्यों होता है ? पापसे ! पाप होता है अज्ञानसे । अज्ञान कैसा ? हम नहीं जानते कि हमारा शरीर क्या है, इसकी प्रकृति कैसी है, शरीरके यन्त्र कैसे काम करते हैं; शरीरकी रक्षा, सफाई कैसे की जाय; इसे कैसा भोजन, पोषण, जल-वायु दिया जाय, इससे कैसे कितना काम लिया जाय । हम जो खाते-पीते हैं, वह सब समाजकी नकल करके, रिवाजके वश करते हैं ! हम नहीं जानते कि हम जो खाते हैं, वह क्या है, पीते हैं वह क्या है । हम न तो स्वयंको पहचानते, न खाने-पीनेकी चीजोंको या दवाओंको । स्वयं अज्ञानवश पाप करके हम दवाओंमें पापसे मुक्ति ढूँढ़ते हैं । गंदी, घृणित दवाओंसे अपना पाप धोना चाहते हैं, *जो वैसा ही है जैसा गोबरको* धोनेके लिये मलका उपयोग करना । यह विज्ञान-युगकी कैसी विडम्बना है और मानवकी अन्ध-बुद्धि तथा बदनीयती-का दर्शन तो कीजिये कि दवाके नामपर हाथीकी लीद चार आने तोलेके भाव वह खा जाता है । घरेलू मक्खीका 'गू' सौ रुपये तोले खरीदकर कस्तूरीके नामपर खा जाता है, चटपटे अचार और मीठे शहदमें गन्धकका तेजाब मजेमें खाता है, मकईके भुट्टेकी 'बाल' रँगकर, केसरके भाव लेकर चौकसे, चिकनी सफेद मिट्टीको सपरेटा दूधकी खड़ीमें, और मीठे बिस्कुट-शरबतोंमें, सिगरेटोंमें डामर-कोलतारसे बने सुगन्धित विष और 'कास्टिक' तथा 'चपड़ा' आदि खाता है । बीमार होनेपर पाश्चात्य वैज्ञानिक इन्जेक्शन—मुँहसे नहीं, वरं सीधे अपने रक्तमें; दवाके नामपर, संजीवन रसायनके नामपर भेड़, बंदर, सूअर, घोड़े, अन्य पशुओं और स्त्री-पुरुषोंके मुर्दोंके सड़े रस-मवाद, रक्त-मांस, मल-मूत्र खा-पी जाता है ! समझदार मानवकी थालीमें मूलरूपमें ये चीजें परोसी जायँ तो इन्हें देखकर वह पागल हो सकता है; परंतु वैज्ञानिक रासायनिक मिश्रणके कारण वह उन्हें पहचान नहीं पाता और अपने जीवनके लिये आवश्यक रसायनके नामसे सब कुछ खा-पीकर भी अहिंसक, धर्मनिष्ठ हिंदू, जैन, मुसल्मान आदि बना रहता है । विज्ञान-को गले लगाकर मानव आर्षपुत्रसे अब क्या बनता जा रहा है !

---

* Test tube babies;

* Artificial Insemination

† juice

अतएव अब धीरे-धीरे वह जमाना आयेगा कि दुनियामें सब कृत्रिम मानव होंगे, सारा जीवन कृत्रिम होगा, फिर परिवार-नियोजन और पारिवारिक कलह आदि न होंगे। जब सारा मानव जगत् अपंग, अंधा, लँगड़ा, लूला, विकृतमस्तिष्क, पागल होगा, तब अखण्ड शान्ति होगी। यही विज्ञानकी शान्तिका चरम ध्येय है। इस विज्ञानके अङ्कुर उग रहे हैं—जगत्में बढ़ते हुए बाल-पक्षाघात, बचपनसे ही दाँत गिर जाना, दृष्टि मन्द, पाचन मन्द होना, गर्मी-सर्दी सहन न होना, चलने-फिरनेसे लाचार होना, हृदयरोग, मधुमेह, क्षय, कैंसर—सब उसी भविष्यके अग्रदूत हैं।

जैसे बीस करोड़ वर्ष पूर्वका महाकाय ८४ फुट लंबा, १४ फुट ऊँचा जन्तु टिप्लोडोकस निर्वंश होकर लुप्त हो गया है, विज्ञानद्वारा अब यह सम्भव दृष्टिगोचर हो रहा है कि कीटाणुवादी विज्ञानसे मानव स्वयं इसी प्रकार निर्वंश होकर दुनियासे लुप्त हो जायगा—और बच रहेंगे कीटाणु मात्र। फिर पुनः विकासक सृष्टि-चक्र।

नरसे नारायण बननेकी साधना, आत्म-भावसे परमात्म-भावकी व्यापक भूमिका प्राप्त करनेके पौर्वात्य आदर्श—'मोक्ष', 'निर्वाण', 'अद्वैत परमपद', 'कैवल्य' की साधना भूलकर कीटाणुवादी विज्ञान-यानपर चढ़े हुए मानवका भविष्य कैसा है—विचार कर लीजिये। यह शैतानका खिलौना है, विकृत ज्ञान है।

इतना सब देख-विचारकर, यदि हमें संसारमें मानव और मानवताको कायम रखना है तो अपना भोजन-पानी अपने परिश्रमसे अर्जितकर स्वाभाविक रीतिसे जीनेके लिये, हमें वैज्ञानिक पाखण्ड त्यागकर शहरकी चकाचौंध और गंदगी तथा बनावटी जिंदगीसे भागकर जंगल-गाँव-एकान्तमें ही जाना होगा, जहाँ स्वतन्त्र होकर स्वेच्छासे हम कुछ शुद्ध कमाईसे खा-पीकर, श्वास लेकर, जी सकें।

हम वेद और वेदान्त लेकर कई हजार वर्षोंसे अपनी संस्कृतिमें आत्मा और परमात्माका डंका पीटते आये हैं। विज्ञानने हमारे आत्मा और परमात्माकी खोजमें स्थूल साक्षात्कार करना चाहा। डॉक्टरोंने मानव-शरीरको चीर-फाड़कर रोम-रोम और रक्तबिन्दुतकका विश्लेषण करके कीटाणु-मात्र व्यापक पाया और भौतिक रासायनिक वैज्ञानिकोंने पदार्थोंका सूक्ष्म विश्लेषण करके परमाणुको व्यापक पाया और उसके भी * विघटन-विस्फोटसे पृथ्वीपर प्रलयकी परिस्थिति उत्पन्न कर दी है। सम्भवतः आत्मा और परमात्माको कहीं न पाकर ये वैज्ञानिक कृत्रिम भोजन, भेषज और अनेक भौतिक पदार्थोंके सम्मिश्रण करके अब भले ही कृत्रिम मानवीय* अण्ड-पिण्डके निर्माणमें संलग्न हों और पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, दुःख-सुखके द्वैत भावको त्यागकर स्वयं द्रष्टा बनें। परस्पर प्रेम और आत्मीयतासे दूर होकर हम इतने पतित और स्वार्थवश बदनीयत हो गये हैं कि अपनी विनाशक प्रकृतिको ही हमने विकास मान लिया है।

* Atom-smashing,

यदि भारतको अपनी परमार्थी ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति और जीवनको बनाये रखना है तो आधुनिक बनावटी-मिलावटी भोजन, भेषज और जीवन-चर्याको त्यागकर तुरंत आत्म-सुधारके लिये आत्मनिर्भर होना आवश्यक है।

रोगकी दवा होते हुए भी दुनियाके साथ भारतमें भी रोग बढ़ रहा है। रोग दूर करनेके लिये दवाको हमने उपकारी चमत्कारी साधन मान लिया है—वह ऐसा ही है, जैसे घरमें घुसे चोरका उत्पात दबानेके लिये डाकूको निमन्त्रण देना। वास्तवमें रोग तो है—गंदगी, विकार; उसे निकालनेसे ही, आत्म-शुद्धिसे ही स्वस्थता, आत्मस्थिति होती है। दवा चाहे कितनी भी चमत्कारी कही-मानी जाय और उसका प्रभाव तुरंत दृष्टिगोचर हो, वह हिंसक साधनोंसे बनी हुई, गंदी, दुर्गन्धित वस्तु हमारे शरीरमें गंदगी और विकारको बहुरूपिया बनानेवाली† केवल औद्योगिक स्वार्थकी चीज है। यदि दवाओंसे सचमुच रोग दूर होता तो रोग कभी विकृत न होता, न बढ़ता। इस विषय-पर विदेशी वैज्ञानिक समाचारोंके साररूप तथ्य मेरी लेखनीसे 'कल्पवृक्ष' आध्यात्मिक मासिक पत्र, उज्जैन, में जुलाई १९५७ से अप्रैल १९५९ तकके अङ्कोंमें, तथा गोरखपुरसे प्रकाशित 'कल्याण' मासिक पत्रके नवम्बर १९५८ तथा मार्च, अप्रैल १९५९ के अङ्कोंमें प्रकाशित हो चुके हैं, जो अनेक पत्रोंद्वारा अनेक भाषाओंमें उद्धृत भी हुए हैं। बढ़ते हुए रोगका कारण है 'दवा', बनावटी-मिलावटी जीवन और भोजन-चर्या—यह उनमें सिद्ध किया गया है तथा विख्यात वैज्ञानिकोंके अनुभूत प्रमाण उनमें दिये जा चुके हैं। परंतु स्वार्थी संसारने अन्धविश्वासमें पड़कर उद्योगके नामपर ही इन तत्त्वोंको अपनाया है। विज्ञानकी चकाचौंध-चमत्कार देखकर भ्रमसे हम उन्हें उपकारक मानते हैं।

किसीसे कर्ज लेकर अपनी समस्या पूरी करना निरा भ्रम है। जबतक रोग, ऋण और शत्रु—ये तीन हमारे सामने

* Synthetic human ova and embryo,
† Vested interest,

रहेंगे, ब्याजसहित बढ़ते ही रहेंगे। इनसे फौरन निपटना चाहिये, इनको फौरन निर्मूल करना चाहिये। रोग और कर्ज तो महाविनाशक शत्रु हैं। रोगकी दशामें कर्ज लेना तो आत्मघातके समान है। दवाओंसे रोग कभी दूर न होगा। घर-घुसे चोरके साथ डाकू मिलकर घरको लूट लेंगे, रोगपर दवा देनेसे शरीर खोखला हो जायगा और सामने बैठा दुश्मन मौकेपर उत्पात करनेसे नहीं चूकेगा। कर्ज देनेवाले हमारे उपकारी कभी नहीं हो सकते, मित्रके भेषमें वे शत्रु हैं। यह सब योजना प्रकृतिविरुद्ध है। जीना है तो आत्मनिर्भर होकर आत्मशक्तिसे ही जिया जा सकता है; रोगपर दवा लेकर, दूसरेसे कर्ज लेकर, आश्रित होकर नहीं; और सामने उपकारीके भेषमें बैठे हुए साहूकारको मित्र तथा शत्रुता-की परिस्थितिको विकास या सुधारके लक्षण मानना नितान्त भ्रम है। इनको बढ़नेका मौका न देकर तुरंत इनसे निपटना चाहिये। रोग दूरकर स्वास्थ्य प्राप्त करनेके लिये दवाओंका परित्याग तुरंत करो, कर्ज तुरंत निपटाओ, शत्रुसे मित्रता करो या किसी प्रकार भी शत्रुता समाप्त करो। व्यक्ति, समाज और किसी भी देशके ये तीन महाशत्रु हैं। जो देश रोगी और ऋणी हो तथा उसका रोग और ऋण बढ़ता ही जाय, वह निरन्तर कमजोर होता, दबता ही जायगा, वह स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता।

भक्ति-मूल—विश्वास

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'पानी!' कुल दस गज दूर था पानी उनके यहाँसे; किंतु दूरी तो शरीरकी शक्ति, पहुँचनेके साधनपर निर्भर है। दस कोस भी दस पद जैसे होते हैं स्वस्थ सबल व्यक्तिको और आजके युगमें वायुयानके लिये तो दस योजन भी दस पद ही हैं; किंतु रुग्ण, असमर्थके लिये दस पद भी दस योजन बन जाते हैं—यह तो सबका प्रतिदिनका अनुभव है।

'पानी!' तीव्र ज्वराक्रान्त वह तपस्वी—क्या हुआ जो उससे दस गज दूर ही पर्वतीय जल-स्रोत है। वह तो आज अपने आसनसे उठनेमें भी असमर्थ है। ज्वरकी तीक्ष्णताके कारण उसका कण्ठ सूख गया है। नेत्र जले जाते हैं। वह अत्यन्त व्याकुल है।

'पानी! ओह, पानी देने भी आज रामसिंह नहीं आया!' उसने पड़े-पड़े ही एक ओर देखा। उसका आसनके पास पड़ा तूँवा जलरहित है और अभी तो कहीं किसीके आनेकी आहट नहीं मिलती।

'पानी!' पासकी पहाड़ीपर कुछ घर हैं पर्वतीय लोगोंके। उन भोले ग्रामीणोंकी श्रद्धा है इस तपस्वीमें। उनमेंसे एक व्यक्ति रामसिंह तो प्रायः दिनमें दो-तीन बार यहाँ हो जाता है और स्थान स्वच्छ कर जाता है। जल भरकर रख जाता है। कोई और सेवा हुई तो उसे भी कर जाता है। इन महापुरुषकी सेवा करनेका उसे सौभाग्य मिलता है, यही क्या कम है।

रामसिंहके अपने भी तो कार्य हैं। उसके पशु हैं, बाल-बच्चे हैं, कुछ खेत हैं और फिर कल रात उसे भी ज्वर हो गया था। उसे आज आनेमें देर हो रही है, इसमें कोई अद्भुत बात तो नहीं है।

'पानी!' तपस्वीका कण्ठ सूख रहा है। उसकी बेचैनी बढ़ रही है। उसे बहुत तीव्र ज्वर है और ज्वरकी प्यास—'रामसिंह नहीं आया!' दो क्षण पश्चात् ही उसने इधर-उधर नेत्र घुमाये।

'पानी! प्यास! रामसिंह!' लगा तपस्वी मूर्छित हो जायगा। उसका गौरवर्ण मुख ज्वरके कारण लाल हो रहा है। उसके अरुणाभ नेत्र अङ्गार-से जल रहे हैं।

'रामसिंह! तो तू रामसिंहका चिन्तन और उसकी प्रतीक्षा कर रहा है!' पता नहीं क्या हुआ, आप चाहें तो इसे ज्वरकी विक्षिप्तता कह सकते हैं, आपको मैं रोकता नहीं। 'तू रामसिंहके भरोसे यहाँ आया था। धिक्कार है तुझे, नीलकण्ठ!'

हाँ, तपस्वीका नाम नीलकण्ठ है। यह दूसरी बात कि उसे यहाँ कोई इस नामसे नहीं जानता। सच तो यह कि यहाँ कोई उसका नाम या परिचय जानता ही नहीं। जानने-पूछनेका साहस नहीं हुआ किसीको। किंतु नामकी बात छोड़िये—तपस्वी सम्भवतः ज्वरसे उन्मत्त हो गया है। वह बारंबार इस कठोर भूमिपर मस्तक पटक रहा है। अपने मुखपर

तमाचे मारता जा रहा है—'तू अब रामसिंहकी प्रतीक्षा करने लगा है ! तुझे अब आशुतोष प्रभुका भरोसा नहीं रहा और तू चला है उपासना करने ? उपासक बना बैठा है तू इस अरण्यमें !'

नेत्रोंसे अश्रुधारा चल रही है। मुख लाल-लाल हो गया है; किंतु विक्षिप्त हो उठा है वह तो।

× × ×

आज जिसे नीलकण्ठ कहते हैं, स्वर्गाश्रमसे लगभग सात-साढ़े सात मील दूर मणिरत्नकूट पर्वतके चरणोंमें चारो ओर पर्वतमालाओंसे घिरा स्थल तो वही था; किंतु तब उसका कोई नामकरण नहीं हुआ था। बात जो शताब्दियों पूर्वकी है यह।

नीलकण्ठ आज चौदह वर्षसे कुंजी भगतकी निष्ठासे स्वच्छ है। उससे पूर्व आजके लोगोंने ही देखा है कि वहाँ प्रायः वन्यतरुओंके पत्तोंकी राशि सर्वत्र स्वच्छन्द पड़ी रहती थी। बाबा रामझरोखादासजीकी साज-सज्जा कहाँ थी और कहाँ थी तब नैपाली कोठी, धर्मशाला और दूकानें।

तबकी बात, जब ये पाकर-अश्वत्थके युग्मतरु भी नहीं थे। केवल दोनो जलधाराएँ थीं, जो आज भी नीलकण्ठके चरणोंको दो ओरसे धोती एकमें मिलकर आगे बढ़ जाती हैं। तब पाइप लगाकर धाराको नलका रूप देनेकी व्यवस्था नहीं थी। तब तो उनमें पत्तोंकी राशि पड़ी रहती और सड़ा करती थी।

आज भी नीलकण्ठमें यदा-कदा रीछ रातमें आ जाते हैं। शेर और चीते वहाँसे सौ-दो-सौ गजतक पर्यटन कर जाते हैं। उस समय तो वन्य पशुओंका आवास था नीलकण्ठ। केवल दिनमें पर्वत-शिखरोंपर स्थित पर्वतीय जन अपने पशुओंको लेकर वहाँ आते थे।

ऐसे अरण्यमें एक दिन एक लंबे दुबले गौरवर्ण तरुणने, पता नहीं कहाँसे, आकर आसन लगा दिया। वह वहीं आ जमा, जहाँ आज भगवान् नीलकण्ठ विराजमान हैं। उस समय तो वहाँ ठिकानेकी समतल भूमि भी नहीं थी।

बिखरे घुँघराले रूखे केश, प्रलम्ब बाहु, अरुणाभ सुदीर्घ नेत्र—पता नहीं क्या था उस तरुणमें कि वन्य पशुओंने प्रथम दिनसे ही उसे अपना सुहृद् मान लिया। भल्लूक-शिशु रात्रिमें कभी-कभी उसके तूँबेका जल लुढ़का दिया करते थे—इससे अधिक उसे किसीने कभी तंग नहीं किया। उसके समीप शेर या चीतेके जोड़े रात्रिमें चाहे जब निःशङ्क आ बैठते थे।

तूँबा और कौपीन—इनके अतिरिक्त उसके पास तो कंद खोदनेके लिये भी कुछ नहीं था। किंतु जो इस प्रकार सर्वात्मापर अपनेको छोड़ देता है, विश्वम्भर उसकी उपेक्षा कर दे तो उसे विश्वम्भर कहेगा कौन ? पर्वतीय जन उसके आस-पासका स्थान आकर स्वच्छ कर जाने लगे और उनमेंसे कभी किसी और कभी किसीकी गायका दूध तपस्वीकी स्वीकृति पाकर सफल हो जाता था। दूधके अतिरिक्त तपस्वीने कभी कुछ लिया नहीं।

ऋतुएँ आयीं और गयीं। तपस्वी क्या करता है—भला, भजन-साधनको छोड़कर तपस्वी और क्या करेगा ? इन बाबाजी लोगोंके अटपटे साधन कहाँ पर्वतीय जनोंकी समझमें आते हैं। हाँ, प्रारब्धका भोग तो सभीको भोगना पड़ता है। एक वर्षमें जब जल मलिन हुआ, पत्ते सड़े, मच्छरोंका अखण्ड संकीर्तन अन्य वर्षोंसे बहुत बढ़ गया और पिस्सुओंकी संख्या भी पर्याप्त हो गयी, एक दिन तपस्वी रुग्ण हो गया। उसे हड्डी-हड्डी कम्पित कर देनेवाला शीत लगा और ज्वर हो गया।

ज्वर आया और आता रहा। कई दिनोंसे तपस्वी इतना अशक्त हो गया है कि अपने आसनसे खिसक भी नहीं सकता। पासके पर्वतशिखरपर कुछ घर हैं। उनमें एक घर रामसिंहका है। रामसिंह तपस्वीके लिये जल भर जाता है, स्थान स्वच्छ कर जाता है, कुछ आवश्यक सेवा-कार्य कर जाता है; किंतु रामसिंहके भी बाल-बच्चे हैं, पशु हैं, खेत हैं और कल रात उसे भी ज्वर हो गया। उसे आनेमें देर होना कहाँ कैसे अनुचित या अस्वाभाविक कहा जा सकता है।

× × ×

'आप यह क्या कर रहे हैं प्रभु !' रामसिंह स्वयं खिन्न है कि वह देरसे आ सका। वह आज अपनी मैली मोटी चद्दर पूरे शरीरपर लपेटे है।

'रामसिंह !' तपस्वीने देखा उसकी ओर और जैसे उसकी विक्षिप्तता शिथिल हो गयी। उसके अश्रु रुक गये। किंतु उसका प्याससे सूखा कण्ठ भरा-भरा था—'तुमको भी ज्वर हो गया दीखता है। तुम तत्काल घर लौट जाओ !'

'जल रखकर मैं अभी चला जाता हूँ !' रामसिंहने तपस्वीके चरणोंपर मस्तक रखा और फिर तूँबा लेने बढ़ा।

'उसे छूओ मत !' तपस्वीने रोक दिया। 'मुझे जल नहीं चाहिये। दूसरे लोगोंसे कह देना, आज इधर कोई न आये !'

'जो आज्ञा, प्रभु !' सरल रामसिंहने फिर प्रणाम किया और वह लौट चला। उसने तो साधु-संतोंकी आज्ञा मानना ही सीखा है। उसे बातका सीधा अर्थ ही समझमें आता है। महात्मा लोगोंके चित्तका क्या ठिकाना—वे पता नहीं कब कैसे रहना चाहते हैं। उनकी आज्ञा बिना प्रतिवादके मान लेनी चाहिये, यही जानता है यह रामसिंह।

'मैं रामसिंहकी प्रतीक्षा कर रहा था और वह आया।' रामसिंहके पीठ फेरते ही तपस्वी धीरे-धीरे बुदबुदाया। 'मेरे प्राण आशुतोष प्रभुकी प्रतीक्षा करेंगे और वे दयामय नहीं पधारेंगे। परंतु इस अधम नीलकण्ठके प्राणोंने उनकी प्रतीक्षा की कहाँ है !'

'पानी !' तपस्वीके होठोंसे अब यह शब्द नहीं निकल रहा था; क्योंकि उसने तो अब दाँत-पर-दाँत दबा लिये थे। किंतु उसके भीतर ज्वरका भीषण दाह—पानीकी माँग अत्यन्त प्रबल हो चुकी थी। उसके प्राणोंमें छटपटाहट चल रही थी।

'अब तो श्रीगङ्गाधरके सरोजारुण करोंसे गङ्गाजल पीना है।' तपस्वीका संकल्प स्थिर हो गया। उसने दैहिक व्यथाकी सर्वथा उपेक्षा कर दी—'वह यहाँ प्राप्त हो या कैलासके दिव्य धाममें।'

जब कोई हठात् इस प्रकार हठ कर बैठे, किसीके प्राण सचमुच उस चन्द्रमौलिके लिये ही आकुल हो उठें, कोई उसी विश्वनाथपर भरोसा करके अड़ जाय—वह अपार करुणार्णव वृषभध्वज उससे पलभर भी दूर कहाँ रहता है।

रामसिंह कठिनतासे अपने घरके मार्गमें चौथाई दूर गया होगा—अरण्य वृषभके घंटसे निकली दिव्य प्रणव-ध्वनिसे पूरित हो गया। बाल शशाङ्ककी मृदु किरणें मूर्छित-प्राय तपस्वीके भालपर पड़ीं और साथ ही पड़ा एक अमृत-स्यन्दी कर। विभूतिभूषण कृत्तिवास प्रभु स्नेहपूर्वक देखते हुए कह रहे थे—'वत्स !'

ज्वर, ज्वरकी ज्वाला और तृषा—अरे, उन श्रीगङ्गाधरके सम्मुख तो कराल कालकी महाज्वाला भी शान्त हो जाती है। दूर भागती है त्रितापकी ज्वाला उन पार्वतीनाथके श्रीपदोंसे। तपस्वीके प्राण आप्लावित हो गये। उसने नेत्र खोले और वैसे ही मस्तक धर दिया उन सुरासुरवन्दित श्रीचरणोंपर।

'वत्स ! गङ्गाजल लाया हूँ मैं।' तपस्वीको स्तवन करनेका समय नहीं मिला। श्रीगङ्गाधरके करोंमें उनका सुधावारि-पूरित खप्पर आगे बढ़ चुका था। तपस्वीने मस्तक उठाया और प्रभुने खप्पर उसके अधरोंसे लगा दिया !

× × ×

'यह तो दिव्य भूमि है !' भगवान् आदि शंकराचार्य जब उत्तराखण्डकी ओर पधारे, ऋषिकेश आनेपर पता नहीं किस प्रेरणासे वे गङ्गापार होकर चलते गये पर्वतोंमें और वर्तमान नीलकण्ठ स्थानपर पहुँचे। उन्होंने दोनो पर्वतीय लघु जलधाराओंके संगमके समीप सिद्धवटी (वट, पीपल, पाकरका सम्मिलित तरु) देखा और प्रसन्न हो गये। उन्होंने आचमन किया जलमें और सिद्धवटीके समीप आसीन हुए।

'यहाँ तो भगवान् नीलकण्ठका स्वयम्भूलिङ्ग है।' सहसा भगवान् शंकराचार्यने नेत्र खोले और आसनसे उठ खड़े हुए। उनके निर्देशपर तरुमूलके समीप एकत्र मृत्तिकाराशि साथके सेवकोंने दूर की और उसके नीचेसे श्यामवर्ण भगवान् नीलकण्ठका बाणलिङ्ग प्रकट हो गया। आदि शंकराचार्यके करोंसे ही प्रथमार्चन हुआ नीलकण्ठ भगवान्का। तभीसे यह क्षेत्र 'नीलकण्ठ' कहा जाने लगा।

'अपने परम प्रिय आराधकके लिये प्रभु यहाँ व्यक्त हुए और लिङ्गरूपमें उसीकी श्रद्धाको स्वीकार करके सदाके लिये स्थित हो गये।' भगवान् शंकराचार्यने साथके जनोंको उस समय सूचित किया था।

× × ×

हम तो नीलकण्ठमें ग्रीष्मवास करने गये थे। हमें एक संतने बताया था—'भगवान् नीलकण्ठकी स्थापना आदि-शंकराचार्यके करोंसे हुई है।'

स्थापनाकी बातमें कुछ अन्तर था। वह स्थापना नहीं, अभिव्यक्ति और प्रथमार्चन था। हमें बाबा रामझरोखादास-जीने बताया था—'भगवान् नीलकण्ठ स्वयम्भूलिङ्ग हैं।'

'वह ऊपर शिखरपर भुवनेश्वरीका मन्दिर है।' एक पर्वतीय भाईने दिखाया था। अपने अनन्य विश्वासीके समीप आकर जब नीलकण्ठ प्रभु वहीं स्थित हो गये, तब अपने उन आराध्यका सतत दर्शन करती देवी भुवनेश्वरी समीपके पर्वतशिखरपर विराजमान हों, यह सर्वथा स्वाभाविक है।

पीपलका चमत्कार

[एक मुसल्मान मिस्त्रीकी जुबानी अपनी आँखों देखी बिल्कुल सत्य घटना]

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

संत बाबा मलूकदासजी महाराजने कहा है—

हरी डाल मत तोड़िये, लागै सूखा बान।
दास मलूका यों कहै, अपनो-सो 'जिय' जान॥

हरी डालका तोड़ना पाप बताया है। दूसरे एक संतने कहा है—

साधू ऐसा चाहिये, जो दुखै दुखावै नाँय।
फूल पात 'तोड़ै' नहीं, रहै बगीचे माँय॥

आजके बाबूलोग तुलसी, पीपल आदिको पूजना और वृक्षोंमें जीव मानना सब बेकारकी बात बताते हैं और इसे दकियानूसी विचार कहते हैं। पर 'भूत वही, जो सिर चढ़ बोलै' इस कहावतके अनुसार एक मुसल्मानने पीपलमें जीव होने और उन्हें भी हमारी भाँति काटनेपर दुःख होने तथा हरे पीपलको, मानवताको तिलाञ्जलि देकर, लोभके वशीभूत हो, काटनेपर प्रत्यक्ष चमत्कार दिखानेकी जो हमें अपनी आँखों-देखी रोमाञ्चकारी सत्य घटना सुनायी, वह यहाँपर दी जाती है। इससे शास्त्रोंकी, पुराणोंकी बातें अक्षर-अक्षर सत्य सिद्ध होती हैं और मानवताको तिलाञ्जलि देनेका प्रत्यक्ष फल क्या मिल सकता है—यह प्रत्यक्ष होता है। घटना इस प्रकार है—

हरे पीपलको काटनेका और मानवके विश्वासघातका प्रत्यक्ष चमत्कार

सन् १९५७ जूनकी बात है, पिलखुआमें हमारा एक मकान बन रहा था। काम करनेवालोंमें एक राज था, जो जातिका मुसल्मान था। उसका नाम था मियाँ सईदखाँ, जो पिलखुआका ही रहनेवाला है। एक दिन दोपहरकी बात है, किसीने हमें मियाँ सईदखाँके सामने आकर सुनाया कि अमुक जगह काँग्रेसी सरकारकी ओरसे बंदर पकड़े जा रहे हैं और पकड़नेवाले उन्हें बड़ी-बड़ी बुरी यातनाएँ देकर पकड़ते हैं और फिर उन्हें पकड़-पकड़कर पिंजरेमें बंद करके अमेरिका मरनेके लिये भेज दिया जाता है। यह सुनकर सभीको बड़ा दुःख हुआ। इसपर मिस्त्री मियाँ सईदखाँने कहा—'भक्तजी! यह तो बंदरोंकी बात है, उन्हें दुःख होता ही है और जब दुःख होता है, तब वे रोते-चिल्लाते हैं और कीं-कीं करते हैं। जहाँपर बंदर पकड़े जाते हैं, वहाँ बड़ी भारी बीमारी महामारी फैलती देखी गयी है। यद्यपि हम जातिके मुसल्मान हैं, तो भी जो बात सत्य होगी, वह कहनी ही पड़ेगी। यह तो हुई बंदरोंकी बात, हमने तो एक हरे पीपलके वृक्षकी एक बड़ी विचित्र घटना अपनी आँखोंसे देखी है और अनुभव किया है पीपलमें भी हमारी-तुम्हारी तरह जीव होता है तथा हमारी-तुम्हारी भाँति ही उन्हें भी सुख-दुःखका अनुभव होता है। वह बोलता भी है और उसके काटनेका फल—सतानेका, विश्वासघात करनेका फल भी तुरंत मिलता है। वाकईमें वह देवता है, यह सब मैंने अपनी आँखोंसे देखा है।'

अब तो हमें तथा और सभी लोगोंको बड़ी उत्सुकता हुई और हमने कहा—'अच्छा, मियाँ सईदखाँ, जो भी तुमने अपनी आँखोंसे देखा हो, वह सच-सच ज्यों-का-त्यों हमें सुनाओ।'

सईदखाँने कहा—'सुनिये, जो हमने अपनी आँखों देखा है, वही आपको सुनाते हैं—वह भी और कहींकी नहीं, इसी पिलखुआके पासकी और बिल्कुल हमारी आँखों-देखी सत्य घटना है। एक बार हमारे एक मुसल्मान साथी बढ़ईने, जिसका नाम दलबीरखाँ था, एक राजपूतसे एक बिल्कुल हरा पीपल खरीदा और उसकी कीमतके सौ रुपये राजपूतको दे दिये। उसने एक दूसरा हिस्सेदार भी कर लिया, जिसका नाम था इसाकखाँ बढ़ई। दलबीरखाँ और इसाकखाँमें आपसमें यह तय हुआ कि दोनो जने मिलकर पीपलको काट लेंगे और उसमें जो नफा होगा, दोनो मिलकर बाँट लेंगे। काटनेका दिन नियत किया गया।

पीपलद्वारा प्राणोंकी भीखकी याचना

जब पीपलके काटनेका दिन आया, तब उसके काटनेसे ठीक पहले दिनकी रात्रिको दलबीरखाँको स्वप्नमें वही

पीपल दिखलायी दिया और उसने दलवीरखाँसे कहा—'दलवीर ! तू मुझे काटे मत, सताये मत । तू मुझे अपना समझकर छोड़ दे और तूने जो मेरे मोल लेनेमें सौ रुपये उस राजपूतको दिये हैं, वे सब रुपये और जो तुझे मेरे काटनेपर मुनाफेके रुपये मिलते, वे भी तुझे मिल जायँगे । मेरी जड़में अमुक जगह सोना रखा है, तू जाकर खोदकर उसे निकाल ले और बेचकर रुपये कर ले; पर तू मुझे काटे मत । मुझे जीवन दान कर दे ।' दलवीरखाँ बढ़ई जागा और स्वप्नकी बात याद करके अचरजमें डूब गया । उसने आजतक अपने जीवनमें कभी ऐसा स्वप्न पहले देखा ही नहीं था । पहले तो उसने स्वप्नको झूठा समझा और उसे विश्वास नहीं हुआ कि कहीं पीपलमें भी जान होती है और पीपलको भी सुख-दुःखका अनुभव होता है तथा पीपल बोलता है । पर बादमें उसने सोचा—चलो, चुपचाप चलकर देखें सोना मिलता है या नहीं । इसमें हमारा बिगड़ता भी क्या है; मिल गया तो ले आयेंगे, नहीं तो चले आयेंगे । ऐसा विचार करके वह उठा और चुपचाप उसी पीपलके पास जा पहुँचा । उसने पीपलके बताये स्थानपर खोदकर देखा तो सचमुच उसका स्वप्न बिल्कुल सत्य निकला और उसे मिट्टीमें दबी पीली चमचमाती सोनेकी सलाख प्राप्त हुई । अब तो उसके आश्चर्यका ठिकाना न रहा और वह फूला न समाया । हरे वृक्षोंमें भी जान होती है और वे भी हमारी ही भाँति सुख-दुःखका अनुभव करते हैं, यह उसे पक्का निश्चय हो गया । वह घरपर आया और अपनी बीवीको भी सब बातें बता दीं । पर फिर उसके मनमें पाप सवार हुआ और उसने मानवतासे गिरनेका निश्चय कर 'लालच बुरी बलाय'के अनुसार सोचा कि 'यह बात यदि मेरे दूसरे हिस्सेदारको मालूम हो गयी तो वह भी इसमेंसे आधे रुपये माँगेगा । इसलिये इस बातको गुप्त रखना ही अच्छा है, किसीको भी सुनाना ठीक नहीं ।' अतः उसने किसीको भी यह बात नहीं बतायी, उसे बिल्कुल गुप्त रखा ।

अब पीपलके काटनेका जो दूसरा दिन नियत किया गया था, वह जब आया, इसाक अपनी कुल्हाड़ी लेकर दलवीरखाँके पास पहुँचा । यह दलवीर इतना कृतघ्न निकला और मानवतासे इतना गिरा कि जब पीपलने इससे प्राणोंकी भिक्षा माँग ली थी और बदलेमें इसे भरपेट सोनेके रूपमें रुपये दे दिये थे, तब भी इसे संतोष नहीं हुआ और तनिक भी दया नहीं आयी । इसका बुरा समय भी आनेवाला था, इसीलिये उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी । वह कुछ भी विचार न करके अपनी कुल्हाड़ी उठा इसाकके साथ हो लिया । वृक्ष काटनेसे पहले बढ़ई लोग गुड़ बाँटा करते हैं । हम भी उस दिन वहाँ जा पहुँचे थे और सोचा—चलो, मेलके हैं, रास्तेमें मिलते चलेंगे और गुड़ मिलेगा, उसे ले लेंगे । हम जाकर बैठ गये । वे दोनो आये और उस पीपलकी कटाई लगानेको तैयार हो गये । ज्यों ही दोनो बढ़इयोंने पीपलको काटनेके लिये कुल्हाड़ी चलायी कि कुल्हाड़ीके लगते ही एकदम पीपलके अंदरसे खूनके फव्वारे छूटने लगे और आसपास खड़े सभी मनुष्योंके कपड़े खूनसे भीग गये । यह देखकर सभीको बड़ा आश्चर्य हुआ । किसीने भी आजतक अपने सारे जीवनमें ऐसी महान् आश्चर्यजनक घटना न देखी थी, न सुनी ही थी । वृक्षोंमेंसे इस प्रकार खूनके फव्वारे छूटना एकदम नयी घटना थी । दलवीरखाँ और इसाकखाँने अपने जीवनमें एक नहीं, इससे पहले सैकड़ों ही हरे दरख्त काटे होंगे; पर आजतक किसी भी वृक्षमेंसे इस प्रकार खूनकी धारा बहती हुई और छूटती हुई नहीं देखी थी । यह क्या हुआ और ऐसा क्यों हुआ, यह रहस्य किसीकी भी समझमें नहीं आया । दलवीरखाँ बढ़ईको तो सब मालूम था, पर वह तो मानवताको तिलाञ्जलि देकर और लोभके वशीभूत हो इस असली रहस्यको किसीको बतानेके लिये तैयार नहीं था । वह सबके सामने बिल्कुल ऐसा बना रहा कि जैसे औरोंकी भाँति यह भी कुछ नहीं जानता और उसे भी किसी बातका पता नहीं है ।

होनी बड़ी प्रबल है । जो होना होता है, होकर ही रहता है । पीपलके द्वारा इस प्रकार सबके सामने प्रत्यक्ष चमत्कार दिखाये जानेपर भी दलवीरको होश नहीं आया और वह काटनेसे बाज नहीं आया । उसने कोई परवा नहीं की और फिर कुल्हाड़ी चलाना—काटना शुरू कर दिया । दलवीरखाँ बढ़ईके एक ही लड़का था और वह बिल्कुल अच्छा तथा बड़ा तन्दुरुस्त था । उसके किसी भी प्रकारकी बीमारीका नाम भी नहीं था । पर पीपल काटने, पीपलके साथ विश्वासघात करनेका बुरा फल आज उसे भोगना था—'तुलसी' हाय गरीबकी कभी न खाली जाय ।

ज्यों-ज्यों जङ्गलमें कुल्हाड़ी चलायी जा रही थी और पीपलको काटा जा रहा था, त्यों-ही-त्यों दलवीरखाँके इकलौते लड़केकी अकस्मात् हुई बीमारी बढ़ती जाती थी और ज्यों ही शामतक पीपल पूरा काटा गया, त्यों ही शामतक वह

लड़का भी मर गया। अब तो सारे गाँवमें हा-हाकार मच गया। जो लड़का कलतक बिल्कुल चंगा था; वह एकदम कैसे मर गया; इस रहस्यको कोई भी नहीं समझ सका और सारा गाँव उसके घरपर इकट्ठा हो गया। दलबीरखाँकी स्त्रीको इस सत्य घटनाका पता था कि किस प्रकार मेरे पापी पतिने पीपलके साथ विश्वासघात किया है। उसने सोचा कि पीपलके द्वारा स्वप्नमें अपने प्राणोंकी भीख माँगनेपर भी और बदलेमें सोनेकी सलाख दे देनेपर भी इसने पीपलको नहीं छोड़ा तथा मानवतासे गिरकर घोर दानवताका काण्ड किया; उसीका यह महान् भयंकर दुष्परिणाम है जो हमारा इकलौता लड़का बिना किसी बीमारीके देखते-देखते मर गया। उसके धैर्यका बाँध टूट गया और वह फूट-फूटकर रोने लगी; सिर धुन-धुनकर अपनी छाती पीटने लगी। सारा गाँव आ गया और किसीने दलबीरखाँको भी जाकर खबर कर दी; जिससे वह भी भागा हुआ आया और रोने-चिल्लाने लगा। जब उसकी स्त्रीने अपने पतिको आते देखा; तब वह और भी जोर-जोरसे रोने-चिल्लाने लगी और उसने सबके सामने शर्म छोड़कर अपने पापी पतिकी छातीमें हाथ मारकर उसकी काली करतूतोंका भंडाफोड़ करना प्रारम्भ कर दिया। वह सबके सामने रोती हुई बोली कि 'मेरे इकलौते बेटेको और किसीने नहीं मारा है; यह सामने खड़ा इसका पापी बाप ही उसकी मौतका जिम्मेवार है। इस पापी बापने ही अपने इकलौते बेटेको मौतके घाट उतारा है। यही बेटेका हत्यारा है। इस पापीने जब पीपलने रातमें स्वप्न देकर अपने प्राणोंकी इससे भीख माँग ली थी और इसे सौ रुपये तथा उसके सारे मुनाफेके रुपयेके एवजमें सोनेकी सलाख दे दी थी; फिर भी इस पापीको सब्र नहीं हुआ और यह हत्यारा लोभके वशीभूत हो कुल्हाड़ी लेकर पीपलको काटने जा चढ़ा। जब उसमेंसे खूनकी धार निकली; जैसी कभी आजतक नहीं देखी गयी थी; तब भी यह बाज नहीं आया; नहीं माना और आखिर अपने इकलौते बेटेको मौतके घाट उतारकर ही इसने दम लिया। हाय पापी! तेरा नाश हो जाय, तूने सारे घरको बरबाद कर दिया।'

अब तो सारा गाँव इस बिल्कुल सत्य घटनाको सुनकर आश्चर्यचकित हो गया। सभी लोग दाँतों-तले अँगुली दबाने लगे और हिंदुओंके शास्त्रोंकी बातें गप नहीं हैं वरं अक्षर-अक्षर सत्य है; यह कहने लगे। हिंदूलोग जो हरे वृक्षमें जीव बताते हैं और हरे वृक्षोंको काटना घोर पाप मानते हैं तथा वृक्षोंमें भी हमारी भाँति सुख-दुःखका अनुभव होता है; यह बताते हैं, वह सत्य है। वे मानते हैं—पीपल तो साक्षात् देवता है; इसके पूजनसे बड़े-बड़े कार्य सिद्ध होते हैं और इसके अपमानसे तथा इसके शापसे महान् हानि होती है। इसको सभी हिंदू-मुसलमान एक स्वरसे स्वीकार करने लगे और सत्य मानने लगे। सारा गाँव दलबीरखाँको धिक्कारने लगा और वह भी फूट-फूटकर और दहाड़ मारकर रोने लगा। उसने रोते-रोते कहा—'सचमुच मैं ही अपने बेटेका हत्यारा हूँ। यदि मैं लोभके वश न होकर पीपलकी बात मान लेता और पीपलकी दी हुई सोनेकी सलाखपर ही संतोष कर लेता; पीपलके साथ विश्वासघात नहीं करता तो मेरा आँखोंका तारा; प्राणप्यारा इकलौता बेटा मेरे हाथसे नहीं छिनता। मेरा घर बरबाद नहीं होता और मेरा बुढ़ापा नहीं बिगड़ता। खुदाके यहाँ इंसाफ है, मैंने हकीकतमें बड़ा भारी गुनाह किया था; जो हरे पीपलको काटा और उसके साथ विश्वासघात किया। उसीका नतीजा मुझे खुदाने दिया। मैं अबसे कभी भूलकर भी हरे पीपलको नहीं काटूँगा। यह प्रतिज्ञा करके कहता हूँ।'

बादमें उसने कभी हरा वृक्ष नहीं काटा। यह बिल्कुल सत्य घटना क्या यह सिद्ध नहीं करती कि मानवको वृक्षोंके साथ भी मानवोचित व्यवहार करना चाहिये?

हरि ही सों लौ लागी

रसिकवर हरि सुमिरै बड़भागी।
हरि ही कहै, सुनै हरि ही अरु हरि ही सों लौ लागी॥
हरि ही को नित लाड़ लड़ावत हरि ही के अनुरागी।
श्रीहरिदासी 'ललितकिसोरी' प्रेम परस्पर पागी॥

कामके पत्र

(१)

भगवान्‌की सहज कृपामें विश्वास करो

सप्रेम हरिस्मरण । मनुष्य दुर्बल प्राणी है । जन्म-जन्मान्तरका उसे विषय-सेवनका अभ्यास है, सङ्ग भी विषयी जगत्‌का है । काम, क्रोध, लोभ, मोहके वश सदा वह योनि-योनिमें रहता आया है । इसलिये मनमें विकारों तथा दोषोंका रहना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । पर भगवान्‌की कृपासे जब मनके दोष दीखने लगते हैं तथा उनके रहनेका दुःख होने लगता है, तब वे नष्ट होने लगते हैं—'जाने तें छीजहिं कछु पापी ।' वास्तवमें संसारके प्राणि-पदार्थोंमें सुखकी कल्पना किसी-न-किसी अंशमें बनी रहती है, इसीसे अनुकूल विषयोंमें आसक्ति रहती है, उनके प्राप्त करनेकी कामना होती है तथा उनके न मिलने या नष्ट हो जानेपर दुःख होता है । और इसीसे मनुष्यकी, जानते-समझते हुए भी, बुरे कर्ममें प्रवृत्ति होती है । कई बार भगवान्‌के नामपर भी नासमझीसे विषयासक्तिवश विषय-सेवन होता रहता है । पर भगवत्कृपापर विश्वास करके भगवान्‌के बलसे इस प्रवृत्तिको तथा इस प्रकारकी इच्छाओंको सर्वथा नष्ट कर देना चाहिये । इन्द्रिय-सुख-लालसा, मानकी इच्छा, शरीरके आरामकी कामना, अनुकूल प्राणि-पदार्थ-परिस्थितिकी लालसा—ये सभी हमारी यथार्थ भगवत्-प्रीतिमें बाधक हैं; परंतु इनका त्याग सहज नहीं है । इसलिये इनके त्याग या नाशकी सच्ची इच्छा जाग्रत् करके अपनेको सर्वथा निर्बल मानकर सर्वसमर्थ प्रभुके शरण हो जाना चाहिये । प्रभु निर्बलके बल हैं, असहायके सहायक हैं । वे ऐसे करुणामय हैं कि शरण होनेवालेके पापोंसे घृणा तो करते ही नहीं—छोटे बच्चेका मल जैसे माँ अपने हाथसे धो देती है, उसी प्रकार स्वयं उसके पापोंको धोकर साफ कर देते हैं, पापके मूलतकका नाश कर देते हैं ।

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।'
'पापयोनयः··········तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।'

—उनकी घोषणा है । वे शुद्ध होनेपर अपनाते हों, ऐसी बात नहीं है । कोई कैसी भी—बुरी-से-बुरी हालतमें हो, वह यदि भगवान्‌की शरणमें चला जाता है तो भगवान् उसे तुरंत अपना लेते हैं और तुरंत उसके पापोंका नाश कर देते हैं । अच्छा होनेपर रोगी वैद्यके पास क्यों जाय ? रोगकी अवस्थामें ही वह जाता है और वैद्य उसे अच्छा कर देते हैं । वैद्यकी सफलता रोगीको अपनाकर उसे अच्छा करनेमें ही है । इसीसे भगवान् पुनीतोंकी परवा नहीं करते, शरण आये पामरोंपर प्रीति करते हैं—

ऐसी कौन प्रभु की रीति ।
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ।

इसलिये कभी भी निराश न होकर सदा आशावादी रहना चाहिये । भगवान् करुणासागर हैं, उनकी सहज कृपासे हमारे सारे पाप-ताप तुरंत वैसे ही नष्ट हो जायँगे, जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है । और यह विश्वास करना चाहिये कि भगवान्‌ने मुझे अपना लिया है । जहाँ ऐसा विश्वास होने लगेगा, वहीं स्वाभाविक ही पाप-ताप नष्ट होने लगेंगे और जहाँ यह विश्वास सुदृढ़ और निश्चित हो जायगा, वहाँ फिर पाप-ताप रहेंगे ही नहीं । सारी अशान्ति नष्ट होकर शान्तिकी उपलब्धि हो जायगी—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।

(२)

प्रार्थनासे रोगमुक्ति

प्रिय बहिन ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । दैवी अनुष्ठान करानेकी शक्ति नहीं है तो

कोई बात नहीं, आप स्वयं अपने मनसे अपनी ही करुण भाषामें सर्वशक्तिमान् सहजसुहृद् भगवान्से प्रार्थना कीजिये। इस साधनके सिवा मेरी जानकारीमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे मैं आपको बता सकूँ। विश्वासपूर्वक की हुई प्रार्थनासे मानस तथा शारीरिक सभी प्रकारके रोगोंका नाश हो सकता है। 'साइंस ऑव थॉट रिव्यू'* नामक एक इंगलैंडके पत्रमें श्रीगिल्बर्ट हेनरी गेज नामक सज्जन लिखते हैं— जर्मनीके एक आदमीको 'शैशविक पक्षाघात' (Polio) का रोग जन्मके पहले ही वर्ष हो गया था। फलतः उनके दोनो पैर लकवेसे बेकार हो गये। उसके लिये प्रार्थना की गयी। चार महीनेके बाद समाचार मिला कि उनके पैरमें नवीन शक्ति आ गयी है। ४८ सालसे जो मांसपेशियाँ मरी हुई थीं, वे सक्रिय हो गयी हैं, उनका जीवन सब चिन्ताओंसे मुक्त, भगवद्-विश्वासपूर्ण और प्रफुल्लित हो गया है।'

प्रार्थनामें होना चाहिये विश्वास। आप करके देखिये। इसमें कोई हानि तो है ही नहीं। शेष भगवत्-कृपा।

(३)

सिनेमा और फैशनका दुष्परिणाम

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। वर्तमान कालमें सिनेमाके कारण जो महान् पतन हो रहा है और फैशनके लिये हमारी बहू-बेटियोंमें—खास करके पढ़ी-लिखी बहनोंमें जो फिजूलखर्ची बढ़ गयी है तथा उसके कारण जो घोर दुरवस्था हो रही है, उसपर विचार करते ही हृदय काँप उठता है और रोंगटे खड़े हो जाते हैं। सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह है कि इसको जीवनका उच्चस्तर या उन्नति बतलाया जाता है। सीता, सावित्रीके देशमें आज स्त्रीका सतीत्व कोई वस्तु ही नहीं रह गया है। पता नहीं भविष्यमें पतनकी यह परम्परा कितनी नीची जायगी और भारतीय पवित्र संस्कृतिका कितना ह्रास होगा। आपने लिखा सो ठीक है—न कला बुरी चीज है, न मनोरञ्जन। बशर्ते कि वह समाज और व्यक्तिके जीवनको उच्चस्तरपर ले जानेवाले हों। जो कला केवल कलाके लिये होती है—समाज तथा व्यक्ति-कल्याणका जिसमें कोई स्थान नहीं होता अथवा जो मनोरञ्जन मनको अनर्गल अवैध विषय-भोगकी ओर प्रेरित करनेवाला होता है, वह 'कला' वस्तुतः 'काल' रूप होती है और वह मनोरञ्जन नारकीय यन्त्रणाकी भूमिका होता है। यह स्मरण रखना चाहिये।

अभी हालमें बम्बईके कोलाबाक्षेत्रमें पुष्पाभवनपर छापा मारकर पुलिसने एक सिनेमा-अभिनेत्रीको पकड़ा था, जो फैशनकी लालसाको पूरा करनेकी धुन और अपने भविष्यकी ऊँची कल्पनामें पगली लड़कियोंसे जघन्य नीच कार्य करवाती थी। इसके यहाँ कुछ ऐसी फैशनेबल लड़कियाँ रहती हैं, जो पढ़ी-लिखी, सुन्दर, ऊँचे स्वप्न देखनेवाली तथा अच्छे घरानोंसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं। पुलिसने जासूस नियुक्त करके पूरी छानबीनसे इस अड्डेका पता लगाया और धोबीतालावके किसी होटलमें ऐसी ही एक और लड़कीको गिरफ्तार किया। यह समाचार अजमेरसे प्रकाशित साप्ताहिक 'नवज्योति' में छपा था। यह तो एक घटना-प्रसङ्ग है; परंतु देशभरमें कहाँ-कहाँ किस-किस प्रकारसे ऐसे कितने पतनके नये-नये रास्ते निकल रहे हैं, उनकी संख्या ही नहीं है। जिस कला और मनोरञ्जनका यह परिणाम हो, उसकी समाजके कल्याणके लिये आवश्यकता बतायी जाय—इसे हमारे देशके दुर्भाग्यके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता

* 'Science of Thought Review', Chichester, Guly, 1959, page 258

है। हमारे भावी आशास्थल नवयुवक और नवयुवतियोंका कितना घोर पतन हो रहा है—इसपर जरा गम्भीरतासे विचार करनेकी आवश्यकता है । शेष भगवत्कृपा।

(४)

दैन्यका सच्चा अर्थ

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर निम्नलिखित है—

दैन्यसे अभिप्राय है—'अभिमानका नाश'। अभिमानी मनुष्यसे दूसरोंका अपमान हुए बिना नहीं रहता। किसी-न-किसी वस्तुको, परिस्थितिको, भावको लेकर वह अपनेको ऊँचा और दूसरेको नीचा समझता है। पर यह अभिमान उसको साधनपथसे गिरा देता है। इसीलिये श्रीचैतन्यदेवने 'तृणादपि सुनीच' होनेके लिये कहा था। जो अपनेको एक राहमें पड़े तिनकेसे भी नीचा माने, उसको किस बातका अभिमान होगा? यह दैन्य सहज—स्वाभाविक होना चाहिये। दैन्यका भी एक अभिमान हो जाया करता है। 'मेरे जीवनमें कितना दैन्य है, और दूसरे लोग कितने अभिमानी हैं, अतः मैं उनसे अच्छा हूँ—सद्गुणी हूँ'—ऐसा बड़प्पनका भाव मनमें आ जाता है। इससे सावधान रहना चाहिये। मनुष्य भगवान्से प्रार्थना करते समय अपना दैन्य प्रकट करता है; पर उसमें वस्तुतः दैन्यका पता तभी लगता है, जब दूसरा कोई उसके किसी गुणपर आघात करे और वहाँ सहज दैन्यके कारण उसे क्षोभ तो हो ही नहीं, वरं यह ध्यानमें आये कि यह सच कह रहा है, और उसके प्रति सद्भाव हो। ऐसा दैन्य भगवान्को बड़ा प्रिय होता है और भगवत्कृपा-प्राप्ति या साक्षात् भगवत्प्राप्तिका यह एक अमोघ परम सरल साधन है कि अपनेमें सच्चे अर्थमें असमर्थताका बोध होकर दैन्य आ जाय और दीनबन्धु भगवान्की सहज सुहृदता और सर्वशक्तिमत्तामें अखण्ड विश्वास हो जाय। यह होते ही तत्काल भगवत्कृपा प्रकट होकर फलित हो जाती है, उसके सारे पाप कट जाते हैं, वह प्रभुका निजजन बन जाता है और उसे भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। जैसे बिजलीके 'ऋणात्मक' या 'अभावात्मक' (Negative) और 'धनात्मक' या 'भावात्मक' (Positive) दो तारोंके मिलते ही विद्युत् उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही 'दीनता' और 'सर्वशक्तिमत्ता' अर्थात् 'अभाव' और 'पूर्णत्व' के यथार्थतया मिलते ही परिपूर्णतम परम साध्य भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। अतएव अपनेको सच्चे अर्थमें 'दीन' बना ले और भगवान्के अनन्त शक्तिमय सौहार्दमें अखण्ड अनन्य विश्वास कर ले।

दूसरे प्रश्नके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि …………सज्जनकी स्थिति वही जानते हैं और जानते हैं सर्वज्ञ भगवान्। मुझको कुछ भी पता नहीं। हाँ, मुझसे वे अवश्य ही अत्यन्त उच्च हैं, उनके साथ मेरी तुलना करना ही भूल है। वे यदि अमूल्य रत्न हैं तो मैं काँचका एक नगण्य तीखा टुकड़ा हूँ। मेरी बात मैं क्या बताऊँ! दूसरे क्या कहते हैं, क्या मानते हैं—यह उनकी अपनी दृष्टि है। और उनको मैं समझाने जाऊँ तो वे समझेंगे भी नहीं। पर मेरी अपनी दृष्टिसे मैं सभी साधारण मनुष्योंकी भाँति दुर्बलताओंसे भरा एक मनुष्य हूँ। मुझमें कोई भी विशेषता नहीं है। एक विशेषता है और उसे मैं मुक्तकण्ठसे निस्संकोच स्वीकार करता हूँ कि अकारण कृपालु, स्वभावसे ही सुहृद् सर्वशक्तिमान् भगवान्की मुझपर अनन्त कृपा है, (जो सभीपर है) और उस कृपासे ही मुझे पद-पदपर उसका अनुभव होता है। शेष भगवत्कृपा।

(५)

पापका प्रायश्चित्त—पश्चात्ताप

प्रिय बहिन, सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला।

आपकी मानस व्यथाका कारण तो बहुत ठीक है, परंतु अब उसके लिये चिन्ता-विषाद करनेमें कोई लाभ नहीं। बचपनमें गलती हो गयी, उसके लिये सबसे बड़ा प्रायश्चित्त तो पश्चात्ताप ही है और वह आपको है ही। अब आपका जीवन परम पवित्र है, कहीं कोई दोष आपमें है नहीं। यही प्रायश्चित्त है। इसपर भी यदि आप और कुछ करना चाहें तो पापनाश तथा प्रभुकृपाके विश्वासके साथ 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥—इस मन्त्रकी सौ माला (प्रत्येक माला १०८ दानोंकी) धीरे-धीरे जप कर लें। इससे आपके पापका नाश हो जायगा।

घरमें या बाहर किसीसे भी, पतिदेवसे भी इस बातकी कभी भूलकर भी चर्चा मत कीजिये। यह उनको धोखा देना नहीं है—उनको दुश्चिन्ता, दुःख और नये भयानक कलहसे बचाना है। मेरे पास एक उदाहरण है—एक बड़े सीधे हृदयकी बहिनने सरलतासे अपने बचपनकी कोई भूल स्वामीको बता दी। वह स्वयं निर्दोष भी थी। परंतु उसकी बात सुनते ही पतिको इतना क्षोभ हुआ कि उसने अपनी संतानवती पत्नीको सदाके लिये घरसे निकाल दिया। वह नितान्त दुखी हो गयी। उसका दस वर्षका सुखी विवाहित जीवन मटियामेट हो गया। पतिको बहुत समझाया भी गया, पर उसका मन नहीं पलटा। अतएव आप अपनी इस बातको कहीं भी प्रकट करनेकी भूल मत कीजियेगा।

अब जीवनको परम पवित्र रखिये। सर्वथा पतिकी अनुगामिनी और सेवापरायण बनकर रहिये। भगवान्‌के पवित्र नामोंका जप कीजिये। विश्वासपूर्वक भगवत्प्रार्थना कीजिये। भगवत्कृपासे बड़े-से-बड़े पाप नष्ट हो जाते हैं। भगवान्‌की शरण ग्रहण कीजिये—

सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

अतएव अशान्ति और चिन्ताको त्यागकर भगवत्कृपापर विश्वास कीजिये। शेष भगवत्कृपा।

दान दो

भूखे जनको अन्न-दान दो, प्यासेको दो जलका दान।
वस्त्रहीनको वस्त्र-दान दो, मानहीनको सच्चा मान॥
भय-विह्वलको अभय-दान दो, शरणहीनको आश्रय-दान।
शोक-विकलको शान्ति-दान दो, आतुर जनको सेवा-दान॥
दुःख-पतितको धैर्य-दान दो, रोगी जनको औषध-दान।
पथ भूलेको मार्ग-दान दो, दो निराशको आशा-दान॥
ज्ञानहीनको ज्ञान-दान दो, संशयालुको श्रद्धा-दान।
धर्महीनको धर्म-दान दो, नास्तिकको ईश्वरका ज्ञान॥
जो, जिसको, जब आवश्यक हो, करो तभी उसको वह दान।
जो तुम कर सकते हो; पर मत करो कभी उसपर अहसान॥
मत समझो दाता अपनेको, करो न कुछ भी तुम अभिमान।
सविनय करो समर्पण प्रभुको, प्रभुकी वस्तु सहित सम्मान॥

निन्दा महापाप

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि उसकी प्रशंसा हो। कोई भी व्यक्ति अपनी निन्दा सुननेको तैयार नहीं, पर दूसरोंकी निन्दा करनेमें हर व्यक्ति तैयार मिलता है। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' इस महान् आदर्श वाक्यके अनुसार मनुष्यको वैसा व्यवहार दूसरेके प्रति नहीं करना चाहिये, जिसे वह अपने प्रति होना नहीं चाहता। अर्थात् जब हम दूसरोंद्वारा की गयी अपनी निन्दाको बुरा समझते हैं, सहन नहीं कर सकते, तब हमें भी दूसरोंकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। जैन आगमोंमें निन्दकके लिये कहा गया है कि वह पीठका मांस खानेवाला है अर्थात् पीठ-पीछे दूसरोंकी बुराइयोंको कहकर वह उनके दिल दुखानेवाला है। अतः निन्दा एक तरहसे हिंसाका ही एक प्रकार है; क्योंकि तन, मन, वचनसे किसीका भी किसी तरहसे दिल दुखाना, दिलको या शरीरको चोट पहुँचाना हिंसा है।

संसारमें जितने भी प्राणी हैं, सभीमें कुछ गुण और कुछ दोष रहते हैं। सर्वथा निर्दोष तो परमात्मा या परमेश्वर माना जाता है। शेष सभीमें गुणोंके साथ दोष भी रहे हुए हैं। किसीमें गुणोंका आधिक्य है तो किसीमें दोषोंका। जिसे हम एकदम दोषोंका भण्डार कहते हैं, उसमें भी कोई-न-कोई गुण या विशेषता खोज करने या ध्यान देनेपर अवश्य मिलेगी। इसलिये ज्ञानियोंने कहा है कि निन्दा या आलोचना करनी हो तो अपने दोषोंकी करो, जिससे वे दोष कम हो जायँ या नष्ट हो जायँ। दोषोंके प्रति अरुचि होना, दोषोंको दोषके रूपमें समझना और दोषोंके निवारणमें प्रयत्नशील होना—यही गुणवान् बननेका सरल उपाय है। जितने-जितने अंशोंमें दोष कम होंगे, उतने ही अंशोंमें गुण प्रकट होंगे। मनुष्य गुणी बनना चाहता है, जिससे लोग उसकी प्रशंसा करें; पर दुर्व्यसनों और दोषोंसे छूटनेका पुरुषार्थ नहीं करता, यही उसकी सबसे बड़ी कमी है।'

इतना ही नहीं, मनुष्य इससे विपरीत मार्गपर भी चलता है। वह अपनी आलोचना या निन्दा न करके दूसरोंकी निन्दा करता है, जिससे उसे तनिक भी लाभ नहीं होता; अपितु बहुत बड़ी हानि होती है। जिसकी भी निन्दा की जाती है, उससे स्वाभाविक वैर-विरोध बढ़ता है, प्रीति और मैत्री टूट जाती है। वह उसे विरोधी मानकर बदला लेनेका भी प्रयत्न करता है, फिर चाहे सुयोग न मिलनेके कारण वह उसमें सफल न हो सके। निन्दक व्यक्तिको कोई भी अच्छा नहीं मानता; क्योंकि निन्दा एक बुरी आदत है। आज वह किसी एक व्यक्तिकी निन्दा करता है तो कल वह दूसरेकी भी निन्दा करेगा। आज किसी दोषी व्यक्तिकी निन्दा करता है तो कल वह अपनी उस बुरी आदतके कारण या स्वार्थभङ्ग होनेसे निर्दोष व्यक्तिकी भी निन्दा कर बैठेगा। इस निन्दासे उस व्यक्तिके 'अहं' को ठेस पहुँचेगी, जिसकी वह निन्दा करता है; अतएव हानि तो अनेक तरहसे होती ही है, लाभ कुछ भी नहीं होता। यदि किसीके वास्तविक दोषोंकी वह निन्दा करता है तो भी उसकी निन्दासे उस व्यक्तिके दोषोंका सुधार नहीं होगा और यदि किसीकी झूठी निन्दा कर देता है तब तो महान् पाप है ही। दूसरेके दोषोंकी अधिक चर्चा करना, अपनेमें उन दोषोंका प्रादुर्भाव करना है। इसलिये सभी महापुरुषोंने निन्दाको महापाप बतलाया है। संत कबीर कहते हैं—

> दोष पराये देख कर, चल्या हसंत हसंत।
> अपने च्यंति न आवई, जिनकी आदि न अंत॥
> जै कोउ निंदे साधु कूँ, संकट आवै सोय।
> नरक माँय जामें मरे, मुक्ति कबहुँ न होय॥
> लोक बिचारा निंदई, जिन्ह न पाया ज्ञान।
> राम नाँव राता रहे, तिनहिं न भावे आन॥
> कबीर घास न निंदिये, जो पाँउ तलि होइ।
> उड़ि पड़ै जब आँख में खरी दुहेला होइ॥

अर्थात् 'मनुष्य दूसरोंके दोष देखते हुए हँसता है, पर अपने दोषोंकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता, जिन दोषोंका आदि-अन्त ही नहीं है। जो व्यक्ति किसी सत्पुरुषकी निन्दा करता है, उसे अवश्य ही संकट मिलेगा, वह नरकमें जन्मेगा और मरेगा, उसे मुक्ति कभी नहीं मिलेगी। संत कबीर कहते हैं कि अपने पैरों-तले पड़े घासकी भी निन्दा न करे; क्योंकि वह छोटा-सा तिनका भी यदि उड़कर आँखमें पड़ जायगा तो तुम्हें बहुत दुःख होगा।' बेचारे अज्ञानी जीव दूसरोंकी निन्दा करते हैं। वास्तवमें उन्हें उसके महान् दोषका

ज्ञान नहीं है। रामके नामको रटनेवालेको तो दूसरेकी निन्दा कभी रुचिकर हो ही नहीं सकती।

हम दूसरोंकी निन्दा न करें, संतोंने केवल इतनी ही शिक्षा नहीं दी, इससे आगे बढ़कर उन्होंने यह भी कहा है कि तुम्हारी निन्दा करनेवालोंके प्रति भी तुम द्वेष या घृणा न करो। वे अज्ञानी व्यक्ति स्वयं ही अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी मारते हैं। अतः वे करुणाके पात्र हैं, घृणा और द्वेषके नहीं। यदि हम उनके द्वारा की जानेवाली निन्दाके प्रति ध्यान न दें तो हमारे मनमें कोई बुरा भाव उत्पन्न नहीं होगा। निन्दक तो बिना कुछ लिये ही हमारे पापरूपी मैलको धोकर हमें निर्मल बनाता है। हमारी जिन बातोंकी वह निन्दा करता है यदि वे दोष हमारेमें हैं तो उस व्यक्तिका हमें उपकार ही मानना चाहिये कि उसने हमारे दोषोंको बताकर हमें सजग कर दिया, दोषोंके दूर करनेका मौका दिया। इसीलिये संतोंने कहा है कि निन्दकको दूर न करके अपने नजदीकमें बसाओ, उससे द्वेष न कर उसका आदर करो। संत कबीरने इसी भावको नीचेके पद्योंमें बड़े सुन्दर ढंगसे कहा है—

निंदक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन साबुन बिन पानियाँ, निरमल करै सुभाय॥
निंदक दूर न कीजियै, दीजे आदर मान।
निरमल तन, मन, सब करै बक बक आन हि आन॥

महाकवि 'समय-सुन्दर'ने अपने निन्दा-परिहार गीत-द्वयमें बड़ा ही सुन्दर प्रबोध दिया है—

(१)

निंदा न कीजै जीव पराई,
निंदा पापई पिंड भराई।
निंदक निश्चय नरकहि जाई,
निंदक चौथउ चंडाल कहाई।
निंदक रसना अपवित्र होई,
निंदक मांस भक्षक सम दोई।
'समय सुन्दर' कहई निंदा न कर जो,
पर-गुण देखि हरख मन धर जो।

(२)

निंदा मत करज्यो कोई नी पारकी रे,
निंदानै बोल्याँ महा पाप रे।
वैर विरोध वाधहि घणा रे,
निंदा करता न गिणै माई बाप रे। १।

दूर बलतीं काँ देखो तुम रे,
पगमां बलती देखो सब कोई रे।
परनां मैलमा धोया लुगडा रे,
कहौ किम ऊजला होइ रे। २।
आपु सँभालो सबको आपणो रे,
निंदानी मूको परि टेव रे।
थोड़ा घणा अवगुणै सब भरया रे,
केहना नळिया चूयैं करवा नेव रे। ३।
निंदा करइ ते थाय नारकी रे,
तप जप कीधुँ सब जाई रे।
निंदा करो तो करजो आपणी रे,
जिम छुटक बारउ थाय रे। ४
गुण ग्रज्यो सहुको तणो रे,
जिहं मां देखउ एक विचार रे।
कृष्ण परइ सुख पामस्यो रे,
'समय सुन्दर' कहइ सुखकार रे। ५।

महात्मा बुद्धने कहा है—'जो दूसरोंके अवगुण बखानता है, वह अपना अवगुण बखानता है।' महाभारतमें कहा है—'दुर्जनोंको निन्दामें ही आनन्द आता है। सारे रसोंको चखकर कौआ गंदगीसे ही तृप्त होता है।' तामिलमें कहा गया है—'निन्दक और जहरीले साँप दोनोंके दो-दो जीभें होती हैं।' इसमाइल इब्न् अबीबकरने कहा है—'सारे संसारमें विवेक-भ्रष्ट वह आदमी है, जो लोगोंकी निन्दामें दत्तचित्त रहता है, जैसे मक्खी रुग्ण स्थानोंपर ही बैठा करती है।'

अजमेरसे प्रकाशित 'सविता'में निन्दाके सम्बन्धमें बहुत ही अच्छा लिखा गया है कि 'निन्दा एक जघन्य पाप है और है एक भयंकर अभिशाप। निन्दासे जितनी हानि स्वयं निन्दककी होती है, उतनी हानि उन व्यक्तियोंकी नहीं होती, जिनकी निन्दा की जाती है। वे व्यक्ति यदि उदार और समझदार हों तो निन्दकके द्वारा अपने दोषोंकी चर्चा सुनकर निरन्तर अपना सुधार करते रहते हैं और एक दिन नितान्त निर्दोष और निष्पाप बन जाते हैं। यदि वे व्यक्ति क्षुद्राशय होते हैं तो वे बदलेमें अपने निन्दककी निन्दा करने लगते और स्वयं भी निन्दक बन जाते हैं। अपने-अपने निन्दकोंकी निन्दा कर-करके स्वयं भी निन्दक बन जानेसे ही, संसारमें निन्दकोंकी संख्या इतनी अधिक हो गयी है। निन्दा कभी भी सहायता या सुधारके भावसे नहीं की जाती। अपितु क्षुद्राशयता या बदनाम करने-

की दृष्टिसे ही की जाती है। निन्दककी दृष्टि किसीके गुणोंपर नहीं, दोषोंपर ही पड़ती है। निन्दक दोषोंका ही दर्शन करता है, दोषोंका ही बखान करता है और दोषोंका ही चिन्तन करता है और जो जैसा देखता बोलता, सुनता और सोचता है, वह स्वयं वैसा ही बन जाता है। दूसरोंके दोषोंका दर्शन, वर्णन, श्रवण और चिन्तन करते-करते निन्दक स्वयं दोषोंकी खान बन जाता है, वह स्वयं दोषोंसे भरपूर भर जाता है।'

कई व्यक्ति कहा करते हैं कि 'किसीके वास्तविक दोषोंका वर्णन करनेमें क्या बुराई है? वह तो सच्ची बात है, निन्दा नहीं।' पर यदि किसीके दोषोंको सुधरवानेकी हमारी भावना है तो हम उन दोषोंका प्रकाशन दूसरोंके आगे क्यों करें? उसी व्यक्तिको ही एकान्तमें प्रेमपूर्वक क्यों न समझायें? यदि हम वैसा करते हैं तो वास्तवमें वह एक उपकारका काम है। पर साधारणतया उस व्यक्तिके सामने उसके दोषोंको कहते हमें संकोच या भय होता है और दूसरोंके सामने मूल व्यक्तिके परोक्षमें बढ़ाचढ़ाकर उसके दोषोंका उद्घाटन करते हैं। यह निन्दा ही है। निन्दा और समालोचनामें बड़ा अन्तर है, उसे भी हमें ठीकसे समझ लेना चाहिये। 'सविता' के उपर्युक्त अङ्कमें इस सम्बन्धमें लिखा गया है कि 'निन्दा और समालोचनामें बहुत अन्तर है। निन्दा व्यक्तिकी की जाती है और व्यक्तिगत द्वेषके कारण की जाती है। समालोचना कृति, रचना, सिद्धान्त, मन्तव्य और मान्यताकी की जाती है। ईर्ष्या-द्वेषसे रहित होकर सदाशयताके साथ की जाती है।'

निन्दक और समालोचकमें भी अन्तर है। जो ईर्ष्या-द्वेषके वशीभूत होकर किसीकी व्यक्तिगत निन्दा करता है, वह निन्दक है और जो निष्पक्ष होकर सदाशयताके साथ शालीनतापूर्वक किसीकी कृति, रचना, सिद्धान्त, मन्तव्य या मान्यताकी विवेचना करता है, उसे समालोचक कहते हैं। जब समालोचक समालोचना करता हुआ पक्षपात या द्वेषके कारण निराधार और मिथ्या दोषारोपण करके सम्बन्धित व्यक्तिके व्यक्तित्वपर आक्रमण करता है, तब वह समालोचक समालोचक न रहकर निन्दक बन जाता है और उसकी समालोचना समालोचना न होकर निन्दा हो जाती है।

समालोचना एक परमोत्कृष्ट कला ही नहीं है, एक परम पुनीत साधना भी है। आस्तिक, धर्मात्मा, निरभिमान, अनहंकार, अनासक्त, निःस्पृह, निर्मल साधनाशील, बहुज्ञ और बहुश्रुत जन ही समालोचकके पुनीत आसनको सुशोभित कर सकते हैं। सच्चा समालोचक बनना एक कठिन साधना है, तो सच्ची समालोचना करना एक अलौकिक सिद्धि है।

संक्षेपमें लिखनेका सारांश यही है कि आलोचना हम अपने दोषोंकी करें, दूसरोंके तो गुण ही ग्रहण करें। 'परायी निन्दा करना महापाप है'। इस वाक्यको सदा ध्यानमें रखें।

प्रेम, सौन्दर्य, आनन्दकी सरिता

तेरा मधुर प्रेम, सुभग सौन्दर्य और चिन्मय आनन्द।
छाया मेरी सारी सत्तामें है भरा पूर्ण स्वच्छन्द॥
त्रिविध रूपकी सरिता होकर एक, बढ़ी अति ओर न छोर।
बही वेगसे, प्लावित हो मैं, विवश बढ़ चला तेरी ओर॥
ओत प्रोत हुआ, न रहा अस्तित्व स्वतन्त्र कहीं मेरा।
तेरी ही चेतना, शक्ति, द्युति, भाव-अभाव सभी तेरा॥
है अनन्त आनन्द, प्रेम सीमा-विरहित, सौन्दर्य अपार।
पूर्ण ज्ञान युत परम शान्ति माधुर्य पूर्ण सारा आधार॥
पूर्ण प्रकाशित ज्योति बना यह मूर्तिमान तेरा शुचि धाम।
तुझमें ही तेरी लीलाका बना विलक्षण रूप ललाम॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

पुनर्जन्मका ज्वलन्त प्रमाण

पूर्वजन्मका वृत्तान्त बतलानेवाले अनेक बालक-बालिकाओंके संवाद समाचार-पत्रोंमें निकलते रहे हैं; किंतु मध्य-प्रदेशके छतरपुर नगरमें श्रीमनोहरलाल मिश्र एम्० ए० की सुपुत्री कुमारी स्वर्णलताने पूर्वजन्म-स्मृतिका अत्यन्त विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत किया है।

इस बालिकाको दो पूर्वजन्मोंकी स्मृति है। एक जन्ममें वह कटनीमें श्रीहरिप्रसाद पाठककी बड़ी बहन 'बूँदा बाई' थी और दूसरे जन्ममें सिलहटके रमेश-बाबूकी पुत्री 'कमलेश'।

वर्तमान जन्ममें, तीन-चार वर्षकी अवस्थामें अपने ननिहाल जबलपुरसे माता-पिताके साथ पन्ना आते समय कटनीके रेलवे पुलके समीप उसे एकाएक अपने पूर्वजन्मकी स्मृति हो आयी। उसने कहा कि 'कटनीमें हमारे बाबूका घर है, उनके यहाँ अच्छी चाय पीनेको मिलेगी'। किंतु उसके इस कथनपर कोई ध्यान नहीं दिया गया। पन्ना पहुँचकर बालिकाने अपने कटनीवाले घर इत्यादिका पूरा विवरण दिया और अनेक बातें बतलायीं; किंतु मिश्रजी उसकी बातोंको मनोविकृति-जन्य प्रलाप मानकर उसका उपचार कराते रहे।

पाँच वर्षकी अवस्थामें एक दिन उसने अकस्मात् ही एक अन्य पूर्वजन्ममें अभ्यस्त बँगला-भाषासे मिलती-जुलती बोलीके दो गीत नृत्य करते हुए सुनाकर अपनी माताको और भी घबरा दिया। गीतोंकी भाषा न समझ पानेके कारण मिश्रजीने डॉ० डी० एन० मुखर्जी नौ-गाँवको स्वर्णलतासे वे गीत सुनवाये। उन्होंने जाँच करके यही निर्णय दिया कि कन्यामें कोई मानसिक विकृति नहीं है; इसे अपने पूर्वजन्मके बँगलासे* मिलती-जुलती भाषाके गीत याद हो आये हैं।

यह ज्ञात हो जानेपर भी कि स्वर्णलताको पूर्व-जन्मोंकी स्मृति है, झमेलेसे बचनेके लिये मिश्रजी इस ओर उदासीन ही रहे; किंतु प्रो० राजीवलोचन अग्नि-होत्रीकी पत्नीद्वारा स्वर्णलता-कथित पूर्व-जन्म-परिवार-विवरणादिकी पुष्टि होने तथा गतवर्ष तुलसीजयन्ती-उत्सव-पर छतरपुर आये हुए सागर-विश्वविद्यालयके उपकुलपति श्रीद्वारकाप्रसाद मिश्रके इस बालिकाके वृत्तान्तमें श्रीलोकनाथ पटेरियाकी प्रेरणाके कारण अभिरुचि लेनेसे, पूर्वजन्म-विषयक शोध-कार्य करनेवाले अनेक महानुभाव—जैसे श्री एच० पी० पस्तोर 'सोहम्', श्रीहेमेन्द्र बनर्जी, संचालक सेठ सोहनलाल इन्स्टीट्यूट पारासाइकोलाजी गंगानगर राजस्थान इत्यादि इस ओर आकृष्ट हुए। श्रीबनर्जीने कुमारी स्वर्णलताकी वार्ता एवं गीतोंका टेप-रेकार्डिङ्ग किया और कटनीके सम्बद्ध परिवारको सूचना दी।

फलतः कुमारी स्वर्णलताके पूर्वजन्मके छोटे भाई श्रीहरिप्रसाद पाठक (जो अब ६२ वर्षके हैं) छतरपुर आये। स्वर्णलताने उन्हें न केवल पहचान लिया, प्रत्युत उनके प्रश्नोंके तथ्यसम्मत उत्तर देकर उन्हें सचमुच पूर्वजन्मकी बहन होनेका विश्वास भी करा दिया।

पाठकजीने अपने बहनोई ('बूँदाबाई'के पति) मैहरनिवासी श्रीचिन्तामणि पाण्डेयसे जब यह सब हाल कहा, तब वे भी अपने पुत्र मुरलीको लेकर मिश्रजीके पास छतरपुर आये और अनेक कूट प्रश्नोंद्वारा जाँच करके उसी निष्कर्षपर पहुँचे, जिसपर पाठकजी पहले पहुँच चुके थे। अन्ततः दिनाङ्क १२—७—५९ को पाठकजीकी मोटरमें मिश्रजीको सपरिवार मैहर, कटनी और जबलपुर जाना पड़ा और इन सभी स्थानोंपर जिन-जिन महानुभावोंने जो-जो प्रश्न पूछे, उनके सही उत्तर देकर तथा पूर्वजन्ममें सम्पर्कमें आनेवाले अनेक व्यक्तियोंको पहचानकर कुमारी स्वर्णलताने सबको

* सिलहट आसाममें है—आसामी भाषा बँगलासे मिलती-जुलती है।

आश्चर्यमें डाल दिया। कटनी और जबलपुरके स्थानीय पत्रोंके अतिरिक्त दि० २१—७—५९ के 'नवभारत टाइम्स'में भी स्वर्णलतासम्बन्धी संवाद छप चुका है।

अभी एक पूर्वजन्मकी स्मृतिकी ही जाँच हुई है। विस्तारभयसे पूरा विवरण यहाँ नहीं दिया जा सका। किंतु जो लोग भारतीय धर्म एवं दर्शनमें श्रद्धा नहीं रखते, उनके लिये स्वर्णलता एक जीती-जागती चुनौती है और परीक्षासे सही प्रमाणित होनेवाली उसकी पूर्व-जन्म-स्मृति पुनर्जन्मका ज्वलन्त प्रमाण है।

—गोकुलप्रसाद त्रिपाठी, एम्० ए०, एल्० टी०, साहित्यरत्न

(२)

बहिनसे घड़ा नहीं उठता था, तब ?

उस दिन बम्बई राज्यके वित्तमन्त्री डा० जीवराज मेहता बड़ौदा गये थे। स्वागत-समारोहके अफसरोंसे घिरे डा० मेहता जब चले जा रहे थे, तब रेलके प्लेटफार्म-पर बने पुलपर एक नारी गोदीमें लिये बच्चेको एक बाँहसे सँभालती, दूसरे हाथसे बड़ा घड़ा सँभाले उस पुलपर जा रही थी। उक्त बहिन घड़ेके उठानेमें तकलीफका अनुभव कर रही थी। वह बड़ी ही कठिनाई-से चल रही थी। डा० मेहता दौड़े और उस बहिनका घड़ा अपने हाथमें उठा लिया। बहिन केवल बच्चेको सँमालते हुए पुलसे उतर गयी। तब डा० मेहताने घड़ा उक्त बहिनको सँभला दिया। × × × लोग भूले न होंगे कि डा० जीवराज मेहता राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीके निजी उपचारक भी थे।

जी, उस बड़ेको, उस बहिनके घड़ेको उठाते या सौंपते हुए फोटो खिंचवानेकी अधमताका नाम न मन्त्रित्व है, न देशभक्ति। डा० मेहताका उदाहरण किसी भी राजनीतिक या अराजनीतिक संस्थाको जीव-दान दे सकता है। वह सहानुभूति थी—विशुद्ध, निःस्वार्थ, निरुद्देश्य।

(कर्मवीरसे साभार)

(३)

इनाम देना ही पड़ा

पुरानी बात है। मैं उन दिनों महकमे जंगलातमें कंजर्वेटर ऑव फौरेस्टस्‌का कैंप क्लर्क था। अल्मोड़ेके बाद रामगढ़में कैंप पड़ा था। सवेरे साहब, मेमसाहिबा, खलासी, चपरासी और लगभग सत्तर-अस्सी कुली भुवालीको चले गये। उनमें एक कुली वह भी था, जो खजानेका बक्स ले गया था। बक्स देनेसे पहले उसमेंसे अठारह रुपये और कुछ आने-पाई दूकानदारका हिसाब चुकता करनेके लिये निकालकर मैंने कोटकी जेबमें डाल लिये थे। मेरे खानेके लिये मेरा निजी नौकर पराँठे बनाकर कटोरदानमें बंद कर चला गया। मेरे साथ यथापूर्व एक चपरासी और सवारीके लिये एक घोड़ा रह गया था।

खाना खाकर मैंने अपने कोटसे रुपये निकाले और दूकानदारको देकर मैं घोड़ेपर सवार होकर चपरासीके साथ चल दिया। लगभग एक फर्लांग चले होंगे कि दूकानदारने आवाज दी—'अरे बाबूसाहब, अरे बाबूसाहब, आप तो वैसे ही चल दिये, कुछ इनाम तो देते जाते।' मैं रुका और जब वह मेरे पास आ गया तब मैंने कहा—'भाई! मेरे पास कौन-सी मद है, जिससे मैं तुम्हें इनाम दूँ। रिश्वत तो मैं लेता नहीं हूँ।'

दूकानदारने एक नोट मेरे हाथपर रखा और कहा यदि इनामका काम किया हो तब तो इनाम दीजियेगा न! हाथपर पचास* रुपयेका नोट रखते हुए, जिसको मैंने दस रुपयेका नोट समझकर बिना देखे उसको दे दिया था। नोट लेकर मैंने उससे कहा कि 'भाई! तुम ही चालीस रुपये लौटा देते, यहाँसे तो खजानेका बक्स सुबह ही भुवाली चला गया है।' इसपर उसने कहा कि 'अमुक कुलीके हाथ भुवाली जाकर भेज देना।' यह कहकर वह अपनी दूकानपर लौट गया। मैंने भुवाली जाकर दूकानदारको १०) रुपये और २) रुपये इनामके भेज दिये। आज कितने दूकानदार इतने ईमानदार मिलेंगे।

—गङ्गाशरण शर्मा, एम्० ए०

* उन दिनों ५०) रुपयेका नोट चलता था और ५०) तथा १०) के नोटमें इतना ही अन्तर था कि पचासके नोटपर Fifty लाल स्याहीसे लिखा रहता था।

(४)

कर्तव्य-पालन

निस्संदेह, कर्तव्य-पालनका पथ कठिनाइयोंसे तो भरा है ही, किसी-किसी प्रसङ्गमें तो आर्थिक दृष्टिसे भी भारी नुकसान उठाना पड़ता है। परंतु अपना उत्तरदायित्व पूर्ण करनेके बाद मनको जो शान्ति मिलती है, उसकी कल्पना तो केवल जिन्होंने कर्तव्य-पालनका ईमानदारीसे प्रयत्न किया होगा, उन्हींको हो सकती है। यहाँ कर्तव्य-पालनके सम्बन्धमें अत्यन्त सावधान लन्दनके एक केमिस्टकी बात करनेका लोभ नहीं रोका जा सकता।

एक दिन उस केमिस्टकी दूकानपर पेन नामक एक आदमी डाक्टरसे नुस्खा लिखवाकर लाये। उसमें एक जहरी दवाका सौवाँ भाग मिलानेके लिये लिखा था। दूकानके कम्पाउण्डरने भूलसे उस दवाका दसवाँ भाग मिला दिया। श्रीपेन दवा लेकर चले गये।

थोड़ी ही देर बाद कम्पाउण्डरको अपनी भूलका ध्यान आया कि उसकी कैसी भयानक भूल हो गयी है। उस दवाकी एक खूराक लेनेके साथ ही रोगी स्वर्गका प्रवासी बन जायगा। उसने तुरंत केमिस्टको इसकी सूचना दी और केमिस्टने पुलिसको इत्तिला दी। पुलिस अधिकारीने कहा—'आप तुरंत फोन अथवा तारके द्वारा श्रीपेनको सूचित कर दीजिये कि वे दवा न लें।' परंतु केमिस्टके रजिस्टरमें श्रीपेनका पता नहीं लिखा गया था और नुस्खा लिखकर देनेवाले डाक्टरको भी श्रीपेनका पता मालूम नहीं था। टेलीफोन डाइरेक्टरी देखनेपर दर्जनों श्रीपेन मिले। पुलिसकी सम्मतिके अनुसार प्रत्येक 'श्रीपेन'को एक-एक तार दिया गया—'श्रीपेन! उन गोलियोंको आप खानेके उपयोगमें न लीजियेगा।' इसके बाद संध्याको प्रकाशित होनेवाले तमाम समाचारपत्रोंमें पहले पृष्ठपर मोटे-मोटे टाइपोंमें विज्ञप्ति छपायी गयी—'श्रीपेन! उन गोलियोंको आप खानेके उपयोगमें न लीजियेगा।' उसी दिन सिनेमा-गृहों और थियेटरोंमें भी स्लाइडोंके द्वारा यह प्रचार किया गया—'श्रीपेन! उन गोलियोंको खानेके उपयोगमें न लाइयेगा।' सारा लन्दन हैरान-परेशान हो गया और यह जाननेके लिये आतुर हो गया कि ये 'श्रीपेन' कौन हैं और ऐसी क्या गोलियाँ हैं, जिनको खानेके उपयोगमें न लेनेके लिये इतना कहा जा रहा है?

दूसरे दिन असली 'श्रीपेन' महाशयका पत्र उस केमिस्टको मिला। उसमें उन्होंने अत्यन्त कृतज्ञता प्रकट करनेके साथ ही लिखा था—'मैंने उन गोलियोंको खानेके उपयोगमें न लेनेकी विज्ञप्ति पढ़ी और उसके अनुसार मैंने गोलियोंका उपयोग नहीं किया है।' इस पत्रके मिलनेके बाद ही उस केमिस्टका जी ठिकाने आया।

दूसरी ओर, जब लन्दन शहरके लोगोंको पूरा विवरण जाननेको मिला, तब उनके मनमें उस केमिस्टके प्रति बहुत ही आदरकी भावना उत्पन्न हुई। परिणाम यह हुआ कि उस केमिस्टका व्यापार कई गुना बढ़ गया।

('प्रताप'से साभार)

(५)

श्रीहनुमान्‌जीकी कृपासे रक्षा

कई वर्षों पहलेकी बात है, मैं अपने कर्मचारी श्रीकमालुद्दीन सरकारके साथ रिक्शेपर सवार होकर स्टेशनकी ओर जा रहा था; रातके लगभग साढ़े दस बजे थे। मेरी कमरमें छः हजार रुपये थे और सरकारके पास तीन हजार। कुल नौ हजार रुपये साथ थे। हमलोग कपड़ा खरीदने ढाका जा रहे थे। जब बीच बाजारमें श्रीअगरचन्दजी नाहटाकी गद्दीके पास तीन आदमी साइकलपर सवार हमारे पीछे हो गये, तब मुझे डर लगा और मैंने श्रीहनुमान्‌जी महाराजके नामकी धुन लगा दी। सोचा कि अभी सामने फणिबाबूकी दूकान आयेगी, वहाँ ठहर जायँगे। पर भूलसे हमलोग फणिबाबूकी दूकान छोड़कर आगे निकल गये। हमें

पता ही नहीं लगा। वे तीनों डाकू हमारे पीछे लगे थे और टार्चसे बहुत तेज रोशनी हमारे रिक्शेपर फेंक रहे थे। मैं सब ओर श्रीहनुमान्‌जी—बाबा बजरंगबली-को देखने लगा और उनका नाम पुकारने लगा। मनमें सोच रहा था कि श्रीहनुमान्‌जीने हरेक संकटसे हमारी रक्षा की है तो इस संकटसे भी वे अवश्य बचायेंगे। इतनेमें घना जंगल आ गया। उनमेंसे एकने बड़े जोरसे अस्पष्ट आवाज दी। मेरे तो प्राण ही मानो निकले जा रहे थे। मैंने बड़े जोरसे बजरंगबलीका नाम पुकारना शुरू कर दिया। इसी बीचमें मुझे डाकुओंकी टार्चकी रोशनीमें अचानक रास्तेके बगलमें आठ-दस बैलगाड़ियाँ दिखायी दीं। अब मुझे साहस हुआ और बचनेका भरोसा हो गया। डाकुओंने भी गाड़ियोंको देखा और शिकार हाथसे निकल गया समझकर वे वहाँसे लौट गये।

मैंने रिक्शेवालेसे कहा—'गाड़ियोंके साथ-साथ चलो।' वह चलने लगा। थोड़ी ही देरमें इयासिन सलाहीकी गद्दी तथा दूकान दिखायी दी और स्टेशन भी सामने दीखने लगा। रिक्शा रुका। आश्चर्यकी बात तो यह हुई कि जो आठ-दस बैलगाड़ियाँ थीं और प्रत्येक गाड़ीपर एक-एक गाड़ीवान थे, वे हमें दिखायी नहीं दिये। न तो वे गाड़ियाँ स्टेशनकी ओर गयीं, न वहाँसे एक रास्ता डोमारकी ओर जाता था, उस रास्तेपर गयीं और न वापस ही लौटीं। क्या हुआ, कुछ समझमें नहीं आया। हमने तो समझा यह सब बाबा हनुमान्‌जी-की कृपा थी। हमलोग स्टेशन सकुशल पहुँच गये। रिक्शेवालेके हाथ दूकानपर मेरे छोटे भाई रामलालके नाम मैंने एक चिट्ठी लिखकर भेज दी; जिसमें बाबाकी कृपासे बचनेकी बात लिखी थी।

इधर हमलोगोंके दूकानसे चलनेके बाद हमारे एक मित्रने मेरे भाईके पास जाकर पूछा कि आज तुम्हारे यहाँसे कोई बाहर तो नहीं गया है न? यदि गया है तो बड़ा खतरा है; क्योंकि हमें अभी पता चला है कि तीन बदमाश एक रिक्शेके पीछे गये हैं और रिक्शेपर हमला होनेवाला है।'

मेरे भाईने उनको सब हाल बताया और चिन्तातुर होकर दूकान खोले वह रास्तेकी ओर ताकता बैठा रहा। उसने सोचा, दुर्घटना तो हुई ही होगी। शायद भाईको अस्पताल ले जाना पड़े। इतनेमें मेरी चिट्ठी लेकर रिक्शेवाला उसके पास पहुँचा। चिट्ठी पढ़नेपर उसे शान्ति मिली और उसने रिक्शेवालेको मिठाई खिलायी। तबसे वह भी बजरंगबली बाबा हनुमान्‌जीका नाम जपने लगा।

—रामकृष्ण बिहानी निल्फामारी

(६)

सच्चा न्यायाधीश

एक न्यायाधीश थे। वे सबका सच्चा न्याय करते। कहते कि 'न्यायका काम भगवान्‌का काम है, इसमें जरा भी पक्षपात नहीं किया जा सकता, जरा भी लापरवाही नहीं की जा सकती। दोनों पक्षोंकी बातोंको अच्छी तरह सुनना, फिर न्यायको तौलना। न्यायकी डंडी समतौल रहनी चाहिये। जरा भी ऊँची-नीची न होनी चाहिये।'

एक बार इनके पास एक मुकद्दमा आया। दो पैसेवालोंमें झगड़ा था। जीतनेवालेको लाखोंकी मिल्कियत मिलनेवाली थी।

इनमें एकके मनमें आयी कि न्यायाधीशको राजी कर लूँ तो फैसला मेरे पक्षमें हो जाय। लाख रुपया लेकर एक रात्रिको वह न्यायाधीशके घर पहुँचा।

उसने जाकर कहा—आपके लिये यह भेंट लाया हूँ, साहेब! लाख रुपये हैं। आपकी अदालतमें वह मुकद्दमा चल रहा है न! उसका फैसला जरा मेरे पक्षमें कर दीजियेगा। बस!

यह सुनते ही न्यायाधीशने कहा—न्यायको गंदा करने आये हैं आप? क्यों! ले जाइये ये रुपये। न्याय जैसे होता होगा, वैसे ही होगा।

पैसे देनेवालेको अपने पैसेका अभिमान था। फिर हाथमें आये हुए लाख रुपये कोई छोड़ दे, यह उसकी समझमेंही नहीं आ रहा था। इससे उसने कहा—'साहेब! कोई सौ-दो-सौ रुपये नहीं हैं, लाख रुपये हैं। ऐसा लाख रुपये देनेवाला दूसरा कोई नहीं मिलेगा।'

न्यायाधीशने तुरंत जवाब दे दिया—लाख रुपये देनेवाले तो आप-जैसे बहुतेरे मिल जायँगे, पर मेरे-जैसा 'ना' करनेवाला कोई नहीं मिलेगा। जाओ! उठा ले जाओ इस मैलको यहाँसे!

यह सुनकर वह भयभीत हो गया। एक भी अक्षर बिना बोले रुपये लेकर चुपचाप अपने रास्ते चला गया।

इन न्यायाधीशका नाम है—अंबालाल साकरलाल देसाई। ये गुजरातप्रान्तीय एक महान् भारतीय थे।

('पुस्तकालय'से साभार)

(७)

पक्षीपर दया

एक फ्रेंच लड़का रोलफोनस् जंगली जानवरोंसे, खास करके पक्षियोंसे बहुत प्रेम करता है। उसका सबसे अधिक प्यार है आकाशमें गाती हुई उड़नेवाली लवा (Skylark) नामक चिड़ियासे। एक दिन वह रास्तेसे जा रहा था, उसको लार्कका संगीत सुनायी पड़ा। उसने आस-पास देखा तो उसे दिखायी दिया कि एक चिड़िया बेचनेवालेके पिंजरेसे वह ध्वनि आ रही है। उसे लगा—इस गानमें दुःख भरा है। वह चिड़िया बेचनेवालेके पास गया तो उसे पता लगा कि वहाँके लोग इस चिड़ियाका मांस खाना बहुत पसंद करते हैं और वह इसीलिये बेचने लाया है। लड़केने उसके दाम पूछे, पर उतने पैसे उसके पास नहीं थे। लड़केने उससे कहा, 'भाई, तुम ठहरो, मैं अभी घरसे पैसे लेकर आता हूँ।' उससे यों कहकर लड़का दौड़ा हुआ घर गया। दुपहरीकी बड़ी तेज धूप पड़ रही थी। घर जानेपर पता लगा कि मा बाहर गयी है और वह भोजनके समयसे पहले नहीं लौटेगी। रोलफोनस्को बड़ा दुःख हुआ। उसने सोचा तबतक तो वह लार्क बिक जायगी और काट भी दी जायगी। उसे दयालु धर्मगुरु जैकस Father Jacques की याद आयी और वह तुरंत दौड़ा हुआ श्रीजैकसके पास पहुँचा। बड़ी तेज धूप थी और उसके सिरमें दर्द हो रहा था, पर उसने कुछ भी परवा नहीं की। रोलफोनस्ने सारा हाल सुनाकर पादरी महोदयसे बड़े करुण-स्वरमें कहा कि 'शीघ्र पैसे नहीं मिलेंगे तो लार्कके प्राण बचने सम्भव नहीं हैं।' दयालु पादरी जैकस महोदयने रुपये देते हुए लड़केसे कहा—'तुम इस कड़ी धूपमें दौड़-धूप करके बीमार हो गये हो, मैं तुम्हें इसी शर्तपर रुपये देता हूँ कि तुम तुरंत चिड़िया खरीदकर ले जाओ और सीधे घर जाकर आरामसे पलंगपर लेट जाओ।'

लड़केने शर्त स्वीकार कर ली और रुपये लेकर तुरंत वहाँ पहुँचा। जाकर देखा तो एक मेमसाहेब लार्कको खरीदनेके लिये मोल-तोल कर रही थी और उसके मुँहपर पानी आ रहा था। रोलफोनस्ने तुरंत रुपये हाथमें देकर पिंजरा ले लिया। लार्कको मानो प्राणरक्षक प्रेमी बन्धु मिल गया। वह पिंजरा लिये घर पहुँचा और घरमें घुसते-घुसते गरमीके कारण बेहोश होकर बाहर बगीचेके दरवाजेपर गिर पड़ा।

पादरी महोदयको लड़केकी बड़ी चिन्ता थी। वे देखने आये तो देखा बेहोश लड़केके बिछौनेके पास बैठी उसकी मा भयभीत हुई रो रही है। पादरीने उसको धीरज दी और कहा—'तुम घबराओ नहीं, जो दूसरेको बचाता है, उसे भगवान् बचाते हैं।' लड़केने एक बार आँखें खोलीं, पर वह फिर बेहोश हो गया। होश आनेपर उसने देखा लार्क पक्षीका पिंजरा टेबलपर रखा है और वह ऐसा मीठा स्नेहभरा करुण गीत गा रहा है मानो बेहोश लड़केको बचानेके लिये ईश्वरसे प्रार्थना कर रहा हो।

कुछ देरमें लड़का स्वस्थ हो गया और उसने

उठकर पिंजरेको बड़ी खिड़कीके पास ले जाकर खोल दिया। पक्षी गाता हुआ मुक्त आकाशमें उड़ चला। वह अपनी प्रेमभरी चितवनसे अपने प्राणरक्षक उस लड़केकी ओर कृतज्ञताभरे हृदयसे देखता गया।*

—श्रीनिवासदास पोद्दार

(८)

गरीबकी दुवा

गरीबोंको चूसकर इकट्ठा किया हुआ पैसा नहीं टिकता और इस तरह मालदार बना हुआ मनुष्य पैसेका सुख भी नहीं भोग सकता। कुदरतके इस न्याय-पर बात चल रही थी। सभी अपनी-अपनी जानकारीके उदाहरण देकर इसका समर्थन कर रहे थे।

जिनके घर हमारी यह मण्डली इकट्ठी हुई थी, वे मूलमें व्याजका व्यापार करते थे और अच्छे पैसे कमाने-के बाद दूसरे व्यापारमें भी सफलता पा चुके थे।

'तो भाई, आपके सम्बन्धमें क्या समझें?' मैंने यह सीधा प्रश्न किया। सब लोग शान्तिके साथ उत्तरकी प्रतीक्षा करने लगे।

हमारे बाप-दादाका व्यापार था व्याजपर रकम उधार देना। पिताजीके मरनेके बाद मेरे बड़े भाईने इस व्यापारको सँभाल लिया। हमारा संयुक्त कुटुम्ब था।

एक दिन मैं बाहरसे घर लौटा तो मैंने देखा कि एक गरीब-सा आदमी बड़े भाई साहेबसे प्रार्थना करता हुआ पुराना हिसाब चुकता करनेके लिये कह रहा है। खातेमें बाकी निकलते हुए पूरे रुपये लिये बिना बड़े भाई हिसाब चुकता करनेके लिये तैयार नहीं थे। इस आदमीने मूलमें पाँच सौ रुपये व्याजपर उधार लिये थे। व्याजसमेत कुल लगभग एक हजार रुपये भर देनेपर भी अभी सात सौ रुपये उसके नाम बाकी पड़ रहे थे। मुझे यह आदमी सच्ची नीयतका और बिलकुल गरीब स्थितिका लगा। वह दो सौ रुपये लाया था और इसीमें खाता चुकता करनेके लिये गिड़गिड़ा रहा था। बड़े भाई साहेब एक पाई भी कम लेनेको तैयार नहीं थे। उनके सामने मेरा कुछ बोलना उचित नहीं लगता था। पर इस परिस्थितिने मेरे मनमें बड़ी हलचल मचा दी थी।

भोजनका समय होनेपर बड़े भाई उठे और उसको यह कहते गये कि 'पूरे पैसे देने पड़ेंगे, नहीं तो रुपये वसूल करनेके लिये दावा किया जायगा।'

वह गरीब ग्रामीण जमीनकी ओर देखता बैठा रहा। मैं भी उसके सामने जड़वत् बैठा था। कुछ देर बाद मैंने उस आदमीको आँखोंसे आँसू पोंछते देखा। सचमुच वह रो रहा था। मेरे दिलपर मानो हथौड़ेकी चोट लग रही हो, ऐसा लगा। एक ओर बड़े भाई साहेब-का डर था, दूसरी ओर इस गरीबके प्रति अनुकम्पा थी। क्या किया जाय? समय कम था। मैंने निर्णय कर लिया। पासकी अलमारीसे मैंने बही निकालकर उसका खाता देखा तो पता लगा कि असली रकमके अतिरिक्त बहुत अच्छी रकम व्याज पेटे जमा थी। उसके लाये हुए दो सौ रुपयेमें केवल सौ ही रुपये लेकर मैंने उसके देखते-देखते खाता चुकता करके उसे फाड़खती दे दी और जानेके लिये कह दिया। उस दिन बड़े भाई महोदयका क्रोध मुझपर खूब ही उतरा, तथापि मुझे एक शुभ कार्य करनेका संतोष था। उसके बाद आजतक मैंने अपनी कमाईके सिवा कभी किसी भी गरीबका दिल दुखाया हो, यह मुझे याद नहीं है और आप देख रहे हैं कि मेरे जीवनमें आज संतोष है। (अखण्ड आनन्द)

—के. एच० व्यास

* यह घटना—Animals Defender and Anti-vivisection News, 27 Palace Street, London में श्रीकारलोट्टा कार महोदयने लिखी है। इस घटनाको पढ़कर हमारी दशापर बड़ा दुःख होता है। भारतमें आज प्रतिदिन सहस्रों गायोंका निर्दय वध होता है। करोड़ोंकी लागतके कसाईखाने खोले जाते हैं, जहाँ जीवित गौ-बछड़ोंकी खालें उतारी जाती है (देखिये कलकत्ता 'सन्मार्ग' ता० १८। ८। ५९)। बंदरोंको मारनेके लिये विदेश चलान किया जाता है। कहाँतक कहा जाय। सबमें एक आत्माको देखनेवाले धर्मप्राण भारतकी यह दुर्दशा! कितना अधःपतन है!

कंसकी धनुषशालामें श्रीकृष्णके द्वारा धनुष-भङ्ग

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

लोभो लुण्ठति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम्।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष २०१६, नवम्बर १९५९ { संख्या ११
पूर्ण संख्या ३९६

कंसकी धनुषशालामें श्रीकृष्णके द्वारा धनुषभङ्ग

मथुरामें सानन्द पधारे श्रीबलराम और घनश्याम।
परम मनोहर, परम शक्तिवर, तेजपुञ्ज दोनों अभिराम ॥
पहुँचे कंस-धनुषशालामें नेत्र-चित्तहर सहज अकाम।
अनायास हैं तोड़ रहे अति विकट धनुष हरि शोभाधाम ॥

कल्याण

याद रक्खो—ऐसा कोई स्थान नहीं है और ऐसा कोई समय नहीं है, जिसमें भगवान् न हों एवं ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जिसपर भगवान्‌की कृपा न हो, जिसको भगवान् अपनानेसे कभी इनकार करते हों।

याद रक्खो—भगवान् स्वभावसे ही सुहृद् हैं, वे कृपाके ही मूर्तिमान् स्वरूप हैं। उनमें किसी भी पापीके प्रति कभी घृणा नहीं होती। किसने पहले क्या किया है, कौन कैसा रहा है, किस देश-वेषका है, किस जाति-कुलका है, किस धर्म-सम्प्रदायका है,—यह कुछ भी वे नहीं देखते। वे देखते हैं—केवल उसके वर्तमान मनको, उसके मनकी वर्तमान परिस्थितिको, उसकी सच्ची चाहको। कोई भी, कहीं भी, किसी भी समय अनन्य मनसे उनकी चाह करता है; उनकी कृपा, प्रीति या दर्शन पानेके लिये एकान्त लालायित हो जाता है, भगवान् उसके इच्छानुसार उसपर कृपा करते, उसे प्रीतिदान करते या दर्शन देकर कृतार्थ कर देते हैं।

याद रक्खो—संसारके भोग पहले तो इच्छानुसार प्राप्त नहीं होते, प्राप्त भी अधूरे ही होते हैं और प्राप्त होकर निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं; परंतु अनन्य इच्छा करनेपर भगवान् निश्चय ही प्राप्त होते हैं, इच्छानुसार कृपा, प्रेम या दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं, वे सर्वत्र सदा पूर्णतासे परिपूर्ण हैं तथा प्राप्त होकर कभी बिछुड़ना उनके स्वभावसे विरुद्ध है।

याद रक्खो—मानवशरीर भोगोंके लिये नहीं मिला है। भोगोंके लिये तो अन्यान्य समस्त योनियाँ हैं ही। यह तो मिला है केवल परमशान्तिमय परमानन्दमय नित्य शाश्वत अखण्ड चिदानन्दमय भागवत-जीवनकी प्राप्तिके लिये। यह जीवन ही दिव्य-जीवन है—भगवत्प्राप्ति है। इसीको जीवनका परम लक्ष्य—एकमात्र लक्ष्य बनाकर इसीकी प्राप्तिके प्रयासमें सदा संलग्न रहना मानव-जीवनका परम कर्तव्य है। इस कर्तव्यसे विमुख मनुष्यका भविष्य निश्चय ही अत्यन्त अन्धकारमय है, भले ही वह (तथा जिस समाजमें वह रहता है—यह समाज भी) अपनेको समुन्नत, सुखी तथा ज्ञानोज्ज्वल स्थितिको प्राप्त समझे। पर उसकी यह समझ सर्वथा भ्रान्त है। उसकी बुद्धि उसे धोखा दे रही है!

याद रक्खो—जब तुम्हारे जीवनका लक्ष्य भोग होगा भगवान् नहीं; विषय-सुख होगा भागवत-सुख नहीं; लौकिक विषयोंकी प्राप्ति होगी भगवान्‌की प्राप्ति नहीं;—तब सहज ही भोगासक्ति, भोग-कामना, कामना-सिद्धिजनित लोभ, कामना-असिद्धिजनित क्रोध, ममता, अभिमान आदि दोष उत्पन्न होकर तुम्हारे सारे जीवनको भ्रान्त और अशान्त कर देंगे। तुम्हारी बुद्धि विपरीत निर्णय करनेवाली बन जायगी और भोग-परायण मन-इन्द्रियके इच्छानुसार विषयोंकी ओर तुम्हें प्रेरित करने लगेगी। उस समय तुम अधर्मको धर्म, अकर्तव्यको कर्तव्य, बुरेको भला, विपत्तिको सम्पत्ति और अन्धकारको प्रकाश मानने लगोगे और इसके परिणामस्वरूप तुम्हारा जीवन तमोमय, अशान्तिमय, दुःखमय, चिन्तामय, ज्वालामय बन जायगा। परलोक भी बिगड़ जायगा। भगवान्‌की प्राप्ति तो होगी ही नहीं। तुम अशान्तिमय जीवन बिताते हुए अशान्तिमें ही मरोगे और आगे भी दुःखमय स्थितिको ही प्राप्त होते रहोगे।

याद रक्खो—मानव-जीवनके असली लक्ष्यका परित्याग करनेपर तुम्हारी यही दुर्दशा होगी। अतएव तुम तुरंत अपने जीवनका लक्ष्य स्थिर कर लो। वह परम और चरम लक्ष्य भगवान् हैं। और बड़ी सावधानीके साथ अपनी विचारधाराको, अपनी प्रत्येक चेष्टा और क्रियाको उसीकी सिद्धिके लिये जोड़ दो। तुम्हारा मानव-जीवन निश्चय ही सफल हो जायगा। जबतक जीओगे, बाहरी परिस्थिति कैसी भी हो, तुम सदा शान्ति-सुखका अनुभव करते रहोगे, सुखसे मरोगे और भगवान्‌को प्राप्त करके कृतार्थ हो जाओगे।

'शिव'

कर्तृत्व-रहस्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

नाहं जातो न प्रवृद्धो न नष्टो
देहस्योक्ताः प्राकृताः सर्वधर्माः ।
कर्तृत्वादिश्चिन्मयस्यास्ति नाहं-
कारस्यैव ह्यात्मनो मे शिवोऽहम् ॥

'जन्म-मृत्यु आदि षड् विकार शरीरके धर्म हैं; क्योंकि वे प्रकृतिके विकार हैं और शरीर प्रकृतिका कार्य है। वे षड् विकार इस प्रकार हैं—(१) जन्म, (२) स्थिति, (३) वृद्धि, (४) परिणाम, (५) वृद्धत्व (क्षय) और (६) मृत्यु।

'मैं तो आत्मा हूँ, इसलिये ये मेरे धर्म नहीं हैं। इसी प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्व अर्थात् कर्तापन और कर्मका भोगना भी मेरे धर्म नहीं, ये अहंकारके धर्म हैं। मैं तो चिन्मय, शिवस्वरूप आत्मा हूँ।'

और अहंकार तो अन्तःकरणकी एक वृत्ति है। अर्थात् कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि अहंकारके धर्म हैं—यह बतलाकर श्रीशंकराचार्य यह निरूपण करते हैं कि ये धर्म अन्तःकरणके हैं, चिन्मय आत्माके नहीं।

जब भगवान् स्वयं कहते हैं—'गहना कर्मणो गतिः।' यानी कर्मकी गति ऐसी गहन—अटपटी है कि मानव-बुद्धि उसका पार नहीं पा सकती। तथापि ज्ञानकी प्राप्तिके लिये कर्मका रहस्य समझना अनिवार्य है; क्योंकि जबतक कर्मासक्ति बनी है, तबतक बुद्धि निर्मल नहीं होती और जबतक बुद्धि निर्मल नहीं होती, तबतक ज्ञान स्थिर नहीं होता। इसलिये प्रत्येक साधकके लिये यथाशक्ति कर्मका रहस्य समझ लेना आवश्यक है। और कर्म कैसे सम्पादित होता है, यह यदि ठीक-ठीक समझमें आ जाय तो फिर कर्तृत्व—कर्ता कौन है, यह समझना कठिन नहीं रह जाता।

यह समझनेके लिये केनोपनिषद्की आख्यायिकापर एक दृष्टि डालिये। उसका सार इस प्रकार है—

देव-दानव-युद्धमें परमात्माके ही सामर्थ्यसे देवता विजयी हुए; परंतु देवतालोग विजयके हर्षसे इतने मोहित हो गये कि परमात्माको ही भूल गये; और हमको हमारी ही शक्तिसे यह विजय प्राप्त हुई है—ऐसा गर्व करने लगे।

परमात्माका एक नाम गर्व-गञ्जन है। वे किसीके गर्वको सहन नहीं करते; अतएव देवताओंका गर्व उतारनेके लिये उन्होंने स्वयं एक अति विचित्र यक्षका रूप धारण करके अपने आपको अन्तरिक्षमें प्रकट किया।

देवता उस स्वरूपको देखकर डर गये। इसलिये इन्द्रने अग्निदेवसे कहा—'जरा जाओ और पता लगाओ कि यह क्या दीखता है।'

अग्निदेव एकबारगी अभिमानपूर्वक उठे और सीधे यक्षके पास पहुँचे। यक्षने पूछा—'तुम कौन हो ? और तुम्हारे अंदर क्या सामर्थ्य है ?'

अग्निदेवने अति गर्वसे उत्तर दिया कि 'मैं सर्वज्ञ अग्निदेव हूँ और किसी भी वस्तुको मैं जलाकर भस्म कर सकता हूँ।'

यक्षने एक तृण अग्निदेवके सामने डाल दिया और कहा—'इसको जला डालो।'

अग्निदेवने अपना सारा जोर आजमाया; पर वे तृणको जला नहीं सके, इस कारण लजाकर लौट आये और इन्द्रसे बोले—'वह क्या है, यह मैं जान न सका।'

तब इन्द्रने सर्वत्र विचरण करनेवाले वायुदेवसे कहा—

'तुम जाओ और यह पता लगाकर आओ कि वह क्या दीखता है।' वायुदेव गये और यक्षके सामने खड़े हो गये। यक्षने तुरंत पूछा—'तुम कौन हो और तुममें क्या शक्ति है ?' वायुदेव भी गर्वसे बोले—'मैं सर्वत्र गमन कर सकनेवाला देव हूँ और मैं किसी भी वस्तुको उड़ा सकता हूँ।'

यक्षने फिर वही तृण उनके सामने रख दिया और उसको उड़ानेके लिये कहा। वायुदेवने अपना सारा बल लगा दिया, पर उस तृणको उड़ा न सके। इसलिये लज्जित होकर लौट आये और इन्द्रसे कहा—'मैं भी न जान सका कि वह कौन है।'

ये दो अति समर्थ देवता जब निराश होकर लौट आये, तब सब देवताओंकी दृष्टि इन्द्रपर गयी और सबने निवेदन किया कि आप ही अब जाकर पता लगाइये कि वह दीख पड़नेवाला है कौन। आपके बिना दूसरेसे यह काम न हो सकेगा।

इन्द्र जैसे ही यक्षके सामने जानेके लिये चले, वैसे ही वह यक्ष अदृश्य हो गया । वे विचार कर ही रहे थे कि अब क्या करें; इतनेमें ही उमा माता उनके सामने प्रकट हो गयीं। इन्द्रने हाथ जोड़कर माताजीसे पूछा—'जगदम्बे ! यह यक्ष जो दीखता था, क्या था ?'

माताजी बोलीं—'क्या तुमने उन्हें नहीं पहचाना ? वे स्वयं परमात्मा और तुम्हारा गर्व उतारनेके लिये प्रकट हुए थे । अग्निमें जो जलानेकी शक्ति है तथा वायुमें जो उड़ानेकी शक्ति है, वह परमात्माकी ही शक्ति है । परमात्माने जब अपनी शक्ति खींच ली, तब न तो अग्नि एक तृण जला सके और न वायु उस तृणको उड़ा सके । परमात्माकी शक्तिसे ही सब शक्तिशाली बनते हैं, इसलिये अपनी शक्तिका गर्व करना व्यर्थ है । और शक्ति प्रदान करनेके बदलेमें परमात्माके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिये, यह समझानेके लिये ही परमात्मा प्रकट हुए थे ।'

इसलिये यहाँ परमात्माकी शक्तिसे ही सारे कर्म सम्पादन होते हैं, अतः कर्त्ताको कर्तृत्वका श्रेय अपने ऊपर लेना ही नहीं चाहिये—यही समझना है ।

बढ़ई बँसुलेसे लकड़ीको गढ़ता है और रंदेसे उसको साफ करता है । यदि बँसुला और रंदा यह कहे कि इस लकड़ीको हमने गढ़ा और साफ किया है तो उनकी बात कोई भी समझदार मनुष्य नहीं मानेगा । इसी प्रकार यदि थोड़ा गहरा विचार करें तो समझमें आ जायगा कि जैसे बँसुला और रंदा बढ़ईके साधन थे, लकड़ी गढ़नेका काम तो बढ़ई ही करता था, उसी प्रकार वह भी सृष्टिकर्त्ताके हाथका एक साधनमात्र है; क्योंकि वह ईश्वरकी दी हुई शक्तिके द्वारा ही अपना कार्य सम्पादन कर सकता है ।

स्मृतिमें भी अनेकों स्थलोंमें ईश्वरका ही कर्त्ताके रूपमें वर्णन किया गया है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
(गीता १० । ८)

'मैं सबकी उत्पत्ति करनेवाला हूँ, अतः मुझसे ही—मेरी शक्तिके द्वारा ही कर्ममात्र सम्पादित होते हैं ।'

पुनः—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
(गीता १८ । ६१)

'ईश्वर प्राणिमात्रके हृदयप्रदेशमें रहकर—जैसे यन्त्री यन्त्रस्थ पुतलियोंको घुमाता है, उसी प्रकार अपनी मायाके द्वारा प्राणीमात्रको चेष्टावान् बनाता है और संसारचक्रमें घुमाता है ।'

इसलिये यहाँ भी, ईश्वर ही सर्व कर्मोंका कर्त्ता है, मनुष्य तो उसके हाथका यन्त्रमात्र है, यह बतलाया । यन्त्र जैसे यन्त्रीके हाथका साधन है, उसी प्रकार मनुष्य भी ईश्वरके हाथका साधनमात्र—है । इसलिये 'मैं कर्ता हूँ'—ऐसा अभिमान करना समझदार आदमीके योग्य नहीं है ।

यहाँ एक बात समझने योग्य है । श्रुतिकी आख्यायिकामें ब्रह्म या परमात्मा शब्द प्रयुक्त हुआ है तथा गीतामें 'श्रीकृष्ण' और 'ईश्वर' शब्दोंका प्रयोग हुआ है । श्रीभागवतकार कहते हैं—

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।

ब्रह्म कहिये, परमात्मा कहिये, अथवा भगवान्, ईश्वर या श्रीकृष्ण कहिये—ये एक ही चेतन सत्ताके केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं, भिन्न-भिन्न शब्द-प्रयोग हैं, जैसे विश्वनाथ, नीलकण्ठ या वृषभध्वज एक ही महादेवके विभिन्न नाम मात्र हैं ।

परंतु गीतामें मुख्यतया प्रकृतिको या प्रकृतिके गुणोंको ही कर्ता कहा गया है, आत्मा या परमात्मा तो अकर्ता हैं—ऐसा प्रतिपादन किया गया है ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥
(३ । २७)

सारे कर्म प्रकृतिके गुणोंके द्वारा ही सम्पादित होते हैं, परंतु अहंकारसे मूढ़ बना हुआ आत्मा, दृढ़ देहाध्यासके कारण अपनेको शरीररूप मानकर जीवसंज्ञाको प्राप्त आत्मा 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकारका मिथ्या अभिमान करता है । पुनः—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥
(१३ । २९)

अर्थात् जो मनुष्य, सब प्रकारके कर्म प्रकृतिद्वारा ही होते हैं—इस प्रकार देखता है और इस कारण आत्माको अकर्ता अनुभव करता है, उसकी दृष्टि यथार्थ है । तथा,

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

× × ×

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

(५ । ८-९)

मैं कोई भी कर्म नहीं करता—आत्मा कुछ भी नहीं करता, केवल इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करती हैं, यों तत्त्वविद् योगी मानते हैं। यों केवल मुँहसे कह देने मात्रका कुछ भी अर्थ नहीं है। इस प्रकार कहनेका अधिकार उसीको है, जो योगी है तथा तत्त्वज्ञानी भी है। पुनः,

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

(१४ । १९)

'गुणोंके अतिरिक्त कर्मका कर्ता दूसरा कोई नहीं है—जब द्रष्टा यह अनुभव करता है, देखता है और अपनेको गुणोंसे परे, शरीरसे भिन्न समझता है, तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है—भगवद्रूप हो जाता है।'

इन सब दृष्टान्तोंसे हमने देख लिया कि सारे कर्म प्रकृति या उसके गुणोंद्वारा ही सम्पादित होते हैं।

अब यहाँ एक बात समझने योग्य है। गीतामें जहाँ-जहाँ बतलाया गया है कि प्रकृतिसे या उसके गुणोंसे ही कार्य-सम्पादन होता है, वहाँ-वहाँ यह समझना चाहिये कि प्रकृति या उसके गुणोंका कार्य यह शरीर है, इसीको कर्मका कर्ता समझना चाहिये, अर्थात् शरीरके द्वारा ही कर्मसम्पादन होता है—यों समझना चाहिये। गीता अ० १४ । २०में भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि शरीर गुणोका कार्य है। ('शरीर' शब्दसे यहाँ स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर समझने चाहिये।)

परमात्मा चेतनस्वरूप है और शरीर लोहे या काष्ठके समान जड है। तब फिर दोनोंमें कर्तृत्वका आरोपण कैसे हो सकता है ? इन दो परस्पर-विरुद्ध दीख पड़नेवाली बातोंका समन्वय करनेके लिये शरीरकी रचना समझनी चाहिये। उसके समझनेके बाद कर्तृत्वका रहस्य बहुत ही आसानीसे समझमें आ जायगा।

एक मनुष्य मर जाता है, तब क्या होता है ? हम प्रत्यक्ष देखते हैं और कहते भी हैं कि अमुक मनुष्यके प्राण निकल गये। अर्थात् मनुष्य जब मृत्युको प्राप्त होता है, तब उसके प्राण शरीरको छोड़कर चले जाते हैं—यह सबके अनुभवकी बात है। प्राण निकल जानेपर मृत देहको हम जला देते हैं या दफना देते हैं; क्योंकि ऐसा न करें तो वह सड़ने लगे और उसकी दुर्गन्ध जीवित मनुष्यको सहन न हो। इतना ही नहीं, बल्कि उनसे बीमारी फैलती है—इसलिये किसी भी रीतिसे मृत शरीरको पञ्चमहाभूतोंमें मिला देनेकी व्यवस्था है।

जब प्राण शरीरको छोड़कर निकल जाते हैं, तब दूसरे तत्त्व भी उसके साथ चले जाते हैं; परंतु अति सूक्ष्म होनेके कारण उनका ज्ञान किसी भी इन्द्रियोंके द्वारा नहीं होता। वे तत्त्व हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवाँ अन्तःकरण। प्राण पाँच होते हैं और वे सारे शरीरमें अपने-अपने स्थानमें रहते हैं। उनके साथ उपर्युक्त ग्यारह तत्त्वोंको मिलाकर कुल सोलह तत्त्व शरीरको छोड़कर चले जाते हैं। इन सोलह तत्त्वोंके समूहको 'सूक्ष्मशरीर' नाम दिया जाता है।

यह सूक्ष्मशरीर भी प्रकृतिका कार्य होनेके कारण स्वभावतः जड है। परंतु यह न तो स्थूलशरीरके-जैसा जड है, न आत्माके समान स्वतः चैतन्य ही है, बल्कि मध्यवर्ती है। इसमें भी अन्तःकरण शुद्ध सात्त्विक अंशका कार्य होनेके कारण अति सूक्ष्म है और इस कारणसे वह आत्माके प्रकाशको ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार अन्तःकरण आत्माके प्रकाशको संक्रान्त करके स्वयं शक्तिशाली बनकर, प्राणों तथा इन्द्रियोंमें शक्ति भरकर सारे स्थूलशरीरको भी चेतन बनाता है। यों जबतक सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीरमें रहता है, तभीतक स्थूलशरीर जीता रह सकता है; और जब सूक्ष्मशरीर उसको छोड़कर चला जाता है, तब वह मुर्दा कहलाता है। यह बात बिजलीके दृष्टान्तसे ठीक-ठीक समझी जा सकती है

बिजलीका बल्ब तो सभी देखते हैं। बाहरी भागमे एक काँचका बंद गोला होता है, उसके भीतर एक चक्कर-सा होता है। बिजली जब इस बल्बमे आती है, तब उसके प्रकाशको वह चक्कर ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार पहले तो वह चक्कर बिजलीकी शक्तिसे प्रकाशमान होता है और वह प्रकाश ऊपरके काँचके गोलेमें फैलता है और उस गोलेको भी प्रकाशमान बना देता है तथा तब उसके द्वारा बाहर उजियाला हो जाता है।

बिजलीकी बत्तीमें जैसे चक्कर बिजलीके प्रकाशको ग्रहण करके बाहरके गोलेको प्रकाशमान करता है, उसी प्रकार अन्तःकरण आत्माके प्रकाशको ग्रहण करके स्वयं प्रकाशमान बनकर प्राण और इन्द्रियोंके द्वारा स्थूलशरीरको प्रकाशमान बनाता है। अब यदि किसी कारणसे यह चक्कर खराब हो जाय तो बिजलीका प्रकाश बाहरके गोलेमें नहीं दीख पड़ेगा; क्योंकि उसमें बिजलीके प्रकाशको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य नहीं रही।

इसी प्रकार सूक्ष्मशरीर जब स्थूलशरीरको छोड़कर चला जाता है, तब उसमें आत्माका प्रकाश नहीं दीखता; क्योंकि स्थूलशरीरमें उस प्रकाशको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य नहीं होती।

अब यहाँ इन्द्रियोंके विषयमें कुछ समझ लेना है; क्योंकि शिक्षित लोग भी यहाँ भूल कर बैठते हैं। एक विद्वान् सज्जनने मुझसे एक दिन पूछा था कि इन्द्रियाँ भी प्राणके साथ चली जाती हैं, यह बात कैसे मानी जाय। हम तो उनको शरीरके साथ ही जला या दफना देते हैं। शरीरके नाशके साथ आँख, कान, नाक आदि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियोंका नाश हो जाता है—यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं; तब फिर यह कहनेका अर्थ क्या है?

यहाँ ही मनुष्य भूल करता है। शरीरके ऊपर—स्थूलशरीरमें जो ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं, वे तो इन्द्रियोंके रहनेके स्थान हैं। आँखका अवयव देखनेवाली इन्द्रिय नहीं है, परंतु वह तो उसके रहनेका नियत स्थान है। इसी प्रकार कानके अवयवको सुननेकी इन्द्रियका, नाकके अवयवको सूँघनेकी इन्द्रियका निवास-स्थान मानना चाहिये और पैरके अवयवको पाद-इन्द्रियका, हाथके अवयवको हस्त-इन्द्रियका निवास-स्थान समझिये। जिस प्रकार अपने रहनेके घरसे हम पृथक् वस्तु हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी अपने रहनेके स्थानसे पृथक् वस्तु हैं। इन्द्रियाँ तो सूक्ष्मशक्तिमात्र हैं, पर उनके रहनेके स्थान जड शरीरमें होनेके कारण जड हैं और वे शरीरके साथ नाशको प्राप्त होते हैं। अब हम समझ सकेंगे कि कोई भी कर्म किस प्रकार सम्पादित होता है। इस रहस्यको समझानेवाली एक लघु बालवार्ता है, उसे देखिये—

देखा दोने स्पष्ट पेड़से
गिरते दो सुन्दर-से आम।
दौड़े नहीं उन्हें लेने वे,
दौड़े दो दूसरे सकाम॥
दौड़े, लिये नहीं उनने,
यह किया दूसरे दोने काम।
लेनेवालोंने खाया नहिं,
खाये अन्य एकने आम॥

यह बात बचपनकी सुनी हुई है, पर इसका रहस्य आज समझमें आता है। श्रीमद्भगवद्गीता अ० ५। ८-९ को समझानेके लिये इसमें प्रयास किया गया है, ऐसा लगता है।

आमके दो फल गिरे, उनको दो आँखोंने देखा। उन फलोंको लेनेके लिये आँखें कभी जा नहीं सकतीं, इसलिये दो पैर उनको लेनेके लिये दौड़े। परंतु पैर तो फलोंको उठा नहीं सकते थे, इसलिये दोनो हाथोंने उनको ले लिया। अब फल खानेका काम हाथोंसे बनता नहीं, इसलिये वह काम एक मुँहने किया। इस वार्ताको और अधिक बढ़ायें तो कह सकते हैं कि मुँह उनके स्वादका अनुभव नहीं कर सकता, इसलिये स्वादका अनुभव जीभने किया और उससे तृप्तिका अनुभव हुआ प्राणको और इन सारी क्रियाओंका आनन्द भोगा अन्तःकरणने; इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रियने अपना-अपना कार्य किया, आत्मा तो केवल द्रष्टारूप (देखनेवाला) ही बना रहा।

एक दूसरा दृष्टान्त लीजिये। हम भोजन करने बैठते हैं, तब थाली स्थूलशरीरके सामने रखी जाती है, हाथ उसमेंसे ग्रास लेकर मुँहमें डालता है, दाँत चबानेका काम करते हैं, जीभ स्वादका अनुभव करती है, प्राण प्रत्येक ग्रासमें तृप्तिका अनुभव करते हैं और अन्तःकरण इन सारी क्रियाओंका संचालन करता हुआ आनन्द भोगता है। इसके बाद नैसर्गिक व्यापार चालू होता है, जिसमें अन्तःकरणकी प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं पड़ती। भोजन जब पाकस्थलीमें पहुँचता है, तब वहाँ एक प्रकारकी रासायनिक क्रिया होती है, वह भोजन वायुके द्वारा आगे ढकेला जाता है, अँतड़ियाँ उसका रस चूस लेती हैं और वह रस छहों धातुओंमें फैलता हुआ अन्तमें बत्तीस दिनोंमें वीर्य बनता है। रस चूसे जानेके बाद प्रवाही भाग पेशाबके द्वारा और ठोस भाग दस्तके द्वारा बाहर निकल जाता है। एक भोजनकी क्रियामें इतने सब अवयव अपना-अपना काम करते हैं। आत्मा तो इन सारी क्रियाओंको साक्षीरूपसे देखनेवाला है।

यहाँतक हमने देख लिया कि अन्तःकरण ही सारे कर्मोंका सम्पादन करता है। आत्मा तो केवल निरपेक्ष भावसे इन सारी क्रियाओंको देखता रहता है। अन्तःकरण आत्माके प्रकाशको ग्रहण करके स्वयं शक्तिमान् बनता है और सारे शरीरको चेतन बनाता है—यह भी हमने देख लिया और बिजलीके दृष्टान्तसे ठीक-ठीक समझ लिया।

अब अन्तःकरण किस प्रकार अपना कार्य सम्पादन करता है, यह एक दृष्टान्तके द्वारा समझिये; इससे उसका कर्तृत्व समझमें आ जायगा।

हमको एक कुर्सी बनवानी है, उसके लिये एक बढ़ईको बुलवाया। बढ़ईने आकर अपनी थैलीमेंसे विविध औजारोंको बाहर निकाला और सजाकर रख दिया। उस बढ़ईको यदि लकड़ी गढ़नी होती है तो बँसुलेसे उसको गढ़ता है और उसको चिकना करना होता है तो रंदेसे चिकना करता है; लकड़ीको चीरना होता है तो आरेसे चीरता है; छेद करना होता है तो बरमेका प्रयोग करता है और काँटी ठोंकनी होती है तो हथौड़ेको काममें लेता है। इस प्रकार बढ़ई विभिन्न कामोंके लिये विभिन्न औजारोंका प्रयोग करता है और कुर्सी तैयार कर देता है।

इसी प्रकार अन्तःकरणको देखना होता है तो आँखका उपयोग करता है और सुनना होता है तो कानका; शरीरको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाना होता है तो पैरका उपयोग करता है और लेना-देना होता है तो हाथका; गन्ध लेनी होती है तो नाकका उपयोग करता है, रसके ज्ञानके लिये जीभका। इस प्रकार विभिन्न कार्योंके लिये उसके पास भी बढ़ईके समान विभिन्न साधन हैं और प्रत्येक साधनका यथायोग्य उपयोग करनेमें वह स्वतन्त्र है। इस प्रकार अन्तःकरण कर्मका कर्ता हुआ और इन्द्रियाँ उसके कर्म करनेमें साधन बनीं।

इस प्रसङ्गको श्रीशंकराचार्यने इस प्रकार समझाया है—

आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रियमनोधियः।
स्वकीयार्थेषु वर्तन्ते सूर्यालोकं यथा जनाः॥

अर्थात् चेतनस्वरूप आत्माका प्रकाश प्राप्तकर देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि अपना-अपना व्यवहार करनेमें समर्थ होते हैं, जैसे सूर्यके प्रकाशके आश्रयसे मनुष्य अपना व्यवहार करनेमें समर्थ होता है। मन और बुद्धि तो अन्तःकरणकी दो वृत्तियाँ हैं। इसी बातको अधिक ब्यौरेवार समझना हो तो यों समझिये कि अन्तःकरण आत्माके चैतन्यको प्राप्त करके इन्द्रियों तथा प्राणोंमें चेतना भर देता है और स्थूल शरीरके द्वारा सारा व्यवहार करनेमें समर्थ होता है।

जैसे सूर्य किसीका हाथ पकड़कर उसको व्यवहारमें नहीं लगाता, उसी प्रकार आत्मा भी किसीको व्यवहारमें नहीं लगाता। उसका काम तो सूर्यके समान प्रकाश देनामात्र है। प्रवृत्ति तो अपने-अपने स्वभाव या प्रकृतिके अनुसार हुआ करती है। आत्मा न कुछ करता है न कराता है। केवल 'स्वभावस्तु प्रवर्तते।'

अब यदि अन्तःकरण कर्मका कर्ता है तो किये हुए कर्मका फल भी उसीको भोगना चाहिये। यह तो हो नहीं सकता कि कर्म कोई करे और फल कोई भोगे। जैसे मगनलाल माल मँगाये और जयन्तीलाल जकात दे, यह नहीं हो सकता। जो माल मँगाता है उसीको जकात देनी पड़ती है। इसलिये अन्तःकरण कर्म करता है तो उसका फल भी उसीको भोगना पड़ेगा और होता भी यही है। ईश्वरकी सृष्टिमें अन्याय नहीं हो सकता।

यह बात अन्वय-व्यतिरेक-युक्तिसे समझी जा सकती है। जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें अन्तःकरण उपस्थित रहता है, इसलिये इन दोनों अवस्थाओंमें सुख-दुःखका अनुभव होता है। जब सुषुप्ति अवस्थामें अन्तःकरण लीन हो जाता है, उस समय कार्यसम्मुख न होनेके कारण सुख-दुःखका भोग भी नहीं दीखता। इस प्रकार अन्तःकरणमें कर्तृत्वपन है, इसलिये उनके फलका भोक्तृत्व भी उसीमें है।

अब कर्मका फल भोगनेके लिये तो अनेक शरीर चाहिये, इसलिये अन्तःकरण कर्मभोगके अनुसार उच्च-नीच जातिके शरीरोंको धारण करता है, अर्थात् अच्छी-बुरी योनियोंमें भ्रमण भी अन्तःकरणका ही होता है।

इन सारे प्रसङ्गोंमें अन्तःकरण शब्दसे सारा सूक्ष्मशरीर समझना चाहिये; क्योंकि सूक्ष्मशरीरमें असली कार्य तो अन्तःकरणका ही होता है और उससे प्राप्त किये हुए चैतन्यसे ही सूक्ष्मशरीर कार्य करनेमें समर्थ होता है। एक रूपकसे यह बात इस प्रकार समझायी जा सकती है। इन्द्रियाँ रथरूप हैं और प्राण गतिशील होनेके कारण उस रथके घोड़ेके रूपमें है, अन्तःकरण राजाके समान उस रथमें बैठकर सारा व्यवहार करता है।

आत्मा तो निरपेक्षभावसे यह सब कुछ देखता है। परंतु ईश्वरकी मायाके कारण आत्मा अपने स्वरूपको भूल जाता है और इस कारण अन्तःकरणके कर्तृत्वको स्वयं अपने सिरपर ले लेता है तथा फलस्वरूप उन कर्मोंके फलका भोक्ता भी अपनेको मान लेता है। इसी कारण वह जीवभावको प्राप्त होता है और देहाध्यास दृढ़ हो जानेके कारण स्थूल-शरीरके जन्म-मरणको अपना मानकर जन्म-मरणका दुःख भोगता है तथा सूक्ष्मशरीरके ऊँची-नीची योनियोंमें भटकनेको अपना भ्रमण मानकर भवाटवीमें भ्रमता रहता है।*

* इसी अपनेको कर्ता-भोक्ता मानने वाले प्रकृतिस्थ पुरुष

यहाँ कुछ विवेकी सज्जन प्रश्न करते हैं कि 'परमात्म-स्वरूप आत्मामें जीवभाव आता है किस प्रकार ?' इसका ऐसा कोई उत्तर नहीं हो सकता, जिससे सबका समाधान हो जाय। रुचिके अनुसार विभिन्न प्रकारसे यह बात समझायी गयी है। उसके कुछ नमूने देखिये—

(१) स्वतत्त्वाग्रहणादेव जीवत्वव्यपदेशभूः।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्ये क्रीडतीह पुरत्रये॥
(श्रुतिः)

'अपने स्वरूपकी विस्मृति हो जानेके कारण आत्मा जीवभावको प्राप्त होकर संसृति-चक्रमें भ्रमता है।'

(२) आत्मनो जायते विश्वमात्मन्येव विलीयते।
आत्माऽऽत्ममायया बद्धो बिभर्ति विविधास्तनूः॥
(श्रुतिः)

'आत्मासे ही विश्व उत्पन्न होता है और उसीमें लीन हो जाता है। इस प्रकार आत्मा अपनी ही मायासे बँधकर विविध शरीरोंको धारण करता है, संसृतिमें घूमता है।'

(३) जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।
(गीता ७। ५)

'अपरा प्रकृति अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर तथा परा प्रकृति चैतन्य। इन दोनोंके संयोग मात्रसे आत्मामें जीवभाव आता है और इसीसे यह भवचक्र चलता रहता है।' यही यहाँ तात्पर्य है।

(४) यथा सत्त्वमुपेक्ष्य स्वं शनैर्विप्र दुरीहया।
अङ्गीकरोति शूद्रत्वं तथा जीवत्वमीश्वरः॥
(योगवासिष्ठ)

'शूद्र स्त्रीकी कामनासे एक विप्र जैसे शूद्रप्राय बन जाता है, उसी प्रकार ईश्वररूप आत्मा अन्तःकरणके भोगमें आसक्त होकर तद्रूप बन जाता है—जीवभावको अङ्गीकार कर लेता है।'

(५) रज्ज्वज्ञानाद् भाति रज्जुर्यथाहिः
स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः॥
(अद्वैतपञ्चक—शङ्कराचार्य)

रस्सीका ज्ञान न होनेसे जैसे रस्सी सर्परूपमें भासती है, उसी प्रकार निजस्वरूपका ज्ञान न होनेसे (स्वरूपकी विस्मृति होनेसे) आत्मामें जीवभाव आ जाता है।

इसी कारण शास्त्र अविद्याको अनिर्वचनीय कहते हैं। इसका अर्थ 'अज्ञेय' अर्थात् जाना न जा सके—ऐसा नहीं है। बल्कि मन-वाणीसे 'इदंतया' अर्थात् 'ऐसा ही है'—यह निर्वचन नहीं हो सकता। इसीसे अनिर्वचनीय कहलाता है। इसलिये किसी अचिन्त्य रीतिसे या अतर्क्य रीतिसे, किसी अलौकिक या अद्भुत रीतिसे या किसी चमत्कारिक रीतिसे आत्मामें जीवभाव आ जाता है, ऐसे अपने मनका समाधान कर लेना श्रेयस्कर है। अतएव कल्याणकामी साधक इस झगड़ेमें नहीं उतरते कि वह कैसे आता है, बल्कि उसकी निवृत्ति करनेके लिये प्रयत्नशील हो जाते हैं; क्योंकि इसीमें मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है। कारण, जीवभावकी निवृत्ति ही मोक्ष कहलाती है। पातञ्जल-योगसूत्र भी कहता है—

स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तेः कैवल्यम्।

"जीवभावकी निवृत्तिके द्वारा आत्माको उसके स्वरूपमें प्रतिष्ठित करनेका नाम ही आत्माका 'कैवल्य' या 'मोक्ष' है।"

एक कविने जीवकी व्याख्या इस प्रकार की है—

कर्ता भोक्ता देह मैं, यही जीवका रूप।
जब आपे कर्त्ता नहीं, केवल शिवस्वरूप॥

भाव यह है कि कर्त्ता-भोक्ता तो शरीर है, पर आत्मा भ्रमसे अपनेको शरीर मानकर स्वयं कर्त्ता-भोक्ता बन जाता है। परंतु यदि सद्गुरुकी कृपासे यह समझमें आ जाय कि मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ तो आत्मा तो परमात्मारूप है ही, इसमें कुछ करना नहीं है। इसलिये कर्त्ता-भोक्तापनके भ्रमकी निवृत्ति मात्रसे आत्मा अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

पहले हमने उपनिषद्की आख्यायिकासे यह निरूपण किया कि परमात्माकी शक्तिसे ही सारे कर्म सम्पादित होते हैं; क्योंकि उसके सिवा दूसरी कोई चेतन शक्ति नहीं है, जिसकी सामर्थ्यसे कर्म हो सके। तत्पश्चात् भगवद्गीताका उल्लेख करके हमने यह बतलाया कि सारे कर्म शरीरसे होते हैं और मोहके वश होकर आत्मा अपनेको भ्रमसे कर्ता मानता है तथा हमने यह बतलाया कि शरीर तो

(जीवत्व-प्राप्त चेतन) को लक्ष्य करके गीतामें कहा गया है—
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥
(१३। २१)

जड है, वह कैसे कर्म कर सकता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें इस निबन्धमें विस्तारपूर्वक विचार किया गया कि अन्तःकरण स्वभावसे जड होनेपर भी सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरद्वारा कर्म करता है और कर्मका फल भी वही भोगता है तथा उच्च-नीच योनियोंमें भ्रमण भी वही करता है। इसलिये शरीर ही कर्मका कर्त्ता है, यह गीताकी बात यथार्थ है।

अब यह देखना है कि परमात्माको कर्त्ता माननेसे क्या होता है। परमात्मा चेतनस्वरूप है और सत्तामात्र है। उसकी सत्तासे ही यह सारा विश्व-व्यवहार चल रहा है। तथापि परमात्मा बढ़ईके समान या अन्तःकरणके समान विविध साधनोंसे अपना कार्य नहीं करता। उसके कर्म करनेका कोई प्रयोजन न होनेके कारण परमात्मा सर्वकर्ता होनेपर भी अकर्ता ही है तथा सर्वभोक्ता होनेपर भी अभोक्ता ही है।

परमात्माके सांनिध्यमात्रसे प्रकृति सामर्थ्यवती बनती है और वही संसारचक्रको चालू रखती है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

'हे अर्जुन! मेरा आश्रय लेकर प्रकृति जड-चेतन जगत्को उत्पन्न करती है और इसी कारणसे इस विश्वका व्यापार अनवरत चलता रहता है।'

इस सम्पूर्ण निबन्धका सार इतना ही है कि कर्ममात्र प्रकृति या उसके गुणोंसे अर्थात् शरीरसे सम्पादित होता है और इस कारणसे आत्माको शरीरका कर्तृत्व अपने ऊपर नहीं लेना चाहिये। परमात्माके सांनिध्यमात्रसे प्रकृति अपना कार्य कर सकती है, अर्थात् परमात्माकी शक्तिके द्वारा ही सारे कर्म हो सकते हैं। इसलिये कर्तापनका अभिमान नहीं रखना चाहिये। इस अभिमानके कारण ही भव-चक्रमें भ्रमण चालू रहता है।

भक्तकवि नरसिंह मेहताने भी कहा है—

हुँ करुँ, हुँ करुँ, ओज अज्ञान है,
शकट नो भार ज्यों श्वान ताणे;
सृष्टि मंडाण छे सर्व एनी परे,
जोगी जोगेश्वरा कोक जाणे,

अर्थात् कर्तृत्वके अहंकारसे ही जन्म-मरणरूप प्रवाह चलता रहता है, इसको कोई-कोई योगीश्वर ही समझ पाते हैं।

नरहरिः कुरुतां जगतां शिवम्।

प्रभुसे प्रार्थना

मुझसे कभी किसी प्राणीका हो जाये न अहित अपमान।
सबमें तुम्हीं दिखायी दो, हो सबका मुझसे हित-सम्मान॥
दुःख मिटानेमें औरोंके, अपना सुख कर दूँ बलिदान।
बढ़ते देख दूसरोंके सुख मैं पाऊँ आनन्द महान॥
अपने छोटे-से अघको मैं मानूँ बहुत बड़ा अपराध।
कभी न देखूँ दोष पराया, गुण सबके देखूँ निर्बाध॥
घृणा करूँ मैं नहीं किसीसे, रहूँ सदा दुष्कृतसे दूर।
आने दूँ कुविचार न मनमें रक्खूँ सद्विचार भरपूर॥
बुरे संगसे बचा रहूँ नित करूँ प्रेमियोंका सत्संग।
रँगा रहे जीवन मेरा मधु पावन प्रेमभक्तिके रंग॥

लोकसंग्रहका रहस्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

लोकसंग्रह किसे कहते हैं—इसपर विचार किया जाता है। गीताके कई टीकाकार विद्वानोंने लोकसंग्रह-का अर्थ 'लोगोंको उन्मार्गसे हटाना और अपने-अपने धर्ममें प्रवृत्त करना' किया है। अन्य टीकाकार कहते हैं कि लोगोंको उन्मार्गमें प्रवृत्त होनेसे निवारण करना लोकसंग्रह है। एवं कुछ टीकाकारोंने लोकसंग्रहका अर्थ लोकरक्षण या लोगोंका धर्म-परिसंग्रह भी किया है। लोकमान्य श्रीतिलकजीने लोकसंग्रहका अर्थ यों किया है—लोगोंका संग्रह करना यानी उन्हें एकत्र सम्बद्ध-कर इस रीतिसे उनका पालन-पोषण और नियमन करना कि उनकी परस्पर अनुकूलतासे उत्पन्न होनेवाला सामर्थ्य उनमें आ जाय एवं उसके द्वारा उनकी सुस्थितिको स्थिर रखकर उन्हें श्रेय:प्राप्तिके मार्गमें लगा देना अर्थात् अज्ञानसे मनमाना बर्ताव करनेवाले लोगों-को ज्ञानवान् बनाकर सुस्थितिमें एकत्र रखना और आत्मोन्नतिके मार्गमें लगाना—लोकसंग्रह है। 'लोक-संग्रह'के शब्दार्थपर दृष्टि डालनेसे उसका यही अर्थ व्यक्त होता है कि लोक यानी मनुष्य और संग्रह यानी उन सबको इकट्ठा करना। अभिप्राय यह कि लोगोंकी बुद्धियाँ भिन्न-भिन्न होनेके कारण वे छिन्न-भिन्न हो रहे हैं और सुखके लिये संसारमें इधर-उधर भटक रहे हैं, किंतु उनको वास्तविक सुख नहीं मिलता; इसलिये लोकहित चाहनेवाले महापुरुषोंको उचित है कि वे संसारमें भटकनेवाले मनुष्योंको सब ओरसे हटाकर एक परमात्मामें ही संग्रह करें अर्थात् उन्हींमें लगायें। वस्तुतः सिद्ध महात्मा पुरुषोंके और भगवान्‌के तो सारे कर्म स्वाभाविक ही लोकसंग्रहके लिये ही होते हैं; उनके वे लोकहितके कर्म ही साधकके लिये आदर्श साधन हैं। अतः साधक मनुष्य भी अपने आत्माके कल्याणके लिये साधनरूपमें निष्काम भावसे लोकसंग्रह कर सकता है। साधकोंको उचित है कि वे स्वयं बुरे कर्मोंको छोड़कर कल्याणकी प्राप्तिके लिये शास्त्रविहित उत्तम कर्मोंका निष्काम भावसे आचरण करें; क्योंकि जो स्वयं आचरण करता है, वही दूसरों-को इस कार्यमें लगा सकता है। अर्जुन उच्चकोटिका साधक था, उसको भी भगवान् लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥

(गीता ३। २०)

'जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे—इसलिये तथा लोक-संग्रहको भलीभाँति देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है।'

भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि समस्त प्राणियों-के भरण-पोषण और रक्षणका दायित्व मनुष्यपर है; अत: अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुसार स्वयं कर्तव्यकर्मोंका निष्काम भावसे भलीभाँति आचरण करके दूसरे लोगोंको अपने उत्तम आदर्शके द्वारा दुर्गुण-दुराचारसे हटाकर सद्गुण-सदाचाररूप स्वधर्ममें लगाये रखना—इस प्रकार सृष्टिसंचालनकी व्यवस्थामें किसी प्रकारकी अड़चन पैदा न करके उसमें सहायक बनना और उसे सुरक्षित बनाये रखना ही लोकसंग्रह है। आजतक बहुत-से पुरुष ममता, आसक्ति और कामना-का त्याग करके कर्मयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं। अतः कल्याणकामी मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिके लिये तो आसक्तिसे रहित होकर कर्म करना उचित है ही; इसके सिवा लोकसंग्रहको देखकर

अर्थात् 'यदि मैं शास्त्रविहित कर्म न करूँगा तो मुझे आदर्श मानकर मेरा अनुकरण करके दूसरे लोग भी अपने कर्तव्यका त्याग कर देंगे, जिससे सृष्टिमें विप्लव हो जायगा और उसकी व्यवस्था बिगड़ जायगी। इसलिये सृष्टिकी सुव्यवस्था बनाये रखनेके लिये मुझे अपने कर्तव्यकर्मका पालन करना चाहिये—यह सोचकर भी कर्म करना उचित है।

इतना ही नहीं, भगवान्‌ने आगे जाकर अर्जुनसे यह भी कहा है कि मैंने तुमको जिस गीताशास्त्रका उपदेश किया है, उस गीताशास्त्रके मूल, अर्थ और भावोंका जो मेरे भक्तोंमें उनके हितके लिये निष्काम भावसे प्रचार करता है, उसके फलस्वरूप वह मुझको प्राप्त हो जाता है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
(गीता १८। ६८)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है।'

भाव यह कि जो मनुष्य इस प्रकार लोककल्याणार्थ गीताके भावोंका प्रचार करके संसारमें भटकते हुए लोगोंको परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें लगाता है, उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि साधक मनुष्य भी साधनके रूपमें लोकसंग्रहार्थ कर्म कर सकता है।

यद्यपि सिद्ध ज्ञानी महात्मा पुरुषके लिये भगवान्‌ने यही बतलाया है कि उनके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
(गीता ३। १७-१८)

'परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

ऐसा होते हुए भी, उन ज्ञानी महात्मा पुरुषोंको भी भगवान् लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
(गीता ३। २५)

'भारत! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रहकी इच्छा करता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

ज्ञानी महापुरुषोंकी लोकसंग्रह करनेकी यह इच्छा औपचारिक अर्थात् कथनमात्रकी ही है। जैसे जहाँ यह कहा जाता है कि 'यह नदीका तट गिरना ही चाहता है' वहाँ तटमें गिरनेकी कोई इच्छा नहीं होती, केवल उसके गिरनेकी तैयारीका ही इस रूपमें वर्णन किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मामें कोई इच्छा नहीं होती, उनके द्वारा लोकहितार्थ स्वाभाविक होनेवाली प्रयत्नशीलताका ही इस रूपमें वर्णन किया गया है।

भगवान्‌ने ज्ञानी महात्मा पुरुषको कर्म करनेकी प्रेरणा इसीलिये की है कि वे स्वयं जैसा कर्म करते हैं और जैसा वे लोगोंमें प्रचार करते हैं, श्रद्धालु मनुष्य उनके आचरणोंके अनुसार ही अनुष्ठान किया करते हैं और उनके कथनके अनुकूल ही चलते हैं। भगवान्‌ने स्वयं बतलाया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(गीता ३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ।'

वस्तुतः उच्चकोटिके महात्मा पुरुषोंके सभी आचरण विशुद्ध, लीलामात्र और कल्याणकारक हैं; अतः वे अनुकरणीय हैं । उनका अनुकरण करनेसे मनुष्यका सहज ही कल्याण हो सकता है । यक्षके पूछनेपर महाराज युधिष्ठिरने यही कहा है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥
(महा० वन० ३१३ । ११७)

'तर्ककी कहीं स्थिति नहीं, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं; एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ—अत्यन्त गूढ़ है । अतः जिस मार्गसे महापुरुष गये हैं, वह मार्ग ही असली मार्ग है ।'

इसीलिये पितामह भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा है—

लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा ।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम् ॥
(महा० शान्ति० २५९ । २६)

'जो लोकसंग्रहसे युक्त है और जिससे धर्म तथा अर्थके सूक्ष्म तत्त्वका ज्ञान होता है, उस सत्पुरुषोंके उत्तम आचरणका ही पूर्वकालमें विधाताने सबके लिये विधान किया है ।'

क्योंकि गीता अ० ६ श्लोक ६ से ९ तक वर्णित सिद्ध योगियोंके लक्षण, अ० १२ श्लोक १३ से १९ तक वर्णित सिद्ध भक्तोंके लक्षण और अ० १४ श्लोक २२ से २५ तक वर्णित ज्ञानमार्गसे परमात्म-प्राप्त गुणातीत महात्माके लक्षण उन सिद्ध महापुरुषोंमें स्वाभाविक ही होते हैं । उनके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको उपर्युक्त सिद्ध महापुरुषोंके लक्षणों और आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये ।

भगवान्‌के तो सभी चरित्र परम पावन और लीलामात्र हैं ही । जब उच्चकोटिके महापुरुषोंके आचरणोंके अनुकरणसे ही कल्याण हो जाता है, तब फिर जो भगवान्‌के चरित्रोंके अनुकूल आचरण करते हैं और उनकी आज्ञाका पालन करते हैं, उनके कल्याणके विषयमें तो कहना ही क्या है ! तथा भगवान्‌की लीलाओंके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझ लेनेपर तो भगवान्‌की लीलाओंके दर्शनसे ही मनुष्यका कल्याण हो जाता है ।

वास्तवमें भगवान्‌के लिये तो कोई कर्तव्य है ही नहीं । भगवान् तो आप्तकाम हैं । उनमें न कोई इच्छा है न कामना; किंतु फिर भी लोकसंग्रहके लिये अर्थात् जीवोंके परम कल्याणके लिये ही उनकी सारी चेष्टाएँ होती हैं, जो कि स्वार्थकी गन्धमात्र भी न होनेके कारण हेतुरहित हैं । भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥
(गीता ३ । २२–२४)

'अर्जुन ! मुझे न तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है; तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ । क्योंकि पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं । इसलिये

यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ ।'

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हेतुरहित परम-दयालु भगवान् प्राणियोंको उन्मार्गसे बचाकर सन्मार्गमें लगानेके लिये ही सारी लीलाएँ करते हैं। अतः संसारमें अधर्मके नाश और धर्मके संस्थापनरूप लोक-संग्रह कर्मके लिये ही उनका अवतार होता है। उन्होंने स्वयं बतलाया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४। ६—८)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब ही तब मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ। श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

श्रीमद्भागवतमें भी बतलाया गया है—

विभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा
क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि
सतामभद्राणि मुहुः खलानाम्॥
(१०। २। २९)

'आप ज्ञानस्वरूप परमात्मा हैं। चराचर जगत्के कल्याणके लिये ही आप अनेकों रूप धारण करते हैं। आपके वे रूप विशुद्ध दिव्य सत्त्वमय होते हैं और संत-पुरुषोंको बहुत सुख देते हैं। साथ ही दुष्टोंको उनकी दुष्टताका दण्ड देते हैं, अतः उनको वे अमङ्गल-मय लगते हैं।'

तथा—

न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते॥
(१०। ४६। ३९)

'इस लोकमें उन भगवान्का कोई कर्म नहीं है; फिर भी वे श्रेष्ठ पुरुषोंके परित्राणके लिये, लीला करनेके लिये, देवादि सात्त्विक, मत्स्यादि तामस एवं मनुष्य आदि मिश्र योनियोंमें शरीर धारण करते हैं।'

इस प्रकार पृथ्वीपर प्रकट होकर लीला करना ही उनका जन्म और कर्म है। उनके जन्म और कर्म दिव्य होते हैं। जो मनुष्य भगवान्के जन्म और आचरणके तत्त्व-रहस्यको समझ जाता है, उसका कल्याण हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गीता ४। ९)

'अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।'

फिर जो मनुष्य भगवान्के अनुसार ही आचरण करता है, उसका कल्याण हो जाय, इसके विषयमें, तो कहना ही क्या है।

अतः हमलोगोंको उपर्युक्त साधक, सिद्ध और भगवान्के लोक-संग्रह कर्मका तत्त्व-रहस्य समझकर महापुरुषों और भगवान्की आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये और उनके चरित्रोंका अनुकरण करना चाहिये।

पूर्णताप्राप्तिका साधन—त्याग
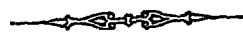
(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

जब कभी मानव-जीवनमें उन्नति, सद्गति, शान्ति तथा मुक्ति एवं भक्तिकी अभिलाषा प्रबल होती है, तब उसकी पूर्तिके लिये जो कुछ करना चाहिये, उस कर्तव्य अथवा साधनके समझनेके लिये जितनी आतुरता होती है, उतनी (आतुरता) जो कुछ नहीं करना चाहिये उस अकर्तव्य अथवा असाधनको भी जान लेनेके लिये प्रायः नहीं देखी जाती; इसीलिये जो कुछ नहीं करना चाहिये उस अकर्तव्य अथवा असाधनका त्याग किये बिना मनोवाञ्छित कर्तव्य एवं साधनकी सिद्धि नहीं होती । वास्तवमें जो नहीं करना चाहिये, उस अकर्तव्य अथवा असाधनका त्याग करनेपर ही जो कुछ करना चाहिये, उस कर्तव्य तथा साधनके पूर्ण होनेकी शक्ति संचित होती है । यह गुरु-संदेश नित्य स्मरणीय है कि न करने योग्य अकर्तव्य—असाधनके त्यागसे ही करने योग्य कर्तव्य—साधन सुगमतासे होने लगता है । अपने बनाये हुए लोभ-मोह-अभिमान आदि दोषोंका अथवा अशुभ असुन्दर अपवित्र अहितकरका जितना त्याग होता रहता है उतनी ही सद्गुणोंकी वृद्धि तथा शुभ सुन्दर पवित्र हितकरकी पूर्ति होती जाती है । त्यागकी पूर्णतामें सम्बन्धजनित राग सत्यानुरागमें परिणत हो जाता है । किसीका त्याग ही किसीकी प्राप्तिका साधन है । प्रायः कुछ लोग धन छोड़ देने तथा गृह-परिवारसे अलग रहनेको ही त्याग समझ बैठे हैं । वास्तवमें त्यागका अभिप्राय यही है कि जो कुछ अशुभ, असुन्दर और परिणाममें दुःखदायी है, उसे छोड़ दे—उससे किंचित् भी सम्बन्ध न रखे । इस प्रकारके त्यागसे ही त्यागीके अधिकारमें वह सारी शक्ति और उतनी ही प्रीति आ जायगी, जो त्यागके प्रथम अशुभ, असुन्दर और अपवित्रको ग्रहण किये रहनेमें लगी थी; इसी अधिकृत शक्ति एवं प्रीतिके द्वारा ही शुभ, सुन्दर, पवित्र तथा हितकर संकल्पकी पूर्ति होगी ।

यह समझ लेना आवश्यक है कि जिसका त्याग करना है, वह अशुभ, अपवित्र, असुन्दर तथा अनावश्यक क्या है। विचार-दृष्टिसे यह सिद्ध होता है कि घर, धन, परिवार और देहादि वस्तुएँ जो हमें मिली हैं या हमारे अधिकारमें हैं, वे स्वभावतः अपवित्र, अशुभ अथवा अनावश्यक नहीं हैं और इसीलिये ये सर्वथा त्याज्य नहीं हैं; पर इन प्राप्त वस्तुओं तथा व्यक्तियों एवं अवस्था और परिस्थितिके प्रति हमारे अन्तःकरणमें जो राग, द्वेष, लोभ, मोह, ममता आदि दोष-दुर्गुण प्रबल हो गये हैं, उन्हींका त्याग करना है । ये समस्त दोष-दुर्गुण ही अशुभ, असुन्दर और अपवित्र तथा परिणाममें महादुःखदायी हैं । अशुभ, असुन्दर, अपवित्र अथवा दुःखदायी दोषोंका त्याग करनेपर जो कुछ बच रहता है, वह शुभ, सुन्दर, पवित्र गुणयुक्त होता है; उसका दान करना चाहिये । लोभका त्याग करनेपर जो धन बच जाता है, उसका दान करना चाहिये । अभिमानका त्याग करनेपर जो अधिकार प्राप्त है, उसके द्वारा नम्रतापूर्वक कर्तव्य पालन करना चाहिये । मोह-ममताका त्याग करनेपर जो शरीर तथा सम्बन्धी साथ रहते हैं, उनका भोग न करके सेवामें सदुपयोग करना चाहिये । अर्थात् अपने शरीरद्वारा जिस किसी व्यक्तिसे सम्बन्ध है, उसकी सेवा करनी चाहिये । जो लोग लोभका त्याग न करके धनका त्याग करते हैं, मोह-ममताका त्याग न करके गृह-परिवारको छोड़ देते हैं, अभिमानका त्याग न करके आवेशमें पद-अधिकारका त्याग करते हैं, कामनाका त्याग न करके क्रोधावेगमें वस्तुओंका त्याग करते हैं, सुखासक्ति तथा अनित्य रसास्वादका त्याग न करके केवल प्रवृत्तिको ही छोड़कर निवृत्ति अपनाते हैं, वे पूर्ण त्यागी नहीं हो पाते । उन्हें इस प्रकार बाह्य-त्यागसे आन्तरिक शान्ति नहीं सुलभ होती, सम्बन्धजनित सभी दोष भीतर बने ही रहते हैं; वे ही एकान्तमें, वनमें, गिरि-गुहामें किसी विरक्त वेशके धारण करनेपर भी दुःख देते रहते हैं ।

इस देहको किसी वन या गिरि-गुहामें रखने मात्रसे ही त्याग पूर्ण नहीं होता । शरीरद्वारा जहाँ-कहीं स्वेच्छा, परेच्छा तथा असावधानीसे हिंसा होती हो, कोई कर्म चोरी बन जाता हो, या कहीं व्यभिचारकी पुष्टि होती हो, वहाँ ये ही कर्म अशुभ, असुन्दर, अपवित्र तथा अहितकर हैं; इन्हींका त्याग करना आवश्यक है । वाणीके द्वारा असत् बोलना, परनिन्दा करना, व्यर्थ वार्ता करना, कठोर वचन बोलना, अपनी प्रशंसा करना अशुभ, अपवित्र तथा अहितकर है; इसीलिये इन दोषोंका त्याग करना चाहिये । नेत्रोंद्वारा जिस दृश्यके देखनेसे अथवा कानोंद्वारा जिस चर्चाके सुननेसे मनमें काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष तथा अभिमानकी वृद्धि होती हो, उस प्रकारके दर्शन-श्रवणका त्याग कर

देना चाहिये। जिससे शरीरमें आलस्य बढ़ता हो, जिह्वामें, स्वादकी आसक्ति बढ़ती हो तथा जो उत्तेजक, भारी, रूक्ष, दुर्गन्धयुक्त, सड़ा-गला, बासी, खुला रहनेके कारणदूषित, कीटाणुयुक्त, जूँठा तथा किसीके हिस्सेका हो—ऐसा आहार भी त्याज्य है; वह अशुभ, अपवित्र और अहितकर है। मनमें रहनेवाली उस रुचि, इच्छा अथवा संकल्पका भी त्याग करना चाहिये, जिसकी पूर्तिसे सुखोपभोगकी तृष्णा प्रबल होती हो तथा लोभ, मोह, अभिमान आदि दोष-विकार बढ़ते जाते हों और अपना तथा दूसरोंका अहित होता हो; वह भी अशुभ, असुन्दर और अहितकर है। बुद्धिसे उस प्रकारके अध्ययनका त्याग करना चाहिये, जिससे ईश्वरके प्रति अविश्वास होता जाता हो, सनातन धर्म तथा वर्णाश्रमोचित कर्तव्यके प्रति उपेक्षा बढ़ती जाती हो, इन्द्रिय-दृष्टिसे जो कुछ सुखद प्रतीत होता है, उसीमें आस्था होती जाती हो। बुद्धिमें भर जानेवाले ऐसे विचारोंका भी बहिष्कार करना चाहिये, जो देवपूजा, ईश्वरोपासना तथा गुरुभक्ति और सात्त्विक श्रद्धामें बाधक बनते हों; वे भी अशुभ, अपवित्र तथा अहितकर हैं। चित्तमें होनेवाले उस चिन्तनका भी त्याग करना चाहिये, जिससे कहीं राग तथा कहीं द्वेष बढ़ता हो; अशुभ चिन्तनसे चित्त अशुद्ध होता है, इसीलिये वह अहितकारी है। अहंमें बसे हुए देहके प्रति अभेद-सम्बन्ध और व्यक्तियोंके प्रति भेद-सम्बन्धका भी त्याग करना चाहिये। जड देहसे मिलकर ही 'मैं' और सम्बन्धित वस्तुओं तथा व्यक्तियोंको अपनेसे मिलाकर 'मेरा' बन जाता है, 'मैं' और 'मेरेपन'की यह ग्रन्थि ही स्वस्वरूपका बोध नहीं होने देती। त्यागको पूर्ण बनानेके लिये उस अहंगत सूक्ष्म वासनाका भी त्याग करना चाहिये, जिससे संसारमें जन्म-मृत्युके बन्धनमें रहना पड़ता है।

जीवनका कल्याण आंशिक त्यागसे नहीं, पूर्ण त्यागसे होगा; इसलिये शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकारके द्वारा जो कुछ भी अशुभ, असुन्दर, अपवित्र तथा अहितकर होता दीख पड़े, उसीका त्याग आवश्यक है। जो कुछ नहीं करने योग्य है, उसका त्याग न होनेसे जीवनमें शुभ, सुन्दर, पवित्र और हितकारी संकल्पकी पूर्ति नहीं होती। कोई मानव दैवीसम्पत्ति इसलिये नहीं ला पाता कि आसुरी सम्पत्तिका त्याग नहीं कर सका; उदारतापूर्वक दानी इसलिये नहीं हो पाता कि लोभका त्याग नहीं कर सका। उसमें विनम्रता, सरलता इसीलिये नहीं आ पाती कि अभिमान तथा कठोर स्वभावका वह त्याग नहीं कर पाता; वह सभीके साथ शान्तिपूर्वक प्रसन्न रहकर कर्तव्यपालन इसीलिये नहीं कर पाता कि क्रोध-क्षोभका त्याग नहीं कर पाता। अपने बनाये हुए अशुभ, असुन्दर, अपवित्र तथा अहितकरके त्यागसे शुभ, सुन्दर, पवित्र, हितकारी संकल्पोंकी पूर्ति होने लगती है; संकल्पोंकी पूर्तिमें मिलनेवाले अनित्य रसास्वादके त्यागसे नित्य शान्तरस अनायास सुलभ रहने लगता है। सत्यसे विमुख रहनेवाली आसुरी सम्पत्ति (अमर्यादित काम, क्रोध, मद, मत्सर, अहंकार, दर्प, प्रमाद, अनियमित निद्रा, हिंसा, मोह, शोक, निन्दा, आलस्य, अज्ञान, असत्य, दम्भ, तृष्णा) के त्यागसे सत्यके सम्मुख रहनेवाली दैवी सम्पत्ति (सद्ज्ञान, प्रेम, क्षमा, नम्रता, दया, सरलता, शान्ति, शम, दम, तितिक्षा, तप, तुष्टि, संतोष, विराग, श्रद्धा, लज्जा, सुबुद्धि, विवेक आदि) की प्राप्ति हो जाती है। सीमित अहंके साथ रहनेवाली सुखोपभोगकी वासना तथा वैभव-ऐश्वर्यकी कामनाके त्यागसे ही कोई भी मानव पूर्ण कर्तव्यपरायण सेवक हो सकता है और अन्तमें मोक्ष भी पा सकता है।

प्रमाद, सुख-दुःखका भोग, भूतकालकी घटनाओंका चिन्तन, हिंसा, अशुद्ध संकल्प, परदोष-दर्शन, विवेक-विरोधी प्रवृत्ति, मिले हुए शुभ-सुन्दर-पवित्रका दुरुपयोग तथा साधनका अभिमान आदि असाधनोंका त्याग करनेपर ही साधनमें सिद्धि प्राप्त होती है। सुखका प्रलोभन तथा दुःखका भय त्याग करनेपर ही कोई निष्काम प्रेमी हो सकता है, ममताका त्याग करनेपर ही अहंताकी गाँठ खुल सकती है, तभी संसारके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होता है, परिस्थितिका सदुपयोग होने लगता है, कहीं भी आसक्ति नहीं रहती तथा मुक्ति सुलभ हो जाती है। परचर्चा—असत्-चर्चाका त्याग करनेसे प्रियतम प्रभु—सत्की चर्चा होने लगती है। किसी भी साधनाभ्यास अथवा तप तथा अध्ययनके द्वारा भूल-भ्रान्ति-अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे जीवनका पुरुषार्थ सफल होता है, जीव अपने निर्विकार शिवस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। किसीको अपना न मानकर एवं कुछ भी अपना न मानकर अधिकारका त्याग करनेसे कर्तव्यकी पूर्णता होती है, शान्ति प्राप्त हो जाती है, पूर्ण विश्राम सुलभ होता है। सभी प्रकारके अभिमानोंका त्याग करनेसे आत्मा-परमात्माका अनुभव होता है।

संसारसे सब प्रकारकी आशा तथा अपनत्वके सम्बन्धका

त्याग करनेपर भगवद्-भजन पूर्ण होता है, भक्ति सुलभ होती है; सुखकी आशाका त्याग करनेसे मुक्ति मिल जाती है। सभी प्रकारके संकल्पोंका त्याग करनेसे अनन्त चिद्घन परमतत्त्वसे योगानुभव हो जाता है। पूर्ण त्यागसे ही पूर्ण प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है—यही है त्यागकी सर्वोपरि महिमा। त्यागके बिना न गति होती है, न सद्गति मिलती है और न परम गतिका ही द्वार खुल पाता है। त्यागसे ही संसारमें उन्नति होती है, परमार्थ-पथमें सद्गति—परमगति मिलती है, आत्मपथमें मुक्ति और अनन्त परमात्माकी भक्ति प्राप्त हो जाती है।

भगवत्कृपामृत

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

स्खलन्नयनवारिभिर्विरचिताभिषेकश्रिये
त्वराभरतरङ्गतः कवलितात्मविस्फूर्तये।
निशातशरशायिना सुरसरित्सुतेन स्मृतेः
सपद्यवशवर्ष्मणे भगवतः कृपायै नमः॥[1]

कृपासिंधु भगवान् असंख्येयगुणगणमहोदधि अथवा निखिलकल्याणगुणगणनिलय हैं। वाल्मीकीय रामायणके आरम्भमें जब महर्षि वाल्मीकिने देवर्षि नारदसे धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवचा, दृढव्रत, चरित्रवान्, विद्वान्, आत्मवान् (जितेन्द्रिय), अनसूयक, क्षमाशील आदि अनेक गुणगणवाले व्यक्तिको पूछा, तब श्रीमन्नारदजीने कहा कि ये गुण बड़े दुर्लभ हैं और ऐसे एक गुणसे भी युक्त मनुष्य मिलना कठिन होता है, किंतु गुणगणाकर राममें तो ये ही नहीं, अन्य भी समस्त सद्गुण पूर्णतया परिनिष्ठित हैं। भक्तकुलकमलदिवाकर श्रीयामुनाचार्यजी महाराज अपने 'स्तोत्ररत्न'में कहते हैं कि 'प्रभो! आप वशी (आत्मवान्), उदार, गुणवान्, सरल, परमपवित्र, मृदुलस्वभाव, दयालु, मधुर, अविचल, समदर्शी, कृतज्ञ तथा स्वभावसे ही समस्त-कल्याणगुणामृत सिंधु हैं—

वशी वदान्यो गुणवानृजुः शुचि-
र्मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरः समः।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः
समस्तकल्याणगुणामृतोदधिः॥

(आलवन्दारस्तो० २१)

श्रीरामानुजाचार्यने गीताभाष्यके आरम्भमें बड़े ही पवित्र तथा दिव्य शब्दोंमें भगवान्‌की कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य, औज्ज्वल्य, सौन्दर्य, लावण्य आदि विविध विचित्रानन्ताश्चर्यकल्याण गुणगणनिलयताकी छवि खींची है। श्रीहरिभक्तिसुधासिन्धुकार श्रीरूपगोस्वामीने भी भगवान् श्रीकृष्णमें समस्त सल्लक्षण तथा अगणित गुणोंको सोदाहरण प्रदर्शित किया है। भगवान् व्यासदेवके शब्दोंमें कृपामूर्ति भगवान्‌में करोड़ों सूर्यका प्रकाश, करोड़ों चन्द्रमाकी आनन्दमयी शीतलता, करोड़ों कन्दर्पका लावण्य और करोड़ों समुद्रकी गम्भीरता है। वे तथा उनका नाम करोड़ों तीर्थके समान पवित्र हैं। उनमें करोड़ों वायुका बल, करोड़ों ब्रह्माका सृष्टि-नैपुण्य, करोड़ों लक्ष्मी एवं कुबेरकी समृद्धि एवं करोड़ों इन्द्रोंका विलास है। वे करोड़ों हिमालयके तुल्य निश्चल, करोड़ों सुधाके तुल्य मधुर एवं स्वास्थ्यप्रद तथा करोड़ों कामधेनुके तुल्य कामनाप्रद हैं—

सूर्यकोटिप्रतीकाशो यमकोटिदुरासदः।
कन्दर्पकोटिलावण्यो दुर्गाकोट्यरिमर्दनः॥
समुद्रकोटिगम्भीरस्तीर्थकोटिसमाह्वयः।
कोटीन्दुजगदानन्दी शम्भुकोटिमहेश्वरः॥
कुबेरकोटिलक्ष्मीवाञ्शक्रकोटिविलासवान्।
हिमवत्कोटिनिष्कम्पः कोटिब्रह्माण्डविग्रहः॥
कोट्यश्वमेधपापघ्नो यज्ञकोटिसमार्चनः।
सुधाकोटिस्वास्थ्यहेतुः कामधुक्कोटिकामदः॥

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड ७२। १५३–१५६)

पूज्यपाद गोस्वामीजी महाराज भी इन्हीं भावोंकी छाया लेते हुए अपनी पवित्र वाणीसे कहते हैं—

राम कामसतकोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन॥
सक्र कोटि सत सरिस बिलासा। नभ सत कोटि अमित अवकासा॥

---

१. शरशय्यापर पड़े गङ्गातनय भीष्मने जब भगवान्‌को स्मरण किया, तब जिस मङ्गलमयी करुणादेवीने प्रभुके नेत्रोंसे मानो उनके अभिषेकके लिये अश्रुओंकी धार-सी उँडेल दी, जिसके कारण शीघ्रता-भगवान्‌को आत्मस्मृति—अपनी भी सुध-बुध नहीं रही और जो तत्काल वहाँ पहुँच गये, उस भगवत्कृपाको मैं नमस्कार करता हूँ।

मरुत कोटि सत बिपुल बल, रबि सत कोटि प्रकास ।
ससि सत कोटि सुसीतल, समन सकल भवत्रास ॥
प्रभु अगाध सत कोटि पताला । समन कोटि सत सरिस कराला ॥
तीरथ अमित कोटि सत पावन । नाम अखिल अघ पूग नसावन ॥
हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा । सिंधु कोटि सत सम गंभीरा ॥
कामधेनु सत कोटि समाना । सकल कामदायक भगवाना ॥
सारद कोटि अमित चतुराई । बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई ॥
बिष्नु कोटि सम पालन कर्ता । रुद्र कोटि सत सम संहर्ता ॥
धनद कोटि सत सम धनवाना । माया कोटि प्रपंच निधाना ॥
भार धरन सत कोटि अहीसा । निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा ॥
राम अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ ।
संतन्ह सन जस किछु सुनेउँ तुम्हहि सुनायउँ सोइ ॥

—इत्यादि

इसी प्रकार भावुक भक्त महानुभावगण करुणावरुणालय भगवान्में अनन्तकोटि माताओंके स्नेह, वात्सल्य, कारुण्यकी कल्पना करते हैं। सुतरां उन अनन्त गुणगणार्णवके अनन्त गुणोंमेंसे यहाँ केवल उनके करुणा-गुणपर ही विचार करके अपनी बुद्धिको पवित्र करनेका प्रयत्न किया जा रहा है।

कृपाशक्तिका चमत्कार

वेद, उपनिषद्, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र तथा ऋषि-मुनियों एवं भक्त-संतोंके अनुभवके अनुसार विश्वके सभी प्राणियोंकी क्रिया-शक्ति, सद्बुद्धि, विवेक तथा समस्त कल्याणमय पदार्थ प्रभुकी कृपासे ही प्राप्त हुए हैं। उनकी इच्छा-शक्तिमात्रसे तृण वज्र, वज्र तृण हो सकता है—

'ईश्वरेच्छया तृणमपि वज्री भवतीत्युपपद्यते ।
(केन० ३ । १ पर शांकरभाष्य)

'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई ।'

उनकी अघटनघटनापटीयसी लीलाशक्ति चाहे तो किसी भी क्षण महासमुद्रको स्थलरूपमें, स्थलको समुद्ररूपमें, वनस्थलीको मरुस्थली, मरुस्थलको वनस्थली, धूलको पर्वत, पर्वतको धूल, मेरुको मत्कुण (मच्छड़का बच्चा), मत्कुणको मेरु, वह्निको हिम तथा हिमको वह्निके रूपमें परिवर्तित कर सकती है। उनका नाम ही 'लीलादुर्ललिताद्भुत' तथा 'सर्वाश्चर्यचमत्कारलीलाकल्लोलवारिधि' है।[1]

केन उपनिषद्के तीसरे खण्ड तथा लिङ्गपुराण पूर्वार्द्धके ५३ वें अध्यायमें 'यक्षोपाख्यान' आता है। उसमें बड़े सुन्दर ढंगसे यह दिखलाया गया है कि अग्निकी दाहिका एवं प्रकाशिका शक्ति, इन्द्र-वायु आदिका अपरिमित बल सब भगवत्कृपाशक्तिके कारण ही हैं। देवताओंको जो असुरोंपर विजय मिली, उसमें भगवत्कृपा ही एकमात्र हेतु थी, किंतु देवताओंने उस कृपामयकी कृपाशक्तिको भुला दिया और उसे अपनी ही विजय मानी। उनके स्वार्थप्रद इस अहंकारको दूर करनेके लिये प्रभु उनके सामने यक्षके वेषमें प्रकट हुए और अग्नि, वायु आदि देवताओंको एक तृणको जलाने तथा उड़ानेके लिये कहा। किंतु वह तृण वहाँ वज्र हो गया, या यों कहिये कि परमात्माने उन देवताओंसे अपनी शक्ति खींच ली; फलतः वे निर्वीर्य, निस्तेज, निःशक्ति देवता उस घासको टससे मस भी करनेमें समर्थ न हुए—

'तन्न शशाक दग्धुम्; तन्न शशाकादातुम्'
(केन उप० ३)

दग्धुं तृणं वापि समक्षमस्य
यक्षस्य वह्निर्न शशाक विप्राः ।
वायुस्तृणांश्चालयितुं तथान्ये
स्वान् स्वान् प्रभावान् सकला नरेन्द्राः ॥
(लिङ्गपुरा० पूर्वार्द्ध० ५३ । ५६)

फिर भगवती हैमवती उमादेवीने प्रकट होकर देवताओंको बतलाया कि तुम्हारी विजयमें उस करुणाकरकी कृपाशक्ति ही हेतु थी।

भगवान् श्रीकृष्ण भी गीतामें यही बतलाते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥
(गीता १५ । १२)

जो निखिल विश्वका प्रकाशक आदित्यान्तर्वर्ती प्रकाश है, वह मेरा ही तेज है तथा चन्द्रमा एवं अग्निका तेज भी मेरा ही तेज है।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
(गीता १५ । १५)

---

[1] अम्भोधिः स्थलतां स्थलं जलधितां धूलीलवः शैलतां
मेरुर्मत्कुणतां तृणं कुलिशतां वज्रं तृणप्रायताम् ।
वह्निः शीतलतां हिमं दहनतामायाति यस्येच्छया
लीलादुर्ललिताद्भुतव्यसनिने देवाय तस्मै नमः ॥
(भोजप्रबन्ध ३१)

'मैं समस्त प्राणियोंके हृदयमें संनिविष्ट हूँ, मुझसे ही प्राणियोंको स्मृति होती है, ज्ञान होता है तथा उनकी विस्मृतिका भी कारण मैं ही हूँ ।'

श्रीमद्भागवतमें दानव-कुलभूषण, परमभागवत वृत्रासुरका कथन है कि जैसे दारुमयी नारी (कठपुतली) तथा यन्त्रमय मृग सूत्रधारके अधीन होते हैं, उसी प्रकार यह समस्त प्राणीवर्ग ईश्वरके अधीन है । सभी प्राणियोंका ओज, तेज, बल, प्राण, जीवन तथा मृत्युका कारण वह सर्वाधिष्ठान सर्वेश्वर ही है, किंतु उसे न जानकर मूढ़ (देहात्मवादी) जनता अपने जड शरीरको ही सबका कारण मान लेती है—

यथा दारुमयी नारी यथा यन्त्रमयो मृगः ।
एवं भूतानि मघवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः ॥
ओजः सहो बलं प्राणममृतं मृत्युमेव च ।
तमज्ञाय जनो हेतुमात्मानं मन्यते जडम् ॥
(श्रीमद्भा० ६ । १२ । १०, ९)

इन्द्र, वायु, अग्नि, यम, वरुण, कुबेर आदि दिक्पाल तथा ब्रह्मा आदि लोकपालगण भी पञ्जरबद्ध पक्षीके समान जिसके वशमें होकर विवशतापूर्वक श्वास-प्रश्वास लेते हैं, वह कालात्मक परमात्मा ही सबकी जय-पराजयका एकमात्र हेतु है—

लोकाः सपाला यस्येमे श्वसन्ति विवशा वशे ।
द्विजा इव शिचा बद्धाः स काल इह कारणम् ॥
(श्रीमद्भा० ६ । १२ । ८)

परम शान्त, सुशील, गुणाकर, महाभागवताग्रणी, महात्मा प्रह्लाद भी कहते हैं कि सभी बलियोंका बल वह परमात्मा ही है—

स वै बलं बलिनां चापरेषाम् ।
(श्रीमद्भा० ७ । ८ । ८)

इसी तरह कार्यसिद्धिमें सफलता-असफलताकी हेतु भी भगवत्कृपा ही है । अमृत-प्राप्तिके लिये देवता तथा असुरोंने समान देश, काल, हेतु, अर्थ, बुद्धि एवं साधनोंके सहारे समुद्रमथनका प्रयत्न किया; किंतु भगवान्‌की पाद-पङ्कज-रजके समाश्रयणसे भगवत्कृपाके कारण देवताओंको तो सिद्धि मिली, अमृत मिला और दानव-दैत्योंको कुछ भी हाथ न लगा, मिली भी तो सर्वानर्थकारिणी वारुणी ही—

एवं सुरासुरगणाः समदेशकाल-
हेत्वर्थकर्ममतयोऽपि फले विकल्पाः ।
तत्रामृतं सुरगणाः फलमञ्जसाऽऽपु-
र्यत्पादपङ्कजरजःश्रयणान्न दैत्याः ॥
(श्रीमद्भा० ८ । ९ । २८)

इसी प्रकार ब्रह्माकी सृजन-शक्ति, शेषनागकी धरा-धरण-शक्ति, रुद्रकी संहार-शक्ति, इन्द्र-कुबेरादिकी समृद्धि-शक्ति सब उनकी ही कृपाशक्तिकी देन है । काशीखण्डमें सभी लोकपाल-दिक्पालों एवं ग्रहोंकी भगवदाराधनद्वारा तत्तत्पदोंकी प्राप्तिकी विस्तृत कथा कई अध्यायोंमें है । अतः किसी भी निराश, हतोत्साह, विगलितधैर्य, निःशक्ति एवं निस्तत्त्व प्राणीको सर्वथा निराश होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । उसे भगवत्कृपा प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये । भगवान्‌की कृपाशक्ति क्षणभरमें सब कुछ कर सकती है । वह मुर्देको जिला सकती है, विषको अमृत, जडको चेतन, मशकको विरञ्चि तथा कोई भी बिगड़ी बातको बनाकर उसे अपूर्व रूप देनेमें सक्षम है—

'जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य ॥'
'मसकहि करहिं बिरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन ॥'
'खाली भरे भरो ढरकावै । जब चाहे तब भरे भरावै ॥'

क्योंकि भगवत्कृपा सर्वथा अघटनघटनापटीयसी तथा भगवान् सर्वथा **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ'** जो ठहरे । अधिक क्या ? बाइबिल तथा कुरान आदि धर्मग्रन्थोंमें भी प्रायः अधिकांश कथाएँ भगवत्कृपासे ही सिद्धि, साफल्य एवं सुखलाभकी हैं ।

कृपाप्राप्तिका उपाय क्या ?

जगन्नियन्ता जगदीश्वरकी अपनी संतान—जीवनिकायपर स्वाभाविक कृपा है । जो संसारके भयानक रूपसे डरकर दीन-हीन होकर उसकी शरणमें आता है, उसपर वह तत्काल कृपा करता है । पर उसकी कृपाद्वारा प्राप्त ऐश्वर्य, वीर्य, हर्ष आदिके अतिरेकमें आकर जब प्राणी गर्वसे चूर होने चलता है, तब कृपामय प्रभु उसकी रक्षाके लिये सावधान करते हैं और उसके सारे मायामय पदार्थ दूर कर लेते हैं—

'जब हरि माया दूरि निवारी । नहिं तहँ रमा न राजकुमारी ॥
तब मुनि अति सभीत हरि चरना । गहे पाहि प्रनतारति हरना ॥'

यद्यपि नारदजीको मायामयी राजकुमारी मिली नहीं थी, किंतु उसके दर्शनमात्रसे ही उनमें अनेक राग, गर्व, क्रोध आदि दोष आ गये थे । उन चीजोंको हरते ही उनकी बुद्धि ठिकाने आ गयी । इसीलिये अद्वैतवादी इस विश्वको असत्य

बतलाते हैं; क्योंकि यह सब तत्त्वतः मायामय, भ्रामक तथा विनाशक ही है। रात-दिन इस संसारकी इन सभी वस्तुओंकी क्षणिकता, वञ्चनशीलता, सर्वथा निस्सारता आदिको समझते हुए केवल भगवच्चरण-चिन्तनसे ही प्रभु शीघ्र प्रसन्न होते हैं। सत्संग, नाम-जप, कथा-श्रवण, कीर्तन[1], ध्यान, प्रार्थना तथा सद्धर्माचरण आदिसे वे अति शीघ्र द्रवीभूत होते हैं। निरुपाय होकर शरणापन्न होनेपर वे तुरंत अपना लेते हैं। वे ज्यों ही कृपादृष्टिसे एक बार शरणागत प्राणीपर दृष्टिपात करते हैं, उसका क्लेश-सागर सूख जाता है। भावुकोंने उदार स्मितमयी भगवदीय कृपादृष्टिको 'तीव्र-शोकाश्रुसागर-विशोषण' कहा है। उनके कुण्डलमण्डित मुखमण्डल तथा अरुणिम अधरबिम्बकी आभा लोकार्तिका अपनोदन करनेवाली है—

मुखेन लोकार्तिहरस्मितेन परिस्फुरत्कुण्डलमण्डितेन।
शोणायितेनाधरबिम्बभासा प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्र्वा॥
(श्रीमद्भा० ३।८।२७)

उनके अरुण चरणोंके अनुरागामृतसिन्धुका एक बिन्दु भी इस भीषण संसारकी दावाग्निको शान्त करनेके लिये पर्याप्त है। उन चरणोंमें नमस्कार करनेवालेकी आर्ति उसी क्षण समाप्त हो जाती है। वे एक बार भी प्रणाम कर लेनेसे अपना लेते हैं, चाहे प्रणत व्यक्ति कितना भी असाधु क्यों न हो—

कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहे आए। सकृत प्रनाम किए अपनाए॥

अधिक क्या, भगवान्‌का श्रीविग्रह ही कृपापरिपूर्ण—कृपाका ही बना है—'प्रभु मूरति कृपामयी है' और वह कृपादेवी भी उनकी ही कृपासे कभी कृपा करते-करते थकती भी नहीं—सदा ही कृपा करनेको प्रस्तुत रहती है—'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती।' अन्तमें तो भगवान्‌के प्रकोपमें भी कृपातत्त्व ही दीखता है और फिर इस विश्वमें कोई भी वस्तु या घटना उनकी कृपासे रिक्त नहीं दीखती। पर यह सब दर्शन, अनुभव विचार तभी होता है, जब उनकी कृपा हो जाय। भगवच्चरणोंकी विमुखताः भगवत्तत्त्वका निराकरण अवश्य ही महान् दुर्भाग्यका विषय है, यही भगवत्कृपा-शून्यावस्था है, इसीलिये श्रुति प्रार्थना करती है कि 'प्रभो! सब कुछ हो जाय सो ठीक, किंतु ऐसा कभी न हो कि मैं तुम्हारा निराकरण करने लग जाऊँ या तुम मेरा स्वयं निराकरण कर दो—

'माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्।'

ऐसे अज्ञानी प्राणीके लिये वह परमात्मा 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (कठ० २।३।२।) है। इन्हीं संसारियोंके लिये गीताने सर्वाधम गति प्राप्त होनेकी बात कही है—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६।१९-२०)

वस्तुतः भगवान्‌की विस्मृति भगवत्तत्त्वका अनुसंधान, भगवदाज्ञा, भागवत शास्त्रोंका उल्लङ्घन ही विपत्ति है। अतः कल्याणेप्सु बुद्धिमान् प्राणीको सभी अनर्थोंसे बचकर सर्वात्मना सदा-सर्वदा भगवत्तत्त्वानुसंधानमें ही रत रहना चाहिये। यही सर्वोत्तम सम्पत्ति है।

आराध्यसे

तुम्हारी रूप-छवि मन में बसा कर,
हैं रहे जीते अभीतक और आगे भी जियेंगे।
तुम्हारी बात पर विश्वास रख कर,
हैं रहे चलते अभीतक और आगे भी चलेंगे॥

—बालकृष्ण बलदुवा

१. शृण्वीत भक्त्या श्रवयेत वोशतीं जनार्दनोऽस्याशु हृदि प्रसीदति।
तस्मिन् प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ किं दुर्लभं ताभिरलं लवात्मभिः॥
(श्रीमद्भा० ३।१३।४८-४९)

शरणागतकी निष्ठा

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज)

गत आठवें अङ्कमें प्रकाशित 'सद्यःश्रेयस्करी शरणागति' शीर्षक लेखमें विशेषकर शरण्य प्रभु श्रीरामजीकी प्रतिज्ञाके आधारपर कहा गया था कि शरण होते ही वे शरणागतको लोक-परलोकके भयोंसे तत्काल ही अभय कर देते हैं। यहाँ इस लेखमें शरणागत मुमुक्षुकी निष्ठा (शेषत्वनिष्ठा) लिखी जायगी कि शरण होकर उसे किस प्रकारकी निष्ठासे कालक्षेप करना चाहिये। वहाँपर—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।

(वाल्मी० ६। १८। ३३)

अर्थात् जीव हाथ जोड़कर दीन हो 'मैं आपका हूँ' यह याचना करे, तब शरण्य श्रीरामजी इसका कुल भार ले लेते हैं'—ऐसा कहा गया था। उसमें 'तवास्मि' इस भावके माँगनेका रहस्य यह है कि जीव ईश्वरका सनातन अंश है—(गीता १५। ७) अंशका अर्थ 'अंशभागौ तु वण्टके' (अमरकोष)। इस प्रमाणसे भाग (हिस्सा) होता है। जो जिसका भाग होता है, वह उसीके उपभोगके लिये रहता है। वैसे ही जीवमात्र अंश होनेसे ईश्वरके भोग्य एवं सेवक हैं। इसी भावको 'शेषत्व' कहा जाता है। अतः जीवोंको ईश्वरके अधीन उसका भोग्यभूत होकर रहना चाहिये और शरीरसे उसकी सेवा करनी चाहिये। संसारमें आनेके पूर्व भी यह ईश्वरके परिकर एवं परिच्छदरूपमें शेषत्वनिष्ठ था। यथा—

हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥

निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥

(रा० च० मा० किष्कि० २६)

मोहवश होकर यह संसारमें आ गया। अब मुमुक्षुता आनेपर इसे चेत हुआ। जब इसे अपनी पूर्व स्थितिकी प्राप्ति अपने उपायोंसे अगम जान पड़ी, तब ईश्वरको उपायरूपमें वरण करता हुआ यह उनसे अपनी पूर्वस्थितिकी याचना 'तवास्मि' इस वाक्यसे करता है कि 'मैं आपका ही हूँ, आपका ही शेष हूँ; वही स्थिति मुझे प्राप्त हो।' आदर्शभूत नित्यजीव शेषत्वनिष्ठासे ही रहते हैं। शेषत्व क्या है?

परगतातिशयाधानेच्छयोपादेयत्वमेव यस्य स्वरूपं स शेषः।

(वेदान्ताचार्य)

अर्थात् ईश्वरके इच्छानुसार उसके परतन्त्र रहकर सेवा करना उसका शेषत्व है, जाम्बवान् आदिके शेषत्वके प्रमाण ऊपर आ गये हैं; तथा—

निवासशय्यासनपादुकांशु-
कोपधानवर्षातपवारणादिभिः।
शरीरभेदैस्तव शेषतां गतै-
र्यथोचितं शेष इतीर्यते जनैः॥

(आलवन्दारस्तोत्र ४३)

अर्थात् समय-समयपर यथायोग्य आपके सेवाभावमें प्राप्त होनेवाले गृह, शय्या, आसन, पादुका, पीताम्बर आदि वस्त्र और तकिया तथा छाता आदि नाना प्रकारके शरीरोंसे यथायोग्य सेवामें सदा रहनेसे भक्त लोगोंके द्वारा जो 'शेष' इस संज्ञासे कहे जाते हैं, (वे शेषजी)। एवं—

दासः सखा वाहनमासनं ध्वजो
यस्ते वितानं व्यजनं त्रयीमयः॥

(आलवन्दारस्तोत्र ४४)

अर्थात् गरुड़जीके उड़ते समय उनके पङ्खोंसे ऋक्, साम और यजुः—इन तीनों वेदोंकी ध्वनि हुआ करती है। इससे वे वेदत्रयीमय कहे जाते हैं। वे गरुड़जी समय-समयपर आपके दास, सखा, वाहन, सिंहासन, ध्वजा, चाँदनी और पंखा आदि रूप धारणकर सेवा करते हैं; तथा—

भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते।
गहे छत्र चामर ब्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते॥

(रा० च० मा० उत्तर० १२)

इस प्रकार शेषत्वनिष्ठ जीवोंके कुछ उदाहरण लिखे गये। नित्य-शेषत्वनिष्ठ शेषावतार श्रीलक्ष्मणजीने नवीन शरणागत श्रीसुग्रीव और श्रीविभीषण आदिके प्रति शेषत्वनिष्ठाका उपदेश दिया है—

हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरै।
पाइ सजीवन, जागि कहत यों प्रेम पुलकि बिसराय सरीरै॥ १॥
मोहिं कहा बूझत पुनि-पुनि जैसे पाठ अरथ-चरचा कीरै।
सोभा सुख छति-लाहु भूप कहँ, केवल कांति-मोल हीरै॥ २॥
तुलसी सुनि सौमित्रि-बचन सब धरि न सकत धीरौ धीरै।
उपमा राम-लखनकी प्रीतिकी क्यों दीजै खीरै-नीरै?॥ ३॥

संजीवनी बूटीके सेवनसे सचेत होनेपर (श्रीसुग्रीव आदिके द्वारा पीड़ाके विषयमें पूछे जानेपर) श्रीलक्ष्मणजी प्रेमसे पुलकित हो और देह-सुध भूले हुए इस प्रकार कहने लगे—'मेरे वक्षःस्थलमें तो घावमात्र हुआ है, परंतु इसकी पीड़ा श्रीरघुनाथजीको (हुई) है ॥ १ ॥ आपलोग मुझसे बार-बार क्या पूछते हैं ? (आपलोगोंका मुझसे पूछना वैसा ही है) जैसे कोई तोतेसे उसके द्वारा पढ़े हुए पाठके अर्थ पूछनेकी चर्चा करे (तो वह चर्चा व्यर्थ ही है) । हीरेमें केवल कान्ति और मोल ही रहता है, फिर तो (उसके धारण करनेपर) उससे होनेवाली शोभाका सुख, खो जानेपर उसकी हानिका दुःख और उसके लाभका हर्ष, उसके धारण करनेवाले राजाको ही होता है ॥ २ ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीसुमित्रानन्दनके ये वचन सुनकर सब धैर्यवान् लोग भी धैर्य धारण नहीं कर सके। अतः इन श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजीकी प्रीतिकी उपमा दूध और जलकी प्रीतिसे कैसे दी जाय ! ॥ ३ ॥

विशेष—वनयात्राके समय श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीकी शरणागति की है—श्रीरामचरितमानस (अयोध्या० ७०-७२) तथा वाल्मीकि० (२।३१, २।२८) देखिये । शरणागतिमें 'तवास्मि' अर्थात् मैं आपका हूँ, ऐसा कहकर मुमुक्षु अपना शरीर एवं तत्सम्बन्धी वस्तुएँ स्वामीको समर्पित कर उनका शेष (भोग्य—सेवक) होकर रहता है (एवं उपर्युक्त रीतिसे अपने नित्य-शेषत्वकी याचना करता है) । श्रीरामजी इसके इस भावानुसार गीता (४ । ११) की अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार इसके प्रति वैसे ही बर्तते हैं; इसके शरीरके स्वामी होकर इसको अपना धन मानकर इसका संरक्षण करते रहते हैं। यह स्वामीपर निर्भर रहकर निश्चिन्त रहता है। श्रीलक्ष्मणजीकी शरणागतिपर इनकी माता श्रीसुमित्राजीने भी इन्हींके भावोंको दृढ़ कर दिया है—श्रीरामचरितमानस अयोध्या० (७३-७४) देखिये । इसीसे उस भावकी खरी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर यहाँ (इसी पदमें) आगे इन्हें 'सौमित्रि' कहा गया है । 'हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरै ।'—यहाँ श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं कि घाव तो मेरी छातीमें ही हुआ है, परंतु इसकी पीड़ा मुझसे न पूछिये । मेरा शरीर जिनका धन है, उन धनी श्रीरघुवीरजीसे पूछिये । इसकी पीड़ा वस्तुतः उन्हींको थी । उन्हींने उपाय कर इसे नीरोग भी कराया है । मैं तो मूर्छित पड़ा था । पाइ सजीवन जागि'''—मूर्छा-निवृत्तिपर स्वामीका, अपने धनके समान अपना संरक्षण देख, अपनी प्रपत्ति-निष्ठाकी सिद्धि समझकर स्वामीकी कृपा-के प्रति कृतज्ञतामें प्रेमसे पुलकित हो वे शरीर-सुध भूल गये और फिर सावधान होकर इस प्रकार कहने लगे—

'मोहिं कहा बूझत पुनि-पुनि'''—जब श्रीलक्ष्मणजीने कह दिया कि पीड़ाकी बात स्वामी श्रीरामजीसे पूछिये, क्योंकि इस देहकी सार सँभाल तो उन्हींने किया है । इसपर लोगोंने फिर-फिरसे कहा कि आपके सेवा-कर्म एवं गुणोंपर ही मुग्ध होकर तो स्वामीने आपका संरक्षण-भार लिया है । इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि जैसे पाठक तोतेको उत्तम पाठ पढ़ाता है और फिर स्वयं उस तोतेसे सुनकर उसकी प्रशंसा करता है, प्रसन्न होता है और उसका संरक्षण करता है । तोतेसे यदि पूछा जाय कि तेरे इस पाठका क्या अर्थ है तो वह कुछ नहीं कह सकता । उसी प्रकार स्वामी श्रीरामजीने मुझे सद्गुण प्रदान कर मुझसे अपनी सेवा करा स्वयं प्रसन्न हुए हैं, इसमें मैंने तो कुछ नहीं किया है । मैं यह नहीं समझता कि मेरे द्वारा होनेवाले किस गुण एवं कर्मसे स्वामी प्रसन्न होते हैं; श्रीभरतजीने भी ऐसा ही कहा है—

'पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना । गुन गति नट पाठक आधीना' ॥
'यों सुधारि सनमानि जन, किए साधु सिरमोर ।'
(रा० च० मा० अयो० २९९)

शरणागतिके आचार्योंने कहा है

त्यागश्च नोपायः स्वीकारश्च नोपायः किंतु उभयोः कारयिता भगवानेव उपायः ॥

अर्थात् श्रीरामजी अपनी प्राप्तिमें स्वयं उपाय हैं । इस मुमुक्षुने जो सांसारिक सम्बन्धोंका त्याग किया है और जो इसने श्रीरामजीकी शरणागति स्वीकार की है; ये दोनों कार्य श्रीरामजीने ही प्रेरणा करके इससे करवाये हैं—यह वचन यहाँपर इस लक्ष्मणजीकी उक्तिमें चरितार्थ है । 'सोभा सुख छति लाहु भूप कहँ'''—हीरामें यदि कान्ति और मोल रहते हैं, तब राजा आदरपूर्वक उसका धारण करता है और फिर उस हीरेके संरक्षणका कुल भार राजा ही रखता है। वह हीरेकी शोभापर सुखी होता है और उसके टूटने-फूटने एवं खो जानेकी हानिपर वह दुखी होता है तथा उस अमूल्य हीरेके लाभपर वह भारी हर्ष मानता रहता है । यहाँ हीरा

शेष और राजा उसका शेषी है। शेषको धन, भोग्य और सेवक तथा शेषीको धनी, भोक्ता और सेव्य (स्वामी) कहा जाता है। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी शेष और श्रीरामजी शेषी हैं।

हीरेमें कान्ति और मोल रहते हैं तभी राजा उसको धारण करता है, वैसे इस शरणागत (शेष) में विवेक (सदसद्विवेक एवं स्वस्वरूप-परस्वरूप-विवेक) और निष्ठा (शेषत्वनिष्ठा) रहनी चाहिये, तभी शेषी श्रीरामजी इसको अपना अङ्ग मानकर धारण करेंगे—अपनायेंगे। फिर इसमें अपेक्षित सद्गुण दे अपना शेषत्व करा उसमें शोभाके सुखका अनुभव करेंगे, इसकी चूकपर पूरी सँभाल करते रहेंगे और फिर इस अपने परिकरको अपना अमूल्य धन मानकर इसपर हर्षित रहेंगे।

यहाँ शेषत्वके आचार्य श्रीलक्ष्मणजीने सुग्रीवादिके व्याजसे सभी शरणागतोंको शिक्षा दी है।

आजकल शरणागतोंको आचार्यलोग पञ्च-संस्कारोंका रहस्य समझाकर विवेक देते हैं, इससे शिष्य इन्द्रियोंको जगद्व्यवहारसे खींचकर हरि-भक्तिमें लगाता है और मन्त्रार्थसे त्रिविध अनन्यताओं (अनन्यशेषत्व, अनन्यभोग्यत्व और अनन्योपायत्व) की दृढ़ता करा इसकी निष्ठा दृढ़ करते हैं।

'सुनि सौमित्रि वचन'''—श्रीलक्ष्मणजीने 'प्रेम पुलकि बिसराय सरीरैं' इस दशासे कथन प्रारम्भ किया था, यहाँ 'सत्र धरि न सकत धीरौ धीरैं' इस अन्तके वचनसे सबको प्रेममें अधीर कर दिया; यही कथनका गौरव है।

'उपमा राम-लखन''''''खीर नीरैं'—दूध और जलकी प्रीति खटाई पड़नेपर विलग हो जाती है। परंतु श्रीराम-लक्ष्मणकी प्रीति वनवासकी विपत्ति एवं युद्धमें घायल होनेमें भी विलग नहीं हुई। मूर्च्छावस्थामें भी ज्यों-की-त्यों रही, इससे जागते ही पूर्ववत् विवेकसे इन्होंने निष्ठा-निर्वाहका वर्णन किया है। अतः दूध और जलकी प्रीतिकी उपमा यहाँ युक्त नहीं है। श्रीभरतजीने कहा है—

कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद प्रेम निबाहे॥

(रा० च० मा० अयो० २०४)

श्रीयामुनाचार्यने भी कहा है—

न देहं न प्राणान्न च सुखमशेषाभिलषितं
न चात्मानं नान्यत्किमपि तव शेषत्वविभवात्।
बहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा
विनाशं तत्सत्यं मधुमथन! विज्ञापनमिदम्॥६०॥

(आलवन्दारस्तोत्र)

अर्थात् 'हे नाथ! मैं आपके शेषत्व (दासत्व) के वैभवसे बाहर होनेवाले न देहको, न प्राणोंको, न सम्पूर्ण अभिलाषाओंके विषयोंसे होनेवाले सुखोंको, न आत्माको सह सकता हूँ और अन्य जो कुछ भी हो, इन सबको मैं क्षणभर भी नहीं सह सकता। आपके शेषत्व-वैभवसे विमुख जो है, वह सौ प्रकारसे विनाशको प्राप्त हो, मैं यही चाहता हूँ, हे मधुमथन! मेरा यह विज्ञापन सत्य है।'

इस प्रकारके शेषत्वको आजन्म निर्वाह कर शरणागत को अपनी की हुई 'तवास्मि' इस प्रतिज्ञाका निर्वाह सप्रेम करना चाहिये। तब श्रीरामजी भी (गीता ४। ११ की अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार) इसके भावानुसार सम्मुख रहेंगे। (गीता ७। २१-२२ के अनुसार) ये इसकी श्रद्धाको धारण कर स्थिर रखेंगे। आजन्म निबह जानेपर (गीता ८। ६ के अनुसार) यह अपने भावानुसार भगवान्‌के नित्य-शेषत्वको प्राप्त हो जायगा; फिर संसारमें नहीं आयेगा। तथा—

सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।

(तैत्ति० १। २)

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(गीता ८। १६)

स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते॥

(छान्दोग्य० ८। १५। १)

—इत्यादि श्रुतियाँ और स्मृतियाँ उक्त शेषत्व-सिद्धि-की मुक्तकण्ठसे घोषणा कर रही हैं।

आर्य-संस्कृतिपर संकट

(लेखक—श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ)

देशको स्वतन्त्रता प्राप्त होनेपर जिन-जिन विषयोंमें उन्नतिकी आशा की जाती थी उन विषयोंमें कहाँतक उन्नति हुई है, इस विषयपर विचार करना है। इसका कोई एक सर्वमान्य मापदण्ड नहीं हो सकता है। कुछ लोग इसीसे तृप्त हैं कि स्वतन्त्र भारतके लोग आज विदेशोंमें विदेशियोंके समक्ष समानताके भावसे अकड़कर चलते हैं, जहाँ पहले वे कुलीकी श्रेणीके समझे जाते थे। कुछ लोग इससे संतुष्ट हैं कि देशमें कल-कारखानोंकी वृद्धि हो रही है, दामोदरघाटी एवं भाखराके समान विशाल योजनाओंकी पूर्ति की जा रही है, जिनसे कृषिमें अतर्कित प्रगति होगी और गाँव-गाँव, घर-घरमें बिजलीसे छोटे-बड़े कारखानें सुविधासे चलेंगे और घर-घरमें बिजलीके दीपक जलेंगे। कुछ लोग इससे प्रसन्न हैं कि देशमें प्रान्त-प्रान्तमें, जिले-जिलेमें विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, विद्यालय एवं पाठशालाओंकी पंक्ति जोड़ी जा रही है जिससे देशमें सार्वभौम 'साक्षरताका' प्रचार और उच्च-शिक्षाका विस्तार हो रहा है। कुछ लोग इसे महत्त्वपूर्ण समझते हैं कि असवर्णों और हरिजनोंके उत्थानको पूरा अवसर दिया जा रहा है, जिससे सवर्णोंके साथ उन्हें समानताका स्थान निकट भविष्यमें प्राप्त होगा और वे भी इस देशको अपना देश समझने लग जायँगे। परंतु इन सबसे भिन्न एक श्रेणीके वे लोग हैं, जो 'स्वतन्त्रता-लाभके पश्चात् देशमें प्राचीन आर्य-सभ्यता तथा आर्य-संस्कृतिका विकास होगा और इसकी विशेषताओंका विदेशोंमें पुनः नये ढंगसे समादर होगा और देशमें लौकिक उन्नतिका आधार धर्म होगा'—ऐसी आशा रखते थे।

कहना नहीं होगा कि अन्तिम श्रेणीके लोग देशके वर्तमान शासनसे अत्यन्त निराश हुए हैं और उनकी बची-खुची आशा भी दिनोंदिन कर्पूरवत् विलीन हो रही है। देशमें और प्रदेशोंमें दिनोंदिन जितने विधेयक पारित किये जा रहे हैं, उनका एक प्रधान लक्ष्य मानो आर्य-संस्कृतिको मटियामेट करना रहता है। आर्य-सभ्यताका प्रधान स्तम्भ है—'सम्मिलित परिवार।' एक मनुष्यके दूसरे मनुष्यके साथ मानवताके नाते जितने रूपमें अच्छे-से-अच्छे सम्बन्ध इस संसारमें हो सकते हैं, वे सम्मिलित परिवारमे ज्वलन्तरूपसे पाये जाते हैं। परिवारके एक सदस्यका दूसरे सदस्यके हितमें त्याग एवं कष्टसहिष्णुता तो सम्मिलित परिवारका साधारण रूप है। लोकतन्त्र शासनप्रथाका यह अनुपम रूप है। समाजवादी सिद्धान्त 'From each according to his capacity and to each according to his needs' जितना ही काम कर सके, उतना ही करे, पर प्रत्येक सदस्यकी सारी आवश्यकताएँ पूरी की जायँगी' का यह पारिवारिक प्रथाका अद्वितीय व्यावहारिक रूप है। परिवारमें कोई व्यक्ति अपङ्ग, रुग्ण, विकृतमस्तिष्क अथवा निकम्मा हो तो भी उसका भरण-पोषण—इतर योग्य व्यक्तियोंके समान ही होता है, उसके लड़के-लड़कियोंका भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा समानरूपसे होती है। उसकी लड़कियोंके विवाह भी परिवारकी स्थितिके अनुसार ही होते हैं। इससे बढ़कर परिवारका कैसा सुन्दर रूप हो सकता है, यह भारतवर्षसे बाहरके लोग अनुभव नहीं कर सकते हैं, जहाँ सम्मिलित परिवार-जैसी कोई वस्तु नहीं है, भाई-भाई, पिता-पुत्र पृथक्-पृथक् रहते आये हैं और अधिकतर होटली जीवन बिताते आये हैं। ऐसी अमूल्य प्रथाको विनष्ट करनेवाली कोई भी शासन-पद्धति, देशी हो अथवा विदेशी, भारतीयोंको प्रिय नहीं हो सकती। आजके शासनने इस दिशामें देशका असह्य अहित किया है। अब आगे इस दिशामें जागरूकतासे काम लिया जाना चाहिये।

अंग्रेजोंके शासनकालमें ही सीमित अधिकारवाले प्रादेशिक मन्त्रिमण्डलोंने १९३५में कृषि-कर (Agricultural Income-tax) की प्रथा निःशुल्क, अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा-प्रचारके नामपर चलायी। उस करके रुपयेमेंसे एक पैसा भी शिक्षाके प्रचारमे 'व्यय' नहीं हुआ, परंतु वह कर स्थायी हो गया, जिसके परिणामस्वरूप बड़े-बड़े काश्तकारोंने अपनी सम्पत्तिका बँटवारा कर लिया। दिनोंदिन उस करका दायरा नीचेकी ओर बढ़ता गया और सम्पत्तिका बँटवारा होता गया। फिर दूसरा भयंकर वार सम्मिलित परिवारपर होने जा रहा है जमीनपर हदबन्दीके द्वारा। (ceiling on agricultural lands) इसमें भिन्न-भिन्न प्रदेशोंमें नाना प्रकारकी ऊटपटाँग बातें की जा रही हैं। भूमिवान् लोग इस कानूनके भयसे निष्प्राण होते जा रहे हैं और अपनी जमीनोको यत्र-तत्र फेंक रहे हैं। फेंकें कैसे नहीं, सैकड़ों वर्षोंसे पिता-पितामह-प्रपितामहकी गाढ़ी

कमाईसे अर्जित भूमिको कुछ मनचले लोग शासनके अधिकारमें आकर छीनकर देशकी आर्थिक उन्नतिके नामपर बर्बाद करना चाहते हैं और उन भूमिहीनोंको देना चाहते हैं जो अपने दुर्व्यसनोंसे पैतृक सम्पत्तिको अधिकांशमें गँवा चुके हैं और जो आज इस सत्यानाशी सवयस्क-मताधिकारके कारण मतदान-भिक्षुकोंके आराध्य हो रहे हैं। कहनेके लिये जो कुछ कहा जाय, पर इस प्रस्तावित हदबन्दी कानूनकी तहमें एकमात्र यही उद्देश्य छिपा हुआ है।

हिंदूकोड तथा तलाक-कानूनके द्वारा हिंदुओंकी धार्मिक प्रथाका मखौल उड़ाया गया है, उत्तराधिकारके नियमोंमें अविवाहित स्त्रियोंकी संतानोंको दायभागी बनाकर महान् अनर्थ किया गया है। विवाहकी मर्यादाको नीचे गिराया गया है। भटियारिन स्त्रियोंको महत्त्व दिया गया है और भटियारे लोगोंकी कुप्रवृत्तिको प्रोत्साहित किया गया है। तलाक-कानूनका भी कुछ ऐसा ही अनर्थमय परिणाम हो रहा है। द्विजेतर निम्नवर्गके लोगोंमें तलाक-प्रथा पहलेसे ही प्रचलित थी। द्विजोंके ऊपर इसे इसलिये लादा गया है कि देशमें, समाजमें सब लोगोंमें बुरी बातोंमें भी समानता हो जाय। जो ऊँचे हैं वे नीचे गिरेंगे तो नीचेवाले आसानीसे उनकी पंक्तिमें पहुँच जायँगे। यह द्विधार आक्रमण हिंदुओंके ऊपर इस शासनमें किया जा रहा है। अधिकारलोलुप कुशासकोंको 'यह' नहीं सूझ रहा है कि इस देशके ब्राह्मण-क्षत्रियोंके द्वारा बनाये हुए धार्मिक, सामाजिक और पारिवारिक जीवनक्रमसे ही भारतका भारतत्व है। निम्नश्रेणीके इतर लोगोंकी संख्या जितनी भी हो, वे इस देशकी मर्यादाके रक्षक नहीं हो सकते हैं और न देशकी रक्षा ही कर सकते हैं। मतदानके अधिकारसे ही सब मनुष्य बराबर नहीं हो सकते हैं। एक मनु, एक याज्ञवल्क्य और एक व्यास जो अक्षय निधि इस देशको दे गये हैं, वह आजके हजारों विधायक लोग हजारों वर्षोंमें भी नहीं दे सकते हैं। एक अर्जुन और राणा प्रताप स्वधर्म तथा स्वदेशकी रक्षाके नामपर वीरताका जो उदाहरण छोड़ गये हैं, वह निम्नवर्गके लोगोंके द्वारा सुदूर भविष्यमें भी असम्भावित है। आज किसीको कितने भी राजनीतिक अधिकार दिये जायँ, देशपर बाहरी संकटके समय वे रँगे सियारकी भाँति धोखा देंगे और देशकी रक्षाका भार पुनः पुराने देश-रक्षकोंके ऊपर ही रहेगा। यह अकाट्य सत्य बहुत लोगोंको कटु प्रतीत होगा, पर विचारवान् लोग इसे अवश्य स्वीकार करेंगे।

कल्याण इतना ही है कि देशमें चिरकालसे धर्मका मूल इतना नीचे गड़ा हुआ है कि 'समय-समयपर विनाशकारी कानूनोंके बनाये जानेपर भी धर्मप्रिय आर्योंपर उसका वैसा प्रभाव नहीं पड़ता है। वे कानून कागजपर ही लिखे रह जाते हैं। आजसे ठीक १०० पूर्व वर्ष विद्यासागरने विधवा-विवाहका कानून बंगालमें पास कराया था। पर 'इस' लंबे अरसेमें शायद १०० भी द्विज-विधवाओंके विवाह बंगालमें नहीं हुए होंगे। अस्पृश्योंसे स्पर्शका निषेध करना दण्डनीय बताया गया है, पर इसका क्या परिणाम हो रहा है। कानूनसे नहीं परंतु समयकी गतिसे ही इस विषयमें लोगोंके विचार बदल रहे हैं। इसमें किसीको क्या आपत्ति हो सकती है। दुःख तो इस बातका है कि बार-बार हिंदुओंके ऊपर ही आक्रमण किया जा रहा है। मुसल्मानोंमें भी सामाजिक कुरीतियाँ और रूढ़ियाँ हैं, ईसाइयोंमें भी हैं, परंतु उधर नेताओंका ध्यान क्यों नहीं जा रहा है? जब यह कहा जाता है कि पाकिस्तानके बन जानेपर यह देश हिंदुओंका है तो गान्धीजीकी दुहाई दी जाती है और इस देशको 'सर्व-शरण्य' बतलाया जाता है, हिंदुओंके हितकी कोई भी बात नहीं की जा सकती है, जिससे इतर लोगोंका जरा भी अहित या विरोध हो। संस्कृतको इसीलिये राष्ट्रभाषा नहीं बनाया जा रहा है कि मुसल्मानों तथा क्रिश्चियनोंको यह पसंद नहीं होगा। यह विचित्र नीति है। ऐसी दशामें धर्मप्राण हिंदुओंका क्या कर्तव्य है? क्या वे बैठे-बैठे चुपचाप देखते रहें जब कि वर्तमान सरकारके आश्रयमें ईसाई, पादरी और मुसल्मान मुल्ले जहाँ-तहाँ अबोध हिंदुओंको और विशेषतः अबलाओंको—धर्मभ्रष्ट करनेकी हरकतमें 'बाज' नहीं आ रहे हैं। गोहत्या-निरोधके आन्दोलनमें भी कोई प्रगति सरकारी बदरुखके खिलाफ नहीं हो रही है। यदि रूढ़ियोंको निरुन्मूलन करके व्यापक मानवधर्मके प्रचारके लिये सुधारवादी सरकारका ऐसा रुख होता, तो एक प्रकारसे सन्तोषकी बात होती। पर ऐसा कुछ देखनेमें नहीं आता। आज वर्तमान शासनमें ऊँचेसे नीचेतक भ्रष्टाचार फैला हुआ है। अधिकांश कर्मचारी एवं कुछ हाकिम भी गंदे पैसेको बटोरनेमें लगे हुए हैं। भोली जनताका खून चूसा जा रहा है। आज तो हमारा धर्म न तो रूढ़िके रूपमें सुरक्षित है और न व्यापक मानव धर्मके रूपमें प्रकट है। वास्तवमें साम्प्रदायिक रूढ़िधर्ममें और मानवधर्ममें कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

यह निश्चितप्राय है कि गणतन्त्रात्मक शासन-पद्धतिसे

इस देशका पिण्ड नहीं छूटने जा रहा है। गणतन्त्र तो और देशोंमें भी है, परंतु दूसरी जगहोंमें इस प्रकार वहाँकी प्राचीन संस्कृतिका विनाश नहीं किया जा रहा है, जिस प्रकार यहाँ किया जा रहा है। यह भिन्न-भिन्न देशोंकी परिस्थितिके कारण है। वास्तवमें उन देशोंमें भारतकी अमूल्य प्राचीन संस्कृति-जैसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी रक्षाके लिये वहाँके लोगोंको चिन्ता हो। अभारतीय ढंगकी विदेशी शिक्षा भी हमारे देशके धार्मिक ह्रासका कारण है। खेद है कि बारह वर्षोंके बाद भी स्वतन्त्र भारतमें शिक्षा-क्रममें कोई विशेष परिवर्तन नहीं दीखता। देहात्मवाद-मूलक भोगपरक शिक्षाका दौर-दौरा है। इसीलिये सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें येन-केन-मार्गेण पैसा बटोरनेकी होड़ मची है। इसलिये आवश्यक है कि विधानमें परिवर्तन इस रूपसे किया जाय जिससे सब-के-सब सच्चे तथा वास्तविक विद्वान् और चरित्रवान् लोग ही विधायक तथा शासक बनें और शासनको वास्तविकरूपसे भारतीय बनायें।

दुःखका स्वागत कीजिये

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी)

यदि संसारके किसी भी भोग-पदार्थमें सुख होता तो मनुष्य सदा ही सुखकी दासतामें बँधा रहता। अतः भगवान्की यह बड़ी कृपा है कि सुखका कहीं भाव ही नहीं है। सुखके संयोगके साथ ही दुःख लगा रहता है। जब हम सुखकी प्रतीतिमें ही भगवान्को भूल जाते हैं, तब वे दयालु भगवान् हमारे उस सुखाभासको भी छीन लेते हैं और हम पूर्ण दुखी हो जाते हैं। दुःखके आते ही हम उस दुःखहारी भगवान्को दीनतापूर्ण स्वरसे पुकारने लगते हैं। बस, यहींसे हम वास्तविक आनन्दकी खोजमें लग जाते हैं। धन्य है दुःख और धन्य हैं वे दुःखहारी भगवान्।

यदि संयोगमें वियोग नहीं होता और वस्तुएँ परिवर्तनशील नहीं होतीं एवं दुःख अपने-ही-आप नहीं आता होता तो हम सुखके दास बनकर जडता, शक्ति हीनता और पराधीनतासे मुक्त कभी नहीं हो सकते। दुःख ही हमें दुःखसे मुक्त कराकर आनन्द-साम्राज्यकी ओर ले जाता है। अतः दुःखका हार्दिक स्वागत करना चाहिये।

यदि दुःखकी ऐसी महिमा है तो फिर हम इससे घबराते क्यों हैं? इसका उत्तर तो यही है कि हम या तो दुःखकी महिमा जानते ही नहीं अथवा हम भगवान्के मङ्गलमय विधानसे पूर्ण अपरिचित हैं। प्रभुसे प्रेरित जो कुछ भी क्रियाएँ होती हैं, वे सब पूर्णतया मङ्गलसे ओत-प्रोत हैं, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। यह तो हमारा ही अविवेक है, जिसके कारण हम दुःखमें अपना मङ्गल नहीं देख पाते।

संसारमें विवेकी वही पुरुष कहलाता है, जो सुख और दुःख दोनोंका सदुपयोग करता है। सुखमें उदार होना और दुःखमें त्याग करना ही सुख-दुःखका सदुपयोग करना है। त्याग ही शान्तिका जनक है। जो भगवान्के मङ्गलमय विधानको स्वीकार कर लेता है, वही सदा निश्चिन्त और निर्भीक रहता है।

जो पुरुष सुख-दुःखका सदुपयोग नहीं करता, वही अवनतिकी ओर जाता है। सुखका सदुपयोग न करनेसे सुख छीन लिया जाता है और दुःखका सदुपयोग न करनेसे दुःख बढ़ जाता है—यह प्राकृतिक नियम है।

जो अविवेकी पुरुष हैं, वे सुखसे तो राग करते हैं और दुःखसे द्वेष। ये राग-द्वेष ही पुरुषके पतनके मूल हैं। अतः सबका हित चाहनेवाले

दुःखहारी भगवान् पतनसे बचानेके लिये ही प्रतिकूल परिस्थिति उपस्थित कर देते हैं, जिसके सदुपयोगमें ही मानवमात्रका कल्याण निहित है ।

जो अविवेकी हैं, वे ही दूसरोंको अपने दुःखका कारण बताते हैं; जिनमें विवेक है, वे तो दुःखको भगवान्का प्रसाद समझकर सिरपर धारण करते हैं ।

संसारमें जितने भी महापुरुष हो गये हैं, वे सभी प्रतिकूल परिस्थितिको पाकर ही उन्नत हुए हैं । विश्वास न हो तो इतिहासके पन्ने उलटकर देख लीजिये ।

नल-दमयन्ती और पाँचों पाण्डवोंकी कथा संसार जानता है । आज भी ऐसे-ऐसे महापुरुष वर्तमान हैं, जिनका जीवन दुःख और संकटसे ही ओत-प्रोत रहा है । जैसे आग स्वर्णको तपाकर शुद्ध कर देती है, वैसे ही दुःख मनुष्यको सब प्रकारसे शुद्ध करके उसे समाजमें चमका देता है । दुःखको सहर्ष स्वीकार कर लेना ही परम तप है । जो स्वेच्छासे तप नहीं करना चाहता, उसे भगवान् जबर्दस्ती दुःख देकर तपाते हैं । दुःख हमें त्यागकी ओर ले जाता है । यही नहीं, भगवान्की शरण भी तो हम दुःखसे घबराकर ही लेते हैं । दुःखसे दबकर जब हम दुःखहारी भगवान्की शरण हो जाते हैं, तब हमारी सारी बाधाएँ दूर हो जाती हैं । तभी तो श्रीमद्गोस्वामीजी लिखते हैं—

सुखी मीन जे नीर अगाधा । जिमि हरि सरन न एकउ बाधा ॥

माता कुन्तीने इसीलिये भगवान्से दुःख ही माँगा था—

विपदः सन्तु नः शश्वत्

महात्मा कबीरदासजी भी दुःखकी ही सराहना करते हैं—

बलिहारी वा दुःखकी, जो पल पल नाम रटाय ।
बोलो दुःखहारी भगवान्की जय ।

दम्भ

(रचयिता—श्रीनावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)

दम्भका कब होगा अवसान ?
जहाँ दम्भकी पूजा होती, वहाँ कहाँ भगवान ।

भ्रष्टाचारी हैं अधिकारी,
व्यापारी हैं मिथ्याचारी,
जनताकी अटपट लाचारी,
देश बना बेजान ॥ दम्भका० ॥ १ ॥

कहीं प्रान्तका विकट भाव है,
कहीं बिरादर-वाद घाव है,
भाषाका क्या कम तनाव है ?
कैसे हो निर्माण ? ॥ दम्भका० ॥ २ ॥

मानवताका काम तड़पना,
दानवताका काम हड़पना,
सबका अपना-अपना सपना,
पतन बना उत्थान ॥ दम्भका० ॥ ३ ॥

बड़े-बड़े नेता हैं आते,
मन्त्र सिखाते, पंथ दिखाते,
धक्के खाते, आयु बिताते,
तौ भी हम नादान ॥ दम्भका० ॥ ४ ॥

कब स्वदेशकी ममता होगी ?
कब जन-जनमें समता होगी ?
कब यह नष्ट अधमता होगी ?
कब होगा कल्याण ? ॥ दम्भका० ॥ ५ ॥
जहाँ दम्भकी पूजा होती, वहाँ कहाँ भगवान ।

लक्ष्मी कहाँ बसती है ?

(लेखक—धर्मभूषण पं० श्रीमुकुटविहारीलालजी शुक्ल, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

आज लक्ष्मीके जितने उपासक हैं, उतने किसी और देवी-देवताके नहीं हैं। स्त्री हो या पुरुष, धनवान् हो या निर्धन—सभी लक्ष्मीके कृपाकाङ्क्षी हैं। कारण यह है कि इस युगमें जितना मान धनवान्का होता है, विद्वान्का नहीं होता। यह भ्रम इतना विस्तार कर गया है कि 'मालदार' आदमी और 'बड़े' आदमी शब्द हमारी रोजकी बोल-चालमें पर्यायवाची हो गये हैं। यदि कोई व्यक्ति ईमानदारी, योग्यता और मेहनतके द्वारा धनवान् होता है तो कोई आपत्ति नहीं है; परंतु आजकल तो कोई यह जाननेकी जरा भी चिन्ता नहीं करता कि किन साधनों और उपायोंसे अमुक व्यक्ति धनवान् बना है। चाहे रिश्वत ले, चाहे कम तौले, चाहे ब्लैक मारकेट करे, चाहे झूठे मुकदमे लड़कर दूसरोंका धन अपहरण करे, चाहे लूट-खसोट, चोरी-ठगी, मार-हत्या करे, चाहे खाने-पीनेकी वस्तुओं तथा दवातकमें दूसरी चीज मिलाकर देशका स्वास्थ्य नष्ट करे—पैसेवाला होना चाहिये। ऊपरसे देखनेमें तो यही प्रतीत होता है कि यदि सांसारिक ऐश्वर्य भोगना और प्रतिष्ठा बनाना चाहते हो तो चाहे जैसे भी हो, मालदार बनो। परंतु यदि गहराईसे देखा जाय और पुराने उदाहरणोंको एकत्रित किया जाय तो हमें इस परिणामपर पहुँचना पड़ेगा कि बेईमानीकी कमाई कुछ ही दिन अपना चमत्कार दिखाती है, फिर लोप हो जाती है। धन तो गायब हो ही जाता है, उसके साथ-साथ कथित प्रतिष्ठाकी भी इतिश्री अवश्य हो जाती है।

बेईमानीद्वारा लोग जब धनवान् बनते हैं, तब दूसरे लोग कहते हैं लक्ष्मी महारानीकी उनपर बड़ी कृपा है, लक्ष्मीका उनके यहाँ वास है। परंतु उनका यह समझना भूल है। लक्ष्मी कदापि चोरों, लुटेरों और बेईमानोंके यहाँ निवास नहीं कर सकती। उनके यहाँ तो मायाका राज्य है, जिसका 'चार दिनोंकी चाँदनी, फेर अँधेरा पाख' की भाँति कुछ दिनोंतक वास रहता है, फिर कष्ट और विपत्तिरूपी अन्धकार उन्हें सहना पड़ता है।

लक्ष्मी तो सात्त्विकी देवी हैं, उनके वासके लिये सफाई और प्रकाशकी बड़ी आवश्यकता है। दीपावली-पर इसीलिये घर-घरमें लक्ष्मीके आवाहन और पूजनके लिये पूरे तौरपर घर, वस्त्र, आभूषण और फरनीचरकी सफाई की जाती है और दीपदानद्वारा प्रकाश किया जाता है। इसी सफाई और प्रकाशको लक्ष्मी महारानीके स्वागतके लिये लोग पर्याप्त समझते हैं। परंतु यह उनकी भूल है। इस प्रकारकी बाहरी सफाई और प्रकाशकी आवश्यकता अवश्य है, परंतु यही पूर्ण नहीं है। पूर्ण सफाईके लिये तो दिलकी सफाई करना और आत्माको प्रकाशवान् बनाना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि बिना इसके लक्ष्मीका स्थायी वास नहीं होता। दिलकी सफाईका मतलब है निर्मल मन—जिसमें कपट-छलको कोई स्थान न हो, विचारों, वचनों और कर्मोंमें समानता हो, किसीके साथ दुर्व्यवहार, विश्वासघात न हो। सच्चा निष्कपट हितपूर्ण नम्र व्यवहार हो, सच्ची तिजारत हो। बिजलीकी रोशनी और दीपदानसे घरमें तो उजाला हो जायगा और घर सुहावना भी लगेगा। पर इससे अंदर प्रकाशकी ज्योति नहीं जगेगी, इसके लिये—असली आनन्दकी प्राप्तिके लिये पवित्र विचार और शुद्ध भावनाके द्वारा हृदयमें दैवी प्रकाश उत्पन्न करना होगा। तभी परमानन्द प्राप्त होगा। इस प्रकारकी सफाई और शुद्धिसे जब हृदय—आत्मा ओतप्रोत हो जायगा, तब वह व्यक्ति दैवीशक्तिसे सम्पन्न हो जायगा और लक्ष्मीके नित्य वासके उपयुक्त स्थान भी वहीं

होगा । गोस्वामी तुलसीदासजीने सत्य ही कहा है—

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना । जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥

अब प्रश्न यह है कि हृदयकी सफाई और प्रकाशके लिये क्या करना आवश्यक है। सबसे जरूरी यह है कि गीताके आदेशानुसार मनुष्यको यथालाभ-संतुष्ट होना चाहिये । संतोष करनेसे अभिप्राय यह नहीं है कि मनुष्य हाथ-पर-हाथ धरकर बैठा रहे और फाँके करके जीवन व्यतीत करे । संतोषका अर्थ यह है कि अपनेको पूरा परिश्रम करनेसे जो मिल जाय, उसके लिये भगवान्‌को धन्यवाद दे और उसीसे अपनी गृहस्थीका काम चलाये । ज्यादा आमदनीसे आदमी मालदार नहीं बनता, यदि खर्चपर नियन्त्रण न हो । आय चाहे कितनी कम हो, यदि खर्च उसके अंदर ही किया जाय और कुछ बचाया भी जाय तो उस दशामें धनकी बचत अवश्य होती है और थोड़ा-थोड़ा करके काफी धन इकट्ठा हो जाता है, जिसे देखकर आश्चर्य होता है । आवश्यकता इस बातकी है कि अपनी इन्द्रियों और इच्छाओंपर नियन्त्रण रखा जाय, जिससे फिजूलखर्ची न हो । अपनी आय और व्ययका रोजाना हिसाब लिखनेसे फिजूलखर्चीपर नियन्त्रण हो सकता है । मितव्ययी होना बुरी बात नहीं है । बल्कि एक सद्‌गुण है । इसी प्रकार अन्य सद्‌गुण भी हैं, जिनसे बुद्धि निर्मल, हृदय शुद्ध और आत्मामें प्रकाश होता है और जो लक्ष्मीके वासके उपयुक्त स्थान बनाते हैं । महाभारत, अनुशासनपर्वके ११ वें अध्यायमें लिखा है—

वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे
दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने ।
अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे
जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्त्वे ॥

लक्ष्मीजी रुक्मिणीजीसे कहती हैं—'हे सुभगे ! मैं निर्भीक, चतुर, कर्ममें निरत, क्रोध न करनेवाले, देवताओंपर आस्था रखनेवाले, उपकारको न भूलनेवाले, जितेन्द्रिय और बलशाली पुरुषके पास बराबर रहती हूँ ।'

स्वधर्मशीलेषु च धर्मवित्सु
वृद्धोपसेवानिरते चदान्ते ।
कृतात्मनि क्षान्तिपरे समर्थे
क्षान्तासु दान्तासु तथाबलासु ॥
सत्यस्वभावार्जवसंयुतासु
वसामि देवद्विजपूजिकासु ।

मैं धर्मका आचरण करनेवाले, धर्मके जानकार, वृद्धजनोंकी सेवा करनेवाले, जितेन्द्रिय, आत्मविश्वासी, क्षमाशील और समर्थ पुरुषके पास रहती हूँ । वैसे ही क्षमाशील एवं जितेन्द्रिय स्त्रियोंके निकट रहती हूँ । जो स्त्रियाँ सत्य बोलनेवाली और सत्य आचरण करनेवाली, छल-कपटसे रहित, सरलस्वभाववाली होती हैं एवं देवता और गुरुजनोंका पूजन और सत्कार करती हैं, उनके पास भी मैं रहती हूँ । फिर लक्ष्मीजी कहती हैं—

यस्मिञ्जनो हव्यभुजं जुहोति
गोब्राह्मणं चार्चति देवताश्च ।
काले च पुष्पैर्बलयः क्रियन्ते
तस्मिन् गृहे नित्यमुपैमि वासम् ॥
स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु
क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव ।
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि
शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते ।

अर्थात् जिस घरमें हवन किया जाता है, गौकी सेवा की जाती है और ब्राह्मणोंका सत्कार होता है, समयपर देवताओंकी पूजा की जाती है और उनको फूल चढ़ाये जाते हैं, उस घरमें मैं सदा वास करती हूँ । मैं बराबर वेदाध्ययन करनेवाले ब्राह्मणोंके निकट रहती हूँ । अपने धर्ममें रत क्षत्रियोंके पास, खेती एवं उपार्जनमें लगे वैश्योंके और सेवापरायण शूद्रोंके पास भी मैं सदा रहती हूँ ।

लक्ष्मीजी कहाँ नहीं रहतीं, इसके विषयमें उसी पर्वमें लिखा है—

नाकर्मशीले पुरुषे वसामि
न नास्तिके सांकरिके कृतघ्ने।
न भिन्नवृत्ते न नृशंसवर्णे
न चापि चौरे न गुरुष्वसूये॥
ये चाल्पतेजोबलसत्त्वमानाः
क्लिश्यन्ति कुप्यन्ति च यत्र तत्र।
न चैव तिष्ठामि तथाविधेषु
नरेषु संगुप्तमनोरथेषु॥

'मैं अकर्मण्य, नास्तिक, वर्णसंकर, कृतघ्न, अपनी मर्यादामें कायम न रहनेवाले, कठोर वचन बोलनेवाले, चोर और गुरुजनोंसे डाह करनेवाले पुरुषके पास नहीं रहती। मैं ऐसे पुरुषोंके पास भी नहीं रहती, जिनमें तेज, बल, धैर्य और आत्मगौरव अल्प होते हैं। जो लोग थोड़ेमें ही कष्ट अनुभव करते हैं, जरा-जरा-सी बातपर क्रोधित हो जाते हैं, उनके पास भी मैं नहीं रहती। साथ ही जिन पुरुषोंके मनोरथ सर्वदा छिपे रहते हैं, उनके पास भी मैं नहीं रहती।'

आगे चलकर लक्ष्मीजीने कहा है—

प्रकीर्णभाण्डामनवेक्ष्यकारिणीं
सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम्।
परस्य वेश्माभिरतामलज्जा-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि॥
पापामचोक्षामवलेहिनीं च
व्यपेतधैर्यां कलहप्रियां च।
निद्राभिभूतां सततं शयाना-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि॥

'उन स्त्रियोंके निकट मैं नहीं रहती, जो अपनी गृहस्थीके सामान—बर्तन, वस्त्र आदि जहाँ-तहाँ फेंक देती हैं और सोच-समझकर काम नहीं करतीं और जो बराबर स्वामीके विरुद्ध बोला करती हैं। जिस स्त्रीका दूसरोंके घर जानेमें मन लगता है और जो लजाती नहीं, उसके निकट मैं नहीं रहती। पापिनी, अपवित्र, चटोरी, अधीर, झगड़ालू, निद्राके वशीभूत रह सदा ही सोनेवाली स्त्रीको मैं त्याग देती हूँ।'

अतः यदि हमें—चाहे हम पुरुष हों या स्त्री—सच्चे अर्थोंमें स्थायीरूपसे धनवान् बनना है और लक्ष्मी महारानीको प्रसन्न करना है तो हमें उपर्युक्त गुणोंको धारण करने तथा अवगुणोंका त्याग करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

एक साधकके उद्गार

प्रभो! आपके बिना मेरे हृदयपर क्या बीतती है, कैसे बताऊँ। अपना प्रेम देकर मुझे कृतार्थ कीजिये। मैं रात-दिन आपके प्रेममें डूबा रहूँ। मैं अवश्य ही इस योग्य नहीं हूँ, पर आप तो सर्वसमर्थ हैं। ब्रह्माको मच्छर और मच्छरको ब्रह्मा बना सकते हैं। आप मेरे हृदयकी मलिनताकी ओर न देखें। मेरे हृदयके किसी कोनेमें जो प्रियतम प्रभुकी मधुर-स्मृति बनी है, उसीकी ओर देखकर मेरे अवगुणोंको भूल जायँ। वह मधुर स्मृति सदा सुरक्षित रहे और सदा बढ़ती ही रहे, ऐसी ही कृपा आप करते रहें। मैं हृदयको सदा अपने जीवन-धनसे भरा देखूँ और उन्हें निरन्तर हृदयमन्दिरमें पूर्णरूपसे विराजित देखकर प्रफुल्लित होता रहूँ।

प्रभो! जिस समय मधुर स्मृतिजनित आपके दर्शन होते हैं, उस समय हृदय जिस परमानन्दसे भर जाता है, वह अकथनीय है। पर दूसरे ही क्षण प्रतीत होता है कि वे तो समीप नहीं हैं, तब अपार तथा सीमारहित दुःख होने लगता है।

× × ×

मेरे मनमें शरीरके आरामकी और नामके नामकी इच्छा, बड़ाईकी कामना अभीतक जाग्रत है, इसीसे तो निरन्तर आपका मधुर-मिलन नहीं हो रहा है। जिस दिन ये दोष समाप्त हो जायँगे, उस दिन आप मुझसे पृथक् नहीं रहेंगे। इन सारे दोषोंने बीचमें कई दीवालें खड़ी कर रखी हैं। इन लंबी ऊँची दीवालोंके रहते मैं कैसे नित्य-निरन्तर मधुर-मिलनका आनन्द ले सकता हूँ। पर इन दीवालोंको ढाहनेका काम भी तो आपहीको करना है मेरे स्वामी! आप जाँच-परख लीजिये—मेरे हृदयमें आपकी कुछ चाह है या नहीं; और यह भी देख लीजिये कि इस 'कुछ' चाहको असीम बनानेकी चाह भी है या नहीं। यदि है, तो प्रभो! आप इसे असीमरूपमें बढ़ाकर तुरंत पूर्ण करनेकी कृपा कीजिये।

शिवभक्त अंग्रेज-महिला लेडी मार्टिन

(लेखक—श्रीबद्रीनारायण रामनारायणजी दवे)

भारतमें ब्रिटिश साम्राज्य था। ईस्वी सन् १८८० में अंग्रेज और अफगानोंका युद्ध हुआ था। अफगान सेनापति अयूबखाँने कंदहार और झेलमकी पहाड़ीमें अंग्रेज-सेनाको बुरी तरह हराया था। किंतु अंग्रेज दृढ़ निश्चयी होते हैं और जो काम उठा लेते हैं, उसको पूरा करके ही छोड़ते हैं। इस पराजयसे अंग्रेज बहुत चिन्तित थे; क्योंकि अंग्रेज-सेनाकी वीरताका अभिमान चूर हो गया था।

उस समय मालवा प्रदेशके आगर नामक शहरके पास अंग्रेजोंकी छावनी थी। इस छावनीका सेनापति था कर्नल मार्टिन। उसको प्रधान सेनापतिसे अंग्रेज-सेनाके साथ अफगान युद्धमें जाकर पुनः अंग्रेज-सेनाकी सर्वोपरिता और शूरता दिखलानेका आदेश मिला।

कर्नल मार्टिन अपनी सेनाके साथ कंदहार गये और उनकी पत्नी आगर छावनीमें रही। अफगान और अंग्रेजोंका यह युद्ध दीर्घकालतक चलता रहा। बीचमें कर्नल मार्टिनका कोई समाचार न मिलनेसे लेडी मार्टिनको बड़ी चिन्ता हो गयी।

इनको बड़ी अनिष्टाशङ्का हुई, ये सोचने लगीं—'अफगानलोग बड़े बहादुर लड़ाके हैं। फिर वह प्रदेश भी पहाड़ोंसे भरा तथा विकट है। पता नहीं उसमें मेरे पतिका क्या हाल हुआ होगा।'

इन अमङ्गल-शङ्काओंसे लेडी मार्टिनका चित्त बेचैन हो गया। मन कहीं भी नहीं लग रहा था। इनके हृदयको पतिकी चिन्तासे कहीं भी कभी चैन नहीं पड़ती थी। न इन्हें कोई बात अच्छी लगती थी।

इस स्थितिमें एक दिन वह घोड़ेपर चढ़कर मन बहलानेके बहाने घूमनेके लिये निकल पड़ीं। आगर-छावनीसे ईशान कोणमें बाणगङ्गा नदी है। आगर शहरसे डेढ़ मील दूर पहाड़ोंके बीच जंगलमें बाणगङ्गा नदीके किनारेपर श्रीबैजनाथ महादेवका मन्दिर है। लेडी मार्टिन इस बाणगङ्गा नदीके किनारे-किनारे घोड़ेपर घूमती हुई महादेवके मन्दिरके समीप पहुँच गयीं।

ऐसे घोर जंगलमें, जहाँ किसी मानव प्राणीका मिलना कठिन था, लेडी मार्टिनने मनुष्योंके बोलनेकी आवाज सुनी। अपने घोड़ेको आवाजकी दिशाकी ओर ले जाती हुई वह मन्दिरके पास आ पहुँचीं।

आकर देखा, तो एक सुन्दर मन्दिर है और मन्दिरमें एक मूर्ति है। लोग उसकी पूजा कर रहे हैं। भजन-कीर्तन हो रहा है।

लेडी मार्टिन अपना घोड़ा एक वृक्षसे बाँधकर मन्दिरके चौतरेपर बैठ गयीं। लेडी मार्टिन कुछ टूटी-फूटी हिंदी जानती थीं। एक अंग्रेज महिलाको शिव-मन्दिरमें आयी देखकर सबको कुतूहल हुआ। कुछ लोग उनके पास जाकर पूछने लगे।

लेडी मार्टिनने पूछा—'तुम सब यह क्या कर रहे हो और यह क्या है?'

ब्राह्मणोंने कहा—'यह आशुतोष भगवान् शिवका मन्दिर है और हमलोग इन सकल मनोरथ सिद्ध करनेवाले भोलेनाथ महादेवकी पूजा कर रहे हैं।'

ब्राह्मणोंकी बात सुनकर लेडी मार्टिनने शिव और शिव-पूजन-सम्बन्धी बहुत-सी बातें पूछीं। ब्राह्मणोंकी बातचीतके सम्पर्कसे लेडी मार्टिनको भी भगवान् शिवपर श्रद्धा हो गयी और उनके हृदयमें भक्तिका अङ्कुर निकल आया।

तदनन्तर उन्होंने ब्राह्मणोंसे पूछा कि 'भगवान् भोलेनाथ सबकी मनःकामना पूर्ण करते हैं तो क्या मेरी मनःकामना पूर्ण नहीं करेंगे?' ब्राह्मणोंने उत्तर

दिया—'अवश्य पूर्ण करेंगे । भगवान् आशुतोष हैं, दयालु हैं; जो भी सच्चे हृदयसे भक्ति करता है, उसपर शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं । उनमें हिंदू, मुसलमान, अंग्रेज—ऐसा भेदभाव नहीं है ।'

यह सुनकर लेडी मार्टिनने अपने पतिके विषयमें बात कही और अपने मनकी चिन्ता कैसे मिटे तथा पतिकी रक्षा कैसे हो' इसका उपाय बतलानेके लिये ब्राह्मणोंसे कहा ।

ब्राह्मणने कहा—'सच्चे हृदयसे शुद्ध भक्ति भरे भावसे भगवान् भोलेनाथका ध्यान करो, 'नमः शिवाय' मन्त्रका जप करो और पूजाके लिये रुद्राभिषेक करो; बस, आपकी मनःकामना भोलेनाथ अवश्य पूर्ण करेंगे ।'

लेडी मार्टिनको भगवान् शंकरपर श्रद्धा हो गयी थी । तुरंत ही ब्राह्मणोंके द्वारा रुद्राभिषेक शुरू करवा दिया । ग्यारह ब्राह्मणोंने ग्यारह दिनोंतक रुद्राभिषेक करके पाठात्मक महारुद्र पूरा किया ।

इन ग्यारह दिनोंतक प्रतिदिन लेडी मार्टिन स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर पैदल छावनीसे मन्दिर आतीं और जबतक रुद्राभिषेक चलता, तबतक एक आसनसे बैठकर 'नमः शिवाय' मन्त्रका जप करतीं ।

महारुद्र पूर्ण हुआ । तब ब्रह्मभोजन कराकर ब्राह्मणोंको अच्छी दक्षिणा देकर जैसे ही वे छावनीमें आयीं कि एक बड़ा लिफाफा लेकर छावनीका एक क्लर्क इनके पास आकर कहने लगा—'मैडम साहिबा ! यह आपका पत्र लीजिये—कंदहार कैम्पसे आया है ।'

सरकारी पत्र था । पत्र खोलकर देखा तो अपने पतिका पत्र था और उनके ही हस्ताक्षर थे । वे परम प्रसन्न होकर पत्र पढ़ने लगीं । ज्यों-ज्यों पत्र पढ़ती थीं, त्यों-ही-त्यों उनकी खुशी बढ़ती जाती थी ।

कर्नल मार्टिनने उसमें लिखा था—'हम बहुत प्रसन्न हैं । इस महाभयंकर युद्धमें हमारी जीत हुई है और अनेक आपत्तियोंमें फँसनेपर भी अन्तमें हमने विजय प्राप्त की है । एक बार पूर्णरूपसे ऐसा अवसर आ गया कि हमें पकड़कर कैदी बना दिया गया और शत्रु-सेनाने हमें घेर भी लिया था; किंतु ऐसी घोर परिस्थितिमें हमें ऐसा लगता था कि कोई अदृश्य, अज्ञात, अद्भुत दैवी-शक्ति हमारी रक्षा कर रही है । हमें हर समय उसी दैवी-शक्तिने मृत्युके मुखसे बचाया । अब तो पूरी जीत हो गयी है । युद्ध बंद हो गया है । अब किसी प्रकारकी चिन्ता-फिक्र न करना । मैं अब अल्प समयमें वहाँ आ पहुँचूँगा ।'

कर्नल मार्टिनका ऐसा पत्र रुद्राभिषेक पूर्ण होनेपर ब्रह्मभोजन कराकर घरमें पग रखते ही मिला, इस घटनासे लेडी मार्टिनकी भगवान् शंकरपर पूर्ण श्रद्धा हो गयी ।

वह दैवी-शक्ति वे ही भगवान् शंकर थे और उन्हींका यह प्रताप था । फिर तो, लेडी मार्टिन प्रतिदिन साँझ-सवेरे श्रीबैजनाथके दर्शन करनेके लिये जातीं, दोनों हाथ जोड़कर भगवान्‌की प्रार्थना-ध्यान करतीं ।

थोड़े ही दिनोंमें कर्नल मार्टिन लौटकर आ गये । लेडी मार्टिनके आनन्दका कोई पार न रहा । अपने पति विजय प्राप्तकर सकुशल आ गये, इसलिये उन्होंने भगवान् शंकरका बहुत उपकार माना । उन्होंने अपने पतिसे यह बात कही । वे भी बहुत खुश हुए । पति-पत्नी दोनों नित्य भगवान् बैजनाथका दर्शन करने जाने लगे ।

एक दिन उन दोनों मार्टिन दम्पतिका ध्यान बैजनाथके मन्दिरकी ओर गया । पुराने जमानेका जीर्ण-शीर्ण शिवालय । लेडी मार्टिनके मनमें आया 'शिवालय फिरसे बनकर नया सुन्दर मन्दिर बने तो कैसा अच्छा हो ! तुरंत ही उसने अपने पतिसे कहा । कर्नल मार्टिनकी भी भगवान् बैजनाथमें वैसी ही श्रद्धा

थी। वे अपनी पत्नीके प्रस्तावसे सहमत हो गये और शीघ्र ही नया मन्दिर बनने लगा।

लेडी मार्टिन स्वयं मन्दिरके कामकी सँभाल रखतीं, निरीक्षण करतीं। सुबहसे शामतक वहीं रहतीं।

सुन्दर मजेका नया मन्दिर तैयार हो गया। पूरी धूम-धामके साथ और सम्पूर्ण विधि-विधानके साथ भगवान् बैजनाथके लिङ्गकी फिरसे प्रतिष्ठा की गयी और उसका समस्त खर्च मार्टिन दम्पतिने किया। नया अपने द्रव्यसे बना हुआ शिवालय देखकर पति-पत्नी बहुत प्रसन्न हुए।

कुछ ही समयके बाद उनको दूसरी जगह जाना पड़ा। अफगान-युद्धमें विजयकी सिद्धिमें उनको पदोन्नति मिली और अच्छी ऊँची जगहका अधिकार मिला। इसको उन्होंने भगवान् शंकरकी ही कृपा समझा।

आगर छावनी छोड़कर वे दूसरी जगह गये, किंतु भगवान् बैजनाथको नहीं भूले।

आज भी मालवाके आगर-गाँवकी बाणगङ्गा नदीके किनारे सोनेके दो कलशवाला भगवान् बैजनाथ शिवका कर्नल मार्टिनका बनवाया हुआ वह शिवालय विद्यमान है।

श्रीश्रीजयदेव महाप्रभु

(लेखक—गोस्वामीजी श्रीयमुनावल्लभजी)

[गताङ्कसे आगे]

बंगालमें श्रीपञ्चमीका उत्सव बड़ी सज-धजसे मनाया जाता है। घर-घरमें श्रीसरस्वतीकी मृण्मयी प्रतिमा बनायी जाती है। उसके सामने कलश रखे जाते हैं और गान-वाद्यके साथ पूजन होता है। आज तो उत्सवमें महोत्सवका समागम था। जबसे भोजदेव महाराजाके साथ आये थे, बंगाल और उड़ीसामें आशा लगी थी कि भगवान्का अवतार कब होगा। प्रभु प्रकट हो गये, यह समाचार बात-की-बातमें चारों ओर फैल गया। लोग पूजा ले-लेकर दर्शनके लिये आने लगे। जिधर देखो फूलोंकी वर्षा हो रही है, बाजे बज रहे हैं।

नामकरण

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

भीड़ चारों दिशाओंसे उमड़ पड़ी है। लोग 'जय जगन्नाथदेव' की ध्वनि कर रहे हैं। कोसोंसे भक्त पुकारते चले आ रहे हैं। 'जगन्नाथ' शब्द तो छोड़ दिया और 'जयदेवकी जय-जय' कहने लगे। रसिकाचार्यचरणका वही जनता-जनार्दनके घोषसे—निकला श्रीजयदेव नाम विख्यात हुआ। महारानी-महाराजने भी बहुत-सा दान किया। जो भी गुणी, याचक आता, खाली नहीं जाता, मानो सभी देवोंने रूप बदलकर महाप्रभुके दर्शन किये।

बाल-लीला

बाललीलामहोदारचरितस्य महाप्रभोः।
मुखाब्जमृदुहासेन तृप्ता लब्धमनोरथाः॥

आजकल महारानी-महाराजको कोई काम नहीं है, केवल श्रीजगदीश्वरके द्वारपर प्रभातसे राततक धूमको देखते रहते हैं। महाप्रभुकी मुख-माधुरी बहुत ही भोलेपनसे भरी हुई है। सुवर्णके मणिजटित कङ्कण करकमलोंमें शोभित हैं; चरणोंमें नूपुर, कमरमें करधनी, श्रीअङ्गमें पीला झगला, बड़ी-बड़ी आँखोंमें भरा हुआ काजल, मस्तकसे बाल समेटकर ऊपर बाँध दिये गये हैं, गलेमें काञ्चनका मणिजटित् पदक प्रकाश कर रहा है। आपको किसीकी नजर न लग जाय, इसलिये श्रीराधा माने माथेके कोनेमें दिठोना लगा दिया है। इस प्रकार अनेक खिलौनोंसे खेलते-खेलते पाँच वर्ष बीत गये। जो भी आता है, कुछ-न-कुछ लेकर आता है। पुरीनरेश भी पधारे—दर्शन करके कृतार्थ हो गये। जिसकी गोदमें जाते हैं, उतरते नहीं। आप बाल्यकालसे ही प्राणियोंको प्रेमका पाठ पढ़ाने लगे।

विद्याध्ययन

'व्यसनद्वयमिह राजल्लोके संकीर्तितं पुंसाम्,
विद्याभ्यसनं व्यसनं अथवा हरिपादसेवनं व्यसनम्।'
'सा विद्या तन्मतिर्यया'

विद्याध्ययन बड़ी ही उत्तम वस्तु है, पर आजकल तो द्रव्योपार्जन करनेवालोंकी ही विद्वानोंमें गणना है ! उस 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' की शोभा तो श्रीगीताजीके पन्नोंमें ही अच्छी लगती है । श्रीजयदेव महाप्रभुको विद्याध्ययन करानेके लिये महाराजने कई विद्वान् रख दिये हैं । आप सब ग्रन्थोंका श्रवण करते हुए प्रसन्न होते तथा शिष्टाचारका पालन करते रहते हैं । दस वर्ष पूरे होते-होते आपने अध्ययनका अभिनय समाप्त किया । आप किसी भी पण्डितको देखते शास्त्रार्थ छेड़ देते । बेचारा पण्डित तो पुस्तकका पण्डित है । भोजदेवजी पण्डितोंका अच्छा सत्कार करते और दोनों माता-पिता इनको समझाते—देखो, अपने घर जो भी आता है, कुछ आशा लेकर ही आता है । सुनकर आप हँस जाते ।

यज्ञोपवीत

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥

यज्ञोपवीत त्रिवर्णका संस्कार है । यहाँसे द्विजकी पदवी प्राप्त होती है; किंतु वेदका अध्ययन तो करना ही नहीं है । फिर इस सूत्रकी क्या आवश्यकता है ? भारतकी उच्च संस्कृतिको आजके भारतीय पुरानी रूढ़ि बतलाते हैं । अब विचार किया जाय कि पुरानी चीज पुराने घरमें ही मिल सकती है । इस संस्कारकी बहुत अधिक आवश्यकता है । यह वैदिकसूत्र धर्मशास्त्रोंका प्रधान अङ्ग पुष्ट करनेवाला है, संध्या-तर्पण-श्राद्ध आदि सभीमें प्रथम है । आज कन्दबिल्वमें अच्छे-अच्छे वैदिक ब्राह्मणोंका समाज उपस्थित है । महारानी-महाराज बड़े उत्साहसे इसे सम्पन्न करा रहे हैं ।

इधर-उधर गाँवोंकी जनता भिक्षा लेकर आयी है । श्रीजयदेव महाप्रभु अभी ब्रह्मचर्यमें हैं । मुण्डन-उद्वर्तन-स्नान होते ही उन्हें पीताम्बर पहनाया गया, पादुका-दण्ड-कमण्डलु, छत्र-आसन-मेखला आदि सब वस्तुएँ सामने रखी हुई हैं । वेदध्वनि, स्वस्तिवाचनके पश्चात् आपने विधिपूर्वक यज्ञोपवीत धारण किया और पण्डित श्रीश्रीभोजदेवजीने आपको गायत्रीमन्त्र दिया । महारानी तथा माताजीने आरम्भमें भिक्षा दी, उसके बाद सबने मनोरथ पूर्ण किया ।

दम्पतीका देवलोकवास

अद्यश्च इति पदाभ्यां यत्किञ्चिद् दृश्यते सर्वम् ।
यो नित्यं कवलयति तस्मै कालाय प्रणतोऽस्मि ॥ १ ॥

'जो कुछ भी दिखायी पड़ रहा है, उसे 'आज' और 'कल' इन दो शब्दोंसे नित्य ग्रास करनेवाले भगवान् कालदेवके लिये प्रणाम है ।'

माता-पिताकी आशालता पुष्पवती हो गयी । अब इसके फलनेकी प्रतीक्षा होने लगी ! सबेरेसे जो धूम मची है, वह अकथनीय है । अभी महाराज भी बहुत-से लोगोंके साथ एक मासपर वीरभूमि गये हैं । घरमें शान्तिका राज्य है । अचानक व्याधिमन्दिरका उत्सव प्रारम्भ हो गया ।

आज भोजदेव प्रभुने भोजन नहीं किया है । श्रीराधाजीने रसोई करके श्रीजयदेवको जिमा दिया और आपको बुलाया । पण्डितजीने कहा—वहाँ चौका लगा दो, हम जा रहे हैं । आपने कहा—'पहले भोजन हो जाय, फिर चौका लगेगा और जहाँ कहीं जाना हो, जाइयेगा ।'

आपने शीघ्र अपने हाथसे गङ्गाजल छींट दिया और श्रीजयदेव महाप्रभुका चुम्बन किया । चरणस्पर्श करते ही जय शब्द तो सुनायी पड़ा । श्रीराधाजी दौड़कर आयीं, तबतक लीला समाप्त हो गयी । श्रीराधाजी इस असह्य और अकस्मात् आयी हुई पीड़ाको नहीं सह सकीं और उन्होंने श्रीजयदेव महाप्रभुके दर्शन करते-करते प्राणोंका परित्याग कर दिया । दास-दासियोंने चीत्कार मचाया और वीरभूमि दौड़े गये । सुनकर महारानी-महाराज आश्चर्यचकित हो गये कि 'कल तो हम आये ही हैं । यह हुआ क्या, कोई अस्वस्थ भी तो नहीं थे ।'

महाराजने आकर शीघ्र सब व्यवस्था करायी तथा महाप्रभुके श्रीहस्तोंसे समस्त क्रिया सम्पादन करवायी । यहाँका कार्य करनेके पश्चात् आपके पास ही निवास किया । महारानी भी आ गयीं और आपकी सेवा करने लगीं ।

प्रसाद

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २२)

महाप्रभुकी चरणसेवाका सुख जैसा वल्लाल दम्पतीको मिला, वैसा सभीको मिलना अत्यन्त दुर्लभ है । महीनोंसे राज-काज छूटा हुआ है, अब भी आपको छोड़कर जानेको जी नहीं चाहता । दोनों आपके मुखकमलका अवलोकन करते रहते हैं । एक दिन भोजनके पश्चात् राजा-रानी चरणसेवा कर रहे थे कि आप शीघ्र ही उठकर

बैठ गये और आज्ञा दी कि 'तुमको बहुत दिन हो गये हैं; अब जाओ, राज-काज सम्हालो ।' सुनकर महाराजने कहा—'कृपासिन्धु ! अभी तो राज हम देखेंगे, आगे कौन देखेगा ?' इनके आर्त शब्दोंको सुनकर आप भी समझ गये कि ये पुत्रकी इच्छासे व्याकुल हैं ।

आपने एक ताम्बूल महारानीको दिया और कहा—खा लो; जाओ, पुत्र हो जायगा । महारानी उस महान् दिव्य प्रसादको प्राप्तकर सफलमनोरथ हो गयीं और कहने लगीं—'जगन्नाथ ! आपकी सेवासे किसे क्या नहीं मिला ? आपश्रीकी कृपाका आश्रय ही जीवका आश्रय है । कई दिन फिर बीत गये । तदनन्तर दास-दासियोंका सुन्दर प्रबन्ध करके आपश्रीके आज्ञानुसार वल्लालसेन श्रीमहारानीको लेकर वीरभूमि चले गये ।

समाचार बराबर आते हैं । बीच-बीचमें महाराज स्वयं दर्शन कर जाते हैं । महारानी गर्भवती हैं, यह सुनकर राजाकी प्रजा जय-जयकार करती है ।

वीरभूमिकी बधाई

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ॥

वल्लालसेन महाराजके दरवाजेपर आज बड़ी धूम है । कितने बाजे-गाजे, नाच-गान करते गुणी याचक आते हैं । सभीका सत्कार हो रहा है । वृद्धावस्थामें श्रीमहारानीके भाग जागे । पुत्रोत्सवका चाव किसे नहीं होता । फिर राजघरानेका तो कहना ही क्या ।

रात्रिके तीन बजे कुमार लक्ष्मणसेनका जन्म हुआ । महाप्रभुजीके समीप समाचार तो पहुँचा दिया; किंतु आपश्रीको एकान्त अच्छा लगता है, इस कारण अभी बुलवाया नहीं । नामकरण-उत्सव बड़े ही उत्साहसे हो रहा है, महाप्रभु भी पधारे हैं । आपके श्रीचरणोंमें कुमारको रखकर आशीर्वाद प्राप्त किया और कन्दबिल्व आपश्रीके चरणोंमें भेंट कर दिया । इसके बाद एक वर्षतक आप वीरभूमिमें ही विराजमान रहे और आपके इच्छानुसार यहाँ-वहाँ आना-जाना होता रहा । इस प्रकार आनन्दका संचार पाँच वर्षतक बना रहा । महारानी कुमारको लेकर कन्दबिल्व जब भी पधारती हैं, दस-पाँच दिन श्रीमहाप्रभुकी सेवा किया करती हैं । जिस सेवाको पानेके लिये देवता भी तप करते हैं, वही श्रीवासन्तीमणिको सुलभ हो रही है । आपका तो स्वार्थ-परमार्थ इन्हीं श्रीचरणोंकी रेणुमें है ।

निरञ्जनका उद्धार

निन्दक पापी पतित अति पामर नर सिरमौर ।
श्रीजयदेव प्रताप बल भये और तें और ॥

कन्दबिल्वमें बस्ती तो थी; किंतु बहुत थोड़ी थी । जबसे महाप्रभुका प्रादुर्भाव हुआ है, चारों ओर घनी बसावट हो गयी है । सभी आपके सेवक हैं, नित्य दर्शन करने आते रहते हैं । आपके आदेशसे सबका आनन्दमय जीवन बीत रहा है । किसीको कोई भी कामना नहीं है ।

कन्दबिल्व आपकी भेंटमें आ चुका है; परंतु आपको तो किसीकी भी भेंट नहीं चाहिये । घर भरा हुआ है, पर उसमें किसी प्रकारका मोह नहीं है । दरवाजा खुला पड़ा रहता है । सेवक रसोई बनाकर भोजन करा देते हैं तो कर लेते हैं, अन्यथा भूखे ही पड़े रहते हैं ।

घरमें किसी भी चीजकी सम्हाल नहीं है । किसीको भी कभी आवश्यकता हो, इच्छानुसार ले जाता है; पूछनेकी जरूरत नहीं है । यहाँतक कि जो रखवाली करनेको रखे गये हैं, वे ही चोरी करते हैं; परंतु आप जानकर भी किसीके कार्यमें बाधा नहीं पहुँचाते ।

एक चोरोंका सरदार था; आपकी इस प्रकारकी स्थिति देखकर उसका मन चल गया कि हम भी कुछ हाथ लगायें । उसका यही काम था कि खूब पीकर मदान्ध हो जाता और बाजारमें गरीब गृहस्थोंको तंग करता । लोगोंकी पुकारसे दो-एक बार उसे जेलयात्रा भी करनी पड़ी, परंतु वह तो इसको और निर्लज्ज बनानेमें सहायक हो गयी ।

अबकी बार इसकी भारी भयंकरतासे भयभीत हो भक्तोंने भगवान्‌से पुकार की । सुनकर महाप्रभु हँस गये । लोगोंने कहा—'कृपानाथ ! इस दुष्टसे प्राण बचें तो कन्दबिल्वमें रहना हो । किसीकी भी बहू-बेटी हो, सभीका अपमान करता रहता है ।' महाप्रभुने कुछ भी उत्तर नहीं दिया ।

एक दिन अपने-आप ही वह श्रीचरणोंके सम्मुख आ गया और बड़े तावसे बोला—'देखो जयदेव ! तुम्हारे पिताने हमसे हजार रुपये लिये थे, यह बात हम महाराजको भी सुना देंगे या तो ब्याज समेत रुपये दे दो, नहीं तो हम प्रभु महाप्रभु कुछ भी नहीं समझेंगे; बोलो क्या, कहते हो ?'

आपश्रीने मन्द-मन्द मुसकाकर कहा—'भैया निरञ्जन ! तुम देखते हो; रुपये तो हमारे पास हैं नहीं; किंतु घरमें कई हजारका सामान पड़ा होगा । तुम्हारे रुपये भर जायँगे, सुखसे ले जाओ।' अब क्या था, वह तुरंत बैलगाड़ी ले आया और बड़ी कीमती-कीमती चीजें उसमें रखने लगा । इसे थका हुआ देखकर आपने भी अंदरसे सामान ला-लाकर गाड़ीमें खूब भर दिया ।

वह जैसे ही गाड़ी ले जानेको हुआ कि उसकी लड़की रोती हुई आयी और बोली—दादा ! घरमें आग लग गयी, जल्दी चलो !' वह दौड़ा । आपश्री उससे आगे दौड़े, जाकर अग्निमेंसे उसके बच्चोंको बाहर ले आये । उस अद्भुत कृपाका परिणाम यह हुआ कि वह महापापी आपके श्रीचरणोंमें 'हाय' करके गिर गया । आपने उठाकर उसे छातीसे लगाया और कहा—'घबराओ नहीं, निरञ्जन !' वह सदैवके लिये साधु बन गया और आपका जय-जयकार हुआ।

श्रीपुरुषोत्तमपुरी-प्रयाण

तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषुजीवयोनि-
ष्वात्मेच्छयाऽऽत्मकृतसेतुपरीप्सया यः ।
रेमे निरस्तरतिरप्यवरुद्धदेह-
स्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ॥

श्रीपुरुषोत्तम श्रीजयदेव-स्वरूपसे नित्य नयी लीला करते हैं । आपने अकस्मात् ही दास-दासियोंको बुलाया और कहा—'हम पुरीको जा रहे हैं । वीरभूमिसे कोई आये तो समाचार कहला देना।' इधर आपका पधारना, उधर महाराजका खोज कराना । जिसे योगी ध्यानमें भी नहीं पाते, उसे राजा-महाराजा कैसे पा सकते हैं । कहीं पता न लगा, महाराज अत्यन्त चिन्ताकुल हो गये कि 'हमसे ऐसा क्या अपराध बना जो प्रभु बिना कहे ही चले गये ?'

प्रभुने जंगलोंमें पाँच वर्ष बिता दिये । भक्तोंने आपका दर्शन पाते ही आपके इच्छानुसार समुद्रतटपर एक झोंपड़ी एकान्त निर्जन स्थानमें बनवा दी । आपको तो राजमहल और झोंपड़ी एक-से ही हैं । लोग समझते थे कि उच्च कोटिके संत हैं; परंतु साक्षात् जगदीश ही रसिकाचार्य बने हुए हैं, इस बातको विरले ही लोग जानते थे । फिर भी आपकी नीची दृष्टिवाली मूर्ति देखकर भावना सभीकी भरपूर थी ।

श्रीपद्मावती-परिणय

संतानहीन सुदेव शर्मा सस्त्रीक श्रीजगदीशपुरीमें दक्षिणमें आकर बस गये थे । आपने श्रीजगन्नाथजीसे कभी प्रार्थना की थी—'नाथ ! यदि मेरे घर कोई संतान होगी तो प्रथम संतति श्रीचरणोंकी सेवा करनेके लिये दे दूँगा ।' समय पाकर पहिली प्रजा पुत्री पैदा हुई । जब वह विवाह योग्य हो गयी, तब श्रीजगदीशके समक्ष उसे खड़ी करके वे कहने लगे—'भगवन्! लीजिये, यह आपकी सेवामें उपस्थित है।'

उसी रात्रिमें स्वप्न हुआ और श्रीहरिने आज्ञा दी कि 'सुदेव ! श्रीजयदेव मेरे ही स्वरूप हैं, इसे उनको भेंट कर दो । मेरी स्वीकृति समझ लेना ।' रात्रि किसी प्रकार व्यतीत हो गयी । सवेरा होते ही उस ब्राह्मणने मन्दिरमें आकर खोज की कि रसिकाचार्य श्रीजयदेव महाप्रभु दर्शन करने आते हैं कि नहीं । जिसने उन्हें जहाँ देखा था, वहाँका पता बता दिया । पर वे कहीं नहीं मिले । आठ दिनोंतक घूमते-घूमते थककर ब्राह्मण देवता स्त्री-पुत्रीसहित वन-भ्रमण करते आ रहे थे । सामने ही एक वृक्षके नीचे श्रीजयदेवजीको विराजमान पाया । देखकर वे प्रसन्नतासे उछल पड़े । सोचा कि अब काम बन गया । आपके पास आकर सबने श्रीचरणोंमें प्रणाम किया और श्रीजगन्नाथजीकी आज्ञाका सब समाचार कह सुनाया । महाप्रभुने कहा—'आज्ञा अवश्य दी होगी, किंतु उन्हींके पास ले जाओ ! मैं इसके लिये तैयार नहीं हूँ ।' इतना कहकर वे चुप हो गये ।

ब्राह्मण दम्पति बड़े दुखी थे । कई दिनोंसे वन-वन भटक रहे थे । आज दर्शन हुए तो यह कठिनाई सामने आयी । ब्राह्मणने अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा पूर्ण करनेके लिये लड़कीसे कहा—'बेटी पद्मावती ! देखो, ये ही तुम्हारे पति हैं, तुम इनकी सर्वदा सेवा करना ।' यह कहकर ब्राह्मण हृदयको कठोर बनाकर कुछ दूर जाकर बैठ गये ।

सामने खड़ी श्रीपद्मावतीसे आपने कहा 'जाओ, तुम्हारे पिता तो चले गये ।' श्रीपद्माजीने कहा—'श्रीजगन्नाथजीकी आज्ञासे वे मुझे आपके लिये दे गये हैं ।' आपने कहा—'चलो, आज उन्हींके पास झगड़ा निपटेगा । वे चाहें, सोलह हजार विवाह करें । मैं इस झंझटमें नहीं पड़ना चाहता ।'

इस प्रकार बातचीत करके वे भोगके समय मन्दिरमें घुस गये । पंडोंके रोकनेपर भी नहीं माने । तब पंडोंने आपको लाठियोंसे मारा । खून बहने लगा । पद्मावती रोती-चिल्लाती थी—'मेरे स्वामीको मत मारो; अरे ! ऐसे निर्दय क्यों हो गये हो ?'

पर वहाँ कौन सुनता था। आपको मन्दिरसे बाहर निकाल दिया गया। इतनेमें सस्त्रीक सुदेव शर्मा भी आ गये और वे बहुत रोने लगे। दूसरे लोगोंको भी पंडोंका यह काम अच्छा नहीं लगा। भक्तोंने आपका श्रीअङ्ग पोंछा और दूसरे वस्त्र धारण कराये। आप मौन धारणकर द्वारपर ही बैठ गये। दर्शक घेरे खड़े थे। इतनेमें ही श्रीजगन्नाथजीके दर्शन खुले। सब लोग चले गये; किंतु पं० सुदेव शर्माने आग्रह किया कि 'घरपर पधारिये।' आपने कहा—'अभी नहीं।'

उधर पुरी-नरेश श्रीजगदीशका दर्शन करने आये और भगवान् श्रीजगन्नाथजीके वस्त्र रक्तसे सने हुए देखकर आँसू बहाने लगे। तदनन्तर श्रीपुरुषोत्तमके पदपद्ममें पड़कर प्रार्थना की—'नाथ! यह क्या हुआ? कौन-सा भारी अनिष्ट होनेवाला है?' तब जगदाधारने कहा कि 'इन पंडोंने मुझे मारा है।' नरेशने क्रोधसे लाल नेत्र करके पंडा-पुजारियोंको डाँटा कि 'यह तुमने क्या किया?' पंडे लोग काँप गये। बड़े दीन बनकर कहने लगे—'नाथ! हमने आपको कब मारा था? ऐसी आप लीला क्यों दिखलाते हैं? इससे तो हमारा सर्वस्व नष्ट हो जायगा।'

भगवान्ने गम्भीर वाणीसे कहा—'रसिकाचार्य श्रीजयदेव महाप्रभु मेरे ही स्वरूप हैं, उनके शरीरपर की गयी चोट मेरे ही अङ्गमें लगी है!' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। महाराज शीघ्र ही आपकी खोजमें बाहर आये और श्रीजयदेव महाप्रभु और श्रीपद्मावतीजीको अपने साथ भीतर ले गये और श्रीजगदीशके मन्दिरमें आपश्रीको विराजमान करके भोग लगाया तथा बड़ी धूमके साथ दोनोंको पालकीमें बिठाकर पुरीमें सवारी निकाली। उस दिनसे मन्दिरमें आपके लिये चौकी बिछायी जाती और आपकी समय-समयपर सेवा होती। इस चरित्रको देख सुदेव-दम्पति जन्मजन्मान्तरके पुण्यका फल पा गये।

वैशाखका महीना था। पूर्णिमाकी रात्रिमें श्रीपद्मावतीजी-को साथ लेकर आप निर्जन वनमें भ्रमण करने निकल गये—श्रीब्रह्माजीके द्वारा आपका विवाह पुरीके जनकपुरमें कराया गया। इसीमें सुदेव शर्मा रहते थे। इसीसे श्रीपद्माजीके पिता यानी जनकका पुर विख्यात हो गया।

(क्रमशः)

कुबुद्धि

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।

वह कौन है, कहाँका है, कैसे आया है और क्यों आया है इस दुर्गम प्रदेशमें—कोई नहीं जानता। सच तो यह है कि इन याक तथा भेड़ोंके झुंड चराते, इधर-उधर तम्बू लगाकर दस-बीस दिन रुकते हुए घूमनेवाले तिब्बती लोगोंके पास उसका परिचय जाननेका कोई साधन भी नहीं है। वह उनकी भाषा नहीं जानता और वे लोग उसकी गिटपिट समझ नहीं पाते।

तीन-चार दिनके अन्तरसे वह उनके पास आता है। एक ही क्रम है उसका—चुपचाप सोनेका एक सिक्का फेंक देगा तंबूवालोंके सामने और अपना विचित्र वर्तन रख देगा। उसे ढेर-सा मक्खन, दूध और दही चाहिये और कुछ सत्तू भी। उसकी अभीष्ट वस्तुएँ सरलतासे मिल जाती हैं। एक बार किसी तंबूवालेने चमड़े, चँवर तथा मांस सामने लाकर रख दिया—कदाचित् इन वस्तुओंका भी वह ग्राहक बन जाय; किंतु उसने अपनी भाव-भङ्गीसे प्रकट कर दिया कि उसे यह सब नहीं चाहिये।

तिब्बतकी सर्दीमें दूध-दही महीनों खराब नहीं हुआ करते। वह खरीदे मक्खन, दूध आदि उठा लेता है और चुपचाप चला जाता है—चला जाता है दुर्गम पहाड़ोंकी ओर, उन पहाड़ोंकी ओर जिधर जानेमें ये पर्वतीय लोग भी हिचकते हैं।

सुना है वहाँ बहुत दूर किसी हिमाच्छादित गुफामें एक कोई पुराना भारतीय 'लामा' रहता है। बड़ा सिद्ध लामा (योगी) है वह। अवश्य यह गोरा साहब उसीके पास रहता होगा।

तिब्बतके इन सुदृढ़काय श्रद्धालु जनोंमें इस गोरे साहबके लिये सम्मानका भाव उत्पन्न हो गया है। ऊनी पतलून, ओवरकोट, टोप आदि पहिने उनके बीच सप्ताहमें एक बार आनेवाला यह साहब—उसके सम्बन्धमें बहुत कुतूहल है इनके मनमें। किंतु कोई साधन नहीं साहबसे कुछ जाननेका।

हिमकी शीतलतासे उसका मुख, उसके हाथ झुलसकर काले-से पड़ गये हैं—यह तो स्वाभाविक बात है; किंतु उसका एक कान नुचा-कटा है। आधी नासिका है ही नहीं। एक नेत्र इस प्रकार फटा है जैसे किसीने नोच लिया हो। कपोल दोनों कटे-फटे हैं और मुखमें सामनेके दाँत हैं ही नहीं।

'वह अवश्य कभी रीछसे भिड़ गया होगा।' इन पर्वतीयोंके जीवनकी जो सामान्य घटना है, उसीकी कल्पना की गोरे साहबकी आकृतिको देखकर इन्होंने—'रीछने उसे नोचा-खसोटा और लड़ाईमें पहाड़से वह लुढ़क गया नीचे। दाँत पत्थरकी चोटसे टूट गये; किंतु रीछसे उसके प्राण बच गये।' अपनी कल्पनाको उन्होंने घटना मान लिया है और गोरे साहबके इस साहसने उन्हें उसके प्रति अधिक श्रद्धालु बनाया है।

× × ×

'कोई योगी—हिमालयका कोई योगी ही मेरी इच्छा पूरी कर सकता है।' उसका निश्चय भ्रान्त था, यह आप नहीं कह सकते—'वह जैसे भी मिलेगा, मैं उसे पाऊँगा और जैसे भी खुश होगा, खुश करूँगा।'

वह कैसे पहुँचा तिब्बतके इन पर्वतोंतक और कैसे उन हिमगुफामें स्थित योगीके दर्शन कर सका, एक लंबी कथा है। उसे यहाँ रहने दीजिये। तिब्बती चरवाहोंकी जनश्रुति भारतके पर्वतीय जनोंमें प्रायः पहुँच जाती है और वहीं उसने भी दुर्गम पर्वतकी गुफाके 'लामा' की चर्चा सुनी थी। जिसे कष्ट डिगा नहीं पाते और मृत्यु कम्पित नहीं कर पाती—कौन-सा लक्ष्य है, जिसे वह प्राप्त नहीं कर सकता।

गुफातक वह पहुँचा और आज तीन महीनेसे इस गुफामें ही डेरा डाले पड़ा है। साथ जो सोनेके सिक्के ले आया था, उनकी संख्या घटती जा रही है और वह समझ नहीं पाता, यह क्या करे।

गुफाके भीतर योगी हैं। एक शिलापर स्थापित मूर्तिके समान निष्पन्द, निश्चेष्ट, स्थिर आसीन। वह नहीं कह सकता, वह योगीका जीवित शरीर है या निष्प्राण। उसने पढ़ा है—भारतीय योगी प्राणको रोककर वर्षों निष्प्राणके समान रह सकते हैं और कोई निष्प्राण देह भी इस हिम-प्रदेशमें विकृत तो होनेसे रहा।

गुफा उसने स्वच्छ कर दी है। शिलापर मूर्तिके समान जो योगीका निश्चल देह है, डरते-डरते उसे उसने धीरे-धीरे साथ लाये स्टोवपर जल गरम करके तौलियेसे प्रक्षालित किया। अब तो तेल समाप्त होनेसे स्टोव उपेक्षित पड़ा है। इससे अधिक कोई सेवा वह इन मूर्तिप्राय महापुरुषकी सोच नहीं पाता।

प्रतीक्षा—प्रतीक्षा ही कर सकता था वह और अब संसारमें लौटकर करना भी क्या था। उसकी प्रतीक्षा न भी सफल हो, इस शिलातलपर आसीन योगीके पदोंमें अनन्त कालतक अविकृत पड़ा रहेगा उसका निष्प्राण शरीर। यहाँसे वह लौटेगा नहीं। ऐसा कुछ नहीं होना था। सृष्टिका एक संचालक है और वह दयासिन्धु है। दृढ़व्रतीको उसने कभी निराश नहीं किया है। उस दिन वह गुफा प्रकाशसे भर उठी। शिलातल-समासीन योगीका शरीर-जैसे सूर्यके समान प्रकाश-पुञ्ज बन गया। देखना सम्भव नहीं था उनकी ओर। गोरा साहब हाथोंसे नेत्र ढककर, घुटनोंके बल भूमिपर सिर रखकर प्रणत हो गया उन तेजःपुञ्जके सम्मुख।

'वत्स!' प्रणवके सुदीर्घ गम्भीर नादके अनन्तर श्रवणमें जैसे अमृतधारा पहुँची। एक क्षण, केवल एक क्षण रुककर वे सर्वज्ञ उसीकी भाषामें उसे सम्बोधित कर रहे थे। आँसुओं-से भीग गया उसका मुख और वह बोलनेमें असमर्थ हो गया।

'मैं यहूदी हूँ। अपने घरसे, देशसे निर्वासित असहाय, अत्याचारका मारा एक अधम।' कठिनाईसे गद्गदकण्ठ वह बोला—'आपकी शरण आया हूँ। आपके अतिरिक्त उन पिशाचोंसे कोई मेरा प्रतिशोध नहीं दिला सकता।'

योगी सुनते रहे नीरव और वह कहता गया—'मैं जर्मन यहूदी देशके प्रति कभी अकृतज्ञ नहीं रहा; किंतु हिटलरकी शक्तिसे आज संसार संत्रस्त है। उसके अत्याचारोंका किसीके पास प्रतीकार नहीं। फासिस्ट पिशाचोंने मेरी पत्नी—मेरे बच्चे-की जो दुर्गति की—वे उनकी हत्या कर देते तो मैं उन्हें क्षमा कर देता; किंतु उन्होंने जिस प्रकार उन्हें मारा और मेरा यह शरीर—गीध मुर्दे नोचते हैं और मेरे जीवित शरीर-को उन्होंने चिमटोंसे नोचा, हंटरोंसे पीटा! मुखपर हुए अत्याचारोंकी सीमा नहीं है! उनपर प्रलयकी वर्षा हो!' उसके नेत्र अङ्गार हो रहे थे और थर-थर काँप रहा था वह क्रोधसे।

'मैं यहाँतक पहुँच नहीं पाता; किंतु मुझ गृहहीनकी जो सेवा, जो सहायता उदार पुरुषोंने की—मैं उनका कोई

प्रत्युपकार नहीं कर सका। उन्होंने मुझे सम्मान दिया, सुविधा दी—मेरी शुश्रूषा की। आपका आशीर्वाद उनका उत्थान करे।' वह तनिक शान्त हुआ। 'अपने जीवनके लिये मुझे कुछ नहीं चाहिये।'

'भोले बच्चे!' स्निग्ध शान्त स्वर था उन महायोगीका। 'तुम अपने भूतकालको एक बार अनावृत देखो।'

जैसे वह कोई स्वप्न देखने लगा हो, उसी क्षण ऐसी अवस्था उसकी हो गयी।

× × ×

पशुओंके घेरेके समान कँटीले तारोंका घेरा और उसमें सैकड़ों स्त्री-पुरुष-बच्चे। वह दासप्रथाका युग—घोड़ेपर चढ़ा, हंटरोंसे उन्हें पीटता-हँसता निरंकुश रशियन जमीदार—पशुओंके साथ भी इतनी निर्दयता कोई कदाचित् ही करे।

वह एक शिशु गिरा और उसके पेटपर घोड़ेकी टाप पड़ी। फटसे निकल पड़ीं अँतड़ियाँ। उसकी असहाय माता, किंतु पिशाच घुड़सवारने उस अबलाको भी कुचल दिया घोड़ेके पैरोंके नीचे। अट्टहास करते उसके पीछे घोड़ेपर सवार उसके दोनों सहकारी और उस महिलाका पति कुछ कहने जब सम्मुख आया…

किंतु चीत्कार कर उठा गोरा साहब। वह यह सब देखनेमें समर्थ नहीं था। उसकी सम्मोहन निद्रा भङ्ग हो गयी।

'दूसरा कोई नहीं, तुम स्वयं हो वह घुड़सवार!' योगीने शान्त स्वरमें कहा। 'तुम्हारे सहकारी ही इस बार तुम्हारे स्त्री तथा पुत्र हुए थे।'

स्तब्ध रह गया वह। फटे-फटे नेत्रोंसे उन महातापसकी ओर देखता रह गया। वे कह रहे थे—'वृद्धावस्थामें सद्बुद्धि आ गयी। तुमने जीवनका कुछ भाग पीड़ितोंकी सेवा एवं सहायतामें व्यतीत किया। अकेले तुम नहीं—आज तो तुम्हारे सहधर्मी भी उत्पीड़ित हुए हैं। उनकी भी लगभग ऐसी ही कथा है।'

'हे भगवान्!' दोनों हाथोंसे उसने सिर पकड़ लिया। उसे लगा कि गुफाकी भित्तियाँ घूमने लगी हैं।

'कोई दूसरा किसीको सुख-सम्मान नहीं देता। कोई दूसरा किसीको दुःख, पीड़ा या अपमान भी नहीं दे सकता। दूसरे केवल सुख या दुःखके निमित्त बनते हैं।' योगी स्नेह-पूर्ण स्वरमें समझा रहे थे। 'तुम्हारे कर्म ही तुम्हारी ओर लौटते हैं और तुम्हें सुख या दुःख देते हैं।'

'दीवालपर मारे गेंदके समान!' वह अपने-आप बोल उठा था।

'हाँ! ठीक समझा तुमने!' योगी अब कह रहे थे—'तुम अब क्या चाहते हो?'

किंतु अब वह क्या चाह सकता था? उसने कहा—'कितना मूर्ख था मैं! कितनी बड़ी थी मेरी कुबुद्धि!' और उसने उन महायोगीके चरणोंपर मस्तक रख दिया।

तिब्बतके याक एवं भेड़ोंके चरवाहोंके किसी तंबूके समीप उनका परिचित गोरा साहब आगे कभी नहीं आया। उन्होंने अपना संतोष कर लिया—'वह कहीं पर्वतसे गिर गया या बर्फमें दब गया।' वह भी एक गुफामें साधना-मग्न हो गया, यह जाननेका साधन भी क्या था उनके पास।

मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं

मैं भगवान्‌का हूँ। भगवान् मेरे हैं। इसका अब मुझे भलीभाँति परिचय प्राप्त हो रहा है। इसीसे अब अन्य सभी स्थानोंसे, पदार्थोंसे, प्राणियोंसे और परिस्थितियोंसे मेरी ममता हट रही है। इसीलिये मेरे ऊपरसे प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिका अधिकार उठा जा रहा है। मेरा यह निश्चय-ज्ञान बड़ी द्रुत गतिसे अनुभवरूपमें परिणत हो रहा है कि मुझपर भगवान्‌के सिवा अन्य किसीका भी कुछ भी अधिकार या आधिपत्य नहीं है; क्योंकि मैं भगवान्‌का हूँ। और किसी भी वस्तुको अब यह कहते नहीं सुनता कि 'मैं तुम्हारी हूँ या तुम मुझे अपनी बना लो; क्योंकि एकमात्र भगवान् ही मेरे हैं। भगवान्‌के सिवा और कुछ भी मेरा है ही नहीं।

मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं। मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् केवल मेरे ही हैं।

मेरा 'अहं' बोलता है

[मद, कारण और निवारण]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

(४)

'अहं'का निरसन ही तो मूल समस्या है। इससे छुटकारा पाये बिना गति नहीं। पर इससे छुटकारा मिले कैसे ? बड़ी कठोर साधना अपेक्षित है इसके लिये। कहा गया है—

रोड़ा हो रहु बाटका तजि मनका अभिमान।
ऐसा साधू जो भया, ताहि मिलै भगवान॥

अहंकार और अभिमानको त्यागकर मनुष्य अपनेको इतना नम्र बना ले, जैसे रास्तेका रोड़ा, कंकड़, पत्थर। चाहे जो आकर दो लात लगा दे, चाहे जो आकर ठोकर मार दे, वह निर्विकारभावसे सब सहन कर ले। साधनाका ऐसा पथिक भगवद्दर्शनका अधिकारी बनता है।

परंतु नम्रताकी मंजिल यहींपर रुक नहीं जाती।

(१)

रोड़ा भया तो क्या भया, पंथी को दुख देह।
साधू ऐसा चाहिए, ज्यों पैंड़े की खेह॥

× × ×

रोड़ा पैरमें चुभता है, पर वह साधक ही क्या जो किसी-को चुभे ! उससे तो किसीको कष्ट पहुँचना ही न चाहिये। 'यस्मान्नोद्विजते लोकः'—शर्त है उसके लिये। तब रोड़े-जैसी कड़ाई कैसे चल सकती है ?

उसे तो रास्तेकी तरह, खेहकी तरह मुलायम होना चाहिये !

× × ×

पर इतनेसे भी न चलेगा।

खेह भी तो उड़-उड़कर शरीरपर पड़ती है।

खेह भई तो क्या भया, उड़ि उड़ि लागे अंग।
साधू ऐसा चाहिए, जैसे नीर निपंग॥

पर, पानीसे भी कैसे चलेगा ?

वह भी ठंडा-गरम होता है।

नीर भया तो क्या भया, ताता-सीरा होय।
साधू ऐसा चाहिए, जो हरि ही सा होय॥

× × ×

साधक न ठंडा हो न गरम। विष्णुकी तरह भृगुकी लात सहन ही न करे, उसे पकड़कर सहलाने भी लगे—'महाराज, मेरी वज्र-सी कठोर छातीमें लगनेसे आपके चरण-कमलको दर्द न होने लगा हो !'

× × ×

(२)

पर विष्णुके और काम भी तो हैं।

साधुको, साधकको उनसे क्या लेना-देना।

हरि भया तो क्या भया, करता भरता होय।
साधू ऐसा चाहिए, हरि भज निर्मल होय॥

× × ×

पर, मंजिल अभी भी दूर है।

निर्मल भया तो क्या भया, निर्मल माँगे ठौर।
मल-निर्मल ते रहित हैं, ते साधू कछु और॥

साधुको मल-निर्मलसे भी ऊपर उठना है।

× × ×

निरहंकारिताकी ऐसी साधना हो, तब कुछ बात बने। यहाँ तो हमारा 'अहं' ही कदम-कदमपर बोलता रहता है। जरा-सा कोई काम हमारी मर्जीके खिलाफ हुआ, हमारी इच्छाके विरुद्ध हुआ, हमारी मान-प्रतिष्ठाके खिलाफ हुआ, हमारे स्वार्थके विरुद्ध हुआ कि हमारा 'अहं' फुफकार उठा।

घर-बाहर, सड़क-मैदान, दफ्तर-कारखाना—जिधर देखिये, रोज ही नहीं, हर घड़ी नमूने हाजिर हैं !

जरा-सी असावधानी हुई कि मद महोदय सामने खड़े नजर आते हैं।

(३)

पढ़े-लिखे विद्वान्, परम सुशील और सदाचारी, साधु और महात्माके नामसे पुकारे जानेवाले असंख्य लोग भी इसके अपवाद नहीं।

आयेदिन हम सब इसके शिकार बनते रहते हैं, पर जरा छेड़ दीजिये कि घमंड तो रावणका भी नहीं रहा, आप किस खेतकी मूली हैं—फिर देखिये हमारी लाल आँखें।

बड़ा व्यापक क्षेत्र है हमारे इस 'अहं'का ।

गीता कहती है—

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।

(३ । २७)

सामर्थ्य एक पत्ती भी हिलानेकी नहीं; पर मनुष्य मानता है यह कि सारी दुनिया मेरे इशारोंपर नाचती और नाच सकती है । और तभी तो वह जमीन-आसमानके कुलावे एकमें मिलानेके लिये हमेशा बेचैन रहता है ।

कहता है—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

(गीता १६ । १३—१५)

आज मैंने यह पाया, कल यह पाऊँगा । आज मेरे पास इतना बैंक बैलेंस है, कल इतना हो जायगा । आज मैंने इस दुश्मनको यों ढेर किया, कल उस दुश्मनको मिट्टीमें मिला दूँगा ! क्या नहीं हूँ मैं ? ईश्वर हूँ, ऐश्वर्यशाली हूँ, सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ !······

'मैं' और 'मेरे' की यह परम्परा रात-दिन चलती रहती है । मनुष्य इसीके चक्करमें हमेशा डूबता-उतराता रहता है ।

× × ×

इस 'मैं' और 'मेरे'से छुटकारा कैसे मिले ?

छुटकारा मिलेगा इस मूल 'मैं' को पकड़नेसे ।

"मैं कौन हूँ ?" 'Who am I', 'कोऽहं'—इस प्रश्नपर ज्यों-ज्यों हम विचार करेंगे, त्यों-त्यों 'मैं' का बाहरी चक्र ढीला पड़ता जायगा और भीतरी चक्र समझमें आने लगेगा ।

× × ×

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे ।
न च व्योम भूमिर्न तेजो न वायु-
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

'मैं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, शरीर, इन्द्रियाँ, विषय, पञ्चतत्त्व आदि कुछ नहीं । मैं इन सबसे परे हूँ—सच्चिदानन्द-रूप, शिवरूप । मैं शिव हूँ, शिव हूँ, शिव हूँ !

× × ×

मन और इन्द्रियोंके विषय तभीतक हमपर हावी रहते हैं, जबतक मनुष्य अपने आत्मस्वरूपको पहचानता नहीं । वह अपनेको खोजे, अपना पता लगाये, अपने 'अहं' का विश्लेषण करे, अपनी वृत्तियोंको देखे तो उसे पता चल जायगा कि वह तो इन सबसे परे है, एकदम परे ! फिर कहाँ रहेगा राग-द्वेष, कहाँ रहेगा लोभ-मोह, कहाँ रहेगा मद-मत्सर ? विकारोंका यह खेल तो तभीतक चलता है, जबतक हम अपनेको शरीर मानते हैं अथवा मन, बुद्धि, चित्त या अहंकारके हाथका खिलौना मानते हैं । अपने स्वरूपकी खोज करते ही पाँसा एकदम पलट जाता है । वही हाल होता है —

उसे खोजते 'मीर' खोये गये,
कोई देखे इस जुस्तजूकी तरफ़ ।

आइये, हम सब अपने आपको खोजें और तबतक अपनी यह खोज जारी रखें जबतक अपनेको पा न लें ।

फिर तो हमारे रोम-रोमसे एक ही ध्वनि निकलेगी—

शिवोऽहम् ! शिवोऽहम् !! शिवोऽहम् !!!

मैं सदा भगवान्में ही रहता हूँ

मैं कहीं भी रहूँ, कब भी रहूँ, कैसे भी रहूँ, रहता हूँ केवल भगवान्में ही । मैं अब इस सत्यको जानता ही नहीं हूँ—देखता भी हूँ कि ऐसा कोई देश-काल है ही नहीं, जो भगवान्में न हो । सभी देश तथा काल भगवान्में हैं और सभी देशों तथा सभी कालोंमें भगवान् भरे हैं ।

इसीसे मैं भगवान्की संनिधिका नित्य अनुभव करता हूँ और इसीलिये मेरे सब दोष नष्ट होकर मुझमें शान्ति, सुख, दया, करुणा, निरभिमानता, विनम्रता, उदारता, धीरता, अहिंसा, वैराग्य, प्रेम, सद्व्यवहार, सबके प्रति सम्मान, सबके सुखकी भावना और सबके परम हितकी इच्छा आदि सद्गुण आ रहे हैं । मैं भगवान्में हूँ, इसीसे भगवान्के सारे दिव्य गुण मेरे नित्य साथी हो रहे हैं ।

मैं जब, जहाँ, जैसे भी रहता हूँ सदा भगवान्में ही रहता हूँ ।

शांकरवेदान्तकी व्यावहारिकता

(लेखक—श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा, तर्कशिरोमणि, एम्. ए.)

पाश्चात्य विद्वान् हक्सलेका कथन है कि अपने पूर्वजोंका अनादरपूर्वक उपहास करना या आलोचना करना सरल है; परंतु उससे कहीं अधिक हितकर होगा, यदि हम इस बातका पता लगानेका यत्न करें कि वे लोग, जो वास्तवमें हम महानुभावोंसे कम विवेकशील नहीं थे, ऐसे तथ्योंपर किन कारणोंसे पहुँचे जो कि हमें निरर्थक-सरीखे प्रतीत होते हैं।

इस कथनकी सत्यता हमें कुछ अंशोंमें जगद्गुरु शङ्कराचार्यके सिद्धान्तोंके आलोचकोंमें मिलती है। यद्यपि शङ्कराचार्यकी विद्वत्तामें किसीको संदेह नहीं है, पर फिर भी उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त कई विद्वानोंको निरर्थक-से प्रतीत होते हैं; क्योंकि आलोचकोंके विचारमें शंकरके अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है और जगत् भ्रम है। जैसे हम रज्जुमें सर्पका अध्यास कर लेते हैं, उसी प्रकार वास्तविक ब्रह्ममें अवास्तविक जगत्का अध्यास कर लेते हैं। पर आलोचकोंके विचारमें यह अध्यास ही नहीं बनता, जो अद्वैतदर्शनका आधार है, अतः उसपर आधारित अद्वैतदर्शन स्वतः ही निरर्थक हो जाता है।

दूसरा कारण इस दर्शनके निरर्थकत्वका वे यह देते हैं कि शंकरके सिद्धान्तोंमें व्यवहारका अभाव है; क्योंकि शंकरके अनुसार यह जगत् भ्रममात्र है, अतः भ्रममय जगत्में व्यवहार असम्भव है। पर ये दोनों आक्षेप आधारहीन हैं। यहाँ इन आक्षेपोंके खण्डनसे पूर्व यह आवश्यक है कि इन आक्षेपोंके आधार समझ लिये जायँ। अध्यासके खण्डन करनेवालोंका यह मत है कि शंकरके अनुसार जगत् अवास्तविक है, अतः अवास्तविक जगत्का वास्तविक ब्रह्ममें अध्यास असम्भव है; क्योंकि अध्यासका लक्षण शंकरने 'अतद्में तद्बुद्धि' किया है, जो कि असम्भव है; क्योंकि शंकरके अनुसार ब्रह्म ही एक वस्तु है—अन्य कुछ नहीं; अतः यहाँ 'अतद्में तद्बुद्धि' का अवकाश ही नहीं है। सीप और चाँदीमें अध्यास बन जाता है; क्योंकि ये दोनों (सीप और चाँदी) पृथक्-पृथक् वस्तु हैं और दोनों ही वास्तविक हैं। पर यहाँ एक (जगत्) के अवास्तविक होनेके कारण अध्यास नहीं बन सकता और यदि दोनों (ब्रह्म और जगत्) को वास्तविक मान लें तो अद्वैत मतकी हानि और द्वैत मतकी पुष्टि होती है, अतः अध्यास असम्भव है[1]।

तथा इसी जगत्की अवास्तविकताका आधार लेकर अन्य विद्वानोंने भी इसपर अव्यावहारिकताका आरोप लगाया है[2]।

पर शंकराचार्यके ब्रह्मसूत्रोंपर शारीरक भाष्यके अवलोकन करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि ये आरोप आधारहीन हैं; क्योंकि शंकरके सिद्धान्तोंका खण्डन करते समय विद्वान् शंकरद्वारा प्रतिपादित तीन सत्ताओंकी अवहेलना कर जाते हैं। शंकराचार्यने (१) पारमार्थिक सत्ता, (२) व्यावहारिक सत्ता, (३) प्रातिभासिक सत्ता—इन तीन सत्ताओंके स्तम्भोंपर अपने सिद्धान्तोंके महलको खड़ा किया है, पर जब विद्वान् इन तीन सत्ताओंकी अवहेलना कर जाते हैं, तब शंकरके महलका ध्वंसावशेष या निरर्थकरूपमें (विद्वानोंको) दिखायी पड़ना सामान्य है। शंकर अपने भाष्यमें इन सत्ताओंकी पुष्टि करते हैं; 'अध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः'[3] इस कथनसे व्यावहारिक सत्ताकी पुष्टि करते हैं, तथा 'परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति सर्वे वेदान्ताः'[4] इस वचनसे पारमार्थिक सत्ताका परिचय देते हैं और स्थल-स्थलपर सीप और चाँदीके उदाहरणोंसे प्रातिभासिक सत्ताका प्रतिपादन करते हैं। इन अवस्थाओंमें शंकर जगत्की स्थिति भिन्न-भिन्न रूपमें मानते हैं, पर इन तीनों ही अवस्थाओंमें कहींपर भी जगत्को अव्यावहारिक बताया हो, ऐसा शांकर-भाष्यसे ज्ञात नहीं होता। शंकरद्वारा प्रतिपादित जगत्के अवास्तविकताकी समस्या न केवल भारतीयोंके ही समक्ष, अपितु पाश्चात्य विद्वानोंके समक्ष भी इसी रूपमें आयी, पर उन्होंने इसका विवेचन कर बड़े सुन्दर ढंगसे इस समस्याका हल निकाला। यद्यपि शंकराचार्यने पारमार्थिक सत्तापर पहुँचकर जगत्की अवास्तविकता मानी, पर व्यावहारिक सत्तापर उन्होंने जगत्को भ्रममात्र या अवास्तविक नहीं कहा, अपितु व्यवहारार्थ जगत्की वास्तविक सत्ता मानी। प्रो० मेक्समूलर लिखते हैं[5]। 'यद्यपि

---

१. देखो, वेदान्तदर्शन-ब्रह्ममुनिभाष्य, भूमिका। २. गङ्गाप्रसाद उपाध्यायकृत शांकरभाष्यालोचन। ३. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य-उपोद्घात। ४. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य २।१।१४, ५. Six Systems of Indian Philosophy. Page 154.

शंकर कहते हैं कि सारा जगत् अविद्याका परिणाम है, पर फिर भी व्यावहारिक प्रयोजनोंके लिये संसारको वास्तविक मानते हैं और व्यवहारके लिये कर्त्ता (विषयी) और कर्म (विषय) को भी भिन्न-भिन्न मानते हैं" । जब शंकर कर्त्ता और कर्म या विषयी और विषयको भिन्न-भिन्न मानते हैं, तब फिर जगत्की वास्तविकतामें कोई संदेह ही नहीं रह जाता; क्योंकि बिना जगत्को वास्तविक माने कर्त्ता और कर्मके भिन्नत्वका व्यवहार असम्भव है । "यह सत्य है कि वेदान्तमें प्राकृतिक (Material) और वास्तविक (Real) का अर्थ संदिग्ध है, कुछ विद्वानोंके मतमें ब्रह्मके सिवा यह सारा जगत् जो अविद्याका परिणाम है, अवास्तविक है । पर यह सिद्धान्त कुछ अंशतक सत्य है; क्योंकि इसके साथ ही शंकर व्यावहारिक प्रयोजनोंके लिये इस जगत्को वास्तविक भी मानते हैं[१] । क्योंकि यदि सर्वांशमें शंकरको जगत्की अवास्तविकता मान्य होती तो वे अपने भाष्यमें बौद्ध-दर्शनके शून्यवाद (माध्यमिक) तथा विज्ञानवाद (योगाचार) का खण्डन न करते । माध्यमिक बौद्धके अनुसार यह सारा जगत् शून्य (अवकाश) है, इसमें वास्तविकता कुछ भी नहीं है । इसी प्रकार योगाचार (विज्ञानवादी) का मत है कि यह संसार और पदार्थ अवास्तविक हैं । ये जो पदार्थ दिखायी पड़ते हैं, उन सबमें विज्ञान भासता है । अतः सब विज्ञान-ही-विज्ञान है, अन्य कुछ नहीं, यह सब जगत् स्वप्नवत् मिथ्या है । पर इन सिद्धान्तोंका खण्डन शंकरने अपने भाष्यमें किया है[२] कि यह जगत् स्वप्नवत् नहीं है; क्योंकि जागनेके बाद तो स्वप्नकी अवास्तविकता स्पष्ट हो जाती है, पर यह संसार सोनेसे पूर्व भी उसी प्रकार था और सोकर जागनेके बाद भी उसी प्रकार दिखायी देता है । अथच, स्वप्नके पदार्थोंका निर्माण मन स्वयं करता है, पर इस सांसारिक पदार्थका नहीं, अतः जगत् वास्तविक है, स्वप्नवत् मिथ्या नहीं । इस प्रकार शंकर न केवल जगत्की वास्तविकता स्वीकार करते हैं, अपितु बौद्धोंके शून्यवाद और विज्ञानवादके विरुद्ध अकाट्य तर्क उपस्थित कर बौद्धोंद्वारा मान्य जगत्की अवास्तविकताके सिद्धान्तका खण्डन करते हैं[३] । शंकर अपने ग्रन्थका आरम्भ भी जगत्की वास्तविकता तथा विषय और विषयीके भिन्नत्वके प्रतिपादनसे करते हैं[४] "कि 'अहं' प्रत्यय विषयी (कर्त्ता) के धर्मोंमें तथा 'इदं' प्रत्यय विषयी (कर्म) के धर्मोंमें प्रकाश और अँधेरेके समान विरोध है, अतः इन दोनोंका एक दूसरेमें अन्तर्भाव अशक्य है । इस कारण इन दोनोंकी वास्तविकता मानना अनिवार्य है । और भी, शंकरके अनुसार यह जगत् अविद्याका कार्य है और अविद्या वास्तविक है, अतः अविद्याके कार्य (जगत्) की वास्तविकता भी आवश्यक है; क्योंकि वैशेषिक सूत्रकार कणादके अनुसार कारणके गुण कार्यमें अवश्य आते हैं[१], अतः यदि अविद्या वास्तविक है तो उसके कार्य (जगत्) की वास्तविकता भी असंदिग्ध है । इसके अतिरिक्त शंकरद्वारा प्रतिपादित सत्यासत्यका विवेचन तथा संसारद्वारा मोक्षप्राप्ति आदि ये सब सिद्ध करते हैं कि शंकरके अनुसार भी जगत् वास्तविक है, भ्रममात्र नहीं[२] 'ब्रह्म इस संसारमें है, पर स्वयं संसार नहीं[३] । क्योंकि यदि संसार भ्रममात्र होता तो भक्ति, ज्ञान और संन्यासके द्वारा भी (हम) उच्च जीवन प्राप्त नहीं कर सकते थे[४] । और शंकर स्वयं कहते हैं कि यदि यह संसार भ्रममात्र या अवास्तविक होता तो ब्रह्मकी सत्ता भी संदिग्ध हो जाती[५] । क्योंकि शंकर भी जगत्के आधारपर ही ब्रह्मकी सिद्धि करते हैं, अपने भाष्यमें स्पष्ट लिखते हैं[६] कि—'नाम, रूप तथा कर्त्ता, भोक्तासे संयुक्त तथा मनके द्वारा भी जिसकी रचनाका चिन्तन नहीं किया जा सकता, ऐसे इस जगत्का जन्म, स्थिति और संहार जिस सर्वशक्तिमान्से होता है, वह ब्रह्म है ।' इस प्रकार शंकर स्थल-स्थलपर जगत्की वास्तविकता सिद्ध करते हैं और कहते हैं कि इसी जगत्के आश्रयसे सारे प्रमाण और प्रमेय आदिका व्यवहार चलता है । इस प्रकार जगत्की वास्तविकता सिद्ध हो जानेपर अध्यासके सिद्ध न होनेका आक्षेप स्वयमेव समाप्त हो जाता है (क्योंकि जगत्को अवास्तविक मानकर ही अध्यास सिद्ध न होनेका आक्षेप किया था) । पर अब यहाँ एक शंका पैदा होती है कि यदि शंकरके अनुसार ब्रह्म और जगत् दोनों ही वास्तविक हैं तो अद्वैतमतकी हानि स्पष्ट ही है, जैसा कि कुछ विद्वानोंका मत भी है[७] । इसका उत्तर शंकर देते हैं कि पारमार्थिक

---

१. MaxMullar—Six Systems of Indian Philosophy. Page 160 । २. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' २ । २ । १४ । ३. MaxMullar-Six Systems of Indian Philosophy Page-160, ४. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, उपोद्घात ।

१. कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः—वैशेषिकदर्शन । 2. Radhakrishnan–Indian Philosophy, Part II Page. 583. ३. Radha. Indian Philosophy. Part II Page 583. ४. Radha. Indian Philosophy Part II 583. ५. यदि ह्यसत्त्वमेव जगत् स्यात्तर्हि ब्रह्मणोऽपि ह्यसत्त्वप्रसङ्गः, शांकरभाष्य । ६. जन्माद्यस्य यतः १ । १ । २, ७. वेदान्तदर्शन ब्रह्ममुनिकृत भाष्य-भूमिका ।

सत्तापर आकर तत्त्वज्ञानी सब स्थानपर ब्रह्म ही ब्रह्म देखता है। यद्यपि व्यावहारिक सत्तापर रहकर केवल ब्रह्मको ही वास्तविक रूपमें तथा जगत्‌को अवास्तविक समझना नितान्त असम्भव है, पर वही पुरुष (जो व्यावहारिक सत्तापर ब्रह्म और जगत् दोनोंको वास्तविक मानता है) नित्यानित्यवस्तुविवेक, इस लोक तथा परलोकमें फलकी कामनाका त्याग, शमदमादि षट्-सम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व— इन साधन चतुष्टयद्वारा जब पारमार्थिक सत्तापर पहुँचता है, तब उसे केवल ब्रह्म ही वास्तविक तथा जगत् अवास्तविक प्रतीत होता है[1]। पर यहाँ वास्तविक और अवास्तविक शब्द संदिग्ध है, शंकरके अनुसार वास्तविकका तात्पर्य कुछ भिन्न है, इसका विवेचन आगे करेंगे।

शंकराचार्यके अनुसार सारे संसारका यह व्यवहार ब्रह्मज्ञानके पूर्व ही होता है। जबतक मनुष्यको आत्मैकत्वका तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक मनुष्य अविद्यासे अभिभूत होकर सारे सांसारिक विकारोंको 'यह वस्तु मेरी है' कहकर ममत्वसे अपनाता है। अतः ब्रह्मज्ञानसे पूर्वकी स्थितियोंमें ये सारे लौकिक और वैदिक व्यवहार सत्य और उचित हैं, पर पारमार्थिक सत्तामें सारे व्यवहारोंका अभाव हो जाता है। यहाँपर व्यवहारके अभावसे शंकरका तात्पर्य आसक्तिका न होना है; क्योंकि यदि किसी मनुष्यकी किसी पदार्थमें आसक्ति नहीं है तो उस पदार्थके विद्यमान रहनेसे उसे न कोई लाभ है, न विद्यमान रहनेसे न उसे कोई हानि है, अतः उस पुरुषके लिये उस पदार्थकी विद्यमानता और अविद्यमानता एक समान है। अतः यहाँ अभावसे शंकरका तात्पर्य अनासक्ति है। अन्यथा, यदि व्यवहाराभावसे शंकरका तात्पर्य व्यवहारका नितान्त अभाव होता तो वे जीवन्मुक्तके सिद्धान्तका प्रतिपादन अपने मतमें न करते। शंकरके अनुसार भी कोई भी मनुष्य बिना कर्मके एक क्षण भी नहीं रह सकता है[2]। तो जीवन्मुक्त बिना व्यवहार (कर्म) के कैसे रह सकता है। इसके विपरीत जीवन्मुक्तके लिये कहा गया है कि वह करता हुआ भी नहीं करता, देखता हुआ भी नहीं देखता[3] और शंकर भी स्वयं कहते हैं कि 'देखता, सुनता, सूँघता, सोता और चलता हुआ भी इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें बरत रही हैं, मेरा कुछ नहीं है, इस प्रकार जो कर्ममें अकर्म देखता है, वही तत्त्वज्ञानी है'[1]। इससे स्पष्ट है कि शंकरका व्यवहाराभावसे तात्पर्य अनासक्तिसे है। इस प्रकार मनुष्य व्यावहारिक सत्तापर जगत्‌को वास्तविक मानकर आसक्तभावसे कर्म करता है और पारमार्थिक सत्तामें अनासक्त भावसे। इसके अतिरिक्त भी शंकर जगत्‌की वास्तविकता सिद्ध करते हुए लिखते हैं कि— जैसे ब्रह्मकी सत्तामें तीनों कालोंमें भी व्यभिचार (दोष) नहीं आता, उसी प्रकार जगत्‌की सत्तामें भी तीनों कालोंमें व्यभिचार (दोष) नहीं आता है[2]। अतः व्यावहारिक सत्तामें यह जगत् वास्तविक है और व्यवहार भी चलता है तथा पारमार्थिक सत्ता [जीवन्मुक्तावस्था] में जगत् अवास्तविक है, पर व्यवहार चलता है तथा पूर्ण मोक्षावस्थामें यह जगत् भी अवास्तविक प्रतीत होता है और व्यवहार भी समाप्त हो जाता है। मोक्षावस्थामें व्यवहारके आधारभूत द्रष्टा और दृश्यका भेद ही नहीं रहता; 'क्योंकि जब सब आत्मा-ही-आत्मा हो जाता है, तब कौन द्रष्टा है और कौन दृश्य'[3]। और 'उस अवस्थामें पुरुषको इस संसारमें कुछ भी वास्तविकता दृष्टिगोचर नहीं होती, केवल ब्रह्म ही वास्तविक प्रतीत होता है और जगत् अवास्तविक। उसे इस संसारमें ग्रहण करने योग्य या उपभोग करने योग्य कोई वस्तु दिखायी नहीं देती तथा ज्ञानके योग्य भी कोई पदार्थ दिखायी नहीं देता'[4]। इस प्रकार उसे (मनुष्यको) इस संसारमें आसक्ति नहीं रहती और अवास्तविक प्रतीत होने लगता है। यहाँपर वास्तविक और अवास्तविकका अर्थ कुछ संदिग्ध है। कुछ विद्वानोंके मतमें अवास्तविकका अर्थ आधारहीन है—जैसे आकाशका फूल। पर शंकराचार्यका तात्पर्य यह नहीं है, अपितु अवास्तविकसे उनका तात्पर्य अनित्यका है और वास्तविकसे नित्यका। अतः शंकरके अनुसार अवास्तविक जगत्‌का अर्थ 'अनित्य जगत्' है, 'भ्रममय जगत्' नहीं। यह सारा संसार ज्ञेय और दृश्य है, जो द्रष्टासे सर्वथा विपरीत है। अतः यह संसार दृश्य होनेके कारण अनित्य है (यद्दृश्यं तदनित्यम्—शांकर भाष्य)। और यह जगत् सान्त भी है इसलिये भी अनित्य है। नित्यकी परिभाषा करते हुए शंकर लिखते हैं कि 'जो तीनों कालोंमें रहे वह नित्य है [त्रैकालिकाबाध्यत्वम्], पर यह दृश्य जगत् भविष्यमें नष्ट हो जानेवाला है, अतः अनित्य

१. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य—१। १। १। २. गीता-शांकरभाष्य ३। ५। ३. सदानन्दकृत वेदान्तसार।

१. गीता-शांकरभाष्य ५। ८। २. यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु न व्यभिचरति, इत्येवं कार्यमपि जगत्त्रिषु कालेषु न व्यभिचरति। ३. यदा सर्वमात्मैवाभूत्तदिं केन कं पश्येत्—छान्दोग्योपनिषद्। ४. माण्डूक्योपनिषद्।

है। इसीको श्रीराधाकृष्णन् और स्पष्ट करते हैं कि—'जो वास्तविक पदार्थ हैं, वे आज रहें और कल नष्ट हो जायँ, ऐसा नहीं हो सकता, पर सांसारिक पदार्थ सदा नहीं रहते; क्योंकि ज्ञानसे संसारकी निवृत्ति हो जाती है, अतः संसार अनित्य या अवास्तविक है'[1]—इस बातकी पुष्टि उपनिषद् भी करती है, 'नचिकेता सारे सांसारिक पदार्थोंको अवास्तविक (नाशवान्) बताकर गाय, घोड़े आदि सांसारिक पदार्थोंको लेनेसे मना कर देता है और केवल आत्मज्ञान चाहता है'[2]। इसी प्रकार यहाँ भी अवास्तविक जगत्से शंकराचार्यका तात्पर्य अनित्य जगत्से है, भ्रममय जगत्से नहीं।

इन सबके विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि शांकर-वेदान्तमें व्यावहारिकता बहुत अंशोंमें विद्यमान है, अतः हम उसे अव्यावहारिक बताकर निरर्थक नहीं कह सकते। यह जगत् पारमार्थिक अवस्थामें भी सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता, अपितु अनित्य होनेके कारण अवास्तविक प्रतीत होता है, पर यह स्थिति भी तत्त्वज्ञानियोंकी है, सर्वसाधारणकी नहीं।

इन सबसे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं, जो मैक्समूलरके शब्दोंमें स्पष्ट है—

इस प्रकार परमार्थावस्थामें पहुँचकर तथा जगत्को अवास्तविक बताकर तथा आत्माको संसार और शरीरसे ऊँचा उठाकर भी शांकरदर्शन उन मनुष्योंके जीवनको कोई हानि नहीं पहुँचाता, जिन्हें अभी इस संसारमें रहकर अपने कर्तव्य पूरे करने हैं, इसके विपरीत यह बताता है कि उच्च ज्ञानकी प्राप्तिके लिये नैतिकता, गुण, विश्वास और शुभताकी आवश्यकता है, जो कि आत्माको वापिस इसके घर (ब्रह्म) तक पहुँचाते हैं[3]।

इससे स्पष्ट है कि शांकर-वेदान्त व्यावहारिक है, अव्यावहारिक नहीं, अतः उसको अव्यावहारिक बताना अनुचित और निराधार है[4]।

परवरदिगारसे आरजू

नहीं नापाक नालायक खलकमें मुझ-सा कोई और,
भरा लाखों गुनाहोंसे दिखाऊँ मुँह तुझे कैसे ?
इबादत की नहीं तेरी भूलकर भी कभी मैंने,
सताया तेरे बंदोंको सामने आऊँ मैं कैसे ?
मुहब्बत ज़ालिमोंसे की जोड़ इखलास[1] पुर दिलसे।
किया इख्तलाफ़[2] नेकोंसे, बताऊँ क्या तुझे कैसे ?
डराया बेगुनाहोंको औ, लूटा बेवसोंको खूब,
मिटाई आब आदिलकी, करूँ अब क्या कहो कैसे ?
छोड़ खिदमत खुदा तेरी, करी अख्तियार बेशर्मी,
बेवफा बन करी चुगली, बचाऊँ अब कहो कैसे ?
मिटा इन्सानियत सारी, बना खूँख़ार बेहद मैं,
जान ली बेजुबानोंकी, डरूँ अब मैं नहीं कैसे ?
बितायी आशनाईमें उम्र, हो बेहया पूरा,
माँगूँ अब किस तरह माफ़ी, सजासे अब बचूँ कैसे ?
रहमदिल पे मेरे मालिक ! करो अब परवरिश मेरी,
छोड़ परवरके दरको मैं जाऊँ अब ग़ैर पै कैसे ?

१. मेल-मिलाप। २. विरोध।

१. RadhaKrishnan—Indian Philosophy Part II-Page 562, ज्ञानैकनिवृत्यत्वम् शांकरभाष्य।
२. कठोपनिषद् प्रथम वल्ली। ३. MaxMullar—Six Systems of Indian Philosophy. Page 183,,—
४. Max-Mullar—Six Systems of Indian Philosophy Page. 183.

मधुर

(प्रेममूलक त्याग या गोपीभाव)

त्यागकी बड़ी महत्ता है, त्यागसे ही जीवनका यथार्थ विकास होता है, त्यागसे ही शान्ति प्राप्त होती है। परंतु त्यागका ठीक-ठीक स्वरूप समझना आवश्यक है। 'भोगमूलक त्याग' वास्तविक त्याग नहीं होता, 'प्रेममूलक त्याग' ही त्याग होता है। प्रेममूलक त्यागमें निम्नलिखित बातें होती हैं, जो भोगमूलक त्यागमें नहीं होतीं—

(१) त्यागके अभिमानका अभाव।

(२) त्याग करके किसीपर अहसान न करना, त्यागके द्वारा किसीको कृतज्ञ बनानेका भाव न होना।

(३) त्यागमें कठिनताका बोध न होना।

(४) त्यागमें सुखका अनुभव।

(५) त्यागमें प्रदर्शनका अभाव।

(६) त्यागका कोई बदला या फल न चाहना।

(७) त्याग किये बिना सहज ही रहा न जाना। त्यागमें महत्त्व-बोधका अभाव।

वात्सल्य-स्नेहमयी माता अपनी प्रिय संतानके लिये त्याग करती है। रातको छोटे शिशुने बिछौनेमें मूत दिया, बिछौना गीला हो गया, जाड़ेके दिन हैं, माँको पता लगते ही वह स्वयं गीलेमें सो जाती है, बच्चेको सूखेमें सुला देती है। ऐसा करके न तो माँ कोई अभिमान करती है, न बच्चेपर अहसान करती है, न उसे कठिनताका बोध होता है, ऐसा करनेमें उसे सहज सुख मिलता है, वह इसे किसीको दिखानेके लिये नहीं करती, न कोई बदला या मान-बड़ाई चाहती है, वरं स्नेहवश उससे ऐसा किये बिना रहा ही नहीं जाता। इसी प्रकार प्रेम-प्रतिमा प्रेयसी अपने प्राणप्रियतमके लिये त्याग करती है, उसमें कहीं भी कोई उपर्युक्त दोष नहीं आ सकते। विशुद्ध अनुरागसे ही उसे त्यागकी सहज प्रेरणा मिलती है और विशुद्ध अनुराग या प्रेमकी प्राप्ति या वृद्धि ही उसका फल भी होता है।

इसके विपरीत जिस त्यागमें—'मैंने त्याग किया' यह अभिमान होता है, 'मैंने उसके लिये त्याग किया है, उसे मेरा अहसान मानना चाहिये—कृतज्ञ होना चाहिये'—यह भाव होता है, जिस त्यागमें बहुत कठिनाईका अनुभव होता है, जो त्याग करना पड़ता है, जिसमें सुखकी अनुभूति नहीं होती, जो त्याग दिखानेके लिये होता है, जिसका लोक-परलोकमें विशेष फल, बदला या मान-बड़ाईकी चाह होती है और जो त्याग किसी कारणसे होता है, किसी महत्त्वबुद्धिसे होता है—ऐसा नहीं होता, जिसके किये बिना चैन ही न पड़े। ये बातें जिस त्यागमें हों, वह त्याग न्यूनाधिक भावसे भोगमूलक ही होता है। भोगमूलक त्याग भी बुरा नहीं है, परंतु वह भावके तारतम्यके अनुसार बहुत ही निम्न श्रेणीका होता है, उसे वास्तविक त्याग नहीं कहा जा सकता। ऐसा त्याग भोगप्राप्तिमें हेतु होता है, उसमें पद-पदपर भोगका अनुसंधान बना रहता है और भोग न मिलनेपर दुःखकी अनुभूति होती है। ऐसे त्यागपर त्यागीको पश्चात्ताप भी हो सकता है। यह एक प्रकारका व्यापार होता है। इसमें विशुद्ध प्रेमका अभाव होता है।

इसके विपरीत यथार्थ त्याग विशुद्ध प्रेमकी विशेष वृद्धि करता है और विशुद्ध प्रेमसे त्याग भी विशेष रूपसे होता है और जहाँ विशुद्ध प्रेमका उदय हो जाता है, वहाँ त्याग ही जीवनका स्वरूप बन जाता है। 'स्व' की सर्वथा विस्मृति होकर केवल प्रियतम ही रह जाते हैं, उनका सुख ही अपना सुख बन जाता है। फिर वहाँ यदि भोग

भी कहीं रहते हैं तो वे त्यागमूलक ही रहते हैं, यही 'गोपीभाव' है। गोपी किसी स्त्रीका नाम नहीं है, जिसमें सर्वथा त्यागपूर्ण प्रेम है; जिसका प्रत्येक विचार, जिसकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक क्रिया सहज ही अपने प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके लिये होती है, वही गोपी है। गोपीका संसार, गोपीके संसारकी क्रिया सभी एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्णके लिये हैं। उसका खाना-पहनना, साज-शृङ्गार करना, सोना-जागना, कार्य करना या कार्य त्याग करना, जीना-मरना—सभी प्रियतम श्रीकृष्णके मनके अनुसार श्रीकृष्णके सुखके लिये ही होता है। उसके त्याग और भोग—दोनोंमें ही भगवत्प्रेम भरा है। मीराँने कहा—

कहो तो मोतियन माँग भरावाँ,
कहो तो मूँड मुँड़ावाँ।
कहो तो कसूमल चुनड़ि रँगावा,
भगवा भेस बणावाँ॥

जिसमें प्रियतमको सुख, जो प्रियतमको रुचिकारक, जैसी प्रियतमकी इच्छा—वही प्रेमीका स्वभाव। उसे न किसी त्यागके बाहरी रूपसे सम्बन्ध है, न भोगसे। उसका सम्बन्ध है केवल प्रियतमसे। उसका त्याग भी विशुद्ध प्रेममूलक और उसका भोग भी विशुद्ध प्रेममूलक—अतएव त्याग और भोग दोनों ही परम विशुद्ध त्यागमय हैं।

एक उच्च भावमयी नवीन गोपी साधिकाने—'प्रेमका कैसा रूप होता है, विशुद्ध प्रेम-राज्यमें भोग-त्यागका कैसा भाव होता है, उन परम प्रेयसी गोपियोंके कैसे भाव-आचरण हैं,—'इसके सम्बन्धमें एक गोपीसे पूछा। तब उसे त्यागमय परमानुरागकी अधिकारिणी समझकर उस गोपीने कहा कि 'हमलोगोंको नित्यनिकुञ्जेश्वरी महाभाव-रूपा श्रीश्यामसुन्दरकी अन्तरात्मा श्रीराधिकाजीने जो स्वरूप बतलाया था, वह इस प्रकार है—

श्याम हमारे वस्त्राभूषण,
श्याम हमारे भोजन-पान।
श्याम हमारे घर, घरके सब,
श्याम हमारे ममता मान॥
श्याम हमारे भोग्य, सुभोक्ता,
श्याम हमारे कर्त्ता, कर्म।
श्याम हमारे तन-मन-धन सब,
श्याम हमारे केवल धर्म॥
श्याम हमारे त्याग, भोग सब,
श्याम हमारे श्वासोच्छ्वास।
श्याम हमारे स्व-पर सभी कुछ,
श्याम हमारे सब अभिलाष॥
श्याम हमारे परम गुप्त निधि,
श्याम हमारे प्रकट विभूति।
श्याम हमारे भूत, भविष्यत्,
वर्तमानकी वाञ्छित भूति॥
श्याम लोक, परलोक हमारे,
बन्धन, मोक्ष हमारे श्याम।
श्याम हमारे चरम परम गति,
श्याम हमारे चिन्मय धाम॥
श्याम-प्रीति-रुचि-सुख ही केवल
एक हमारा सहज सु-रूप।
श्याम-सुखार्थ सभी कुछ होता
रहता उनके मन अनुरूप॥
श्याम करावें पूर्ण त्याग, या
खूब करावें इन्द्रिय-भोग।
श्याम रखें सब भाँति स्वस्थ, या
दे दें चाहे कठिन कुरोग॥
श्याम कहें तो प्राण त्याग दें
सुखपूर्वक अति मन उत्साह।
श्याम कहें तो अमर रहें हम,
पूरी हो प्रियतमकी चाह॥
श्याम भले अपमान करावें,
करें, करावें या सम्मान।
श्याम सुखी हों जिससे, केवल
वही हमारा सच्चा मान॥
श्याम मिले नित रहें, एक
पल भी न हमें छोड़ें, रख राग।
श्याम कभी भी मिलें न हमसे,
जीवनमें निज भरें विराग॥

श्याम सुखी हों, जैसे ही,
हैं हमें उसीमें परमानन्द।
श्याम चित्त विपरीत न रहता,
मनमें कभी कहीं आनन्द॥
श्याम-सुखार्थ त्याग यदि होता
उसका रहता हमें न भान।
श्याम-प्रेमसे ही सब होता
सहज, सरल, सुखमय, गत-मान॥
श्याम-प्रीतिसे भरा हृदय तब
कौन करे कैसा अभिमान।
श्याम बन रहे जीवन ही तब
किसपर कौन करे अहसान।
श्याम-प्रेम-फल प्राप्त सर्वथा,
कौन परम फल अब अवशेष।
श्याम हेतु सब काम, त्यागका
कौन महत्त्व बचा अब शेष॥
श्याम हमारे हैं सब कुछ, हम
सदा श्यामकी सुख-साधन।
श्याम स्वयं हमसे करवाते
रहते निज-सुख-आराधन॥

'प्रियतम प्राणप्राण श्रीश्यामसुन्दर ही हमारे कपड़े-गहने हैं, वे ही हमारे भोजन-पान हैं। वे श्यामसुन्दर ही हमारे घर हैं, सब घरके हैं; श्यामसुन्दर ही हमारे ममता और मान हैं। श्यामसुन्दर हमारे भोग्य हैं। (जब स्वयं भोग्य बनकर सुखी होना चाहते हैं, तब हमें भोक्ता बना लेते हैं।) वे ही हमारे सुन्दर भोक्ता हैं। श्यामसुन्दर ही कर्त्ता हैं और वे ही हमारे कर्म हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे तन-मन-धन सब कुछ हैं और केवल श्यामसुन्दर ही हमारे धर्म हैं। (हमारे समस्त धर्म एकमात्र श्यामसुन्दरमें ही आकर समा गये हैं।) श्यामसुन्दर ही हमारे सब त्याग हैं और वे ही हमारे समस्त भोग हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे श्वास-प्रश्वास—प्राण हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे अपने हैं और वे ही पराये हैं, सब कुछ वे ही हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे मनके सारे मनोरथ हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे सबसे अधिक सबसे श्रेष्ठ छिपे खजाने हैं और श्यामसुन्दर ही हमारे प्रकट वैभव हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे भूत, भविष्यत्, वर्त्तमानकी वाञ्छित विभूति (ऐश्वर्य) हैं। श्यामसुन्दर ही हमारा यह लोक और परलोक हैं और श्यामसुन्दर ही हमारे बन्धन हैं तथा वे ही हमारे मोक्ष हैं। श्यामसुन्दर ही हमारी अन्तिम और परम गति हैं एवं श्यामसुन्दर ही हमारे सच्चिदानन्दमय धाम हैं।

श्यामसुन्दरकी प्रीति, उनकी रुचि और उनका सुख ही हमारा एकमात्र सहज सुन्दर रूप है। श्यामसुन्दरके सुखके लिये हमलोगोंके द्वारा उनके मनके अनुकूल सभी कुछ होता रहता है। श्यामसुन्दर चाहे हमसे पूर्ण त्याग करावें या खूब इन्द्रिय-भोग करावें; श्यामसुन्दर हमें सब प्रकारसे स्वस्थ रक्खें या चाहें तो हमें कठिन कुरोग प्रदान कर दें। श्यामसुन्दर कहें तो मनमें अत्यन्त उत्साह भरकर प्राण त्याग दें अथवा श्यामसुन्दर कहें तो हम अमर रहें। उन प्रियतमकी चाह पूरी हो।

श्यामसुन्दर चाहे हमारा अपमान करावें अथवा सम्मान करें-करावें। बस, श्यामसुन्दर जिससे सुखी हों, केवल वही हमारा सच्चा मान है। श्यामसुन्दर सदा-सर्वदा हमसे मिले रहें, एक पलके लिये भी हमारा त्याग न करें, हममें आसक्त रहें, अथवा वे श्यामसुन्दर हमसे कभी भी न मिलें, अपने जीवनको वैराग्यसे भर लें। बस, श्यामसुन्दर जैसे सुखी हों, उसीमें हमें परम आनन्द है। श्यामसुन्दरके चित्तसे विपरीत हमारे मनमें कहीं भी किसी भी आनन्दको स्थान नहीं है। श्यामसुन्दरके सुखके लिये हमारे जीवनमें कभी यदि कोई त्याग होता हो तो उसका हमें कभी पता ही नहीं रहता, जो कुछ त्याग होता है,—वह श्यामसुन्दरके प्रेमसे अपने आप ही, बिना किसी भी कठिनाईके, सरलताके साथ, सुखमय तथा अभिमानरहित होता है। जब श्यामसुन्दरकी प्रीतिसे हृदय पूर्ण है, तब

करे ? जब श्यामसुन्दर हमारे जीवन ब किसपर कौन अहसान करे ? जब रूप फल सर्वथा प्राप्त है, तब फिर कौन-सा परम फल अवशेष रह गया ? जब श्यामसुन्दर-के लिये सब काम सहज ही होते हैं, तब त्यागका कौन-सा महत्त्व शेष बच रहा है ? श्यामसुन्दर हमारे सब कुछ हैं और हम सदा केवल श्यामसुन्दरके सुखकी साधन हैं। वे श्यामसुन्दर स्वयं ही हमारे द्वारा सदा-सर्वदा अपनी सुखाराधना करवाते रहते हैं।'

यह है गोपीका स्वरूप। यह भाव जहाँ जिसमें जितना प्रस्फुटित है, उसमें वहाँ उतना ही गोपीभाव-का विकास है।

मानस-सिद्ध-मन्त्र

['कल्याण' में कुछ वर्षों पहले 'मानस-सिद्ध-मन्त्र' नामक 'एक रामायणप्रेमी' सज्जनका लेख छपा था। उससे बहुत लोगोंने लाभ उठाया। बहुत दिनोंसे उसे पुनः छापनेके लिये पत्र आ रहे हैं। अतएव कुछ घटा-बढ़ाकर नीचे प्रकाशित किया जा रहा है। —सम्पादक]

मानस चौपाई सिद्ध मन्त्रका विधान यह है कि पहले रातको दस बजेके बाद अष्टाङ्ग हवनके द्वारा मन्त्र सिद्ध करना चाहिये। फिर जिस कार्यके लिये मन्त्र-जपकी आवश्यकता हो, उसके लिये नित्य जप करना चाहिये। काशीमें भगवान् शङ्करजीने मानसकी चौपाइयोंको मन्त्र-शक्ति प्रदान की है—इसलिये काशी-की ओर मुख करके उन्हें साक्षी बनाकर श्रद्धासे जप करना चाहिये।

रक्षा-रेखा

मन्त्र 'सिद्ध' करनेके लिये या किसी संकटपूर्ण जगहपर रात व्यतीत करनेके लिये अपने चारों ओर रक्षाकी रेखा खींच लेनी चाहिये। लक्ष्मणजीने सीताजी-की कुटीके आस-पास जो रक्षा-रेखा खींची थी, उसी लक्ष्यपर यह रक्षामन्त्र बनाया गया है। इसे एक सौ आठ आहुतिद्वारा सिद्ध कर लेना चाहिये—

मामभिरक्षय रघुकुलनायक।
धृत बर चाप रुचिर कर सायक॥

विविध मन्त्र

(१) विपत्ति-नाशके लिये

राजिव नयन धरें धनु सायक।
भगत बिपति भंजन सुखदायक॥

(२) संकट-नाशके लिये

जौं प्रभु दीन दयालु कहावा।
आरति हरन बेद जसु गावा॥
जपहिं नामु जन आरत भारी।
मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥
दीन दयाल बिरिदु संभारी।
हरहु नाथ मम संकट भारी॥

(३) कठिन क्लेश-नाशके लिये

हरन कठिन कलि कलुष कलेसू।
महामोह निसि दलन दिनेसू॥

(४) विघ्न-विनाशके लिये

सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही।
राम सुकृपाँ बिलोकहिं जेही॥

(५) खेद-नाशके लिये

जब तें रामु ब्याहि घर आए।
नित नव मंगल मोद बधाए॥

(६) महामारी, हैजा और मरीका प्रभाव न पड़े इसके लिये

जय रघुबंस बनज बन भानू।
गहन दनुज कुल दहन कृसानू॥

(७) विविध रोगों तथा उपद्रवोंकी शान्तिके लिये

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

(८) मस्तिष्ककी पीड़ा दूर करनेके लिये

हनूमान अंगद रन गाजे।
हाँक सुनत रजनीचर भाजे॥

(९) विष-नाशके लिये

नाम प्रभाउ जान सिव नीको।
कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥

(१०) अकाल-मृत्यु-निवारणके लिये

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

(११) भूतको भगानेके लिये

प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन।
जासु हृदयँ आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

(१२) नजर झाड़नेके लिये

स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी।
निरखहिं छबि जननीं तृन तोरी॥

(१३) खोयी हुई वस्तु पुनः प्राप्त करनेके लिये

गई बहोर गरीब नेवाजू।
सरल सबल साहिब रघुराजू॥

(१४) जीविका-प्राप्तिके लिये

बिस्व भरन पोषन कर जोई।
ताकर नाम भरत अस होई॥

(१५) दरिद्रता दूर करनेके लिये

अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के।
कामद घन दारिद दवारि के॥

(१६) लक्ष्मी-प्राप्तिके लिये

जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं।
जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाएँ।
धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ॥

(१७) पुत्र-प्राप्तिके लिये

प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।
सुख सनेह बस माता बालचरित कर गान॥

(१८) सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिये

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं।
सुख संपति नाना बिधि पावहिं॥

(१९) ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करनेके लिये

साधक नाम जपहिं लय लाएँ।
होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥

(२०) सब सुख-प्राप्तिके लिये

सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई।
लहहिं भगति गति संपति नई॥

(२१) मनोरथ-सिद्धिके लिये

भव भेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥

(२२) कुशल-क्षेमके लिये

भुवन चारिदस भरा उछाहू।
जनकसुता रघुबीर बिआहू॥

(२३) मुकदमा जीतनेके लिये

पवन तनय बल पवन समाना।
बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥

(२४) शत्रुके सामने जाना हो उस समयके लिये

कर सारंग साजि कटि भाथा।
अरि दल दलन चले रघुनाथा॥

(२५) शत्रुको मित्र बनानेके लिये

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई।
गोपद सिंधु अनल सितलाई॥

(२६) शत्रुता-नाशके लिये

बयरु न कर काहू सन कोई।
राम प्रताप बिषमता खोई॥

(२७) शास्त्रार्थमें विजय पानेके लिये

तेहिं अवसर सुनि सिव धनु भंगा।
आयउ भृगुकुल कमल पतंगा॥

(२८) विवाहके लिये

तब जनक पाइ बसिष्ठ आयसु ब्याह साज सँवारि कै।
मांडवी श्रुतकीरति उरमिला कुँअरि लईं हँकारि कै॥

(२९) यात्राकी सफलताके लिये

प्रबिसि नगर कीजै सब काजा।
हृदयँ राखि कोसलपुर राजा॥

(३०) परीक्षामें पास होनेके लिये

जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी।
कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥
मोरि सुधारिहि सो सब भाँती।
जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती॥

(३१) आकर्षणके लिये

जेहिं के जेहि पर सत्य सनेहू।
सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥

(३२) स्नानसे पुण्य-लाभके लिये

सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु साधु समाज प्रयाग॥

(३३) निन्द्राकी निवृत्तिके लिये

राम कृपाँ अवरेब सुधारी।
बिबुध धारि भइ गुनद गोहारी॥

(३४) विद्या-प्राप्तिके लिये

गुरु गृहँ गए पढ़न रघुराई।
अलप काल बिद्या सब आई॥

(३५) उत्सव होनेके लिये

सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन राम जसु॥

(३६) यज्ञोपवीत धारण करके उसे सुरक्षित रखनेके लिये—

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग॥

(३७) प्रेम बढ़ानेके लिये—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

(३८) कातरकी रक्षाके लिये—

मोरें हित हरि सम नहिं कोऊ।
एहि अवसर सहाय सोइ होऊ॥

(३९) भगवत्स्मरण करते हुए आरामसे मरनेके लिये—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ तें गिरत न जानइ नाग॥

(४०) विचार शुद्ध करनेके लिये—

ताके जुग पद कमल मनावउँ।
जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ॥

(४१) संशय-निवृत्तिके लिये—

राम कथा सुंदर करतारी।
संसय बिहग उड़ावनिहारी॥

(४२) ईश्वरसे अपराध क्षमा करानेके लिये—

अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता।
छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता॥

(४३) विरक्तिके लिये—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद प्रेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

(४४) ज्ञान-प्राप्तिके लिये—

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥

(४५) भक्तिकी प्राप्तिके लिये—

भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥

(४६) श्रीहनुमान्‌जीको प्रसन्न करनेके लिये

सुमिरि पवनसुत पावन नामू।
अपने बस करि राखे रामू॥

(४७) मोक्ष-प्राप्तिके लिये

सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा।
काल सर्प जनु चले सपच्छा॥

(४८) श्रीसीतारामजीके दर्शनके लिये

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥

(४९) श्रीजानकीजीके दर्शनके लिये

जनकसुता जगजननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥

(५०) श्रीरामचन्द्रजीको वशमें करनेके लिये

केहरि कटि पट पीतधर सुषमा सील निधान।
देखि भानुकुल भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥

(५१) सहज स्वरूप-दर्शनके लिये

भगत बछल प्रभु कृपा निधाना।
बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥

अष्टाङ्ग हवनकी सामग्री

(१) चन्दनका बुरादा, (२) तिल, (३) शुद्ध घी, (४) शुद्ध चीनी, (५) अगर, (६) तगर,

(७) कपूर, (८) शुद्ध केसर, (९) नागरमोथा, (१०) पञ्चमेवा, (११) जौ और (१२) चावल ।

जाननेकी बातें

जिस उद्देश्यके लिये जो चौपाई, दोहा या सोरठा जप करना बताया गया है, उसको सिद्ध करनेके लिये एक दिन अष्टाङ्ग हवनकी सामग्रीसे उस चौपाई, दोहे या सोरठेके द्वारा १०८ बार हवन करना चाहिये । यह हवन केवल एक ही दिन करना है । इसके लिये कोई अलग कुण्ड बनानेकी आवश्यकता नहीं है । मामूली मिट्टीकी वेदी बनाकर उसपर अग्नि रखकर उसमें आहुति दे देनी चाहिये । प्रत्येक आहुतिमें चौपाई आदिके अन्तमें 'स्वाहा' बोल देना चाहिये । यह हवन रातको १० बजे बाद ही करना होगा ।

प्रत्येक आहुति लगभग पौन तोलेकी (सब चीजें मिलाकर) होनी चाहिये । इस हिसाबसे १०८ आहुतिके लिये एक सेर (८० तोले) सामग्री आठों चीजें मिलाकर बना देनी चाहिये । कोई चीज कम-ज्यादा भी हो तो आपत्ति नहीं । पञ्चमेवामें पिस्ता, बादाम, किसमिस (द्राक्ष), अखरोट और काँजू ले सकते हैं । इनमेंसे कोई चीज न मिले तो उसके बदलेमें नौजा या मिश्री मिला सकते हैं । केसर शुद्ध चार आने भर ही डालनेसे काम चल जायगा । अधिककी आवश्यकता नहीं है ।

हवन करते समय माला रखनेकी आवश्यकता एक सौ आठकी संख्या गिननेभरके लिये है । इसलिये दाहिने हाथसे आहुति देकर फिर दाहिने हाथसे ही मालाका एक मनका सरका देना चाहिये । फिर माला या तो बायें हाथमें ले लेनी चाहिये या आसनपर रख देनी चाहिये । फिर आहुति देनेके बाद उसे दाहिने हाथमें लेकर मनका सरका देना चाहिये । माला रखनेमें असुविधा हो तो गेहूँ, जौ या चावल आदिके १०८ दाने रखकर उनसे गिनती की जा सकती है । बैठनेके लिये आसन ऊनका अथवा कुशका होना चाहिये । सूती कपड़ेका हो तो वह धोया हुआ पवित्र होना चाहिये ।

मन्त्र सिद्ध करनेके लिये यदि लङ्काकाण्डकी चौपाई या दोहा हो तो उसे शनिवारको हवन करके करना चाहिये । दूसरे काण्डोंके चौपाई-दोहे किसी भी दिन हवन करके सिद्ध किये जा सकते हैं । रक्षा-रेखाकी चौपाई एक बार बोलकर जहाँ बैठे हों, वहाँ अपने आसनके चारों ओर चौकोर रेखा खींच लेनी चाहिये । इस चौपाईको भी ऊपर लिखे अनुसार एक सौ आठ आहुति देकर सिद्ध कर लेना चाहिये । पर रक्षारेखा न भी खींची जाय तो भी आपत्ति नहीं है ।

एक दिन हवन करनेसे मन्त्र सिद्ध हो गया । इसके बाद जबतक कार्य सफल न हो, तबतक उस मन्त्र (चौपाई, दोहे) आदिका प्रतिदिन कम-से-कम एक सौ आठ बार प्रातःकाल या रात्रिको जब सुविधा हो, जप करते रहना चाहिये, अधिक कर सके तो अधिक उत्तम । कोई चाहें तो नियमके जपके सिवा दिनभर चलते-फिरते भी उस चौपाई या दोहेका जप कर सकते हैं । जितना अधिक हो उतना ही उत्तम है ।

कोई दो कार्योंके लिये दो चौपाइयोंका अनुष्ठान एक साथ करना चाहें तो कर सकते हैं । पर दोनों चौपाइयोंको पहले दो दिनोंमें अलग-अलग हवन करके सिद्ध कर लेना चाहिये ।

स्त्रियाँ भी इस अनुष्ठानको कर सकती हैं, परंतु रजस्वला होनेकी स्थितिमें जप बंद रखना चाहिये । हवन भी रजस्वला अवस्थामें नहीं करना चाहिये ।

जप करते समय मनमें यह विश्वास अवश्य रखना चाहिये कि भगवान् श्रीसीतारामजीकी अहैतुकी कृपासे मेरा कार्य अवश्य सफल होगा । विश्वासपूर्वक जप करनेपर सफल होनेकी पूरी आशा है ।

श्रीगोविन्द स्वामी—एक अध्ययन

(लेखक—आचार्य श्रीपीताम्बररावजी तैलङ्ग)

जन्म और वंशपरिचय

व्रजवासी कविके अनुसार आपका जन्म संवत् १५७७ चैत्र शुक्ल नवमीको हुआ। आपके पिताश्रीका नाम पं० द्वारिकानाथ और माताका श्रीकालिन्दीदेवी था। यथा—

जनमें नाथ द्वारिका घरमें ॥
गोविंद स्वामि मातु कालिंदी, आनँद धाम सुघर में।
संवत पंद्रह सौ सत्तर पुनि, सात, मास-मधुवर में॥
नौमी तिथि, पछ सुकुल, सुवासर, जोग करन सुभ कर में।
व्रजवासी कवि प्रगट भए हैं, नाथ सखा रसवर में॥

अध्ययन

—इन्होंने अपने एक पदमें स्वयं यह बताया है कि इनके विद्यागुरु पिता श्रीद्वारिकानाथजी ही थे। जिन्होंने इनको हिंदी, संस्कृत, संगीत तथा वाद्यके साथ वेदविद्या भी पढ़ायी।

आपका शिक्षण सायं-प्रातः ग्रामनिवासी समवयस्क बालकोंके साथ होता था। भारतकी प्राचीन पद्धतिके अनुसार आपके पिताश्री अपने घरमें ही सर्वसाधारण विद्यार्थियोंको नित्य विद्या-दान किया करते थे और उसके फलस्वरूप उनको जो जनसेवा प्राप्त होती थी, उसीसे वे अपने कुटुम्बका भरण-पोषण करते थे। यथा—

लागे फेर मोय पढ़ाइ।
साँझ-प्रात सिखान लागे, पिता श्री समुझाइ॥
संग बालक गाँव के लै, ज्ञान दीनौ भाइ।
भेद भाषा वेद विद्या, गान-वाद्य सुझाइ॥
कर दियौ गुनरूप आगर, चतुर नागर जाइ।
'दास गोविंद' दया करिकें, कर दियौ सत भाइ॥

शरणागति

अध्ययनके साथ संगीत और वाद्यकी ओर उत्कट अभिरुचि होनेके कारण आपका मानसिक झुकाव काव्यकलाकी ओर हो गया और उसके फलस्वरूप आप नित्यप्रति नवीन छन्दोंकी रचना करने लगे। साथ ही उन्हें स्वयं गाने भी लगे। इनके गायनको लोग अधिक पसंद करते थे; क्योंकि भाषा-भाव और संगीत-शैलीके अनूठेपनके अतिरिक्त आपके कण्ठमें जो स्वरमाधुर्य था, उससे जनसाधारण अधिक प्रभावित होता था और यही कारण है कि सुननेवालोंमेंसे अधिकांश लोगोंने आपके बनाये हुए गीतोंको कण्ठस्थ कर लिया था तथा वे आपके गानेके ढंगका अनुकरण भी करने लगे थे।

इनमेंसे कुछ लोग एक समय गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके पास आये और उन्होंने वे गीत आपको गाकर सुनाये। उन्हें सुनकर गोस्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उन गानेवालोंसे कहा कि यह तो बताओ कि ये गीत, जिन्हें तुमने अभी गाया है, किनके बनाये हुए हैं और वे कहाँ रहते हैं। इसके अतिरिक्त सम्भव हो तो, तुममेंसे कतिपय वैष्णव यहाँसे अभी चले जायँ और उन्हें मेरी ओरसे आग्रह करके अपने साथ ही यहाँ लिवा लायें।

गोस्वामीजीका यह आदेश पाते ही लोगोंने सर्वप्रथम गोविन्दस्वामीका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया और फिर उनमेंसे कुछ वैष्णव, जिनमें व्रजदासजी प्रमुख थे, वहाँसे चलकर गोविन्दस्वामीके पास आये और फिर गोस्वामीजीकी इच्छा तथा आग्रह प्रकट करते हुए उनसे अपने साथ चलनेका अनुरोध करने लगे।

उन दिनों गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके विश्वधर्म तथा योग-वैभवकी चर्चा भारतव्यापिनी हो चुकी थी और उससे प्रभावित होकर तत्कालीन भारतके अनेक प्रान्तीय शासक और स्वयं भारतसम्राट् अकबरके अतिरिक्त समस्त सुशिक्षित भारतीय नागरिक भी आपश्रीका चरण-शरणाश्रय प्राप्त करनेको लालायित होने लगे थे। इस बातकी सूचना गोविन्दस्वामीको भी मिल चुकी थी।

अतएव उन्होंने वैष्णव श्रीव्रजदासजीका अनुरोध स्वीकार कर लिया और वे उनके साथ गोस्वामीजीकी सेवामें जा पहुँचे। यथा—

विट्ठलनाथ गुसाँइ सुनैं, कछु गीत, कह्यौ, यह कौन बनाये।
हैं, वे कहाँ, उन्हें जाय कें ल्याव, औ गोकुल माह, बसाओ सुहाये॥
दौरे, तबै व्रजदास सुवैष्णव, जाइ मिले, बन माह सुभाये॥
फेर कही अभिलाष गुसाईं की, और लिवाइ कें, आये लुभाये॥

गोविन्ददासजीने गोस्वामीजीकी सेवामें पहुँचकर सर्वप्रथम उनका पाद-प्रक्षालन किया और फिर चरणोदक लेकर वे पुनीत गीत गाने लगे। साथ ही उन गीतोंका भाव स्पष्ट करने लगे। जिन्हें सुनकर गोस्वामीजीको हार्दिक प्रसन्नता हुई और उसके

फलस्वरूप उन्होंने आपको श्रीजीकी सेवामें रख लिया । इसके उपरान्त गोविन्द स्वामीजीने आपश्रीसे दीक्षा ग्रहण की ।

यथा—

आइकें गोविंद स्वामि गुसाँई के, पाद पखार कें, अमृत लीने ।
फेर सुगाइकें गीत पुनीत, रिझाये गुसाँइ, गुरू पुनि कीने ॥
सेवामें राखि लियौ उन गोविंद, नाथ सनाथ कियौ, रस भीने ।
गाइकें गोविंद, भाव बताइकें, हाव जताइ कें, आनँद दीने ॥

इस घटनापर गोविन्द स्वामीजीने स्वयं ही अपने एक पदमें कहा है कि व्रजदास वैष्णवके द्वारा मुझे यह तथ्य परिज्ञात हुआ कि वर्तमान भारतमें गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी ही एक ऐसे समर्थ आचार्य हैं, जिन्हें भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य-लीलाओंका साक्षात्कार होता है । किंतु इतनेपर भी मुझे पूर्ण विश्वास न हुआ । अतएव मैं स्वयं श्रीमान् गोस्वामीजीकी सेवामें पहुँचा और अन्तमें उन्हें उसी रूपमें पाया, जैसा कि उनके सम्बन्धमें मैंने लोगोंसे सुना था । यथा—

विट्ठल करि राखे वस ठाकुर ।
यह सुन मैं वैष्णव सू, देखे जाइ अनौखे नागर ॥
व्रज-लीला-रसरंग-रँगे औं, प्रेमी पंथ-उजागर ।
वल्लभ-कुल-नवकमल-दिवाकर, अकर-भक्ति-सुखाकर ॥
विनके सुभ आसीरवाद सूँ, पायौ ज्ञान-गुनाकर ।
विनकी जय होवै नित नूतन, जगभूषन-रससागर ॥
'गोविंद' प्रभुके सरवस नवरस, दायक-संत-सुखाकर ।

आत्मनिवेदन

एक दिन गोविन्द स्वामीने अपने गुरुदेव गो० श्री० विट्ठलनाथजीसे अपनी मानसिक स्थितिको स्पष्ट करते हुए प्रार्थना की कि 'मेरा मन आराधना-मार्गसे हटकर प्रायः यत्र-तत्र सर्वत्र भ्रमण किया करता है । साथ ही संध्या-भजन-पूजा-पाठ आदि कार्य करते समय जब रसोत्पत्ति होने लगती है, तब यह उस रसमें विष-जैसा कोई पदार्थ घोलने लगता है । इसी प्रकार जब कभी कोई संत-समागम किंवा भगवदीय जनोंकी सेवाका पुण्य क्षण प्राप्त होता है, तब यह उस स्थलसे ही भागने लगता है और जहाँ विषयीजनोंका दर्शन होता है, वहाँ जाकर उनसे हँसने लगता है, बोलने लगता है अथवा हँस-हँसकर मिलने लगता है । इसके अतिरिक्त कभी-कभी यह आवश्यकतासे अधिक रूपमें रस-लम्पट होकर काम-भावनासे बँध जाता है । अतएव आप कृपाकर इसे ऐसे बन्धनमें बाँध दीजिये, जिससे यह वहाँसे जा ही न सके ।'

इतना कहकर उन्होंने यह भी प्रार्थना की कि 'महाराज ! कृपाकर आप इसे अपना बिना मोलका दास भी बना लीजिये; क्योंकि यह मेरी बनी बिगाड़ रहा है । यथा—

नाथ ! मन मेरौ इत उत डोलै ।
साधन-भजन-पाठ-पूजाके रसमें विष सौ घोलै ॥
साधुसंग हरिजन-सेवा सूँ, उचट विषयि हँस बोलै ।
कबहूँ रस-लम्पट है कामी, कामिन-संग कलोलै ॥
यातें याहि बाँध लौ अब तौ, करौ दास बिनमोलै ।
नातर प्रभु गोविंदके स्वामी, बात बिगारत डोलै ॥

गुरु-कृपा

निम्नाङ्कित पदसे यह प्रमाणित होता है कि आपकी प्रस्तुत प्रार्थनापर ध्यान देकर श्रीविट्ठलनाथजीने इनपर अपनी असीम अनुकम्पा प्रदर्शित करनेके लिये इनके चञ्चल मनको अपने यौगिक-प्रभावसे यशोदोत्सङ्गलालित-आनन्दकन्द श्रीकृष्णचंद्रका साथी बना दिया और इसके साथ ही इन्हें सखाभावका मर्म भी समझा दिया । इसका परिणाम यह हुआ कि इनके हृदयमें अबतक जो आराधना-विरोधिनी स्थिति उत्पन्न हो जाया करती थी, उसका सर्वथा अभाव हो गया और उसके साथ ही इन्हें एक अद्भुत एवं अनिर्वचनीय आनन्दकी अनुभूति भी होने लगी । यथा—

विनती सुन लीनी गुरुवरने ॥
नाथ-साथ कर दीनों मनकूँ, जनकूँ सेवा करने ।
राख लियौ घरमेंई दैकें, खातिर विट्ठल वरने ॥
सखा भावकी रीति सिखाई, प्रीति लगाई हरिने ।
गोविंद प्रभु सब आनँद है गयौ, दया करी गिरिधर ने ॥

दिव्य सत्संग

इसके बाद गोविन्द स्वामीके जीवनमें एक अभिनव अध्याय आरम्भ हुआ और उसके फलस्वरूप उन्हें आनन्द-कन्द श्रीकृष्णचन्द्रके साथ अनेक दिव्य गोप-ग्वालोंके दर्शन भी होने लगे और उनके साथ विविध खेल खेलनेका सौभाग्य भी प्राप्त होने लगा । इसका साक्षी निम्नाङ्कित पद है; क्योंकि इसके अनुसार श्रीनाथजी और गोविन्द स्वामी प्रायः नित्य ही सायं-प्रातः प्राकृतिक बालकोंकी तरह एक साथ घूमने निकलते थे और प्राणोल्लासकारी समीरका सेवन करते हुए कई प्रसिद्ध भारतीय खेल भी खेला करते थे । उनमेंसे एक विशिष्ट खेलकी रीतिके अनुसार कभी-कभी गोविन्दस्वामी घोड़ा बनते और उनकी पीठपर उनके सखा सप्तवर्षीय श्रीकृष्ण सवार होकर यत्र-तत्र भ्रमण करते । इसी तरह कभी-कभी श्रीनाथजी घोड़ा बनते और उनकी

पीठपर गोविन्दस्वामी सवार होते और इस रीतिसे उक्त खेलकी परिपाटी पूरी किया करते थे। यथा—

(१)

नाथ गुविंद कलिंदके तीर, खिलें बहु बालक संग सदाई।
कभूँ बन अश्व गुविंद चलें, पुनि जाय चढ़ें, हँस नाथ लुभाई॥
नाथ कभूँ बन जाँय तुरंग, चढ़ै पुनि गोविंद प्रेम जनाई।
ऐसोई खेल करें सब मेल, रहें अनमोल सुमोद बढ़ाई॥

(२)

गुरु स्वामि गुविंद कलिंदके तीर, लखे यदुवीरके संग सलोने।
खेलत खात कछू बतरात, हँसावन जात, सुराग सों भीने॥
वा छवि देख भयौ मन प्रेम प्रमत्त गई सुधि, नेह नवीने।
ता दिन सौं गुरु देख परे, जग माह, सुनेम सौं प्रेम सने॥

गुरुद्वारा प्रशंसा

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी प्रायः नित्य ही यह देखा करते थे कि गोविन्द स्वामी श्रीनाथजीके साथ खेलने चले जाते हैं और यही कारण है कि उनके दैनिक कार्यक्रम कुछ अस्त-व्यस्तसे हो गये हैं। जैसे वे राजभोगके प्रथम ही महाप्रसाद ले लेते हैं। मार्ग चलते-चलते पेशाब करने लगते हैं। इसके साथ ही मन्दिरमें प्रभुदर्शनके निश्चित समयोंपर प्रायः अनुपस्थित रहते हैं।

एक समय गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीने देखा कि गोविन्दस्वामी अचानक राजभोगके समय स्वतः आ गये हैं और स्वस्थ हैं। उस समय गोस्वामीजीने गोविन्द स्वामीसे कुछ गीत सुनानेका आग्रह किया। तब गोविन्दस्वामीने गोस्वामीजीको ऐसे मधुर गीत सुनाये, जिनमें व्रजकी दिव्य-लीलाओंका वर्णन था। उनको सुनकर गोस्वामीजीको हार्दिक प्रसन्नता हुई और उन्होंने उस समय वहाँ बैठे हुए वैष्णव-समूहसे कहा कि 'देखो, गोविन्दस्वामीके पदोंमें जिस ढंगसे व्रजलीलाओंका चित्रण किया गया है, वह बिलकुल अनूठा है और उसमें प्रतिपादित रस-विशेषको साकार करनेकी रीति तो इनका अपना वैशिष्ट्य है।

'इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि इनके इन छन्दोंमें साहित्यिक सौष्ठव भी है। अतएव जब ये अपने सुन्दर छंन्दोंको अपने कोकिल-जैसे कण्ठसे गाते हैं और उनके भावोंको स्पष्ट करते हुए उनमें डूब जाते हैं, उस समय इनका 'प्रभु-प्रेम' देखते ही बनता है।'

इतना कहकर गोस्वामीजी थोड़े समयके लिये चुप हो गये और फिर कहने लगे कि 'गोविन्दस्वामीकी प्रस्तुत अपूर्व स्थितिको देखते हुए मैं तो यही कहूँगा कि वर्तमान भारतवर्षमें मैंने अनेक प्रभावशाली भक्तोंको देखा और अनेक भक्तोंके पवित्र चरित्रोंकी बहुत-सी बातें सुनीं, किंतु उनमें गोविन्दस्वामी-जैसा अनन्य भक्त न तो देखनेको ही मिला और न सुननेको ही।'

यहाँ यह कह देना सर्वथा संगत होगा कि ये जैसे भक्त हैं, वैसे ही गायक तथा वादक भी हैं। इसके अतिरिक्त ये अनोखे जन-नायक भी हैं।

यही कारण है कि ये विश्व-कल्याणका संकल्प लेकर भारतीय जन-प्राङ्गणमें अवतरित हुए हैं।

अब इस घटनाको एक अज्ञातनामा कविके शब्दोंमें सुनिये:—

(१)

काऊ समै सुन गीत पुनीत, गुसाँई कह्यौ, रस रीति अनौखी।
गविंदके गुन कंठमें आइ, बसे, नव भाव सौं, साहित सौखी॥
ऐसौ सुनौ नहिं देखौ कहूँ, कवि संत सुगायक नायक नौखी।
जाकौ लियेई सदा ही रहैं, श्रीनाथ सनाथ करें, पुनि पौखी॥

इसी प्रकार एक दिन पुनः गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी वैष्णव-समाजमें बैठे हुए थे। उसी समय गोविन्दस्वामी न जाने कहाँसे वहाँ आ गये और प्रणाम कर चुपचाप बैठ गये। इन्हें देखते ही गोस्वामीजीने इनसे कहा कि 'गोविन्द, मैंने तुमको सखाभाव-साधनकी रीति सिखायी थी और उसके अनुसार तुम सखाभावसे श्रीनाथजीकी सेवा किया करते हो। अतएव तुम यह बताओ कि तुमने कभी श्रीकृष्णचन्द्र आनन्द-कन्दको गाते सुना है, वेणु बजाते देखा है। इसके अतिरिक्त तुम यह भी बताओ कि तुमने कभी श्रीराधा और श्रीकृष्णकी नित्य-विहार-यात्राका दर्शन किया है और कभी उन दोनों-को नृत्य करते भी देखा है?'

इतना सुनकर गोविन्दस्वामीने अपने परमगुरु श्रीगो-स्वामीजीके समक्ष यह स्वीकृत किया कि 'हाँ, महाराज, मैंने आपश्रीके अनुग्रहसे प्रभुकी रास-लीलाका पवित्र दर्शन किया है। और यह भी देखता हूँ कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र श्रीराधाजीके साथ नित्य विहार-यात्रा किया करते हैं और उनका यह सनातन क्रम अद्यावधि चल रहा है। फिर भी यदि इस विषयमें आपश्रीको कुछ संदेह हो, तो आप मेरे साथ पधारिये। मैं और आप दूर बैठकर लीलादर्शन करेंगे।'

इतना कहकर गोविन्दस्वामी चुप हो गये और

पुनः कुछ सोचकर गोस्वामीजीसे कहने लगे कि 'सुनिये, महाराज! जब रास-लीलाका समय प्रस्तुत होता है, तब सर्व-प्रथम श्रीकृष्णचन्द्र श्रीराधाजीको लीला-नेतृत्व करनेका अनुरोध करते हैं। उस समय श्रीराधाजी संगीतका प्रारम्भ कर देती हैं और उनका अनुकरण भगवान् स्वयं करने लगते हैं। आपके इस कार्यसे श्रीराधाका उत्साह द्विगुणित हो जाता है और फिर वे रास-लीलाका रंगमंच विधिवत् प्रस्तुत करनेमें संलग्न हो जाती हैं; क्योंकि उन्हें तबतक असीम उत्साह एवं प्रबल प्रसन्नताकी प्रेममयी प्रसरणशील तरंगका अद्भुत प्रभाव रास-लीला-सदस्योंपर स्पष्ट परिलक्षित होने लगता है।

'तदुपरान्त श्रीराधाजी लीला-सदस्योंको लीला-कार्यक्रम समझाकर श्रीकृष्णजीके पास आ जाती हैं। और फिर उनसे कहती हैं कि अब रासलीला प्रारम्भ की जाय। आपके आग्रह-पर श्रीकृष्णचन्द्रजी गायन प्रारम्भ कर देते हैं और उनका अनुसरण श्रीराधाजी करती हैं। तदुपरान्त श्रीराधाजीके आदेशानुसार अन्य समस्त रास-लीलासदस्य विधिवत् दो-दोमें बट जाते हैं और उन सबका सामूहिक गायन चालू हो जाता है।

'उस समय उपस्थित समूह यह देखकर आश्चर्यचकित होता है कि प्रत्येकके साथ श्रीकृष्ण उपस्थित हैं तथा गायन कर रहे हैं। इस तरह कुछ समय गायन होनेके बाद नृत्य-क्रम आरम्भ हो जाता है और वैशिष्ट्य यह है कि नित्य अभिनव नृत्य-शैली सजायी जाती है।'

आइये, इस घटनाको व्रजवासी कविके शब्दोंमें सुनायें—

स्वामिन सँग स्वामीजू गावै।
  नित बिहार कौं जावैं॥
जमुना तट पै बंसी बट पै,
  मोहन बेनु बजावैं।
स्वामिन जू आलाप करैं तब,
  स्वामी तान लगावैं॥
दोनों मिलि गावैं, हिय हुलसावैं,
  औ तब नृत्य सजावैं।
नचैं नचावैं रास रचावैं,
  प्रेम रूप दिखरावैं॥
मैं यह देखत रहत नित्य ही,
  बैठो दूर दिखाऊ।
चलो आज गुरु जू मेरे सँग,
  ब्रज लीला दरसाऊ॥
यह सुन वचन स्वामि गोविंद के,
  विट्ठलनाथ गुसाँई।
हँसन लगे औ करन प्रसंसा
  'ब्रजवासी कवि' गाई॥

एक समय गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी श्रीनाथजीके मन्दिर-में गये और दर्शन करने लगे। ज्यों ही उनकी दृष्टि प्रभुके दामनपर पड़ी, त्यों ही उन्होंने देखा कि दामन तो फटा हुआ है। तब उनको विशेष आश्चर्य हुआ और वे सोचने लगे कि यह सब कैसे हुआ, किसने किया। इस तरह थोड़ी देर-तक ऊहापोह करनेके उपरान्त जब उनकी समझमें कुछ न आया, तब वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये; क्योंकि उनका मन कुछ भी स्थिर नहीं कर पाता था। अतएव वे गर्भ-मन्दिरसे बाहर आये और 'पौरिया' संज्ञक द्वार-सेवकसे पूछने लगे कि 'अभी जबसे तुम यहाँ हो, क्या कोई मन्दिरके अंदर गया था और उसने श्रीजीका दामन फाड़ा है?' यह सुन पौरियाने कहा कि 'महाराज, जबसे मैं यहाँ आया हूँ, तबसे मन्दिरके अंदर कोई नहीं गया और न किसीने प्रभुका दामन ही फाड़ा है।'

इसके बाद गोस्वामीजी कुछ विचार करते हुए अपने 'बैठक' में चले गये। उसी समय गोविन्द स्वामी भी कहींसे आ पहुँचे। दोनोंका आमना-सामना हुआ। गोविन्दस्वामीने आज ज्यों ही अपने गुरुदेवको अनमना देखा, त्यों ही उन्होंने प्रार्थना की कि 'महाराज! आज आपका मन उदास क्यों है? आप अन्यमनस्क-से कैसे हैं?'

इसपर गोस्वामीजीने कहा कि 'अभी-अभी मैं श्रीजीके दर्शनार्थ मन्दिरमें गया था। वहाँ जब मैंने श्रीहरिका फटा हुआ दामन देखा, तब मैं आश्चर्यचकित हो गया। मेरी समझमें कुछ भी न आया। मैंने तपास किया एवं पौरियासे भी पूछा, किंतु संतोषजनक उत्तर न पा सका।'

यह सुनकर गोविन्दस्वामीने कहा कि 'गुरुदेव आप-श्रीके परम लाड़िले श्रीनाथजी महाराज आज 'वनराज'में खेलने पधारे थे। वहाँ खेलते समय इनका दामन एक ढाकवृक्षमें उलझकर फट गया। इसीलिये आपको फटे दामनके दर्शन हुए हैं। मेरे इस कथनपर यदि आपको विश्वास न हो तो आप मेरे साथ चलें। मैं आपको वह स्थल दिखा दूँगा, जहाँ दामन उलझकर फट गया था।''

इतना सुनते ही प्रस्तुत घटनाकी सत्यताकी जाँच करनेके लिये गोस्वामीजी गोविन्दस्वामीके साथ वनराजकी ओर चल दिये और वहाँ पहुँचे जहाँ ढाकवृक्षमें उलझा हुआ दामन-का फटा हिस्सा पड़ा था। उसे देखकर गोस्वामीजीको गोविन्दस्वामीपर दृढ़ विश्वास हो गया और वे फिर प्रभु-लीलाका स्मरण करते हुए वापस आ गये। यथा—

दामन फट्यौ क्यों है आज।
यों कहत बौराइगे हैं नाथ विट्ठल राज॥
बहुत सोच विचार करिकैं, आये बाहिर काज।
कहन लागे पौंरिया सौं, कौन आयौ आज॥
कौन ने फारयौ सुदामन, कौन फिरयौ भाज।
फेर आकें जम गये वे, बैठका मैं गाज॥
वाइ बिरियाँ आ गये वे, दास गोविंद साज।
अनमनेसे गुरू लखिकैं, लगे पूँछन काज॥
तबै श्रीजू नाथ विट्ठल ने कह्यौ वह राज।
फट गयौ रे है सुदामन, नाथ कौ क्रिहि काज॥
तब हसे गोविंद दास औ पुनि कहन लागे गाज।
नाथ श्रीजू खेलिवे कौं, गये ते वनराज॥
फारि लाये हैं सुदामन, खेल मैं महराज।
हैं बड़े चंचल तुम्हारे, नाम के व्रजराज॥
चलौ अबहूँ दिखाय लाऊँ, फटौ दामन ढाक।
फेर वे दोनों चले औ, देखिबे कौ ढाक॥
ढाक ऊपर फटौ दामन, देखिकैं हैरान।
हो गये 'व्रजबासि' कविजू, करन लागे गान॥

विश्वधर्म

यह पुष्टिमार्ग विश्वधर्म है तथापि इस मार्गमें सम्मिलित होनेवालेके लिये सत्यवक्ता, सत्याचरण, तथा सत्याग्रही होनेकी शर्त रक्खी गयी है और यह भी कहा गया है कि इसके प्रत्येक सदस्यका यह परम कर्तव्य होगा कि वह संसारकी प्रत्येक वस्तुको प्रभुमय देखे और संसारके प्रत्येक जीवको अपना बन्धु-सखा अथवा स्वामी आदि यथारुचि मानकर उसके साथ आत्मीयताका व्यवहार करे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' माने। गोविन्दस्वामीके मतानुसार ऐसा करनेसे ही संसारसे दुःखोंकी समाप्ति हो सकती है और सबको नित्य-सुखकी सम्प्राप्ति हो सकती है। यथा—

जगमें पुष्टिमार्ग सुखकारी।
जता दियौ विट्ठलने दाया, करिकें सब सुखकारी।
जाति भेद नहिं, देस भेद नहिं, जामें बाधाकारी॥
स्त्री-पुरुष, नीच ऊँचेकूँ, इक अधिकार समानौ।
साँचौ भाव चाहिये सबमें, येही मतौ सुहानौ॥
जगकूँ बंधु सखा स्वामी करि, मानौ प्रभु-प्रमानौ।
'गोविंद' प्रभु तब दुक्ख मिटैंगो सुक्ख बढ़ैगौ जानौ॥

सम्पूर्ण-परिचय

व्रजवासी कविने गोविन्द स्वामीका सम्पूर्ण परिचय करानेके लिये दो पद लिखे हैं, जिन्हें मैं नीचे उद्धृत करता हूँ। इनसे यह प्रमाणित होता है कि गोविन्द स्वामी सनाढ्य ब्राह्मण थे और अपने समयके उच्चकोटिके गायक, वादक, कवि एवं संत भी थे। यथा—

जय सनाढ्य तप आढ्य, जाड्य हर, कृष्ण सखा वर।
जय विट्ठल पद सु-रज अराधक, भावुक-जनवर।
जय कालिंदी कूल विहारी, कोकिल कंठी।
जय गोवरधननाथ पाद सेवी, रसकंठी।
जय जयति भागवत-भाव रस, लोलुप-मधुकर गीत जय।
जय जयति स्वामि गोविंद जय, बासी व्रज जय गीत जय॥
जयति स्वामि गोविंद, स्यामस्यामा पदसेवी।
जयति पुष्टि पथ दृष्टि, प्रेम रस रंग-सजीवी।
जयति द्वारिकानाथ, मातु कालिंदी सूनू।
जय-वल्लभ-कुल-सुजस, सुगायक-वादक-वेनू।
जय जयति गुबरधननाथ पद प्रेमी नेमी गानप्रिय।
जय जयति सुजन-गन-मान-प्रिय, सेवी-साधु-सुजानप्रिय॥

अन्तमें मैं यहाँ बता देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत लेखमें उद्धृत किये गये, गोविन्द स्वामी तथा कविवर व्रजवासीजीके कतिपय छन्द मुझे अपने प्राचीन काव्यसंग्रहमें प्राप्त हुए हैं। मेरे उक्त संग्रहमें अष्टछापके अन्य कवियोंके भी बहुत-से छन्द हैं और जो व्रजलीला-साहित्य किंवा पुष्टिमार्गीय-इतिहासकी बहुमूल्य सम्पत्ति है।

अतएव मैं पुष्टिमार्गके प्रेमियोंसे प्रार्थना करूँगा कि वे सब महानुभाव इसी रीतिसे यत्र-तत्र अथवा विशेष स्थानोंमें बिखरी हुई साम्प्रदायिक साहित्यिक सामग्रीको एकत्रित कराकर उसे सुसम्पादितरूपमें प्रकाशित करानेकी कृपा करें। अन्यथा कालान्तरमें उसके नष्ट-भ्रष्ट होनेकी आशङ्का उपस्थित हो सकती है।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

सर्वरोगोपशमनं सर्वोपद्रवनाशनम्। शान्तिदं सर्वरिष्टानां हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥

'भगवान् श्रीहरिके नाम-कीर्तनसे शारीरिक, मानसिक समस्त रोगोंका शमन हो जाता है; स्वार्थ-परमार्थके बाधक सभी उपद्रव नष्ट हो जाते हैं और तन-मन-धन तथा आत्मा-सम्बन्धी सब प्रकारके अरिष्टोंकी शान्ति हो जाती है।'

आजके इस आधि-व्याधि, रोग-शोक, द्रोह-द्वेष, स्पर्धा-कलह, वैर-हिंसा, दुःख-दारिद्र्य, तमसाच्छन्न बुद्धि-अहंकार, दुर्विचार-दुर्गुण तथा दुष्क्रिया आदि उपद्रवोंसे पीडित; अकाल, अवर्षा, अतिवर्षा, अग्निदाह, भूकम्प, महामारी आदि दैवी प्रकोपोंसे पूर्ण; अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, दुराचार, असदाचार, व्यभिचार और स्वेच्छाचार तथा भगवद्विमुखतारूप दुर्भाग्यसे संयुक्त अशान्तिपूर्ण युगमें विश्व-प्राणीको इन सभी उपद्रवों, प्रकोपों तथा दुर्भाग्यसे मुक्तकर सर्वाङ्गीण सुखी बनानेके लिये तथा मानव-जीवनके चरम तथा परम लक्ष्य मोक्ष या परम प्रेमास्पद भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति करानेके लिये एकमात्र 'भगवन्नाम' ही परम साधन है। सभी श्रेणियोंके, सभी जातियोंके, सभी नर-नारी मङ्गलमय भगवन्नामका जप कर सकते हैं। इसीलिये 'कल्याण'के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे प्रतिवर्ष प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक स्वयं प्रेमके साथ अधिक-से-अधिक जप करें तथा प्रेमपूर्वक प्रेरणा करके दूसरोंसे करायें। यही परम हित है। गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है। नियमादि इस प्रकार हैं—

१–यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है।

२–इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५ (१५ नवम्बर १९५९ से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५ (११ अप्रैल १९६०) तक रहेगा। जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ सं० २०१७ को समझनी चाहिये। पाँच महीनेका समय है। उसके आगे भी सदा जप किया जाय, तब तो बहुत ही उत्तम है।

३–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

४–एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप अवश्य करना चाहिये। अधिक जितना भी किया जा सकता है।

५–संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, उँगलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रखी जा सकती है।

६-यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए—सभी समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७-बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा न हो सके तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८-घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९-स्त्रियाँ रजस्वलाके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं, किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०-इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए मन्त्र-जपकी ही दें।

११-सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२-संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो बहिन-भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३-सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र-पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो, उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र-पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र-पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४-जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५-सूचना संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी अथवा उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६-सूचना भेजनेका पता—'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रार्थी—चिम्मनलाल गोस्वामी

सम्पादक—'कल्याण' गोरखपुर

पढ़ो, समझो और करो

(१)

एक अंग्रेजकी मानवोचित सहृदयता

मैं गत दिनाङ्क २७ । ९ । ५९ को राष्ट्रभाषाकी परीक्षा देने बड़ा हापजान केन्द्रमें गया था । लगभग चार बजे सभी परीक्षार्थी अपने परचे लिखनेमें लगे थे । अकस्मात् बड़े जोरकी आवाज आयी । हमने बाहर जाकर देखा तो हमें एक जीप गाड़ी उलटी पड़ी दिखायी दी । उसके मुसाफिर जल्दी-जल्दी बाहर निकल रहे थे । गाड़ीमें आग लग गयी थी । दो यात्रियों-के शरीर खूनसे लथपथ थे और वे कुछ दूरपर बेहोश पड़े थे । हममेंसे कुछ लोग पानी लाकर आग बुझाने और दोनों बेहोश व्यक्तियोंको चेत करानेकी चेष्टामें लग गये । कुछ देर बाद उनको होश आया, परंतु उनमें एक पुनः बेहोश हो गया । बहुत लोग इकट्ठे हो गये । वहाँ कोई अस्पताल नहीं था । सब निरुपाय थे । कोई सवारी नहीं थी । अस्पताल लगभग दो माइल था । कई छोटी-बड़ी मोटरें, जीपें, ट्रकें आयीं, उनमें बैठे लोगोंने सब देखा । कुछने पूछा भी—सारा हाल तथा आवश्यकताकी जानकारी भी की; परंतु किसीके मनमें घायलोंको अस्पताल पहुँचानेकी नहीं आयी । मोटरें आयीं, ठहरीं और चली गयीं ।

कुछ ही देर बाद एक कार आयी । उसमें एक अंग्रेज सज्जन थे, जो सपरिवार डूमडूमासे पानीतोला जा रहे थे । उन्होंने गाड़ी रोकी, सहानुभूतिके साथ सब पूछा और यह जाननेपर कि दो आदमियोंको चोट लगी है, जिनमें एक अभी बेहोश है—कहा 'मैं अपनी गाड़ीसे अभी इनको अस्पताल ले जाता हूँ । आपमेंसे एक सज्जन मेरे साथ चलिये ।' तदनन्तर उन्होंने अपने स्त्री-बच्चोंको किसी तरह आगेकी सीटपर बैठाया और स्वयं हाथ बँटाते हुए उन घायलोंमें-से एक बेहोशको सीटपर लिटा दिया और दूसरेको सहारा देकर बैठा लिया । अस्पतालमें ले जाकर उनकी अच्छी तरह मरहमपट्टी करवायी तथा अन्य सब पूरी व्यवस्था करनेके बाद वे अपने घर गये । वे अंग्रेज सज्जन यह काम न करते तो दोमेंसे एककी तो मृत्यु हो ही जाती । धन्य है उनकी मानवोचित सहृदयता ।

—देवीदत्त केजड़ीवाल

(२)

बहिनसे प्रेम

रामकुमार और रामविलास दोनों सगे भाई थे । आसामके एक मुकाममें उनकी दूकान थी । दोनों भाइयोंमें और दोनोंकी पत्नियोंमें परस्पर अत्यन्त प्रेम था । दूकानका काम बहुत ठीक चलता था । वे सारा काम हाथसे करते । बहुत थोड़ा इन्कमटैक्स था, आज-की भाँति सरकारी लूट थी नहीं, सब चीजें सस्ती थीं । अतएव दूकानमें खर्च काटकर तीन-चार हजार रुपये वार्षिक मुनाफेके बच जाते थे । अभी तीन ही साल दूकान किये बीते थे । पाँच-सात हजारकी पूँजी हो गयी थी । बहुत सुखी थे ।

उस समय विलासिता तो थी नहीं । इसलिये पैसे फजूल खर्च नहीं होते थे । कपड़ोंका खर्च बहुत ही कम था । जो रुपये बचते, उसके ठोस सोनेके गहने बना लिये जाते थे । इन भाइयोंके पास जब आठ हजारकी पूँजी हो गयी, तब तीन हजारका सोना खरीदकर उसके 'बंद बगड़ी' बनानेका निश्चय सर्व-सम्मतिसे हुआ । बड़े भाई रामकुमार तथा भाभीके बहुत अधिक आग्रहसे पहले रामविलास (छोटे भाई) की स्त्रीके लिये गहना बनाया गया । देशसे गहना बनकर आ गया । छोटे स्थानमें गहना पहनकर कहाँ जातीं । विवाह-शादीमें ही गहना पहना जाता । अतएव जो बंद बगड़ी बनकर आये थे, उन्हें कपड़ोंकी पेटीमेंही सँभालकर रख दिया गया । लोहेकी आलमारी तो तबतक मँगवायी नहीं थी ।

इनके एक बड़ी बहिन थी—मनभरीबाई । माँ पहले मर गयी थी । इसलिये बहिनने ही दोनोंको देशमें पाला-पोसा था । बहिनके पतिका एक साल पहले देहान्त हो गया था । उसका लड़का गल्लेका व्यापार करता था । अनाज भरकर रखता, फिर धीरे-धीरे बेचता ।

पर उसके दैवदुर्विपाकसे अनाजमें बड़ी मन्दी आ गयी। उसके आठ-दस हजारका घाटा हो गया। जहाँतक बना, गहना आदि बेचकर महाजनका ऋण उतारनेकी चेष्टा की गयी। पर लगभग तीन हजार रुपये दो महाजनोंके बाकी रह गये। वे बहुत कड़े आदमी थे। नालिश करके उन्होंने डिग्री करवा ली। मनभरीबाई पतिके मर जानेके बाद भाइयोंके पास आसाम आयी थी और वहीं ठहर गयी थी। दोनों भाई उसे माँकी तरह मानते, भौजाइयाँ बड़े आदर-सम्मानसे उसकी सेवा करतीं और उसके आज्ञानुसार चलतीं। इसी बीचमें मनभरीबाईके लड़केका अपनी माँके नाम गुप्त पत्र आया। एक आदमी देशसे आया था, उसीके हाथ पत्र मनभरीको मिला और वहीं उसे एकान्तमें पढ़ा भी गया।

पत्रमें सारी हालत लिखी थी। वे लोग डिग्री जारी करवाकर मकान नीलाम करवाना चाहते थे, यह लिखा था। साथ ही लड़केने यह भी लिखा था कि 'मेरा जी बहुत घबरा रहा है। कई बार आत्महत्या करनेकी मनमें आती है' और जल्दी माँको देश बुलाया था। इस पत्रको सुनकर मनभरीबाई अत्यन्त चिन्ताग्रस्त हो गयी। उसकी बुद्धि भ्रमित हो गयी। किसी तरह पुरखोंकी इज्जत और लड़केकी जान बचानी है। भाइयोंसे कहनेकी हिम्मत नहीं हुई। मनमें पाप-बुद्धि आयी। कामना ही पापकी जड़ होती है। उसने मनमें निश्चय किया—भाभीकी पेटीमेंसे गहना निकालकर ले चलना है। पीछे देखा जायगा। इससे एक बार तो काम चलेगा, लड़केके प्राण बच जायँगे। मेरे कमा लेनेपर भाइयोंकी रकम वापस कर दी जायगी।

भाइयों-भाभियोंको समझा-बुझाकर जानेका दिन निश्चय कर लिया गया और उपर्युक्त पाप-निश्चयके अनुसार भाभीकी पेटी खोलकर बंद-बँगड़ी (गहने) निकाल लिये गये। चाभी इन्हींके पास रहती थी। यही मालकिन थी। परंतु जिस समय यह भाईकी कोठरीमें भाभीकी पेटी खोलकर गहना निकाल रही थी, उस समय उसी कोठरीमें सोये हुए छोटे भाई रामविलासकी नींद टूट गयी। उसने सब देख लिया। पर जान-बूझकर आँखें मूँद लीं। मनभरीबाई सफल-मनोरथ होकर कोठरीसे बाहर चली गयीं। रामविलासने किसीसे कुछ नहीं कहा, मानो कुछ हुआ ही नहीं। बड़ी प्रसन्नतासे जो कुछ बना देकर भाइयों और भाभियोंने हाथ जोड़े और आँखोंसे आँसू बहाते हुए मनभरीबाईको विदा कर दिया। अवश्य ही मनभरीबाईके आँसू दो प्रकार थे, स्नेहहृदय भाई-भाभियोंके विछोहके और साथ ही अपने कुकर्मकी ज्वालाके। उसने बाध्य होकर ही पाप किया था, परंतु तबसे उसका हृदय जल रहा था।

मनभरीबाई देश पहुँच गयीं। उसके पहुँचका पत्र आ गया। तभी उन्हें उसके लड़के (भानजे) की बुरी हालतका पूरा पता लगा। तब एक दिन रामविलासने अकेलेमें सारी बातें अपने बड़े भाई रामकुमारको बताकर कहा—'भाईजी! बाईका जन्म इस घरमें हमसे पहले हुआ था। उसीने हमको पाला-पोसा, आदमी बनाया। हम अपने चमड़ेकी जूतियाँ बनाकर उसे पहना दें, तब भी बदला नहीं उतर सकता। फिर—हमारे ही माता-पिताकी पहली संतान होनेके कारण उसका अधिकार भी तो है ही, इस समय वह बहुत संकटमें है। पतिका देहान्त हो गया। घरमें घाटा लग गया। हमारी बहिनने संकोचमें पड़कर ही यह काम किया है। नहीं तो, उसके कहनेकी आवश्यकता ही नहीं थी, हमें पता लगनेपर अपने कपड़े-गहने ही नहीं, अपना शरीर बेचकर भी हम उसका दुःख दूर कर देते। यही हमारा धर्म है। अब भाईजी! उससे कुछ नहीं कहना है। आप कहें तो मैं आपकी बहूको सब समझा दूँ।' भाई रामकुमार छोटे भाईकी इस श्रेष्ठ भावनाको जान-सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ। दोनोंने सलाह करके दोनों स्त्रियोंको बुलाया। वे स्त्रियाँ भी सचमुच साध्वी थीं। सुनकर छोटे भाईकी स्त्री (जिसका गहना था) ने अपने जेठानीकी मारफत यह कहलाया कि—'यह तो

बहुत ही अच्छा हुआ कि इस संकटमें यह गहना बाईजीके काम आ गया। यहाँ तो फालतू ही पड़ा था। एक दुःख इस बातका अवश्य है, वह यह कि मेरे मनमें अवश्य कोई स्वार्थ या ममताकी विशेषता है, उसीके कारण बाईजीको संकोचमें पड़कर यह काम करना पड़ा और उन्होंने मुझसे कुछ कहा नहीं। शायद उनको यह शंका होगी कि माँगनेपर यह नहीं देगी। आपलोग तो तीनों दे ही देते, मेरे ही पापी हृदयके डरसे बाईजीको इस प्रकार करना पड़ा।' बहूकी बात सुनकर जेठ-जेठानीका हृदय गद्गद हो गया। उनकी आँखोंसे प्रेमके आँसू बह चले। उसके पति रामविलासके तो आनन्दका पार ही नहीं था। वह तो इस प्रकारकी साध्वी तथा उदारहृदया पत्नीकी प्राप्तिसे आज अपनेको अत्यन्त गौरवान्वित समझ रहा था।

दो वर्ष बाद मनभरीबाईकी लड़कीके विवाहमें सारा परिवार भात भरने गया। वहाँ मनभरीबाईने पहलेसे ब्याजसमेत पूरे रुपये तैयार कर रखे थे। लड़केने अकस्मात् रुपये कमा लिये थे। मनभरीबाईने अपने भाई-भाभियोंके सामने थैली रख दी और वह सुबक-सुबककर रोने लगी। सभीके धीरजका बाँध टूट गया। पाँचों रोने लगे। सबके हृदयोंमें पवित्र भावोंकी रसधारा उमड़ रही थी और वही आँसुओंके रूपमें बाहर बहने लगी थी।

भाइयों और भाभियोंने रुपये लिये नहीं। बड़े आदरसे पूरा संतोष करवाकर लौटा दिये। उन चारोंने बहिनके इस कार्यमें उसको नहीं, अपनेको ही दोषी माना और कहा कि 'बाई! हमारे स्नेहमें कमी थी, प्रेमका अभाव था। हम अपनी वस्तुओंपर अपना ही अधिकार मानते थे, बहिनका नहीं। तभी हमारी संतहृदया बहिनको संकटके समय उससे बचनेके लिये छिपकर गहना लेना पड़ा। यह हमारा ही कलुष और कुभाग्य है।' धन्य। —हरदेवदास

(३)

काछी बालकपर श्रीगोपालजीकी कृपा

ग्राम करारागंज, जिला छतरपुर म० प्र० में प्रतिवर्ष श्रावण द्वादशीको श्रीगोपालजी महाराजका जल-विहार होता है। इस वर्ष भी दिनाङ्क १४। ९। ५९ सोमवारको सायं ४ बजे श्रीगोपालजीका विमान मन्दिरसे उठकर दशरथी (धसान) नदीमें विहारके लिये गया। वहाँसे ग्राममें भ्रमण करनेके लिये लौटा। उस समय ग्राममें अन्नदान अथवा चढ़ोतरीके रूपमें जो अन्न मिलता है, उसका कार्य 'चेंपला' नामक ८-९ वर्षीय एक काछी बालकको श्रीमहंतजीने सौंपकर उसे एक टोकनी दे दी और समझा दिया कि प्राप्त अन्न इसमें लेते जाना। मन्दिर लौटनेपर तुम्हें श्रीगोपालजी महाराजका प्रसाद दिया जायगा। बालकने इस कार्यको सहर्ष स्वीकार कर लिया। ग्राम-भ्रमण करते हुए विमान श्रीशिवजी महाराजके हरिशंकरी चबूतरेपर प्रति वर्षकी भाँति रखा गया। ग्रामीण बन्धु भजन-कीर्तन आदि करने लगे। चेंपला भी अपनी टोकनी विमानके बगलमें रखकर विमानके पीछे उसी चबूतरेपर आकर सो रहा। कुछ देर पश्चात् विमान उठा। तब जय-जयकारकी ध्वनिसे चेंपलाकी निद्रा भंग हो गयी। वह घबराकर सुषुप्त-अवस्थामें सामनेसे न उतरकर बायीं ओरको चल दिया और चबूतरेसे लगे हुए कुएँमें गिर पड़ा जो पंद्रह हाथ गहरा भरा है और इतना ही खाली है। धमाकेकी आवाज सुनकर ग्रामीण दौड़े और एक गैसबत्ती तुरंत रस्सीमें बाँधकर कुएँमें लटकायी। देखते क्या हैं कि एक बालक कुएँकी ईंटें पकड़े अपने पैर चला रहा है। तुरंत एक आदमी रस्सेके बल कुएँमें उतरा और उस बालककी कमरमें रस्सी बाँधकर बड़ी सावधानीसे उसे बाहर निकाल लाया। उस बालकके शरीरके कपड़े छातीसे ऊपर बिल्कुल सूखे थे। जब उससे पूछा गया कि 'तुम कैसे डूबे नहीं?' तब उसने बताया कि मुझे यह पता नहीं है कि 'मैं कुएँमें कब गिरा। मुझे तो यही ज्ञात हुआ कि अपने तालाबहीमें तैर रहा हूँ।

मेरे साथ वहाँ एक और बालक था जो साँवरे रंगका था और विमानमें बैठे हुए भगवान्‌के सिरपर जैसा चाँदीका मुकुट लगा है वैसा ही उसके भी सिरपर धारण किया हुआ था, जो बहुत चमकीला था और उससे कुएँभर-में उजियाला दिखायी दे रहा था। उसने मुझे अपने हाथोंसे पानीके ऊपर सँभाल रखा था। फिर उसने मुझे समझाया कि 'तुम घबराना मत'। इतना कहकर उसने अपने हाथोंसे मेरे हाथ पकड़कर कुएँकी ईंटें पकड़ा दीं और जब ऊपरसे लालटेन आयी, तब वह न जाने कहाँ चला गया।" चेंपलाके मुखसे यह सब बातें सुनकर हम सब लोग अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् श्रीगोपाल-जीकी जय-जयकार करने लगे और सोचने लगे कि भगवान्‌की चढ़ोतरीकी टोकनी थोड़ी देर लिये रहनेपर ही भगवान्‌ने चेंपलाको कुएँमें दर्शन दे दिये। तत्पश्चात् चेंपला प्रसन्नतापूर्वक अपने घर चला गया। बोलिये राधावर गोविन्दकी जय। —मूलचन्द्र त्रिपाठी

(४)

मृत्यु-क्षणमें राम-नाम तथा अन्त मति सो गति

घटना आजसे ३० वर्ष पूर्वकी है। घटनाका प्रत्यक्ष विवरण सुनानेवाले ठाकुर शिवनाथसिंहजी हैं। ठाकुर साहब आज ५३ वर्षके हैं। वे स्वस्थ और हृष्टपुष्ट हैं। भगवान्‌की दयासे कई बच्चोंके पिता हैं। वे मध्यप्रदेश-के जिला राजगढ़के बागरयाखेड़ी ग्रामके निवासी हैं। उन्होंने अपने जीवनका जो विवरण इन पंक्तियोंके लेखकको सुनाया, वह उनके शब्दोंमें इस प्रकार है—

२३ वर्षकी अवस्थातक मेरा विवाह नहीं हुआ था। मेरे पिताजी मुझे बचपनमें ही छोड़ चल बसे थे। माताजी अवश्य थीं। जीवनका क्रम बड़ी शान्तिसे चल रहा था। मुझे रामचरितमानससे बड़ा प्रेम है। मैं इसी अवस्थामें जिला राजगढ़ (मध्यप्रदेश) के एक ग्राम शैलापानीको गया। वहाँ एक ठाकुर साहब वास करते थे। उनसे मेरा प्रेमभाव था। अचानक मुझे ज्वर हो आया। साधारणतया यही समझा गया कि ज्वर शीघ्र उतर जायगा; पर ज्वर बढ़ता ही गया। शरीरका तापक्रम १०२ अंश रहने लगा। उस ग्रामके एक वैद्यजीने बताया कि यह तो मोतीझला है। मैं उसी ज्वर-दशामें अपने घर आ गया। घरपर मेरे दो ज्येष्ठ भ्राता थे। सब मिल-जुलकर ही रहते थे। पर ज्वरकी दशामें मुझे संदेह होने लगा कि ये दोनों भाई मुझे मार डालेंगे। अतएव मैंने उनके द्वारा दिया जानेवाला जल स्वीकार करना बंद कर दिया। मैं सोचने लगा कि जलके माध्यमसे ही मुझे विष दिया जायगा। इतना ही नहीं, मैं उनके हाथसे दवा भी नहीं लेता। इस प्रकार मेरी रुग्णता चलती रही।

मेरा ग्रामवालोंसे तथा समीपस्थ ग्रामवासियोंसे अत्यन्त प्रेमभाव था। एतदर्थ समीपस्थ ग्रामवासी भी रातके समय मुझे देखने आते और काफी राततक मेरे पास बैठे रहते। वे दिनमें तो नहीं आ सकते थे; क्योंकि उन्हें अपनी खेतीका काम देखना होता था। मेरी रुग्णता और उससे मुक्त न होनेका समाचार अनेक ग्रामोंमें फैल गया। सोचा जाने लगा कि ठाकुर साहब थोड़े दिनोंके ही मेहमान हैं।

एक दिन स्वास्थ्यमें विशेष भयंकरता आ गयी और मेरी तबीयत घबराने लगी। मैं समझ गया कि मैं आज रातको अथवा दूसरे दिन सवेरेतक अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दूँगा। रातके ७ बजे अनेक व्यक्ति एकत्र हो गये और मेरी जीवन-रक्षाके सम्बन्धमें विचार-विनिमय करने लगे। जब मैंने उनके मुँहसे सुना कि अमुक डाक्टरको बुलाया जाना चाहिये, तभी मैंने जोरसे कहा—'क्यों व्यर्थकी बातें करते हो। तुम मरनेवाले-को बचा सकते हो? छिः। यदि तुम मुझे शान्तिसे मरने देना चाहते हो तो रामचरितमानसके उत्तरकाण्ड-का पाठ मुझे सुनाना आरम्भ कर दो।' लोग राम-चरितमानसकी पुस्तकें लेने दौड़ने लगे।

अचानक मैं देखता हूँ कि दो यमदूत मेरे सामने मुझसे लगभग १०-१५ गजकी दूरीपर खड़े हैं। मैं ज्वरकी दशामें जमीनपर ही लेटता था और आज भी

जमीनपर था। ज्वर वैसा ही था। घबराहट बढ़ती जा रही थी। यमदूतोंको देखते ही मैं चिल्ला उठा—'देखो, ये दो यमदूत खड़े हैं।' ये दोनों यमदूत लगभग २५ वर्षकी अवस्थावाले स्वस्थ युवक-से प्रतीत होते थे। उनका रंग नितान्त काला था। वे नंगे बदन थे। केवल नीचे एक कच्छा पहने हुए थे। कच्छेके नीचेके भागमें एक गोट-सी थी। उनके दाँत बड़े-बड़े और भयंकर थे। वे अपने दोनों हाथोंमें मुग्दरकी भाँतिके डंडे लिये हुए थे। उनकी बड़ी-बड़ी आँखें बहुत डरावनी लगती थीं। मैं उनको देखकर काँप गया और मेरे मुखसे 'राम' का नाम उच्चारित होने लगा। मैं चित पड़ा हुआ 'राम' नाम जपने लगा। तबतक रामचरितमानस ग्रन्थ आ गये और लोग उत्तरकाण्डका पाठ करने लगे। मैंने देखा कि वे यमदूत एक साथ मेरी ओर बढ़ते, पर जैसे ही मैं 'राम' कहता, वे उतना ही पीछे हट जाते। इस प्रकार सारी रात मेरा राम-नाम जप चलता रहा और मानसका पाठ भी। बीच-बीचमें मैं चिल्ला उठता—'मुझे बचाओ! ये यमदूत डंडे लेकर मेरी ओर बढ़े चले आ रहे हैं।' पर लोग कहते 'कहाँ हैं?' मैं कहता—'ये दीवारसे टिके खड़े हैं।' पर लोग उन्हें नहीं देख पाते। कुछने दीवारके सहारे हाथ फेरा, तब वे कमरेकी म्यालपर चढ़ गये। मैं चिल्ला उठा—'वे म्यालपर चढ़ गये हैं।' तात्पर्य यह है कि मुझको छोड़कर और कोई उन्हें नहीं देख सका। सवेरेतक जप करते हुए मुझे थकानके कारण थोड़ी देरके लिये नींद-सी आ गयी। मानसका पाठ करनेवाले व्यक्ति भी अपने-अपने घरोंको चले गये थे। मेरे पास मेरे दो भाई और मेरी माता बैठे रहे। जैसे ही मेरी आँखें झँपी, मेरा 'राम' नाम कहना बंद हो गया। बस, क्या था दोनों यमदूत उचककर मेरी छातीपर आ बैठे। मैं अचेत हो गया। वे मुझे विकराल रूपमें दबाने लगे। मुझे अनुभव हुआ कि मेरे प्राण कण्ठतक आ गये हैं। इसी क्षण मैं सोचने लगा कि 'मरनेके बाद मैं तीतर बनूँगा।' जमीनपर तो मैं था ही। आँखें बंद थीं ही। मेरी ऐहिक-लीला समाप्त हो गयी। मेरे शरीरको ढक दिया गया और अन्तिम संस्कारकी तैयारियाँ आदि होने लगीं। रोना-गाना भी मुझे अचेतनरूपमें सुनायी दे रहा था।

मुझे लगा—'मैं तीतर हो गया हूँ। उड़कर मैं जंगलमें अन्य तीतरोंके साथ जा बैठा। उसी समय साँसी नामकी जातिके लोगोंने (जो बहुधा डाका डाला करते हैं) मुझे अन्य तीतरोंके साथ पकड़ लिया। उनके साथ एक बुढ़िया भी थी। मैं बुढ़ियाकी रस्सीमें बँधा था। इसी समय अचानक उन साँसियोंको पकड़नेके लिये पुलिस आ गयी। साँसी रस्सीमें बँधे तीतर लेकर भाग खड़े हुए। बुढ़िया भी जंगलकी ओर भागकर एक झाड़ीमें जा छिपी। पुलिसका लक्ष्य पुरुषोंको पकड़नेका था। अतएव बुढ़ियाकी ओर कम ही ध्यान दिया गया। जब पुलिसके सिपाही चले गये, तब बुढ़ियाने अपनी क्षुधा शान्त करनेके लिये तीतरोंकी ओर आँख दौड़ायी। रस्सीके ऊपरी भागपर मैं ही था। इसलिये मैं ही क्षुधा-तृप्ति-साधन बननेके लिये रस्सीसे निकाल लिया गया। बुढ़ियाने लकड़ियोंसे अग्नि प्रज्वलित की। फिर उसने मेरे शरीरके पंख नोचे और मुझे जलती आगमें भून डाला। मेरी वह जीवन-लीला भी समाप्त हो गयी। अब मुझे लगा कि मैं घरकी ओर भागता आ रहा हूँ और मैं अपने घरमें कम्बलसे ढँके हुए शरीरमें जा पहुँचा। यह सारा कार्य मेरे मरनेसे लेकर आध घंटेमें ही हो गया। मेरे घरपर मेरी अर्थी तैयार की जा रही थी। मैं अर्थीपर कसा जानेवाला ही था कि मेरे मुखसे निकला—'राम'। मेरे भाई चिल्ला पड़े 'भैयाको देखो'! वे सभी 'राम' कह रहे थे। लोग एकत्र हो गये। कम्बल हटाया गया। मैं आँखें खोले पड़ा था। मैं रामका नाम अधिक उच्च स्वरसे जपने लगा—लोगोंने कहा 'भैया, अभी कहाँ चले गये थे।' मैंने कुछ भी नहीं बताया और केवल यह कह दिया

कि बादमें बतायेंगे। लोगोंने मेरे शरीरपर 'हाथ रखकर देखा कि मेरा ज्वर बिल्कुल उतर गया है। मैं पूर्ण स्वस्थताका अनुभव कर रहा था।

कुछ दिनों बाद मैंने अपने सम्बन्धियों और मित्रोंको यह घटना सुनायी और यही कहा—'अन्त मति सो गति।' मैंने यह भी अनुभव किया कि 'राम' नाम जपके प्रभावसे यमदूत भी पास नहीं फटकते।

उस घटनाके बादसे मेरा जप बढ़ता ही गया और आज ५३ वर्षकी अवस्थापर मैं पूर्ण स्वस्थ और हृष्टपुष्ट हूँ। पर भगवान्‌के प्रति मेरा विश्वास बढ़ता ही जा रहा है।

मेरे जीवनकी इस घटनासे आध्यात्मिक निष्कर्ष निकालनेका काम मेरा नहीं है। वह तो विद्वानोंका है। देखें विद्वज्जन क्या सार निकालते हैं। मुझे हर्ष होगा यदि मैं भी अपने विषयमें कुछ जान सकूँगा।

—भगवानदास झा 'विमल'

(एम्० ए०, बी—एस० सी०, एल्० टी०, साहित्यरत्न)

(५)

सरकारी कर्मचारी भी मनुष्य हैं

बीसावदर स्टेशनसे गाड़ी छूटने ही वाली थी। इंजिनकी सीटी बज चुकी थी। गार्डने झंडी भी दिखा दी थी। इतनेमें ही लगभग आठ-दस ग्रामीणोंका एक दल गार्ड महोदयके पास पहुँचा। सहृदय गार्डने लाल झंडी दिखायी। गाड़ी अभी चली नहीं थी, रुक गयी। ये लोग मजदूर-जैसे दिखायी देते थे। इनमेंसे एकने गार्डके समीप आकर बड़ी ही नम्रताके साथ कहा—'साहेब, हमलोग मजदूरी करने जा रहे हैं। गाँवमें पेटको रोटी नहीं मिलती। जब भूखों मरते-मरते मरनेकी नौबत आ गयी, तब हमलोग घरसे निकले हैं। हमारे पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं है। गाड़ीमें गये बिना आज काम मिलेगा नहीं। तुम दया करके हमलोगोंको ऐसे ही बैठने दो तो हम सब, हमारा सारा परिवार, स्त्री-बच्चे सब तुमको असीस देंगे।'

गार्डने कहा—परंतु तुमलोगोंको मुफ्त बैठाता हूँ तो मुझे सरकारका अपराधी बनना पड़ता है। तुम्हें कहाँ जाना है?

उसने कहा—साहेब! तुम भरोसा रखो, हम जानते हैं तुम सरकारी आदमी हो, सरकारी कानूनको तोड़कर हमारी मदद नहीं कर सकते, हमें मजदूरीके पैसे मिलेंगे, तब सबसे पहले हम तुम्हारी टिकटके पैसे पहुँचा देंगे। साहब! रहम करो, हमलोग बहुत दबे आदमी हैं।

वह यों कह ही रहा था कि सबकी आँखोंसे आँसू झर पड़े। गार्डका हृदय पिघला, उन्होंने फिर पूछा—'तुम्हें कहाँ जाना है?'

उसने कहा—'साहब! जूनागढ़ जाना है परंतु·······' वह फिर रो पड़ा।

पाँच ही मिनटमें यह सब हो गया। गार्डने अपनी जेबसे दस-दस रुपयेके दो नोट निकालकर उस ग्रामीणको दिये और कहा—'भाई! मैं भी तुम्हारी ही तरह एक साधारण नौकरी-पेशा आदमी हूँ। मेरे भी स्त्री-बच्चे हैं। भगवान्‌के खाते लिखकर तुम्हें यह पैसे दे रहा हूँ। सरकारी कर्मचारी होकर सरकारी कानूनको भंग नहीं कर सकता। तथापि तुम्हारी हालत देखकर, मुझे यह भूलना नहीं चाहिये कि मैं भी मनुष्य हूँ। अतएव अभी तो मैं अपनी जेबसे पैसे दे रहा हूँ। इस कागजपर मेरा नाम-पता लिखा है। किसी दिन तुम्हारे सबके हाथमें पैसे आ जायँ और तुम भगवान्‌को मानते होओ तो लौटा देना, नहीं तो कोई बात नहीं।'

इसके बाद सीटी बजा दी, हरी झंडी दिखायी और गाड़ी चल दी। इस बीचमें वे मजदूर टिकट लेकर गाड़ीपर चढ़ गये थे। (अखण्ड आनन्द)

—रवि बोरा

व्रजविहारी वंशीधर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम् ।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ गोरखपुर, सौर पौष २०१६, दिसम्बर १९५९ संख्या १२
पूर्ण संख्या ३९७

ब्रजविहारी वंशीधर

सजल-जलद-नीलाभ श्याम वपु मुनि-मन-मोहन ।
अमित शरद शशि निन्दक मुख मनहर अति सोहन ॥
कुंचित कुंतल कृष्ण अपरिमित मधुकर-मद-हर ।
रत्नमालयुत कमल-कुसुम-शिखिपिच्छ मुकुट वर ॥
चित्त-वित्त-हर नयन, रत्न कुण्डल श्रुति राजत ।
मुक्तामणि-वनमाल विविध कल कंठ विराजत ॥
रत्नमयी मुँदरी, कंकण, भुजबन्द भव्य अति ।
वंशी धर कर-कंज भर रहे सुर सुललित गति ॥
कटि पट पीत परम सुन्दर पग नूपुरधारी ।
मृदु मुसकान विचित्र नित्य ब्रज-विपिन विहारी ॥

याद रक्खो—जिसको जल्दी यात्रा पूरी करके अपने घर पहुँचना है, जिसको पल-पलमें घरकी याद आती है और घरके लिये जिसकी व्याकुलता बढ़ रही है, वह रास्तेके विलम्बको कैसे सहन करेगा। वह न तो रास्तेमें किसीमें ममता करके किसीके मोहमें फँसेगा, न किसीसे जरा भी लड़-झगड़कर अपने समयको खोयेगा तथा अपने मार्गमें रुकावट पैदा करेगा और न कहीं इधर-उधर भटकेगा और अटकेगा ही। वह सबसे मेल रखता हुआ अपने लक्ष्यपर ध्यान रखते हुए सीधा अपनी राहपर चलता रहेगा। इसी प्रकार यदि तुम्हें जीवनके चरम तथा परम लक्ष्य श्रीभगवान्‌के धाम पहुँचना है, भगवान्‌को प्राप्त करना है तो इस बातको कभी न भूलकर सावधानी तथा शीघ्रताके साथ आगे बढ़ते चले जाओ।

याद रक्खो—तुम यहाँ जिस घरको अपना घर कहते हो, वह तुम्हारा घर नहीं है, रेलके डिब्बेके समान यात्रामें बैठनेका स्थान है, या किसी समय रास्तेमें विश्रामके लिये किसी धर्मशाला या वेटिंग रूममें ठहरते हो, वैसे ही कुछ समयके लिये ठहरनेका स्थान है। तुम्हारा यह शरीर यात्रा-शरीर है और तुम्हारा जीवनयापन तथा तुम्हारी सारी क्रियाएँ चलना है। यदि तुम अपने लक्ष्यको—भगवान्‌को कभी न भूलते हुए सदा निर्लेप तथा सावधान रहकर भगवान्‌की ओर चलते रहोगे तो यह मानव-शरीर तुम्हें निश्चय ही वहाँ पहुँचानेमें समर्थ होगा; पर यदि तुमने यात्राको स्थायी निवास मान लिया, रास्तेमें बैठने या ठहरनेके स्थानरूप इस घरको अपना घर मान लिया, किसीमें ममता जोड़ ली और किसीसे द्वेष कर लिया और यदि इन्द्रियोंके भोगोंमें अटककर इधर-उधर भटक गये तो तुम्हारी यह यात्रा सफल तो होगी ही नहीं, तुम्हारे मानव-जीवनका उद्देश्य तो पूरा होगा ही नहीं, बल्कि उल्टे मार्गपर चलकर तुम भगवान्‌से और भी दूर पहुँच जाओगे।

याद रक्खो—यदि ममतावश तुम कहीं किसी प्राणी-पदार्थमें मोहित हो गये, भोगोंमें आसक्त हो गये तो बुरी तरह फँस जाओगे, फिर निकलना अत्यन्त कठिन हो जायगा। और यदि कहीं द्वेष करके लड़-झगड़ बैठे तो वैसे ही नयी विपत्तिसे घिर जाओगे, जैसे रेलके डिब्बेमें या राहमें कहीं किसीसे लड़ाई-झगड़ा हो जानेपर फौजदारीमें मुकदमा चल जाता है, रुपये खर्च होते हैं और जेलकी सजा भुगतनी पड़ती है। यात्रा ही नहीं रुकती, उल्टी विपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं, वैसा ही मानव-जीवनकी इस यात्रामें भी हो सकता है। अतएव न कहीं ममतामें बँधकर राग करो, न द्वेष करो। न किसीमें मोह करो, न किसीसे लड़ो-झगड़ो। जैसे बुद्धिमान् यात्री रास्तेमें सबसे प्रेमका सम्बन्ध रखता हुआ अपनी यात्रा सुखपूर्वक पूरी करता है, इसी प्रकार तुम भी अपनी इस महायात्राको सावधानीके साथ पूर्ण करो।

याद रक्खो—मानव-शरीर जहाँ प्रयत्न करनेपर भगवत्प्राप्तिका, मोक्षका परम साधन है, वहाँ वही कर्म-शरीर होनेके कारण विपरीत कर्म करनेपर बड़े भारी बन्धनका और नरकयन्त्रणाका कारण बन सकता है। दूसरे शरीरोंमें यह बात नहीं है; पर यहाँ तो यदि सफलताकी ओर नहीं अग्रसर हुए तो घोर विफलता प्राप्त होगी और अनेकों जन्म-मरणके नये चक्रमें फँस जाना पड़ेगा।

याद रक्खो—तुम संसारमें मानव-जीवनमें आये ही हो—भगवत्प्राप्तिके लिये, भोगके लिये नहीं। भोग तो अनेक योनियोंमें प्राप्त होते रहते हैं। पशु-पक्षियोंकी योनिमें और देव-राक्षसादिकी योनिमें बहुत अधिक प्राप्त होते हैं। भगवत्प्राप्तिका साधन तो इसी एक मानव-शरीरमें ही सुलभ है। अतएव यदि तुम इस परम उद्देश्यकी सिद्धिके लिये अपने जीवनको इस कल्याणमय साधनमें न लगा देते हो तो तुम्हारी मूर्खताकी सीमा नहीं है। तुम जान-बूझकर हाथमें आये हुए स्वर्ण-अवसरको ही नहीं खो देते हो—वरं महान् हानिके पात्र बनते हो। अतएव सावधानीसे बिना अटके-भटके भगवान्‌की ओर बढ़ते रहो।

'शिव'

गीता पढ़नेके लाभ

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीमद्भगवद्गीता एक परम रहस्यमय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सार्वभौम ग्रन्थ है। यह साक्षात् भगवान्‌की दिव्य वाणी है, उनके हृदयका उद्गार है। इसका महत्त्व बतलानेकी वाणीमें शक्ति नहीं है। इसकी महिमा अपरिमित है, यथार्थमें इसका वर्णन कोई नहीं कर सकता। शेष, महेश, गणेश, दिनेश भी इसकी महिमाको पूरी तरहसे नहीं कह सकते, फिर मनुष्यकी तो बात ही क्या है। इतिहास-पुराण आदिमें जगह-जगह इसकी महिमा गायी गयी है, किंतु उन सबको एकत्र करनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी महिमा इतनी ही है; क्योंकि उसकी महिमाका कोई पार नहीं है।

गीता आनन्द-सुधाका सीमारहित छलकता हुआ समुद्र है। इसमें भावों और अर्थोंकी इतनी गम्भीरता और व्यापकता है कि मनुष्य जितनी ही बार इसमें डुबकी लगाता है, उतनी ही बार वह नित्य नवीन आनन्दको प्राप्तकर मुदित और मुग्ध होता है। रत्नाकर सागरमें डुबकी लगानेवाला चाहे रत्नोंसे वञ्चित रह जाय, पर इस दिव्य रसामृत-समुद्रमें डुबकी लगानेवाला कभी खाली हाथ नहीं निकलता। इसकी सरस और सार्थ सुधा इतनी स्वादु है कि उसके ग्रहणसे नित्य नया स्वाद मिलता रहता है। रसिकशेखर श्यामसुन्दरकी इस रसीली वाणीमें इतनी मोहकता और इतना स्वाद भरा है कि जिसको एक बार इस अमृतकी बूँद प्राप्त हो गयी, उसकी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है।

गीता एक सर्वमान्य और प्रमाणस्वरूप अलौकिक ग्रन्थ है। एक छोटे-से आकारमें इतना विशाल योग-भक्ति-ज्ञानसे पूर्ण ग्रन्थ संसारकी प्रचलित भाषाओंमें दूसरा कोई नहीं है। इसमें सम्पूर्ण वेदोंका सार संग्रह किया हुआ है। इसकी संस्कृत बहुत ही मधुर सरस, सरल और रुचिकर है। इसकी भाषा बहुत ही उत्तम एवं रहस्ययुक्त है। दुनियाकी किसी भी भाषामें ऐसा सुबोध ग्रन्थ नहीं है। मनुष्य थोड़ा अभ्यास करनेसे भी सहज ही इसको समझ सकता है। परंतु इसका आशय इतना गूढ़ और गम्भीर है कि आजीवन निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर भी उसका अन्त नहीं आता, वरं प्रतिदिन नये-नये भाव उत्पन्न होते रहते हैं; इससे वह सदा नवीन ही बना रहता है।

गीतामें सभी धर्मोंका सार भरा हुआ है। संसारमें जितने भी ग्रन्थ हैं, उनमें गीता-जैसे गूढ़ और उन्नत विचार कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते। गीताके साथ तुलना की जाय तो उसके सामने जगत्‌का समस्त ज्ञान तुच्छ है। गीता वर्तमान समयमें भी शिक्षित, अशिक्षित भारतीय या भारतेतर सभी समुदायोंके लिये सर्वथा उपयुक्त ग्रन्थ है। गीता-जैसा अपूर्व उपदेश और विलक्षण एकता तथा समता कहीं नहीं दिखायी पड़ते। गागरमें सागरकी भाँति थोड़ेमें ही अनन्त तत्त्व-रहस्यसे भरा हुआ ग्रन्थ अन्य नहीं देखनेमें आता।

गीताका उपदेश बहुत ही उच्चकोटिका है। गीतामें सबसे ऊँचा ज्ञान, सबसे ऊँची भक्ति और सबसे ऊँचा निष्कामभाव भरा हुआ है। गीताके उपदेशको देखकर मनुष्यके हृदयमें स्वाभाविक ही यह प्रभाव पड़ता है कि यह मनुष्यरचित नहीं है!

गीता एक उच्चकोटिका दर्शन-शास्त्र है। यह सिद्धान्त-रत्नोंका सागर है। इसके अध्ययनसे नित्य नये उच्चकोटिके भाव-रत्न प्राप्त होते रहते हैं। गीताका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक गायन करनेसे इतना रस आता है कि उसके सामने सारे रस फीके हैं।

गीता मनुष्यको नीचे-से-नीचे स्थानसे उठाकर

ऊँचे-से-ऊँचे परमपदपर आरूढ़ करानेवाला एक अद्भुत प्रभावशाली ग्रन्थ है। मनुष्य जब कभी किसी चिन्ता, संशय और शोकमें मग्न हो जाता है और उसे कोई रास्ता दिखायी नहीं पड़ता, उस समय गीताके श्लोकोंके अर्थ और भावपर लक्ष्य करनेसे वह निश्चिन्त, निःसंशय और शोकरहित होकर प्रसन्नता और शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

गीतामें बहुत-से ऐसे श्लोक हैं, जिनमेंसे एक श्लोकका या उसके एक चरणका भी यदि मनुष्य अर्थ और भाव समझकर अध्ययन करे और उसके अनुसार अपना जीवन बना ले तो उसका निश्चय ही उद्धार हो सकता है। गीतामें मनुष्यमात्रका अधिकार है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
(गीता ३। ३१)

'जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस सिद्धान्तका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं।'

यहाँ भगवान्‌ने 'मानवाः' कहकर यह स्पष्ट व्यक्त कर दिया है कि यह एक जातिविशेष या व्यक्तिविशेषके लिये ही नहीं है, इसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। प्रत्येक वर्ण, आश्रम, जाति, धर्म और समाजका मनुष्य इसका अध्ययन करके अपना कल्याण कर सकता है।

आध्यात्मिक दृष्टिसे सारी मानवजातिपर ही गीताका बहुत प्रभाव पड़ा है। भगवान् श्रीकृष्णका हिंदूजातिमें अवतार हुआ था, इसलिये लोग गीताको प्रायः हिंदुओंका ही धर्मग्रन्थ समझते हैं, पर वास्तवमें यह केवल हिंदुओंके ही लिये नहीं है, ईसाई, मुसलमान आदि सभी धर्मावलम्बियोंके लिये और धर्मको न माननेवालोंके लिये भी समानरूपसे कल्याणका मार्ग दिखानेवाला प्रकाशमय सूर्य है। केवल भारतवासियोंके लिये ही नहीं, सम्पूर्ण पृथ्वीपर निवास करनेवाले सभी मनुष्योंके लिये भगवान् श्रीकृष्णने इस गीताका उपदेश किया है। मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि जितने भी बुद्धियुक्त प्राणी हैं, उन सभीके लिये यह कल्याणमय भण्डार है।

कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि गीता तो केवल संन्यासियोंके लिये है, किंतु ऐसा समझना गलत है; क्योंकि अर्जुनने कहा था कि गुरुजनोंको न मारकर मैं भिक्षाका अन्न खाना कल्याणकारक समझता हूँ (गीता २। ५), किंतु भीख माँगकर खाना क्षत्रियका धर्म नहीं, संन्यासीका धर्म है। इससे सिद्ध हुआ कि अर्जुन गृहस्थाश्रमको छोड़कर—संन्यासाश्रम ग्रहण करके भीख माँगकर खाना अच्छा समझते थे, पर भगवान्‌ने उनकी इस समझकी निन्दा की और 'क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है (गीता २। ३१)' कहकर उन्हें धर्मयुद्धमें लगाया। अर्जुन गृहस्थी थे और गीताका उपदेश सुननेके बाद भी आजीवन गृहस्थी ही रहे। इससे गीता केवल संन्यासियोंके ही लिये है—यह सिद्ध नहीं होता, बल्कि यही सिद्ध होता है कि गीता संन्यासी-गृहस्थी सभी मनुष्योंके लिये है।

अतः गीताशास्त्र सभीके लिये इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला होनेसे यह सबके लिये सर्वोत्तम परम धर्ममय ग्रन्थ है। इसलिये सभी मनुष्योंको गीताका अर्थ और भाव समझते हुए अध्ययन करना चाहिये। गीताके अध्ययनसे मनुष्यके शरीर, वाणी, मन और बुद्धिकी उन्नति होती है, इस लोकमें धन, जन, बल, मान और प्रतिष्ठाकी प्राप्ति एवं परलोकमें परम श्रेयमय परमात्माकी प्राप्ति होती है।

गीताके अध्ययन-अध्यापन और उसके अनुसार आचरण करनेसे अनेकों ऋषियोंको और अर्जुन, संजय आदि गृहस्थोंको उत्तम गति मिली। स्वामी श्रीशंकरा-

चार्यजी, श्रीरामानुजाचार्यजी, श्रीज्ञानेश्वरजी आदि महानुभावोंको सर्वमान्य लौकिक, पारमार्थिक श्रेष्ठ पदकी प्राप्ति हुई एवं महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक आदिको बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अतः गीताके अध्ययन, अध्यापन और उसके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यको इस लोक और परलोकमें श्रेयकी प्राप्ति होती है।

कोई भी मनुष्य क्यों न हो, जिसकी ईश्वर-भक्तिमें और गीताशास्त्रको सुननेमें रुचि है, वही इसका अधिकारी है। ऐसे अधिकारी मनुष्यको गीता सुनानेवाला मनुष्य मुक्त हो जाता है, वह ईश्वरका अत्यन्त प्यारा बन जाता है। भगवान्ने कहा है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
(गीता १८। ६८)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है।'

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥
(गीता १८। ६९)

'उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

अतः हमलोगोंको गीताशास्त्रका अध्ययन-अध्यापन श्रद्धा-भक्तिपूर्वक बहुत उत्साह और तत्परताके साथ करना चाहिये।

गीताके अध्ययन करनेका फल और महत्त्व वर्णन करते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥
(गीता १८। ७०)

'जो पुरुष इस धर्ममय, हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसी मेरी मान्यता है।'

अर्थ और भावको समझकर गीताका अभ्यास करनेपर अन्य शास्त्रोंके अध्ययनकी आवश्यकता नहीं रहती। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥
(महा० भीष्म० ४३। १)

'गीताका ही भलीभाँति गान करना चाहिये अर्थात् उसीका भलीभाँति श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये, फिर अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्के साक्षात् मुखकमलसे निकली हुई है।'

यहाँ 'पद्मनाभ' शब्दका प्रयोग करके श्रीवेदव्यासजीने यह व्यक्त किया है कि यह गीता उन्हीं भगवान्के मुखकमलसे निकली है, जिनके नाभिकमलसे ब्रह्माजी प्रकट हुए और ब्रह्माजीके मुखसे वेद प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण शास्त्रोंके मूल हैं। अतः संसारमें जितने भी शास्त्र हैं, उन सब शास्त्रोंका सार गीता है—'सर्वशास्त्रमयी गीता' (महा० भीष्म० ४३। २)। दुनियामें जो किसी भी धर्मको माननेवाले मनुष्य हैं, उन सभीको यह समानभावसे स्वधर्म-पालनमें उत्साह दिलाती है, किसी धर्मकी निन्दा नहीं करती। इसमें कहीं किसी सम्प्रदायके प्रति पक्षपात नहीं है।

गीता सारे उपनिषदोंका सार है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गौके समान हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दूध दूहनेवाले हैं, कुन्तीपुत्र अर्जुन बछड़ा हैं, महत्त्वपूर्ण गीताका उपदेशामृत ही दूध है और उत्तम बुद्धिवाले पुरुष ही उसके पीनेवाले हैं।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। शास्त्रोंमें गङ्गास्नान-का फल मुक्ति बतलाया गया है। परंतु गङ्गामें स्नान करनेवाला स्वयं मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको संसार-सागरसे तारनेमें असमर्थ है। किंतु गीतारूपी गङ्गामें गोते लगानेवाला स्वयं तो मुक्त होता ही है, वह दूसरोंको भी तार सकता है। गङ्गा तो भगवान्‌के चरणोंसे उत्पन्न हुई है; किंतु गीता साक्षात् भगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली है। फिर गङ्गा तो जो उसमें जाकर स्नान करता है, उसीकी मुक्ति करती है; किंतु गीता तो घर-घरमें जाकर उन्हें मुक्तिका मार्ग दिखलाती है।

गीता गायत्रीसे भी बढ़कर है। गायत्री-जप करने-वाला भी स्वयं ही मुक्त होता है; पर गीताका अभ्यास करनेवाला तो तरन-तारन बन जाता है। मुक्तिका तो वह सदाव्रत खोल देता है।

गीताको स्वयं भगवान्‌से भी बढ़कर कहा जाय तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम्॥
(वाराहपुराण)

'मैं गीताके आश्रयमें रहता हूँ, गीता मेरा उत्तम घर है, गीताके ज्ञानका सहारा लेकर ही मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूँ।'

गीता ज्ञानका सूर्य है। भक्तिरूपी मणिका भण्डार है। निष्काम-कर्मका अगाध सागर है। गीतामें ज्ञान, भक्ति और निष्कामभावका तत्त्व-रहस्य जैसा बतलाया गया है, वैसा किसी ग्रन्थमें भी एकत्र नहीं मिलता।

आत्माके उद्धारके लिये तो गीता सर्वोपरि ग्रन्थ है ही, इसके सिवा, यह मनुष्यको सभी प्रकारकी उन्नतिका मार्ग दिखलानेवाला ग्रन्थ भी है। जैसे—

शरीरकी उन्नतिके लिये गीतामें सात्त्विक भोजन बतलाया गया है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
(१७।८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

भाव यह है कि इस प्रकारके सात्त्विक आहारके सेवनसे आयु, अन्तःकरण, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ती है। किंतु इसके विपरीत, शरीरको हानि पहुँचानेवाले राजस-तामस भोजनका त्याग करनेके लिये निषेधरूपसे उनका वर्णन किया गया है (गीता १७। ९-१० में देखिये)।

उत्तम आचरणोंकी शिक्षाके लिये शारीरिक तप बतलाया गया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
(गीता १७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, माता-पिता आदि गुरुजनों और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

वाणीको संयत और उन्नत बनानेके लिये वाणीका तप बतलाया गया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
(गीता १७। १५)

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नामजपका अभ्यास है—वही वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है।'

मनको उन्नत बनानेके लिये मानसिक तप बतलाया गया है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते॥
(गीता १७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार वह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

इसी प्रकार बुद्धिको उन्नत बनानेके लिये सात्त्विक ज्ञान और सात्त्विकी बुद्धिका वर्णन किया गया है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
(गीता १८। २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
(गीता १८। ३०)

'हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।'

इसके विपरीत, राजस-तामस ज्ञानका अ० १८ श्लो० २१-२२ में और राजसी-तामसी बुद्धिका अ० १८ श्लो० ३१-३२ में त्याग करनेके उद्देश्यसे वर्णन किया गया है।

दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन मनुष्यकी उन्नतिमें महान् हानिकर हैं, अतः उनको आसुरी सम्पदा बतलाकर उनका सर्वथा त्याग करनेके लिये कहा गया है (देखिये गीता अ० १६, श्लो० ४ से २१ तक)।

इसके सिवा, उन छब्बीस गुणों और आचरणोंको, जो मनुष्यकी उन्नतिमें मूल कारण हैं, सर्वथा उपादेय और मुक्तिके साधन बतलाकर उनका दैवीसम्पदाके नामसे वर्णन किया गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥
(गीता १६। १-३)

'भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेदादि शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय-भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें स्वार्थ और कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी निन्दादि न करना, सब भूत-प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौचाचार-सदाचार एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

न्याय प्राप्त होनेपर गीता युद्ध करनेकी भी आज्ञा देती है; किंतु राग-द्वेषसे रहित होकर समभावसे। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(गीता २ । ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ।'

इसमें कैसी अद्भुत अलौकिक धीरता, वीरता, गम्भीरता और कुशलताका रहस्य भरा हुआ है ।

फल, आसक्ति, अहंता, ममतासे रहित होकर संसारके हितके उद्देश्यसे कर्तव्य-कर्म करना गीताका उपदेश है । गीतामें बताये हुए ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग—सब साधनोंका प्रधान उद्देश्य यह है कि सबका परम हित हो । इस उद्देश्यसे स्वार्थ और अभिमानसे रहित होकर सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ त्याग, समता और उदारतापूर्वक प्रेम और विनययुक्त व्यवहार करना चाहिये । उच्चकोटिके साधककी भी समता कसौटी है (देखिये गीता २ । १५, ३८, ४८) । एवं सिद्ध पुरुषकी भी कसौटी समता है (देखिये गीता ५ । १८-१९; ६ । ८-९, १२ । १८-१९; १४ । २४-२५) । अतः सम्पूर्ण क्रियाओं, पदार्थों, भावों और प्राणियोंमें समभाव रखना—यह गीताका प्रधान उपदेश है ।

गीतामें सभी बातें युक्तियुक्त हैं । गीताका सिद्धान्त है कि न अधिक सोये, न अधिक जागे, न अधिक खाय और न लङ्घन ही करे अर्थात् सब कार्य युक्तियुक्त करे; क्योंकि उचित भोजन और शयन न करनेसे योगकी सिद्धि नहीं होती । इसीसे भगवान्ने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
(गीता ६ । १७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ।'

गीतामें सात्त्विक, राजस, तामस क्रिया, भाव और पदार्थका वर्णन किया गया है । उनमें सात्त्विक धारण करनेके लिये और राजस-तामस त्याग करनेके लिये कहा गया है ।

यद्यपि उत्तम आचरण और अन्तःकरणका उत्तम भाव—दोनोंको ही गीताने कल्याणका साधन माना है किंतु प्रधानता भावको दी है ।

इस प्रकार अनेक प्रकारके उत्तम-उत्तम रहस्ययुक्त एवं महत्त्वपूर्ण भाव गीतामें भरे हुए हैं । हमलोग धन्य हैं जो हमें अपने जीवनकालमें गीता-जैसा सर्वोत्तम ग्रन्थ देखने-सुनने और पढ़ने-पढ़ानेके लिये मिल रहा है । हमें इस सुअवसरसे लाभ उठाना चाहिये—गीताका तत्परताके साथ श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अध्ययन करना चाहिये ।

गीताका अध्ययन करनेवालेको चाहिये कि वह उसे बार-बार पढ़े, हृदयङ्गम करे और मनमें धारण करे एवं उसके प्रत्येक शब्दका इस प्रकार मनन करे कि वह उसके अन्तःकरणमें प्रवेश कर जाय । भगवान्के शरण होकर इस प्रकार अध्ययन करनेसे भगवत्कृपासे गीताका तत्त्व-रहस्य सहज ही समझमें आ सकता है । फिर उसके विचार और गुण तथा कर्म स्वयमेव गीताके अनुसार ही होने लगते हैं । गीताके अनुसार आचरण हो जानेसे मनुष्यके गुण, आत्मबल, बुद्धि, तेज, ज्ञान, आयु और कीर्तिकी वृद्धि होती है तथा वह परमपदस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

अच्छे बननेका उपाय

(लेखक—श्री१००८ श्रीसीताराम दास ॐकारनाथजी)

अच्छे बनोगे, इसकी चिन्ता क्या है ?

—बतलाओ, कैसे अच्छा बनूँगा ?

किसीका भी दोष न देखो, इसीसे अच्छे बन जाओगे। जो दूसरोंके दोषोंको देखता है, वह उन दोषोंको आकर्षितकर स्वयं दोषमय बन जाता है। यदि सचमुच अच्छे बनना चाहते हो तो अदोषदर्शी बनो। दूसरोंके दोष देखनेके समान कोई पाप नहीं है। जो अन्याय करता है, वह तो करता ही है, तुम उसका अन्याय देखकर, ढोल बजाकर, अपनी आँख और जीभको कलङ्कित करते हो, इसीसे रोते-कलपते हो। आँखें मिली हैं सबको भगवान्‌के रूपमें दर्शन करनेके लिये, प्रणाम करनेके लिये। जीभ मिली है श्रीभगवान्‌के नाम-रूप-लीला-गुणका गान करनेके लिये, उस आँख और उस जीभको यदि दूसरोंके दोष देखने और बतलानेमें लगाते हो तो बतलाओ तुमसे बड़ा अभागा संसारमें दूसरा कौन है ?

—मुझे दूसरेके दोष दीखते हैं। तब कैसे नहीं कहूँगा ?

दूसरोंका दोष देखनेके पहले तुम अपने दोष देखो। जीवनभर कितने सैकड़ों दोष कर चुके हो, अब भी करते हो। अपने दोषोंको एक-एक करके चुन-चुनकर दूर कर डालो। बस, बिल्कुल निर्मल हो जाओगे, फिर दूसरोंके दोष नहीं देख पाओगे। तुम्हारे भीतर दोष है, इसीसे दूसरोंके दोष देख पाते हो। जिस दिन तुम दोषशून्य हो जाओगे, उस दिन किसीका दोष नहीं देख पाओगे। मनुष्य जिस प्रकार बारीकीसे दूसरोंके दोष देखता है, उसी प्रकार जिस दिन वह अपने दोषोंको देखेगा, उसी दिन निर्मल—एकदम दोष-शून्य हो जायगा। शिक्षित लोगोंमें भी ऐसे अभागे आदमी मिलते हैं, जो दूसरोंके लेखोंमें केवल दोष ही निकालते हैं। सम्भव है, दूसरे लेखकके लेखमें कितने ही सुन्दर भाव हैं, पर उन्हें न देखकर कहाँ दोष है, कौन लेखक कहाँ भूल करता है, वे यही खोजते रहते हैं और उसको जन-समाजमें प्रकाशित करके अपना कृतित्व प्रदर्शन करते हैं। शिव, शिव ! पर ही परमेश्वर हैं, उनका दोष देखना कृतित्व नहीं, महान् अकृतित्व है।

—बतलाओ फिर, कैसे हमारे दोष दूर होंगे ?

न चक्षुषा मनसा वा ना वाचा दूषयेदपि।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत् क्वचित्॥

(अध्यात्ममुक्तावलीधृत हारीत गीता)

चक्षु, मन या वाक्यके द्वारा किसीका दोष-दर्शन, चिन्तन या वर्णन न करे, प्रत्यक्षमें हो या परोक्षमें हो। कभी किसीकी निन्दा न करे।

—इच्छा न होते हुए भी दूसरोंके दोष दीख जाते हैं, यह दारुण रोग कैसे दूर होगा ?

रजोगुण और तमोगुणसे ही दोष दीखते हैं।

गुणे प्रवृद्धे वर्द्धन्ते गुणा दोषजयप्रदाः।
दोषे विवृद्धे वर्द्धन्ते दोषा गुणविनाशनाः॥

(योगवासिष्ठ २। १६। ३२)

संयमके अभ्यास और सात्त्विक आहार आदिके द्वारा जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, तब दोष नष्ट हो जाते हैं और राजसिक-तामसिक आहार तथा असंयमसे गुणोंका नाश करनेवाले दोष अत्यन्त बढ़ जाते हैं।

यथाऽऽत्मनि पुत्रे च सर्वभूतेषु यस्तथा।
हितकामो हरिस्तेन सर्वदा तोष्यते सुखम्॥

(विष्णुपुराण अंश ३ अ० ८)

जैसे मनुष्य अपनी और अपने पुत्रकी हितकामना करता है, उसी प्रकार जब वह सर्वभूतोंका हितकामी बनता है, तब उसके द्वारा हरि सर्वदा तुष्ट होते रहते हैं।

यथा पुमान् न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित्।
पारक्यं बुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः॥
(श्रीमद्भा० ४।७।५०)

पुरुष जिस प्रकार अपने सिर, हाथ आदि अङ्गोंको दूसरेका नहीं समझता, उसी प्रकार जो मत्परायण (भगवत्परायण) हैं, मुझ (भगवान्)को परात्पर समझते हैं, वे किसी भी प्राणीके ऊपर 'यह प्राणी तथा इसके सुख-दुःख आदि मुझसे भिन्न हैं'—ऐसी परकीय बुद्धिका आरोप नहीं करते।

—दोषदर्शन करना अतिशय दोषावह है। यह तो समझता हूँ, तथापि दोषदर्शन कर बैठता हूँ—इससे छूटनेका क्या उपाय है?

इस युगमें उपायकी तो कोई चिन्ता नहीं है, केवल भगवान्‌का नाम लो।

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥

अत्यन्त दुष्ट कलियुगका यह एक महान् गुण है कि श्रीकृष्णका नाम-कीर्तन करनेसे सारे बन्धनोंसे मुक्त होकर मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

अनुक्षण कर तुमि नामसंकीर्तन।
हेलाय लभिबे प्रिय प्रेम महाधन॥

तुम प्रतिक्षण नाम-संकीर्तन करो, प्रिय-प्रेमरूपी महाधन सहज ही पा जाओगे।

केवल नाम लो, नाम लेते-लेते वैराग्य स्वयं आ उपस्थित होगा।

वैराग्यबुद्धिसततमात्मदोषव्यपेक्षकः।
आत्मबद्धविनिर्मोक्षं करोत्यचिरादेव सा॥
(अ० सू० धृ० महाभारत)

विषयोंसे वैराग्य उपस्थित होते ही अपने ही दोषोंकी ओर दृष्टि जाती है। और वह अति शीघ्र ('अहं-मम' रूप) बन्धनसे मुक्त कर देती है। नाम लो और सबको भगवत्स्वरूप समझकर प्रणाम करो।

उठते और बैठते, खाते, पीते, सोते सारे दिन।
सतत नाम-संकीर्तन करता, तर जाता तुरंत वह जन॥
नामरूपसे हैं जगमें अवतीर्ण स्वयं वे श्रीभगवान।
नाम-गानमें, नाम-ध्यानमें सौंपो तुम अपने मन-प्रान॥

'वासुदेवः सर्वम्'

एक वही आसमानमें भी भासमान ईश,
उसके समान कौन, वह असमान है।
कौन है जहान वह, जिसमें जहाँ न वह,
किसमें कहाँ न वह, सबमें समान है॥
दृष्टिमें है छाया, सारी सृष्टिमें समाया सदा,
वह परमाणु, वह महत् महान् है।
अलख अरूप वही, सकल सरूप वही,
अग-जग बीच जगमग भगवान् है॥

—'राम'

कर्म-प्रवाह

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

कः कस्य हेतुर्दुःखस्य कश्च हेतुः सुखस्य वा ।
स्वपूर्वार्जितकर्मैव कारणं सुखदुःखयोः ॥

श्रीलक्ष्मणजी गुहराजसे कहते हैं कि कौन किसके दुःखका हेतु है ? तथा कौन सुखका हेतु ? अर्थात् दूसरा कोई दूसरेके सुख-दुःखमें कारण नहीं होता, पूर्वजन्मोंमें किये हुए अपने ही पुण्य-पापात्मक कर्म मनुष्यको सुख-दुःखका भोग प्रदान करते हैं। इसलिये—

सुखं वा यदि वा दुःखं स्वकर्मवशगो नरः ।
यद् यद् यथागतं तत्तद् भुक्त्वा स्वस्थमना भवेत् ॥

सुखका भोग आये या दुःखका। दोनों ही अपने कर्मके योगसे आते हैं। किये हुए कर्मोंका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं। इसलिये सुखके या दुःखके जो भोग, जब जिस रूपमें तथा जिस निमित्तसे भी आयें, उनको शान्तिसे भोग लेना चाहिये और चित्तको विचलित न होने देकर उसे स्वस्थ रखना चाहिये; क्योंकि प्रारब्धके भोग अनिवार्य हैं।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने चित्तकी इसी स्वस्थताके विषयमें कहा है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥
(५ । २०)

जो मनुष्य प्रिय अथवा अनुकूल संयोगोंमें हर्षको प्राप्त नहीं होता तथा अप्रिय अर्थात् प्रतिकूल संयोगोंमें उद्वेगको प्राप्त नहीं होता, वही पुरुष स्थिरबुद्धिवाला अथवा स्वस्थचित्त कहलाता है। ऐसा ही पुरुष संशयरहित है, वही आत्मज्ञानी है और वही ब्रह्ममें स्थितिवाला कहलाता है। अर्थात् यहाँ सुख-दुःखकी समताको ही मोक्षका द्वार बतलाया है।

अतएव आज हम कर्मका रहस्य समझनेका प्रयत्न करेंगे, जिससे सुख-दुःखके प्रसङ्गोंमें धैर्य धारण करके चित्तको स्वस्थ रखा जा सके और परिणाममें हम मोक्षके अधिकारी बन सकें।

कर्म शब्द 'कृ' अर्थात् 'करना' धातुसे बना है। इसलिये इसका अर्थ कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया—इतना ही होता है। शरीरकी रचना ही ऐसी है कि वह कर्म किये बिना रह नहीं सकता तथा शरीरके निर्वाहके लिये भी कर्म आवश्यक है, ऐसा गीतामें कहा है।

मनुष्य जबसे समझदार होता है, तबसे मृत्युपर्यन्त जो जो कर्म करता है, उसको 'क्रियमाण' कर्म कहते हैं। क्रियमाण शब्द कृ धातुके 'कर्मणि' प्रयोगमें वर्तमान कृदन्त है' अतएव इसका अर्थ होता है कि वर्तमान कालमें होनेवाला कर्म'

क्रियमाण कर्म तो दिन-प्रतिदिन हुआ ही करते हैं; उनमेंसे जिनका फल भोग लिया जाता है, वे तो फल प्रदान करके शान्त हो जाते हैं। शेष कर्म भविष्यमें फल देनेके लिये चित्तमें प्रतिदिन इकट्ठे होते जाते हैं।

इस प्रकार चित्तमे इकट्ठे होनेवाले कर्म 'सञ्चित' कर्म कहलाते हैं। सञ्चित शब्द सम्‌पूर्वक 'चि' अर्थात् इकट्ठा करना—इस धातुका भूत कृदन्त रूप है। इसलिये इसका अर्थ होता है व्यवस्थापूर्वक इकट्ठे हुए कर्म। ये सञ्चित कर्म अनादिकालसे इकट्ठे होते आ रहे हैं, इसलिये इनका पारावार नहीं होता।

इन सञ्चित कर्मोंमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये तैयार हो जाते हैं, उनको—जीव जब एक शरीर छोड़नेके लिये तैयार होता है, तब—अलग निकाल लिया जाता है और उनके फल भोगने योग्य योनिमें जीव वर्तमान शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है। उस शरीरको धारण करानेवाले वे फल देनेको प्रस्तुत कर्म ही 'प्रारब्ध' कर्म कहलाते हैं। प्रारब्ध शब्द 'प्र' तथा 'आ' उपसर्गपूर्वक 'रभ्' अर्थात् आरम्भ करना, क्रिया पदका भूत कृदन्तरूप है। इसलिये इसका अर्थ होता है कि भूतकालमें किये हुए कर्म, जिनका फल वर्तमान शरीरसे भोगना है।

अब कर्मका स्वरूप देखिये। प्रारब्धकर्मसे इस शरीरका निर्माण हुआ है, इसलिये पहले इसका विचार कीजिये।

प्रारब्ध कर्मका अर्थ है, अनेक जन्मोंमें जीवके किये हुए कर्मोंमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये तैयार हैं और जिनका भोग भोगनेके लिये जीवने यह शरीर धारण किया है। इसलिये यहाँ जिन-जिन सुख-दुःखोंका भोग भोगनेके लिये यह शरीर उत्पन्न हुआ है, उन-उन सुख-दुःखोंको भोग लेनेपर ही छुटकारा मिलेगा; क्योंकि भूतकाल किसीके लौटानेके मानका नहीं है। भविष्यका निर्माण करना तो अपने हाथमें है, पर जो हो गया, वह तो हो ही गया।

जो तीर कमानसे छूट गया, वह तो छूट ही गया। उसको किसी भी प्रकारसे लौटाया नहीं जा सकता। वह तो अपना काम करके ही शान्त होगा।

बबूलका बीज बो दिया तो फिर उसमेंसे बबूल ही उपजेगा तथा फलस्वरूप काँटे और अनन्त बबूल पैदा करनेकी शक्तिवाले बीज पैदा हुए बिना न रहेंगे। लाख प्रयत्न करनेपर भी कोई उनसे आम या जामुन पैदा नहीं कर सकेगा।

इसी प्रकार जिन-जिन कर्मोंका फल भोगनेके लिये यह देह बना है, उन-उन फलोंको भोगे बिना छुटकारा नहीं है। तब फिर सुखका भोग प्राप्त होनेपर फूल जाना व्यर्थ है और दुःखके भोगके समय उदास होकर पड़ जाना भी व्यर्थ है। इस विषयको समझाते हुए नीतिकार कहते हैं—

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम्।
यथाप्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः॥

सुखका भोग आये या दुःखका, इष्ट-संयोग आये या अनिष्ट-संयोग, उसको सहर्ष स्वीकार कर ले। दुःखके भोगमें घबरा न जाय तथा सुखके भोगमें उद्धत न हो, दोनोंको शान्तिसे भोग ले और हृदयमें क्षोभ न होने दे। जिस कर्म-फलको भोगनेके लिये शरीर उत्पन्न हुआ है, उसके भोगे बिना भला कैसे चल सकता है?

अब जब शरीर धारण कर लिया, तब शरीरके निर्वाहके लिये देहधारीको प्रतिदिन कर्म तो करने ही पड़ेंगे। इस प्रकार प्रतिदिन होनेवाले कर्म क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। जैसे प्रारब्धका भोग भोगनेमें मनुष्य पराधीन है, वैसे ही क्रियमाण कर्म करनेमें मनुष्य सोलहों आने पूर्ण स्वतन्त्र है। कोई भी ऐसी सत्ता नहीं, जो उसके मार्गको रोक सके। हाँ, इतना अवश्य है कि वासनाएँ उसको अपनी ओर खींचती हैं; परंतु इस आकर्षणके वशमें होना न होना, मनुष्यके अपने हाथमें है। उदाहरणार्थ, एक शराबीने किसी शुभ घड़ीमें यह निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो जाय पर अबसे मैं शराबको स्पर्श भी नहीं करूँगा। तथापि जब वह शराबकी दूकानके पाससे निकलता है, तब स्वभाववश वह दूकानकी ओर जानेके लिये ललचाता है; परंतु उस लालचके वश होना या न होना, उसके अपने अधिकारमें है। दृढ निश्चयवाला मनुष्य अपनी टेकपर दृढ रहता है और ढीले-ढाले निश्चयवाला मनुष्य अपनी टेक नहीं निभा सकता। श्रीभगवान्ने इस रहस्यको समझाते हुए अर्जुनसे कहा है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥
(गीता ६। ३६)

अर्थात् जो मनुष्य ढीले-ढाले स्वभाववाला है; वह मनोनिग्रह नहीं कर सकता—मनके ऊपर काबू नहीं रख सकता; परंतु जो मनुष्य दृढनिश्चयी है, वह विवेकसे अपना कार्य सिद्ध कर सकता है।

अतएव वर्तमान जीवनमें मनुष्य कर्म करनेमें सर्वांशमें स्वतन्त्र है, कोई उसमें बाधक नहीं बन सकता। उसकी इच्छा हो तो सकाम शुभकर्म करके स्वर्गमें जा सकता है और निष्काम शुभकर्मद्वारा चित्त शुद्ध करके मोक्ष प्राप्त करना भी उसकी मर्जीपर है; एवं पापाचरण करके नरककी यन्त्रणा भोगना हो तो उसको भी कोई रोक नहीं सकता। यहाँतक हमने देखा कि मनुष्य भूतकालके निर्माणको किसी भी उपायसे बदल नहीं सकता। परंतु भविष्यका निर्माण करनेमें वह पूर्णतया स्वतन्त्र है।

वर्तमान शरीरके क्रियमाण कर्मको 'पुरुषार्थ' नाम प्रदान किया जाता है। अब यह देखना है कि यह नाम क्यों प्रदान किया जाता है? मनुष्य-जन्म पाकर चार अर्थोंकी सिद्धि करनी पड़ती है; क्योंकि उसके प्रत्येक कर्म एक या दूसरे अर्थकी सिद्धिके लिये होते हैं। मनुष्यके स्थानमें पुरुष शब्द रक्खें तो पुरुषके अपने जीवनकालमें सिद्ध किये जानेवाले अर्थोंके लिये जो कर्म किये जायँगे, वे 'पुरुषार्थ' कहलायँगे। अर्थात् पुरुषार्थ शब्दका अर्थ क्रियमाण कर्मके सिवा और कुछ नहीं है।

इन चारों पुरुषार्थोंके विषयमें थोड़ा विचार कीजिये। ये हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमेंसे बीचके दोनों अर्थ और काम तो अधिकांशमें प्रारब्धके अधीन हैं; क्योंकि शरीर तो प्रारब्धका भोग भोगनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है। धर्म और मोक्षके लिये पुरुषार्थका अवलम्बन आवश्यक है; क्योंकि वह प्रारब्धके अधीन नहीं है। यहीं मनुष्य भूल करता है। अर्थ और काम अर्थात् शरीरके भोग जो प्रारब्धके अधीन हैं, उनके लिये तो जीवन भर परिश्रम किया करता है, परंतु वे मिलते हैं प्रारब्धके अनुसार ही; तथा धर्म और मोक्ष जो केवल पुरुषार्थसे ही सिद्ध होते हैं, उनमें प्रारब्धका भरोसा करके बैठा रहता है।

अब यदि मनुष्य विवेकसे यह समझ जाय कि शरीरके

भोग या भोगके साधन तो प्रारब्धके अधीन हैं, इनके लिये मनुष्य चाहे जितना ही छटपटाये, विशेष कुछ मिलनेवाला नहीं है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह धर्माचरणके द्वारा मोक्षकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील बने तथा भोगोंकी प्राप्तिमें जो सारा जीवन व्यर्थ नष्ट करता है एवं नीति-अनीतिका ध्यान नहीं रखता, वह न करे। अतएव इस बातको समझानेके लिये दो-एक प्रमाण दिये जाते हैं। जिनके यथार्थ निश्चय करने तथा उसे काममें लानेमें सुविधा हो सकती है।

पातञ्जलयोगदर्शनमें एक सूत्र है—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'। अर्थात् जबतक कर्मरूपी मूल है तबतक शरीररूपी वृक्ष उगेगा ही और उसमें जाति, आयु और भोगरूपी फल भी लगेंगे ही। तात्पर्य यह है कि जब जीव एक शरीरको छोड़ता है, तब सञ्चित कर्ममेंसे जो कर्म 'फल देनेके लिये तैयार' होते हैं, उनसे प्रारब्धकी रचना होती है और प्रारब्धके भोगके अनुसार जीवको शरीर और आयुष्यकी प्राप्ति होती है। अर्थात् शरीर, शरीरकी आयु और उसको प्राप्त होनेवाले भोग—ये तीनों ही उसके जन्म लेनेके पहले ही निश्चित हो जाते हैं, इसलिये फिर इनके लिये परिश्रम करना तो व्यर्थ ही है, यह स्पष्ट जान पड़ता है।

ऐसा एक प्रसङ्ग श्रीमद्भागवतमें भी है। श्रीप्रह्लादजी अपने सहपाठियोंसे कहते हैं—

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखमयत्नतः॥

'दैत्यपुत्रो! शरीरके भोग तो (अर्थ और काम) शरीरकी उत्पत्तिके पहले ही निश्चित हो जाते हैं और इस कारण जैसे दुःख बिना यत्नके ही आ जाता है, उसी प्रकार सुखके भोगके लिये भी कोई विशेष परिश्रम आवश्यक नहीं होता; क्योंकि दोनों प्रकारके भोग शरीरके जन्मके साथ ही निश्चित हो गये होते हैं।

यहाँतक यह निश्चय हो गया कि पुरुषार्थ करना है तो धर्म और मोक्षके लिये, अर्थ और कामके लिये नहीं; क्योंकि इनका निर्माण तो शरीरके जन्मके साथ ही हो गया होता है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिये, जिससे इस विषयमें मनुष्यको जो भ्रम हो गया है, वह दूर हो जाय। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दोनोंमें सदा ही विरोध रहता है। पर यह बात सत्य नहीं है। आज जो क्रियमाण 'पुरुषार्थ' कर्म होता है, वही कल सञ्चितमें मिल जाता है और वही कर्म अपने पाक-कालमें प्रारब्ध बनता है और उसको भोगनेके लिये उत्पन्न शरीरको भोग प्रदान करता है। अतएव पुरुषार्थ ही कालान्तरमें प्रारब्ध बनता है, तब फिर वह यदि उसका विरोध करता है तो वह आप अपना विरोध करता है, जो कभी सम्भव नहीं। इसलिये प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दोनोंमें विरोध नहीं हो सकता। बल्कि दोनोंके कार्यक्षेत्र विभिन्न होनेके कारण वे परस्पर टकरा भी नहीं सकते। प्रारब्ध तो वर्तमान शरीरको भोग प्रदान करता है और पुरुषार्थ भावीकी सृष्टि करता है, जिससे कालान्तरमें यही पुरुषार्थ प्रारब्ध बनकर शरीरको भोग प्रदान करेगा।

अब सञ्चित कर्मके विषयमें विचार कीजिये। वह कर्मका अक्षय कोष है। जहाँ कर्म अनादिकालसे इकट्ठे होते आ रहे हैं और उसमेंसे भोग भी होते जाते हैं, तथापि अबतक वे समाप्त नहीं हुए, तात्पर्य यह कि भोगते-भोगते वे समाप्त हो जायँ, ऐसी बात नहीं है।

यहाँ कुछ विचारवान् सज्जन पूछते हैं कि यदि कर्मका फल भोगनेके लिये ही जीवको शरीर धारण करना पड़ता है तो सृष्टिके प्रारम्भमें कर्म कहाँसे आया? पहले शरीर हुआ या कर्म? यदि कहो कि पहले शरीर हुआ तो कर्मके भोगके बिना शरीरका निर्माण ही नहीं होता और यदि कहो कि पहले कर्म हुआ तो उस कर्मको कब किसने किया?—इसका उत्तर संक्षेपमें इतना ही है कि हमारे शास्त्र सृष्टिको अनादि मानते हैं। इसलिये 'अनादिका प्रारम्भ कैसे हुआ'—यह प्रश्न ही नहीं बनता। तथापि शास्त्रोंने इस प्रश्नका समाधान अनेक रीतिसे किया है। योगवासिष्ठने इस विषयको इस प्रकार समझाया है—

'सृष्टिके आरम्भ-कालमें ब्रह्म ही सृष्टिरूप हो जाता है। जैसे ब्रह्मा आदि जो ब्रह्मरूप ही हैं, सृष्टिके आदिकालमें प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार दूसरे जीव, जो ब्रह्मरूप ही हैं, लाखों और करोड़ोंकी संख्यामें प्रकट हो जाते हैं। जो अज्ञानके आवरणके कारण अपने ब्रह्मभावको भूलकर अपनेको ब्रह्मसे पृथक् समझते हैं, वे रजोगुण और तमोगुणके द्वारा मिश्रित सत्त्वगुणके परिणामसे होनेवाले जीवभावको स्वीकार कर, इस जगत्की वासनाओंके संस्कारसे युक्त होकर पहले मर जाते हैं। पश्चात् उनका जन्म प्रारब्ध कर्मका भोग भोगनेके लिये होता है; क्योंकि स्वयं ब्रह्मरूप होते हुए भी इस बातको भूलकर वे जड देह आदिमें आत्मबुद्धि करके जन्म-मरणके चक्रमें घूमा करते हैं। समय आनेपर जब वे

स्वयं अपने मूलस्वरूपको देखते हैं और निश्चय करते हैं कि वे स्वयं ब्रह्मरूप या परमात्मरूप हैं, तब उनका जन्म-मरणका चक्र बंद हो जाता है। इस स्थितिको मोक्ष या मुक्ति कहते हैं।' (योगवासिष्ठ नि० उ० सर्ग १४२)

कर्मसम्बन्धी एक बात यहाँ समझने योग्य है। नवीन कर्म केवल मनुष्य-शरीरसे ही बनते हैं; दूसरी योनियोंके शरीर तो केवल भोग भोगने मात्रके लिये ही हैं। देव-शरीर भी भोग भोगनेके लिये ही मिलता है और भोग समाप्त हो जानेके बाद उसको छोड़कर फिर मर्त्यलोकमें जन्म लेना पड़ता है। इसलिये मनुष्य-शरीर ही एक ऐसा है, जिससे नवीन कर्म हो सकते हैं, अतएव इस शरीरका बहुत बड़ा महत्त्व है; क्योंकि मनुष्य-शरीरसे ही नर नारायण हो सकता है।

अब यह समझनेकी बात है कि कौन-से कर्म सञ्चितमें इकट्ठे होते हैं और कौन-से नहीं। जिन कर्मोंके करते समय 'मैं यह कर्म कर रहा हूँ,' ऐसा अहङ्कार होता है तथा जो कर्म फलकी आशासे किये जाते हैं, इसी प्रकारके कर्म सञ्चितमें इकट्ठे होते हैं; क्योंकि वे भविष्यमें फल देनेवाले हैं। इसलिये ज्ञानीके द्वारा तथा नासमझ बालकके द्वारा होनेवाले कर्म सञ्चितमें इकट्ठे नहीं होते; क्योंकि उस समय उनमें कर्तापनका अहंकार नहीं होता तथा फलकी आशा भी नहीं होती*।

हमने देखा कि सञ्चित कर्म एक अक्षय भण्डार है, भोगके द्वारा जिसका क्षय नहीं हो सकता। फिर कर्मका ऐसा नियम है कि करोड़ों 'कल्प बीत' जानेपर भी भोगे बिना कर्मका नाश नहीं होता।

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।'

सञ्चित कर्मोंका भोगके द्वारा पार पाना कठिन है और भोगे बिना कर्मका नाश नहीं होता। तब तो जीवकी मुक्तिका कोई उपाय ही नहीं बच रहता। अनादिकालसे जो जन्म-मरणरूप संसार चला आ रहा है, उसका कारण यही है। इसका उपाय भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें स्पष्ट बतलाया है, उसे देखिये—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥
(४। ३७)

भगवान् कहते हैं कि जैसे लौकिक अग्नि काष्ठको जला डालती है। मोटा, पतला, गीला, सूखा, मकान बनानेकी लकड़ी या जलावन आदिका कुछ भी विचार अग्नि नहीं करती, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सञ्चित कर्ममात्रको जला डालती है। शुभ, अशुभ या मिश्र—सभी कर्मोंको निःशेष जला डालती है। ऐसी स्थितिमें फिर जीवको दूसरा शरीर धारण करनेका कोई कारण नहीं रह जाता। प्रारब्ध तो भोगके द्वारा अपने-आप नाशको प्राप्त हो जाता है। उसमें

* कर्मका रहस्य संन्यासगीतामें इस प्रकार समझाया गया है। पहले तो, जैसे भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें 'गहना कर्मणो गतिः' कहा है, उसी प्रकार कहते हैं कि कर्मका रहस्य इतना गूढ है कि उसका समग्र स्वरूप समझना या समझाना मानव-बुद्धिके परे है।

सामान्य रीतिसे समझनेके लिये कर्मके तीन प्रकार कहे गये हैं—

(१) 'सहजकर्म', समष्टिसत्तासे संचालित कर्म, जो कर्म सहज स्वभाव या प्रकृतिकी प्रेरणासे होते हैं। यहाँ जीवन-सामग्रीमें केवल प्रारब्धका भोग होता है, अतः उनमें कर्तृत्वका अभिमान या फलाशा नहीं होती और इस कारण इस प्रकारके कर्म जीवके लिये बन्धनकारक नहीं होते। ८४ लाख योनियोंमेंसे ८३,९९,९९९ योनियाँ सहज कर्मकी अधिकारिणी हैं।

(२) 'जैव-कर्म'—जीवभावसे होनेवाले कर्म। यहाँ देहाध्यास होता है, इसलिये कर्तापनका अभिमान भी रहता है तथा फलाशा भी होती है। मैं शरीर हूँ, इस अभिमानके साथ शरीरको सुख पहुँचानेके लिये जो कर्म होते हैं, वे सब 'जैव-कर्म' कहलाते हैं। इस प्रकारके कर्म जीवके बन्धनके कारण बनते हैं और इन्हींके कारण मनुष्यको जन्म-जन्मान्तरमें भोग भोगने पड़ते हैं तथा लोक-लोकान्तरमें घूमना पड़ता है। जैसे—

करोति दुःखेन हि कर्मतन्त्रं शरीरभोगार्थमहर्निशं नरः।
(अ० रा०)

(३) 'ऐश-कर्म'—ईश्वरकी इच्छासे विराट केन्द्रद्वारा होनेवाले कर्म। इस कोटिमें जीवन्मुक्त पुरुषोंके द्वारा होनेवाले कर्मोंकी गणना होती है। जीवन्मुक्तके शरीरको बचाये रखनेके लिये प्रारब्ध-भोगके सिवा दूसरी कोई सामग्री नहीं। अतः जीवन्मुक्त कर्म करते हुए भी अकर्ता है, भोक्ता होते हुए भी अभोक्ता है। इसलिये ऐसे कर्म भी बन्धनकारक नहीं होते। जैसे—

देहस्तु भिन्नः पुरुषात्समीक्ष्यते को वात्र भोगः पुरुषेण भुज्यते।
(अ० रा०)

तो कुछ करना ही नहीं रहता। क्रियमाण ज्ञानीको फल नहीं देता; क्योंकि ज्ञानीके कर्म कर्तृत्वाहंकाररहित तथा फलाशारहित हुआ करते हैं और सञ्चित, जैसा कि हम बतला चुके हैं, ज्ञान होनेपर नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानी मुक्त हो जाता है। उसको दूसरा शरीर धारण करना नहीं पड़ता।

श्रुति भी कहती है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'। इसका यही आशय है कि ज्ञानके द्वारा संचित कर्मका नाश करनेके सिवा मुक्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

इस छोटेसे निबन्धमें हमने देख लिया कि—

(१) जो-जो सुख-दुःखके भोग भोगनेके लिये यह शरीर उत्पन्न हुआ है, उन-उन भोगोंको भोगे बिना छुटकारा नहीं है। इसलिये यथाप्राप्त भोगोंको शान्तिसे भोग लेनेमें ही बुद्धिमानी है।

(२) वर्तमान जीवनमें कर्म करनेमें मनुष्य पूर्ण रीतिसे स्वतन्त्र है। कोई भी ऐसी शक्ति नहीं, जो उसके मार्गको रोक सके। इसलिये अपनी इच्छाके अनुसार मनुष्य अपने भविष्यका निर्माण कर सकता है।

(३) सञ्चित कर्मका ढेर भोगनेसे समाप्त होनेवाला नहीं है। इसलिये जन्म-मरणके बन्धनसे छूटना हो तो ज्ञान, तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान प्राप्त करके संचित कर्मको दग्ध कर देना चाहिये। इस बातका समर्थन करती हुई श्रुति भगवती कहती है—

> अहं ब्रह्मेति विज्ञानात् कल्पकोटिशतार्जितम्।
> संचितं विलयं याति प्रबोधात् स्वप्नकर्मवत्॥

'मैं आत्मा हूँ या मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकारका यथार्थ ज्ञान होनेपर करोड़ों कल्पोंके इकट्ठे सञ्चित कर्म वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे निद्रासे जागनेवालेके स्वप्नके कर्म क्षणभरमें नाशको प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक देहधारी कर्मके प्रवाहमें पड़ा हुआ है। प्रवाह गोलाकार है, इसलिये इसका कभी अन्त नहीं होता। नदी समुद्रमें गिरती है तो उसका अन्त हो जाता है, परंतु गोलाकारमें बहनेवाले प्रवाहका अन्त नहीं होता। वृक्ष और बीजके समान कर्मसे शरीर और शरीरसे कर्मका प्रवाह अनादिकालसे चला आ रहा है, तब समझदार आदमीको क्या करना चाहिये ? इसका उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें इस प्रकार देते हैं—

> यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
> ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
> (४। १९)

'जिसके सारे कर्म कामनाओं तथा संकल्पोंसे रहित होते हैं और जिसके सञ्चित कर्म ज्ञानाग्निसे दग्ध हो जाते हैं, उसको विद्वान् लोग पण्डित कहते हैं।'

सारांश यह है कि वही मनुष्य बुद्धिमान् या चतुर है, जिसने ज्ञानरूपी अग्निसे अपने समस्त सञ्चित कर्मको दग्ध कर दिया है और जीवनकालमें जो कर्म करता है, वह फलाशा तथा अहंकारका त्याग करके करता है, अतः वे कर्म भुने बीजके समान भावी अङ्कुर (फल) उत्पन्न नहीं कर सकते। फलतः वह जन्म-मृत्युरूपी भव-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। मनुष्य-शरीरकी सार्थकता यही है।

इस सारे निबन्धका सार व्यासजीके समान केवल आधे श्लोकमें देना हो तो इस प्रकार दे सकते हैं—

> श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तमिह विस्तरैः।
> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन॥

वर्तमान कालमें कर्म करनेमें मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है; परंतु किये हुए कर्मोंका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

विरह-कष्टसे त्राण करो

> अर्पण मेरे हैं सदा तुममें जीवन-प्राण।
> तुम्हीं एक आधार हो, तुम्हीं परम कल्याण॥
> तुम ही मेरी परम गति, प्रीति बिना परिमाण।
> मिलो तुरत, मेरा करो विरह-कष्टसे त्राण॥

—अकिंचन

चरम कल्याण

(लेखक—स्वामी श्रीनिष्किञ्चनजी महाराज)

मनुष्यको छोड़कर दूसरे प्राणियोंमें अपना कल्याण-चिन्तन करनेकी योग्यता नहीं है। वे सामयिक प्रयोजनके अनुसार आहार, निद्रा, भय और विहारमें रत रहते हैं। इसके अतिरिक्त कल्याणकी कोई बात वे सोच नहीं सकते। भूख लगनेपर वे भोजनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते हैं। अतएव जो-जो प्राणी मांसाहारी होते हैं, वे अपनी अपेक्षा दुर्बल प्राणियोंकी हत्या करके अपनी उदरपूर्ति करते हैं। जो मांसाहारी नहीं होते, वे प्राणी अपने-अपने उपयोगी वनस्पति—जैसे वृक्ष, गुल्म, लता, शस्य आदि भोज्य-पदार्थोंको सर्वत्र घूम-फिर करके प्राप्त कर लेते हैं। बाधा प्राप्त होनेपर ये विक्षुब्ध हो उठते हैं। सामर्थ्य होनेपर बाधाका विनाश करके क्षुधाके निवारणके लिये प्रवृत्त होते हैं। समय-समयपर एक जातिके जीव भी आहार संग्रह करनेमें परस्पर लड़ाई-झगड़ा करने लगते हैं। तात्कालिक भूखकी निवृत्ति ही उनका प्रयोजन होता है। किसी कल्याण-अकल्याणमय फलका विचार उनको नहीं होता। निद्रा और विहारके सम्बन्धमें भी वे तात्कालिक व्यवस्थाके लिये समय-समयपर कलह और विरोध कर बैठते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि कोई-कोई प्राणी, जैसे चींटी, मधुमक्खी आदि आहारका सञ्चय करके रखते हैं। इस क्षेत्रमें उनकी स्वाभाविक जातीय वृत्ति (Instinct) ही कारण होती है। वे भावी कल्याणकी बात सोचकर आहार-संग्रह नहीं करते, वह उनका जातिगत धर्म है। संगृहीत मधु साधारणतः मधुमक्खियाँ खा नहीं पातीं, उसका भोग प्रायः मनुष्य या भालू आदि प्राणी करते हैं। जो प्राणी शयनके लिये स्थान चुनते हैं, वह भी उनके सामयिक सुख-लाभ तथा कष्ट-निवृत्तिकी प्रवृत्तिके कारण होता है, भावी दुःख-निवृत्तिके लिये नहीं। घर बनाना भी उनका जातीय संस्कार होता है। वे भविष्यमें कल्याणके विचारसे घर नहीं बनाते। भविष्यका विचार करके वे कभी अकल्याणकी आशङ्का नहीं करते। विपत्तिको सामने आयी देखते हैं, तब भयभीत होकर भाग जाते हैं।

परंतु मानव-प्राणी उपर्युक्त वय प्राप्त होनेपर अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार आत्मकल्याणके लिये यत्न करता है। कुछ ज्ञान होनेपर बालक भी जल जानेके भयसे अग्निका स्पर्श नहीं करता। यह बात नहीं है कि सभी एक ही प्रकारसे अपने-अपने कल्याणकी चेष्टा करते हों; परंतु स्थूलरूपसे सभी मनुष्य कुछ-न-कुछ अपने मङ्गलकी चेष्टा करते हैं, किंतु अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार मनुष्योंकी कल्याण-विषयक व्यक्तिगत धारणा विभिन्न प्रकारकी होती है। एक उदाहरणद्वारा इसको समझाना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा। नदीके स्रोतके विरुद्ध, अनुकूल वायु न पानेपर बहुधा गुन या रस्सीद्वारा खींचकर नौकाको ले जाना पड़ता है। जो उस गुनको खींचते हैं, उनको नदीके किनारे-किनारे कीचड़मे होकर जाते समय बड़ा कष्ट होता है, विशेष करके उस समय जब कि उस कीचड़में काँटे-कंकड़ होते हैं। इस प्रकारके गुन खींचनेवाले एक आदमीको कहते सुना था कि 'आह! खुदा (भगवान्) यदि दिन दे तो नदीके किनारे-किनारे गद्दा बिछाकर कब गुन खींचूँगा।' देखिये, उसकी कैसी कल्याणकी धारणा है! यह भगवत्कृपासे धनी होनेपर भी गुन खींचना नहीं छोड़ेगा, परंतु वह अपने कष्टको सिर्फ कम करना चाहता है। दूसरे उदाहरणसे यह विषय और भी स्पष्ट समझमें आ जायगा। किसी प्रदेश-विशेषमें ग्रामीण लोग प्रायः गुड़ खानेको ही विशेष कल्याण-रूप मानते हैं, कहते हैं 'जो राजा होता है, वह पता नहीं कितना गुड़ खाता है।' इस प्रकार कल्याणकी धारणा व्यक्तिभेद और अवस्थाविशेषमें विभिन्न होती है।

इस प्रकारके उदाहरणोंकी कमी नहीं है, किंतु प्रायः सबके नित्य व्यावहारिक जीवनसे एक दृष्टान्त और देकर समझना है। बच्चे खूब लाल रंगकी झुनझुनीके लिये लालायित रहते हैं। फिर कुछ बड़े होनेपर लड़कपनमें वे उस झुनझुनीसे संतुष्ट नहीं होते; अब उनको रबड़की गेंद, गुब्बारा और गोली आदि चाहिये। परंतु किशोरावस्था आनेपर इन वस्तुओंसे भी काम नहीं चलता; उस समय उनके लिये मैदानमें बेडमिण्टन, वालीबाल, व्यवस्थित फुटबॉल आदि खेलका आयोजन होना चाहिये। यौवनके प्रारम्भसे ही विवाहकी आकांक्षा जाग उठती है, पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेपर अच्छा घर, मोटरकार आदि न मिलनेपर वह समझता है कि कुछ भी कल्याण नहीं हुआ। आयु और अवस्थाके परिवर्तनके साथ-साथ कल्याणके

आदर्श भी बदल जाते हैं। प्रौढ़ और वृद्ध होनेपर सबसे सम्मान, आदर, सेवा-प्राप्ति आदि कल्याणप्रद लगने लगते हैं; परंतु इन सबमें कोई भी किसीके लिये नित्य कल्याण-प्रद नहीं है।

सभी जीव सुख चाहते हैं, आनन्द चाहते हैं; परंतु प्रत्येकका आनन्द समान नहीं है। दुष्ट प्रकृतिके मनुष्य आपात (विषय-) सुखके लिये लालायित रहते हैं। वे पशुके समान भविष्यकी चिन्ता नहीं करते। जैसे भी हो, वे अपनी सुख-सामग्री जुटानेमें ही व्यस्त रहते हैं। इसके लिये वे झूठ, चोरी, ठगी, डकैती, हत्या, बलात्कार आदि कोई भी पाप करनेके लिये प्रस्तुत रहते हैं। वे दूसरेके कल्याणकी बात कभी सोचते ही नहीं। इन्द्रियोंकी सेवामें मस्त रहकर वे उन्हींके ही भोग जुटानेमें लगे रहते हैं। उनका मन इन्द्रियोंका परिचालक न होकर उनका अनुगामी बना रहता है। जोरका तूफान जैसे नौकाको जलमें डुबो देता है, उसी प्रकार वशमें न की हुई इन्द्रियाँ मनुष्यकी बुद्धिको लुप्त कर देती हैं, यही भगवान् श्रीकृष्णने (गीता २। ६७ में) अर्जुनसे कहा है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

इस प्रकारके मनुष्यको पशुकोटिमें रखकर, अब हम शिष्ट प्रकृतिके मनुष्यके सम्बन्धमें आलोचना करेंगे।

इस प्रकारके मनुष्य जानते हैं कि दूसरोंका अनिष्ट करके तथा उन्हें क्लेश पहुँचाकर अपने सुख-साधनकी चेष्टा करना उचित नहीं है। इसमें स्वयं भी बहुत-कुछ दुःख-कष्ट उठाना पड़ता है। कभी शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है, कभी राजदण्डसे दण्डित होकर दुःख उठाना पड़ता है और सदा लोकनिन्दा तथा घृणाका पात्र बनकर समाजमें रहना कठिन—असम्भव हो जाता है। इन सब बातोंका विचार करके ईश्वरमें विश्वास न रखनेवाले लोग भी नीतिवादी होते हैं। जिससे अपने सुख-संग्रहमें दूसरोंको असुविधा न हो, यह लक्ष्यमें रखकर वे लोग शान्तिमय जीवन व्यतीत करनेका प्रयास करते हैं; परंतु इसमें उनकी सुख-प्राप्ति कुछ संकुचित हो जाती है; जिनका ईश्वर और शास्त्रमें विश्वास है, वे पाप-पुण्यका विचार करके संयमकी शिक्षा देते हैं। तथापि लोगोंके दुःख और कष्टमें कमी नहीं है, प्रायः सबको त्रिताप-दग्ध होना पड़ता है। आध्यात्मिक ताप—शारीरिक तथा मानसिक कष्ट प्रायः रहते ही हैं। पीड़ा, नैराश्य—ये सुख-साधन-संग्रहके मार्गके विघ्न हैं; परिवारके अन्य किसीकी भी (स्त्री, पुत्र-पुत्री आदिकी) पीड़ा, पारस्परिक मनोमालिन्य आदि कायिक और मानसिक ताप सभीको भोगने पड़ते हैं। आधिभौतिक ताप अर्थात् पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदिसे प्राप्त होते हैं। जैसे गाय-भैंस आदिके उत्पातसे खेतीको नुकसान, कुत्ते-व्याघ्र आदिके काटनेसे घाव या मृत्यु होती है। आधिदैविक ताप—अर्थात् अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अग्निसे गृह आदिका दाह, भूकम्प, बाढ़, वज्रपात आदिसे बहुधा क्लेश उठाना पड़ता है। उस समय इन सब हानियोंका कारण अपने किये हुए इस जन्मके कर्मोंका फल न सोचकर, शास्त्रोक्त पूर्व-जन्म तथा उनमें किये हुए कर्मके फलसे ये दुःख प्राप्त हो रहे हैं, ऐसा विश्वास करके शास्त्रविधिसे उन पापोंकी शान्तिके लिये प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार कर्म-योगको स्वीकार करके लोग दुःख-नाश और सुख-प्राप्तिके लिये ही नहीं, परलोकमें दुःखसे बचने और स्वर्ग-सुख प्राप्त करनेके लिये, शास्त्रीय धर्म-कर्म आदिमें प्रवृत्त होकर पुण्यसञ्चय करते हैं। इन सारे पुण्यसञ्चयकी चेष्टाओं और धर्मके साधनोंके मूलमें रहता है वही भोग, अर्थात् मन और शरीरसे कष्ट न भोगना पड़े, इसी हेतु यह चेष्टा की जाती है। वे यज्ञादि धर्म-कर्मोंके फलस्वरूप इस जन्ममें और फिर स्वर्गमें सुख प्राप्त करनेको ही जीवनका उद्देश्य मानते हैं।

परंतु हम देखते हैं कि धर्म-पालन करनेपर भी इह-जीवनमें नाना प्रकारकी बाधाओं और विपत्तियोंके कारण सुख स्थायी नहीं होता। जब कर्मका मूल भोगेच्छा है, तब पापको पूर्णरूपेण मनसे हटाना बड़ा कठिन है। और भी देखते हैं कि सुखके साथ-साथ दुःख अनुस्यूत रूपमें रहता है। पुत्रकी कामना करके यज्ञानुष्ठान करनेसे यद्यपि पुत्रकी प्राप्ति होती है, परंतु यदि वह अपने मनके अनुकूल नहीं होता, अथवा होकर रोगी या दुष्ट निकल जाता है, अथवा अकाल-मृत्युको प्राप्त हो जाता है तो पुत्रकी प्राप्तिसे सुख कैसे होगा? यह एक उदाहरण है। सबको पुत्रसे ही दुःख होता हो, यह बात नहीं है; परंतु अन्य प्रकारके दुःख भी हैं। संक्षेपमें कह सकते हैं कि नित्य निष्कण्टक सुखकी प्राप्ति, शायद किसीके भी जीवनमें सम्भव नहीं है। दुःखकी छायासे रहित केवल सुख-भोग किसीके जीवनमें नहीं होता। हम बाह्यरूपमें बहुतोंका निरन्तर दुःखरहित

तथा सुख-सम्पन्न भोगी समझ सकते हैं; परंतु यह धारणा भ्रान्त है। 'मुझे कोई भी दुःख नहीं है'—यह बात किसीके भी मुँहसे सुननेमें नहीं आती। जीवनभर दुःखमिश्रणसे रहित केवल सुखका भोगनेवाला आकाशकुसुमके समान असम्भव है।

मान लिया, पर यह तो इह-जीवनकी बात है, स्वर्गसुखमें तो कोई दुःख नहीं है। अतएव धर्म-कर्मके द्वारा पुण्यसञ्चय करके मृत्युके बाद स्वर्ग-सुख प्राप्त करनेकी बात बहुत कुछ सत्य ही है। शास्त्रमें भी लिखा है—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥
(कठ० १।१।१२)

महर्षि उद्दालकका पुत्र नचिकेता पितृसत्य-पालनके लिये पिताकी अनुमति लेकर जब यमराजके पास जाता है, तब वहाँ शिक्षाकी प्रार्थना करते हुए कहता है कि 'मैं जानता हूँ स्वर्गलोक बड़ा सुखकर है, वहाँ कोई भय नहीं, वृद्धावस्थाका भी भय नहीं है और आप (मृत्यु) का भी भय नहीं है। वहाँ भूख-प्यासके दुःख भी किसीको नहीं होते। सभी शोकमुक्त होकर स्वर्गमें पूर्ण सुख प्राप्त करते हैं।'

परंतु आगे चलकर वही यमराजसे कहता है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
(कठ० १।१।२६)

हे अन्तक या यमराज! आपने जिन स्वर्गके भोगोंकी प्रशंसा की है, वे सब तो क्षणभङ्गुर हैं और मनुष्यकी इन्द्रियोंके तेजको अपहरण करते हैं तथा स्वर्गमें जीवन मर्त्यलोककी तुलनामें दीर्घ होनेपर भी अल्पकालमात्रव्यापी होता है। आपके द्वारा कथित रथादि स्वर्गके वाहन, रमणीय नृत्य-गीत आदि—ये सब कुछ भी मूल्यवान् नहीं हैं। कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य इन सबके द्वारा प्रलोभित नहीं होता।

स्वर्गसुखके अनित्यत्वके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने भी गीतामें अर्जुनको और भागवतमें उद्धवको अवगत कराया है। जैसे—

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
(गीता ९।२०-२१)

यज्ञ-व्रत-दान आदि धर्माचरणसे प्राप्त पुण्यके फलसे देव-लोकको प्राप्त होकर धार्मिक लोग देवताओंके समान स्वर्ग-सुख-भोग तो करते हैं, परंतु भोग करते-करते जब संचित पुण्य-का क्षय हो जाता है, तब फिर वे स्वर्गसे च्युत होकर पृथ्वीमें लौट आते हैं।

तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः॥
कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः॥
(श्रीमद्भा० ११।१०।२६,२९)

इस वर्णाश्रमरूपी कर्मके योगसे अभय फल प्राप्त नहीं होता। जबतक पुण्यक्षय नहीं होता, तभीतक प्राणी स्वर्गमें आनन्द भोग करता है। पुण्यके समाप्त होनेपर, इच्छा न होते हुए भी, काल-प्रेरित होकर उसे नीचे गिरना पड़ता है। पुनः जिन कर्मोंका फल दुःख होता है, उनको करते हुए वहीं अर्थात् मर्त्यलोकमें पुनः-पुनः देह धारण करता है—अतएव मर्त्यजन्ममें सुख क्या है?' (श्रीठाकुर भक्तिविनोद)

यही कर्मयोग है। 'योग' शब्दसे हठयोग या यम-नियमादि-द्वारा 'अष्टाङ्गयोग' अथवा 'राजयोग' नहीं समझा जाता। परंतु जो कोई भी योग नहीं करते, उनके विषयमें पहले कुछ संकेत कर चुके हैं। वे लोग आपात सुखके कारण, कोई संयम न करके जो सुविधाजनक प्रतीत होता है, वही कर्म करते हैं। वे पापसे नहीं डरते। जो मनमें आता है, करते हैं। उनका कोई 'योग' नहीं होता और जो संयमशील होकर भविष्यमें मङ्गल-प्राप्तिकी चेष्टा करते हैं, वे ही योगसाधक हैं। उनमें जो सुख-भोगको ही मङ्गल समझकर उसकी प्राप्तिके लिये काम-क्रोध आदिको वशमें करके शास्त्रोक्त कर्म करते हैं, वे कर्मयोगी हैं। ये कर्मयोगी अन्तमें जब अनासक्त-भावसे कर्म करनेका सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं, तब इसमें बिशिष्टता प्राप्त करके क्रमशः उन्हें भगवद्भक्तिके पथमें अग्रसर होनेकी योग्यता प्राप्त होती है। गीतामें भगवान्‌ने यही आदेश दिया है—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥
(गीता ३ । ७)

तथा और भी स्पष्टतः बतलाया है कि इससे भगवन्निष्ठा-जनित शान्ति प्राप्त होती है ।

'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।'

और तब वह प्रकृत ज्ञानकी प्राप्तिमें समर्थ होकर यथार्थ कल्याण प्राप्त करनेमें सफल होते हैं । जैसे—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

भगवान् श्रीकृष्णने जीवके कल्याणके लिये भागवतमें तीन प्रकारके योगोंकी बात उद्धवजीसे कही है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
(११ । २० । ६)

अधिकारी-भेदसे ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगको कल्याणकामी लोग वरण करते हैं; परंतु सबके मूलमें संयम होता है, संयमके बिना योग नहीं होता । श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे भी यही बात कही है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

यहाँ 'युक्त' अर्थात् योगी और सुखी कहनेमें योगके समान सुखके भी प्रकार-भेद होते हैं । फलाकाङ्क्षासहित कर्मयोग और उसके द्वारा ऐहिक सुख और स्वर्ग-सुखकी प्राप्ति तथा इनके अनित्यत्वके विषयमें ऊपर कह चुके हैं । आगे अन्य दो योगोंके विषयमें विचार करना है ।

जो लोग कर्मयोगके द्वारा प्राप्त कल्याणकी असारताको समझकर विवेकी हो गये हैं और समझते हैं कि भोगके साथ दुःख सदा ही अनुस्यूत रहता है तथा भोग चिरस्थायी नहीं होता; वे निर्विण्ण या वैराग्यवान् होकर भोग-पथ कर्मयोगका त्याग करते हैं । वैराग्यमें भी बहुतेरे शुष्क वैराग्य ग्रहण करते हैं । वे महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यके भक्त, श्रीवृन्दावनके सुप्रसिद्ध षड् गोस्वामीवृन्दके नेता श्रीरूप गोस्वामीपादके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तिरसामृतसिन्धु' (पूर्व, २ य लहरी, २५८) में कथित—

प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः ।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते ॥

—के अनुसार फल्गु वैराग्य ग्रहण करके भगवान्‌के अर्चन आदिमें श्रद्धा छोड़कर उनका प्रसाद ग्रहण करनेसे वञ्चित हो जाते हैं । 'फल्गु' का अर्थ है अन्तःसार-शून्य । वे ईशोपनिषद् (१ । १) के—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

—इस प्रथम मन्त्रका उल्लङ्घन करके भक्तियोग ग्रहण नहीं करते । वे ज्ञानमार्गी अपने 'ज्ञान' का लक्ष्य भगवद्-ज्ञान न करके समस्त द्वैतभावोंका त्याग कर केवलाद्वैत-साधनाके लिये प्रयत्न करते हैं । इससे सांसारिक दुःखोंकी अनुभूतिसे वे मुक्त होते हैं; परंतु यह श्रेयःप्राप्ति अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य और दुष्कर होती है । बहुतेरे मुक्तिकी अभिलाषा करके भगवत्पादपद्ममें आदर न होनेके कारण इस उच्च पदका संरक्षण करनेमें भी असमर्थ हो जाते हैं । श्रीमद्भागवतमें ब्रह्मादि देवता तथा मुनिगणने सद्योजात श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए उनके विषयमें यही बात कही है—

येऽन्येऽरविन्दाक्षविमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥
(१० । २ । ३२)

अतएव स्पष्ट है कि योगीके लिये भक्तित्याग करनेपर मङ्गलकी प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है ।

भक्तियोगकी शरण जीवके लिये सुगम और फलप्रद है, अतएव सर्वोच्च कल्याणके अभिलाषीके लिये यही सेवनीय है । ब्रह्माजीने अन्यत्र भगवत्स्तुतिमें इसका संकेत किया है—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजितजितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३)

अर्थात् 'भक्तिपूर्वक आपके आश्रित होकर जो आपकी कथा साधुके मुखसे श्रवण करके आपका कीर्तन और स्मरण करते हैं, आप अजित होकर भी उनके वशीभूत हो जाते हैं ।' श्रीभगवान्‌ने इस बातका स्वयं भी अनुमोदन किया है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६३)

सनकादि तथा शुकदेवजी आदि महाज्ञानी आत्माराम मुनिगण भी श्रीहरिमें भक्तियोग किया करते हैं ।

यद्यपि श्रीभगवान्ने उद्धवसे (श्रीमद्भा० ११ । २० । ६) तीन योगोंकी बात कही है, तथापि 'योग' और 'योगी' शब्दोंके द्वारा साधारणतः एक और योगपथका उन्होंने निर्देश किया है, वह है पतञ्जलि ऋषिका अष्टाङ्गयोग । इसके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि— ये आठ अङ्ग हैं । निःसदेह ईश्वरप्रणिधान ही इस प्रणालीका मुख्य उद्देश्य है; परंतु इसके द्वारा मध्य मार्गमें कुछ और भी प्राप्य है और वह है विभूति या सिद्धि । इसके द्वारा बहुत शक्तियाँ प्राप्त की जाती हैं । इन शक्तियोंको प्राप्त करके अधिकांश योगी लक्ष्यभ्रष्ट हो जाते हैं । यही बात देवर्षि नारदने व्यासजीसे कही है—

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः ।
मुकुन्दसेवया यद्वत् तथाऽऽत्माद्धा न शाम्यति ॥
(श्रीमद्भा० १ । ६ । ३६)

मुकुन्दकी सेवासे साक्षात्रूपमें आत्मशान्ति प्राप्त होती है । अष्टाङ्गयोगके मार्गसे इसकी कम ही आशा रहती है । श्रीभगवान्ने भी राजा मुचुकुन्दसे कहा है—

युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः ।
अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थितम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ५१ । ६०)

भक्तिके अभावमें वासनाका क्षय नहीं होता, अतएव वह शान्ति नहीं प्राप्त होती, जिससे चरम सुख मिलता है । बल्कि भक्तियोगके पक्षमें ये यम-नियम आदि बाधाएँ उत्पन्न करते हैं । भगवान्ने उद्धवसे कहा है—

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १५ । ३३)

अतएव चरम कल्याण या सर्वोच्च मङ्गलस्वरूप जो परा शान्ति है, जो श्रीभगवत्पाद-पद्मका मधु है, वह भक्ति-योगसे ही प्राप्त होता है । श्रीश्रीमहाप्रभु चैतन्यदेवने कहा है—

भुक्ति-मुक्ति सिद्धिकामी सकलि अशान्त ।
कृष्णभक्त निष्काम अतएव शान्त ॥
(श्रीचैतन्यचरितामृत)

अतएव भगवद्भक्तिकी प्राप्ति ही हमारे लिये निःश्रेयस— मङ्गल है, इससे बढ़कर मङ्गलजनक वस्तु और कोई नहीं है। साथ ही भक्तिकी प्राप्तिमें कोई क्लेश भी नहीं उठाना पड़ता । कर्मयोगी यदि अपने अर्जित फलकी असारता समझ-कर फलकी कामना छोड़कर 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में उपदिष्ट—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः ।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥

अस्मदीय प्रभुपाद परमहंस गोस्वामी अनन्त श्रीभक्ति-सिद्धान्त सरस्वती जिसको—

'(जड़) आसक्तिरहित (कृष्ण) सम्बन्धसहित
विषय सकल सकलि माधव ।'

—कहा है, उसी युक्त वैराग्यका अवलम्बन करके 'ईशावास्य०' मन्त्रका अनुसरण कर अनासक्तभावसे 'यावन्निर्वाहपरिग्रह'—पथमें जो भगवत्प्रसाद ग्रहण करते हैं, उसीसे वे भक्तियोगी बनकर सर्वश्रेष्ठ कल्याण-प्राप्तिके अधिकारी हो जाते हैं । ज्ञानयोगी और 'आत्माराम मुनियों' के आदर्शसे भी श्रीहरिपादपद्ममें अहैतुकी अर्थात् मोक्षवासना-शून्य भक्ति करनेपर भगवच्चरणकी प्राप्तिसे शीघ्र ही सर्वोत्त-मोत्तम कल्याण प्राप्त किया जाता है, तब श्रीश्रीबिल्वमङ्गल ठाकुरकी भाषामें—

'मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलिः सेवतेऽस्मान् ।'

—मुक्ति उसके अधीन हो जाती है । अष्टाङ्गयोगी यदि कालक्षेप न करके एकाग्र-चित्तरूपी मधुकरको भगवत्पादारविन्द-मकरन्दका पान कराकर मत्त करा सके तो उसको भी चरम कल्याण करतलगत हो जायगा ।

सरल हृदयसे यह सब विचार करनेपर हम सर्वतोभावेन समझ सकते हैं कि अन्य मार्गद्वारा जिस मङ्गलकी प्राप्ति होती है, वह चरम कल्याण नहीं है । इसका एकमात्र मार्ग भगवदावेशावतार श्रीकपिलमुनि बतलाते हैं—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २५ । ४४)

तीव्र भक्तियोगसे मनको श्रीभगवच्चरणोंमें स्थिर-भावसे अर्पण करनेसे ही सर्वोच्च मङ्गल प्राप्त होता है ।

यमराजने और भी स्पष्टरूपसे उपदेश दिया है—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥
(श्रीमद्भा० ६ । ३ । २२)

अर्थात् भगवन्नाम-कीर्तनके द्वारा इस भक्तियोगको आचरणमें लाना पड़ेगा और भगवत्कीर्तन ही कलियुगमें जीवके लिये एकमात्र उपाय है। श्रीजीवगोस्वामीपाद अपने 'सन्दर्भ' ग्रन्थमें विधान करते हैं—'कलौ यद्यप्यन्या भक्तिः क्रियते, तथापि कीर्तनाख्यभक्तिसहयोगेनैव।'

श्रीशुकदेवजीने परीक्षित्से भागवतके अन्तमें कहा है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥

(१२।३।५१)

कलिमें (निरपराध) कृष्णकीर्तनसे ही भोगासक्ति दूर होती है और भगवत्पादपद्मकी प्राप्ति होती है; परंतु इस कीर्तनको तबतक यज्ञका रूप नहीं मिल सका, जबतक श्रीमान् महाप्रभु कृष्णचैतन्यदेवने अवतीर्ण होकर विराट कीर्तन धर्मके सहयोगसे जगत्को प्रेम-प्लावित नहीं कर दिया। इस प्रकार विपुलरूपमें होनेवाले संकीर्तन-यज्ञके द्वारा ही कलिके जीवोंको मुक्तिके साथ प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। जो इस उपायको ही ग्रहण करेंगे, वे ही वास्तवमें बुद्धिका परिचय देंगे!

'यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥'

(श्रीमद्भा० ११।५।३२)

जीवनका सर्वतोमुखी विकास

[श्रीअरविन्दाश्रमकी श्रीमाताजीद्वारा ईश्वर-कृपाकी व्याख्या]

(लेखक—श्रीऋषभचन्दजी)

पूर्व और पश्चिमके प्रायः सभी ईश्वरवादी धर्मोंमें कृपाके हस्तक्षेप एवं कार्यको ही आध्यात्मिक जीवनकी सफलता—सिद्धिका सर्वोच्च साधन माना गया है, किंतु लोग समझते हैं कि यह हस्तक्षेप रहस्यपूर्ण तथा अपूर्व ज्ञात होता है। कृपा, 'जहाँ कहीं वह पसंद करती है' वहाँ वायुकी तरह पहुँचती है। इसपर पुण्योंका अधिकार नहीं जम सकता और निकृष्ट पापको भी इससे निराश होनेकी जरूरत नहीं। यह गिरे और भटके लोगोंके भग्न हृदयोंके पास जाती है तथा प्रेमके रामबाणसे उन्हें स्वस्थ कर देती है, जब कि अहंकारपूर्ण बड़े-बड़े लोगोंके पाससे गुजर जाती है और मदमत्त लोगोंको अपना दुष्परिणाम भोगने देती है। यह सुकोमल ओस-बिन्दुकी तरह आती है, गरम दिनमें शीतल दक्षिणी वायुकी तरह अथवा श्मशान-अन्धकारके बीच प्रकाशकी चमककी तरह आती है। कभी-कभी तो यह आँधी या भूकम्पकी तरह मानव-अन्तरात्मामें झाड़-बुहार या तूफान लाते हुए आ जाती है। इसकी क्रोधपूर्ण मुखाकृतियाँ उतनी ही आशीःस्वरूप हैं, जितनी कि इसकी आनन्द फैलानेवाली मुसकानें; और जब कभी यह जोरसे पीड़ा पहुँचाती है, तब वह केवल निद्रित एवं आलस्यपूर्ण लोगोंको उठाने और जगानेके लिये ही; क्योंकि कृपाके कार्यके बिना जीवन अपनी झाड़ियोंमें फँस पड़ेगा और प्राणी अपने अन्धकारमय तमसमें जंग खाते रह जायँगे।

'यह प्रज्ञा न प्रवचनसे, न मेधा या न अधिक श्रवणसे प्राप्त होती है, बल्कि आत्मा जिसे वरण करता है उसके लिये अपना स्वरूप प्रकट कर देती है *।' इस उक्तिके द्वारा उपनिषद् कृपाके कार्यका ही उल्लेख करती है। गीताकी शिक्षा तो कृपाकी भावना एवं उपदेशोंसे ओत-प्रोत ही है। हिंदुओंकी वैष्णव-प्रणालीमें भगवत्-प्राप्ति तथा मुक्तिके लिये भगवत्-कृपा ही एकमात्र उपाय मानी जाती है। भगवत्-कृपा अहैतुकी होती है, किसी बाहरी कारणसे कार्य नहीं करती; साथ ही इसका कार्य अप्रतिहत और अमोघ होता है। रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्यमहाप्रभु तथा रामकृष्ण परमहंस सबने भगवत्-कृपापर तर्कातीत जोर दिया है। ईसाई धर्म तो कृपाका ही धर्म कहा जा सकता है; यहाँतक कि यह अपने साररूपमें इसीसे गठित है, 'जबतक पिता उसे नहीं खींचता तबतक वह मेरे पास नहीं आ सकता,' इस विशिष्ट उक्तिकी भावना उपनिषद्के उपर्युक्त कथनके समान ही है। रूसब्रोक (Ruysbroeck) का कथन है, 'अवलोकन हमलोगोंको उस शुद्धि और प्रकाशमें आसीन करता है, जो हमारी बुद्धिसे बहुत ऊपर है······और कोई भी

*नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

(कठ० १।२।२३)

इसे ज्ञान, सूक्ष्मदृष्टि या किसी प्रयत्नसे भी नहीं प्राप्त कर सकता, बल्कि वही केवल पा सकता है जिसे भगवान् चुनते हैं अपनेसे युक्त और प्रकाशपूर्ण होनेके लिये, केवल वही, दूसरा कोई नहीं 'भगवान्‌का अवलोकन कर सकता है।' यहाँ भी हम प्रायः उपनिषद्‌के कथनकी सादृश्यता पाते हैं। वही रहस्यवेत्ता फिर दूसरी जगह कहते हैं, 'कृपा और हमारे ईश्वरोन्मुख प्रेमसे ही भगवान्‌के साथ एकता प्राप्त होती है।' एक दूसरे पश्चिमी रहस्यवेत्ता रिचर्ड रौल (Richard Rolle) इसका समर्थन करते हुए कहते हैं—'भगवान्‌का मधुर अवलोकन अत्यधिक परिश्रमसे प्राप्त होता और असीमतापूर्वक इसे धारण किया जाता है। फलतः यह मनुष्यकी योग्यता नहीं बल्कि ईश्वरकी कृपा—देन है।' हिल्टन (Hilton) भी यही बताते हैं, 'सर्वप्रथम वही उसे चुनते हैं और यह भी तब जब वह मानवको अपनी भक्तिकी मधुरताके द्वारा अपनी ओर खींचते हैं।' हिल्टन बार-बार कृपापर ही उत्साहवर्धक ओजस्वी वचन देते हैं। जबतक मनुष्यकी अन्तरात्मा विशेष कृपाका स्पर्श नहीं पाती, तबतक यह जडवत् और आध्यात्मिक कार्यके लिये अयोग्य रहती है और आध्यात्मिकताके अंदर प्रवेश भी नहीं पा सकती। यह अपनी दुर्बलतामें भ्रमित ही नहीं; वरं तमोग्रस्त और शुष्क रहती है, अपने-आपमें रूढ़ और नीरस रहती है। तब कृपाका प्रकाश आता है और स्पर्शके द्वारा उसे तीक्ष्ण, सूक्ष्म बना देता है; आध्यात्मिक कार्यके लिये प्रस्तुत और समर्थ कर देता है और कृपा-कार्योंको वहन करनेके निमित्त पूर्ण स्वतन्त्रता और तैयारी प्रदान कर देता है।' वैरन वन ह्यूजेल (Baron Von Hugel) ने तो कृपाको '''''यूरोपीय सभ्यता एवं यहूदी-ईसाई धर्मका सर्वोत्तम मूल तथा पुष्प ''''' कहा है। 'ओरीजन (Origen) के अनुसार स्वतन्त्रता और कृपा ही दो पंख हैं, जिनके सहारे मानव-अन्तरात्मा भगवान्‌की ओर आरोहण कर सकती है।'

कृपामें आध्यात्मिक जिज्ञासुओंके विश्वव्यापी विश्वासके परम्परागत आधारसे हमलोग पूरी तरह परिचित हो चुके। अब हमलोग श्रीमाताजीकी शिक्षाकी ओर अभिमुख हों और यह समझनेकी चेष्टा करें कि इस विषयपर उनका क्या कथन है।

कृपा क्या है ?

विषयके मूलतक जाकर श्रीमाताजी कृपाके उद्गम-स्रोत तथा इसकी तात्त्विक प्रकृतिके बारेमें समझाती हैं और तब इसके कार्यकी गतिविधि, इसकी प्राप्तिके लिये अनिवार्य शर्तों, पूर्णयोगमें इसके स्थान आदिपर प्रकाश डालती हैं। श्रीमाके अनुसार कृपा भगवान्‌का प्रेम है, जो यहाँ निश्चेतन और अज्ञानमें उतर आया है ताकि वह इसे परम सत्य एवं चेतनाके अनन्त प्रकाशकी ओर जाग्रत् कर सके। 'परमेश्वरने अपनी कृपाको जगत्‌में उसकी रक्षाके लिये भेजा है।' (मातृवाणी) इसके आविर्भावके पूर्व यहाँ प्रत्येक वस्तु गहन अन्धकार और जडतामें निमग्न थी। प्राणरहित जडके मृत्यु-पाशमें बद्ध थी। कृपास्वरूप प्रेम अवतरित हुआ और सर्वप्रथम विवर्तनमें, विकास-क्रममें चिरस्थायी आवेग भर दिया। फलतः जडमें सुषुप्त आत्मा जाग्रत् हुई और क्रमशः धीरे-धीरे अपनी अनन्त एवं सनातन चेतनाकी ओर ले जायी जाने लगी। कृपा सर्वव्यापी, सर्वाधार और सर्व रूपान्तरकारी है। यह सर्वत्र है और स्पष्ट एवं गुह्य विश्वशक्तियोंकी जटिल क्रीडाके पीछे विद्यमान उच्चतम क्रियाशक्ति है।

'तुम्हें जो करना चाहिये वह यह कि अपने आपको पूरी तरहसे भगवान्‌की कृपापर छोड़ दो। कारण, प्रथम निवर्तन स्थापित होनेके बाद भगवान्‌ने कृपा और प्रेमका रूप धारण करके ही जगत्‌को ऊपर उठानेका भार स्वीकार किया। भगवान्‌के प्रेममें ही रूपान्तरकी परम शक्ति होनेका कारण यह है कि रूपान्तरके निमित्त ही इसने अपने-आपको न्यौछावर कर दिया है और हर जगह अपने-आपको प्रकट कर दिया है। केवल मनुष्यके भीतर ही नहीं, अपितु अत्यन्त अन्ध जड प्रकृतिके समस्त अणुओंमें इसने अपने-आपको उँड़ेल दिया है ताकि यह संसारको मूल परम सत्यकी ओर फिरसे वापिस ला सके। इसी अवतरणको भारतीय धर्मशास्त्रोंमें परम यज्ञ कहा गया है।'

अतः कृपा ही प्रेम है, जो सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त होकर मुक्ति एवं रूपान्तरकी अधिकतम बलशाली शक्तिके रूप‍में मोटे पर्देके पीछेसे कार्य कर रहा है। यह प्रचलित धारणा कि कृपा कुछ ऐसी चीज है, जो अचानक ही आती है। कहाँसे आती है, यह मालूम नहीं होता, आश्चर्यमय परिणाम उत्पन्न करके पुनः वहाँ लौट जाती है, आंशिक सत्यपर आधारित है; क्योंकि यह तो कृपाके कार्यका अचानक घटित होनेवाला बाहरी परिणाममात्र है, किंतु यह जगत्‌के सदसत् प्राणिमात्रके अंदर इसकी सतत क्रियाशील उपस्थितिका दर्शन नहीं है। कृपा

तो सभी प्राणियों, वस्तुओं और घटनाओंमें सर्वविद् एवं सर्व-संचालक प्रेमके रूपसे विद्यमान है और इसकी सशक्त क्रियासे लाभान्वित होनेके लिये श्रद्धा एवं विश्वासके साथ इसकी ओर खुलना ही पर्याप्त है। 'कृपा सबके लिये एक समान प्राप्य है। पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी सच्चाईके अनुसार इसे ग्रहण करता है। यह बाहरी परिस्थितियोंपर निर्भर नहीं करती, बल्कि सच्ची अभीप्सा और उद्घाटनपर निर्भर करती है।'

जो लोग किसी भौतिकवादी झुकावसे अंधे नहीं हुए हैं, जिनका आन्तर बोध व्यक्तिगत पसंदगियोंसे बिल्कुल नहीं ढका है और जिनका हृदय आध्यात्मिक दबावोंके प्रति सूक्ष्मतया ग्रहणशील है, वे जीवनके घटना-चक्रोंमें कृपाकी रहस्यमयी क्रियाका कुछ बोध कर सकते हैं; किंतु जो लोग आध्यात्मिक जीवन, प्रधानतः योगका जीवन, अनुसरण करते हैं, वे लोग इस तथ्यको ठोसरूपसे जाननेमें कभी नहीं चूक सकते कि 'बाह्यरूपोंके पीछे विद्यमान यह अनन्त, आश्चर्यमय सर्वशक्तिमान् कृपा.....प्रत्येक चीजको जानती है, प्रत्येक चीजको सुसंगठित और व्यवस्थित करती है और हमलोगोंके चाहने अथवा न चाहने, जानने अथवा न जाननेपर भी हमलोगोंको ले जा रही है चरम लक्ष्यकी ओर ही, भगवान्के साथ एकता, भागवत चेतनासे सचेतन होने और इसके साथ घुल-मिलकर एक होनेकी ओर ही।' कैसे यह हमलोगोंकी अपनी प्रकृतिके बावजूद हमें विकास-मार्गपर आरूढ़ रख रही है! और जब हमलोग बहककर भटक जाते, जब हमारी अन्तर्दृष्टि मलिन पड़ जाती और हृदयकी अग्नि मन्द पड़ जाती है, तब भी यह हमें सुदूर प्रकाशकी ओर संकेत करती रहती है और हमारे कानोंमें कहती रहती है; 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' (मैं तुझे सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर)। जब हम किसी उत्तेजनापूर्ण इच्छासे उद्वेलित होकर अथवा किसी वासना या भ्रान्तिसे अंधे होकर भागवत-संकल्पके विरुद्ध विद्रोह करते हैं तब कृपा हमें अनिष्ट एवं विपत्तिसे दंशन करती है और तीव्र वेदनाके द्वारा हमें सजग करती है ताकि इच्छा या भ्रान्ति पीड़ाकी अग्निमें जलकर विलीन हो जाय और हमलोग भगवान्की प्रसारित भुजाओंकी ओर पुनः मुड़ सकें। यदि कृपाका चाप हमारी सत्ताके वक्र और भयभीत भागोंपर कभी-कभी बोझरूप और पीड़ामय हो जाता है तो यह केवल भगवान्के भार (Divine's yoke) सहन करनेके हेतु पर्याप्त सबल एवं सीधा बनानेके लिये ही होता है; क्योंकि हमारे यान्त्रिक प्रकृतिके भागोंपर भगवान्का भार ही है उनके निरपेक्ष स्वातन्त्र्यमें हमारे जीवका मोक्षस्वरूप निवास।

वस्तुओंके सम्बन्धमें हमारा मूल्याङ्कन बिल्कुल ही बाह्य और अज्ञानमूलक होता है। जिसे हम भला या बुरा, शुभ या अशुभ, प्रसन्न या विपन्न, सहायक या बाधक मानते हैं वह सब दयालु विधाताके कामकी ही चीज है, जिसे वे प्रत्येक विवर्तनकारी जीवके चरम कल्याणके लिये उपयोग करते हैं। भगवान् सौभाग्यकी ही तरह दुर्भाग्यका भी उपयोग उतनी ही स्पष्टदर्शी कृपाके साथ करते हैं। यदि आवश्यक हो तो जीवको अज्ञान-जालसे निकालनेके लिये विपत्ति एवं मृत्युका भी उपयोग करनेमें भेद नहीं करते। जब एक बार हमारी आँखें भागवत-कृपाकी सतत उपस्थिति एवं हस्तक्षेपके सत्यकी ओर पूरी तरह खुल जाती हैं, तब हम अपने जीवनकी परिस्थितियोंके सम्बन्धमें शिकायत नहीं करना जान जाते हैं, बल्कि उन सबमें सर्व-प्रेमीके हाथ पाते हैं, जो हमें निर्भ्रान्त और अमोघरूपसे अपनी ओर, अपने शाश्वत सामञ्जस्य तथा आनन्दकी ओर ले जा रहे हैं और यही है हमारे लक्ष्य-की चरम परिपूर्णता।

श्रीमाताजी कहती हैं, 'यदि तुम सचमुच ही तीव्र अभीप्साकी अवस्थामें हो तो कोई भी ऐसी परिस्थिति नहीं है जो तुम्हारी अभीप्साकी चरितार्थतामें सहायता न करे। सभी तुम्हारी मदद करेंगे, मानो अखण्ड और निरपेक्ष चेतनाने ही सभी चीजोंको तुम्हारे चारों ओर व्यवस्थित किया है और तुम अपनी बाहरी अज्ञानावस्थामें इसे न भी पहचान सकते हो, परिस्थितियोंके आनेपर तुम सर्वप्रथम इनका विरोध भी कर सकते हो, तकलीफकी शिकायत भी कर सकते हो और उन्हे बदल देनेके लिये प्रयत्न भी कर सकते हो; किंतु जब तुम अपने और घटनाके बीच थोड़ी दूरी रखकर अधिक बुद्धिमान् हो जाओगे, तब उसके बाद ही तुम देखोगे कि तुम्हारी निर्धारित प्रगतिके लिये यह नितान्त आवश्यक था। संकल्प, सर्वोच्च शुभ संकल्प ही तुम्हारे चारों ओर सब कुछ बिछाता है।' सर्वज्ञ विश्व प्रेम ही हमारे जीवनकी व्यवस्था और संचालन कर रहा है, न कि अन्धसंयोग अथवा आकस्मिक घटनाओंका अज्ञात चक्र।

अपने आध्यात्मिक जीवनमें सदा ही हम अधिकाधिक आश्चर्य और कृतज्ञताके साथ निरीक्षण करते हैं कि कैसे

हमें अनुभूतियाँ मिलती हैं, कैसे हमारी चेतनासे एकके बाद दूसरा पर्दा हटता जाता है; हमारी दृष्टिके समक्ष सत्यका क्रमशः उच्चतर स्वरूप प्रकट होता जाता है; अन्धकारका जमा हुआ ढेर बात-की-बातमें दूर हो जाता है, मानो ये सब जादूके खेल हों! जो हम कठोर व्यक्तिगत श्रम, अनुशासन और प्रार्थनासे नहीं प्राप्त कर सकते, वह अचानक ही केवल कृपाबलसे हमारे अंदर तैरता हुआ आ जाता है। हमें पता भी नहीं लगता कि कैसे एक निश्चित प्रकाशमय संकेत आ मिला, एक निश्चित आवश्यक स्थिति स्थापित हो गयी, किसी हठी समस्याके लिये एक नया समाधान मालूम पड़ गया; अवरोधी कठिनाई हमारे रास्तेसे दूर फेंक दी गयी और हमारी दृष्टिके समक्ष एक महिमान्वित दीप्तिमान् क्षितिज प्रकट हो गया! जब हम अपनेको भ्रान्त और निराश्रित अनुभव करते हैं और आगे बढ़नेका रास्ता नहीं देख पाते हैं, अचानक ही एक प्रकाश-किरण हमारे अंदर घिर आती है और एक संज्ञाहीन शक्ति हमें सारे जंगलसे बाहर निकाल ले जाती है। अतएव किसी भी काल, परिस्थिति या घटनामें हमें विषादयुक्त अथवा आशाहीन अनुभव करनेकी जरूरत नहीं है। कृपाके आशीर्वादस्वरूप, 'व्यथा-दंशका प्रत्येक आघात परमानन्दकी ओर एक पदारोहण हो सकता है।' वहाँ एक नेत्र है, जो अपनी प्रेमभरी सावधानीमें निद्रा-रहित रहता है और एक भुजा है, जो सहायता और आराम देनेमें क्लान्तिरहित है। नष्टप्राय अनुभव करना तो मानो ईश्वरको अस्वीकार करना तथा उनकी कृपाको दूर हटाना है।

'भगवत्कृपाके सामने कौन अधिकारी है और कौन अनधिकारी? सब कोई उन एक ही अभिन्न माताकी संतान हैं। उनका प्रेम सब किसीपर एक-सरीखा बरस रहा है; परंतु हर एकको वे उसकी प्रकृति और ग्रहण-सामर्थ्यके अनुसार देती हैं।'

कृपाकी शर्तें

'किंतु कुछ शर्तें पूरी करनी हैं। विशाल पवित्रता तथा आत्मदानमें अधिक तीव्रता और उस भागवत-कृपाकी सर्वोच्च प्रज्ञामें ऐकान्तिक विश्वास, जो हमारे वास्तविक कल्याणके विषयमें हमसे अधिक जानती है, अपेक्षित हैं। यदि अर्माप्सा उसको अर्पित की जाय और अर्पण सचमुच काफी तीव्रताके साथ किया जाय तो परिणाम आश्चर्यजनक होगा।'

भागवत-कृपाके अविरोध कार्य करनेके लिये पवित्रता, अकल्मष आत्मदान और सहज श्रद्धा-विश्वास—ये तीन मुख्य शर्तें हैं। श्रद्धा नहीं रखना मानो कृपाके विरुद्ध अपनी सत्ताका दरवाजा बंद कर देना है। 'भगवत्-कृपा बराबर ही कार्य करनेके लिये तैयार है; पर तुम्हें इसे करनेका मौका देना चाहिये और इसके कार्यका विरोध नहीं करना चाहिये। एकमात्र आवश्यक शर्त है श्रद्धा।' आत्मदान न करनेसे हम अहंकारात्मक एवं पृथगात्मक अज्ञानमें असहायभावसे आबद्ध रह जाते हैं। श्रद्धा और आत्मदानसे पवित्रता आती है और पवित्रतासे कृपाका कार्य निश्चित रूपसे सरल हो जाता है। 'हम अपने-आपको पूर्ण रूपसे तथा कुछ बचाये बिना भगवान्को सौंप दें, तभी हम भली प्रकारसे भगवत्कृपाको प्राप्त कर सकेंगे।'

कृपा और वैश्वन्याय

'न्याय है विश्व-प्रकृतिकी गतियोंपर कठोर तर्कसंगत नियन्तृत्व।' परिस्थितिका अज्ञात विधान, कारणकी रूढ़िगत विधि और परिणाम—इन तीनोंसे वैश्व शक्तियोंकी क्रियाएँ शासित होती हैं। बुद्धदेवके कथनानुसार इसमें न तो कोई अपवाद है, न कोई बचनेका छिद्र। जैसा कोई बोता है वैसा उसे काटना है। अपने कर्मके स्वाभाविक एवं अनिवार्य परिणामोंसे छूटनेका कोई उपाय नहीं है; किंतु श्रीमा आश्वासन देती हैं कि 'केवल भगवत्कृपामें ही यह शक्ति है कि वह इस विश्वव्यापी न्यायके कार्यमें हस्तक्षेप कर सके और उसके क्रमको बदल सके।' विश्व-प्रकृतिके नियन्तृत्वको अतिक्रम करनेका अधिकारपूर्ण स्वातन्त्र्य कृपामें ही है, कारण कि यह प्रकृतिकी परिधिके बाहरसे ही कार्य करती है—इसका एकाधिपत्य इसके सर्वसमावेशकारी परात्परतामें ही निहित है। इसकी स्वतन्त्रता उच्छृङ्खल स्वेच्छाचारिताके लिये नहीं है, वरं यह तो प्रेमकी सर्ववेत्ता प्रज्ञाकी एकाधिपत्य स्वतन्त्रता है। वैश्वन्याय तो इस प्रेमका बहिर्गत अंश, अस्थिर जगत्-व्यापारमें यान्त्रिक क्रियामात्र है। एक बार श्रीमाने कृपा-कार्यको एक उदाहरणद्वारा यों समझाया था। कोई आदमी सीढ़ीसे नीचे उतर रहा है, एक ढीला, स्थानच्युत खपड़ा ठीक उसके सिरपर गिरनेहीवाला है। खिंचावके नियमके अनुसार वह खपड़ा गिरेगा ही और उसके सिरको तोड़ेगा ही; किंतु आश्चर्य, अचानक ही उसके पीछेसे एक हाथ आगे फैल आता है और खपड़ेको पकड़ लेता है। अतः

आदमी बच गया। उसके पीछेसे किसी व्यक्तिका यों हस्तक्षेप करना ही कृपाका हस्तक्षेप है, जो प्रकृतिके कठोर नियन्तृत्वको उड़ा देता है।' श्रीमा कहती हैं, 'इस भगवत्कृपाको पृथ्वीपर अभिव्यक्त करना, यही है अवतारका महान् कार्य। अवतारका शिष्य होना इस भगवत्कृपाका एक उपकरण बनना है। माता तादात्म्यद्वारा इस भगवत्कृपाको बाँटनेवाली देवी हैं, जो इस वैश्वन्यायकी समग्र यान्त्रिकताका तादात्म्यद्वारा पूर्ण ज्ञान रखती हैं और उनको बीचमें रखकर की गयी भगवान्‌की ओर सच्ची और विश्वासपूर्ण अभीप्साकी प्रत्येक गति, प्रत्युत्तरमें इस कृपाको हस्तक्षेप करनेके लिये यहाँ नीचे बुला लाती है।'

'तेरी कृपाके लगातार हस्तक्षेपके बिना ऐसा कौन था, जो इस विश्वव्यापी न्यायके क्षुरेकी निर्दय धारके नीचे अकसर न आया होता?'

'एकमात्र भागवत-कृपाके लिये ही प्रार्थना करनी चाहिये—यदि न्यायशक्ति कार्य करे तो बहुत कम ही लोग उसके सामने टिक सकेंगे।'

युक्त-वृत्ति

'एक बार जब हमने अपनेको कृपाके प्रति समर्पित कर दिया है, तब जो कुछ वह निर्णय करे, उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिये और जो कुछ हमपर घटित हों चाहे हमारी मानसिक धारणाके अनुसार घटनाएँ शुभ या अशुभ, इष्ट या अनिष्ट आदि क्यों न हों, उन सबमें इसके संकल्पको अनुभव करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। 'उसी चीजको, उसी परिस्थितिको, जो बिल्कुल एक-सी ही हो, भगवान्‌की देन, भागवत-कृपा और पूर्ण सामञ्जस्यका परिणामस्वरूप मान लें तो वह हमें अधिक सचेतन, बलशाली और सच्चा बनानेमें मदद करती है।' यही है युक्त-वृत्ति। यदि हम इस युक्त-वृत्तिको धारण रखें तो हम अपनी सारी घटनाओंसे लाभ ही उठा सकेंगे; क्योंकि हमारा कृपामें श्रद्धा-विश्वास उन्हें हमारे अंदर और ऊपर आसानीसे और स्वतन्त्रतासे कार्य करने देगा और अपने रहस्यमय रसायनके द्वारा पराजयको विजयमें तथा दुर्भाग्यको उत्तम परम भाग्यमे बदल देगा। यही है सारे जगत्‌में आध्यात्मिक जिज्ञासुओंकी विश्वगत अनुभूति। किंतु, दूसरी ओर, यदि इसी चीजको, इसी परिस्थितिको 'हमें नुकसान पहुँचानेवाली अशुभ शक्ति-स्वरूप भाग्यप्रदत्त विपत्ति' मान लें तो यह 'हमें क्षीण, सुस्त और भारी बना देगी; हमारी चेतना, बल और सामञ्जस्यको हर लेगी।' यहाँपर प्रह्लादका शास्त्रीय उदाहरण बिल्कुल उपयुक्त है; क्योंकि कृपापर उसकी ऐकान्तिक निर्भरता थी, कृपाने उसे सभी परीक्षाओंमेंसे सुरक्षित निकाल लिया। संदेह या शङ्का तो कृपाके कार्य-मार्गका एक बाधक है। सरल एवं प्रश्नातीत श्रद्धा-विश्वास ही सभी कठिनाइयोंके विरुद्ध सर्वोत्तम रक्षक है। 'जो लोग अभीप्सा करते हैं, उनके लिये कृपा और सहायता सतत विद्यमान हैं और श्रद्धा-विश्वासके साथ ग्रहण करनेपर उनकी शक्ति असीम हो जाती है।' यदि कृपाका उत्तर शीघ्रतर नहीं आता हो तो हमें विश्वासपूर्ण धैर्य—आवश्यकतानुसार अनन्त धैर्यके साथ प्रतीक्षा करनी चाहिये तथा मनको जरा भी संदेह करने या प्राणको स्थिरता खोने नहीं देना चाहिये। 'धैर्य और अध्यवसाय होनेपर सभी प्रार्थनाएँ पूरी हो जाती हैं।' 'भगवान्‌की कृपाशक्ति, संकल्पशक्ति और क्रियापर पूर्ण श्रद्धा बनाये रखो—सभी कुछ ठीक हो जायगा।' इस युक्त-वृत्तिसे एक क्षणके लिये भी गिर जानेपर कृपा-कार्यमें रुकावट या देर हो सकती है।

कृपा और रोग

श्रीमाताजी कहती हैं कि ९० प्रतिशत रोग शरीरमें अवचेतन भयके फलस्वरूप होते हैं। शरीरकी सामान्य चेतनामें शरीरपर पड़नेवाले थोड़े-से-थोड़े आघातके परिणामोंके सम्बन्धमें भी कम या अधिक बेचैनी छिपी रहती है। भविष्यके बारेमें संदेहके इन शब्दोंको यों प्रकट किये जाते हैं, 'और क्या घटेगा?' इसी बेचैनीको रोकना होगा। वास्तवमें यह बेचैनी तो भागवत-कृपामें विश्वासका अभाव ही है, जो समर्पणके पूर्ण नहीं होनेका निश्चित चिह्न है।

इस प्रकारकी घातक बेचैनीको दूर करनेका उपाय श्रीमाँ निम्न तरीकेसे समझा रही हैं, 'अवचेतन भयको जीतनेका व्यावहारिक साधन यह है कि जब कभी इसका कुछ भाग ऊपरी सतहपर आवे, तब सत्ताका प्रकाशमय भाग शरीरपर, भागवत-कृपामें पूर्णतया विश्वास रखनेकी आवश्यकतापर, इस विश्वासपर कि हमारे एवं सबके अंदर सर्वोत्तम मङ्गलके लिये कृपा सतत कार्य कर रही है और भागवत-संकल्पके प्रति सम्पूर्णतया एवं बिना कुछ बचाये

समर्पित होनेके निश्चयपर जोर डाले।' कृपामें सम्पूर्ण और अडिग विश्वास ही सब प्रकारके भयके लिये सर्वाधिक सफल औषध है।

कृपा तथा पूर्णयोग

ऐसा कह सकते हैं कि श्रीमाताजी जैसे कृपाको ही साधारणतः मानवके विवर्तनकारी आरोहणके पीछे विद्यमान एकमात्र संचालक-शक्ति मानती हैं, वैसे ही पूर्णयोगमें इसे ही प्रगतिका एकमात्र साधन समझती हैं। श्रीअरविन्दका तो कथन है कि 'योगमें सबसे प्रधान बात यही है कि प्रत्येक पगपर भागवत-कृपापर विश्वास रखते हुए, अपने विचारोंको निरन्तर भगवान्की ओर परिचालित करते हुए तबतक अपने-आपको समर्पित किया जाय जबतक कि हमारी सत्ता-का उद्घाटन न हो जाय और हम यह न अनुभव करने लगें कि हमारे आधारमें श्रीमाकी शक्ति कार्य कर रही है।' कोई भी अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति अपने निजी बल तथा परिश्रमसे पूर्णयोगका साधन नहीं कर सकता एवं इसके लक्ष्य—अतिमानसिक रूपान्तरतक नहीं पहुँच सकता है। योगके एकदम प्रारम्भसे लेकर अन्ततक—प्रारम्भमें तो अभीप्साकी अग्निको प्रज्वलित करने और हमारी आत्मसमर्पणार्थ तीव्र चेष्टाको संचालित एवं सुरक्षित रखनेके लिये तथा अन्तमें सर्वोच्च सत्यकी विजय और भौतिक जीवनमें इसकी अभिव्यक्तिके लिये—एकमात्र भागवत-कृपापर पूर्ण निर्भरता ही अत्यावश्यक है। 'आओ, हम अपनी संकल्पशक्तिको भगवत्कृपाके भेंट चढ़ा दें; यह कृपा ही सब कुछ सिद्ध करती है।' पूर्णयोग जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, अनेक पथरीले रास्ते और अगम्य जंगलसे गुजरता है। नीचे और ऊपर दोनों ओर ही प्रलोभन हैं—अन्धकार-क्षेत्रोंके प्रलोभनोंकी ओर तो हम अत्यधिक झुके हैं, प्रकाश-क्षेत्रोंके प्रलोभन तो प्रायः दुर्दमनीय-से लगते हैं। कोई भी मानव-जीव अपने सहायता-विहीन बलसे इन्हें नहीं जीत सकता। 'एकमात्र भगवत्कृपापर आश्रित रहना और सभी परिस्थितियोंमें इसकी सहायताका आवाहन करना, यह हमें सीखना होगा; तब वह निरन्तर चमत्कार करके दिखलायेगी!

भगवान् ही हमारी अत्युच्च सम्भवनीय मुक्ति एवं पूर्णताके लिये अनन्ततया अत्यधिक हितकारी हैं, यही है कृपामें हमारी श्रद्धाको गुप्त ढंगसे आधारित और सुरक्षित रखनेवाला मूलगत सत्य; क्योंकि भगवान् ही यहाँ हमारे अंदर विकसित हो रहे हैं,—हमारी आत्मा उनकी आत्मा है, हमारा मन उनका मन है, हमारे प्राण उनके प्राण हैं और हमारा शरीर उनका ही भौतिक अभिधान (पोशाक) है। प्रत्येक प्राणीमें और वस्तुमें उनकी विकसनशील आत्माभिव्यक्तिके पीछे अविज्ञेय किंतु अमोघ प्रज्ञा अपने ही निर्भ्रान्त छन्दके साथ विद्यमान है। वही प्रज्ञा है प्रेमकी सर्व-विजेता शक्ति एवं वही है कृपा। जब हम एक बार इस सत्यको पा लेते हैं, हम अपनेको कृपाकी भुजाओंमें सीधे फेंक देते हैं और जहाँ कहीं तथा जैसे भी वह चाहती है अपनेको ले जाने देते हैं, तब कृपा ही बन जाती है हमारे सम्पूर्ण जीवनकी एकमात्र चालक तथा शरण। उसकी सीमाविहीन गोदमें लेटकर हम, अचल हर्ष तथा कृतज्ञतासे परिप्लावित हृदयके साथ, सम्पत्ति और विपत्तिसे होते हुए परमेश्वरकी प्रेम और आनन्दकी सनातन स्थितिकी ओर यात्रा करते हैं। कृपाके कार्यके प्रति प्रशान्त एवं हर्षमय कृतज्ञता ही हमारे हृदयोंका सबसे अधिक सहायतापूर्ण दातव्य उत्तर है। 'भागवत-कृपाके प्रति कृतज्ञताभिभूत एवं पूर्णतया कृतज्ञ रह सकना ही तुम्हारे लिये अन्तिम चीज है; तब तुम यह देखना शुरू कर दोगे कि प्रत्येक पगपर चीजें ठीक वैसी ही हैं जैसी कि होनी चाहिये और उतनी ही अधिक अच्छी हैं जितनी कि हो सकती हैं। तदनन्तर सच्चिदानन्द अपनेको एकत्रित करना प्रारम्भ करते हैं और अपने ऐक्यको पुनर्गठित करते हैं।

मैं सदा भगवत्कृपासे सुरक्षित हूँ

भगवान्की महती और सहज कृपा मुझपर सदा सब ओरसे बरस रही है। मैं सदा-सर्वदा उस कृपा-सुधा-सागरमें ही डूबा रहता हूँ। इससे मेरे पास कभी कोई विपज्ज्वालाकी धारा अब आ ही नहीं सकती। भगवान्की कृपासे मेरे जीवनकी सारी ज्वाला, सारी अशान्ति शान्त हो गयी है। पाप-ताप कभी मेरे समीप भी नहीं आ पाते। भगवत्कृपाने सब ओरसे मुझको सुरक्षित कर रखा है। मेरा सारा भार अपने ऊपर ले लिया है और मुझे निश्चिन्त, निर्भय तथा नित्य प्रभुके चरणोंमें नत बना दिया है। मैं सदा भगवत्कृपासे सुरक्षित हूँ।

जगदीश और जगत्‌का सम्बन्ध

(लेखक—पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृति-तीर्थ)

ईश्वर और संसारका सम्बन्ध व्याप्य-व्यापक भाव है। जगत् व्याप्य है और ईश्वर व्यापक है। जैसे तिलमें तेल सर्वत्र व्याप्त है, उसी तरह ईश्वर संसारके कण-कणमें व्याप्त है। जैसे तिलका कोई अंश ऐसा नहीं है; जिसमें तेल न हो, उसी तरह जैसे दूधमें माधुर्य है। माधुर्य दूधके कण-कणमें व्याप्त रहता है। इसी तरह ईश्वर भी संसारमें सर्वत्र व्याप्त हैं। ईशावास्योपनिषद्‌के प्रथम मन्त्रमें यह लिखा है—

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'

अर्थात् जो कुछ इस संसारमें हैं; वह ईश्वरसे व्याप्त है।

भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

यहाँ पश्यतिका अर्थ अनुभव करना है। जो ईश्वरका सर्वत्र अनुभव करता है; वह ईश्वरको भूलता नहीं। अर्थात् वह अनाचार; अत्याचार और व्यभिचार आदि बुरे कर्मोंमें नहीं फँसता; क्योंकि वह अपनेमें भी ईश्वरकी व्यापकताका अनुभव करता है। फिर वह अपनी बुराई स्वयं ही कैसे कर सकता है। इस तरहका अनुभव जिसको हो जाता है, उसको मायाका चमत्कार मुग्ध नहीं करता। वह सांसारिक सुखको तुच्छ समझता है। कण-कणमें ईश्वरकी व्यापकता समझनेवाला मुनि दुर्लभ कहा गया है। गीतामें ही भगवान्‌ने कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

वासुदेव अर्थात् वसुदेवके पुत्र श्रीकृष्ण ही सब कुछ हैं, वे ही ईश्वर हैं, वे ही सब जगह व्याप्त हैं—इस बातका अनुभव तत्त्वज्ञानीको ही होता है।

जो अज्ञानी हैं, वे ही श्रीकृष्णको भी ईश्वर नहीं मानते। उनकी समझमें नहीं आता कि श्रीकृष्ण तो मनुष्यके रूपमें स्वयं परिच्छिन्न दीखते हैं, फिर वे व्यापक कैसे हो सकते हैं। तत्त्वज्ञानियोंमें भी किसी-किसीको ही ऐसा मान होता है, इसलिये इसे दुर्लभ कहा गया है।

अर्जुन भगवान्‌के सखा थे, तो भी उनको इस बातका पूर्ण ज्ञान निश्चितरूपसे नहीं था। यद्यपि भगवान्‌ने उनसे कहा था—

'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'

अर्थात् यह समस्त संसार मुझमें मालाकी तरह गूँथा हुआ है। इसपर भी अर्जुनको संदेह रह ही गया। अपने संदेहको दूर करनेके लिये उन्होंने भगवान्‌से कहा कि आपकी सभी बातें सत्य हैं। फिर भी मैं आपके उस ऐश्वर्य-स्वरूपको देखना चाहता हूँ—

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥

भगवान्‌ने भी अपने कथनको प्रमाणित करनेके एवं अर्जुनके संदेहको दूर करनेके लिये कहा—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥

हे अर्जुन! सैकड़ों और हजारों अनेक रंग और अनेक तरहकी आकृतियोंवाले मेरे स्वरूपको देखो।

परंतु तुम इन पार्थिव नेत्रोंसे उन रूपोंको नहीं देख सकते, अतः तुमको दिव्य नेत्र देता हूँ। ऐसा कहकर दिव्य नेत्र प्रदान करके श्रीकृष्णने अपना ऐश्वर्य—रूप अर्जुनको दिखलाया। तब उनको दृढ़ विश्वास हुआ कि श्रीकृष्ण ही समस्त जगत्‌में व्याप्त हैं और वसुदेवके पुत्र बने हुए हैं, एवं मेरे मित्र भी बने हैं।

इसी तरह सब वस्तुओंमें ईश्वरके अस्तित्वका अनुभव प्रह्लादजीको था। उनको इस अनुभवके कारण उनके पिताके दिये हुए कष्टोंका अनुभव नहीं हुआ। पिताके पूछनेपर प्रह्लादजीने कहा था।

न केवलं मे भवतश्च राजन्
स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये
ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः॥
स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसा-
वोजःसहःसत्त्वबलेन्द्रियात्मा।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः
सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः॥

(श्रीमद्भा० ७। ८। ८-९)

उनके कहनेका तात्पर्य यह है कि वही परमात्मा एक है, जो मेरा बल है और अन्य वीरोंका एक भी बल है। इस

संसारमें छोटे-बड़े जितने भी हैं, चाहे वे स्थावर हों या जंगम—सबको वह अपने वशमें रखता है। यहाँतक कि ब्रह्मा आदि, जो सृष्टिकर्त्ता हैं, उनकी सृष्टिविधायिनी शक्ति भी वही है।

मत्स्यपुराणमें नरसिंह भगवान्‌की स्तुतिमें ब्रह्माजीने कहा है—

> परांश्च सिद्धांश्च परं च देवं
> परं च मन्त्रं परमं हविश्च।
> परं च धर्मं परमं च विश्वं
> त्वामाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥
> (मत्स्यपु० अध्याय १६२ श्लोक ९६)

परम सिद्धगण, पर देवता, श्रेष्ठ सर्वोत्तम मन्त्र और हवनीय पदार्थ, सर्वश्रेष्ठ धर्म एवं समस्त विश्व—ये सब पुराणपुरुषोत्तम आपको ही कहते हैं। इन सब प्रमाणोंसे ईश्वरकी सर्वव्यापकता प्रतीत होती है।

संसारकी उत्पत्तिका उपादान और निमित्त दोनों तरहके कारण ईश्वर ही हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणके सृष्टिनिरूपण-प्रकरणमें लिखा है—

> दृष्ट्वा शून्यमयं विश्वं गोलोकं च भयंकरम्।
> निर्जन्तुं निर्जलं घोरं निर्वातं तमसावृतम्॥
> आविर्बभूवुः सर्वादौ पुंसो दक्षिणपार्श्वतः।
> भवकारणरूपाश्च मूर्तिमन्तस्त्रयो गुणाः॥

वेदमें भी लिखा है, 'एकोऽहं बहु स्याम्' ऐसी इच्छामात्रसे सृष्टिका प्रादुर्भाव हुआ है।

यह सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। त्रिगुणकी उत्पत्ति उसी परब्रह्मसे हुई है। अतः सृष्टिका उपादानकारण त्रिगुण है और निमित्त ईश्वरेच्छा है; अतः निमित्तकारण भी वही है।

ईश्वर और जगत्‌के सम्बन्धमें एक विलक्षणता है। ईश्वर सर्वत्र व्यापक होनेपर भी निर्लिप्त है। सांख्यदर्शनमें महर्षि कपिलने प्रकृतिको जगत्‌का उपादानकारण माना और पुरुषको निमित्तकारण। प्रकृति और पुरुष दोनोंको जगत्‌का कारण कहा है। प्रकृतिके लक्षणमें श्रीकृष्णचन्द्रने सांख्यकारिकामें लिखा है—

> मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
> षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

मूलप्रकृति अर्थात् प्रधान प्रकृति स्वयं किसीकी विकृति नहीं है, अर्थात् किसीसे उत्पन्न नहीं हुई है, इसकी सात विकृतियाँ होती हैं। वे सात विकृतियाँ, स्वयं विकृति होती हुई भी सोलह विकारोंकी प्रकृति भी हैं। सांख्यसूत्रमें महर्षि कपिलने प्रकृतिके लक्षणमें कहा है—

> 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थितिः प्रकृतिः'

प्रकृति और पुरुषके संयोगसे ही संसारकी उत्पत्ति है। यह संयोग भी छायामात्रसे है।

स्वयं प्रकृति जड है और पुरुषका स्वरूप चैतन्य है। चैतन्यकी छायासे प्रकृति भी चैतन्यकी तरह हो जाती है और कार्यरूपमें परिणत होते दिखायी पड़ती है तथा इसीका नाम सृष्टि है। जैसे आकाश सर्वव्यापक होनेपर भी किसी गुणसे लिप्त नहीं होता, उसी तरह ईश्वर भी सर्वव्यापक होनेपर भी किसी गुणसे लिप्त नहीं होता।

इस तरह ईश्वर और जगत्‌के सम्बन्धका ज्ञान होना ही मुक्ति कहलाता है। प्राणीमात्रके लिये सांसारिक बन्धन अज्ञान है। हम अपनेको प्रकृतिसे परे केवल चैतन्यरूप समझ जायँ, यही हमारी मुक्ति है। इसीको 'कैवल्य' कहते हैं।

हम प्रकृति नहीं हैं, हम केवल चैतन्य-स्वरूप परब्रह्म हैं, ऐसा समझ लें।

यही जगदीशका जगत्‌के साथ सम्बन्ध है, इसीको जाननेका नाम ज्ञान है। ज्ञानसे ही मुक्ति होती है। लिखा भी है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' ज्ञानके बिना मुक्तिः नहीं है। तपस्या और भक्तिसे ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञानसे मुक्ति अर्थात् कैवल्यकी प्राप्ति होती है।

मेरा भगवान्‌के साथ नित्य सम्पर्क स्थापित हो गया है

भगवान्‌के साथ मेरा नित्य सम्पर्क स्थापित हो गया है। मैं प्रतिक्षण प्रतिस्थानपर यह अनुभव करता हूँ कि प्रभु नित्य मेरे पास रहते हैं और हर तरहसे मुझे सँभाल रहे हैं। इसीसे मेरे अंदर निर्भयता, निश्चिन्तता, शान्ति, धृति, शक्ति, पुष्टि, तुष्टि, करुणा, प्रेम, उदारता आदि प्रभुके सद्गुणोंका विकास हो रहा है। अब मैं समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो गया हूँ, केवल भगवान्‌से ही बँध गया हूँ; क्योंकि उनके साथ मेरा नित्य सम्पर्क स्थापित हो गया है।

भ्रष्टाचार इस प्रकार रुक सकता है

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

स्थान-स्थानपर भ्रष्टाचारको लेकर दुःख प्रकट किया जा रहा है। कहीं खाद्यान्नोंमें मिलावट, कहीं रिश्वत, कहीं ब्लैकमार्केट है तो कहीं पक्षपात, झूठे विज्ञापन, चोरी, छल, कपट या धोखेबाजीके नये-नये ढंग देखनेमें आ रहे हैं।

बाज़ारमें शुद्ध दूध, घी, आटा, दही मिलना असम्भव-सा हो गया है। सर्वत्र निम्नकोटिकी वस्तुओंकी मिलावट है। हमारे देशके व्यापारी यह नहीं समझते कि व्यापार ईमानदारी और शुद्ध वस्तुओंको बेचनेसे ही पनपता है। चोर-बाजारी, कर न चुकाना, पाकिस्तान आदि विदेशोंसे अवैध व्यापार करना, कम तौलना, मूल्य अधिक बताकर फिर हुज्जत करके कम करना, अच्छा नमूना दिखाकर घटिया देना, असलीमें नकली मिला देना, ग्राहकको ठगनेका प्रयत्न—ये व्यापारिक भ्रष्टाचारके अनेक उदाहरण हैं।

समाचारपत्रोंमें आये दिन भ्रष्टाचारके समाचार छपते रहते हैं। गतवर्ष बम्बई राज्यमें भ्रष्टाचार विरोधी ब्यूरोने भ्रष्टाचार और दुर्वर्तनके २४३ मामले पकड़े, जिनमें ६७ सरकारी कर्मचारी भी सम्मिलित थे। इनमें २६ मामलोंमें ३५ सरकारी कर्मचारियोंको रिश्वत, गबन या किसी गैर-कानूनी ढंगसे रुपये ऐंठनेके अपराधमें पकड़ा गया है।

सहारनपुर पिछले ११ दिसम्बर ५८ का समाचार है कि वहाँके १४ गल्लाव्यापारियोंको, एक रेलवे बुकिंगक्लर्क और चार दलालोंको चोरीसे दो लाखका चावल राज्यसे बाहर भेजनेके कथित अभियोगमें गिरफ्तार किया गया। नशीली चीजोंका अवैध व्यापार धड़ल्लेसे चल रहा है। अवैधरूपसे शराब बनाना, या चोरीसे अफीम लाना, गाँजा बेचना आदि-के अनेक समाचार छपते रहते हैं।

बम्बई-राज्यके पुलिस-विभागके एक मासके भ्रष्टाचारोंकी तफसील देखिये। मासके अन्ततक १०३ मामले पकड़े गये। इनमें २९ मद्यनिषेधके अपराध, तीन जुएके मामले, ६१ बिना परमिटके मोटर चलानेके अभियोग और दस विविध अपराध थे; जैसे सिनेमा-टिकटोंकी चोरबाजारी, धोखादेही, सरकारी सम्पत्तिका उपयोग, इमारतके सामानकी चोरी, औरतोंको बेचने या वेश्यावृत्ति करवानेके मामले।

ये सब आसानीसे और बिना ठोस श्रम किये धन कमानेके चसकेके कारण हुए हैं। बहुत-व्यक्ति ऐश्वर्यपूर्ण जीवन, ऐश-आरामकी वस्तुएँ तो चाहते हैं, पर मेहनत और ईमानदारीसे नहीं कमाना चाहते। फलतः भ्रष्टाचारके नये-नये तरीके सोचा करते हैं।

लोग भ्रष्टाचार क्यों करते हैं ?

बिना मेहनत रुपया बना लेनेका व्यसन या चसका बुरा है। एक बार जिस व्यक्तिको मुफ्तखोरी, कामचोरी, धोखेबाजीकी लत पड़ जाती है तो उसका मन फिर किसी स्थायी कामोंमें नहीं लगता। वह मुफ्तमें ही रुपयेका मालिक बनकर गुलछर्रे उड़ाना चाहता है।

कुछ व्यक्ति अपनेको अपनी हैसियत या सामाजिक स्तरसे ऊँचा दिखानेमें शान समझते हैं। अंदरसे खोखले रहते हुए भी बाहरसे ऐसा लिफाफा बनाये रखना चाहते हैं कि समाज धोखेमें रहे। कुछ ऐसे हैं जिनकी नशेबाजी, कामुकताकी तृप्ति, फैशन, विलासिता आदिकी आदतें अनियन्त्रित रूपसे बढ़ी हुई हैं। नैतिक आमदनी तो सीमित रहती है। कुछ ऊपरी आमदनी पैदाकर इन बढ़े हुए खर्चोंकी पूर्तिके लिये उनका मन कुलबुलाया करता है। वे सदा ऐसी तरकीबें सोचा करते हैं कि आमदनीके नये जरिये निकाल लें, जिनसे उनकी टीपटाप और बढ़ी हुई इच्छाओं-की पूर्ति होती रहे।

नैतिक और ईमानदारीसे आयवृद्धि करना आजके बेरोजगारीके युगमें बड़ा कठिन है। फिर मनुष्य श्रमसे जी चुराता है और बिना मेहनत आनन्द लूटना चाहता है। वह अपनी बुद्धि उन उपायोंकी खोज करनेमें लगाता है कि श्रम कम-से-कम करना पड़े, या हो सके तो बिल्कुल ही मेहनत न पड़े, पर आय दुगुनी हो जाय। इस कार्यमें वह मर्यादा और औचित्यकी सीमाओंको पार कर जाता है। क्षणिक भोग और लालचसे उसकी विवेक-बुद्धि भ्रमित हो उठती है।

भ्रष्टाचारका सामाजिक कारण मिथ्या प्रदर्शनकी भावना, झूठी शान, वासनापूर्ति या फैशनकी सनक और अनावश्यक तृष्णा हैं। भ्रष्टाचारीके मनमें अनावश्यक लोभ बना रहता है, जो उसे अवैध तरीकोंकी ओर ढकेलता है। कुछमें चोरीकी अपराधवृत्ति स्वाभाविक होती है। कुछ आनन्दी जीव होते हैं, जो शराब-पान, वेश्यागमन और होटलके वासना-मूलक

पदार्थोंके इच्छुक होते हैं। कुछ अनाप-शनाप खर्चमें ही अपनी अहं तुष्टि कर पाते हैं। ये सब मानसिक दृष्टिसे रोगी होते हैं।

फजूलखर्ची, विलासिता और आरामतलबी हमारे इस दिखावटी समाजका एक बड़ा दुर्गुण है। यह केवल अमीर और पूँजीवादीवर्ग तक ही सीमित नहीं, प्रत्युत मध्यवर्ग और मजदूरवर्ग, क्लर्क और बाबूवर्गतकमें पाया जाता है।

जितनी आज अपने-आपको अमीर दिखानेकी थोथी प्रवृत्ति पायी जाती है, उतनी पहले कभी नहीं पायी गयी। लोग अपनी ईमानदारीकी कमाईसे संतुष्ट नहीं हैं; वे तो यकायक कम-से-कम समयमें अमीर बन जानेके उपाय (जो प्रायः अनैतिक होते हैं) सोचा करते हैं। वे सट्टा करते हैं, जुवा खेलते हैं, दूसरोंको तरह-तरहसे धोखा देते हैं, ठगते हैं, भ्रष्टाचार करते हैं और रिश्वत उड़ानेका प्रयत्न करते हैं।

शहरोंमें दिखावा और झूठी शान दिखानेकी दुष्प्रवृत्ति सर्वत्र पायी जाती है। आप उसे सड़कोंपर, गलियोंमें, पार्कोंमें, मन्दिरोंमें और सबसे अधिक विवाह-शादियोंके अवसरपर देख सकते हैं। पोशाकका दिखावा और शान कदाचित् सबसे अधिक बढ़ी हुई है। युवक और युवतियोंमें अपने-आपको सजाने, विविध शृंगार करनेकी भावना अनियन्त्रित रूपसे बढ़ती ही चली जा रही है। लोग अपनी आयसे बहुत अधिक व्यय कर दूसरोंपर शान जमाते हैं और उसका दुष्परिणाम व्यावसायिक दिवालियापन, धोखेबाजीके अनेक मुकदमे, विविध अपराध मिल रहे हैं, जिनमें लोगोंको बेईमानी और दूसरोंको ठगनेपर भारी सजाएँ होती हैं।

बाहरी लिफाफा अच्छा रहे। हम अमीर और पूँजीवाले दिखायी दें, यह बहुरूपियापन आज हमारे समाजको भ्रष्टाचारकी ओर आकृष्ट कर रहा है। धोखेबाज दूसरोंपर झूठी शान जमानेमें लगे हुए हैं। वे एक खास किस्मके स्टाइलसे रहना चाहते हैं, खूबसूरत कोठियोंमें निवास करते हैं, दावतें देते हैं, पान-सिगरेटका दौर-दौरा रखते हैं और इन सबके खर्चे पूरे करनेके लिये भ्रष्टाचार ही उन्हें एक सीधा-सा रास्ता दिखायी देता है।

एक वर्ग अंदरसे गरीब है, पर दिखाता है अमीरी। यह निम्न मध्यवर्ग हर तरीकेसे अपनी गरीबीको छिपानेका उपक्रम करता है। वे व्यक्ति कमानेसे पूर्व ही अपनी आमदनी खर्च कर चुकते हैं। उनपर कभी पंसारीका तो कभी कपड़ेवालेका कर्ज चढ़ा ही रहता है। बिजलीके बिल जमा नहीं हो पाते। मकानका किराया चढ़ा रहता है; किंतु फिर भी वे मित्रोंकी दावतें करेंगे और लेन-देनमें कभी कमी न करेंगे। वे मित्र और सम्बन्धी कबतक ऐसे व्यक्तिके साथ रहते हैं? केवल तब ही तक, जबतक वह ऋण इतना नहीं हो जाता कि अदायगीकी सीमासे बाहर हो जाय। जहाँ वह ऋणमें फँसा कि ऐसे 'खाऊ-उड़ाऊ' व्यक्ति उड़ जाते हैं और इस ऋण-ग्रस्त व्यक्तिसे घृणा करते हैं। फिर उसे कोई नहीं पूछता। कर्ज उसे पेटमें रख लेता है।

हम फैशनके दास बन गये हैं। हम दूसरोंके नेत्रोंसे देखते हैं। दूसरोंके दिमागोंसे सोचते हैं। जैसा दूसरोंको पसंद है, हम वही करते हैं। हम वह नहीं करते जो वास्तवमें हमारी सच्ची स्थिति है, हैसियत है या जो हमारी आमदनी है। हम अंधविश्वासोंके गुलाम हैं। जैसा देने-दिलानेका रिवाज है, हम वैसा ही करनेपर तुल जाते हैं, जब कि हमारे पास पैसा होता ही नहीं और हम अपना घर भी दूसरोंके यहाँ गिरवी रख देते हैं। हम स्वतन्त्ररूपसे विचार नहीं करते, अपना आगा-पीछा नहीं सोचते। हम जिस वर्गमें हैं, उससे इस वर्गकी बड़ी हैसियतका अन्धानुकरण करते हैं। समाज तो दो दिन वाहवाही करके अलग हो जाता है। हम उम्रभर कर्जमें डूबे रहते हैं। हमारे मनमें यह गलत धारणा बन गयी है कि हम यदि ऐसे कपड़े पहनेंगे, ऐसा बनाव-शृंगार करेंगे, सोसाइटीके रस्मों-रिवाजोंका पालन करेंगे, तभी हमें सम्मान्य समझा जायगा। हम मूर्खतामें फँसकर अपनेसे ऊँची आय, हैसियत, संचित पूँजी और ऊँची स्थितिवाले लोगोंके समान जीवन बितानेकी इच्छा करते हैं।

इस प्रकार अनेकानेक समझदार और पढ़े-लिखे व्यक्ति-तक कर्ज, दुःख, बेबसी, आत्महत्या, उत्तेजना, अपराध और भ्रष्टाचारकी ओर बढ़ते हैं। खानेकी वस्तुओंमें मिलावट, दूसरोंसे रिश्वत, भोली-भाली जनताको धोखेबाजीसे छलते हैं। अनेक तरीकोंसे ठगते हैं। झूठे विज्ञापन करते हैं, डकैती और हत्यासे भी नहीं चूकते। बार-बार चोरी करनेसे वह हमारी आदतमें शुमार हो जाता है। एक भ्रष्टाचारीको बने-ठने देखकर दूसरे भी वैसा ही रंग बदलते हैं। वे भी उन्हीं अनैतिक तरीकोंको अपनाते हैं। एक भ्रष्टाचारी दूसरेको भ्रष्टाचारी बनाता है।

भ्रष्टाचारीका धन आठ-दस वर्ष ठहरता है, ग्यारहवाँ वर्ष लगते ही समूल नष्ट हो जाता है।

अन्यायोपार्जित धन विषके समान होता है । जो अनैतिक और गंदे तरीकोंसे धन कमाते हैं, उनके चारों ओर विष-ही-विष है ।

संत टाल्सटाय धनके साथ जुड़ी हुई अनेक बुराइयोंके कारण धनको पाप मानते थे । उनकी पत्नी खाने, उड़ाने, चाटने और दिखावटी जीवनको पसंद करती थी । वह हमेशा नये-नये फैशन और नयी-नयी माँगें पेश किया करती थी । इस तरह दोनोंके स्वभावकी असमानताके कारण उनका जीवन कलुषित बन गया था । यदि और कोई कम आत्म-विश्वासका व्यक्ति होता तो पत्नीको खुश करनेके लिये वह भी भ्रष्टाचारी बन सकता था । दुनियाको छल, कपट और धोखेबाजीसे लूटनेका षड्यन्त्र कर सकता था; किंतु टाल्सटायको भ्रष्टाचारसे बड़ी घृणा थी । उन्होंने सत्य और नैतिकताका सन्मार्ग न छोड़ा । बयासी वर्षकी उम्रमें पत्नीके कलहसे तंग आकर गृह-त्याग किया ।

सच है, धन जिनका चाकर है, वे बड़भागी हैं । जो धनके चाकर हैं, वे अभागे हैं ।

तमाम पवित्र चीजोंमें धन कमानेकी पवित्रता सर्वोत्तम है ।

भ्रष्टाचारका जिम्मेदार हमारा समाज है

भ्रष्टाचारके लिये किसे दोष दें ? व्यक्तिको या समाजको ? आप कहेंगे व्यक्ति ही मिलावट करता है, रिश्वत लेता है, चोरी, छल, ठगी, धोखेबाजी करता है । इसलिये व्यक्ति ही इस अपराधका जिम्मेदार है, व्यक्तिका ही दोष है ।

हम कहते हैं कि भ्रष्टाचारका दोषी व्यक्ति उतना नहीं है, जितना समाज है । समाज व्यक्तिको निरन्तर प्रभावित किया करता है । प्रत्येक समाजमें कुछ निश्चित कायदे-कानून और बँधी हुई रस्मे हैं । व्यक्तिको उन्हींका पालन करना पड़ता है । जिन रस्म और रिवाजोंका समाजमें मान होता है, जिन बातोंको अच्छा और बुरा माना जाता है, समाजका प्रत्येक व्यक्ति उन्हींको स्वभावतः ग्रहण करना चाहता है । उन्हींको धारण करनेमें गौरवका अनुभव करता है ।

समाजमें कुछ व्यक्ति तो सादा जीवन व्यतीत करते हैं, पर कुछ दम्भी ऐसे भी होते हैं, जिनके घरमें तो भूजी भाँग नहीं होती, पर वे अपने आपको बड़ी टीपटापसे दिखाते हैं, कृत्रिम बनाव-शृंगार रखते हैं; बाहर कुछ, अंदर कुछ और रहते हैं । ये साज-शृंगार करते हैं, तो समाज इन्हें मान देता है । समाजमें ये लंबी नाक निकालकर चलते हैं । इनकी टीपटाप और विलासको देखकर साधारण स्तरके व्यक्ति भी इनकी नकल करते हैं । लुभावने जीवनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं । समाजमें सब कुछ अनुकरणसे ही चलता है । एकके बाद दूसरा, बस यह लुभावना जीवन ही सर्वत्र परेशान कर रहा है ।

उदाहरणके तौरपर हम राजनीतिक जगत्में कार्य करने-वाले लोकप्रिय मन्त्रियोंके जीवनको ले सकते हैं । उन्होंने जनताकी सेवाका व्रत धारण किया था । सादा जीवन और कम-से-कम वेतन—यही उनका आदर्श था । वेतन वे केवल पाँच सौ रुपया मात्र लेते थे । कुछ दिनोंतक तो वास्तवमें उनका ऐसा ही जीवन चला, किंतु फिर वे भी उसपर निर्भर न रहे । उनके भी खर्चे बढ़ गये । टीपटाप और दिखावा शुरू हो गया । नयी-नयी कारोंकी मॉडलें बदलने लगीं । उनको भी अपने प्रचार-प्रोपेगेंडाके लिये रुपयेकी जरूरत पड़ने लगी । वे अपने लिये स्थायी आयका प्रबन्ध करनेकी सोचने लगे । यह दिखावा और आत्म-विज्ञापन करनेके लिये उन्हें फालतू धनकी जरूरत पड़ी । बस, उन्होंने भी भ्रष्टाचारमें हिस्सा लेना प्रारम्भ कर दिया । इस रिश्वत तथा ऊपरकी आमदनीसे कुछ व्यक्तियोंने अल्पकालमें लाखोंकी कोठियाँ खड़ी कर लीं, अपने आदमियोंको सरकारी नौकरियोंमें प्रविष्ट करा दिया और मिनिस्टरीमेंसे निकल जानेपर आमदनीका सिलसिला जमा लिया ।

समाजमें टीपटापसे रहनेवाले बड़े आदमियोंका विलासिता और फैशनसे भरा हुआ जीवन कम आयवालोंके मनमें ईर्ष्या उत्पन्न करता है । वह अपनी सीमित आमदनीमें अपने खर्चे पूरे कर नहीं पाता । अतः उसके मनमें अतृप्ति बनी ही रहती है । आज जिसे देखिये, वही आय कम होनेकी शिकायत इसीलिये करता है; क्योंकि वह अपनी हैसियत तथा सामाजिक स्तरमें नहीं रहना चाहता, बल्कि अपनेसे बड़ों, अमीरों, जागीरदारों, सामन्तों या राजाओंके जीवनका असफल अनुकरण करता है ।

भ्रष्टाचार रोकनेके लिये सुझाव

हम कह आये हैं कि भ्रष्टाचार एक सामाजिक रोग है । समाज ही इस रोगका निराकरण कर सकता है । यदि समाज प्रयत्न करे तो बहुत जल्दी भ्रष्टाचार समाप्त हो सकता है ।

समाजमें ऐसे अवसर बंद कर देने चाहिये, जिनमें कम आयवालोंको बड़ोंके अनुकरण और ईर्ष्याके अवसर मिलते हैं,

या अनावश्यक मिथ्या प्रदर्शनके खर्चे बढ़ते हैं। विवाहोंमें अनापशनाप दिखावा, लेन-देन, ठहराव, दहेजका प्रदर्शन आदि दूसरोंको और भी अधिक व्यय करनेको प्रेरित करते हैं। एक दस हजार व्यय करता है, तो दूसरा उसे नीचा दिखानेके लिये पंद्रह हजारकी योजनाएँ बनाता है। तीसरा कुछ और टीपटाप और प्रदर्शनकी तरकीबें सोचता है। लानत है, उस सामाजिक अनुकरणपर, जो हमें सजीव सत्यसे वञ्चित रक्खे। अपनी असलियत न प्रकट करने दे, अथवा वास्तविकता खोलते हुए मनमें लज्जाका भाव पैदा कर दे।

दहेज या तो दिया ही न जाय, अथवा चेकद्वारा दिया जाय, जिसका प्रदर्शन तनिक भी न हो। विवाहमें कन्याकी शिक्षा, योग्यता, सच्चरित्रता और स्वास्थ्य ही मुख्य है। धन तो नितान्त गौण है। दहेजका प्रदर्शन ही न किया जाय, तो फिर उसके देनेमें कौन गर्वका अनुभव करेगा?

आज हम नारी-जीवनको देखते हैं, तो उसमें भी समाजका ही कसूर पाते हैं। हर एक युवती बढ़िया-बढ़िया राजसी वस्त्र, अधिकाधिक नवीन रंग तथा आकर्षक प्रिंट्स, नाइलोन साड़ियाँ और नयी डिजाइनोंके आभूषण क्यों चाहती है? नये फैशन क्यों बनाती है? मुँहपर क्रीम, पाउडर, सुर्खी इत्यादि क्यों लगाती है? अपनेको सुन्दर दिखानेमें क्यों इतनी तल्लीन है?

इसका कारण वह यह समझती है कि समाजमें इन्हीं वस्तुओंके प्रयोगसे वह सम्माननीय समझी जायँगी। वह यही समझती है कि पत्नीका सजीधजी फैशनमें होना ही सौभाग्यकी बात है। वह बेचारी ऐसे समाजमें रहती है, जिसमें अधिक-से-अधिक फैशन बनाना उत्तम समझा जाता है और अर्द्धनग्न रहनेमें पाश्चात्त्य देशोंकी अंधाधुंध नकल की जाती है। समाज इन फैशनों, इन सौन्दर्य-प्रसाधनोंको महत्त्व देता है। सम्मानसे देखता है।

समाजका सम्मान पानेकी भूखमें वह बेचारी जीवनकी अनेक उपयोगी और आवश्यक वस्तुओंका प्रयोग बंद कर देती है। शुद्ध घीके स्थानपर डालडा और दूधके स्थानपर चायका प्रयोग करती है, पर सौन्दर्य-प्रसाधनों, वस्त्रों, फैशनोंमें दिल खोलकर व्यय करती है। दोष उस समाजका है जो गलत मूल्योंसे व्यक्तियोंको नापता है और मिथ्या-प्रदर्शनकी ओर गुमराह करता है।

जनताका मन चीजोंको गहराईसे नहीं सोचता। वह तो कच्चा मन रखता है। ऊपरी दिखावेसे ही प्रभावित हो जाता है। वह भी व्यक्तिका मूल्याङ्कन बाह्य प्रदर्शनसे ही करने लगता है। अतः जरूरत इस बातकी है कि समाज ऐसे मिथ्या-प्रदर्शनपर रोक लगाये।

युवक-युवतियाँ समाज और सरकारद्वारा सिनेमा-अभिनेता और अभिनेत्रियोंको सम्मानित होते देखती हैं। अभिनेत्रियों-के सजे हुए फोटो बड़ी शानसे छपते हैं। अखबार उनके रोचक-वृत्तान्त छाप-छापकर जनताका ध्यान उनकी ओर आकर्षित करते हैं। युवक अभिनेत्रियोंके चित्रोंसे सुसज्जित अखबारोंको लिये फिरते हैं। घर तथा दफ्तरोंमें दीवारोंपर उनके चित्र या कैलेंडर सजावट और सम्मानके लिये लगाये जाते हैं। जब युवक या युवती जनताद्वारा दिये गये इस सम्मानको देखती है, तब कन्याएँ स्वयं भी वैसी ही बनना चाहती हैं। इन्हें गुमराह करनेका अपराध उन लोगोंका है, जिन्होंने गलत मान दे-देकर कच्चे दिमागोंको बुरे रास्तेपर डाल दिया है।

समाजने सिनेमाको सार्वजनिक जीवनमें बहुत मान दिया। सिनेमा हमारे दैनिक जीवनका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग बन गया। कच्चे दिमागोंके विद्यार्थियोंने सिनेमामें रोमांस और एडवेन्चरके चित्र देखे। उन्हींका अनुकरण किया। फलस्वरूप यह वर्ग कामुक और रोमांटिक बन गया। विद्यार्थियोंमें अनुशासनहीनता, फैशनपरस्ती, कामुकता और गुंडागर्दीकी भावना फैल गयी।

आवश्यकता यह है कि सिनेमाको घृणाकी दृष्टिसे देखा जाय, अभिनेत्रियोंको अधिक मान न दिया जाय। मनुष्यकी सच्चरित्रता, विद्वत्ता, भलमनसाहत, उद्योग आदिको ही मान दिया जाय। जो-जो व्यक्ति जीवनमें सदाचार, संयम, सद्-व्यवहार, त्याग, तपस्या, सादगी और सरलतासे जीवन-यापन करके ऊँचे उठे हैं, उन्हींको समाजकी ओरसे सम्मान दिया जाय। इस प्रकार सही दिशाओंमें सोचने-विचारने और चलनेको प्रोत्साहित किया जाय। यदि समाज सत्यता और शीलगुणको सम्मान देगा तो जनता रुपयेके मोहसे हटकर मानवोचित सद्गुणोंके विकासकी ओर ही श्रम करेगी। उसकी विचारधारा उच्च नैतिक आदर्शोंकी ओर चलेगी। हमें समाजको नयी शिक्षा देनी होगी।

सच्ची शिक्षाका समूचा उद्देश्य समाजको ठीक कार्योंमें

रस कर देना ही नहीं; बल्कि उन्हें ठीक कार्योंमें रस लेने लायक बना देना है। समाजको शुद्ध बना देना है।

सब शुद्धताओंमें धनकी शुद्धता सर्वोत्तम है; क्योंकि शुद्ध वही है, जो धनको ईमानदारीसे कमाता है; वह नहीं, जो अपनेको मिट्टी और पानीसे शुद्ध करता है।

एक विचारकने लिखा है, निस्संदेह ऐसे बहुत आदमी हैं जो अन्यायी, बेईमान, धोखेबाज, अत्याचारी, फरेबी, झूठे, रिश्वतखोर, भ्रष्टाचारी बनकर धनवान् हुए हैं और आज समाजमें सम्मानके पात्र बने हुए हैं। सच जानिये, ऐसे व्यक्ति सुखी और तृप्त नहीं हो सकते। क्या वे इस दौलतके अत्यल्पांशका भी आनन्दसे उपभोग कर सकते हैं?

नहीं, कदापि नहीं। उनकी अन्तरात्मा उन्हें दिनभर और रातभर झिड़की, पीड़ा, संताप और यन्त्रणा देती रहती है।

सामाजिक वातावरण बदलनेकी जिम्मेदारी विद्वानों, विचारकों, लेखकों, सम्पादकों, कवियों, समाज-सुधारकों, राजनीतिक नेताओं और संतोंकी है। ये लोग अपने विचारों, पत्रों और लेखोंद्वारा समाजमें नयी-नयी विचारधाराएँ फैलाते हैं और जनताको विचारकी नयी विधियाँ सिखाते हैं। उचित-अनुचितका विवेक सिखाते हैं। अपने तर्कोंसे कुछ विशेष निष्कर्षोंपर पहुँचते हैं। विवेक कुछ खास व्यक्तियोंका गुण है, चंद बुद्धिशालियोंकी निजी सम्पत्ति है। यदि यह उपदेशक-वर्ग समाजके मूल्योंको सांसारिकतासे हटाकर नैतिकताकी ओर ले जाय तो बड़ा लाभ हो सकता है।

वे सम्पादक, जो फिल्मोंके माध्यमसे कामुकता और शृंगारका प्रचार कर रहे हैं, जनताके शत्रु हैं। जो उच्छृङ्खल स्त्रियोंके आकर्षक-आकर्षक चित्र पत्रोंमें मुखपृष्ठोंपर छाप-छापकर युवकोंको विषय-वासनाकी ओर ढकेल रहे हैं, समाजका बड़ा अहित कर रहे हैं। अपने पत्रोंद्वारा वे जिस व्यक्तिको मान देंगे, शेष आदमी भी वैसे ही बनेंगे। अतः उन्हें चाहिये कि मानव-जातिके नैतिक जीवन-स्तरको ऊँचा उठानेवाले आदर्श पुरुष और नारी-रत्नोंको सम्मान दें। अपने पत्रोंमें उन आदर्श व्यक्तियोंके ही वृत्तान्त, घटनाएँ, कहानियाँ छापें, जिनमें दूसरोंको ऊँचा उठानेयोग्य आदर्श बातें हों। गंदे साहित्य, रोमाँटिक किस्से-कहानियों और निम्न कोटिके साहित्यको पढ़-पढ़कर जनता भ्रष्टाचारकी ओर भटक गयी है। साहित्यका पतन राष्ट्रके पतनका द्योतक है। सच्चा साहित्य वही है, जो मनुष्यका हित करे अर्थात् उसका नैतिक उत्थान करे। विवेकको जाग्रत् करे। मानसिक स्वास्थ्यके लिये विवेक वैसा ही है, जैसा शरीरके लिये स्वास्थ्य। विवेक जाग्रत् होनेसे मनुष्य उचित-अनुचितका अन्तर स्वतः समझने लगता है। सम्पादकोंको ऐसा साहित्य प्रकाशित करना चाहिये, जिससे विवेक जाग्रत् हो और जनता देवत्वकी ओर चले। लेखक ऐसे सात्त्विक साहित्यकी रचना करें, जिससे मनुष्य संयमका पाठ पढ़ें, अपनी सीमित आयमें अपना गुजारा करें और संतुष्ट रहना सीखें। अपनी आवश्यकताओं, वासनाओं और तृष्णाओंको न बढ़ने दें। इस प्रकारकी विचारधारा फैलानेसे सात्त्विक वायुमण्डल बनेगा और उसमें निवास करनेसे समाज भ्रष्टाचार स्वतः त्याग देगा।

मैं भगवान्‌के हाथका यन्त्र बन गया हूँ

मैं हूँ दृढ़, मैं सदा साहसी, हूँ विजयी, मैं हूँ बलवान।
क्योंकि सुदृढ़ता, साहस, जय, बल मुझे दे रहे नित भगवान॥
उनके बिना कहीं कुछ भी मैं नहीं, सर्वथा शून्य समान।
पर वे मुझमें नित्य विराजित सर्वेश्वर बल-बुद्धि-निधान॥
दुर्गुण दुर्विचार दुख मुझको कर पाते न कभी हैरान।
क्योंकि सदा निज संरक्षणमें रखते प्रभु रख अति अवधान॥
सर्वसमर्थ दे रहे प्रभु मुझको गुण-बल निज नित्य महान।
रखते विनयविनम्र सदा, हो पाता नहीं उदय अभिमान॥
जीवन मुक्त नित्य रहता, करता प्रभुके गुण ग्रहण अमान।
प्रभु इंगितसे होता रहता फिर उनका दुनियामें दान॥
करते और कराते प्रभु यह सभी स्वयं आदान-प्रदान।
मैं तो बना यन्त्र हूँ केवल, यन्त्री वे स्वतन्त्र मतिमान॥

मानवमें—देव और दानव

(लेखक—श्रीशैलजानन्दजी झा 'अङ्गार')

ऐसा लगता है कि मानव निश्चय ही देव और दानव—दोनोंके समन्वयका एक अनूठा प्रसाद है। उसने इंसान और हैवान दोनोंका लिवास चढ़ा रक्खा है! उसके स्वरमें देव और दानव—दोनोंका स्वर गूँजता है। उसके लिये जन्नत और जहन्नुम—दोनोंका दरवाजा खुला है।

हम घरसे निकलते हैं। वेदनासे व्यथित, पीड़ासे प्रपीडित एक भिखारिन मिलती है, हमारी आँखें डबडबा आती हैं— हृदय भर-भर आता है। हम उसे हृदयसे आश्वासन देते हैं और उसकी आहके सच्चे साझीदार बन जाते हैं, यही हमारा देवता है।

हम घरसे निकलते हैं। राहमें एक मृगलोचनी मिलती है। उसके कटाक्षसे हमारा हृदय बिंध जाता है। हमारा पागल मन गुनगुना उठता है—'ओह! यह तो चाँदनी ही जैसे इंसानकी कायामें ढल गयी हो।' एक पतित कामना उत्पन्न होती है। यही हमारा दानव है।

इस सत्य कथनके प्रमाणमें हजारों, लाखों उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं; किंतु आप केवल इतना ही स्मरण रखें कि जो तत्त्व हमारी पुण्य भावनाओंको जगाकर हमें अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, वह हमारा देवता है और जो हमें जीवनके पद-पदपर फिसलनेवाले मार्गसे ले जाकर महान् गर्तमें गिरानेकी व्यवस्था करता है, वह हमारा दानव है। मानव-मात्रको अन्तःस्थित इस देवत्वको जगाने और दानवत्वको सुलाने या मिटानेके प्रयासमें जीवन लगा देना चाहिये। किंतु इस देवत्वके जागरणके लिये पवित्र सत्संग, सतत सावधान तथा पवित्र संयमकी आवश्यकता है। यह कोई बच्चोंका खेल नहीं है, न गुड़ियोंका व्याह ही है। यह तो जीवनका वह प्रकाश-स्तम्भ है, जिसके दूरगामी-प्रकाशमें मानवकी आत्मा सर्वथा अविनश्वर हो जाती है—वह अजरामर हो जाता है।

सृष्टि (मानव) स्रष्टाको ढूँढ़ने निकलती है पर राहमें जब उसे कामना, वासना, आसक्ति, ममता, मोह आदिकी दुर्लङ्घनीय घाटियाँ मिलती हैं, तब जैसे उसका सारा धैर्य और उत्साह पानी बनकर बह जाता है। वह निराशा लिये लौट पड़ती है। यहीं दानवताकी विजय है। हमें यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मानवके शिव-संकल्पके सामने देवताको भी झुकना पड़ता है। मानवमें एक विशेष तत्त्व है जो अनन्त है, अगम है, असीम है, अविनश्वर है। यदि वह अपनी सम्पूर्ण अनन्तता लेकर उस अविज्ञेय सत्ताकी खोजमें चल दे, जो वास्तवमें उसका स्व-रूप ही है तो वह सत्ता कबतक दूर—कबतक छिपी रह सकती है? फिर हमें महामानव संत कबीर आदिकी बात भी नहीं भूलनी चाहिये। इस फक्कड़ संतपर अपने प्रियसे मिलनेकी एक धुन सवार थी इसे रामके बिना पलभर भी चैन नहीं था। होता भी कैसे? साँसके बिना जीवन, जलके बिना नदी, प्रियके बिना प्रियतम, परमात्माके बिना जीवात्माकी क्या सत्ता है? वह चल पड़ा प्रियतमकी खोजमें! पर आह, राह ऐसी पथरीली कि जिसकी उसे कल्पना भी न थी; वह रो पड़ा, परंतु प्रियतमसे तो मिलना ही है, कुछ भी हो—

मिलना कठिन है कैसे मिलौंगी प्रिय आय।
समुझि-समुझि पग धरौं जतनसे बार-बार डिग जाय।
ऊँची गैल, राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय॥

किंतु अन्तमें उसे प्रियतमका प्रकाश मिला—वह मंजिलपर पहुँच गया। रामके खुमारमें वह गा उठा—

हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं ।
हरि न मरैं हम काहेको मरिहैं ?

सत्य है, कबीर मरे भी क्यों ? उसमें भी तो रामका ही तत्त्व है ।

अतएव हमें भी कबीरकी भाँति ही अक्षय आशा, अदम्य उल्लास और शिव-संकल्पका संबल लेकर देवत्वको जगानेमें लग जाना चाहिये । राहमें काँटे मिलेंगे, पैरमें शूल चुभेंगे, उनकी परवा मत करो । निर्भीक होकर भगवत्कृपाका आश्रय लिये अनन्त शक्तिका महागान गाते हुए बढ़ते चले जाओ; क्योंकि देवतातक पहुँचनेके लिये केवल यही एक राह है । कामकी गुदगुदी हमें मीठी लगती है । इच्छा होती है, इसीमें आजीवन डुबकी लगाते रहें । शिव-संकल्पकी साधना बड़ी कटु लगती है । इच्छा होती है, इसी क्षण इसकी कड़ियोंको छिन्न-भिन्न कर दें ।

काम विषगर्भित फूलोंका पालना है, जिससे रोम-रोम स्पन्दित हो उठता है, परंतु अन्तमें वह मार डालता है । साधना शूलोंकी सेज है, जिससे रोम-रोम बिंध जाता है; किंतु हमें इन्हीं काँटोंकी राहसे चलना होगा, पर पहुँच जानेपर साक्षात् अमृतत्वकी प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि यहीं प्रियतमकी मंजिल है ।

शान्ति चाहते हो तो यज्ञमय जीवन बनाओ

(लेखक—प्रो० श्रीसीतारामजी गुप्त एम्० ए०, पी० ई० एस्० [अवसरप्राप्त])

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
(गीता ३ । १०)

'सृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञ-सहित प्रजाको रचकर कहा कि यज्ञद्वारा तुमलोग फूलो-फलो और यह यज्ञ तुमलोगोंकी सब इच्छाओंका पूर्ण करनेवाला हो ।'

सर्वप्रथम हम सृष्टि, उत्पत्ति तथा यज्ञपर कुछ विचार करते हैं । प्रलय और उत्पत्ति सृष्टिका नियम है । प्रलयके समय सब परमाणु अपने सूक्ष्म अव्यक्त रूपमें परिणत हो जाते हैं अर्थात् सब जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, फल-फूल, वृक्ष-लता आदि नाम-रूपधारी विश्वके सारे पदार्थ अपना नाम-रूप खोकर, अपनी स्थूल-अवस्थाको छोड़कर, सूक्ष्मातिसूक्ष्म मूल प्राकृतिक अवस्थामें पहुँच जाते हैं और कल्पके आरम्भमें उत्पत्तिके समय फिर उनका प्रादुर्भाव होता है एवं इसी प्रकार उत्पत्ति-प्रलयका संसारचक्र चलता रहता है । जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
(८ । १८)

'यह सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके समय अर्थात् कल्पके आरम्भमें अव्यक्त प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें अर्थात् प्रलयके समय फिर अव्यक्त—सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं ।'

यही भाव निम्नलिखित श्लोकमें भी प्रकट किया गया है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥
(गीता ९ । ७)

तैत्तिरीयोपनिषद्में भी आया है—

असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत ।
(२ । ७ । १)

सूक्ष्म और स्थूलरूपमें प्रकट होनेसे पहले यह जड और चेतनमय सम्पूर्ण जगत् असत् अर्थात्

अव्यक्त रूपमें ही था। इस अव्यक्त अवस्थासे ही यह सत् अर्थात् नाम-रूपमय प्रत्यक्ष जड-चेतनात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है।

परंतु ऐसा नहीं है कि किसी खास दिन और खास समयपर एकदम सृष्टिकी उत्पत्ति अथवा प्रलय हो जाय, यह विकास शनैः-शनैः होता रहता है। बहुत दिनोंकी बात है, जब मैं लाहौर गवर्नमेंट कालिजमें प्रोफेसर था, यह जनश्रुति फैली थी कि अमुक दिन अमुक समय इस सृष्टिकी प्रलय हो जायगी। मैं अपने एक मित्रसे, जो एक कालिजके प्रिंसिपल थे, मिलने गया तो उनको कुछ उदास पाया। पूछनेपर वे कहने लगे कि 'बस जी! अब तो थोड़े ही दिनका जीना है। आपने सुना नहीं कि प्रलय होनेवाली है।' मैंने उनसे कहा कि 'इस सृष्टिकी कितने वर्षोंकी जिम्मेवारी चाहते हैं, लाखों-करोड़ों वर्षोंकी तो मैं दे सकता हूँ।' कहने लगे—'कैसे।' मैंने कहा—'परमेश्वरकी सृष्टिमें विकास (Evolation) है, उपद्रव (Revolution) नहीं।' इसपर उनको काफी शान्ति मिली।

सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ परमेश्वर सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलयके रूपमें मानव-जातिके कल्याणके लिये निरन्तर एक महान् यज्ञ करते रहते हैं।

यज्ञ क्या है?

देवपूजासंगतिकरणदानेषु (निरुक्त)

प्रत्येक कार्यको यज्ञ-रूप बनानेके लिये ये तीन बातें आवश्यक हैं—

(१) देवपूजा—अर्थात् जो कर्म दिव्य आदर्शोंको लेकर सर्वहितार्थ अपने स्वार्थको त्यागकर फलासक्तिके बिना ईश्वरार्पण किया जाय।

(२) संगतिकरण—जिसमें संगठन और संयोग सिद्ध हो। जैसे शरीरके प्रत्येक अङ्गके अपना-अपना कार्य करते रहनेसे सब अङ्गोंका संगठन होकर शरीर बनता है। प्रत्येक व्यक्तिके अपना-अपना नियत कर्म करनेसे समाजका संगठन होता है।

(३) दान—अपनी सम्पत्तिमेंसे देश, काल और पात्रका ध्यान रखते हुए अपना कर्तव्य समझकर दूसरोंकी भलाईके लिये अथवा समाजके संगठनके लिये कुछ देना।

यदि किसी संस्थाके उत्सव या किसी महात्मा संन्यासीके उपदेशका प्रबन्ध करना हो तो उपदेशक तथा श्रोतागणोंके बैठनेके लिये दरियों, कुर्सियों तथा शामियाने और कनातों आदिका प्रबन्ध करनेको स्वयंसेवकोंकी तथा खर्च चलानेके लिये दानियोंकी आवश्यकता होती है। कभी-कभी लोगोंके जूतोंको सुरक्षित रखनेका भी प्रबन्ध करना पड़ता है। इन सब बातोंका प्रबन्ध हो जानेपर ही यह 'यज्ञ' भली प्रकार पूर्ण हो सकता है।

यह जगत् यज्ञमय है और इस सृष्टिमें हर समय यज्ञ होता रहता है। पृथ्वीके आकर्षणसे वायुमण्डल पृथ्वीके ऊपर सैकड़ों मीलकी ऊँचाईतक स्थित है, जो सूर्यकी घातक किरणों तथा उल्कापातोंके भीषण प्रहारोंसे हमारी रक्षा करता है और जीवनप्रदायिनी किरणोंको पृथ्वीके धरातलतक पहुँचने देकर हमें जीवन प्रदान करता है।

सूर्यमें लाखों डिगरी तापमानका ताप होता है, जिसके फलस्वरूप समुद्रका जल सूखकर वायुमण्डलमें भाप, बादल आदिका रूप धारण करता है। बादल बरसता है, पृथ्वीकी तपनको शान्त करता है और सारे वनस्पति, वृक्ष, ओषधि और अन्न उत्पन्न करता है। अन्नके आधारपर सब जीव जीते हैं। यह सब एक यज्ञ है। इसका यदि थोड़ी देरके लिये भी अभाव हो जाय तो सृष्टि-नियममें बाधा उत्पन्न होकर सब नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ। यदि पृथ्वी ही अपने आकर्षणको कुछ कम कर दे तो

शनैः-शनैः इसका सारा वायुमण्डल इससे स्वतन्त्र होकर गायब हो जाय। फिर न भाप हो न बादल, न वर्षा न वनस्पति, न अन्न और न जीव, सारी पृथ्वी उजाड़ बियाबान होकर केवल खुश्क पहाड़ अथवा खुश्क मैदान रह जाय।

वैज्ञानिकोंका कहना है कि चन्द्रमाके साथ यही हुआ, उसके आकर्षणके कम होनेसे उसका वायुमण्डल सब गायब हो गया और इसके फलस्वरूप चन्द्रमापर सूखे पहाड़ों तथा बड़ी-बड़ी भयानक दरारोंके सिवा कुछ न रहा। वहाँ न भाप है न बादल, न वर्षा न वनस्पति और न जीव-जन्तु।

बड़े-बड़े वृक्षादि गिरकर और जीव-जन्तु मरकर पृथ्वीके भीतर गलते-सड़ते रहते हैं। यही कालान्तरमें कोयले, तेलके रूपमें मनुष्यको मिलते हैं। पृथ्वीके भीतरसे नमक, सोना, चाँदी और बहुत-सी उपयोगी धातु, लोहा, ताँबा, ऐल्यूमीनियम आदि और उनसे भी उपयोगी और कीमती अणु शक्ति देनेवाली धातु यूरेनियम, रेडियम इत्यादि निकलते हैं। कोयले तथा तेलसे मनुष्यके कारखाने, रेल, वायुयान और जहाज चलते हैं और पारमाणविक शक्तिसे जहाज, वायुयान, अन्तर्ग्रही रॉकेट चलानेकी योजनाएँ बनायी जा रही हैं।

वैज्ञानिकोंका अनुमान है कि सूर्यका वर्तमान विकिरण-स्तर लगभग एक अरब वर्षतक रह सकता है अर्थात् सूर्यका शक्तिप्रदायक यज्ञ जो अरबों वर्षोंसे जारी है, अरबों वर्षोंतक और भी जारी रह सकता है। कितना महान् यज्ञ है यह।

इसके ठीक नियमपूर्वक चलते रहनेमें ही शान्ति है और इसमें थोड़ा-सा भी विघ्न पड़नेसे बड़े भारी उपद्रवका होना निश्चित है। यदि सूर्यका तापमान ही थोड़ा-सा बढ़ जाय तो पृथ्वीके सब जीव-जन्तु जल-भुनकर समाप्त हो जायँ और यदि तापमान थोड़ा-सा कम हो जाय तो बहुत सम्भव है कि सब पदार्थ और समुद्रोंके जल जमकर पत्थरकी तरह ठोस बन जायँ और सब गति समाप्त होकर एक निश्चल संसार बन जाय।

मनुष्यके अपने शरीरमें भी यज्ञ-क्रिया हर समय जारी रहती है। हाथ ग्रासको पकड़ता है और मुखतक पहुँचाता है। मुख उसको दाँतोंसे चबाकर पेटमें भेजता है। इसके बाद पेट और अँतड़ियाँ अपना काम करते हैं। अन्नको पचाकर उसमेंसे लाभदायक सूक्ष्म तत्त्वोंको ग्रहण करके अनावश्यक स्थूल पदार्थोंको बाहर निकाल दिया जाता है। भोजनका सूक्ष्म भाग रक्त, मांस, मज्जा और हड्डीके रूपमें परिवर्तित हो जाता है, जिससे शरीरकी लाखों नस-नाड़ियोंकी और सारे शरीरकी पुष्टि और वृद्धि होती है। इसी प्रकार शरीरके सारे अवयव—आँख, नाक, कान आदि अपना-अपना नियत कर्म करते हैं, जिससे यह शरीर-यात्रा चलती है।

यदि शरीरका कोई भी अङ्ग अपने नियत कार्यके करनेमें प्रमाद करे तो उसका फल सारे शरीरको भुगतना पड़ता है और इस शरीररूपी मशीनके चलनेमें बाधा आ जाती है। जैसे यदि हाथ स्वार्थवश स्वयं ही भोजनको ग्रहण करता रहे और मुखको न पहुँचाये तो शरीरकी कमजोरीके साथ हाथ भी कमजोर हो जायगा और उसके ग्रहण करनेकी शक्ति भी समाप्त हो जायगी। इसी तरह यदि मुख स्वयं ही भोजन लेता रहे और आगे पेटमें न पहुँचाये तो उसकी ग्रहण करनेकी शक्ति भी समाप्त हो जायगी; क्योंकि बहुत भोजन तो उसमें समा भी नहीं सकता और यदि वह प्रमादवश दाँतोंसे बिना चबाये वैसे ही भोजनको आगे ढकेल दे तो भी अजीर्ण होनेसे शरीरके साथ ही उसकी भी हानि होना अनिवार्य है।

स्पष्ट है कि इस शरीर-यात्रारूपी यज्ञकी पूर्तिके

हेतु सब अङ्गोंके लिये अपना-अपना नियत कार्य करना आवश्यक है, तभी शरीरमें शान्ति और नीरोगता आती है और तभी उसकी पुष्टि तथा वृद्धि हो सकती है, जिसके फलस्वरूप वह एक नन्हे-से तीन-चार सेरकी शिशु अवस्थासे एक साढ़े पाँच-छः फुट लंबा डेढ़-दो मन वजनका पूरा मनुष्य बन जाता है ।

जो एक व्यक्तिके शरीरकी अवस्था है, वही मानव-समाजकी है । समाजकी उन्नतिके लिये यह आवश्यक है कि उसके सभी व्यक्ति लगनके साथ, बिना किसी प्रमादके, अपना कर्तव्य और धर्म समझकर, भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाका पालन करते हुए अपने-अपने नियत कर्मोंको करते रहें ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

एक व्यापारी अपनी आजीविका चलाने मात्रके लिये दूसरोंके हितकी भी चेष्टा करता हुआ और लोभका त्याग करके लोगोंको शुद्ध पदार्थ देता है और ईश्वरकी देन समझकर उचित लाभ उठाता है तथा अपनी सम्पत्तिका कुछ भाग दान भी करता है, तो उसका यह कार्य यज्ञमय बन जाता है ।

परंतु यदि वह दूसरे लोगोंके अज्ञानका लाभ उठाकर लोभवश लोगोंको धोखा देकर तथा उनको घटिया अथवा मिश्रित माल देकर अधिक लाभ उठाता है, अन्यायसे गरीबोंको लूटकर अपना घर भरता है तो उसका वह अर्जित धन पापमूलक है । न्यायकी कमाईसे भी धनी होकर मनुष्य यदि उस धनको ईश्वरकी अमानत समझते हुए दान नहीं करता तो उसका यह कार्य चोरीसे कम नहीं है । ऐसे व्यक्तिके लिये भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।

परंतु जो पुरुष प्राप्त वस्तुओंका यथायोग्य उपभोग करता हुआ अवशिष्ट धनको *प्रसादरूपमें ग्रहण* करता है और उसीमें संतुष्ट रहता है एवं यथावसर दान भी करता है, वह मानव-जीवनका कर्तव्य पालन करता है ।

श्रीशङ्कराचार्यजी अपने एक स्तोत्रमें कहते हैं—

यल्लभते निजकर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तम् ।

एक कर्मचारी या किसी दफ़्तरका अफसर यदि अपना कर्तव्य समझकर अपने दफ़्तरके समयमें, अपने देशकी उन्नतिके भावसे, पूरे तन-मनसे, पूरे समयतक अपना कर्तव्य-कार्य करता है और अपने मातहत क्लर्कोंसे उचित काम लेता हुआ उनको प्रसन्न भी रखता है तो उसका यह कार्य 'यज्ञमय' बन जाता है ।

परंतु यदि वह अपना कर्तव्य-कार्य छोड़कर दफ्तरके समयमें अपने मित्रोंसे फोनपर वार्तालाप करता रहता है या मित्रों अथवा सम्बन्धियोंको पत्र लिखता रहता है और दफ्तरके कागज आदि पदार्थोंको निजके कामके लिये प्रयोगमें लाता है तो वह मानो चोरी करता है ।

एक डाक्टर या वैद्य रोगियोंको भगवान्का स्वरूप समझकर उनकी सेवाके भावसे ही, उचित पारिश्रमिक लेकर, रोगियोंका पूरा ध्यान रखते हुए उनकी चिकित्सा करता है, लोभवश रोगियोंको दुखी न करते हुए, कम-से-कम औषधकी व्यवस्था करता हुआ उनकी सेवा करता है एवं उस सेवाका अवसर मिलनेके लिये ईश्वरका धन्यवाद करता है तो उसका यह कार्य 'यज्ञमय' बन जाता है ।

परंतु यदि लोभवश वह रोगियोंको अधिक औषध देता है अथवा ऐसी औषध देता है जिससे रोगीको नीरोग होनेमें अधिक समय लगे तो भगवान् श्रीकृष्णके कहनेके अनुसार वह चोरी ही है ।

एक राजा प्रजाका पालन करता हुआ राष्ट्रकी सारी *आय जनताके हितार्थ व्यय* करता है और स्वयं थोड़ेमें

ही अपना गुजारा करता हुआ बहुत सादा जीवन बिताता है तो समझो कि उसका जीवन यज्ञमय है और वह अपनी प्रजामें शान्ति स्थापित करनेमें सफल होता है ।

इसके विपरीत यदि वह इन्द्रियोंके वश होकर जनताके धनसे अपना स्वार्थ सिद्ध करता है तो वह तो चोरी करता ही है, वरं उसके अधिकारी भी उसका अनुकरण करते हुए आपाधापीमें पड़कर जनताका अहित करते हैं और सारे राज्यको पापमय बनानेके पापके भागी होते हैं ।

आजकल जब कि सर्वत्र दुःख और अशान्ति बढ़ रहे हैं तथा राष्ट्रोंमें शीत-युद्धकी ध्वनि गूँज रही है, ऐसे समयमें यह अत्यधिक आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनको यज्ञमय बनाकर विश्व-शान्ति स्थापित करनेमें सहयोग दे ।

प्राणियोंमें मनुष्य यह विशेषता रखता है; क्योंकि उसे परमात्माने सत्-असत्का विवेक करनेवाली बुद्धि प्रदान की है । इसीलिये मनुष्य-जन्म देवताओंको भी दुर्लभ कहा गया है । आशा की जाती है कि मनुष्य अपनी बुद्धिको कभी तृप्त न होनेवाले विषयोंसे हटाकर सन्मार्गपर लगायेगा और विश्वमें शान्ति-सुख तथा यथार्थ अभ्युदयके बढ़ानेमें अग्रसर होगा ।

नेत्र खुले रखो

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'आपने यह व्यसन पालकर अच्छा नहीं किया ।' वे मेरे मित्र थे, कांग्रेस-आन्दोलनके सहकर्मी थे । आन्दोलनका समय समाप्त हुए तब अधिक समय नहीं बीता था । दूरके सम्बन्धमें सम्बन्धी भी लगते थे और सबसे बड़ी बात यह कि वे मुझसे स्नेह रखते थे । अतः उनके हाथमें हुक्का देखकर मुझे खेद हुआ था ।

उत्तर-प्रदेशमें हुक्का व्यापक है पर्याप्त दिनोंसे और ब्राह्मणोंके अतिरिक्त अन्य वर्णोंमें उसका इतना सम्मान है कि जातिबहिष्कृत व्यक्तिको 'हुक्के-पानीसे बाहर' कहा जाता है । आगतका स्वागत हुक्केके बिना सम्पन्न नहीं हुआ करता ।

समाजमें रहना है तो उसके शिष्टाचार भी मानने ही पड़ते हैं । हम हुक्का पीते हैं या नहीं, यह भिन्न प्रश्न है; किंतु जो अपने यहाँ आवेंगे, उनके हाथमें ताजी चिलम चढ़ा हुक्का न देनेसे तो काम चलेगा नहीं; वे असंतुष्ट होकर जायँ—अकारण लोकनिन्दा हो, यह किसीको प्रिय नहीं हो सकता । अतः क्षत्रिय होनेके कारण मेरे उन सम्मान्य मित्रके यहाँ हुक्का-चिलम तो रहते ही थे । उनके द्वारका गौरव था—'सेर-सवासेर तंबाकू प्रतिदिन जल जाती है ।' सेवक न हो तो अभ्यागतके सम्मानमें स्वयं चिलम चढ़ा देनेमें उन्हें संकोच नहीं होता था ।

'बड़े-बूढ़े आग्रह करते हैं, तुम्हीं जगा दो ।' उन्हें आज स्वयं तंबाकू पीते पहली बार मैंने देखा था । वे कुछ संकुचित हुए और बहाना बनाया उन्होंने ।

उनका बहाना—इसे बहाना कहना कठिन है । मुझे स्वयं इस परिस्थितिका पर्याप्त अनुभव है । ताजी भरी चिलमका तंबाकू सुलगने न लगे, वहाँतक सम्भवतः पीनेवालेको पूरा स्वाद नहीं आता । प्रत्येक चाहता है कि दूसरे ताजी चिलमको 'जगा' दें । जो बड़े होते हैं, उनका छोटोंसे यह आग्रह साधारण बात है । ग्रामोंके सरल स्वभाव वृद्ध—वे अनेक बार अत्यधिक आग्रहपर उतर आते हैं—'नहीं पीते तो आजसे सही । अच्छा, केवल दो फूँक ।' अनेक बार अपने नियमकी रक्षाके लिये मुझे दुराग्रही बनना पड़ा है ।

'आप दूसरोंके आग्रहके कारण एक दुर्व्यसन ग्रहण कर लेंगे, ऐसी आशा तो नहीं थी ।' मैंने असंतोष व्यक्त किया । वे सुशिक्षित हैं, सुसंस्कृत हैं, अनेक बार स्वयं मादक द्रव्यों-की हानिपर प्रवचन करते हैं । शराब-गाँजाकी दूकानोंपर

धरना देनेके स्थानीय आन्दोलनका उन्होंने संचालन किया है। उन्हें इतना शिथिल-चरित्र क्यों होना चाहिये।

'इधर पेटमें वायु रहने लगी है।' उन्होंने अब दूसरा बहाना बनाया। 'इससे आराम मिलता है। मैं अभ्यस्त नहीं बनने जा रहा हूँ। दिनमें केवल भोजनके पश्चात्—वह भी दस-पाँच दिनोंके लिये ही है। छोड़ देनेका निश्चय कर रखा है।'

'पेटकी वायुमें लाभकी बात आप मुझसे अधिक जानते हैं।' मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं आवश्यकतासे अधिक रुक्ष हो गया था—'लाभ अधिक है या हानि और स्वास्थ्य मिलेगा या अस्वास्थ्य—यह भी क्या आपको बताना है ?'

'मैं हानिकी बात मानता हूँ।' उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा—'हानिकी बात समझाता हूँ लोगोंको; किंतु मुझे उसका कोई अनुभव नहीं। एक हल्का-सा अनुभव कर लेना ठीक लगता है मुझे। थोड़ी हानि सही। आप विश्वास मानिये—दस-पंद्रह दिनोंके बाद मैं अवश्य छोड़ दूँगा।'

मैं जानता हूँ—प्रत्येक व्यसन प्रारम्भ करते मन इसी प्रकार भुलावा दिया करता है। ये निश्चय—ये संकल्प कभी पूरे होनेवाले नहीं होते।

× × ×

'आप यहाँ ?' उस दिन वे अचानक मिल गये नगरमें। उन्होंने मुझे देख लिया था सड़कपर जाते और मोटर रोककर उतर पड़े थे। बड़े उल्लासपूर्वक मिले। 'घर चलिये !'

बहुत दिनोंपर—वर्षोंके पश्चात् हम दोनों मिले थे। उनका आग्रह मैं टाल नहीं सका। उन्होंने मुझे मोटरमें बैठा लिया। मैंने संकोचपूर्वक पूछा—'आप किसी कामसे जा रहे थे ?'

'काम तो जीवनभर साथ लगे रहेंगे।' मैंने देख लिया कि उनके स्वभावमें अब कर्तव्यदक्षता नहीं, एक निश्चिन्तताका भाव आ गया है।

अब वे एक उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारी हैं। विवाह, बच्चे—यह सब तो स्वाभाविक बात है। मेरा अच्छा स्वागत हुआ। बच्चे 'चाचाजी, चाचाजी' करते गोदमें आ बैठे और उनकी पत्नी जिन्हें भाभी कहकर मैंने प्रणाम किया था, जलपान प्रस्तुत करनेमें व्यस्त हो गयीं।

'आप अभी वैसे ही हैं ?' उन्होंने पूछा।

'वैसे ही, एकाकी—निर्द्वन्द्व।' मैंने हँसकर कहा और तभी मेरी दृष्टि पलंगके सिरहाने रखी तिपाईपर गयी। 'इसे जेबमें तथा आलमारीमें रखनेसे ही काम नहीं चला करता। सिरपर भी रखना ही पड़ता है।'

'रात्रिमें जब नींद खुल जाती है, इसकी आवश्यकता पड़ती है।' उन्होंने मेरे विनोदका उत्तर गम्भीर स्वरमें ही दिया। 'गृहस्थीमें उलझा जीवन कितना चिन्तित होता है, इसे आप कैसे समझ सकते हैं। यह तनिक चिन्तित चित्तको सहारा देती है।'

केवल सिगरेटका एक पैकेट तथा माचिसकी डिबिया रखी थी वहाँ तिपाईपर। इस सुसंस्कृत नागरिक जीवनमें ग्रामके हुक्केका प्रवेश असभ्यता होती।

कुछ लोग स्वभावसे विवश होते हैं। जहाँ जायँगे पुस्तकें देखीं और उलट-पुलट करने लगे। कम-से-कम नाम देख लेनेका लोभ—यह लोभ मैं भी रोक नहीं पाता। अपने स्वभावके अनुसार उनकी रैकमें लगी पुस्तकें उलटने लगा था मैं और कुछ अधिक मिल जानेकी आशासे मैंने समीपकी आलमारी खोल दी।

'चिन्तित चित्तको सहारा देनेका यह दूसरा साधन—सम्भवतः पहिलेसे अधिक प्रबल !' झटपट आलमारीके किवाड़ लगाकर मैं कुर्सीपर आ बैठा। वे हतप्रभ हो उठे थे। भाभी उसी समय जलपान लेकर आयीं और शीघ्रता-पूर्वक उसे रखकर लौट पड़ीं। मैंने इस क्षणार्धमें उस महिलाके भरे नेत्र देख लिये। पति शराबी हो गये हैं—कितनी व्यथा इस स्मरणसे ही एक आदर्श गृहिणीको होती है।

'विवाह न करके आपने अच्छा नहीं किया।' वे अब जलपानके लिये मेरे साथ मेजके समीप आ गये थे। मेरा चित्त दूसरी ओर ले जानेका प्रयत्न करने लगे थे। मेरे निजी जीवनमें रुचि प्रदर्शित कर रहे थे। जलपानमें मेरा उत्साह रह नहीं गया था; किंतु इतने वर्षोंके पश्चात् मिले मित्रके प्रति उनके ही घरपर अशिष्ट होना मैं नहीं चाहता था। उनका आतिथ्य स्वीकार करना था और उनके प्रश्नोंके उत्तर भी देने थे।

'आप श्रीमद्भागवतका पाठ करते हैं और उसे समझते भी हैं।' उन्होंने इस बार अपने तर्कके समर्थनमें एक श्लोकार्द्ध सुना दिया—

'नाननुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम्।'

× × ×

मित्रसे विदा होकर मैं चला आया। एक मन्दिरमें ही मैं टिका था। रात्रि-शयनके लिये लेटकर भी निद्रा नहीं आ रही थी। जो लेटते ही पाँच मिनटमें खुर्राटे भरने लगे, उसके लिये नींद न आना—बड़ी उलझन लगती थी। वह श्लोकार्द्ध सिरमें चक्कर काट रहा था—

'नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम्।'

पता नहीं कब पलकें बंद हो गयीं। मैं किसी दिव्य देशमें पहुँच गया था। चारों ओर उत्तुङ्ग शिखर—उज्ज्वल हिम-मण्डित उन शिखरोंके मध्य सुविशाल समतल प्रशस्त भूमि और उस भूमिमें स्थान-स्थानपर पाषाण-कुटीरें।

कपिश जटाजूट, विशाल शरीर, आजानुलम्बित भुजाएँ, तेजोदीप्त भाल—उन कुटीरोंमें एकसे तेजोमय, वल्कल-कौपीन तपोधन निवास करते थे। कोई ऋषियोंका ग्राम—आश्रमकी अपेक्षा ग्राम कहना मुझे ठीक लगता है। मैंने वहाँ शिशु देखे मृगशावकोंके साथ क्रीड़ा करते और जगन्माताका गौरव जिनके पादपद्मोंमें गौरवान्वित हो उठे, ऐसी वे ऋषि-पत्नियाँ देखीं। वे तपोधन गृहस्थ थे—गृहत्यागी नहीं।

यज्ञीय कुण्डोंसे कुण्डलाकार उठता सुरभित यज्ञधूम—दिशाएँ पवित्र हो रही थीं और उन्हें निष्कल्मष कर रहा था स्थान-स्थानसे उठता हुआ सस्वर श्रुतिघोष।

मैं समीप चला गया एक कुटीरके। शिलातलपर मृगचर्म पड़ा था और उसपर आसीन थे एक तेजोमय। लगभग दस वर्षके एक मुनिकुमार उनके समीप मेरे देखते-देखते उटजमेंसे आकर बैठ गये।

'तात!' अद्भुत स्वर था मुनिकुमारका। वे पूछ रहे थे—'श्रुति-शास्त्रोंमें अत्यधिक विचित्रता है। उनका समन्वय प्राप्त करना सहज नहीं है। तर्क सत्यका ही निर्णय करेगा, इसका भी विश्वास नहीं और ऋषिगण भी भिन्न-भिन्न मार्गोंके प्रतिपादक हैं। ऐसी अवस्थामें अपना अनुभव ही तो प्रमाणका निर्विवाद आधार होगा?'

'वत्स! विस्मृत हो रहे हो कि जीवन अति अल्प है और अनुभूतिका क्षेत्र अनन्त है!' स्नेह-स्निग्ध सान्द्र गम्भीर स्वर था उन तेजोमयका। 'असत्की दुःखरूपताकी प्रत्येक अनुभूति एक आघात देती है। जीवन चूर्ण हो जायगा यदि वह स्वतःकी अनुभूतियोंसे ही प्रकाश-प्राप्तिका आग्रह करे।'

'तब?' स्वरमें नहीं, ऋषिकुमारके नेत्रोंमें ही यह प्रश्न आया।

'विष मारक होता है—स्वतःके अनुभवसे ही जो इसे जानना चाहेगा, अनुभूतिको सार्थक करनेके लिये क्या वह शेष रहेगा?' एक क्षण रुककर वे बोले। 'परानुभूति शिक्षाका सुलभ साधन क्यों नहीं वत्स? दूसरे जिनसे हानि उठाते हैं—हम देखकर ही जान लेते हैं, हमारे लिये भी वह हानिकर है। नेत्र खुले रखो! देखो और ज्ञानका आलोक तुम्हें स्वयं प्रकाश देगा।'

'नेत्र खुले रखो!' मेरी निद्रा किस कारण भङ्ग हो गयी, यह अब स्मरण नहीं; किंतु उन तेजोमयके वे शब्द अब भी स्मरण हैं और श्रीमद्भागवतका वाक्य—'नानुभूय न जानाति······' यह पुत्र-स्नेहातुर प्रजापति दक्षका वाक्य—आदर्श तो नहीं बन सकती किसी ममतासक्तकी आसक्ति-मयी उक्ति!

प्रियतम प्रभुका नित्य सांनिध्य

हटते नहीं एक पल भी वे मुझे छोड़कर प्रियतम श्याम।
सोते-जगते, खाते-पीते हरदम रहते पास ललाम॥
नित्य दिखाते रहते अपनी अति पवित्र लीला सुखधाम।
बाहर, भीतर, तनमें, मनमें देते रहते सुख अविराम॥

मधुर

(१)

श्रीकृष्णस्वरूपभूता, श्रीकृष्णप्रेममयी, नित्यरासेश्वरी, नित्यनिकुञ्जेश्वरी, श्रीकृष्णाराध्या और श्रीकृष्णाराधिका श्रीराधिकाजीका श्रीकृष्णानुराग परम विशुद्ध, अनन्य, परत्याग और पूर्ण-समर्पणमय है। इस प्रकारके दिव्यानुरागका उदय हो जानेपर फिर अन्य किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थितिमें—किसी भी गति, सद्गति, परम गतिमें भी कोई भी रति नहीं रह जाती। परम प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर ही उसके तन-मन-वचन-प्राण, भाव-क्रिया-चेष्टा आदि बनकर अपने-आपमें ही सब कुछ करते-कराते रहते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं ही परस्पर परम प्रिय नित्य दो (राधा-कृष्ण) पृथक् रूपोंमें रसास्वादन करते और रसास्वादन कराते रहते हैं। वे ही आस्वाद्य हैं, आस्वादन हैं और वे ही आस्वादक हैं। वे ही वहाँ अविरामरूपसे अतुलनीय अपरिमित दिव्य रस-सुधा बरसाते रहते हैं और उस रस-सुधाकी पवित्र मधुर स्रोतस्विनीमें अवगाहन कर, उस रससुधाका अतृप्त पानकर श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनाएँ धन्य होती रहती हैं। इसी परम दुर्लभ स्थितिका संकेत विशुद्ध अनन्यानुरागरूपिणी मूर्तिमान् त्यागस्वरूपा श्रीराधाजीके निम्न उद्गारोंमें मिलता है। वे अपनी एक अन्तरङ्गा सखीको सम्बोधन करके कहती हैं—

'सखी ! धन, जन, कुल-परिवार, भवन, अन्य समस्त सुखसाधन, कमनीय कीर्ति, परम सम्मान, इहलोक और परलोकके समस्त भोग-वैभव, लोकोत्तर सद्गति और महान् मुक्ति—इनमें कहीं, किसी भी वस्तुमें, किसी भी परिस्थितिमें मेरा तनिक-सा भी राग नहीं रह गया है। एकमात्र मेरे प्रियतमके पद-कमलोंमें ही मेरा अनुपमेय आत्यन्तिक अनुराग नित्य-निरन्तर छाया रहता है'—

धन-जन-अभिजन-भवन सकल सुख-
साधन, कलित कीर्ति, सम्मान।
इह पर-लोक भोग-वैभव
लोकोत्तर सद्गति मुक्ति महान ॥
कहीं, किसी भी वस्तु, परिस्थिति-
में न रहा सखि ! रंचक राग।
छाया नित्य एक अनुपम
आत्यन्तिक प्रियतम-पद अनुराग ॥

'जैसे उपर्युक्त सकल-बुधजनवाञ्छित सुखमय वस्तुओंमें रागका अभाव हो गया है, वैसे ही मुझे अब न तो लोक बिगड़नेका भय रहा है और न परलोक-नाशका ही। नरक-भयका भी किञ्चित् लेश नहीं रहा है; क्योंकि मेरा समस्त जीवन एकमात्र मेरे प्रियतमसे ही परिपूर्ण हो रहा है। दूसरी कोई स्मृति ही कहीं नहीं रह गयी है। मेरे प्रियतम मुझे नित्य नवीन मधुरतम अनुभव कराते रहते हैं, इससे अन्यत्र सर्वत्र ही मेरा त्याग-वैराग्य नित्य नवीन रूपमें प्रकट हो रहा है। नित्य नया-नया रसास्वादन होता है और नित्य नया-नया रसपूर्ण दिव्य प्रेम उदय हो रहा है।

लोक और परलोक-नाशके
नहीं नरकके भयका लेश।
प्रियतम पूर्ण सकल जीवनमें
रही न कहीं अन्य स्मृति शेष ॥
नित्य नवीन मधुरतम अनुभव
नित्य नवीन त्याग-वैराग।
नित्य नवीन रसास्वादन रस-
पूर्ण दिव्य नव-नव अनुराग ॥

'अब मुझे एक प्रियतमके अतिरिक्त कहीं भी, किसीकी भी तनिक-सी भी सत्ताका बोध नहीं होता, जब सत्ता ही नहीं, तब न तो किसीमें कुछ भी राग रह गया है और न कहीं कुछ भी वैर-विरोध—द्वेष ही रहा। विलक्षण बात तो यह हुई कि प्रियतम मेरे मनमें इतने भर गये कि दूसरी किसी कल्पनाके लिये भी मनमें स्थान नहीं रह गया। वास्तव सत्य तो यह है कि अब मेरा

मन ही नहीं रह गया। चित्तवित्तहरण-कुशल प्रेमप्रवीण हरि उसको भी हरकर ले गये।'

सत्ता नहीं किसीकी, कुछ भी,
कहीं नहीं होती कुछ बोध।
अतः किसीमें नहीं बचा कुछ
राग, नहीं कुछ वैर-विरोध॥
नहीं कल्पनाको भी खाली
रहा न कोई मनमें स्थान।
मन भी नहीं रहा अब, उसको
भी हरि हर ले गये सुजान॥

'तब कोई पूछे कि 'फिर तुम्हारे मन-तनके सब कार्य कैसे चल रहे हैं?' तो इसका सत्य उत्तर यह है कि— 'मेरे वे प्रियतम ही अपने मनसे अपने मनका और अपने तनसे अपने तनका काम कर रहे हैं तथा वे पूर्णकाम प्रियतम ही अपनी मधुरतम दिव्य कामनाओंको बिना विराम निरन्तर पूर्ण करते रहते हैं। वे क्या करते हैं, क्यों करते हैं, कैसे करते हैं—जब दूसरा कोई है ही नहीं, तब उनसे यह कौन पूछे? वे प्रियतम जब जो मनमें आता है, वही बोलते हैं और मनमें आता है तब मौन हो रहते हैं—'

अपने मनसे अपने मनका,
अपने तनसे तनका काम।
पूर्णकाम प्रिय करते रहते
निज कामना-पूर्ति अविराम॥
क्या करते, क्यों करते, कैसे
करते? उनसे पूछे कौन?
मनमें आता वही बोलते,
मनमें आता रहते मौन॥

'इतनेपर भी वे पृथक्ताका बोध करते हुए स्वयं ही संयोग-वियोग—मिलन-बिछुड़नका अनुभव करते रहते हैं। वे स्वयं ही नित्य नवीन मधुरतम दिव्य रसका भोग करते-कराते रहते हैं। वे मेरे रसिकशिरोमणि प्रियतम सदा दो अत्यन्त प्यारे रसमय रूप बने-बनाये रहते हैं और स्वयं दिव्य रसका पान करते, स्वयं ही रस-पान कराते और नित्य-निरन्तर उपमारहित अपरिमित रसकी वर्षा करते रहते हैं'—

विलग बोधकर तदपि स्वयं
करते अनुभव संयोग-वियोग।
करते स्वयं कराते रहते
नित नव मधुर दिव्य रस-भोग॥
परम रसिक वे रसमय रहते
बने-बनाये दो प्रिय रूप।
रस लेते, रस-पान कराते,
रस बरसाते अमित अनूप॥

(२)

दिव्य प्रेम-रस-सुधा-पान-प्रमत्त, राधा-रस-वैभव-विमुग्ध, योगीन्द्र-मुनीन्द्र-सुरेन्द्र-वाञ्छित-पदकमलरेणु, नित्य-शुद्ध-बुद्ध, सच्चिदानन्दघन, सत्य-रसस्वरूप भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण अपनी राधा-स्मृतिमयताका वर्णन और राधा-प्रेमके पावन स्वरूपकी झाँकी करते हुए भाव-विह्वल होकर श्रीराधाके सामने यथार्थ सत्य प्रकट कर रहे हैं। वे कहते हैं—

'प्रिये राधिके! तुम्हारी मधुर मनोहर स्मृतिका तार कभी टूटता ही नहीं। तुम्हारी परम रमणीय माधुरी मूर्ति निरन्तर मुझसे मिली ही रहती है। तुमने मुझको अपना बनानेके लिये अत्यन्त विलक्षण त्याग किया, यहाँतक कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—चारों ही अवस्थाओंमें सबको विस्मृत करके केवल मुझमें ही विशुद्ध प्रेम रक्खा'—

प्रिये! तुम्हारी मधुर मनोहर
स्मृतिका होता नहीं विराम।
सदा तुम्हारी मूर्ति माधुरी
रहती मुझसे मिली ललाम॥
मुझे बनानेको अपना, अति
तुमने किया अनोखा त्याग।
जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरियमें
रक्खा मुझमें ही अनुराग॥

जगत्के अपरिमित सुख-ऐश्वर्य और सौभाग्य देनेपर भी तुमने नहीं लिये। जगत्के भोगोंकी तो बात ही क्या है, दिव्य लोक और कैवल्यमोक्षमें भी तुमने अनुपमेय वैराग्य रक्खा। भुक्ति-मुक्ति सभीमें वैराग्य हो जाना बहुत ही ऊँची स्थिति है। ऐसे वैराग्य-रसके रसिक भी कोई विरले ही होते हैं; परंतु तुमने तो इस परम विशुद्ध विलक्षण वैराग्यमें भी कुछ भी राग नहीं रक्खा। तुमने इस वैराग्यकी भी परवा नहीं की और मुझमें विशुद्ध मधुर प्रीति की।

नहीं लिया देनेपर भी कुछ
जगका सुख-वैभव-सौभाग्य।
दिव्य लोक, कैवल्य मुक्तिमें
भी रक्खा अनुपम वैराग्य॥
फिर, उस शुचि वैराग्य विलक्षण-
में भी नहीं रखा कुछ राग।
उसकी भी परवाह न की
करके मुझमें विशुद्ध मधु-राग॥

'प्रिये! तुम्हारे मनमें न तनिक भी भोगासक्ति है और न वैराग्यासक्ति ही है। तुमने भोग और त्याग सभीका त्याग करके मुझमें ही अनन्य अनुराग किया। इसीसे मैं तुम्हारा शुद्ध सेवक बना हुआ सचमुच सदा तुम्हारा ऋणी बना रहता हूँ। मुझपर तुम्हारा ऋण बढ़ता ही रहता है; उसे मैं कभी चुका ही नहीं सकता। प्रियतमे! तुम मेरे बाहर और भीतरमें नित्य निरन्तर बसी ही रहती हो।'

नहीं तुम्हारे मनमें भोगा-
सक्ति, नहीं वैराग्यासक्ति।
भोग-त्याग कर त्याग सभी,
की मुझमें ही अनन्य अनुरक्ति॥
बना तुम्हारा शुचि सेवक मैं,
बना ऋणी रहता मैं सत्य।
रहती बसी प्रियतमे! तुम
मेरे बाह्याभ्यन्तरमें नित्य॥

'मैं स्वयं रस-रूप हूँ—रसमय हूँ, परंतु तुम्हारे अत्यन्त सरस निर्मल रसका आस्वादन करनेके लिये सारी मर्यादाका त्याग करके और समस्त श्रुतिसेतुओंका भङ्ग करके मैं नित्य-निरन्तर अत्यन्त ललचाया रहता हूँ। प्रिये! मैं नित्य निष्काम—पूर्णकाम हूँ, परंतु तुम्हारे लिये मैं सहज ही 'कामी' बना रहता हूँ। मैं तुम्हारे रसका सहज लोभी सदा ही तुम्हारे मनोहर रसमें डूबा रहता हूँ।'

रसमय मैं अति स-रस तुम्हारा
निर्मल रस चखनेके हेतु।
रहता नित्य प्रलुब्ध छोड़
मर्यादा, तोड़ सभी श्रुति-सेतु॥
प्रिये! तुम्हारे लिये सहज बन
रहता मैं कामी, निष्काम।
सहज तुम्हारे रसका लोभी—
मैं रस-रत रहता अभिराम॥

जिस रसमें भोग-मोक्षकी विशुद्ध कामनाका भी लेश नहीं रहता, वही निर्मल मधुर रस मुझको विशेषरूपसे आकर्षित करता है। फिर तुम तो उस रससे भी विरक्त होकर केवल मेरे अनुराग-रसकी ही मूर्तिमान् प्रतिमा हो चुकी हो। अतएव तुम अत्यन्त धन्य हो और तुम्हारी कायव्यूहरूपा वे गोपाङ्गनागण भी धन्य हैं, जिनमें इसी अनन्य रसका समुद्र नित्य-निरन्तर भरा लहरा रहा है।

भोग-मोक्षकी शुद्ध कामना-
का भी जिसमें रहा न शेष।
वही मधुर रस निर्मल मुझको
आकर्षित करता सविशेष॥
तुम अति, और तुम्हारी व्यूह-
स्वरूपा गोपीगण भी धन्य।
जिनमें भरा समुद्र इसी
रसका लहराता नित्य अनन्य॥

ऐसे दिव्य प्रेमकी कल्पना भी परम कठिन है!

हमारा सच्चा बल

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी)

संसारके सब प्रकारके बल जिसके सामने परास्त हो जाते हैं, वह है परम प्रभु परमात्माकी कृपाका बल, उनकी दयाका बल और उनके ऊपर विश्वास तथा भरोसेका बल।

भगवान् ही हमारे एकमात्र रक्षक हैं। वे ही हमारे माता-पिता और परम सुहृद् हैं—ऐसा दृढ़ विश्वास जिसके हृदयमें हो गया है, उस परम भागवतके सामने संसारकी सारी शक्तियाँ अपनी शक्ति खोकर हार मान लेती हैं। पाप-ताप-संताप और आसुरी सम्पत्तियाँ तो भय खाकर दूरसे ही नमस्कार करके चली जाती हैं।

भगवान् हमारे हैं, हम उनके हैं, निरन्तर वे हमारे साथ ही हैं—वे हमारा साथ एक क्षण भी नहीं छोड़ते—ऐसा माननेवाला भक्त संसारके भयसे सदाके लिये मुक्त ही है।

परम प्रभुमें विश्वास एक ऐसा महान् बल है, जिसके द्वारा हम सारे विश्वमें विजयी हो सकते हैं। इसीके द्वारा हम सारे सद्गुणोंके भण्डार बन सकते हैं। यही नहीं, असम्भवको सम्भव कर देना भी विश्वासका ही चमत्कार है। संसारभरकी अच्छाइयाँ, संसारभरका ऐश्वर्य तथा संसारभरका सुख-सौन्दर्य हम प्राप्त कर सकते हैं—यदि हम पूर्ण विश्वासी हैं।

विश्वासने ही द्रौपदीकी प्रतिष्ठाकी रक्षा की, विश्वासने ही गजराजको ग्राहके चंगुलसे बचाया। प्रह्लादजीके लिये आगका शीतल होना भी तो विश्वासका ही चमत्कारपूर्ण कार्य है। विषको अमृतमें, आगको जलमें, मृत्युको जीवनमें, शत्रुको मित्रमें, रंकको राजामें, निर्बलको बलीमें, मूर्खको विद्वान्में और लघुको महान्में परिवर्तन करनेकी शक्ति यदि है तो विश्वासमें ही है।

जो भगवान्के भरोसेका त्याग करके संसारके प्राणियोंका भरोसा करता है और अपने बलको भगवान्के बलसे भिन्न मानता है, वह व्यभिचारी और असुर नहीं तो क्या है?

सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजीमें जो सारे ब्रह्माण्डको कन्दुकके समान उठा लेने और पृथ्वीपर पटक देनेकी शक्ति थी, वह वास्तवमें भगवान्की ही थी। उन्हींके प्रतापके भरोसे वे गरज रहे थे। सुनिये उन्हींके शब्दोंमें····

जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना। को बापुरो पिनाक पुराना॥
तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।

वालितनय अङ्गदजी भगवान् रामके प्रतापके बलपर ही लङ्कापति रावणके दरबारमें भी निर्भीक ही रहे। श्रीरामजीके प्रतापके सुमिरन (स्मरण) करते ही उनमें इतना अपार बल आ गया कि लङ्काके करोड़ों महावीर निशाचर एक साथ मिलकर भी उनके चरणको टस-से-मस नहीं कर सके, यही तो सच्चा विश्वास और सच्ची निर्भरता है।

तासु सभा रोप्यो चरन, जो तौल्यौ कैलास।
स्वामी की महिमा कहौं, सेवक का बिस्वास॥
(दोहावली)

प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालिसुत बंका॥
राम प्रताप सुमिरि मन बैठ सभाँ सिरु नाइ॥
समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा माझ पन करि पद रोपा॥

महावीर हनुमान्जीमें इतनी शक्ति थी कि वे वीर लक्ष्मण (जो रणभूमिमें मेघनादके बाणसे मूर्छित पड़े थे) की चिकित्साके लिये चन्द्रमाको निचोड़कर अमृत ला सकते थे, भगवान् भुवनभास्करको बाँधकर राहुको उनके पहराके लिये बैठा सकते थे, जिससे उनका उदय होना ही असम्भव हो जाय। यहाँतक कि देवताओं-

के चिकित्सक अश्विनीकुमारको पकड़ लाना, पातालसे अमृतकुण्डको ही उठा लाना—कहाँतक कहा जाय मृत्युतकको भी चूहेकी तरह पटककर मार देना, उनके लिये साधारण खेल था। पर यह सभी कार्य वे कर सकते थे केवल भगवान्‌के बलपर ही।

तुम्हरी कृपा प्रताप तुम्हारेहिं नेकु बिलंबु न लावौं।
(गी० सु० का०)

भगवान् रामजीने पूछा—'बेटा हनुमान्! चार सौ कोसके समुद्रको लाँघकर जाना और आना तथा लङ्कामें आग लगाकर उसको स्वाहा कर देना—तुम्हारे लिये कैसे सम्भव हुआ?' निरभिमान हनुमान्‌जी बोले—

प्रभु मुँदरी इस पार लै, चूड़ामणि इस पार।
सीय बिरह लंका जली, सो सब कृपा तुम्हार॥

वाह रे सच्चा विश्वासी।

निषादराजकी सेना महामना भरतजीसे युद्ध करनेको तैयार है और निश्चय है कि श्रीरामके प्रतापसे ही वह अयोध्याकी सारी सेनाको परास्त कर सकती है।

राम प्रताप नाथ बल तोरे। करहिं कटकु बिनु भट बिनु घोरे॥

संसारमें सच्चे विश्वासी जो भगवान्‌के भरोसे ही जीते हैं, वे ही वास्तवमें भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं, जिनके पवित्र दर्शनसे ही संसारका कल्याण होता रहता है। विश्वास ही वास्तवमें सच्चा भजन है, जो पाहनसे भी परमात्माको प्रकट कर देता है।

भगवान् सबको सद्‌बुद्धि प्रदान करें।

श्रीश्रीजयदेव महाप्रभु

(लेखक—गोस्वामीजी श्रीयमुनावल्लभजी)

[गताङ्क-पृष्ठ १३१६ से आगे]

कन्दविल्व-प्रत्यागमन

वह बाँकी चितवनभरी झाँकी परम रसाऊ।
राह चलत हू जिन करी तेहू भये निहाऊ॥

उत्कलमें दस वर्षका समय बीता, उड़िया जनसमूहकी ममता अत्यन्त बढ़ गयी। वे लोग आपको अपना ही ठाकुर मानकर आपकी सेवा करते रहे। इधर वल्लाल सेनको विश्वास हो गया कि महाप्रभु अब यहाँ नहीं पधारेंगे। वे बहुत व्याकुल होकर कहने लगे—किसी प्रकार लक्ष्मणके विवाहमें तो आपका शुभागमन परमावश्यक है। बुलानेकी पूर्ण चेष्टा होने लगी।

रात्रिमें स्वप्न हुआ और सवेरे ही श्रीलक्ष्मीनारायणकी-सी जोड़ी सामने खड़ी दिखायी दी। घरभरमें प्रसन्नता छा गयी। महारानीने श्रीपद्मावतीका दर्शन कर अपने भाग्यकी प्रशंसा की। आपसे प्रार्थना की—एक बार कन्दविल्व पधारिये, फिर तो विवाहमें यहीं रहना पड़ेगा। वही सब किया गया। कुमारके विवाहकी तैयारीमें आप श्रीने भी पूरा योग दिया। बड़ी धूम-धामसे दुलहिन घरमें आ गयी। बहू बड़ी ही मिलनसार है। पद्मावतीजीसे उसका ऐसा स्नेह जुड़ गया कि वह हर समय उन्हींके पास बैठी रहने लगी।

महाप्रभु कन्दविल्व रहने लगे, पद्मावती आपकी सेवामें रहती है। राजतिलक हो जानेपर लक्ष्मणसेन ही सारा राजकार्य सँभाल रहे हैं। बड़े महाराज थोड़ी दूर पहाड़ीपर रहते हैं। देवकी प्रबल माया है। महाराज वहाँ एक छोटी जातिकी स्त्रीके वशमें हो गये। यह सुनकर लक्ष्मणसेनने उनसे बिल्कुल ही सम्बन्ध तोड़ दिया।

इस कलङ्ककी कुकथा क्रमशः महाप्रभुजीके कानतक पहुँच गयी। एक दिन लक्ष्मणसेनने आकर श्रीमहाप्रभुसे सब हाल सुनाकर कहा—'कृपानाथ! इस अवस्थामें यह इस प्रकारका कार्य कोई अच्छी चीज थोड़े ही है।' आपने आज्ञा दी—'तुमने जो लिखा-पढ़ी की सो तो ठीक किया। किंतु हम व्रजयात्राको जाना चाहते हैं—अतः हमारी इच्छा है कि हम महाराजको अपने साथ ले जायँ।' लक्ष्मणसेन बड़े प्रसन्न होकर कहने लगे—'भगवन्! आपके सिवा हमारी कौन सुधार सकता है।'

आपश्रीने कहा—'देखो, तुम्हें दो काम करने होंगे। पहिला तो यह कि किसी प्रकार पद्मावतीको समझाकर आदर-पूर्वक नयी रानीके पास रखना होगा। दूसरी यह है कि अच्छे-से-अच्छे विद्वानोंको अपने पास रखकर संस्कृत साहित्यका अच्छी तरह अध्ययन करना होगा।' लक्ष्मणसेनने दोनों बातें स्वीकार कर लीं और उन्होंने बड़ी निष्ठाके साथ उनका अच्छी तरह पालन भी किया।

श्रीपद्मावतीजीको समझाकर महारानीके पास छोड़ दिया और आप श्रीलक्ष्मणसेनके इच्छानुसार बूढ़े महाराजके पास पधारे। महाराज आपके दर्शनकर बड़े प्रसन्न हुए। सभी अन्तरङ्ग बातें हुईं और आपकी आज्ञासे उस स्त्रीको कुछ जमीन देकर महारानीसहित राजा श्रीमहाप्रभुके साथ जानेको तैयार हो गये।

श्रीव्रज-यात्रा

व्रज समुद्र मथुरा कमल वृंदावन मकरंद।
व्रजबनिता सब पुष्प हैं मधुकर गोकुलचंद॥

रसिकाचार्य महाप्रभुने एक बार फिरसे जाकर विह्वल हुई पद्मावतीजीको समझाया। कहा कि—'हम थोड़े ही दिनमें आ जायँगे।' फिर भी आपकी दशा शोचनीय सी हो रही थी। महारानी सचमुच बड़ी गुणवती तथा सुशीला हैं। वे महाप्रभुके चरणोंमें वन्दना करके सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले चुकी हैं। महाराज-जैसे प्रतापशालीका गुण-गौरव कौन कह सकता है। आपने जब सुना कि पिताजी-माताजी महाप्रभुकी सेवामें जा रहे हैं, तब उनसे मिलने गये और आँसू बहाते हुए कहा कि 'महाप्रभुकी कृपासे सब मङ्गल होगा। आप सदा इनकी आज्ञाका पालन करते रहियेगा।'

यात्रा आरम्भ हो गयी। दो दास-दासी सेवामें साथ चले। कई दिनोंमें बंगालसे प्रयाग पहुँच गये। त्रिवेणी-स्नानका अनुपम आनन्द था। कई दिनोंतक महाप्रभु साथ रहे। यहाँ राजदम्पति इतने अस्वस्थ हो गये कि इनका आगे चलना अशक्य हो गया। तब महाप्रभुने इन्हें प्रयागका माहात्म्य बताकर वहीं टिका दिया और वे स्वयं चलने लगे। महाप्रभुके चलते समय महाराज उनके चरण पकड़कर रोने लगे। आपने उनको धीरज दिया और कहा 'नित्य त्रिवेणी स्नान करते रहना।' भलीभाँति समझाकर आप चल दिये।

प्रयागसे कान्यकुब्जमें पहुँचे। वहाँ महाराज जयचन्दने कई दिन आपको रोक रखा। एक नवविवाहिताके मृतपतिको जीवन दान देकर आप श्रीमथुरा पधारे। 'न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते' इस न्यायसे श्रीमान्‌के दर्शनमात्रसे ही लोग अत्यन्त आकर्षित हो जाते थे, किंतु आपका बोलना बहुत कम परिमाणमे ही होता। तदनन्तर कितने ही विद्वान् ब्राह्मणोंको साथ लेकर आपने व्रजयात्रा प्रथम ही चालू की।

उस समयके व्रजवासियोंके स्नेहभरे हृदयका क्या बखान किया जाय। विदेशी-मात्रके लिये भोजन और दूध-माखन घर-घर उपस्थित था।

व्रज चौरासी कोसमे चार गाम निज धाम।
श्रीवृंदावन मधुपुरी बरसानो नँदगाम॥

श्रीवृन्दावन-विलास

मथुरा नन्दग्राम बरसानेका आजका दृश्य नहीं था। श्रीकृष्णलीला-स्थलोंको लोग भूल गये थे। आपको इतना अवकाश कहाँ था जो प्रचार करते; परंतु आप जहाँ भी पधारते, प्राणनाथके परम प्रिय व्रजवृक्षोंसे मिलते। श्रीगोवर्द्धनका चमत्कार बखानते। श्रीयमुनाजीकी महिमाका अपूर्व वर्णनकर गाने लग जाते। प्रेममें बेसुध हो जाते। अश्रुओंके प्रवाहसे आपकी छातीका वस्त्र सदा आर्द्र ही बना रहता। आप आनन्दमें निमग्न रहते।

श्रीवृन्दावनकी वह सघनता आज कहाँ है जहाँ श्रीरसिकाचार्य जयदेवमहाप्रभु मोहित हुए श्रीप्रिया-प्रियतमके केलि-सुखके दर्शनके लिये अकेले ही विचरा करते। उस समय वनस्थलीमें फलों और फूलोंसे लदी लतावलियाँ झुकी रहती थीं। बारहों महीने वसन्त रहता था। आपने अपने श्रीगीतगोविन्दमें उस समयके श्रीवृन्दावनका कैसा मधुर वर्णन किया है।

एक दिन आप केशीघाट होते हुए सघन लताओंमें चले गये। वहाँ श्रीराधामाधवकी एकान्त केलिके दर्शन हुए। दोनों ही सखीसमाजके साथ निधुवनसे 'यमुनाके धीर समीर तीर'पर पधारे। उस स्वरूपका—लीलाका अत्यन्त सरस वर्णन श्रीरसिकाचार्यने किया है।

उसी निधुवनमें आपको जीवनधनकी श्याम-मनोहर-स्वरूप प्रतिमा प्राप्त हुई। आपने उसे श्रीयमुनाजीमें स्नान कराया और हृदयसे लगा लिया। कहीं एक जगह बैठना हो तो उस श्रीविग्रहको भी बैठाते। पर इन्हें तो घूमना था, अतः उसे भी साथ लिये घूमते फिरते कभी गोकुल कभी रावल। रावल श्रीप्रियाजीका ननिहाल है। वहाँ श्रीराधामाधवकी

शोभा देखकर व्रजवासियोंने आपको भोगके लिये माखन दिया। श्रीराधामाधव कई दिन रावलमें ही विराजते रहे।

जन्माष्टमी गोकुलमें की और श्रीराधाष्टमीको रावलमें फिर लौट आये। यहाँ शरत्पूर्णिमातक रहे। फिर अकस्मात् श्रीजीको लेकर मथुरा आ गये। कार्तिक मासमें श्रीयमुनातटपर बड़ी भीड़ थी। अतः आप बहुत दूर एकान्तमें जाकर शान्तिसे विराजे; परंतु जनताने वहाँ भी तम्बू लगवा दिये। आपको संगीतका बड़ा शौक था। श्रीराधामाधवजीके सम्मुख मधुर-मधुर—

'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव'

—इस सप्तनामी महामन्त्रका कीर्तन प्रारम्भ हो गया। कार्तिक-स्नानके लिये आये हुए स्त्री और पुरुषोंका समाज वहाँ एकत्रित हो गया।

एक माधवस्वरूपमें ही श्रीराधामाधवजीकी दोनोंकी भावना थी। नित्य नवीन शृंगार होने लगा और नित्य नये-नये भोग लगने लगे। सेवा आप अपने हाथसे ही करते थे। "श्रीजयदेवे कृतहरिसेवे" सेवा तो आपकी सर्वस्व थी। जनताको कल्याणदान करनेके लिये ही यह अलौकिक अभिनय था। जितना भी भोग लगता, उसी समय वितरण कर दिया जाता। कलके लिये तो केवल श्रीराधा-माधवजीके सिंहासनपर अभिसारिका भोग ही शेष बचता था।

होली आ गयी। होलीका भाव बहिरंगमें तो प्रह्लादकी बुआका जलना है। वैदिक भाव नवसस्येष्टिका यज्ञ है। किंतु व्रजकी होली इन दोनोंके साथ होते हुए भी दोनोंसे विलक्षण है। वह है श्रीराधामाधवजीका रंग-विहार।

इसके भी दो हिस्से हैं—एक तो वह जिसमें गोपी और गोपोंके बीच गा-गाकर रंग-गुलालका खेल होता है। दूसरा है—नवकुंज-सदनमें श्रीप्रियाजी और श्रीलालजीके साथ उनका अंगजा-परिवार सहचरिसमुदाय गान-वाद्यकर श्रीराधामाधवजीको रंग-तरंगोंसे सराबोर करता है। यहाँपर श्रीराधामाधवजीको यही होली श्रीमहाप्रभु अपने हाथों खिलाते थे।

(श्रीरोहिणी-विवाह)

सुखनाज्ञा स्वयं सर्वान् कर्षति हृदयङ्गमः।
कृष्णनामावतारी सः श्रीराधामाधवो मम॥

व्रजयात्रा-व्रजकी होली देखने सदासे ही जनता आती है। यह पुरातन चाल है। संसारकी होली यहींकी नकल है। यमुना-तटपर श्रीराधामाधवजीके यहाँ रंग-गुलालकी धूम मची ही रहती। दर्शनार्थी भी बराबर बने ही रहते थे।

उसी अवसरपर लाहौरसे श्रीभोजदेवजीके मित्र पं० पूर्णचन्द्र-जी सकुटुम्ब व्रजयात्राके लिये आये थे। भक्तिभावके कारण सहज ही वे आपके पास ठहर गये; क्योंकि यहाँ हर समय मेला लगा रहता। आपके दर्शन-चमत्कारसे सभी चकित थे। पण्डित-परिवारको महाप्रसादकी सुविधा हो गयी। वे आपकी सेवामें लग गये। बात-बातमें सब हाल खुला। दोनों ही एक-दूसरेके स्नेह-बन्धनमें बँध गये।

पं० पूर्णचन्द्रजी धनी-मानी व्यक्ति थे। उनके साथ चार आदमी थे—स्त्री, पुत्र, पुत्री और एक सेवक। सभी इस आनन्दमें लाहौरको भूल गये। पुत्र पराशरजी तो श्री-राधामाधवजीके सामने घाटपर दोनों समय बड़े प्रेमसे सोहनी किया करते। सेवक बाहरका काम करता, श्रीरोहिणी बेटी फल-फूल-साग सँभालनेमें लगी रहती और पण्डितजी समय पाकर श्रीमहाप्रभुजीके चरण-संवाहन किया करते थे।

दस महीने बीत गये। सेवा-फलका समय आया। आप-श्रीने एक दिन आज्ञा दी—'पण्डितजी! आपकी सेवासे हम बहुत संतुष्ट हैं। अब जो भी इच्छा हो स्पष्ट माँगो, हम देंगे।' पण्डितजीने कुछ नहीं माँगा। तब रसिकाचार्य-चरणने तीन बार कहा—'माँगो! माँगो! माँगो! मैं तुम्हारा मनोरथ आज अवश्य पूर्ण करूँगा।'

पूर्णचन्द्रजीने कहा—जब श्रीचरण कृपाकी वर्षा ही कर रहे हैं, तब मैं यही माँगता हूँ कि मेरी पुत्री श्रीरोहिणीका आप पाणिग्रहण कीजिये।' सुनकर महाप्रभुजीने कोई उत्तर नहीं दिया। किंतु वाक्य-दानसे विवश होकर मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशीको विधिपूर्वक श्रीरोहिणीजीका पाणिग्रहण किया। पण्डितजीने कन्यादानमें अपने कनिष्ठ पुत्र पराशरको आपकी सेवामें दे दिया। आज पूर्णचन्द्र अपने जीवनका फल पा चुके। वे भगवत्स्वरूप श्रीजयदेव महाप्रभुसे देश जानेकी आज्ञा माँगने लगे। आगे मलमास लग जायगा, इस कारण शुभ मुहूर्तमें आपको विदा किया। श्रीरोहिणीजी तथा श्री-पराशरजी श्रीरसिकाचार्यचरणकी सेवामें रह गये।

(श्रीरोहिणीजीके विषयमें कुछ संकेत)

वर्णितं जयदेवकेन हरेरिदं प्रवणेन।
किन्दुबिल्वसमुद्रसम्भवरोहिणीरमणेन॥

(श्रीगीतगोविन्द, सर्ग ३)

'केन्दविल्व ग्राम आमार समुद्र समान।
समुद्र संभव चन्द्र तंहे सम जान॥
रोहिणी नामे ते जथा चन्द्रेर वनिता।
रोहिणीरमण आनि एइ गुप्त कथा॥ (३)
(बंगला ग्रंथ)

श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजीके पिता श्रीलक्ष्मण भट्टजीकी निर्मित 'वैजयन्ती' नामकी संस्कृत टीका श्रीगीतगोविन्दपर है। उसमें मङ्गलाचरणके तीन श्लोकोंके पश्चात् यह लिखा है—

या रोहिणी निगदिता निजबाल्यकाले
शं नः करोतु युवतिस्तु कलावती सा।
श्रीकृष्णदेवजननी जयदेवपत्नी
पाराशरस्य भगिनी द्विजपूर्णपुत्री॥ (४)
(वैजयन्ती)

वसतु हृदि युवतिरिव कोमलकलावती (गी० गो० ७ सर्ग)
रतिस्तव कलावती' (गी० गो० १० सर्ग)

श्रीजयदेव महाप्रभुवंशोद्भव श्रीरामराय गोस्वामीने श्री-गीतगोविन्दकी संस्कृत व्याख्या 'वासन्ती' एवं हिंदी 'श्री-गीतगोविन्दप्रिया'में लिखा है—

कन्दबिल्वबासी जयदेवा। करत रोहिणी जिनकी सेवा॥
रामराय जह पूर्जा नारी। कृष्णदेव महतारी॥
सारस्वत द्विजवंश प्रशंसित भोजदेव गुन भारी।
श्रीराधा पत्नी को सग के बसे बंग रुचिकारी॥
तहाँ भये जयदेव महाप्रभु श्रीजगदीश मुरारी।
'रामराय' तिन व्यास पराशर गीतगोविन्द लिखा री॥
(गीतगोविन्द १२ सर्ग–४)

यह ग्रन्थ संवत् १६२२ का बना हुआ है। दो बार छप चुका है।

(दीक्षा-प्रकरण)

दीयते चरमं ज्ञानं क्षीयते पापपञ्जरः।
आब्रह्मभुवनस्याथ तस्माद् दीक्षोच्यते बुधैः॥

रसिकाचार्य-चरितावलीमें आपका दीक्षा-सम्बन्ध श्रीमध्वाचार्यसे मिला दिया गया है; किंतु उसी जगह गो० श्रीप्रियतमलालजीने लिखा है कि श्रीकृष्ण ही आपके दीक्षागुरु थे। इसका प्रमाण आपके पुत्र श्रीकृष्णदेवजीकी निर्मित 'दशश्लोकी गाथा' में है। अतः इतिहासके विपरीत किस प्रकार माना जाय, आपका प्रादुर्भाव ग्यारहवीं शताब्दीमें है—श्रीमध्वाचार्यका प्राकट्य १२ वीं शताब्दीमें है। इससे मेल नहीं मिलता। अब यहाँ जो लिखा है, उसके अनुसार यह है।

जगाया। वे हड़बड़ाकर उठ बैठे। देखते हैं तो सम्मुख आप विराज रहे हैं।

श्रीवृन्दावनचन्द्रकी आज्ञा थी कि 'हे सहचरी! तुम हमारा गुणानुवाद गान करो। तुम्हारे गीतको सुर-नर-मुनि-गन्धर्व सभी गायेंगे और '**क्लीं गोपीजनवल्लभाय स्वाहा**' इसे निरन्तर सेवामें जप करना।' हर्षित होकर आपने कहा, 'प्राणनाथ! इस गुरुदीक्षाकी दक्षिणा भेंट यही करनी है कि आपका गीत जहाँ भी गाया जाय, वहाँ आप पधारें।' श्रीराधामाधवजी 'तथास्तु' कहकर अन्तर्हित हो गये और महाप्रभु मूर्छा खा गये। ये सब बातें महाराज सुमेरसिंहजी सुन रहे थे। आपने सवेरा होते ही जाग्रत् हुए महाप्रभुसे प्रश्न किया—'कृपासिन्धु! आधी रात्रिमें आपसे कौन बात कर रहा था?' आपश्रीने पूछा, 'क्या तुमने देखा' महाराजने कहा 'न तो देखा और न साफ-साफ सुनायी ही दिया कि क्या बातचीत हुई।'

आपने श्रीयमुना-स्नान किया और प्रथम ही वह दशाक्षर श्रीगोपाल-मन्त्र सुमेरसिंहजीको दिया। सुमेरसिंह महाराजपद छोड़कर आपके अनन्य सेवक बन गये। मथुरामें आकर द्वादशीके दिनसे पूर्णिमातक दीक्षाके उपलक्षमें हजार ब्राह्मण साधुओंको श्रीराधामाधवजीका महाप्रसाद लिवाया।

राजपूतानेकी यात्रा

जगन्नाथस्वरूपं स्वं प्रत्यक्षीकर्तुमेव च।
मरुदेशं जगामासौ जयदेवमहाप्रभुः॥(१)

महाराज बहुत दिनसे आग्रह कर रहे थे कि सेवकके यहाँ पधारें। दोलोत्सव कर श्रीरोहिणी पराशरजीको सेवा सँभला दी। कितने ही मथुरावासी तो अवैतनिक सेवा करते रहते थे। अतः आप सबको सावधान कर आमेरके लिये पधारे। आमेरवासी आपके दर्शनसे बहुत प्रसन्न हुए। आपसमें लोग कहने लगे कि 'आप साक्षात् श्रीजगदीशके अवतार हैं। स्त्री-पुरुष पुरुषोत्तमको देखनेके लिये उतावलेसे दिखायी पड़ रहे हैं। घर आयी गङ्गा किसे अच्छी नहीं लगती? इसी प्रकार दूर-दूरसे जनता आती ही जाती थी। यों एक मास बीत गया।

प्रेमी भक्तोंके साथ मिलकर एक दिन महाराजने बड़े ही आदरके शब्दोंमें महाप्रभुसे प्रार्थना की—'नाथ! मेरे आप गुरुदेव तो हैं ही, किंतु साक्षात् जगदीशावतार भी हैं। श्रीजगदीशके श्रीअङ्गमें हाथ-पैरोंके पंजे प्रत्यक्ष नहीं दीखते और आपश्रीके तो दृष्टिगोचर होते हैं। इसका कारण सेवकको समझाना चाहिये।' आप हँसकर चुप हो गये, परंतु महाराज आगे कहें या न कहें, आपके साथ आये हुए भक्तजन इस शंकाका समाधान अवश्य चाहते थे। फिर भी आपने बात इधर-उधर करके टाल दी।

एकादशीका दिन था। उन भक्तोंने समीपवर्ती दो ही कोसपर दूसरे ग्राममें कीर्तनके लिये आपको बहुत आग्रह करके पधराया। ग्राममें 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव' इस महामन्त्रका खूब कीर्तन हुआ। बहुत-सा द्रव्य भेंटमें आया। रातके दो-तीन बजे तक कुछ भावुक कीर्तन करते रहे, किंतु थोड़ेसे अवसरमें वे भी निद्रा देवीकी गोदमें लुढ़क गये। आपने उस आये हुए धनको वस्त्रमें बाँधा और तीन बजे अँधेरेमें पहाड़ियोंमें होकर आमेरके लिये चल दिये। मार्गमें चोरोंने आपको पकड़ लिया। आपने सब धन उनको दे दिया, फिर भी उन निर्दयी चोरोंने आपके हाथ-पैरके आगेके हिस्से काटकर आपको कुएँमें डाल दिया। आपने वहीं 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव'—इस मन्त्रका मधुर स्वरमें कीर्तन प्रारम्भ कर दिया।

सबेरा होनेको ही था। वैशाखका महीना, महाराज वायु-सेवनके लिये वनमें पधारे थे। कुएँसे कीर्तनकी ध्वनि सुनकर महाराजने सेवकोंको भेजा—'देखो तो कुएँमें कीर्तन कौन कर रहा है?' देखा तो आप कुएँमें हैं। बाहर निकाला। महाराज आपकी उस स्थितिको देखकर रोने लगे—'हाय! यह किस दुष्टने किया, महाप्रभो! आपने देखा तो होगा वे लोग कैसे थे।' आप चुप हो गये। महाराजने पालकीमें शयन कराकर महलोंमें पधराया और आदमी भेजकर मथुरासे श्रीराधामाधवजी तथा श्रीरोहिणी पराशरको बुलवाया।

महाराजने आपकी ओषधि तो करायी, किंतु कभी-कभी रोकर कहने लगते—'नाथ! मैं आत्महत्या कर लूँगा, मेरा इस अपराधसे कभी उद्धार नहीं होगा, यदि पहिले ही आदमियोंका प्रबन्ध हो जाता तो यह स्थिति सामने क्यों आती।'

महाप्रभुने आज्ञा दी—'शान्तिपूर्वक धैर्य धारणकर श्रीराधा-माधवजी तथा साधु-संतोंकी सेवा करो। हमारा यही उत्तम उपचार है।' उसी दिनसे महाराजने आपके आदेशका दृढ़-

प्रतिज्ञ होकर पालन किया । साधु-संतोंकी सेवाका समाचार सारे देशमें फैल गया । कोई भी तिलक-कंठीवाला आता, महाराज सबका सत्कार करते थे ।

उन चोरोंने विचारा, साधु बननेमें क्या लगता है, चलो, राजासे धन ले आयें । बहुत-सी कंठी-माला पहिन ली । लंबे-लंबे तिलक लगाकर जैसे ही श्रीराधामाधवजीके मन्दिरमें चढ़े कि महाप्रभुको देखकर लौटने लगे । आपने सिपाहियोंको भेजकर इन्हें आग्रहपूर्वक बुलवा लिया । इतनेमें महाराज भी आ गये । आपको देखते ही चोर काँपने लगे । तब पूछा—'ये संत कहाँसे पधारे हैं ?' महाप्रभुने तुरंत ही कहा—'ये हमारे गुरुभाई हैं ।' आपके गुरुभाई आये हैं, यह सुनकर सभीको बड़ी प्रसन्नता हुई और भावभरी सेवा प्रारम्भ हो गयी । चोर बड़े ही व्याकुल थे कि अब मृत्यु आयी । बार-बार महाराजसे कहते 'हमको जल्दी जाना है ।' सब कुछ कहते-सुनते भी आठ दिनमें बिदाई हुई ।

महाराजने चार लाख रुपये भेंटमें दिये और ऊँटोंपर लदवाकर रक्षाके लिये साथमें सिपाही दिये । कहा—'जहाँ आप आज्ञा करें पहुँचाकर आओ ।' गाँवसे बाहर आकर सिपाहियोंने कहा—'हे साधु महाराजो ! हमारे यहाँ मन्दिरमें संत तो नित्य ही आते हैं, परंतु महाप्रभुने सेवा तो आपकी-जैसी किसीकी भेट-विदाई नहीं करायी । इसका क्या कारण है ?'

उन कृतघ्न नीच चोरोंने कहा—'अरे भाई ! यह लूला-लँगड़ा जो पड़ा है, जिसे तुम महाप्रभु कहते हो, बड़ा चोर है । यह चोरीमें पकड़ा गया था और इसे फाँसीकी सजा बोली गयी थी, किंतु हमने इसके हाथ-पैर कटवाकर छुड़वा दिया । इसकी जान बचा दी । यह बात खुलने न पावे—इसीके लिये इसने हमारी इतनी सेवा करायी है ।' चोरोंके इतना कहते ही कड़ककर बिजली गिरी, जमीन फट गयी और देखते-ही-देखते चारों चोर उसमें समा गये । अत्यन्त आश्चर्यमें डूबे हुए सिपाही धन लेकर वापस लौट आये और उन्होंने सारा हाल महाराजा साहबको सुनाया । महाप्रभु सुनकर बड़े दुखी हुए और मानो हाथ-पैर मींजने लगे । इतनेमें ही उनके हाथ-पैरोंके पंजे पूर्ववत् निकल आये । श्रीरोहिणी-पराशरजीकी आज बोली निकली । इस अद्भुत दृश्यको देखकर महाराजाको महान् हर्ष हुआ । वे बोले—'प्रभो ! अब सारी बात मेरी समझमें आ गयी । आपने यह लीला दिखाकर अपने श्रीजगन्नाथस्वरूपका दर्शन करवाया है । महाप्रभो ! आज सेवक कृतार्थ हो गया ।'

(क्रमशः)

तू और मैं

क्यों निपट पाषाण समझूँ,
जब बने भगवान मेरे,
सृष्टिकी हर नवल कृतिमें,
दिख रहे हैं रूप तेरे ॥ १ ॥

शून्य नभपर दृष्टि बाँधे,
मग्न हूँ मैं ध्यान तेरे,
दूरसे मुसुका रहा तू,
रो रहे जब प्राण मेरे ॥ २ ॥

दीप, अक्षत, पुष्प कुछ भी
तो नहीं है पास मेरे,
जानती हूँ सिर्फ इतना,
प्राण आश्रित एक तेरे ॥ ३ ॥

अन्यका कब ध्यान मुझको,
सिर्फ तुम हो एक मेरे,
चाहती थी छोड़ जगको,
शीघ्र पहुँचूँ पास तेरे ॥ ४ ॥

किंतु तूने ही कहा था,
जी जरा ओ ! जीव मेरे ।
चाहता हूँ देखना मैं,
दूरसे ही कार्य तेरे ॥ ५ ॥

इसलिये मैं कर रही हूँ,
कर्म हो निष्काम तेरे,
एक दिन निश्चय सुनोगे,
भक्तकी, भगवान् ! मेरे ॥ ६ ॥

—'शान्ता भार्गव'

प्रकाशकी काली ज्योति

(The Black Light)

नयी योजना, नये कार्यक्रम, नारे नूतन 'करो विकास'।
बढ़ा जा रहा, पर इस 'काली तिमिर ज्योतिका समरू प्रकाश'॥
मान रहे उत्थान पतनको, करते पाप पुण्यके नाम।
मिटा जा रहा शान्ति-सरल-सुख, हुआ जा रहा काम-तमाम॥

(लेखक— श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

बम्बईसे प्रकाशित ९ मई ५९ के अंग्रेजी साप्ताहिक 'ब्लित्स' में जमशेदपुरमें बीमारोंकी बढ़ती तथा उनकी उचित परिमाणमें सेवा वर्तमान सरकारी अस्पतालद्वारा उपलब्ध न होनेके कारण एक नया अस्पताल अमेरिकाकी 'कृपालु भगिनी'* मण्डलीकी ओरसे खोले जानेकी योजनाका समाचार छपा है। समाचारमें साथ ही बताया गया है कि प्रचलित इलाज बहुत महँगा होनेसे जनसाधारण वहाँके सरकारी अस्पतालसे संतोषप्रद लाभ नहीं उठा पाते। यह सब सेवाके नामपर कैसा वैज्ञानिक व्यवसाय है!†

बम्बईसे प्रकाशित साप्ताहिक अंग्रेजी 'ब्लित्स' के ९ मई ५९ के अंकमें अफ्रिकाकी आदिवासी काली जातिकी दुर्दशाका समाचार विस्तारसे छपा है, जिसमें बताया गया है कि उन्हें खेती-बागवानी अथवा स्वयंका घर बनानेके लिये सदा अधिकारयुक्त अचल सम्पत्तिके रूपमें भूमिका मालिक बनकर रहनेके लिये जमीन नहीं दी जाती। वे अपने ही देशमें अपने लिये भूमि नहीं खरीद सकते, मालिक नहीं बन सकते। सब भूमि गोरी जातिके सरकारकी है। गोरी बस्तीमें कालोंको प्रवेशाधिकार या बसनेका अधिकार नहीं है। गोरोंकी शिक्षा तथा अन्य संस्थाओंमें कालोंको सदस्यता नहीं मिलती। कालोंसे कठोर परिश्रम दिनकी जलती धूपमें निर्दयतापूर्वक कराया जाता है। जैसे हमारे भारतमें गाड़ीमें जुते बैलों अथवा घोड़ोंको चाबुक मारकर चलाया जाता है उसी प्रकार काले मजदूर नंगे पाँव, नंगे बदन किसी हथियारके बिना नंगे हाथ-पंजे अँगुलियोंसे खेतोंमेंसे आलू खोदते निकालते हैं, उनके झुंडमें देख-रेखके लिये गोरा मुकादम नियुक्त रहता है, जो उनपर चाबुकका भी उपयोग करता है। इस जातिका कोई नाम-व्यक्तित्व नहीं है। उन्हें अधिक शिक्षा और विदेशी ज्ञान नहीं दिया जाता एवं महानीच समझा जाता है। बताया जाता है कि तुम केवल सेवा करो, हुक्म मानो, अक्ल मत बढ़ाओ, तुम इसीलिये पैदा हुए हो। गोरोंका कालोंपर प्रभुत्व हमेशासे चला आ रहा है। ब्रिटेनकी शासन-पद्धति 'जन-प्रेरित जन-हितार्थ' डेमोक्रेसी है, जिसे ब्रिटेनके लोग बड़े अभिमानसे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इस सर्वश्रेष्ठ पद्धतिका नमूना अफ्रिकामें नग्नरूपमें देखनेको मिलता है। केवल शासित अफ्रिकामें ही नहीं, स्वयं ब्रिटेनमें यत्र-तत्र वहाँके अधिकारियोंद्वारा कानून और न्यायरक्षाकी आड़में रोज बहुत-से अन्धेरपूर्ण व्यवहार दुखी, रोगी, पागल और निरपराध जनतापर होते हैं, जिनके समाचार अखबारोंमें कदाचित् ही छपते हैं।

एडिनबर्ग (स्काटलैंड) में एक दिन संध्या समय अपनी मोटर चलाते एक महाशय सिर-दर्द और थकानके कारण एकान्त जगहमें सड़कके किनारे मोटर रोककर अपनी जगह बैठे हुए ही जरा आँखें बंदकर कुछ आराम लेने लगे। चलते-फिरते पुलिसवालेने एकान्त स्थानपर अकारण मोटर खड़ी और चालककी उस अवस्थाको देखकर समझा कि यह नशेमें है। बस, अन्य सहयोगी पुलिसको बुलाकर मोटरसे उक्त मालिक चालकको घसीट बाहर निकाला और उसके इस आकस्मिक व्यवहारसे घबराकर बहुत कुछ कहने-सुननेपर भी पुलिसने कुछ न सुना, माना। उसे थप्पड़-मुक्कों-सहित ले जाकर उसे पुलिसकी जालीमें बंद कर दिया। यह समाचार किसी अखबारमें नहीं छपा। मुकदमा चला, तब सबूतके दिन एक राह चलती दर्शक युवतीके बयानसे पुलिसका अपराध सिद्ध होनेपर उस कल्पित अपराधीको मुक्ति मिली।

---

* Sisters of Mercy.

† बम्बईके एक उपनगरमें अभी एक नया अस्पताल जो धर्मार्थ सेवाके नामसे खुला है, परंतु वहाँ भी नकद दूकानदारी ही होती है। गवर्नमेंट धर्म-निरपेक्ष हो तो धर्मार्थ कुछ भी कहाँसे हो और धन कहाँसे आये?

ऐसी ही घटनामें एक निरपराध किसान मारा गया। उसे कुछ मानसिक रोग था। घरकी रोज होती-बीती बातोंसे भावुक होनेके कारण उसे कभी बड़ी परेशानी होती तो वह बाहर घूमने निकल जाता, कभी ठीक होकर कुछ घंटोंमें वापस आ जाता, कभी दिनभर गायब रहता, कभी कई दिनों वह परेशान रहता। एक दिन परेशान होकर वह अपनी बंदूक लेकर पहाड़ी जंगलमें घूमने चला गया। वहाँ चलते-फिरते एक व्यक्तिने उससे वहाँ घूमनेका कारण पूछा, किंतु जवाबमें कुछ अंट-संट बातें सुनकर उसने जाकर पुलिसको सूचना दी कि अमुक व्यक्ति पागल मालूम होता है, बंदूकसहित घूमना खतरनाक हो सकता है। बस, पुलिसवाले फौरन पहुँचे और उसे पकड़-बाँध ले जाकर थानेमें बंद कर दिया। कुछ घंटोंमें पागलखाने भेज दिया, जहाँ उसे जबरदस्ती दवा पिलायी गयी, लात-मुक्के, ठोकरें दी गयीं, उसके दाँत-जबड़े टूट गये, लहूलुहान हो गया तब बेहोश दशामें कफन-सा लपेटकर एक खाटमें उसे सुला दिया गया। उसके दिनभर न लौटनेके कारण संध्या-समय उसकी स्त्री पूछताछ करने घरसे निकली। पुलिस थानेमें उसे पागलखाना जानेका निर्देश मिला। पागलखानेके अधिकारियोंने उसे पहले कुछ ठीक हाल न बताया, पश्चात् प्रवेशाधिकारमें आनाकानी की, बड़ी विनयके पश्चात् कफनमें लिपटा खाटमें पड़ा पति उसे बता दिया, विशेष बात करनेका अवसर न दिया, पति बड़ी कठिनाईसे अपना कुछ हाल बता सका और पागलखानेमें ही मर गया। उसके मरनेपर पत्नीने अपने नगरके पार्लियामेंट सदस्यका दरवाजा खटखटाया। पुलिस और पागलखानेके अधिकारियोंसे सदस्यने जब बातचीत कर पूरी जानकारी चाही तो वे घबराये और दूसरे दिन संध्याको एक बड़ी मोटरमें पुलिस, पागलखानेके डॉक्टर और वकील अचानक विधवा महिलाके घर आ धमके, उल्टी-सीधी बातोंसे उसे ही अपराधिनी कहकर डरा-धमकाकर एक राजीनामेपर उसके हस्ताक्षर करा लिये। सब मामला समाप्त हो गया। यह समाचार किसी अखबारमें नहीं छपा।

कुछ समय पूर्व हमारे संसारप्रिय नेता, भारतहृदय प्रधान मन्त्री श्रीनेहरूने एक औद्योगिक सभामें कहा था कि भारतमेंसे सब * अधिकारयुक्त स्वार्थी उद्योग मिट जाना चाहिये।

* "All vested interest must go. Go it must"—Sri Nehru.

अब यह विचार करना चाहिये कि अधिकारयुक्त स्वार्थी उद्योगका स्वरूप क्या है, वह कहाँ है और कहाँ नहीं है। दुनियामें विशेषकर दो प्रकारके लोग हैं, मूर्ख और धूर्त। इन्हीं दोके सहयोगसे दुनियाके सब काम चलते हैं। मूर्खोंकी संख्या सबसे अधिक है। धूर्त अर्थात् बुद्धिमान् बहुत कम। जैसे दुनियामें शेर कम हैं और भक्ष्य प्राणी अधिक। प्रकृतिका यह भक्ष्य-भक्षकका क्रम मानवपर भी परम्परासे कायम है कि न्यून-संख्यक बुद्धि-बली मानवने बुद्धिमानीसे स्वजातीय मानवको अपने चंगुलमें रखकर ऐसी व्यवस्था की है कि पशुवत् पालकर, संचालनकर, उनसे श्रम-सेवा लेते हुए चूसकर स्वयं जीते हैं और उन्हें इस प्रकार जिन्दा रखते हैं कि वे न मरें और न मोटे हों। इसका नाम आजकल है—जियो और जीने दो। अहिंसकरूपी यह हिंसा सदासे कायम है और चाहे राज्य, व्यापार, समाज व्यवस्थाओंमें जो भी परिवर्तन आगे हो—यह कमजोरोंकी गुलामी बलवानों, धूर्तोंका शासन हमेशा कायम रहेगा। सम्यक् भाव एवं व्यवस्थाका नगाड़ा चाहे जितना जोरसे पीटा जाय, जबतक मूर्खोंकी संख्या अधिक होगी, धूर्त, बुद्धिमान् अल्पसंख्यक हमेशा उनपर अधिकारपूर्वक शासन करेंगे; क्योंकि अल्पसंख्यक स्वयं परिश्रम न कर बुद्धिजीवी हैं और बहुसंख्यक मूर्खोंकी भी गुजर अल्पसंख्यकके निर्देश बिना नहीं होती। एकके पास बुद्धि है, दूसरेके पास शरीर-श्रम है। कोई स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी कमाई नहीं खाता। अपनेसे निम्नश्रेणीके पशुओं तथा मानवरूपी पशुओंके परिश्रमकी कमाई खाता है। मनुष्यने आदिकालसे ऐसी व्यवस्था कायम की है कि अकेले किसीकी गुजर नहीं हो सकती। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और परम्परागत, मनुकी कर्म-व्यवस्थासे परस्पर संगठन बिना किसीका काम नहीं चलता। स्वयं अपने ही परिश्रमसे, किसी यन्त्र अथवा अन्य प्राणीके सहयोग बिना खेती करना, अन्न, साग, फल उत्पादन करना, कपड़े, मकान, लोहा-लकड़ी, मिट्टी आदिके काम अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके साधनोंका प्रत्येकको ज्ञान वा अभ्यास कुछ नहीं होता। विभिन्न कर्म, मानवोंके गुण, कर्म स्वभावतः विभाजित हैं। अपनी-अपनी कारीगरीमें मिट्टी, लकड़ी, लोहा, चूना, कपड़ा, सोनाके काममें सब होशियार हैं, दूसरोंको ठगते हैं तथा दूसरोंद्वारा ठगाये जाते हैं। बहुसंख्यक समाज होनेसे परस्पर सेवा, व्यापार-संगठन, शासनकी आवश्यकता होनेसे सब प्रकारके अनुशासनकी व्यवस्थाएँ

अल्पसंख्यक बुद्धिमानोंने ही बनायीं और मूर्खोंने उसे मानी; क्योंकि बुद्धिमान् भी उसी नियमसे चलते हैं। यदि न चलें तो बहुसंख्यक लोग उन्हें पाखण्डी मानें।

परंतु कालान्तरसे जागृति होकर पाखण्डकी पोल खुल गयी। एकछत्र शासन, सामन्तशाही, साम्राज्य और पूँजीवाद क्रमशः मिटने लगे। परंतु यह भी हुआ नाममात्र, केवल इसका रूप बदल गया। विश्वविख्यात 'नोवेल पुरस्कार' को अस्वीकार कर देनेवाले, सम्यक् उत्पत्ति, विकास, वितरण और त्यागके आदर्श प्रचारक रूस-जैसे विशाल देशके प्रसिद्ध लेखक बोरिस पास्तरनाकने अपनी पुस्तकमें एक बड़े महत्त्वका वाक्य लिखकर मानवकी स्वार्थी और लाचार परम्पराका दिग्दर्शन कराया है—

'Men who are not free invariably idealige their bondage'—Boris Pasternak "Dr Zhivago".

अर्थात् जो लोग स्वतन्त्र नहीं होते, अथवा नहीं हैं, वे अपनी गुलामीको ही आदर्श बना लेते हैं।

इसका अर्थ यों समझा जाय कि 'Any form of Government, Socio-economic or Religio-political institution, whether Democratic, Republic-Socialist--is a system of slavery imposed on its own people by the people themselves to be administered by their own voted and chosen superior, wiser and abler few, for, on behalf of, and over themselves to perpetuate the necessary slavery for mutual survival in an orderly and organized manner. Hence a Government is a necessary institution of self-formulated and organized mutual bondage, though not slavery.'—V. Verma.

यह है अन्योन्याश्रित गुलामीकी परम्परा जहाँ कि मूर्खोंके बिना बुद्धिमानोंका और बुद्धिमानोंके बिना मूर्खोंका काम नहीं चलता, जैसे शरीरमें हृदय और मस्तिष्ककी नितान्त आवश्यकता है। एकके बिगड़ जानेसे दूसरा बिगड़ता है और सारे शरीरका व्यवस्था बिगड़ जाती है। गवर्नमेंट या संस्था चाहे कोई भी किसी भी रूपमें हो, जबतक वह पशु-पक्षीकी भाँति स्वतन्त्र स्वच्छन्द न हो, चाहे वह प्रजातन्त्र, जनतन्त्र, समाजवादी कुछ भी हो, वह स्वयंके बहुमतसे चुनी हुई होकर अल्पसंख्यकोंद्वारा अपने ऊपर गुलामी लादने और कायम रखनेकी परम्परा है, जो व्यक्तिगत अन्धाधुन्ध न होकर बनाये हुए नियम और कानूनसे चलती है। सभ्य और वैज्ञानिक होकर मानवमें अबतक इतनी बुद्धि नहीं आयी और संगठन नहीं हुआ कि वह किसी कानून या गवर्नमेंटके बिना शान्तिसे जी सके।

दुनियामें मूर्ख निरा मूर्ख नहीं और बुद्धिमान् भी पूर्ण ज्ञानी नहीं है, सबमें कुछ-न-कुछ मूर्खता और कुछ-न-कुछ बुद्धि होती है—जैसे गाय, बैल, कुत्ता, घोड़ा, हाथी। ज्ञान-अज्ञानकी मात्रा सबमें अपने विकासके अनुसार न्यूनाधिक होती है। जिसमें जितना अधिक बुद्धिबल होता है, वह अपनेसे कम बुद्धिवालेको ठगता है, शासन करता है, उपयोग करता है। संसारके हरेक काममें, क्षेत्रमें यह साक्षात् देख लीजिये। इस वास्तविक तत्त्वकी शिक्षा लोगोंको नहीं दी जाती तथा समाजमें मूर्ख और धूर्तके परस्पर सहयोगसे जीवनोपार्जन होता है। यदि दुनियाके सभी लोग एक समान ज्ञानी हो जायँ तो कोई किसीको क्यों पूछे और कोई किसीकी क्यों सुने? रूसके लोगोंने जाग्रत् होकर समत्वका नाद दुनियामें फैलाया, परंतु वहाँ भी शासक-शासित तथा धूर्त-मूर्ख, अमीर-गरीबकी परम्परा नष्ट नहीं हुई। वहाँ भी बुद्धिबलके अनुसार ही सब श्रेणियोंमें विभक्त हैं तथा अल्पसंख्यक बहुसंख्यकका संचालन करते हैं।

आजकल रूसी समाजवादी व्यवस्थाका नगाड़ा सारी दुनियामें सुमधुर सुनायी दे रहा है। दूरके ढोल सुहावने! ढोलकी आवाज दूरसे अच्छी लगती है, परंतु पास सुननेसे वह कान फोड़ता है।

श्रीमाईकेल जिलास, युगोस्लावियामें विद्यार्थीजीवनसे ही कम्युनिस्ट विचारधारा स्वीकार कर योजनाओंमें संगठित होते-होते जनप्रिय नेता होकर वहाँके वाइस प्रेसिडेंट हो गये। कम्युनिस्ट व्यवस्थामें क्रमशः सभी सीढ़ियाँ चढ़कर उन्होंने इतना ऊँचा पद पाया, परंतु इस पदपर आकर आदर्श और व्यवस्थामें उन्होंने जमीन-आसमानका जो अन्तर, आडम्बर, पाखण्ड पाया, अल्पसंख्यकोंद्वारा बहुसंख्यकोंपर जो अत्याचार, अनाचार, मनमानी होते देखा, तो उनसे यह सब सहन नहीं हुआ, उन्होंने ऐसे गणतन्त्रकी अपेक्षा डेमोक्रेसीको ठीक समझा और देशमें डेमोक्रेटिक व्यवस्था बनानेकी आवाज

उठायी, जिसका फल यह हुआ कि मार्शल टिटो प्रधानने उन्हें तीन सालके लिये जेलकी दीवालोंके भीतर मेहमान बना दिया, जिससे उनकी आवाज बाहर न जा सके। सम्यक् व्यवस्था और जनतन्त्र-स्वतन्त्रताका यहाँ स्पष्ट दर्शन हो जाता है, जहाँ कि अपने स्पष्ट सत्य और यथार्थ विचार प्रकट करनेका अधिकार ऐसे उच्च अधिकारीको भी नहीं मिला।

जेल जाने और अपने ऊपर मुसीबत आनेका आभास श्रीमाइकेलको हो गया था, इससे उन्होंने पहले ही बड़ी तिकड़मसे अपनी पुस्तक 'नयी जातिकी पाण्डुलिपि'* हवाईजहाजद्वारा विदेश भेज दी थी, जो बादमें प्रकाशित हो गयी। इसमें उन्होंने बड़े सुन्दर और स्पष्ट ढंगसे कम्युनिस्ट विचारधारा और यथार्थ व्यवस्थाका विश्लेषण किया है।

अब अमेरिका चलिये। वहाँकी 'स्वतन्त्रता† घोषणा'के अनुसार सबको जिस प्रकारकी स्वतन्त्रता है, उसका स्वतन्त्रतापूर्वक पालन कर पाना ईमानदारीके साथ असम्भव हो जाता है। अपनी गलतीसे रोग होता है, बेमेल, विकृत विपाक्त भोजन-पानी तथा अनियमित जीवनचर्या एवं अतिशय इन्द्रिय-लोलुपतासे अर्थात् व्यक्तिगत अज्ञानजन्य कर्मोंसे शरीरके रस-रक्त तथा आन्तरिक व्यवस्था बिगड़कर रोग होता है। इसके साथ सामूहिक कारणोंसे भी रोग होता है, परंतु अपनी गलती और अज्ञानसे रोगी होकर स्वयं अपना इलाज दवाके बिना आत्मसुधारद्वारा करनेकी स्वतन्त्रता जनताको नहीं है। सरकारने डाक्टरी इलाजका टेंगा जनतापर कानूनके सहारे व्यापककर जबरदस्ती पटक दिया है। यद्यपि ब्रिटेनमें यह कठोर बन्धनरूपमें नहीं है, कई सौ प्राकृतिक चिकित्सकलोग धंधा करते हैं, परंतु एडिनबर्गके प्रसिद्ध अनुभववृद्ध श्रीथामसनकी लिखित 'हृदय' रोगकी बिना औषध दुरुस्त करनेके साधन बतानेवाली‡ पुस्तकका अमेरिकामें आयात और प्रचार निषेध कर दिया गया है। इस पुस्तकको पढ़कर बहुत-से हृदयरोगियोंने आत्मचिकित्सा की और उन्होंने स्वयं लिखित तथा डाक्टरोंके प्रमाण दिये, किंतु अमेरिकन अधिकारीने उनपर कुछ भी विचार न कर, इस पुस्तकका नाम भी १२ शब्दोंमें वहाँके अखबारोंमें छपना निषिद्ध कर दिया है। ब्रिटेनमें इस पुस्तकके दस संस्करण हो चुके हैं, परंतु अपने दवाके धंधे और डाक्टरी विज्ञानपर चोट पड़ते देखकर ही अमेरिकन अधिकारीने यह कदम उठाया है।

इतना ही नहीं, पेकिंग विश्वविद्यालय (चीन) में 'वाल्ट विटमैन'§पर अपना व्याख्यान देनेके लिये निमन्त्रित, अमेरिकन उपन्यासकार वाल्डो फ्रैंक (Waldo Frank)को चीन जानेके लिये पार-पत्र× देनेसे इन्कार कर दिया। यह तो नयी बात है, पर पुरानी बात भी सुनिये। एडिनबर्ग, स्काटलैंडसे अमेरिका जाकर श्रीअलेक्जेंडर ग्राहम बेल+ बसे थे। ये टेलीफोनके आविष्कारक थे. परंतु इन्हें अकस्मात् बोस्टन शहर छोड़कर भागना पड़ा। टेलीफोनके नये आविष्कारसे उनपर स्थानीय अधिकारियोंका इतना कोप बढ़ा कि उन्होंने बेलसाहबको पागलखानेमें डाल देनेका निश्चय किया था कि ताँबेके तारद्वारा मनुष्यकी आवाजको इन्होंने दूर भेजनेकी योजना प्रकट की थी। स्वार्थके द्वारा दिनदहाड़े सत्य और स्वतन्त्रताकी हत्या होती है और स्वतन्त्रताकी घोषणा तथा न्यायके कानून पुस्तकोंमें मौन रहते हैं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके विषयमें महापुरुषोंके निम्नलिखित वाक्योंमें देखिये—

"The right of the individual to elect freely the manner of his care in illness must be preserved."—President Eisenhower.

"The Constitution of the Republic should make special provisions for medical freedom. To restrict the art of healing to one class will constitute the bastille of medical science. All such laws are un-American and despotic."—Dr. Benjamin Rush—Signer of Declaration of Independence.

"The American people, in order to maintain and advance our way of life, must be free to think and write as they please and to read books of their own choosing." Ex-Attorney-General Herbert Brownell.

* Michael Dgilas—'The New class'

† American Independence Declaration.

‡ The Heart—Prevention and Cure of cardiac conditions—by James C. Thomson.

§ Walt Whitman—Poet of Democracy.

× Passport

+ Alexander Graham Bell

"Medicine is far from having decreased human sufferings as much as it endeavours to make us believe...... The suppression of diphtheria, small-pox, typhoid fever etc. are paid for by the long sufferings and the lingering deaths caused by chronic affections and especially cancer, diabetes and heart disease. We should perhaps renounce this artificial form of health and exclusively pursue natural health."—Dr. Alexis Carrell in his book—'Man the Unknown'.

"The body has its own defence mechanisms......its healing powers at work in the body......powers which our therapeutics are very long distance behind."—Dr. Richard C. Cabbot—famous Medical Professor.

राजनीति हो या समाजनीति, व्यापार अथवा चिकित्सा क्षेत्रमें, क्या यह सब स्वार्थप्रेरित अधिकार चेष्टा (Vested interest) नहीं है ? श्रीनेहरूने जो इस औद्योगिक स्वार्थ-को निकाल फेंकनेकी बात कही है, वह कहाँ-कहाँसे और कैसे निकाल सकेंगे ? यदि इस स्वार्थाधिकार अथवा स्वार्थान्धकार-को दुनियाके सभी व्यावहारिक क्षेत्रोंसे समूल नष्ट कर दिया जाय तो व्यावहारिक संसारमें क्या शेष बचेगा और संसार कैसे चलेगा, इसकी जरा कल्पना करें और देखें कि भारतमें जन्म लेकर जीते हुए पूज्य गाँधीजीकी तपस्या और श्रीनेहरू आदिके त्याग-बलिदानके वरदानस्वरूप जो स्वतन्त्रता हमें मिली है, उसके आदर्शको लेकर भारतने इन बारह वर्षोंमें कौन-सी उन्नति की है और हम किधर जा रहे हैं । आजाद होकर विदेशोंसे दोस्ती कर दुनियाकी वैज्ञानिक उन्नतिमें अपना कदम साथ रखनेके लिये कर्ज लेकर, रोग बढ़ाकर, औद्योगिक विकास और सांस्कृतिक कार्यक्रमका स्वाँग बनाकर आज हमारी क्या दशा है, हम क्या खाते-पीते हैं, कैसे गुजर करते हैं और पचीस वर्ष पहलेकी अपेक्षा व्यक्तिगत अथवा सामाजिक या राष्ट्रिय स्थिति क्या है ।

क्या यह सब सभ्यता, शासन और विज्ञानका विनाशकारी पाखण्ड नहीं है ?

पारस ! नेक पसीजो

घिर आयी है अमा, पंथका शूल बन रहा कण-कण ।
त्रिविध ताप, त्रिगुणात्मक माया-पाश छल रहा क्षण-क्षण ॥
महाविषय जग-जाल-ग्रस्त मन जब-जब आकुल होता ।
महाशून्यमें तब-तब तेरी स्मृतिका फेरा होता ॥
जन्म-जन्मके आवर्त्तोंमें तेरा नाम सँजोये ।
भटक रहा यह जीव अभागा, स्मृति-पलक भिगोये ॥
मोह-निशा छायी; पर आत्माकी पीड़ा जाग्रत है ।
विस्मृत तुमको विरद किंतु पापी मन पाप-निरत है ॥
पारस ! नेक पसीजो, लोहा पल-पल पंथ निहारे ।
प्राणोंके पीयूष ! पपीहा पावस बीच पुकारे ॥

—श्रीवचनेश त्रिपाठी

काश्मीर और कालिदास

(लेखक—डा० श्रीसीतारामजी सहगल, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

कल्हणने राजतरंगिणीमें कहा है कि तीनों भुवनोंमें कैलास श्रेष्ठ है, कैलासमें सुन्दरतम हिमालय है और हिमालयमें प्रकृतिका अमरस्थान काश्मीर है। सम्भवतः इससे बढ़िया सुभाषित किसीने नहीं लिखा। इसका दर्शन करके हृदयकी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, सब संदेह दूर हो जाते हैं और सब पाप स्वयमेव क्षीण हो जाते हैं। दुनियाके सभी भोग यहाँ सुलभ हैं और दुनियासे यदि वैराग्य प्राप्त करना हो तो तब भी काश्मीर निर्वाणका परमपद है।

प्राचीन कालमें राजा लोग वनविहारके लिये इस प्रदेशमें आते थे और महीनोंतक यहाँ रहकर मानसिक शान्ति प्राप्त करते और फिर अपनी राजधानीको लौट जाते थे। यहाँ विश्वविश्रुत वसिष्ठ, कश्यप जैसे विद्वान् रहते थे, जिनके द्वारा कुल-परम्परासे विद्या प्राप्त करके मानवके 'स्वान्तःसुख'के लिये आश्रम खोले हुए थे। आजकी भाषामें यह स्थान यूनिवर्सिटीका महान् केन्द्र होता था। दूर-दूरसे ज्ञानके प्यासे यहाँ आकर अपनी प्यास बुझाते थे। संस्कृतसाहित्यमें इसका प्राचीनतम नाम शारदापीठ है, जो आजकल विश्वविद्यालयका दूसरा पर्यायवाचक शब्द है। काश्मीर शब्द भी संस्कृतके 'कश्यप+आश्रम'का बिगड़ा हुआ रूप है।

महाकवि कालिदासकी यद्यपि उज्जैनी तथा मालवप्रियता सुप्रसिद्ध है तो भी काश्मीरसे उसका कम प्रेम न था। उसके साहित्य पढ़नेसे यह मालूम होता है कि मानो वह काश्मीरी ही था। उज्जैनीके सुप्रसिद्ध फूल शिरीषका वर्णन कालिदासने अपने ग्रन्थोंमें किया है, उसी तरह देवदारुका वर्णन भी है। यदि इन दोनों वर्णनोंकी तुलना की जाय तो ऐसा मालूम पड़ता है कि उसे देवदारु अधिक प्रिय था। रघुवंशके दूसरे सर्गमें दिलीप-सिंहका संवाद बड़ा ही रोचक है। काश्मीरकी झलक इसमें मिलती है। 'शेर राजा दिलीपसे कहता है कि मैं शंकरका कृपापात्र हूँ और मुझे इस सामने खड़े हुए व्यूढोरस्क तथा प्रांशु देवदारु वृक्षकी रक्षाके लिये शंकरने नियुक्त किया है। पार्वतीने स्वयं इसे अपने दूधसे सींचा है और इसके साथ स्कन्दकी तरह प्रेम करती हैं। एक बार किसी मतवाले हाथीने अपनी पीठसे इसकी छालको छील दिया। तब पार्वती ऐसी दुखी हुई थीं जैसे संग्राममें स्कन्द शत्रुओंसे घायल हुआ हो।' इस हृदयग्राही उल्लेखसे मालूम पड़ता है कि हिमालयकी चोटियोंके शृङ्गार देवदारुसे उसका कितना स्नेह था। यही नहीं, कुमारसम्भवमें भी इस दिव्यदारुकी विभूतिका वर्णन किया गया है।

भागीरथीनिर्झरसीकराणां
वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातै-
रासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः॥

गङ्गाजीके झरनोंके फुहारोंसे लदा हुआ बार-बार देवदारु वृक्षको कँपानेवाला और किरातोंकी कमरमें लगे हुए मयूरके पंखोंको फहरानेवाला यहाँका शीतल, मन्द और सुगन्धित पवन उन किरातोंकी थकानको मिटाता है, जो हिरणोंकी खोजमें हिमालयपर घूमते हैं।

काश्मीरका आजकलका वनपथ वही है, जो पुराने जमानेमें वसिष्ठाश्रम कहा जाता था। महात्मा लोग आज भी इसी नामसे पुकारते हैं। रघुवंशके आरम्भके सर्गोंमें इसी प्रदेशका मनोहारी वर्णन किया गया है। देवदारुनिकुंज, गौरी गुरुगह्वर तथा गङ्गाप्रपात इसी प्रदेशमें फैले हुए स्थानोंके उल्लेख हैं।

शाकुन्तलका सातवाँ अङ्क तो मानो काश्मीरका ही वर्णन है। दुष्यन्तके मुँहसे कविने कहा है कि यह स्वर्गसे भी अधिक निर्वृत्तिका स्थान है। मुझे ऐसा लगता है कि मैं अमृतके सरोवरमें स्नान कर रहा हूँ। हेमकूटका संकेत काश्मीरके 'हर मुकुट' पर्वतसे है, जिससे कनकवाहिनी नदी निकलती है। ब्रह्मसर, अप्सरातीर्थ, शचीतीर्थ, सोमतीर्थ, मालिनी शक्रावतारादि छोटे-छोटे स्थान उत्तर काश्मीरमें हैं।

कालिदासके ग्रन्थोंमें काश्मीर प्रदेशके दृश्योंका असाधारण वर्णन ही नहीं है, वह तो कविके हृदयकी पुकार है। हिमालयकी शीतप्रधानताकी सुषमाका वर्णन करते हुए कविने लिखा है—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य
हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसंनिपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥
(कुमार० १।३)

'इस अनगिनत रत्न उत्पन्न करनेवाले हिमालयकी शोभा हिमके कारण कम नहीं होती; क्योंकि जहाँ बहुत-से गुण हों, वहाँ एकाध अवगुण भी आ जाय तो उसका वैसे ही पता नहीं चलता जैसे चन्द्रमाकी किरणोंमें उसका कलंक छिप जाता है।'

कुमुदनाग तथा निकुम्भादिका उल्लेख काश्मीरी गाथाओंमें मिलता है। अज इन्दुमती-विवाहमें आचार धूम-ग्रहण, लाजा-होम, स्वयं न डालकर इन्दुमतीका धात्रीके हाथोंसे अजके गलेमें माला डलवानेकी रीति काश्मीरी विवाहसे मेल खाती है। रघुवंशके वल्लभ नामक टीकाकारने काश्मीरकी कई प्रथाओंकी ओर संकेत किया है। यही नहीं, काश्मीरमें मछुए प्राचीन कालसे घृणाकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। इसीका रोचक वर्णन शाकुन्तलमें किया गया है। कालिदासने केसरका वर्णन करते हुए कहा है कि शिशिर और हेमन्तमें स्त्रियाँ स्तनोंपर इसका लेप करती हैं। यह प्रथा काश्मीरमें सम्भव तथा प्रसिद्ध है।

काश्मीर आजसे नहीं, हजारों वर्षोंसे भारतको अपने केसरके अतिरिक्त अमृतसम फलोंसे भी सींचता आया है। शाकुन्तलमें इन फलोंसे जन-जीवनकी तुलना कई बार दी गयी है। उपमाकी सामग्री वही होती है जो सुलभ हो, अनुभवगम्य हो तथा जनरोचक हो। महाकविने इसका कई बार उल्लेख किया है। भगवान् मारीचके आश्रममें जब दुष्यन्त पहुँचता है, तब कहता है—

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं
घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रम-
स्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः॥
(शाकुन्तल ७। ३०)

भगवन्! आपकी कृपा तो सचमुच अनोखी है, जिसमें दर्शनसे पहले ही मनोवाञ्छित फल मिल गया; क्योंकि कार्य और कारणका तो यही क्रम है कि पहले फूल लगता है और तब फल। पहले बादल उठता है, तब बरसात; परंतु आपके यहाँ तो सारे सुख आपकी कृपाके आगे-आगे चलते जा रहे हैं।

जिन्होंने कुछ समय हिमालयके किसी प्रदेशमें गुजारा है, वे ही इस उपमाका रसपान कर सकते हैं। काश्मीरके किसी सुन्दर घरमें बैठकर आसपास फलोंसे लदे हुए पेड़ों तथा मेघका दर्शन करके मनुष्य स्वयमेव एक अपूर्व आनन्दका अनुभव करता है। उसकी हृदयतन्त्री झंकृत हो उठती है और वह कालिदासकी मधुद्रवसे लिप्त गीर्वाणीका स्वाद प्राप्त करता है। मधुर तथा सान्द्र मंजरीकी तरह उसकी सूक्तियोंमें प्रीति बढ़ती है और वह जैन कवि रविकीर्तिके साथ गा उठता है—

पुष्पेषु जातिर्नगरीषु काञ्ची
नदीषु गङ्गा कविकालिदासः॥

अर्थात् पुष्पोंमें जो स्थान जाति-पुष्पका है, नगरीमें काञ्चीका, नदियोंमें गङ्गाका, वही कवियोंमें कालिदासका स्थान है।

भगवान्‌का प्रत्येक विधान मङ्गलमय है

किससे कैसे कब हो सकता है मेरा सचमुच कल्यान॥
नहीं जानता उसे अज्ञ मैं, पूर्ण जानते हैं भगवान।
सर्वशक्तियुत, सबके ज्ञाता, सब लोकोंके ईश महान॥
सहज सुहृद मेरे वे जो कुछ करते मेरे लिये विधान।
निश्चय ही वह मंगलमय सब कल्याणोंका आधान॥
हिम-आतप, वर्षा-सूखा कब किससे कैसा लाभ अमान।
रोग-निरोग, मरण-जीवनके सब रहस्यका उनको ज्ञान॥
भरा उसीमें है हित सबका परम चरम जग-अभ्युत्थान।
निर्भय मैं रहता हूँ इससे नित प्रभु-अनुकम्पाका कर ध्यान॥

मानस-सिद्ध-मन्त्र

(नवाङ्कमें प्रकाशित लेखका स्पष्टीकरण)

नवाङ्कमें 'मानस-सिद्ध-मन्त्र' शीर्षक लेख छपा है, उसके सम्बन्धमें कई सज्जनोंने पत्र लिखकर कई शङ्काएँ की हैं, उनके उत्तर निम्नलिखित हैं—

(१) पूर्वप्रकाशित लेखसे लेखकके प्रारम्भिक प्रस्तावनाके शब्दोंको (जिनमें मानस-मन्त्र या उनकी विधिकी कोई भी बात नहीं कही गयी थी) छोड़कर इस लेखमें और कुछ भी घटाया नहीं गया है। इसी प्रकार विधिको स्पष्ट करनेके सिवा और कुछ भी बढ़ाया नहीं गया है। असल बात जितनी उस मूल लेखमें थी, उतनी ही ज्यों-की-त्यों इस लेखमें भी है।

(२) अष्टाङ्ग-हवनकी सामग्रीमें पहले भी बारह चीजें ही लिखी गयी थीं, अब भी वही बारह ही लिखी गयी हैं। ये 'बारहों चीजें' मिलकर एक सेर सामग्री होनी चाहिये। 'कल्याण'में 'आठों चीजें' भूलसे छप गया है, वहाँ 'बारहों चीजें' पढ़ना चाहिये। पञ्चमेवामें मिश्री, छोहारा, चिरौंजी और नारियलकी गिरीका भी उपयोग कर सकते हैं।

(३) 'रक्षारेखा' मन्त्रको सिद्ध करनेके लिये अलग हवन करना है और जप करनेवाले मन्त्र (चौपाई, दोहे या सोरठे) के लिये अलग। इस प्रकार दोनोंके लिये अलग-अलग हवन करना चाहिये। एक बार हवनके द्वारा मन्त्र सिद्ध करनेके बाद फिर न तो रक्षा-रेखाके मन्त्रको, न उस जपवाले मन्त्रको ही दुबारा हवन करके सिद्ध करना है। एक बार कर लेनेके बाद वह सदाके लिये हो गया। दुबारा कभी उसी मन्त्रका जप करना हो तो कर सकते हैं, उस समय 'रक्षारेखा' मन्त्रका उच्चारण करके अपने चारों ओर केवल रेखा खींच लेनी चाहिये। पहले सिद्ध न किये हुए किसी दूसरे जपमन्त्रका जप करना हो तो उसे सिद्ध करनेके लिये अवश्य हवन करना होगा।

(४) मन्त्रका उच्चारण मन-ही-मन या बोलकर भी कर सकते हैं। पर होना चाहिये स्पष्ट और शुद्ध।

(५) हवन और जप स्वयं ही करना चाहिये। बीमारी आदिके कारण स्वयं न कर सकें तो घरके किन्हीं दूसरे सदस्यके द्वारा भी कराया जा सकता है।

(६) नीचे लिखी अर्धालियाँ लङ्काकाण्डकी हैं—

(१) हनूमान अंगद रन गाजे।
हाँक सुनत रजनीचर भाजे॥

(२) कर सारंग साजि कटि भाथा।
अरि दल दलन चले रघुनाथा॥

(३) सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा।
काल सर्प जनु चले सपच्छा॥

'रक्षारेखा' वाली अर्धाली भी लङ्काकाण्डकी है, पर वह किसी दिन भी हवन करके सिद्ध की जा सकती है।

(७) दिनभर व्रत रखनेकी आवश्यकता नहीं है। शुद्ध धुले कपड़े होने चाहिये। कमरेमें अंदर या ऊपरकी मंजिलोंपर भी हवन-जप कर सकते हैं। जप आवश्यकता होनेपर विश्वासपूर्वक करना चाहिये, मनमें शङ्का-संदेह रखकर या केवल परीक्षा करनेके लिये नहीं करना चाहिये।

(८) मन्त्रको पहले हवनके द्वारा सिद्ध करनेके बाद ही जप करना चाहिये। पहले भी ऐसा ही लिखा गया था।

(९) परिवारके सदस्य मिलकर हवन न करें। जिनको जप करना हो वही करें। 'स्वाहा' भी वही बोलें। अशक्त अवस्थामें ही ब्राह्मणके द्वारा कराया जा सकता है। नहीं तो, स्वयं ही हवन-जप करना चाहिये।

(१०) मानस-सिद्ध-मन्त्रकी विधिसे दुर्गासप्तशती आदिके मन्त्रोंको सिद्ध नहीं किया जा सकता। उनकी विधि उनके जानकार महानुभावोंसे जाननी चाहिये।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

पतिव्रता देवीका बुद्धिमत्तापूर्ण आदर्श

साहस और त्याग

इन त्यागमयी बुद्धिमती सती वीराङ्गनाका नाम था सुश्रीशान्तिदेवी। इनके पिता लाला श्रीरेवतीप्रसादजी अग्रवाल, कस्बा खानपुर, जिला बुलन्दशहरके एक सम्मानित व्यवसायी हैं। आपके भाई लखनऊमें व्यवसाय करते हैं। आपका विवाह बुलन्दशहर जिलेके औरंगाबाद स्थानके लाला श्रीबाबूरामजीके सुपुत्र श्रीजगदीशप्रसादजी एम्० ए०, एल्० टी० महोदयके साथ हुआ था।

श्रीजगदीशप्रसादजी कस्बा खानपुरके माध्यमिक विद्यालयमें प्रधानाचार्यके पदपर कार्य करते थे। किसी स्वार्थभरे कारणसे कुछ लोग इनसे विरोध करने लगे। एक बार श्रीजगदीशप्रसाद सपत्नीक बैलगाड़ीद्वारा अपने निवासस्थान औरंगाबादसे खानपुरको जा रहे थे। मार्गमें कुछ लोगोंने गाड़ी रोककर प्रधानाचार्यजीपर लाठियोंसे प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया। श्रीमती शान्तिदेवी अपने पतिके ऊपर लेट गयीं, उन लोगोंने कहा—'बहनजी! आप अलग हो जाइये, हमारा वैर तो इन प्रिंसिपल साहबसे है।' इसपर श्रीमती शान्तिदेवीने उनको फटकारते हुए कहा—'नराधमो! लज्जा नहीं आती, मुझको बहन भी कहते हो और उस बहनके ही जीवनसर्वस्व एवं इष्टदेवपर प्रहार करनेको तुले हो? जबतक मुझे मार न डालोगे तुम इनके शरीरको छू भी नहीं सकते।' उनके इस उत्तरने उनको निरुत्तर कर दिया और वे तुरंत वहाँसे चले गये। इस प्रकार वीराङ्गनाने पतिके प्राणोंकी रक्षा की।

गत दो फरवरी सन् १९५९ को एक बड़ी अद्भुत घटना हुई, जिसने श्रीमती शान्तिदेवीको चिर-स्मरणीय बना दिया। उस घटनासे यह पूर्णरूपसे प्रकट हो गया कि ये देवी कितनी प्रत्युत्पन्न-मति, त्यागमयी, साहसमयी, पतिव्रता एवं ईश्वरनिष्ठ थीं। रात्रिके समय लगभग पचीस-तीस शस्त्रधारी व्यक्तियोंने प्रधानाचार्य महोदयके निवासस्थानपर छापा मारा। प्रधानाचार्यजी खानपुरके माध्यमिक विद्यालयमें ही ऊपर रहते थे। विद्यालयमें उस समय दो-तीन चपरासी तथा तीन अध्यापक थे। गिरोहके व्यक्तियोंने आते ही चपरासी तथा अध्यापकोंको डरा-धमकाकर आतंकित कर दिया कि जो जहाँ है वहीं पड़ा रहे, अन्यथा प्राणोंसे हाथ धोने पड़ेंगे। इसके पश्चात् वे लोग सीढ़ियोंके द्वारा ऊपर गये और प्रधानाचार्य महोदयके कमरेके किवाड़ खटखटाने लगे। पूछनेपर बताया कि 'हम आपको मारने आये हैं।'

प्रधानाचार्य महोदयने कहा—यह तो कायरपन है कि आप इतने लोग मिलकर एक निहत्थे व्यक्तिको मारने आये हैं। मैंने तो ऐसा कोई बुरा काम भी नहीं किया है। अच्छा, मैं किवाड़ खोलता हूँ और यह सीना आपके सम्मुख है। आप गोली मार सकते हैं।

उनकी पत्नी शान्तिदेवीने उनको कुछ रुकनेके लिये कहा और जो भी नये-पुराने कपड़े मिले, उनको तुरंत मिट्टीके तेलमें भिगो लिया। अब किवाड़ खोलनेको कहा। किवाड़का खुलना था कि दो व्यक्तियोंने एक ही साथ दो फायर प्रधानाचार्य महोदयपर किये। भगवान्का विधान, दोनों ही गोलियाँ उनके बगलसे निकल गयीं। अब एक फायर पिस्तौलद्वारा करनेका प्रयत्न किया गया, परंतु पिस्तौल चली नहीं। प्रधानाचार्य महोदय अचेत होकर गिर पड़े। उनकी बुद्धिमती साहसमूर्ति पत्नीने तेलसे भीगे कपड़े जला-जलाकर इस तेजीसे डाकुओंपर फेंकने प्रारम्भ किये कि उनसे भागते ही बना। इस बीचमें प्रधानाचार्यको चेत हो गया था। शान्तिदेवीने अपने पतिको पीछे हटा दिया और दृढ़तापूर्वक उनको आगे बढ़ने तथा बोलनेसे रोक दिया। प्रधानाचार्य महोदयका कथन है कि 'ऐसा अपूर्व तेज मैंने अपनी पत्नीमें इससे पहले कभी नहीं देखा था और इस समय मैं उनका

आदेश माननेको बाध्य हो गया। वह भागते हुए डाकुओंपर और भी द्रुतगतिसे जलते कपड़े फेंकने लगीं। डाकू बिल्कुल घबरा गये और बोले कि 'यह स्त्री साधारण नहीं है—साक्षात् दुर्गा है। यह तो हमलोगोंको भस्म ही कर देगी।' वे लोग वहाँसे भग गये और जबतक गाँवके चार-पाँच सौ मनुष्य आये, एक भी डाकू वहाँपर नहीं था। अर्द्धरात्रिके समय सन्नाटेमें नगरसे बहुत दूर तीस-पैंतीस सशस्त्र निर्मम डाकुओंका केवल अपनी सूझ-बूझके तथा साहसके बलपर भगवान्के सहारे एक निहत्थी अबला-द्वारा सामना किया जाना तथा उन्हें वहाँसे भागनेपर विवश कर देना साधारण बात नहीं है। यह उस देवीके आदर्श पति-प्रेम, सूझ और साहसका परिचायक है। वह सच्ची सती थी और इसी कारण उसमें वह तेज प्रकट हुआ।

परंतु यह त्याग सहसा लोकदृष्टिमें हो गया दुःखान्त। यद्यपि उस देवीके लिये तो यह गौरवकी चीज हुई। उसका समर्पण-यज्ञ पूर्ण हो गया। बात यह हुई कि डाकुओंपर कपड़े फेंकते समय तेलकी छींटें उनके ऊपर भी पड़ गये थे और वे जब लौट रही थीं, उनकी साड़ीमें आग लग गयी। आग जोर पकड़ गयी। उनके स्वामी तथा दशवर्षीय पुत्रने आग बुझानेका बहुत प्रयत्न किया, उन लोगोंके हाथ जल भी गये और किसी तरह आग बुझी; परंतु उस समयतक वे बुरी तरह झुलस गयी थीं। मोटरद्वारा उन्हें बुलन्दशहर अस्पतालमें पहुँचाया गया। इतनी जली होनेपर भी उन्होंने किसीका सहारा लेना पसंद नहीं किया और स्वयं मोटरपर जा बैठीं। उनका शरीर इतना जल गया था कि कहींपर इन्जेक्शन तक नहीं लगाया जा सकता था। बड़ी तत्परतासे उपचार किया गया, परंतु उस सतीको इस नश्वर संसारमें रोका नहीं जा सका। जलनेके पचास घंटे पश्चात् वे इस नश्वर शरीरका त्याग करके दिव्यलोकको चली गयीं।

अन्त समयतक उनकी पतिभक्ति और ईश्वर-निष्ठा उनमें दीप्तिमान् रही। मृत्युशय्यासे भी वे अपने पतिकी ही ओर देखती रहीं तथा उन्हींको अपने पास उन्होंने बैठने दिया। मृत्युके नौ घंटे पूर्वसे रामायणका मौखिक पाठ प्रारम्भ किया जो अन्त समयतक चलता रहा। प्रत्येक दोहेके अन्तपर वे 'सियावर रामचन्द्रकी जय शरणम्। सियावर रामचन्द्र पतिपद शरणम्' का घोष करती थीं। इसी अवस्थामें ब्राह्ममुहूर्तमें प्रातःकाल पाँच बजे उनकी अमर आत्माने इस नश्वर शरीरको त्याग दिया। बहुत सम्मानके साथ उनकी अरथी निकाली गयी।' जिसमें हजारों व्यक्तियोंने भाग लिया। नगरके अनेक सम्मानित व्यक्तियोंने मृतात्माको श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित कीं। ऐसी देवियाँ ही भारतकी परम गौरवमयी सांस्कृतिक परम सम्पत्ति हैं।

—रघुवरदयाल गोयल

(२)

हककी रोटी

सात-आठ वर्ष पहलेकी बात है, उस समय देशमें कपड़ेका राशनिंग था और कार्डसे कपड़ा मिल सकता था। जेतपुरमें ऐसी एक दूकानपर एक भाई कपड़ा बेचा करते थे। खेतीकी मौसम अभी समाप्त ही हुई थी। मूँगफलीके दाम भी चढ़े हुए थे, अतः किसानोंको अच्छी रकम हाथ लगती थी। इस प्रकार मूँगफली बेचकर उसके रुपये लिये समीपवर्ती सरधारपुर गाँवके एक किसान भाई कुछ कार्ड लेकर कपड़ा खरीदने जेतपुर आये थे। कपड़ेवालेकी दूकानपर कुछ भीड़ थी। इसलिये किसान भाईने जेबसे कार्ड निकालकर दूकानदारको दिये और कहा कि 'मैं थोड़ी देरमें आता हूँ।'

दूकानदार भाईने उन कार्डोंको ज्यों-के-त्यों रख दिया। आये हुए कार्डोंका कपड़ा दे चुकनेके बाद दूकानदारने इन कार्डोंको हाथमें उठाया। कार्ड खोलकर देखनेपर अंदर सौ-सौ रुपयेके चौदह नोट मिले। क्षणभरके लिये दूकानदार नोटोंकी ओर देखते रहे। फिर उन कार्डोंको ज्यों-के-त्यों समेटकर गद्दीके नीचे रख दिया।

थोड़ी देर बाद वे किसान भाई आये। आवश्यक कपड़ा लिया। बिल बना। रुपये देनेके लिये उन भाईने जेबमें हाथ डाला और वे बिल्कुल सहम गये। उनके मुँहपर हवाइयाँ उड़ने लगीं।

दूकानदारने पूछा, 'क्यों, अचानक क्या हो गया ?'

'कुछ नहीं, कुछ नहीं, मैं अभी आता हूँ' कहकर किसान भाई खड़े हो गये।

'पर क्या हो गया ? बताइये तो सही। यों घड़ी-भरमें ही कैसे घबरा गये ?' दूकानदारने उनको पकड़-कर बैठाते हुए कहा।

'मालूम होता है—जेबमें कहीं गिर गये हैं। मैं होटलमें चाय पीने गया था। वहाँ देख आऊँ।'

'कितने थे ? और यों कैसे गिर गये ?'

'भाई ! थे तो सौ-सौके पूरे चौदह नोट। मूँगफली बेचकर उसके दाम लेकर सीधा ही कपड़ा खरीदने चला आया था।'

'याद कीजिये, कहीं घरपर ही तो नहीं छोड़ आये ?'

'नहीं-नहीं, कार्ड और नोट दोनों इस जेबमें साथ ही रखे थे। कहीं पड़ गये लगता है। नसीबमें होंगे तो मिल जायँगे। परंतु शहरोंके आदमियोंकी तरह हम लोगोंमें सावचेती नहीं होती, इसीसे ऐसा हो जाता है।' यों कहकर वे पता लगानेके लिये होटलमें जानेको खड़े हो गये।

परंतु उसी समय दूकानदारने कार्ड खोलकर नोट दिखाये, पूरे चौदह नोट। किसान भाईके मुखपर मुसकान छा गयी—'हैं, इन कार्डोंमें ही ये नोट रह गये ? यह तो आप इतने भले आदमी हैं; नहीं तो, ये नोट थोड़े ही वापस मिलते। मेरा तो जी ही उड़ गया था। भगवान् आपका भला करें।'

'भाई, चौदह नोट देखकर अवश्य ही मन ललचा जाता है, परंतु अनीतिसे आया हुआ या लिया हुआ विना हकका पैसा ठहरता तो है ही नहीं, घरमें पैसा होता है तो उसको भी टानकर ले जाता है। नीतिसे मिली हुई हककी रोटी खानेसे जो सुख और संतोष मिलता है, वह इस तरहकी अनीतिकी रोटीसे नहीं मिल सकता।'

वे किसान भाई बिलके रुपये चुकाकर भारी उप-कारसे दबे बार-बार कृतज्ञता प्रकट करते हुए कपड़ा लेकर चले गये। खोयी हुई वस्तु मिलनेपर जैसा आनन्द होता है, उसी आनन्दकी रेखा उनके मुखपर उमड़ रही थी। दूकानदारने भी यह देखकर अपने हृदयमें बड़े आनन्दका अनुभव किया। (अखण्ड आनन्द)

—सवाईलाल न० गोदरिया

(३)
श्रीहनुमान्‌जीकी कृपा

घटना गत अक्षय नवमीकी है। सीतामऊ (म० प्र०) में मगन तेलीका लड़का मोहनलाल जिसकी आयु लगभग २४-२५ वर्षकी है, लंबे समयसे बीमार था। उसे पहले मोतीझरा ज्वर हुआ था। उसके पश्चात् दिनोंदिन उसकी स्थिति बिगड़ती चली गयी। सारे उपचार तथा प्रयत्न निरर्थक सिद्ध हुए। वह आठ-नौ महीनेसे पागलोंकी-सी चेष्टा करने लगा था और उसकी वाणी तो बिल्कुल ही बंद हो गयी थी। ऐसी स्थितिमें भी वह प्रतिदिन गाँवके बाहर शौचादि कार्यसे निवृत्त होनेके लिये दिन चढ़नेपर जाया करता था; किंतु गत अक्षय नवमीके दिन अकस्मात् प्रातः चार बजे उसकी नींद टूट गयी। वह लगभग पाँच बजे घरसे चल दिया। गाँवके बाहर श्रीहनुमान्‌जीके मन्दिरके प्राङ्गणके बाहर, जहाँ लोहेके तार खिंचे हैं, ज्यों ही वह अन्तिम छोरके एक खंभेके पास पहुँचा कि उसे लगभग १२-१३ वर्षकी आयुका एक बालक सफेद वस्त्र पहने हुए सामनेकी ओरसे आता दिखायी दिया।

पास आते ही उस बालकने उसे ठहरनेका संकेत करके कहा कि 'तुम घबराना मत।' इसके पश्चात् पृथ्वीकी ओर झुकते हुए किसी वस्तुके उठानेका-सा अभिनय करते हुए 'इसे खा जाओ' यह कहकर उसने उस तेलीकी हथेलीपर मिट्टी-जैसी कोई वस्तु रख दी। जिसे वह खा गया। वस्तु उसे बड़ी स्वादिष्ट और अच्छी लगी।

इसके पश्चात् उस बालकने प्रथम आकाशकी ओर

देखते हुए मोहनका मुख ऊँचा करवाकर उसके गलेपर हाथ फिराते हुए कहा 'बोलो राम' । इतना सुनते ही आश्चर्यकी बात यह हुई कि जिस मोहनकी वाणी आठ-नौ माससे बंद थी, उसके मुखसे सहसा स्पष्ट शब्दोंमें 'राम' शब्द निकल गया । ऐसा उस बालकने तीन बार करवाया और तीनों ही बार उस तेली युवकके मुखसे 'राम' शब्दका उच्चारण हो गया ।

अब उसने मोहनसे कहा—'तुम ऊपर आकाशकी ओर देखो ।' ऊपर देखकर ज्यों ही उसने सामने नीचेकी ओर देखा तो उस बालकका पता नहीं । उसने तत्काल इधर-उधर आसपास चारों ओर ढूँढ़ा पर उसका कहीं कोई पता नहीं लगा ।

बस, उसी समयसे वह रुग्ण युवक, जो इतने दिनोंसे पागलकी-सी स्थितिमें था और जिसकी वाणी बंद थी, पूर्ण स्वस्थ और सयाना हो गया तथा साफ-साफ बोलने लगा ।

जब इस घटनाकी सूचना सीतामऊके महाराजा साहब श्रीमन्त सर रामसिंहजी महोदयको मिली, तब उन्होंने भी इसकी जाँच करवायी और इसे सर्वथा सत्य जानकर बड़ा आश्चर्य और प्रसन्नता प्रकट की ।

जनताका अनुमान है कि यह उसकी हनुमान्‌जीकी भक्ति तथा रामनाम-जपका फल है *।

—शितिकण्ठ शास्त्री

(४)

भूखा भूख मिटाता है

बस आनेमें अभी दस मिनटकी देर थी । पू० विनोबाजीके भाषणसे प्रभावित हुए हम चार-पाँच मित्र प्रेम, मानवता, करुणा आदि शब्दोंपर चर्चा करनेमें इतने तल्लीन हो रहे थे कि आस-पास क्या हो रहा है, इसका भी कुछ पता नहीं था ।

सहसा हृदयको मानो चीर डालेगी, ऐसी करुण आवाज सुनायी दी । हमने चौंककर पीछे देखा । धँसी हुई तेजहीन आँखें, झुर्रियाँ पड़े चेहरेपर बढ़ी दाढ़ी, हड्डियाँ गिनी जा सके, ऐसा दुबला शरीर, देहपर फटे-टूटे चिथड़े डाले लगभग साठ वर्षका एक बूढ़ा हमारी ओर दौड़ा आ रहा था । होहल्ला मचाती बालकोंकी टोली उसे हैरान कर रही थी ।

'मैं पागल नहीं हूँ, चोर नहीं हूँ, भगवान्‌के नामपर मुझे मारो मत । मैं गरीब हूँ, दुखी हूँ, दो दिनोंका भूखा हूँ ।' करुणाकी चर्चा करते हुए हम उसकी ओर देखते रह गये ! 'हाय राम ! भगवान्‌के नामपर इस भूखेको कुछ टुकड़े दो ।'

आँसू भरी इस आद्रपूर्ण वेदनाको सुननेको कोई तैयार न हुआ । अपने सुखीपनमें रचे-पचे सभ्य समाजके प्रतिष्ठित लोग उसे धमका रहे थे । 'गोल्ड फ्लैक' (सिगरेट) सुलगाते हुए एक भाई बोल उठे—'चला जा ! पता नहीं, ऐसे कितने ढोंगी-फरेबी चले आते होंगे । हरामकी हड्डी हो गयी । आगे चल, दुर्गन्ध आ रही है ।'

हम चार-पाँच मित्र इकट्ठे करके उस वृद्धको कुछ देनेकी तैयारी कर रहे थे । इतनेमे ही बगलके खोमचेवालेके हृदयमें राम जाग उठा । पावरोटीके दो बड़े-बड़े टुकड़े देते हुए उसने प्रेमसे कहा—'लो बाबा, यह खा लो ।'

काँपते हाथों उस वृद्धने पावरोटी खाना शुरू किया । चार-पाँच ग्रास खाये होंगे कि 'ओ मा' पुकारता हुआ एक आठ-नौ वर्षका पंगु बालक नंगे बदन आँसू भरी आँखोंसे कुछ माँगने आ गया । उसे कुछ देनेकी बात तो दूर रही; किसीने उसकी ओर ताका ही नहीं । कुछ आशासे करुण चेहरा किये वह बच्चा उस वृद्धके पास खड़ा रहा । उसने उस बच्चेसे बड़ी मिठासके साथ कहा—'अरे भूखा है ? बोलता क्यों नहीं ? ले···· खा····।' यों कहकर मंद-मंद हँसते हुए उस बूढ़ेने पावरोटीका एक टुकड़ा उस बच्चेको दे दिया । उसके चेहरेपर आत्मसंतोपकी रेखाएँ स्पष्टरूपसे अङ्कित हो गयीं ।

* श्रीकेदारनाथजी शर्माने भी इसी घटनाको कुछ शब्दान्तरसे लिखकर भेजा है ।

मैं इस दृश्यको देखता ही रह गया । कैसा मौन उपदेश था । कैसा प्रेरक संदेश था । हम अघाये हुए होनेपर भी भूखेको कुछ खिलानेमें असमर्थ थे । उधर वह बूढ़ा स्वयं भूखा रहकर दूसरेकी भूख मिटा रहा था । उसके विशाल हृदयके सामने हमारा हृदय नितान्त नगण्य था । भौतिक क्षेत्रमें आगे बढ़े हुए हम आध्यात्मिक क्षेत्रमें बहुत पीछे थे । पर वह बूढ़ा तो आध्यात्मिक क्षेत्रमें बहुत आगे बढ़ चुका था ।

—चन्द्रकान्त बी० त्रिवेदी

(५)

लड़ाई नहीं, न्याय

कुछ वर्षों पहलेकी राजस्थानकी घटना है । हरीराम और चाँदमल दोनों सगे भाई थे । एक जमीनको लेकर आपसमें मतभेद हो गया । दोनोंने एक दिन आपसमें बात की—'भाई ! मामला आपसमें तो निपटता नहीं। इससे हमलोग कचहरीमें दरख्वास्त दे दें । अपनी-अपनी बात हाकिमको सुना दें, फिर वह जो फैसला दें, उसीको मान लें।' दोनोंकी राय एक हो गयी । कोर्टमें दरख्वास्त दे दी गयी। दोनोंने परस्पर सलाह करके एक-एक वकील कर लिया और अपनी-अपनी बात वकीलोंको समझा दी। दोनों भाइयोंमें बड़ा मेल था । घरमें साथ ही खाकर परस्पर घरेलू चर्चा करते दोनों साथ ही कचहरीमें आते। दुपहरको खानेका सामान भी दोनोंका एक साथ लाते, साथ ही खाते । वकीलोंको भी अपनी-अपनी बात साथ ही समझाते। दोनों ही सच बोलते। उनके इस मामलेसे सभी चकित थे । द्वेष-लड़ाईकी तो कल्पना ही नहीं, केवल निपटारा कोर्टसे कराना चाहते थे । हाकिमने उनसे कहा—'आपलोगोंके बीचमें मैं क्या बोलूँ । जहाँ इतना प्रेम है ।' उन्होंने कहा—'इसीलिये तो आपके पास निपटाने आये हैं ।' हाकिम हैरान थे । आखिर हाकिमने उन दोमेंसे छोटे भाईको पञ्च बनाना चाहा । अपने ही मामलेमें आप ही पञ्च । उन्होंने कहा—'हाकिमका हुकुम हमें स्वीकार है।' पंचने पञ्चकी हैसियतसे दोनोंकी बातें सुनीं और अपने विरुद्ध बड़े भाईके पक्षमें फैसला दे दिया। अजब मामला था । —विलासराय

(६)

अन्तरात्माकी आवाज

वर्षों पहलेकी बात है। सौराष्ट्रके एक छोटेसे गाँवमें हमारे पड़ोसमें एक ब्राह्मण सद्‌गृहस्थ रहते थे। वे पोरबंदर-गोशालाके लगान वसूलीका काम करते थे। इसलिये उन्हें कई बार इधर-उधर बाहर जाना पड़ता था।

एक बार वे कलकत्ते जा रहे थे । रास्तेमें दिल्ली-स्टेशनपर उतरते समय उनकी जेब कट गयी । इस बातको लगभग दस वर्ष बीत चुके । उनको इस घटनाकी याद भी नहीं रही । इसी बीच एक दिन एक डाकिया तीस रुपयेका मनीआर्डर लेकर इनके घर पहुँचा। कहींसे मनीआर्डर आनेकी कल्पना ही नहीं थी । अतः इन्होंने समझा कि डाकियेकी भूल हुई होगी। पर जब इन्होंने फार्म लेकर उसकी कूपनपर लिखी बातें पढ़ीं, तब तो ये एकदम आश्चर्यमें डूब गये । उसमें लिखा था—

'बड़ी असहनीय परिस्थितियोंके कारण आपका पाकेट मेरे हाथ लगा था। उसे आज लगभग दस वर्ष हो चुके हैं । बहुत समयसे मेरी आत्माकी गहराईसे आवाज आ रही थी और मेरे दिलमें सदा शूल-सी चुभती रहती थी । आज उस पाकेटमें निकले हुए बीस रुपयोंके साथ दस रुपये और मिलाकर कुल तीस रुपये आपकी सेवामें भेजकर मैं आपके ऋणसे मुक्त होता हूँ (आपका पता मुझे पाकेटमें रखे एक कागजपर लिखा मिला था) ।'

अन्तरात्मासे सदा ही आवाज तो आया करती है, फिर चाहे मनुष्य उसे सुने या न सुने। (—अखण्ड आनन्द)

जे० जे० राजाणी

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ३३

संवत् २०१५–२०१६ वि०

सन् १९५९ ई०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] ※ [प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे)
विदेशोंके लिये १०.०० [१५ शिलिंग]
} प्रतिसंख्या ·४५ (पैंतालीस नये पैसे)

'कल्याण'के तैंतीसवें वर्षकी विषय-सूची

कहानी

कुछ चित्रविषयक तथा घटना-सम्बन्धी और भावात्मक लेख-कविता

पद्य-सूची

संकलित पद्य-सूची

विशेषरूपसे लिखित और कुछ संकलित गद्य

चित्र

रंगीन चित्र

रेखा-चित्र

श्रीगीता-जयन्ती

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

'जो पुरुष सर्वत्र सबके सुख-दुःखको अपने सुख-दुःखके समान देखता है, वही, अर्जुन! मेरे मतसे श्रेष्ठ योगी है।'

आजके इस अत्यन्त संकीर्ण स्वार्थपूर्ण जगत्‌में दूसरेके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझनेकी शिक्षा देनेके साथ कर्तव्य-कर्मपर आरूढ़ करानेवाला और कहीं भी आसक्ति-ममता न रखकर केवल भगवत्सेवाके लिये ही यज्ञमय जीवन-यापन करनेकी सत्‌शिक्षा देनेवाला सार्वभौम ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता ही है। इसका विश्वमें जितना ही वास्तविक रूपमें अधिक प्रचार होगा, उतना ही वह सच्चे सुख-शान्तिकी ओर आगे बढ़ सकेगा।

इस वर्ष मार्गशीर्ष शुक्ला ११ बृहस्पतिवार दिनाङ्क १० दिसम्बर १९५९ ई० को श्रीगीताजयन्तीका महापर्व-दिवस है। इस पर्वपर जनतामें गीताप्रचारके साथ ही श्रीगीताके अध्ययन—गीताकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेकी स्थायी योजना बननी चाहिये। आजके किंकर्तव्यविमूढ़ मोहग्रस्त मानवके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है। इस पर्वके उपलक्ष्यमें श्रीगीतामाता तथा गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णका शुभाशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य और यथासम्भव देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य करने चाहिये—

(१) गीता-ग्रन्थका पूजन।

(२) गीताके महान् वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासका पूजन।

(३) गीताका यथासाध्य व्यक्तिगत और सामूहिक पारायण।

(४) गीतातत्त्वको समझने-समझानेके लिये, गीता-प्रचारके लिये, समस्त विश्वको दिव्य ज्ञानचक्षु देकर सबको निष्काम भावसे कर्तव्यपरायण बनानेकी महान् शिक्षाके परम-पुण्य दिवसका स्मृति-महोत्सव मनानेके लिये सभाएँ, प्रवचन, व्याख्यान आदिका आयोजन, भगवन्नाम-संकीर्तन आदि।

(५) महाविद्यालयों और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीतापरीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण।

(६) प्रत्येक मन्दिर, देवस्थान, धर्मस्थानमें गीताकथा तथा अपने-अपने इष्ट भगवान्‌का विशेषरूपसे पूजन।

(७) जहाँ किसी प्रकारकी अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीताजीकी शोभायात्रा।

(८) सम्मान्य लेखक और कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और सुन्दर कविताओंके द्वारा गीता-प्रचार करें।

सम्पादक—'कल्याण'

दिनाङ्क १ नवम्बर १९५९ से गीताप्रेसकी पुस्तकोंके दामोंका नये पैसोंमें परिवर्तन

पुस्तक-विक्रेताओं और ग्राहकोंकी सेवामें निवेदन है कि गीताप्रेसकी पुस्तकोंपर पुराने सिक्कोंमें छपे हुए दामोंको अबसे नये पैसोंमें इस प्रकार परिवर्तित कर दिया गया है—

पुराने आधे पैसेका नया एक पैसा, पुराने एकका नया दो, दोका तीन, तीनका पाँच, एक आनेका नये छः पैसे, सवा आनेका आठ, डेढ़ आनेका दस, दो आनेका बारह, ढाई आनेका सोलह, तीन आनेका बीस, साढ़े तीन आनेका बाईस, चार आनेका पच्चीस, पाँच आनेका इकतीस, छः आनेका सैंतीस, सात आनेका पैंतालीस, आठ आनेका पचास, नौ आनेका छप्पन, दस आनेका बासठ, ग्यारह आनेका सत्तर, बारह आनेका पचहत्तर, तेरह आनेका इक्यासी, चौदह आनेका सतासी और पंद्रह आनेका पंचानवे नया पैसा किया गया है।

गीता-दैनन्दिनी सन् १९६०

इसकी एक लाख प्रतियाँ छापी गयी थीं। जिनमेंसे यहाँ केवल दस हजारके लगभग बची हैं। माँग अधिक आ रही है परंतु विशेषाङ्ककी छपाईके कारण अभी दूसरे संस्करणका कोई विचार नहीं है।

ग्राहकोंसे निवेदन है कि यहाँ आर्डर भेजनेसे पहले हमारी निजी दूकानों एवं स्थानीय विक्रेताओंके पास जो दैनन्दिनियाँ बची हों, उन्हें ही प्राप्त करनेकी चेष्टा करेंगे। इससे आप भारी डाक-व्ययसे बच सकेंगे एवं और भी सुविधा होगी।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

भगवान्‌की चार विभूति—भृगु, ॐ, जप, हिमालय

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम् ।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर कार्तिक २०१६, अक्टूबर १९५९ { संख्या १० पूर्ण संख्या ३९५

भगवान्‌की चार विभूति—भृगु, ॐ, जप, हिमालय

हूँ महर्षियोंमें भृगु मैं ही
वाणीमें हूँ मैं ओंकार ।
यज्ञोंमें जप-यज्ञ, स्थावरों-
में हूँ मैं हिमवान सुठार ॥
(गीता १० । २५)

याद रक्खो—भगवत्कृपा अनन्त और अपार है। वह सभी प्राणियोंपर सभी परिस्थितियोंमें, सभी समय बरसती रहती है। जो उसपर विश्वास करता है, वह उस सर्वथा समभावसे सबको प्राप्त होनेवाली कृपाका अनुभव कर सकता है। जिसका मन अविश्वासके तथा संदेहके अन्धकारसे ढका है, उसे उस परम रहस्यमयी अहैतुकी कृपाके दर्शन नहीं होते।

याद रक्खो—उस कृपाके असंख्य रूप हैं और वह आवश्यकतानुसार विभिन्न रूपोंमें प्रकट होती रहती है। भगवान्‌के अनुग्रहपूर्ण मङ्गलमय विधानमें मनुष्य जब संदेह करता है, उसके विरुद्ध निश्चय तथा आचरण करता है, तब भगवत्कृपा भयानक रूपमें प्रकट होकर विपत्ति और वेदनाके द्वारा उसके हृदयकी विशुद्धि करती है और जब मनुष्य विश्वासपूर्ण हृदयसे प्रत्येक परिस्थितिमें उसके अनुकूल आचरण करता है, तब वह कृपा बड़े सौम्यरूपमें आत्मप्रकाश करती है।

याद रक्खो—भगवत्कृपा किसी भी रूपमें प्रकट हो, वह सदा मङ्गलमयी है और मङ्गल ही करती है। दवा मीठी भी दी जाती है; कड़वी भी; कहीं-कहीं अङ्ग काटकर भी चिकित्सक अंदरके मवादको निकालता है। पर इन सबमें उद्देश्य एक ही होता है—रोग-नाश। रोगके अनुसार ही दवाका प्रयोग या ऑपरेशनकी क्रिया की जाती है। इसी प्रकार भगवत्कृपाके भी विविध रूप होते हैं—हमारे परम मङ्गलके लिये ही।

याद रक्खो—बाहरी वस्तुओं तथा परिस्थितियोंसे कृपाका पता नहीं लगता। अनुकूल वस्तु या परिस्थिति-में कृपा समझना और प्रतिकूलमें कृपाका अभाव मानना सर्वथा भ्रम है। कृपामय भगवान्‌का प्रत्येक विधान कल्याणमय है, 'वे जो कुछ भी करते हैं, सर्वथा निर्भ्रान्त रूपसे हमारे परम कल्याणके लिये ही करते हैं।' जैसे सुख-सौभाग्यमें अत्यन्त अनुकूल दिखायी देनेवाले पदार्थ और परिस्थितिकी प्राप्तिमें उनकी कृपा रहती है, ठीक वैसी ही दुःख, दुर्भाग्य, अत्यन्त प्रतिकूल दीखनेवाले पदार्थ और परिस्थितिकी प्राप्तिमें रहती है।

याद रक्खो—जब तुम विश्वासकी दृष्टि प्राप्त कर लोगे, तब तुम्हें यह प्रत्यक्ष दिखलायी देगा कि तुम्हें प्राप्त होनेवाले प्रत्येक पदार्थ और परिस्थितिमें भगवत्कृपा-का मङ्गलमय कार्य हो रहा है। फिर तुम्हें चोटका दुःख जरा भी न होगा; वरं चोट करनेवाले परम प्रेमास्पद परम कल्याणमय नित्य सहज-सुहृद प्रभुके मङ्गलमय कोमल आनन्दमय कर-स्पर्शका आनन्द प्राप्त होगा।

याद रक्खो—भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वथा निर्भ्रान्त, सर्वलोकमहेश्वर हैं; वे सब कुछ जानते, सब कुछ कर सकते हैं एवं सबके स्वामी हैं। उनसे कभी भूल नहीं होती। ऐसे भगवान् सतत सावधानीके साथ सहजरूपमें तुमपर कृपा-वर्षा करते रहते हैं। तुम विश्वास करो, अपनेको उनके चरणोंपर बिना किसी शर्तके डाल दो, उनके प्रत्येक विधानकी मङ्गलमयतामें विश्वास करके उसका हृदयसे स्वागत करो; अपनेको सम्पूर्ण समर्पण कर दो। उनके कृपामय विधानको बदलाना मत चाहो। फिर देखोगे—उनकी कृपा सीधी तुम्हारे जीवनपर बरसेगी तथा तुम्हारे वर्तमान और भविष्यको परम उज्ज्वल तथा परम आनन्दमय बना देगी।

याद रक्खो—तुम जो कुछ प्राप्त करना चाहते हो, जब वह नहीं होता और जब उसमें अचानक ऐसी बाधा आ जाती है जो तुम्हारे मनोरथको नष्ट कर देती है, तब वहाँ तुम भगवान्‌की कृपाके दर्शन करो। भगवत्कृपा ही बाधा बनकर आयी है और तुम्हें भारी दुःखसे बचानेके लिये, जिसकी तुम्हें कल्पना नहीं है और वह भलीभाँति जानती है; तुम्हारे इस कार्यको असफल कर देती है।

याद रक्खो—तुम भगवत्कृपासे अपने मनका काम करवाना चाहते हो, यही तुम्हारी बड़ी भूल है। यही तुम सीधी तुमपर उतरनेवाली कृपाकी धारामें बाधा देते हो। भगवत्कृपासे कह दो—मुक्तकण्ठसे विश्वासकी मौन वाणीमें स्पष्ट कह दो कि 'तुम जो ठीक समझो, जब ठीक समझो, जैसे ठीक समझो, वही, उस समय, वैसे ही करो।' अपनेको बिना किसी शर्तके, बिना कुछ बचाये—भगवत्कृपाके समर्पण कर दो। फिर भगवत्कृपा निर्बाध-रूपसे अपना मङ्गलमय दर्शन देकर तुम्हें कृतार्थ कर देगी।

'शिव'

ज्ञानीके जीवनकी नीति

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

स्वस्मिन् सम्यक् परिज्ञाते किं ज्ञेयमवशिष्यते।
किं हेयं किमुपादेयं किं कार्यं चात्मदर्शिनः॥

अपने स्वरूपका सम्यक् ज्ञान होनेके बाद ज्ञानीको जाननेके लिये क्या बाकी रह जाता है? ऐसे ज्ञानीमें हेय या उपादेय बुद्धि कहाँसे होगी? और आत्मज्ञानीके लिये क्या कर्तव्य शेष रहेगा? तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान होनेके बाद ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य नहीं रह जाता।

यहाँ जो कहा गया है कि 'आत्मज्ञान होनेके बाद ज्ञानीको कोई कर्तव्य नहीं रह जाता'—यह बात सोलहो आने सत्य है; क्योंकि कर्तव्य-बुद्धिका त्याग किये विना मुक्ति होती ही नहीं। कारण यह है कि जीवनके अन्तिम क्षणतक कर्तव्य-पालन हो ही नहीं सकता।

तथापि इसका अर्थ यह नहीं करना चाहिये कि ज्ञानका निश्चय होनेके बाद ज्ञानी मनमाना कर्म कर सकता है, मनमाना आहार कर सकता है और इच्छानुसार संग कर सकता है। ऐसा करनेसे तो 'आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः।' योगमें आरूढ हुए पुरुषका भी पतन होता है। और इसीलिये—

'निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनाम्।'

—ऐसा कहा जाता है।

ज्ञानीका जीवन स्वभावतः ही त्यागप्रधान होता है; क्योंकि उसकी तो भोगोंके प्रति सहज अरुचि होती है। ऐसा हुए विना ज्ञानका उदय ही नहीं होता। श्रीअष्टावक्र मुनि कहते हैं—

न जातु विषयाः केचित् स्वारामं हर्षयन्त्यमी।
शल्लकीपल्लवप्रीतमिवेभं निम्बपल्लवाः॥

इस संसारका कोई भी विषय ज्ञानीको सुखकर नहीं दीखता और इस कारण उसकी प्राप्ति-अप्राप्तिसे उसे हर्ष-विषाद नहीं होता। मीठे गन्नेको खाकर तृप्त हुआ हाथी जैसे कड़वे नीमकी पत्तियोंकी ओर भी नहीं देखता, उसी प्रकार ज्ञानी विषयोंके सामने कभी भी नहीं ताकता। अन्यत्र भी कहा है—

लब्धत्रैलोक्यराज्यो ना भिक्षामाकाङ्क्षते यथा।
तथा लब्धपरानन्दः क्षुद्रानन्दं न काङ्क्षति॥

भाव यह है कि त्रिलोकीका राज्य मिलनेके बाद जैसे पुरुष भिक्षा माँगनेकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार निरतिशय आत्मानन्दका अनुभव करनेवाला क्षणिक आनन्दकी इच्छा नहीं करता।

परमानन्दका अनुभव होनेके बाद लवानन्द अपने-आप छूट जाता है। एक संतने कहा है—

तिन खान-पान नहिं भावे है। नहिं कोमल बसन सुहावे है॥
तिन विषयभोग सब खारा है। हरि आशिकका मग न्यारा है॥

इसी भावको श्रीविद्यारण्य मुनिने इस प्रकार व्यक्त किया है—

प्रारब्धकर्मप्राबल्याद् भोगेष्विच्छा भवेद्यदि।
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुङ्क्ते विष्टिगृहीतवत्॥
(तृप्तिदीप १४३)

प्रारब्ध-कर्मकी प्रबलतासे ज्ञानीको यदि भोगविषयक इच्छा हो तो भी वह बेगारीमें पकड़े गये पुरुषके समान मनमें क्लेशका अनुभव करते हुए ही भोगोंको भोगता है। बेगारीमें पकड़े गये पुरुषको जैसे उस काममें कोई रस नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानीके जीवन धारण करनेमें भी कोई रस नहीं रहता; क्योंकि उसका उसे कोई प्रयोजन ही नहीं है।

इसलिये ज्ञानीको ऐसी सुन्दर दिनचर्या बनानी चाहिये कि जिससे अन्तःकरणमें सत्त्वगुणका प्रकाश बना रहे और ज्ञान-निष्ठा भी शिथिल न हो। उसमें गीता अ० १७। १४—१६ के अनुसार कायिक, वाचिक तथा मानसिक तप सहज भावसे हुआ करे और गीता अ० १८। २३ तथा ४२ के अनुसार ऐसे कर्म भी होते रहें, जिनसे सत्त्वगुणकी रक्षा हो। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'—इसके लिये गीता अ० १७। ८ के अनुसार सात्त्विक आहारकी व्यवस्था रक्खी जा सकती है तथा अ० १७। ९-१० के अनुसार राजसी और तामसी आहारका त्याग आवश्यक हो जाता है।

ज्ञानीका अन्तःकरण सत्त्व कहलाता है, यह बात हमलोग जानते हैं। तथापि इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसे अन्तःकरणमें तीनो गुणोंकी उपस्थिति ही न हो। राजसी-तामसी कर्म होते रहेंगे, राजसी-तामसी आहार किया जायगा और राजसी-तामसी सङ्ग भी यथेच्छ होता रहेगा तो रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धि हुए बिना रहेगी ही नहीं और वह यदि विशेष जोर पकड़ लेगी तो सत्त्वगुणको दबा भी सकती है। फलतः गीता अ० १८। ३१-३२ के अनुसार धर्माधर्म और कार्याकार्य-विवेकबुद्धिके क्षीण होनेपर अधर्म ही धर्म दीखने लगेगा और पाप ही पुण्यरूप दिखायी देगा। इससे बढ़कर पतन और क्या हो सकता है?

यही बात वासनाओंकी है। वे पूर्णतया नष्ट नहीं होती हैं। परंतु 'तनु' अर्थात् क्षीण हो जाती हैं। भोगप्रधान विलासी जीवनके द्वारा भोगवासनाओंको उत्तेजन मिलता रहे, तो भी वे प्रबल नहीं होंगी, ऐसा मानना बुद्धिमानी नहीं है और न इसमें कल्याण ही है।

ज्ञानीको तो गीता अ० १३। १७-१८ के अनुसार आत्मतृप्तिमें ही रहना चाहिये तथा कर्म करने या न करनेमें उदासीन रहना चाहिये। ऐसे ज्ञानीको जीवन-निर्वाहमात्रके लिये भी किये जानेवाले कर्मोंमें भी असुविधा ही प्रतीत होगी। परंतु जहाँ कर्म किये बिना छुटकारा ही नहीं, वहाँ वह कर्म करेगा, पर उनमें आसक्त नहीं होगा।

'चंचरीक जिमि चंपक बागा।'

चम्पाके वनमें जैसे भ्रमर किसी फूलपर बैठकर उसका रस नहीं लेता, केवल मँडराता रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी संसारमें रहता है।

इस प्रकारकी जिसके जीवनकी नीति हो ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष (आत्मज्ञानी) शरीरपातके अनन्तर कैवल्यको ही पाता है। अन्यथा क्या होगा सो भगवान् जानें।

श्रीवसिष्ठ ऋषि कहते हैं—

सम्प्राप्य कस्त्यजति नाम तदात्मतत्त्वं
प्राप्यानुभूय च जहाति रसायनं कः।
शाम्यन्ति येन सकलानि निरन्तराणि
दुःखानि जन्ममृतिमोहमयानि राम॥
(नि० उ० ८५। २८)

जिस आत्मज्ञानके द्वारा जन्म-मृत्यु तथा मोहरूप सारे दुःख सदाके लिये सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त करनेके बाद कौन उसका त्याग करेगा? (और विषयभोगमें रमेगा?) रसायन हाथ लग जाय और उसके सेवनसे लाभ भी दिखायी दे, फिर उसे कौन छोड़ेगा (और कौन कुपथ्यमें पैर रक्खेगा)?

देहं लब्ध्वा विवेकाढ्यं द्विजत्वं च विशेषतः।
तत्रापि भारते वर्षे कर्मभूमौ सुदुर्लभम्॥
को विद्वानात्मसात् कृत्वा देहं भोगानुगो भवेत्॥
(अ० रा०)

सदसद्विवेकसे ही जिसकी महत्ता है, ऐसा (मानव-) शरीर ईश्वरकी कृपासे ही प्राप्त होता है। उसमें भी

द्विजत्वकी प्राप्ति और दुर्लभ है, उसमें फिर कर्मभूमि भारतवर्षमें मानव-शरीर पाना तो अत्यन्त ही दुर्लभ है। ऐसा देवदुर्लभ देह मिलनेपर भी ऐसा कौन मूढ़ होगा, जो देहको ही आत्मा—अपना स्वरूप मानकर विषयभोगमें जीवन बितायेगा ? कोई भी समझदार मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता।

[समस्त भूमण्डलमें केवल भारतवर्ष ही कर्मभूमि है। जगत्का शेष भाग तो भोगभूमि है, क्योंकि वहाँके मनुष्य परलोक, पुनर्जन्म या मोक्षको समझते नहीं।]
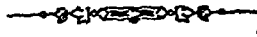
ब्रह्म-संस्पर्शेच्छा

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा*)

निर्विशेष चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मके संस्पर्शकी कामना अद्भुत है। वे समस्त देहधारियोंकी अन्तरात्मा हैं[1]। वे अशेष प्राणियोंके परम सखा, उनकी अपनी ही परम प्रिय अन्तरात्मा और नित्य सहचर हैं[2]। लोकायतवादी, चार्वाकमतवादी नास्तिक देहात्मवादी हैं। वे देहको ही आत्मा मानते हैं। समस्त देहधारियोंकी आत्मा होनेके कारण वे उन नास्तिकोंकी आत्माकी भी आत्मा हैं। अतः उनकी ओर समस्त प्राणियोंकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है। उनकी ओर अप्रवृत्ति—उनकी उपेक्षा—विस्मृति ही सर्वोपरि विपत्ति है—

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

'विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः।'

उन अखिलात्मा, सुखसुधासिन्धु, आनन्दराशिके सांनिध्य, सर्वात्मना स्मरण-दर्शन-संस्पर्शके बिना सुख-शान्ति कहाँ ? इसीलिये श्रीरामचन्द्रजीके वन चलनेपर अयोध्यावासी अपना देवदुर्लभ घर, स्त्री, पुत्र, सुख—सब छोड़कर उनके पीछे दौड़ चले—

सहि न सके रघुबर बिरहागी।
चले लोग सब ब्याकुल भागी॥
सबहिं बिचार कीन्ह मन माहीं।
राम लखन सिय बिनु सुखु नाहीं॥
जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू।
बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥
चले साथ अस मंत्रु दृढ़ाई।
सुर दुर्लभ सुख सदन बिहाई॥
लागत अवध भयावनि भारी।
मानहुँ कालराति अँधिआरी॥
घोर जंतु सम पुर नर नारी।
डरपहिं एकहि एक निहारी॥
घर मसान परिजन जनु भूता।
सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं।
सरित सरोवर देखि न जाहीं॥
(रामचरित० अयोध्या० दो० ८२)

सुमन्त श्रीरामको जब गङ्गा पारकर वापस आते हैं, तब श्रीरामके वियोगमें अपनी आँखों देखा राज्यवृत्त राजाके सामने निवेदन करते हुए कहते हैं कि महाराज! आपके राज्यमें भारी विपत्ति पड़ गयी है। श्रीरामभद्रके वियोगसे सब वृक्ष पुष्प, कलियों तथा अङ्कुरके सहित

---

* पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराजके एक प्रवचनके आधारपर।

१. अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्। (श्रीमद्भा० १० । ३१ । ४)

२. (क) स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनाम्। (श्रीमद्भा० ७ । ८ । ३८)

(ख) तैं निज बिपति जाल जहँ घेरो।
श्रीहरि संग तज्यौ नहिं तेरो। (बिनय-पत्रिका)

सूख गये हैं। नदियोंका जल तापसे खौल रहा है। झील, सरोवर सभीकी यही दशा हो रही है। वन-उपवन-उद्यानोंके पत्ते सूख रहे हैं—

विषये ते महाराज महाव्यसनकर्शिताः।
अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः॥
उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च।
परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च॥
(वाल्मीकि० रामायण अयोध्या० ५९। ४-५)

कहते हैं कि रामके वनवासके समय किसी दरिद्रको विपुल धनराशि मिली; किसी वन्ध्याको पुत्रोत्पत्तिका स्वर्णावसर मिला, पर रामके वियोगमें उन्हें तनिक भी हर्ष नहीं हुआ। किसी चिरपतिवियोगिनीका पति विदेशसे वापस आया, पर उसे तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई[1]। श्रीरामके घोड़ोंको सुमन्त्र बड़ी कठिनतासे वापस ले आये थे। भरत रामकी अपेक्षा उनकी परिचर्याका सौगुना ध्यान रखते थे, किंतु वे प्रतिदिन दुबले ही होते जाते थे—

राघौ ! एक बार फिरि आवौ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने, बहुरो बनहि सिधावौ॥
भरत सौगुनी सार करत हैं, अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहिं दिन होत झाँवरे मनहु कमल हिम-मारे॥
सुनहु पथिक ! जो राम मिलहिं बन, कहियो मातु-सँदेसो।
तुलसी मोहि और सबहिन तें इन्ह को बड़ो अँदेसो॥
(गीतावली अयोध्या० ८७)

अधिक क्या तीक्ष्ण विषवाले तामसी, क्रूर जीव—बिच्छू, सर्प आदि भी रामके वियोगमें दुखी हो जाते हैं, उन्हें देखकर अपना तीक्ष्ण विष छोड़ देते हैं—

न च सर्पन्ति सत्त्वानि व्याला न प्रसरन्ति च।
रामशोकाभिभूतं तं निष्कूजमभवद् वनम्॥
(वाल्मीकि० २। ५९। ६)

जिनहि निरखि मग साँपिनि बीछी।
तजहिं बिषम बिष तामस तीछी॥

अत्यन्त क्रूरस्वभावके मांस-शोणितप्रिय पिशिताशी खर-त्रिशिरा आदि राक्षस भी रामको देखकर अत्यन्त प्रभावित हो जाते हैं और वे भी कह उठते हैं कि यद्यपि इन्होंने हमारी बहन शूर्पणखाके नाक-कान काट डाले हैं, तथापि ये वधके योग्य नहीं हैं। ये तो अनुपम पुरुष हैं। हमने सभी सुन्दर-से-सुन्दर देव, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, विद्याधर, असुर, मुनियोंको देखा है, कइयोंका वध भी किया है; पर भाई! आजतक ऐसी सुन्दरता कहीं नहीं देखी—

जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा।
बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥
नाग असुर सुर नर मुनि जेते।
देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई।
देखी नहिं असि सुंदरताई॥

रावणके सम्बन्धमें भी कहा जाता है, (दक्षिण भारतमें यह कथा बहुत प्रसिद्ध है) कि रामेश्वर-स्थापनके समय वह कर्मकाण्ड करानेके लिये समुद्र-तटपर आया। जब रामेश्वर-की प्रतिष्ठा हो चुकी, तब श्रीरामने उसे दक्षिणा माँगनेके लिये कहा। रावणने कहा—'तुम मुझे दे ही क्या सकते हो ? तुम्हें केवल एक सिर दो भुजाएँ हैं, हमारे बीस बाहु दस सिर। तुम्हारा तो इस समय तुच्छ भूखण्ड अवध-प्रान्तवर्ती देशपर भी अधिकार नहीं है, मेरा स्वर्ग, पाताल, भूतल सबपर अधिकार है। तुम पिता-पितामह, पत्नी-पुत्र आदि सबसे शून्य हो, मेरे अभी भी पिता, पितामह, प्रपितामह तथा असंख्य पत्नी-पुत्रादि वर्तमान हैं। तुम तो सर्वथा विपन्न और मैं सम्पन्न हूँ।' इसपर भगवान् रामने कहा कि ऐसा होनेपर भी यज्ञाङ्गपूर्तिके लिये आपको कुछ लेना आवश्यक है। रावणने कहा कि 'ऐसी ही बात है तो बस यही दे दो कि हमारा तुममें कहीं प्रेम न हो जाय; क्योंकि तुम्हें देखनेपर मेरे मनमें खलबली मच जाती है। भय होता है कि कहीं तुमसे स्नेह न हो जाय। बस! यही बहुत होगा। और कुछ मत दो।' यही भगवान्का सब कुत्सित प्राणि-पदार्थोंमें मोद उत्पन्न करना—कुमुदवृत्ता है।

---

[1] नरं दृष्ट्वा नाभ्यनन्दत विपुलं वा धनागमम्। पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत॥
गृहे गृहे रुदत्यश्च भर्तारं गृहमागतम्॥ (वाल्मीकि० २। ४८। ५-६)

गर्गसंहिता, कृष्णोपनिषद्, आनन्दरामायण आदिमें यह कथा आती है कि सच्चिदानन्दरूप, सर्वाङ्ग-सुन्दर, [illegible], भुवनमोहन भगवान् श्रीरामचन्द्रको देखकर तृण-मूल-फलाशी वनवासी मुनिगण भी अत्यन्त आकृष्ट हुए और कहने लगे कि हम आपका परिष्वङ्ग—आलिङ्गन करना चाहते हैं—

श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः। तं होचुर्नोऽवद्यमवतारान्वै गण्यन्ते आलिङ्गयामो भवन्तमिति। (कृष्णोपनिषद् १ । १)

सर्वत्यागी योगी मुनियोंकी यह इच्छा! फिर कैसे कहा जाय कि उनमें आकर्षण नहीं है? अनात्म-सम्बन्धोंसे निर्लिप्त विशुद्धबुद्धि भरत भी कहते हैं कि 'मैं! प्रचण्ड ज्वालामालाकुलित अग्निका दाह भी मैं सह सकता हूँ और वज्रके तुल्य तलवारकी धार तथा बाणोंकी चोट भी मैं मजेमें बर्दाश्त कर सकता हूँ—लीलापूर्वक ही सहन कर सकता हूँ, किंतु श्रीरामके पदद्वन्द्वका वियोग एक क्षण भी मुझसे सहा नहीं जाता—

हा हन्त भावरहह! ज्वलितानलो मां
कामं दहत्वशनिशैलकृपाणबाणाः।
भञ्जन्तु तान् विषहते भरतः सलीलं
श्रीरामचन्द्रपदयोस्तु न विप्रयोगम्॥
(महानाटक० ३ । ३९)

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णका भी आकर्षण प्रसिद्ध है। व्रजाङ्गनाओंको जो अनन्त रात्रियाँ श्रीकृष्णके सांनिध्यसे आधे क्षण-जैसी बीतीं; पुनः वे ही कुछ रात्रियाँ उनके वियोगमें कल्पके समान व्यतीत ही नहीं होती थीं—

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां
हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥
(श्रीमद्भा० ११ । १२ । ११)

वनवासिनी किरातिनियोंको कहीं रासेश्वरी नित्य-निकुञ्जेश्वरी श्रीराधारानीके श्रीअङ्गमण्डित केसरको, जो आनन्दकन्द नन्दनन्दन मदनमोहनके पदकमलसे छूकर श्रीवृन्दावनके कोमल दूर्वाओंपर आ गया था, देखकर स्मररोग हो गया। उन्होंने उसे उठाकर अपने मुँहपर, वक्षःस्थलपर लेप कर लिया, इससे उनके स्मररोग-की शान्ति हो गयी। यहाँ स्मरका अर्थ भावरोग काम नहीं—अद्भुत श्रीकृष्णप्रेम है। किरातिनियोंके मनमें श्रीकृष्णके मिलनकी तीव्र इच्छा उत्पन्न हो गयी। व्रजकी हिरनियाँ भी उनके वेणुरवको सुनकर हिरनोंके साथ प्रणयावलोकनसे उनकी पूजा करती हैं। गौएँ भी उनके वेणुगीत-पीयूषका उत्तम्भित कर्णपुटोंसे पान करती हैं। बछड़े दूध पीना भूल जाते हैं। नदियोंका वेग मन्द हो जाता है। तरु, लताएँ, गुल्म भी श्रीकृष्णप्रणयके लिये झुक जाते हैं; पुलकित होते हैं। स्थावरोंमें गतिमत्ता तथा चेतनोंमें जडता आ जाती है—

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम्।
(श्रीमद्भा० १० । २१ । १९)

श्रीरूपगोस्वामी इसीलिये विवश होकर कहते हैं कि पद्मनाभ भगवान्के एक-से-एक अवतार हैं और वे सभी परम मङ्गलकर हैं, किंतु लताओंमें प्रेम उत्पन्न कर देना तो श्रीकृष्णका ही कार्य है—

सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतो भद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति॥
(लघुभागवतामृत ५ । ३२)

व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं कि यहाँका तृण, लता, गुल्म, तरु होना भी बड़ा सौभाग्यकर है, जिन्हें नन्दनन्दनके श्रीअङ्गका संस्पर्श सुलभ है, अधिक क्या हम व्रज-भूमिकी रज होतीं तो भी श्रेष्ठ ही था, जो उड़-उड़कर भगवान्के श्रीअङ्गोंपर गिरतीं; किंतु सखियो! इस व्रजाङ्गना-जन्मसे तो कृष्ण-संस्पर्श क्या कृष्ण-दर्शन भी दुर्लभ हो गया। कवि कर्णपूर गोस्वामीविरचित 'आनन्दवृन्दावनचम्पू'में इसका बड़ा ही विस्तार है। गोपाङ्गनाएँ व्रजके तमाल, तुलसी, मालती, मल्लिका,

यूथिका, कोविदार, पनस, बिल्व आदिसे पूछती चलती हैं कि क्या प्रियतमने तुम्हें अपना सुहृद् मानकर आलिङ्गन किया है ? जब उनसे कोई उत्तर नहीं मिलता, तब वे कहती हैं कि प्राणवल्लभ श्रीकृष्णके आलिङ्गनसे इनकी सब वेदना मिट गयी है, अब इन्हें दूसरेकी वेदनाओंका क्या पता ?—

'तदीयालिङ्गनेनापहृतवेदनो वेदनायं निवेदितम्।'

इसी प्रकार वे पशुओं, पक्षियों तथा मृगोंसे भी पूछती चलती हैं। मानो यह उपदेश करती हों कि प्रियतमको प्राप्त करनेके लिये अहंकारका परित्याग कर सबसे पूछना चाहिये। प्रभुके श्रीअङ्गस्पर्शसे, चरणरजके स्पर्शसे अचर, चर सभी जीव कृतार्थ हो जाते हैं—

परसि चरन चर अचर सुखारी।
भए परम गति के अधिकारी॥
परसि रामपद पदुम परागा।
मानत भूमि भूरि निज भागा॥

अतः मायिक, नश्वर, विश्व-प्रपञ्चसे अलग होकर प्रपञ्चातीत, सर्वानर्थनिवर्तक, परमहितकारी, परमानन्दमय, परमतत्त्व प्रभुका सदा चिन्तन करना चाहिये। इससे बढ़कर और सुख कहीं नहीं है। सुखके भी सुख वे ही हैं—

प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।

सीखो

(रचयिता—श्रीकृष्णमुरारीजी दुबे)

सुमनोंसे सीखो प्रिय साथी !
सबके सु-मन रिझाना।
और कंटकोंमें भी रहकर,
मन्द-मन्द मुसकाना॥ १॥

× × ×

कोकिलसे सीखो तुम सबको
मीठे बोल सुनाना।
झरनोंसे सीखो पथरीले
पथपर बढ़ते जाना॥ २॥

× × ×

सागरसे सीखो गहराई
और हिमगिरिसे दृढ़ता।
क्षमादान सीखो धरतीसे,
गंगासे पावनता॥ ३॥

× × ×

चींटीसे भी सीखो साथी !
प्रतिपल अति श्रम करना।
स्नेहपूर्ण दीपकसे सीखो,
घर-घरका तम हरना॥ ४॥

× × ×

लेकर अच्छी सीख दिखाओ,
तुम अपनी मानवता।
पाप-पुञ्ज-तम दूर करो तुम,
दूर करो दानवता॥ ५॥

समताका स्वरूप और महिमा

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

परमात्माकी प्राप्तिके कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि साधनोंकी सिद्धिमें समता ही मुख्य है। समता ही उच्चतम जीवनकी कसौटी है और समता ही उत्तम-से-उत्तम गुण (भाव) है एवं परमात्माका स्वरूप भी सम है (गीता ५ । १९)।

राग-द्वेषका सर्वथा अभाव या समता एक ही वस्तु है। अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और सिद्धान्तके अनुकूल क्रिया, पदार्थ, प्राणी, भाव और परिस्थितिकी प्राप्तिमें राग (आसक्ति) होकर उससे काम, लोभ, हर्ष आदि होते हैं एवं अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और सिद्धान्तके प्रतिकूल क्रिया, पदार्थ, प्राणी, भाव और परिस्थितिकी प्राप्तिमें द्वेष होकर उससे वैर, उद्वेग, ईर्ष्या, क्रोध, मोह, चिन्ता, भय आदि होते हैं। इनमें राग-द्वेष ही दुर्गुण-दुराचाररूप सारे अनर्थोंके मूल कारण हैं। राग-द्वेषके नाशसे ही उपर्युक्त सारे विकारोंका नाश होता है। राग-द्वेषका मूल कारण है अहंता-ममता और अहंता-ममताका मूल कारण है अज्ञान। इस अज्ञानके नाशसे सारे दोषोंका नाश हो जाता है। इस अज्ञानका नाश होता है ज्ञानसे और उस ज्ञानकी प्राप्ति होती है कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग आदि साधनोंसे एवं सत्पुरुषोंके सङ्गसे।

कर्मयोगसे ज्ञानकी प्राप्ति भगवान्‌ने गीतामें इस प्रकार बतलायी है—

> न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
> तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
> (गीता ४ । ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निस्संदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने आप ही आत्मामें पा लेता है।'

यहाँ जो यह कहा गया कि कुछ समयतक निष्काम-भावसे कर्म करते-करते कर्मयोगकी सिद्धि होनेपर परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान अपने-आप ही हो जाता है, इससे कर्मयोगके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

भगवान्‌ने गीतामें भक्तियोगसे ज्ञानकी प्राप्ति यों बतलायी है—

> तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
> ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
> तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
> नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
> (गीता १० । १०-११)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेम-पूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाश-मय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

इसी प्रकार भगवान्‌ने गीता अ० १८ श्लोक ५० में ज्ञानकी परानिष्ठाका वर्णन करनेका संकेत करके ५१ वेंसे ५३ वें तक ज्ञाननिष्ठाकी प्राप्तिके उपाय बतलाये और फिर ५४वें, ५५ वें श्लोकोंमें उसका फल ज्ञानकी प्राप्ति बतलाया—

> ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
> समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
> भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
> ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
> (गीता १८ । ५४-५५

'फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है, ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी परा भक्ति (तत्त्वज्ञान) को प्राप्त हो जाता है। उस पराभक्ति (तत्त्वज्ञान)के द्वारा वह मुझ परमात्माको मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्ति (तत्त्वज्ञान)से मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

यहाँ उपर्युक्त ज्ञाननिष्ठाके साधनोंका फल ज्ञानकी प्राप्ति बतलाया गया है, अतः इससे ज्ञानयोगके साधनके द्वारा यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिका वर्णन किया गया है।

ऐसे ही, सत्पुरुषोंके सङ्गसे ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
(गीता ४। ३४-३५)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्म-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे, जिसको जानकर तू फिर इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

अतः कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—सभीकी सिद्धिके लिये साधनरूपमें भी समताकी अत्यावश्यकता है। कर्मयोगकी सिद्धिमें राग-द्वेषके अभावरूप समताकी आवश्यकता दिखलाते हुए भगवान् कहते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(गीता २। ६४-६५)

'परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियों-द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

यह राग-द्वेषका अभावरूप समता साधनकालकी ही समता है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(गीता २। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

इस साधनसे कर्मयोगके साधककी ब्रह्ममें एकी-भावसे स्थिति हो जाती है, तब उस पुरुषको 'स्थित-प्रज्ञ' कहते हैं। अतः कर्मयोगके साधकको उचित है कि सभी इन्द्रियोंके विषयोंमें जो राग-द्वेष विद्यमान हैं, उनसे रहित होकर शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करे।

इसी प्रकार भक्तियोगमें भी राग-द्वेषसे रहित होनेकी बात कही गयी है—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥
(गीता ७। २७-२८)

'भरतवंशी अर्जुन ! संसारमें इच्छा और द्वेपसे उत्पन्न सुख-दु:खादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं, परंतु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेपजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढ-निश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं।'

उससे वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं (गीता ७ । २९-३०) ।

ज्ञानयोगकी सिद्धिके लिये भी राग-द्वेपके त्याग-की आवश्यकता बतलायी गयी है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(गीता १८ । ५०—५३)

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का और सात्त्विक भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणाशक्तिके द्वारा अन्त:करण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेपको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममता-रहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है।'

पूर्वोक्त प्रकारसे जो कर्मयोगके साधनद्वारा परमात्मा-को प्राप्त हो जाता है, उस सिद्ध कर्मयोगीमें सम्पूर्ण पदार्थों, भावों, क्रियाओं और प्राणियोंमें साधककी समताकी अपेक्षा विलक्षण स्वाभाविक पूर्ण समता आ जाती है। भगवान्ने कहा है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(गीता ६ । ७—९)

'सर्दी-गरमी और सुख-दु:खादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्त:करणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्द-घन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्त:करण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान है, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है—ऐसे कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

यहाँ शीत, उष्ण, लोष्ट, अश्म, काञ्चन 'पदार्थ' हैं, सुख-दु:ख 'भाव' हैं, मान-अपमान 'परकृत क्रिया' हैं और सुहृद्, मित्र, वैरी आदि 'प्राणी' हैं।

भक्तियोगके द्वारा भगवान्को प्राप्त हुए सिद्ध भक्तमें भी सम्पूर्ण प्राणियों, क्रियाओं, पदार्थों और भावों-में साधककी समताकी अपेक्षा विलक्षण स्वाभाविक पूर्ण समता आ जाती है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥
(गीता १२ । १८-१९)

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गरमी और सुख-दु:खादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है; एवं जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी

शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है, वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ।'

यहाँ शत्रु-मित्र 'प्राणी' हैं, मान-अपमान तथा निन्दा-स्तुति 'परकृत क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ' हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं ।

इसी प्रकार ज्ञानयोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए गुणातीत पुरुषमें भी सम्पूर्ण भावों, पदार्थों, क्रियाओं, परिस्थितियों और प्राणियोंमें साधककी समताकी अपेक्षा विलक्षण स्वाभाविक पूर्ण समता आ जाती है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
(गीता १४ । २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है तथा जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है ।'

यहाँ भी दुःख-सुख 'भाव' हैं; लोष्ट, अश्म, काञ्चन 'पदार्थ' हैं, प्रिय-अप्रिय—ये प्राणी, पदार्थ, क्रिया, भाव और परिस्थिति सभीके वाचक हैं, निन्दा-स्तुति और मान-अपमान 'परकृत क्रिया' हैं एवं मित्र-वैरी 'प्राणी' हैं ।

ये लक्षण गुणातीत पुरुषमें स्वाभाविक होते हैं और ज्ञानमार्गके साधकके लिये ये साधन हैं ।

इस प्रकार कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—सभीके द्वारा परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुषोंमें सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ, क्रिया, भाव और परिस्थितिमें पूर्णतया समता आ जाती है; क्योंकि समताका होना सभी साधनोंसे परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंका एक विशेष लक्षण बतलाया गया है ।

उन समदर्शी सिद्ध पुरुषोंकी समस्त प्राणियोंमें किस प्रकारकी समता होती है, इसका भगवान्ने और भी अधिक स्पष्टीकरण कर दिया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
(गीता ५ । १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं ।'

यहाँ उन पुरुषोंकी प्राणी आदिमें होनेवाली समताके विषयमें गहराईसे विचार करना चाहिये । यहाँ भगवान्ने 'समदर्शिनः' कहा है, 'समवर्तिनः' नहीं । अतः उन महापुरुषोंकी सबमें समान भावसे आत्मीयता होती है । जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने शरीरमें सर्वत्र अपने आत्माको समभावसे देखता है और उसमें सुख-दुःखको भी समान देखता है, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष सारे प्राणियोंमें आत्माको और सुख-दुःखको समान देखते हैं (गीता ६ । २९, ३२) । भाव यह कि जैसे मनुष्य अपने-आपको कभी किसी प्रकार किंचित् भी दुःख नहीं पहुँचाना चाहता और स्वाभाविक ही अपने सुखके लिये चेष्टा करता रहता है, वैसे ही वह महापुरुष सारे संसारको कभी किसी प्रकार किंचित् भी दुःख नहीं पहुँचाना चाहता है और उसके द्वारा सदा सबके सुखके लिये स्वाभाविक ही चेष्टा होती रहती है ।

सारे प्राणियोंके साथ बर्ताव तो समान भावसे हो भी नहीं सकता । सवारी हाथीकी ही की जा सकती है, गायकी नहीं । दूध गायका पीया जाता है, कुतियाका नहीं । मल-मूत्र आदिकी सफाईका कार्य चाण्डालसे

लिया जाता है, ब्राह्मणसे नहीं । देवकर्म और पितृकर्म-का कार्य ब्राह्मणसे ही कराया जा सकता है, चाण्डालसे नहीं । घास गाय और हाथीको ही खिलाया जा सकता है, कुत्तेको नहीं । भाव यह कि जो प्राणी जिस कार्यके योग्य होता है, उससे वही कार्य लिया जाता है । सबके साथ सम व्यवहार सम्भव नहीं है । यथायोग्य ही व्यवहार सबके साथ किया जा सकता है । इसलिये भगवान्‌ने यहाँ समदर्शनकी बात कही है, समवर्तन-की नहीं ।

इसी प्रकार अपने देहके अङ्गोंमें भी सब अङ्गोंके साथ यथायोग्य ही व्यवहार होता है । मस्तकके साथ हमलोगोंका ब्राह्मणके-जैसा व्यवहार है । हम सारे अङ्गों-की अपेक्षा मस्तककी विशेषरूपसे रक्षा करते हैं । कोई हमें मारनेके लिये आता है और हमारे पास कोई हथियार नहीं रहता तो हम मस्तकको बचानेके लिये हाथोंकी आड़ लेते हैं । किसीको विशेष आदर देना होता है तब मस्तक ही झुकाते हैं और साधारण आदर देते हैं तो हाथ जोड़ते हैं । पैर किसीके भी स्पर्श नहीं कराये जा सकते । भूलसे भी किसीके अङ्गका अपने पैरसे स्पर्श हो जाता है तो उससे सिर झुकाकर या हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना करते हैं । यद्यपि सिर, हाथ और पैर हमारे ही अङ्ग हैं, किंतु उनसे व्यवहार यथायोग्य करना ही श्रेष्ठ और उचित माना गया है— वार्तालाप, श्रवण और दर्शन आदि उत्तम क्रियाएँ करनेवाली वाणी, श्रोत्र और नेत्र आदि इन्द्रियाँ मस्तक-में ही हैं । इसलिये मस्तकको ब्राह्मणका रूप दिया गया है । इसी प्रकार हाथोंको क्षत्रियका, जंघाओंको वैश्यका और चरणोंको शूद्रका रूप दिया गया है; क्योंकि परमात्माके मुखसे ब्राह्मण, भुजाओंसे क्षत्रिय, जङ्घाओंसे वैश्य और चरणोंसे शूद्र उत्पन्न हुए हैं । भक्त ध्रुवने स्तुति करते हुए कहा है—

त्वन्मुखाद् ब्राह्मणास्त्वत्तो बाहोः क्षत्रमजायत ।
वैश्यास्तवोरुजाः शूद्रास्तव पद्भ्यां समुद्गताः ॥
(विष्णुपुराण १ । १२ । ६३-६४)

यजुर्वेदमें भी बतलाया गया है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
(३१ । ११)

'उस परमात्माका मुख ब्राह्मण है, भुजाएँ क्षत्रिय हैं तथा उसकी जो जङ्घाएँ हैं, वे वैश्य हैं और चरणोंसे शूद्र उत्पन्न हुआ है ।'

अतः जैसे अपने शरीरके अङ्गोंमें भी भेदका व्यवहार होता है, किंतु व्यवहारमें विषमता रहते हुए भी आत्मीयता समान है और उन अङ्गोंके सुख-दुःखमें भी समान भाव है; इसलिये यह समदर्शन है न कि समवर्तन; इसी प्रकार उस सिद्ध महापुरुषका भी सबके साथ यथायोग्य व्यवहार होनेके कारण व्यवहारकी विषमता रहते हुए भी सबमें आत्मीयता समान होती है, इसलिये उनके सुख-दुःखमें भी समान भाव रहता है । यह है समताका लक्षण और यही सच्चा साम्यवाद है ।

गीताके साम्यवाद और आजकलके कहे जानेवाले साम्यवादमें बड़ा अन्तर है । आजकलका साम्यवाद ईश्वरविरोधी है और यह गीतोक्त साम्यवाद सर्वत्र ईश्वर-का अनुभव कराता है । वह धर्मका नाशक है और यह पद-पदपर धर्मकी पुष्टि करता है । वह हिंसामय है और यह अहिंसाका प्रतिपादक है । वह स्वार्थमूलक है और यह स्वार्थको निकट ही नहीं आने देता । वह खान-पान-स्पर्श आदिमें एकता रखकर भी आन्तरिक भेद-भाव रखता है और यह खान-पान-स्पर्श आदिमें शास्त्रमर्यादानुसार यथायोग्य भेदका व्यवहार रखकर भी आन्तरिक भेद नहीं रखता एवं सबमें परमात्माको सम-भावसे देखनेकी शिक्षा देता है । उसका लक्ष्य केवल धनोपार्जन है और इसका लक्ष्य परम शान्तिस्वरूप

परमात्माकी प्राप्ति है । उसमें अपने दलका अभिमान है और दूसरोंका अनादर है, किंतु इसमें सर्वथा अभिमान-शून्यता और सारे जगत्‌में परमात्माका अनुभव करके सबका सम्मान करना है । उसमें बाहरी व्यवहारकी प्रधानता है और इसमें अन्तःकरणके भावकी प्रधानता है। उसमें भौतिक सुख मुख्य है और इसमें आध्यात्मिक सुख मुख्य है । उसमें परधन और परमतसे असहिष्णुता है और इसमें सबका समान आदर है । उसमें राग-द्वेष है और इसमें राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव है । इस प्रकार आजकलका साम्यवाद मनुष्यकी अवनतिका हेतु है और गीतोक्त साम्यवाद उन्नतिका हेतु है । ऐसा समझकर मनुष्यको गीतोक्त साम्यवादको ही अपनाना चाहिये।

ऊपर बतलायी हुई साधककी समता, सिद्धकी समता और ब्रह्मके स्वरूपकी समता—इन तीनोंमें एक-दूसरेसे बहुत अन्तर है । सिद्धकी समता तो स्वाभाविक होती है, जिसका दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है; किंतु साधककी समतामें कर्तापनका भाव रहता है, इसलिये वह सिद्धकी समताकी अपेक्षा निम्नश्रेणीकी है । जैसे, भगवान्‌ने कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(गीता २ । ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके अर्थात् इनको समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ।'

यहाँ 'समे कृत्वा'—'समान करके' ऐसा कथन होनेसे समत्वके साधनकालमें कर्तापनका भाव सिद्ध होता है, अतः यहाँ साधनकालकी समताका वर्णन है, सिद्धकी स्वाभाविक समताका नहीं । यह दोनों प्रकारकी समता ही हृदयका उत्तम गुण (सात्त्विक भाव) है । और यह बुद्धिके द्वारा समझमें आती है, अतः यह ज्ञेय है और ज्ञेय होनेसे जड है; क्योंकि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयमें ज्ञान और ज्ञेय तो जड हैं तथा ज्ञाता चेतन है—इस न्यायसे जो समता बुद्धिकी वृत्तिके द्वारा समझमें आती है, वह ज्ञेय है । अतः बुद्धिकी वृत्तिरूप ज्ञान और उस बुद्धिके द्वारा ज्ञेय समतारूप सात्त्विक उत्तम गुण (भाव) दोनों ही जड हैं । इसलिये गीता अ० ६ श्लोक २९ और अ० १२ श्लोक ४ में भी कथित साधनकालकी समता बुद्धिके द्वारा ज्ञेय होनेसे जड है । तथा ज्ञाता जिस बुद्धिके द्वारा ज्ञान और ज्ञेयको जानता है, वह बुद्धि भी जड है; किंतु बुद्धि-वृत्तिसे रहित जो केवल आत्माका शुद्ध स्वरूप है, वह चेतन और सम है । ज्ञानयोग (अद्वैतवाद) में आत्मा, परमात्मा और ब्रह्म एक ही तत्त्व है । उस ब्रह्मका स्वरूप भी सम है, किंतु वह समता चेतन है, जड नहीं; क्योंकि वह ज्ञेय—अर्थात् मन-बुद्धिका विषय नहीं है, वह गुणोंसे अतीत है । जो मनुष्य उस सच्चिदानन्दघन शुद्ध ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह ब्रह्म ही बन जाता है; अतः वह उस चिन्मय समताको प्राप्त हो जाता है, किंतु उसके अन्तःकरणकी समता सत्त्व-गुणमयी है । ऐसा होनेपर भी जिसका मन समभावमें स्थित है, उसकी आत्मा ब्रह्मको प्राप्त हो जाती है, इसलिये उसकी स्थिति देहमें नहीं है, ब्रह्ममें है । भगवान्‌ने कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
(गीता ५ । १९)

'जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं ।'

यहाँ जो ब्रह्मको सम बतलाया गया है, यह ब्रह्मकी समता चेतन है; क्योंकि उस निर्विकार अनिर्देश्य

ब्रह्मके स्वरूपकी समता बुद्धिके द्वारा नहीं जानी जा सकती। स्वयं ब्रह्म ही अपने आपको जानता है।

इसलिये यह समता उपर्युक्त साधककी और सिद्धकी समतासे अत्यन्त विलक्षण है, अतः यह मन-बुद्धिका विषय नहीं है।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि राग-द्वेषका नाश होनेसे ही समता आती है; अतः राग-द्वेषका अभाव या समता एक ही वस्तु है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और सिद्धान्त आदिमें पदार्थों, क्रियाओं, भावों, परिस्थितियों और प्राणियों आदिके निमित्तसे जो अनुकूलता-प्रतिकूलता होती है, इससे अनुकूलतामें राग और प्रतिकूलतामें द्वेष होनेके कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणों और झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारोंकी उत्पत्ति होकर साधकका पतन हो जाता है। अतः राग-द्वेषके नाशके लिये गीतामें बतलाये हुए उपर्युक्त कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदिमेंसे किसी साधनका आश्रय लेना चाहिये। चाहे राग-द्वेषका अभाव कहें या समभाव—एक ही बात है। जब राग-द्वेषका नाश हो जाता है, तब अनुकूलता-प्रतिकूलतामें समभाव स्वाभाविक ही हो जाता है। जैसे सिद्ध पुरुषमें स्वाभाविक समताका भाव ऊपर बतलाया गया है, वैसे ही उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका भी स्वाभाविक अभाव है। भगवान् कहते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
(गीता १२। १७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है।'

ऐसा भगवान्‌का अनन्य भक्त जो कुछ करता है, भगवान्‌की आज्ञा, प्रेरणा, संकेत और मनके अनुकूल ही करता है, उनके विरुद्ध नहीं करता। यदि विरुद्ध करता है तो वह भक्त ही नहीं है। वह भगवान्‌के ही परायण और उन्हींपर निर्भर रहता है। भगवान् जो कुछ करते हैं, उसीमें वह मस्त रहता है। उसकी भगवान्‌में भक्ति—अनन्य प्रीति स्वाभाविक ही होती है। अतः उसमें राग-द्वेषका अभाव स्वाभाविक होता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गीता ११। ५५)

'अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

वही सच्चा भक्त है, जो अपने मनकी अनुकूलता-प्रतिकूलताको छोड़कर भगवान्‌के शरण हो जाता है और कठपुतलीकी भाँति भगवान् जैसे नचाते हैं, वैसे ही नाचता है। भगवान् उसके लिये जो कुछ विधान करते हैं, उसीमें वह आनन्द और प्रसन्नताका अनुभव करता है। वह अनिच्छा और परेच्छासे प्राप्त हुए सुख-दुःख आदि पदार्थों और परिस्थितियोंको भगवान्‌का मङ्गलमय विधान मानता है या भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानता है। एवं अपने द्वारा वर्तमानमें की हुई क्रियाके फलके सम्बन्धमें भी ऐसा ही समझता है; क्योंकि जीव कर्म करनेमें तो कुछ स्वतन्त्र है पर फल भोगनेमें सर्वथा परतन्त्र है। जैसे किसीने व्यापार करते समय माल खरीदा तो माल खरीदनेमें तो वह स्वतन्त्र है पर उसका फल जो नफा-नुकसान होता है, उसमें वह सर्वथा परतन्त्र है। अतः भगवान्‌ने अर्जुनसे यही कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(गीता २। ४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें नहीं; इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

भगवद्भक्त कर्मफलको भगवान्का विधान या पुरस्कार मानकर हर समय आनन्दमग्न रहता है। किंतु इसकी अपेक्षा भी वह अधिक श्रेष्ठ है जो प्राणी और पदार्थमात्रको भगवान्का स्वरूप एवं क्रिया और घटनामात्रको भगवान्की लीला समझकर आनन्दमें मग्न रहता है, जिससे वह दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, निद्रा, आलस्य, प्रमाद, हर्ष, शोक आदि सम्पूर्ण विकारोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

इसी प्रकार जो स्त्री पतिको, पुत्र माता-पिताको, शिष्य गुरुको और साधक ज्ञानी महात्माको ईश्वरके समान समझकर अपने-आपको उनके समर्पण कर देता है, उनके किये हुए विधानको मङ्गलमय समझता है, अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलतासे रहित होकर उनकी आज्ञा, प्रेरणा, संकेत और मनके अनुकूल चलता है, वह भी सम्पूर्ण अनर्थोंके मूल राग-द्वेपादि दोषोंसे रहित हुआ समभावको प्राप्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

जैसे—किसी स्त्रीकी सुन्दर वस्त्राभूषण और स्वादिष्ट भोजन आदि प्राप्त करनेकी इच्छा है, किंतु पतिके मनमें वैराग्य होनेसे वह इनको पसंद नहीं करता तो वह पतिव्रता बड़ी प्रसन्नतासे अपनी इच्छाका त्याग करके पतिकी इच्छाके अनुकूल ही कार्य करती है। इसी प्रकार किसी पतिव्रता स्त्रीके यदि घरका काम करना, किसीके कठोर वचनोंको सुनना या अन्य किसी प्रकारके कष्टप्रद कार्य करना प्रतिकूल हो तो भी पतिकी प्रसन्नताके लिये वह उस प्रतिकूलताका बड़ी प्रसन्नतासे परित्याग कर देती है। अभिप्राय यह कि जो अपने मनके अनुकूल है; किंतु पतिके मनके प्रतिकूल है, वहाँ वह अपने मनकी अनुकूलताका त्याग कर देती है, जिससे मनकी अनुकूलतापर बार-बार आघात पड़नेसे वह नष्ट हो जाती है। तथा जो अपने मनके प्रतिकूल है, किंतु पतिके मनके अनुकूल है, वहाँ वह अपने मनकी प्रतिकूलताका त्याग कर देती है, जिससे मनकी प्रतिकूलतापर बार-बार आघात पड़नेसे वह भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार अपने मनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता नष्ट हो जानेसे राग-द्वेपका नाश होकर समता आ जाती है और समतासे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इसी प्रकार माता-पिताके अनुकूल हो जानेसे पुत्रका, गुरुके अनुकूल हो जानेसे शिष्यका एवं ज्ञानी महात्माके अनुकूल हो जानेसे साधकका राग-द्वेष नष्ट होकर उसमें समता आ जाती है, जिससे उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इसीलिये भक्त प्रह्लादने दैत्य बालकोंको उपदेश करते हुए अन्तमें यही कहा—

असारसंसारविवर्तनेषु
मा यात तोषं प्रसभं ब्रवीमि।
सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत
समत्वमाराधनमच्युतस्य॥
तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं
धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते।
समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्ता-
न्निस्संशयं प्राप्स्यथ वै महत्फलम्॥
(विष्णुपु० १। १७। ९०-९१)

'दैत्यबालको! मैं आग्रहपूर्वक कहता हूँ, तुम इस असार-संसारके विषयोंमें कभी संतुष्ट मत होना। तुम सर्वत्र समदृष्टि करो; क्योंकि समता ही श्रीअच्युतकी आराधना है। उन अच्युतके प्रसन्न होनेपर फिर संसारमें दुर्लभ ही क्या है? तुम धर्म, अर्थ और कामकी इच्छा कभी न करना; वे तो अत्यन्त तुच्छ हैं। उस ब्रह्मरूप महावृक्षका आश्रय लेनेपर तो तुम निस्संदेह (मोक्षरूप) महाफल प्राप्त कर लोगे।'

इसलिये परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे हमलोगोंको कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग या सत्सङ्गके द्वारा राग-द्वेपका नाश करके उच्चकोटिकी समता प्राप्त करनी चाहिये।

स्वर्गसुखभोग अनित्य है

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित श्रीशंकरस्वामीजी श्रीशंकरतीर्थजी महाराज)

[गताङ्कसे आगे]

वेदमें तैंतीस देवताओंकी कथा श्रुत 'शुक्लयजुर्वेद' में आयी है—परमेष्ठी (परमव्योममें—चिदाकाशमें—ब्रह्मपदमें —सत्यलोकमें स्थित पुरुषविशेष) प्रजापति (प्रजापालक) सर्वभूतस्वामीने निखिल पदार्थोंको ३३ देवताओंके द्वारा धारण कर रखा है—

त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्। (१४।३१)

अथर्ववेदसंहितामें कहा गया है—एक अद्वितीय परमात्माके अङ्गमें ३३ देवता हैं, वे उनके ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं, उनकी ही शक्ति हैं, ३३ देवता ही विश्वजगत्के रूप हैं। जो ब्रह्मवित् हैं, वे ही उन ३३ देवताओंका तत्त्व जानते हैं—

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥
(१०।७।२७)

ऐतरेय ब्राह्मणमें अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, प्रजापति और वषट्कार—इन ३३ देवताओंका परिगणन हुआ है—'त्रयस्त्रिंशद् वै देवा अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च' (२।४)। शतपथ ब्राह्मणमें अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र और प्रजापति—इन ३३ देवताओंका कथन हुआ है—'अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति' (बृहदा०उप० ३।९।२)। 'वसु'-संज्ञक देवता कौन हैं? अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, स्वर्ग, चन्द्रमा और नक्षत्र—ये आठ वसुसंज्ञक देवता हैं। इनका नाम 'वसु' क्यों हुआ? निवासार्थक 'वस' धातुके उत्तर 'उ' प्रत्यय करके (उणादि १।११) 'वसु' पद निष्पन्न हुआ है। जो वसता है, अथवा जिसमें सब कुछ वसता है, वह 'वसु' है। अग्नि आदि आठ 'वसु' देवता प्राणियोंके कर्म और कर्मफलके आश्रयस्वरूप हैं।* प्राणिसमूह अग्नि आदि देवताओंमें वास करते हैं, कार्य-कारण-संघातरूपसे अर्थात् शरीर और इन्द्रियाकारसे विपरिणत होकर अग्न्यादि देवता इस सम्पूर्ण जगत्का आश्रय-स्वरूप होकर विश्वजगत्को अपनेमें बसाये हुए हैं और स्वयं भी वसते हैं, इस निमित्त इनका नाम 'वसु' है—प्राणिनां कर्मफलाश्रयत्वेन कार्यकरणसंघातरूपेण तन्निवासत्वेन च विपरिणमन्तो जगदिदं सर्वं वासयन्ति वसन्ति च। ते यस्माद् वासयन्ति तस्माद् वसव इति (श्रीशांकरभाष्य, बृह० उ० ३।९।२)।

---

* अग्निसे लेकर नक्षत्रपर्यन्त ईश्वरके अङ्गरूप आठ चेतन वसुदेवता ईश्वर-संकल्पसे प्राणियोंके कर्मफलके आश्रयस्वरूप रहनेसे मीमांसोक्त जड 'अपूर्व' को कालान्तरमें स्वर्गादि फलका जनक स्वीकार करना अनावश्यक है। इसलिये भाष्यकार भगवान् श्रीशंकराचार्यने कहा—'यच्च दीयते, ये च ददति, ये च प्रतिगृह्णन्ति, तेषामिहैव समागमो विलयश्चान्वक्षो दृश्यते; अदृष्टस्तु परः समागमः; तथापि मनुष्या ददतां दानफलेन संयोगं पश्यन्तः प्रमाणज्ञतया प्रशंसन्ति; तच्च कर्मफलेन संयोजयितरि कर्तुः कर्मफलविभागज्ञे प्रशास्तर्यसति न स्यात्; दानक्रियायाः प्रत्यक्ष-विनाशित्वात्; तस्मादस्ति दानकर्तॄणां फलेन संयोजयिता। अपूर्वमिति चेत्? न, तत्सदभावे प्रमाणानुपपत्तेः। प्रशास्तुरपीति चेत्? न, आगमतात्पर्यस्य सिद्धत्वात्; अवोचाम ह्यागमस्य वस्तुपरत्वम्' (श्रीशांकरभाष्य, बृहदारण्यकोपनिषद् ३।८।९)। 'बृहदारण्यक उपनिषद्में' अन्यत्र उक्त हुआ है—'ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम्' (३।९।७) अर्थात् ब्रह्म धन देनेवाले (अर्थात् कर्म करनेवाले) यजमानका परायण—परमगति है अर्थात् कर्मफल प्रदान करनेवाला है, अर्थात् यजमान जिस धनादिका दान करते हैं, ब्रह्म उसके कर्मफलकी योजना करते हैं। अतएव ब्रह्म कर्मोंका एकमात्र आश्रय है—'तद् ब्रह्म...रातिः रातेः षष्ठ्यर्थे प्रथमा, धनस्येत्यर्थः; धनस्य दातुः कर्मकृतो यजमानस्य परायणं परा गतिः कर्मफलस्य प्रदातृ' (श्रीशांकरभाष्य)। 'सिद्धान्त', वर्ष १४, अङ्क १९ में 'मीमांसोक्त अपूर्वका स्वीकार अनावश्यक' नामक प्रबन्धमें इसका स्पष्टीकरण किया गया है।

वेदोंने 'वसु' देवतासे विश्वजगत्की आधारशक्तिको ही लक्ष्य किया है। 'वासुदेव' भगवान्का एक नाम है। विष्णुपुराणमें आया है कि जो सबका आधार है, वह 'वासुदेव' है—

सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः।
ततोऽसौ वासुदेवेति विद्वद्भिः परिगीयते॥

'रुद्र'संज्ञक देवता कौन हैं, 'रुद्र' इस नामका सार्थकत्व क्या है? चक्षुरादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्-पाण्यादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ—ये दस प्राण और ग्यारहवाँ मन, ये ग्यारह देवता 'रुद्र' संज्ञक हैं। अश्रु-विमोचनार्थक 'रुद्' धातुके उत्तर 'रक्' (उणादि २। २२) प्रत्यय करके 'रुद्र' पद सिद्ध हुआ है। वे ये ग्यारह देवता जिस समय प्राणियोंके कर्मफलोपभोगका क्षय हो जानेपर इस मरणशील शरीरसे उत्क्रमण करते हैं, उस समय ये उसके सम्बन्धी लोगोंको रुलाते हैं। इस रोदनमें निमित्त होनेसे इनका 'रुद्र' नाम हुआ है—

तद् यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति।
(बृहदा० उप० ३। ९। ४)

'आदित्य'संज्ञक देवता कौन हैं? संवत्सराख्य कालके अवयवभूत बारह मास ही द्वादश आदित्य हैं। चूँकि ये बारह महीने पुनः-पुनः परिवर्तित होते हुए प्राणियोंकी आयु और कर्मफलका आदान—ग्रहण यानी उपादान करते हुए चलते हैं, इसलिये 'आददाना यन्ति' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'आदित्य' कहलाते हैं। 'काल' जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-लयका कारण है; कालसे जगत् उत्पन्न होता है, कालसे स्थित रहता है और कालमें ही विलीन हो जाता है। सूर्य कालकी (कलनात्मक कालकी) उत्पत्तिका हेतु है—'सूर्यो योनिः कालस्य' (मैत्र्युपनिषत्)। यहाँ 'आदित्य' परिवर्तनके कारणरूपसे ही लक्षित हुआ है। 'इन्द्र' कौन है? स्तनयित्नु (अशनि), समन्तात् व्याप्त तड़ित्-शक्ति, प्राणियोंका बल और वीर्य 'इन्द्र' शब्दके अर्थ हैं। 'इन्द्र' शब्दसे श्रुतिने विश्वजगत्के प्राणको अर्थात् बल (Energy) को लक्ष्य किया है। निरुक्तमें इन्द्र और वायुको एक देवता कहा गया है। प्रजापति कौन है? यज्ञ ही प्रजापति है। विश्वजगत् 'यज्ञ' से उत्पन्न है। यज्ञ ही विश्वजगत्की स्थिति और लयका कारण है, यज्ञ ही विश्वजगत्का स्वरूप है; इसलिये यज्ञको 'प्रजापति' कहा गया है। विश्वजगत्की क्रिया ही यज्ञ-पदका अर्थ है। प्रजापति (ब्रह्मा) इस यज्ञका कारण है, इस हेतु प्रजापतिको यज्ञ-देवता कहते हैं।

ऋग्वेदसंहितामें कहा गया है—विश्वजगत् यज्ञात्मक पटस्वरूप है; जिस प्रकार पट (वस्त्र) तन्तुओंसे निर्मित—उत (woven) होता है, उसी प्रकार यज्ञात्मक विश्वजगत्-रूप पट पञ्चभूतादि तन्तुओंसे निर्मित है। यह सर्गात्मक यज्ञपट देवताओंके उद्देश्यसे भोक्तृवर्गकृत कर्मोंके द्वारा आयत—दीर्घीकृत होता है—

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मभिरायतः।
(८। १०। १२८)

अनुयज्ञं जगत् सर्वम्। (महाभा० शान्ति० २६७)

'यज्ञ' शब्द इष्टप्राप्तिके हेतुभूत कर्मके बोधकरूपसे, आन्तर और बाह्य इस द्विविध छान्दसव्यापारके अर्थात् शास्त्रोक्त अभ्युदय और निःश्रेयसप्राप्तिके हेतुभूत कर्मके वाचकरूपसे शास्त्रमें व्यवहृत हुआ है। *

ऐहिक-पारत्रिक शुभ कर्ममात्र ही 'यज्ञ' है। शतपथ ब्राह्मणमें, गोपथ ब्राह्मणमें तथा छान्दोग्योपनिषद्में आता है—जो कर्म पवित्र करता है, देह, इन्द्रिय, प्राण, मन आदिको निर्मल करता है, वह कर्म यज्ञ है—

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते। (छा० उप० ४। १६। ५)

श्रीमद्भगवद्गीतासे ज्ञात होता है, 'यज्ञ' से ही विश्व सृष्ट हुआ है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यः॥ (३। १४

कालिकापुराणमें भी 'यज्ञ' से सृष्टि की गयी है—

अन्नेन भूता जीवन्ति पर्जन्यादन्नसम्भवः।
पर्जन्यो जायते यज्ञात् सर्वं यज्ञमयं ततः॥

भगवान् मनुने भी 'यज्ञ' से सृष्टि की है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

ईश्वराराधनके निमित्त वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार कर्मानुष्ठानको भी 'यज्ञ' कहा गया है—

सहयज्ञेन स्वाश्रमोचितविहितकर्मकलापेन।
(श्रीमधुसूदन सरस्वती)

---

* सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
(गीता ३। १०)

चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि चातुर्वर्ण्यं च केवलम्।
असृजत् स हि यज्ञार्थं पूर्वमेव प्रजापतिः॥
(महा० अनु० ४८। ३)

वेदादि शास्त्रोंमें 'यज्ञ' शब्द सर्वव्यापक परमेश्वरके वाचकरूपसे भी गृहीत हुआ है—

यज्ञो वै विष्णुः । (कृष्णयजुर्वेदसंहिता ३ । ५ । २)

वेदसे ज्ञात होता है कि प्रजापतिके मुखसे गायत्री छन्दके साथ प्रथमतः अग्निदेवताका आविर्भाव होता है; गायत्री छन्दके साथ अग्निदेवताके आविर्भावके अनन्तर उष्णिक् छन्दके साथ सविता देवताकी अभिव्यक्ति होती है। उसके बाद अनुष्टुप् छन्दके साथ सोमदेवताका और बृहती छन्दके साथ बृहस्पति देवताका प्रादुर्भाव होता है। उसके उपरान्त प्रजापतिसे विराट् छन्दके साथ मित्रावरुण देवताका; तदनन्तर त्रिष्टुप् छन्दके साथ इन्द्रदेवताका; तदनन्तर जगती छन्दके साथ विश्वेदेवताओंका विकास होता है। अग्न्यादि सप्तदेवताओंके साथ गायत्र्यादि सप्तछन्दोंकी उत्पत्ति 'प्राजापत्य यज्ञ' कहा गया है। अग्निः सूर्य; सोम; बृहस्पति; मित्रावरुण; इन्द्र और विश्वदेवगण—इन देवताओंके साथ गायत्र्यादि छन्दःसमूहके मार्गसे ऋषि और मनुष्य आदिकी सृष्टि हुई है—

अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव ।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान् बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत् ॥
विराण्मित्रावरुणयोरभिश्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः ।
विश्वान्देवाञ्जगत्याविवेश तेन चाक्लृप्र ऋषयो मनुष्याः ॥
चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे ।
पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे ॥

(ऋग्वेदसंहिता, अष्टम अष्टक १० । १३०—१३२)

यहाँतकके विवेचनसे प्रमाणित हुआ है कि देवता और उनके रहनेके स्थान देवलोक अर्थात् स्वर्गलोक वेदसिद्ध हैं। देवताका अस्तित्व निश्चय करनेमें, जो देवदर्शन करते हैं; देवताओंके साथ वार्तालाप करते हैं, उनके उपदेशोंके अनुसार देवदर्शनोपयोगी साधन करना परम आवश्यक होता है। भगवान् पतञ्जलिदेवने कहा है—स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः (पा० द० २ । ४४)। अर्थात् यथाविधि स्वाध्यायसे साधक पुरुषके साथ अभीष्ट देवताओंका, ऋषियोंका और सिद्ध पुरुषोंका सम्प्रयोग (साक्षात्कार) होता है। अर्थात् यथाविधि स्वाध्यायशील पुरुष देवताका दर्शन लाभ कर सकता है, देवताओंके द्वारा उपकृत हो सकता है। करुणामय वेदमें भूयोभूयः यह सत्य विज्ञापित हुआ है।

परमर्षि जैमिनि मीमांसादर्शनके रचयिता हैं। वे श्रीनारायणावतार भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनजीके एक शिष्य हैं। भगवान् श्रीबादरायणने जिन चार शिष्योंको सम्प्रदायक्रमसे एक-एक वेदके प्रचार करनेका भार अर्पण किया था, परमर्षि जैमिनि उनमेंसे अन्यतम थे। इन्हें सामवेदका भार प्राप्त था। श्रीकुमारिलभट्टपादके तन्त्रवार्तिकसे ज्ञात होता है, परमर्षि जैमिनिने छान्दोग्यानुवाद आदि अपरापर कोई ग्रन्थ लिखा था तथा मीमांसाशास्त्रीय 'संकर्षणकाण्ड' नामक चतुरध्यायात्मक खण्डके ऊपर भी एक ग्रन्थकी रचना की थी। उसमें उपासनाकाण्डका तत्त्व आलोचित हुआ है। वस्तुतः वह ग्रन्थ भी कर्मकाण्डसम्बन्धी है, मीमांसादर्शनमें अनुक्त कर्मकाण्डीय विषयसमूह अनुपूरकरूपसे उसमें संगृहीत हुए हैं। प्राचीनोंकी उक्तिसे ज्ञात होता है, इस संकर्षणकाण्डका अपर नाम 'देवताकाण्ड' है। प्रपञ्चहृदय नामक ग्रन्थमें वर्णित हुआ है, चतुरध्यायात्मक इस ग्रन्थके प्रथम अध्यायमें प्रतिपादित हुआ है कि समस्त विशेष-विशेष मन्त्र ही देवतातत्त्वके प्रकाशक हैं; इसके द्वितीय अध्यायमें प्रतिपादन किया गया है कि विधि, अर्थवाद और समस्त नामधेय मन्त्रके ही अर्थात् देवताके ही विशेषत्व हैं; विधि, अर्थवाद, मन्त्र और नामधेयविषयक विशेष विचार द्वादशलक्षणी मीमांसामें ही निबद्ध हैं; संकर्षणकाण्डके तृतीय अध्यायमें उक्त हुआ है—देवगण स्वेच्छानुसार शरीरपरिग्रह कर सकते हैं, युगपत् बहु स्थानोंमें प्रकाशित हो सकते हैं और इच्छाक्रमसे तिरोहित (अदृश्य) भी हो जा सकते हैं; और चतुर्थ अध्यायमें स्थापन किया गया है कि सत्कर्मके फल रूपमें देवत्वलाभ किंवा अपवर्गप्राप्ति (क्रममुक्ति) होती है। इस रीतिसे देवतातत्त्व प्रतिपादित होनेके कारण ही संकर्षणकाण्ड ग्रन्थ उपासनाकाण्डके नामसे अभिहित होता है। यह ग्रन्थ वर्तमानमें समग्ररूपसे प्राप्त नहीं, इतस्ततः विक्षिप्त कतिपय सूत्रोंके रूपमें ही दृष्टिगोचर होता है। वर्तमानमें प्रसिद्ध मीमांसादर्शन परमर्षि जैमिनिप्रणीत होनेपर भी वे ही इस शास्त्रके प्रथम आचार्य नहीं हैं; चूँकि उन्होंने भी 'आत्रेय' (मी० द० ६ । १ । २६), 'ऐतिशायन' (मी० द० ३ । २ । ४३), 'कामुकायन' (११ । १ । ५७), 'कार्ष्णाजिनि' (६ । ७ । ३७), 'बादरायण' (१ । १ । ५), 'बादरि' (३ । १ । ३), 'लावुकायन' (६ । ७ । ३७) प्रभृति प्राचीन मीमांसक आचार्योंके नामका उल्लेख किया है। यह संगत भी है; क्योंकि वेदका अध्ययन और तदनुगत अनुष्ठानमें मीमांसा आवश्यक होनेसे मीमांसा वेदवत् प्राचीन

है। कालगतिसे जिस समय मनुष्यकी बुद्धिशुद्धिका ह्रास होने लगा—सम्प्रदायका ह्रास होने लगा—शास्त्रार्थ दुर्बोध हो उठा, उस समय बह्वर्थके सूचक (सारक) सूत्र-समूहका तात्पर्यग्रहण असम्भव हो उठा और तब महामुनि बौधायनने द्वादशलक्षणी मीमांसा, चतुर्लक्षण संकर्षणकाण्ड और चतुरध्यायी उत्तरमीमांसा (वेदान्त)—इन विंशति अध्यायोंके ऊपर 'कृतकोटिभाष्य' नामक एक अति विशाल भाष्य निबद्ध किया। उस अति बृहदायतन भाष्यग्रन्थको आयत्त करना कालक्रमसे कठिन हो उठा। इसे देखकर कारुणिक वृत्तिकार उपवर्षने उन विंशति अध्यायोंकी वृत्तिकी रचना की। इससे पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसाका सांकर्य देखकर कुछ कालके बाद पूर्वमीमांसाके स्वातन्त्र्यकी रक्षाके निमित्त भवदास भट्टने उत्तरकाण्डके चतुरध्याय छोड़कर केवल कर्म-मीमांसाके ही संकर्षणकाण्ड-सहित षोडश अध्यायके एक नातिविस्तृत भाष्यकी रचना की। ये सब ग्रन्थ अब प्राचीनोक्तिमात्रद्वारा ज्ञेय हैं। अनन्तर श्रीशबरस्वामीने केवलमात्र द्वादश अध्यायोंके केवलमात्र सिद्धान्तबोधोपयोगी परम गम्भीर अति संक्षिप्त भाष्यकी रचना की—जो भाष्य वर्तमानकालीन उपलभ्यमान दर्शन-ग्रन्थोंके भाष्योंमें प्राचीनतम और आदर्शस्थानीय है।

मीमांसादर्शन-सूत्रपर आपातदृष्टि डालनेसे दर्शनशास्त्रके आलोच्य सृष्टितत्त्व, आत्मतत्त्व और ईश्वरतत्त्वादिके विषयमें कुछ भी पता नहीं लगता। परंतु माधवाचार्यप्रणीत* 'शंकर-दिग्विजय' ग्रन्थमें तुषानलारूढ कुमारिलभट्टपाद भगवान् श्रीशंकराचार्य महाराजजीसे कहते हैं—'निरास्थमीशं श्रुतिलोकसिद्धं श्रुतेः स्वतोमात्वमुदाहरिष्यन्' (७। ८९) अर्थात् वेदका स्वतःप्रमाणत्व स्थापन करनेके निमित्त ही मैंने ईश्वरके श्रुतिसिद्ध तथा लोकसिद्ध होनेपर भी उन्हें दूर रखा है। और मीमांसक-मतसे देवता शब्दमयी है अर्थात् शास्त्रोक्त चतुर्थीविभक्तियुक्त शब्द है अर्थात् त्यज्यमान द्रव्यके उद्देश्यीभूत ही देवता हैं। आपाततदृष्टिसे देवताके विग्रहादिपञ्चक नहीं हैं; परंतु तत्त्वदृष्टिसे जिस नामसे, जिस शब्दसे, जिस भावसे जो भी देवता शास्त्रानुसार उद्देश्यीभूत क्यों न हो, वह सनातन एक ब्रह्म परमेश्वरसे अतिरिक्त और कोई नहीं है। इसलिये श्रुतिमें उक्त हुआ है—एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। (ऋग्वेद २। १४८। ३६) एष उ ह्येव सर्वे देवाः। (बृहदारण्यकोपनिषद् १। ४। ६) परमेश्वर ही समस्त देवतारूपसे विराजित हैं। अधिकंतु जब 'याग' का अर्थ है देवताके उद्देश्यसे विधि-विहित भावसे द्रव्यत्याग*, तब किसी प्रतीकमें शास्त्रानुसार सम्पादित न होनेपर भी वह्निरूप आधारमें देवपूजात्मक याग भी याग ही है। अर्थात् यागका आधार शास्त्रीय नियमसे प्रस्तुत वह्नि हो सकता है और अपरा पर-प्रतीक भी हो सकते हैं। इस दृष्टिसे कर्मवाद और देवपूजा परस्पर विरुद्ध नहीं हैं।

आपातदृष्टिसे मीमांसकमतसे मुक्ति निष्कामकर्मलभ्य है, सत्य; किंतु, स्वयं श्रुति ही 'तद् यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' (छान्दोग्योप० ८। १। ६)—अर्थात् इस लोकमें सेवादिकर्मसे मिलनेवाला फल जैसे क्षयको प्राप्त होता है, उसी प्रकार परलोकमें भी पुण्यलब्ध फल क्षीण हो जाता है; और नास्त्यकृतः कृतेन' (मु० उ० १। २। १२), 'न कर्मणा' (कैवल्योपनिषद् १। ४) अर्थात् कर्मके द्वारा नित्य पदार्थ (मोक्ष) प्राप्त नहीं होता—इत्यादि वचनोंसे नित्यमोक्षकी कर्मजन्यताका प्रतिवाद किया गया है। मीमांसक-मतसे स्वर्ग ही मुक्तिस्वरूप है। प्राचीन उक्तिके अनुसार—'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तद् सुखं स्वःपदास्पदम्' अर्थात् जो सुखदुःखमिश्रित नहीं है, अपिच भोगके उपरान्त ग्रस्त अर्थात् ध्वंसको प्राप्त नहीं होता और अभिलाषोपनीत है अर्थात् जिसमें अभिलाषानुरूप वस्तु तत्क्षण मिलती है, वह सुख ही 'स्वर्ग' पदवाच्य है—इस वाक्यमें स्वर्गका जो लक्षण देखा जाता है, वह मुक्तिका ही नामान्तर है; क्योंकि मुक्तिमें ही भूमानन्द प्रकटित होता है और ब्रह्मलोकस्थित मुक्त अथवा मोक्ष्यमाण पुरुषके लिये ही संकल्पानुरूप अभिलाषोपनीत विषय उपस्थित होता है।

* ये ही माधवाचार्य शेष जीवनमें संन्यास लेकर 'विद्यारण्य-स्वामी'के नामसे प्रख्यात हुए थे। इनके ही भ्राता चतुर्वेदभाष्यकार विश्वविख्यात 'सायणाचार्य' हैं। अद्वैत वेदान्तके 'वैयासिकन्यायमाला', सुविख्यात 'पञ्चदशी', 'विवरणप्रमेयसंग्रह', 'जीवन्मुक्तिविवेक' आदि बहु निबन्ध इनकी रचनाएँ हैं। मीमांसाके सुप्रसिद्ध 'जैमिनीयन्याय-माला' या 'अधिकरणमाला' और 'जैमिनीयन्यायमालाविस्तर' इनके ही मीमांसाशास्त्रविज्ञत्वके अपूर्व निदर्शन हैं।

* 'यजतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात्' (मी० द० ४। २। २७ अर्थात् द्रव्य, देवता और त्यागात्मक कर्म—ये तीन मिलितभावसे 'यज्' धातुके अर्थ होनेसे देवताके उद्देश्यसे विधिपूर्वक द्रव्यत्यागका ही नाम 'याग' है।

यही 'संकल्पादेव पितरः समुत्तिष्ठन्ते' (छा० उ० ८ । १ । २) इत्यादि श्रुतिसे और वेदान्त-दर्शनके 'संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः' (४ । ४ । ८) इस सूत्रसे उद्घोषित हुआ है। बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकमें श्रीसुरेश्वराचार्यने इसीलिये कहा है—स्वर्गशब्दाभिधश्चायं पुमर्थो यो यथोदितः। स्वर्गमित्यादिभिर्वाक्यैस्त्रय्यन्तेष्वपि गीयते' (सम्बन्धवार्तिक, १०९७)। इसका भावार्थ यह है कि स्वर्गशब्द परम पुरुषार्थका भी बोधक है। यह 'अहरहर्वा एवंवित् स्वर्गं लोकमेति' (छा० उ० ८। ३। ३) इत्यादि वेदान्तवाक्यसे भी बोधित होता है। सुतरां, यदि यही 'स्वर्ग' शब्दका अर्थ है, तो वह कर्मजन्य कैसे हो सकता है ? इस हेतु कहना होगा—कर्मजन्य जो स्वर्ग है—लोकविशेषमें भोग्य सुखविशेष है—वह स्वतन्त्र है। विशेषतः, मुक्तिमें तारतम्य नहीं है, यही शास्त्र-सिद्धान्त है। अथच मीमांसक-धुरीण श्रीसायणमाधवाचार्यने तदीय तैत्तिरीयसंहिताभाष्यमें कहा है—'स्वर्गश्च अनेकविधः' इत्यादि । किंतु यह कैसे सम्भव हो सकता है ? पुनः यदि मुक्ति कर्मजन्य ही होती तो आत्मतत्त्वबोधका प्रयोजन क्यों रहता ? अथच श्लोक-वार्तिकमें आत्मतत्त्वप्रतिपादकभाष्यके वार्तिकके उपसंहारमें मूर्तिमान् मीमांसाशास्त्रस्वरूप कुमारिलभट्टपादने कहा है—

> इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णु-
> रात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
> दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः
> प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥

'इस प्रकारसे भाष्यकारने नास्तिकवाद-निरासनके उद्देश्यसे युक्तिपूर्वक आत्मवादका स्थापन किया है; परंतु आत्म-विषयक ज्ञान वेदान्तपरिशीलनसे दृढ़ताको प्राप्त होता है।' इस स्थलमें वेदान्तनिषेवणसापेक्ष आत्मबोध तो मुक्तिके निमित्त ही आवश्यकरूपसे उल्लिखित हुआ है, इसे कहना तो बाहुल्य-मात्र है; अथच ज्ञान और कर्म परस्पर विरुद्ध होनेके कारण तत्त्व-ज्ञानमें उनकी समुच्चय अर्थात् मिलितभावसे तत्त्वज्ञान-साधकता भी सम्भव नहीं है। इस कारण कहना पड़ेगा कि मुक्ति कर्मजन्य अथवा कर्मज्ञान-समुच्चयजन्य है, यह मत भी भाष्य-कारीय नहीं है; विशेषतः 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' इत्यादि श्रुति कामनानिरपेक्ष कर्मको ही ब्रह्मजिज्ञासाका द्वार कहती है। यज्ञादि कर्मसमूह ब्रह्मज्ञानके निमित्त विहित हैं—यह 'सर्वापेक्षा यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (व्याससूत्र ३ । ४ । २६) इस अधि-करणमें उक्त हुआ है। इस सूत्रका अर्थ है—जिस प्रकार अश्व रथमें उपयोगी होता है, उसी प्रकार ज्ञानोत्पत्तिमें यज्ञ, दान आदि समस्त आश्रम कर्मोंकी अपेक्षा रहती है। अपिच उत्पत्तिविधिके बलसे कर्म उत्पन्न होनेके पश्चात् उसकी फला-काङ्क्षा होती है; और तब उसमें स्वर्गादिकी कामना भी अन्वित हो सकती है—'यज्ञेन' इत्यादि वाक्यबोधित आत्मतत्त्व-विविदिषारूप फल भी अन्वित हो सकता है—तमेतं वेदानु-वचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन (बृह० उ० ४ । ४ । २२)। अर्थात् ब्राह्मणगण वेद-पाठ, यज्ञ, दान और मितभोजनरूप तपस्याके द्वारा उस आत्माको जाननेकी इच्छा करते हैं। एक ही यज्ञ स्वर्ग और विविदिषाका (ब्रह्मज्ञानेच्छाका) साधन है। इस कारण संक्षेपशारीरककारने कहा—

> यज्ञेनेत्यादि वाक्यं शतपथविहितं कर्मवृन्दं गृहीत्वा
> स्वोत्पत्त्याम्नायसिद्धं पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति।
> (२ । ६४)

अर्थात् शतपथब्राह्मणमे 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि वाक्य उत्पत्तिवाक्यबोधित कर्म-कलापको पुरुषकी विविदिषाके निमित्त ही अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासामें ही नियुक्त करता है, अर्थात् समस्त कर्मकी उत्पत्ति-वाक्यमें फलश्रुति न रहनेसे तत्परवर्ती स्वर्गादिफलबोधक वाक्य तथा 'यज्ञेन' इत्यादि वाक्य भी उसी फलाकाङ्क्षाकी निवृत्ति करते हैं; सुतरां, पुरुषकी आकाङ्क्षाके अनुसार स्वर्ग अथवा विविदिषा दोनो ही कर्मोंका फल हो सकते है। अधिकंतु बृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिकोक्त परम पुरुषार्थरूप स्वर्ग (सम्बन्धवार्त्तिक १०९७), जो मुक्तिका ही नामान्तर है, वह जब श्रुति और युक्तिके अनुसार कर्मजन्य नहीं हो सकता, तब 'तादृश स्वर्ग कर्मसे मिलता है' इसका अर्थ यह है कि कर्म उस स्वर्गलाभका परम्परारूपसे कारण है।

वेदमन्त्रोंमें और छान्दोग्य, मुण्डक आदि उपनिषदोंमे तथा इतिहास-पुराणादिमें जब स्वर्गलोक (देवलोक) पुनः-पुनः वर्णित हुआ है, तब उसका अस्वीकार असम्भव है। विशेषतः, देवलोकके देवदेहके बिना तादृश निरतिशय-प्रीत्य-नुभवरूप स्वर्गसुखभोग ['मनःप्रीतिकरः स्वर्गः' (विवरणप्रमेयसंग्रह)] नहीं हो सकता। इस हेतु नित्य-कर्मसमूहकी चित्तशुद्धिफलकतावर्णनप्रसङ्गमें बृहदारण्यकभाष्य-वार्तिकमें श्रीसुरेश्वराचार्यने कहा है—

> कामोऽपि शुद्धिरस्येव भोगसिद्ध्यर्थमेव सः।
> विड्वराहादिदेहेन न ह्यैन्द्रं भुज्यते फलम् ॥
> (सम्बन्धवार्तिक ११३०)

इसका फलितार्थ यह है—दिव्य भोगके निमित्त पवित्र दिव्य देह आवश्यक होता है; और वह तद्भोगप्रद कर्मके फलरूपमें ही होता है। उसी प्रकार नरकभोगके निमित्त तादृश देह भी आवश्यक होता है। इसलिये पातञ्जलदर्शन के 'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः' (२ । १२) इस सूत्रकी टीकामें वाचस्पति मिश्रने तत्रत्य व्यासभाष्यकी व्याख्यामें कहा है कि इस देहमें बहुवर्षव्यापी अत्यधिक-यातनामय नरकभोग सम्भव न होनेके कारण तदर्थतादृश देह आवश्यक होता है। वेदान्तदर्शन के 'संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ' (३ । १ । १३) इस सूत्रमें कहा गया है कि यमालयमें साधारण प्राणियोंको पापोंका फलभोग करना पड़ता है। 'कठोपनिषद्' के यम-नचिकेता-उपाख्यानमें तथा ऋग्वेदके 'वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानमिह तर्पयध्वम्' इत्यादि मन्त्रमें भी यह सुपरिस्फुट है।* सुतरां वेदमन्त्र, उपनिषद्, इतिहासपुराणादिके जो-जो अंश विधायक नहीं हैं अर्थात् विधिप्रतिपादनपरः नहीं हैं, उन्हें मीमासकोंके प्रौढ़िवादके अनुसार स्वार्थमें अप्रमाण कहकर किंवा आध्यात्मिक व्याख्याके चापसे रूपकल्पनाके अन्धकारमय कुहरमें गिराकर उनकी वास्तवता निलीन करनेका उपाय नहीं है।

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥ (१ । २ । ७) अर्थात् [संसार-सागरसे पार जानेके निमित्त] अष्टादश (अष्टादश-संख्यक=१६ ऋत्विक्, यजमान और यजमानपत्नी) द्वारा अनुष्ठित यज्ञरूपाः (यज्ञरूप) प्लवाः (नौकासमूह) येषु (जिनमें=जिन सकाम यज्ञोंमें) अवरं (निकृष्ट=ज्ञानरहित अथवा अस्थायी) कर्म (काम्य कर्म) उक्तम् (उपदिष्ट हुए हैं), एते (ये सब) हि (निश्चय ही) अदृढाः (अस्थायी हैं) [क्योंकि कर्मसे उत्पन्न फलका विनाश अवश्यम्भावी है]; [सुतरां] ये मूढाः (जो मूढ़ अर्थात् विचारहीन मनुष्य) एतत् (इस ज्ञानरहित निकृष्ट कर्मका) श्रेयः (कल्याणप्रदरूपसे) अभिनन्दन्ति (आदर करते हैं अर्थात् यज्ञादिरूप सकाम कर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त रहते हैं) ते (वे) पुनः एव (पुनर्बार) जरामृत्युं (जरा और मृत्युको) अपियन्ति (प्राप्त होते हैं) [अर्थात् कुछ काल पुण्यकर्मका फल स्वर्गसुख भोगकर पुण्यक्षय होनेपर मर्त्यलोकमें जन्मते हैं]। 'अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते' (१ । २ । ९) अर्थात् अविद्यायाम् (अविद्यामें=ज्ञानरहित कर्ममार्गमें) बहुधा (नाना प्रकारोंसे) वर्तमानाः (वर्तमान=अनुरक्त=प्रवृत्त) बालाः (अज्ञ मनुष्य) वयं (हम) कृतार्थाः (कृतकृत्य=सफलकाम) [हुए हैं]—इति (इस प्रकार) अभिमन्यन्ति (अभिमान करते हैं) यत् (चूँकि) कर्मिणः (कर्मासक्त मनुष्य) रागात् (कर्मफलमें आसक्ति रहनेके कारण) [शास्त्रोपदेशका लक्ष्य अथवा कर्मानुष्ठानका उद्देश्य] न प्रवेदयन्ति (नहीं समझ पाते), तेन (उस कारणसे) क्षीणलोकाः (पुण्यक्षय होनेसे स्वर्गसुख भोगनेमें असमर्थ) [सुतरां] आतुराः (दुःखार्त होकर) च्यवन्ते (स्वर्गलोकसे गिर जाते हैं)। 'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति' (१ । २ । १०) अर्थात् प्रमूढाः (अतिमूढ़ अर्थात् पुत्र, धन, वित्त आदिमें आसक्तिवश मोहयुक्त मनुष्य) इष्टापूर्त्तं (इष्ट=वेदविहित यज्ञादि कर्म, पूर्त=स्मृतिविहित कूप-तड़ागादि-दानरूप कर्म) वरिष्ठं (सर्वोत्कृष्ट) मन्यमानाः (मानकर) अन्यत् (तदतिरिक्त और कुछ भी) श्रेयः (कल्याणप्रद साधन अर्थात् आत्मज्ञान) न वेदयन्ते (नहीं जान सकते); ते (वे मूढ़) सुकृते (सकाम कर्मसे लब्ध) नाकस्य (स्वर्गके) पृष्ठे (उपरिस्थानमें=इन्द्रलोकमें) [पुण्यफल] अनुभूत्वा (भोग करके) इमं लोकं (इस मर्त्यलोकमें) हीनतरं वा (अथवा इससे हीनतर लोकमें अर्थात् पश्वादिके शरीरमें अथवा नरकमें) आविशन्ति (प्रवेश करते हैं) [स्वर्गसुख-भोगके उपरान्त पुण्यक्षीण होनेपर संचित कर्मके फलानुसार पुण्य-पापके मिलनसे मनुष्यलोकमें और पापके आधिक्यसे नरकमें गिरते हैं]।

श्रुतिमें एक स्थानपर कहा गया है—'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्' अर्थात् चातुर्मास्ययागकारीके पुण्य अक्षय है। इस श्रुतिमें कर्मजन्य फलका नित्यत्व वर्णित

* श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है—'संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥' (१ । ४२) अर्थात् वर्णसंकर पुरुष कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है। इनके पितर लोग भी पिण्ड और तर्पणरहित होकर नरकमें ही गिर जाते हैं। 'प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ। (१६ । १६) अज्ञानविमोहित मनुष्य विषयभोगोंमें आसक्त होकर महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं।

है। परंतु 'यदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० उ० ७ । २४ । १) और 'यत् कृतकं तदनित्यम्' अर्थात् जो अल्प अर्थात् परिच्छिन्न है वह मरणशील है, जो कृतिसाध्य है वह अनित्य है—इस प्रकार न्याय दृष्ट होता है। पुनः, स्वयं वेद भी स्वर्गादिश्रेयःसाधन अग्निहोत्रादिके फल स्वर्गादिको अनित्य बता रहे हैं—तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते ।' (छा० उ० ८ । १ । ६) अर्थात् जिस प्रकार इस संसारमें कृषि आदि कर्मके द्वारा उपार्जित सस्यादि भोग्यवस्तु नाशको प्राप्त होती है, उसी प्रकार परकालमें भी पुण्यद्वारा उपार्जित स्वर्गादि लोक भी क्षीण होता है। 'जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं, न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।' (कठोपनिषत् १ । २ । १०) अर्थात् शेवधिः (कर्मफलरूप स्वर्गादि सम्पत्) अनित्य है, यह मैं जानता हूँ; चूँकि अनित्य द्रव्यमय यज्ञादिसे वह नित्य ब्रह्म प्राप्त नहीं हो सकता, अतएव पूर्वोक्त न्यायविशिष्ट अर्थात् युक्तिविशिष्ट कर्मफलके अस्थायित्वकी प्रतिपादक छान्दोग्यश्रुति प्रबल है, और युक्तिविहीन कर्मफलके नित्यत्वकी बोधक श्रुति दुर्बल है। प्रबल श्रुति दुर्बल श्रुतिकी बाधक होती है। यदि कहा जाय कि श्रुतिका बाध होनेपर अप्रामाण्य होगा, श्रुतिका एक भी अक्षर व्यर्थ नहीं है; इसका उत्तर यह है कि यहाँ बाध-शब्दका अर्थ है संकोच । इस स्थलमें कर्मफलका जो अक्षयत्व उक्त हुआ है, उसका अर्थ बहुकालस्थायित्व है। अर्थात् शुभ कर्मफलके द्वारा मनुष्य एक कल्पपर्यन्त अमर रह सकता है। इस अर्थका साधक वाक्य 'विष्णुपुराण' में भी देखा जाता है—'आभूतसंप्लवस्थानममृतत्वं हि भाष्यते' अर्थात् एक कल्पपर्यन्त स्वर्गसुखभोगको पण्डितजन अमृतत्व कहते हैं। पुनः, तैत्तिरीय श्रुतिमें कथित हुआ है— 'परागावर्त्ततेऽध्वर्युः पशोः संज्ञप्यमानात्'—यज्ञमें पशुवध करनेके कारण स्वर्गभोगके अनन्तर याज्ञिकको पुनः मर्त्यलोकमें जन्म लेना पड़ता है। और 'श्रीमद्भगवद्गीता' में उक्त हुआ है—ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।' (९ । २१) अर्थात् वेदोक्त याग-यज्ञादिपरायण मनुष्य उनके प्रार्थित विपुल स्वर्गसुखका उपभोग करनेके उपरान्त पुण्यक्षय होनेपर पुनरपि मर्त्यलोकमें प्रवेश करते हैं। 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।' (८ । १६)—शास्त्रमें सप्तलोकका वर्णन आता है— भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यलोक वा ब्रह्मलोक। मनुष्य पुण्यबलसे ये सब लोक प्राप्त होनेपर भी [ज्ञानलाभ न होनेपर] पुण्यक्षयके उपरान्त वहाँसे वापस आकर पुनः इस संसारमें जन्म प्राप्त करते हैं। 'यान्ति देवव्रता देवान्' (९ । २५)—जो देवताओंका पूजन करते हैं, वे देवलोकमें (स्वर्गधाममें) जाते हैं। 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' (१४ । १८)—सत्त्वप्रधान मनुष्य [मृत्युके उपरान्त] ऊर्ध्वलोकमें (देवलोकमें) जाते हैं। 'पुण्यैर्देवत्व-माप्नोति' (सूतसंहिता)—पुण्यकर्मके फलसे मनुष्य देवजन्म पाता है । 'देवत्वमथ मानुष्यं पशुत्वं पक्षिता तथा । तिर्यक्त्वं स्थावरत्वं च प्राप्यते वै स्वकर्मभिः ॥' (पद्मपुराण, भूमिखण्ड ८१ । ४३) अर्थात् मनुष्य अपने कर्मके अनुसार देवत्व, मनुष्यत्व, पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनि तथा स्थावर जन्म प्राप्त करते हैं। 'कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः' (महाभा० शान्ति० १७२ । ५) 'निरयं प्राप्स्यति महत् कृतघ्नोऽयमिति प्रभो' (१७३ । १८) तीर्थसेवन और तपस्याके द्वारा भी कृतघ्न पुरुषका उद्धार नहीं होता उसे दीर्घकालपर्यन्त नरकमें भीषण यन्त्रणा भोगनी पड़ती है।

परनिन्दा कृतघ्नत्वं परमर्मावघट्टनम् ।
नैष्ठुर्यं निर्घृणत्वं च परदारोपसेवनम् ॥
परस्वहरणाशौचं देवतानां च कुत्सना ।
निकृत्या वञ्चनं नृणां कार्पण्यं च नृणां वधः ॥
यानि च प्रतिषिद्धानि तत्प्रवृत्तिश्च संतता ।
उपलक्ष्याणि जानीयान्मुक्तानां नरकादनु ॥
दया भूतेषु सद्वादः परलोकप्रतिक्रिया ।
सत्यं भूतहितायोक्तिर्वेदप्रामाण्यदर्शनम् ॥
गुरुदेवर्षिसिद्धर्षिपूजनं साधुसंगमः ।
सत्क्रियाभ्यसनं मैत्रमिति बुध्येत पण्डितः ॥
अन्यानि चैव सद्धर्मक्रियाभूतानि यानि च ।
स्वर्गच्युतानां लिङ्गानि पुरुषाणामपापिनाम् ॥
(मार्कण्डेयपुराण १५ । ३९–४४)

अर्थात् परनिन्दा, कृतघ्नता, दूसरोंके गुप्त भेदका प्रकाश, निष्ठुरता, निर्दयता, परस्त्री-सम्भोग, परधनापहरण, अपवित्रता, देवनिन्दा, शठतापूर्वक परवञ्चना, कृपणता, मनुष्योंका प्राणनाश तथा अन्यान्य निषिद्ध कर्मोंमें निरन्तर प्रवृत्ति ये सब नरकागत मनुष्यके चिह्न हैं । और जीवके प्रति दया, धार्मिक कथा, परलोकप्राप्तिके निमित्त पुण्यकर्मानुष्ठान, सत्यभाषण, निखिल भूतोंके लिये हितकारक

वचन, वेद स्वतःप्रमाण हैं—इस प्रकार विश्वास, गुरु, देवता, ऋषि, सिद्ध और महापुरुषोंका सत्कार, साधुमहापुरुषोंका सङ्ग, शुभकर्मका अभ्यास, सबके प्रति मित्रभाव और अन्यान्य धार्मिक कर्म—ये सब स्वर्गागत पुण्यात्मा पुरुषोंके चिह्न हैं। छान्दोग्योपनिषद्में उक्त हुआ है—'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणैति मासांस्तान्, नैते संवत्सरमभि प्राप्नुवन्ति। 'मासेभ्यः पितृलोकम्, पितृलोकादाकाशम्, आकाशाच्चन्द्रमसम्।' (५ । १० । ३, ४) अर्थात् जो लोग ग्राममें–गृहस्थाश्रममें रहकर 'इष्ट' कर्म (अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्म), 'पूर्त' कर्म (वापी, कूप, तड़ाग एवं बगीचे आदि लगवानेका नाम 'पूर्त' है) और 'दत्त' कर्म (वेदीसे बाहर दानपात्र व्यक्तियोंको यथाशक्ति धनादि दान)—के रूपमें उपासना करते हैं, वे धूमाभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं; उस धूमाभिमानी देवतासे अतिवाहित हुए वे धूमसे रात्रिदेवताको, रात्रिसे कृष्णपक्षाभिमानी देवताको तथा कृष्णपक्षसे दक्षिणायनके छः महीनोंके अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। ये कर्मकाण्डी संवत्सराभिमानी देवताको प्राप्त नहीं होते; वे दक्षिणायनके महीनोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको और आकाशसे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं। याग-यज्ञादिके पुण्यफलरूपमें इन देवताओंद्वारा लक्षित मार्गसे जो लोग चन्द्रलोकमें जाते हैं, वे कर्मी पुरुष स्वर्गलोको प्राप्त होकर वहाँ स्वर्गसुख भोगनेके अनन्तर इस मर्त्यलोकमें वापस आते हैं, अर्थात् वहाँ कर्मोंका क्षय होनेतक रहकर वे फिर इसी मार्गसे अर्थात् जिस प्रकार गये थे, उसी प्रकार लौटते हैं—'तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते।' (छान्दोग्य उप० ५ । १० । ५) "तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते" (श्रीगीता ८ । २५)*

महामुनि यास्कने कहा है—'अथ ये हिंसामाश्रित्य विद्यामुत्सृज्य महत् तपस्तेपिरे चिरेण वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति……पुनरेवेमं लोकं प्रतिपद्यन्ते।' अर्थात् जो लोग ज्ञानसाधनको त्यागकर हिंसामय वेदोक्त याग-यज्ञादि कर्मरूप महत् तपस्या दीर्घकालतक करते हैं, वे धूमादि मार्गसे स्वर्गलोकको प्राप्त होते हैं,…… और जिस कर्मफलसे स्वर्गलोकमें जाते हैं, उस कर्मफलके समाप्त होनेके साथ ही पुनः इस मर्त्यधाममें जन्मते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

> इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः।
> भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान् दिव्यान् निजार्जितान्॥
> तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
> क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः॥
> (११ । १० । २३, २६)

अर्थात् इस संसारमें यज्ञानुष्ठानसे देवपूजन करके याज्ञिक स्वर्गलोकमें जाता है। वहाँ स्वर्गधाममें अपने पुण्यकर्मसे उपार्जित देवोंकी भाँति नाना दिव्यभोग पुण्य क्षीण न होनेतक भोगकर आनन्दमें रहता है। परंतु जिस पुण्यफलसे देवलोकमें गया था, उसका क्षय होनेपर जिस मार्गसे वहाँ गया था, इच्छा न रहनेपर भी कालसे चालित होकर वह उसी मार्गसे उसी प्रकार लौटता है।

सुतरां, कर्मफल स्वर्गादि कदापि नित्य नहीं हो सकता। जहाँ कर्मफलका नित्यत्व शास्त्रमें कथित हुआ है, वहाँ आपेक्षिक नित्यत्व अर्थात् बहुकालस्थायित्वरूप नित्यत्व समझना चाहिये। लोकजननी श्रुतिने जिस प्रकार कर्मफलका अनित्यत्व प्रदर्शित किया है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानका भी परमपुरुषार्थसाधनत्व दिखाया है—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्।' (तैत्तिरीय आरण्यक २ । १ । १) अर्थात् ब्रह्मज्ञ व्यक्ति परमपुरुषार्थ (मुक्ति) को प्राप्त होते हैं। यह तैत्तिरीय श्रुति एकमात्र ब्रह्मज्ञानको ही अपुनरावृत्तिरूप मुक्तिका उपाय स्पष्ट शब्दोंमें कह रही है। 'अतोऽन्यदार्त्तम्', 'यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।' (छान्दोग्य उप० ७ । २४ । १) अर्थात् एकमात्र ब्रह्म ही अमृत (नित्य) है, ब्रह्मभिन्न समस्त वस्तु क्षणस्थायी है। अतएव स्वर्गसुखभोग अनित्य है।

---

* बृहदारण्यकोपनिषद्, षष्ठ अध्याय, द्वितीय ब्राह्मणके षोडश मन्त्रमें भी यह सिद्धान्त किया गया है—'अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति… …ते एवमेवानुवर्त्तन्ते।'

शक्ति-निपात

(लेखक—श्रीवशिष्ठजी)

विदेशियोंने इस 'मनुष्य'के व्यक्तिगत जगत्‌में अपनी अन्ध-प्रवृत्तिके अनुसार यथेष्ट विहार किया है। वे इसे यों ही नहीं छोड़ देंगे। युद्ध करेंगे स्वदेशियोंसे; प्रकाश और शक्तिसे। प्रकाशको अन्धकारसे ढँकना चाहेंगे और स्वदेशियोंको पीछे ढकेलना—वहीं ढकेल देना; जहाँ वे अबसे पहिले छिपे पड़े कालयापन कर रहे थे और प्रकाश और शक्तिको ग्रहण तथा धारण करनेकी सामर्थ्य खोकर निस्तेज तथा निर्वीर्य बन चुके थे। चिरकालके अन्धकार और दिव्यतासे, विच्छेदसे मानव-सत्ताकी नगरीकी दीवारें अपारदर्शक (Untransparent) और अवरोध्या (insulated) बनी हुई हैं। सूर्य चमक रहा है अन्तरमें, क्योंकि वह अब अनावृत हो चुका है; किंतु त्रिगुणोंके बीचमें जो विच्छेद, जो अवरोध, जो अपार-दर्शन जमकर बैठ गया है, वह तेजस्‌को, प्रकाश तथा शक्तिके गमनको; प्रसारको रोकता है और वे विदेशी अन्ध-प्रवृत्तियाँ इस अवरोध तथा अंध-पपड़ीको कड़ा तथा मोटा करनेके लिये सहस्रबाहु बन जाती हैं। किंतु महासूर्यसे आती हुई शक्ति, डायनमोकी बिजलीकी ऊष्मा दीवारोंपर चढ़ी हुई एवं दीवारोंमें ओत-प्रोत इस रेत; चूना तथा गर्दकी पपड़ीको; इस त्रिगुणकी पपड़ीको पारदर्शक काँच बना डालती है। जिससे प्रकाश ओत-प्रोत हो जाय; चर-चराकर टूट जानेवाली पपड़ी पारदर्शक सुदृढ़ काँच बन जाय; असंगति, विच्छेद एवं विरोधको त्यागकर त्रिगुण ज्योति, शक्ति; आनन्द तथा शान्तिका रूप ले ले और मानव-सत्ताकी नगरीके कोने-कोनेमें प्रकाश देदीप्यमान हो उठे।

जहाँ-जहाँ प्रकाश पहुँचता रहेगा, वहाँ-वहाँसे विदेशी अन्ध-प्रवृत्तियाँ खिसककर सत्ताके किसी अँधेरे कोनेमें, किसी पाताल अवचेतनाकी गुफामें जा-जाकर छिपती रहेंगी; किंतु रेत; चूना, गर्दरूपी त्रिगुणकी दीवारें जब दिव्य सुदृढ़; पारदर्शक काँच बन जायँगी, जो प्रकाशको ओत-प्रोत ही नहीं करेंगी, बल्कि प्रतिबिम्बित भी; तब इन विदेशी अन्ध-प्रवृत्तियोंको या तो इस मनुष्य-सत्तारूपी देशको त्यागकर चला जाना होगा या फिर उन्हें मानव-सत्तामें रहनेके लिये, दिव्यतामें रूपान्तरित होकर स्वदेशी बनकर रहनेके लिये आत्मसमर्पण करना पड़ेगा, ताकि सूर्यतेज उन्हें प्रकाशप्रिय दिव्य बना सके। एक-एक रन्ध्र पारदर्शक एवं प्रतिबिम्बक (Reflector) हो जायगा इस दिव्य, सूक्ष्म, इन्द्रियातीत भागवत-ज्योतिकी व्यापकतामें। तब अन्धताको छिपनेके लिये इस 'मानव' नगरी—'मनुष्य' राज्यके किसी अणुमें स्थान न मिलेगा।

मानव-सत्ताकी स्वदेशी प्रजाको सूर्योदयके प्रकाशमें निर्भीकता मिलेगी। सब कुछ नहीं तो, बहुत कुछ देखने-जाननेका अवसर मिलेगा। यों ही संशय आदिके आखेट न होंगे। हमारी सत्ताकी संशयग्रस्त कैकेयीको साफ दिखायी दे जायगा भरतका हृदय—श्रीराम और श्रीसीताका हृदय और जिससे भयभीत एवं शङ्कित थी उस महारानी कौसल्याका हृदय तथा खुली हुई पुस्तकके पृष्ठकी तरह अयोध्याकी प्रजाका हृदय। वह स्पष्ट देख लेगी भरत राज्य ग्रहण न करेंगे; श्रीराम सीता-भरतसे कहीं अधिक उसका आदर करेंगे। कौसल्या भरतको रामके समान ही प्यार करेंगी। तब इन विदेशी अन्ध-प्रवृत्तियोंकी कुमन्त्रणाकी ओर मानव-सत्ताके राज्यमें कोई कर्णपात भी न करेगा। यह उदासीनता, यह असहयोग इन विदेशी अन्ध-प्रवृत्तियोंको निस्तेज; निष्प्रभ तथा अशक्त कर देगा।

नागरिक डरे हुए थे इन विदेशी अन्ध-प्रवृत्तियोंसे, क्योंकि कुछ तो नगरमें अँधेरा होनेसे इन नागरिकोंको सत्यासत्य कुछ सूझता न था। अतः वे इन प्रवृत्तियोंका आदर एवं अनुकरण करनातक कल्याणप्रद समझते थे, दूसरे वे अन्ध-प्रवृत्तियाँ थीं त्रिगुणात्मक अहंकार सरकारकी अन्तरङ्ग सदस्याएँ। इन्हींके सुझावपर तो देशका सारा कारोबार निर्भर करता था और अब सरकारने इनकी न सुननेका निश्चय कर लिया था तथा अन्तस्तलमें प्रतिष्ठित श्रीमहाराजने स्वयं शासनकी बागडोरको सँभालने तथा मन्त्री-मण्डलको अपने दिव्य आदेशसे निरन्तर कृतार्थ करनेका वचन दे दिया था।

प्रत्येक नागरिकमेंसे संशय, भय, दुश्चिन्ता निर्वासित की जा रही थी और श्रद्धा, अमरता, साहस, मन्यु, स्वत्व, सामर्थ्य फल-फूल रहे थे। नरतनुधारी अनन्त सर्वलोकमहेश्वर मानव गुरुके रूपमें अब इस शिष्य, इस मनुष्य-जगत्-रथके सारथि बन गये हैं। इन अनन्तके हाथमें है व्यवस्था अनन्त शक्तियोंकी; क्योंकि ये उन महान् शक्तियोंमें भी, उन अन्ध-प्रवृत्तियोंमें भी दूसरे तथा तीसरे गुप्तचरसे बने पहलेसे ही विराजमान हैं। प्रथम तो इस मनुष्य-राज्यकी प्रजाने अज्ञानके

कारण और मन्त्री-मण्डलके चिरकालसे इन विदेशी अन्ध-प्रवृत्तियोंके हाथकी कठपुतली बने रहनेके कारण सिंह-शावक होते हुए भी अपने आपको मेमना (भेड़का बच्चा) समझ लिया है, जो गड़रियेके बाँसके स्पर्शमात्रसे पालतू पशुकी तरह भेड़ोंके बीचमें सिर झुकाकर डरा, सहमा-सा चलता है। अपने सामर्थ्यको भूल जानेपर, विदेशियोंके भ्रान्त सुझावोंसे भटककर यह प्रजा आपसका विश्वास खोकर शङ्कित एवं संशयग्रस्त हो चुकी है। संगठन तथा सुसंगतिका पता नहीं। तीनों गुणोंकी तीन सभाएँ अविश्वास एवं संशयके वशीभूत होकर आपसमें लड़ती हैं और जब जो अवसर पाती है, प्रधानपदको झपट लेती है। अब सूर्योदय होनेपर सब अन्तर्देवके आदेशपर चलनेको कटिबद्ध हो गये हैं। धारणा, संकल्प, शक्ति प्रत्येकमें दृढ़ होती जा रही है दिव्यताके प्रति ग्रहणशील तथा आज्ञाकारी बननेके लिये।

प्रत्येक नागरिक इस 'मानवता'के व्यक्तिगत जगत्में निश्चयात्मकरूपसे कृतसंकल्प होकर घोषणा करने लग गया है—'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। मैं इस मानव-सत्तारूपी राज्यका मूल निवासी हूँ। अन्तःप्रतिष्ठित अधीश्वर-की प्रजा हूँ।' जो विदेशियोंकी सलाहपर ही निर्भर करता था, वह मनोमय संकल्प भी अब कृत-संकल्प होकर अन्तःप्रतिष्ठित महाराजकी अनुमतिसे उन अनन्तके अवतरण एवं अभिव्यक्ति-के लिये यह घोषणा कर बैठा है। 'अशुभ आगन्तुक चारों ओर शिकार ढूँढ़ रहे हैं, यहाँतक कि वे कभी-कभी दरवाजे खटखटाते तथा खिड़कियोंसे झाँकनेकी कोशिश करते हैं। मैंने तमाम दरवाजे तथा खिड़कियाँ बंद कर दी हैं। और अब न दयाभावसे, न उत्सुकतासे मैं उन्हें खोलूँगा। वे शीत रात्रिमें चिल्लायें या अपने रास्ते लगें या नष्ट हों। मैं अपने अतिथि-की प्रतीक्षामें हूँ, जो अन्तरमें अपने-आपको प्रकट करेंगे। उन्हींके लिये मैं वेदीको स्वच्छ, स्नेहशील बनाये हुए हूँ। संतोष तथा तल्लीनतासे अग्निकी रखवाली कर रहा हूँ। अग्निशिखाएँ प्रदीप्त हो रही एवं आरोहण कर रही हैं—जिनमेंसे प्रत्येक वह वाणी है, जो प्रियतमके आगमनकी प्रार्थना तथा पुकार करती है।

'अन्तरात्मे! उनकी मधुर चरण-ध्वनिको सुनो। अन्य वाणियोंकी ओर कर्णपात मत करो, हृदयकी समस्त उत्सुकता-को निश्चल नीरवतामें समेट लो। लो! उनके पायलके संगीतके साथ गम्भीरताएँ बज रही हैं*।'

इस प्रकार स्वराज्य प्राप्त हो जानेपर इस मनुष्य-राज्यको किसी विदेशीकी किसी प्रकारकी मन्त्रणाकी, सुझावकी जरूरत नहीं रहेगी, कारण अन्तःप्रतिष्ठित विश्वराट्-प्रतिनिधिको सदैव ही अनन्तका दिव्य परामर्श, दिव्य ज्ञान-प्रकाश तथा सर्व-शक्तियाँ उपलब्ध हैं। अनन्तको धारण किये हुए भगवान् गुरु, अनन्त ब्राडकास्टिंग स्टेशन तथा अनन्त डायनमो हैं। अबाध विद्युत्-धारा, विद्युत्-शक्ति एवं विद्युत्-प्रकाशको लिये हुए इस 'मनुष्य' व्यक्तिगत जगत् इस ससीम बैटरी सेटके रूपमें भ्रमण कर रही है।

इतना ही नहीं, आगे चलकर इस रेडियोको ब्राडकास्टिंग स्टेशन, इस बैटरी सेटको डायनमो, सान्तको अनन्त, नरको नारायण, स्वराज्यको दिव्य साम्राज्य बनना है, सर्वत्र देश-अदेश, आधार-आधेय, यन्त्र-अयन्त्र, आश्रय-निराश्रयको सर्वाङ्गीण दिव्य, सशक्त एवं आलोकित करते हुए ताकि स्वराज्य-में नहीं बल्कि सर्वलोकमहेश्वरके साम्राज्यतकमें भी डिंडिम नादसे यह घोषणा गूँज उठे '(चेतनाकी) बृहतीके वे द्वार खुले जब होंगे, कहाँ छिपोगे पाप! घुसे अणु-अणुमें!' तब इन यथेच्छगामी विदेशी अन्ध-प्रवृत्तियोंको भी शरणागत होकर दिव्य बनना पड़ेगा।

बहुत कठिन है…… बहुत सरल है

बहुत कठिन है, बहुत कठिन है मन को ठीक रास्ते रखना।
सरल नहीं है, सरल नहीं है मत्सर-दम्भ-लोभसे बचना॥
पर जो इन सबसे बच जाये,
जो मनको सीधा रख पाये,
कठिन नहीं है, कठिन नहीं है वहाँ 'शिवम्-सत्यम्'का रहना।
वहाँ सरल है, बहुत सरल है सुख-संतोष-शान्तिका बसना॥

—बालकृष्ण बलदुवा

* To the height (उच्चताके प्रति)।

ही वह आनन्दरूप परमात्माके स्वरूपको प्राप्त होता है। इसी कारण तुलसीके राम मानव भी हैं और ईश्वर या परब्रह्म भी हैं। परब्रह्मरूपिणी एकरसता व्यवहार-जगत्में 'राम'—सर्वव्यापी चेतनाके रूपमें अवतरित होती है।

यथा—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥

जिस प्रकार ज्ञान और अज्ञान, प्रकाश और अन्धकार सापेक्ष हैं, उसी प्रकार निर्गुण (Unmanifest) और सगुण (manifest) परब्रह्म और राम सापेक्ष हैं—

एक दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥

× × × ×

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

अगुन अखंड अमान एक रस। राम सगुन भए भगत प्रेम बस॥

× × × ×

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

रामको प्राप्त करनेका एक ही उपाय है—'विशुद्ध प्रेम'—रामहि केवल प्रेम पियारा; और रामको प्राप्त करनेका अर्थ है रामके स्वरूपकी चेतनामें अवगाहन, किंवा स्वयं राम-रूपको प्राप्त हो जाना। 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई' का यही तात्पर्य है।

तुलसीके राम विश्वके कण-कणमें व्याप्त एकरस-जीवन हैं। उनके चरित्र-चित्रणका मूलाधार यही सर्वग्राही सत्य है। मारीच-जैसे कपटी एवं समस्त प्रपञ्च एवं विपत्तिके मूल कारणके प्रति रामका व्यवहार देखिये—

प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि रामु समेत सनेहा॥

समस्त छल-छिद्रका त्याग होते ही विशुद्ध प्रेमका संचार हो उठा। एकरसताकी प्राप्ति उसका अनुसारी परिणाम होना ही चाहिये था—

अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥

यहाँतक कि असत्य रूप रावणकी चेतना जिस क्षण सत्यरूप रामकी ओर उन्मुख होती है, उसी क्षण उसका उद्धार हो जाता है—

गर्जेउ मरत घोर रव भारी। कहाँ रामु रन हतौं पचारी॥
तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन॥

महानताका संचार महानताका गुण भी है और लक्षण भी। महानतामें संक्रामकता होती है। उसके सम्पर्कमें आते ही 'लघुता' महत्ताकी ओर अग्रसर हो उठती है। लघुत्वका महत्त्वमें लय होना ही समस्त ज्ञान, योग, भक्ति एवं काव्यका चरम फल है। तुलसीके रामका बड़प्पन ऐसा ही है। उनके सम्पर्कमें आनेवाले भालु-कपितक अपने-आपको सर्व-सामर्थ्यवान् समझने लगे थे। रामके नामपर रावणकी सभामें अङ्गदका पैर जमा देना रामकी इसी महानताका परिचायक है। लक्ष्मणको शक्ति लगनेके अवसरपर हनुमान्ने भी यही कहा था—

जौं हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चंद्रमहि निचोरि चैल ज्यौं, आनि सुधा-रस प्यावौं। (गीतावली)

विश्व-चेतनाके अवतार रामका शील भी सर्वथा स्पृहणीय था—

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
सो संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥

विज्ञ पाठक! 'सकुचि' शब्दकी महिमा समझेंगे तो ऋणत्रयीसे उऋण होनेके लिये आजन्म प्रयत्नवान् बने रहेंगे। रामके जगत्में वस्तुतः अपने-परायेकी भावना निर्मूल हो गयी थी। उनके लिये शत्रुभावकी स्थिति ही नहीं थी। रावणके पास दूतकाज-हित अंगदको भेजते समय रामने रावण-के हितकी ही कामना की थी—

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥
काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥

भक्त विभीषणको उपदेश देते हुए रामने जिस धर्म-रथ-का निरूपण किया है, वह तो मानो इसी विश्व-व्यापी चेतना-का ही व्यावहारिक अथवा सगुण स्वरूप है। भगवान् अपना मत स्पष्ट प्रकट कर देते हैं—

सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥

विश्व-व्यापी चेतना सर्वथा अभयरूप होती है; न तुम किसीके लिये भयका कारण बनो और न तुम किसीसे भय करो। रामका जीवन सर्वथा अभय ही था। यथा—

जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहिं माथ॥

तथा—

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भईं रजनीचर धारी॥

भेद-भाव अथवा भेद-बुद्धिकी सीमाएँ देश (Space, matter) और काल (Time,mind) है—इन

सीमाओंसे परे रामकी चेतनाका निरूपण करनेके लिये इन सीमाओंसे मुक्त अनुभव और वाणी अपेक्षित है।

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहिको जाननिहारा॥

जबतक देश-कालकी सीमाएँ रहेंगी, तबतक तर्क-वितर्क स्थित रहेगा। बुद्धिके भेद अथवा संदेहके लिये स्थान रहेगा ही। संश्लिष्ट आत्माके अनुभवके लिये विश्लेषणहेतुक देश-कालका परित्याग अनिवार्य है। जबतक चेतनामें विश्लेषण हेतुक बुद्धि शेष है, तबतक अखण्ड सत्ताका परिज्ञान कैसा? यथा—

केसव! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र हरि समुझि मनहि मन रहिये॥

× × × ×

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै॥
(विनयपत्रिका)

ज्ञान, बुद्धि और क्रियाका सगुण-स्वरूप आत्मा, बुद्धि और मानस है। इन दोनो त्रिभुजोंका संतुलन संसारके सुख-शान्तिका हेतु है। शिवका ताण्डव इनके संतुलनका प्रतीक है। रामके जीवनमें पूर्ण संतुलन था। रामरूपी ज्ञान लक्ष्मण तथा तदनुसारिणी क्रियारूपी सीता एवं धर्मबुद्धि लक्ष्मणसे सदैव सम्पृक्त रहता है। योगेश्वर श्रीकृष्णरूपी ज्ञान और तदनुसारिणी क्रियारूपी धनुर्धर पार्थके प्रसङ्गमें भी गीताकारने विजय-भूतिकी चर्चा की है। परंतु तुलसीके राम-वाला प्रसंग कहीं अधिक सरस व्यावहारिक एवं ग्राह्य है।

यथा—

कीर के कागर ज्यों नृप चीर, बिभूषन उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मग-बास के रूख ज्यों, पंथ के साथ ज्यों लोग-लोगाई॥
संग सुबंधु, पुनीत प्रिया, मनो धर्मु क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन रामु चले तजि बाप को राजु बटाउ की नाई॥
(कवितावली)

रामकी उक्त चेतनाका आभास जिसको प्राप्त हो गया, वह मानो कृतकृत्य हो गया—राम-रूप ही हो गया। गोस्वामीजीके निम्नलिखित कथनपर इसी दृष्टिकोणसे विचार करना चाहिये—

जाकी कृपा लवलेस तें मतिमंद तुलसीदासहूँ।
पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥
(रामचरितमानस)

भगवान् रामने स्वयं अपने ही मुखसे कहा है कि जो एक बार इस धारामें पड़ जाता है, वह फिर पीछेकी ओर नहीं जाता है। देश-काल ही तो पाप-पुण्यकी सीमाएँ हैं।

जिसे असीमताका, महत्त्व-साक्षात्कारका सुख प्राप्त हो जाता, वह फिर ससीमताकी, लघुत्वकी कामना क्यों करने लगा? रामकी चेतनाका आनन्द मानो अनन्त सौन्दर्य, अनन्त शक्ति और अनन्त शीलके अनन्त महासागरके तटपर खड़े होकर उसकी अगणित लहरोंके अनिर्वचनीय आनन्द-का लाभ करना है। यथा—

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

मनकी ऐसी स्थितिका सबसे बड़ा प्रमाण है। चित्तका सुशीलताकी ओर आपसे-आप ढल जाना—

हौं अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परि है।
(विनयपत्रिका)

धर्माचरण-सम्बन्धी वह सूत्र—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

उक्त चेतना-प्रसूत ही समझना चाहिये। अन्तःकरणकी इस वृत्तिके लिये अहंकारका उन्मूलन अनिवार्य है, साधन और साध्यकी एकता अपेक्षित है—

यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥

चाह

मिलौ न चाहै तुम कबौं, करौ भले मति याद।
नित्य याद मोकूँ रहौ, छिन भर जाय न बाद॥
देउ दुःख मोकूँ अमित, करौं न कछु फरियाद।
बनी रहै मनमें सदा तुम्हरी मीठी याद॥

संजयकी दृष्टि

[श्रीराधाकृष्ण]

गीतामें महाभारतका एक प्रसंग है। कहानी सबकी जानी-सुनी है। कौरवोंके पिता जन्मान्ध थे। उनमें देखनेकी शक्ति नहीं थी। फिर हस्तिनापुरमें बैठकर वे कुरुक्षेत्रमें होनेवाली घटनाओंको देख भी नहीं सकते थे। इसीलिये उन्होंने संजयसे पूछा।

और संजयमें वह शक्ति थी। जो दृश्य सामने न हो उसे भी वे देख सकते थे। वे देख सकते थे कि कहाँ क्या हो रहा है। मगर यह बात कुछ विचित्र-सी है। परोक्षकी घटनाएँ दिखलायी नहीं पड़तीं। इस बातको लेकर कोई भी पूछ सकता है कि 'क्यों महोदय! जो वस्तु सामने न हो, संजय उसे किस तरह देख सकते थे? इस तरह कोई देख नहीं सकता, फिर संजयकी आँखोंमें ही कौन-सी ऐसी खास बात थी कि वे देख पाते थे? इस बातपर एकाएक विश्वास करना कठिन है कि हस्तिनापुरमें बैठकर कोई कुरुक्षेत्रकी घटनाओं-को देख सकता हो।'

आदमी समझता है कि आँख देखती है; मगर देखने-वाली शक्ति कुछ दूसरी है। अक्सर ऐसा भी देखा गया है कि आदमीकी आँखोंके सामने तरह-तरहकी घटनाएँ हो रही हैं; परंतु उस ओर उसका ध्यान नहीं। वह उन घटनाओंको नहीं देख पाता। यद्यपि आँखें खुली हैं, सामनेका कोई भी दृश्य अगोचर नहीं, फिर भी वह सामनेकी घटनाओंको देख नहीं पाता। आदमी चिन्तामें चूर है, आँखें खुली हैं, मन इधर-से-उधर भटक रहा है—ऐसी अवस्थामें कोई उसके पास आता है और पूछता है कि अभी आपने अमुक व्यक्तिको इधरसे जाते हुए देखा है? मगर देखनेवाला तो अपनी चिन्ताओंमें खोया हुआ था। उसे पता भी नहीं कि अमुक व्यक्ति इधरसे गया भी या नहीं। इसका कारण क्या है? देखनेवाली शक्ति उसकी उस समय काम नहीं कर रही थी। खुली आँखोंसे देखता हुआ भी वह आदमी नहीं देख रहा था।

कलकत्ते और बंबईकी व्यस्त जिंदगी। चलते-फिरते आदमीकी आँखोंके सामने निरन्तर कितने दृश्य दिखलायी पड़ रहे हैं; लेकिन वह उन्हें नहीं देख पाता। अगर वह सामने-के दृश्योंको देखे तो बस उन्हीं दृश्योंमें उलझता-सुलझता रहे। अपना काम तो वह कदाचित् ही कर पायेगा। उसके सामने अपनी चिन्ताएँ हैं, अपना काम-धाम है, अपनी व्यतिव्यस्तिता है। वह सामनेके दृश्योंको, घटनाओंको देखता हुआ भी नहीं देख पाता। क्या उस समय उसकी आँखें काम नहीं करतीं? आँखोंकी क्रियाशीलता तो वही रहती है; किंतु उसकी देखनेवाली शक्तिकी क्रियाशीलता दूसरी ओर लगी रहती है।

मनुष्य देखता कैसे है? मनुष्यकी आँखकी काली पुतलियोंसे दृष्टिपटलतक पाँच लाख नन्हे-नन्हे तन्तु जाते हैं। आँखकी रेटिनापर सामनेके दृश्योंका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह उल्टा पड़ता है। फिर भी हम हैं कि सामनेका दृश्य उल्टा नहीं, सीधा देखते हैं। उल्टी परछाँहीको हम किस प्रकार सीधा देख लेते हैं? आश्चर्यकी बात है कि हमें इसका अनुभव भी नहीं होता कि हमारी आँखोंमें सामनेके दृश्यकी उल्टी परछाईं पड़ रही है। यह बिल्कुल मालूम ही नहीं होता कि जिस आदमीका सिर हम ऊपरकी ओर देख रहे हैं, उसका सिर अपनी आँखोंमें नीचेकी ओर है। इसीलिये मैंने कहा कि देखनेवाली चीज आँख नहीं, वह कोई दूसरी चीज है जो देखती है।

बहुत दिनोंकी बात है, एक बार मैं बीमार होकर गुमलामें पड़ा हुआ था। उन दिनों मेरे मनमें एक प्रश्न उमड़ आता था कि जो आदमी जन्मसे ही अन्धा है वह भला क्या सपना देखता होगा। अगर वह सपना देखता है तो क्या देखता है? उसके सपने किस तरहके होते हैं? अपनी इस जिज्ञासाकी तृप्तिके लिये मुझे दूर जानेकी जरूरत नहीं पड़ी। एक जन्मान्ध व्यक्ति उसी शहरमें रहता था। एक दिन वह मिला तो मैंने उससे पूछा—'क्यों जी, तुम भी कभी सपना देखते हो?'

उसने हँसकर जवाब दिया—'बस, कभी-कभी सपना ही तो देखता हूँ बाबू! सपनेके सिवा और क्या देख सकूँगा।'

मेरी उत्सुकता बढ़ गयी। पूछा—'सपनेमें तुम क्या देखते हो?'

कहने लगा कि मैं सपनेमें तालाब देखता हूँ जहाँ उजले, लाल और नीले कमल हैं। मैं चिड़ियोंको आते-जाते उड़ते और बोलते हुए देखता हूँ। तालाबसे लौटते हुए मुझे कुछ

रुपये मिल जाते हैं। कपड़ेकी एक पोटली मिलती है जिसमें गहने बँधे हुए हैं।......इस तरह वह कई सपनोंकी कितनी तरहकी कहानियाँ सुना गया।

और मैं चक्करमें था, हक्का-बक्का होकर सोच रहा था कि इसने सपनेमें जो तालाब देखा वह कैसा तालाब था? उजला-लाल और नीलकमल......इस व्यक्तिके द्वारा देखा हुआ उजला-लाल और नीला कैसा है? सपनेमें वह जिस कमलको देखता है, वह किस प्रकारका कमल है? उसकी देखी हुई चिड़िया वास्तविक चिड़ियाके समान ही है या उससे भिन्न है? उसने सपनेमें जो देखा उसका देखा हुआ वह रुपया कैसा है? कपड़ेकी बँधी हुई वह पोटली—उसके भीतर बँधे हुए गहनोंकी शक्ल......वह सपनेमें कैसा देखता है?

आँखें उसकी हैं नहीं, फिर भी वह सपने देखता है। जिनके पास आँखें हैं वे जब सपना देखते हैं तो उन्हीं चीजों-को देखते हैं जिन्हें वे अपनी आँखोंसे देख चुके हैं। अगर वह दूसरे किस्मकी कोई चीज देखता है, तो वह भी आँखोंसे देखी हुई चीजकी ही विकृति या रूपान्तरमात्र होती है। मगर जन्मान्धका स्वप्न......दृष्टिशक्ति है ही नहीं, फिर भी वह सपने देखता है। जाग्रत्-अवस्थामें कुछ भी देख नहीं पाता, मगर सुषुप्तावस्थामें देखनेयोग्य सारी चीजोंको देखता है। मान लिया कि वह सपनेमें अपनी कल्पनाको देखता है; मगर देखता तो है। आँखें केवल माध्यम हैं जिनके द्वारा वह देखनेका काम लेता है। देखनेकी शक्ति कोई दूसरी होती है।

आजके आधुनिक युगमे चीर-फाड़की इतनी वृद्धि हुई है कि पुरानी दुनिया इन थोड़े ही दिनोंमें कहाँ-से-कहाँ पहुँच चुकी। आज तो शरीरके रद्दी पुर्जे बदलकर नये लगाये जा रहे हैं। अमेरिकाके एक सर्जनने एक मरते हुए आदमीकी आँखें निकालकर एक जन्मके अन्धे व्यक्तिकी आँखके कोटरों-में लगा दिया। अन्धा व्यक्ति देखने लगा। न्यूयार्कमें आँखों-का बैंक भी स्थापित हो गया है। वहाँ आँखके कोटरका पारदर्शक भाग 'कोर्निया' छः दिनोंतक सुरक्षित रखी जाती हैं। एयरटाइट बक्समें द्रवके अंदर कोर्निया रखी जाती है। स्वयं बक्स भी रेफ्रिजेटरके अंदर रखा जाता है, जिसमें रासायनिक द्रव ठंडा बना रहे। अनेक व्यक्तियोंकी दृष्टिशक्ति आँखकी कोर्नियामें चोट लगनेसे जाती रहती है। सर्जन इनकी आँख-की खराब कोर्नियाको ऑपरेशन करके बाहर निकाल देते हैं और उसकी जगहपर स्वस्थ आँखकी कोर्निया फिट कर देते हैं। इस तरह उनकी आँखोंकी देखनेकी शक्ति फिर लौट आती है। ऐसे-ऐसे भी दृष्टान्त हैं जिन्होंने अपनी आँखें खोकर बाईस वर्षोंके बाद फिरसे ऑपरेशनके द्वारा अपनी आँखें पायीं। मरनेके बाद चार घंटोंके अंदर-अंदर कोर्नियाको निकालकर रख देनेसे वह ठीक रहती है।

पटना वीमेन्स ट्रेनिंग कालेजकी प्राध्यापिका कुमारी सरोज धानने एक दिन बातचीतके सिलसिलेमें मुझसे कहा था कि कभी-कभी मैं एक अन्धा-स्कूलमें जाया करती थी। पहले तो कुछ खास बात देखनेमें नहीं आयी; मगर कुछ दिनोंके बाद जब मैं अन्धी छात्राओंके बीच पहुँची, तब कोई लड़की बोल उठी—'लो, सरोजदीदी आ गयीं।'

वे उन्हें किस तरह पहचान जाती थीं?

सरोज धानने कहा था—एक दिन मैं अन्धी छात्राओंके बीच पहुँची तो मेरे साथ एक दूसरी महिला भी थीं। जब हमलोग पहुँचीं तो वे आपसमें बातें कर रही थीं—'एक तो सरोजदीदी हैं; मगर ये दूसरी कौन हैं?'

एक लड़कीने कहा—'ये अमुक हैं।'

दूसरी बोली—'ये अमुक तो कभी नहीं; दूसरी कोई हैं।'

तबतक तीसरी बोल उठी—'अरी, ये अमुक हैं, अमुक! ये बहुत कम आती हैं।'

और उस लड़कीका अंदाज बिल्कुल ठीक था। आँख न होनेपर भी उन्हें आदमियोंके पहचाननेमें किसी तरहकी बाधा नहीं होती थी।

जहाँतक मनुष्यकी दृष्टिशक्तिकी बात है, आदमीकी दृष्टिशक्ति बड़ी सीमित है। उसके पास केवल दो आँखें हैं और प्रत्येक आँखमें केवल एक ही लेन्स है। आँखके मामले-में वह कीड़े-मकोड़ोंसे भी तुच्छ है। मधुमक्खीकी पाँच आँखें होती हैं और उन आँखोंमें ६,००० लेन्स होते हैं। अब आप मधुमक्खीकी आँखोंसे मनुष्यकी आँखोंकी तुलना कर लें। मैदेकी ढेरमें मैदाका एक कण देख सकना मनुष्यके सामर्थ्यके बाहर है; लेकिन मधुमक्खी उसे देख सकती है। नन्ही-नन्ही पत्तियोंमें जो रोमकूपके समान छेद होते हैं, उन्हें मधुमक्खी आसानीसे देखती है। किसी पेड़की डालीके ऊपर सूर्यकी सतरंगी किरणें किस तरह नाचती हैं यह दृश्य देख सकना मनुष्यके लिये जितना कठिन है, मधुमक्खीके लिये उतना ही आसान है। मधुमक्खी घंटेमें बीस मीलकी गतिसे उड़ सकती है। अगर मील दो मील दूर किसी पेड़की टहनीपर कोई कली

खिलती है, तो उसकी गन्ध भी उसे मालूम हो जाती है। वह जब चाहे, बिना बतलाये उस फूलके पास पहुँच सकती है। यही नहीं, दूर फूले हुए हजारों-लाखों फूलोंकी सुगन्धके बीच वह अपने इच्छानुसार केवल एक फूलकी सुगन्ध भी ग्रहण कर सकती है। मधुमक्खीकी इन शक्तियोंके आगे मनुष्यकी इन्द्रियोंकी शक्तिकी तुलना कीजिये।

वनस्पति-जगत्में देखिये। लोग उल्टा-सुल्टा बीज बोते हैं, मगर उपज सीधी होती है। लताकी आँखें नहीं होतीं; लेकिन लता सदा उसी ओर बढ़ती है जिस ओर उसे ऊपर उठ सकनेका सहारा मिलता है। पहाड़की दरारमें उगनेवाली वनस्पतियाँ उसी ओर अपनी डालियाँ फैलाती हैं जिस ओर कोई दूसरी दरार है और जहाँ बीज उगानेके लिये कुछ मिट्टी है। उसी दरारतक ये अपनी डालियोंको पहुँचाकर फूलती-फलती हैं और वहाँकी मिट्टीमें अपना बीज सौंपकर संसारसे चली जाती हैं। क्या यह कम आश्चर्यकी बात है? आँखें तो उन्हें होतीं ही नहीं, फिर वे अपना देखने-का सारा कार्य किस तरह सम्पन्न कर लेती हैं? आँख नहीं होनेपर भी देखनेका उनका सारा आवश्यक व्यापार चलता रहता है। केंचुआकी आँखें होतीं ही नहीं; मगर वे सदा वहीं पायी जाती हैं जहाँ उनकी आवश्यकता है, जहाँका स्थान उनके अनुकूल है। केंचुआ बिना आँखके किस तरह अपने उपयुक्त स्थानकी तलाश कर लेती हैं? आँख नहीं होनेपर भी देखनेकी क्रिया चल सकती है और आँख होनेपर देखनेका काम नहीं हो सकता। साँपकी आँखोंके ऊपर पलकें नहीं होतीं। जब वह आराम करता है, कहा जाता है कि साँप सोता नहीं, आराम करनेके लिये निश्चेष्ट होकर पड़ा रहता है, तब भी उसकी आँखें खुली रहती हैं और उन खुली आँखोंसे भी वह कुछ देख नहीं पाता।

कई वर्ष बीते। पलामू जिलेका एक उराँव-परिवार आकर हमारे पड़ोसमें रहता था। उराँव लोकगीतोंके विषयमें उन लोगोंके साथ मेरी बातचीत हुआ करती थी। एक दिन किसी बातचीतके सिलसिलेमें उसने बतलाया कि जब वह अपने गाँवमें था, कई वर्ष पहले, एक रात एकाएक उसकी नींद उचट गयी और उसे मालूम हुआ कि कुछ लोग चुपके-से आकर उसके खेतकी फसल काट रहे हैं। वह घबरा गया और अपने भाइयोंको जगाने लगा। अपने भाइयोंको साथ लेकर हथियारोंसे सुसज्जित जब वह खेतपर पहुँचा तो पाया कि उसकी आशङ्का ठीक थी। चाँदनी रातमें उसने देखा कि कुछ लोग उसके खेतमें झुके हुए हैं और फसल काटते जा रहे हैं। वे रातोंरात आकर चुपकेसे उसकी फसल उड़ा देना चाहते थे। इसने जोरसे ललकारा, तो चोर भयभीत होकर भाग निकले और उसकी फसल बच गयी।

जहाँतक इस उराँवका प्रश्न है, इसने सपना भी नहीं देखा था। सहसा उसकी नींद उचट गयी और उसने अनुभव किया कि उसके खेतमें फसलकी चोरी हो रही है। इतना ही नहीं, उसने दृढ़ विश्वासके साथ अपने भाइयोंको जगाया, हथियार आदि लिये और तब खेतपर पहुँचा। वहाँ वही बात थी। उसकी आशंका ठीक निकली। उसने चोरोंको चोरी करते हुए सपनेमें भी नहीं देखा था, फिर कौन-सी शक्ति थी जो चोरोंको देख रही थी?

बहुत दिन पहले हिंदीके अमर कहानीकार स्वर्गीय विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' एक मासिकपत्र निकालते थे। उसका नाम था 'मनोरंजन'। उसमें यूरोपकी किसी दम्पति-की दृष्टिशक्तिके विषयमें एक विचित्र वृत्तान्त छपा था। पति और पत्नीमें प्रगाढ़ प्रेम था। पति चाहे कहीं भी हो, पत्नी बतला सकती थी कि वह कहाँ है, किन लोगोंसे बातें कर रहा है, क्या काम कर रहा है। मनोवैज्ञानिक हैरान थे और किसी तरह भी उसकी पत्नीकी इस शक्तिका अंदाज नहीं कर पाते थे। वैज्ञानिकोंने चाहा कि पतिको किसी दूर देशमें भेजकर इस बातकी परीक्षा करें कि उस समय भी पत्नी अपने पतिकी सारी बातें जान पाती है या नहीं। परंतु पत्नी राजी नहीं हुई। उसका विश्वास था कि दूर जानेसे वह अपनी इस शक्तिको ही नहीं खोयेगी, बल्कि अपने पतिको भी खो बैठेगी। वैज्ञानिकोंने बतलाया था कि परोक्षमें गये हुए अपने पतिके बारेमें वह जो बतलाती है वह बिल्कुल सही है। यह दूर परोक्षमें देख सकनेका उदाहरण है या नहीं?

कदाचित् सन् ४६ की बात है। मेरे बड़े लड़के समरकुमारको लीवरका ऐसा रोग हो गया था कि डाक्टर यदुगोपाल मुकर्जी-जैसे महान् चिकित्सकने भी जवाब दे दिया। उनका कहना था कि रोग बहुत अधिक बढ़ गया है और इस अवस्थामें एलोपैथी दवा कारगर नहीं हो सकती। इसलिये जी चाहे होमियोपैथी कराओ, आयुर्वेदकी शरण लो, यूनानी दवा दो; मगर एलोपैथीके भरोसे न रहो।

यह एक किस्मसे जवाब था। मेरा मन निराशासे भर आया। शामको टहलने निकला तो पं० भवभूति मिश्रसे भेंट

हो गयी। मेरी परेशानीकी बात सुनकर बोले कि 'डोमचाँचके परमहंस बाबा आये हुए हैं। उन्हींके दर्शनोंके लिये जा रहा हूँ। आप भी चलिये।'

मैं गया। इससे भी पहले एक-दो बार उनका दर्शन पा चुका था। निर्विकार चेहरा। आँखोंमें गहरे अनुरागकी छाया। उस समय वे अपने अन्य भक्तोंसे बातें कर रहे थे। मैं चुपचाप एक ओर बैठ गया। अवसरकी ताकमें था कि मौका मिले तो अपनी बात उठाऊँ। सहसा उनकी दृष्टि मेरी ओर फिरी। मुझे देखते ही वे बोल उठे—'अरे बेटा-बेटा तू इतनी चिन्ता क्यों कर रहा है ? जाकर बकरीके दूधमें गोमूत्र मिलाकर पिला दे। थोड़े ही दिनोंमें बच्चा ठीक हो जायगा।'

मैंने उनसे कुछ कहा नहीं, पूछा नहीं। उनके सामने केवल मेरा शरीर था; लेकिन उन्होंने मेरे मनमें उठनेवाले विचारोंको पूरी तरह पढ़ लिया। यही नहीं, उन्होंने मेरे लड़केकी अवस्था भी देख ली और उसका निदान भी बतला दिया। यह कैसे हो गया ?

उस लड़केको दवा दी गयी और वह ठीक हो गया। डाक्टर आये। देखा तो ताज्जुबसे भर उठे। यह क्या जादू हो गया ? मैंने सारी बातें बतलायीं तो बोले—'साधुने जो दवा बतलायी थी सो बड़ी पक्की दवा थी। हार्टको ठीक रखनेके लिये बकरीका दूध और लीवर काटनेके लिये गोमूत्र !'

संसारमें न जाने कितनी आश्चर्यकी बातें हो जाती हैं; लेकिन मनुष्य ठीकसे उनकी ओर ध्यान नहीं देता। मेरे एक मित्र हैं ईश्वरीप्रसाद सिंह। उन्होंने अपना एक अनुभव बतलाया। कहने लगे कि 'एक गाँवमें जाना था; लेकिन जंगलमें रास्ता भटक गया था। कहीं कोई आदमी भी नहीं कि उससे पूछूँ कि अमुक गाँव किधर है। मटमैली साँझ घिर आयी थी। उसके पीछे-पीछे रात आ रही थी। चारो ओर झींगुरोंका शोर। आखिर उन्होंने अपने-आपको यों ही रामभरोसे छोड़ दिया। सोचा कि चलते हुए जिस-किसी भी गाँवमें पहुँचेंगे, टिक जायँगे। मगर कहीं भी गाँवका नाम-निशान, लता-पता नहीं। रात चली आ रही थी, चारो ओर धुंध-सा हो रहा था, जब वे थकावटसे बिल्कुल चूर हो गये, तब ठीक उसी समय उन्हें एक गाँव मिला। अब चाहे कोई भी गाँव हो!—उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि एक आदमी आता हुआ दिखलायी पड़ा।

ईश्वरीबाबूने उत्सुक होकर उससे पूछा—'अमुक गाँव किधर है ?'

उस व्यक्तिने जवाब दिया—'अमुक गाँव तो यही है।'

ईश्वरीप्रसादने उल्लसित होकर पूछा—'........सिंह-को जानते हैं ?'

जवाब मिला '......सिंह तो मैं ही हूँ !'

कितने आश्चर्यकी बात है ! उस जंगलमें भटकते हुए ईश्वरीप्रसादको उस गाँवकी राह कौन बतला रहा था ? उनके पैर उसी ओर क्यों जा रहे थे जिस ओर वह गाँव था ?

इस बातको आप चाहे संयोग कहें, अन्तःप्रेरणा कहें, अन्तर्दृष्टि कहें, जो कहें; मगर इतना तो अवश्य कहेंगे कि आँखके ऊपरकी भी कोई शक्ति है। वह शक्ति अनजानी जगहमें भी राह बतलाती है। जो नहीं देख पाया है, उसे भी दिखला देती है। आजके इस अविश्वासी युगमें विज्ञान और तर्कके नामपर बातको टाल दिया जाता है। कहा जाता है कि संयोग है, आश्चर्य है, झूठ है; परंतु जरा गहराईमें डूबकर विचार करनेके लिये किसीके पास समय नहीं है। महात्माओंके जीवनमें अन्तर्दृष्टिके देखे जानेके न जाने कितने वृत्तान्त मिलते हैं। जब प्रभु ईसा अन्तिम बार यरुसलेम जा रहे थे तो बहुत थक चुके थे। उन्होंने अपने दो शिष्योंको बुलाया और बोले—'सामनेके गाँवमें चले जाओ। वहाँ तुम्हें एक गदही बँधी हुई मिलेगी। पास ही उसका बच्चा होगा। उस गदहीको खोलकर लेते आओ। अगर कोई रोके तो कह देना कि प्रभुको इसकी जरूरत है।'

ईसामसीहने उस गदहीको किस तरह देख लिया, जो सामनेके गाँवमें दूरपर थी ? ईसाके शिष्य उसे नहीं देख पाते थे; मगर ईसा उसे देख रहे थे।

तो इस बातको मान लेनेमें हर्ज क्या है कि संजयकी दृष्टिशक्ति विस्तृत थी। वे परोक्षमें होनेवाली घटनाओंको भी भलीभाँति देख सकते थे।

१९२६ की २५ जनवरीका दिन विज्ञानके इतिहासमें एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उस दिन रॉयल-इन्स्टीट्यूटके सदस्योंके सामने जान-बेयर्डने पहली बार टेलिविजनका सफल प्रयोग किया था। आज अमेरिका, इंगलैंड आदि पाश्चात्त्य देशोंमें टेलिविजन जनताकी चीज हो चुकी है। वहाँ टेलिविजनकी आवश्यकता प्रतिदिनकी अनिवार्य आवश्यकताओंमें गिनी जाती है। टेलिविजनके द्वारा आज हम दूरकी चीजोंको देखनेमें समर्थ हैं। आजका मनुष्य यह जाननेमें भी समर्थ है कि धरतीके नीचे कहाँ किस चीजकी खान दबी पड़ी है, कहाँ तेलका सोता जमीनके नीचे बह रहा है।

आजसे तीन सौ साल पहले स्वीडनके वैज्ञानिकोंने सबसे पहले लोहेकी खानोंका पता लेनेके लिये चुम्बकीय सूईका प्रयोग किया था। अब तो इस प्रकारके यन्त्रोंका विकास बहुत दूर-तक हो चुका है। आजके युगमें इन्फ्रा-रेड और अल्ट्रा-वायलेट रश्मियोंके द्वारा लिये गये फोटोग्राफ आश्चर्यकी चीज नहीं रहे। एक्स-रे फोटोके बारेमें आज सभी जानते हैं। इनकी बात सुनकर आश्चर्यसे चौंकनेवाला आदमी भी नहीं दिखलायी देता। अब इन चीजोंमें विशेषता रही ही नहीं।

फिर भी आप कह सकते हैं कि यह गङ्गाकी गैलमें मदारके गीतकी बात है। कहाँकी बात थी और क्या बातें होने लगीं। जहाँ आँखोंसे देखनेवाली लैंसकी बात है, वहाँ कैमराके लैंसकी बात चलायी जा रही है। सिस्मोग्राफ आदि यन्त्रोंके द्वारा खान-पेट्रोल आदिका पता जरूर लग जाता है; लेकिन वे आँख नहीं, यन्त्र हैं। फिर टेलिविजनके द्वारा हम दूर-परोक्षकी चीजें भी जरूर देख लेते हैं; लेकिन हम उसे अपनी इच्छाके अनुसार नहीं देखते, बल्कि हमें वे ही सारी चीजें देखनी पड़ती हैं, जो हमें दिखलायी जाती हैं। मुख्य बात तो है अपने इच्छानुसार परोक्षकी बातें देखनेकी।

आपकी बात ठीक है। इसके लिये विशेष प्रकारकी दृष्टि चाहिये। विशेष प्रकारसे देखनेके लिये विशेष प्रकारकी दृष्टिकी आवश्यकता पड़ती है। जब भगवान्‌ने अर्जुनको अपना विराट्-रूप दिखलाया, तब उन्होंने अर्जुनको विशेष प्रकारकी दृष्टि भी दी थी। उस विशेष दृष्टिके बिना भगवान्‌के उस विराट् रूपको देख सकना सम्भव नहीं था। यों जलको देखनेपर उसमें कुछ भी नहीं मालूम होता; लेकिन एक बूँद जलको अगर आप अणुवीक्षण यन्त्रके सहारे अपनी आँखमें विशेषता प्राप्त करके देखें तो उसमें न मालूम कितने कीड़े चलते-फिरते दिखलायी देंगे।

दृष्टिशक्तिकी वैज्ञानिकता प्राप्त हो जाय तो दूर-परोक्षकी घटनाएँ इच्छानुसार देखी जा सकती हैं। पुरातन कालमें विज्ञान और अध्यात्मको अलग-अलग करके देखा नहीं जाता था। यूरोपमें दर्शनशास्त्रसे विज्ञानका पार्थक्य आज बहुत पुरानी घटना नहीं कही जायगी। पहले लोग किसी चीजको अध्यात्मकी दृष्टिसे परखते थे। अर्थात् स्थूलको सूक्ष्मसे देखते थे। आज सूक्ष्मको स्थूलसे जाँचनेकी पद्धति चल पड़ी है। हर चीजके लिये विज्ञानका नाम लिया जाता है। उस समय लोग भूल जाते हैं कि सर ओलिवर लाज आदि अनेक संसारप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर्वदा यह स्वीकार करते रहे कि विज्ञान ही अन्तिम वस्तु नहीं। उसके ऊपर भी बहुत-सारी चीजें हैं, जहाँ तर्क काम नहीं करता।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मनुष्य अपनी आँखोंके द्वारा नहीं, बुद्धिके द्वारा देखता है। बुद्धिका आवास मस्तिष्कमें माना जाता है। वैज्ञानिक डा० टिल्नेका कहना है कि मनुष्यका मस्तिष्क निरन्तर विकास करता जा रहा है। इससे मनुष्यके सिरकी आकृतिमें भी अन्तर पड़ रहा है।

मनुष्यके मस्तिष्ककी अगाध शक्तियोंका पूरा पता अभी-तक वैज्ञानिकोंको नहीं है। वजनमें वह मानव-मस्तिष्क लगभग डेढ़ सेरका होता है। उसके भीतर छोटे-छोटे 'सेल' हैं। वैज्ञानिकोंका अनुमान है कि एक मनुष्यके मस्तिष्कमें लगभग १ नील [१, ००, ००, ००, ००, ००, ०००] सेल होते हैं। यों ये सेल असंख्य हैं। इनके भीतर विद्युत्का प्रवाह है। उसी विद्युत्प्रवाहके द्वारा मनुष्य सोचता-विचारता और अनुभव करता है। मनुष्य-मस्तिष्कके ये 'सेल' ही सब कुछ हैं।

अमेरिकामें 'मौन्ट्रील न्यूरोलोजिकल इन्स्टीच्यूट' के जा० पेनफील्ड मस्तिष्कका ऑपरेशन करके मिर्गी रोगकी चिकित्सा करते हैं। इसकी जाँचके समय वहाँ इलेक्ट्रोडसे मस्तिष्कके 'सेल' में बिजलीका प्रवाह दिया जाता है। इस प्रयोगसे अजीब-अजीब तरहके तथ्य सामने आये। किसी 'सेल' में अगर इलेक्ट्रोडसे बिजलीका प्रवाह दिया जाय तो पैर आप-से-आप उछल जाते हैं। कहीं इलेक्ट्रोड देनेसे आँखकी पलकोंमें संचालन होने लगता है। स्पष्टतः उन सेलोंके द्वारा उन अङ्गोंका नियन्त्रण होता है। दक्षिण अफ्रिकाके एक युवकको जब इलेक्ट्रोड दिया गया तो उसने पाया कि वह अपने घरमें परिवारके बीच उपस्थित है। वहाँ पियानो बज रहा है और उसका चचेरा भाई मजेदार गप्प सुना रहा है। उसने कहा—'इस दृश्यको मैं सोचता नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। सब कुछ मेरे सामने इसी कमरेमें घटित हो रहा है। मैं जानता हूँ कि मैं मौन्ट्रीलमें हूँ; मगर मुझे लगता है कि मैं अपने परिवारमें आ गया। वहाँ-का सारा दृश्य मेरे सामने है। मैं वहाँके लोगोंको देख रहा हूँ, उनकी बातें सुन रहा हूँ।'

वैज्ञानिक कहते हैं कि इस तरह जो दृश्य देखे जाते हैं, वे पहलेके देखे हुए दृश्य होते हैं। सम्भव है, परंतु यह भी हो सकता है कि मस्तिष्कमें वे शक्तियाँ भी वहींपर उपस्थित हों, जिनके द्वारा मनुष्य वर्तमानमें होनेवाली परोक्षकी सारी घटनाएँ देख-सुन सकता है। अभी तो विज्ञान मनुष्यकी शक्तियोंके बारेमें क-ख सीख रहा है।

मुझे ऐसा मित्र चाहिये !

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

मित्रोंकी एक छोटी गोष्ठी है और उसमें इस बार यही चर्चाका विषय रखा गया है। मैं सोचने लगा हूँ, यह कहना सत्य नहीं होगा। बहुत पहिले, वर्षों पहिले सोच लिया है मैंने कि मुझे ऐसा मित्र चाहिये—

जो असमर्थ न हो, परंतु असमर्थ-सहायक हो।

जो दीन न हो, किंतु दीनबन्धु बननेमें जिसे हर्ष होता हो।

जो अशरण-असहाय न हो, किंतु अशरण-शरण हो सके और असहायकी सहायता कर सके।

सौ बातकी एक बात—मुझे सम्पूर्ण समर्थ, परम सम्पन्न और पूरा उदार मित्र चाहिये।

बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। मित्रताकी बात यहाँसे तो प्रारम्भ होती है। अतः मुझे ऐसा मित्र चाहिये—

जिसे दोष देखना आता ही न हो; किंतु गुण और सौहार्द देखनेमें जिसकी दृष्टि सूक्ष्मदर्शक हो।

जिसे सम्मान अपेक्षित न हो, पर मित्रका मान रखनेमें जो सदा आगे रहा आवे।

जिसे स्वकी पूर्ति संकीर्ण न करे, किंतु सुहृदके उत्कर्षकी जिसे सदा चिन्ता रहती हो।

बात यहाँ भी समाप्त नहीं होती। आप जानते ही हैं कि मैत्री किसी सीमाको स्वीकार नहीं करती। अतएव मुझे ऐसा मित्र चाहिये—

जो रूठे पर रूसे कभी नहीं।

जो झगड़े पर लड़े कभी नहीं।

जो मारे पर त्यागे कभी नहीं।

अभी और भी बात है। आप ऊबते हों तो फिर कर चुके आप मैत्री। मुझे ऐसा मित्र चाहिये—

एक साथ बड़ी-से-बड़ी भूलें कर दूँ और जिससे कह दूँ—तुम हो किस लिये? तुम सुधारो इनको और जिसके भालपर रेखा नहीं, अधरोंपर स्मित आवे। जो कह सके, ठीक, मैं यहाँ भी तुम्हारे साथ हूँ।

एक करोड़ कामनाएँ पाल लूँ और जिसके आगे कह दूँ—तुम किस रोगकी दवा हो? सुलझाओ इस जालको और जिसके मुखपर चिन्ता नहीं, हास्य आवे। जो कह सके ठीक, मैं हूँ न तुम्हारे साथ।

एक अरब अपराध जिसके कर डालूँ और बिना झिझके जिसको कह सकूँ—यह सब मैंने कर दिया, अब! और जिसके नेत्रोंमें लाली नहीं, अधरोंपर उल्लास थिरक उठे। जो कह सके—भैया! मैं तेरा हूँ न।

अच्छा अब थोड़ी-सी बात और। बहुत सीधी भाषामें। मुझे ऐसा मित्र चाहिये—

जिससे सब कुछ पूछा जा सके।

जिससे सब कुछ कहा जा सके।

जिससे सब कुछ लिया जा सके।

सम्भवतः आप सोचने लगे हैं कि मैं असम्भव माँगें रखने लगा हूँ। इस प्रकारका मित्र भी कहीं किसीको मिल सकता है। किंतु अभी मेरी बात पूरी आपने सुनी नहीं। मैं ऐसा मित्र चाहता हूँ, जिसमें ऊपरकी सब बातें हों—१०० नये पैसे नहीं, १०१ नये पैसे और इतनेपर भी—

जो केवल इच्छा करनेसे—चाहनेसे मिल सके। मुझे ऐसा एक मित्र मिला है। आप भी उसे अपना मित्र बनाना चाहते हैं?

हिचकिये मत—मित्रताकी झोली असीम है। यहाँ संख्या-वृद्धि उल्लासका हेतु बनती है। मैं झोली फैलाये हूँ। है आपमेंसे कोई मेरा मित्र बननेको प्रस्तुत? मेरे मित्रको ही मित्र बनानेको प्रस्तुत हैं आप?

आपमें मेरे सीधे मित्र बननेका दम-खम हो बड़े हर्षकी बात। मेरे मित्रको मित्र बनाना हो तो उसकी एक शर्त है—मित्रताकी माँग आपकी सच्ची है या नहीं ? बहुत सीधी रीतिसे तब मुझे आपसे पूछना है—

१–आपके जीवनकी सबसे बड़ी माँग क्या है ?

२–ऐसा क्या है जिसके लिये आप अपना सब कुछ दे सकते हैं—सर्वस्वकी आहुति ?

३–आप अपनी पारमार्थिक परिणति कैसी चाहते हैं ?

कुछ सेवा-रसिक हैं संसारमें। उन्हें सेव्यकी सेवा चाहिये शाश्वतकालके लिये। वे कृतार्थ होंगे, यदि उन्हें आराध्यका सेवकत्व प्राप्त हो जाय।

कुछ स्नेहप्राण सुजन हैं। वात्सल्य है उनके तन-मनमें घुला-मिला। वे देना चाहते हैं—केवल देना। सर्वेशको भी उन्हें अपना स्नेह देना है।

कुछ रसिकहृदय हैं और उन्हें भी देना ही देना है। परम वन्दनीय हैं वे। श्रुति जिसे 'रसो वै सः' कहती है, उसे भी उनके रसका लुब्ध होना ही पड़ता है।

मैं इन सब सम्मान्य जनोंका पादाभिवन्दन करता हूँ। किंतु आपसे सच बात कह दूँ—पूजना और पुजना दोनों अप्रिय हैं मुझे। मुझे लेना भी है और देना भी। मुझे तो ऐसा मित्र चाहिये—

जिसके जीवनकी सबसे बड़ी माँग मैत्री हो।

जो मैत्रीके लिये अपने सर्वस्वकी आहुति दे सके।

अपनी परम परिणति भी जिसे मैत्री ही वाञ्छनीय लगे।

यदि आप ऐसे हैं—अवश्य आपको मैं बता दूँगा अपने उस मित्रका नाम और आप मेरे उस मित्र सुहृदोंमें सम्मिलित हो सकेंगे।

मानव सुखी कैसे हो ?

मैं संध्याके सुहावने समयमें चंदनीपर टहल रही थी। एक ओर मोर नाच रहा था, दूसरी ओर कबूतरोंका जोड़ा केलि कर रहा था। कुछ दूरीपर दो-चार मनुष्य लड़ रहे थे। बुरी तरह गाली-गलौज कर रहे थे। अहा, क्या शान्तिमय जीवन है इन पक्षियोंका! क्या मनुष्य इनसे भी गये-बीते हो गये हैं ? क्या मनुष्यके भाग्यमें शान्ति-सुख लिखे ही नहीं हैं ? आखिर यह मानव कैसे दानव बन गया ? प्रभुने तो इसे भेजा था दानवतापर विजय पानेको और हुआ इसके सर्वथा विपरीत। मनुष्य यदि क्रोधको जीत ले तो फिर दानवताको कुचलकर मानव बन जाय। यदि हम अहंकार और क्षुद्र स्वार्थको नष्ट कर दें तो अवश्य विश्व-बन्धु बन जायँ, यदि हम कामनाका त्याग कर दें तो हम पूर्ण सुख-शान्तिसम्पन्न हो जायँ। हमें किसी कमीका तनिक भी अनुभव न हो और रात-दिनकी चिन्तासे सर्वथा छुटकारा हो जाय। और यदि हम सबसे प्यारी, सुन्दर और पूर्ण सुखसे भरी हुई उस अन्तरतम वस्तुको देख लें, समझ लें, पहिचान लें, जिससे दृश्य-अदृश्य सभी आलोकित हैं, तब तो परम पूर्ण ही हो जायँ। फिर काम-वासनाके लिये स्थान ही कहाँ रहे ? यदि हम अन्तरसे एक-एक दानवको भी निकालनेकी कोशिश करें तो हम अवश्य धीरे-धीरे सफल हो जायँ इन दानवको मार भगानेमें और शान्तिपूर्ण सुखी मानव बन जायँ।

—दुर्गेश

मेरा 'अहं' बोलता है

[मद, कारण और निवारण]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

(३)

किसीको अपने सदाचारका मद होता है, चरित्रका मद होता है, सद्गुणोंका मद होता है, कष्टसहन और तितिक्षाका मद होता है। किसीको सेवा और त्यागका मद होता है, किसीको अपनी धार्मिकताका मद होता है, आध्यात्मिकताका मद होता है।

ये वस्तुएँ अपनेमें अच्छी हैं, बहुत अच्छी हैं—पर अहंकार इनका भी अच्छा नहीं। मद इनका भी बुरा है। मद आया कि इनका सारा महत्त्व नष्ट हुआ।

किसीको यदि किसी साधनसे कोई सिद्धि मिल जाती है, मुँहसे निकली कोई बात पूरी हो जाती है, दिया हुआ शाप या वरदान कहीं पूरा पड़ जाता है, अथवा ऐसी ही कोई अलौकिक बात दिखायी पड़ जाती है तो उसके अहंकारका ठिकाना नहीं रहता। अणिमा, गरिमा, लघिमा-जैसी कोई सिद्धि हाथ लगी कि मनुष्य उसके मदमें चूर हो उठता है।

पर ये सिद्धियाँ तो ऊपर नहीं उठातीं, नीचे ही गिराती हैं। पतञ्जलि भगवान् तभी तो कहते हैं—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।
(पातञ्जलयोगदर्शन ३ । ३७)

साधकके लिये वे विघ्न ही हैं।

× × ×

यों हम देखते हैं कि मद जगह-जगहसे घुस आता है। वह किसीमें किसी रास्तेसे घुसता है, किसीमें किसी रास्तेसे।

सेठजीको इसी बातका मद है कि उनके पास पैसेका ढेर लगा है तो उस कल्लू घसियारेको इसी बातका मद है कि बच्चोंकी एक पलटन उसके घरमें सुबहसे शामतक चौकड़ी भरा करती है, उनके पालन-पोषणके लिये पैसा नहीं है तो क्या!

किसीको बाह्य वस्तुओंका—धन-सम्पत्तिका, वैभवका, पद और प्रतिष्ठाका मद है तो किसीको आभ्यन्तरिक गुणोंका—आचारका, चरित्रका, सेवाका, त्यागका मद है। किसीका मद किसी रूपमें व्यक्त होता है, किसीका किसी रूपमें। कोई भिखारीको ताँबेके दो टुकड़े देकर अपने दरवाजेपर बैठकर उसका डंका पीटता है तो कोई किसी संस्थाको हजार-पाँच सौ रुपये देकर अपने नामका पत्थर लगवाकर खुश होता है।

× × ×

साधनाकालमें रामकृष्ण परमहंस रातके समय अँधेरे जंगलमें चले जाते।

कई दिन देखा तो हृदय (उनका भानजा) उनके पीछे लगा।

पर जंगलकी स्थिति, निविड़ अन्धकार, अनजाना पथ देख उसकी हिम्मत न पड़ी पीछा करनेकी। पर एक दिन साहस करके वह पीछे लग ही तो गया।

जाकर देखा कि रामकृष्णदेव सर्वथा नग्न होकर समाधिमें लीन हैं।

कपड़े ही नहीं, जनेऊ भी उन्होंने उतारकर नीचे रख दिया है।

समाधिसे उठे तो उन्होंने कपड़े भी पहन लिये, जनेऊ भी।

हृदयने पूछा—'मामा! ऐसा क्यों करते हैं?'

बोले—'परमात्माका चिन्तन सारे बन्धनोंको त्याग-कर ही करना चाहिये। आठ प्रकारके बन्धन जन्मसे ही जीवको पकड़े रहते हैं—

घृणा, लज्जा, कुलाभिमान, विद्याभिमान, जात्यभिमान, भय, ख्याति और अहंकार।

मैं उच्च कुलका हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं अमुक हूँ, मैं अमुक हूँ—ऐसे नाना प्रकारके अहंकारोंके रहते माँकी साधना नहीं हो सकती। इन सबको त्याग करके ही साधनमार्गमें प्रवृत्त हुआ जा सकता है।'

घृणा लज्जा भयं शोको जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं च जातिश्चेत्यष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥

× × ×

स्वामी शिवानन्दने अहंकारके नौ प्रकार बताये हैं—

(१) शारीरिक—बलशाली होनेसे
Physical pride

(२) बुद्धिगत—बुद्धिमान् होनेसे
Intellectual pride

(३) नीतिगत—सदाचारी होनेसे
Moral pride

(४) योगजनित—ऋद्धि-सिद्धि मिलनेसे
Psychic pride

(५) आत्मिक—आध्यात्मिकता होनेसे
Spiritual pride

(६) कुलाभिमान—उत्तम कुलमें जन्म होनेसे
Pride of noble birth

(७) सम्पदाभिमान—धन-जन होनेसे
Pride of possessions

(८) स्वरूपाभिमान—सुन्दर रूप होनेसे
Pride of being handsome

(९) राजमदाभिमान—राजसम्पदा होनेसे
Pride of kingly possessions

× × ×

यों नाना प्रकारके मद हमें सताया करते हैं।

बड़े-बड़ोंको ये मिट्टीमें मिला देते हैं।

बात है रामकृष्णदेव और तोतापुरीकी—

एक दिन बगीचेका एक आदमी उनकी धूनीसे आग लेने लगा—चिलम पीनेको।

तोतापुरी बिगड़े। चिमटा लेकर उसे रपेटने लगे।

रामकृष्ण परमहंस हँस पड़े।

तोतापुरी बोले—'तू हँसता क्यों है?'

रामकृष्णने कहा—इसीलिये गुरुजी! कि अभी पलभर पहले तो आप कहते थे कि ब्रह्म ही सत्य है और सारा जगत् उसका रूप है और पलभरमें ही आप सब भूल-कर उस आदमीको मारने दौड़ पड़े!

लाजसे कटकर रह गये तोतापुरीजी!

× × ×

तो यह 'अहं' यह मद, यह अहंकार बड़ा जबर्दस्त है। जहाँ रत्तीभर चूके, पलभरके लिये असावधान हुए कि इसने धर दबाया।

सवाल है कि अहंकारका पूर्णतः उन्मूलन तो तभी सम्भव है जब शरीर गिर जाय! शरीर रहते ऐसा कैसे हो?

उपाय उसका भी है जिससे न साँप मरे, न लाठी टूटे!

वह कैसे?

साँपके दाँत तोड़ दीजिये।

शरीर रहते ही निरहंकारिताकी ऐसी साधना कीजिये कि ये मद आपपर हमला ही न कर सकें।

रामकृष्णदेव कहते हैं—

'रस्सी जल जाती है, पर उसकी ऐंठ बनी रहती है, किंतु जलनेके बाद वह बाँधनेका काम नहीं दे सकती। यही बात महात्माओंके अहंकारकी भी है।' ठीक यही बात रमण महर्षि कहते हैं—

"This ego is harmless, it is like the skeleton of a burnt rope. Though it has a form, it is no use to tie anything with."

निर्बीज समाधि और क्या है ?

× × ×

बाह्याभिमान, इन्द्रियाभिमान, शरीराभिमान—सबका कारण है—'अहं'। जबतक मनुष्यमें यह अहं रहता है तभीतक मनुष्य नाना प्रकारके छल-छन्द करता रहता है। एक-एक वस्तुका अहंकार हमारी नस-नसमें घुसा बैठा रहता है। मौका मिला नहीं कि वह फुफकारकर बाहर आया नहीं।

इस 'अहं'से छुटकारा पानेके लिये सतत साधना करते रहना होगा—दिन-रात, सुबह-शाम।

× × ×

आँखोंपर जब मदका चश्मा चढ़ा रहता है, तब मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूपको भूल जाता है। उसके नशेमें वह इतना चूर रहता है कि उसे यह भी होश नहीं रहता कि वह कह क्या रहा है, कर क्या रहा है, सोच क्या रहा है ?

मन, वचन, कर्म—सबपर उसकी छाप पड़ी रहती है। पर जब हम इस चश्मेको उतारकर पलभरके लिये भी सोचने बैठते हैं, तब खटसे पता चल जाता है कि हम कहाँसे कहाँ चले गये थे !

बेटा है, बेटी है—करने दीजिये उन्हें शरारत, फिर देखिये माँ कैसे उनकी खबर लेती है !

क्यों ?

'मेरा' बेटा है, 'मेरी' बेटी है ! उसकी शरारतके साथ 'मैं' जुड़ी हूँ। लोग कहेंगे कि यह उसके बेटी-बेटेकी करतूत है। मैं कैसे बर्दाश्त करूँ यह लाञ्छन ? बच्चोंको मेरे आदेशके अनुसार, मेरे आदर्शके अनुसार चलना ही होगा।

× × ×

यही हाल पतिका है, पत्नीका है, स्वामीका है, नौकरका है। सबको अपना-अपना घमंड है। किसीको किसी बातका है, किसीको किसीका। मौका हाथ लगने भरकी देर है—फिर देखिये एक-एकके अहंकार-के करिश्मे !

× × ×

करोड़पतिका जब दिवाला निकलता है, कोमलाङ्गी-के अङ्ग-अङ्गसे जब कोढ़ टपकने लगता है, अफसर जब नौकरीसे बर्खास्त कर दिया जाता है, पहलवान जब चारपाई पकड़ता है, विद्वान्‌को जब भीख माँगनी पड़ती है, स्त्री जब दूसरेके साथ भाग जाती है, इन्द्रियाँ जब जवाब दे देती हैं, ऐश्वर्य जब मिट्टीमें मिल जाता है, ऊँची कुर्सी जब जबरन् छीन ली जाती है, कुल, शील, मान जब खतरेमें पड़ जाता है, तब लोगोंका यह मद कुछ कम होता है। फिर भी वह अपनी कुछ-न-कुछ गन्ध तो छोड़ ही जाता है !

× × ×

कहते हैं कि औरंगजेबने जब बापको जेलमें डाल दिया, तब बूढ़े शाहजहाँने उससे प्रार्थना की कि 'बेटा ! इस तनहाईमें मेरे पास कोई काम तो है नहीं। अच्छा हो तो कुछ बच्चोंको मेरे पास भेज दिया कर। मैं उन्हें पढ़ा दूँगा। काम भी होगा, मेरा जी भी बहलेगा।'

औरंगजेबने जवाब दिया—"हैं, जेलमें रहकर भी बादशाहतका घमंड न छूटा ! कुछ नहीं तो बच्चोंपर अपनी हुकूमत चलाना चाहता है। तेरी ऐसी कोई माँग मंजूर नहीं की जायगी।'

श्रीशैव संतोंकी कथाएँ या बृहद्पुराण

(लेखक—श्रीसु० कण्णनजी)

'तमिळ' वाङ्मयमें बृहद्पुराणका विशिष्ट स्थान है। उसे एक महाकाव्य कहें तो अत्युक्ति नहीं। शेक्किळार बृहद्-पुराणके रचयिता हैं। आप चोळ राजा कुलोत्तुङ्ग द्वितीयके समकालीन थे। मद्रासके पास कुन्ड्रतूर ही शेक्किळारका जन्मस्थान है। वे चोळ राजाके अमात्य थे। साहित्यप्रेमी एवं शिवभक्त चोळ राजाने शैव संतोंके वृत्तोंको काव्यरूप देना चाहा। उसके इच्छानुसार 'श्रीसेवकपुराण' या बृहद्-पुराणकी रचना करने लगे श्रीशेक्किळार! उन्हें देवारम-(शैवोंके ग्रन्थ) के गीतोंमें गहन ज्ञान और तमिळ देशोंके गाँवोंका परिचय होनेके कारण, यह काम आसान था। इस काव्यको चिदंबरम्के मन्दिरमें भगवान् नटराजके समक्ष लोक-मुक्तिके इच्छुकोंके लिये उद्घाटन किया।

तमिळसाहित्यमें शैव-संतोंकी कथाएँ सुन्दरमूर्ति नायनार-के 'तिरुत्तॉण्डतॉगै' और नंबियाण्डार नंबिके 'शिवसेवक-अंतादि'मे हैं। इन दोनोंका बृहद्रूप ही 'बृहद्पुराण' है। जैसे वैष्णवोंके लिये 'आळवार' हैं, वैसे ही शैवोंके लिये 'नायन्मार' पूजनीय हैं। मद्रासके मैलाप्पूरमें इनका उत्सव प्रतिवर्ष धूमधामसे मनाया जाता है। बृहद्पुराणसे शैव धर्मका पुनर्जागरण हुआ। शैव धर्मका एक मूलग्रन्थ बृहद्पुराण है।

चिदंबरम्के त्रिसहस्र ब्राह्मण

जब श्रीसुन्दरमूर्ति नायनारने शैव संतोंकी कथाएँ गानेका श्रीगणेश किया, तब स्वयं भगवान् शिवकी वाणीसे 'चिदंबरम्के ब्राह्मणोंके दास-का-दास' पहली पंक्तिकी प्रेरणा मिली। शिवसे भी प्रशंसनीय ब्राह्मणोंकी महत्ता। चिदंबरम्के तीन हजार ब्राह्मण थे। श्रीनटराजकी पूजा ही उनकी तपस्या थी। वही उनका पुरुषार्थ था। वेदागमके ज्ञाता अपने आचार एवं शीलतासे भूषित होकर वेदाङ्गके दिग्गजोंको श्रीनटराजकी सेवा ही सर्वस्व थी। लोग भगवान्की पूजासे ही मुक्ति पाना चाहते हैं; किंतु चिदंबरम्के ब्राह्मणोंको भगवान्की सेवा ही परम सुख एवं सौभाग्य था।

विश्वमें शिवके एक हजार आठ मन्दिर हैं। पर उन सबसे श्रेष्ठ चिदंबरम् ही है। उस प्रख्यात मन्दिरके भगवान्का स्पर्शसुख पानेका सौभाग्य पानेवाले ब्राह्मणोंकी महत्ताको मैं एक अबोध किन शब्दोंसे कहूँ? मैं उनके समक्ष एक श्वानसे नीचे हूँ।

इन्डिवर् परुमै अम्माल् इयंबलाम् अलंतामो? तन्डुमिक पत्तमायुळ्ळ तिरुत्ताण्डत्तॉगै मुन पाड अन्ड्रवन् ताण्डर तम्मै अरुळिय आहर् अण्णर् मुन् तिरु वाक्काल् कोत्तमुद्पारुक आनार् अन्ड्राल्।

(तामिल कविताका तात्पर्य—)

जब सुन्दरमूर्ति स्वामीजी अपने गीतोंको गानेवाले थे, तब स्वयं शिव भगवान्ने अपनी वाणीद्वारा शैव संतोंके प्रथम रूपमें ब्राह्मणोंका गान किया, अतः उनके यशकी सीमा ही क्या है?

तिरुनीलकंठ नायनार

चिदंबरम्में शैव संतोंपर असीम भक्ति करके जीवन चलानेवाले तिरुनीलकण्ठ नायनार् थे। शैव संतोंके भिक्षा लेकर खानेके पात्र खप्परोंको बनाकर उनको देनेकी सेवा करते थे। भगवान् देवोंको अमृत पिलानेके लिये स्वयं काल-कूट ग्रहण करनेकी दयाको याद करके बार-बार उनके कण्ठ-की स्तुति करते-करते प्यारसे 'तिरुनीलकंठम्' का स्मरण करते थे। एक दिनकी बात है—घोर वर्षा हो रही थी। भक्त मन्दिरसे घर आ रहे थे। बरसातसे बचनेके लिये एक घरमें रुके। वह एक वेश्याका घर था। वेश्या स्वामीजीको देखकर प्रफुल्लित हुई। भगवान्के दासका आगमन उसके लिये परम-कल्याणकारी था। उसने स्वागत-सत्कार किया। वर्षा कम होते ही घर आये। उन्हें देखते ही पत्नीने बुरा मान लिया। उनपर क्रुद्ध होकर उसने शपथ खाकर कहा—मैं नीलकण्ठम्-के नामपर शपथ लेकर कहती हूँ कि तुम मुझे मत छुओ। पत्नीके द्वारा सदा स्मरण करनेवाले 'तिरुनीलकण्ठम्' पर शपथ खानेके कारण उनके दिलपर चोट लगी। वे बोले—'आजसे तुझे ही नहीं, वरं 'हमें न छूओ' कहनेसे स्त्री जाति-की किसीका भी स्पर्श नहीं करूँगा।' ऐसी भीष्म प्रतिज्ञा करके उन्होंने कामका सर्वथा त्याग कर दिया। गृहस्थाश्रमके सभी धर्म निर्विघ्न चलने लगे। पर भोग-लिप्सा तिलमात्र भी नहीं थी, यद्यपि यह बात बाह्य जगत्में अज्ञात थी। उम्र बढ़ने लगी।

भगवान् शिवने उनके बड़प्पनको बाह्यजगत्में प्रकट करनेके लिये एक शैव संतका वेष धारण किया। अपने एक खप्परके साथ वे तिरुनीलकण्ठके पास आये। भक्तने उनका

स्वागत करके आदर-सत्कार किया और पूछा—'क्या सेवा करूँ ?'

संतरूपी शिवने अपना खप्पर दिखाकर कहा कि 'यह त्रैलोक्यमें भी नहीं मिल सकता और आप अपने पास इसे सावधानीसे रखें। बादको जब मैं आकर माँगूँ, तब दे दें।' नायनार्ने मान लिया, संतने विदा ली। कुछ दिनों बाद भगवान् शिवने उस खप्परको आँखोंसे ओझल कर दिया। फिर एक दिन आये। नीलकण्ठसे खप्पर माँगा। भक्तने सब जगह ढूँढ़ा। पर नहीं मिला। उन्होंने भारी चिन्ताके साथ शिवके पास आकर कहा—'वह तो मिल नहीं रहा है। क्षमा करें। मैं दूसरा उससे बढ़िया दूँगा।' पर शिवने न माना। उन्होंने जोरसे चिल्लाकर कहा—'मैंने पहले ही कहा था। मुझे तो वही चाहिये।' नीलकण्ठको कुछ भी नहीं सूझा। उन्होंने रो-रोकर विनती की—'यह मेरा कसूर नहीं। मैं बहुत सतर्क रहा। पर यह भगवान्‌की परीक्षा है। मुझे क्षमा कीजिये।' शिवने पूछा—'तो तुम यह शपथ खाओ कि मैंने उसको नहीं लिया।' नायनार् तैयार हो गये। संत-वेषधारी शिवने कहा कि 'वे अपने बेटेका हाथ पकड़कर शपथ खायें'। नायनार्के बेटा नहीं था। इससे शिवने कहा कि 'अपनी पत्नी-का हाथ पकड़कर शपथ खाओ।'

अब नायनार् दुविधामें पड़ गये। उन्होंने सोचा कि क्या कह दूँ कि मैं अपनी पत्नीका स्पर्श नहीं कर सकता। अन्त-में उन्होंने कहा 'मैं ऐसा नहीं कर सकता।' शिवने कहा—'तुमने जान-बूझकर ही मेरे खप्परको छिपा दिया है; इसीसे कहते हो कि शपथ नहीं करूँगा। मैं चिदंबरम्‌के तीन सहस्र विप्रोंके समक्ष इस अन्यायकी शिकायत करूँगा।' भगवान् नायनार्‌को ब्राह्मणोंकी सभामें ले गये। उनसे सारी बातें कहीं। नायनार्ने भी अपनी विवशता बतायी।

ब्राह्मणोंका न्याय था कि 'वे अपनी पत्नीके हाथ पकड़कर पानीमें डूबकर शपथ करें।' नायनार्ने अपने व्रतका विवरण दिया और असीम दुःखित होकर नायनार् श्रीव्याघ्रेश्वर (तिरुप्पुलीश्वर) के पुण्यतीर्थमें एक बाँसकी लकड़ीके छोरको अपनी पत्नीसे पकड़नेके लिये कहकर पानीमें डूबनेवाले ही थे कि वेदस्वरूपी भगवान्‌ने उन्हें रोककर कहा कि 'हाथ पकड़कर डूबनेसे ही विश्वास करूँगा।' ऐसी दशामें विवश होकर तिरुनीलकण्ठम्‌का स्मरण करते-करते व्रतके भङ्ग होनेके क्षोभसे डूबने लगे। किंतु आश्चर्य! ऊपर उठते ही उनका यौवन-पूर्ण रूप देखकर सब दाँतोंतले उँगली दबाने लगे। संतरूपी लीलाविनोदी परमशिवने अपना रूप बदलकर वृषभारूढ़ होकर अद्वितीय दर्शन दिया। चिरकालतक पति-पत्नी शिव एवं शैव संतोंकी सेवा करते-करते भगवान्‌की ज्योतिमें समा गये।

बाँसुरी सुनाइ दे

जग जाल ज्वालन सों जरत विकल प्रान,
स्नौन-राह सरस विलेपन लगाइ दे।
'राजहंस' भ्रमत मरीचिका में मनमृग,
तान सों सुनाइ नीके ठौर विरमाइ दे॥
रस बरसाइ दे, बढ़ाइ दे अमंद मोद,
हीय की रुखाई नाथ! धोय कै बहाइ दे।
एक बेर, एक बेर, केवल सु एक बेर,
एक बेर स्याम! वैसी बाँसुरी सुनाइ दे॥

—बलदेवप्रसाद मिश्र

मिथ्याभिमान

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'अहं करोमीति वृथाभिमानः ।'

'बाबू ! एक गम्भीर रोगी है ।' होम्योपैथिक डाक्टर शिर्केने कहा । 'सिविल सर्जन बुलाया गया है । तुम्हारे वैद्यराज भी हैं और अब मुझे भी फोन आया है; आओ, साथ चलो ।'

उन दिनों मैं एक बड़े नगरमें रहता था । आयुर्वेदमें निसर्गतः अभिरुचि है और होम्योपैथी अपने अत्यधिक सस्तेपनके कारण आकृष्ट करती है । चिकित्सा मेरा कभी व्यवसाय नहीं रहा, कभी बनानेकी इच्छा भी नहीं; किंतु वह एक व्यसन तो पता नहीं कबका बन चुका है ।

उन दिनों होम्योपैथी सीखनेकी धुन थी । एक दवाइयोंका छोटा बक्स मँगा लिया था और कुछ पुस्तकें । केवल पुस्तकोंको पढ़ लेनेसे चिकित्सा आ जायगी, यह विश्वास मुझे रहा नहीं । अतः डा० शिर्केके समीप जाकर एक घंटे प्रतिदिन बैठने लगा था ।

मेरी अभिरुचिने डाक्टरको आकृष्ट किया । वे मुझसे स्नेह करने लगे और यथासम्भव अपनी व्यस्ततामें भी कुछ-न-कुछ बताने लगे । रोगियोंको सम्मुख रखकर उनका यह बताना कितना प्रभावकारी था, कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

मुझसे डाक्टरको कोई संकोच होनेका कारण नहीं था । वे जानते थे, मैं चिकित्साको व्यवसाय बनाकर उनका प्रतिस्पर्धी नहीं बनने जा रहा हूँ ।

वह पहिला दिन था, जब चिकित्सालयसे बाहर रोगीके समीप जाते हुए डाक्टरने मुझसे साथ चलनेको कहा था । अपनी मोटरमें वे ड्राइवरके स्थानपर बैठ गये और जब मैं उनका चिकित्सा-बक्स लेकर बैठा, सहकारीको साथ ले जाना अनावश्यक हो गया ।

× × × ×

'मौतकी औषध धन्वन्तरिके समीप भी नहीं, डाक्टर साहब !' नगरके उन सम्भ्रान्त सज्जनके बँगलेमें हमारी मोटर रुकी और उतरते ही सबसे प्रथम वैद्यराजजी मिले । वे रोगीको देखकर लौट रहे थे । 'जिसे मैं अच्छा नहीं कर सका, उसे अबतक तो कोई अच्छा कर नहीं सका है । जाइये, आप भी देख लीजिये । सिविल सर्जन आपको भीतर ही मिलेगा ।'

वैद्यराजजी नगरमें मेरे पड़ोसी हैं । मुझपर उनकी प्रभृत कृपा है । अपनी चिकित्साके चमत्कार वे प्रायः मुझे सुनाया करते हैं । मेरी उनपर श्रद्धा है और देशमें जो आयुर्वेदके गिने-चुने प्रकाण्ड विद्वान् हैं, उनमें उनकी गणना होती है । अपने अनुभव एवं नैपुण्यपर उनका गर्व उचित ही है ।

'आप दस मिनट रुकें तो साथ ही चलेंगे ।' मैंने वैद्यराज जीसे सहज भावसे प्रार्थना की । 'यहाँसे मैं सीधे अपने यहाँ ही चलना चाहता हूँ ।'

'अच्छा, मैं रुकता हूँ । तुम हो आओ ।' वैद्यराजजीने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली ।

'होपलेस, डाक्टर साहब !' रोगीके कक्षके द्वारके बाहर ही हमें सिविल सर्जन मिले । उन्होंने डाक्टर शिर्केसे हाथ मिलाया और बोले—'कोई आशा नहीं ।'

स्वभावतः डाक्टर शिर्के निराश हो गये । मैं भला, किस गणनामें आता था ? किंतु यहाँतक आ गये थे तो रोगीको देखे बिना लौट जाना उचित नहीं था ।

'आप देरसे आये !' रोगीके पिताने कोई उत्साह नहीं व्यक्त किया ।

'कृपा करके आप सिविल सर्जनको दस मिनट रोकिये !' रोगीके मुखपर दृष्टि पड़ते ही मुझे सहसा भरोसा हो गया—हम देरसे नहीं आये । 'निराश होनेका कोई कारण नहीं ।'

डाक्टर शिर्केने आश्चर्यसे मेरी ओर देखा । रोगीके वे सम्भ्रान्त पिता—डूबतेको जैसे तिनकेका सहारा मिला । उनके नेत्रोंमें कृतज्ञता उमड़ पड़ी और अनेक स्वजनों एवं सेवकोंके होते भी स्वयं उठे सिविल सर्जनको रोकने ।

'मैं आज ही कैण्टकी मैटीरिया मेडिकाका अध्याय पढ़कर आया हूँ ।' मैंने संकेत किया और डाक्टर शिर्के मेरी ओर झुके तो मैंने उनके कानमें फुसफुसाते हुए कहा—'सब लक्षण पूरे मिलते हैं । आप आज चमत्कार दिखा सकेंगे ।'

डाक्टर शिर्के विश्वस्त नहीं हुए; किंतु मैंने औषधका नाम बताया और आग्रह किया—'जब कोई चिकित्सक दवा नहीं दे रहा है, आप भी इन्हें निराश कर दें—यह क्या उचित होगा ?'

मेरा अनुरोध मान लिया गया। दवाकी एक बूँद जलमें डालकर पिला दी गयी और मैंने सदाकी भाँति आवश्यकतासे बहुत अधिक अपनेपर भरोसा करके रोगीके पितासे आग्रह किया—'आप किसी भी प्रकार सिविलसर्जनको एक बार और रोगीकी परीक्षाके लिये यहाँ ले आयें।'

सिविल सर्जनको ले आनेमें अधिक कठिनाई नहीं हुई। वे रुक गये थे और कहते ही रोगीके कक्षमें चले आये। किंतु उनके आनेतक दवाकी पहिली मात्रा दिये पाँच मिनट बीत चुके थे और जब वे कक्षमें आये, मैं दूसरी मात्रा दे रहा था। रोगीकी बेचैनीमें स्पष्ट अन्तर इतनी ही देरमें देखा जा सकता था।

सिविल सर्जनने बेमनसे हृदय-परीक्षण प्रारम्भ किया; किंतु क्षणभरमें ही वे गम्भीर हो गये। उन्होंने बहुत एकाग्रता-पूर्वक हृदय, फेफड़े आदिका परीक्षण किया और कई-कई बार किया। अन्तमें वे उठे और डाक्टर शिर्केकी ओर मुड़े—'धन्यवाद डाक्टर! आप निश्चय सफल हुए। रोगी तेजीसे खतरेके बाहर जा रहा है।' मुक्तकण्ठसे उन्होंने स्वीकार किया।

सिविल सर्जन साहबको अब रुकनेके लिये नहीं कहना पड़ा। उनके परीक्षणमें पाँच मिनट और लग चुके थे और औषधकी तीसरी मात्रा भी रोगीको दे दी गयी थी।

'अब आप कृपा करके एक बार वैद्यराजजीको भी बुला लें।' मैंने आग्रह किया। 'वे मेरे अनुरोधपर बाहर रुके हैं।'

रोगीको अब बेचैनी नहीं रही थी। अब मेरी बात बिना सोचे-समझे मान ली जाय, ऐसी परिस्थिति बन चुकी थी। वैद्यराजजी आये और उन्होंने नाड़ी देखी, उन्होने भी स्वीकार किया—'आज मैं मानता हूँ, डाक्टर शिर्के, कि आपने मृत्युको भी अँगूठा दिखानेमें सफलता पायी है।'

'मैंने कुछ नहीं किया है।' डाक्टर शिर्केने मेरी ओर देखा। 'मैं भी आप सबके समान सर्वथा निराश हो चुका था और लौटनेवाला था; किंतु········।'

'रोगीका प्रारब्ध उसकी रक्षा करनेको उद्यत था।' बात गलत स्थानपर समाप्त होने जा रही थी, इसलिये मुझे बीचमें बोलना पड़ा। '<u>भगवान्‌की कृपा! वे परमप्रभु जिसे रखना चाहते हैं, उसे मार देनेकी शक्ति तो यमराजमें भी सम्भव नहीं है।</u>'

× × × ×

'तुम इतने निपुण चिकित्सक हो!' हम जब लौटे, तब मार्गमें मेरे पास बैठे वैद्यराजजीने मुझसे कहा। 'किंतु तुमने मुझे गन्धतक नहीं लगने दी कि तुम चिकित्साशास्त्रसे भी परिचय रखते हो।'

डाक्टर शिर्के मुझे और वैद्यराजजीको भी अपनी मोटर-में लिये जा रहे थे। मैंने कहा तो था कि ताँगा करके मैं चला जाता हूँ; किंतु उनका आग्रह था कि वे मुझे अपने यहाँ छोड़कर तब चिकित्सालय जायँगे।

'मैं अभी पंद्रह दिनसे होम्योपैथी सीखने लगा हूँ।' मैंने कहा। 'यह तो संयोग था कि सुयश मुझे प्राप्त होना था। चिकित्साका अधिष्ठान रोगी अनुकूल स्थितिमें था, कर्ता चिकित्सककी सूझ-बूझ ठीक थी; औषधका चुनाव उचित हुआ और ठीक ढंगसे वह निर्मित थी, उसे देनेकी पद्धतिमें भी कोई भूल नहीं हुई और सबसे बड़ी बात कि <u>रोगीका प्रारब्ध अनुकूल था।</u> इनमेंसे एक भी बात यदि ठीक न होती, चिकित्सक क्या कर लेता।'

'अच्छा, तो तुम अपनी दार्शनिकतापर आ गये हो।' वैद्यजी किंचित् मुसकराये।

'दार्शनिकताकी तो यहाँ कोई बात नहीं है।' मैं कह रहा था। 'सभी विषयोंमें सफलता इन सब संयोगोंपर ही निर्भर हुआ करती है। 'मैंने किया' यह अभिमान तो मनुष्यका व्यर्थ ही है।'

'कहते तुम ठीक हो!' वैद्यजीने अनुमोदन किया और स्वयं गीताके श्लोक उनके मुखसे निकलने लगे—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

श्रीश्रीराधा-महिमा

(श्रीराधाष्टमी-महामहोत्सवपर गोरखपुरमें हनुमानप्रसाद पोद्दारका प्रवचन)

नमस्ते श्रियै राधिकायै परायै
नमस्ते नमस्ते मुकुन्दप्रियायै।
सदानन्दरूपे प्रसीद त्वमन्तः-
प्रकाशे स्फुरन्ती मुकुन्देन सार्धम्॥
सदा राधिकानाम जिह्वाग्रतः स्यात्
सदा राधिकारूपमक्ष्यग्र आस्ताम्।
श्रुतौ राधिकाकीर्तिरन्तःस्वभावे
गुणा राधिकायाः श्रिया एतदीहे॥
(श्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्र)

साधन-जगत्मे प्रधानतया उत्तरोत्तर विलक्षण चार राज्य हैं—१. कर्मराज्य, २. भावराज्य, ३. ज्ञानराज्य और ४. महान् परम भावराज्य। इसीके अनुसार साधकोंके स्वरूप हैं, साध्य-स्वरूप हैं और दिव्य लोकादि हैं। कर्मप्रवण पुरुप कर्मराज्यमें श्रौतस्मार्त वैध कर्मोंके द्वारा कर्म-साधन करते हैं। सकामभाव होनेपर वे स्वर्गादि पुनरावर्ती लोकोंमें जाते हैं और सर्वथा कामनारहित होनेपर 'नैष्कर्म्यसिद्धि' को प्राप्त होते हैं। इनके तत्त्वज्ञानकी स्थितिमें लोककी कल्पना नहीं है और कर्मतत्त्वकी दृष्टिसे सृजन-पालन-संहार करनेवाले सर्व-शक्तिमान् सर्वनियन्ता ईश्वरके सांनिध्यमें इनका कर्मजगत्में कार्य चलता रहता है। इनमें कोई-कोई साधक सिद्धि प्राप्त करके ब्रह्माके पदतक पहुँच जाते हैं और मूल परम तत्त्वके अंशावतार विभिन्न ब्रह्माण्डाधिपति सृजनकर्ता ब्रह्मा, पालन-कर्ता विष्णु तथा संहारकर्ता रुद्रोंमें कहीं 'ब्रह्मा' का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

इससे उच्चतर या आगे 'भावराज्य' है, वहाँ कर्मके साथ केवल निष्काम भावकी प्रधानता न होकर ईश्वर-प्रीतिसाधक भक्तिकी प्रधानता होती है। भावुक पुरुप इस भावराज्यके क्षेत्रमें भावसाधनाके द्वारा अपने भावानुरूप इष्टदेव परमैश्वर्य-सम्पन्न, स्वशक्तियुक्त भगवत्स्वरूपोंके सांनिध्य और उनके दिव्य लोकोंको प्राप्त करते हैं। इनकी साधनाका फल दिव्य भगवल्लोकोंकी प्राप्ति है। ये भी सर्वथा मायामुक्त होते हैं।

इससे आगे ज्ञानराज्य है। इसमें विचार-प्रधान पुरुष साधन-चतुष्टयादिके द्वारा महावाक्योंका अनुसरण करके विशुद्ध आत्मस्वरूपमे परिनिष्ठित होते हैं। इनके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता। ये ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं या ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त करते हैं।

इससे आगे एक महाभावरूप 'भगवद्भाव-राज्य' है। भुक्ति-मुक्ति, कर्म-ज्ञान आदिकी वासनासे शून्य पुरुप ही इस परम 'भावराज्य' के अधिकारी होते हैं। उपर्युक्त तत्त्वज्ञानी मुक्त पुरुषोंमें भी किन्हीं-किन्हींमें भगवत्प्रेमाङ्कुरका उदय हो जाता है, जिससे वे दिव्य शरीरके द्वारा उपर्युक्त कर्म-भाव-ज्ञान-राज्यसे अतीत भगवद्भाव-राज्यमें प्रवेश करके प्रियतम भगवान्के साथ लीलाविहार करते हैं या उनकी लीलामें सहायक-सेवक होकर उनके सुखमे ही अपने भिन्न स्वरूपको विसर्जितकर नित्य-सेवा-रत रहते हैं; परंतु भोग-मोक्षकी कामना-गन्ध-लेशसे शून्य, सर्वात्मनिवेदनकारी महानुभावोंका ही इसमें प्रवेश होता है, चाहे वे पवित्र त्यागमय प्रेमस्रोतमें बहते हुए सीधे ही यहाँ पहुँच जायँ अथवा उपर्युक्त ज्ञान-राज्यमें ज्ञान प्राप्त होनेके अनन्तर किसी महान् कारणसे इस सर्वविलक्षण महाभावरूप परम दुर्लभ राज्यमें प्रवेश प्राप्त करें।

इस भावराज्यमें नित्य निरन्तर भावमय सच्चिदानन्दघन दिव्य प्रेमरसस्वरूप श्रीराधाकृष्णका भावमय नित्य लीला-विहार होता रहता है। गोपीप्रेमकी उच्च स्थितिपर पहुँचे हुए गोपीहृदय महापुरुष तथा श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा नित्यसिद्धा तथा विविध साधनोंद्वारा यहाँतक पहुँची हुई अन्यान्य गोपाङ्गनाओंका उसमें नित्य सेवा-सहयोग रहता है। इसीको 'गो-लोक' या 'नित्य प्रेमधाम' भी कहते हैं। यह 'भावराज्य' ज्ञानराज्यसे आगेका या उससे उच्च स्तरपर स्थित है। प्रेमी महानुभावोंने तो भगवत्कृपासे, 'स्वयं भगवान्' श्रीकृष्णके द्वारा सखा भक्त अर्जुनके प्रति उपदिष्ट गीतामें भी इसके संकेत प्राप्त किये हैं। कुछ उदाहरण देखिये—तेरहवें अध्यायमे भगवान्ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, ज्ञान-ज्ञेयके स्वरूपका वर्णन किया। उसमें सर्वत्र व्याप्त सगुण निराकार तथा ज्ञानगम्य ब्रह्मस्वरूपका उपदेश करनेके बाद वे कहते हैं—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥
(१३। १८)

'इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय संक्षेपमें कहे गये। इन

क्षेत्र-ज्ञान-ज्ञेयको जानकर मेरा भक्त 'मेरे भाव' को प्राप्त होता है।"

चतुर्थ अध्यायमें भगवान् कहते हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥
(४।१०)

"बहुत-से राग-भय-क्रोधसे रहित, ज्ञानरूप तपसे पवित्र, मुझमें तन्मय, मेरे आश्रित पुरुष 'मेरे भाव' को प्राप्त हो चुके हैं।"

अठारहवें अध्यायमें स्पष्ट शब्दोंमें भगवान्ने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८।५४-५५)

'ब्रह्मभूत होकर प्रसन्नात्मा पुरुष न तो शोक करता है न आकाङ्क्षा करता है अर्थात् ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होकर शोक-कामनासे रहित प्रसन्नात्मा—आनन्दस्वरूप हो जाता है तथा सब भूतोंमें सम हो जाता है; तब वह मेरी पराभक्तिको प्राप्त करता है। उस भक्तिसे यानी परा ज्ञाननिष्ठासे जैसा जो कुछ मैं हूँ, उस मुझको तत्त्वसे जानकर तदनन्तर मुझमें प्रवेश कर जाता है।' अभिप्राय यह कि ब्रह्मस्वरूप समदर्शी शोकाकाङ्क्षारहित उच्च स्थितिपर पहुँच जानेपर भी भगवान्के 'यः यावान्' स्वरूपका ज्ञान और उस भावराज्यमें प्रवेश शेष रह जाता है, जो पराभक्ति—प्रेमाभक्तिसे ही सिद्ध होता है।

इस पराभक्तिसे भगवान्के जिस स्वरूपका ज्ञान होकर जिस भावराज्यकी लीलामें प्रवेश प्राप्त होता है, भगवान्का वह स्वरूप भी अद्वय अक्षर ज्ञानतत्त्व ब्रह्मसे (तत्त्वतः एक होनेपर भी) असाधारण विलक्षण है। इसका भी संकेत गीताकी भगवद्वाणीमें स्पष्ट है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(७।३)

'सहस्रों मनुष्योंमें कोई एक सिद्धिके लिये—तत्त्वज्ञानके लिये प्रयत्न करता है। उन यत्न करते हुए सिद्ध—सिद्धिप्राप्त पुरुषोंमें कोई एक मुझको तत्त्वसे जानता है।' यहाँके 'तत्त्वतः वेत्ति' से उपर्युक्त 'तत्त्वतः अभिजानाति' का और यहाँके 'सिद्ध'से उपर्युक्त श्लोकके 'ब्रह्मभूत' का सर्वथा साम्य है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानतत्त्व ब्रह्मकी अपेक्षा 'माम्' शब्दके वाच्य भगवान् विलक्षण हैं।

पंद्रहवें अध्यायमें दो प्रकारके पुरुषोंका वर्णन करते हुए भगवान् अपनेको 'क्षर' पुरुषसे अतीत और 'अक्षर' पुरुषसे उत्तम 'पुरुषोत्तम' बताते हैं और इसे 'गुह्यतम' कहते हैं। 'अक्षर' क्या है, यह भगवान्के शब्दोंसे ही स्पष्ट है—'अक्षरं ब्रह्म परमम्' (८।३)—परम ब्रह्म अक्षर है।

इससे भी अत्यन्त स्पष्ट भगवान्की उक्ति है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(१४।२७)

'अव्यय ब्रह्म, अमृत, नित्य धर्म और ऐकान्तिक सुख—(ये चारो ही ब्रह्मके वाचक हैं) की मैं ही प्रतिष्ठा हूँ।'

इससे सिद्ध है कि ज्ञानराज्यसे यह महा'भावराज्य' विलक्षण है और ज्ञानगम्य ज्ञानतत्त्व 'ब्रह्म' से भगवान् 'श्रीकृष्ण' विलक्षण हैं।

ज्ञानतत्त्वमें परिनिष्ठित ब्रह्मीभूत महात्मा, जिनकी अज्ञान-ग्रन्थि टूट चुकी है, ऐसे आत्माराम मुनि भी भगवान्की अहैतुकी भक्ति करनेको बाध्य होते हैं; क्योंकि भगवान्में ऐसे ही विलक्षण स्वरूपभूत गुण हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(श्रीमद्भागवत १।७।१०)

इसीसे भगवान् श्रीकृष्णका एक सुन्दर नाम है—'आत्मारामगणाकर्षी' 'आत्माराम मुनिगणोंको आकर्षित करनेवाले'।

कुन्तीदेवीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥
(श्रीमद्भागवत १।८।२०)

'आप अमलात्मा—विशुद्धहृदय परमहंस मुनियोंको भक्तियोग प्रदान करनेके लिये प्रकट हुए हैं। फिर हम अल्पज्ञ स्त्रियाँ आपको कैसे जान सकती हैं।'

इसीसे ज्ञानी महात्मा पुरुष मुक्तिका निरादर करते हैं

और भक्तिनिष्ठ रहना चाहते हैं—'मुक्ति निरादर भगति लुभाने।' मुक्ति उनके पीछे-पीछे घूमती है, पर वे उसे स्वीकार नहीं करते; क्योंकि वे संसारके मायाबन्धनसे तो सर्वथा मुक्त हैं ही, भगवान्के प्रेमबन्धनसे मुक्ति उन्हें कदापि इष्ट नहीं! ऐसे प्रेमी भक्त जिन भगवान्को प्रेमरसास्वादन कराते हैं और स्वयं जिनके मधुरातिमधुर दिव्य प्रेमसुधा-रसको प्राप्त करते हैं, वे भगवान् निस्संदेह ही सर्वतत्त्व-विलक्षण हैं।

इन भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं श्रीराधारानी—

आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ।
आत्माराम इति प्रोक्तो मुनिभिर्गूढवेदिभिः॥

(स्कन्दपुराण)

'श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं, उनके साथ सदा रमण करनेके कारण ही रहस्य-रसके मर्मज्ञ ज्ञानी पुरुष श्रीकृष्णको 'आत्माराम' कहते हैं।' इसी प्रसङ्गमें भगवान्की महिषी श्रीकालिन्दीजी कहती हैं—

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका।

'आत्माराम भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा निश्चय ही श्रीराधाजी हैं।' इन श्रीराधा-माधवका वह भावराज्य अतिशय उज्ज्वल है। वहाँ प्रिया-प्रियतमकी अचिन्त्य अमल मधुरतम लीला नित्य चलती रहती है। 'अक्षर कूटस्थ ब्रह्म' जिनकी पद-नख-ज्योति हैं और जो ब्रह्मके आधार हैं, उन परात्पर श्यामसुन्दरका वहाँ लीलाविहार निरन्तर होता रहता है। वह लीलाका महान् मधुर सागर अत्यन्त शान्त होनेपर भी सदा उछलता रहता है। स्वयं नटनागर ही विविध मनोहारिणी भावलहरियाँ बनकर खेलते रहते हैं। उस भावराज्यमें ज्ञान-विज्ञान छिपे रहकर रसिकेन्द्र-शिरोमणि रसरूप भगवान् श्यामसुन्दरके द्विधारूप श्रीराधा-माधवका और श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनाओंका मधुरतम लीला-रस-रंग देखते रहते हैं। जो ज्ञानी-विज्ञानी महात्मा इस भावराज्यमें पहुँचते हैं, उनके वे ज्ञान-विज्ञान यहाँ अपने ही दुर्लभ फलका सङ्ग पाकर परम प्रफुल्लित हो जाते हैं। ज्ञान-विज्ञानके अधिष्ठातृ-देवता सदा अतृप्त ही रहते हैं; क्योंकि उन्हें लीला-रसका पान करनेके लिये कभी अवसर ही नहीं मिलता। पर प्रेममय ज्ञानी पुरुषोंके साथ वे जब यहाँ पहुँचते हैं, तब रसदर्शनके लिये वे छिप जाते हैं और अपने ही परम फल-स्वरूप श्रीराधाकृष्णकी रसमयी चिन्मय अविरल केवलानन्दरस-सुधा-प्रवाहिणी लीला देख-देखकर अपूर्व अतुलनीय आनन्द लाभ करते और कृतकृत्य होते हैं। ज्ञान-विज्ञानका जीवन यहाँ सार्थक हो जाता है। वे चुपचाप छिपे हुए रस-पान करते रहते हैं, कभी भी प्रकट होकर लीला-रसमें विघ्न नहीं डालते; क्योंकि इस प्रेम-रसमें ज्ञानकी खटाई पड़ते ही यह फट जाता है। वहाँ इसमें अलौकिक लीलाकी अनन्त मधुर तरङ्गें नित्य उठती रहती हैं। यह वही रस है, जो सभी रसोंका उद्गमस्थान नित्य महान् परम मधुर रस है। वस्तुतः निरतिशय रसमय श्रीभगवान् ही यहाँ महाभाव-परिनिष्ठित होकर रसरूपमें भी प्रकट रहते हैं। देवता, भाग्यवान् असुर, किंनर, ऋषि, मुनि, पवित्र तपस्वी, परम पवित्र—सिद्ध पुरुष सभी इसके लिये ललचाते रहते हैं; पर इसे पाना तो दूर रहा, इस मनभावन रसमय भावराज्यको वे देख भी नहीं पाते। कर्म-कुशल कर्मी, समाधिनिष्ठ योगी और छिन्नग्रन्थि ज्ञानी पुरुष इस रसमय भावराज्यकी कल्पना भी नहीं कर पाते, इसका अर्थ ही उनकी समझमें नहीं आता। इसीसे वे इसकी अवहेलना करते हैं। इस भावराज्यमें निवास करनेवाली रसलीला-निरत, रस-सेवाकी मूर्तिमान् विग्रह जो परम श्रेष्ठ दिव्य सखी, सहचरी, मंजरियाँ हैं, अति श्रद्धाके साथ जो उनकी चरण-रजका सेवन करता है, जो तर्कशून्य साधक अपने रसयुक्त हृदयको भावराज्यके उज्ज्वल भावोंसे भरता रहता है, जो तुच्छ घृणित भोगोंसे और कैवल्य मोक्षसे सदा विरक्त रहता है और जिसका हृदय निरन्तर भावराज्यके आराध्यस्वरूप श्रीराधा-माधवके चरणोंमें ही आसक्त रहता है, वही भावराज्यके किसी महान् जनका—किसी मञ्जरीका कृपाकण प्राप्त कर सकता है और वही जन इस परम भावराज्यकी सीमामें प्रवेश कर सकता है।

इसी तत्त्वका स्मरण दिलानेवाला यह पद है—

'कर्म-राज्य'से उच्च स्तरपर सुन्दर 'भाव-राज्य' जगमग।
तत्व'ज्ञान' उच्चतर उससे, कष्टसाध्य अति 'राज्य' सुभग॥
परम 'भाव' का है उससे भी उच्च 'राज्य' अतिशय उज्ज्वल।
होती जहाँ प्रिया-प्रियतमकी लीला मधुर अचिन्त्य अमल॥
जिसकी पद-नख-आभा अक्षर ब्रह्म, ब्रह्मका जो आधार।
उसी परात्परकी लीलाका संतत होता जहाँ विहार॥
सदा उछलता रहता वह लीलाका शान्त मधुर सागर।
विविध भाव-लहरें मनहर बन स्वयं खेलते नट-नागर॥
छिपे ज्ञान-विज्ञान देखते जहाँ मधुर लीला-रस-रंग।
होते परम प्रफुल्लित पाकर अपने दुर्लभ फलका संग॥

प्रकट नहीं होते, करते वे नहीं कभी लीला-रस-भंग।
उठतीं वहाँ अलौकिक लीलाकी नित मधुर अनन्त तरंग॥
रस वह सभी रसोंका उद्गम, नित्य परम रस मधुर महान्।
महाभाव-परिनिष्ठित नित्य निरतिशय रसमय श्रीभगवान्॥
देव, दनुज, किंनर, ऋषि, मुनि, शुचि तापस, सिद्ध, परमपावन।
ललचाते रहते, मनसे भी देख न पाते मनभावन॥
कर्म-कुशल कर्मी, समाधिरत योगी, छिन्न-ग्रन्थि ज्ञानी।
नहीं कल्पना भी कर पाते, समझ नहीं पाते मानी॥
जो इस भावराज्यके वासी, रस-लीला-रत परम उदार।
सखी, सहचरी, दिव्य मञ्जरी, रस-सेवा-विग्रह साकार॥
उनकी चरणधूलिकी अति श्रद्धासे जो सेवा करता।
तर्कशून्य जो सरस हृदयको उज्ज्वल भावोंसे भरता॥
रहता तुच्छ घृणित भोगोंसे तथा मुक्तिसे सदा विरक्त।
जिसका हृदय निरन्तर रहता राधा-माधव-चरणासक्त॥
भाव-राज्यके जन महानका वही कृपा-कण पा सकता।
वही परम इस भाव-राज्यकी सीमामें जन जा सकता॥

नित्य रासेश्वरी, नित्य निकुञ्जेश्वरी श्रीराधा और उनके प्रियतम श्रीकृष्णमें तनिक भी भेद नहीं है। पर लीला-रसास्वादनके लिये श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता परमाह्लादिनी श्रीराधा सदा श्रीकृष्णका समाराधन करती रहती हैं और श्रीकृष्ण भी उनका प्रेमाराधन करते रहते हैं। रस-सुधा-सागर ये श्रीराधा-माधव एक ही तत्त्वमय शरीरके दो लीलास्वरूप बने हुए एक-दूसरेको आनन्द प्रदान करते रहते हैं।

आनँद की अह्लादिनि स्यामा अह्लादिनि के आनँद स्याम।
सदा सरवदा जुगल एक मन एक जुगल तन बिलसत धाम॥

इनमें परकीया-स्वकीया लीला भी वस्तुतः रस-निष्पत्तिके लिये है। इस भेदका आग्रह वस्तुतः श्रीकृष्णके स्वरूपकी विस्मृतिसे ही होता है। श्रीराधा-माधव एक ही सच्चिदानन्दमय वस्तु-तत्त्व हैं; उसमें न स्त्री है न पुरुष। ब्रह्मवैवर्तपुराण और देवीभागवतमें आया है कि इच्छामय, सर्वरूपमय, सर्वकारण-कारण, परम शान्त, परम कमनीय, नव-सजल-जलद-श्याम परात्पर भगवान् श्रीकृष्णके वाम भागसे मूल प्रकृतिरूपमे श्रीराधाजी प्रकट हुईं। इन्हीं राधाजीके द्विविध प्रकाशसे लक्ष्मीका प्राकट्य हुआ। अतएव श्रीकृष्णाङ्गसम्भूता होनेसे श्रीराधाजी नित्य श्रीकृष्णस्वरूपा ही हैं। श्रीदेवीभागवतमें श्रीराधाजीके मन्त्र, उपासना, स्वरूपका और भगवान् नारायणके द्वारा उनकी स्तुतिका वर्णन है, जो संक्षेपमें इस प्रकार है—

भगवती श्रीराधाका वाञ्छाचिन्तामणि सिद्ध मन्त्र है—'ॐ ह्रीं श्रीराधायै स्वाहा'। असंख्य मुख और असंख्य जिह्वावाले भी इस मन्त्रका माहात्म्य वर्णन करनेमें असमर्थ हैं। मूल प्रकृति श्रीराधाके आदेशसे सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्णने भक्तिपूर्वक इस मन्त्रका जप किया था। फिर, उन्होंने विष्णुको, विष्णुने विराट् ब्रह्माको, ब्रह्माने धर्मको और धर्मने मुझ नारायणको इसका उपदेश किया। तबसे मैं निरन्तर इस मन्त्रका जप करता हूँ, इसीसे ऋषिगण मेरा सम्मान करते हैं। ब्रह्मा आदि समस्त देवता नित्य प्रसन्नचित्तसे श्रीराधाकी उपासना करते हैं।

कृष्णार्चायां नाधिकारो यतो राधार्चनं विना।
वैष्णवैः सकलैस्तस्मात् कर्तव्यं राधिकार्चनम्॥
कृष्णप्राणाधिका देवी तदधीनो विभुर्यतः।
रासेश्वरी तस्य नित्यं तया हीनो न तिष्ठति॥
राध्नोति सकलान् कामांस्तस्माद् राधेति कीर्तिता॥
(श्रीदेवीभागवत ९। ५०। १६ से १८)

"क्योंकि श्रीराधाकी पूजा किये बिना मनुष्य श्रीकृष्णकी पूजाके लिये अनधिकारी माना जाता है; इसलिये वैष्णवमात्रका कर्तव्य है कि वे श्रीराधाकी पूजा अवश्य करें। श्रीराधा श्रीकृष्णकी प्राणाधिका देवी हैं। अतः भगवान् इनके अधीन रहते हैं। ये नित्य रासेश्वरी भगवान्‌के रासकी नित्य स्वामिनी हैं। इनके बिना भगवान् रह ही नहीं सकते। ये सम्पूर्ण कामनाओंको सिद्ध करती हैं, इसीसे ये 'राधा' नामसे कही जाती हैं।"

श्रीराधाका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये—

'श्रीराधाका वर्ण श्वेत चम्पाकुसुमके सदृश है। मुख शारदीय शशिका गर्व हरण करता है, श्रीविग्रह असंख्य चन्द्रमाओंकी कान्तिके सदृश झलमल करता है। नेत्र शरद्-ऋतुके खिले हुए कमलके समान हैं। अरुण अधर बिम्बाफलके सदृश, स्थूल श्रोणि और क्षीण कटिप्रदेश दिव्य करधनीसे अलंकृत है। कुन्द-कुसुमके सदृश इनकी स्वच्छ दन्तपंक्ति सुशोभित है। दिव्य नील पट्टवस्त्र इन्होंने धारण कर रखा है। इनके प्रसन्न मुखारविन्दपर मृदु मुसुकानकी छटा छायी है। विशाल उरोज हैं। दिव्य रत्नमय विविध आभूषणोंसे विभूषित ये देवी नित्य बालारूपमे अल्पवयीय प्रतीत होती हैं। इनके कुञ्चित केश मल्लिका और मालतीकी मालाओंसे सुशोभित हैं। अङ्ग-प्रत्यङ्ग अत्यन्त सुकुमार है। इनका श्रीविग्रह मानो

शोभा—श्रीका लहराता हुआ अनन्त सागर है। वे शान्तस्वरूपा शाश्वत-यौवना राधाजी रासमण्डलमें समस्त गोपाङ्गनाओंकी अधीश्वरीके रूपमें रत्नमय सिंहासनपर विराजमान हैं। वेद इन श्रीकृष्णप्राणाधिका परमेश्वरीकी महिमाका गान करते हैं।

तदनन्तर पूजाविधान बतलाकर श्रीनारायण कहते हैं कि 'जो बुद्धिमान् पुरुष भगवती श्रीराधाका जन्म-महोत्सव मनाता है, उसे रासेश्वरी श्रीराधा अपना सांनिध्य प्रदान करती हैं—

× × × राधाजन्मोत्सवं बुधः।
कुरुते तस्य सांनिध्यं दद्याद् रासेश्वरी परा॥

फिर श्रीनारायण 'राधास्तवन' करते हैं—

नमस्ते परमेशानि रासमण्डलवासिनि।
रासेश्वरि नमस्तेऽस्तु कृष्णप्राणाधिकप्रिये॥
नमस्त्रैलोक्यजननि प्रसीद करुणार्णवे।
ब्रह्मविष्ण्वादिभिर्देवैर्वन्द्यमानपदाम्बुजे॥
नमः सरस्वतीरूपे नमः सावित्रि शंकरि।
गङ्गापद्मावतीरूपे षष्ठि मङ्गलचण्डिके॥
नमस्ते तुलसीरूपे नमो लक्ष्मीस्वरूपिणि।
नमो दुर्गे भगवति नमस्ते सर्वरूपिणि॥
मूलप्रकृतिरूपां त्वां भजामः करुणार्णवाम्।
संसारसागरादस्मादुद्धराम्ब! दयां कुरु॥

(श्रीमद्देवीभागवत ९।५०।४६ से ५०)

इस स्तोत्रका माहात्म्य वे यों बतलाते हैं—'जो पुरुष त्रिकाल संध्याके समय भगवती श्रीराधाका स्मरण करते हुए उनके इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसके लिये कभी कोई भी वस्तु किञ्चित् मात्र भी अलभ्य नहीं रह सकती। और आयु समाप्त होनेपर शरीरका त्याग करके वह बड़भागी पुरुष गोलोकधाम—रासमण्डलमें नित्य निवास करता है। यह परम रहस्य जिस किसीके सामने नहीं कहना चाहिये।'

यही श्रीकृष्णस्वरूपिणी श्रीकृष्णाह्लादिनी श्रीराधाने वृषभानुपुरमें माता कीर्तिदादेवीके यहाँ महान् पुण्यमय मधुर रूपमें प्रकट होकर नित्य अभिन्नस्वरूप श्रीकृष्णके साथ लीलाविहार करती हैं। इनके लीलासागरकी विविध ऋजु-कुटिल तरङ्गें हैं। प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव—ये सभी इस लीला-भाव-तरङ्गोंके ही स्वरूप हैं। इनकी पूर्ण परिणतिका नाम ही 'महाभाव' है। और श्रीराधा ही 'महाभावस्वरूपा' हैं। उनमें पूर्वोक्त सभी भावोंका एकत्र अन्तर्भाव है। लीलामें समय-समयपर सभी भावोंका लीला-क्षेत्रानुसार प्रकाश होता है। कभी वे अत्यन्त मानिनी बनकर श्रीकृष्णके द्वारा अत्यन्त विनयपूर्ण मानभङ्ग-लीला कराती हैं, तो कभी अपना नितान्त दैन्य प्रकट करती हुई (ललिताजीसे) कहती हैं—

सखी री हौं अवगुन की खान।
तन गोरी, मन कारी भारी, पातक पूरन प्रान॥
नहीं त्याग रंचक मो मन मैं, भर्‌यौ अमित अभिमान।
नहीं प्रेम कौ लेस सेस, नित निज सुख कौ ही ध्यान॥
जग के दुःख-अभाव सतावैं, हो तन पीड़ा-भान।
तब तेइ दुख दृग स्रवैं अश्रुजल, नहिं कछु प्रेम निदान॥
तिन दुख-अँसुवन कौं दिखरावौं हौं सुचि प्रेम महान।
करौं कपट, हिय भाव दुरावौं, रचौं स्वाँग सज्ञान॥
भोरे प्रियतम मम, विमुग्ध बन करैं विमल गुन गान।
अतिसय प्रेम सराहैं, मोकूँ परम प्रेमिका मान॥
तुमहू सब मिलि करौ प्रसंसा, तब हौं मरौं गुमान।
करौं अनेक छद्म तेहि छन हौं, रचौं प्रपंच वितान॥
स्याम सरलचित, ठगौं दिवस निसि हौं करि बिबिध बिधान।
धृग जीवन मेरौ यह कलुषित, धृग यह मिथ्या मान॥

'री सखी! मैं अवगुणोंकी—दोषोंकी खान हूँ। शरीरसे गोरी हूँ, परंतु मनसे बड़ी काली हूँ; मेरे प्राण पातकोंसे पूर्ण हैं। मेरे मनमें रंच भर भी त्याग नहीं है, अपार अभिमान भरा है। प्रेमका तो लेश भी शेष नहीं है, नित्य-निरन्तर अपने सुखका ही ध्यान है। जब जगत्‌के दुःख-अभाव सताते हैं और शरीरमें पीड़ाकी अनुभूति होती है, तब उस दुःखके कारण आँखोंसे अश्रुजल बहने लगता है; उसमें तनिक भी प्रेमका कारण नहीं है। पर उन दुःखके आँसुओंको मैं महान् पवित्र प्रेमके आँसू बताकर प्रेम प्रकट करती हूँ। हृदयके भावको छिपाकर कपट करती हूँ और जान-बूझकर स्वाँग रचती हूँ। मेरे भोले-भाले प्रियतम मुझे परम प्रेमिका मानकर विमुग्ध हो मेरा निर्मल गुणगान करते हैं और मेरे प्रेमकी अतिशय प्रशंसा करते हैं। तुम सब भी मिलकर मेरी प्रशंसा करती हो, तब मैं अभिमानसे भर जाती हूँ। और उस अपने मिथ्या प्रेमस्वरूपकी रक्षाके लिये मैं अनेक छल-छद्म और प्रपञ्चोंका विस्तार करती हूँ। इस प्रकार मैं सरल-हृदय श्यामसुन्दरको विविध विधियोंसे दिन-रात ठगती रहती हूँ। धिक्कार है मेरे इस कलुषित जीवनको और धिक्कार है मेरे इस मिथ्या मानको!'

× × ×

श्रीराधा कभी सौन्दर्याभिमानकी लीला करती हैं तो कभी कहती हैं—'श्यामसुन्दर मुझ सद्गुणहीना कुरूपापर क्यों अपने सुखका बलिदान कर रहे हैं ? और उनके मथुरा पधार जानेपर उन्हें किसी उनके योग्य भाग्यशालिनीकी प्राप्तिसे सुखी होनेकी कल्पना करके प्रसन्न होती हैं ।

व्रजमें उद्धवके पधारनेका प्रसंग है । श्रीउद्धवजी नन्द-बाबा-यशोदामैया तथा कन्हैयाके सखाओंसे मिलनेके बाद श्रीगोपाङ्गनाओंके पास जाते हैं । वहाँके प्रसंगका 'भ्रमर गीत' के नामसे अनेकों महात्माओं और कवियोंने वर्णन किया है । फिर, उद्धवजी एकान्तमें श्रीराधासे मिलते हैं ।

उद्धवजी भगवान् श्रीकृष्णका संदेश सुनाते हुए कहते हैं—'भगवान् श्रीकृष्ण मथुरामें हैं । बहुत प्रसन्न हैं ।' यह सुनकर परम भावाविष्ट हुई श्रीराधिकाजी कहने लगती हैं—

'उद्धव ! तुम मुझको यह किसका, कैसा संदेश सुना रहे हो ? मेरे प्रियतम कहाँ परदेश गये हैं ? तुम मिथ्या कह-कर मुझे क्यों भुला रहे हो ? वे मेरे प्राणनाथ मुझे देखे बिना एक पल भर भी नहीं रह सकते । क्षण भरमें ही व्याकुल हो जाते हैं । मुझे छोड़कर वे कैसे चले जाते ? फिर मैं भी तो उन्हींसे जीवित हूँ, वे ही तो मेरे प्राणोंके प्राण हैं । वे छोड़कर चले गये होते तो शरीरमें ये मेरे प्राण कैसे रह पाते ?'

उद्धव ! तुम मुझको किसका यह सुना रहे कैसा संदेश ?
भुला रहे क्यों मिथ्या कहकर ? प्रियतम कहाँ गये परदेश ?
देखे बिना मुझे पल भर भी, कभी नहीं वे रह पाते ।
क्षण भरमें व्याकुल हो जाते, कैसे छोड़ चले जाते ?
मैं भी उनसे ही जीवित हूँ, वे ही हैं प्राणों के प्राण ।
छोड़ चले जाते तो कैसे तनमें रह पाते ये प्राण ?

इतनेमें ही राधाजीको श्यामसुन्दर कदम्बमूलमें खड़े दिखायी देने लगते हैं, तब वे कहने लगती हैं—'देखो, वह देखो उद्धव ! कदम्ब-मूलमें खड़े वे नन्दनन्दन कैसे मृदु-मृदु मुसकरा रहे हैं और निर्निमेष दृष्टिसे मेरी ओर झाँक रहे हैं । देखो, मेरे मुखको कमल मानकर प्राणप्रियतमके दृग-भ्रमर कैसे मतवाले हुए मधुर रसका पान कर रहे हैं । देखो ! वे प्राणनिकेतन कैसे भौंहें चलाकर, आँखें-मटकाकर मुझे संकेत कर रहे हैं, और अत्यन्त आतुर होकर एकान्त निकुञ्जमे बुला रहे हैं । अरे, उद्धव ! तुम कैसे भौंचक-से हुए कदम्बकी ओर ताक रहे हो ? क्या तुम उन्हें नहीं देख पाते या उन्हें देखकर प्रेम-विभोर हो रहे हो ?'

देखो, वह देखो, कैसे मृदु मृदु मुसकाते नन्दकिशोर ।
खड़े कदम्ब मूल, अपलक वे झाँक रहे हैं मेरी ओर ॥
देखो, कैसे मत्त हो रहे मेरे मुखको पंकज मान ।
प्राणप्रियतमके दृग-मधुकर मधुर कर रहे हैं रस-पान ॥
भ्रकुटि चलाकर, दृग मटकाकर मुझे कर रहे वे संकेत ।
अति आतुर एकान्त कुञ्जमें बुला रहे हैं प्राणनिकेत ॥
कैसे तुम भौंचक-से होकर देख रहे कदम्बकी ओर ?
क्या तुम नहीं देख पाते ? या देख हो रहे प्रेमविभोर ?

इतनेमें ही श्यामसुन्दर दीखने बंद हो गये, तब राधाजी घबराकर बोलीं—'हैं, यह क्या हो गया ? वे कैसे, कहाँ अन्तर्धान हो गये ? हाय ! वे मनमोहन आनन्दनिधान मुझको क्यों नहीं दीख रहे हैं ? क्या वे लीलामय आज फिर आँख-मिचौनी खेलने लगे ? अथवा क्या, मैंने उनको तुम्हें दिखला दिया, इससे उन्हें लज्जा आ गयी ? नहीं, नहीं ! तब क्या वे सचमुच ही मुझे छोड़कर चले गये ? हाय ! मुझे असीम अभागिनी बनाकर क्या वे मुझसे मुख मोड़कर चले गये ? सच कहते हो तुम उद्धव ! तुम सत्य संदेश सुना रहे हो । वे चले गये ! हाय ! वे चले गये ! अब मेरे लिये रोना ही शेष छोड़ गये !'

हैं, यह क्या ? सहसा वे कैसे कहाँ हो गये अन्तर्धान ?
हाय ! क्यों नहीं दीख रहे मुझको मनमोहन मोदनिधान ॥
आँखमिचौनी लगे खेलने क्या वे लीलामय फिर आज ? ।
दिखा दिया मैंने तुमको क्या इससे उन्हें आ गयी लाज ? ॥
नहीं, नहीं ! तब क्या वे चले गए सचमुच ही मुझको छोड़ ? ।
मुझे बनाकर अमित अभागिनि, हाय ! गये मुझसे मुख मोड़ ! ॥
सच कहते हो उद्धव ! तुम, हो सत्य सुनाते तुम संदेश ।
चले गये हाँ ! चले गये वे छोड़ गये रोना अवशेष ॥

फिर भाव बदला और प्रसन्नमुखी होकर वे कहने लगीं—

'जो प्रियतम निर्निमेष नेत्रोंसे सदा मुझे देखते ही रहते । मुझे सुखमय देखनेके लिये जो सभी प्रकारके द्वन्द्वों—(मान-अपमान, स्तुति-निन्दा आदि) को सुखपूर्वक सहते । मेरा दुःख उनके लिये अत्यन्त दुःखरूप और मेरा सुख उनके लिये आत्यन्तिक सुख होता । वे मुझको दुःख देकर अपने जीवन-सुखको कैसे खो देते ? अतः वे श्यामसुन्दर मुझको परम सुख देनेके लिये ही गये हैं और मथुरामें जाकर बसे हैं । मैं अब समझ गयी और उनके इस अति सुखदायक काम-को देखकर सुखी हो गयी । मुझे वे सभी उनकी-मेरी बीती बातें याद आ रही हैं । मैं अब उनके जानेका कारण समझ

गयी । इसीसे तो देखो ! मेरा शरीर प्रफुल्लित और पुलकित हो रहा है ।'

प्रति पल जो अपलक नयनोंसे मुझे देखते ही रहते ।
सुखमय मुझे देखनेको जो सभी द्वन्द्व सुखसे सहते ॥
मेरा दुःख, दुःख अति उनका, मेरा सुख ही अतिशय सुख ।
वे कैसे मुझको दुख देकर, खो देते निज जीवन-सुख ? ॥
मुझे परम सुख देनेको ही गये, बसे मथुरामें श्याम ।
समझ गयी मैं, सुखी हो गयी निरख सुखद अति उनका काम ॥
याद आ गयी, मुझे सभी वे मेरी उनकी बीती बात ।
जान गयी कारण, इससे हो रही प्रफुल्लित पुलकित गात ॥

तदनन्तर वे कहती हैं—'उद्धव ! मैं सद्गुणोंसे हीन रूप-शोभासे शून्य दोषोंकी खान थी । परंतु मुझमें मोहन श्यामका इतना मोह हो गया था कि उन्हें मोहवश मुझमें सुन्दरताकी प्रतीति होती थी । वे अपना सर्वस्व मुझको मोदसहित देकर मुझपर न्यौछावर रहते । बुद्धिमान् होकर भी वे मुझको 'प्राणेश्वरी, हृदयेश्वरी' बार-बार कहते, कभी थकते ही नहीं । मैं उन्हें बराबर समझाती—'प्रियतम ! तुम इस भ्रमको छोड़ दो ।' पर वे मानते ही नहीं, मुझे हृदयसे लगा लेते, मैं उनको अपने गलेका हार पाती । मैं सद्गुण-सौन्दर्यसे शून्य, प्रेमधनसे दरिद्र, रसकला-चातुर्यसे हीन, मूर्खा, मुखरा, बहुत बोलनेवाली, मिथ्या मान-मदसे चूर, बुद्धिहीन और मलिन थी । मुझसे कहीं अधिकतर सुन्दर सद्गुण-शील, सुन्दर रूपकी भण्डार अनेक सुयोग्य सखियाँ थीं, जो प्रियतमको अतिशय सुख प्रदान कर सकती थीं, परंतु प्रियतम उनकी ओर कभी भूलकर ताकते भी नहीं थे । मुझको सबसे अधिक प्यार देते । सर्वाधिक क्यों, प्रियतम सब ओरसे मुझको ही समस्त प्यार अनन्य रूपसे देते । इस प्रकार मेरे प्रति प्रियतमके बढ़े हुए व्यामोहको देखकर मुझे अत्यन्त संताप होता और मैं 'देव'से मनाया करती कि 'हे प्रभो ! आप उनके इस मोहको तुरंत हर लें'—

सद्गुणहीन, रूप-सुषमासे रहित दोषकी मैं थी खान ।
मोहविवश मोहनको होता मुझमें सुन्दरताका भान ॥
न्यौछावर रहते मुझ पर, सर्वस्व समुद कर मुझको दान ।
कहते, थकते नहीं कभी—'प्राणेश्वरि !' 'हृदयेश्वरि !' मतिमान ॥
'प्रियतम ! छोड़ो इस भ्रमको तुम',—बार-बार मैं समझाती ।
नहीं मानते, उर भरते, मैं कण्ठहार उनको पाती ॥
गुण-सुन्दरता-रहित, प्रेमधन-दीन, कला-चतुराई-हीन ।
मूर्खा, मुखरा, मान-मद-भरी मिथ्या मैं मतिमंद मलीन ॥
मुझसे कहीं अधिकतर सुन्दर, सद्गुण-शील-सुरूप-निधान ।
सखी अनेक योग्य प्रियतमको कर सकती अतिशय सुख दान ॥
प्रियतम कभी भूलकर भी पर, नहीं ताकते उनकी ओर ।
सर्वाधिक क्यों, प्यार मुझे देते अनन्य प्रियतम सब ओर ॥
रहता अति संताप मुझे प्रियतमका देख बढ़ा व्यामोह ।
देव मनाया करती मैं, 'प्रभु ! हर लें सत्वर उनका मोह' ॥

'मेरा अत्यन्त सौभाग्य है—देवने मेरी करुण पुकार सुन ली । मेरे मोहनका मोह आखिर मिट गया । अब वे मेरे प्राणाराम किसी सुन्दर चतुरा नागरीको प्राप्त करके परम मोद प्राप्त कर रहे होंगे, अनुपम सुखका उपभोग कर रहे होंगे । मेरी मनोकामना पूर्ण हो गयी । मैं आज परम सुखवती हो गयी । आनन्द-मङ्गलमय जीवनके शृङ्गाररूप श्यामसुन्दरका सुखकी खानके समान संदेश सुनकर आज मेरे भाग्य खुल गये—

मेरा अति सौभाग्य, देवने सुन ली मेरी करुण पुकार ।
मिटा मोह मोहनका, अब वे प्राप्त कर रहे मोद अपार ॥
पाकर सुन्दर चतुरा किसी नागरीको वे प्राणाराम ।
भोग रहे होंगे अनुपम सुख, पूर्ण हुआ मेरा मन-काम ॥
परम सुखवती आज हुई मैं खुले भाग्य मेरे हैं आज ।
सुनकर श्याम-सँदेश सुखाकर मुद-मंगलमय जीवनसाज ॥

इसके बाद उनके मनमें दूसरे ही क्षण पवित्र एकात्म-भावका उन्मेष हुआ और वे स्वरूप-स्थित होकर बोलीं—

'नहीं, नहीं ! मेरे प्रियतमसे ऐसा काम कभी नहीं हो सकता । मेरा और उनका जो अनोखा अति ललित प्रिय अनन्य सम्बन्ध है, वह अमिट है । मुझे छोड़कर 'वे' और उन्हें छोड़कर 'मैं' कभी रह सकते ही नहीं । वे मैं हैं, मैं वे हैं—दोनों एक तत्त्व है—सब प्रकारसे एक रूप हैं'—

नहीं, नहीं' ऐसा हो सकता नहीं कभी प्रियतमसे काम ।
मेरा उनका अमिट अनोखा प्रिय अनन्य सम्बन्ध ललाम ॥
मुझे छोड़ 'वे' उन्हें छोड़ 'मैं'—रह सकते हैं नहीं कभी ।
वे मैं, मैं वे—एक तत्व हैं, एक रूप हैं भाँति सभी ॥

इतनेमें उन्हें भगवान् श्यामसुन्दर दिखायी दिये । वे कह उठीं—

'अरे, अरे उद्धव ! देखो तो वे सुजान पुनः प्रकट हो गये हैं, प्रेमभरी चितवन है और उनके मधुर अधरोंपर मृदु मुसकान छायी हुई है । ललित त्रिभङ्ग हैं, घुघराले काले केश हैं, सिरपर मयूर-मुकुट है, कानोंमें सुन्दर कुण्डल झिलमिला

रहे हैं। वे मुरलीधर अधरोंपर मुरली धरकर मधुर तान छेड़ रहे हैं।' यों कहते-कहते ही प्रेमसुधा-सागर, राधामें विविध विचित्र भावतरङ्गें उठने लगीं, उन्हें देखकर उद्धव अत्यन्त विमुग्ध हो गये। उनके समस्त अङ्ग बरबस विवश हो गये। नयी उत्पन्न हुई शुभ प्रेम-नदीमें अचानक बाढ़ आ गयी। कहीं ओर-छोर नहीं रहा। पवित्र-हृदय उद्धव आनन्द-निमग्न होकर गिर पड़े। उनका शरीर धूलिधूसरित हुआ पृथ्वीपर लोट गया। धन्य !'

अरे, अरे उद्धव ! देखो तो पुनः प्रगट हो गये सुजान।
प्रेमभरी चितवन सुन्दर, छाई अधरों पर मृदु मुसकान॥
ललित त्रिभंग, कुटिल कुन्तल, सिर मोर-मुकुट, कल कुण्डल कान।
धर मुरली मुरलीधर अधरों पर हैं छेड़ रहे मधु तान॥
प्रेम-सुधा-सागर राधामें उठती विविध विचित्र तरंग।
देख, विमुग्ध हुए उद्धव अति, बरबस विवश हुए सब अंग॥
उदित नवीन प्रेमसरिता शुभ बढ़ी अचानक ओर न छोर।
भू-लुण्ठित तन धूलि-धूसरित शुचि उद्धव आनन्दविभोर॥

× × ×

इसी प्रकार राधाजी कभी वियोगका अत्यन्त दारुण अनुभव करके दहाड़ मारकर रोती हैं, कभी मिलन-सुखका महान् आनन्द प्राप्त करती हैं और कभी प्रत्यक्ष मिलनमें ही वियोगका अनुभव करके 'हा श्यामसुन्दर, हा प्राणप्रियतम !' पुकारने लगती हैं एवं कभी-कभी अपनेको ही श्यामरूप मानकर 'हा राधे,' हा राधे'की करुण ध्वनि कर उठती हैं। एक बार निकुञ्जसे लौटनेपर उन्हें ऐसा भान हुआ कि श्यामसुन्दर कहीं चले गये हैं। इसलिये वे वहीं वनमें वनधातुको जलमें घोलकर दाड़िमकी छोटी-सी पतली डालीको कलम बनाकर प्रियतमको पत्र लिखने बैठीं—इतनेमें ही अपने-आपको भूल गयी और 'हा राधे ! तुम कहाँ चली गयीं ?' पुकार उठीं। फिर राधाको पत्र लिखा। पीछे अपनी ही वाणीसे उन्होंने प्रिय सखी ललिताको अपनी यह भूल बतलायी—

सखी ! यह कैसी भूल भई।
लिखन लगी पाती पिय कौं लै दाड़िम कलम नई।
भूली निज सरूप हौं तुरत हि बन घनस्याम गई।
विरह विकल बोली पुकार—'हा राधे' कितै गई ?
पाती लिखी—'प्रिये ! हृदयेश्वरि ! सुमधुर सु-रसमई।
प्राणाधिके ! वेगि आवौ तुम नेह-कलह-विजई॥
ठाढ़े हुए आय मनमोहन मो तन दृष्टि दई।
हँसे ठठाय, चेतना जागी, हौं सरमाय गई॥

× × ×

गोपी-प्रेमका स्वरूप-स्वभाव है—श्रीराधा-माधवका सुख। वे श्रीराधा-माधवके सुखमें ही सुखका अनुभव करती हैं, और नित्य निरन्तर उनके सुख-संयोग विधानमें ही लगी रहती हैं। एवं श्रीकृष्णप्राणा श्रीराधाजीका जीवन है श्रीकृष्ण-सुखमय। खाने-पीनेतकमें स्वाद-सुखकी अनुभूति भी उन्हें तभी होती है, जब उससे श्रीकृष्णको सुख होता है। वे 'अहं'को सर्वथा भुलाकर केवल श्रीकृष्णसुखकी ही चिन्ता करती रहती है—और प्रेम-स्वभावानुसार अपनेमें दोषोंका तथा प्रियतम श्रीकृष्णमें गुणोंके दर्शन करती हुई कहती हैं—

क्षण भर मुझे उदास देख जो कभी प्राणप्रिय पाते।
सारा मोद भूल तुम प्यारे ! अति व्याकुल हो जाते॥
कभी किसी कारण जब मेरे नेत्रकोण भर आते।
तब तुम अति विषण्ण हो प्यारे ! आँसू अमित बहाते॥
कभी म्लानताकी छाया, यदि मेरे मुखपर आती।
लगती, देख धड़कने प्रिय ! तत्काल तुम्हारी छाती॥
मेरे मुख-मुसकान देख तुमको अतिशय सुख होता।
हो आनन्दमग्न अति मन तब सारी सुध-बुध खोता॥
मुझको सुखी देखने-करनेको ही प्रतिपल प्यारे।
होते पुण्य विचार मधुर तब कार्य त्यागमय सारे॥
मेरा सुख-दुख तनिक तुम्हें अतिशय है सुख-दुख देता।
मेरा मन नित इन पावन भावोंसे अति सुख लेता॥
दिया अमित, दे रहे अपरिमित, देते नित्य रहोगे।
सहे सदा अपमान अवज्ञा आगे सदा सहोगे॥
किया न प्यार कभी सच्चा मैंने निज सुख ही देखा।
निज सुख हेतु रुलाया, कभी हँसाया, किया न लेखा॥
दे न सकी मैं तुम्हें कभी कुछ सुख-सामग्री कोई।
निज मन-इन्द्रिय तृप्ति हेतु मैंने सब आयुस् खोई॥
बुरा मानना, दोष देखना, पर तुमने नहिं जाना।
मेरे स्वार्थसने कामोंको सदा प्रेममय माना॥
मत्सुखकारक विमल प्रेमको मैंने नित ठुकराया।
तब भी प्रेम तुम्हारा मैंने नित बढ़ता ही पाया॥
तुम-से तुम ही हो जग-जगमें तुलना नहीं तुम्हारी।
मेरा अति सौभाग्य यही जो मान रहे तुम प्यारी॥

'प्राणप्रियतम ! मुझे क्षण भरके लिये यदि कभी तुम उदास देख पाते हो तो प्रियतम ! सारा आनन्द भूलकर तुम

अत्यन्त व्याकुल हो उठते हो। कभी किसी कारण जब मेरे नेत्र-कोण भर आते हैं, तब तुम अत्यन्त उदास होकर आँखोंसे अपार आँसू बहाने लगते हो। कभी यदि मेरे मुखपर जरा भी म्लानताकी छाया भी आ जाती है, तो उसे देखकर उसी क्षण तुम्हारी छाती धड़कने लगती है। कभी मेरे मुखपर तनिक मुसकान देख लेते हो तो तुमको अतिशय सुख होता है और तुम्हारा मन अत्यन्त आनन्दमग्न होकर सारी सुध-बुध खो देता है। मुझको सुखी बनाने और सुखी देखनेके लिये ही प्रियतम ! प्रतिपल तुम्हारे मधुर पवित्र विचार और त्यागमय समस्त कार्य होते हैं। मेरे तनिक-से सुख-दुःख तुम्हें अतिशय सुख-दुःख देते हैं। तुम्हारे इन पवित्र भावोंको ग्रहण करके मेरा मन निरन्तर अत्यन्त सुखका अनुभव करता है।

'तुमने मुझको अपरिमित दिया, अपरिमित दे रहे हो और आगे भी सदा अपरिमित देते ही रहोगे। तुम मेरे द्वारा सदा ही अपमान-अवज्ञा सहते आये हो और भविष्यमें भी सदा सहते ही रहोगे। मैंने कभी सच्चा प्रेम नहीं किया, केवल अपना ही सुख देखा। अपने ही सुखके लिये तुम्हें कभी रुलाया, कभी हँसाया। कुछ भी हिसाब नहीं रखा। मैं तुम्हें कभी कुछ भी सुखकी सामग्री नहीं दे सकी। मैंने अपनी सारी आयु अपने मन-इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये ही खो दी। पर तुमने तो कभी बुरा मानना, मेरे दोष देखना जाना ही नहीं। और मेरे स्वार्थपूर्ण कार्योंको सदा प्रेममय ही माना। मुझे सुखी करनेवाले तुम्हारे निर्मल प्रेमको मैंने सदा ठुकराया, तब भी अपने प्रति तुम्हारे प्रेमको मैंने निरन्तर बढ़ता ही पाया। प्रियतम ! इस अग-जगमें तुम-सरीखे एक तुम्हीं हो ! तुम्हारी कहीं तुलना नहीं है। मेरा यही अत्यन्त सौभाग्य है, जो तुम मुझे अपनी प्रिया मान रहे हो !'

× × × ×

इसी प्रकार श्रीकृष्ण सदा अपने दोष देखते और श्रीराधाकी असाधारण गुणावलिपर विमुग्ध होकर उनके गुण-गानमें ही अपना सौभाग्य समझते हैं। जगत्के प्रेमी सिद्ध महापुरुषोंके प्रेमका निर्मल उच्च आदर्श दिखलाते हुए तथा साधन एवं तत्त्व बतलाते हुए वे श्रीराधाजीसे कहते हैं—

प्रिये ! तुम्हारा मेरा यह अति निर्मल परम प्रेम सम्बन्ध।
सदा शुद्ध आनन्दरूप है, इसमें नहीं काम-दुर्गन्ध ॥
कबसे है, कुछ पता नहीं, पर जाता नित अनन्तकी ओर।
पूर्ण समर्पण किसका किसमें, कहीं नहीं मिलता कुछ छोर ॥
सदा एक, पर सदा बने दो, करते लीला-रस-आस्वाद।
कभी न बासी होता रस यह, कभी नहीं होता विस्वाद ॥
नित्य नवीन मधुर लीला-रस भी न भिन्न, पर रहता भिन्न।
नव-नव रस सुख सर्जन करता, कभी न होने देता खिन्न ॥
परम सुहृद, धन परम, परम आत्मीय, परम प्रेमास्पद रूप।
हम दोनों दोनोंके हैं नित, बने रहेंगे नित्य अनूप ॥
कहते नहीं, जनाते कुछ भी, कभी परस्पर भी यह बात।
रहते बसे हृदयमें दोनों, दोनोंके पुनीत अवदात ॥
नहीं किसीसे लेन-देन कुछ जगमें नहीं किसीसे काम।
नहीं कभी कुछ इन्द्रिय-सुखकी कलुष कामना अपगति-धाम ॥
नहीं कर्मका कहीं प्रयोजन, नहीं ज्ञानका तत्त्वदेश।
नहीं भक्ति-साधन विधिसंगत, नहीं योग अष्टाङ्ग विशेष ॥
नहीं मुक्तिको स्थान कहीं भी, नहीं बन्धभयका लवलेश।
आत्मसात् सब हुआ प्रेमसागरमें, कुछ भी बचा न शेष ॥
प्रेम-उदधि यह तल गभीरमें रहता शान्त अडोल अतोल।
पर उसमें उन्मुक्त उठा करते हैं नित्य अमित हिल्लोल ॥
उठती वहीं असंख्य रूपमें ऊपर उसमें विपुल तरंग।
पर उन तरल तरंगोंमें भी उसकी शान्ति न होती भंग ॥
अडिग, शान्त, अक्षुब्ध सदा गंभीर सुधामय प्रेम-समुद्र।
रहता नित्य उच्छ्वलित, नित्य तरंगित, नृत्य निरत अक्षुद्र ॥
शान्त नित्य नव-नर्तनमय वह परम मधुर रसनिधि सविशेष।
लहराता रहता अनन्त वह नित्य हमारे शुचि हृद्देश ॥
उसकी विविध तरंगें ही करतीं नित नव लीला-उन्मेष।
वही हमारा जीवन है, है वही हमारा शेषी-शेष ॥
कौन निर्वचन कर सकता, जब परमहंस मुनि-मन असमर्थ।
भोक्ता-भोग्यरहित, विचित्र अति गति, कहना सुनना सब व्यर्थ ॥

'प्रियतमे ! तुम्हारा और मेरा यह अत्यन्त निर्मल प्रेम-सम्बन्ध सदा विशुद्ध आनन्दरूप है, इसमें काम-दुर्गन्ध है ही नहीं। यह कबसे है, कुछ पता नहीं, परंतु यह नित्य निरन्तर जा रहा है—अनन्तकी ओर। किसका किसमें पूर्ण समर्पण है, इसका कुछ भी पता कहीं नहीं लगता। हम सदा एक हैं, परंतु सदा दो बने हुए लीला-रसका आस्वादन करते हैं। यह रस न कभी बासी होता है, न इसका स्वाद ही बिगड़ता है। यह नित्य नवीन मधुर रहता है। यह लीला-रस भी हमारे स्वरूपसे भिन्न नहीं है, पर भिन्न रहता हुआ ही सदा नये-नये रस-सुखकी सृष्टि करता रहता है। कभी

खिन्नता नहीं आने देता। हम दोनों ही दोनोंके नित्य अनुपम, परम सुहृद्, परम धन, परम आत्मीय और परम प्रेमास्पद हैं। पर न तो कभी परस्परमें भी इस बातको कहते हैं और न कुछ जनाते ही हैं। हम दोनों ही दोनोंके हृदयमें पवित्र उज्ज्वल रूपमें सदा बसे रहते हैं। न किसी अन्यसे हमारा कुछ भी लेन-देन है, न जगत्में किसीसे कुछ काम ही है। और न दुर्गतिके धामरूप इन्द्रिय-सुखकी ही कभी कुछ कलुषित कामना होती है।

'वस्तुतः न तो हमारा कहीं 'कर्म'से कुछ प्रयोजन है, न हमपर तत्त्वज्ञानका ही कोई आदेश है, न हममें विधिसङ्गत भक्ति-साधन है और न अष्टाङ्ग योग-विशेष है। यहाँतक कि मुक्तिके लिये भी कहीं हमारे जीवनमें स्थान नहीं है तथा बन्धनके भयका भी लवलेश नहीं है। सब कुछ प्रेमसागरने आत्मसात् कर लिया है। कुछ शेष बचा ही नहीं।

'वह प्रेम-समुद्र तलमें सदा ही अतुलनीय, गम्भीर, शान्त और अचल रहता है पर उसमें उन्मुक्त रूपसे नित्य अपरिमित हिलोर उठते रहते हैं। वहाँ ऊपर असंख्य विपुल तरङ्गें नाचती रहती हैं; परंतु उन तरुण तरङ्गावलियोंसे उसके तलकी शान्ति कभी भंग नहीं होती। यह सुधामय प्रेम-समुद्र सदा ही अचल, अक्षुब्ध और शान्त बना रहता है, पर साथ ही यह महान् नित्य उछलता, नित्य लहराता और नित्य नाचता भी रहता है। यह शान्त और नित्य नवरूपसे नृत्य-रत, विशेषरूपसे परम मधुर अनन्त रस-समुद्र नित्य-निरन्तर हमारे पवित्र हृदय-देशमें लहराता रहता है। इसकी विविध तरङ्गें ही नित्य नवीन लीला-रसका उन्मेष करती हैं। हम परस्पर प्रेमी-प्रेमास्पद प्रिया-प्रियतमका यही जीवन है—यही हमारा शेष है और यही शेषी है। जब परमहंस मुनियोंका मन भी असमर्थ है तब इस भोक्ता-भोग्य-रहित, अत्यन्त विचित्र गतियुक्त हमारे स्वरूपका तथा इस प्रेम-रसका निर्वचन कौन कर सकता है? यहाँ कुछ कहना-सुनना सभी व्यर्थ है।'

श्रीराधा-माधवकी मधुर लीला अनन्त है। जिन भाग्यवानोंके मानस नेत्रोंमें इनका उदय होता है, वे ही इनके आनन्दका अनुभव करते हैं। अनिर्वचनीयका निर्वचन तो असम्भव ही है।—'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।'

परंतु उपर्युक्त विवेचनसे श्रीराधा-माधवके तत्त्व-स्वरूपकी, साधनाकी कुछ बातें समझमे आयी होंगी। इसी व्याजसे श्रीराधा-माधवका कुछ चिन्तन बन गया। यही इस तुच्छ प्राणीका परम सौभाग्य है। आज रस-प्रेम-स्वरूप श्रीश्यामसुन्दर-की अभिन्नरूपा श्रीराधाका यह प्राकट्यमहामहोत्सव है। हमारा परम सौभाग्य है कि इस सुअवसरपर श्रीराधाके चरण-स्मरण-का यह शुभ संयोग उपस्थित हुआ है। आइये, अन्तमें हम सब मिलकर प्रार्थना करें—

राधाजू हम पै आजु ढरौ।
निज, निज प्रीतम की पद-रज-रति हमै प्रदान करौ॥
विषम विषय रस की सब आसा-ममता तुरत हरौ।
भुक्ति-मुक्ति की सकल कामना सत्वर नास करौ॥
निज चाकर-चाकर-चाकर की सेवा-दान करौ।
राखौ सदा निकुंज निभृत में, झाड़ूदार बरौ॥

बोलो श्रीकीर्तिकुमारी वृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्णानन्दिनी राधारानीकी जय! जय! जय!!!

निश्चय

मैं अपराधिनि, अघी-कलंकिनि हूँ निश्चय ही सभी प्रकार।
छोड़ तुम्हारे पदतलको पल, पर न मुझे जाना स्वीकार॥
दुत्कारो, डाँटो, ठुकराओ, मारो, करो असद्व्यवहार।
पड़ी रहूँगी, नहीं हटूँगी, तिलभर छोड़ चरण-तल-द्वार॥
अति रूखा वर्ताव करो या दो मनमाना मनका प्यार।
पर मत कहना कभी चले जानेको मुझसे तुम सरकार!॥
नहीं लाज-भय-सकुच-सहम-भ्रम, नहीं लोक-परलोक-विचार।
नहीं तनिक स्तुति-निन्दाका डर कहे क्यों न कुछ भी संसार॥
मधुर-भयानक सब स्थितियोंका सदा करूँगी मैं सत्कार।
चरण-धूलि मैं चरणोंमें ही लगी रहूँगी नित अनिवार॥

श्रीश्रीजयदेव महाप्रभु

(लेखक—गोस्वामीजी श्रीयमुनावल्लभजी)

(मङ्गलाचरण)

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्यान् दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

(गुरुप्रार्थना)

यद्वाचामचिराच्चमत्कृतिकृते चार्वीं चिदुल्लासितां
चञ्चच्चारुविचारचारणचरीं कृष्णश्चिनोति स्वयम् ।
यो लोकत्रयकोकशोकशमनस्वातन्त्र्यदीक्षागुरु-
स्तस्मै श्रीजयदेवनामगुरवे गोस्वामिने ते नमः ॥

(इष्टभावना)

लक्ष्म्या यश्च न गोचरीभवति यन्नापुः सखायः प्रभोः
सम्भाव्योऽपि विरञ्चिनारदशिवस्वायम्भुवाद्यैर्न यः ।
यो वृन्दावननागरीपशुपतिस्त्रीभावलभ्यः कथं
राधामाधवयोर्ममास्तु स रहो दास्याधिकारोत्सवः ॥
मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय ।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः ॥

(लक्ष्यप्रकाशः)

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥

(आग्रहः)

यद्गान्धर्वकलासु कौशलमनुध्यानं च यद्वैष्णवं
यच्छृङ्गारविवेकतत्त्वरचनाकाव्येषु लीलायितम् ।
तत्सर्वं जयदेवपण्डितकवेः कृष्णैकतानात्मनः
सानन्दाः परिशोधयन्तु सुधियः श्रीगीतगोविन्दतः ॥

(प्रेमोत्सवः)

सा लावण्यचमत्कृतिर्नववयो रूपं च तन्मोहनं
तत्तत्केलिकलाविलासलहरीचातुर्यमाश्चर्यभूः ।
नो किंचित्कृतमेव यत्र न नुतिर्नागो न वा सम्भ्रमो
राधामाधवयोः स कोऽपि सहजः प्रेमोत्सवः पातु वः ॥

(श्रीजी)

अद्य श्व इति पदाभ्यां यत्किंचिद् दृश्यते सर्वम् ।
यो निम्पं कवलयति तस्मै कालाय प्रणतोऽस्मि ॥

श्रीजयदेवकालीन भारत, पंजाव और बंगाल

जिस समय पंजाबमें महमूद गजनवीके वंशजोंका राज्य था, सिंधपर अरब जातिका अधिकार, दिल्लीमें तोमर वंशका, अजमेरमें चौहान, कन्नौजमें राठौर, गुजरातमें बघेले, बुन्देलखण्डमें चंदेले, विहारमें पाल और बंगालमें सेनवंशका शासन था, उसी समय हिंदुओंकी फूटके कारण महमूद गजनवीने १७ बार भारतको लूटा। १५० सालतक इसीका वंश शासन करता रहा। किंतु गजनी और हिरातके पहाड़ी प्रदेशोंमें गोर-लोगोंका भी राज्य था। १२ वीं ई० के अन्तमें गियासुद्दीनगोरीने गजनीका राज्य ले लिया, और उसके छोटे भाई मुहम्मदगोरीने भारतमें मुस्लिम राज्यकी स्थापना की।

विक्रम सं० १२३१ में सबसे प्रथम मुहम्मदगोरीने मुलतान लिया। १२३५ में पेशावर, १२३८ में सिंध और १२४२ में महमूदके वंशज खुसरो मलिकको जीतकर लाहौरपर अधिकार कर लिया। उस समय श्रीजयदेव महाप्रभुके पुत्र गो० श्रीकृष्णदेव प्रभु लाहौरमें ही थे।

भारतकी स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। उस कालमें अनङ्गपाल ही दिल्लीपति थे। इनकी दो लड़कियाँ थीं, जो कन्नौज और अजमेरकी महारानियाँ थीं। उन्हींके दो पुत्र थे, जो जयचन्द और पृथ्वीराजके नामसे प्रसिद्ध हैं। महा० अनङ्गपालने मरते समय बड़े दौहित्र जयचंदको राज्य न देकर पराक्रमी समझकर पृथ्वीराजको दिल्लीपति बना दिया, जिसके परिणामस्वरूप दोनोंमें विरोध हो गया।

जयचंदने अप्रतिष्ठा करनेके लिये अपनी पुत्री संयोगिताके स्वयंवरमें पृथ्वीराजकी मिट्टीकी मूर्ति बनवाकर द्वारपालकी जगह खड़ी कर दी। महाराज पृथ्वीराज चौहान इस अपमानसे अत्यन्त क्षुब्ध हो गये और उन्होंने स्वयंवरमें जाकर स्वयं संयोगिताकी वरमाला ग्रहण की। संयोगिताकी इच्छा भी इन्हींको पति बनानेकी थी। यहीं एकके द्वारा दूसरेके नाशकी नींव लग गयी।

मुहम्मद गोरीने जब भारतपर प्रथम आक्रमण किया, तब राजपूतोंके संगठनके कारण सं० ११९१ में पृथ्वीराजने उसे हरा दिया। राजपूतोंसे पराजित होकर वह फिरसे बड़ी सेना लेकर आया। जयचंदने कुछ दिल्लीके सिंहासनके लोभसे उसकी सहायता की, जिसके कारण ११९२ में पृथ्वी-

राज परास्त होकर मारे गये और जयचंदको भी दो वर्षमें मार दिया गया।

मुहम्मद गोरीने गुजरातके राजा भीमदेवसे पराजय प्राप्त की, फिर उसका सेनापति कुतुबुद्दीन ऐवक विशाल सेनानायक बनकर गुजरात पहुँचा। अबकी बार वि० सं० १२५१ में राजा भीमदेव काम आ गये। इस विजयका समाचार सुनकर गोरीने कुतुबुद्दीन ऐवकको गजनी बुलाकर महान् सम्मान और दिल्लीका अधिकार दिया।

कुतुबुद्दीनके सरदार इख्तियारुद्दीनने वि० सं० १२५३ में पालवंशसे विहार, १२५७ में सेनवंशसे बंगाल हस्तगत किया और १२५८ मे बुंदेलखण्डपर विजय प्राप्त की। अब बंगालके सेनवंशका वर्णन किया जाता है; क्योंकि हमारे चरित्रनायकका इसीसे सम्बन्ध है।

सेनवंश

दक्षिण भारतमें चोलवंशका प्रसिद्ध सम्राट् राजराजा था। उसके यहाँ विद्वानोंका बड़ा आदर होता था। जब उन्होंने तंजौरमें श्रीराजराजेश्वरका शिवमन्दिर बनवाया, तब उसकी सेवाके लिये पं० वीरचन्द्र या वरिश्वरको अपना कुलपुरोहित नियुक्त किया। वे वहाँ बराबर सेवा तो करते रहे, किंतु वे किसीके हाथका बनाया भोजन नहीं करते थे।

राजराजाके पिताका श्राद्ध था, उन्होंने वीरको निमन्त्रण दिया। और भी ब्राह्मण निमन्त्रित थे। वीरचन्द्रने श्राद्धका कर्म तो विधिपूर्वक करवा दिया, किंतु दक्षिणा और भोजन नहीं स्वीकार किया। महाराज राजराजाने कुपित होकर इन्हे राज्य छोड़कर चले जानेका आदेश दिया। ये प्रसन्नतापूर्वक राजराजेश्वरके मन्दिरमें आये और शिवजीसे प्रार्थना की—'भगवन्! मैंने आपकी सेवा तो कुछ भी नहीं की; किंतु आज छोड़कर जा रहा हूँ।' शिवजीने प्रसन्न होकर वरदान दिया 'जाओ, बंगालमें तुम्हारी संतान स्वयं राजा बनेगी।'

अपने पुत्र सामन्त तथा बहूको लेकर राजासे बिना मिले ही बहुत-से कष्टोंका सामना करते हुए वीरचन्द्र बंगाल आ गये। सामन्त बड़ा हुआ और उसमें वही भावना पैदा हो गयी, जिसके लिये शिवजीकी आज्ञा थी। वीरका शरीर जब जाने लगा, तब उन्होने पुत्रको बुलाकर कहा—'बेटा! कभी किसीके साथ अन्याय न करना।' इतना कहकर उन्होंने जीवनलीला समाप्त की। सामन्तकी माता अपने पतिके साथ सती हो गयी और पुत्र राजा सामन्त सेन कहलाया। वि० सं० १०५५ में उसने एक छोटा-सा राज्य बंगालमें स्थापित किया। राजधानीका नाम, शिवभक्त होनेके कारण, उसने काशीपुरी रखा, जो मयूरभंजमें स्थित थी।

यह राजा सनातन धर्मका पालन करनेवाला था। देवपारा-शिलालेखसे इनका इतिहास जाना गया। सामन्त सेनका पुत्र हेमन्त सेन हुआ, उसका पुत्र विजय सेन हुआ।

विजय सेनने सर्वप्रथम सूरलोगोंसे मित्रता की, फिर पालवंशके राजाओंको पराजितकर बंगालपर अधिकार कर लिया। इसके अतिरिक्त उत्तरी बिहार, आसाम और उड़ीसा-को भी अधिकारमें ले लिया और पश्चिमी बंगालमें विजयपुर और श्रीवाड़ी (सिउडी) नामका नगर बसाकर वहाँ राजधानी स्थापित की।

तदनन्तर विक्रमपुर (बाँकुड़ा) बसाया, सेनवंशका सितारा चमका दिया और अपने पूर्वपुरुष वीरसेनके नामसे 'वीरभूमि' राज विख्यात किया। विजय सेनका पुत्र विक्रम संवत् ११३६ तथा १०८० मे बल्लाल सेन हुआ। यह भारी विद्वान् था। इसने बंगालमें कुलीन प्रथाके द्वारा जातियोंका नया संगठन किया तथा गौड़ और लखनौतीकी पुनः स्थापना करके ढाका जिलेके अन्तर्गत रामपाल-भवनके निकट एक सुन्दर राजप्रासाद भी बनवाया। वीरभूमिमें श्रीवाड़ी नामक राजभवन तैयार कराकर कन्दविल्व नामका एक अपूर्व उद्यान (बगीचा) बनवाया और कभी-कभी उसमें रहने या एकान्त सेवन करनेके लिये एक राजमन्दिरका निर्माण कराया। यह विद्वानोंका बहुत सम्मान करता था, इसने स्वयं भी संस्कृतमें दो काव्य दानसागर, अद्भुतसागरकी रचना की।

इसके घरमें संवत् ११७५-(सन्१११९) मे लक्ष्मण सेन नामक पुत्र हुआ। बल्लाल सेन गीतगोविन्दकर्ता श्रीजयदेव महाप्रभुके साथ यात्राके लिये प्रयाग चला गया, और सस्त्रीक मोक्षकी कामनासे त्रिवेणीके प्रवाहमें लीन हो गया।

लक्ष्मण सेन बहुत ही प्रभावशाली राजा हुए। उन्होने श्रीजयदेव महाप्रभुजीसे वैष्णव-दीक्षा प्राप्त की और अपने जन्मके संवत्से नया संवत् चालू किया, जो अभी भी बंगालमें प्रचलित है। उनके दरबारमें संस्कृतके धुरन्धर विद्वान् रहते थे, जो क्रमशः गोवर्द्धनाचार्य धोयी, कविराज हलायुधशरण, उमापतिधर आदि नामोंसे विख्यात थे।

गुरुवर श्रीजयदेव महाप्रभुके गीतगोविन्दकी सभने

प्रशंसा की और महाराजकी धर्मसभामें सबने मिलकर श्रीजयदेव महाप्रभुजीको कविराजके स्थानपर रसिकाचार्यकी उपाधिसे अलंकृत किया।

बंगालमें आजतक जो श्रीहरिकीर्तनकी प्रथा प्रचलित है, श्रीजयदेव महाप्रभुके आदेशसे उसके जन्मदाता महाराज लक्ष्मण सेन ही हैं। इन्होंने संस्कृतमें सदुक्तिकर्णामृत आदि कई ग्रन्थोंकी रचना की। श्रीगुरुवर्य रसिकाचार्य श्रीजयदेव महाप्रभुके लिये कन्दविल्वमें श्रीराधामाधवजीका अत्यन्त सुन्दर मन्दिर बनवाया और सेवाका समाधान करनेके लिये कई ग्रामोंकी आजीविका लगा दी।

म० लक्ष्मण सेनकी उदारताकी प्रशंसा सभी इतिहासकारोंने की है। आपने कभी किसीके भी साथ अन्याय नहीं किया। निस्संदेह महाराज लक्ष्मण सेन एक प्रभावशाली और उदार शासक हुए।

अन्तमें श्रीजयदेव महाप्रभुकी आज्ञासे पुत्रोंको राज्यभार देकर आप नवद्वीपमें गङ्गातटपर भजन करने चले गये थे। १२वीं शताब्दीके कुछ शेष रहते (इख्तियारुद्दीन) मुहम्मद बिन बख्तियारने बंगालपर चढ़ाई की। उसकी इच्छा थी कि महाराजसे युद्ध करें। किंतु महाराज श्रीगुरुकी उत्तम भावनाको हृदयमें धारणकर बिना युद्ध किये ही सबको छोड़कर ढाकाके राजमहलमें चले गये और वहाँ शान्तिसेवन करके शरीर समाप्त कर दिया। आपके पुत्र विश्वरूप सेन तथा केशव सेनने कई वर्षोंतक युद्ध किया। पश्चात् तेरहवीं शताब्दीके अन्तमें सेनवंशका अन्त हो गया। उसी समय, जब महाराज बल्लाल सेन वीरभूमिके सिंहासनपर थे, श्रीजयदेव महाप्रभुजीका प्रादुर्भाव हुआ था। आपका चरित लिखनेके पहिले वंशका कुछ परिचय लिखा जाता है।

वंशपरिचय

वंशः को यत्र हरेर्भक्तो वा श्रीहरिर्जयति।
नामगुणावलिगानात्पुनाति लोकान् स्वयं पूतः॥ १॥

श्रीजयदेव महाप्रभु रसिक-सम्प्रदायके प्रवर्तक आद्य आचार्य हैं। पुराणोंके पश्चात् भगवान् श्रीराधामाधवकी इस प्रकारकी रसमयी शृङ्गार-माधुरीका वर्णन सबसे प्रथम श्रीगीतगोविन्दमें ही किया गया है।

विक्रमकी दसवीं शताब्दीके अन्तमें खत्रियोंके पुरोहित सारस्वत ब्राह्मण पं० श्रीगिरिधारीजी लाहौर (पंजाब) में रहते थे। रावी नदीके तटपर एक मन्दिर था, जिसमें सेवाके लिये विराजमान भगवान्‌का नाम श्रीगिरिधारीजी ही था। आपने तीन बार श्रीमद्भागवतका अष्टोत्तरशत सप्ताहपारायण किया; जिसके फलस्वरूप आपके यहाँ श्रीशुकदेवजीने जन्म लिया, जिनको हरदेव भी कहते थे। हरदेवजीके यहाँ ग्यारहवीं शताब्दीमें कार्तिक शुक्ला गोपाष्टमीके दिन मुल्तानस्थानीय पं० वंशीलालजी तिक्खेकी पुत्री श्रीसुन्दरीजीसे श्रीभोजदेवजीका जन्म हुआ। आपका विवाह मुल्तानके निकटवर्ती ऊँचेग्रामके रहनेवाले श्रीगोपीलालजीकी कन्या श्रीराधाजीसे हुआ। इन्हीं श्रीराधा-भोजको रसिक-सम्प्रदायाचार्य श्रीजयदेव महाप्रभुके माता-पिता होनेका गौरव है। यह वंशावली श्रीजयदेववंशोद्भव गो० रामरायजी तथा गो० चंदगोपालजीने हिंदी तथा संस्कृतके छन्दोंमें लिखी है। उसके पश्चात् श्रीचंदजीके पुत्र एवं श्रीरामरायजीके शिष्य गो० श्रीराधिकागोपालजीने १००० पदोंमें श्रीगौड़ेश्वरसम्प्रदायवर्ती श्रीमहावाणीजीकी रचना की थी। क्रमशः हिंदीके उक्त दोनों काव्योंका संक्षेपमें हम उल्लेख करते हैं।

गो० श्रीरामराय प्रभुजीकी आदिवाणीजीके मङ्गलमें 'राजा भगवानदास' का पद—

जयजय श्रीजयदेव कृष्णमत मंडना।
सारस्वत द्विज मुकुट भोजकुल चंदना॥
जयदेव सुत श्रीकृष्ण, तिनके पुत्र गोविंदजू भये।
तिनके मुकुन्द अनन्य, तिन माधव सुवन प्रद्युम्न ये॥
तिन बाल मोहन लाल नन्द गोपाल तिन आतमज लये।
तिन तनुज गुरु गोपाल, तिनके रामराय सुचंद ये॥
भगवानदास विनीत मंगल गावत करि पद-बन्दना।
जयजय श्रीजयदेव रसिक मत मंडना॥ ४॥

यद्यपि यह पद आमेरके महाराज भारमलके पुत्र राजा भगवानदासका रचित है, जो श्रीरामरायजीके शिष्य थे, तथापि यह श्रीरामरायजीकी आदिवाणीमें ही मिला है।

श्रीमहावाणीजी

रसिकाचारज सेव्य निधि (श्री) राधामाधवलाल।
बन्दन करि नामावली गावहु परम रसाल॥ १॥
कौशल गोत्र सुदेव यजु श्रीमाध्यन्दिनि शाख।
पंचप्रवर गोस्वामि कुल सारस्वत द्विज भाख॥ २॥
रावी नदी सुतीरपर सुन्दर ऊँची ठौर।
मन्दिर गिरिधारी हरी बसत नगर लाहौर॥ ३॥
अस्सी अंक समेत शुभ संवत एक हजार।
गिरिधारी पंडित भये गिरिधारीके प्यार॥ ४॥

तिन गिरिधारी के निकट पाठ भागवत कीन।
अष्टोत्तर शत वार त्रय भाव भक्ति रस हीन ॥ ५ ॥
तिन के श्रीहरदेव तिन पुत्र सकल गुन खान।
भोजदेव राधा प्रिया पति अति ही मतिमान ॥ ६ ॥
भोजदेव प्रभु तप कियो जगन्नाथ श्रीधान।
श्रीजयदेव महाप्रभू प्रकट भये अभिराम ॥ ७ ॥
तिनके आत्मज रोहिणी माता सों सुखरूप।
कृष्णदेव आचार्य प्रभु रसिक सम्प्रदा भूप ॥ ८ ॥
तिन के श्रीगोविन्द जू तिनके देव मुकुन्द।
श्रीअनन्य तिन के सुवन, तिन माधव कुलचंद ॥ ९ ॥
श्रीप्रद्युम्न दयालु तिन वालकृष्ण तिन जान।
मोहन हरि तिन के भये लालमणी जन गान ॥१०॥
नन्दनन्दनाचार्य तिन, तिन के श्रीगोपाल।
गुरुगोविंद तिन के भये, तिन सुत गौरगोपाल ॥११॥
रामराय प्रभु तिन तनुज, मम गुरुदेव दयाल।
दूजे भ्राता पितृचरण श्रीप्रभु चंदगोपाल ॥१२॥
श्रीगुरु पद आदेश सों महावानि सुखमूल।
गाऊँ रसिकाचार्य सखि-सम्प्रदाय अनुकूल ॥१३॥
जासों माधवलाल जू, हैं हरि राधा जान।
हैं वृन्दावन वासनी नित्य केलि कर गान ॥१४॥
मेरे जीवन प्रान धन श्रीजयदेव उदार।
प्रनवों तिन पद कंज श्रीजगन्नाथ अवतार ॥१५॥
परम गुरूत्तम मम स्वयं गौरचंद भगवान।
नित्यानन्द अमन्द सुख रसिक संप्रदा प्रान ॥१६॥
रूप सनातन प्रान धन जो रस चरचा कीन।
सो सब तिन की कृपासों हों निजु कर लिख लीन ॥१७॥
ता पाछें जो कछु मिली कुल परम्परा देख।
महावानि सोहू सरस उपमा तजि किय लेख ॥१८॥
श्रीराधा माधव विषैं जग की उपमा झूँठ।
तासौं मैं सब पर दई नव निकुंज रज मूठ ॥१९॥
रसिक भक्त पद रज परसि गावत नित्य विलास।
श्रीराधा प्रिया उपासना श्रीराधामाधव दास ॥२०॥

(इति श्रीमंगला आरती रसिकाचार्य नामावली गान)

श्रीधाम-वृन्दावनस्थ श्रीराधामाधवजीकी हवेलीमें यह मंगला समय कीर्तनमें नित्य गाया जाता है। इसके बाद और पद अष्टयाम सेवाके नियमसे हैं, जिनमें श्रीयमुनाजी एवं श्रीवृन्दावनका वैभव नित्य भावनासे गान किया गया है।

श्रीभोजदेवकी तीर्थयात्रा

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

पण्डितजीके पास पुरोहिताईका पैसा प्रचुर मात्रामें हो गया। आगे कोई खाने-खर्चनेवाला भी नहीं था। संतानके अभावमें उदासीन बने रहते। साधु-संतोंकी सेवाका समाधान सब दिन होता—कथंचित् किसीकी कृपाका कभी आशीर्वाद प्राप्त हो जाय। श्रीराधाजीको पुत्रप्राप्तिके लिये कोई भी व्रत बता देता; उत्तम उत्साहके साथ उसे उसी तरह पालन करतीं। मासमें बीस दिन उपवासमें ही व्यतीत होते।

एक दिन इनकी अटल भक्तिके वश हुए भगवान्ने किसी साधुके वेशमें आज्ञा दी—'माताजी! ये धन क्या काम आवेगा, तीर्थयात्रा करना ही इसका फल है।' ये भी तीर्थयात्राके लिये विचार तो बहुत दिनोंसे कर रहे थे; परंतु उस समय आज-जैसी यात्रा तो थी नहीं जो चौबीस घंटेमें जगन्नाथ-द्वारका हो आइये। तीर्थके लिये जानेवाले घरवाले मुहल्लेवाले; सबसे खूब मिलकर जाते थे। आ गये तो आ गये, नहीं तो जा तो रहे ही हैं।

पं० भोजदेवजीने श्रीगिरिधारी हरिका मन्दिर यजमानोंको सम्हला दिया। 'आवेंगे तो सेवा करेंगे, नहीं तो तुम सेवा करते रहना। जो कुछ सोना-चाँदी है, 'सब प्रभुका है।' यह कहते जाते, आँसू बहाते जाते। लाहौरके प्रेमी सेवक सब लोग आपको विदा करनेके लिये इकठे हुए।

चैत्र शुक्लामें पण्डितजीने प्रयाण किया। भ्रमण करते कितने ही महीनोंमें श्रीजगदीशपुरी पहुँचे। यहाँ समुद्र-स्नान कर श्रीजगदीश्वरके लिये सेवा-सामग्री पहुँचायी और निष्ठापूर्वक पुरुषोत्तमके दर्शन किये, महाप्रसाद लिया और विश्राम किया।

अच्छा शुभ मुहूर्त देख आपने श्रीवासुदेव मन्त्रका पुरश्चरण प्रारम्भ कर दिया। द्वादशाक्षरके कारण बारह-बारह लाखके ३ पुरश्चरण समाप्त किये।

प्रभुकी कृपा

रथ-यात्राकी बड़ी भीड़ थी। सस्त्रीक आप भी दर्शन करने पधारे और स्वरचित अष्टकका गान करने लगे।

(श्रीजगन्नाथाष्टकम्)

कदाचित् कालिन्दीतटविपिनसंगीतकरवो
मुदाभीरीनारीवदनकमलास्वादमधुपः ।
रमाशम्भुब्रह्मामरपतिगणेशार्चितपदो
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥

गद्गद कण्टसे जिस समय भक्तिभाव भरे हुए स्वरमें आपने इस अष्टकका पाठ समाप्त किया, एक महान् आश्चर्यमयी घटना विघटित हुई । श्रीपुरुषोत्तमके श्रीअङ्गसे एक तेजःपुञ्ज निकलकर पण्डितजीके शरीरमें लीन हो गया । पण्डितजी गिर गये और मूर्च्छित हो गये । इस अलौकिक चमत्कारसे जनता चकित हो गयी और भगवान्के दर्शन छोड़ श्रीभक्त भोजदेवको देखनेके लिये भीड़ लग गयी । लोगोंने आपको उठाकर स्थानपर पहुँचाया । परंतु किसे रोका जाय । किस-किसको बताया जाय कि क्या हुआ । श्रीराधाजीकी व्यथाका क्या ठिकाना था । वे किससे कहें ? उसी समय जनसेवक भक्तभूषण महाराज बल्लाल सेन आ गये और भीड़ हटवायी । आदमियोंका प्रबन्ध करके वे चले गये और कह गये कि जो भी आवश्यकता हो, हमारे यहाँसे मँगा लेना ।

प्रभात हुआ, पण्डितजीकी मूर्च्छा भङ्ग हुई—श्रीराधाजी बहुत प्रसन्न थीं । इतनेमें ही महाराज आ गये । पण्डितजीसे सब समाचार पूछा, आपने कहा कि 'मैं पुत्रके लिये तप कर रहा था । श्रीजगन्नाथजीने मुझे आदेश दिया है, हम तुम्हारे घर जन्म लेंगे ।'

वल्लाल सेन बड़े चकित थे कि 'हम प्रतिवर्ष पुरी आते हैं, सेवा भी जैसी बनती है, करते ही हैं; किंतु हमको ऐसा दृश्य आजतक कभी देखनेको नहीं मिला । भगवान्‌की आपपर असीम कृपा है । अब हमारी तो यही प्रार्थना है कि आप हमारे साथ चलें और इस विचित्र चरित्रकी मनोहर झाँकीका लाभ करायें ।' पण्डितजी सस्त्रीक आग्रहवश महाराजके साथ हो लिये ।

कन्दविल्वमें अवतार

कन्दविल्वं महातीर्थं यत्र श्रीजगदीश्वरः ।
जयदेवस्वरूपेण प्रादुर्भूतो बलानुजो ॥ १ ॥
अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥ २ ॥

वीरभूमि-नरेशने कई दिन अपने पास निवास कराकर आज पण्डितजी महाराजको अपने सुन्दर कन्दविल्वमें भेज दिया और अपने रहनेके उद्यानके उच्च राजप्रासादमें आपके रहनेका प्रबन्ध करा दिया । दास-दासी कितने ही आपकी सेवामें ही रहते । प्रफुल्लित वनराजकी लतावली तो आज राजसमाज-के विराजमान होनेसे हँस रही थी ।

अवतारका अवसर आया और आज विक्रम सं० ११६५, माघ शुक्ला ५ (वसन्तपञ्चमी) के मध्याह्नमें भोजपत्नी श्रीराधा-जीके गर्भसे श्रीजगन्नाथस्वरूप श्रीजयदेव महाप्रभुजीका मङ्गलमय प्रादुर्भाव हुआ ।

(क्रमशः)

भगवान् नित्य मेरे साथ रहते हैं

मैं अब कभी अकेला नहीं हूँ, मेरे नित्य सुहृद् सखा, मेरे अहेतुकी प्रेमी, मेरे परम दयामय स्वामी सदा सर्वत्र मेरे साथ हैं । आज मैं मनसे, तनसे, प्रत्येक इन्द्रियसे इस बातका अनुभव कर रहा हूँ—स्पष्ट स्पर्श पा रहा हूँ कि मेरे भगवान् मेरे साथ हैं । इसीसे मैं निर्भय और निश्चिन्त हो गया हूँ । सारे पाप-ताप, सारे कलुष-दोष मुझको छोड़कर भाग गये हैं । शान्ति मेरी नित्य संगिनी बन गयी है । आनन्द मेरा स्वभाव—स्वरूप बन गया है । निराशा, विषाद सब नष्ट हो गये हैं । मेरा जीवन सफल हो गया है । सदाके लिये सफल हो गया है । मैं सब प्रकारसे उनका हो गया हूँ । अब मुझपर एक उनको छोड़कर दूसरे किसीका कुछ भी आधिपत्य नहीं रह गया है । वे नित्य मुझमें घुलेमिले मेरे साथ रहते हैं—सदा, सर्वत्र, सब स्थितियोंमें !

श्रीभगवन्नाम-जप

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(षोडशनामके ३८ करोड़ मन्त्र अर्थात् ६ अरवसे अधिक नाम-जप)

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम् ।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—'परीक्षित् ! मनुष्योंमें वे लोग भाग्यवान् हैं तथा निश्चय ही कृतार्थ हो चुके हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं श्रीहरिका नामस्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं ।'

बड़े ही हर्षकी बात है कि 'कल्याण' में प्रकाशित प्रार्थनाके अनुसार भगवत्प्रेमी पाठक-पाठिकाओंने गतवर्ष बहुत ही उत्साहके साथ नाम-जप स्वयं करके तथा दूसरोंसे करवाकर महान् पुण्यका सम्पादन किया है । उनके इस उत्साहका पता इसीसे लगता है कि पिछले वर्ष जहाँ ११३७ स्थानोंसे जपकी सूचना आयी दर्ज हुई थी, वहाँ इस वर्ष १२३३ स्थानोंकी सूचना दर्ज हुई है और मन्त्र-जप जहाँ लगभग ३३ करोड़ हुआ था, वहाँ इस वर्ष ३८ करोड़से भी अधिक हुआ है (जो निम्नलिखित आँकड़ोंसे प्रकट है), यद्यपि हमने प्रार्थना केवल २० करोड़के लिये ही की थी । इसके लिये हम उन सबके हृदयसे ऋणी हैं ।

(१) केवल भारतमें ही नहीं, बाहर विदेशोंमें भी जप हुआ है ।

(२) सोलह नामके महामन्त्रकी जप-संख्या जोड़ी गयी है । भगवान्के अन्यान्य नामोंका भी बहुत जप हुआ है, वह इस संख्यासे पृथक् है ।

(३) बहुत-से भाई-बहिनोंने जप अधिक किया है, सूचना कम भेजी है और कुछ नाम-प्रेमियोंने तो केवल जपकी सूचना दी है, संख्या लिखी ही नहीं ।

(४) बहुत-से भाई-बहिनोंने आजीवन नाम-जपका नियम लिया है, इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं ।

(५) बहुत-से भाई-बहिनोंने केवल जप ही नहीं किया है, उत्साहवश नाम लिखे भी हैं, यद्यपि हमारे पास लिखित नामोंके प्रकाशनकी उपयुक्त व्यवस्था नहीं है ।

(६) स्थानोंके नाम दर्ज करनेमें पूरी सावधानी बरती गयी है। इसपर भी भूल होना, कुछ स्थानोंके नाम छूट जाना सम्भव है । कुछ नाम रोमन या प्रान्तीय लिपियोंमें लिखे होनेके कारण उनका हिंदीरूपान्तर करनेमें भी भूल रह सकती है, इसके लिये हम क्षमा-प्रार्थना करते हैं ।

(७) सोलह नामोंके पूरे मन्त्रका जप हुआ है—३८, १६, ३६, २०० (अड़तीस करोड़, सोलह लाख, छत्तीस हजार, दो सौ) । इनकी नाम-संख्या होती है ६, १०, ६१, ७९, २०० (छः अरव, दस करोड़, इकसठ लाख, उनासी हजार, दो सौ) ।

स्थानोंके नाम इस प्रकार हैं—

अंचलगुम्मा, अंजनी, अंजार, अइलख, अक्कलकोट, अकोढ़ा, अकोला, अगस्तमुनि, अचलजामू, अजमेर, अडगाँव, अड्डुधूराई, अतरझोला, अधारपुर, अनन्तनाग, अनन्तपल्ली, अनवरगंज, अन्तरवोलमा, अन्ता, अन्तू, अमझेरा, अमरावती, अमरेली, अमलापुरम्, अमलोह, अमावाँ, अमीनगर सराय, अमृतसर, अम्बाला, अरसारा, अतंरा, अलगोल, अलवंडी, अलवर, अलीगंज (एटा), अलीगंज (मुंगेर), अलीगढ़, अल्मोड़ा, अशोकनगर, असगोली, असिफाबाद, असौधा, अहमदनगर, अहमदाबाद, अहलोद, अहिल्यापुर, आकोट, आकोला, आक्याकलाँ, आगरा छावनी, आगरा शहर, आदिपुर, आवगीला सायर, आबूरोड, आमली, आम्मा, आरा, आलमपुर, आसिफाबाद, आसी, आसौंद, आष्टा, इकलहरा, इगतपुरी, इच्छापुर, इन्दलपुर जुगराज, इन्दारा, इन्द्राना, इन्दौर, इटहरी, इटावा, इडार, इमिलिया, इरोड, इलाहाबाद, ईंटहर, ईसरपुरा मानसिंहपुर, ईसागढ़, उखलदा, उखलीबाजार, उगारखुर्द, उजवा, उजान गंगौली, उज्जैन, उतारगाँव, उदयपुर, उधल, उन्हेल, उमरखेड़, उमरानाला, उमरिया, उमरी, उमल्ला, उमेदपुर, उरदान, ऊँचागाँव, ऊँझा, ऊना, ऊमरपुर, एकअम्बा, ए. पी. ओ. ५६, एरंडोल, ओजूह, ओमनगर, ओलिया झंडापुर, औरंगाबाद (गया), औरंगाबाद छावनी, औरंगाबाद (बाँसबरेली), ककढ़िया, कक्कीनाडा, कजरा, कदमा, कनेरा, कन्धार, कन्नौज, कन्नौद, कन्हेरगाँव, कटक, कटनी, कड़ैल, कमासिन, करकवेल, करणवास, करनामेपुर, करनाल, करमटाँड, करमा, करवाड़, करटी, करसोग, कराईकुडी, करौली, कलंजरी, कलकत्ता, कलाईकुण्डा, कलावाचक, कलाली, कल्वाकुर्ती, कसवा, कसावाँ, काँकेर, कागुपाडु, काछीबड़ौदा, काजीपुर, काढ़ा, कातुरली, कानपुर, कामठी, कामतमपल्ली, कारिकड, कारीकल, कारीसाथ, कालकुण्ड, कालीकट, काल्लू, कापीठा, काशीपुर (कलकत्ता), कासगंज, किछा, किनरवेड, किनीयेल्लादेवी, किरकी, किसनगढ़, कीलपुर, कील्हापुर, कुवरगाँव, कुवाँ, कुड्डालूर, कुढ़ावल, कुढ़ेच, कुण्डल, कुण्डवापुर, कुतियाना, कुम्भकोणम्, कुम्भरलालो, कुम्हार, कुराली,

कुलकुलपल्ली, कुलटी, कुली, कुल्लू, कुशलगढ़, कुसौधी, कूँरा, कूचबिहार, केलवाड़ा, केशोपुर, केसली, कैलगढ़, कोंहड़ा, कोचिन, कोजीकोड, कोठड़ी, कोडंगल, कोडरमा, कोडलमोगर, कोडागॉव, कोण्डागाँव, कोतमा, कोपाखेड़ा, कोयमवतूर, कोयला, कोरल, कोलपुर, कोलास, कौंरि, कौड़ीहार, कौसानी, खंडवा, खंडेहा, खंभालिया, खजूरी, खझौला, खडेर टीकतपुरी, खपराडीह, खमरिया, खम्हरिया, खरंजा कुतबपुर, खरखौदा, खरगपुर अरसारा, खर्गपुर, खलपुरा, खाचरियाबास, खानपुर, खापा, खामखेड़ा, खामगाँव, खिरकी, खिल्चीपुर, खीरीकोटा, खुटार, खुरई, खोपली, खौरी (शाहपुरा), गंगापुर, गुंटूर, गगोट, गजपपुर (गाना), गजेन्द्रगढ़, गढ़गाँव, गढ़पुरा, गढ़मुक्तेश्वर, गढ़वा, गरियाबन्द, गरोठ, गर्चा, गवालियर, गहना, गाँधीधाम, गाजवेल, गाजियाबाद, गाडरवारा, गायछाँद, गुजारा, गुड़गाँव छावनी, गुड़ियारी, गुडेवल्लूर, गुढ़ावली खुर्द, गुरौरा, गुलबर्गा, गुलाना, गुलाबगंज, गेसूपुर, गोंदिया, गोखली, गोटी टोरिया, गोड़डर, गोड़हिया, गोनामा, गोपालपुर, गोपालपुरी, गोपालसमुद्रम्, गोरझामर, गोरयाकोठी, गोविन्दपुर (राँची), गोबिन्दपुर (सन्थाल परगना), गौतमपुर, घनौरा, घाटकोपर (बम्बई), चकपुरवा, चकराता, चकिया, चकौंध, चकौसी, चटियालेड़ी, चण्डीगढ़, चन्दौसी, चमोली-गढ़वाल, चरौंदा, चाँईबासा, चाँदपुरा, चाँदराना, चालीसगाँव, चिंचौली, चितराँव-हिरवारा, चिताही, चितेगाँव, चित्रकोट, चिनानी, चिरगुडा, चिलवरिया, चीखलठान, चुनार, चुरारा, चोटीला, चोरहर चौसा, छपरा, छिछनी, छिन्दवाड़ा, जंडियाला, जगजीवनपुर, जगदीशपुर कादीपुर, जगदीशपुर अइयारी, जङ्गलोट, जनकपुर, जनगाँव, जबलपुर, जमसरी, जमुनिया, जम्मूतवी, जयपुर, जरिगुम्मा, जलगाँव, जलसन, जसवन्तगढ़, जसोई, जाकरपुरा, जाकोलाड़ी, जाटाऊ, जाम, जाम-कल्याणपुर, जामठी, जाम जोधपुर, जामनगर, जामलाड़ा, जार, जालना, जालिया, जावर्द, जिआलगोरा, जियाराम राघोपुर, जुड़ीकेपुरा, जुहावदा, जूनेखेड, जेतलपुरा, जेवर, जैतीपुर, जैतोलीतल्ली, जैनुद्दीनपुर, जोगबनी, जोगिया, जोधपुर, जौनपुर, जोरावरडीह, जोशीमठ, जोस्पाना, ज्ञानपुर, झरी, झलोखर, झाँसड़ी, झाँसी, झाड जयपुर (उड़ीसा), झाबुआ, झारसुगुड़ा, झालरापाटन, झींझक, झुँडिया, झुँथकी, झुमरी तिलैया, झूँठा, झूमियाँवाली, टटेरपुर, टड़वा पुरहरा, टिकरी, टिमणपुर, टिस्टा-ब्रिज, ठठिया, ठिकरीया, ठीकहाँ भवानीपुर, डबखेरा, डभोई, ढिकौली, डिटौरी, डीग, डुब्बा, डुमटहर, डुमरी, डुमरीकलाँ, डूँगरगढ़, डेंगपद्रग्राम, डेंबिवली, डोंगरी, डौंडी, ढणकी, तनकु, तपकरा, तरसारा, तलोदा, तहसील फतेहपुर, ताजपुर, ताण्डूर, तादली, तारापुर, तालबेहट, तिनाली, तिलकपुर, तिलौथू, तिलौली, तिर्वा, तिवारी, तुण्डी, तुनिहा, तुमकूर, तुरहापट्टी, तुर्कवलिया, तेंतुलिखुंटी, तेतरिया, तेमथा, तेलीचेरी, त्रिचनापल्ली, थायेतमयो, दंगरु, दतिया, दनगढ़, दन्तेवाड़ा, दमगाड़ा, दराँग, दरियापुर, दरीबा, दरेकसा, दर्यापुरकला (निमाड़), दवनीवाड़ा, दसीयाँव, दहणाग्राम, दहिगाँव, दातला वेस्ट, दानेकेरा, दावकेहरा, दारसलाम, दार्जिलिङ्ग, दिघी, दिवरा बाजार, दियरा, दिलकुशा, दिलावलपुर, दिल्लाई, दिलीपनगर, दिल्ली छावनी, दिल्ली शहर, दिवियापुर, दुबराजपुर, दूबचर्ला, देउलगाँव साकरन, देवकली, देवगना, देवगाँव, देवधानुरे, देवरपल्ली, देवरी, देवरीकलाँ, देवाची आकंदी, देशनोक, देशवाल्या, देहरादून, दोकांदा, दोलाईश्वरम्, दोहद, दौलतपुर, धजापुरा, धनबाद, धनावाँ, धभुपुरा, धमतरी, धमाना, धमोलिया, धरणगाँव, धरम जैगढ़, धरमपुरी, धर्मशाला, धवारी, धाना, धानेपुर, धापेवाड़ा, धामड़गाँव, धामपुर, धामल, धारवाड़, धीरपुर, धीरी, धुले, धूरिहट, ध्रुमठ, नई, नई दिल्ली, नंदाहाड़ि, नगरपाड़ा, नगला उदैया, नगला बिरखू, नगला विधि, नगवा, नटिनी, नड़ियाद, नन्दग्राम (जबलपुर), नवाबगंज, नयागाँव, नरेडी, नरेन्द्रपुर, नरैना, नरोत्तमपुर, नलवा, नल्लजर्ला, नवधन, नवरंगपुर, नवादा, नांडोल, नागपुर, नागलपुर, नागौर, नाथद्वारा, नानगाँव, नापासर, नारदीगंज, नारलाई, नावाडीह, नासिक, नाहिल, निघवा, निबोल, निमिया, निवादा, नीमथु, नूह, नेक, नेतथला, नेपानगर, नेम्मिकूर, नेहालपुर, नैनीताल, नैपाल, नैमिषारण्य तीर्थ, नौधन, नौपाड़ा, पंचरूखीआ, पंजवारा, पंढरपुर, पंढोरी, पकौली, पचलखी, पटना, पटेहराँकलाँ, पड़वाना, पत्थलगाँव, पथरियाँ जेंगन, पथरोट, पनगाँव, पनवासा बिकौरी, पन्त्यूड़ी, परतेवा, परमार, परसदा, परसागढ़ी, परासिया, पलायमकोलटाई, पलारी, पलाशी, पराया, परतापगढ़, पाकुड़, पाचोरा, पाटणवाव, पाटन, पाडली, पाण्डेखोला (बाडी), पाण्डेगाँव, पात्रपुटग्राम, पाथर्डी, पानीपत, पानीपत लाइन्स, पारडी, पारना, पालगंज, पालीताना, पावसी, पुआरखेड़ा, पुडुक्कोट्टाई, पुनक्कुन्नु, पुरम्, पुरा, पुरेना, पुलगाँव, पुलियूर, पुवायाँ, पूंजापुरा, पूना, पून्छ, पूरनपुर, पूर्णिया, पेन्डरा, पेशम, पैंची, पैडगुमल, पैड्डिपुरम्, पैनिया हिम्मत, पोकरन, पोड़ी, पोरबंदर, पौनिया रामकिशन, फकीरकुण्डपुर, फतेहगढ़, फतेहपुर, फरह, फरीदपुर, फरीदपुर (फैजाबाद), फरेंदा शुक्ल, फर्रुखाबाद, फागी, फिल्लौर, फुरसदपुरा, फुलवरिया, फुलबरी, फुलैरा, फूलपुर, फैजपुर, फैजाबाद, बंगीनोबाड़ी, बँगला, बकेदर, बक्सर, बखरी, बखेड़, बगड़िया, बगलीकलाँ, बघी सलैया, बझर बुजुर्ग, बटिया

रोका, बड़गाँव, बड़नगर, बड़नपुर, बड़वदा, बड़हिया, बडियार गाँव, बड़ौदा, बदराबाद, बदायूँ, बनकट कैथी, बनमनखी, बनरकी, बनवारी छपरा, बनौल, बनौली, बबीमा कैम्प, बमकोई, बमरौली, बमौर, बम्बई, बरकतपुर, बरघाट, बरवा खुर्द, बरहज, बरियामऊ, बरेली, बलरामपुर, बवानीखेड़ा, बसहा, बहादुरपुर, बहेटा, बहेला, बहौदीपुर, बाँका, बाँसडीह, बाँसी, बागली, बागलकोट, बान्दु, बाबूगढ़, बमौर-कलाँ, बारू, बालसमुन्द, बाल्हरा, बावल, बावल्या खुर्द, बाशिम, बासोदा, बिछुवा, बिछवाँ, बिजवार, बिजोलिया, बीजोवा, बिनैका, बिरसोला बाजार, बिलासपुर, बिसड़ा, बिसवाँ, बिसौनी, बिहारशरीफ, बिहिया, बीकानेर, बीजापुर, बीनापाल, बीबापुर, बीर, बीरसिंहपुरपाली, बीसलपुर, बुरला, बुरला हीराकुंड, बुरहानपुर, बुर्जा, बेंगलूर, बेगूसराय, बेडार, बेढ़ना लश्करीपुर, बेतूल, बेतियागंज, बेनकनहल्ली, बेलगाम, बेलमंडई, बेलरदोना, बेलापुरखुर्द, बेलोकलाँ, बेलोचामगढ़, बेल्लारी, बेहड़ी, बेहटा बुजुर्ग, बैकुण्ठपुर, बैजनाथपुर मठ, बैजापुर, बोछू, बोर्टाबाजार, भंडाना, भगतपुर, भगवतगढ़, भगवतीपुर, भच्छी, भटगाई, भटगामा, भड़फोरी, भड़री, भड़ौंच, भद्रावती, भमरहा, भरतपुर, भरदा, भरावदा, भरौली, भर्थना, भल्लुअनी, भवानीपुर राजधाम, भागीपुर, भादरण, भावनगर, भिलाई, भीकणगाँव, भीमड़ास, भीमनगर, भीलवाड़ा, भुड़िया, भुवाली, भूसावल, भृगुपुर, भैंसदेही, भैंसपुर, भोरिया, भोगाँव, भोजडे, भोजपुर, भोजुवा, भोड़हाँ (मुजफ्फरपुर), भोड़हा (पूर्णिया), भोपाल, मंझरिया, मंडावर, मऊआइमा, मकनपुर, मकुनाहि, मगरिया, मझोला, मटलूडीह, मट्ठकपुर, मट्टूर अग्रहारम्, मड़कन, मड्डुकिमाला (मालाबार), मथुरा, मण्डावा, मदनेश्वर, मदरा, मदारपुर, मदुरा, मद्रास, मधुबनी, मनासा, मनेर, मलेथू बुजुर्ग, मल्लसमुद्रम्, मवैया, मस्की, महथी, महमदा, महरा, महरौनी, महागाँव, महाराजगंज (पन्ना), महाराजगंज (सारण), महाराजपुर, महिपादल, महीपविगहा, महुआवा, महू, महेवा, महेश्वर, महोवा, महोली, माटे, माँसी, माणवदर, माधोपुर, माधौपाली, मान्धाता ओंकारेश्वर, मालरकोटला, महारानीपेट, मीनावदा, मीनासगी, मीरजापुर, मीरपुर कुटी, मिरौना, मुंगेली, मुँजला, मुंडगाँव, मुगलीसरा, मुजफ्फरपुर, मुजरा, मुन्नीपल्लं, मुरादाबाद, मुरार, मुरैना, मूंदी, मूँसी, मेंगराग्राम, मेंगलूर, मेंट्रीग्रामा, मेंढ़ा, मेंवरपुर, मेंहदावल, मेड़तारोड, मेरठ, मेल्लमपेडी, मेहसाना, मैरवा, मैनपुर, मैनपुरी, मैली, मैसूर, मोंढ़ा, मोला, मोखाड़ा, मोतीछपरा, मोतीपुर, मोहगाँव, मोहद्दीनगर, मोहम्मदपुर-मछनाई, मोहिउद्दीपुर, मोहिद्दीनगर बाजार, मौदह चतूर, मौदहा, मौधिंया, येवला, रक्खनपुरवा, रगजा, रणजीतपुर, रतनगढ़, रतलाम, रत्नगिरि, रनियाँ, रविनथला, रसूलगढ़, रसूलापुर, रहावती उघारी, राँची, राँझी, राजकोट, राजगढ़ (उ० प्र०), राजगढ़ (म० प्र०), राजडीहाँ, राजपुर (चम्पारन), राजपुर (नैनीताल), राजमहेन्द्री, राजलदेसर, राजाखेड़ा, राजापुर, राजिम, राजोल, राधाउर, रानीखेत, रानीगंज बाजार, रानीबाग, रानीला, राबर्टसगंज, रामखेड़ी, रामदिरी, रामपट्टी, रामपुर, रामपुर अहिरौली, रामपुर हबीब, रायपुर, रायबोगा, रावतपुर, रावेर, रुड़की, रुड़की छावनी, रूदावल, रूनीजा सुवासड़ा, रूपसागर, रूपैडीहा, रूराअडड्डू, रेड़मा, रेडिमा, रेडिया, रेनवाल, रोड़प, रोंढ़ा, लक्ष्मीगंज, लखनऊ, लखावाड, लखीमपुर नार्थ, लखुरानी, लखोटिया, लभराकलाँ, ललितपुर, लहरी तिवारी डीह, लश्कर, लाखागुडा, लासलगाँव, लिम्बडी, लेड्डुवाडीह, लोहाना, लोहार्दा, लौकहा, वडीया, वनगाँव, वरकाना, वरहा, वरुड़, वरुणाहा, वान्दा, वाराणसी छावनी, वाराणसी शहर, वारूटोला, वाल्टीवर, वावड़ी गजाभाई, वासखेड़ा, विजयनगरम्, विछूरी, विराट्नगर, विशाखापट्टनम्, विशुनपुरा, विश्वनाथपुर, विष्णुपुर (नेपाल), वीजापुर, वीरगाँव, वीरसिंहपुर, वुधुडीह, वृजराजनगर, वेखासण, वेल्लूर, वेल्लूर, वैसाडीह, शंकरपुर, शरफुद्दीनपुर, शर्मिष्ठापुर, शहरना, शाजापुर, शापुर, शाहआलमपुर, शाहदरा (दिल्ली), शाहनगर, शाहपुर, शाहपुर, शाहपुरपट्टी, शाहपुर, शाहपुर मगरौन, शाहपुरा, शिकोहाबाद, शिलकोट, शिवगंज, शिवपुरी, शिवानन्दनगर, शूजापुर, शेरपुरवा, शेखपुरा (आजमगढ़), शेखपुरा (मुंगेर), शैदापुर, शोलापुर, श्योपुरकलाँ, संगमनेर, संडा, सकती, सकरौली, सकला बाजार, सढ़वारा, सणसोली, सतना, सताल (खुर्द), सनताहार, सफराई, सफीपुर, सबौर, समनापुर, समस्तीपुर, समी, समेसर, समैला, सम्बलपुर, सरखिज, सरधना, सरवई, सरवतखानी, सरवाड़, सरानी, सरायकलाँ, सरिया, सलकिया, सलीम, सवाई माधोपुर, ससौला, सहजपुर, सहुलाखोर, साँभरझील, सागर, सागरपुर, सागौर, सादीपुर, सारोला, साईलशहर, सालहल्ली, सावरगाँव, सावरा, साहनपुर, सिंगारनगर, सिंघनपुरी, सिंघोला, सिकटौरा, सिकंदरपुर (फर्रुखाबाद), सिकंदरपुर (भागलपुर), सिकरहुला, सिकरा, सिकदोनी, सिगनवास, सिडरीऐमा,

सिद्दिपेट, सिद्धीर, सिमडेगा, सिरस, सिरसी, सिरान, सिलते, सिलोरी, सिलौड़ी, सिवनी, सिहोर, सिहोरा, सीकर, सीडम, सीतापुर, सीतामढ़ी, सीरी, सुकवा, सुनारखेड़ा, सुन्दरपुर, सुपौल, सुरत, सुरेमनपुर, सुरौली, सुल्तानपुर, सुसाड़ी, सुहृदनगर, सूखापठा, सूजापुर, सूरजपुर, सूरजपुर वी० सी० डब्लू, सेंठू, सेभल्या, सेमरावाजार, सेमरौता, सेलेटपार, सैयदराजा, सैलवारा, सोंढ़ी, सोडपुर, सोनगाँव, सोनवा, सोनाली, सोनीपुरा, सोमाटोला सोहरिया, सोहॉस, सौंदा, सौदड, सौरई, सौरेनीवाजार, सौली, हंसकेर, हटनी, हनुमानगढ़, हनुवाडीह, हरखवली, हरखोली, हरजीपुर, हरदा, हरदी, हरदोई, हरनाहार, हरपुर वोयहा, हरिद्वार, हरिहरपुर, हरीगंज, हरीगढ़, हरौली, हलीखेड़, हल्दाकेरी, हसनगंज, हाजीपुर, हिंगणघाट, हिंगणी, हिंडोण, हिंडोरिया, हिनौतिमा, हिप्परगी, हिरदनविगहा, हुन्डीयाणा, हुमायूँपुर हुलगी, हेपतपुर, हैदराबाद, होलेनरसीपुर ।

नाम-जप-विभाग—'कल्याण' कार्यालय, गोरखपुर

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आजके चरमोत्कर्षपूर्ण चिकित्सा-विज्ञानको मन्त्रकी अनुपम चुनौती

घटना कुछ महीनों पहलेकी है। एक सुप्रतिष्ठित वघेल-परिवारकी वात है । श्री वाय. पी. वघेल, एग्रीकल्चर असिस्टेंट (कृषि सहायक) रायपुरसे मेरी गत तीन-चार वर्षोंसे घनिष्ठता है। उनका स्वभाव बहुत ही मधुर और आनन्ददायक है।

एक दिन मैंने देखा कि उनका साला श्रीरणवीर रुग्णावस्थामें पड़ा है। पूछनेपर ज्ञात हुआ कि वह एक असाध्य हृदय-रोगसे ग्रस्त है, वचपनसे ही । सैकड़ो रुपयेका खर्च प्रतिवर्ष किया जाता है, व्याधि-निवारणार्थ। स्तम्भित-सा हुआ मैं सुनकर। आजके इस विज्ञान-युगमें भी क्या इस प्रकारके हृदय-रोगसे मुक्ति सुलभ नहीं । सहसा मेरा ध्यान आयुर्वेदिक औषधियोंकी ओर आकर्षित हुआ और मैं रायपुरके अतीव योग्य संस्कारी वैद्यके पास पहुँचा। उन्होंने आश्वासन दिया कि व्याधि दूर की जा सकती है। सम्भवतः मैंने भी श्रीवघेलको तदनुसार सुझाव दिया। वह परिवार मुझे वहुत ही इज्जतसे देखता है। मेरी हर बातपर बड़े ध्यानपूर्वक वे विचार करते हैं, यद्यपि मैं इस योग्य कथमपि नहीं । परिणामतः वैद्य महोदयके पास पहुँचे। करीव एक मासतक लगातार चिकित्सा चलती रही। पर श्रीरणवीरकी हालत अधिक-से-अधिक चिन्ताजनक होती जा रही थी। परिवारके प्रत्येक सदस्यके हृदयपर निराशाने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। हृदयका धैर्य पिघलकर आँखोंमें आँसू बनकर वरसने लगा। लड़का बहुत ही सम्पन्न और सम्भ्रान्त माता-पिताका लाड़ला ज्येष्ठ पुत्र है। चौथेपनकी आँखें नित्यप्रति उसे खुश देखनेके लिये बेचैन रहती थीं। किसीकी भी सम्मति माननेके लिये वे सर्वदा तत्पर थे, उसकी चिकित्साके सम्बन्धमें।

फिर अभी उस लड़केकी अवस्था भी कितनी है? कली खिलनेके पूर्व ही मुरझाने लगी थी। स्कूलमें शिक्षक उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं मुक्त कण्ठसे उसकी अध्ययनकी अनुपम योग्यताको निरखकर।

वैद्यकी सान्त्वना आशाको जीवन-दान देनेमें असमर्थ रही। सभी जाने-माने साधारण एम० बी० बी० एस० से लेकर अवकाश-प्राप्त प्रमुख चिकित्सक आये। सम्मति दी। अधिकारपूर्ण शब्दोंसे कह गये कि लड़केकी हालत किसी भी दशामें नहीं सुधर सकती।' अवतक रणवीरका वोलना, उठना, बैठना और सभी प्रकारकी शारीरिक हलचलें स्थगित हो गयी थीं। धीरजका बाँध ढह गया। जीवनाशा तिरोहित हो चली। सभी व्याकुल और चिन्ताकुल थे इस स्थितिको देखकर।

मैं प्रायः नित्य ही उनके यहाँ जाया करता था। उन दिनों 'ला' परीक्षाकी तैयारीमें लगा था; अतः जितनेसे आत्म-संतोष होता, उतना समय नहीं दे पाता था। दुखित अवश्य था। एक रात मैंने बघेलसे बातचीत की। दौरानमें कहा कि अब अशरण-शरण करुणा-वरुणालयके शरणमें ही पहुँचनेसे त्राण प्राप्त हो सकता है। जब मनुष्य निराश हो जाता है, तब उसे अन्ततः भगवान्‌की ही शरण दृष्टिगोचर होती है। निष्कर्षपर पहुँचे,—क्यों न परम दयालु, औढर दानी भोले-शंकरको *स्मरण किया जाय। निश्चित हुआ महामृत्युञ्जय-मन्त्र*-का अनुष्ठान।

तुलसी जसि भवितव्यता तैसी मिलइ सहाइ ।

—के अनुसार एक गैयतरा ग्रामवासी पण्डित टिकमरामजी शास्त्री अप्रत्याशितरूपसे रायपुर आ पहुँचे । मन्त्र प्रारम्भ करनेकी तिथि निश्चित हुई और पण्डितजी तन मनसे जुट गये इस सुकार्यमे ।

मन्त्र-जापका केवल सातवॉ दिन था । परिणाम बहुत ही अलौकिक, अनुपम तथा आश्चर्यमें डालनेवाला निकला । रणवीरने मॉको पुकारा । मॉ हर्षातिरेकमे आत्मविह्वल हो उठी । वह अकचकी-सी, ठगी-सी, प्रस्तर-मूर्तिवत् खड़ी रह गयी । बहन दौड़ी आयी, हँसकर गले लगा लिया । ऑखके मोती-दल सहसा गिरकर बिखर गये रणवीरके वक्षःस्थलपर । मन्त्रपर विश्वास दृढ़से दृढ़तर हुआ । भजन-कीर्तन भी साथ-साथ चलने लगा । शंकरजीकी आरती भी दोनो समय नित्यप्रति होने लगी ।

ठीक २५ दिनमें सवा लाख मन्त्रका जप सम्पन्न हुआ । अबतक लड़केकी हालतमे आशातीत परिवर्तन परिलक्षित होने लगा । वह कुछ चलने भी लगा । अब वह पूर्ण स्वस्थ और सानन्द है । क्या यह केवलमात्र आजके विज्ञान और डाक्टरोंपर विश्वास करनेवाले ईश्वरद्रोहियोंके लिये आश्चर्यका विषय नहीं है ? पाठक ही निर्णय करें । लेखक आशा करता है कि पाठकगण इसे पढ़कर कुछ लाभान्वित अवश्यमेव होंगे ।

—एक जानकार

(२)

कर्मका फल हाथोंहाथ

बात पुरानी है, परंतु है सच्ची । पुराने पंजाबके मुज़फ्फरगढ़ जिलेमें जंगलके सहारे एक छोटा-सा ग्राम था । वहॉ रामदास नामक एक दरजी रहता था । आस-पासके जमींदारोंके परिवारोंके कपड़े सीकर वह अपने परिवारका भरण-पोषण करता था ।

यहॉकी जन-संख्यामें हिंदू पॉच प्रतिशतसे अधिक नहीं थे और उनके आचार-विचार भी मुसल्मानोंसे मिलते थे । यह सब होते हुए भी रामदास सीधा-सच्चा भक्त था । उसका साधन था कीर्तन । भगवन्नाम-कीर्तन और भगवान्‌की लीलाओंका गान भी चलता रहता और कपड़े भी सिये जाते । कभी कपड़ा सीनेकी मशीनकी टिक-टिकके साथ नामोच्चारणका तार बँध जाता तो कभी हाथकी सिलाईके साथ लीला-पदोंका गान होता । कलियुगमे अनेक दोष है, किंतु इसमे एक बहुत बड़ा गुण भी है—वह यह कि केवल कीर्तनसे ही बेड़ा पार हो जाता है ।

नाम-कीर्तनसे उसका हृदय निर्मल हो गया था । अतः उसका श्रीभगवान्‌मे प्रेम तथा संसारसे वैराग्य हो गया । उसका जीवन शान्तिमय तथा संतोषपरायण हो गया । वह हर समय प्रभु-कृपाका अनुभव करने लगा ।

एक मुसल्मान पड़ोसीको एक हिंदूका शान्ति-संतोषसे रहना बुरा लगा । वह सोचता था कि यदि इस काफिरकी मशीन न रहे तो यह अपनी आजीविका अर्जन न कर सकेगा, तब वह और कहीं चला जायगा ।

एक दिन उचित अवसर मिलनेपर उसने भक्तजीकी कपड़ा सीनेकी मशीन चुरा ली ।

भक्तजी सोचने लगे कि 'मेरे प्रभुको मशीनकी टिक-टिक अच्छी नहीं लगती होगी, तभी तो उन्होंने उसे उठवा दिया है' वह प्रसन्नचित्तसे हाथसे ही कपड़े सीने लगा । उसने मशीनके चले जानेकी सूचना भी पुलिसमे नहीं दी ।

इधर भगवान्‌की भक्तवत्सलता जाग्रत् हुई । उनसे भक्तकी यह हानि नहीं देखी गयी । चोरके दायें हाथकी हथेलीमें एक भीषण फोड़ा उठा, जिसमे इतनी पीडा थी कि न दिनको चैन, न रातको नींद आती थी । दूसरे ही दिन उसे कोट उद्दूके सरकारी अस्पतालमे जाना पड़ा । डाक्टरने नश्तर लगाकर पट्टी बॉध दी । औषध-प्रयोगसे जब फोड़ा कुछ अच्छा होने लगता, तब दूसरा फोड़ा निकल आता । चिकित्सक डाक्टर हैरान था । उसकी समझमे नहीं आ रहा था कि सारे प्रयत्न करनेपर भी उसका हाथ क्यों नहीं अच्छा होता । अन्तमे डाक्टर इस निश्चयपर पहुँचा कि रोगीने अवश्य ही इस हाथसे कोई घोर पाप किया है ।

उसने रोगीसे स्पष्ट कह दिया कि तुमने इस हाथसे कोई घोर पाप किया है, जिसके कारण मेरे अनुभवसिद्ध औषधोंका प्रयोग करनेपर भी लाभ नहीं होता । तुमको अल्लाहसे अपना गुनाह बख्शवाना होगा ।

रोगी समझ गया कि रामदासकी कपड़ा सीनेकी मशीन चुरानेसे ही उसको कष्ट झेलना पड़ा है । उसने मासमें आकर

उचित अवसरपर मशीन भक्तजीके घरपर रख दी और उसके हाथका फोड़ा भी शीघ्र ही ठीक हो गया।

मशीन घरपर देखकर भक्तजी कहने लगे कि श्रीठाकुरजी-को टिक-टिक फिर सुननेकी इच्छा हुई होगी।

—श्रीनिरञ्जनदास धीर

(३-४-५)

मानवताके उदाहरणकी तीन सच्ची घटनाएँ

१९४७ में भारतके विभाजनके समय जो दंगे हुए थे, उनकी बात किसे याद नहीं है। आज भी उन्हें याद करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पेशावरमें ये ही दंगे चल रहे थे। हिंदूलोगोंको अपना सब कुछ छोड़कर भागना पड़ रहा था। नामको तो सरकार थी, पर चलती थी केवल गुंडोंकी। ऐसे समय स्वर्गीय डा० खान साहब हाथमें एक मोटा-सा डंडा लिये कंधेपर एक तौलिया डाले सारे शहरमें घूम रहे थे; जहाँ हिंदुओंको कठिनाईमें देखते, वहीं अपना सोटा टेककर खड़े हो जाते और चिल्लाकर कहते—'हिम्मत हो तो हिंदुओंपर हाथ उठानेसे पहले मुझे खत्म कर दो। मैं तुम्हें इनका खून न बहाने दूँगा।' खुदाई खिदमतगारकी ललकारके सामने खड़े रहनेकी हिम्मत उन भीरु गुंडोंमें कहाँ। सब तितर-बितर हो जाते। खान साहब जानते थे कि घटनाक्रम इस प्रकारसे चल रहा था कि हिंदूमात्रका वहाँ रहना असम्भव था। वे अपने-आप उन पीड़ितोंको भारत पहुँचानेकी व्यवस्था कर देते और उनके सामानको अपने कब्जेमें लेकर किसी-न-किसी मुसल्मानके द्वारा उसके मालिकके पास भिजवा देते। सरहदी सूबेसे आये हुए सैकड़ों ही नहीं, हजारों शरणार्थी डाक्टर खान साहबकी इस मानवताके साक्षी हैं।

(२) दूसरी घटना भी पेशावरकी ही और उन्हीं दिनोंकी है। मेरे एक परिचित सज्जनके मकानपर मुसल्मान भीड़ने आक्रमण किया। वे सज्जन रावलपिंडी गये हुए थे। उनका लड़का घरमें अकेला था। भीड़ ऊपर चढ़ आयी और लड़केसे माल-मत्तेके बारेमें पूछने लगी; लड़केको साक्षात् यमपाशसे काम पड़ गया। अचानक उसे भगवान्‌का नाम याद आ गया। बाहरसे किसीने आवाज लगायी—'पुलिस! पुलिस!!' भीड़में खलबली-सी मच गयी, सब तितर-बितर हो गये और लड़का भी भीड़के साथ मिल गया और घरसे बाहर निकल गया।

(३) तीसरी घटना एक छोटे-से लड़केकी है, होगा कोई बारह वर्षका। वह अपने जीवनमें पहली बार रेलयात्रा कर रहा था, घरसे टिकट और रास्तेके खर्चके लिये पाँच रुपये लेकर चला था। रेलकी पटरीके दोनो ओरके दृश्य देखते-देखते लड़केका मन नहीं भरता था। कभी इस खिड़की-पर जाता, कभी उस खिड़कीपर। इतनेमें टिकट-चेकर आया। लड़का बैठा रहा; उसे किसका डर था, टिकट तो जेबमें ही था। चेकरने पास आकर टिकट माँगा। लड़केने जेबमें हाथ डाला और उसके पैरोंसे जमीन खिसक गयी। बटुआ ही गायब था। या तो किसीने निकाल लिया या खिड़कीमेंसे गिर गया। पर अब वह करता भी क्या। असहाय बालक रो पड़ा। चेकर अपनी बहादुरी दिखाता जा रहा था—गालियोंकी बौछार और बीच जंगलमें उतार देनेकी धमकी। भगवान्‌के सिवा अब कौन सहारा था। सारे डिब्बेमें सन्नाटा छाया था। पर परायी आगमें कौन पड़े। सभी बुद्धिमान् लोग थे। थोड़ी देरतक यही चलता रहा। क्रूर चेकर शायद घरसे लड़कर आया था और यहाँ अपनी बहादुरी दिखा रहा था।

डिब्बेके दूसरे छोरपर बैठे एक गरीब आदमीसे बच्चेका यह कष्ट न देखा गया। वहींसे चिल्लाया; 'बाबू साहब खबरदार, अगर जबान खोली है तो। आप मासूम बच्चेके चेहरेपर ईमानदारी नहीं देख सकते? लानत है आपपर! आप देख नहीं सकते, बेचारा बच्चा इतना सामान लेकर जा रहा है, क्या यह बिना टिकट हो सकता है? बोलिये, कितना देना पड़ेगा इसे? मुझसे ले लीजिये और उसकी जान बख्श दीजिये।' टिकट बाबूको पैसा देकर उस देवताने बच्चेसे कहा—'बेटे! फिक्र मत करो, भगवान् सबकी मदद करता है। मैंने कुछ नहीं किया। भगवान्‌ने तेरी मदद की। मैं गरीब आदमी हूँ। मेरा पता ले ले; अगर भगवान् तुझे पैसा दे तो मेरे रुपये वापिस कर देना; वरना इस सारे मामलेको भूल जाना। लड़का अपना पता देना चाहता था, पर उस सज्जनने कहा—'नहीं बेटे! मैं इस घटनाको याद नहीं रखना चाहता।' यह कहकर वह मानवरूपी देव अपने स्थानपर जा बैठा।

—श्रीरवीन्द्र